ॐ

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत 'समयसार' एवं
श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित 'आत्मख्याति' नामक संस्कृत टीका
के आधार पर पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा लिखित देशभाषामय

॥ समयसार वचनिका ॥

हिन्दी अनुवाद सहित

भाषान्तरण

धनकुमार जैन

सूरत (गुज.)

सम्पादन

डॉ. राकेशकुमार जैन

मङ्गलायतन विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ.प्र.)

सह-सम्पादन

संजयकुमार जैन

राजकीय महाविद्यालय, दौसा (राज.)

प्रकाशन

तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी - २०४२१६, महामायानगर (उत्तरप्रदेश)

मुख्य कार्यालय : 'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़-२०२००१ (उत्तरप्रदेश)

info@mangalayatan.com • pawanjain@mangalaytan.com • www.mangalayatan.com

दिनाङ्क १८ मई से ०४ जून २००८ तक
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़ में आयोजित
श्री वीतराग-विज्ञान शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर - २००८ के अवसर पर प्रकाशित

ISBN NO. **978-81-906776-3-9**

लागत मूल्य : **४१०.०० रुपये**
विक्रय मूल्य : (भारत में) **१५०.०० रुपये मात्र**; (विदेश में) **U. S. $ 7 / U. K. £ 5**

AVAILABLE AT (प्राप्ति-स्थान) –

INDIA (भारत)

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN,**
Sasni-204216, Aligarh (U.P.)
e-mail : info@mangalayatan.com

— **PANDIT TODARMAL SMARAK TRUST,**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur-302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH,**
SHREE KUNDKUND-KAHAN PARMARTHIK TRUST
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30, Navyug CHS Ltd.,
V.L. Mehta Marg, Vile Parle (W),
Mumbai - 400056
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **SHRI KUNDKUND-KAHAN JAIN SAHITYA KENDRA,**
Songarh - 364250, Bhavnagar (Guj.)

U. K. (लन्दन)

— **PRESIDENT, SHRI DIGAMBER JAIN ASSOCIATION**
1, The Broadway, Wealdstone, Harrow,
Middlesex, HE3 7EH, U.K.

— **SMT. SHEETAL VIJEN SHAH**
Flat No. 9, Maplewood Court, 31-Eastbury Ave.,
Northwood, Middlesex, U.K. (HA6 3LL);
e-mail : sheetalvs@aol.com

U.S.A. (अमेरिका)

— **SECRETARY,**
DIGAMBER JAIN SWADHYAYA MANDIR SONGARH
304, Tall Oak Trail, Tarpon Springs,
Florida 34688, U.S.A.
e-mail : kahanguru@hotmail.com

— **DR. KIRIT P. GOSALIYA**
14853, North 12th Street, Phoenix,
Arizona, 85022 U.S.A.
e-mail : digjain@aol.com

— **SMT. JYOTSANA V. SHAH**
602, Hamilton Avenue, Kingston,
PA 18704-5622, U.S.A.
e-mail : jyotsana2@yahoo.com

KENYA (केन्या)

— **PRESIDENT,**
DIGAMBER JAIN MUMUKSHU MANDAL, NAIROBI
M/s. Coblantra Ltd., G.P.O. 00100,
P.O. Box - 41619,
Nairobi, Kenya
e-mail : spraja@mitsuminet.com

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रण व्यवस्था :
देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

ॐ

श्री समयसार स्तुति

॥ हरिगीत ॥

संसारी जीवनां भावमरणो, टाळवा करुणा करी।
सरिता वहावी सुधा तणी, प्रभु वीर! तें संजीवनी॥
शोषाती देखी सरितने, करुणाभीना हृह्वदये करी।
मुनिकुन्द संजीवनी, समयप्राभृत तणे भाजन

॥ अनुष्टुभ् ॥

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या।
ग्रन्थाधिराज! तारामां, भावो ब्रह्माण्डना भर्या॥

॥ शिखरणी ॥

अहो! वाणी तारी, प्रशमरस भावे नीतरती;
मुमक्षुने पाती, अमृतरस अंजलि भरी भरी।
अनादिनी मूर्छा, विष तणी त्वराथी उतरती;
विभावेथी थंभी, स्वरूप भणी दोडे परिणति॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

तूं छे निश्चयग्रन्थ, भङ्ग सघळा, व्यवहारना भेदवा;
तूं प्रज्ञाछीणी, ज्ञान ने उदयनी, सन्धि सहु छेदवा।
साथीस ाधकनो,त ुंभ ानुज गनो,स न्देशम हावीरनो;

॥ वसन्ततिलका ॥

सूण्ये तने रसनिबन्ध शिथील थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय।
तूं रूचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तूं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे॥

॥ अनुष्टुभ् ॥

बनावुं पत्र कुन्दननां, रत्नोनां अक्षरो लखी।
तथापि कुन्दसूत्रोनां, अंकाये मूल्य ना कदी॥

- (स्व.) पण्डित हिम्मतलाल जे. शाह, सोनगढ़

ॐ

श्रीमद् भगवद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव के सम्बन्ध में प्राप्त
महत्त्वपूर्ण उल्लेख

१. वन्द्यो विभुर्भ्भुवि न कैरिह कोण्डकुन्दः, कुन्द-प्रभा-प्रणय-कीर्ति-विभूषिताशः।
यश्चारु-चारण-करामबुजचञ्चरीकः, चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥

(- चन्द्रगिरि पर्वत का शिलालेख)

अर्थात् कुन्दपुष्प की प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दशों दिशाएँ विभूषित हुई हैं, जो चारणों [अर्थात् चारणऋद्धिधारी महामुनियों] के सुन्दर हस्त-कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की, वे विभु कुन्दकुन्द, इस पृथ्वी पर किससे वन्द्य नहीं हैं?

२. .... कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त-र्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः।
रजःपदं भूमितलं विहाय, चचार मन्ये मतुरङ्गुलं सः॥

(- विन्ध्यगिरि पर्वत का शिलालेख)

अर्थात् यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थान [अर्थात् भूमितल] को छोड़ कर, चार अङ्गुल ऊपर आकाश में गमन करते थे, उसके कारण मैं ऐसा समझता हूँ कि वे अन्तरङ्ग तथा बाह्य रज से [अपनी] अत्यन्त अस्पृष्टता (अन्तरङ्ग में रागादिक मल से और बाह्य में धूल से अस्पृष्टता) व्यक्त करते थे।

३. जइ पउमणंदिणाहो, सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा, कहं सुमग्गं पयाणंति॥ *(- दर्शनसार)*

अर्थात् (महाविदेहक्षेत्र के वर्तमान तीर्थङ्करदेव) श्री सीमंधरस्वामी से प्राप्त हुए दिव्य ज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ ने (श्री कुन्कुन्दाचार्यदेव ने) बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते?

४. हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों! आपके वचन भी स्वरूपानुन्धान में इस पामर को उपकारभूत हुए हैं, उसके लिए मैं आपको अतिशय भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

(- श्रीमद् राजचन्द्र)

५. अहो! दिगम्बर सन्त श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य !, आज से २००० साल पहले हुए हैं – वे भगवान सीमन्धर के पास गये थे, वहाँ आठ दिन रहे थे और वहाँ से आकर उन्होंने यह शास्त्र बनाया है।

(- पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी)

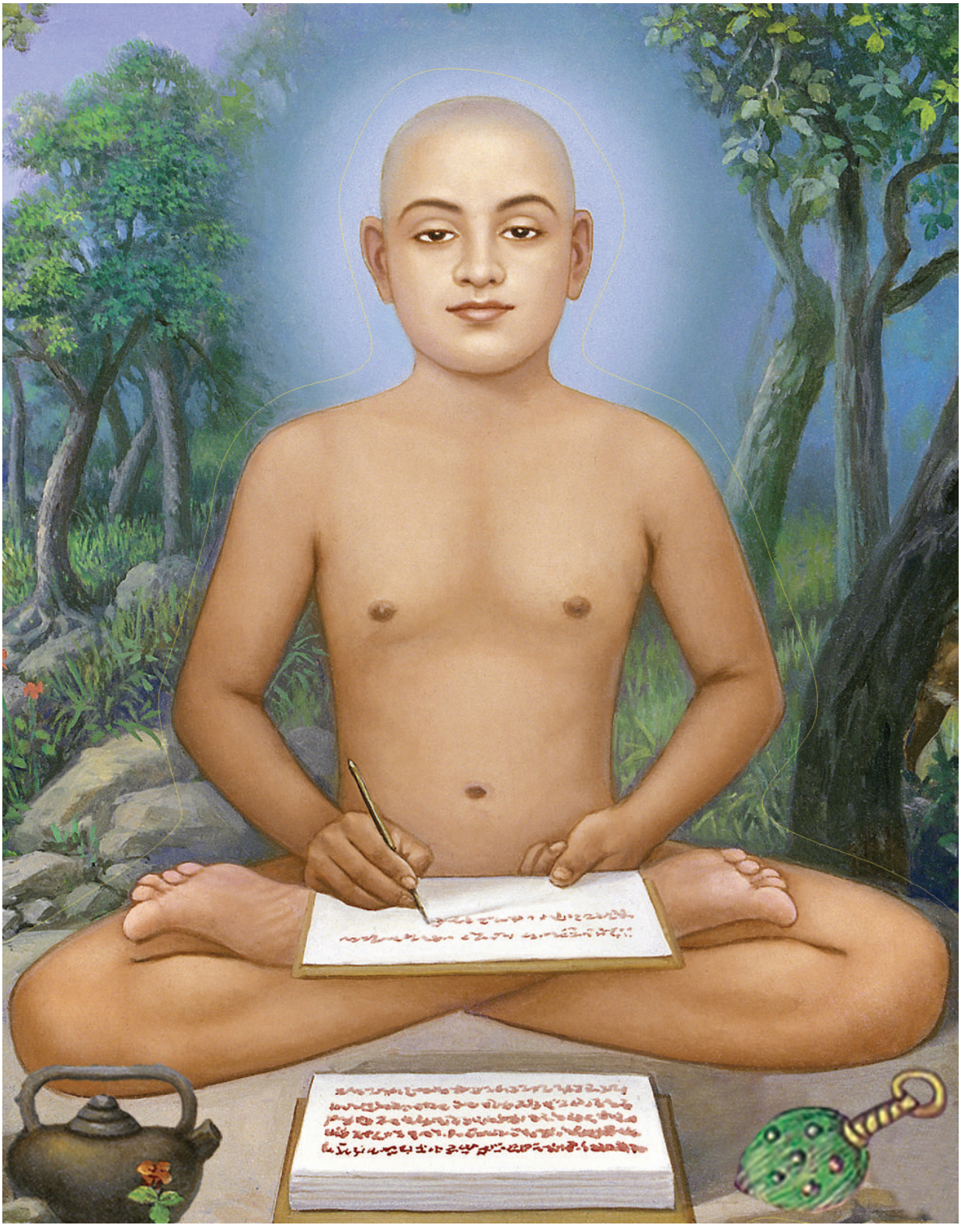

परमपूज्य श्रीमद् भगवद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव



पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ा

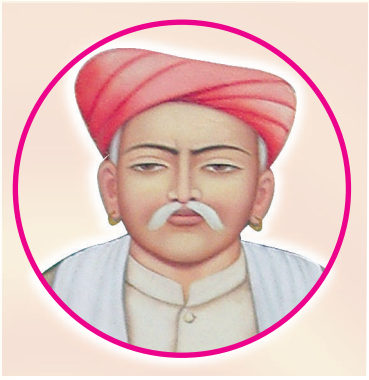

॥ भावाञ्जलि ॥



'समयसार वचनिका'

की रचना करके 'समयसार'

के मर्म का रहस्योद्घाटन करनेवाले

पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा

एवं

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

जिन्होंने 'समयसार' को पहचान कर

जीवमात्र में दिखाया

'समयसार'

महापुरुष-द्वय के प्रति

तीर्थधाम मङ्गलायतन

परिवार की सादर-सविनय भावाञ्जलि



पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

।। अनुक्रमणिका ।।

- प्रकाशकीय 11–14
- ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** : एक मङ्गल आह्वान 15–18
- अनुवादक का विन्रम निवेदन 19–22
- प्रस्तावना : पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व 23–43
- पूज्य गुरुदेवश्री के हृदयोद्गार (स्वहस्ताक्षरित) 44
- समयसार वचनिका : पूज्य गुरुदेवश्री के उद्गार 45–57
- ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** ग्रन्थमाला प्रकाशन समिति सदस्य 58
- सम्पादक की कलम से 59–70
- शास्त्र-प्रारम्भ का मङ्गलाचरण 71
- शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति 72
- पीठिका का प्रारम्भ : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ के प्रारम्भ की फोटोप्रति ३–१६

— पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा लिखित पीठिका १७–४८

- पीठिका का समापन : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ४९–५१
- पूर्वरङ्ग का प्रारम्भ : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ५२–५६

१. जीव-अजीव अधिकार (पूर्वार्द्ध) : पूर्वरङ्ग या रङ्गभूमि स्थल ५७–१७६

- पूर्वरङ्ग का समापन : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति १७७–१८०
- जीव-अजीव अधिकार का प्रारम्भ : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति १८१–१८४

— जीव-अजीव अधिकार (उत्तरार्द्ध) १८५–२४०

- जीव-अजीव अधिकार का समापन : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति २४१–२४४
- कर्ता-कर्म अधिकार का प्रारम्भ : हस्तलिखित प्रतिलिपि की फोटोप्रति २४५–२४८

२. कर्ता-कर्म अधिकार २४९–३८४

- कर्ता-कर्म अधिकार का समापन : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ३८५–३८८
- पुण्य-पाप अधिकार का प्रारम्भ : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ३८९–३९२

३. पुण्य-पाप अधिकार ३९३-४३२

Ÿ पुण्य-पाप अधिकार का समापन : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ४३३-४३६

Ÿ आस्रव अधिकार का प्रारम्भ : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ४३७-४४०

४. आस्रव अधिकार ४४१-४७२

Ÿ आस्रव अधिकार का समापन : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ४७३-४७६

Ÿ संवर अधिकार का प्रारम्भ : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ४७७-४८०

५. संवर अधिकार ४८१-५०४

Ÿ संवर अधिकार का समापन : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ५०५-५०८

Ÿ निर्जरा अधिकार का प्रारम्भ : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ५०९-५१२

६. निर्जरा अधिकार ५१३-६०८

Ÿ निर्जरा अधिकार का समापन : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ६०९-६१२

Ÿ बन्ध अधिकार का प्रारम्भ : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ६१३-६१६

७. बन्ध अधिकार ६१७-६८८

Ÿ बन्ध अधिकार का समापन : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ६८९-६९२

Ÿ मोक्ष अधिकार का प्रारम्भ : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ६९३-६१६

८. मोक्ष अधिकार ६१७-७४४

Ÿ मोक्ष अधिकार का समापन : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ७४५-७४८

Ÿ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार का प्रारम्भ : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ७४९-७५२

९. सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार ७५३-९६८

Ÿ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार का समापन : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ९६९-९७२

Ÿ स्याद्वाद अधिकार का प्रारम्भ : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति ९७३-९७६

— परिशिष्ट : स्याद्वाद अधिकार ९७७-१०३६

Ÿ 'समयसार वचनिका' की अन्तिम प्रशस्ति १०३७-१०४०

Ÿ स्याद्वाद अधिकार का समापन : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति १०४१-१०४६

Ÿ अन्तिम प्रशस्ति : मूल हस्तलिखित ग्रन्थ की फोटोप्रति १०४७-१०४८

Ÿ समयसार की मूल गाथाओं की वर्णानुक्रम सूची १०४९-१०५२

Ÿ आत्मख्याति के संस्कृत कलश काव्यों की वर्णानुक्रम सूची १०५२-१०५४

Ÿ 'समयसार वचनिका' हेतु ज्ञानदान में समर्पित दान-दाताओं की सूची १०५५-१०५६

प्रकाशकीय

आज से लगभग २६०० वर्ष पूर्व तीर्थङ्कर भगवान महावीर, इस भारतभूमि पर विचरण करते थे, उनकी आयु ७२ वर्ष थी और ३० वर्ष की उम्र में दीक्षा लेकर १२ वर्ष तक मुनिधर्म की साधना करने के बाद ४२ वर्ष की उम्र में उन्हें दिव्य केवलज्ञान की प्राप्ति हुई, उसके बाद उनकी दिव्यदेशना – दिव्यध्वनि के माध्यम से नि:सृत होकर सम्पूर्ण भारतवर्ष में ३० वर्षों तक अनवरतरूप से प्रसारित होती रही।

तीर्थङ्कर महावीर के महा परिनिर्वाण के बाद तीन अनुबद्ध केवलियों एवं पाँच श्रुतकेवलियों के माध्यम से भी भगवान महावीर के द्वारा प्रतिपादित दिव्य तत्त्वज्ञान प्रसारित होता रहा। अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु हुए, उन्हीं की शिष्य-परम्परा में आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द इस भारतभूमि पर अवतरित हुए और उनके माध्यम से अवतरित हुआ – यह अशरीरी बनाने का शास्त्र **'समयसार'**।

जब यह 'समयसार', श्रीमद् राजचन्द्रजी के हाथ लगा तो उन्होंने इस 'समयसार' को उन्हें भेंट करनेवाले सज्जन को अत्यन्त प्रमुदित होकर सम्मान के साथ अञ्जलि भर कर रत्न भेंट किये थे। इसी प्रकार जब पूज्य गुरुदेवश्री को यह ग्रन्थ मिला तो वे इस ग्रन्थ को लेकर जङ्गल में चले गये और वहाँ बैठ कर निरन्तर साधना करते हुए उन्होंने इस समयसार का अनवरत स्वाध्याय किया। उसके बाद तो उनका जीवन -क्रम ही बदल गया और फिर जीवन के अन्तिम क्षण तक कोई दिन ऐसा नहीं बीता होगा, जब उन्होंने समयसार का स्वाध्याय नहीं किया हो। मात्र व्यक्तिगत ही नहीं, सामूहिकरूप से भी उन्होंने समयसार ग्रन्थ पर १९ बार प्रवचन किये।

यद्यपि उनका जन्म स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय में हुआ था और अल्पायु में ही उसी सम्प्रदाय में दीक्षित भी हुए थे, परन्तु जब वहीं रहते हुए उन्हें 'समयसार' हाथ लगा तो वे उसी में डूब गये और रात-दिन, खाना-पीना सब कुछ भूल गये। इसी क्रम में उनकी विशुद्धि इतनी बढ़ गई कि उन्हें फिर सम्प्रदाय में रहना मुश्किल हो गया।

अत्यन्त विपरीत परिस्थितियों में उन्होंने ४५ वर्ष की उम्र में **तीर्थधाम सोनगढ़** में ही महावीर जयन्ती के दिन सम्प्रदाय की सूचक मुँह-पट्टी का परित्याग कर सत्य सनातन, दिगम्बर जैनधर्म स्वीकार किया। दिगम्बर जैनधर्म में परिवर्तन करने के बाद उन्होंने प्रतिदिन प्रात: एवं दोपहर में प्रवचन और रात्रिकालीन तत्त्वचर्चा का क्रम जीवन-पर्यन्त जारी रखा। विशेष बात यह है कि उन्होंने

परिवर्तन के बाद ४५ वर्ष के जीवन में दिगम्बर जैनाचार्यों एवं मनीषी विद्वानों द्वारा प्रणीत सैकड़ों ग्रन्थों पर प्रवचन किये, परन्तु उनके दैनिक प्रवचनों में एक समय तो समयसार के लिए सुरक्षित ही रहा। यही कारण है कि वे समयसार पर शास्त्र-सभाओं में भी १९ बार प्रवचन कर पाए। सम्पूर्ण समयसार पर शास्त्र-सभा में प्रवचन करने में उन्हें दो से ढाई वर्ष लग जाता था।

इतना ही नहीं जिस समयसार को लोग, विद्वानों और त्यागी-तपस्वियों के अध्ययन के योग्य मानते थे, उसे स्वामीजी ने जनसामान्य की वस्तु बना डाला। जब वे मायानगरी मुम्बई में प्रवचनार्थ जाते थे तो २०-२० हजार की सभा में भी उन्होंने समयसार पर ही गूढ़-गम्भीर प्रवचन किये और इस धारणा को क्षत-विक्षत कर दिया कि जनसामान्य 'समयसार' को सुन नहीं सकता, समझ नहीं सकता।

जहाँ पहले समयसार की १००० प्रतियों की बिक्री करने में दस साल से भी अधिक समय लग जाता था, वहीं उनके प्रवचनों से प्रभावित होकर समयसार की बिक्री में सौ गुनी वृद्धि हुई और अब तक विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से एक लाख से भी अधिक समयसार, जिन-मन्दिरों, पुस्तकालयों एवं लोगों के घर-घर तक पहुँच गए हैं।

आज जिन-मन्दिरों में समयसार के विभिन्न स्थानों से प्रकाशित संस्करणों की सैंकड़ों प्रतियाँ विद्यमान रहती हैं, प्रतिदिन समयसार पर सामूहिक प्रवचन-स्वाध्याय होता है; मुनिसंघों एवं विद्वद्-मण्डलियों में समयसार की वाचनाओं के आयोजन होते हैं। समयसार पर अनेक शोधकार्य हो चुके हैं एवं अनेक विद्वानों ने समयसार पर अपनी लेखनी भी चलाई है। यदि आज इन सबका श्रेय प्राप्त करने हेतु एक योग्य नाम हमारे मस्तिष्क में उपजता है तो वह है '**आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी**' का।

यद्यपि वर्तमान में समयसार को प्रचारित करने का श्रेय ब्र. श्री शीतलप्रसादजी, बड़े वर्णीजी श्री गणेशप्रसादजी एवं छोटे वर्णीजी श्री सहजानन्दजी आदि महानुभावों को भी जाता है, परन्तु पूज्य गुरुदेवश्री का नाम उन सबमें अग्रणी है।

यदि भविष्य में जैनधर्म के आलोक में इस युग का मूल्याङ्कन किया जाएगा तो अवश्य इसे '**कानजी युग**' माना जाएगा और यदि इस युग की कोई अनुपम खोज मानी जाएगी तो वह '**समयसार की इस युग को आध्यात्मिक देन**' ही मानी जाएगी।

समयसार का यह प्रकाशन

आज तक समयसार के जितने भी प्रकाशन हुए हैं, उन सभी में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा रचित '**समयसार वचनिका**' अथवा '**समयसार भाषा टीका**' का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सहयोग अवश्य लिया गया है, परन्तु आश्चर्य है कि आज तक पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा की मूल प्रति के आधार पर समयसार का प्रकाशन नहीं हुआ। पूर्व में मूल भाषा में जो प्रकाशन किया भी गया है,

वह इसकी अन्य हस्तलिखित प्रति के आधार पर किया गया है, मूल प्रति के आधार पर नहीं।

इस 'समयसार वचनिका' के सम्पादक एवं **मङ्गलायतन विश्वविद्यालय** के अध्यात्मविद्या विभाग के व्याख्याता डॉ. राकेशकुमार जैन ने, जब यह देखा कि पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा स्वहस्तलिखित मूल प्रति, आज भी जयपुर के बड़े दीवानजी के मन्दिर में सुरक्षित एवं उपलब्ध है तो उनके मन में यह भावना बलवती हुई कि इसका प्रकाशन अवश्य होना चाहिए।

आज से पाँच वर्ष पूर्व जब वे **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के 'भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन' को प्रारम्भ से ही सुचारु सञ्चालित करने के उद्देश्य से यहाँ स्थायीरूप से आ गए और उन्होंने हमें इस बात से अवगत कराया तो हमने भी सारी जानकारी लेकर, इसे प्रकाशित करने की स्वीकृति प्रदान कर दी और उन्होंने तुरन्त ही इसे प्रकाशित करने की दिशा में कार्य प्रारम्भ किया, इसकी विस्तृत जानकारी सम्पादकीय लेख में उन्होंने दी है।

विगत पाँच वर्षों में हमने यह अनुभव किया कि उनके स्वयं के अथक् परिश्रम, समर्पण एवं भावनाशीलता के साथ-साथ उनके सहयोगी विद्वानों और उनके परिवारीजनों ने उनका कन्धे से कन्धा मिला कर सहयोग किया; उसके बाद ही यह ग्रन्थ, प्रकाशन योग्य बन कर तैयार हुआ है।

इस प्रकाशन में मूल प्रति ('अ' प्रति) और प्रथम प्रतिलिपि ('ब' प्रति) दोनों का सहयोग लिया गया है, उनके परस्पर पाठभेद भी प्रकाशित किये गए हैं। इनके अलावा समयसार की मूल गाथाओं, संस्कृत छाया, आत्मख्याति के कलशों के भी अनेक प्रकाशनों के माध्यम से पाठभेद प्रकाशित किये गए हैं।

साधर्मी मुमुक्षु विद्वान् सूरतनिवासी श्री धनकुमारजी जैन, जयपुरवालों ने भी अत्यन्त परिश्रम के साथ मूल प्रति के आधार पर नई पाण्डुलिपि तैयार की एवं उसका शब्दशः हिन्दी अनुवाद किया।

हिन्दी अनुवाद का संशोधन एवं सम्पादन का कार्य, हमारे विद्वान् सम्पादकमहोदय के साथ-साथ सह-सम्पादक, राजकीय महाविद्यालय, दौसा के व्याख्याता श्री संजयकुमार जैन, भोगाँव ने भी विगत तीन वर्षों में अत्यधिक परिश्रम के साथ किया है। उन्होंने 'पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व' के सम्बन्ध में एक शोधपरक लेख भी तैयार किया है, जिसे प्रस्तावना के रूप में इस प्रकाशन में समाहित किया गया है। इस शोधपरक आलेख का पुनरीक्षण डॉ. अनिल जैन, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ने भी किया है और इस सम्बन्ध में उनके बहुमूल्य सुझाव भी प्राप्त हुए हैं।

मुमुक्षु विद्वान् श्री वीरेन्द्रवीरजी जैन, फिरोजाबाद; श्री नेमीचन्द्रजी जैन, ग्वालियर; डॉ. सतीश जैन, अलीगढ़; पण्डित देवेन्द्र बण्ड शास्त्री, नागपुर एवं भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन के प्रतिभाशाली मङ्गलार्थी छात्रों आदि ने भी समय-समय पर इसके प्रूफ-संशोधन आदि कार्यों में सहयोग प्रदान किया है।

देश-विदेश के मूर्धन्य विद्वानों में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल, ब्र. हेमन्तभाई गाँधी, पण्डित अशोक लुहाड़िया, पण्डित अभयकुमारजी देवलाली, ब्र. यशपालजी, ब्र. अभिनन्दनकुमारजी शास्त्री एवं डॉ. वीरसागरजी जैन आदि विद्वानों का भी समय-समय पर मार्गदर्शन एवं सहयोग प्राप्त होता रहा है।

स्व. श्री नेमीचन्दजी पाटनी के द्वारा किये गए समयसार की मूल गाथाओं के एवं डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के द्वारा किये गए आत्मख्याति टीका में समागत कलशों के हिन्दी पद्यानुवादों का इस प्रकाशन में समावेश किया गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री के श्रीमुख से प्राय: पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा के प्रशंसा-सम्बन्धी उद्‌गार, उनके प्रवचनों में प्राय: सुनने को मिलते हैं, उनमें से कुछ उद्‌गारों का सङ्कलन ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** के ही श्री देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियावालों ने एवं विद्यानिकेतन के मङ्गलार्थी छात्रों ने किया है, जिसके आधार पर एक स्वतन्त्र लेख भी प्रकाशित किया गया है।

इस प्रकाशन को सुन्दरतम बनाने में शुद्ध टाइपिंग, रङ्गीन पृष्ठों की कम्प्यूटर-सेंटिग आदि करने में हमारे कम्प्यूटर विभाग '***मङ्गलायतन*** ग्राफिक्स' के प्रमुख श्री विवेकपाल एवं उनके सहयोगी श्री नरेन्द्र यादव की अहम् भूमिका रही है। साथ ही मन-मोहित करनेवाले मुद्रण की व्यवस्था 'देशना कम्प्यूटर्स' के सञ्चालक, हमारे शास्त्री विद्वान् श्री दिनेश जैन शास्त्री ने विशेष परिश्रम करके, ग्रन्थ को अत्यल्प मूल्य एवं कम से कम समय में प्रस्तुत किया है।

हम उक्त सभी महानुभावों का हृदय से आभार व्यक्त करते हैं, जिनके सहयोग के बिना यह ग्रन्थ प्रकाशित होना सम्भव नहीं था।

इस ग्रन्थ की प्रकाशन प्रक्रिया के दौरान मुझे भी इसके पढ़ने का अनेक बार सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मुझसे जो भी संशोधन एवं सलाह-सहयोग बन सका, वह मैंने प्रदान किया है। मैं स्वयं, इस सम्पूर्ण प्रकाशन प्रक्रिया से जुड़ कर एवं समयसार का आद्योपान्त आत्मोन्मुखी स्वाध्याय करके अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री के चरणों में बारम्बार श्रद्धासुमन समर्पित करते हुए, मैं सभी सुधी पाठकों से निवेदन करता हूँ कि वे इस 'समयसार वचनिका' का सामूहिक एवं व्यक्तिगत स्वाध्याय करके अपने मानव-जीवन को धन्य बनावें और अतिशीघ्र मुक्तिश्री का वरण करें – यही मङ्गलभावना है।

- पवन जैन

तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़

तीर्थधाम मङ्गलायतन

(एक मङ्गल आह्वान)

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

परमपूज्य अनन्त तीर्थङ्कर भगवन्तों, यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं तद्भक्त बहिनश्री चम्पाबेनसहित समस्त ज्ञानी-महात्माओं के पुण्य-प्रभावनायोग और विश्व के समस्त साधर्मी बन्धुओं के सहयोग से निर्मित ***तीर्थधाम मङ्गलायतन***, सत्य के साधकों की साधनाभूमि है। यह तीर्थ किसी व्यक्ति विशेष का नहीं, अपितु जन-जन का है। ***तीर्थधाम मङ्गलायतन***, आज एक जाना-पहचाना विश्व-विश्रुत तीर्थ बन चुका है।

इस ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** का निर्माण श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ द्वारा हुआ है। इस ट्रस्ट की स्थापना, मात्र आठ वर्ष पूर्व सोमवार, दिनाङ्क १७ जुलाई २००० को हुई। ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** के चारों जिन-मन्दिरों का शिलान्यास (भूमि-पूजन) बुधवार, २७ दिसम्बर २००० को एवं प्रतिष्ठाविधि, ०६ फरवरी २००३ को, 'श्री महावीरस्वामी दिगम्बर जिनबिम्ब पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव' के माध्यम से सम्पन्न हुई।

इस ***तीर्थधाम*** के अस्सी हजार वर्गगज के विशाल भूखण्ड पर प्रथम चरण में चार भव्य एवं विशाल जिनायतनों के अतिरिक्त पण्डित दौलतराम जिनवाणी मन्दिर, आचार्य समन्तभद्र आत्मचिन्तन केन्द्र, भगवान महावीर धर्मार्थ औषधालय, सत्साहित्य विक्रय केन्द्र, भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन एवं श्री विजयलक्ष्मी भोजनशाला का निर्माण-कार्य होने के बाद, द्वितीय चरण में धन्य मुनिदशा प्रकल्प, मङ्गल वैभव एवं चैतन्य बसेरा व मङ्गल बसदि नामक अतिथिनिवास का निर्माण हो चुका है।

तृतीय चरण के अन्तर्गत आचार्य कुन्दकुन्द शोध संस्थान एवं प्रवचन मण्डप और विद्वानों एवं वरिष्ठ नागरिकों के लिए मङ्गल-आश्रय का निर्माण-कार्य चल रहा है। इस तृतीय चरण की ही शृंखला में – कृत्रिम कैलाश पर्वत के चारों ओर परिक्रमा मार्ग पर संसारदशा की उदयजन्य विचित्रिता को दर्शानेवाले बारह भावनाओं एवं अन्य वैराग्य प्रसङ्गों के चित्र, 'संसार-दर्शन प्रकल्प' के अन्तर्गत फाइबर ग्लास पर निर्मित करके लगाए जा रहे हैं, जिनमें संसारी जीवों का संसार के प्रति वैराग्य जाग्रत होकर मुक्तिमार्ग में गमन हो सके। साथ ही निकट भविष्य में कहान नगर, आचार्य कुन्दकुन्द जीवन-गाथा मन्दिर आदि मङ्गल आयतनों का निर्माण भी प्रस्तावित है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन के चार भव्य जिनालयों में सर्व प्रथम 'भगवान श्री आदिनाथस्वामी मानस्तम्भ मन्दिर' है, जो सर्व प्रथम समवसरण में आनेवाले जीवों के मान का नाश करने में निमित्त बनता है; तदुपरान्त भगवान श्री आदिनाथस्वामी मन्दिर में भगवान श्री आदिनाथस्वामी की अति भव्य एवं मनोहारी १११ इञ्च उन्नत पद्मासनस्थ प्रतिमा ४१ फुट उन्नत कृत्रिम कैलाशपर्वत पर विराजमान है। कैलाशपर्वत की सीढ़ियों पर सभी प्रमुख सिद्धक्षेत्रों एवं तीर्थक्षेत्रों की प्रतिकृतियाँ भी निर्मित हैं।

भगवान श्री महावीरस्वामी मन्दिर में श्री महावीरस्वामी, श्री शान्तिनाथस्वामी एवं श्री पार्श्वनाथस्वामी की भव्य मनोहारी प्रतिमाओं के अलावा, श्री सीमन्धरस्वामी एवं श्री महावीरस्वामी की अष्ट धातु की सुन्दर प्रतिमा विराजमान है। जिन-मन्दिर की दीवारों पर तीर्थङ्कर भगवान की देशना-परम्परा, संसार-दर्शन एवं 'षट्-लेश्या-दर्शन' के चित्र श्वेत पाषाण पर अङ्कित हैं। इस मन्दिर की भित्तियों पर ग्रन्थाधिराज श्री समयसार की सभी ४१५ गाथाओं को उत्थानिका, हिन्दी पद्यानुवाद एवं सामान्य अर्थसहित सङ्गमरमर पर उत्कीर्ण किया गया है।

महावीर मन्दिर की ही प्रतिकृतिस्वरूप भगवान श्री बाहुबलीस्वामी मन्दिर में भगवान बाहुबली के साथ मुनिराज भरत और मुनिराज बाहुबली की प्रतिमाएँ विराजमान हैं। इसमें पूज्य गुरुदेवश्री की साधनाभूमि स्वर्णपुरी (सोनगढ़) एवं शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर के सङ्गमरमर पर अंकित चित्र हैं तथा भित्तियों पर आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा रचित श्री 'मोक्षमार्गप्रकाशक' का सातवाँ अध्याय, रहस्यपूर्ण चिट्ठी एवं पण्डित दौलतरामजी द्वारा रचित छहढाला उत्कीर्ण हैं। दोनों मन्दिरों में प्रथमानुयोग की कथाओं पर आधारित फाइबर-ग्लास पर निर्मित १३-१३ चित्र लगाये गए हैं।

तीर्थधाम मङ्गलायतन ने पञ्च परमागमों में से समयसार, प्रवचनसार, नियमसार के साथ-साथ आत्मसिद्धि के हिन्दी पद्यानुवाद की सङ्गीतमयी प्रस्तुति, प्राचीन कवियों के भजन, देवभक्ति-गुरुभक्ति-जिनवाणीभक्ति एवं पौराणिक व नैतिक कथाओं पर आधारित मङ्गल कथाओं एवं बोध कथाओं की सी.डी., एम.पी.3, वी.सी.डी. एवं डी.वी.डी. बनाई गई हैं।

तीर्थधाम मङ्गलायतन ने आचार्यों और ज्ञानीजनों द्वारा चारों अनुयोगों के रूप में प्रकाशित, हस्तलिखित एवं ताड़पत्रों पर अङ्कित जिनवाणी की सुरक्षा का कार्य भी अपने हाथ में लिया है। इस कार्य में अब तक लगभग छह लाख से अधिक पृष्ठ कम्प्यूटर में स्केन करके सुरक्षित किये जा चुके हैं।

तीर्थधाम मङ्गलायतन में पाषाणनिर्मित जिनायतनों के साथ-साथ, जीवन्त मन्दिरों के निर्माण की प्रक्रिया भी भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन के माध्यम से चल रही है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र निलय के नाम से निर्मित भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन के रत्नत्रय-निलय में रहनेवाले मङ्गलार्थी छात्रों को ९वीं से १२वीं तक उच्चस्तरीय लौकिक शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा भी दी जाती है।

हमारा उद्देश्य स्वस्थ, स्वावलम्बी, चरित्रवान् एवं संस्कारी युवक तैयार करना है, जो नि:स्वार्थभाव से आत्मकल्याण के साथ-साथ वीतराग धर्म का प्रचार-प्रसार कर सके। वर्तमान में ७० से अधिक छात्र यहाँ अध्ययनरत हैं एवं अनेक छात्र उच्चस्तरीय इंजीनियरिंग का अध्ययन करने एवं सी.ए., आई.ए.एस., आई.आई.टी. की तैयारी करने हेतु ***मङ्गलायतन विश्वविद्यालय***, अलीगढ़, सोलापुर, दिल्ली, मुम्बई, इन्दौर, बैंगलोर, कोलकाता, कोटा, जयपुर आदि शहरों के विशेष संस्थानों में अध्ययनरत हैं। ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** के छात्रों के उद्देश्य से ही एक नवीन छात्रावास ***मङ्गलायतन विश्वविद्यालय*** के निकट बेसवां, अलीगढ़ में भी प्रारम्भ किया जा चुका है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा सितम्बर २००१ से **'*मङ्गलायतन*'** नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन निरन्तर किया जा रहा है। इस पत्रिका में जैनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों पर जिनागम के मूल ग्रन्थों एवं पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचनों के अतिरिक्त अन्य रोचक एवं शिक्षाप्रद सामग्री का प्रकाशन भी होता है। इस पत्रिका ने विशेषाङ्कों की विशेष शृंखला प्रकाशित करके, **'*मङ्गलायतन*'** पत्रिका के प्रत्येक अङ्क को साधर्मियों के लिए संग्रहणीय बना दिया है।

'धन्य मुनिदशा' विशेषाङ्कों की शृंखला, इस पत्रिका का उल्लेखनीय प्रयास है। **'धन्य मुनिदशा'** विशेषाङ्कों की सार्वजनीन लोकप्रियता से प्रेरित होकर एवं पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अन्तस्थल में व्याप्त मुनिभक्ति को आदर्श बना कर, ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** में **'धन्य-मुनिदशा प्रकल्प'** का निर्माण किया गया है। इस प्रकल्प में मुनिदशा के विभिन्न पहलुओं को जीवन्त मूर्तियों एवं प्रकाश व ध्वनि के विशिष्ट सङ्गम के साथ दर्शाया गया है। आज यह रचना, सम्पूर्ण विश्व के साधर्मियों के लिए अमूल्य धरोहर बन चुकी है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन से जिनवाणी प्रकाशन का कार्य भी द्रुतगति से संचालित है। अब तक यहाँ से अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है, जिनमें से निम्न ३६ प्रकाशन प्रमुख हैं —

१. पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा लिखित समयसार वचनिका (प्रस्तुत प्रकाशन), २-४. छहढाला : रङ्गीन एवं सचित्र (हिन्दी, अंग्रेजी एवं गुजराती), ५-६. जैन सिद्धान्त प्रवेशिका (हिन्दी, अंग्रेजी) ७. कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन, ८-१९. बढ़ते चरण, भाग १-४ (हिन्दी, अंग्रेजी एवं गुजराती), २०. मङ्गल अर्चना, २१. महामहोत्सव पूजन, २२. महामहोत्सव गीताञ्जली, २३. महोमहोत्सव प्रवचन, २४. दशधर्म प्रवचन, २५. विषापहार प्रवचन, २६. वस्तु विज्ञान सार, २७-२९. धन्य मुनिराज हमारे हैं (खण्ड १-३), ३०. महावीर पञ्च कल्याणक विधान, ३१. आतम के हित पन्थ लाग, ३२. भक्तामर रहस्य, ३३. धन्य मुनिदशा (खण्ड एक), ३४. स्वतन्त्रता की घोषणा, ३५. स्वाधीनता का शंखनाद, ३६. जैनं जयतु शासनम् आदि।

उत्तरप्रदेश सरकार ने ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** के चारों दिशाओं में तीन किलोमीटर क्षेत्र को शामिल कर, विशेष क्षेत्र विकास प्राधिकरण (Special Area Development Authority - 'SADA')

के गठन की घोषणा की है। इसके गठन से **तीर्थधाम मङ्गलायतन** का चतुर्मुखी समग्र विकास सुनिश्चित है। 'विशेष क्षेत्र विकास प्राधिकरण' के विधिवत् कार्यशील हो जाने के बाद इस क्षेत्र में माँस-मदिरा की बिक्री व अवाञ्छनीय निर्माण आदि पर स्वत: ही रोक लग जाएगी।

उत्तरप्रदेश सरकार ने जनवरी २००६ में **तीर्थधाम मङ्गलायतन** को प्रदेश में प्रमुख जैन पर्यटन क्षेत्र के रूप में मान्यता देकर, इस क्षेत्र के समग्र विकास के लिए कार्य प्रारम्भ किया है एवं इसी वर्ष **मङ्गलायतन विश्वविद्यालय** की स्थापना को स्वीकृति प्रदान कर, उच्च शिक्षा में कीर्तिमान स्थापित करने का एक सुअवसर हमें प्रदान किया है। इस विश्वविद्यालय में अध्यात्म विद्या से संयुक्त – इंजीनियरिंग, कॉमर्स, साइन्स, मैनेजमेन्ट, आर्टस्, पत्रकारिता आदि विषयों पर स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर की डिग्री प्रदान की जा रही हैं। इस संस्थान का अल्पसंख्यकस्वरूप जैनधर्म एवं जैन समाज के लिए अवश्य ही लाभदायी सिद्ध होगा। इस विश्वविद्यालय में जैन एवं निर्धन छात्रों के लिए विशेष प्रावधान होंगे।

विशेष प्रसन्नता की बात यह है कि इसी **मङ्गलायतन विश्वविद्यालय** की धरा पर, उसके प्रमुख द्वार के ठीक सामने एक विशाल जिन-मन्दिर एवं विशाल कीर्तिस्तम्भ का निर्माण होने जा रहा है। इस जिन-मन्दिर एवं कीर्तिस्तम्भ के मॉडल तैयार हो गए हैं, अब शीघ्र ही इनका निर्माण-कार्य भी शुरु हो जाएगा।

इस विश्वविद्यालय के प्रथम वर्ष में ही २,५०० छात्रों ने प्रवेश लिया है, जो एक कीर्तिमान है। भविष्य में यहाँ पर लगभग २०,००० छात्र प्रतिवर्ष शिक्षण प्राप्त कर सकेंगे – ऐसा अनुमान है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा सञ्चालित अनेक परोपकारी योजनाओं में अथवा तीर्थधाम के सम्यक् सञ्चालन, निर्माण, रख-रखाव के लिए आपके विशेष आर्थिक सहयोग की आवश्यकता है। आपसे अनुरोध है कि **'तीर्थधाम मङ्गलायतन'** के पुन: पुन: दर्शन करने हेतु अवश्य पधारें। हम आपका स्वागत करते हैं, मङ्गल अभिवादन करते हैं।

– पण्डित अशोक लुहाड़िया
निदेशक, **तीर्थधाम मङ्गलायतन**
अलीगढ़

अनुवादक का विनम्र निवेदन

आज यह देख कर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि कहाँ मैं और कहाँ यह अनुवाद का दायित्व! जिसे मैं बड़ी आसानी से निभाता चला गया, जिसका श्रेय उन सभी को जाता है, जिन्होंने समय-समय पर अपने ज्ञान, मार्गदर्शन और सहयोग से मुझे उपकृत किया।

अपने जीवन के शुरुआती वर्षों में लगभग तीस वर्ष की आयु तक तो मुझे जैनधर्म के सम्बन्ध में थोड़ी भी जानकारी नहीं थी, क्योंकि मैं अधिकांशतया राजकीय सेवा में ऐसे स्थानों पर कार्यरत रहा, जहाँ जैन मन्दिर तो थे, परन्तु धर्मावलम्बियों का अभाव था। अपने साथियों से जब जैनधर्म पर उल्टे-सीधे आक्षेप सुनता तो चुप होकर रह जाता, लेकिन मन में यह भाव अवश्य उदित होता था कि मुझे जैनधर्म के बारे में कुछ ज्ञान होना आवश्यक है।

इसी दौरान, सन् १९६४ में जयपुरनगर में ही कार्यरत रहने पर कुछ जैनधर्म को जानने, समझने एवं पालन करने का भाव मन में जाग्रत हुआ; फलस्वरूप स्वाध्याय का नियम लिया और अकेले में स्वाध्याय का क्रम उत्साहपूर्वक शुरु हुआ। परिणाम यह हुआ कि राजकीय सेवा से मन उचट गया और सन् १९८२ में ४९ वर्ष की आयु में ही स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति लेकर, जयपुर में ही रहने लगा। यहाँ श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर, तेरापन्थियान में पण्डितप्रवर श्रीयुत टोडरमलजी एवं श्री जयचन्दजी छाबड़ा के समय से चली आ रही तेरापन्थी शैली में नियमित होनेवाले प्रवचनों की शृंखला में, चारों अनुयोगों के ज्ञाता 'यथा नाम तथा गुण', बाल ब्रह्मचारी श्री सन्तोषजी झांझरी के प्रवचन, दोनों समय सुनने जाना आरम्भ किया और उन्हीं की प्रेरणा से प्राचीन ढुँढाड़ी आदि भाषा के जैन ग्रन्थों का आधुनिक हिन्दी में भाषा-रूपान्तरण करने का काम भी शुरु किया।

इसी बीच, जयपुर में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से भी सम्पर्क बना, जिससे समय-समय पर वहाँ प्रवचन सुनने और शिविरों में भाग लेने हेतु जाने का सौभाग्य मिलने लगा, फलतः जिनागम के बारे में ज्ञान अधिकाधिक निर्मल होता गया। इसी दौरान, जब कुछ लोगों से यह सुनने को मिला कि श्री कानजीस्वामी द्वारा जिनागम के ग्रन्थों का प्रतिपादन सही नहीं है और उन्होंने 'समयसार' आदि परमागम ग्रन्थों से कुछ गाथाएँ, जो उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान के विपरीत पड़ती हैं, उन्हें निकाल दिया है अथवा बदल दिया हैं तो मन को ठेस लगी; अतः सत्य का पता लगाने की इच्छा प्रबल होने पर, यह निश्चित किया कि यदि परमागम ग्रन्थों की, श्री कानजीस्वामी से पूर्व की हस्तलिखित

प्रतियाँ प्राप्त हो जाएँ तो फिर उनसे मिलान कर, सत्य का पता लगाया जा सकता है।

यह तलाश भी अधूरी रहती, यदि मुझे उसी दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर, तेरापन्थियान, जयपुर में चलनेवाली शास्त्रसभा के एक अन्य नियमित सदस्य श्री कमलचन्दजी मुसरफ न मिलते। उन्होंने मुझे जानकारी दी कि उनके मन्दिर (दिगम्बर जैन मन्दिर, मुसरफान, जयपुर) में 'समयसार' ग्रन्थ की पण्डित जयचन्दजी छाबड़ाकृत वचनिका की हस्तलिखित प्रतिलिपि मौजूद है। मैंने उनसे आग्रह किया कि वह प्रतिलिपि मुझे उपलब्ध करा दें; तब उन्होंने उस मन्दिर के अध्यक्ष होने के नाते, स्वयं ही वह प्रतिलिपि इस निर्देश के साथ सुलभ करा दी कि उसकी फोटोस्टेट करा कर, उसे तुरन्त मन्दिरजी को वापस कर दें। मैंने उसकी फोटोस्टेट करा कर, तत्परता से उसके भाषा-रूपान्तरण एवं प्रकाशित प्रति से मूल गाथाओं के मिलान का कार्य आरम्भ कर दिया।

यह कार्य आरम्भ किया ही था कि उसी दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर, तेरापन्थियान, जयपुर की कार्यकारिणी के सदस्य श्री विनयचन्दजी पापड़ीवाल से जब इस सम्बन्ध में चर्चा हुई, तब उन्होंने बताया कि 'समयसार' की पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ा के द्वारा स्वयं हाथ की लिखी हुई वचनिका की मूल (स्वहस्तलिखित) प्रति, इसी मन्दिर के शास्त्र भण्डार में रखी हुई है क्योंकि पण्डितप्रवर टोडरमलजी एवं उनके अनन्य शिष्य पण्डितप्रवर जयचन्दजी छाबड़ा इसी मन्दिर में प्रवचन करने एवं शास्त्र लिखने का कार्य करते थे, साथ ही उन्होंने यह भी आश्वासन दिया कि इस मूल प्रति की फोटोस्टेट प्रति, मुझे दिला देने का प्रयास करेंगे

भाषा-रूपान्तरण के कार्य की प्रामाणिकता और अधिक बढ़ जाने से मुझमें और अधिक उल्लास जाग्रत हो गया। इस सन्दर्भ में जब उन्होंने मन्दिरजी के मन्त्री श्रीयुत ब्रजमोहनजी से मुझे, उस प्रति की फोटोप्रति देने के लिए कहा तो मन्त्रीजी ने यह जानकारी दी कि मन्दिरजी के शास्त्र-भण्डार से कोई भी ग्रन्थ देने का नियम नहीं है; अत: वे यह ग्रन्थ अल्प समय (फोटोस्टेट करा लेने मात्र समय) के लिए भी अपने स्तर पर देने में असमर्थ हैं। हाँ! इतना उन्होंने अवश्य कहा कि यदि मन्दिरजी की कार्यकारिणी अथवा अध्यक्ष महोदय से आदेश मिल जाए तो यह ग्रन्थ, आपको दिया जा सकता है। सौभाग्य से उन दिनों उस मन्दिरजी के अध्यक्ष डॉ. सुभाषचन्दजी कासलीवाल थे, जो कॉलेज शिक्षा के समय मेरे साथी थे। मैंने उनसे भाषा-रूपान्तरण आदि का उद्देश्य बताते हुए निवेदन किया तो उन्होंने इस शर्त पर कि मेरे द्वारा भाषा-रूपान्तरित एवं पूर्व में जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी (राजस्थान) द्वारा प्रकाशित 'द्रव्यसंग्रह' ग्रन्थ की श्री जयचन्दजी छाबड़ाकृत टीका की एक प्रकाशित प्रति और इस सम्बन्ध में एक प्रार्थना-पत्र लिख कर देने को कहा। मैंने तुरन्त वैसा ही किया; अत: उन्होंने मेरे प्रार्थना-पत्र पर उस मूल प्रति की एक फोटोस्टेट करवा कर, मुझे दे देने और मूल प्रति को यथास्थान रखने के लिखित आदेश कर दिए।

इस प्रकार मुझे यह मूल प्रति की फोटोस्टेट प्राप्त हो गई। मूल प्रति की फोटोस्टेट प्राप्त हो

जाने के बाद इस प्रति के आधार पर मैंने पुनः प्रारम्भ से ही भाषा-रूपान्तरण और गाथाओं के मिलान का कार्य आरम्भ किया और अल्प समय में ही यह कार्य पूर्ण भी हो गया।

इस प्रकार श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसार (समयप्राभृत) नामक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ की श्रीमद् आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका की पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा कृत देशभाषामय वचनिका का अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार यह आधुनिक हिन्दी रूपान्तरण, गुजरात प्रान्त के सूरतनगर में भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी (अनन्त चतुर्दशी, विक्रम सम्वत् २०५८, वीर निर्वाण सम्वत् २५२७, तदनुसार शनिवार, दिनाङ्क ०१ सितम्बर २००१) को पूर्ण हुआ।

जब मैं मूल प्रति से भाषा-रूपान्तरण कर रहा था, तब प्रस्तावना की अन्तिम पंक्तियों में यह लिखा देखा कि इस ग्रन्थ में ४१४ गाथाएँ हैं, जबकि वर्तमान में उपलब्ध प्रकाशित प्रतियों में ४१५ गाथाएँ हैं; अतः वर्तमान उपलब्ध प्रतियों में एक अधिक गाथा कौनसी है, यह भी जानने की उत्सुकता रही और इस बीच भाषा-रूपान्तरण का कार्य आगे बढ़ता रहा। अन्त में देखने में आया कि पण्डितजी द्वारा सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की गाथा १३ और गाथा १४ दोनों पर एक ही क्रमाङ्क १३ लिखने में आ जाने से यह अन्तर आया है। इस प्रकार पण्डितप्रवर जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा लिखित इस टीका की इस मूल प्रति में भी वही ४१५ गाथाएँ पायी गईं, जो सोनगढ़ अथवा अन्य स्थानों से प्रकाशित प्रतियों में पायी जाती हैं।

इसी प्रकार मूल हस्तलिखित प्रति में सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के ही कलश क्रमाङ्क १८ और १९ के बीच में - '**ननु परिणाम एव किल कर्म.....**', इस श्लोक पर क्रमाङ्क १ दिया गया है। जबकि इसे श्रीयुत जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री कृत 'अध्यात्म अमृत कलश' टीका में एवं अहिंसा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली द्वारा प्रकाशित समयसार तथा अन्यत्र से प्रकाशित समयसार में इसे कलश ही माना गया है और इसे प्रारम्भ से कलश क्रमाङ्क २११ दिया गया है, अतः सोनगढ़ प्रकाशन ने भी इसे आत्मख्याति के कलशरूप में ही स्वीकार किया है।

इस प्रकार इस समयसार ग्रन्थ में सर्वत्र कुल ४१५ गाथाएँ और २७८ कलश निश्चित हुए।

अब, इसी खोज को अन्य ग्रन्थों में चालू रखने के लिए मैंने इसके बाद 'प्रवचनसार' की पाण्डे हेमराजजी द्वारा वि. सं. १७०९ में की गई टीका की लगभग १४० वर्ष पूर्व अर्थात् स्वामीजी के जन्म से भी पूर्व की गई प्रतिलिपि भी प्राप्त की और उसका भी भाषा-रूपान्तरण और गाथाओं के मिलान का कार्य किया तो उसमें भी बिना किसी परिवर्तन के २७५ ही गाथाएँ मिलीं; तब मन में निश्चय हुआ कि जब इन दो मुख्य ग्रन्थों में ही श्री कानजीस्वामी अथवा उनके शिष्यों द्वारा मूल गाथाओं में से कुछ को निकाल देने या बदल देने का कोई प्रयास सामने नहीं आया तो अन्य ग्रन्थों में ऐसा किये जाने की कोई सम्भावना, अब रञ्चमात्र भी नहीं रही है।

इस मिलान के आधार पर मुझे नि:संकोच यह कहते हुए अत्यधिक प्रसन्नता है कि परमागम ग्रन्थों में से श्री कानजीस्वामी, सोनगढ़ अथवा उनके शिष्यों द्वारा मूल गाथाओं में से कुछ को निकाल देने अथवा बदल देने का आरोप अत्यन्त झूठा है और यह उन्हें और उनके तत्त्व-प्रतिपादन को बदनाम करने का एक घृणित प्रयासमात्र है। उनके अथवा उनके शिष्यों द्वारा रञ्चमात्र भी ऐसा कुछ नहीं किया गया है।

अन्त में, मैं मेरे छोटे-से हृदय में स्वाध्याय की प्रेरणा का विकास करनेवाले, बाल ब्रह्मचारी पण्डित सन्तोषजी झांझरी, जिनके प्रवचनों को सुनने और शङ्का-समाधान करने से मेरा ज्ञान निर्मल हुआ है और जो मुझे अपने लघु भ्राता के समान स्नेह भी देते रहे हैं; उनका मैं अत्यन्त विनम्रतापूर्वक आभार प्रगट करता हूँ। इसके पश्चात् पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर परिवार के एवं वहाँ शिविरों में प्रवचन करने आनेवाले विद्वानों एवं पण्डितों के प्रवचन भी मेरा ज्ञान निर्मल करने में निमित्तभूत हुए हैं, अत: उनके प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ। पुन: मैं जयपुर के श्री कमलचन्दजी मुसरफ, श्री विनयचन्दजी पापड़ीवाल, डॉ. सुभाषचन्दजी कासलीवाल, श्री ब्रजमोहनजी एवं कानपुर के श्री राजूभाई आदि का भी मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे हस्तलिखित मूल प्रतियाँ एवं अन्य प्रकाशित प्रतियाँ उपलब्ध कराईं।

अन्त में ***तीर्थधाम मङ्गलायतन***, अलीगढ़ परिवार के श्रीयुत पवन जैन; डॉ. राकेशकुमार जैन शास्त्री, नागपुरवाले; पण्डित संजयकुमार जैन, भोगाँववाले; पण्डित अशोकजी लुहाड़िया, प्रतिष्ठाचार्य बाल ब्र. अभिनन्दनकुमारजी, पण्डित देवेन्द्रजी जैन, पण्डित संजयजी शास्त्री, पण्डित सुधीरजी शास्त्री, डॉ. सतीश जैन शास्त्री आदि के कुशल मार्गदर्शन, सम्पादन एवं प्रकाशन-सम्बन्धी कठिन परिश्रम के कारण ही यह ग्रन्थ अति सुन्दररूप में आपके हाथों में हैं; अत: इन सभी का मैं जितना भी आभार व्यक्त करूँ, उतना थोड़ा है।

यद्यपि इस भाषा-रूपान्तरण में पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ा साहब के भावों को ज्यों का त्यों रखने का प्रयास किया गया है, परन्तु मेरी अल्पज्ञता एवं प्रमाद आदि के कारण, इसमें कहीं कुछ अशुद्धियाँ आदि रह गईं हों तो उसे ज्ञानीजन ठीक करके समझ लेंगे और मुझे क्षमा करेंगे – ऐसा विनम्र निवेदन है।

– धनकुमार जैन, जयपुरवाले
सूरत (गुजरात)

प्रस्तावना

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक राजस्थान का जयपुरनगर, अध्यात्म-रसिकों के लिए ज्ञान-साधना का अप्रतिम केन्द्र बन गया था। इस साधना-स्थली में तैयार हुए विद्वानों ने जिनवाणी की अपूर्व सेवा कर, जिनागम का सार देश के कोने-कोने में पहुँचाया, साथ ही नवीन शोध का मार्ग भी प्रशस्त किया। इन्हीं विद्वानों में से एक पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा थे।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने अनेक आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक एवं न्याय-विषयक ग्रन्थों की भाषा वचनिका लिख कर, उन ग्रन्थों के मूल भाव का जन-सामान्य को आचमन कराया। इन ग्रन्थों के अध्ययन से उनकी अगाध विद्वता, वर्णित विषय की सरलता से ग्राह्यता, स्वभावगत निरभिमानता आदि अनेक पहलू उजागर होते हैं।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा का व्यक्तित्व

यद्यपि पण्डित जयचन्दजी के जीवन के बारे में बहुत कुछ ज्ञात नहीं है, तथापि सर्वार्थसिद्धि की वचनिका के अन्त में प्रशस्तिस्वरूप उन्होंने जो अपना परिचय दिया है, उससे उनके जीवन की कुछ अस्पष्ट-सी रेखाएँ व्यक्त होती हैं —

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा का जन्म, जयपुर से लगभग ४५ कि.मी. की दूरी पर स्थित फागई (फागी) गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम मोतीचन्द था।[१] उनके गोत्र का नाम छाबड़ा था। यह गोत्र खण्डेलवाल जाति के अन्तर्गत आता है। वे श्रावकधर्म के अनुयायी थे। इसी कारण उन्हें 'सरावगी' भी कहा जाता है। आपके पिता पटवारी थे; अत: आपका परिवार पटवारी के नाम से भी प्रसिद्ध था।

ग्यारह वर्ष की आयु तक आपको धर्म के प्रति अधिक रुचि नहीं थी, किन्तु उसके बाद आपको जिनमार्ग के प्रति जो प्रीति जागृत हुई, वह आपके अन्तिम समय तक उत्तरोत्तर वृद्धिङ्गत होती गई।[२] जिनमार्ग

---

१. *काल अनादि भ्रमत संसार, पायो नरभव मैं सुखकार।*
जन्म फागई लयो सुथानि, मोतीराम पिता कै आनि॥ ११॥ *(- सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रशस्ति)*
पायो नाम तहाँ जयचंद, यह परजाय तणूं मकरंद।
द्रव्यदृष्टि मैं देखूं जबै, मेरो नाम आत्मा फबै॥ १२॥ *(- सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रशस्ति)*

२. *गोत छाबड़ा श्रावकधर्म, जामैं भली क्रिया शुभकर्म।*
ग्यारह वरस अवस्था भई, तब जिनमारग की सुधि लई॥ १३॥ *(- सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रशस्ति)*

के प्रति रुचि की जागृति को उन्होंने इष्टदेव की आराधना का शुभयोग माना, गाँव के जिन-मन्दिर में, जहाँ पर **तेरापन्थी शैली**[१] चलती थी, वहाँ जाना आरम्भ किया।[२]

तेरापन्थी शैली एवं उससे पण्डितजी का जुड़ाव

इस तेरापन्थी शैली में देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करनेवाली तत्त्वचर्चा निरन्तर चलती थी। पण्डितजी को लगा कि यदि अपने जीवन का भला करना है तो वहाँ जाकर जैन तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। इस विचार से प्रेरित होकर उन्होंने तेरापन्थी शैली में जाना आरम्भ किया।[३]

यहाँ ध्यातव्य है कि ग्यारह वर्ष की अल्प आयु में पण्डितजी के मन में ऐसा उत्तम विचार आना, उनके भव्यपने की परिपक्वता को दर्शाता है।

तेरापन्थी शैली में पहुँच कर, उन्हें धीरे-धीरे उस तत्त्वचर्चा में विशेष रस आने लगा। उनका अधिकांश समय वहीं बीतने लगा। साथ ही देव, गुरु एवं धर्म के प्रति श्रद्धा दृढ़ होने लगी; विपरीत मान्यताएँ टूटने लगीं। चर्चा-वार्ता का यह क्रम उत्तरोत्तर वृद्धि पाने लगा। इस दौरान किसी कारण वश फागई से जयपुर आना हुआ, यह निमित्त सम्भवत: वि.सं. १८२१ में जयपुर में होनेवाला 'इन्द्रध्वज विधान' रहा होगा क्योंकि रुचि उत्पन्न होने के बाद इतने बड़े आयोजन में न आना असम्भव-सा प्रतीत होता है। यहाँ तत्त्वचर्चा करनेवालों की उन्होंने बहुत बड़ी शैली देखी[४], जो उन्हें अच्छी लगी। यहाँ ज्ञानी गुणी साधर्मियों की संख्या भी फागई के मुकाबले अधिक थी।[५]

जयपुर की यह शैली पण्डित टोडरमलजी के सान्निध्य में चलती थी। इस शैली में आध्यात्मिक ग्रन्थों का न केवल पठन-पाठन होता था, बल्कि भारतवर्ष विशेषत: उत्तर भारत में होनेवाली तत्त्वगोष्ठियों में उत्पन्न गम्भीर शङ्काओं को भी यहाँ भेज कर समाधान प्राप्त किया जाता था। इसका प्रमाण मुलतान (पाकिस्तान) से आई हुई जिज्ञासाओं के समाधानार्थ पण्डित टोडरमलजी द्वारा लिखित 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' है – यह चिट्ठी इतनी विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण थी कि उसने भी एक लघुकाय ग्रन्थ का रूप धारण कर लिया। सामान्यत: इस शैली से जुड़े लगभग सभी विद्वानों ने इस शैली में होनेवाली तत्त्वचर्चा का चित्रण किया है। ब्रह्मचारी रायमल्लजी ने अपनी रचना 'जीवन-पत्रिका' में इस शैली का वर्णन इस प्रकार किया है —

''तहाँ निरंतर हजारां पुरुष स्त्री, देवलोग की सी नांई चैत्यालै आय, महापुण्य उपारजै, दीर्घ काल

---

१. ***उस समय तेरापन्थी विचारधारा*** *के अनुसार चलनेवाली शास्त्रसभा, पूजन-पद्धति, शास्त्र-रचना आदि आध्यात्मिक गतिविधियाँ 'तेरापन्थी शैली' नाम से विख्यात थीं, जिनका तत्कालीन केन्द्र जयपुर था।*

२. ***आन इष्ट को ध्यान अयोगि, अपनें इष्ट चलन शुभ भोगि।***
तहं दूजो मंदिर जिनिराज, तेरापंथ पंथ तहं साज॥ १४॥ *(- सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रशस्ति)*

३. ***देव धर्म गुरु सरधा कथा, होय जहां जन भाषैं यथा।***
तब मो मन उमग्यो तहां चलो, जो अपनूं करनो है भलो॥ १५॥ *(- सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रशस्ति)*

४. ***जाय तहां सरधा दिढ़ करी, मिथ्याबुद्धि सबै परिहरी।***
निमित पाय जयपुर मैं आय, बड़ी जु शैली देषी भाय॥ १६॥ *(- सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रशस्ति)*

५. ***गुनी लोक साधरमी भले, ज्ञानी पंडित बहुते मिले॥१७-१॥*** *(- सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रशस्ति)*

का संच्या पाप, ताका क्षय करै। सौ-पचास भाई, पूजा करने वारे पाईए। सौ-पचास, भाषा शास्त्र वाँचने वारे पाईए। दस-बीस, संस्कृत शास्त्र वाँचने वारे पाईए। सौ-पचास जनै, चरचा करने वारे पाईए और नित्यान की सभा के शास्त्र का व्याख्यान विषै पाँच सै सात सै पुरुष, तीन सै च्यारि सै स्त्रीजन, सब मिल कर हजार-बारा सै पुरुष-स्त्री शास्त्र का श्रवण करै। बीस-तीस बायां शास्त्राभ्यास करै। देश-देश का प्रश्न इहाँ आवै, तिनका समाधान होय उहाँ पहुचै, इत्यादि अद्‌भुत महिमां चतुर्थ कालवत् या नग्र विषैं जिनधर्म की प्रवृत्ति पाइए है।

अर्थात् वहाँ निरन्तर हजारों पुरुष एव स्त्रियाँ देवलोक की तरह मन्दिर में आकर महापुण्य उपार्जित करते हैं तथा दीर्घकाल के सञ्चित पापों का क्षय करते हैं। यहाँ सौ-पचास भाई, पूजा करनेवाले हैं। सौ-पचास भाई, भाषा-शास्त्रों का वाचन करनेवाले हैं। दस-बीस लोग, संस्कृत में लिखे शास्त्रों का वाचन करनेवाले हैं। सौ-पचास लोग तत्त्वचर्चा करनेवाले हैं और दैनिक सभा में लगभग पाँच सौ से सात सौ पुरुष और लगभग तीन सौ से चार सौ महिलाएँ, कुल मिलाकर एक हजार से बारह सौ स्त्री-पुरुष, शास्त्र-व्याख्यान को सुनते हैं। बीस से तीस महिलाएँ भी शास्त्र का अभ्यास करती हैं। यहाँ विभिन्न देशों से समाधान के लिए प्रश्न आते हैं, जिनका समाधान होकर वे वापस वहाँ पहुँचते हैं। इस प्रकार **चतुर्थ काल के समान जिनधर्म-प्रवृत्ति** की अद्‌भुत महिमा इस नगर में होती है।''

इस शैली की विशालता के बारे में स्वयं पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने ज्ञानार्णव वचनिका की प्रशस्ति में लिखा है —

''शैली साधरमीनि की, पंडित पढ़ैं अनेक।
शब्द, न्याय आदिक प्रचुर, धर्म शास्त्र बिन टेक॥ ४॥

अर्थात् साधर्मियों की इस शैली में अनेक पण्डितजन, विशाल संख्या में शब्द अर्थात् भाषा एवं व्याकरणशास्त्र, न्यायशास्त्र और धर्मशास्त्र निरन्तर पढ़ते हैं।''

इस शैली की प्रशंसा करते हुए एवं उसके साथ स्वयं को जोड़ते हुए पण्डित सदासुखदासजी, रत्नकरण्ड श्रावकाचार की भाषा वचनिका लिखते हुए प्रशस्ति में लिखते हैं —

''गोत कासलीवाल है, नाम सदासुख जास।
सैली तेरापंथ में, करे जु ज्ञान अभ्यास॥ ११॥

अर्थात् मेरा नाम सदासुखदास और गोत्र कासलीवाल है, मैं यहाँ मन्दिर में चलनेवाली तेरापन्थी शैली में निरन्तर ज्ञान का अभ्यास करता हूँ।''

उस समय इस शैली को चलाने में पाँच विद्वानों का विशेष सहयोग था - वंशीधरजी, टोडरमलजी, दौलतरामजी कासलीवाल, ब्रह्मचारी रायमल्लजी और महारामजी।

इन विद्वानों में पहले, **पण्डित वंशीधरजी,** बहुत प्रभावशाली और विचारवान् पुरुष थे।[१]

---

१. पहलें थे वंशीधर नाम, धरै प्रभावन भाव शुभठाम॥ १७॥ (- सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रशस्ति)

दूसरे, **पण्डित टोडरमलजी,** बहुत तीक्ष्ण बुद्धि और विशेष क्षयोपशम के धारक थे; इसलिए उन्होंने गोम्मटसार की वचनिका लिखी थी।[१]

तीसरे, **पण्डित दौलतरामजी कासलीवाल,** बसवा-निवासी थे और 'पण्डितराय' कहे जाते थे, राज परिवार में आते-जाते थे; उन्होंने आदिपुराण, हरिवंशपुराण और पद्मपुराणरूप तीन पुराणग्रन्थों की वचनिका लिखी थीं। उनकी बुद्धि को सभी लोग अत्यन्त तीक्ष्ण मानते थे।[२]

चौथे, **ब्रह्मचारी रायमल्लजी,** ये वही व्रती श्रावक हैं, जो पण्डित टोडरमलजी से मिलने शाहपुरा से सिंघाणा गये थे तथा उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर तीन वर्ष तक वहीं तत्त्वाभ्यास किया था। आप पण्डित टोडरमलजी के सम्पूर्ण लेखन में अनन्य सहयोगी भी रहे थे। आपने ज्ञानानन्द श्रावकाचार, चरचासंग्रह, जीवन-पत्रिका आदि रचनाएँ लिखी हैं।

पाँचवें, **महारामजी ओसवाल,** उदासीन श्रावक एवं शीलव्रती थे, जो उक्त शैली के नियमित श्रोता एवं सहयोगी थे।[३]

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा, इन्हीं गुणीजनों के बीच स्वयं को पाकर धन्य समझने लगे। यह शैली परवर्ती काल में उसी गति से अबाध चलती रही या इसमें व्यवधान आया, यह शोध का विषय है क्योंकि इन्द्रध्वज विधान के बाद वि.सं. १८२३-२४ में पण्डित टोडरमलजी की अकालमृत्यु हो गई थी[४] तथा वि.सं. १८२९ में पण्डित दौलतरामजी कासलीवाल का देहावसान हो गया था,[५] इसलिए पण्डित टोडरमलजी के साथ आपका लगभग पाँच वर्ष तक एवं पण्डित दौलतरामजी के साथ लगभग दस वर्ष तक साहचर्य रहा होगा। बाद में पण्डित जयचन्दजी ने स्वयं इस शैली को आगे बढ़ाया होगा – ऐसा ज्ञात होता है।

जन्म एवं मरण काल

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा के जन्म के सम्बन्ध में अन्त:साक्ष्य के अभाव में स्पष्टत: चार मान्यताएँ मिलती हैं। एक के अनुसार उनकी जन्म-तिथि वि.सं.१७९५[६], दूसरी के अनुसार वि.सं. १८०५[७], तीसरी के अनुसार वि.सं. १८१५[८] एवं चौथी के अनुसार वि.सं. १८२०[९] ज्ञात होती है।

---

१. ***टोडरमल पंडित मति खरी, गोमटसार वचनिका करी।***
ताकी महिमा सब जन करै, बांचैं पढै बुद्धि विस्तरै॥ १८॥ *(- सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रशस्ति)*

२. ***दोलतराम गुणी अधिकाय, पंडितराज राज मैं जाय।***
ताकी बुद्धि लषै सब खरी, तीन पुराण वचनिका करी॥ 19॥ *(- सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रशस्ति)*

३. ***रायमल्ल त्यागी गृहवास, महाराम व्रतशील निवास।***
मैं हूँ इनकी संगति ठानि, बुधि सारू जिनवाणी जानि॥ २०॥ *(- सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रशस्ति)*

४. ***डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल;*** *पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृष्ठ ५३-५४*

५. ***श्री पाल चरितजी;*** *सम्पादक, डॉ० वीरसागर जैन, भूमिका, पृष्ठ १५*

६. ***डॉ. दरबारीलालजी कोठिया;*** *पण्डित जयचन्द और उनकी साहित्यिक कृतियाँ, वीरवाणी, टोडरमल विशेषांक, पृष्ठ १३२/ डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी; मूलाचार, सम्पादकीय/ एवं डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल; वीतराग विज्ञान पाठमाला, भाग १, पृष्ठ २९*

७. ***पण्डित भँवरलालजी न्यायतीर्थ;*** *वीरवाणी, वर्ष १८ अंक १३, पृष्ठ ५०व ९५*

८. ***पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य;*** *समयसार प्रस्तावना, पृष्ठ ३६, अगास प्रकाशन।*

९. ***क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी;*** *जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृष्ठ ३२३*

इनमें से यदि प्रथम तिथि, वि.सं. १७९५ को स्वीकार करें तो वह उनके रचनाकाल के साथ सङ्गति करने में असफल होती है क्योंकि उनका रचनाकाल, अन्त:साक्ष्य से प्रमाणित है। उनकी प्रथम कृति असन्दिग्धरूप से वि.सं. १८५९ या १८६१ प्राप्त होती है, यह कृति तत्त्वार्थसूत्र पर श्री पूज्यपादस्वामी की टीका 'सर्वार्थसिद्धि' की वचनिका है; अत: इस वचनिका की रचना के समय उनकी वय ६६ वर्ष ठहरती है, परन्तु यह स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता है कि कोई रचनाकार ६६-६७ वर्ष की उम्र में रचनाएँ लिखना शुरु करे और वह रचना-कर्म लगातार १५-२० वर्षों तक अबाध गति से चलता रहे।

इस कारण उनकी जन्मतिथि वि.सं. १८०५ ही उचित ठहरती है क्योंकि तब उनकी उम्र, रचनाएँ लिखना आरम्भ करने के समय ५६ वर्ष सिद्ध होती है और इस वय में सम्पूर्ण ज्ञानार्जन के पश्चात् रचनाएँ लिखना, फिर भी स्वाभाविक प्रतीत होता है।

इसी प्रकार तृतीय तिथि वि.सं. १८१५ एवं चौथी तिथि वि.सं. १८२० को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि वह भी अन्त:साक्ष्य से ही अप्रमाणित हो जाती है। सर्वार्थसिद्धि की अन्तिम प्रशस्ति में पण्डित जयचन्दजी ने यह बताया है कि जब उनकी ग्यारह वर्ष की अवस्था हुई, तब उन्हें जिनमार्ग के प्रति प्रीति जाग्रत हुई; फलत: उन्होंने स्थानीय मन्दिर में होनेवाली तत्त्वचर्चा में भाग लेना आरम्भ कर दिया। फिर वे लिखते हैं कि कुछ समय पश्चात् अवसर प्राप्त करके जब जयपुर आना हुआ तो उन्होंने यहाँ बड़ी शैली देखी। उस समय इस शैली के सञ्चालन में पाँच विभूतियों का विशेष योगदान था, जिनके नाम इस लेख में पहले आ चुके हैं। पश्चात् वे लिखते हैं – ''**मैं हू इनकी संगति ठान, बुधि सारु जिनवाणी जानि**'' अर्थात् मैंने भी इनकी संगति में बुद्धि के अनुसार जिनवाणी का ज्ञान प्राप्त किया।''

यदि उनकी जन्मतिथि के रूप में उक्त तीसरी और चौथी तिथियों को स्वीकार करें तो इन महापुरुषों की सङ्गति, पण्डित जयचन्दजी को प्राप्त नहीं हो सकती है क्योंकि यह प्रमाणित है कि वि.सं. १८२३-२४ में पण्डित टोडरमलजी का देहावसान हो गया था और वि.सं. १८२९ में पण्डित दौलतरामजी नहीं रहे थे; अत: वि.सं. १८०५ तिथि ही जन्म-तिथि के रूप में उचित ठहरती है।

दूसरी बात यह भी है कि इन दोनों तिथियों (वि.सं. १८१५ एवं १८२०) का उल्लेख करने वाले आदरणीय विद्वद्जनों ने मात्र इसका उल्लेख ही किया है, कोई तार्किक कारण प्रस्तुत नहीं किया है।

जिस प्रकार पण्डित जयचन्दजी का जन्म-संवत् विवादास्पद है, उसी प्रकार उनके मृत्यु-संवत् के बारे में भी एक राय नहीं मिलती है। इस तिथि का निर्णय करने के लिए अन्त:साक्ष्य के उपलब्ध होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है; अत: हमें बहिर्साक्ष्य पर ही निर्भर होना पड़ता है। मृत्यु संवत् के सन्दर्भ में हमें दो मान्यताएँ, एक वि.सं. १८८१-८२[१] और दूसरी वि.सं. १८८६[२] मिलती हैं। इन मान्यताओं में से किसी

---

१. ***(क) डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी;*** *सं. मूलाचार प्रस्तावना, पृष्ठ ११*
(ख) डॉ. दरबारीलाल कोठिया; *पं. जयचन्दजी और उनकी साहित्यिक कृतियाँ, वीरवाणी, टोडरमल विशेषाङ्क, पृष्ठ 132*
(ग) पण्डित भवरलालजी न्यायतीर्थ; *वीरवाणी वर्ष १८, अङ्क १३, पृष्ठ ५० और*
(घ) डॉ. हुकुमचन्दजी भारिल्ल; *वीतराग विज्ञान पाठमाला, भाग १, पृष्ठ २९*

२. ***क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी;*** *जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृष्ठ ३२३*

एक को स्वीकार करने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि विद्वानों ने इस तिथि को स्वीकार करने के पीछे कोई कारण ही नहीं दिया है। इस सन्दर्भ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा के पुत्र नन्दलाल के घनिष्ट मित्र और शिष्य **पण्डित ऋषभदास निगोत्या** की साक्षी मानें तो एक अन्य ही तिथि उभर कर सामने आती है, वे लिखते हैं —

''जे श्रुतरुचि हिरदै बहु धरै, पठन पाठन उद्यम करै।
बड़ी सहेली में अभिराम, जाति छाबड़ा जयचंद नाम॥
तिनकी मति निरपक्ष विशाल, जिनमत ग्रंथ लसे गुणमाल।
विषयभोग सूं रहै उदास, जिन-आगम को करै अभ्यास॥
न्याय ग्रंथ व्याकरण अरु, अलंकार साहित्य।
मत कूं नीके जानि कै, कहैं वैन जे सत्य॥
न्याय अध्यातम ग्रन्थ की, कथनी करी रसाल।
टीका भाषा हू करी, जामें समुझे बाल॥
भक्ति ज्ञान वैराग्य श्रुत, अरु बहु गुन के सार।
तिनको कोलों वरनिये, ग्रंथ होत विस्तार॥[१]

अर्थात् वे विद्वान् जयचन्दजी, जिनका गोत्र छाबड़ा है, जो एक बड़ी शैली में सुशोभित होते हैं, जिनके हृदय में शास्त्रों के प्रति बहुत रुचि है तथा जो निरन्तर पठन-पाठन का ही उद्यम करते रहते हैं। जिनकी मति अर्थात् ज्ञान, निष्पक्ष और विशाल है तथा जो जिनमत के ग्रन्थों को गुणों की माला के समान धारण करते हैं। वे विषय-भोगों से उदास रह कर जिनागम का सतत अभ्यास करते हैं।

जो न्याय, व्याकरण और अलङ्कार साहित्य को भलीभाँति जान कर, सत्यस्वरूप को कहते हैं; जिन्होंने न्याय, अध्यात्म के साथ-साथ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि विषयों के ग्रन्थों पर अल्पमति जीवों को समझाने के लिए भाषा टीका के रूप में आनन्दमय वचनिकाएँ लिखी हैं। उनके बारे में कहाँ तक वर्णन किया जाए क्योंकि ग्रन्थ के अधिक विस्तार होने का भय वर्त रहा है।''

पण्डित ऋषभदास निगोत्या के द्वारा पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा की प्रशंसा में लिखी इन पंक्तियों से सबसे महत्वपूर्ण यह बात ध्वनित होती है कि वि.सं. १८८८ कार्तिक मास में जब उक्त पंक्तियाँ लिखी गईं थीं, तब तक पण्डित जयचन्द छाबड़ा सप्राण थे क्योंकि इन पंक्तियों में पण्डित जयचन्दजी को वर्तमान काल में सम्बोधित किया है। यद्यपि उन्होंने उनके पुत्र नन्दलाल के आकस्मिक देहावसान का जिक्र तो किया है किन्तु पण्डित जयचन्दजी के देहावसान का नहीं।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा, उनके साक्षात् एवं परम्परा दोनों तरह से गुरु हैं क्योंकि उन्होंने पिता-

---

१. *मूलाचार भाषा वचनिका, प्रशस्ति, छन्द ६-१०*

पुत्र, दोनों की[१] सङ्गति लेने का उल्लेख किया है। इतने पर भी उनके द्वारा इतनी महत्त्वपूर्ण बात का उल्लेख छूट जाना, सम्भव नहीं है।

पण्डित जयचन्दजी और कविवर वृन्दावनदासजी के बीच हुए पत्र-व्यवहार, इस बात की गवाही देते हैं क्योंकि पण्डित जयचन्दजी के समकालीन काशी के विद्वान् सुप्रसिद्ध पूजनकार पण्डित वृन्दावनदासजी ने पण्डितजी से मोक्षमार्गप्रकाशक पूर्ण करने का आग्रह, जिस पत्र के माध्यम से किया था, वह पत्र वि.सं.१८८० का है; अत: इतना तो तय है कि वे वि.सं. १८८० तक तो सप्राण थे और इतनी सामर्थ्य के धनी भी थे कि रचना-कर्म में प्रवृत्ति कर सकते थे क्योंकि पत्र के उत्तर में उन्होंने पण्डितप्रवर टोडरमलजी की तरह बुद्धि की तीक्ष्णता न होने की बात तो कही थी, किन्तु शारीरिक सामर्थ्य न होने की बात नहीं कही थी।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि वि.सं. १८८८ तक पण्डित जयचन्दजी सप्राण थे; अत: ऐसा जान पड़ता है कि उनकी मृत्यु सम्भवत: वि.सं. १८८९-९० के आस-पास हुई होगी।

विद्वान पुत्र 'पण्डित नन्दलाल'

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा के पुत्र पण्डित नन्दलाल थे। पिता की भाँति नन्दलाल भी गुणी विद्वान् थे। यद्यपि उनके असामयिक काल-कवलित हो जाने से वे जिनवाणी की अधिक सेवा नहीं कर सके, किन्तु उनके द्वारा की गई मूलाचार की भाषाटीका से ये प्रतिबिम्बित होता है कि वे विशेष प्रज्ञा के धनी विद्वान् थे। दीवान अमरचन्दजी की प्रेरणा से[२] मूलाचार की भाषा के ६ अधिकार और १५ गाथाओं (कुल ५१६ गाथाओं) की टीका स्वयं पण्डित नन्दलाल के द्वारा की गई थी[३], शेष कार्य उनके निधन के बाद उनके मित्र पण्डित ऋषभदासजी निगोत्या के द्वारा वि.सं. १८८८ में पूरा किया गया। मूलाचार प्रशस्तिकार ने उन्हें पण्डित जयचन्दजी के जैसा ही बहुज्ञानी बताया है।[४]

प्रमेयरत्नमाला की भाषा वचनिका की प्रशस्ति से यह मालूम होता है कि पण्डित नन्दलालजी ने पण्डित जयचन्दजी की टीकाओं का संशोधन भी किया था।[५] इसका प्रमाण समयसार वचनिका की द्वितीय हस्तलिखित प्रति में प्राप्त संशोधन हैं, जो मात्र दो वर्ष के बाद ही वि.सं. १८६६ में ही लिखी गई थी। उन संशोधनों से भी ज्ञात होता है कि उन्हें अवश्य किसी योग्य विद्वान् ने ही संशोधित किया है और वे पण्डित नन्दलालजी हो सकते हैं।[६]

---

१. ***जयचन्द अर नंदलाल की, संगति करी विशेष।***
तिनसों श्रुतधारण करो, तजि मिथ्यामति वेश॥ २५॥ *(- मूलाचार भाषा वचनिका, प्रशस्ति)*

२. ***तिनसों निज परहेत लखि, कही दीवान प्रवीण।***
काल दोष तैं नरनि की, होत बुद्धि नित खीण॥ १२॥ *(- मूलाचार भाषा वचनिका, प्रशस्ति)*

३. ***पूरन षट् अधिकार कराय, पंदरह गाथा अरथ लिखाय।***
सोलह अधिक पाँच सै सही, सवयो, गाथा यह संख्या लही॥ १९॥ *(- मूलाचार भाषा वचनिका, प्रशस्ति)*

४. ***तिनके सम तिनके सुत भये, बहुज्ञानी नन्दलाल।***
गायवत्स जिमि प्रेम धारि, बहुत पढाये बाल॥ ११॥ *(- मूलाचार भाषा वचनिका, प्रशस्ति)*

५. ***प्रमेयरत्नमाला वचनिका,*** *प्रशस्ति, पद्य संख्या ८६*

६. *इस '**समयसार वचनिका**' के प्रकाशन में भी उक्त दोनों हस्तलिखित प्रतियों का सहारा लिया गया है।*

यह भी ज्ञात होता है कि पण्डित नन्दलालजी ने किसी विदेशी विद्वान् को शास्त्रार्थ में परास्त किया था। डॉ. नेमिचन्दजी शास्त्री, ज्योतिषाचार्य ने किसी विदेशी विद्वान् को शास्त्रार्थ में परास्त करने की घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है —

''एक दिन, जयपुर में एक विदेशी विद्वान् शास्त्रार्थ करने के लिए आया था, नगर के अधिकांश विद्वान् उससे पराजित हो चुके थे; अत: राज्य-कर्मचारियों और विद्वान् पञ्चों ने पण्डित जयचन्दजी से, उक्त विद्वान् से शास्त्रार्थ करने की प्रार्थना की, पर उन्होंने कहा कि आप मेरे स्थान पर मेरे पुत्र नन्दलाल को ले जाइए, यही उस विद्वान् को शास्त्रार्थ में परास्त कर देगा। हुआ भी यही, नन्दलालजी ने अपनी युक्तियों से उस विद्वान् को परास्त कर दिया; इससे नन्दलाल का बड़ा यश व्याप्त हुआ और उसे नगर की ओर से उपाधि दी गई।[१]

स्वयं पण्डितजी ने अपने पुत्र की प्रशंसा में लिखा है कि नन्दलाल, बचपन से ही जैनधर्म की विद्या सुनने के कारण बहुत प्रवीण पण्डित हो गया था तथा उसने सर्वार्थसिद्धि की वचनिका लिखने के लिए अपने पिता को प्रेरित किया था।[२]

सम्भवतया सर्वार्थसिद्धि वचनिका की किसी हस्तलिखित प्रति में लिपिकार ने यह निम्न दोहा भी लिखा है, जो ज्योतिषाचार्यजी ने उल्लिखित किया है, परन्तु यह दोहा प्रकाशित प्रतियों में उपलब्ध नहीं होता, वह दोहा निम्न प्रकार है —

''लिखी यहै जयचन्द नै, सोधी सुत नन्दलाल।
बुध लखि भूल जु शुद्ध करो, बाँचो, सिखैवो बाल॥[३]

अर्थात् इस ग्रन्थ की वचनिका पण्डित जयचन्दजी के द्वारा लिखी गई है तथा ग्रन्थ का संशोधन उनके पुत्र नन्दलाल के द्वारा किया गया है। विद्वत्जनों से निवेदन है कि भूलों को देख कर शुद्ध करें, स्वयं पढ़ें और फिर शिष्यों को सिखाएँ।''

तत्कालीन शासकों के साथ सम्बन्ध

पण्डित जयचन्दजी की अधिकांश रचनाओं की प्रशस्तियों में दूसरे वर्णन चाहे हों या न हों, किन्तु तत्कालीन राजा के बारे में बहुत स्पष्टत: वर्णन मिलता है। अपने वर्णन में वे सामान्यत: लिखते हैं – ''जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड के मध्य में ढुंढाहड़ (ढुंढाड़) देश है, वहाँ जयपुर के राजा जगतेश हैं, जो अनुपम हैं और जिनके राज्य में सर्वत्र सुख-चैन है, प्रजा में परस्पर प्रेम है, सब अपने-अपने मतानुसार प्रवृत्ति करते हैं, आपस में कोई विरोधभाव नहीं है। राजा के कई मन्त्री हैं, सभी बुद्धिमान और राजनीति में

---

१. ***डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य;*** *तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड ४, पृष्ठ २९१-९२*

२. ***नंदलाल मेरो सुत गुणी, बालपणे तैं विद्या सुनी।***
पंडित भयो बड़ो परवीन, ताहू ने प्रेरण यह कीन॥ ३१॥ *(- सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रशस्ति)*

३. ***डॉ. नेमिचन्द ज्योतिषाचार्य;*** *तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड ४, पृष्ठ २९२*

निपुण हैं तथा सब ही राजा का हित चाहनेवाले योग्य प्रशासक हैं।''[१]

प्रशस्ति का यह अंश, एक तो इस कारण की ओर संकेत करता है कि तत्कालीन राजा को प्रसन्न करके चलना चाहिए; अन्यथा जिनवाणी के सेवा-कार्य में बाधा आने की प्रबल सम्भावना बनी रहती है, जैसा कि पण्डित टोडरमलजी के प्रकरण में हुआ था।

दूसरे, इस बात की सम्भावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता है कि तत्कालीन शासक, पण्डितजी के आश्रयदाता हों और उन्होंने निश्चित एवं नियमित वृत्ति की व्यवस्था करके, लेखक को आर्थिक चिन्ता से मुक्त कर दिया हो। सम्भवतया इसी कारण पण्डित जयचन्दजी, अल्प अवधि में भी विपुल साहित्य की रचना कर पाये। सर्वार्थसिद्धि की प्रशस्ति में इस कथन को प्रमाणित करने के संकेत भी मिलते हैं।[२]

तीसरे, इस काल के साहित्य में आश्रयदाता को ग्रन्थ की प्रशस्ति में स्थान देने की परम्परा भी रही है।

चौथे, जयपुर के दीवानों में दीवान रायचन्दजी के साथ पण्डितजी के गहरे सम्बन्ध रहे थे, जिसका संकेत उन्होंने प्रशस्ति में किया है।[३]

इसी प्रकार उनके पुत्र पण्डित नन्दलाल को मूलाचार वचनिका लिखने की प्रेरणा दीवान अमरचन्दजी के द्वारा ही दी गई थी।[४]

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा का कर्तृत्व

पण्डित जयचन्दजी, स्वयं एक आध्यात्मिक जिज्ञासु साधक थे; वे जितने बड़े सिद्धान्तों के मर्मज्ञ थे, उतने ही भद्र और निरहंकारी थे। यद्यपि उन्हें ज्ञान की गहराई प्राप्त थी, तथापि उसे प्रदर्शित करने के बजाय उसे छिपाते थे। यद्यपि उन्होंने प्राकृत-संस्कृत भाषाओं का विशेष ज्ञान प्राप्त किया था, तथापि वे सम्पूर्णता का दावा नहीं करते थे। वे जितने अच्छे गद्यकार थे, उतने ही अच्छे पद्यकार भी, पर निरभिमानता वही थी।

उनके जन्म एवं रचना की प्रवृत्ति के बीच में ५६ वर्ष का दीर्घ अन्तराल है। ग्यारह वर्ष की अवस्था में जिनशासन के प्रति रुचि जागृत होने के बाद उन्होंने तेरापन्थी शैली के उत्कृष्ट विद्वानों की सङ्गति में

---

१. *जम्बूदीप भरत सुनिवेश, आरिज मध्य ढुढ़ाहड़ देश।*
पुर जयपुर तंहं सूवस वसै, नृप जगतेश अनूपम लसै॥ १॥
ताके राज माहि सुख चैन, धरै लोक कहूँ नाहीं फैन।
अपनें अपनें मत सब चलैं, शंक नाहिं धारैं शुभ फलैं॥ २॥
नृप के मंत्री सब मतिमान, राजनीति में निपुण पुरान।
सब ही नृप के हित कूं चहैं, ईति भीति टारें सुख लहैं॥ ३॥ *(- सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रशस्ति)*

२. *ताके ढिंग हम थिरता पाय, करी वचनिका यह मन लाय।*
यह तौ राजतणूं संबंध, कह्यो सुणु अब अन्य निबंध॥ ४॥ *(- सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रशस्ति)*

३. *तिनि मैं रायचंद गुण धरै, ता परिनि कृपा भूप अति करै।*
ताकै जैनधर्म की लाग, सब जैनिनि सूं अति अनुराग॥ ५॥
करी प्रतिष्ठा मंदिर नयो, चंद्रप्रभ जिन थापन थयौ।
ताकरि पुण्य वढ्यो यश भयो, सर्व जैनिनि को मन हरष्यो॥ ६॥ *(- सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रशस्ति)*

४. ***मूलाचार वचनिका,*** *प्रशस्ति, छन्द १२*

जैनदर्शन और अन्यदर्शनों के सिद्धान्तों का गहरा अध्ययन-मनन किया। जब उन्होंने पूरी तरह उस अध्ययन को पचा लिया, तब जनसामान्य को देने के लिए जनभाषा में वचनिकारूप रचना करना आरम्भ किया।

वे स्वयं लिखते हैं —

''शैली तेरापंथ सुपंथ, तामें बड़े गुनी गुणग्रंथ।
तिनकी संगति तें कछु बोध, पायो में अध्यातम सोध॥
शास्त्रज्ञान अधिकौ नहिं पढ्यौ, धर्मप्रसाद राग बहु बढ्यौ।
तबै विचार भयौ हिय मांहि, तत्त्वारथ को ज्ञान कराहिं॥
भयौ बोध कछु तब चिंत्यो, करन वचनिका मन उमग्यो।
सब साधरमी प्रेरण करी, ऐसे मैं यह विधि उच्चरी॥[१]

अर्थात् श्रेष्ठ पन्थ के रूप में विख्यात इस तेरापन्थी शैली में बड़े गुणवान गुणीजन थे। मैंने भी इन्हीं गुणीजनों की सङ्गति में अध्यात्म को शोध कर, कुछ थोड़ा-सा बोध पाया है। मैंने बहुत अधिक शास्त्रों को नहीं पढ़ा है; अत: शास्त्रज्ञान भी बहुत अधिक नहीं है किन्तु धर्म के प्रति बहुमानरूप राग बहुत अधिक है; अत: मन में यह विचार आया कि जो ज्ञान मैंने प्राप्त किया है, वह दूसरों को भी कराया जाए। इस बोध के जागृत होने पर मन, इस वचनिका की रचना करने के लिए उमड़ पड़ा, सभी साधर्मियों को भी यह विचार उत्तम लगा; अत: उन्होंने भी इस कार्य को करने की प्रेरणा दी; तभी इस वचनिका के होने की विधि बनी है।''

उनकी रचनाओं में विषय की गहरी पकड़ और सरल भाषा में ग्रहण कराने का लाघव, दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि उनकी रचनाओं को मौलिक और व्याख्यापरक, दो भागों में बाँटा जा सकता है किन्तु व्याख्यापरक टीकाओं में भी पग-पग पर जो मौलिकता दृष्टिगोचर होती है, वह ऐसा वर्गीकरण करने से रोकती है। अब तक प्रकाशित हुए शोध कार्यों में निम्न पन्द्रह रचनाओं की सूची प्राप्त होती है —

१.	तत्त्वार्थसूत्र वचनिका अथवा सर्वार्थसिद्धि वचनिका	चैत्र शुक्ल ५, वि.सं. १८६१
२.	प्रमेयरत्नमाला : परीक्षामुखवृत्ति सटिप्पण भाषा टीका	अषाढ़ शुक्ल ४, वि.सं. १८६३
३.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा भाषा वचनिका	श्रावण कृष्ण ३, वि.सं. १८६३
४.	द्रव्यसंग्रह वचनिका	श्रावण कृष्ण १४, वि.सं. १८६३
५.	**समयसार वचनिका**	कार्तिक कृष्ण १०, वि.सं. १८६४
६.	देवागमस्तवन या आप्तमीमांसा वृत्ति वचनिका	चैत्र कृष्ण १४, वि.सं. १८६६
७.	अष्टपाहुड़ वचनिका	भाद्र शुक्ल १३, वि.सं. १८६७
८.	ज्ञानार्णव वचनिका	माघ शुक्ल ५, वि.सं. १८६९
९.	भक्तामरस्तोत्र वचनिका (कथासहित)	कार्तिक कृष्ण १२, वि.सं. १८७०

१. ***सर्वार्थसिद्धि वचनिका,*** *प्रशस्ति, छन्द ८-१०*

१०. पद-संग्रह (मौलिक पद संख्या २४६)	आषाढ़ शुक्ल १०, वि.सं. १८७४
११. चन्द्रप्रभचरित के न्यायविषयक द्वितीय सर्ग 'मतसमुच्चय' की भाषा वचनिका	वि.सं. १८७४
१२. सामायिकपाठ वचनिका	रचनाकाल अज्ञात
१३. पत्रपरीक्षा वचनिका	रचनाकाल अज्ञात
१४. धन्यकुमारचरित वचनिका	रचनाकाल अज्ञात
१५. बारह भावना (द्रव्यरूप करि सर्व थिर.....)	रचनाकाल अज्ञात

उक्त सूची में उल्लिखित दूसरे, तीसरे एवं चौथे क्रमाङ्क के तीन ग्रन्थों का एक ही वर्ष में मात्र दो तिथियों के अन्तराल में सम्पूर्ण होना, विस्मित करता है। सम्भवत: इन तीनों रचनाओं का लेखनकार्य साथ-साथ चल रहा हो और समापन मात्र २७ दिनों के अन्दर ही हुआ हो। यह पण्डितजी की कर्मठता का द्योतक भी है कि कैसे वे एक साथ अनेक ग्रन्थों की रचना करते हुए उन्हें 'इति' तक पहुँचा देते थे।

उपर्युक्त सूची के प्रथम नौ ग्रन्थ एवं सामायिक पाठ, वचनिका व बारह भावना तो मेरी दृष्टि में आए हैं, जिनमें कुछ तो प्रकाशित भी हो गए हैं। अन्य ग्रन्थों को खोज न पाना, मेरी असमर्थता रही है; अत: उनके बारे में कुछ भी कह पाना, मेरे लिए शक्य नहीं है।

प्रमुख रचनाओं का सामान्य परिचय

१. तत्त्वार्थसूत्र वचनिका अथवा सर्वार्थसिद्धि वचनिका – वि.सं. १८६१ में लिखी गई यह कृति, पण्डित जयचन्दजी की पहली कृति है क्योंकि इस रचना को जिस प्रकार विधिवत् आरम्भ किया गया है, उसी प्रकार विधिवत् अन्त भी किया गया है। भाव यह है कि ग्रन्थ के अन्त में ३८ छन्दों में फैली प्रशस्ति में जितनी स्पष्टता से स्वयं एवं ग्रन्थ का परिचय दिया गया है, वैसा परवर्ती किसी भी कृति में नहीं दिया गया है। ग्रन्थ के आरम्भ में श्री आदि जिनेश्वर को मङ्गलाचरणरूप में नमस्कार करके, फिर प्रतिज्ञा करते हैं – **''श्री उमास्वामी नाम आचार्य विरचित जो दशाध्यायरूप तत्त्वार्थशास्त्र, ताकी देशभाषामय वचनिका लिखिये हैं।''**

इसके बाद आचार्य उमास्वामी द्वारा ग्रन्थ रचना के कारणों की व्याख्या करते हुए स्वयं के द्वारा देशभाषामय वचनिका लिखने के कारणों का उल्लेख करते हैं। पीठिका के अन्त में वे बताते हैं कि इस वचनिका का मूल आधार तो पूज्यपादस्वामी विरचित सर्वार्थसिद्धि ही है, किन्तु जहाँ विशेषार्थ का ग्रहण करना आवश्यक लगा, वहाँ आचार्य अकलङ्कदेव विरचित तत्त्वार्थ राजवार्तिक का भी आश्रय लिया है। कुल मिला कर ६०० हस्तलिखित पृष्ठों में फैली यह रचना, परवर्ती रचनाओं के लिए भी मूलाधार रही होगी।

कुछ विद्वान् तत्त्वार्थसूत्र वचनिका और सर्वार्थसिद्धि वचनिका को दो अलग-अलग ग्रन्थ मानते हैं, परन्तु वे अलग-अलग ग्रन्थ न होकर एक ही हैं और इसका मूल नाम सर्वार्थसिद्धि वचनिका है। उनके अलग-अलग होने का भ्रम भी इस कारण हो जाता है क्योंकि मूल प्रति में ग्रन्थ के आरम्भ में पण्डितजी ने

लिखा है – '**अथ तत्त्वार्थसूत्र वचनिका लिष्यते**' तथा अन्त में लिखा है – '**इति तत्त्वार्थशास्त्र दशाध्यायी वचनिका, सर्वार्थसिद्धि नाम टीका के अनुसार संपूर्णम्।**'

इस प्रकार यदि प्रथम पृष्ठ को देखा जाए तो यह तत्त्वार्थसूत्र वचनिका है तथा अन्तिम पृष्ठ को देखा जाए तो यह सर्वार्थसिद्धि वचनिका है। लेकिन विद्वानों ने तत्त्वार्थसूत्र वचनिका का रचनाकाल वि.सं. १८५९ दिया है, जबकि सर्वार्थसिद्धि वचनिका का रचनाकाल १८६१ दिया है – इस कारण संशय अभी भी विद्यमान है कि ये दोनों अलग-अलग रचनाएँ हैं या एक ही रचना के दो नाम हैं। यह भी सम्भव है कि तत्त्वार्थसूत्र वचनिका में सामान्य विवेचन हो और सर्वार्थसिद्धि वचनिका में टीका के आधार पर विशेष विवेचन हो क्योंकि सर्वार्थसिद्धि भी तत्त्वार्थसूत्र की ही टीका तो है।

२. प्रमेयरत्नमाला : परीक्षामुखवृत्ति सटिप्पण भाषा टीका – वि.सं. १८६३ में रचित इस भाषा वचनिका का उपर्युक्त शीर्षक, स्वयं पण्डितजी ने दिया है। ग्रन्थ की उत्पत्ति के विषय में पण्डितजी ने लिखा है ''न्याय विषय के आद्य प्रतिपादक आचार्य अकलङ्कदेव हैं, जिन्होंने वृहत्त्रय और लघुत्रय चूर्णिका नामक सात प्रकरण रचे, किन्तु ये प्रकरण अत्यन्त कठिन थे; इसलिए इनमें मन्दबुद्धि के जीवों का प्रवेश सम्भव नहीं था, अतः धारानगरी में आचार्य माणिक्यनन्दि ने सूत्र के रूप में, उसका सार लेकर परीक्षामुख प्रकरण की रचना की। इस ग्रन्थ पर आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक वृहत्टीका लिखी, उसी का सार लेकर आचार्य लघु अनन्तवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला की रचना की।''

पण्डितजी ने इसी प्रमेयरत्नमाला का आश्रय लेकर यह वचनिका लिखी है। वे लिखते हैं – ''यह 'परीक्षामुख' न्याय का द्वार है, इसमें मन्दबुद्धि के जीवों का प्रवेश सम्भव है। जनसामान्य को न केवल न्याय का ज्ञान हो, बल्कि स्वमत और परमत का भेद भी ज्ञात हो; इसलिए मैं इस वचनिका की रचना कर रहा हूँ, कोई ख्याति-लाभ-पूजा आदि की चाह नहीं है।'' – इस वचनिका में आद्यन्त प्रमाण-नयविषयक पण्डितजी का ज्ञान, उनकी तार्किकता और विषय को सरलता से ग्रहण कराने का लाघव (विनम्रता) दृष्टव्य है।

३. कार्तिकेयानुपेक्षा भाषा वचनिका – स्वामी कार्तिकेय द्वारा रचित इस ग्रन्थ पर लिखित वचनिका भी वि.सं. १८६३ में की गई है, जो प्राकृतभाषा की ४९० गाथाओं में विस्तृत है। इस ग्रन्थ की संस्कृत भाषा में टीका आचार्य शुभचन्द्र ने लिखी है। पण्डितजी ने इसी टीका को आधार बना कर वचनिका लिखी है। वचनिका का आरम्भ मङ्गलाचरणपूर्वक करते हुए सबसे पहले वे ग्रन्थ की पीठिका लिखते हैं। पीठिका में वे ग्रन्थ की विषय-वस्तु को स्पष्ट करते ग्रन्थ रचना के उद्देश्य बताते हैं। इसके पश्चात् वचनिका की रचना करना आरम्भ करते हैं, वचनिका में विषय की स्पष्टता को बनाये रखने के लिए पहले उत्थानिका, फिर प्राकृत गाथा, फिर इसका देशभाषामय अर्थ और अन्त में भावार्थ – इस क्रम को लेकर चलते हैं। बीच-बीच में विषय की अधिक स्पष्टता के लिए शङ्का-समाधान शैली का भी प्रयोग करते हैं। पूरी वचनिका की भाषा अत्यन्त सरल और सुबोध है।

इस वचनिका में प्रत्येक भावना के अन्त में पण्डितजी ने एक छन्द लिखा है। इन छन्दों को

स्वतन्त्ररूप से सङ्कलित करने पर यह स्वतन्त्र बारह भावना बन जाती है। यहाँ ध्यातव्य है कि यह बारह भावना, पण्डितजी के नाम से प्रचलित 'द्रव्यरूप करि सर्व थिर.....' – बारह भावना से एकदम भिन्न है। इस वचनिका के द्वारा पण्डितजी की प्रतिभा में ज्ञान और वैराग्य का अद्‌भुत सङ्गम हुआ है।

४. द्रव्यसंग्रह वचनिका – आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा ५८ गाथाओं में लिखित 'द्रव्यसंग्रह' – एक छोटा-सा ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की वचनिका की मुझे तीन हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुईं। इनमें से प्रथम प्रति तो पण्डितजी के द्वारा स्वयं ही लिखी गई मूल प्रति है तथा दूसरी प्रति उसी की प्रतिलिपि है। इनमें मङ्गलाचरण, ग्रन्थ रचना का उद्‌देश्य, पीठिका (विषय-वस्तु का क्रमिक वर्णन एवं प्रमाण-नय की भेद-प्रभेदों के साथ व्याख्या) एवं गाथाओं का आवश्यक टिप्पणी सहित अर्थ और भावार्थ का वर्णन मिलता है। अन्त में प्रशस्ति दी गई है, जिसमें उनसठ चौपाइयों में ग्रन्थ की प्रत्येक गाथा का पद्यमय अनुवाद एवं दो दोहों में पण्डितजी ने अपनी लघुता का प्रदर्शन और मङ्गलमय पञ्च परमेष्ठियों को नमन किया है।

तीसरी प्रति में '**ॐ नमः सिद्धेभ्यः**' – यह मङ्गलाचरण कर, '**अथ द्रव्यसंग्रह मूल गाथा, अन्वयसहित संस्कृत तथा वचनिकारूप अर्थ तथा चौपाई संयुक्त लिखिये हैं**' – ऐसा लिख कर सीधे-सीधे, गाथा-संस्कृत-अर्थ-चौपाई के रूप में वचनिका लिखना प्रारम्भ कर दिया है। दोनों में अन्वयरूप संस्कृत के होने और न होने का अन्तर है। यह प्रति किसी अन्य के द्वारा पण्डितजी की वचनिका के आधार पर बालावबोधरूप टीका बनाई गई है – ऐसा प्रतीत होता है। ग्रन्थ-रचना का उद्‌देश्य यही है कि सभी जीवों को सप्त तत्त्व, नव पदार्थ, प्रमाण-नय आदि विषयों का स्वमत के अनुसार ज्ञान हो एवं अन्यमतियों की मिथ्या प्ररूपणा का व्यवच्छेद हो। वचनिका की भाषा अत्यन्त सरल एवं बोधगम्य है।

५. देवागम-स्तवन या आप्तमीमांसा वृत्ति वचनिका – वि.सं. १८६६ में रचित इस ग्रन्थ का आरम्भ मङ्गलाचरणपूर्वक करते हुए ग्रन्थ की उत्पत्ति-विषयक चर्चा से किया गया है, इसमें पण्डितजी लिखते हैं – ''आचार्य उमास्वामी रचित दशाध्यायी तत्त्वार्थसूत्र पर आचार्य समन्तभद्र ने 'गन्धहस्ति महाभाष्य' की रचना की थी। इस महाभाष्य की आदि में उन्होंने देवागम स्तवन अपरनाम आप्तमीमांसा की रचना की, इस स्तवन पर आचार्य अकलङ्कदेव ने अष्टशती वृत्ति लिखी, जो आठ सौ श्लोक प्रमाण है तथा बाद में आचार्य विद्यानन्दि ने इसकी आठ हजार श्लोक प्रमाण अष्टसहस्री अलंकाररूप टीका की रचना की। ग्रन्थ की वचनिका अष्टसहस्री का आश्रय लेकर रची गई है।'' – यह रचना, हस्तलिखित १५० पृष्ठों में फैली है एवं ११४ श्लोकों में निबद्ध देवागमस्तोत्र पर आधारित है। इस वचनिका में पण्डितजी की जैनन्याय सम्मत तार्किकतापूर्ण विषय की विवेचना, पाठक को आकर्षित करती है।

६. अष्टपाहुड़ वचनिका – आचार्य कुन्दकुन्ददेव विरचित परमागम अष्टपाहुड़ की ५०३ गाथाओं को आधार बना कर, वि.सं. १८६७ में इस वचनिका की रचना की गई है। इस रचना का उद्‌देश्य पूर्व रचनाओं की भाँति ''**कालदोष तैं जीवों की बुद्धि मंद होय तो सब बाँचैं, पढ़ैं, अर्थ समझैं, श्रद्धान दृढ़ होय, यह प्रयोजन विचार कर देशभाषामय वचनिका लिखिए हैं, कछु ख्याति-लाभ को प्रयोजन नाहीं है।**''

ग्रन्थ के अन्त में पण्डितजी लिखते हैं – ''इस ग्रन्थ के छह पाहुड़ की टीका श्रुतसागर ने की तथा टिप्पण काहू और नै की। शेष दो पाहुड़ – लिंगपाहुड़ और शीलपाहुड़ की टीका मिली नहीं सो इन दो पाहुड़ों का जैसा अर्थ प्रतिभास्या, तैसा लिखा।'' अर्थात् अन्त के दो पाहुड़ों की वचनिका पण्डितजी ने स्वयं की प्रतिभा के बल पर की थी। ग्रन्थ आद्यन्त सरलता से ओतप्रोत है। वचनिका के लेखन का क्रम – उत्थानिका, गाथा, अर्थ, भावार्थ, शङ्का-समाधान है। यह वचनिका हस्तलिखित ३५० पृष्ठों में विस्तृत है।

७. ज्ञानार्णव वचनिका – (रचनाकाल – वि.सं. १८६९) आचार्य शुभचन्द्र विरचित इस ग्रन्थ की वचनिका लिखने की प्रेरणा पण्डितजी को जिहांनाबाद के शाह संतलाल के द्वारा प्राप्त हुई थी। वचनिका में ध्यान, ध्याता और ध्येय के स्वरूप और इनके फल का, साथ ही उसकी सामग्री का विवेचन करना, पण्डितजी का उद्देश्य रहा है। अन्य उद्देश्य यह भी है कि अन्यमतियों द्वारा जो इनका स्वरूप, अन्यथा कल्पित किया गया है, उसका भी निराकरण हो जाए। इस ग्रन्थ में इकतालीस प्रकरण हैं तथा स्वयं पण्डितजी द्वारा स्वहस्तलिखित ६०० पृष्ठों में विस्तृत है। ग्रन्थ का आरम्भ इस मङ्गलाचरणपूर्वक किया गया है –

देव शास्त्र गुरु वंदि करि, ज्ञानार्णव श्रुत देखि।
करूँ वचनिका देशमय, भव्यजीव हित पेखि॥

मङ्गलाचरण के पश्चात् ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य और पीठिका है। यहाँ ग्रन्थ के ४१ प्रकरणों में जिस विषय-वस्तु का विस्तृत विवेचन है, उसका संक्षिप्त वर्णन किया गया है। वचनिका में व्याख्यान के क्रम में उत्थानिका-श्लोक एवं अर्थ ही दिया है, इसमें भावार्थ के स्थान पर शङ्का-समाधान का अधिक प्रयोग किया है।

८. भक्तामरस्तोत्र वचनिका – श्री मानतुङ्ग आचार्य कृत भक्तामरस्तोत्र की यह वचनिका, वि.सं. १८७० में किसी संस्कृत टीका के आधार पर (टीकाकार का नाम नहीं) की गई है। ग्रन्थ के आरम्भ में संस्कृत टीकाकार के हवाले से उस घटना का वर्णन किया है, जिसके तहत इस काव्य की रचना आचार्य श्री मानतुङ्ग द्वारा की गई थी। ४८ काव्यों का यह ग्रन्थ, वचनिका के हस्तलिखित ६० पृष्ठों में फैला हुआ है।

ग्रन्थ में यह मौलिक कल्पना की गई है कि जब आचार्य मानतुङ्ग, काव्यों की रचना कर रहे थे; तब उनके मानस में समवसरण में विराजमान साक्षात् आदि जिनेश्वर थे; अत: **'सो समवसरण कैसा'** कह कर उसका वर्णन भी किया है, जिससे पाठक को साक्षात् समवसरण में विराजमान आदि जिनेश्वर की अनुभूति हो।

इस ग्रन्थ में उनका श्लोकों की व्याख्या करने का ढंग निराला है। श्लोकों की व्याख्या के समय वे भक्तिमयता से तो ओतप्रोत रहते ही हैं, परन्तु चमत्कार-प्रियता से बचने का भी भरपूर प्रयास करते हैं।

९. सामायिक-पाठ वचनिका – सामायिक-पाठ वचनिका का समय निर्धारण करना थोड़ा कठिन है क्योंकि इस वचनिका की जो हस्तलिखित प्रति मुझे उपलब्ध हुई है, वह वि.सं. १९३७ की लिप्यन्तरित प्रति है। इस प्रति के अन्त में प्रशस्तिस्वरूप दिये गए दो दोहे मङ्गलवाचक हैं, जिनमें पण्डितजी का बस नाम आया है। अन्य कृतियों की भाँति और किसी बात का उल्लेख नहीं है। गहन शोध ही यह तय करेगा

कि यह रचना सचमुच उन्हीं की है या अन्य किसी की। १७६ हस्तलिखित पृष्ठों में विस्तृत, इस ग्रन्थ में प्राकृत एवं संस्कृत से प्राप्त सामायिक-विधि का विवेचन किया गया है।

वचनिकाकार ने लिखा है कि ''मुनिराज, षट् आवश्यकों का निरन्तर पालन करते हैं और यह सामायिक पाठ, उन षट् आवश्यकों का अविभाज्य अङ्ग है; अत: भव्यजीव इस सामायिक पाठ की विधि को जान, इस रूप प्रवर्तें या प्रवर्तन की रुचि करें – ऐसा प्रयोजन है।'' इस रचना में वचनिकाकार ने प्राकृत तथा संस्कृत पद्य एवं गद्य को, जिस आसानी से पाठकों के लिए बोधगम्य बनाया है, वह उनका, सरलतापूर्वक अधिक लोगों तक उत्कृष्ट बात को पहुँचाने के आग्रह को द्योतित करता है।

१०. समयसार वचनिका

'समयसार वचनिका' आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ रचनाकाल से अद्यावधि मुमुक्षु समाज को आत्मानुभूति की प्रेरणा देता रहा है। यद्यपि यह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ सामान्यजनों के लिए अत्यन्त कठिन रहा; तथापि पण्डित जयचन्दजी, जैसे मनीषियों के महत् प्रयास से यह जनसाधारण के लिए भी सहज ग्राह्य बन सका है। पण्डितजी की रचनाओं में इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ एवं इस पर आधारित प्रकाशन-आवृत्तियाँ सर्वाधिक हुई हैं। आधुनिक काल में युगपुरुष गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के द्वारा इस ग्रन्थ के आलोड़न के पश्चात् तो प्रकाशन की बाढ़-सी आ गई और हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, ढुँढ़ाड़ी (राजस्थानी) आदि भाषाओं में ये निरन्तर प्रकाशित होता रहा है। इसी कड़ी में यह मूल प्रति पर आधारित 'समयसार वचनिका' का प्रकाशन भी आपके हाथों में है।

समयसार को जन-जन तक पहुँचाने में इस वचनिका का सम्भवतया सर्वाधिक योगदान रहा है क्योंकि इस वचनिका के बिना आत्मख्याति को समझ पाना, विद्वानों को भी अत्यन्त दुष्कर रहा है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अब तक समयसार के जितने भी प्रकाशन हुए हैं, इसके बिना उनका प्रकाशन दु:साध्य था। यदि पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा की आत्मख्याति टीका के आधार पर यह भाषा टीका (वचनिका) प्रकाश में न आई होती तो उन सभी का प्रकाशन नितान्त असम्भव होता।

आज भी कोई विद्वान् अनुवादक, सम्पादक या प्रकाशक, यह कहने में असमर्थ है कि हमने इस समयसार वचनिका का प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में कोई सहयोग नहीं लिया है। विशेषरूप से उनके द्वारा लिखे गये भावार्थों ने सभी व्याख्याकारों को प्रभावित किया है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी तो अपने प्रवचनों में जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा लिखित भावार्थों की प्रशंसा करते हुए अघाते नहीं थे।[१]

'समयसार वचनिका' का आरम्भ करते समय पीठिका में छाबड़ाजी ने वचनिका लिखने के तीन प्रयोजन बताये हैं; वे प्रयोजन, उद्देश्य के साथ-साथ उनकी शैली को भी व्याख्यायित करते हैं।

यहाँ यह प्रश्न भी मन में आता है कि क्या कारण है कि पण्डितजी ने अपने लेखन का आरम्भ

---

१. *उपलब्ध टेप प्रवचनों के आधार पर समयसार वचनिका एवं पण्डित जयचन्दजी की प्रशंसा में पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनांशों पर लिखा गया एक आलेख, अलग से इसी ग्रन्थ में पृष्ठ 45 से प्रकाशित है।*

समयसार से नहीं करके तत्त्वार्थसूत्र से किया। क्या पूर्व में समयसार उनकी दृष्टि में नहीं आया था? पण्डित टोडरमलजी द्वारा सञ्चालित जिस शैली में वे दीक्षित हुए थे, वहाँ आध्यात्मिक ग्रन्थों का पारायण नियमित होता था। अध्ययन किये गए ग्रन्थों की सूची में छाबड़ाजी ने समयसार का नामोल्लेख भी किया है।[१]

मुझे लगता है कि जिस विपुल ज्ञान से प्रेरित होकर, वे लेखन के क्षेत्र में डगमगाते हुए डग धर रहे थे, वहाँ उनके मन में यह भाव भी रहा होगा कि कहीं चूक न हो जाए। शायद इसी आशंका से उन्होंने सबसे पहले तत्त्वार्थसूत्र, प्रमेयरत्नमाला, कार्तिकेयानुप्रेक्षा और द्रव्यसंग्रह जैसे सिद्धान्त, न्याय और भावनाप्रधान ग्रन्थों की वचनिकाएँ लिखीं और बाद में परिपक्व होकर समयसार जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ की वचनिका की रचना करने की ओर अपना कदम बढ़ाया।

'समयसार वचनिका' लिखने के तीन प्रयोजनों में – **पहला** यह है कि अन्य मतावलम्बियों द्वारा जैन सिद्धान्तों की अन्यथा अथवा भ्रमपूर्ण प्ररूपणा को देख कर, भोले जीव भ्रमित न हों। **दूसरा** यह है कि जिनागम के विभिन्न कथनों के यथार्थ अर्थ को नय-विभाग से स्पष्ट करना, ताकि निश्चयाभासी-व्यवहाराभासी-उभयाभासी होने की आशंका न रहे। **तीसरा** यह है कि प्राकृत-संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं से अपरिचित अभ्यासी आगम के यथार्थ अर्थ को समझ सकें। इनके अतिरिक्त स्याद्वाद का मर्म भी यथार्थरूप से समझ में आए – यह उद्देश्य भी इसमें है[२] क्योंकि स्याद्वाद का मर्म समझे बिना, नयमार्ग में भटकना सम्भव है।[३]

---

१. *लखै पुराण आदि उत्तरा, और पुराण चरित्र जु खरा।*
गोमटसार लब्धि पण सार, क्षपणसार त्रिलोक सुसार॥ २१॥
टोडरमल कृत भाषा तणां, पाय सहाय संस्कृति भणां।
मूलाचार श्रावकाचार, लषे विचारे बुद्धि अनुसार॥ २२॥
समयसार अध्यातमसार, प्रवचनसार रहरि मन धार।
पंचासतिकाया ए तीनि, नाटकत्रयी कहावै पीन॥ २३॥
तत्त्वारथ सूतर की टीक, सर्वारथसिधि नाम सुठीक।
दूजी तत्वारथवार्तिका, श्लोकरूप वार्तिक तार्तिका॥ २४॥
तिनकौ कछु कियौ अभ्यास, बुद्धि जिसी जिम पायौ ख्यास।
पद्धति न्याय तनी इनि माहि, सो भी कछुक विचारी जाहि॥ २५॥
ग्रंथ परीक्षामुख संभलौ, है प्रमाण को वर्णन भलौ।
देवागम स्तुति टीकासार, अष्टसहस्री नाम सुधार॥ २६॥
आप्त परीक्षा देखी सार, अर प्रमाण निर्णय निरधार।
न्यायदीपिका सुगम प्रचार, सो पहलैं पढ़ने मैं सार॥ २७॥
देवसेन कृत गाथा बंध, है नयचक्र बड़ो परबंध।
और ग्रंथ जिनमत में घणे, पाये जे शुभ विधिवशवणे॥ २८॥ *(- सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रशस्ति)*

२. ***समयसार वचनिका,*** *पीठिका, पृष्ठ २४-२५*

३. *आतम आतम सब कहैं, लखैं यथारथ नांहि।*
स्याद्वाद समझे बिना, नयमारग भटकांहि॥ २॥ *(- ज्ञानार्णव वचनिका, प्रशस्ति)*

यदि इन प्रयोजनों को ध्यान में रख कर, वचनिका का परीक्षण किया जाए तो हम आश्चर्य से भर उठते हैं कि वे अपने उद्देश्यों की पूर्ति में पूर्णरूप से सफल रहे हैं। जहाँ भी पण्डितजी को यह आशंका दिखाई दी कि पाठक इस कथन को पढ़ कर भ्रमित हो सकता है, वहीं पण्डितजी, भावार्थ में नय-विभाग को खोलते हैं।

वचनिका पूर्णत: आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द कृत 'समयसार' एवं 'आत्मख्याति' का अनुसरण करती हुई दिखाई देती है। यद्यपि वचनिका में '**भावार्थ**' नाम से एक हिस्सा उन्होंने अपने स्वयं के मन्तव्य के लिए रखा है, जिसमें उन्होंने जहाँ आवश्यक समझा, वहाँ विषय को स्पष्ट किया, बोधगम्य बनाया, विस्तृत किया; अधिक आवश्यक समझा तो अन्य ग्रन्थों के उद्धरण देकर विश्लेषण भी किया है।

सामान्य प्रतीति में लगता है कि वे 'आत्मख्याति' के अनुवादकमात्र हैं, परन्तु ध्यान से देखें तो समझ में आता है कि वे मात्र अनुवादक नहीं है, वचनिकाकार और व्याख्याता भी हैं। विशेष बात यह है कि गम्भीर अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि वे त्रुटियों से बचने के लिए सजग हैं। जहाँ समयसारकर्ता तथा टीकाकार का उद्देश्य, शुद्धात्मतत्त्व का प्रगटीकरण है, वहीं वचनिकाकार का उद्देश्य नय-विभाग को स्पष्ट करना अथवा स्याद्वाद शैली के मर्म को यथार्थरूप से समझाना है; अत: इसके लिए वे आद्यन्त सचेष्ट भी रहते हैं। भावार्थ में उनकी मौलिकता स्पष्टत: परिलक्षित होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वचनिका का वैशिष्ट्य समयसार और आत्मख्याति से किञ्चित् भिन्न हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में प्रस्तुत पीठिका को देखें, जो हस्तलिखित प्रति के सत्रह पृष्ठों में फैली है; वह न समयसार का हिस्सा है, न आत्मख्याति का। पीठिका में सबसे पहले वे ग्रन्थ के अस्तित्व को जिनशासन की परम्परा के बीच में रखते हुए, उसके कारणों की व्याख्या करते हैं। अपनी व्याख्या में वे यह बताते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने ग्रन्थ की रचना क्यों की और ग्रन्थ की विषयवस्तु क्या है ? उसके बाद वे स्वयं वचनिका करने में प्रवृत्त क्यों हुए ? – इसका भी उल्लेख करते हैं। इसके बाद ग्रन्थ की विषय-वस्तु पर अधिकारों के अनुसार विचार करते हैं। यह पीठिका, विषय-वस्तु के अचानक प्रगट होने की असुविधा से बचाती है और पाठक को मूल विषय-वस्तु से परिचित करा कर, ग्रन्थ को आगे पढ़ने के लिए प्रेरित करती है, जो किसी भी पीठिका का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होता है।

पहली बात यह है कि वचनिकाकार, विषय-वस्तु से बँधे भी हैं और स्वतन्त्र भी हैं। जब वचनिकाकार गाथार्थ, श्लोकार्थ या मूल टीका का अर्थ लिखते हैं तो विषय-वस्तु से इतने अधिक बँध जाते हैं कि यदि उन्हें किसी शब्द विशेष का अनुवाद करने के लिए स्थानापन्न अन्य पर्यायवाची शब्द नहीं मिलता है तो बिना सन्धि-विच्छेद या समास-विग्रह किये मूल शब्द को ही अनूदित स्थल पर लिख देते हैं[१], जिससे कहीं कोई चूक न हो जाए अथवा स्थानापन्न दूसरा शब्द रखने पर कहीं अर्थ न बदल जाए। लेकिन जब वे भावार्थ लिखते हैं तो स्वयं को टीका, गाथा और श्लोकों की शाब्दिक सीमा से मुक्त करते हुए, अत्यन्त सरल शब्दों में मूल भाव को स्पष्ट करते चलते हैं।

---

१. ***देखें, समयसार वचनिका,*** *भावार्थ, गाथा ७, पृष्ठ ८३-८४*

भावार्थ लिखते समय यदि उन्हें लगता है कि कहीं कुछ छूट गया है और होना चाहिए तो वे उसे जोड़ देते हैं। जब उन्हें लगता है कि बात को और अधिक स्पष्ट होना चाहिए तो वे आगम साक्ष्य, नय-विवक्षा, उदाहरण आदि के माध्यम से और अधिक स्पष्ट करते चलते हैं।[१] इसके चलते, कई बार उनका भावार्थ, मूल टीका से भी अधिक स्थान को घेर लेता है, कहीं-कहीं यदि टीका में ही बात स्पष्ट हो जाती है तो मात्र दो-तीन पंक्तियों में भावार्थ कह कर 'इतिश्री' भी कर लेते हैं।[२]

पण्डितजी के भावार्थ, पीठिका में दिये गए अन्य प्रयोजनों की भी पूर्ति करते हैं। जैसे, अन्य मतियों द्वारा आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप के विषय में की गई विभिन्न कल्पनाओं का निराकरण, यथासम्भव सन्दर्भ के अनुसार करते हुए चलते हैं।[३] जहाँ उन्हें यह आशंका होती है कि इस कथन को पढ़ कर, पाठक एकान्ती हो सकता है तो वे वहीं ठहर जाते हैं और नय-विवक्षा को इस सीमा तक स्पष्ट करते हैं कि पाठक के भ्रमित होने की सम्भावना ही नहीं रहती।[४] फिर भी यदि भ्रमित होने की थोड़ी भी सम्भावना दिखाई देती है तो चेताते हुए कहते हैं कि '**अैसा मति जानूं**' अर्थात् ऐसा मत समझना और गलत समझने की गुञ्जाइश मात्र भी हो तो विशेष स्पष्टीकरण करके समाप्त कर देते हैं।[५]

भावार्थों की भाषा आबाल-गोपाल सभी की समझ में आ जाए, इतनी सरल है। यहाँ तक कि यदि वचनिका से भावार्थों को अलग कर टीका के अनुवाद के समक्ष रखा जाए तो यह भासित होगा कि जैसे टीका का अनुवादक कोई और है, और भावार्थ का लेखक कोई और। मजेदार बात यह है कि भावार्थ में विषय के स्पष्टीकरण के दौरान वे अपने विचार, पाठकों पर लादते नहीं हैं, बल्कि पाठक के मन में बैठ कर, उसे दृष्टान्त, आगम-साक्ष्य और तर्क के माध्यम से समझाते हैं। इस तरह पण्डितजी के तीनों प्रयोजनों की पूर्ति भावार्थ के माध्यम से हो जाती है और वे स्याद्वाद शैली का मर्म अपने पाठकों को समझा देते हैं।

अधिक स्पष्टीकरण करने के लिए उन्होंने पण्डित टोडरमलजी द्वारा प्रयुक्त शङ्का-समाधान या प्रश्नोत्तर शैली का भी प्रयोग किया है। उनका शङ्काकार सामान्यत: '**इहाँ कोई प्रश्न पूछै**' की शैली में अन्य पुरुष ही होता है[६], परन्तु कहीं-कहीं '**इहाँ प्रश्न है कि**' शैली में उत्तमपुरुष भी है, किन्तु शायद अत्यन्त विनम्रता से ओतप्रोत होने के कारण मध्यम पुरुष की भाषा 'तुम' या 'तू' का अभाव-सा ही है। प्रश्न चाहे अन्य पुरुष की शैली में पूछे जाएँ या उत्तमपुरुष की शैली में, लेकिन होते अद्‌भुत हैं।

इन प्रश्नों के माध्यम से उनका उद्‌देश्य यही रहता है कि विषय के स्पष्टीकरण के बावजूद कोई शङ्का न रह जाए। पण्डितजी, जिन प्रश्नों को उठाते हैं, वे एक सामान्य पाठक या श्रोता के मन में उठनेवाले साधारण प्रश्न भी हो सकते हैं और एक तत्त्वाभ्यासी स्वाध्यायी श्रावक के मन में उठनेवाले जटिल प्रश्न भी

---

१. ***वही,*** *भावार्थ, गाथा ६, पृष्ठ ८२-८३*
२. ***वही,*** *भावार्थ, गाथा २, ३, ४, एवं २२, २१, २२ पृष्ठ ७१, ७२, ७३, ७५-७६, १३९*
३. ***वही,*** *भावार्थ, गाथा १, पृष्ठ ६६-६८*
४. ***वही,*** *भावार्थ, गाथा ६, पृष्ठ ८०-८२*
५. ***वही,*** *भावार्थ, गाथा १४, पृष्ठ ११३-११६*
६. ***वही,*** *भावार्थ, गाथा ७, पृष्ठ ८३-८४*

हो सकते हैं, किन्तु उत्तर उन सभी का समाधानकारक ही होता है।[१]

जहाँ तक सवाल, दृष्टान्त-शैली का है, उन्होंने स्वयं तो समझाने के लिए अपनी ओर से कम ही दृष्टान्त दिए हैं, किन्तु जो दृष्टान्त, आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने देश-काल के सापेक्ष दिये हैं, उन्हें अपने देश-काल के अनुसार सरलतम शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास अवश्य किया है।[२]

अगाध ज्ञान के होते हुए भी यह उनकी विनम्रता ही है कि जब उपदेश देना होता है तो स्वयं सीधे-सीधे न कह कर, '**ऐसा श्री गुरुनि का उपदेश है**' – कह कर मौन हो जाते हैं।[३] उनकी निरहंकारिता का प्रमाण, पीठिका और प्रशस्ति, दोनों जगहों पर मिल जाता है।

वे पीठिका में लिखते हैं —

''यामैं कहीं बुद्धि की मंदता तैं तथा प्रमाद तैं हीनाधिक अर्थ लिषूँ तौ बुद्धि के धारकजन, मूल ग्रंथ देषि शुद्ध करि वांचियो, हास्य मति करियो। सत्पुरुषनि का स्वभाव, गुण ग्रहण करनें ही का होय है, यह मेरी परोक्ष प्रार्थनां है।''[४]

इसी प्रकार अन्तिम प्रशस्ति में वे लिखते हैं —

''देश की वचनिका मैं लिषी जयचंद्र यहै, संक्षेप अरथ अल्पवुद्धि हू कूं पावनूं।''[५]

इतना विशाल ग्रन्थ लिखने के बावजूद आगे जाकर अन्त में वे लिखते हैं —

''आयु वुद्धि, वल, थिरता की अल्पता तैं जेता वण्यां, तेता संक्षेप करि प्रयोजनमात्र लिख्या है। ताकूं वाचि करि भव्यजीव यथार्थ समझियो अर किछू अर्थ मैं हीनाधिक होय तौ वुद्धिमान, मूल ग्रंथ तैं जैसैं होय, तैसैं समझियो।''[६]

यहाँ उल्लेखनीय है कि ऐसी निरभिमानता, उनके सभी ग्रन्थों की प्रशस्तियों में विद्यमान है। जब वि.सं. १८८० में वृन्दावनदासजी ने उन्हें काशी से पत्र भेज कर, मोक्षमार्गप्रकाशक के अपूर्ण होने की चर्चा करते हुए पूर्ण करने का आग्रह किया, तब भी अपनी अल्पज्ञता एवं क्षयोपशम की अल्पता का परिचय देते हुए, प्रत्युत्तर में उन्होंने लिखा है —

''और लिख्या कि टोडरमलजी कृत मोक्षमार्गप्रकाश पूरण भया नाहीं, ताका पूरण करना योग्य है सो कोई एक मूल ग्रंथ की भाषा होय तो हम पूरण करें, उनकी वुद्धि वड़ी थी, यातैं बिना मूल ग्रंथ के आश्रय उनने किया, हमारी ऐती वुद्धि नाहीं, कैसे पूरण करें।''[७]

इस प्रकार छाबड़ाजी के स्वभाव की निरभिमानता, हमें उनके सम्पूर्ण साहित्य में दृष्टिगोचर होती है।

यद्यपि पण्डित टोडरमलजी की परम्परा में सर्वाधिक प्रतिभाशाली विद्वान् पण्डित जयचन्दजी

---

१. ***समयसार वचनिका,*** *भावार्थ, गाथा १४, पृष्ठ ११६*
२. ***वही,*** *भावार्थ, गाथा १२, पृष्ठ ९४*
३. ***वही,*** *भावार्थ, कलश ८, पृष्ठ १०५*
४. ***वही,*** *पीठिका, पृष्ठ २२*
५. ***वही,*** *अन्तिम प्रशस्ति, पृष्ठ १०३६*
६. ***वही,*** *अन्तिम प्रशस्ति, पृष्ठ १०३७*
७. ***कविवर वृन्दावनदासजी एवं पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा,*** *के परस्तपर पत्र-व्यवहार की मूल अथवा अन्य हस्तलिखित प्रति बहुत खोजने के उपरान्त भी हमें प्राप्त नहीं हुई, इसका हमें खेद है।*

छाबड़ा का योगदान अक्षुण्ण है, किन्तु उनके योगदान का सही मूल्याङ्कन अभी तक नहीं हुआ है; इसलिए अभी और भी मूल्याङ्कन अपेक्षित है। जहाँ एक ओर उन्होंने प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में लिखे आध्यात्मिक एवं सैद्धान्तिक ग्रन्थों को सरल करके जनभाषा में लिख कर, सिद्धान्त और अध्यात्म दोनों को ही जनसामान्य के लिए ग्राह्य बना कर, टोडरमलजी की परम्परा को आगे बढ़ाया है; वहीं दूसरी ओर आनेवाली पीढ़ियों के लिए सतत प्रेरणास्रोत बने रह कर, आकाशदीप का कार्य किया है। उनमें तत्त्वदृष्टि के सम्बन्ध में कहीं समझौतावादिता दृष्टिगोचर नहीं होती है, बल्कि एक दृढ़ता दिखाई देती है, जो '**ऐसा नाहीं**' के स्वर में उनके साहित्य में बिखरी पड़ी है।

उनका ज्ञान, जितना जैनदर्शन के बाहर विस्तृत है, उतना ही जैनदर्शन के गहरे बोध से आप्लावित है। कथ्य को समझाना, उसे सुग्राह्य बनाना, उनके उद्देश्य में निहित था; इसलिए वे निरर्थक पाण्डित्य का प्रदर्शन कर विषय को उलझाते नहीं हैं, चमत्कार-प्रदर्शन भी नहीं करते हैं। वीतरागता ही उनका चश्मा है, जिससे वे तथ्यों का निरूपण करते हैं।

पण्डितजी की भाषा ब्रजभाषा है, जिसे अर्थात् अपनी वचनिका की भाषा को वे 'देशभाषा' कहते हैं। 'देशभाषा' से उनके ठीक-ठीक तीन भाव हो सकते हैं। एक तो जिस क्षेत्र में वे रहते हैं, वहाँ की क्षेत्रीय भाषा; दूसरे – सम्पूर्ण राजस्थान की भाषा; तीसरे, पूरे हिन्दी समाज की भाषा। पहले और दूसरे विकल्पों पर यदि विचार करते हैं तो यह पण्डितजी के वचनिका लिखने के उद्देश्य से मेल नहीं खाता है क्योंकि उन्होंने लिखा है —

''सो कालदोष तैं जीवनि की वुद्धि मंद होती आवै है, ताके निमित्त तैं, प्राकृत संस्कृत के अभ्यास करनेंवाले विरले रहि गए हैं अर गुरुनि की परंपरा का उपदेश भी विरला होय गया। तातैं मेरी वुद्धिसारु ग्रंथनि का अभ्यास करि, इस ग्रंथ की देश भाषामय वचनिका करनें का प्रारंभ कीया है सो भव्यजीव वाचैंगे, पढ़ैंगे, सुणैंगे, तिसका तात्पर्य धारैंगे, तिनिका मिथ्यात्व का अभाव होयगा, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होयगी, अैसा अभिप्राय है।''[१]

इस विशद अभिप्राय के लिए भाषा भी अधिक लोगों तक पहुँचानेवाली हो, इस उद्देश्य से प्रेरित होकर, उन्होंने अपने क्षेत्र की भाषा ढुँढाड़ी का प्रयोग न करके, तत्कालीन हिन्दी प्रान्त के अधिकांश हिस्से में बोली व समझी जानेवाली 'ब्रजभाषा' का प्रयोग किया है। यद्यपि उनकी भाषा में क्षेत्रीय शब्दों और शैली का भी बहुत प्रयोग हुआ है, जिससे यह भ्रम पैदा होता है कि कहीं उनकी भाषा ढुँढ़ाड़ी तो नहीं है, किन्तु व्याकरणिक संरचना अर्थात् संज्ञा, सर्वनाम और क्रियापदों की दृष्टि से देखें तो उनकी भाषा 'ब्रजभाषा' ही है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा प्रयुक्त भाषा भी 'ब्रजभाषा' ही है – ऐसा डॉ. भारिल्लजी ने अपने शोध-प्रबन्ध में सिद्ध किया है; अत: टोडरमलजी की परम्परा में होनेवाले पण्डित जयचन्दजी ने भी 'ब्रजभाषा' को ही प्रयुक्त किया है।

---

१. ***देखो, समयसार वचनिका,*** *पीठिका, पृष्ठ २२*

उनकी भाषा-शैली, आनेवाले ग्रन्थकारों की पीढ़ी के लिए भी दृष्टान्त बनी, जिसका परवर्ती लेखकों ने प्रयोग किया। उनके द्वारा लिखी 'समयसार वचनिका' उस विशाल अध्यात्म महल की नींव बनी, जिस पर तत्कालीन, परवर्ती और आधुनिक लेखक अपने-अपने महल खड़े करते रहे। यदि यह मूल आधार न होता तो सम्भवत: परवर्ती और आधुनिक लेखकों-विचारकों के अध्यात्ममहल भी ऐसे न होते। हो सकता है कि समयसार के गूढ़ रहस्य, रहस्य ही बने रहते; अत: आदरणीय पण्डित जयचन्दजी के कर्तृत्व को यह सोच कर कम आँकना कि वे महज एक वचनिकाकार थे, यह भूल होगी क्योंकि वे आनेवाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणास्रोत बने रहेंगे। यह उनका कर्तृत्व ही है कि प्रमाण-परीक्षा के वचनिकाकार पण्डित भागचन्दजी, पण्डित जयचन्दजी को पथ-प्रदर्शक के रूप में याद करते हैं और उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।[१] पण्डित भागचन्दजी की भाँति, वे विद्वद्वर्य मन्नालाल सांगाका, सदासुखदासजी, ऋषभदास निगोत्या, पार्श्वदास प्रभृति अनेक विद्वानों के भी प्रेरणास्रोत रहे हैं।

इस सम्पूर्ण प्रस्तावना में 'समयसार' के मूल रचनाकार आचार्य कुन्दकुन्द, संस्कृत टीका 'आत्मख्याति' के रचयिता आचार्य अमृतचन्द्र और अन्य टीकाकार आचार्य जयसेन, आचार्य प्रभाचन्द्र आदि तथा समयसार के कलशों की टीका लिखनेवाले आचार्य शुभचन्द्र, कलशों की भाषा टीका लिखनेवाले पाण्डे राजमलजी एवं नाटक समयसार के रचयिता पण्डित बनारसीदासजी तथा अन्य समयसार के आधुनिक व्याख्याकारों का परिचय विस्तारभय से नहीं दिया जा रहा है। सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे अन्य प्रकाशनों से इन सभी रचनाकारों एवं व्याख्याकारों का परिचय प्राप्त कर लेवें। इस सम्बन्ध में पण्डित जयचन्दजी द्वारा लिखित पीठिका भी पाठकों को उपयोगी सिद्ध होगी, जो इस प्रकाशन में जोड़ी गई है।

और अन्त में इस ग्रन्थ के प्रचार-प्रसार में आपके अमूल्य सहयोग की अपेक्षापूर्वक वचनिकाकार के शब्दों में यही निवेदन करना चाहते हैं कि ''सम्पूर्ण पाठकवृन्द समयसारजी का गहराई से अध्ययन-मनन चिन्तवन करके, बन्धरूप विभाव परिणति को त्याग कर, अपने शुद्धात्मा को अनुभवपूर्वक ग्रहण करें और चिन्तारहित हों तथा इस जिनागम के सार को शिरोधार्य करके शीघ्र ही पवित्र और आत्मीक सुख-सौन्दर्य से पूरित शिव-रमणी का वरण करें'', यही भावना हमारी भी है —

अनुभौ करि आतम शुद्ध गहो, तजि बंध विभाव निचिंत रहो।
जिन आगमसार सुशीश धरौ, शिव कामिनि पावनि वेगि वरौ॥[२]

- संजयकुमार जैन
प्रवक्ता, राजकीय महाविद्यालय,
दौसा (राज.)

---

१. *जयचन्द इति ख्यातो जयपुर्यामभूत्सुधीः, दृष्ट्वा यस्याक्षरन्यासं मादृशोऽपीदृशी मतिः।*
यथाप्रमाणशास्त्रस्य संस्वाद्य रसमुल्वणम्, नैयायिक समया भासन्ते सुष्ठुनीरसाः॥
(- कविवर भागचन्दजी, प्रमाण परीक्षा वचनिका, प्रशस्ति)

२. ***पण्डित जयचन्द छाबड़ा;*** *संक्षिप्त हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, लेखक - बाबू कामताप्रसाद, पृष्ठ १९०*

पूज्य गुरुदेवश्री के हृदयोद्गार

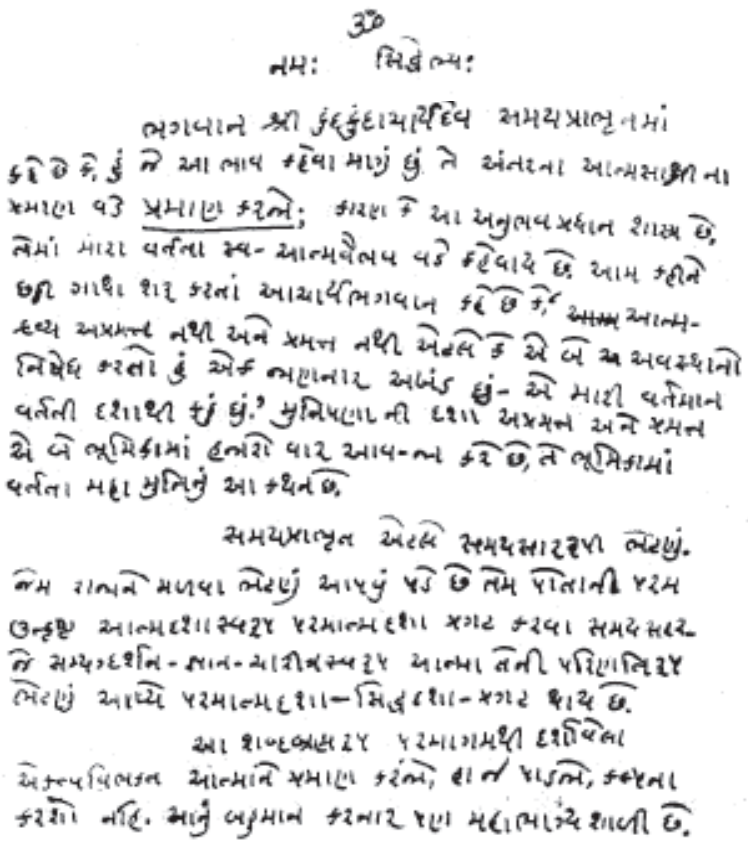

ॐ
नमः सिद्धेभ्यः

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयप्राभृतमां
कहे छे के हुं जे आ भाव कहेवा मागुं छुं ते अंतरना आत्मसाक्षीना
प्रमाण वडे प्रमाण करजो; कारण के आ अनुभवप्रधान शास्त्र छे,
तेमां मारा वर्तता स्व-आत्मवैभव वडे कहेवाये छे आम कहीने
छट्ठी गाथा शरू करतां आचार्यभगवान कहे छे के आत्म आत्म-
द्रव्य अप्रमत्त नथी अने प्रमत्त नथी एटले के बे ए अवस्थानो
निषेध करतो हुं एक जाणनार अखंड छुं- एवी मारी वर्तमान
वर्तती दशाथी कहुं छुं.' मुनिपणानी दशा अप्रमत्त अने प्रमत्त
बे बे भूमिकामां हजारो वार आव-जा करे छे, ते भूमिकामां
वर्तता महा मुनिनुं आ कथन छे.

समयप्राभृत एटले समयसाररूपी भेटणुं.
जेम राजाने मळवा भेटणुं आपवुं पडे छे तेम पोतानी परम
उत्कृष्ट आत्मदशास्वरूप परमात्मदशा प्रगट करवा समयसार-
ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप आत्मा तेनी परिणतिरूप
भेटणुं आपीने परमात्मदशा-सिद्धदशा-प्रगट थाय छे.

आ शब्दब्रह्मरूप परमागमथी दर्शावेला
एकत्वविभक्त आत्माने प्रमाण करजो, हा ज पाडजो, कल्पना
करशो नहि. आनुं बहुमान करनार पण महाभाग्यशाली छे.

भगवान श्री कुन्दकुन्दचार्यदेव समयप्राभृत में कहते हैं कि मैं जो यह भाव कहना चाहता हूँ, उसे अन्तर के आत्मसाक्षी के प्रमाण द्वारा प्रमाणित करना, क्योंकि यह अनुभवप्रधान शास्त्र है, इसमें मेरे वर्तते हुए निज आत्मवैभव द्वारा कहा है – ऐसा कह कर छठवीं गाथा का प्रारम्भ करते हुए आचार्य भगवान कहते हैं कि 'आत्मद्रव्य अप्रमत्त नहीं है और प्रमत्त नहीं है; अर्थात्, इन दोनों अवस्थाओं का निषेध करता हुआ मैं एक जाननहार अखण्ड हूँ' – यह मैं अपनी वर्तमान वर्तती दशा से कहता हूँ। मुनिपने की दशा, अप्रमत्त और प्रमत्त – इन दोनों भूमिकाओं में हजारों बार आती-जाती रहती है, उस भूमिका में वर्तनेवाले महामुनि का यह कथन है।

समयप्राभृत अर्थात्, समयसाररूपी भेंट! जिस प्रकार राजा से मिलने के लिए भेंट देना आवश्यक है; उसी प्रकार जो अपनी परम उत्कृष्ट आत्मदशास्वरूप परमात्मदशा को प्रगट करने के लिए समयसार अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप आत्मा को, अपनी परिणतिरूप भेंट देता है, उसे परमात्मदशा या सिद्धदशा प्रगट होती है।

इस शब्दब्रह्मरूप परमागम से दर्शाए हुए एकत्व-विभक्त आत्मा को प्रमाण करना, हाँ ही करना; कल्पना मत करना, इसका बहुमान करनेवाला भी महाभाग्यशाली है।

(– गुरुदेवश्री के स्वहस्ताक्षरित गुजराती अंश का हिन्दी रूपान्तर)

ॐ

समयसार वचनिका : गुरुदेवश्री के हार्दिक उद्‌गार

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा लिखित समयसार वचनिका को जिसने भी एक बार पढ़ा, वह इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका, वह चाहे कोई विद्वान हो या सन्त – यही इस वचनिका की सबसे बड़ी विशेषता है। इसका कारण यह है कि यह उस सरल शैली में लिखी गयी है, जिसके हम अभ्यस्त हैं, जिसे हम आसानी से सुन और समझ सकते हैं। अध्यात्म जैसे गम्भीर विषय को सरल भाषा-शैली में प्रस्तुत करने की यह कला, उनके प्रति हमारे मन में बहुमान का भाव जाग्रत करती है। पण्डितजी के प्रति यह बहुमान का भाव, उनके शिष्यों एवं परवर्ती ग्रन्थकारों में भी वैसा ही उदित होता रहा है, जैसा आज हमारे मन में उदित होता है, किन्तु जैसा बहुमान का भाव **आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के मानस-पटल पर उदित हुआ, वैसा शायद ही किसी के मन में उदित हुआ होगा।

'होता भी क्यों नहीं!' – जिस ग्रन्थाधिराज समयसार ने उनके जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया, उन्हें अशरीरी होने का मार्ग दिखाया, उसके प्रति बहुमान का भाव आना स्वाभाविक ही है। **'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति';** अर्थात् साधुजन अपने प्रति किये गए उपकार को विस्मृत नहीं करते। गुरुदेवश्री भी अपने उपकारियों को विस्मृत कैसे करते?

लगातार ४५ वर्षों तक इस ग्रन्थाधिराज पर १९ बार व्याख्यान करने के दौरान, कोई दिन ऐसा नहीं जाता था, जिस दिन गुरुदेवश्री के हृदय में तीर्थङ्करों, आचार्य भगवन्तों और सद्‌गृहस्थ धर्मात्मा विद्वानों के प्रति आह्लाद का भाव उमड़ कर न आता हो, किन्तु पण्डितप्रवर जयचन्दजी छाबड़ा का नाम आने पर तो हृदय ऐसा उल्लसित होता, जैसे कोई स्रोत ही फूट पड़ा हो। कोई भी चमत्कारिक पंक्ति मिली नहीं कि वचनामृत, निर्झर की भाँति झर-झर झरने लगते थे। उनके मन में आश्चर्य होता था कि दिगम्बर धर्म में केवल आचार्य भगवन्त ही नहीं, अपितु सद्‌गृहस्थ ज्ञानी धर्मात्मा विद्वान् भी शुद्ध प्रामाणिक बात करते हैं; इसीलिए उनके भावार्थों की सरलता एवं तत्त्व का गहराई को देख कर, जब वे भाव-विह्वल होते तो पण्डित जयचन्दजी को कभी पण्डितजी पुकारते तो कभी सद्‌गृहस्थ पुकारते।

यहाँ इस आलेख में गुरुदेवश्री के पण्डित जयचन्दजी के प्रति भाव-विभोर होने के क्षणों को,

प्रवचनांशों के माध्यम से उन चमत्कारिक पंक्तियों के आलोक में, उद्धरण एवं प्रसङ्गसहित सङ्कलित किया गया है। समयसार वचनिका की जिन विशेषताओं को देख कर, गुरुदेवश्री प्रमुदित हो उठते थे, उनमें से कुछ को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं —

१. अहो ! पण्डितजी ने कैसा सरस स्पष्टीकरण किया है.....

''आत्मा के अनन्त धर्म; अर्थात्, उसके गुण एवं पर्याय हैं। चैतन्यतत्त्व, इन सभी गुण-पर्यायों में व्याप्त है।..... इस प्रकार इस भावार्थ में जो लिखा हुआ है, वह इसका अर्थ है। देखो! पुस्तक में सब कुछ लिखा हुआ है। आ..हा..हा..! भाषा तो सादी है, परन्तु भाव बहुत गहरा है। **अहो! पण्डित जयचन्दजी ने कैसा सरस स्पष्टीकरण किया है।**

- प्रवचन रत्नाकर (गुजराती), भाग १, गाथा ७ का भावार्थ, पृष्ठ ११३

२. जो मध्यस्थ सत्य था, वही बाहर निकाला है.....

पहले के पण्डितों में पण्डित जयचन्दजी, पण्डित राजमलजी, पण्डित टोडरमलजी, पण्डित बनारसीदासजी आदि ने बहुत काम किया है। **जो मध्यस्थ सत्य था, वही बाहर निकाला है;** किसी का पक्ष नहीं किया है।

- समयसार सिद्धि (गुजराती), भाग १, कलश २ का भावार्थ, पृष्ठ ३१ एवं

३. पहले के दिगम्बर पण्डित ऐसे थे.....

''यहाँ अपना अनुभव (स्वसंवेदन), प्रधान है; अनुभव की मुख्यता है, उससे शुद्धस्वरूप का निश्चय करो – यह कहने का आशय है, ऐसा पण्डित जयचन्दजी ने भावार्थ में लिखा है। **पहले के दिगम्बर पण्डित ऐसे थे।** जैसे – पण्डित जयचन्दजी, पण्डित टोडरमलजी, पण्डित बनारसीदासजी एवं पण्डित भागचन्दजी आदि। पण्डित जयचन्दजी ने आचार्यों का भाव, प्रचलित भाषा में भावार्थ के अन्दर अच्छी तरह भरा है।''

- समयसार सिद्धि (गुजराती), भाग १, गाथा ५ का भावार्थ, पृष्ठ १९६

४. उसका भाव, पण्डित जयचन्दजी ने यहाँ भरा है, इसलिए इसे भावार्थ.....

''आ..हा..हा..! अनन्त काल से नहीं जाने गए अज्ञात मार्ग को वीतराग-सर्वज्ञ-परमेश्वरदेव ने दिव्यध्वनि के माध्यम से सब जीवों को अपनी-अपनी भाषा में बताया है, उसे आचार्य भगवन्तों ने गाथाओं में निबद्ध किया है। आ..हा..हा..! **उसका भाव, पण्डित जयचन्दजी ने यहाँ भरा है; इसलिए इसे भावार्थ कहते हैं।** अहो! आचार्य क्या कहना चाहते हैं और गाथाओं में क्या कहा गया है? – इसकी स्पष्टता, भावार्थ में आ जाती है।

- समयसार सिद्धि (गुजराती), भाग १, गाथा ६ का भावार्थ, पृष्ठ २४४

५. देखो ! कैसी शैली से कहते हैं.....

''**देखो! कैसी शैली से कहते हैं।** आ..हा..हा! पण्डित जयचन्दजी अर्थ करते हैं, उस समय के पण्डित भी कैसे हैं? २०० वर्ष पहले के पण्डित लोग .... अरे रे! अभी तो बहुत फेरफार हो गया है। .....देखो न! पुराने पण्डितों ने ऐसा अर्थ भरा है, लेकिन अब तो ऐसा नहीं है। ..... आ..हा..हा..! शब्द भी कैसे लिखे हैं पण्डितजी ने – 'अभेददृष्टि में भेद को गौण करने से अभेद भलीभाँति मालूम होता है; अत: भेद को गौण करके, उसे व्यवहार कहा है।' यद्यपि भेद है तो उसकी चीज; अत: उसे गौण करके व्यवहार कहा है। पर तो अपने में है ही नहीं; इसलिए उसे व्यवहार कहा है तथा भेद तो अपने में है, लेकिन उसे भी गौण करके व्यवहार कहा है। आ..हा..हा..! समझ में आया।''

- समयसार सिद्धि (गुजराती), भाग १, गाथा ७ का भावार्थ, पृष्ठ २७९-२८०/२८२

६. पण्डितजी ने कितना अर्थ भरा है.....

''वीतराग होने पर तो अभेद वस्तु को भी जानते हैं और गुण-पर्यायभेद को भी जानते हैं। राग का अभाव होने के बाद तो भेदाभेद को जानना होता है। जब तक राग है; तब तक अभेद की दृष्टि करा कर, भेद को गौण करके, वीतरागी अनुभव कराया है। आ..हा..हा..! **पण्डितजी ने कितना अर्थ भरा है।**

- समयसार सिद्धि (गुजराती), भाग १, गाथा ७ का भावार्थ, पृष्ठ २८४

७. २०० वर्ष पहले बहुत स्पष्ट किया.....

''आ..हा..हा..! ऐसा स्पष्टीकरण करनेवाले पण्डितजी ने बहुत सरस स्पष्ट किया है। यद्यपि वे पण्डित हैं, तथापि उन्होंने **२०० वर्ष पहले बहुत स्पष्ट किया है।**

- समयसार सिद्धि (गुजराती), भाग १, गाथा ७ का भावार्थ, पृष्ठ २८८

८. गृहस्थावस्था में हो तो भी मोक्षमार्गी.....

''प्रत्येक शब्द में गम्भीरता है। गाथा में [श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने] व्यवहार को अभूतार्थ कहा है, उसकी टीका प्रभु अमृतचन्द्राचार्य ने की है और उसे सरल देश भाषा में समझाने के लिए यह पण्डितजी अर्थ करते हैं। आ..हा..हा..! **गृहस्थाश्रम में रहनेवाले पण्डित जयचन्दजी !**

यहाँ तो जिसे आत्मा के ज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन हो, वह **गृहस्थाश्रम में हो तो भी मोक्षमार्गी है,** लेकिन साधु होकर जिसने रागभाव की कणिका को भी आदरणीय माना, वह संसारमार्गी है; भले ही वह पञ्च महाव्रत का पालन करे, हजारों रानियों को छोड़े, नग्नता धारण करे और जङ्गल में रहे क्योंकि राग ही संसार है। शुभराग या दया-दानादि का भाव, संसार है, भव है; भव का जिसे प्रेम है, वह भवसमुद्र में रुलनेवाला संसारी प्राणी है।

अरे रे! ९६ करोड़ सिपाही और ९६ हजार स्त्रियों के समूह में रहनेवाले चक्रवर्ती को तो अभेद चिदानन्द आत्मा का अनुभव है, अत: वे मोक्षमार्ग में चल रहे हैं; परन्तु जिसे अभेद चिदानन्द आत्मा का अनुभव नहीं है, वह संसारमार्ग में है।''

- समयसार सिद्धि (गुजराती), भाग १, गाथा ११ का भावार्थ, पृष्ठ ४४०-४४१

९. तत्त्व की पकड़ तो गहरी है.....

''बहुत से लोग '**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**' – इस सूत्र का ऐसा अर्थ करते हैं कि देश-सेवा करो, एक -दूसरे की मदद करो, दूसरे जीवों की दया पालो, अहिंसा करो, दूसरे का उपकार करो आदि; लेकिन सर्वार्थसिद्धि वचनिका में पण्डित जयचन्दजी ने उपग्रह या उपकार शब्द का अर्थ निमित्त किया है, परन्तु निमित्त कुछ करता नहीं है। भाई! पण्डितजी की **तत्त्व की पकड़ तो गहरी है। आ..हा..हा..!**''

- समयसार सिद्धि (गुजराती), भाग १, गाथा 3 का भावार्थ, पृष्ठ १४४

१०. जयचन्द पण्डितजी स्पष्टीकरण करते हैं.....

''आ..हा..हा! जयचन्द पण्डितजी स्पष्टीकरण करते हैं कि आत्मा, ज्ञायकभाव से जड़भावरूप नहीं होता। भाषा तो देखो! यदि आत्मा, शुभ-अशुभभावरूप हो जाए तो जड़ हो जाए क्योंकि शुभ-अशुभभाव तो अचेतन हैं, अजीव हैं। आ..हा..हा..!''

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग १, गाथा ६ का भावार्थ, पृष्ठ २०४

११. दिगम्बर धर्म में पण्डितों ने भी बहुत सुन्दर काम किया है.....

''मोक्षमार्ग प्रकाशक में आता है कि 'प्रथम मुनि को अशुभराग तो आता ही नहीं है, परन्तु धर्म के लोभियों को देख कर, कोई धर्म के प्रति शुभराग आता है तो उसे शुभभाव से समझाते हैं।' आ..हा..हा..! यह तो टोडरमलजी, बनारसीदासजी, राजमलजी, भागचन्दजी, जयचन्दजी आदि पण्डितों की बात है। दिगम्बरों के पण्डितों ने 'जैनधर्म क्या चीज है' – इसे टिकाए रखा है।..... **अरे! दिगम्बर सन्तों की तो क्या बात कहें? दिगम्बर धर्म में पण्डितों ने भी बहुत सुन्दर काम किया है,** परन्तु आजकल तो बहुत गड़बड़ हो गई है।''

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग १, पृष्ठ ३०७

१२. भावार्थ में पण्डितजी खुलासा करते हैं

''यहाँ, **भावार्थ में पण्डितजी खुलासा करते हैं** – भाई! यहाँ, 'व्यवहार के विषय वर्तमान पर्याय और राग को झूठा कह कर, 'नहीं हैं' – ऐसा कहा है और त्रिकाली वस्तु को सत्य कह कर, 'है' – ऐसा कहा है'; इसका अर्थ क्या है? – भाई! जिसका विषय नहीं होता है, उसे अभूतार्थ

कहते हैं। यहाँ व्यवहारनय को अभूतार्थ कहने का आशय यह है कि वह सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, शुद्धनय का विषय नहीं है; शुद्धनय का विषय तो अभेद एकाकाररूप नित्य द्रव्य है। नित्य द्रव्य प्रभु; अर्थात् हमेशा रहनेवाला भगवान। नित्य भगवान अनादि है और अनन्त काल तक ऐसा का ऐसा रहनेवाला ध्रुवतत्त्व है; वही ज्ञायकभाव, सम्यग्दर्शन का विषय है, शुद्धनय का विषय है।''

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग १, गाथा ११ का भावार्थ, पृष्ठ ४११

१३. पण्डितजी गृहस्थ हैं, फिर भी उन्होंने इतना माल निकाला है.....

''आ..हा..हा..! इस समयसार का अर्थ करनेवाले पण्डित जयचन्दजी भी कैसे हुए हैं! यहाँ भावार्थ में पण्डितजी ने ही अर्थ किया है। आ..हा..हा..! **जयचन्दजी पण्डित हैं, गृहस्थ हैं; फिर भी उन्होंने इतना माल निकाला है।.....** अहो! यह गाथा भी बहुत सूक्ष्म है और इसका भावार्थ भी पण्डितजी ने बहुत सरस लिखा है।''

- समयसार सिद्धि (गुजराती), भाग १, गाथा ११ का भावार्थ, पृष्ठ ४२३-४२६

१४. पण्डित तो उसे कहते हैं.....

''**पण्डित तो उसे कहते हैं,** जो वस्तु की जैसी स्थिति हो, उसका वैसा स्पष्टीकरण करे और यदि उसे समझने में कुछ अस्पष्टता आ रही हो तो पहले उसे, स्वयं अच्छी तरह समझ ले, बाद में अपनी तरफ से उसका स्पष्टीकरण करे – ऐसा पण्डित जयचन्दजी ने समयसार के भावार्थ में अनेक जगह पर किया है।''

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग १, गाथा ११ का भावार्थ, पृष्ठ ४३२

१५. पण्डितजी ने एकदम स्पष्ट कर दिया है.....

''यहाँ, निश्चय-व्यवहार का बहुत ही स्पष्ट कथन है, **स्वयं पण्डितजी ने एकदम स्पष्ट कर दिया है।** यद्यपि पण्डित जयचन्दजी, गृहस्थाश्रम में हैं, तथापि भाई! तिर्यञ्च के समकित में और सिद्धों के समकित में क्या अन्तर है? समकित तो दोनों का एक ही समान है, एक ही जाति का है। आ...हा...हा...! समझ में आया। यह समकित क्या है? – इसे भी समझना चाहिए।''

- समयसार सिद्धि (गुजराती), भाग १, गाथा ११ का भावार्थ, पृष्ठ ४३४-४३५

१६. यहाँ तो पण्डितजी का स्पष्टीकरण समझना भी कठिन पड़ता है.....

''आ..हा..हा..! जिनवाणी में अलौकिक बातों का स्पष्टीकरण हुआ है। इसके एक-एक पद का भाव समझना बहुत कठिन है। **अरे! यहाँ तो पण्डितजी का स्पष्टीकरण समझना भी कठिन पड़ता है।**''

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग २, कलश ६ का भावार्थ, पृष्ठ ४८

१७. दिगम्बरों के विद्वान् पण्डित यथार्थ कहते हैं.....

''भाई! यह तो जैनशासन है; इसमें समयसार और उसकी टीका का विशिष्ट स्थान है तथा उसका मर्म पण्डित जयचन्दजी ने खोल दिया है।..... समझ में आया! **दिगम्बरों के विद्वान् पण्डित भी यथार्थ कहते हैं।**''

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग २, पृष्ठ ११०/१११

१८. पण्डितों की लेखनी भी अलौकिक है.....

''यदि पर्याय नहीं है और अशुद्धता नहीं है – ऐसा मान कर, द्रव्य का अवलम्बन भी करेगा तो उसका अवलम्बन सच्चा नहीं होगा क्योंकि उसने पर्याय को तो माना ही नहीं। अरे! अशुद्धता या संसार का अस्तित्व पर्याय में तो है। समझ में आया। आ..हा..हा..! पण्डित जयचन्दजी भी इतना स्पष्टीकरण करते हैं। पहले के पण्डितों ने भी कोई गजब का काम किया है।..... **पण्डितों की लेखनी भी अलौकिक है,** अन्यथा आचार्यों के द्वारा प्रणीत गाथाओं का अर्थ कौन समझाता? इसलिए पण्डितों की लेखनी भी समझने की चीज है।''

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग २, गाथा १४ का भावार्थ, पृष्ठ ११३/११५

१९. पण्डितजी कहते हैं कि मैं आत्मा के ज्ञान और आनन्दस्वभाव को बताऊँगा.....

''पण्डित जयचन्दजी ने वचनिका की शुरुआत में कहा है – '**समयसार शासन करूँ।**' यहाँ समयसार को जैनशासन की संज्ञा देते हुए कहा है कि जैनशासन कहो या समयसार कहो, एक ही बात है। आ..हा..हा..! समयसार का शासन करना; अर्थात् आत्मा के ज्ञानस्वभाव और आनन्दस्वभाव का कथन करना (उपदेश करना); अर्थात् यहाँ **पण्डितजी कहते हैं कि मैं आत्मा के ज्ञान और आनन्दस्वभाव को बताऊँगा।** आ..हा..हा..! सूक्ष्म बात है भाई।''

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग २, गाथा १५ का भावार्थ, पृष्ठ २३५-२३६

२०. यह कोई विद्वता की वस्तु नहीं है.....

''देखो! पण्डित जयचन्दजी लिखते हैं कि यदि सावधान होकर देखे तो वह अपने पास ही है। **यह कोई विद्वता की वस्तु नहीं है।** .....यहाँ छह महीने का अभ्यास करने की प्रेरणा दी गई है, लेकिन उससे ऐसा नहीं समझना कि इतना ही समय लगेगा। आत्मा की प्राप्ति तो वास्तव में अन्तर्मुहूर्त मात्र में ही होती है। यद्यपि उपयोग का काल अन्तर्मुहूर्त है क्योंकि छद्मस्थ को अन्तर्मुहूर्त में ही उपयोग का पता चलता है, तथापि उसकी प्राप्ति तो एक समयमात्र में ही हो जाती है।''

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग ३, कलश ३४ का भावार्थ, पृष्ठ ५९

२१. पण्डितजी की पुकार.....

यहाँ गृहस्थाश्रम में रहनेवाले पण्डित जयचन्दजी कहते हैं कि यदि अपने स्वरूप का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। जबकि कुछ लोग कहते हैं कि वर्तमान में शुभयोग (शुभभाव) ही रहता है। अरे! यदि पञ्चम काल में भी शुभयोग (शुभभाव) से भिन्न होकर अपने स्वरूप का अभ्यास करोगे तो चैतन्य की प्राप्ति अवश्य होगी – **ऐसे पण्डितजी पुकार करते हैं।''**

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग ३, कलश ३४ का भावार्थ, पृष्ठ ५९-६०

२२. यदि पण्डितजी द्वारा सीधी-सरल भाषा में न समझाया जाए तो.....

''पण्डित जयचन्दजी ने स्वयं टीका का खुलासा किया है। यहाँ '**अवस्तु**' कहने से यह तात्पर्य है कि जो त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप है, उसमें राग-द्वेष नहीं है, द्रव्यबन्ध या भावबन्ध नहीं है, मोक्ष भी नहीं है – यह तो एक नय का विषय है, परन्तु दूसरे नय के विषय पर्याय में राग भी है, बन्ध भी है, जीव और शरीर में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी है – यह व्यवहारनय का विषय है। दोनों नयों को मिला कर, सम्पूर्ण वस्तु [प्रमाण] का विषय बनती है। इस प्रकार जो वस्तु को नहीं मानता, वह अवस्तु को मानता है। आ..हा..हा..! .....**देखो! पण्डित जयचन्दजी गृहस्थ हैं, उन्होंने सीधी-सरल भाषा में समझाया है क्योंकि यदि सीधी-सरल भाषा में न समझाया जाए तो समझ में नहीं आता।''**

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग ३, गाथा ४६ का भावार्थ, पृष्ठ ८९

२३. पण्डितों ने भी कमाल का काम किया है.....

''आजकल तो जगत् की पुकार है कि शुभभाव, शुभभाव, शुभभाव..... करो, करो, करो; इसी से तुम्हारा कल्याण होगा। अरे..रे..रे..! यह भी मिथ्यात्व का पोषण है। इसी प्रकार वह शुभभाव, द्रव्य में भी नहीं है और पर्याय में भी नहीं है – ऐसा मानने में भी मिथ्यात्व का ही पोषण है। पण्डित जयचन्दजी ने भी कहा है कि सर्वथा एकान्त, वह मिथ्यात्व है। आ..हा..हा..! **उस समय के पण्डितों ने भी कमाल का काम किया है।** कहा भी है —

जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, वहाँ समझना वही।
वहाँ-वहाँ वह-वह आचरे, आत्मार्थीजन है वही॥''

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग ३, गाथा ५८-६० का भावार्थ, पृष्ठ २४१

२४. पण्डित जयचन्दजी, कितने प्रामाणिक हैं?.....

'चैतन्य' लक्षणवाली जो पर्याय है, वह रागवाली या विकारवाली नहीं है। यद्यपि यह [चैतन्य] पर्याय तो है परन्तु विकारी नहीं है – ऐसी निर्विकारी 'चैतन्य' पर्याय के द्वारा आत्मा की प्राप्ति होती

है क्योंकि वह चैतन्य पर्याय, आत्मा का नित्य-स्थायी लक्षण है। अहो! ऐसी चर्चा है भाई! यह चैतन्य वस्तु की बात अन्यत्र सुनने को भी मिले – ऐसा नहीं है। देखो! पण्डित जयचन्दजी ने लिखा है कि आत्मा का 'चैतन्य' लक्षण प्रगट है, इसलिए उसी का ग्रहण करने से जीव के यथार्थ स्वरूप का ग्रहण हो सकता है। देखो! **पण्डित जयचन्दजी कितने प्रामाणिक हैं?** – जो आचार्य का भाव, गाथा या कलश में कहा गया है, उसे ही प्रगट किया है।''

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग ३, कलश ४२ का भावार्थ, पृष्ठ ३३०-३३१

२५. पण्डितजी ने स्पष्ट और सरल भाषा में ज्ञान कराया है.....

''देखो! पण्डित जयचन्दजी ने **एकदम स्पष्ट और सरल भाषा में रागादि भावों से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान कराया है।** भगवान तो अनाकुल आनन्दस्वरूप है, उसकी अवस्था में यद्यपि रागादि होते हैं, तथापि वे हैं तो दु:खरूप ही। शुभराग भी दु:खरूप है, इसलिए आनन्दस्वरूप आत्मा से उसकी जाति भिन्न है; अत: भगवान आत्मा उससे भिन्न है।''

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग ३, कलश ४४ का भावार्थ, पृष्ठ ३४०

२६. अरे ! इसमें तो सब कुछ आ जाता है.....

''जो जड़ होता है, वह अपने को और पर को, दोनों को नहीं जानता है, उसे कोई और ही जानता है। यह राग भी जड़ है, वह भी अपने को और पर को, दोनों को नहीं जानता है। यद्यपि राग और आत्मा एक साथ रहते हैं; परन्तु दया, दान, व्रत आदि का राग, स्वयं अपने राग को नहीं जानता है और साथ में रहनेवाले चैतन्य को भी नहीं जानता है। जिस प्रकार आत्मा, स्व-पर प्रकाशक है, उसी प्रकार राग, स्व-पर अप्रकाशक है। गजब बात है भाई! पण्डितजी ने इतना खुलासा किया है। **अरे! इसमें तो सब कुछ आ जाता है।**''

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग ४, गाथा ७२ का भावार्थ, पृष्ठ ९४

२७. कहूँ जय पाय..... अर्थात् मैं टीकाकार जयचन्द कहता हूँ.....

''हिन्दी टीकाकार पण्डित जयचन्दजी ने स्वयं लिखा है – **काय नवाय....** अर्थात् मैं काया से उन मुनिराजों को नमस्कार करता हूँ। **नमूँ चित लाय.....** अर्थात् मैं उन्हें चित्त (मन) से भी नमस्कार करता हूँ। **कहूँ जय पाय.....** अर्थात् मैं टीकाकार जयचन्द कहता हूँ कि आस्रव को दूर करके मेरी विजय हो। यहाँ 'जय' शब्द के द्वारा टीकाकार जयचन्दजी ने अपने नाम को प्रगट किया है। **लहूं मन भाय....** अर्थात् मेरी यह मन में भावना है कि **मैं राग से रहित होकर शुद्ध हो जाऊँ।**''

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग ६, आस्रव अधिकार का समापन, पृष्ठ ४२४

२८. ऐसा जयचन्द पण्डितजी ने मङ्गलाचरण किया है.....

''देखो! जयचन्द पण्डितजी ने इस दोहे में स्पष्ट कहा है कि पुण्य और पाप, दोनों भावकर्म हैं और बन्धरूप हैं। इसकी व्याख्या में कितने ही पण्डित आजकल ऐसा कहते हैं कि यह पुण्य-पापरूप पुद्‌गल कर्म की बात है, इसमें शुभाशुभभाव की बात नहीं है, परन्तु यह सही नहीं है। यहाँ पुण्य-पापरूप कर्म से तात्पर्य उनके कार्यरूप परिणाम से है, अशुद्धता से है और वह भावबन्धस्वरूप है – ऐसा जान कर, जो पुण्य-पाप के भावबन्ध को छेद कर, अन्दर शुद्धात्मा को ग्रहण करते हैं, मैं उनके चरण-कमलों में अपना हित जान कर नमस्कार करता हूँ – **ऐसा जयचन्द पण्डितजी ने मङ्गलाचरण किया है।**''

- प्रवचन रत्नाकर (गुजराती) भाग ६, पुण्य-पाप अधिकार का प्रारम्भ, पृष्ठ ५

२९. यही बात यहाँ पण्डित जयचन्दजी कहते हैं.....

''भाई! यह तो जो सर्वज्ञ-वीतराग-परमेश्वर ने कहा है, वही श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में कहा है, वही श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य ने आत्मख्याति टीका में कहा है, वही पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में कहा है और **यही बात यहाँ पण्डित जयचन्दजी कहते हैं** कि पुण्य अच्छा है और पाप बुरा है – ऐसा भ्रम के कारण दिखाई देता है, परन्तु परमार्थदृष्टि तो उनको एकरूप ही, बन्धरूप ही और अनिष्ट ही देखती है।''

- प्रवचन रत्नाकर (गुजराती) भाग ६, गाथा १४५ का भावार्थ, पृष्ठ १६

३०. इनका नाम है पण्डित !.....

''वहाँ समयसार की ११ वीं गाथा के भावार्थ के अन्त में पण्डित जयचन्दजी ने कितना सुन्दर स्पष्टीकरण किया है – 'प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि काल से ही है और इसका उपेदश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं और जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश, शुद्धनय का हस्तावलम्ब (सहायक) जान कर बहुत किया है; किन्तु उसका फल संसार ही है।' **देखो! यह भावार्थ! क्या भावार्थ लिखा है पण्डित जयचन्दजी ने! इनका नाम है पण्डित!**''

- प्रवचन रत्नाकर (गुजराती) भाग ६, गाथा १५६ का भावार्थ, पृष्ठ १३२

३१. पण्डितजी स्वयं स्पष्टीकरण करते हैं.....

''आ..हा..हा..! क्या कहें? सर्वज्ञ- वीतराग-परमेश्वर की यह वाणी, आज कल प्रचलन में नहीं है, इस कारण लोगों को एकान्त लगता है। देखो! आगे जाकर **पण्डितजी स्वयं स्पष्टीकरण करते हैं** कि 'द्रव्यास्रवों का उदय होने पर जीव जैसे उसमें युक्त हो अर्थात् जिस प्रकार उसे भावास्रव होते हैं, उसी प्रकार द्रव्यास्रव, नवीन बन्ध के कारण होते हैं' अर्थात् उदय के अनुसार, उसके प्रमाण

में भावास्रव होता है – ऐसा नहीं है। दूसरी तरह कहें तो जीव, जिस प्रकार अपने उपयोग को उदय के साथ जोड़ता है; उसी प्रकार द्रव्यास्रव, बन्ध के कारण होते हैं अर्थात् जीव को जिस प्रकार भावास्रव होते हैं, उसी प्रकार नवीन बन्ध होता है। यदि जीव भावास्रव न करे तो नवीन बन्ध नहीं होता।''

- प्रवचन रत्नाकर (गुजराती) भाग ६, गाथा १७३-१७६ का भावार्थ, पृष्ठ २९९

३२. भावार्थ में इस विषय का बहुत विस्तार के साथ खुलासा किया है.....

''यहाँ शुद्धनय से च्युत होने का अर्थ शुद्धता के भान अर्थात् सम्यक्त्व से च्युत होना है – ऐसा अर्थ करना चाहिए। **देखो! पण्डित जयचन्दजी ने कितना सरस खुलासा किया है** – 'शुद्धनय से च्युत होना अर्थात् 'मैं शुद्ध चिदानन्दघनस्वरूप हूँ' – ऐसे विश्वास के परिणमन से पतित होकर 'मैं रागी और अल्पज्ञ हूँ' – ऐसा मानना अर्थात् यह आत्मा मिथ्यादृष्टि हो गया। शुद्धनय से च्युत होने का अर्थ शुद्धस्वरूप की प्रतीति से च्युत होना ही मुख्य है। उपयोग की अपेक्षा यहाँ गौण है अर्थात् शुद्धोपयोग से च्युत होना – ऐसा अर्थ यहाँ मुख्य नहीं है। इस प्रकार **भावार्थ में इस विषय का बहुत विस्तार के साथ खुलासा किया है।**''

- प्रवचन रत्नाकर (गुजराती) भाग ६, कलश १२१ का भावार्थ, पृष्ठ ३३३

३३. पण्डित जयचन्दजी माङ्गलिक करते हैं.....

''यहाँ प्रारम्भ में ही **पण्डित जयचन्दजी माङ्गलिक करते हैं** कि मोह अर्थात् मिथ्यात्व, राग और द्वेष को दूर करके तथा निश्चय समिति, निश्चय गुप्ति और निश्चय व्रतों का पालन करके, जिन्होंने आत्मा को संवरमय अर्थात् चैतन्य की निर्मल परिणतिरूप किया है, उनको मन (ज्ञान) में लक्ष लेकर मैं नमस्कार करता हूँ अर्थात् जिन्होंने अपनी आत्मा को पवित्र संवरमय किया है, उनको मन में धारण करके मैं नमस्कार करता हूँ – ऐसा [पण्डित जयचन्दजी] कहते हैं।''

- प्रवचन रत्नाकर (गुजराती) भाग ६, संवर अधिकार का प्रारम्भ, पृष्ठ ३६४

३४. पण्डित श्री जयचन्दजी ने पूरा संवर अधिकार संक्षेप में कह दिया है.....

''इस काव्य में **पण्डित श्री जयचन्दजी ने पूरा संवर अधिकार संक्षेप में कह दिया है।** चौथे गुणस्थान में समकिती को भेदज्ञानकला प्रगट होती है, पर से भिन्न होकर पवित्र स्वभाव की प्राप्ति होती है, राग-द्वेष और मिथ्यात्व, सब नष्ट हो जाते हैं, उसके कारण दुष्ट कर्म रुक जाते हैं; तब उज्ज्वल ज्ञानप्रकाश होते ही परमात्मा अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा में प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है। इस प्रकार मुनिराज, भेदविज्ञान की भावना के द्वारा अतीन्द्रिय आनन्द को धारण कर, क्रम से केवलज्ञान उत्पन्न करके परमसुखमय मोक्ष को पाते हैं।''

- प्रवचन रत्नाकर (गुजराती) भाग ६, संवर अधिकार का समापन, पृष्ठ ४४६

३५. आचार्यदेव की बात का विशेष खुलासा करते हुए कहते हैं.....

''यहाँ, **पण्डित जयचन्दजी, आचार्यदेव की बात का विशेष खुलासा करते हुए कहते हैं** कि अन्तरङ्ग में जिसे राग से भिन्न, शुद्ध चैतन्य का भान हुआ नहीं है और जो राग की रुचि में ही पड़ा हुआ है; वह जीव, भले ही व्रतादिरूप शुभाचरण करे तो भी वह पापी ही है क्योंकि उसको स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है।''

- प्रवचन रत्नाकर (गुजराती) भाग ७, कलश १३७ का भावार्थ, पृष्ठ ९०

३७. भाई ! यह तो श्री जयचन्दजी ने लिखा है, उसका स्पष्टीकरण चलता है.....

''देखो! यहाँ क्या कहते हैं? – अज्ञानी, परद्रव्य को ही भला-बुरा मान कर, राग-द्वेष करता है। पर की दया पालना, यह भला है और पर की हिंसा करना, यह बुरा है; इस प्रकार परद्रव्य से भला-बुरा मान कर राग-द्वेष करता है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। **भाई! यह तो श्री जयचन्दजी ने लिखा है, उसका स्पष्टीकरण चलता है।** शरीर की उपवास आदि क्रिया और शुभभाव से धर्म होता है तथा अशुभभाव से बन्ध होता है – ऐसा अज्ञानी, विपरीत मानता है। इस प्रकार जब तक वह विपरीत मानता है, तब तक वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। आ..हा..हा..! कितना सरस भावार्थ लिखा है।''

- प्रवचन रत्नाकर (गुजराती) भाग ७, पृष्ठ ९७

३८. पण्डित जयचन्दजी की इष्टार्थ को कहनेवाली कैसी सुन्दर वाणी है !.....

''देखो! यहाँ स्वयं भावार्थकार (पण्डित जयचन्दजी) शिष्य की तरफ से प्रश्न उठाते हैं। क्या कहते हैं? – आत्मा स्वयं तो नित्य है अर्थात् वाञ्छा करने के काल में भी आत्मा है और भोगने के काल में भी आत्मा है; अतः वह दोनों भावों का वेदन कर सकता है, इसमें क्या आपत्ति है? अर्थात् आत्मा, नित्य होने से जिस प्रकार इच्छा करता है; उसी प्रकार उसको भोगता है, इसमें बाधा क्या है? जिससे ज्ञानी, वाञ्छा न करे..... ऐसा प्रश्न उठा कर पण्डित श्री जयचन्दजी, समाधान करते हैं —

'वेद्य-वेदकभाव विभावभाव हैं, स्वभावभाव नहीं, इसलिए वे विनश्वर हैं; अतः जब वेदकभाव आता है, तब वेद्यभाव नष्ट हो जाता है; और जब वेद्यभाव होता है, तब वेदकभाव नहीं होता। इस प्रकार वाञ्छित भोग तो नहीं होता, इसलिए ज्ञानी निष्फल वाञ्छा क्यों करे? जहाँ मनोवाञ्छित का वेदन नहीं होता, वहाँ वाञ्छा करना अज्ञान है।' .....आ..हा..हा..! **पण्डित जयचन्दजी की इष्टार्थ को कहनेवाली कैसी सुन्दर वाणी है!**''

- प्रवचन रत्नाकर (गुजराती) भाग ७, गाथा २१६ का भावार्थ, पृष्ठ ३३७/३४०

३९. देखो ! कितनी सरलता से पण्डितजी ने समाधान कर दिया है.....

''**अहो! पण्डित जयचन्दजी ने कैसी सरस बात की है।** वे कहते हैं कि ज्ञानी को भी थोड़ा चारित्रमोहनीयकर्म के उदय के निमित्त से चारित्र-सम्बन्धी राग आता है तो भी वह उसे पराया मानता

है, रखने योग्य नहीं मानता है; इस प्रकार वह स्वयं उसका स्वामी नहीं होने से, कर्म का उदय विद्यमान होने पर भी निर्जरित हुए के समान ही है। **देखो! कितनी सरलता से पण्डित जयचन्दजी ने समाधान कर दिया है।''**

- प्रवचन रत्नाकर (गुजराती) भाग ७, गाथा २३६ का भावार्थ, पृष्ठ ५४४

४०. अल्पबुद्धि जीव भी उसे समझ सकते हैं.....

''आ..हा..हा..! भरतक्षेत्र में अपनी सारभूत वस्तु शुद्धात्मा या पुण्य-पापरहित शुद्ध चैतन्यभाव को दिखाने के लिए आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्राकृतभाषा में गाथाबद्ध **समयसार शास्त्र** की रचना की है, उस पर आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने **आत्मख्याति** नामक संस्कृत टीका लिखी है। आ..हा..हा..! जैसा चैतन्यदेव प्रभु आत्मा है, उसे वैसी ही वाणी में प्रसिद्ध किया है और वैसी ही भावना भाई है।

इन दोनों का पण्डित जयचन्दजी ने देशभाषा में बहुत ही संक्षिप्त अर्थ लिखा है, जिससे अल्पबुद्धि जीव भी उसे समझ सकते हैं। यहाँ पण्डित जयचन्दजी कहते हैं कि 'हे भव्य जीवों! तुम इस [समयसार वचनिका] को सच्चे मन से पढ़ो, सुनो और एक ज्ञाता-दृष्टास्वरूप शुद्धात्मा को ग्रहण करो, वह ज्ञानस्वरूपी एक चैतन्यबिम्ब है।' आ..हा..हा..! जिसमें देह-मन-वाणी का विकल्प नहीं है – ऐसे शुद्ध चिदानन्द स्वरूप का अनुभव करो – ऐसा कहते हैं।''

- प्रवचन रत्नाकर (गुजराती) भाग ११, समयसार की अन्तिम प्रशस्ति, पृष्ठ २७९

इस प्रकार पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने समयसार वचनिका और उसकी रचना करनेवाले पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ा के सम्बन्ध में अपने उद्‌गार, सैकड़ों और हजारों की संख्या में व्यक्त किये हैं, जिन्हें उनके द्वारा किये गए हजारों प्रवचनों में, जो कि सी.डी./ डी.वी.डी. के माध्यम से आज भी उपलब्ध हैं, उन्हें स्वयं सुना जा सकता है।

जिस प्रकार पूज्य गुरुदेवश्री जयचन्दजी की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते हैं; उसी प्रकार जब मोक्षमार्ग प्रकाशक की बात आती तो पण्डित टोडरमलजी की, जब चिद्‌विलास या अनुभव प्रकाश की बात आती तो पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल की और जब छहढाला की बात आती तो पण्डित दौलतरामजी की प्रशंसा करने लग जाते। उनके हृदय में समग्र आचार्य-परम्परा के साथ-साथ समग्र विद्वद्-परम्परा का भी हृदय की गहराई से सम्मान था।

जब समाज में इस बात का बोलबाला हो रहा था कि गृहस्थ पण्डितों की बात प्रामाणिक नहीं है, तब भी स्वामीजी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रावकों को आगम-सम्मत प्रमाण से प्रामाणिक ही नहीं, मोक्षमार्गी भी कहते थे।

खानिया (जयपुर) में सन् १९६७ में एक बड़ी तत्त्वचर्चा का आयोजन हुआ था, उसमें सोनगढ़ और सोनगढ़ का विरोध करनेवाले, दोनों तरफ से विद्वान एकत्रित हुए थे। वह तत्त्वचर्चा, लिखितरूप

से आयोजित की गई थी, जिसका प्रकाशन भी श्री टोडरमल ग्रन्थमाला, जयपुर से किया गया था, उस तत्त्वचर्चा के प्रसङ्ग को बारम्बार स्मरण करते हुए पूज्य स्वामीजी कहते हैं —

''आचार्यों के वचनों का अर्थ करनेवाले विद्वानों, पण्डितों ने भी कितनी स्पष्टता की है। आचार्यों के वचनों में तो बहुत गम्भीरता भरी है, उनका विद्वान् पण्डितों ने बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण किया है। जब खानिया तत्त्वचर्चा के समय लोगों ने कहा कि 'पण्डितों के शब्द नहीं, सिर्फ आचार्यों के ही वचन दिखाओ'; तब पण्डित फूलचन्दजी शास्त्री, बनारसवालों ने कहा कि 'नहीं, हम आचार्यों, मुनियों और पण्डितों, सभी के वचन देखेंगे। पण्डितों ने भी संस्कृत, प्राकृत, देशभाषा में अनेक ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं, हम उन सभी को देखेंगे।'

जो सम्यग्दृष्टि जीव है, उसका कथन बराबर मान्य है।' अरे भाई! यदि सिर्फ आचार्यों का वचन ही प्रमाण है तो फिर पद्मप्रभमलधारिदेव आदि तो मुनि हैं, आचार्य नहीं है तो उनका कथन मान्य होगा या नहीं। भाई! जो ऐसा मानते हैं, यह उनकी स्वच्छन्दता है। आ..हा..हा..! दिगम्बर गृहस्थ विद्वान् भी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा हैं। पण्डित बनारसीदासजी, टोडरमलजी, जयचन्दजी, दौलतरामजी आदि सबके प्रमाण भी हमें मान्य हैं। इन सभी विद्वानों के वचन भी सिद्धान्त या आगम के अनुसार बराबर हैं, सच्चे हैं। गृहस्थ सम्यग्दृष्टियों के द्वारा यह सब लिखा गया है, इसलिए उनके वचनों का आधार नहीं लेना – यह बात ठीक नहीं है।

अरे! पण्डितों ने सबकुछ स्पष्ट कर दिया है, इसलिए यह लोगों को खटकता है। शास्त्रों में तो गम्भीर बात को, गम्भीर भाषा में कहा है, उस गम्भीर विषय को विद्वान् पण्डितों ने सरल और स्पष्ट भाषा में समझाया है। इस समयसार की भाषा टीका पण्डित जयचन्दजी ने की है, उन्होंने स्वयं प्रत्येक गाथा, उसकी टीका और श्लोक आदि पर भावार्थ लिख कर अपनी तरफ से भी बात स्पष्ट की है। इसी प्रकार प्रवचनसार की भाषा टीका पण्डित (पाण्डे) हेमराजजी ने की है। आ..हा..हा..!''

- समयसार सिद्धि (गुजराती) भाग २, पृष्ठ १११/ भाग ६, ४१५-४१६

हम सभी पूज्य गुरुदेवश्री के इन मङ्गलमयी समयसार के प्रवचनों के माध्यम से अपनी शुद्धात्मा का स्वरूप जान कर, पहचान कर और अनुभूति करके, अपनी आत्मा का शीघ्रातिशीघ्र कल्याण करें – इसी पवित्र भावना के साथ.....

– देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन
अलीगढ़

सम्पादक की कलम से

'समयसार वचनिका' अर्थात् 'श्रीमद् भगवद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा प्रणीत प्राकृतभाषा में निबद्ध ४१५ गाथाओं, उसकी श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव द्वारा लिखित आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका में समागत २७८ कलशों (छन्दों) की भाषा टीका।'

इस भाषा टीका के अन्तर्गत प्राकृत गाथाओं के शुद्ध पाठ, उत्थानिका, संस्कृत छाया, उसका सामान्य अर्थ, संस्कृत टीका का सरल देशभाषा में अर्थ एवं गाथा-टीका दोनों के भावार्थ तथा संस्कृत कलशों के शुद्ध पाठ, उत्थानिका, सामान्य अर्थ एवं भावार्थ को समाविष्ट किया गया है। गाथाओं एवं कलशों का सामान्य अर्थ करने से उनका अन्वयार्थ करने से भी सरलता हो जाती है। इसी प्रकार सभी का हिन्दी अनुवाद, गाथाओं व कलशों के हिन्दी पद्यानुवाद तथा हस्तलिखित प्रतियों, तात्पर्यवृत्ति, अगास, सोनगढ़, अहिंसा मन्दिर, कुन्दकुन्द भारती एवं सोलापुर आदि प्रकाशनों के आधार पर गाथाओं, कलशों संस्कृतछाया एवं भाषा टीका के मूल पाठ के पाठभेद – इस प्रकाशन की विशेषताएँ हैं।

पण्डित जयचन्दजी ने अनेक जैन न्याय-ग्रन्थों की भी अनेक टीकाएँ आदि लिखी हैं। इस प्रकार उनको न्याय-ग्रन्थों का भी गम्भीर अध्ययन था, जिससे आत्मख्याति टीका में समागत अनेक न्याय, उनकी वचनिका में स्पष्ट होते चले गए हैं।

इस सम्पादकीय के माध्यम से ग्रन्थ के सम्पादन की चर्चा करने के पूर्व, इस प्रकाशन से सम्बन्धित कुछ रोचक एवं महत्त्वपूर्ण जानकारियों से अवगत कराना आवश्यक है।

प्रकाशन पूर्व : संक्षिप्त इतिहास

यह बात सन् २००० की रही होगी। मैं श्री टोडरमल स्मारक भवन में, वहाँ चल रहे आध्यात्मिक शिक्षण शिविर में तत्त्वार्थसूत्र पर कक्षा लेने के लिए गया था। वहाँ मुझे श्री विनयचन्दजी पापड़ीवाल से पता लगा कि जयपुर में ही घीवालों के रास्ते में स्थित बड़े दीवानजी के मन्दिर में पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा उनके हाथ से लिखी हुई **'समयसार वचनिका'** की मूल हस्तलिखित प्रति आज भी सुरक्षित है, तब मुझे आश्चर्य-मिश्रित अतिप्रमोद की अनुभूति हुई कि लगभग २०० वर्ष के बाद भी किसी व्यक्ति के हाथ से लिखे हुए ग्रन्थ की प्रति, इतने दिनों तक भी सुरक्षित रखी जा सकी है!

यह सुन कर प्रथम तो मुझे मन्दिरजी के उन व्यवस्थापकों के प्रति सम्मान का भाव जाग्रत हुआ, जिन्होंने उसकी आज तक देखभाल की और सुरक्षा प्रदान की। मैं विगत २०० वर्षों से मन्दिरजी एवं वहाँ के ग्रन्थालय की सुरक्षा-व्यवस्था करनेवाले सभी भूतपूर्व एवं वर्तमान व्यवस्थापकों

का हार्दिक आभार प्रगट करता हूँ। सचमुच वे सभी साधुवाद के पात्र हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा प्रणीत मूल ग्रन्थ समयसार और उसकी आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य जयसेन और आचार्य प्रभाचन्द्र[१] द्वारा रचित विभिन्न टीकाओं की मूल हस्तलिखित ताड़पत्रीय प्रतियाँ आज तो हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं। पाण्डे राजमलजी और पण्डित बनारसीदासजी द्वारा लिखित समयसार कलश टीका एवं नाटक समयसार की मूल प्रतियाँ भी सुरक्षित हैं या नहीं – मुझे मालूम नहीं, परन्तु समयसार की देशभाषामय वचनिका की मूल प्रति प्राप्त होने की सम्भावना से ही मेरा चित्त अत्यन्त उल्लसित हो उठा।

श्री पापड़ीवालजी से पूछने पर पता चला कि इस प्रति के दर्शन भी सम्भव हैं तो पीछे पड़ने पर, दो-तीन चक्कर लगाने के बाद मुझे प्रवचनकार विद्वान् ब्र. श्री सन्तोषकुमारजी झांझरी एवं इस ग्रन्थ के अनुवादक श्री धनकुमारजी जैन, सूरतवालों के सद्प्रयत्नों से इस प्रति के दर्शन हुए, इसे देखते ही मुझे इस ग्रन्थ के हू-बहू प्रकाशन करने की भावना बलवती हुई।

अब, मूल प्रति की फोटोस्टेट प्रति प्राप्त करना शेष था। यह काम श्री धनकुमारजी ने सहज कर दिया क्योंकि उन्होंने पहले से ही इसकी फोटोस्टेट प्रति करा रखी थी। उन्होंने यह भी बताया कि वे इस प्रति के आधार पर नई पाण्डुलिपि भी तैयार कर रहे हैं, साथ ही वे इस नई पाण्डुलिपि में ऊपर मूल भाषा तथा नीचे हिन्दी में उसका अनुवाद भी लिख रहे हैं। मैंने उनसे निवेदन किया कि जब भी इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो, इसका प्रूफ-संशोधन एवं सम्पादन मैं करना चाहता हूँ, इसे करने में मुझे आत्मिक प्रसन्नता होगी।

सन् २००२ में सितम्बर-अक्टूबर माह में ***मङ्गलायतन*** पत्रिका के पञ्च कल्याणक सम्बन्धी एवं तीर्थङ्कर महावीर सम्बन्धी विशेषाङ्कों के सम्पादन के सिलसिले में अलीगढ़ आने का प्रसङ्ग बना और फिर ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** में भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन के खुलने पर जब स्थायी तौर पर मई-जून २००३ में अलीगढ़ आ गया तो यहाँ पर आदरणीय श्री पवनजी भाईसाहब एवं मित्रवर श्री अशोकजी लुहाड़िया को इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में विस्तृत सूचना दी तो उन्होंने इस ग्रन्थ को ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** से प्रकाशित करने की सहर्ष स्वीकृति प्रदान की।

यद्यपि पहले से ही सोनगढ़, जयपुर एवं अन्यत्र से समयसार का प्रकाशन हो रहा था, फिर यह नया समयसार प्रकाशित करने हेतु जनमानस तैयार करना कुछ कठिन प्रतीत हो रहा था, परन्तु जब यह बात सबके ध्यान में लाई गई कि यह ग्रन्थ किसी प्रतिद्वन्द्विता के कारण प्रकाशित करने की

---

*१. आचार्य श्री प्रभाचन्द्र ने भी आचार्य श्री अमृतचन्द्र एवं आचार्य श्री जयसेन के समान 'ग्रन्थत्रयी' – समयसार, प्रवचनसार एवं पञ्चास्तिकायसंग्रह पर सरल सुबोध टीकाएँ लिखी हैं – हमें पाण्डुलिपि संरक्षण केन्द्र, जयपुर के सहयोग से 'कोल्हापुर मठ' में उपलब्ध 'समयसार' की आचार्य श्री प्रभाचन्द्र द्वारा विरचित प्राचीन हले कन्नड़ लिपि में एवं संस्कृत भाषा में टीका की प्राचीन लगभग ५००-६०० वर्ष पुरानी हस्तलिखित प्रतिलिपि मिली है, जिसके लिपि-परिवर्तन एवं अनुवाद-संशोधन-सम्पादन का कार्य श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, बैंगलोर के सहयोग से **'तीर्थधाम मङ्गलायतन'** द्वारा करवाया जा रहा है। आशा है, यह ग्रन्थ भी यथाशीघ्र समाज में उपलब्ध हो सकेगा। – सम्पादक*

योजना नहीं है, बल्कि पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ा के द्वारा स्वहस्तलिखित प्रति के आधार पर इसे प्रकाशित करने की भावना है तो इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने के प्रति, उनकी भावना भी प्रस्फुटित हुई।

विगत पाँच वर्षों से इस ग्रन्थ के प्रकाशन-सम्बन्धी सूचनाएँ बारम्बार **'मङ्गलायतन'** पत्रिका में प्रकाशित करने पर तथा मूल स्वहस्तलिखित प्रति की फोटोप्रतियाँ अनेक बार **'मङ्गलायतन'** मासिक पत्रिका के अङ्कों में प्रकाशित करने पर जनमानस में भी इसके प्रकाशन के प्रति उत्सुकतापूर्ण कौतूहल जाग्रत हुआ है।

यहाँ आने पर श्री धनकुमारजी से पत्र-व्यवहार करने पर ज्ञात हुआ कि उनका मूल प्रति के आधार पर पाण्डुलिपि तैयार करने एवं अनुवाद का कार्य, ६३७ पृष्ठों में दो साल पूर्व सन् २००१ की अनन्त चतुर्दशी के दिन ही लिख कर तैयार हो चुका है। उसके बाद उन्होंने दिनाङ्क ०७ दिसम्बर २००३ को यह प्रति हमारे पास भिजवा दी।

बस! तभी से इस ग्रन्थ के प्रकाशन की तैयारियाँ शुरु हो गईं। इस बीच हमें ज्ञात हुआ कि पण्डित जयचन्दजी की मूल भाषा में ही समयसार का प्रकाशन **श्री मुसद्दीलाल जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, दरियागंज, दिल्ली** के द्वारा हो चुका है तथा इस ग्रन्थ की कम्प्यूटर टाइपिंग का कार्य भी कानपुर में साधर्मी मुमुक्षुभाई श्री राजू जैन ने करा रखा है। हमने उनसे भी निवेदन करके, वह टाइपिंग की सी.डी. वहाँ से मँगवा ली, परन्तु उसका प्रूफ-संशोधन कार्य हमने इस मूल स्वहस्तलिखित प्रति के आधार पर ही किया।

मूल प्रति के अनुसार प्रूफ-संशोधन करते समय, जब अनभ्यास के कारण एवं अनेक जगह काट-छाँट होने से पढ़ने में दिक्कत महसूस हुई तो दूसरी प्रति की तलाश की गई, इसमें हमें श्री हीरालालजी काला के निर्देशन में चल रहे **पाण्डुलिपि संरक्षण केन्द्र, जयपुर** की मदद से दूसरी प्रति प्राप्त हुई। यह प्रति भी श्री दिगम्बर जैन तेरापन्थी बड़ा मन्दिर, घीवालों का रास्ता, जयपुर में ही सुरक्षित है। फिर इस प्रति के माध्यम से अपनी शङ्काओं का निवारण किया गया।

अध्ययन के दौरान अनेकों बार इन दोनों प्रतियों को देखने का अवसर आया, जिससे अनेक निष्कर्ष भी सामने आए, जिन्हें आगे प्रतियों का परिचय देते समय बताया जाएगा। हमने मूल स्वहस्तलिखित प्रति को 'अ' प्रति और हस्तलिखित प्रतिलिपि को 'ब' प्रति का नाम दिया है। तीसरी प्रति मूल भाषा की ही प्रकाशित प्रति है, जिसके आधार पर इसका सर्व प्रथम टाइपिंग का कार्य सम्पन्न हुआ था।

हस्तलिखित प्रति परिचय ('अ' प्रति)

यह स्वहस्तलिखित प्रति '**श्री दिगम्बर जैन तेरापन्थी बड़ा मन्दिर, जयपुर**' में सुरक्षित है। यह ग्रन्थ मन्दिरजी के रजिस्टर में क्रम संख्या २०९८ में नोट है तथा वेष्ठन संख्या १८५७ में रखी है।

वेष्ठन में उपलब्ध ग्रन्थ परिचय-पत्र[१] की जानकारी के अनुसार ग्रन्थ का नाम – **समयसार भाषा-वचनिका** है।

मूल ग्रन्थकार का नाम **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** है। वचनिकाकार **श्री जयचन्दजी छाबड़ा** हैं। ग्रन्थ के पन्नों का आकार २१ × १५ से.मी. है। कुल पत्र-संख्या २८० है, तदनुसार पृष्ठ संख्या २८० × २ = ५६० है, प्रत्येक पृष्ठ पर पंक्तियाँ लगभग १७ हैं तथा प्रत्येक पंक्ति में अक्षर लगभग ३३ हैं। इसके अनुसार ग्रन्थ में कुल अक्षरों की संख्या लगभग २८० × २ × ३३ × १७ = ३,१४,१६० (तीन लाख चौदह हजार एक सौ साठ) होती है। ग्रन्थ का रचनाकाल वि.सं. १८६४ है। ग्रन्थ, कागज पर लिखित है। ग्रन्थ की लिपि देवनागरी है।

ग्रन्थ की भाषा प्राकृत, संस्कृत और ढुँढाड़ी, तीनों से मिश्रित एवं गद्य-पद्यमय है। ग्रन्थ में पुण्य-पाप अधिकार के पत्र क्रमाङ्क १०० से १०१ तक के पत्र नहीं हैं। ग्रन्थ की स्थिति सामान्य है, जीर्ण या अतिजीर्ण नहीं। ग्रन्थ का विषय अध्यात्म है। इस परिचय-पत्र में चार बार इस बात का उल्लेख किया गया है कि यह प्रति मूल स्वहस्तलिखित प्रति है; जैसे —

(क) प्रतिलिपिकार – स्वहस्तलिखित (ख) श्री जयचन्दजी छाबड़ा का मूल हस्तलेख है।

(ग) प्रतिलिपि काल – मूल प्रति (घ) ग्रन्थकार की स्वहस्तलिखित मूल प्रति है।

इस प्रति के सम्बन्ध में अनेक महानुभावों ने हमसे यह आशङ्का भी प्रगट की है कि यह पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा का ही मूल लेख है - इसका क्या प्रमाण है? क्या पण्डितजी ने स्वयं यह उल्लेख किया है? अत: इस सम्बन्ध में उक्त विवरणों के अलावा भी कुछ शोधपरक विवरण प्राप्त होते हैं, जैसे —

(१) पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा के द्वारा लिखित अन्य ग्रन्थों की वचनिकाओं के भी मूल हस्तलेख उपलब्ध हैं; जैसे, अष्टपाहुड़ की वचनिका, सर्वार्थसिद्धि वचनिका आदि, इन सभी के अक्षर एक ही व्यक्ति के लिखे हुए ज्ञात होते हैं; अत: यह प्रति भी स्वयं रचनाकार की ही स्वहस्तलिखित प्रति है – यह सिद्ध होता है।

(२) पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य ने अगास से प्रकाशित समयसार की प्रस्तावना लिखते हुए पृष्ठ ३६ पर उल्लेख किया है – ''सर्वार्थसिद्धि वचनिका, प्रमेयरत्नमाला वचनिका, कार्तिकेयानुप्रेक्षा वचनिका, द्रव्यसंग्रह वचनिका, समयसार वचनिका, देवागम स्तोत्र (आप्तमीमांसा) वचनिका, अष्टपाहुड़ वचनिका, ज्ञानार्णव वचनिका – इन रचनाओं की प्रतियाँ, स्वयं पण्डितजी के हाथ की लिखी हुई दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर [जयपुर] में विराजमान हैं।''

इससे ज्ञात होता है कि स्व. पण्डित श्री पन्नालालजी साहित्याचार्य भी उक्त प्रतियों को देखने

---

१. ग्रन्थ प्ररिचय-पत्र की फोटोप्रति इसी प्रकाशन के पृष्ठ २ पर प्रकाशित है। इस परिचय-पत्र पर श्री विनयचन्दजी पापड़ीवाल के हस्ताक्षर हैं।

के बाद इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर, जयपुर में विराजमान ग्रन्थ, पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा के हाथों से ही लिखे हुए हैं।

(३) ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तैयार करते समय यह परम्परा थी कि प्रतिलिपिकार अपने नाम का उल्लेख करते थे, जबकि इस 'अ' प्रति में कहीं भी प्रतिलिपिकार का उल्लेख नहीं मिलता है, इससे भी सिद्ध होता है कि यह रचना प्रतिलिपिकार द्वारा नहीं लिखी गई, बल्कि मूल रचनाकार ने ही स्वयं लिखी है तथा रचनाकार, स्वयं अपने नाम का सीधे उल्लेख कैसे कर सकता है कि मैंने यह ग्रन्थ अपने हाथ से लिखा है, अत: यह स्वयं रचनाकार की ही स्वहस्तलिखित प्रति सिद्ध होती है।

(४) इस प्रति के पत्र क्रमाङ्क ७ के तीन पन्ने हैं, इसी प्रकार पत्र क्रमाङ्क २०३ और २३१ के दो-दो पन्ने हैं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि रचनाकार ने पीठिका लिखने हेतु सात पन्नों के क्रमाङ्क छोड़े थे, परन्तु जब प्रस्तावना विस्तृत होती गई तो उन्हें पत्र क्रमाङ्क ७ के ही ७(१), ७(२), ७(३) – ऐसे क्रमाङ्क देने पड़े। इसी प्रकार पत्र क्रमाङ्क २०३ और २३१ के बाद के पन्नों में क्रम लिखना रह गया होगा; अत: उन्हें भी २०३ (१), २०३ (२) एवं २३१ (१), २३१ (२) : इस प्रकार लिखना पड़ा होगा – यह सब समस्याएँ मूल लेखन करते समय ही होती हैं; प्रतिलिपि करते समय नहीं क्योंकि प्रतिलिपि करनेवाले तो व्यावसायिक या Professional होते हैं; उन्हें कौनसा वाक्य लिखना है और कितना लिखना है, यह निश्चित होता है; अत: उनसे ऐसी भूलें होने की सम्भावना नहीं होती।

(५) श्री विनयचन्दजी पापड़ीवाल, जो पाण्डुलिपि विशेषज्ञ विद्वान् भी हैं; उनसे जब इस सम्बन्ध में बात की तो उन्होंने भी निम्न बिन्दुओं पर मेरा ध्यान आकर्षित किया —

(क) पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा की अन्य पाण्डुलिपियों का हस्तलेख या Hand-Writting समान है।

(ख) मन्दिर के ग्रन्थालय में ग्रन्थ के वेष्ठन पर लिखा गया विवरण भी यही सिद्ध करता है।

(ग) हस्तलेखन में की गई काट-छाँट एवं संशोधन भी इस बात को पुष्ट करते हैं कि यह मूल लेखन है; प्रतिलिपि करनेवाले को इतने संशोधन करने की आवश्यकता नहीं होती है, अधिकार भी नहीं होता है। जबकि मूल लेखन में रचनाकार को तो अपनी बात लिखने, काटने, सुधारने, पुन: लिखने आदि की आवश्यकता भी होती और अधिकार भी होता है, वह अच्छे से अच्छे वाक्यों की संरचना करने की निरन्तर कोशिश करता रहता है। जबकि प्रतिलिपिकार को तो मूल रचनाकार ने जो भी अन्तिम संशोधन करके लिखा है, उसे ही मात्र लिखना है; मूल प्रति की काट-छाँट को देख कर, उसे प्रतिलिपि में काट-छाँट नहीं करना है, अत: यह प्रति मूल रचनाकार की ही

है – यह निर्विवादत: सिद्ध है।

(घ) इस 'समयसार वचिनका' या 'समयसार भाषाटीका' या 'समयसार भाषा वचनिका' की अन्य सैकड़ों प्रतियाँ जो सम्पूर्ण देश में उपलब्ध हैं, वे इसी मूल प्रति के आधार पर लिखी गई हैं।

(ङ) प्रत्येक अध्याय का अन्तिम अनुच्छेद ध्यान देने योग्य है; जैसे – **'अैसैं इस समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति नामा टीका विषै आस्त्रव नाम चौथा अधिकार पूर्ण भया॥ छ॥'** – इस अनुच्छेद को जब प्रतिलिपिकार लिखते हैं तो वे **'टीका विषै'** की जगह **'टीका की वचनिका विषै'** – इन शब्दों का प्रयोग करते हैं।

उपर्युक्त बिन्दुओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह 'अ' प्रति पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ा के द्वारा स्वहस्तलिखित मूल प्रति ही है। इस प्रति के प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भिक एवं अन्तिम चार-चार पृष्ठों की फोटोप्रतियों को प्रकाशित अध्यायों के आगे-पीछे जोड़ा भी गया है।

यद्यपि हमारी भावना तो सम्पूर्ण ग्रन्थ की फोटोप्रतियों को भी इस प्रकाशन में हू-बहू प्रकाशित करने की थी, परन्तु उससे ग्रन्थ बहुत विस्तृत हो जाता; अत: उसमें से मात्र एक सौ चार पृष्ठों को ही सम्मिलित किया गया है। इनमें पीठिका के सभी १७ पृष्ठों को एवं अन्तिम अध्याय के १२ पृष्ठों को जोड़ा गया है, साथ ही उन सभी पृष्ठों के नीचे उनका संक्षिप्त पृष्ठ-परिचय भी दिया गया है।

हस्तलिखित प्रति-परिचय ('ब' प्रति)

ग्रन्थ परिचय-पत्र के विशेष विवरण के अनुसार यह **'भाषाकार की पाण्डुलिपि की प्रथम प्रतिलिपि है।'** तात्पर्य यह है कि मूल स्वहस्तलिखित ग्रन्थ के माध्यम से यह प्रथम प्रतिलिपि तैयार की गई थी, इसके बाद ही अन्य पाण्डुलिपियाँ तैयार की गई होंगी। इसी कारण ग्रन्थ की हालत अतिजीर्ण श्रेणी में रखी गई है।

यह प्रति भी **श्री दिगम्बर जैन तेरापन्थी बड़ा मन्दिर, जयपुर** के वेष्ठन संख्या १८९४ में सुरक्षित है, इस प्रति का रचनाकाल वि.सं. १८६६ है। तात्पर्य यह है कि मूल प्रति (वि.सं. १८६४) से मात्र २ वर्ष बाद ही इस प्रतिलिपि का लेखन किया गया है। इस प्रति की कुल पत्र संख्या २४८ अर्थात् पृष्ठ संख्या ४९६ है। ग्रन्थ के पन्नों का आकार ३९×१५ से.मी. है।

'अ' प्रति और 'ब' प्रति की तुलना

(१) 'ब' प्रति की हस्तलिपि बहुत सुन्दर एवं स्वच्छ है तथा प्रतिलिपि होने के कारण 'अ' प्रति के समान इसमें काट-छाँट को कोई अवकाश नहीं है।

(२) मूल प्रति के शब्दों को पढ़ने में जहाँ कहीं भी अड़चन या समस्या आती है, वह इस

प्रति के माध्यम से दूर होती है।

(३) जहाँ 'अ' प्रति में पृष्ठ क्रमाङ्क, शीर्षकों एवं कहीं-कहीं कुछ वाक्यांशों को अलग रङ्ग से उभारा Highlight किया गया है। वहीं 'ब' प्रति में शीर्षकों आदि को अलग रङ्ग में ही लिख दिया गया है; जैसे, ॥ अर्थ ॥, ॥ टीका ॥, ॥ भावार्थ ॥ आदि।

(४) 'अ' एवं 'ब' प्रतियों में गाथाओं एवं कलशों के क्रमाङ्कों में एक-दो जगह अन्तर आया है, जिन्हें अनुवादकीय में स्पष्ट किया गया है।

(५) इस प्रति को लिखने के बाद इसे स्वयं पण्डित जयचन्दजी अथवा उनके सुपुत्र, पण्डित नन्दलालजी अथवा अन्य किसी योग्य विद्वान् ने संशोधित भी किया है – ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि इस प्रतिलिपि के पत्र क्रमाङ्क ०६ एवं ०९ के पिछले पृष्ठ पर जो संशोधन किया गया है, उसकी हस्तलिपि पण्डित जयचन्दजी की हस्तलिपि से बहुत मेल खाती है।

पत्र क्रमाङ्क २२ के अगले पृष्ठ पर जो तीन पंक्तियाँ बाद में जोड़ी गई हैं, उन्हें मूल प्रति में भी पृष्ठ क्रमाङ्क २० के अगले भाग में बाद में जोड़ा गया प्रतीत होता है एवं दोनों की हस्तलिपि भी एक जैसी दिखाई दे रही है।

इसी प्रकार आस्रव अधिकार का कलश क्रमाङ्क ०९ अर्थात् समयसार की आत्मख्याति टीका का कलश क्रमाङ्क १२१ के भावार्थ में एक अनुच्छेद पूरा का पूरा 'अ' प्रति में है ही नहीं और 'ब' प्रति में ही है। इतना बड़ा सटीक अनुच्छेद, जोड़ने की कोशिश, अन्य कोई सामान्य लिपिकार नहीं कर सकता; अत: सिद्ध होता है कि इस 'ब' प्रति को स्वयं पण्डित जयचन्दजी ने अथवा उनके सुयोग्य पुत्र नन्दलालजी ने अथवा अन्य किसी अधिकारी विद्वान् ने अवश्य संशोधित किया है।[१]

(६) इस प्रतिलिपि में मूल प्रति से अनेक जगह पाठभेद भी मिलते हैं, जिन्हें इस प्रकाशन में टिप्पणी में दिया गया है। इन पाठभेदों में अनेक पाठभेद अत्यन्त महत्वपूर्ण भी हैं; जैसे, गाथा २३९ के अर्थ में 'क्रियाविशेषणनि' के स्थान पर 'करणनि' पाठ मिलता है। यह पाठ मूलानुगामी है क्योंकि मूल गाथा में 'करणेहिं' पाठ है, जिसका अर्थ 'करणनि' उपयुक्त है। इससे यह बात भी पुष्ट होती है कि इस प्रति को लिखनेवाले प्रतिलिपिकार भी योग्य विद्वान् थे; अत: उन्होंने आधिकारिकरूप से भी कुछ संशोधन किये हैं।

इस प्रकाशन में मूल पाठ की विशेषताएँ

हस्तलिखित ग्रन्थ के मूल पाठ को प्रकाशित करते समय सम्पादन की दृष्टि से निम्न बिन्दुओं को ध्यान में रखा गया है —

(१) हस्तलिखित ग्रन्थ के लेखन में शब्दों के बीच में जगह नहीं छोड़ी जाती है, इसी प्रकार

१. *प्रस्तावना में भी इन बिन्दुओं पर विवेचन किया गया है।*

अनुच्छेदों एवं छोटे-बड़े अक्षरों का विभाजन आदि नहीं हो पाता है। इस कारण प्रकाशन करते समय उन्हें निम्न प्रकार परिवर्तित किया गया है —

(क) शब्दों के बीच में जगह छोड़ी गई है।

(ख) संज्ञावाची शब्दों से उनकी विभक्तियों को अलग रखा गया है; जैसे, जीव नै, आत्मा कूँ, आदि।

(ग) सर्वनामवाची शब्दों के साथ विभक्तियों को जोड़ा गया है; जैसे, तिनिकूं, तामैं, जाका आदि।

(घ) सामान्यतया एक विषय-सम्बन्धी बात पूरी हो जाने के बाद अनुच्छेद बदलने का सूचक '॥छ॥' का प्रयोग जैसा हस्तलिखित प्रतियों में किया गया है, उसे वैसा ही रखा गया है।

(ङ) हस्तलिखित लेखन में विराम चिह्नों (, ; - ! ? आदि) का प्रयोग नहीं किया जाता; मात्र चरणों का प्रयोग किया जाता है, परन्तु प्रकाशन करते समय मात्र कॉमा (,) का प्रयोग आवश्यकतानुसार बढ़ाया गया है।

(२) मूल लेखन का प्रकाशन करते समय वर्तनी-सम्बन्धी प्रयोगों को सामान्यतया जैसा का तैसा रखा गया है। कहीं-कहीं पर आवश्यकतानुसार कुछ संशोधन भी किये हैं, उनके सम्बन्ध में निम्न उदाहरण प्रस्तुत हैं —

(क) हस्तलेखन में 'ब' और 'व', दोनों के लिए 'व' का ही प्रयोग किया गया है, उसे प्रकाशन के समय भी वैसा ही रखा गया है।

(ख) हस्तलेखन में जहाँ-जैसे एक या दो चरणों का प्रयोग हुआ है, उन्हें सामान्यतया वैसे ही प्रकाशित किया गया है।

(ग) हस्तलेखन में पर्याय, धर्म, वर्ण, आदि शब्दों को कहीं तो पर्याय, धर्म, वर्ण आदि ही लिखा मिलता है और कहीं पर्य्याय, वर्ण्ण आदि लिखा मिलता है; उन्हें एकरूपता की दृष्टि से पर्याय, धर्म, वर्ण आदि ही प्रकाशित किया गया है।

(घ) हस्तलेखन में वहुरि, कहिये, जो, आदि शब्दों के अनेकार्थक प्रयोग हुए हैं; उनका अनुवाद करते समय प्रकरण के अनुसार अलग-अलग अर्थ किया गया है; जैसे, 'जो' शब्द का सर्वनाम के अर्थ में भी प्रयोग किया गया है और 'कि' के अर्थ में भी प्रयोग किया गया है।

(ङ) हस्तलेखन में प्रत्येक गाथा और उसकी संस्कृत छाया को लिखने के पहले 'गाथा' एवं 'संस्कृत छाया' या 'याका संस्कृत' – यह लिखा मिलता है; जिसे प्रकाशन के समय एक बार तो लिखा गया है, बार-बार नहीं लिखा गया है।

(च) हस्तलेखन में संस्कृत छन्दों (कलशों) को लिखने के पूर्व छन्द के नाम के साथ 'छन्द' शब्द बार-बार लिखा मिलता है; जैसे, अनुष्टुभ् छन्द, शार्दूलविक्रीड़ित छन्द, उपजाति छन्द आदि; लेकिन प्रकाशन करते समय 'छन्द' शब्द का प्रयोग बार-बार नहीं किया गया है। केवल ॥ अनुष्टुभ् ॥, ॥ शार्दूलविक्रीडित ॥ आदि ही लिखा है।

(छ) हस्तलेखन में 'श' के लिये अधिकांशतया 'श' लिखा मिलता है, उसे सर्वत्र 'श' ही लिखा गया है; जैसे, 'विश्व' को 'विश्व' लिखा है।

(ज) हस्तलेखन में शीर्षकों के आगे-पीछे, दो-दो चरण लिखे गए हैं, उन्हें प्रकाशन करते समय भी उसी प्रकार रखा गया है; जैसे, ॥ टीका ॥, ॥ अर्थ ॥, ॥ भावार्थ ॥ आदि; मात्र उनके साथ अनुच्छेदों का विभाजन किया गया है।

इस प्रकाशन की अन्य विशेषताएँ

(१) इस प्रकाशन में प्रत्येक गाथा को दो बार प्रकाशित किया गया है। एक बार ऊपर मूल भाषा के साथ और दूसरी बार नीचे अनुवाद के साथ। मूल भाषा में वही गाथा का पाठ रखा गया है, जो हस्तलिखित प्रतियों में लिखा मिलता है, मात्र उनके 'अ' 'ब' प्रति पर आधारित कुछ पाठभेद टिप्पणी में दिये गए हैं, इसकी भाषा पर महाराष्ट्री प्राकृत एवं मागधी प्राकृत का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है तथा अनुवाद के साथ अधिकांशतया वही पाठ लिखा गया है, जो सोनगढ़ प्रकाशन में शौरसेनी प्राकृत के अनुसार प्रकाशित हैं; इनमें तात्पर्यवृत्ति के आधार पर कुछ स्थानों में संशोधन भी किया गया है अथवा टिप्पणी में उनके पाठभेद भी प्रकाशित किये गए हैं। टिप्पणी में तात्पर्यवृत्ति टीका, अगास प्रकाशन, अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन एवं सोलापुर प्रकाशनों को भी आधार बना कर पाठभेद प्रकाशित किये गए हैं।

(२) इस प्रकाशन में 'अ' प्रति और 'ब' प्रति को आधार बना कर, जहाँ भी पाठभेद आए हैं, उनमें उचित पाठ को मूल में स्थान देकर पाठभेद को टिप्पणी में स्थान दिया गया है। मात्र जहाँ पर एक जैसे पाठभेद बार-बार मिले हैं, उन्हें बार-बार उल्लिखित नहीं किया गया है।

(३) इस प्रकाशन में ऊपर मूल पाठ में जहाँ-जहाँ से अनुच्छेदों का विभाजन किया गया है, वहीं-वहीं से नीचे अनुवाद में भी अनुच्छेदों का विभाजन किया गया है।

(४) इस प्रकाशन में मूल पाठ में जहाँ गाथा, संस्कृत छाया एवं संस्कृत कलशों को प्रकाशित किया गया है; उनके स्थान पर हिन्दी अनुवाद में क्रमशः गाथाओं के शौरसेनी पाठ, हिन्दी गाथानुवाद एवं हिन्दी कलशानुवाद को प्रकाशित किया गया है।

(५) इस प्रकाशन में श्री धनकुमारजी जैन, सूरत से जो अनुवाद प्राप्त हुआ है; उसमें सम्पादन, भाषा-प्रवाह, मूलानुगामिता, सरलता, सहजता, सहज बोधगम्यता आदि दृष्टियों से अनेक

संशोधन भी किये गए हैं; परन्तु अनुवाद का मूलभूत कार्य तो उन्होंने ही किया है, इसके बिना यह प्रकाशन नहीं हो पाता। साथ ही 'अनुवादकीय' लेख में उनका अपना मन्तव्य भी प्रकाशित किया गया है।

(६) इस प्रकाशन में संस्कृत छन्दों को अधिकांशतया सोनगढ़ प्रकाशन के आधार पर रखा गया है, उनमें कुछ स्थानों पर हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर संशोधन भी किये गए हैं अथवा पाठभेदों को टिप्पणी में स्थान दिया गया है।

(७) इस प्रकार के मूल पाठ में गाथाओं एवं कलशों के क्रमाङ्क प्रत्येक अधिकार में १ से ही शुरु किये गए हैं क्योंकि मूल हस्तलिखित प्रति एवं प्रतिलिपि में उसी प्रकार क्रमाङ्क दिये गए हैं; लेकिन अनुवाद में जो गाथाएँ, उनके पद्यानुवाद एवं कलशों के पद्यानुवाद प्रकाशित किये जा रहे हैं, उनमें सर्वत्र ग्रन्थ के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक के क्रमानुसार क्रमाङ्क प्रकाशित किये गए हैं।

(८) इस प्रकाशन में वचनिकाकार के भावों को ध्यान में रख कर, भावों से चिपके रह कर अनुवाद किया गया है, इस अपेक्षा हम इसे शब्दशः अनुवाद नहीं कह सकते; लेकिन कहीं भी अपनी तरफ से एक वाक्य भी नहीं जोड़ा गया है। जहाँ भी सन्दर्भ या विषय को समझाने की आवश्यकता पड़ी है, वहाँ अपनी बात को कोष्ठकों में ही रखा गया है। विषय को समझाने के उद्देश्य से ही वाक्य रचना में कभी-कभी, कुछ शब्दों को आगे-पीछे भी किया गया है।

(९) इस प्रकाशन में अनुवाद करते समय दो तरह के कोष्ठकों का प्रयोग किया गया है —

(क) जब किसी शब्द का अर्थ बताना अपेक्षित होता है, तब '( )' – इस कोष्ठक का प्रयोग किया गया है; जैसे, लौ (शिखा), सेवित (उपासना) आदि।

(ख) जब कोई विशेष शब्द, शीर्षक या वाक्यांश की आवश्यकता, अनुवाद करते समय अर्थ स्पष्ट करने के लिए होती है, परन्तु मूल पाठ में वे नहीं होते हैं तो ऐसे शब्दों, शीर्षकों या वाक्यांशों को '[ ]' – इस कोष्ठक के अन्दर दिखाया गया है; जैसे, हे [भव्य] पुरुषों!, वे [सर्वथा] एकान्तवादी हैं, आदि।

(१०) इस प्रकाशन में गाथाओं के अर्थ का अनुवाद करने के उपरान्त, उस गाथा का क्रमाङ्क भी साथ में जोड़ा गया है, ताकि जहाँ-जहाँ एक साथ अनेक गाथाएँ 'पञ्चक' आदि के रूप में आई हैं, वहाँ-वहाँ प्रत्येक गाथा का पृथक्-पृथक् अर्थ ज्ञात हो सके। चूंकि इस प्रकाशन में अन्वयार्थ नहीं दिया गया है; अतः गाथा क्रमाङ्क देकर उसकी पूर्ति करने का प्रयास किया गया है, ताकि कोई पाठक किसी विशेष गाथा का अर्थ सीधे-सीधे जान सके।

(११) इस प्रकाशन में संस्कृत छन्दों (कलशों) में अनुष्टुभ्, उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, स्वागता, शालिनी, द्रुतविलम्बित, आर्या, वियोगिनी आदि छोटे-छोटे छन्दों को दो पंक्तियों में और

मालिनी, पृथ्वी, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीड़ित आदि छन्दों को चार पंक्तियों में प्रकाशित किया गया है।

(१२) इस प्रकाशन में टीका, भावार्थ, अर्थ का अनुवाद करते समय बीच में आनेवाले छोटे-छोटे प्रश्नों को मोटे अक्षरों में प्रकाशित किया गया है। बड़े-बड़े प्रश्नों में मात्र 'प्रश्न' या 'शङ्का' शब्द को मोटे अक्षरों में प्रकाशित किया गया है।

(१३) प्रत्येक गाथा या कलश की उत्थानिका एवं उसके अनुवाद को मोटे अक्षरों में प्रकाशित किया गया है।

(१४) हस्तलिखित पाठ में वचनिकाकार ने अध्यायों के प्रारम्भ में 'दोहा' एवं अन्त में 'सवैया तेईसा' आदि मङ्गलसूचक छन्द लिखे हैं। साथ ही ग्रन्थ के प्रारम्भ में बड़े मङ्गलाचरण के रूप में चौपई, छप्पय आदि छन्दों के एवं अन्त में दोहा छन्दों के माध्यम से प्रशस्ति लेखन का कार्य किया है; इन सभी छन्दों के सरल अर्थ मूल लेखन में कहीं नहीं दिये गए हैं, अत: इन सभी छन्दों के अर्थ नीचे अनुवाद के साथ अपनी तरफ से जोड़े गए हैं, इनमें हमसे त्रुटियाँ होना भी सम्भवित हैं; अत: विद्वजन क्षमा करें एवं हमारी गलती को हमें सूचित करने की कृपा करें।

(१५) हस्तलिखित पाठ में अनेक जगह पर वचनिकाकार ने 'भया है' आदि भूतकालवाची शब्दों के प्रयोग किये है, परन्तु वहाँ किसी काल विशेष की विवक्षा नहीं होने पर उसका अनुवाद 'होता है' – ऐसा किया है।

(१६) हस्तलिखित पाठ में 'ख' अक्षर के लिए 'ष' का प्रयोग मिलता है, उसे मूल पाठ के प्रकाशन में 'ष' ही रखा गया है, परन्तु अनुवाद करते समये उसे 'ख' के रूप में ही प्रयुक्त किया है; जैसे, अषाड़ा (अखाड़ा) आदि।

(१७) इस प्रकाशन में गाथाओं के हिन्दी पद्यानुवाद, सोनगढ़ प्रकाशन के आधार पर स्व. श्री नेमीचन्दजी पाटनी, आगरा द्वारा अनुवादित रखे गए हैं, उनमें मूल गाथाओं के भावानुसार कुछ संशोधन भी किये गए हैं।

(१८) इस प्रकाशन में समयसार के कलशों का हिन्दी पद्यानुवाद, आदरणीय छोटे दादा डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल, जयपुर द्वारा लिखित समयसार की 'ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका' के आधार पर लिये गए हैं; उनमें भी कुछ स्थानों पर अनुवादकर्ता की स्वीकृतिपूर्वक संशोधन भी किये गए हैं।

(१९) इस प्रकाशन में ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** के ही विद्वान श्री देवेन्द्रकुमार जैन के सहयोग से पूज्य गुरुदेवश्री के मुखारविन्द से नि:सृत समयसार वचनिका की महिमा एवं पण्डित जयचन्दजी की प्रशंसासूचक वचनामृतों को सङ्कलित किया गया है, जिनमें समयसार वचनिका में पण्डितजी द्वारा लिखे गये भावार्थों का विशेष उल्लेख है।

(२०) इस प्रकाशन को ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** के स्वप्नदृष्टा आदरणीय भाईसाहब श्री

पवन जैन ने भी आद्योपान्त पढ़ा है, उसका पुनरीक्षण किया है और महत्वपूर्ण संशोधन-सुझाव भी दिये हैं।

(२१) इस प्रकाशन के मूल पाठ के प्रूफ-संशोधन में 'अ' प्रति एवं 'ब' प्रति के आधार पर चार-चार बार मिलान किया गया है। इस संशोधन कार्य में हमें विशेष रूप से सहयोग प्रदान किया है – राजकीय महाविद्यालय, दौसा में अध्यापनरत विद्वान् श्री संजयकुमार जैन शास्त्री, भोगाँव ने, वे सन् २००५ से अनवरत हमें सहयोग प्रदान कर रहे हैं और बहुमूल्य सुझाव दे रहे हैं। उन्होंने सम्पादन में सहयोग करने के साथ-साथ प्रस्तावना के रूप में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व बहुत मेहनत एवं निष्ठा के साथ तैयार किया है।

(२२) इस प्रकाशन में हस्तलिखित दोनों प्रतियों से मिलान कार्य एवं प्रूफ-संशोधन में मुझे मेरे परिवारजनों ने भी विशेष सहयोग प्रदान किया है; जिसमें मेरी धर्मपत्नी सौ. स्वर्णलता, बेटे संयम और बेटी दीक्षा ने बारी-बारी से मूल प्रतियों के साथ मिलान कार्य में मेरी विशेष मदद की है क्योंकि दो व्यक्ति मिल कर ही दोनों प्रतियों से मिलाने का कार्य करते थे।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी सहयोगकर्ताओं का मैं बहुत-बहुत आभार व्यक्त करता हूँ, इनके सहयोग के बिना यह सब कैसे होता? – यह कल्पना से परे है।

इस प्रकार इस प्रकाशन में सम्पादन की दृष्टि को ध्यान में रख कर, अनेक परिवर्तन या संशोधन किये गए हैं। आशा है, इससे पाठकों को लाभ होगा। यदि इसमें भूलवश या अज्ञानवश कुछ त्रुटि हो गई हो तो हम सुधी पाठकों से क्षमा चाहते हैं तथा उस गलती से हमें अवगत कराने हेतु करबद्ध प्रार्थना करते हैं।

आपसे निवेदन है कि समयसार जैसा परम अध्यात्म शास्त्र पढ़ कर, अपनी समस्त चिन्ताओं को भूल कर, अपने आत्मा का कल्याण करने में प्रवृत्त होवें। पूर्व में समयसार को निमित्त बना कर, अनेक भव्य जीवों ने सम्यग्दर्शन प्राप्त करके अपने आत्मा का कल्याण किया भी है; जैसे, पण्डित बनारसीदासजी, श्रीमद् राजचन्द्रजी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी; आदि। अतः हम सब भी इस महानिमित्त 'समयसार' का आश्रय लेकर आत्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्राप्त करके अपना परम कल्याण करें – इसी मङ्गलमय भावना के साथ.....

– डॉ. राकेशकुमार जैन
'अध्यात्म विद्या विभाग'
मङ्गलायतन विश्वविद्यालय
अलीगढ़

ॐ

卐 श्री सर्वज्ञ-वीतरागाय नमः 卐

॥ शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मङ्गलाचरण ॥

ओकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमो नमः॥ १॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालित-सकलभूतलमलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती ! हरतु नो दुरितान्॥ २॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः॥ ३॥

卐 卐 卐

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यश्रीगुरवे नमः

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री'समयसार' नामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारमासाद्य श्रीमद्भगवद्-कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचितम्।

श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमौ गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥ १॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारकम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम्॥ २॥

ॐ

॥ शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति ॥

''व्यवहारनय, स्वद्रव्य-परद्रव्य को और उनके भावों को एवं कारण-कार्यादि को, किसी को किसी में मिला कर निरूपण करता है, इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है; अतः उसका त्याग करना चाहिए और निश्चयनय, उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता, इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; अतः उसका श्रद्धान करना चाहिए।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो जिनमार्ग दोनों नयों को ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण है?

उत्तर – जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ इसी प्रकार है' – ऐसा जानना चाहिए तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यतासहित कथन है, उसे 'ऐसा है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है' – ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जान कर 'ऐसे भी है, ऐसे भी है' – इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तने से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।

प्रश्न – यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्ग में उसका उपदेश क्यों दिया है? एक निश्चयनय ही का निरूपण करना था।

उत्तर – ऐसा ही तर्क समयसार में भी किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है –

जह ण वि सक्कमणज्जो, अण्ज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥ ८ ॥

अर्थात् जिस प्रकार अनार्य अर्थात् म्लेच्छ को म्लेच्छभाषा के बिना, अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है, इसलिए व्यवहार का उपदेश दिया गया है।

इसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि इस प्रकार निश्चय को अङ्गीकार कराने के लिए व्यवहार के द्वारा उपदेश देते हैं; किन्तु व्यवहारनय है, वह अङ्गीकार करने योग्य नहीं है।''

– ***पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी :*** *मोक्षमार्ग प्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५१*

ॐ

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित

॥ समयसार ॥

एवं उसकी

श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव द्वारा विरचित

॥ आत्मख्याति ॥

नामक संस्कृत टीका

के आधार पर लिखित देशभाषामय

॥ समयसार वचनिका ॥

हिन्दी अनुवाद सहित

वचनिकाकार – पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ा

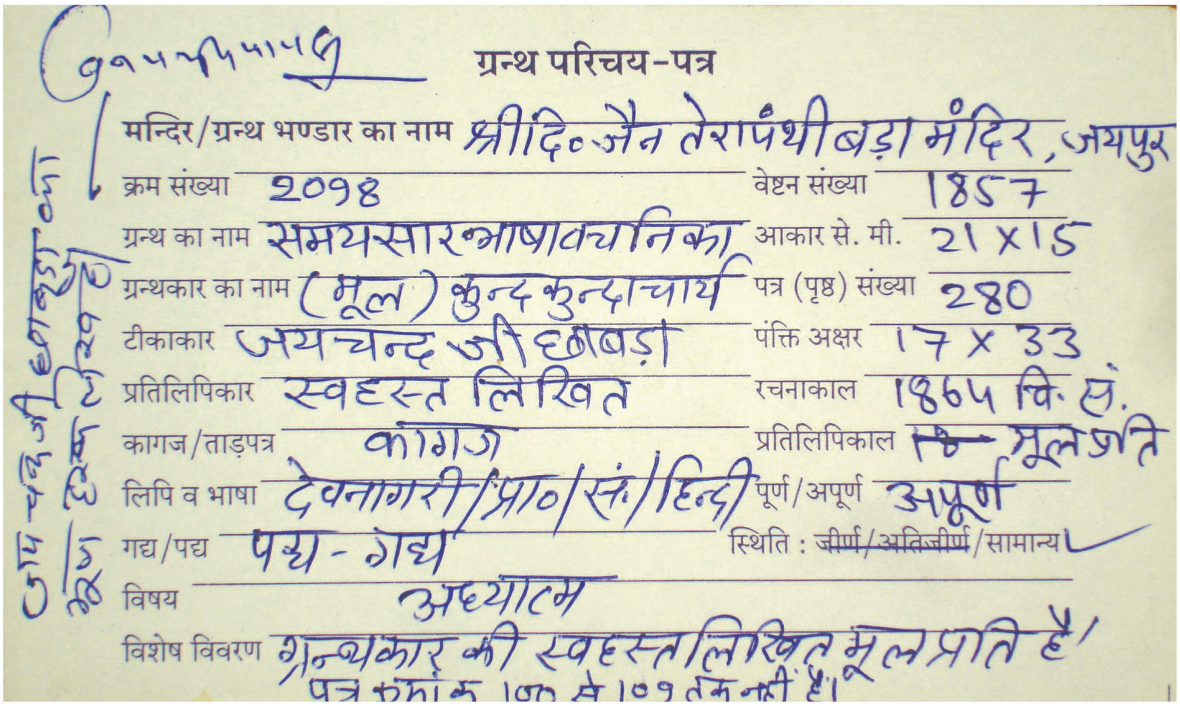

ग्रन्थ परिचय-पत्र

मन्दिर/ग्रन्थ भण्डार का नाम श्रीदि० जैन तेरापंथी बड़ा मंदिर, जयपुर
क्रम संख्या 2098 वेष्टन संख्या 1857
ग्रन्थ का नाम समयसार भाषावचनिका आकार से. मी. 21 x 15
ग्रन्थकार का नाम (मूल) कुन्दकुन्दाचार्य पत्र (पृष्ठ) संख्या 280
टीकाकार जयचन्द जी छाबड़ा पंक्ति अक्षर 17 x 33
प्रतिलिपिकार स्वहस्त लिखित रचनाकाल 1864 वि. सं.
कागज/ताड़पत्र कागज प्रतिलिपिकाल मूलप्रति
लिपि व भाषा देवनागरी/प्रा०/सं./हिन्दी पूर्ण/अपूर्ण अपूर्ण
गद्य/पद्य पद्य - गद्य स्थिति : ~~जीर्ण/अतिजीर्ण~~/सामान्य
विषय अध्यात्म
विशेष विवरण ग्रन्थकार की स्वहस्तलिखित मूलप्रति है।
पत्र क्रमांक 100 से 109 तक नहीं है।

पृष्ठ-परिचय : यह पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा स्वहस्तलिखित ग्रन्थ '**समयसार भाषा वचनिका**' के ग्रन्थ परिचय-पत्र की फोटोप्रति है। आश्चर्य के साथ अतिप्रसन्नता है कि यह मूल ग्रन्थ, **श्री दिगम्बर जैन तेरापन्थी बड़ा मन्दिर, जयपुर** में आज भी उपलब्ध है। इसकी रचना **वि.सं. १८६४** में पूर्ण हुई थी। इस स्व-हस्तलिखित ग्रन्थ में पत्र क्रमाङ्क १०० से १०९ तक नहीं हैं। इस परिचय-पत्र में चार बार इस बात की ओर इशारा किया गया है कि यह श्री जयचन्दजी छाबड़ा का मूल हस्तलेख है अथवा मूल प्रति है अथवा यह ग्रन्थकार की स्व-हस्तलिखित मूल प्रति है अथवा प्रतिलिपिकार के स्थान पर

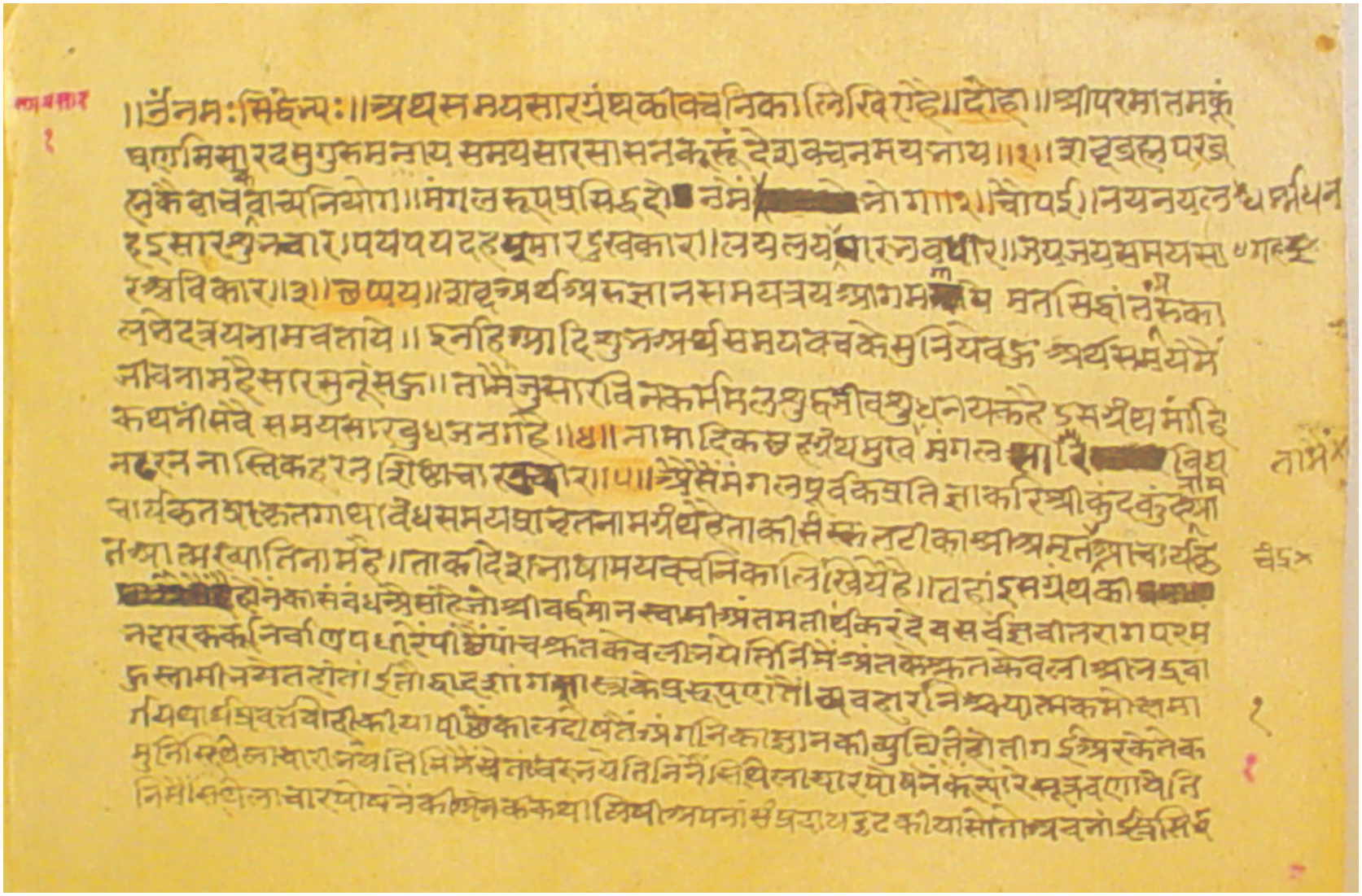

पृष्ठ-परिचय : यह मूल हस्तलिखित ग्रन्थ के पत्र क्रमाङ्क १ का पिछला (पीछे का) भाग है, अगला (आगे का) भाग खाली है। यहाँ से प्रस्तावना प्रारम्भ होती है। इस पृष्ठ (भाग) का प्रारम्भ '**॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥ अथ समयसार ग्रंथ की वचनिका**

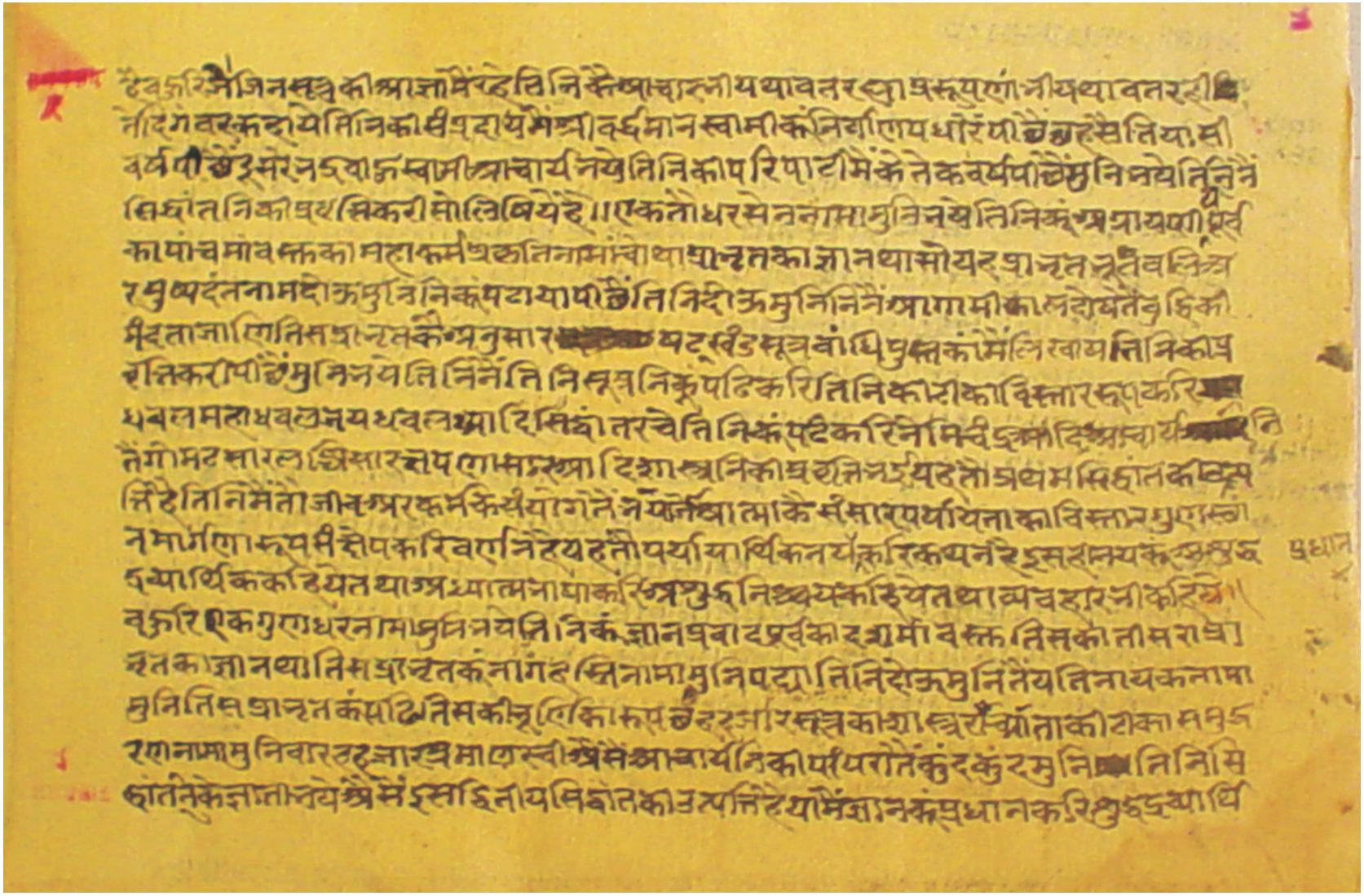

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क २ का अगला (सामने का) भाग है। इस पृष्ठ में श्री वर्द्धमानस्वामी के पश्चात् मुनि-परम्परा का वर्णन है तथा प्रथम सिद्धान्त ग्रन्थों की परम्परा में षट्खण्डागम, धवला आदि एवं द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थों की परम्परा में समयसार,

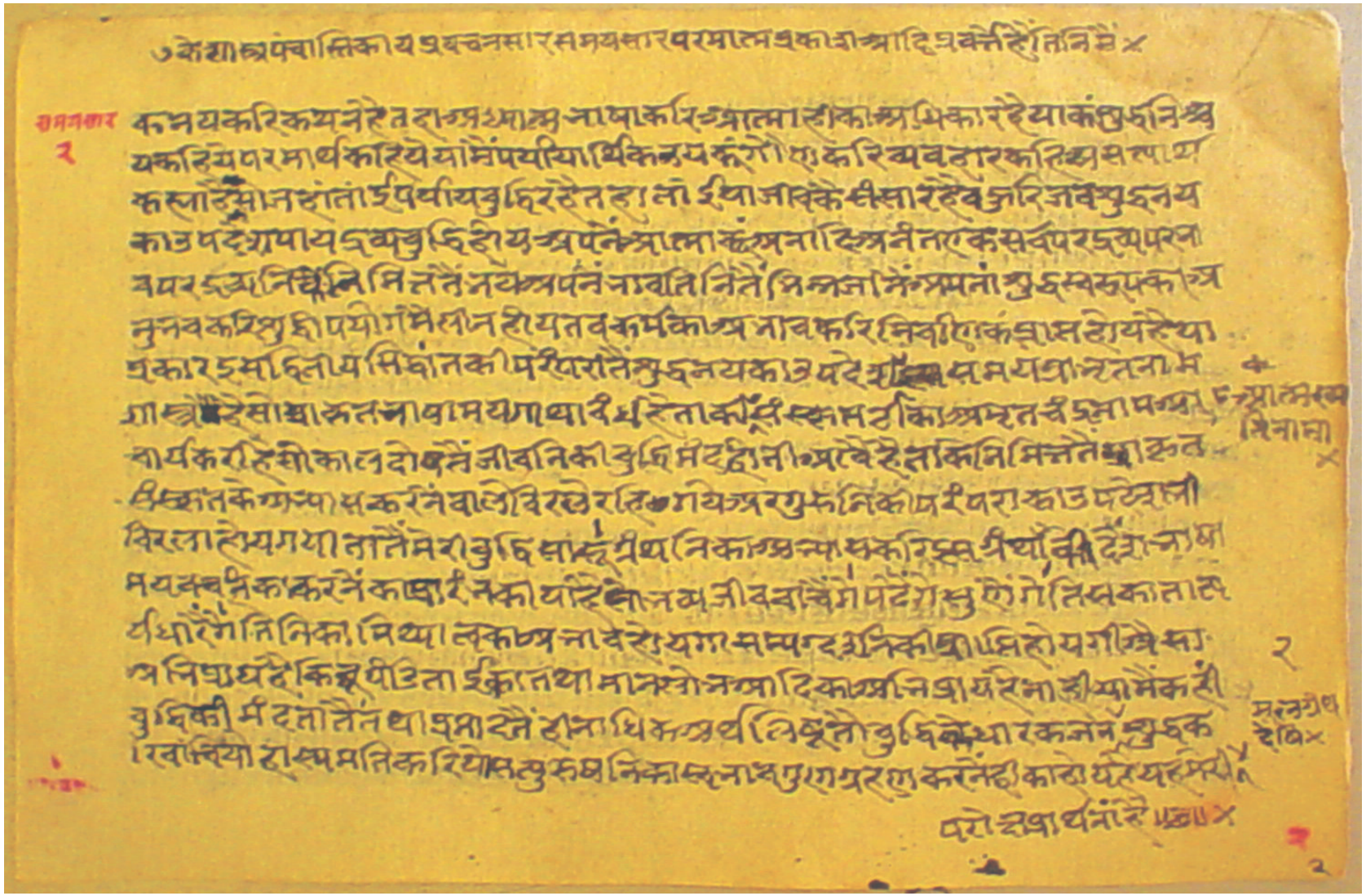

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क २ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ के प्रारम्भ में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की शैली का वर्णन है – **'तहां अध्यात्म भाषा करि आत्मा ही का अधिकार है, याकूं शुद्धनिश्चय कहिये परमार्थ कहिये, यामैं पर्यायार्थिक नय कूं**

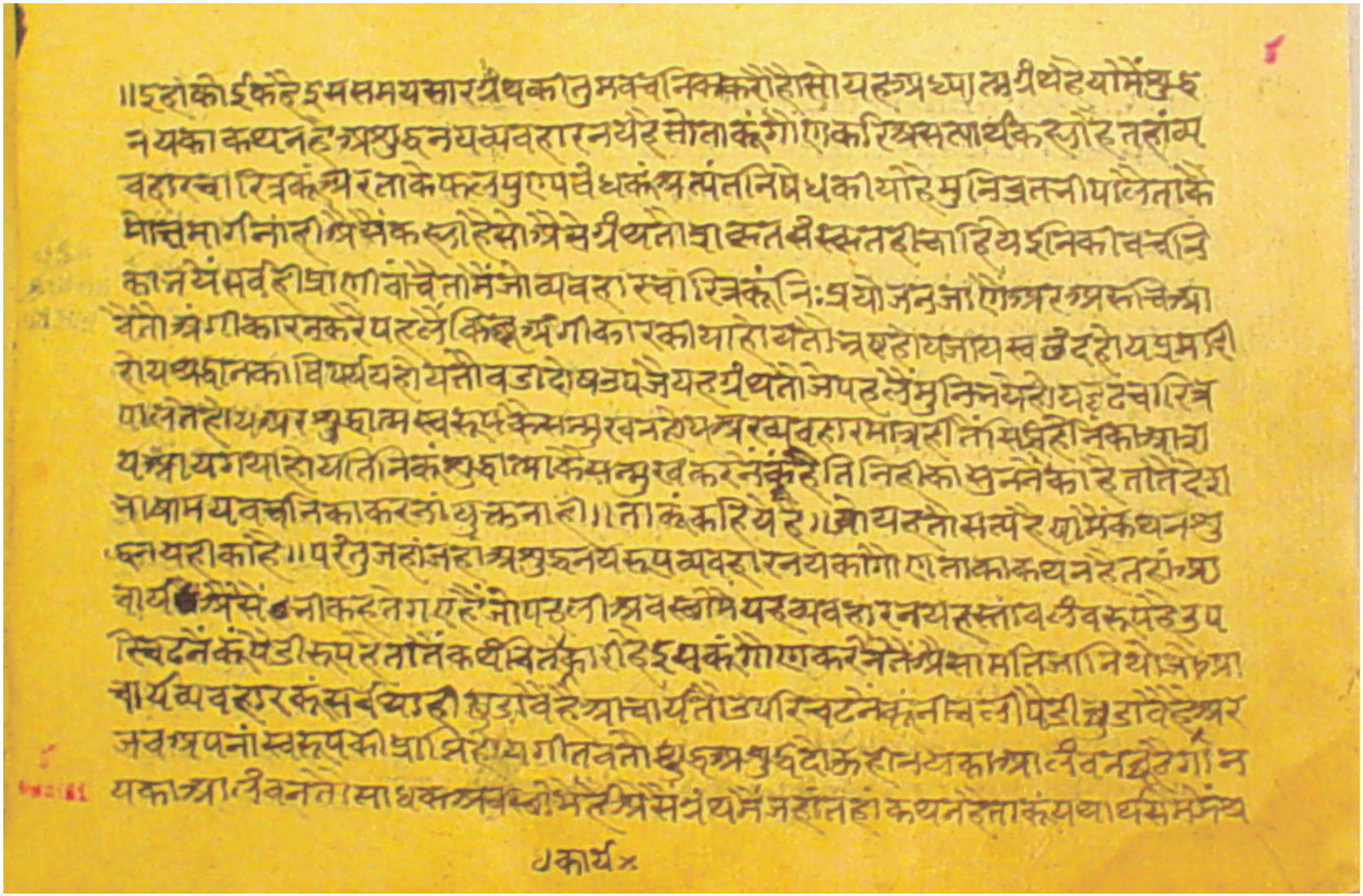

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ३ का अगला भाग है। इस पृष्ठ में वचनिका लिखने के तीन प्रयोजन वर्णित हैं तथा व्यवहारनय के बारे में नीचे से चौथी पंक्ति में लिखा है – '**ऐसा मति जानियो जो आचार्य व्यवहार कूं सर्वथा ही छुडावैं हैं, आचार्य तौ उपरि**

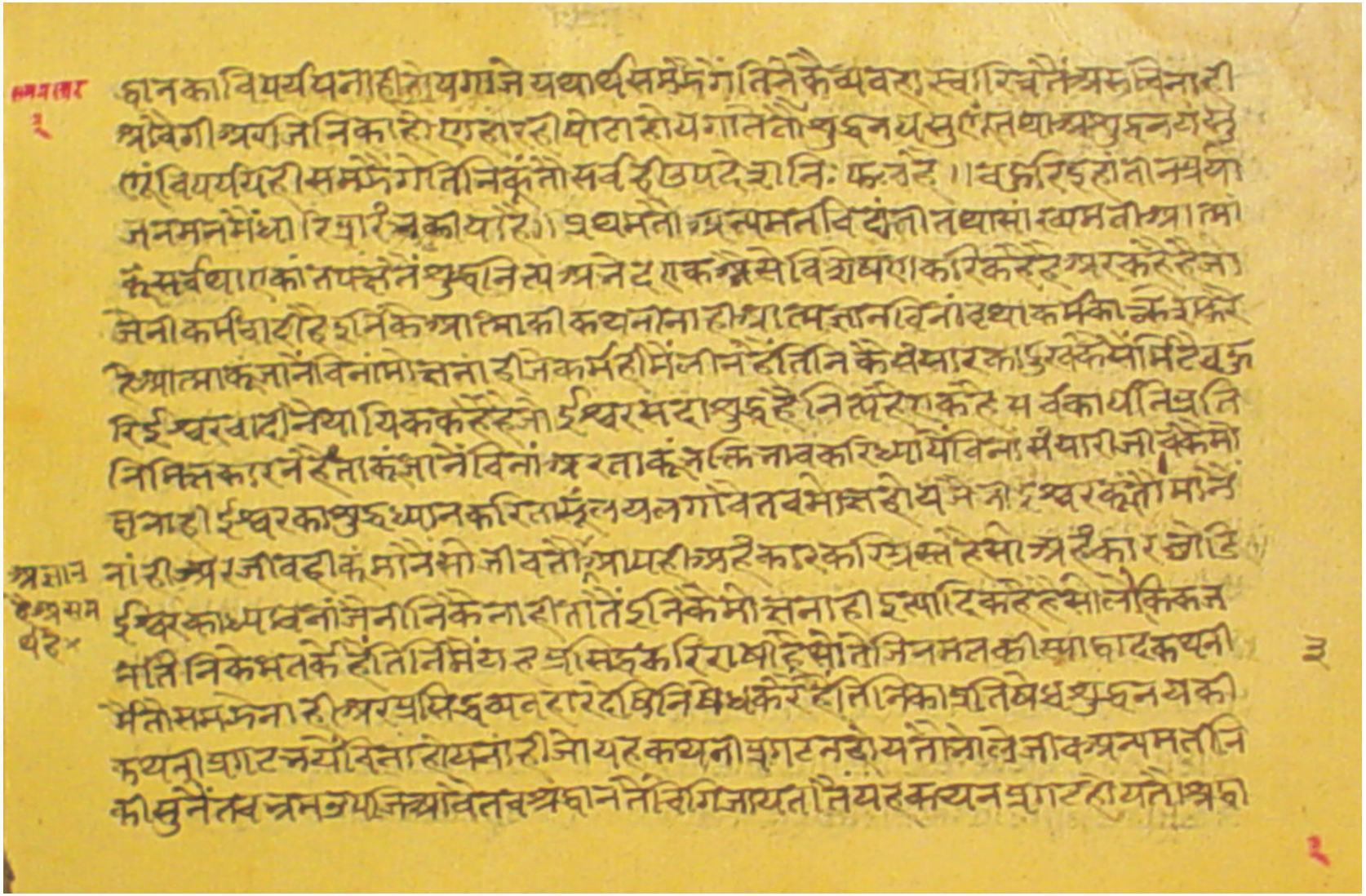

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ३ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ में 'क्रमबद्धपर्याय' की शैली का प्रयोग करते हुए ऊपर से दूसरी पंक्ति में लिखा है – **'जिनिका होणहार ही षोटा (खोटा) होयगा, ते तौ शुद्धनय सुणूं तथा अशुद्धनय सुणूं, विपर्यय ही समझैंगे, तिनिकूं तौ सर्व ही उपदेश निःफल है।'**

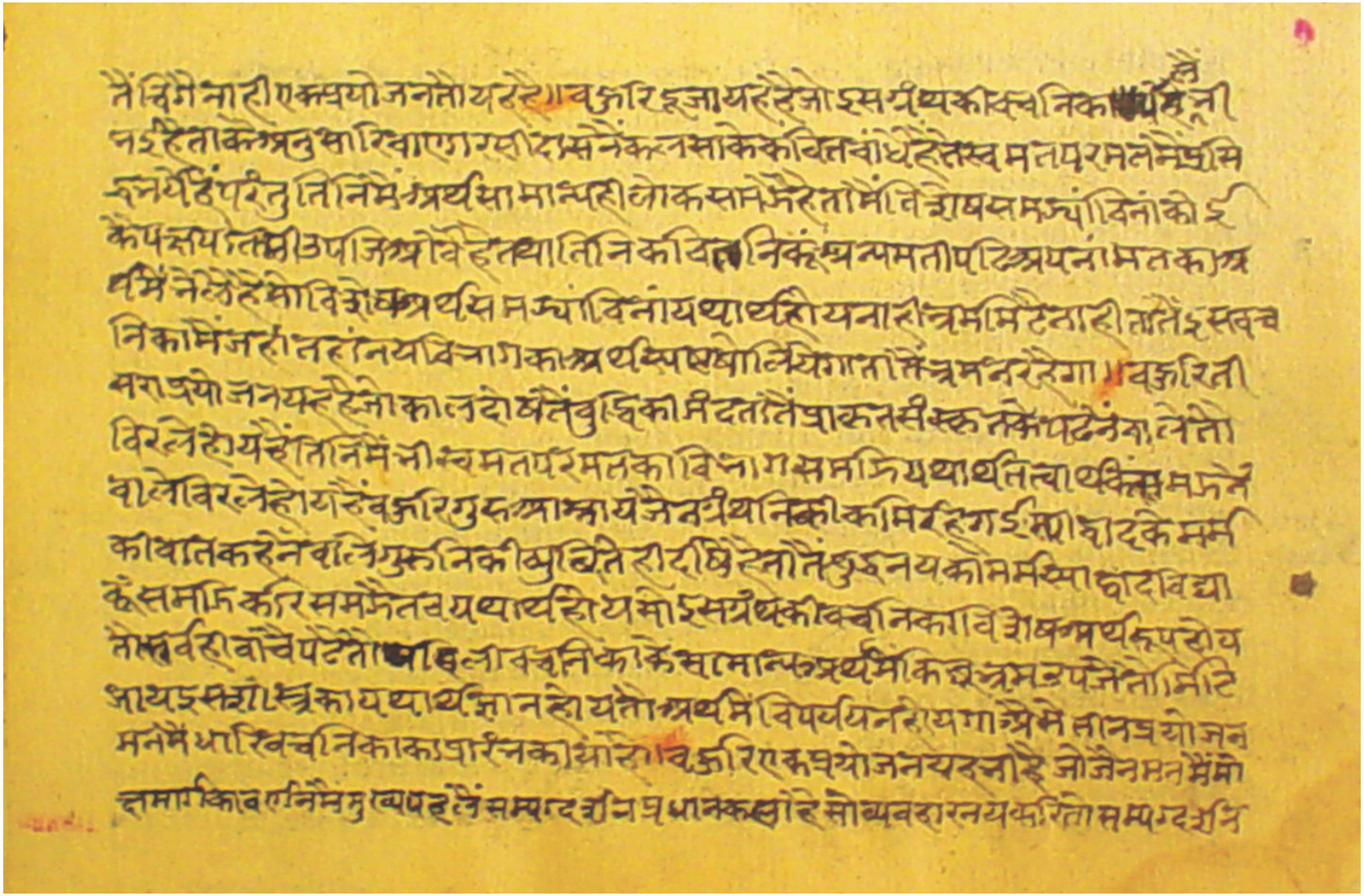

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ४ का अगला भाग है। इस पृष्ठ में पण्डितजी ने सामान्य अर्थ समझने की तुलना में विशेष अर्थ समझने का महत्त्व स्थापित करते हुए ऊपर से पाँचवीं पंक्ति में लिखा है – '**इस वचनिका मैं जहां तहां नय विभाग का अर्थ स्पष्ट**

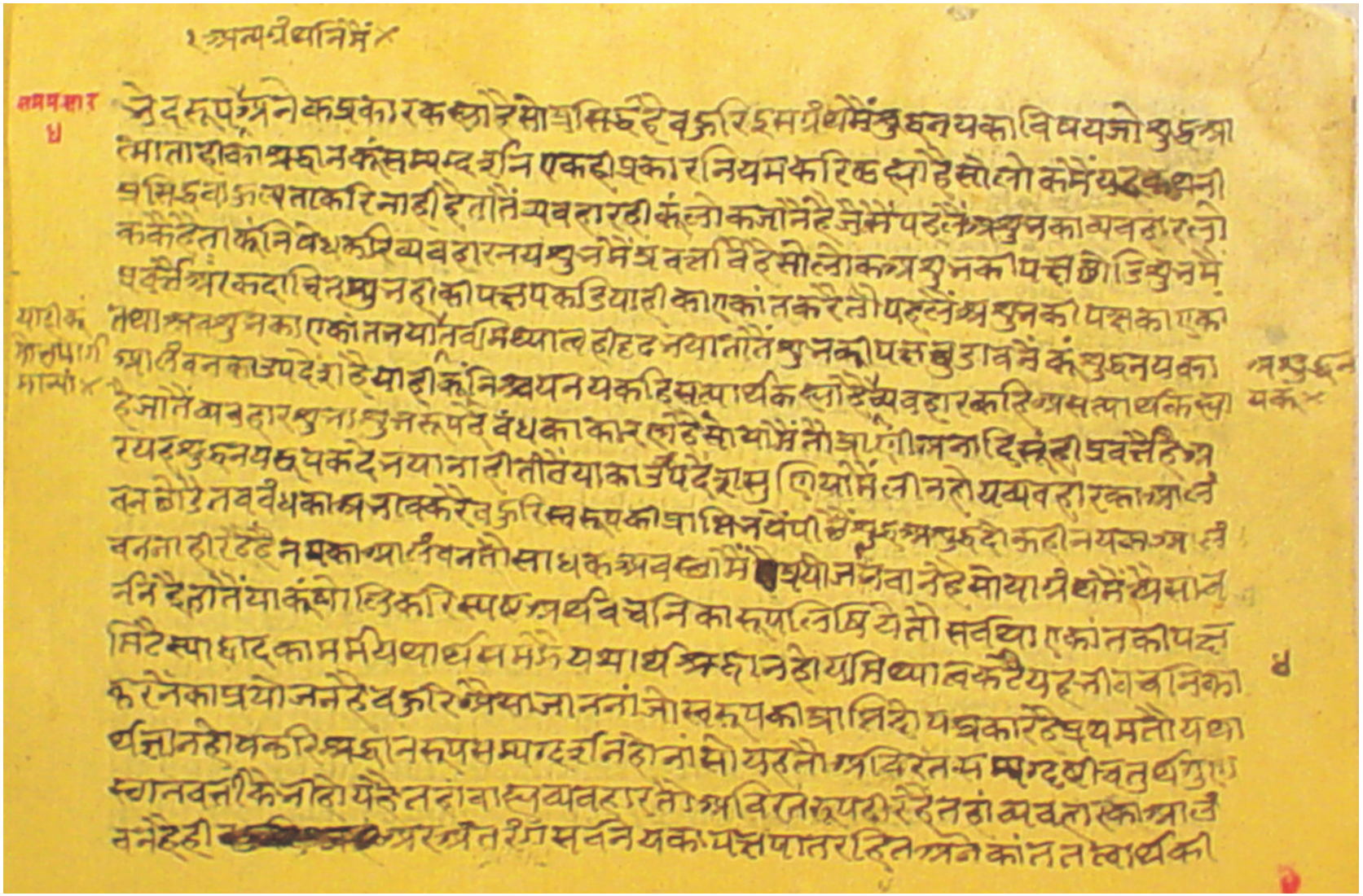

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ४ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर प्रस्तावना के अन्तर्गत नीचे से पाँचवीं पंक्ति में पण्डितजी ने लिखा है – **'स्याद्वाद का मर्म यथार्थ समझै, यथार्थ श्रद्धान होय, मिथ्यात्व कटै, यह भी वचनिका करनें का प्रयोजन है।'**

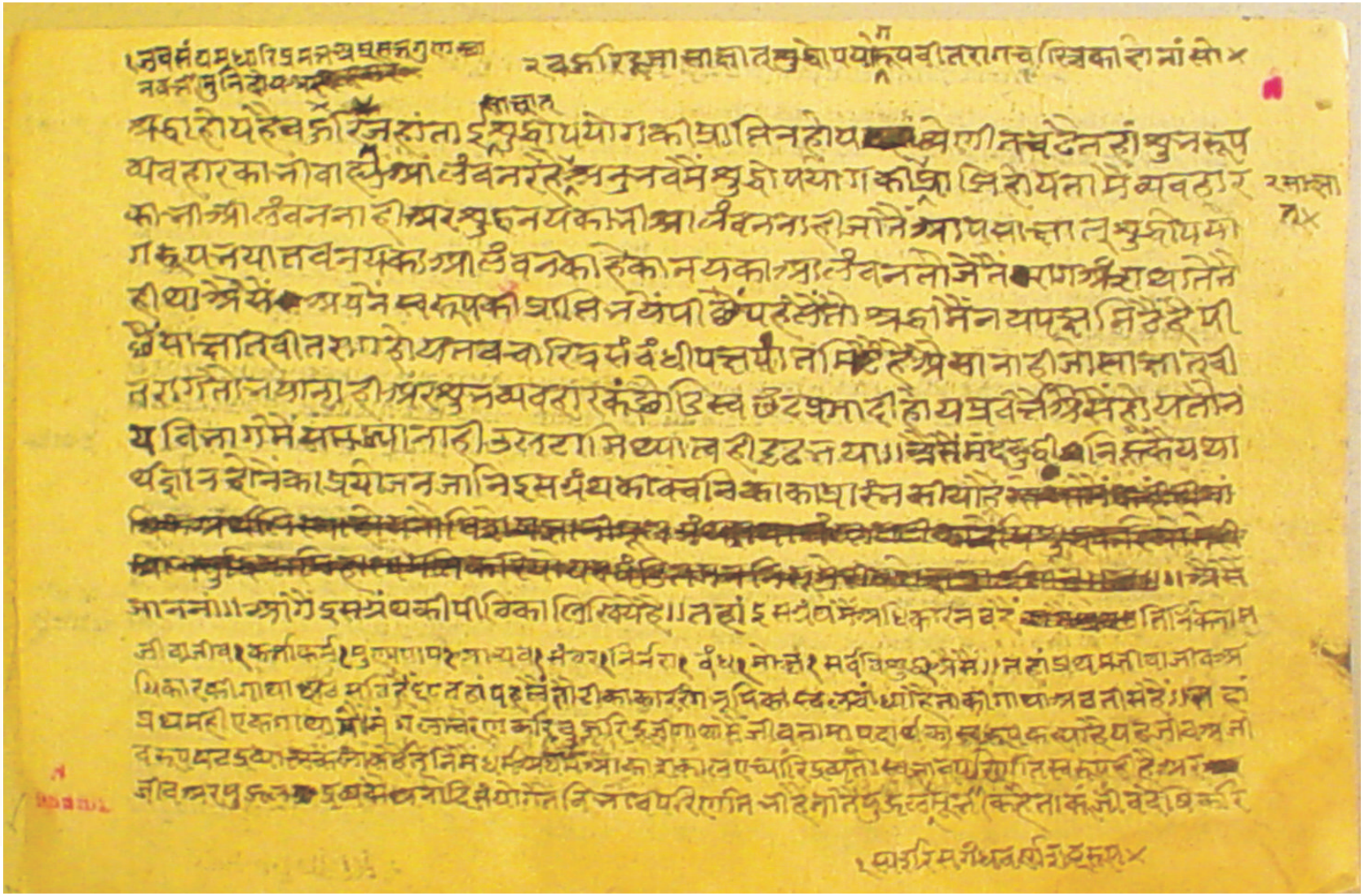

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ५ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर पीठिका के अन्तर्गत ग्रन्थ की विषय-वस्तु लिखना प्रारम्भ किया गया है। ऊपर से तीसरी पंक्ति में वे लिखते हैं - '**अनुभव मैं शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति होय, तामैं व्यवहार का भी आलंवन नाही अर शुद्धनय का भी आलंवन नाही।**'

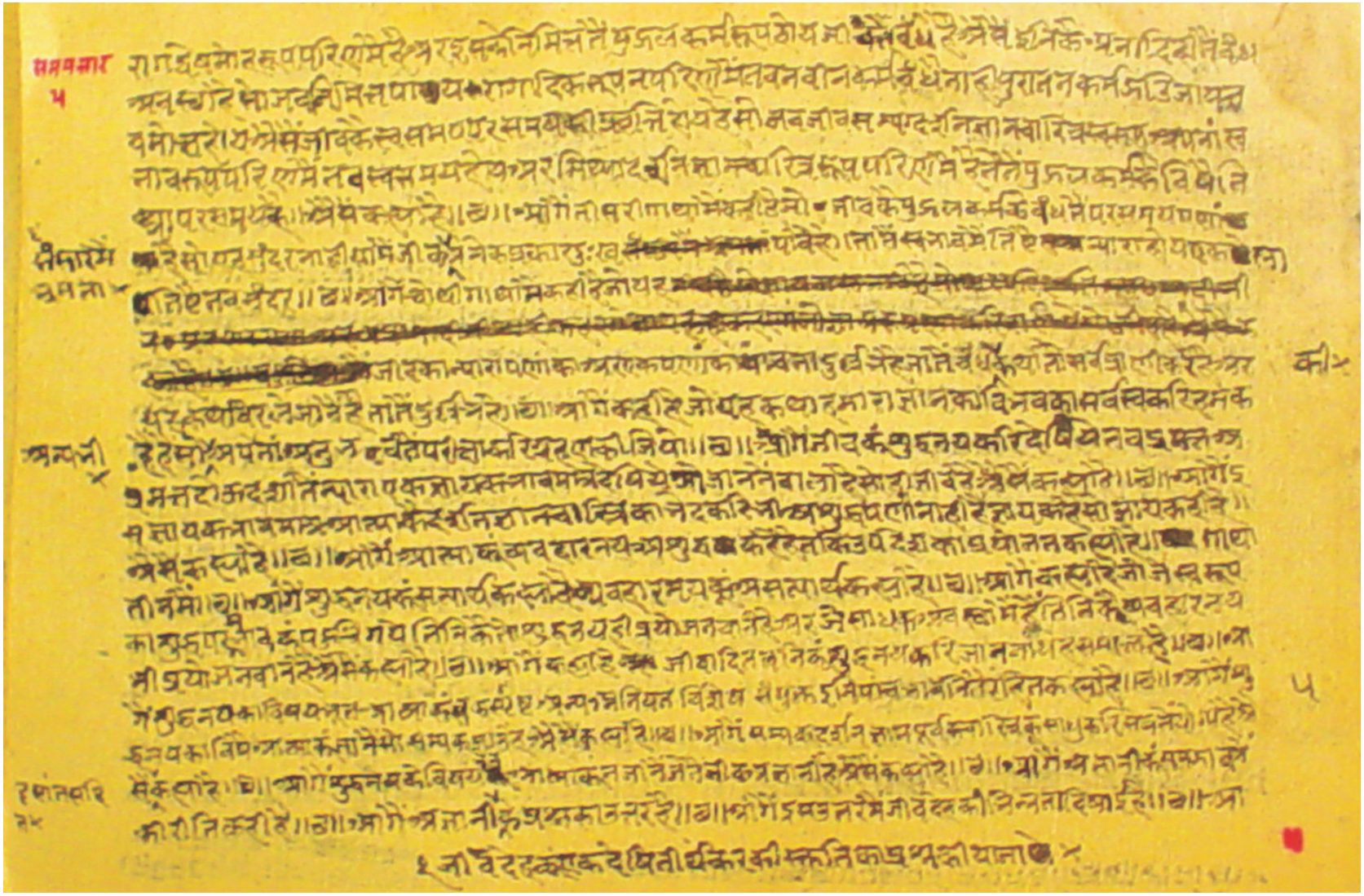

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ५ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर पूर्वरङ्ग की गाथा २ से ३३ तक की विषय-वस्तु का वर्णन है। इसमें ऊपर से तीसरी पंक्ति में कहा है – '**जब जीव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप अपनां स्वभावरूप परिणमै, तब स्वसमय**

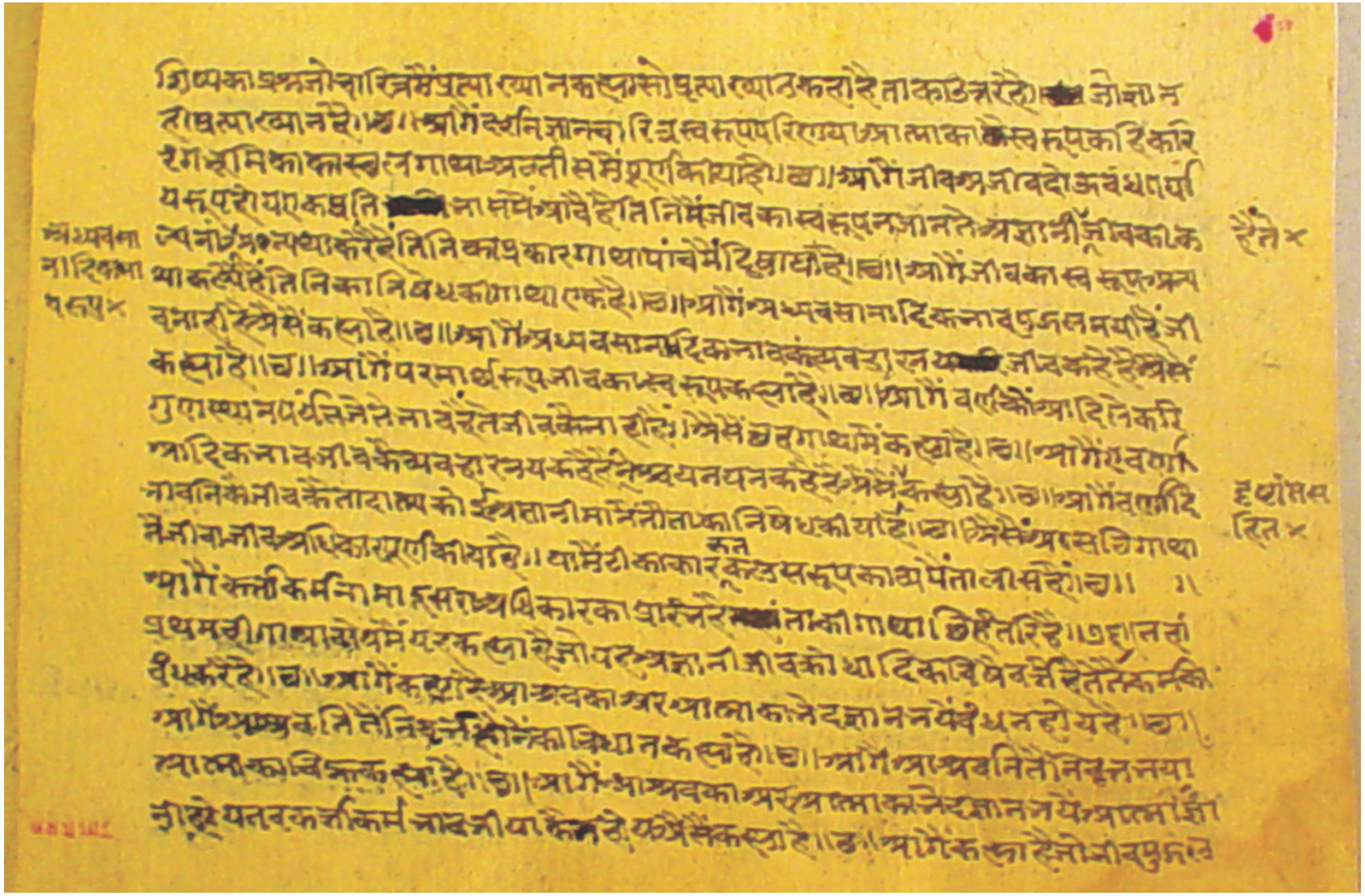

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ६ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर पूर्वरङ्ग की गाथा ३४ से कर्ता-कर्म अधिकार की गाथा ७९ तक की विषय-वस्तु का वर्णन है। इसमें ऊपर से छठी पंक्ति में लिखा है – '**अध्यवसानादिकभाव पुद्गलमयी हैं, जीव नाही हैं।**'

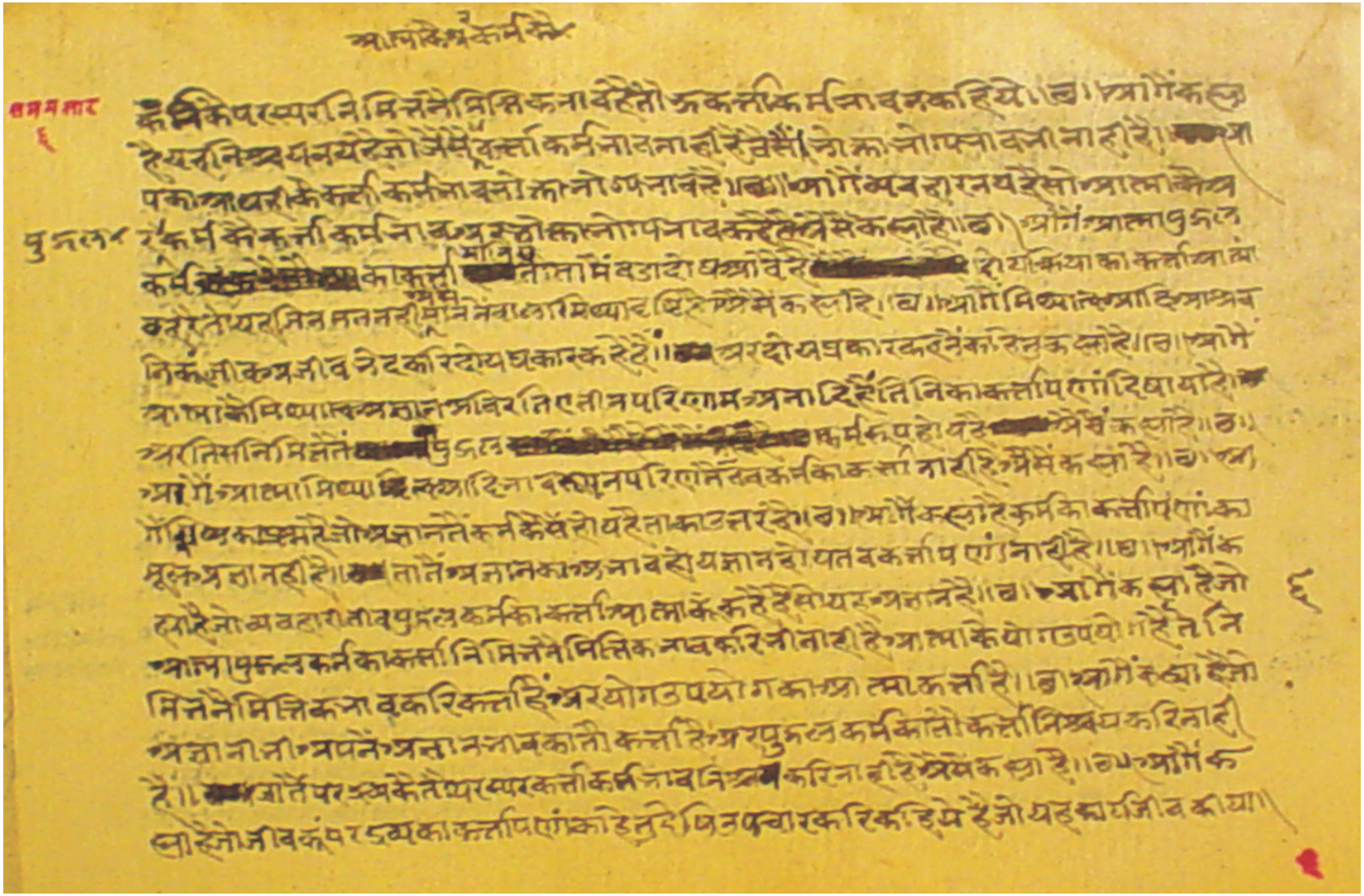

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ६ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर कर्ता-कर्म अधिकार की गाथा ८० से १०८ तक की विषय-वस्तु का वर्णन है। इसमें नीचे से पाँचवीं पंक्ति में लिखा है – '**आत्मा, पुद्गलकर्म का कर्त्ता, निमित्तनैमित्तिकभाव करि भी नाही है।**'

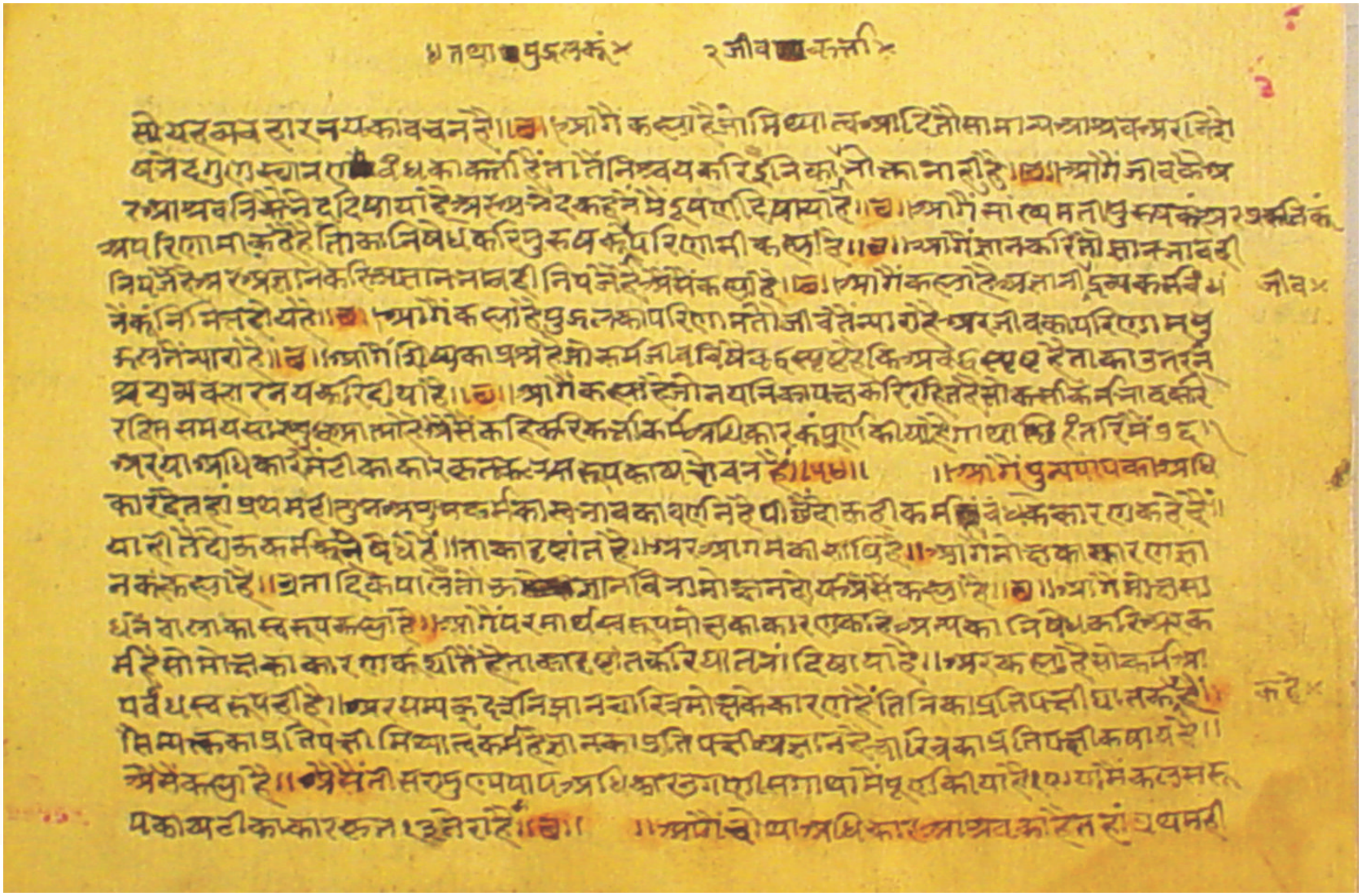

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ७ (१) का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर कर्ता-कर्म अधिकार की गाथा १०९ से पुण्य-पाप अधिकार की अन्तिम गाथा १६३ तक की विषय-वस्तु का वर्णन है। इसमें नीचे से सातवीं पंक्ति में लिखा है – **'व्रतादिक पालै, तौऊ ज्ञान विना मोक्ष न होय है।'**

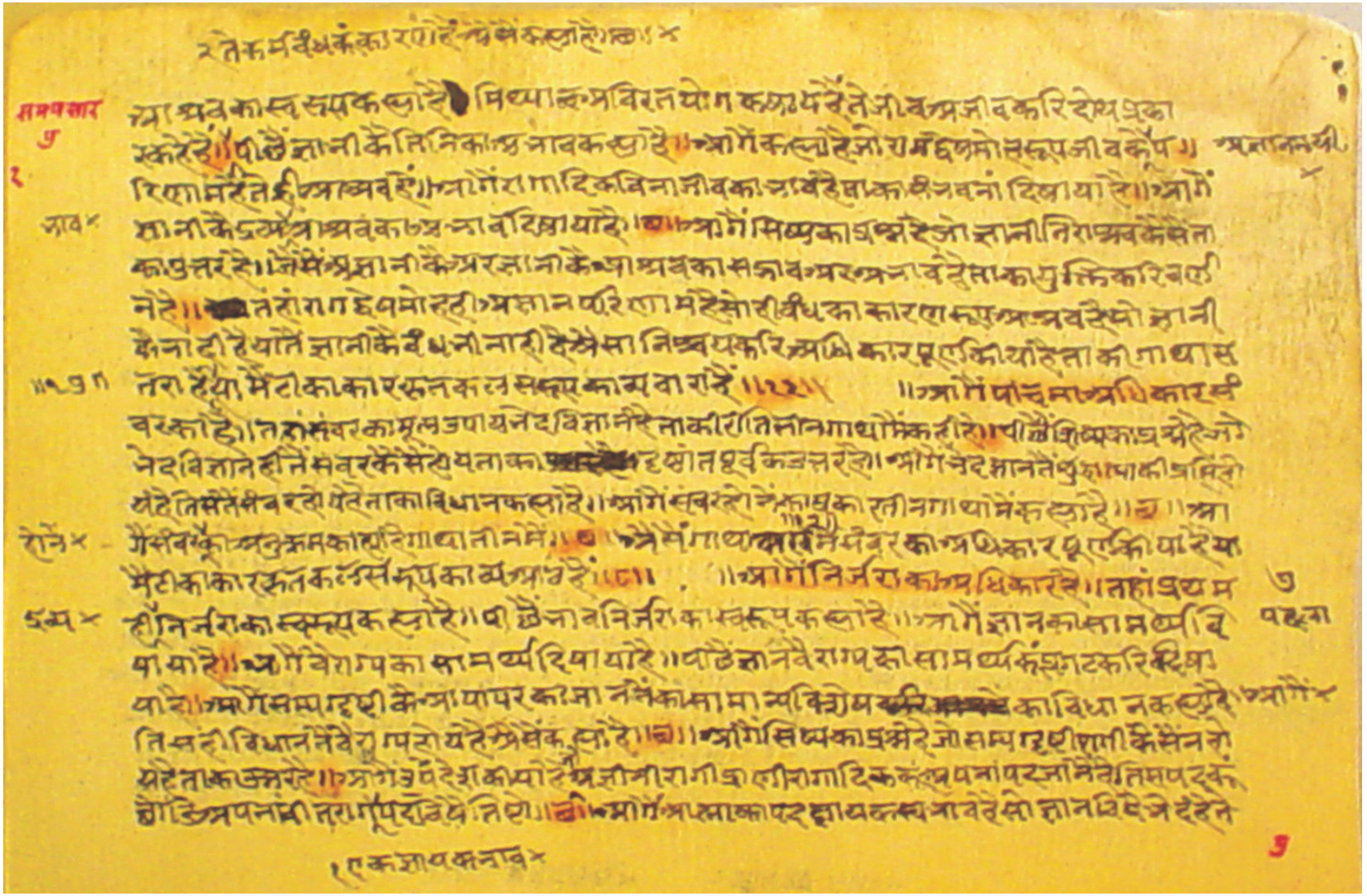

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ७ (१) का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर आस्रव अधिकार की गाथा १६४ से आगे की गाथाओं, संवर अधिकार की गाथाओं एवं निर्जरा अधिकार की गाथा २०४ तक की विषय-वस्तु का संक्षिप्त वर्णन है। इसमें ऊपर से नौवीं पंक्ति में लिखा है – **'संवर का मूल उपाय भेदविज्ञान है।'**



पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ७ (२) का अगला भाग है। पत्र क्रमाङ्क ७ के तीन पत्र होने से कोष्ठक में (१) (२) (३) लिखा गया है। इसके बाद पत्र क्रमाङ्क ८ है। इस पृष्ठ पर निर्जरा अधिकार की गाथा २०५ से बन्ध अधिकार की गाथा २७२ की विषय-वस्तु का वर्णन है।



पण्डितप्रवर जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा लिखित देशभाषामय

समयसार वचनिका की पीठिका

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

अथ, समयसार ग्रंथ की वचनिका लिखिए है॥

॥ दोहा ॥

श्री परमातम कूं प्रणमि, सारद सुगुरु मनाय।
समयसार सासन[१] करूं, देशवचनमय भाय॥ १॥
शव्दब्रह्म परब्रह्म कै, वाचक वाच्य नियोग।
मंगलरूप प्रसिद्ध दो, नमें धर्म्म धनभोग॥ २॥

पीठिका का हिन्दी अनुवाद

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

अब, समयसार ग्रन्थ की वचनिका लिखते हैं –

॥ दोहा ॥

श्री परमातम को प्रणमि, शारद सुगुरु मनाय।
समयसार शासन करूँ, देश-वचनमय भाय॥ १॥
शब्दब्रह्म-परब्रह्म के, वाचक-वाच्य नियोग[२]।
मङ्गलरूप प्रसिद्ध दो, नमूँ धर्म-धनभोग॥ २॥

---

१. *शासन* - 'ब' प्रति पाठ।
२. *नियोग* - सम्बन्ध।

॥ चौपई ॥

नय नय लहइ सार शुभवार, पय पय दहइ मार दुखकार।
लय लय गहइ पार भव धार, जय जय समयसार अविकार॥ ३॥

॥ छप्पय ॥

शव्द अर्थ अरु ज्ञान, समयत्रय आगम गाये।
मत सिद्धांत अरु काल, भेदत्रय नाम बताये॥
इन हि आदि शुभ अर्थ, समय वच के सुनिये वहु।
अर्थसमय मैं जीव, नाम है सार सुनूं सहु॥
तामैं जु सार विन कर्ममल, शुद्धजीव शुधनय कहै।
इस ग्रंथ मांहि कथनी सवै, समयसार बुधजन गहै॥ ४॥

॥ दोहा ॥

नामादिक छह ग्रंथ मुख, तामैं मंगल सार।
विघनटरन नास्तिकहरन, शिष्टाचार उचार॥ ५॥

॥ चौपई ॥

नय नय लहइ सार शुभ वार, पय पय दहइ मार दुःखकार।
लय लय गहइ पार भव-धार, जय जय समयसार अविकार॥ ३॥

॥ छप्पय ॥

शब्द अर्थ अरु ज्ञान, समयत्रय आगम गाये।
मत, सिद्धान्त अरु काल, भेदत्रय नाम बताये॥
इन्हीं आदि शुभ अर्थ, समय-वच के सुनिये बहु।
अर्थसमय में जीव नाम, है सार सुनो सहु॥
तामैं जु सार बिन कर्ममल, शुद्ध जीव शुद्धनय कहे।
इस ग्रन्थ माहिं कथनी सभी, समयसार बुधजन गहै॥ ४॥

॥ दोहा ॥

नामादिक छह ग्रन्थ मुख, तामैं मङ्गल सार।
विघन-टरन नास्तिक-हरन, शिष्टाचार उचार॥ ५॥

ऐसैं मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करि श्रीकुंदकुंद नाम आचार्यकृत प्राकृत गाथावंध समयप्राभृत नाम ग्रंथ है, ताकी संस्कृत टीका श्री अमृतचंद्र आचार्यकृत आत्मख्याति नाम है॥ ताकी देशभाषामय वचनिका लिखिये है॥

तहां इस ग्रंथ का होनें का संवंध ऐसा है, जो श्रीवर्द्धमानस्वामी अंतम तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ वीतराग परम भट्टारक कूं निर्वाण पधारें पीछैं पांच श्रुतकेवली भये, तिनिमैं अंत के श्रुतकेवली श्रीभद्रवाहुस्वामी भये, तहां तांई तौ द्वादशांग शास्त्र के प्ररूपण तैं व्यवहारनिश्चयात्मक मोक्षमार्ग यथार्थ प्रवर्तवो ही कीया।

[अर्थ – श्री अरहन्त-सिद्ध परमात्मा को प्रणाम करके, ॐकारमयी दिव्यध्वनिस्वरूप श्री जिनवाणी मातारूपी (सरस्वती) एवं नग्न दिगम्बर भावलिङ्गी गुरुओं के वचनों को हृदयङ्गम करके, [आचार्य श्री कुन्दकुन्दप्रणीत] श्री समयसार परमागम [एवं आचार्य श्री अमृतचन्द्र विरचित आत्मख्याति टीका] की मैं [जयचन्द छाबड़ा] देशभाषामय वचनिका लिखता हूँ॥ १॥

शब्दब्रह्मस्वरूप परमागम और परब्रह्मस्वरूप शुद्धात्मा में वाचक-वाच्य नियोग अर्थात् सम्बन्ध है। वे दोनों हमें मङ्गलरूप होवें अर्थात् धर्मरूपी धन व भोग की प्राप्ति हेतु मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ॥ २॥

जो शुद्धनय के माध्यम से अथवा दोनों नयों के माध्यम से शुभ समय में उसके सार को प्राप्त कराता है; जो संसार में दुःख को उत्पन्न करनेवाले कामदेव को अपने तेज से जलाता है और जिसमें लीन होने पर भवरूपी समुद्र का किनारा प्राप्त होता है – ऐसे अविकार, शुद्ध समयसार की जय हो! जय हो!!॥ ३॥

आगम में तीन प्रकार के समय बताये गए हैं – १. शब्दसमय, २. अर्थसमय और ३. ज्ञानसमय। इसी प्रकार समय शब्द के तीन पर्यायवाची अर्थ भी बताये गए हैं – मत, सिद्धान्त और काल। इनके साथ और भी 'समय' शब्द के अनेक शुभ अर्थ सुन कर, 'अर्थसमय' के अन्तर्गत 'जीव' नामक सारभूत अर्थ को हे भव्यजीवों! तुम सुनो!! 'जीव' नामक समय में भी कर्ममल से रहित शुद्धजीव को शुद्धनय बताता है और इस ग्रन्थ में उसी शुद्धनय की मुख्यता से ज्ञानी जीव, सम्पूर्ण कथन को ग्रहण करते हैं॥ ४॥

यह मङ्गलाचरण, नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव – इन छह मुख्य मङ्गलों में सारभूत है – इसे विघ्नों को दूर करने के लिए, नास्तिकता का परिहार करने के लिए, शिष्टाचार का पालन करने के लिए और पूज्य पुरुषों के नामों का उच्चारण करने के लिए, ग्रन्थ के प्रारम्भ में किया गया है]

इस प्रकार मङ्गलपूर्वक प्रतिज्ञा करके श्रीमद् कुन्दकुन्द आचार्यकृत प्राकृतभाषा की गाथाओं में निबद्ध 'समयप्राभृत' नामक ग्रन्थ की श्रीमद् अमृतचन्द्र आचार्यकृत 'आत्मख्याति' नामक संस्कृत टीका की देशभाषामय वचनिका लिखते हैं।

इस ग्रन्थ के प्रगट होने की भूमिका इस प्रकार है – अन्तिम तीर्थङ्करदेव सर्वज्ञ वीतराग परम भट्टारक श्रीवर्द्धमानस्वामी के निर्वाण पधारने के बाद [तीन अनुबद्ध केवली हुए और उनके बाद], पाँच श्रुतकेवली हुए, उनमें अन्तिम श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुस्वामी हुए। उस समय तक तो द्वादशाङ्ग

पीछैं कालदोष तैं अंगनि का ज्ञान की व्युच्छित्ति होती गई अर केतेक मुनि सिथिलाचारी भये, तिनिमैं स्वेतांवर भये, तिनि नैं सिथिलाचार पोषनें कूं न्यारे सूत्र वणाये, तिनिमैं सिथिलाचार पोषनें की अनेक कथा लिषी, अपनां संप्रदाय दृढ कीया सो तो अव तांई प्रसिद्ध है।

वहुरि जे जिनसूत्र की आज्ञा मैं रहे, तिनि कै आचार भी यथावत रह्या, प्ररूपणां भी यथावत् रही, ते दिगंवर कहाये, तिनि की संप्रदाय मैं श्रीवर्द्धमानस्वामी कूं निर्वाण पधारें पीछैं, छह सै तियासी वर्ष पीछैं, दूसरे भद्रवाहुस्वामी आचार्य भये, तिनि की परिपाटी मैं केतेक वर्ष पीछैं मुनि भये, तिननैं सिद्धांतनि की प्रवृत्ति करी सो लिषिये है।

एक तौ धरसेन नामा मुनि भये, तिनिकूं अग्रायणीयपूर्व का पांचमां वस्तु का महाकर्मप्रकृति नामा चोथा प्राभृत का ज्ञान था सो यह प्राभृत भूतवलि अर पुष्पदंत नाम दोऊ मुनिनि कूं पढाया। पीछैं तिनि दोऊ मुनिनि नैं आगामी कालदोष तैं वुद्धि की मन्दता जाणि तिस प्राभृत कै अनुसार षट्खंडसूत्र वांधि, पुस्तकां मैं लिखाय, तिनिकी प्रवृत्ति करी। पीछैं मुनि भये, तिननैं तिनि सूत्रनि कूं पढ़ि करि, तिनिकी टीका विस्ताररूप करि धवल महाधवल जयधवल आदि सिद्धांत रचे, तिनिकूं पढि करि नेमिचन्द्र आदि आचार्यनि तैं गोमटसार लव्धिसार क्षपणासार आदि शास्त्रनि की प्रवृत्ति भई।

शास्त्रों की प्ररूपणा से व्यवहार-निश्चयात्मक मोक्षमार्ग का प्रवर्तन यथार्थरूप से होता रहा।

उसके बाद कालदोष से अङ्गों के ज्ञान की व्युच्छित्ति होने से कितने ही मुनि शिथिलाचारी हुए; उन्हीं में श्वेताम्बर हुए, जिन्होंने शिथिलाचार का पोषण करने के लिए पृथक् सूत्र (शास्त्र) बनाए, उन सूत्रों में शिथिलाचार की पोषक कथाएँ लिखकर अपने सम्प्रदाय को दृढ़ किया, वह [श्वेताम्बर सम्प्रदाय] अब तक प्रसिद्ध है।

उस समय जो [मुनिगण] जिनसूत्र की आज्ञा में रहे, उनका आचरण भी यथावत् रहा और प्ररूपणा भी यथावत् रही, वे **दिगम्बर** कहलाए; उनके मतानुसार श्रीवर्द्धमानस्वामी के निर्वाण पधारने के छह सौ तिरासी (६८३) वर्ष बाद दूसरे भद्रबाहुस्वामी आचार्य हुए, उनकी परम्परा में कुछ वर्षों बाद जो मुनि हुए, उन्होंने सिद्धान्त-ग्रन्थों की रचनाएँ की, वह लिखते हैं —

एक तो **धरसेन** नाम के मुनि हुए, जिन्हें अग्रायणीयपूर्व के पाँचवें वस्तु के महाकर्मप्रकृति नामक चौथे प्राभृत का ज्ञान था, उन्होंने यह प्राभृत **भूतबलि** और **पुष्पदन्त** नाम के दो मुनियों को पढ़ाया; बाद में इन दोनों मुनियों ने आगामी कालदोष के कारण बुद्धि की मन्दता जान कर, उस प्राभृत के अनुसार **षट्खण्डागमसूत्र** रच कर पुस्तकरूप में लिखवा कर, उनकी प्रवृत्ति की। बाद में जो मुनि **[श्री वीरसेनस्वामी]** हुए, उन्होंने उन सूत्रों को पढ़ कर, उनकी विस्तृत टीका करके **धवल, महाधवल, जयधवल आदि** सिद्धान्त-ग्रन्थ बनाए, जिन्हें पढ़ कर **आचार्य नेमिचन्द्र** आदि के द्वारा **गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार** आदि शास्त्रों की रचना हुई।

यह तौ प्रथम सिद्धान्त की उत्पत्ति है, तिनिमैं तौ जीव अर कर्म कै संयोग तैं भया जो आत्मा कै संसारपर्याय, ताका विस्तार गुणस्थान मार्गणारूप संक्षेप करि वर्णन है, यह तौ पर्यायार्थिकनय प्रधान करि कथन है, इस ही नय कूं अशुद्धद्रव्यार्थिक कहिये तथा अध्यात्मभाषा करि अशुद्ध निश्चय कहिये तथा व्यवहार भी कहिये॥

वहुरि एक गुणधर नामा मुनि भये, तिनिकूं ज्ञानप्रवाद पूर्व का दशमां वस्तु, तिसका तीसरा प्राभृत का ज्ञान था, तिस प्राभृत कूं नागहस्ति नामा मुनि पढ्या, तिनि दोऊ मुनि तैं यतिनायक नामा मुनि तिस प्राभृत कूं पढि, तिसकी चूर्णिका रूप छह हजार सूत्र का शास्त्र रच्या, ताकी टीका समुद्धरण नामा मुनि बारह हजार प्रमाण रची। अैसैं आचार्यनि की परंपरा तैं कुंदकुंद मुनि तिनि सिद्धान्तनि के ज्ञाता भये।

अैसैं इस द्वितीय सिद्धान्त की उत्पत्ति है, यामैं ज्ञान कूं प्रधान करि शुद्धद्रव्यार्थिकनय करि कथन है। तहां अध्यात्मभाषा करि आत्मा ही का अधिकार है, याकूं शुद्धनिश्चय कहिये परमार्थ कहिये, यामैं पर्यायार्थिकनय कूं गौण करि व्यवहार कहि असत्यार्थ कह्या है सो जहां तांई पर्यायवुद्धि रहै, तहां तांई या जीव कै संसार है।

वहुरि जब शुद्धनय का उपदेश पाय द्रव्यवुद्धि होय, अपनें आत्मा कूं अनादि अनन्त एक सर्व परद्रव्यनि, परभाव के निमित्त तैं भये अपनें भाव तिनितैं भिन्न जानैं अपनां शुद्धस्वरूप का अनुभव

इस प्रकार यह तो **प्रथम सिद्धान्त-ग्रन्थों** की उत्पत्ति का कथन है; उनमें तो जीव और कर्म के संयोग से हुई आत्मा की संसारपर्याय और उसके विस्तार गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि का संक्षेप में वर्णन है। इसमें पर्यायार्थिकनय को प्रधान करके कथन है, इस नय को ही अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी कहते हैं तथा अध्यात्मभाषा में अशुद्धनिश्चयनय और व्यवहारनय भी कहते हैं।

दूसरे, **गुणधर** नाम के मुनि हुए, उनको ज्ञानप्रवादपूर्व के दसवें वस्तु के तीसरे प्राभृत का ज्ञान था, उस प्राभृत को **नागहस्ति** नाम के मुनि ने पढ़ा और इन दोनों मुनियों से **यतिनायक (यतिवृषभ)** नाम के मुनि ने उस प्राभृत को पढ़ कर, उसकी चूर्णिकारूप छह हजार सूत्र के शास्त्र की रचना की, उसकी टीका बारह हजार श्लोक प्रमाण **समुद्धरण** नाम के मुनि ने रची। इन्हीं आचार्यों की परम्परा में **कुन्दकुन्द मुनि,** उन सिद्धान्तों के ज्ञाता हुए।

इस प्रकार यह **द्वितीय सिद्धान्त-ग्रन्थों** की उत्पत्ति का कथन है, इनमें ज्ञान को प्रधान करके शुद्धद्रव्यार्थिकनय से कथन है। वहाँ अध्यात्मभाषा से आत्मा का ही अधिकार (कथन) है, इसे शुद्धनिश्चयनय अथवा परमार्थ भी कहते हैं, इसमें पर्यायार्थिकनय को गौण करके व्यवहार कह कर असत्यार्थ कहा है; अत: जब तक पर्यायबुद्धि रहती है, तब तक इस जीव का संसार है।

जब यह जीव शुद्धनय का उपदेश पाकर, द्रव्यबुद्धि (द्रव्यदृष्टिवन्त) होकर, अपने आत्मा को अनादि-अनन्त, एक, सर्व परद्रव्यों और उनके निमित्त से हुए अपने भावों से भिन्न जान कर, अपने

करि शुद्धोपयोग मैं लीन होय, तव कर्म का अभाव करि निर्वाण कूं प्राप्त होय है।

या प्रकार इस द्वितीय सिद्धान्त की परम्परा तैं शुद्धनय का उपदेश के शास्त्र पंचास्तिकाय प्रवचनसार समयसार परमात्मप्रकाश आदि प्रवर्त्ते हैं, तिनिमैं समयप्राभृत नाम शास्त्र है सो प्राकृतभाषामय गाथावंध है, ताकी आत्मख्याति नामा संस्कृत टीका अमृतचंद्र नाम आचार्य करी है।

सो कालदोष तैं जीवनि की वुद्धि मंद होती आवै है, ताके निमित्त तैं, प्राकृत संस्कृत के अभ्यास करनेंवाले विरले रहि गये अर गुरुनि की परंपरा का उपदेश भी विरला होय गया। तातैं मेरी वुद्धिसारुं ग्रंथनि का अभ्यास करि, इस ग्रंथ की देशभाषामय वचनिका करनें का प्रारंभ कीया है सो भव्यजीव वाचैंगे पढैंगे सुणैंगे, तिसका तात्पर्य धारैंगे, तिनिका मिथ्यात्व का अभाव होयगा, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होयगी, अैसा अभिप्राय है, किछू पंडिताई का तथा मान लोभ आदि का अभिप्राय है नाही।

यामैं कहीं वुद्धि की मंदता तैं तथा प्रमाद तैं हीनाधिक अर्थ लिषूं तौ वुद्धि के धारकजन, मूलग्रंथ देषि शुद्ध करि वांचियो, हास्य मति करियो। सत्पुरुषनि का स्वभाव, गुण ग्रहण करनें ही का होय है, यह मेरी परोक्ष प्रार्थनां है।

इहां कोई कहै, इस समयसार ग्रंथ की तुम वचनिका करौ हौ सो यह अध्यात्म ग्रंथ है, यामैं शुद्धनय का कथन है, अशुद्धनय व्यवहारनय है सो ताकूं गौंण करि असत्यार्थ कह्या है, तहां

शुद्धस्वरूप का अनुभव कर, शुद्धोपयोग में लीन होता है; तब कर्म का अभाव कर निर्वाण को प्राप्त होता है।

इस प्रकार इस **द्वितीय सिद्धान्त-ग्रन्थों** की परम्परा में शुद्धनय के उपदेश के शास्त्र – **पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, परमात्मप्रकाश** आदि विद्यमान हैं; उनमें **समयप्राभृत** नामक शास्त्र प्राकृतभाषा में [आचार्य कुन्दकुन्दरचित] गाथाबद्ध है, इसकी आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका लिखी है।

कालदोष के कारण जीवों की बुद्धि मन्द होती जा रही है, इसलिए प्राकृत-संस्कृत का अभ्यास करनेवाले विरले रह गए हैं और गुरुओं की परम्परा से उपदेश प्राप्त होना भी विरला हो गया है; इसलिए, अपनी बुद्धि के अनुसार ग्रन्थों का अभ्यास करके, इस ग्रन्थ की देशभाषामय वचनिका लिखना प्रारम्भ किया है; उसका जो भव्यजीव वाचन करेंगे, पढ़ेंगे, सुनेंगे, उसका तात्पर्य धारण करेंगे; उनके मिथ्यात्व का अभाव होगा और सम्यक्त्व की प्राप्ति होगी – ऐसा अभिप्राय है, कुछ भी पण्डिताई (पाण्डित्य) दिखाने का अथवा मान-लोभ आदि का अभिप्राय नहीं है।

इस वचनिका में कहीं बुद्धि की मन्दता अथवा प्रमादवश कुछ हीन अथवा अधिक अर्थ लिखा जाए तो बुद्धि के धारकजन मूलग्रन्थ को देख कर, शुद्ध करके वाँचना, हँसी मत करना। सत्पुरुषों का स्वभाव, गुण-ग्रहण करने ही का होता है – यह मेरी परोक्ष प्रार्थना है।

यहाँ कोई कहता है कि इस समयसार ग्रन्थ की आप वचनिका लिख रहे हो लेकिन यह

व्यवहारचारित्र कूं अर ताके फल पुण्यवंध कूं अत्यन्त निषेध कीया है, मुनिव्रत भी पालै, ताकै मोक्षमार्ग नाही, अैसैं कह्या है सो अैसे ग्रंथ तौ प्राकृत संस्कृत ही चाहिये, इनिकी वचनिका भयें सर्व ही प्राणी वांचै, तामैं जो व्यवहारचारित्र कूं नि:प्रयोजन जाणैं अर अरुचि आवै तो अंगीकार न करैं, पहलैं किछू अंगीकार कीया होय तो भ्रष्ट होय जाय, स्वछंद होय, प्रमादी होय, श्रद्धान का विपर्यय होय तो बड़ा दोष उपजै।

यह ग्रंथ तौ जे पहलैं मुनि भये होय, दृढ चारित्र पालते होय, अर शुद्धात्मस्वरूप के सन्मुख न होय अर व्यवहारमात्र ही तैं सिद्धि होनें का आशय आय गया होय, तिनिकूं शुद्धात्मा कै सन्मुख करनें कूं है, तिनि ही का सुननै का है, तातैं देशभाषामय वचनिका करनां युक्त नाही॥

ताकूं कहिये है जो यह तौ सत्य है, यामैं कथन शुद्धनय ही का है परंतु जहां जहां अशुद्धनयरूप व्यवहारनय का गौणता का कथन है, तहां आचार्य अैसें भी कहते गए हैं जो पहिली अवस्था मैं यह व्यवहारनय हस्तावलंवरूप है, उपरि चढने कूं पैडीरूप है, तातैं कथंचित् कार्यकारी है, इसकूं गौण करनें तैं अैसा मति जानियो जो आचार्य, व्यवहार कूं सर्वथा ही छुड़ावैं हैं।

आचार्य तौ उपरि चढने कूं नीचली पैडी छुडावै है अर जब अपनां स्वरूप की प्राप्ति होयगी

अध्यात्मग्रन्थ है, इसमें शुद्धनय का कथन है, अशुद्धनय या व्यवहारनय को यहाँ गौण करके असत्यार्थ कहा है, व्यवहारचारित्र और उसके फल पुण्यबन्ध का अत्यन्त निषेध किया है, मुनिव्रत पालन करनेवालों को भी मोक्षमार्ग नहीं होता – ऐसा कहा है; अत: ऐसे ग्रन्थ तो प्राकृत-संस्कृत भाषा में ही होने चाहिए, इनकी वचनिका हो जाने पर तो सर्व ही प्राणी इन्हें पढ़ेंगे और व्यवहारचारित्र को निष्प्रयोजन जान कर, अरुचि उत्पन्न कर अङ्गीकार नहीं करेंगे; पहले यदि कुछ [बाह्य व्रतादि] अङ्गीकार किए होंगे तो उससे भ्रष्ट होंगे, स्वच्छन्दी होंगे, प्रमादी होंगे, श्रद्धान का विपर्यय होगा तो यह बड़ा दोष होगा।

यह ग्रन्थ तो जो पहले मुनि हुए हों और दृढ़ चारित्र का पालन करते हों लेकिन शुद्धात्मस्वरूप के सन्मुख न हों और जिन्हें व्यवहारमात्र ही से सिद्धि हो जाने का आशय (अभिप्राय) उत्पन्न हो गया हो, उन्हें शुद्धात्मा के सन्मुख करने के लिए उन्हीं को सुनने योग्य है; अत: इस ग्रन्थ की देशभाषामय वचनिका बनाना उचित नहीं है।

समाधान करते हुए कहते हैं कि यह तो सत्य है, इस ग्रन्थ में शुद्धनय ही का कथन है परन्तु जहाँ-जहाँ अशुद्धनयरूप व्यवहारनय को गौण करने का कथन है, वहाँ-वहाँ आचार्य ऐसा भी कहते गए हैं कि प्रारम्भिक अवस्था में यह व्यवहारनय हस्तावलम्बरूप है, ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ी के समान है; अत: कथञ्चित् कार्यकारी है। इसको गौण करने से ऐसा नहीं जानना (समझना) चाहिए कि आचार्य ने व्यवहार को सर्वथा ही छुड़ाया है।

आचार्य तो ऊपर चढ़ने के लिए निचली सीढ़ी छुड़ाते हैं और जब अपने स्वरूप की प्राप्ति

तव तौ शुद्ध अशुद्ध दोऊ ही नय का आलंवन छूटैगा, नय का आलंवन तो साधक अवस्था मैं है।

अैसैं ग्रंथ मैं जहां तहां कथन है, ताकूं यथार्थ समझें, श्रद्धान का विपर्यय नाही होयगा। जे यथार्थ समझैंगे, तिनिकैं व्यवहारचारित्र तैं अरुचि नाहीं आवैगी अर जिनिका होणहार ही खोटा होयगा, ते तौ शुद्धनय सुणूं तथा अशुद्धनय सुणूं विपर्यय ही समझैंगे, तिनिकूं तौ सर्व ही उपदेश निःफल है॥

वहुरि इहां तीन प्रयोजन मन मैं धारि प्रारंभ कीया है॥

प्रथम तौ अन्यमती वेदांती तथा सांख्यमती आत्मा कूं सर्वथा एकांत पक्ष तैं शुद्ध नित्य अभेद एक, अैसे विशेषण करि कहैं हैं अर कहैं हैं जो जैनी कर्मवादी हैं, इनिकै आत्मा की कथनीं नाही। आत्मज्ञान विनां वृथा कर्म का क्लेश करैं हैं, आत्मा कूं जानें विनां मोक्ष नांही, जे कर्म ही मैं लीन हैं, तिनिकै संसार का दुख कैसैं मिटै।

वहुरि ईश्वरवादी नैयायिक कहै है जो ईश्वर सदा शुद्ध है, नित्य है, एक है, सर्व कार्यनि प्रति निमित्तकारन है, ताकूं जानें विनां अर ताकूं भक्तिभाव करि ध्यायें विनां संसारी जीव कै मोक्ष नाही। ईश्वर का शुद्धध्यान करि तासूं लय लगावै तव मोक्ष होय, जैनी ईश्वर कूं तौ मानैं नाही अर जीव ही कूं मानैं सो जीव तौ अज्ञान है, असमर्थ है, आप ही अहंकार करि ग्रस्त है सो अहंकार छोडि ईश्वर

हो जाएगी, तब तो शुद्ध और अशुद्ध – दोनों ही नयों का अवलम्बन छूट जाएगा, नयों का अवलम्बन तो साधक अवस्था में ही होता है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में [व्यवहारनय को गौण करने के सम्बन्ध में] यहाँ-वहाँ अनेक कथन हैं, उन्हें यथार्थ समझने से श्रद्धान का विपर्यय नहीं होगा। जो यथार्थ समझेंगे, उन्हें तो व्यवहारचारित्र से अरुचि नहीं होगी लेकिन जिनकी होनहार ही खोटी होगी, वे तो शुद्धनय या अशुद्धनय, किसी को भी सुनें, विपरीत ही समझेंगे; अतः उनके लिए तो सारा ही उपदेश निष्फल है।

इस प्रकार यहाँ तीन प्रयोजन मन में धारण करके [वचनिका लिखना] प्रारम्भ किया है —

पहला प्रयोजन तो यह है कि अन्य मतावलम्बी वेदान्ती और सांख्यमती, आत्मा को सर्वथा एकान्त पक्ष से नित्य, शुद्ध, अभेद, एक आदि विशेषण कहते हैं और कहते हैं कि जैनी कर्मवादी हैं, इनके [मत में] आत्मा का कथन नहीं है; इसलिए आत्मज्ञान के बिना व्यर्थ ही कर्म का क्लेश करते हैं, लेकिन आत्मा को जाने बिना मोक्ष नहीं होता; अतः जो केवल कर्म में ही लीन हैं, उनके संसार का दुःख कैसे मिटे?

तथा, ईश्वरवादी नैयायिक कहते हैं कि ईश्वर सदा शुद्ध है, नित्य है, एक है, सर्व कार्यों का निमित्तकारण है; उसे जाने बिना और उसका भक्तिभावपूर्वक ध्यान किए बिना संसारी जीवों को मोक्ष नहीं होता है; ईश्वर का शुद्धध्यान करके उससे लगन लगाए तो मोक्ष होता है। जैनी, ईश्वर को तो मानते नहीं और जीव को ही मानते हैं; वह जीव तो अज्ञानी है, असमर्थ है, स्वयं ही अहंकार से ग्रस्त है, उस अहंकार को छोड़ कर ईश्वर का ध्यान करना जैनियों में है नहीं; अतः इन्हें (जैनों को) मोक्ष

का ध्यावनां जैनीनि कै नाही, तातैं इनिकै मोक्ष नाही इत्यादिक कहै हैं। सो लौकिकजन तिनिके मत के हैं, तिनि मैं यह प्रसिद्ध करि राषी है।

सो ते जिनमत की स्याद्वाद कथनी मैं तौ समझे नाही अर प्रसिद्ध व्यवहार देषि निषेध करै हैं, तिनि का प्रतिषेध शुद्धनय की कथनी प्रगट भये विना होय नाही। जो यह कथनी प्रगट न होय तौ भोले जीव अन्यमतीनि की सुनैं, तव भ्रम उपजि आवै, तव श्रद्धान तैं चिगि जाय, तातैं यह कथन प्रगट होय तौ श्रद्धा तैं चिगै नाहीं। एक प्रयोजन तौ यह है॥

वहुरि दूजा यह है जो इस ग्रंथ की वचनिका पहलैं भी भई है, ताकै अनुसारि वाणारसीदास नैं कलसा के कवित्त वांधै हैं, ते स्वमत परमत मैं प्रसिद्ध भये हैं परंतु तिनिमैं अर्थसामान्य ही लोक समझै हैं, तामैं विशेष समझ्यां विनां कोई कै पक्षपात भी उपजि आवै है तथा तिनि कवित्तनि कूं अन्यमती पढि अपनां मत का अर्थ मैं भेलैं हैं सो विशेष अर्थ समझ्यां विनां यथार्थ होय नाही, भ्रम मिटै नाही, तातैं इस वचनिका मैं जहां तहां नयविभाग का अर्थ स्पष्ट षोलियेगा, तातैं भ्रम न रहैगा।

वहुरि तीसरा प्रयोजन यह है जो कालदोष तैं वुद्धि की मंदता तैं प्राकृत संस्कृत के पढनेंवाले तौ विरले होय हैं, तिनि मैं भी स्वमत परमत का विभाग समझि यथार्थ तत्त्वार्थ कूं समझनेंवाले विरले

नहीं होता, इत्यादि कथन, वे (नैयायिक) करते हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने मतवाले लौकिकजनों में प्रसिद्ध कर रखा है।

वे [अन्य मतावलम्बी] जिनमत की स्याद्वाद कथनपद्धति को तो समझे नहीं और प्रसिद्ध (स्थूल) व्यवहार को देखकर [जैनमत का] निषेध करते हैं लेकिन उनका प्रतिषेध, शुद्धनय की कथनी प्रगट हुए बिना हो नहीं सकता। यदि यह शुद्धनय की कथनी प्रकट नहीं हो तो भोले जीव अन्यमतावलम्बियों को सुन कर भ्रमित हो जाते हैं, श्रद्धान से च्युत हो जाते हैं; अतः यदि यह [शुद्धनय का] कथन प्रगट हो तो वे श्रद्धान से भ्रष्ट नहीं हों। इस प्रकार [वचनिका लिखने का] एक प्रयोजन (उद्देश्य) तो यह है।

दूसरा प्रयोजन यह है कि इस ग्रन्थ की वचनिका (पाण्डे राजमलजी द्वारा रचित कलश-टीका) पहले भी हो चुकी है, जिसके अनुसार पण्डित बनारसीदासजी ने [आत्मख्याति टीका के] कलशों के कवित्त (हिन्दी छन्द) रचे हैं, जो स्वमत और परमत [जैनमत और अन्यमत] में प्रसिद्ध हुए हैं परन्तु उनसे ग्रन्थ का सामान्य अर्थ ही लोग समझते हैं; उन्हें विशेषरूप से समझे बिना किसी को पक्षपात भी उत्पन्न हो जाता है और उन छन्दों को अन्यमती पढ़ कर, अपने मत के अर्थ से घालमेल करते हैं [अपने मतार्थ का ही पोषण करते हैं]; अतः विशेष अर्थ समझे बिना, यथार्थ [का ज्ञान] होता नहीं है और भ्रम मिटता नहीं है; इसलिए इस वचनिका में बीच-बीच में नय-विभाग से स्पष्ट अर्थ खोलेंगे, जिससे भ्रम नहीं रहेगा।

तीसरा प्रयोजन यह है कि काल-दोष के कारण, बुद्धि की मन्दता से प्राकृत-संस्कृत के पढ़नेवाले तो कुछ ही हैं, उनमें भी स्वमत-परमत का अन्तर समझ कर, यथार्थ तत्त्वार्थ को समझनेवाले

होय हैं। वहुरि गुरु आम्नाय जैन ग्रंथनि की कमि रहि गई, स्याद्वाद के मर्म की वात कहनेंवाले गुरुनि की व्युच्छित्ति ही दीषै है, तातैं शुद्धनय का मर्म स्याद्वाद विद्या कूं समझि करि समझैं तव यथार्थ होय सो इस ग्रंथ की वचनिका विशेष अर्थरूप होय तौ सर्व ही वाचैं पढैं तो पहिली वचनिका के सामान्य अर्थ मैं किछू भ्रम उपजै तौ मिटि जाय, इस शास्त्र का यथार्थ ज्ञान होय तौ अर्थ मैं विपर्यय न होयगा।

अैसैं तीन प्रयोजन मन मैं धारि वचनिका का प्रारंभ कीया है॥

वहुरि एक प्रयोजन यह भी है जो जैनमत मैं मोक्षमार्ग का वर्णन मैं मुख्य पहलैं सम्यग्दर्शन प्रधान कह्या है सो व्यवहारनय करि तो सम्यग्दर्शन भेदरूप अन्यग्रंथनि मैं अनेक प्रकार कह्या है सो प्रसिद्ध है। वहुरि इस ग्रंथ मैं शुद्धनय का विषय जो शुद्ध आत्मा, ताही का श्रद्धान कूं सम्यग्दर्शन, एक ही प्रकार नियम करि कह्या है सो लोक मैं यह कथनी प्रसिद्ध वाहुल्यता करि नाही है, तातैं व्यवहार ही कूं लोक जानै हैं।

जैसैं पहलैं अशुभ का व्यवहार लोक कै है, ताकूं निषेध करि व्यवहारनय शुभ मैं प्रवर्त्तावै है सो लोक अशुभ की पक्ष छोडि शुभ मैं प्रवर्त्तै अर कदाचित् शुभ ही का पक्ष पकडि, याही का एकांत करै तो पहलैं अशुभ की पक्ष का एकांत था, अव शुभ का एकांत भया, याही कूं मोक्षमार्ग मान्यां,

---

और भी कम हैं तथा जैन ग्रन्थों का अर्थ करनेवाले गुरुओं की आम्नाय (परम्परा) कम ही रह गई है, स्याद्वाद के मर्म की बात बतानेवाले गुरुओं का अभाव ही दिखाई देता है क्योंकि स्याद्वाद विद्या को समझ कर, शुद्धनय का मर्म समझें, तब यथार्थ समझ होती है; इसलिए यदि इस ग्रन्थ की वचनिका विशेष अर्थसहित होगी तो सभी इसे पढ़ेंगे, वाचन करेंगे, जिससे पूर्व में हुई वचनिका के सामान्य अर्थ में यदि कुछ भ्रम भी उत्पन्न हो गया होगा तो वह भी दूर हो जाएगा; अतः इस शास्त्र का [यथार्थ] ज्ञान होने पर अर्थ में विपरीतता नहीं रहेगी।

इस प्रकार **तीन प्रयोजन** मन में धारण करके वचनिका का प्रारम्भ किया है।

साथ ही **एक प्रयोजन यह भी** है कि जिनमत में मोक्षमार्ग के वर्णन में मुख्यतः पहले सम्यग्दर्शन को प्रधान कहा है; वहाँ व्यवहारनय की अपेक्षा से भेदरूप सम्यग्दर्शन का कथन तो अन्य ग्रन्थों में अनेक प्रकार से कहा गया है, वह प्रसिद्ध ही है लेकिन इस ग्रन्थ में शुद्धनय के विषयभूत शुद्ध आत्मा के श्रद्धान को नियम से एक ही प्रकार का सम्यग्दर्शन कहा है परन्तु यह कथनी लोक में बहुलता से प्रसिद्ध नहीं है; अतः लोग व्यवहार को ही जानते हैं।

जैसे, लोक में अशुभ का व्यवहार पहले से है, उसका निषेध करके व्यवहारनय, शुभ में प्रवर्तन कराता है, जिससे लोग अशुभ का पक्ष छोड़ कर, शुभ में प्रवर्तन करते हैं लेकिन यदि कदाचित् कोई शुभ का ही पक्ष पकड़ कर, उसका ही एकान्त करने लगे तो जैसे पहले अशुभ के पक्ष का एकान्त था, अब शुभ का एकान्त हुआ, इसे ही मोक्षमार्ग माना, जिससे मिथ्यात्व ही दृढ़ हुआ; इसलिए शुभ का पक्ष छुड़ाने के लिए शुद्धनय के अवलम्बन का उपदेश दिया है और इसी

तव मिथ्यात्व ही दृढ भया, तातैं शुभ की पक्ष छुडावनें कूं शुद्धनय का आलंवन का उपदेश है, याही कूं निश्चयनय कहि सत्यार्थ कह्या है। अशुद्धनय कूं व्यवहार कहि असत्यार्थ कह्या है, जातैं व्यवहार शुभाशुभरूप है, वंध का कारण है सो यामैं तौ प्राणी अनादि सूं ही प्रवर्त्तै है अर यह शुद्धनयरूप कदे भया नाही, तातैं याका उपदेश सुणि यामैं लीन होय, व्यवहार का आलंवन छोडै, तव वंध का अभाव करै।

वहुरि स्वरूप की प्राप्ति भयें पीछैं, शुद्ध अशुद्ध दोऊ ही नय का आलंवन नाही रहै है, नय का आलंवन तौ साधक अवस्था मैं प्रयोजनवान है सो या ग्रंथ मैं अैसा वर्नन है, तातैं याकूं षोलि करि स्पष्ट अर्थ वचनिकारूप लिषिये तो सर्वथा एकांत की पक्ष मिटै, स्याद्वाद का मर्म यथार्थ समझै, यथार्थ श्रद्धान होय, मिथ्यात्व कटै। यह भी वचनिका करनें का प्रयोजन है।

वहुरि ऐसा जाननां जो स्वरूप की प्राप्ति दोय प्रकार है।

प्रथम तौ यथार्थ ज्ञान होय करि श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन होनां सो यह तौ अविरतसम्यग्दृष्टी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती कै भी होय है, तहां वाह्य व्यवहार तौ अविरतरूप ही रहै, तहां व्यवहार का आलंवन है ही अर अंतरंग सर्व नय का पक्षपातरहित अनेकांत तत्त्वार्थ की श्रद्धा होय है। वहुरि जव संयम धारि प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि होय अर जहां ताईं साक्षात् शुद्धोपयोग की प्राप्ति न होय, श्रेणी न चढै, तहां शुभरूप व्यवहार का भी वाह्य आलंवन रहै।

शुद्धनय को निश्चयनय कह कर सत्यार्थ कहा है तथा अशुद्धनय को व्यवहार कह कर असत्यार्थ कहा है क्योंकि व्यवहार शुभाशुभरूप है, बन्ध का कारण है, इसमें तो प्राणी अनादिकाल से ही प्रवर्त रहा है और शुद्धनयरूप कभी हुआ नहीं है; अत: इसका उपदेश सुन कर, उसमें लीन होकर, व्यवहार का अवलम्बन छोड़े, तब बन्ध का अभाव करे।

स्वरूप की प्राप्ति हो जाने पर तो शुद्ध और अशुद्ध, दोनों ही नयों का अवलम्बन नहीं रहता है, क्योंकि नयों का अवलम्बन तो साधक अवस्था में ही प्रयोजनवान है – ऐसा वर्णन इस ग्रन्थ में है; अत: इसका स्पष्ट अर्थ, विस्तार से वचनिका के रूप में लिखने पर, सर्वथा एकान्त का पक्ष मिटेगा, स्याद्वाद का मर्म यथार्थरूप से समझ में आएगा, यथार्थ श्रद्धान होगा और मिथ्यात्व नष्ट हो जाएगा – यह भी वचनिका लिखने का प्रयोजन है।

यहाँ ऐसा जानना कि **स्वरूप की प्राप्ति** दो प्रकार से होती है —

प्रथम [स्वरूप की प्राप्ति] तो यथार्थ ज्ञान होकर, श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन का होना, यह तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि को भी होता है; वहाँ बाह्य व्यवहार तो अविरतरूप ही रहता है, अत: वहाँ व्यवहार का अवलम्बन तो है ही और अन्तरङ्ग में सर्व नयों के पक्षपात से रहित अनेकान्तरूप तत्त्वार्थ की श्रद्धा होती है तथा संयम धारण करके, प्रमत्त-अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनि होने पर भी जब तक साक्षात् शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं होती, श्रेणी नहीं चढ़ता; तब तक शुभरूप व्यवहार का भी बाह्य अवलम्बन रहता है।

वहुरि दूजा साक्षात् शुद्धोपयोगरूप वीतरागचारित्र का होनां सो अनुभव में शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति होय, तामैं व्यवहार का भी आलंवन नाही अर शुद्धनय का भी आलंवन नाही जातैं आप साक्षात् शुद्धोपयोगरूप भया, तव नय का आलंवन काहै का। नय का आलंवन तौ जेतैं राग अंश था, तेतैं ही था।

अैसैं अपने स्वरूप की प्राप्ति भयें पीछैं पहलैं तौ श्रद्धा मैं नयपक्ष मिटैं है, पीछैं साक्षात् वीतराग होय, तव चारित्रसंवंधी पक्षपात मिटै है। अैसा नाही जो साक्षात् वीतराग तौ भया नाही अर शुभव्यवहार कूं छोडि स्वछंद प्रमादी होय प्रवर्त्तै। अैसैं होय तौ नयविभाग मैं समझ्या नाही, उलटा मिथ्यात्व ही दृढ भया। अैसैं मंदवुद्धीनि हू कैं यथार्थ ज्ञान होनें का प्रयोजन जानि, इस ग्रंथ की वचनिका का प्रारंभ कीया है, अैसैं जाननां॥

आगैं, इस ग्रंथ की पीठिका लिखिये हैं॥

तहां इस ग्रंथ मैं अधिकार नव हैं, तिनिके नाम, जीवाजीव॥ १॥, कर्त्ताकर्म॥ १॥, पुण्यपाप॥ १॥, आश्रव॥ १॥, संवर॥ १॥, निर्जरा॥ १॥, वंध॥ १॥, मोक्ष॥ १॥, सर्वविशुद्ध॥ १॥ अैसैं॥

तहां, प्रथम जीवाजीव अधिकार की गाथा अठसठि हैं। ६८। तहां पहलैं तौ टीकाकार रंगभूमि का स्थल वांध्या है, ताकी गाथा अठतीस हैं॥

दूसरे [स्वरूप की प्राप्ति] अर्थात् साक्षात् शुद्धोपयोगरूप वीतरागचारित्र का होना, वह अनुभव (आत्मानुभूति अवस्था) में शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति होती है, उसमें व्यवहार का भी अवलम्बन नहीं और शुद्धनय का भी अवलम्बन नहीं क्योंकि स्वयं साक्षात् शुद्धोपयोगरूप हो जाता है तो फिर नयों का अवलम्बन किसलिए? नयों का अवलम्बन तो जब तक राग का अंश विद्यमान था, तब तक ही था।

इस प्रकार अपने स्वरूप की प्राप्ति होने के बाद पहले तो श्रद्धा में से नयपक्ष मिटता है, फिर साक्षात् वीतराग होने पर चारित्र-सम्बन्धी पक्षपात मिटता है। ऐसा नहीं है कि साक्षात् वीतराग तो होवे नहीं और शुभ-व्यवहार को छोड़ कर, स्वच्छन्द प्रमादी होकर प्रवर्तन करने लगे। यदि ऐसा हो तो उसने नय-विभाग को समझा ही नहीं है, बल्कि मिथ्यात्व ही दृढ़ हुआ है। इस प्रकार मन्दबुद्धियों को यथार्थ ज्ञान हो, ऐसा प्रयोजन जान कर, इस ग्रन्थ की वचनिका करना प्रारम्भ किया है – ऐसा जानना।

अब, इस **ग्रन्थ की पीठिका** लिखते हैं —

इस ग्रन्थ में नौ (९) अधिकार हैं; उनके नाम हैं – (१) जीव-अजीव अधिकार, (२) कर्ता-कर्म अधिकार, (३) पुण्य-पाप अधिकार, (४) आस्रव अधिकार, (५) संवर अधिकार, (६) निर्जरा अधिकार, (७) बन्ध अधिकार, (८) मोक्ष अधिकार और (९) सर्वविशुद्ध [ज्ञान] अधिकार।

[१. जीव-अजीव अधिकार]

वहाँ, प्रथम जीव-अजीव अधिकार में अड़सठ (६८) गाथाएँ हैं, इसमें पहले तो टीकाकार ने

तहां, प्रथम ही एक गाथा मैं मंगलाचरण करि, वहुरि दूजी गाथा मैं जीव नामा पदार्थ का स्वरूप कह्या है॥ यह जीव अजीवरूप षटद्रव्यात्मक लोक है, तिनिमैं धर्म अधर्म आकाश काल, ए च्यारि द्रव्य तौ स्वभावपरिणतिस्वरूप ही हैं अर जीव अर पुद्गलद्रव्य कै अनादि संयोग तैं विभावपरिणति भी है, तातैं पुद्गल, स्पर्श रस गंध वर्ण शव्दरूप मूर्त्तीक है, ताकूं जीव देषि करि राग द्वेष मोहरूप परिणमैं है अर इसके निमित्त तैं पुद्गल, कर्मरूप होय जीव तैं वंधै है अैसैं, इनिकैं अनादि ही तैं वंध अवस्था है सो जब निमित्त पाय रागादिकरूप न परिणमैं तव नवीन कर्म वंधै नाहीं, पुरातन कर्म झडि जाय तव मोक्ष होय।

अैसैं जीव कै स्वसमय परसमय की प्रवृत्ति होय है सो जव जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप अपनां स्वभावरूप परिणमैं तव स्वसमय होय अर मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणमै है, तेतै पुद्गलकर्म के विषै तिष्ठ्या परसमय है, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं, तीसरी गाथा मैं कहा है जो जीव कै पुद्गलकर्म के वंध तैं परसमयपणां है सो यह सुंदर नाही, यामैं जीव संसार मैं भ्रमता अनेक प्रकार दुःख पावै है, तातैं स्वभाव में तिष्ठै, न्यारा होय एकला तिष्ठै, तव सुंदर॥ छ॥

रङ्गभूमिस्थल (पूर्वरङ्ग) बनाया है, उसमें अड़तीस (३८) गाथाएँ हैं।[१]

[(i) पूर्वरङ्ग या रङ्गभूमिस्थल]

सबसे पहले एक गाथा में **मङ्गलाचरण** करके, दूसरी गाथा में जीव नामक पदार्थ का स्वरूप कहा है। यह जीव-अजीवरूप षड्द्रव्यात्मक लोक है; उसमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये चार द्रव्य तो स्वभावपरिणतिस्वरूप ही हैं तथा जीव और पुद्गलद्रव्य के अनादि संयोग से विभावपरिणति भी है। पुद्गल, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दरूप मूर्तिक है; जिसे देख कर जीव, राग-द्वेष-मोहरूप परिणमता है और उसके निमित्त से पुद्गल, कर्मरूप होकर जीव से बँधता है। इस प्रकार इन (जीव एवं पुद्गल) की अनादि ही से बन्ध अवस्था है; वही जीव, जब निमित्त पाकर रागादिरूप नहीं परिणमता है, तब नवीन कर्म नहीं बँधते हैं, पुराने बँधे कर्म झड़ जाते हैं, तब मोक्ष होता है।

इस प्रकार जीव में स्वसमय-परसमय की प्रवृत्ति होती है। जब जीव, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप अपने स्वभावरूप परिणमन करता है, तब स्वसमय होता है और जब मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमता है, तब पुद्गलकर्म में स्थित होने से परसमय है – ऐसा कहा है।

आगे, तीसरी गाथा में कहा है कि जीव को पुद्गलकर्म के बन्धन के कारण परसमयपना है, वह सुन्दर नहीं है, इसके कारण जीव, संसार में भ्रमण करता हुआ अनेक प्रकार के दुःख पाता है; इसलिए [जीव जब] अपने स्वभाव में [पर से] भिन्न होकर अकेला स्थित होता है, तब सुन्दर [कहलाता है।]।

---

१. यहाँ पर यह विचारणीय है कि पूर्वरङ्ग अधिकार या रङ्गभूमि स्थल अलग से अधिकार है या जीव-अजीव अधिकार का ही एक भाग है। वचनिकाकार ने यहाँ स्पष्टतः जीव-अजीव अधिकार की अड़सठ (६८) गाथाएँ स्वीकार की हैं और उसी का पूर्वार्द्ध रङ्गभूमिस्थल को बताया है, जिसमें अड़तीस (३८) गाथाएँ हैं, उसके बाद उनचालीस (३९) गाथा से आगे अड़सठ (६८) गाथा तक जीव-अजीव अधिकार का ही उत्तरार्द्ध बताया गया है। जबकि संस्कृत टीका के अनुसार अड़तीस गाथाओं का पूर्वरङ्ग और उसके आगे जीव-अजीव अधिकार बताया गया है।

आगैं, चोथी गाथा मैं कहा है जो यह जीव का न्यारापणां का अर एकपणां का पावना दुर्लभ है, जातैं वंध की कथा तो सर्व प्राणी करै है अर यह कथा विरले जानैं है, तातैं दुर्लभ है॥ छ॥

आगैं कहा हैं जो यह कथा हमारा ज्ञान का विभव का सर्वस्व करि हम कहे हैं सो अन्य भी अपना अनुभव तैं परीक्षा करि ग्रहण कीजियो॥ छ॥

आगैं, जीव कूं शुद्धनय करि देषिये तव प्रमत्त अप्रमत्त दोऊ दशा तैं न्यारा एक ज्ञायकभाव मात्र देषिये, जो जाननेंवाला है सो ही जीव है, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं, इस ज्ञायकभावमात्र आत्मा कै दर्शन ज्ञान चारित्र का भेद करि भी अशुद्धपणां नाही है, ज्ञायक है सो ज्ञायक ही है, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं, आत्मा कूं व्यवहारनय अशुद्ध कहै है, ताके उपदेश का प्रयोजन कह्या है॥ गाथा तीन मैं॥ छ॥

आगैं, शुद्धनय कूं सत्यार्थ कह्या है, व्यवहारनय कूं असत्यार्थ कह्या है॥ छ॥

आगैं कह्या है जो जे स्वरूप का शुद्धपरमभाव कूं पहुंचि गये, तिनिकै तौ शुद्धनय ही प्रयोजनवान है अर जे साधक अवस्था मैं हैं, तिनिकैं व्यवहारनय भी प्रयोजनवान है, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं कह्या है, जीवादि तत्त्वनि कूं शुद्धनय करि जाननां, यह सम्यक्त्व है॥ छ॥

आगे, चौथी गाथा में कहा है कि इस जीव का [पर से] भिन्नत्व और [स्व से] एकत्व प्राप्त करना दुर्लभ है क्योंकि बन्ध की कथा तो सर्व प्राणी करते हैं लेकिन यह [पर से भिन्न और स्व से अभिन्न की] कथा विरले जीव ही जानते हैं; अत: दुर्लभ है।

आगे, [पाँचवीं गाथा में] कहा है कि इस कथा को हम अपने ज्ञान के सम्पूर्ण वैभव से कहेंगे, जिसे दूसरे भी अपने अनुभव से परीक्षा करके ग्रहण करें।

आगे, जीव, को शुद्धनय से देखने पर, वह प्रमत्त और अप्रमत्त, दोनों दशाओं से भिन्न एक ज्ञायकभावमात्र दिखाई देता है अर्थात् जो जाननेवाला है, वही जीव है – ऐसा [छठवीं गाथा में] कहा है।

आगे, इस ज्ञायकभावमात्र आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेदरूप भी अशुद्धपना नहीं है; ज्ञायक है, वह ज्ञायक ही है – ऐसा [सातवीं गाथा में] कहा है।

आगे, व्यवहारनय आत्मा को अशुद्ध कहता है, अत: उस व्यवहारनय के उपदेश का प्रयोजन [आठवीं से दसवीं] तीन गाथाओं तक में कहा है।

आगे, [ग्यारहवीं गाथा में] शुद्धनय को सत्यार्थ और व्यवहारनय को असत्यार्थ बताया है।

आगे, [बारहवीं गाथा में] कहा है कि जो अपने स्वरूप के शुद्ध परमभाव को प्राप्त हो चुके हैं, उन्हें तो शुद्धनय ही प्रयोजनवान है और जो साधक अवस्था में हैं, उन्हें व्यवहारनय भी प्रयोजनवान है।

आगे, [तेरहवीं गाथा में] कहा है कि जीवादि तत्त्वों को शुद्धनय से जानना, सम्यक्त्व है।

आगैं, शुद्धनय का विषयभूत आत्मा कूं वद्धस्पृष्ट अन्य अनियत विशेष संयुक्त, इनि पांच भावनि तैं रहित कह्या है॥ छ॥

आगैं, शुद्धनय का विषय आत्मा कूं जानैं सो सम्यक्ज्ञान है, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं, सम्यक्दर्शनज्ञानपूर्वक चारित्र, साधु करि सेवनें योग्य है, अैसैं दृष्टांतसहित कह्या है॥ छ॥

आगैं, शुद्धनय के विषयभूत आत्मा कूं न जानैं, जेतै जीव अज्ञानी है, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं, अज्ञानी कूं समझावने की रीति कही है॥ छ॥

आगैं, अज्ञानी जीव देह कूं एक देषि तीर्थङ्कर की स्तुति का प्रश्न कीया, ताके प्रश्न का उत्तर है॥ छ॥

आगैं, इस उत्तर मैं जीव देह की भिन्नता दिषाई है॥ छ॥

आगैं, शिष्य का प्रश्न जो चारित्र मैं प्रत्याख्यान कह्या सो प्रत्याख्यान कहा है, ताका उत्तर है जो ज्ञान ही प्रत्याख्यान है॥ छ॥

आगैं, दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप परिणया आत्मा का स्वरूप कहि करि, रंगभूमि[१] का

आगे, [चौदहवीं गाथा में] शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को बद्ध-स्पृष्ट, अन्य (अन्य-अन्य), अनियत, विशेष, और संयुक्त – इन पाँच भावों से रहित कहा है।

आगे, शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को जो जानता है, वह सम्यग्ज्ञान है – ऐसा [पन्द्रहवीं गाथा में] कहा है।

आगे, सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्र साधुओं को सेवन करने योग्य है – ऐसा [सोलहवीं से अठारहवीं गाथा में] दृष्टान्त के साथ कहा गया है।

आगे, शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को जब तक जीव नहीं जानता है, तब तक अज्ञानी रहता है – ऐसा [उन्नीसवीं गाथा में] कहा है।

आगे, [बीसवीं से पच्चीसवीं गाथा में] अज्ञानी को समझाने की रीति बताई है।

आगे, अज्ञानी जीव ने देह और जीव को एक देखकर तीर्थङ्कर की स्तुति सम्बन्धी प्रश्न [छब्बीसवीं गाथा में] किया है, उसके प्रश्न का उत्तर [सत्ताईसवीं से तीसवीं गाथा में] दिया है।

आगे, [इकतीसवीं से तेतीसवीं गाथा में] इस उत्तर के साथ जीव और देह की भिन्नता दिखाई है।

आगे, शिष्य का प्रश्न है कि चारित्र में प्रत्याख्यान बताया है, वह प्रत्याख्यान क्या है? — उसका उत्तर [चौंतीसवीं से सैंतीसवीं गाथा में] दिया है कि ज्ञान ही प्रत्याख्यान है।

इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप से परिणत आत्मा का स्वरूप [अड़तीसवीं गाथा में] कह

---

१. *रंगभूमिका* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

स्थल गाथा अठतीस मैं पूर्ण कीया है॥ छ॥

आगैं, जीव अजीव दोऊ वंधपर्यायरूप होय, एक प्रतिभास मैं आवै हैं, तिनिमैं जीव का स्वरूप न जानते अज्ञानी हैं, ते जीव की कल्पनां अध्यवसानादिक भावरूप अन्यथा करैं हैं, तिनिका प्रकार गाथा पांच में दिषाया है॥ छ॥

आगैं, जीव का स्वरूप अन्यथा कल्पै हैं, तिनिका निषेध की गाथा एक है॥ छ॥

आगैं, अध्यवसानादिक भाव पुद्गलमयी हैं, जीव नाही हैं, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं, अध्यवसानादिक भाव कूं व्यवहारनय जीव कहै है, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं, परमार्थरूप जीव का स्वरूप कह्या है॥ छ॥

आगैं, वर्ण को आदि लेकरि गुणस्थानपर्यंत जेते भाव हैं, ते जीव कै नाही हैं, अैसैं छह गाथा मैं कह्या है॥ छ॥

आगैं, ए वर्ण आदिक भाव जीव कै व्यवहारनय कहै है, निश्चयनय न कहै है, अैसैं दृष्टांतसहित कह्या है॥ छ॥

आगैं, वर्णादि भावनि कै जीव कै तादात्म्य कोई अज्ञानी मानै तौ ताका निषेध कीया है॥ छ॥

अैसैं, अठसठि गाथा मैं जीवाजीव अधिकार पूर्ण कीया है॥ यामैं टीकाकारकृत कलशरूप काव्य पैंतालीस हैं॥ छ॥

कर, **रङ्गभूमिस्थल (पूर्वरङ्ग)** अड़तीस (३८) गाथाओं में पूर्ण किया है। [इसमें बत्तीस (३२) काव्य हैं।]

[(ii) जीव-अजीव अधिकार (उत्तरार्द्ध)]

आगे, जीव-अजीव, दोनों बन्धपर्यायरूप होकर, एकरूप प्रतिभासित होते हैं, वहाँ जीव का स्वरूप न जाननेवाले अज्ञानीजन, जीव की अध्यवसानादि भावरूप अन्यथा कल्पना करते हैं – ऐसे अज्ञानी जीवों के भेद, पाँच गाथाओं में बताये गये हैं।

आगे, जो जीव के स्वरूप की अन्यथा कल्पना करते हैं, उनका निषेध एक गाथा में किया है।

आगे, अध्यवसान आदि भाव पुद्गलमय हैं, वे जीव नहीं हैं – ऐसा कहा है।

आगे, अध्यवसान आदि भावों को व्यवहारनय जीव कहता है – ऐसा कहा है।

इसके बाद [उनचासवीं गाथा में] परमार्थरूप जीव का स्वरूप बताया है।

आगे, वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जितने भी भाव हैं, वे जीव के नहीं हैं – ऐसा छह गाथाओं में कहा है।

आगे, वर्ण आदि भावों को व्यवहारनय, जीव के कहता है लेकिन निश्चयनय [उन्हें जीव का] नहीं कहता – यह दृष्टान्तसहित बताया है।

आगे, कोई अज्ञानी जीव, वर्णादि भावों का जीव से तादात्म्य मानते हैं तो उनका निषेध किया है।

आगैं, कर्त्ताकर्म नामा दूसरा अधिकार का प्रारंभ है, ताकी गाथा छिहंतरि हैं॥ ७६॥

तहां, प्रथम ही गाथा दोय मैं यह कह्या है जो यह अज्ञानी जीव क्रोधादिक विषै वर्त्तै है, तेतै कर्म का वंध करै है॥ छ॥

आगैं कह्या है, आश्रव का अर आत्मा का भेदज्ञान भयें वंध न होय है॥ छ॥

आगैं, आश्रवनि तैं निवृत्त होने का विधान कह्या है॥ छ॥

आगैं, आश्रवनि तैं निवृत्त भया आत्मा का चिह्न कह्या है॥ छ॥

आगैं, आश्रव का अर आत्मा का भेदज्ञान भयें आत्मा ज्ञानी होय, तव कर्त्ताकर्मभाव भी याकै न होय, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं कह्या है जो जीव पुद्गलकर्म कै परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव है, तौऊ कर्त्ताकर्मभाव न कहिये॥ छ॥

आगैं कह्या है, यह निश्चयनय है जो जैसैं आत्मा कै अर कर्म कै कर्त्ताकर्मभाव नाही है[१]। तैसैं भोक्ताभोग्यभाव भी नाही है॥ आप का आप ही कै कर्ताकर्मभाव, भोक्ताभोग्यभाव है॥ छ॥

इस प्रकार अड़सठ (६८) गाथाओं में जीव-अजीव अधिकार पूर्ण किया है; इसमें टीकाकार द्वारा रचित कलशरूप पैंतालीस (४५) काव्य हैं।

[२. कर्ता-कर्म अधिकार]

आगे, कर्ता-कर्म नामक दूसरा अधिकार प्रारम्भ होता है, इसमें छिहत्तर (७६) गाथाएँ हैं।

वहाँ, प्रथम ही दो गाथाओं में कहा है कि जब तक यह अज्ञानी जीव, क्रोधादि में वर्तता है; तब तक कर्मबन्ध करता है।

आगे कहा है कि आस्रव और आत्मा का भेदज्ञान होने पर बन्ध नहीं होता है।

आगे, आस्रव से निवृत्त होने का विधान (उपाय) बताया है।

आगे, आस्रव से निवृत्त होनेवाले आत्मा का चिह्न (पहचान) बताया है।

आगे, आस्रव और आत्मा का भेदज्ञान होने पर, जब आत्मा ज्ञानी होता है; तब इसके कर्ता-कर्मभाव भी नहीं होता – ऐसा कहा है।

आगे कहा है कि यद्यपि जीव और पुद्गलकर्म में परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव तो है, तथापि उनमें कर्ता-कर्मभाव नहीं है।

आगे कहा है कि जिस प्रकार निश्चयनय से आत्मा और कर्म में कर्ता-कर्मभाव नहीं है, उसी प्रकार उनमें भोक्ता-भोग्यभाव भी नहीं है; स्वयं का स्वयं के साथ ही कर्ता-कर्मभाव और भोक्ता-भोग्यभाव होता है।

---

१. *न कहिये* - 'अ' प्रति पाठ

आगैं, व्यवहारनय है सो आत्मा कै अर पुद्गलकर्म कै कर्ताकर्मभाव अर भोक्ताभोग्यभाव कहै है, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं आत्मा, पुद्गलकर्म का कर्त्ता मानिये तौ तामैं वडा दोष आवै है, दोय क्रिया का कर्त्ता आत्मा ठहरै तौ यह जिनमत नही, अैसैं माननेंवाला मिथ्यादृष्टि है, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं, मिथ्यात्वादि आश्रवनि कूं जीव अजीव भेद करि दोय प्रकार कहे हैं अर दोय प्रकार कहनें का हेतु कह्या है॥ छ॥

आगैं, आत्मा कै मिथ्यात्व अज्ञान अविरति, ए तीन परिणाम अनादि हैं, तिनिका कर्त्तापणां दिषाया है अर तिस निमित्त तैं पुद्गल, कर्मरूप होय है, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं आत्मा, मिथ्यात्व आदिभावरूप न परिणमै तव कर्म का कर्त्ता नाही है, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं, शिष्य का प्रश्न है जो अज्ञान तैं कर्म कैसैं होय है, ताका उत्तर है॥ छ॥

आगैं कह्या है, कर्म का कर्त्तापणां का मूल अज्ञान ही है, तातैं अज्ञान का अभाव होय, ज्ञान होय, तव कर्त्तापणां नाही है।

आगैं कह्या है जो व्यवहारी जीव, पुद्गलकर्म का कर्त्ता आत्मा कूं कहै है सो यह अज्ञान है॥ छ॥

आगैं कह्या है जो आत्मा, पुद्गलकर्म का कर्त्ता निमित्तनैमित्तिकभाव करि भी नाही है, आत्मा

आगे, व्यवहारनय, आत्मा और पुद्गलकर्म में [परस्पर] कर्ता-कर्मभाव और भोक्ता-भोग्यभाव कहता है – ऐसा कहा है।

आगे, यदि आत्मा को पुद्गलकर्म का कर्ता माना जाए तो उसमें महान दोष आता है; आत्मा, दो क्रियाओं का कर्ता सिद्ध होता है - ऐसा जिनमत नहीं है, ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं – ऐसा कहा है।

आगे, मिथ्यात्व आदि आस्रवों को जीव-अजीव के भेद से दो प्रकार का बताया है और उन्हें दो प्रकार से कहने का कारण बताया है।

आगे, आत्मा के मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति – ये तीन परिणाम अनादि से हैं; उनका कर्तापना दिखाया है और उनके निमित्त से पुद्गल, कर्मरूप होता है – ऐसा कहा है।

आगे, यदि आत्मा, मिथ्यात्व आदि भावरूप परिणमित न हो तो कर्म का कर्ता नहीं है – ऐसा कहा है।

आगे, शिष्य का प्रश्न है कि अज्ञान से कर्म कैसे होता है? – उसका उत्तर कहा है।

आगे कहा है कि कर्म के कर्तापने का मूल, अज्ञान ही है; अतः अज्ञान के अभाव या ज्ञान होने पर कर्तापना नहीं रहता है।

आगे कहा है कि व्यवहारी जीव, आत्मा को पुद्गलकर्म का कर्ता कहते हैं – यह अज्ञान है।

के योग उपयोग हैं, ते निमित्तनैमित्तिकभाव करि कर्त्ता हैं अर योग उपयोग का आत्मा कर्त्ता है॥ छ॥

आगैं कह्या है जो अज्ञानी भी अपनें अज्ञानभाव का तौ कर्त्ता है अर पुद्गलकर्म का तौ कर्त्ता निश्चय करि नाही है॥ जातैं परद्रव्य कै तौ परस्पर कर्त्ताकर्मभाव निश्चय करि नाही है, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं कह्या है जो जीव कूं परद्रव्य का कर्त्तापणां का हेतु देषि उपचार करि कहिये है जो यह कार्य जीव कीया सो यह व्यवहारनय का वचन है॥ छ॥

आगैं कह्या है जो मिथ्यात्व आदि तौ सामान्य आश्रव अर विशेष भेद गुणस्थान, ए वंध का कर्त्ता हैं, तातैं निश्चय करि इनिका जीव कर्त्ताभोक्ता नाही है॥ छ॥

आगैं, जीव कै अर आश्रवनि कै भेद दिषाया है अर अभेद कहने मैं दूषण दिषाया है॥ छ॥

आगैं, सांख्यमती पुरुष कूं अर प्रकृति कूं अपरिणामी कहै है, ताका निषेध करि पुरुष कूं तथा पुद्गल कूं परिणामी कह्या है॥ छ॥

आगैं, ज्ञान करि तौ ज्ञानभाव ही निपजै है अर अज्ञान करि अज्ञानभाव ही निपजै है, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं कह्या है, अज्ञानी जीव, द्रव्यकर्म वंधनें कूं निमित्त होय है॥ छ॥

आगे कहा है कि आत्मा, पुद्गलकर्म का कर्ता, निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी नहीं है; आत्मा के जो योग और उपयोग हैं, वे ही निमित्त-नैमित्तिकभाव से [पुद्गलकर्म के] कर्ता हैं और योग-उपयोग का कर्ता, आत्मा है।

आगे कहा है कि अज्ञानी भी अपने अज्ञानभाव का तो कर्ता है परन्तु पुद्गलकर्म का कर्ता तो निश्चय से [अज्ञानी भी] नहीं है क्योंकि निश्चय से परद्रव्य के साथ तो [आत्मा का] परस्पर कर्ता-कर्मभाव नहीं है।

आगे कहा है कि जीव को परद्रव्य के कर्तापने का कारण देख कर, उपचार से यह कहा जाता है कि यह कार्य जीव ने किया; अत: यह व्यवहारनय का वचन है।

आगे कहा है कि मिथ्यात्व [अविरति, कषाय] आदि सामान्य आस्रव और उनके विशेष भेदरूप गुणस्थान – ये बन्ध के कर्ता हैं; अत: निश्चय से जीव इनका कर्ता-भोक्ता नहीं है।

आगे, जीव और आस्रवों में भेद दिखाया है और अभेद कहने में दूषण दिखाया है।

आगे, सांख्यमती, पुरुष (आत्मा) एवं प्रकृति (कर्म) को अपरिणामी कहते हैं, उनका निषेध करके पुरुष (आत्मा) को एवं पुद्गल (प्रकृति) को परिणामी बताया है।

आगे, ज्ञान से तो ज्ञानभाव ही उत्पन्न होता है और अज्ञान से अज्ञानभाव ही उत्पन्न होता है – ऐसा कहा है।

आगैं कह्या है, पुद्गल का परिणाम तौ जीव तैं न्यारा है अर जीव का परिणाम पुद्गल तैं न्यारा है॥ छ॥

आगैं, शिष्य का प्रश्न है जो कर्म, जीव विषैं वद्धस्पृष्ट है कि अवद्धस्पृष्ट है, ताका उत्तर निश्चयव्यवहारनय करि दीया है॥ छ॥

आगैं कह्या है जो नयनि का पक्ष करि रहित है सो कर्त्ताकर्मभाव करि रहित समयसार शुद्ध आत्मा है।

अैसैं कहि करि कर्त्ताकर्म अधिकार कूं पूर्ण कीया है गाथा छिहंतरि मैं॥ ७६॥ अर या अधिकार मैं टीकाकारकृत कलसरूप काव्य चोवन हैं॥ ५४॥

आगैं, पुण्यपाप का अधिकार है।

तहां, प्रथम ही शुभ अशुभ कर्म का स्वभाव का वर्णन है, पीछैं दोऊ ही कर्मवंध के कारण कहे हैं॥ याही तैं दोऊ कर्म कूं निषेधे हैं॥ ताका दृष्टांत है अर आगम की साषि है॥ छ॥

आगैं, मोक्ष का कारण ज्ञान कूं कह्या है॥ व्रतादिक पालै, तौऊ ज्ञान विना मोक्ष न होय, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगे कहा है कि अज्ञानी जीव, द्रव्यकर्म के बन्ध में निमित्त होता है।

आगे कहा है कि पुद्गल का परिणाम तो जीव से भिन्न है और जीव का परिणाम पुद्गल से भिन्न है।

आगे, शिष्य का प्रश्न है कि कर्म, जीव से बद्धस्पृष्ट हैं या अबद्धस्पृष्ट हैं? – उसका उत्तर निश्चय-व्यवहारनय के माध्यम से दिया है।

आगे कहा है कि जो नयों के पक्ष से रहित है – ऐसा कर्ता-कर्मभाव से रहित समयसार शुद्ध आत्मा है।

इस प्रकार कर्ता-कर्म अधिकार छिहत्तर (७६) गाथाओं में पूर्ण किया है, इसमें टीकाकार द्वारा रचित कलशरूप चौवन (५४) काव्य हैं।

[३. पुण्य-पाप अधिकार]

आगे, [तीसरा] पुण्य-पाप का अधिकार है।

वहाँ, प्रथम ही शुभ और अशुभकर्म के स्वभाव का वर्णन है। उसके बाद, दोनों ही कर्मों को बन्ध का कारण कहा है, अत: दोनों ही कर्मों का निषेध करते हैं, उसका दृष्टान्त और आगम की साक्षी दी है।

आगे, मोक्ष का कारण ज्ञान को कहा है। व्रतादि पालने पर भी ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता – ऐसा कहा है।

आगैं, मोक्ष साधनेंवाला का स्वरूप कह्या है।

आगैं, परमार्थस्वरूप मोक्ष का कारण कहि, अन्य का निषेध करि अर कर्म है सो मोक्ष का कारण कूं घातै है, ताका दृष्टांत करि घातनां दिषाया है॥ अर कह्या है सो कर्म आप वंधस्वरूप ही है॥ अर सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष के कारण हैं, तिनिका प्रतिपक्षी घातक कहे हैं॥ सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी मिथ्यात्व है, ज्ञान का प्रतिपक्षी अज्ञान है, चारित्र का प्रतिपक्षी कषाय है, अैंसैं कह्या है॥

अैंसै, तीसरा पुण्यपाप अधिकार उगणीस गाथा मैं पूर्ण कीया है॥ १९॥ यामैं कलसरूप काव्य टीकाकारकृत १३ तेरा हैं।

आगैं, चौथा अधिकार आश्रव का है॥

तहां, प्रथम ही आश्रव का स्वरूप कह्या है। मिथ्यात्व अविरत योग कषाय हैं, ते जीव अजीव करि दोय प्रकार कहे हैं, ते कर्म वंध कूं कारण हैं, अैंसै कह्या है॥ छ॥ पीछैं ज्ञानी कै तिनिका अभाव कह्या है॥

आगैं कह्या है जो रागद्वेषमोहरूप जीव के अज्ञानमयी परिणाम हैं, ते ही आश्रव हैं॥

आगैं, रागादिक बिना जीव का भाव है, ताका संभवनां दिषाया है॥

आगैं, ज्ञानी के द्रव्य भाव आश्रव का अभाव दिषाया है॥ छ॥

आगे, मोक्ष को साधनेवाले का स्वरूप कहा है।

आगे, परमार्थस्वरूप मोक्ष का कारण बता कर, अन्य का निषेध किया है। मोक्ष के कारण का घातक कर्म है, उसका दृष्टान्तपूर्वक घात करना दिखाया है और कहा है कि कर्म, स्वयं बन्धस्वरूप ही है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, मोक्ष के कारण हैं एवं उनके प्रतिपक्षी [मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र, मोक्ष के] घातक कहे गए हैं। वहाँ, सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी मिथ्यात्व है, ज्ञान का प्रतिपक्षी अज्ञान है, चारित्र का प्रतिपक्षी कषाय है – ऐसा कहा है।

इस प्रकार तीसरा पुण्य-पाप अधिकार उन्नीस (१९) गाथाओं में पूर्ण किया है; इसमें टीकाकार द्वारा रचित कलशरूप तेरह (१३) काव्य हैं।

[४. आस्रव अधिकार]

आगे, चौथा आस्रव का अधिकार है।

वहाँ, प्रथम ही आस्रव का स्वरूप बताया है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – ये जीव-अजीव के भेद से दो प्रकार के बताये हैं और वे कर्म-बन्ध के कारण हैं – ऐसा कहा है। उसके बाद, ज्ञानी को इनका (आस्रव का) अभाव बताया है।

आगे कहा है कि राग-द्वेष-मोहरूप जीव के अज्ञानमयी परिणाम हैं, वे ही आस्रव हैं।

आगे, रागादि के बिना जीव के भाव होते हैं, उनकी उत्पत्ति दिखाई है।

आगे, ज्ञानी को द्रव्यास्रव और भावास्रव का अभाव दिखाया है।

आगैं, सिष्य का प्रश्न है जो ज्ञानी निराश्रव कैसैं, ताका उत्तर है॥

जैसैं, अज्ञानी कै अर ज्ञानी कै आश्रव का सद्भाव अर अभाव है, ताका युक्ति करि वर्णन है॥ तहां रागद्वेषमोह ही अज्ञान परिणाम हैं सो ही वंध का कारणरूप आश्रव है सो ज्ञानी कै नाही है, यातैं ज्ञानी कै वंध भी नाही है॥

अैसा निश्चय करि अधिकार पूर्ण कीया है, ताकी गाथा सतरा है॥ १७॥ यामैं टीकाकारकृत कलसरूप काव्य वारा हैं॥ १२॥

आगैं, पांचमा अधिकार संवर का है॥

तहां, संवर का मूल उपाय भेदविज्ञान है, ताकी रीति तीन गाथा मैं कही है॥

पीछैं, शिष्य का प्रश्न है जो भेदविज्ञान ही तैं संवर कैसैं होय, ताका दृष्टांतपूर्वक उत्तर है॥

आगैं, भेदज्ञान तैं शुद्धात्मा की प्राप्ति होय है, तिसतैं संवर होय है, ताका विधान कह्या है॥

आगैं, संवर होनें का प्रकार, तीन गाथा मैं कह्या है॥ छ॥

आगैं, संवर होने का अनुक्रम कह्या है, गाथा तीन मैं॥ छ॥

अैंसै, गाथा वारह मैं संवर का अधिकार पूर्ण कीया है॥ १२॥ यामैं टीकाकारकृत कलसरूप काव्य आठ हैं॥ ८॥

आगे, शिष्य का प्रश्न है कि ज्ञानी निरास्रव कैसे हैं? – उसका उत्तर दिया है।

आगे, अज्ञानी को आस्रव का सद्भाव और ज्ञानी को आस्रव का अभाव बताया है, उसका युक्तिपूर्वक वर्णन किया है। वहाँ, राग-द्वेष-मोह ही अज्ञान परिणाम हैं, वे ही बन्ध के कारणरूप आस्रव हैं, वे ज्ञानी के नहीं हैं; अत: ज्ञानी को बन्ध भी नहीं कहा है।

इस प्रकार निश्चय करके अधिकार पूर्ण किया है। इस (अधिकार) में सत्रह (१७) गाथाएँ हैं; इसमें टीकाकार द्वारा रचित कलशरूप बारह (१२) काव्य हैं।

[५. संवर अधिकार]

आगे, पाँचवाँ संवर का अधिकार है।

वहाँ, संवर के मूल उपाय भेदविज्ञान की रीति तीन गाथाओं में बताई है।

इसके बाद, शिष्य का प्रश्न है कि भेदविज्ञान ही से संवर कैसे होता है? – उसका दृष्टान्तपूर्वक उत्तर दिया है।

आगे, भेदज्ञान से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है, उससे संवर होता है, उसका विधान बताया है।

आगे, संवर होने का प्रकार (उपाय) तीन गाथाओं में बताया है।

आगे, संवर होने का अनुक्रम, तीन गाथाओं में बताया है।

इस प्रकार बारह (१२) गाथाओं में संवर अधिकार पूर्ण किया है; इसमें टीकाकार द्वारा रचित कलशरूप आठ (८) काव्य हैं।

आगैं, निर्जरा का अधिकार है॥

तहां, प्रथम ही द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कह्या है॥

पीछैं, भावनिर्जरा का स्वरूप कह्या है॥

आगैं, ज्ञान का सामर्थ्य दिषाया है॥

आगैं, वैराग्य का सामर्थ्य दिषाया है॥

पीछैं, ज्ञान वैराग्य सामर्थ्य कूं प्रगट करि दिषाया है॥

आगैं, सम्यग्दृष्टी कै आपापर का जाननें का सामान्यविशेष का विधान कह्या है॥

आगैं, तिस ही विधान तैं वैराग्य होय हैं, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं, सिष्य का प्रश्न है जो सम्यग्दृष्टी रागी कैसैं न होय है, ताका उत्तर है॥

आगैं, उपदेश कीया है जो अज्ञानी रागी प्राणी, रागादिक कूं अपनां पद जानै है, तिस पद कूं छोडि अपनां वीतराग एक ज्ञायकभाव पद विषैं तिष्ठो॥ छ॥

आगैं, आत्मा का पद ज्ञायकस्वभाव है सो ज्ञान विषै भेद हैं, ते कर्म के क्षयोपशम के निमित्त तैं हैं, अैसैं कह्या है॥ छ॥

आगैं, कह्या है जो ज्ञान है सो ज्ञान ही तैं पाइये है॥ छ॥

[६. निर्जरा अधिकार]

आगे, [छठवाँ] निर्जरा का अधिकार है।

वहाँ, प्रथम ही द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहा है।

इसके बाद, भावनिर्जरा का स्वरूप कहा है।

आगे, ज्ञान का सामर्थ्य दिखाया है।

आगे, वैराग्य का सामर्थ्य दिखाया है।

इसके बाद, ज्ञान और वैराग्य की सामर्थ्य को [दृष्टान्तपूर्वक] प्रगट करके दिखाया है।

आगे, सम्यग्दृष्टि का स्व-पर को सामान्य और विशेषरूप से जानने का विधान कहा है।

आगे, उसी विधान से वैराग्य होता है – ऐसा कहा है।

आगे, शिष्य का प्रश्न है कि सम्यग्दृष्टि, रागी कैसे नहीं होता? - उसका उत्तर दिया है।

आगे, उपदेश दिया है कि अज्ञानी रागी प्राणी, रागादि को अपना पद जानता है; अतः उस पद को छोड़ कर अपने वीतराग एक ज्ञायकभावरूप पद में स्थित होना चाहिए।

आगे, आत्मा का पद ज्ञायकस्वभाव है लेकिन ज्ञान में जो भेद हैं, वे कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से होते हैं – ऐसा कहा है।

आगैं, सिष्य का प्रश्न है जो ज्ञानी, पर कूं काहे तैं ग्रहण न करै है, ताका उत्तर है॥ छ॥

आगैं ज्ञानी, परिग्रह का त्याग करै, ताका विधान कह्या है॥ छ॥

आगैं कह्या है जो इस विधान तैं परिग्रह कूं त्यागै सो कर्म सूं न लिपै है॥

आगैं कह्या है जो कर्म का फल की वांछा करि कर्म करै तौ कर्म करि लिपै, विना वांछा कर्म कूं करै तौऊ कर्म तैं लिपै नाहीं॥ ताका दृष्टांत करि कथन है॥ छ॥

आगैं कह्या है जो सम्यक्त्व के आठ अंग हैं सो प्रथम तौ सम्यग्दृष्टी निःशंक होय है, सात भयनि करि रहित होय है॥ वहुरि निःकांक्षित निर्विचिकित्सा [अमूढदृष्टि][१] उपगूहन वात्सल्य स्थितीकरण प्रभावना, इनिका निश्चयनय कूं प्रधान करि वर्णन है॥

अैंसै, गाथा चवालीस मैं निर्जरा अधिकार पूर्ण कीया है॥ ४४॥ यामैं टीकाकारकृत कलसरूप काव्य तीस हैं॥ ३०॥ छ॥

आगैं, वंध का अधिकार है॥

तहां, प्रथम ही वंध का कारण कह्या है॥ गाथा पाँच मैं॥

आगे कहा है कि ज्ञान, ज्ञान ही से प्राप्त होता है।

आगे, शिष्य का प्रश्न है कि ज्ञानी, पर का ग्रहण क्यों नहीं करता है? – उसका उत्तर दिया है।

आगे, ज्ञानी, परिग्रह का त्याग करता है, उसका विधान कहा है।

आगे कहा है कि जो इस विधान से परिग्रह का त्याग करता है, वह कर्म से नहीं बँधता है।

आगे कहा है कि जो कर्म के फल की वाञ्छासहित कर्म को करता है, वह कर्म से लिप्त होता है। यदि बिना वाञ्छा के कर्म को करता है तो कर्म से लिप्त नहीं होता – इसका दृष्टान्तपूर्वक कथन किया है।

आगे कहा है कि सम्यक्त्व के आठ अङ्ग हैं। प्रथम तो सम्यग्दृष्टि निःशङ्क होता है, सात भयों से रहित होता है। उसके बाद निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, वात्सल्य, स्थितिकरण, प्रभावना – इन [आठ अङ्गों] का निश्चयनय की प्रधानता से वर्णन किया है।

इस प्रकार चवालीस (४४) गाथाओं में निर्जरा अधिकार पूर्ण किया है; इसमें टीकाकार द्वारा रचित कलशरूप तीस (३०) काव्य हैं।

[७. बन्ध अधिकार]

आगे, [सातवाँ] बन्ध का अधिकार है।

वहाँ, प्रथम ही पाँच गाथाओं में बन्ध का कारण बताया है।

---

१. यहाँ हस्तलिखित प्रति में अमूढदृष्टि का नाम छूट गया है।

पीछैं कह्या है जो अैसैं कारणरूप आत्मा न प्रवर्त्तै तौ वंध न होय॥ गाथा पाँच मैं॥

आगैं, मिथ्यादृष्टी कै वंध होय है, ताका आशय कूं प्रगट करि कह्या है॥

आगैं, शिष्य पूछै है मिथ्यादृष्टी का आशय कूं प्रगट अज्ञान कह्या सो यह अज्ञान कैसैं, ताका उत्तर है॥ छ॥

आगैं कह्या है, यह मिथ्यादृष्टी का आशय अज्ञानभावरूप है सो ही वंध का कारण है॥ छ॥

आगैं, वाह्यवस्तु कै निश्चयनय करि वंध का कारणपणां का निषेध कीया है॥ छ॥

आगैं कह्या है जो मिथ्यादृष्टी अज्ञानरूप अध्यवसाय तैं अपनें आत्मा कूं अनेक अवस्थारूप करै है॥ छ॥

आगैं कह्या है जो यह अज्ञानरूप अध्यवसाय जाकै नाही, ताकै कर्मवंध नाही होय है॥[१]

आगैं, शिष्य का प्रश्न है जो यह अध्यवसाय कहा है, ताका उत्तर है॥

आगैं कह्या है जो यह अध्यवसान है सो याका निषेध है सो व्यवहारनय ही का निषेध है॥

आगैं कह्या है जो केवल व्यवहार ही कूं आलंवै है सो मिथ्यादृष्टी है, जातैं याका आलंवन अभव्य भी करै है, व्रत समिति गुप्ति पालै है, ग्यारह अंग पढै है, तौऊ मोक्ष न पावै॥ अभव्य, धर्म

इसके बाद, पाँच गाथाओं में कहा है कि यदि आत्मा ऐसे कारणरूप नहीं प्रवर्तता है तो बन्ध नहीं होता है।

आगे, मिथ्यादृष्टि को बन्ध होता है, उसके आशय को प्रगट करके कहा गया है।

आगे, शिष्य का प्रश्न है कि मिथ्यादृष्टि के आशय को प्रगट अज्ञान कहा है, अतः यह अज्ञान कैसे है? – इसका उत्तर दिया है।

आगे कहा है कि यह मिथ्यादृष्टि का आशय, अज्ञानभावरूप है, वही बन्ध का कारण है।

आगे, बाह्य वस्तु में निश्चयनय से बन्ध के कारणपने का निषेध किया है।

आगे कहा है कि मिथ्यादृष्टि, अज्ञानरूप अध्यवसाय से अपने आत्मा को अनेक अवस्थारूप करता है।

आगे कहा है कि जिसको यह अज्ञानरूप अध्यवसाय नहीं है, उसको कर्मबन्ध नहीं होता है।

आगे शिष्य का प्रश्न है कि यह अध्यवसाय क्या है? – उसका उत्तर दिया है।

आगे कहा है कि यह अध्यवसान का निषेध, व्यवहारनय ही का निषेध है।

आगे कहा है कि केवल व्यवहार का ही आलम्बन लेनेवाला मिथ्यादृष्टि है; इसका आलम्बन तो अभव्य भी करता है, वह व्रत-समिति-गुप्ति पालता है, ग्यारह अङ्ग पढ़ता है, फिर भी मोक्ष नहीं

---

१. यहाँ पर 'ब' प्रति में एक पंक्ति हासिये पर नीचे लिखी है, जिसमें इसी भाव का पुनः कथन है, वह पंक्ति इस प्रकार है – *'आगैं शिष्य का प्रश्न है जो यह अध्यवसाय जाकै नाही, ताकै कर्मबंध नाही होय है।'* – यह पंक्ति मूल 'अ' प्रति में नहीं है।

की भी सामान्य श्रद्धा करै है, तौऊ ताकै भोग कै निमित्त है, तातैं मोक्ष कै निमित्त न होय॥

आगैं, निश्चयव्यवहार का स्वरूप कह्या है॥ छ॥

आगैं, शिष्य का प्रश्न है जो रागादिक भावनि का निमित्त आत्मा है कि परद्रव्य है, ताका उत्तर है॥ छ॥

अैसैं, वंध अधिकार पूर्ण कीया है, गाथा इक्यावन मैं॥ ५१॥ यामैं टीकाकारकृत कलसरूप काव्य सतरा हैं॥ १७॥ छ॥

आगैं, मोक्ष का अधिकार है॥

तहां, प्रथम ही मोक्ष का स्वरूप कर्मवंधन तैं छूटनां है सो कोई वंध का स्वरूप ही जानि संतुष्ट होय जो अैसैं ही वंध तैं छूटियेगा, ताका निषेध है जो वंध छेदें विना छूटै नाहीं, अैसैं कह्या है॥

आगैं, वंध की चिंता कीयें भी न छूटै है, अैसैं कह्या है॥ वंध छेदें ही मोक्ष है॥

आगैं, वंध तैं छूटने का कारन कह्या है॥

आगैं, शिष्य पूछ्या है जो वंध का छेद काहे करि कीजिये, ताका उत्तर है जो कर्मवंध के छेदने कूं प्रज्ञा करण है, शस्त्र है॥

पाता है। अभव्य, धर्म की भी सामान्य श्रद्धा करता है लेकिन वह भी उसके भोग में निमित्त है, अत: मोक्ष में निमित्त नहीं है।

आगे, निश्चय-व्यवहार का स्वरूप बताया है।

आगे, शिष्य का प्रश्न है कि रागादिभावों का निमित्त आत्मा है या परद्रव्य? - इसका उत्तर दिया है।

इस प्रकार इक्कावन (५१) गाथाओं में बन्ध अधिकार पूर्ण किया है; इसमें टीकाकार द्वारा रचित कलशरूप सत्रह (१७) काव्य हैं।

[८. मोक्ष अधिकार]

आगे, [आठवाँ] मोक्ष का अधिकार है।

वहाँ, प्रथम ही मोक्ष का स्वरूप, कर्म-बन्धन से छूटना कहा है। यदि कोई बन्ध का स्वरूप ही जान कर सन्तुष्ट हो जाए कि इससे ही बन्ध से छूट जाऊँगा तो उसका निषेध किया है कि बन्ध को छेदे बिना मुक्त नहीं हो सकता।

आगे कहा है कि बन्ध की चिन्ता करने से भी [बन्ध से] छूटा नहीं जा सकता, बन्ध को छेदने पर ही मोक्ष होता है।

आगे, बन्ध से छूटने का कारण (उपाय) बताया है।

आगे, शिष्य का प्रश्न है कि बन्ध का छेद किस प्रकार किया जाए? – उसका उत्तर है कि

आगैं कह्या है जो प्रज्ञा करन तैं, आत्मा वंध दोऊ कूं न्यारे न्यारे करि, आत्मा कूं प्रज्ञा ही करि ग्रहण करणां, वंध कूं छोड़णां।

आगैं कह्या है जो आत्मा कूं चैतन्यमात्र ग्रहण करणां, तहां चेतना दर्शनज्ञानस्वरूप है, तिनि विना नाही है॥ छ॥

आगैं कह्या है जो आत्मा सिवाय अन्यभाव का त्याग करनां, अैसा पंडित कौन है जो पर के भाव कूं जाणि करि ग्रहण करै, पर के भाव कूं नाही ग्रहण करै॥ छ॥

आगैं कह्या है, परद्रव्य कूं ग्रहण करै सो अपराधी है, वंधन मैं पडै है॥ अपराध न करै सो वंधन मैं न पडै॥

आगैं, अपराध का स्वरूप कह्या है॥ छ॥

आगैं, शिष्य का प्रश्न है जो शुद्ध आत्मा का ग्रहण करि मोक्ष कह्या सो आत्मा प्रतिक्रमणादिक करि दोषनि तैं छूटै है, शुद्ध आत्मा का ग्रहण करि कहा होय है, ताका उत्तर है जो प्रतिक्रमण अप्रतिक्रमण तैं रहित तीसरी अप्रतिक्रमणादिक स्वरूप अवस्था शुद्ध आत्मा ही का ग्रहण है सो याही तैं आत्मा निर्दोष होय है॥

अैसैं, गाथा वीस मैं मोक्ष अधिकार संपूर्ण कीया है॥ २०॥ यामैं टीकाकारकृत कलसरूप काव्य तेरा हैं॥ १३॥ छ॥

कर्मबन्ध को छेदने के लिए प्रज्ञा ही करण है, शस्त्र है।

आगे कहा है कि प्रज्ञारूपी करण के द्वारा आत्मा और बन्ध, दोनों को अलग-अलग करके प्रज्ञा ही से आत्मा को ग्रहण करना चाहिए, बन्ध को छोड़ना चाहिए।

आगे कहा है कि आत्मा को चैतन्यमात्र ग्रहण करना; वहाँ चेतना, दर्शन-ज्ञानस्वरूप है, उसके बिना वह नहीं है।

आगे कहा है कि आत्मा के अतिरिक्त अन्यभाव का त्याग करना। ऐसा कौन पण्डित (ज्ञानी) है, जो पर के भाव को जान कर भी उसे ग्रहण करता है? अर्थात् ज्ञानी, पर के भाव को ग्रहण नहीं करता है।

आगे कहा है कि परद्रव्य को ग्रहण करनेवाला अपराधी है, वह बन्धन में पड़ता है और जो अपराध नहीं करता है, वह बन्धन में नहीं पड़ता है।

आगे, अपराध का स्वरूप बताया है।

आगे, शिष्य का प्रश्न है कि शुद्ध आत्मा के ग्रहण से मोक्ष कहा है लेकिन आत्मा, प्रतिक्रमण आदि के द्वारा दोषों से मुक्त होता है तो फिर शुद्ध आत्मा के ग्रहण से क्या [लाभ] होता है? – उसका उत्तर दिया है कि प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमण से रहित तीसरी अप्रतिक्रमणादिस्वरूप अवस्था, शुद्ध आत्मा ही का ग्रहण है और इसी [अवस्था] के ग्रहण से आत्मा निर्दोष होता है।

आगैं, सर्व विशुद्धज्ञानरूप आत्मा का अधिकार है॥

तहां, प्रथम ही आत्मा कै परद्रव्य का कर्त्ताभोक्तापणां का अभाव दिषाया है॥ तहां, पहलैं तो कर्त्तापणां का अभाव दृष्टांतपूर्वक च्यारि गाथा मैं कह्या है॥ पीछैं कर्त्तापणां, जीव अज्ञान तैं मानैं हैं सो अज्ञान की सामर्थ्य दिषाई है, गाथा दोय मैं॥

आगैं, अज्ञानी कूं मिथ्यादृष्टी कह्या है, गाथा दोय मैं॥

आगैं, परद्रव्य का आत्मा कै भोक्तापणां का भी स्वभाव नाही है, अैसैं कह्या है अर अज्ञानी कूं भोक्ता कह्या है, गाथा दोय मैं॥ छ॥

आगैं ज्ञानी, कर्मफल का भोक्ता नाही हैं, अैसैं कह्या है, गाथा दोय मैं॥ छ॥

आगैं, जो आत्मा कूं कर्त्ता मानैं हैं, तिनिकै मोक्ष नाही है, अैसैं तीन गाथा मैं कह्या है॥

आगैं, अज्ञानी अपनें भावकर्म का कर्ता है, अैसैं युक्ति करि साध्या है, गाथा च्यारि मैं॥ छ॥

आगैं, आत्मा कै कर्त्तापणां अर अकर्त्तापणां जैसैं है, तैसैं स्याद्वाद करि साध्या है, गाथा तेरा मैं॥ छ॥

आगैं, वौद्धमती अैसैं मानैं है जो कर्म कूं करै और है, भोगवै और है, ताका निषेध युक्ति करि च्यारि गाथा मैं कीया है॥ छ॥

इस प्रकार बीस (२०) गाथाओं में मोक्ष अधिकार पूर्ण किया है; इसमें टीकाकार द्वारा रचित कलशरूप तेरह (१३) काव्य हैं।

[९. सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार]

आगे, [नववाँ] सर्वविशुद्धज्ञानरूप आत्मा का अधिकार है।

वहाँ, प्रथम ही आत्मा के द्वारा परद्रव्य के कर्ता-भोक्तापने का अभाव दिखाया है। पहले तो चार गाथाओं में दृष्टान्तपूर्वक कर्तापने का अभाव कहा है। उसके बाद जीव, अज्ञान के कारण [परद्रव्य का] कर्तापना मानता है; अतः दो गाथाओं में अज्ञान की सामर्थ्य दिखाई है।

आगे, दो गाथाओं में अज्ञानी को मिथ्यादृष्टि कहा है।

आगे कहा है कि आत्मा का परद्रव्य के भोक्तापने का भी स्वभाव नहीं है तथा दो गाथाओं में अज्ञानी को भोक्ता कहा है।

आगे, ज्ञानी, कर्मफल का भोक्ता नहीं है – ऐसा दो गाथाओं में कहा है।

आगे, जो आत्मा को कर्ता मानते हैं, उनको मोक्ष नहीं होता – ऐसा तीन गाथाओं में कहा है।

आगे, अज्ञानी, अपने भावकर्मों का कर्ता है – यह चार गाथाओं में युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है।

आगे, जिस प्रकार आत्मा का कर्तापना और अकर्तापना है, उस प्रकार स्याद्वाद के द्वारा तेरह गाथाओं में सिद्ध किया है।

आगैं, कर्त्ताकर्म के भेद अभेद जैसैं है, तैसैं नयविभाग करि साध्या है॥ दृष्टांतपूर्वक गाथा सात मैं॥ छ॥

आगैं, निश्चयव्यवहार के कथन कूं षडी का दृष्टांत करि स्पष्ट कह्या है। दश गाथा मैं॥ छ॥

आगैं कह्या है जो रागद्वेषमोह करि अपनां दर्शनज्ञानचारित्र का ही घात होय है। छह गाथा मैं॥ छ॥

आगैं कह्या है, अन्यद्रव्य कै अन्यद्रव्य किछू करि सकै नाही॥ गाथा एक॥

आगैं कह्या है जो स्पर्श आदि पुद्गल के गुण हैं, ते आत्मा कूं किछू कहैं नाही जो हम कूं ग्रहण करि, अज्ञानी जीव इनि तैं वृथा रागद्वेषमोह करै है। अैसैं दश गाथा करि वर्णन है॥ छ॥

आगैं, चारित्र का विधान कह्या है, तामैं ज्ञानचेतना का तौ अनुभवन अर कर्मचेतना कर्मफलचेतना का त्याग कैसैं करै, ताकी रीति कही है। गाथा च्यारि मैं॥

आगैं, जो कर्म कूं अर कर्म के फल कूं वेदता संता आप कूं तिसरूप करै है सो नवीन कर्म कूं वांधै है, अैसैं कह्या है। गाथा तीन मैं॥ छ॥

इहां टीकाकार, इस कर्मचेतना अर कर्मफलचेतना का त्याग के विधान कूं स्पष्ट कीया है, तहां कर्मचेतना का तौ अतीत वर्तमान अनागत कर्म के त्याग के विधान के, कृत कारित अनुमोदना

आगे, बौद्धमती ऐसा मानते हैं कि कर्म को करता कोई अन्य है और भोगता कोई अन्य है, उसका चार गाथाओं में युक्तिपूर्वक निषेध किया है।

आगे, जिस प्रकार कर्ता-कर्म का भेद-अभेद है, उस प्रकार नयविभाग से दृष्टान्तपूर्वक सात गाथाओं में सिद्ध किया है।

आगे, निश्चय-व्यवहार के कथन को खड़िया मिट्टी के दृष्टान्तपूर्वक दश गाथाओं में स्पष्ट किया है।

आगे, राग-द्वेष-मोह के द्वारा स्वयं के दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होता है – ऐसा छह गाथाओं में कहा है।

आगे, अन्यद्रव्य का अन्यद्रव्य कुछ नहीं कर सकता – ऐसा एक गाथा में कहा है।

आगे कहा है कि स्पर्श आदि पुद्गल के गुण हैं, वे आत्मा को यह नहीं कहते कि हमें ग्रहण करो; अज्ञानी जीव, इनसे व्यर्थ में ही राग-द्वेष-मोह करता है – ऐसा दश गाथाओं में वर्णन किया है।

आगे, चारित्र का विधान कहा है, उसमें ज्ञानचेतना का तो अनुभवन और कर्मचेतना व कर्मफलचेतना का त्याग कैसे करें? – उसकी रीति चार गाथाओं में बताई है।

आगे, जो [जीव] कर्म और कर्म के फल का वेदन करता हुआ, स्वयं को उसरूप करता है; वह नवीन कर्मों को बाँधता है – ऐसा तीन गाथाओं में कहा है।

यहाँ, टीकाकार ने इस कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग के विधान को स्पष्ट किया है।

के मन वचन काय करि, गुणचास गुणचास भंग करि, त्याग का विधान दिषाया है अर कर्मफलचेतना का त्याग का एक सो अठतालीस कर्मप्रकृतिनि के नाम लेकरि त्याग का विधान दिषाया है।

आगैं, कर्त्ताकर्मभाव तैं ज्ञान कूं न्यारा दिषाय अर अव समस्त अन्यद्रव्यनि तैं न्यारा दिषाया है। गाथा पंदरा मैं॥ छ॥

आगैं कह्या है जो आत्मा अमूर्तीक है, तातैं याकै पुद्गलमयी देह नाही है। गाथा तीन मैं॥ छ॥

आगैं कह्या है, द्रव्यलिंग है सो देहमयी है सो आत्मा कै मोक्ष का कारण नाही है, दर्शनज्ञानचारित्र अपनां भाव है सो ही मोक्ष का कारण है। अैसैं गाथा तीन मैं वर्णन है॥ छ॥

आगैं, उपदेश कीया है जो मोक्ष का अर्थी दर्शनज्ञानचारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग विषैं ही आत्मा कूं प्रवर्त्तावो॥ छ॥

आगैं, द्रव्यलिंग ही विषैं जे ममत्व करैं हैं, तिनिकै मोक्ष नाही होय है, अैसैं कह्या है।

आगैं कह्या है जो व्यवहारनय तौ मुनि श्रावक के लिंग कूं मोक्षमार्ग कहै है अर निश्चयनय काहू ही लिंग कूं मोक्षमार्ग कहै नाही है॥ छ॥

वहाँ, कर्मचेतना [के त्याग] के लिए अतीत, वर्तमान और अनागत कर्म के त्याग-विधान हेतु, कृत-कारित-अनुमोदना का मन-वचन-काय के साथ उनचास-उनचास भङ्ग करके, त्याग का विधान दर्शाया है तथा कर्मफलचेतना के त्याग के लिए एक सौ अड़तालीस कर्मप्रकृतियों का नाम लेकर, त्याग का विधान दर्शाया है।

आगे, ज्ञान को कर्ता-कर्मभाव से भिन्न दिखा कर, अब, समस्त अन्यद्रव्यों से भिन्न पन्द्रह गाथाओं में दिखाया है।

आगे, आत्मा अमूर्तिक है; अतः इसकी पुद्गलमयी देह नहीं है – ऐसा तीन गाथाओं से कहा है।

आगे कहा है कि द्रव्यलिङ्ग तो देहमयी है, अतः वह आत्मा को मोक्ष का कारण नहीं है; दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अपना भाव ही मोक्ष का कारण है – ऐसा तीन गाथाओं में वर्णन किया है।

आगे उपदेश दिया है कि मोक्ष के इच्छुक [मुमुक्षु] पुरुष, दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग में ही आत्मा का प्रवर्तन करें।

आगे, जो द्रव्यलिङ्ग ही में ममत्व करते हैं, उनका मोक्ष नहीं होता है – ऐसा कहा है।

आगे कहा है कि व्यवहारनय तो मुनि-श्रावक के लिङ्ग को मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय, किसी भी लिङ्ग को मोक्षमार्ग नहीं कहता है।

आगे, इस ग्रन्थ को पूर्ण करते हुए, इसे पढ़ने और उसका अर्थ जानने का फल, एक गाथा में

आगैं, इस ग्रंथ कूं पूर्ण कीया है, ताका पढनें का, अर्थ जाननें का फल की गाथा एक कहि ग्रंथ पूर्ण कीया है॥ छ॥

आगैं, टीकाकार के वचन हैं जो इस ग्रंथ मैं आत्मा कूं ज्ञानमात्र कहि अनुभवन कराया, अर आत्मा अनंत धर्मा है सो स्याद्वाद तैं सधै है सो ज्ञानमात्र कहने मैं स्याद्वाद तैं विरोध आवै, ताकै परिहार के अर्थि तथा एक ही ज्ञान मैं उपायभाव अर उपेयभाव कैसैं वणैं, ताके साधनें कै अर्थि स्याद्वाद अधिकार अर उपायोपेय अधिकार, इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार विषै व्याख्यान कीये हैं।

तहां, एक ही ज्ञान विषै तत् अतत्, एक अनेक, सत् असत्, नित्य अनित्य, इनि भावनि के चौदह भंग करि तिनिके चौदह काव्य कहि अर स्याद्वाद करि ज्ञानमात्रभाव विषै अनेकांतात्मक वस्तुपणां दिषाया है॥ अर ज्ञानमात्र कहने का प्रयोजन दिषाया है जो लक्षण की प्रसिद्धि करि लक्ष्य प्रसिद्ध होय है॥ तातैं ज्ञानलक्षण है, आत्मा लक्ष्य है, अैसा वर्णन है॥

वहुरि एक ज्ञानक्रिया ही रूप परिणमती आत्मा मैं अनंत शक्ति प्रगट हैं, तिनिमैं सूं सैंतालीस शक्ति के नामलक्षण कहे हैं॥

आगैं, उपायोपेयभाव का वर्णन है, तहां आत्मा परिणामी है, तातैं साधकपणां अर सिद्धपणां दोऊ भाव भलैं प्रकार वणैं हैं, अैसैं कहि स्याद्वाद की महिमा करि, इस समयसार शुद्ध आत्मा का

कह कर ग्रन्थ को पूर्ण किया है।

इसके बाद, टीकाकार [आचार्य अमृतचन्द्रदेव] के वचन हैं कि इस ग्रन्थ में आत्मा को ज्ञानमात्र कह कर, उसका अनुभवन कराया है लेकिन आत्मा, अनन्तधर्मात्मक है – यह स्याद्वाद से सिद्ध होता है; अत: ज्ञानमात्र कहने में जो स्याद्वाद से विरोध आता है, [आता हुआ प्रतीत होता है], उसका परिहार करने के लिए एवं एक ही ज्ञान में उपायभाव और उपेयभाव कैसे सम्भव हैं? – उसके समाधान के लिए, इस **सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार** में स्याद्वाद अधिकार और उपाय-उपेय अधिकार का व्याख्यान किया है।

वहाँ, एक ही ज्ञान में तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत्, नित्य-अनित्य – इन भावों के चौदह भङ्ग करके, उनके चौदह काव्य कहे हैं और स्याद्वाद के द्वारा ज्ञानमात्र भाव में अनेकान्तात्मक वस्तुपना दिखाया है तथा ज्ञानमात्र कहने का प्रयोजन दिखाया है कि लक्षण की प्रसिद्धि से लक्ष्य प्रसिद्ध होता है; अत: ज्ञान लक्षण है और आत्मा लक्ष्य है – ऐसा वर्णन किया है।

एक ज्ञानक्रियारूप ही परिणमित आत्मा में अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं, उनमें से यहाँ सैंतालीस (४७) शक्तियों के नाम और लक्षण कहे हैं।

इसके बाद, उपाय-उपेय भाव का वर्णन है। वहाँ, आत्मा परिणामी है; अत: साधकपना और सिद्धपना, दोनों भाव भली प्रकार बनते हैं – ऐसा कह कर स्याद्वाद की महिमा करके, इस समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मा के अनुभव की प्रशंसापूर्वक ग्रन्थ पूर्ण किया है।

अनुभव की वडाई करि ग्रंथ पूर्ण कीया है।

इस सर्वविशुद्धज्ञान के अधिकार मैं गाथा एक सो सात हैं॥ १०७॥ कलसरूप काव्य तीयासी हैं॥ ८३॥

सर्व अधिकारनि की गाथा च्यारि सै चौदा हैं॥ ४१४॥ अर कलसरूप काव्य दोय से सतहतरि हैं॥ २७७॥[१]

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

इस प्रकार सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में एक सौ सात गाथाएँ (१०७) हैं और कलशरूप तिरासी (८३) काव्य हैं।[१]

[ग्रन्थ के] सभी अधिकारों में चार सौ चौदह (४१४) गाथाएँ और दो सौ सतहत्तर (२७७) कलशरूप काव्य हैं।[२]

[इस प्रकार आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेवप्रणीत श्री समयसार ग्रन्थ की आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेवविरचित श्री आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका की पण्डितप्रवर श्री जयचन्द्रजी छाबड़ाकृत 'श्री समयसार वचनिका की प्रस्तावना' पूर्ण हुई।]

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

१-२. ध्यान रहे - आत्मख्याति टीका के अनुसार सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में गाथाओं की संख्या १०८ और कलशों की संख्या ८४ है तथा सम्पूर्ण ग्रन्थ में कुल गाथाओं की संख्या ४१५ और कलशों की संख्या २७८ है। यहाँ वचनिका में भूलवश सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की तेरहवीं (३२० वीं) गाथा की गिनती दो बार हो गई है और अठारहवें (२११ वें) कलश के बाद के कलश को क्रम के अन्तर्गत नहीं मान कर अलग से एक क्रमाङ्क दिया गया है; अत: कुल गाथाओं और कलशों की संख्याएँ गिनने में एक-एक कम आई हैं।

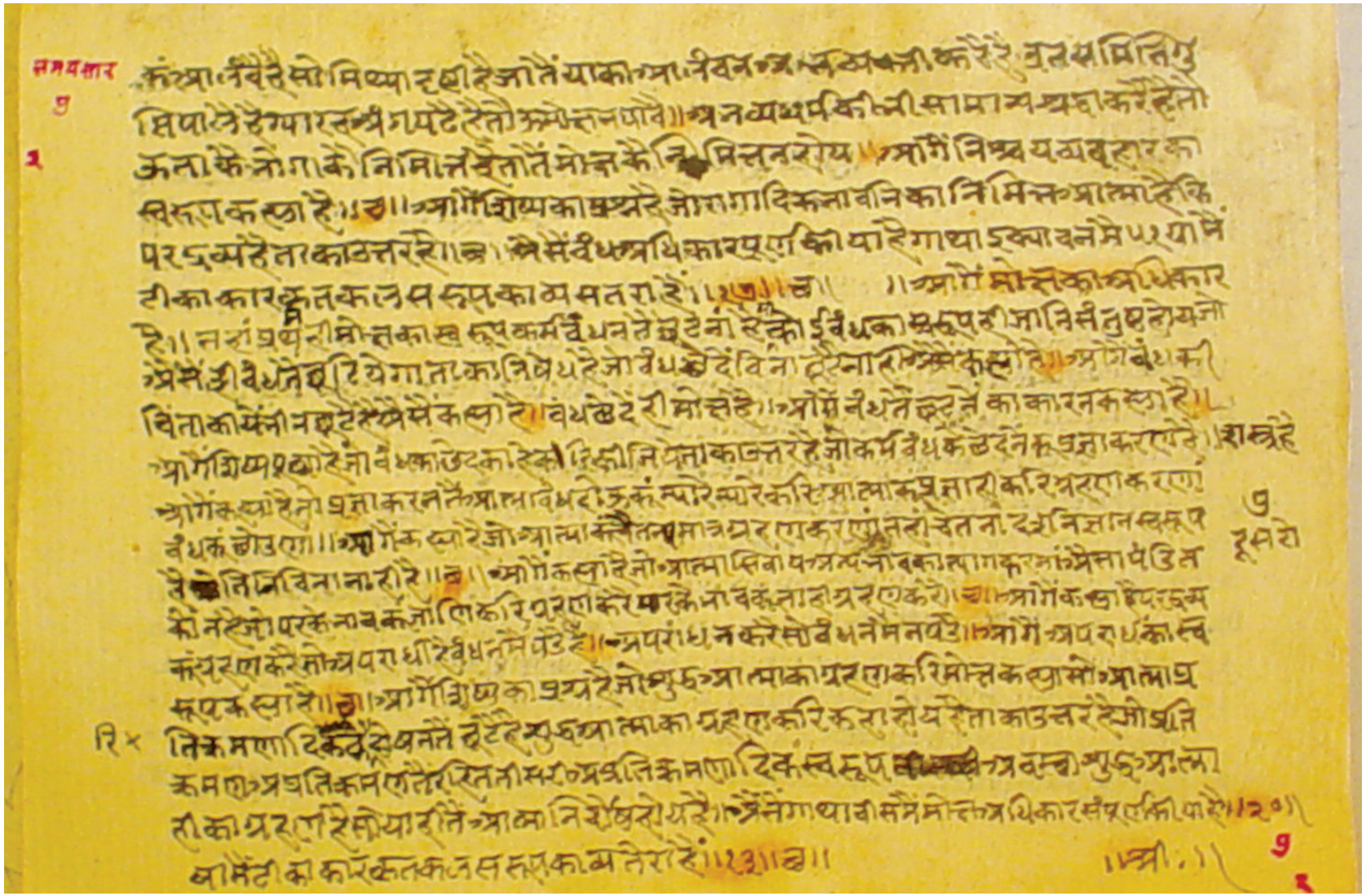

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ७ (२) का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर बन्ध अधिकार की गाथा २७३ से मोक्ष अधिकार की अन्तिम गाथा ३०७ तक की विषय-वस्तु का वर्णन है। इसमें ऊपर से दसवीं पंक्ति में लिखा है – '**कर्मबंध के छेदनें कूं प्रज्ञा करण है,**

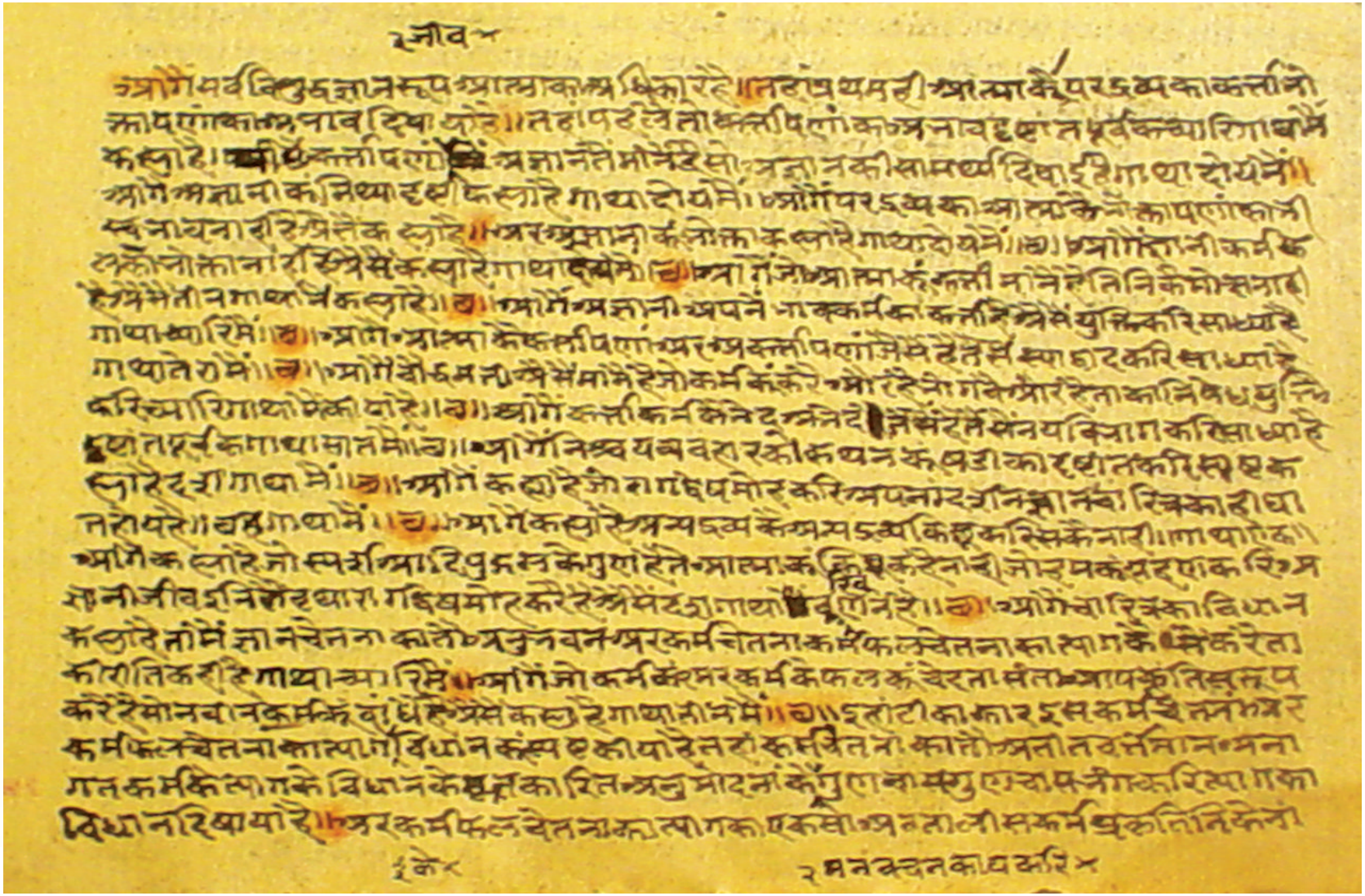

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ७ (३) का अगला भाग है। इसमें ऊपर से ही सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की विषयवस्तु का वर्णन, गाथा ३०८ से ३८९ तक किया है। इसमें ऊपर से छठी पंक्ति में लिखा है – '**जो आत्मा कूं कर्त्ता मानै है, तिनिकै मोक्ष नाही**

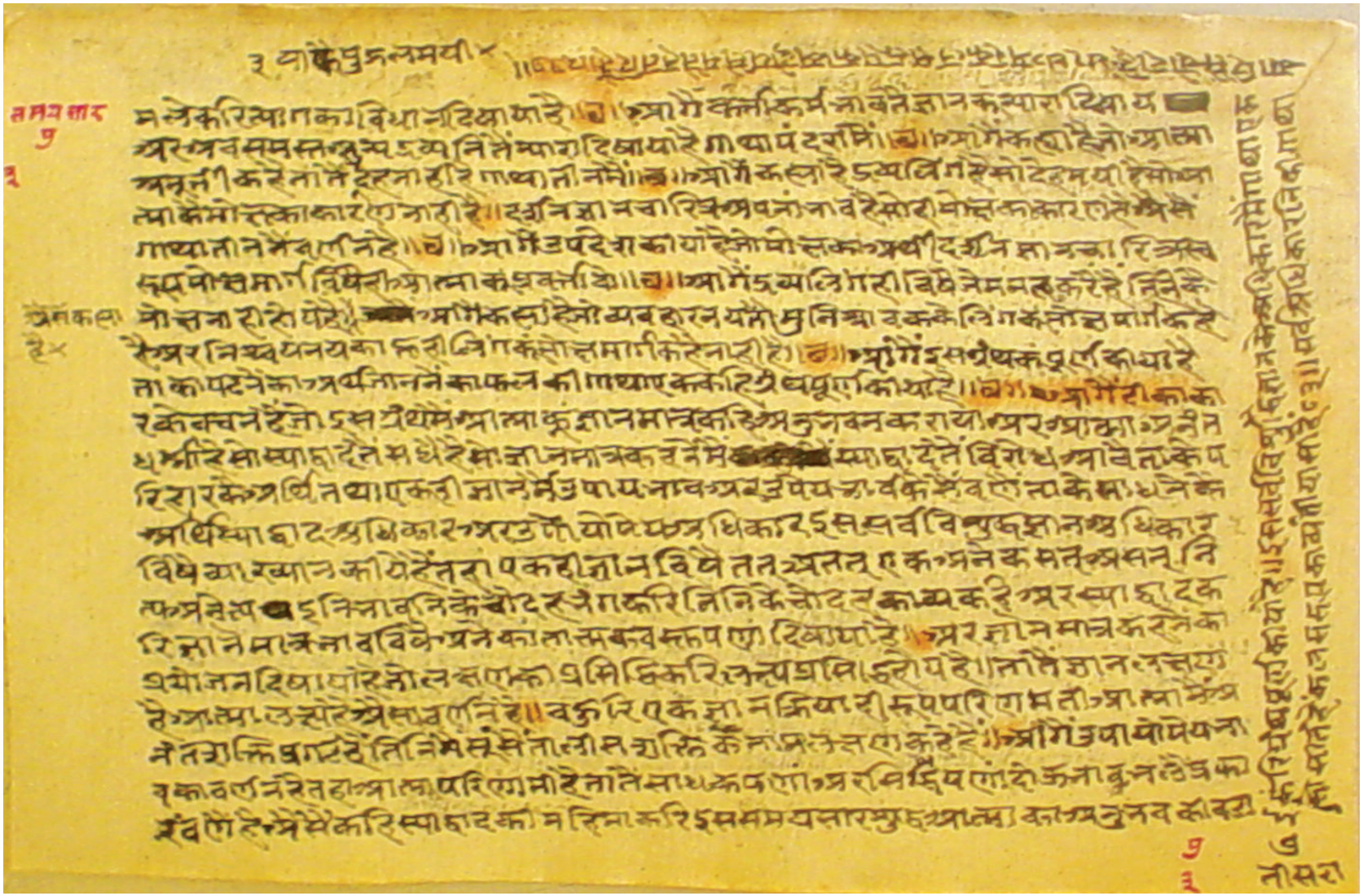

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ७ (३) का अगला भाग है। यहाँ पर पण्डित जयचन्दजी द्वारा लिखित प्रस्तावना पूर्ण होती है। इसमें नीचे से चौथी पंक्ति में लिखा है – **'एक ज्ञानक्रिया रूप ही परिणमती आत्मा मैं अनंत शक्ति प्रगट हैं, तिनिमैं सूं सैंतालीस शक्ति के नाम लक्षण कहे हैं॥**

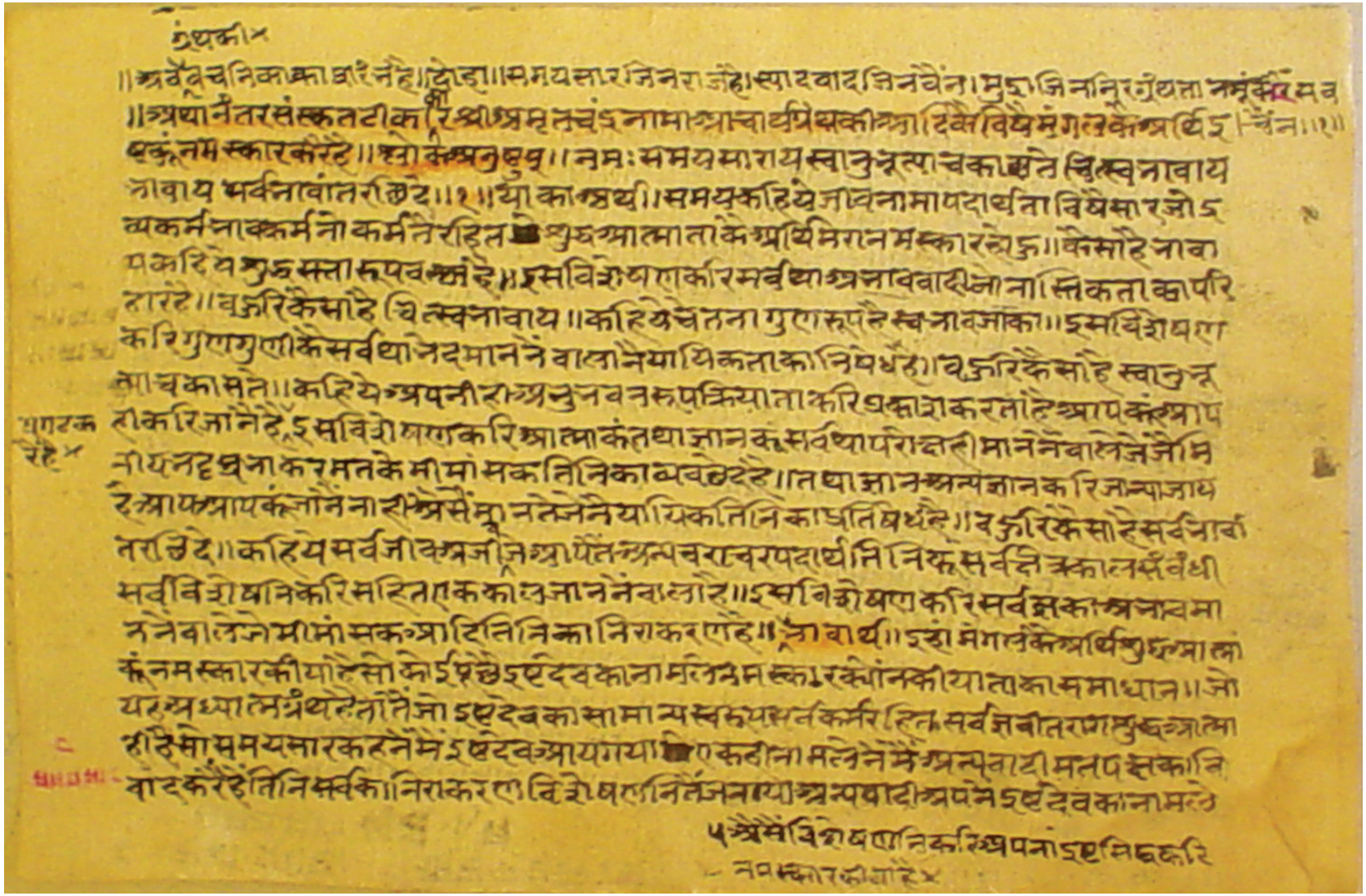

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ८ का अगला भाग है। यहाँ से ग्रन्थ के पहले जीव-अजीव अधिकार का पूर्वरङ्ग स्थल प्रारम्भ होता है। इस पृष्ठ पर प्रथम पंक्ति में लिखा है – '**अब, ग्रंथ की वचनिका का प्रारंभ है** ॥ दोहा ॥ **समयसार जिनराज है, स्याद्वाद**

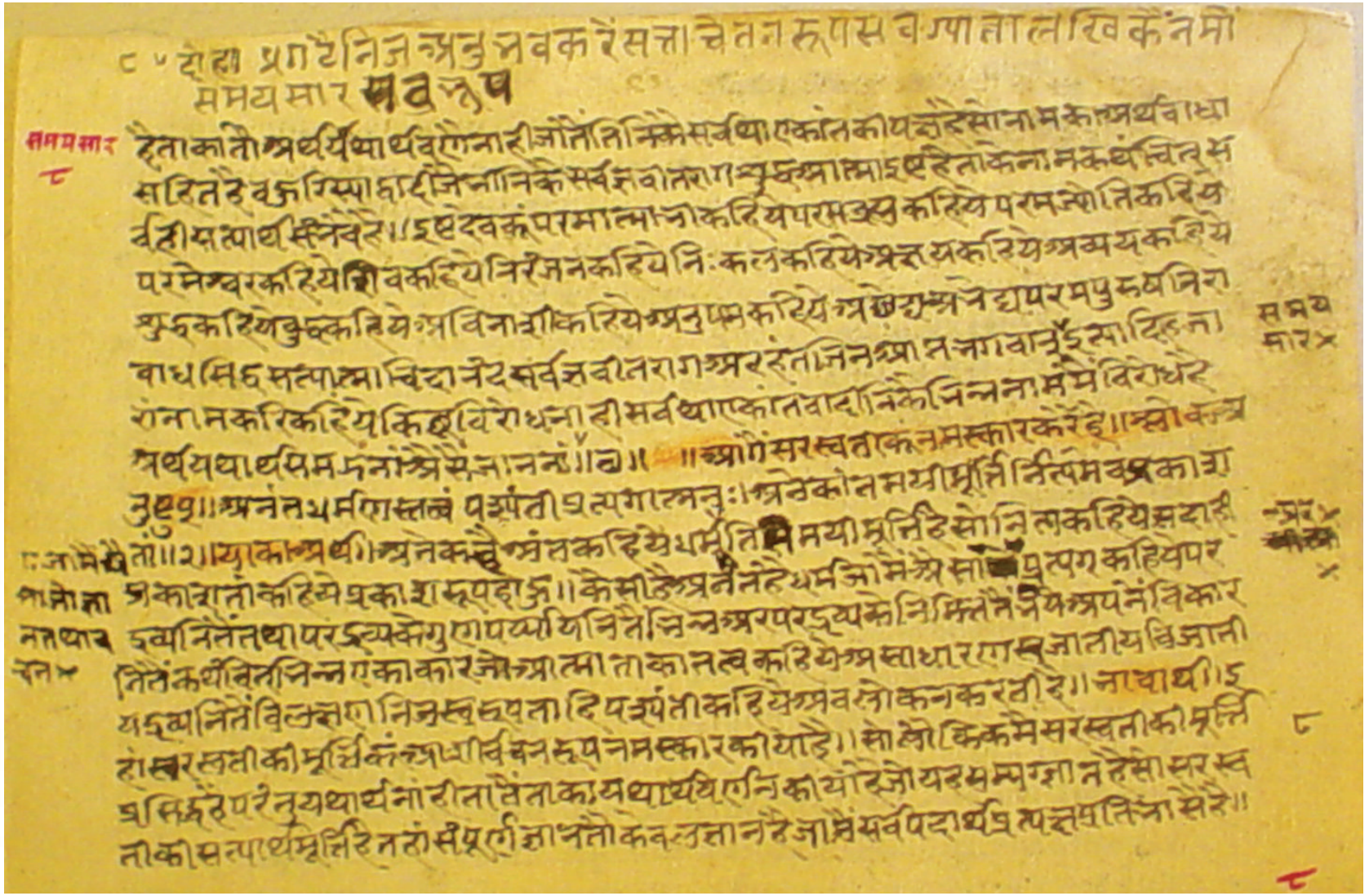

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ८ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर ऊपर हाशिए पर '**नमः समयसाराय...**' – इस श्लोक का पण्डित जयचन्दजी साहब ने पद्यानुवाद लिखा है – '**॥ दोहा ॥ प्रगटै निज अनुभव करै, सत्ता चैतनरूप। सव ग्याता लखि कैं**

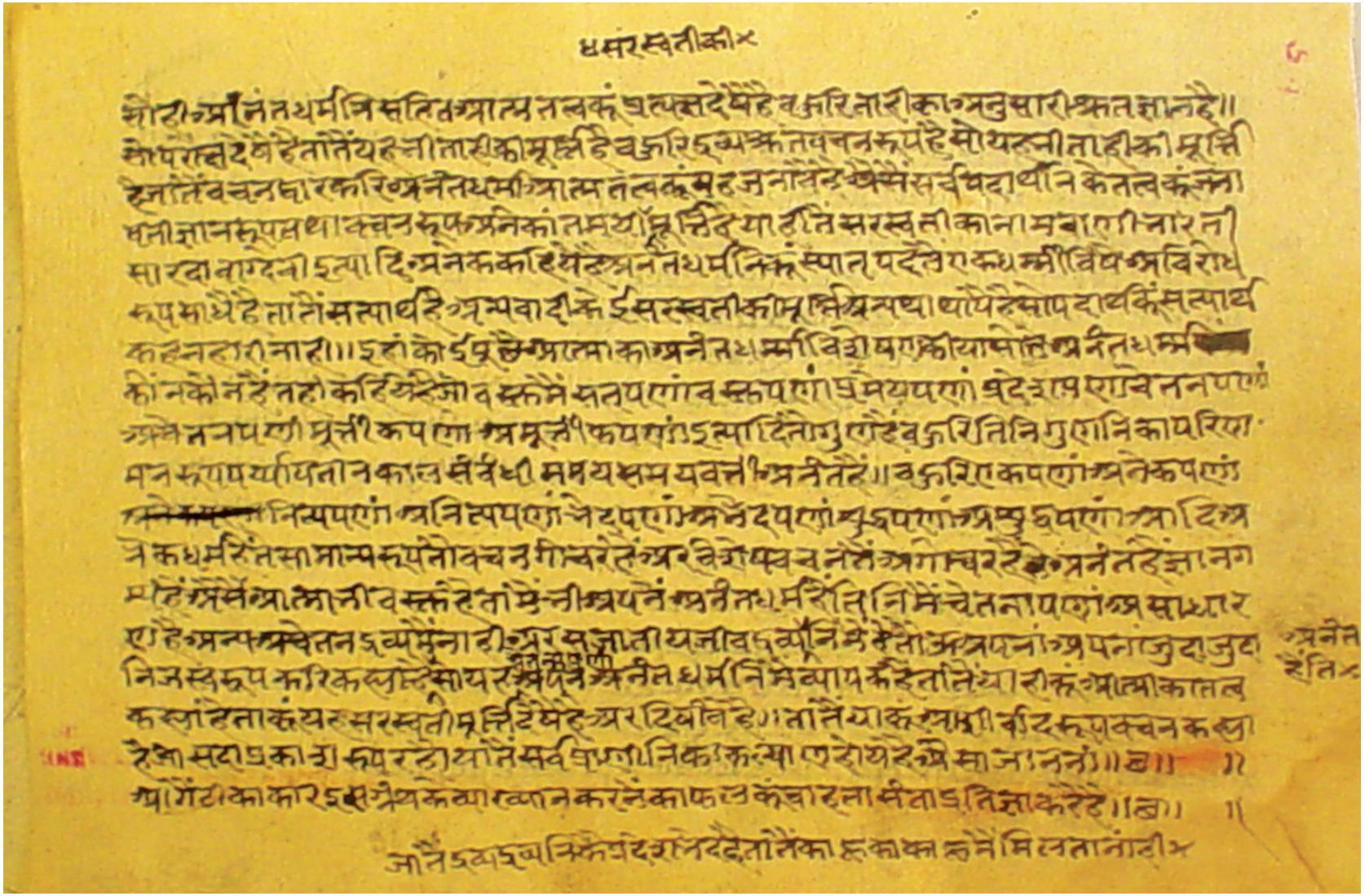

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ९ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर सबसे अन्त में तीसरे कलश की उत्थानिका आई है। इसमें ऊपर से तीसरी पंक्ति में लिखा है – '**ऐसैं सर्व पदार्थनि के तत्व कूं जनावती ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकांतमयी सरस्वती की**



पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ९ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर नीचे से सातवीं पंक्ति में पण्डितजी ने आचार्य अमृतचन्द्रदेव के टीका लिखने का प्रयोजन बताते हुए लिखा है – **'यह समयसार ग्रंथ, ताकी टीका करनें का फल यह चाहूं हौं जो मेरी परिणति रागादिक तैं रहित होय करि शुद्ध होहु।'**

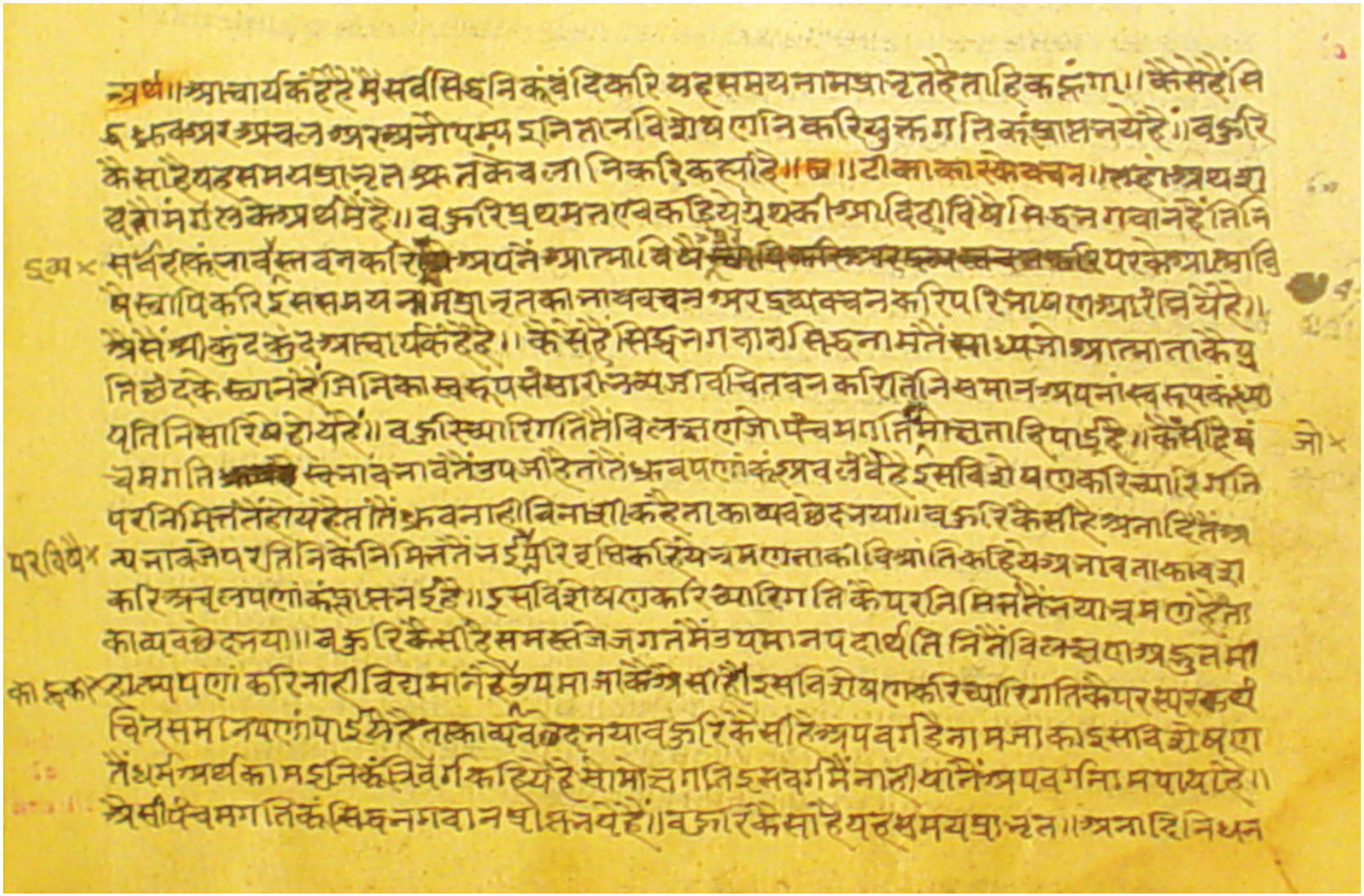

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १० का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर ऊपर से सातवीं पंक्ति में लिखा है – **'कैसे हैं सिद्ध भगवान, सिद्ध नाम तैं साध्य जो आत्मा, ताकै प्रतिच्छंद के स्थान हैं, जिनिका स्वरूप संसारी भव्य जीव चितवन करि, तिनि समान अपनां स्वरूप कूं ध्याय तिनि सारिषे होय हैं ॥'**

१

॥ जीव-अजीव अधिकार ॥

(पूर्वार्द्ध)

पूर्वरङ्ग या रङ्गभूमि स्थल

अव ग्रंथ की वचनिका का प्रारंभ है॥

॥ दोहा ॥

समयसार जिनराज है, स्यादवाद जिनवैंन।
मुद्रा जिन निरग्रंथता, नमूं करैं सब चैंन॥ १ ॥

अथानंतर संस्कृत टीकाकार श्री अमृतचंद्र नामा आचार्य ग्रंथ की आदि कै विषै मंगल के अर्थि इष्ट कूं नमस्कार करै है॥

समयसार वचनिका का हिन्दी अनुवाद

अब, ग्रन्थ की वचनिका का प्रारम्भ होता है —

समयसार जिनराज है, स्याद्वाद जिनबैन।
मुद्रा जिन निर्ग्रन्थता, नमूँ करै सब चैन॥

[**अर्थ** – समयसारस्वरूप जिनराज, स्याद्वादमयी जिनवाणी और निर्ग्रन्थ जिन-मुद्रा अर्थात् नग्न दिगम्बर मुनिराज - इन तीनों को मैं समस्त आत्मिक सुख-शान्ति की प्राप्ति हेतु नमस्कार करता हूँ *अथवा* समयसार ग्रन्थाधिराज, जिनराज के समान है, समयसाररूपी जिनराज के वचन स्याद्वादमयी हैं और समयसाररूपी जिनराज की पहचान निर्ग्रन्थता अर्थात् वीतरागता से है – इनके माध्यम से पूर्ण आनन्दमयी मुक्ति की प्राप्ति होती है; अतः मैं इन तीनों को नमस्कार करता हूँ।]

अब यहाँ, संस्कृत टीकाकार श्री अमृतचन्द्र आचार्य, ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गल के लिए इष्ट को नमस्कार करते हैं —

॥ श्लोक / अनुष्टुभ्॥

नमः समयसाराय, स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय, सर्वभावान्तरच्छिदे॥ १॥

॥ याका अर्थ॥ समय कहिये जीव नामा पदार्थ, ता विषै सार जो द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म तैं रहित शुद्ध आत्मा, ताकै अर्थि मेरा नमस्कार होऊ॥

कैसा है। भावाय कहिये शुद्ध सत्तारूप वस्तु है॥ इस विशेषण करि सर्वथा अभाववादी जो नास्तिक ताका परिहार है॥

वहुरि कैसा है। चित्स्वभावाय कहिये चेतना गुणरूप है स्वभावा जाका॥ इस विशेषण करि गुण गुणी कै सर्वथा भेद माननेंवाला नैयायिक, ताका निषेध है॥

वहुरि कैसा है। स्वानुभूत्या चकासते कहिये अपनीं ही अनुभवनरूप क्रिया, ता करि प्रकाश करै[१] है। आप कूं आप ही करि जानैं है, प्रगट करै है। इस विशेषण करि आत्मा कूं तथा ज्ञान कूं सर्वथा परोक्ष ही माननेंवाले जे जैमिनीय भट्ट प्रभाकर मत के मीमांसक, तिनिका व्यवच्छेद है॥ तथा ज्ञान, अन्य ज्ञान करि जान्या जाय है, आप आप कूं जानैं नाही, अैसैं मानते जे नैयायिक, तिनिका प्रतिषेध है॥

वहुरि कैसा है। सर्वभावांतरच्छिदे कहिये सर्व जीव अजीव जे आप तैं अन्य चराचर पदार्थ,

---

॥ दोहा॥

निज अनुभूति से प्रगट, चित्स्वभाव चिद्रूप।
सकल ज्ञेय-ज्ञायक नमौं, समयसार सद्रूप॥ १॥

अर्थ – समय अर्थात् जीव नामक पदार्थ, उसमें **सार** अर्थात् द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से रहित शुद्ध आत्मा को मेरा नमस्कार होवे।

कैसा है वह? – भावाय अर्थात् शुद्ध सत्तारूप वस्तु, इस विशेषण से सर्वथा अभाववादी नास्तिकों का परिहार होता है।

और कैसा है? – चित्स्वभावाय अर्थात् जिसका स्वभाव चेतना गुणरूप है, इस विशेषण से गुण-गुणी में सर्वथा भेद माननेवाले नैयायिकों का निषेध हो जाता है।

और कैसा है? – स्वानुभूत्या चकासते अर्थात् अपनी ही अनुभवनरूप क्रिया से प्रकाश करता है, स्वयं को स्वयं से ही जानता है, प्रगट करता है; इस विशेषण से आत्मा और ज्ञान को सर्वथा परोक्ष माननेवाले जैमिनीय प्रभाकर भट्ट मतवादी मीमांसकों का व्यवच्छेद होता है तथा 'ज्ञान, अन्य ज्ञान के द्वारा जाना जाता है; ज्ञान, स्वयं, स्वयं को नहीं जानता', ऐसी मान्यतावाले नैयायिकों का भी निषेध हो जाता है।

और कैसा है? – सर्वभावान्तरच्छिदे अर्थात् आत्मा, अपने से भिन्न सर्व जीव-अजीवरूप

---

१. *करता* - 'ब' प्रति पाठ

तिनिकूं सर्व क्षेत्र काल संबंधी सर्व विशेषनि करि सहित एक काल जाननेंवाला है॥ इस विशेषण करि सर्वज्ञ का अभाव माननेंवाले जे मीमांसक आदि, तिनिका निराकरण है॥

अैसैं विशेषणनि करि अपनां इष्ट सिद्ध करि नमस्कार कीया है।

॥ भावार्थ॥ इहां मंगल कै अर्थि शुद्ध आत्मां कूं नमस्कार कीया है।

सो कोई पूछै इष्टदेव का नाम ले नमस्कार क्यों न कीया।

ताका समाधान जो यह अध्यात्म ग्रंथ है, तातैं जो इष्टदेव का सामान्यस्वरूप सर्व कर्मरहित सर्वज्ञ वीतराग शुद्ध आत्मा ही है सो समयसार कहनें मैं इष्टदेव आय गया।

एक ही नाम लेनें मैं अन्यवादी मतपक्ष का विवाद करैं हैं, तिनि सर्व का निराकरण विशेषणनि तैं जनाया। अन्यवादी अपनें इष्टदेव का नाम ले है, ताका तौ अर्थ यथार्थ वणैं नाही, जातैं तिनिकै सर्वथा एकांत का[१] पक्ष है सो नाम का अर्थ वाधासहित है।

वहुरि स्याद्वादी जैनीनि कै सर्वज्ञ वीतराग शुद्ध आत्मा इष्ट है, ताके नाम कथंचित् सर्व ही सत्यार्थ संभवैं हैं॥ इष्टदेव कूं परमात्मा भी कहिये, परमब्रह्म कहिये, परमज्योति कहिये, परमेश्वर कहिये, शिव कहिये, निरंजन कहिये, निःकल कहिये, अक्षय कहिये, अव्यय कहिये, शुद्ध कहिये, वुद्ध कहिये,

---

चराचर पदार्थों को सर्व क्षेत्र-कालसम्बन्धी सर्व विशेषोंसहित एक ही काल में जाननेवाला है; इस विशेषण से सर्वज्ञ का अभाव माननेवाले मीमांसक आदि का निराकरण हो जाता है।

इस प्रकार [अनेक] विशेषणों के द्वारा अपने इष्ट (शुद्ध आत्मा) को सिद्ध करके नमस्कार किया है।

भावार्थ – यहाँ मङ्गल के लिए शुद्ध आत्मा को नमस्कार किया है।

यदि कोई पूछे – इष्टदेव का नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया?

उसका समाधान – यह अध्यात्म ग्रन्थ है, अत: यहाँ इष्टदेव का सामान्य स्वरूप – सर्व कर्मरहित, सर्वज्ञ, वीतराग, शुद्ध आत्मा ही कहा है; इसलिए समयसार कहने से इष्टदेव का समावेश हो जाता है।

एक ही नाम लेने से अन्यवादी मतपक्ष का विवाद करते हैं, अत: उन सबका निराकरण भी इन विशेषणों से बताया है। अन्यवादी अपने इष्टदेव का नाम लेते हैं परन्तु उनका तो अर्थ यथार्थ सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि उनको सर्वथा एकान्त का ही पक्ष है; अत: उन नामों का अर्थ बाधासहित है।

स्याद्वादी जैनों को सर्वज्ञ, वीतराग, शुद्ध आत्मा इष्ट है। अन्य मतवादियों के द्वारा कहे गये सभी नाम (किसी अपेक्षा से) कथञ्चित् सत्यार्थरूप सम्भवित होते हैं। इष्टदेव को परमात्मा कहें, परब्रह्म कहें, परमज्योति कहें, परमेश्वर कहें, शिव कहें, निरञ्जन कहें, निकल कहें, अक्षय कहें, अव्यय कहें, शुद्ध कहें, बुद्ध कहें, अविनाशी कहें या अनुपम कहें; इसी प्रकार अछेद्य, अभेद्य,

---

१. *की* - 'ब' प्रति पाठ

अविनाशी कहिये, अनुपम कहिये, अछेद्य अभेद्य परमपुरुष निरावाध सिद्ध सत्यात्मा चिदानंद सर्वज्ञ वीतराग अरहंत जिन आप्त भगवान् समयसार इत्यादि हजारां नाम करि कहिये, किछू विरोध नाही। सर्वथा एकांतवादीनि कै भिन्न नाम मैं विरोध है। अर्थ यथार्थ समझनां, अैसैं जाननां।

॥ दोहा ॥

प्रगटै निज अनुभव करें, सत्ता चेतनरूप।
सव ग्याता लखि कैं नमों, समयसार सव भूप॥ छ॥[१]

आगैं, सरस्वती कूं नमस्कार करै है -

॥ श्लोक / अनुष्टुभ् ॥

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं, पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्त्ति-र्नित्यमेव प्रकाशताम्॥ २॥

॥ याका अर्थ॥ अनेक हैं अंत कहिये धर्म जामैं, अैसा जो ज्ञान तथा वचन तिसमयी मूर्त्ति है सो नित्य कहिये सदा ही, प्रकाशतां कहिये प्रकाशरूप होहु॥

परमपुरुष, निराबाध, सिद्ध, सत्यात्मा, चिदानन्द, सर्वज्ञ, वीतराग, अरहन्त, जिन, आप्त, भगवान, समयसार इत्यादि हजारों नामों से कहें तो भी कोई विरोध नहीं है परन्तु सर्वथा एकान्तवादियों को भिन्न-भिन्न नामों में विरोध उत्पन्न होता है, अत: यथार्थ अर्थ समझना - ऐसा जानना चाहिए।

॥ दोहा ॥

प्रगटे निज अनुभव करे, सत्ता चेतनरूप।
सब ज्ञाता लखि के नमूँ, समयसार सब भूप॥

[**अर्थ** – जो निज आत्मा का अनुभव करने पर प्रगट होता है, जो सत्तारूप है, चेतनस्वरूप है, सब पदार्थों का ज्ञाता-दृष्टा है और सब द्रव्यों के ऊपर शिरोमणी है – ऐसे समयसार को मैं नमस्कार करता हूँ।]

अब, सरस्वती को नमस्कार करते हैं —

॥ सोरठा ॥

देखे पर से भिन्न, अगणित गुणमय आत्मा।
अनेकान्तमय मूर्ति, सदा प्रकाशित ही रहे॥ २॥

अर्थ – जिसमें **अनेक अन्त** अर्थात् धर्म हैं - ऐसी ज्ञान तथा वचनमयी मूर्ति, नित्य अर्थात् सदाकाल ही **प्रकाशताम्** अर्थात् प्रकाशरूप होवे।

---

१. यह दोहा छन्द, पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने आत्मख्याति टीका के सर्वप्रथम मङ्गलाचरण के छन्द 'नमः समयसाराय.....'' का हिन्दी पद्यानुवाद करते हुए लिखा है।

कैसी है। अनंत है धर्म जामैं अैसा अर प्रत्यग् कहिये परद्रव्यनि तैं तथा परद्रव्य के गुणपर्यायनि तैं भिन्न अर परद्रव्य के निमित्त तैं भये अपनें विकारनि तैं कथंचित् भिन्न एकाकार जो आत्मा, ताका तत्व कहिये असाधारण सजातीय विजातीय द्रव्यनि तैं विलक्षण निजस्वरूप, ताहि पश्यंती कहिये अवलोकन करती है॥

॥ भावार्थ॥ इहां सरस्वती की मूर्ति कूं आशीर्वचनरूप नमस्कार कीया है॥ सो लौकिक मैं सरस्वती की मूर्ति प्रसिद्ध है परंतु यथार्थ नाही, तातैं ताका यथार्थ वर्णन कीया है।

जो यह सम्यग्ज्ञान है सो सरस्वती की सत्यार्थ मूर्ति है, तहां संपूर्ण ज्ञान तौ केवलज्ञान है, जामैं सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतिभासैं हैं॥ सो ही अनंत धर्मनि सहित अत्मतत्व कूं प्रत्यक्ष देषै है। वहुरि ताही का अनुसारी श्रुतज्ञान है॥ सो परोक्ष देषै है, तातैं यह भी ताही की मूर्त्ति है। वहुरि द्रव्यश्रुत वचनरूप है सो यह भी ताही की मूर्त्ति है, जातैं वचन द्वार करि अनंत धर्मा आत्मतत्व[१] कूं यह जनावै है।

अैसैं सर्व पदार्थनि के तत्व कूं जनावती ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकांतमयी सरस्वती की मूर्त्ति है, याही तैं सरस्वती का नाम वाणी भारती सारदा वाग्देवी इत्यादि अनेक कहिये हैं। अनंतधर्मनि कूं स्यात् पद तैं एक धर्मी विषै अविरोधरूप साधै है, तातैं सत्यार्थ है। अन्यवादी केई सरस्वती की मूर्त्ति अन्यथा थापैं हैं सो पदार्थ कूं सत्यार्थ कहनहारी नाही॥

कैसी है वह मूर्ति? – जिसमें अनन्त धर्म हैं तथा **प्रत्यग्** अर्थात् परद्रव्यों और परद्रव्य के गुण-पर्यायों से भिन्न तथा परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने विकारों से कथञ्चित् भिन्न, एकाकार आत्मा के **तत्त्व** अर्थात् सजातीय-विजातीय द्रव्यों से विलक्षण असाधारण निजस्वरूप को, **पश्यन्ति** अर्थात् अवलोकन करती है।

भावार्थ – यहाँ सरस्वती की मूर्ति को आशीर्वचनरूप नमस्कार किया है। लोक में जो सरस्वती की मूर्ति प्रसिद्ध है, वह यथार्थ नहीं है; अतः उसका यहाँ यथार्थ वर्णन किया है।

जो यह सम्यग्ज्ञान है, वही सरस्वती की सत्यार्थ मूर्ति है। वहाँ सम्पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञान है, जिसमें सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतिभासित होते हैं, वही अनन्त धर्मोंसहित आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष देखता है और उसी का अनुसरण करनेवाला श्रुतज्ञान है, वह उसे परोक्ष देखता है; अतः यह ज्ञान भी उसी की मूर्ति है तथा जो वचनरूप द्रव्यश्रुत है; वह भी उसी की मूर्ति है क्योंकि द्रव्यश्रुत भी वचनों के द्वारा अनन्त धर्मोंवाले आत्मतत्त्व का ज्ञान कराता है।

इस प्रकार सर्व पदार्थों के तत्त्व का ज्ञान करानेवाली, ज्ञानरूप और वचनरूप अनेकान्तमयी सरस्वती की मूर्ति है; इसीलिए सरस्वती को वाणी, भारती, शारदा, वाग्देवी आदि अनेक नामों से कहा जाता है। वह अनन्त धर्मों को स्यात्पद के द्वारा एक ही धर्मी में अविरोधरूप से साधती है; अतः वह सत्यार्थ है। कितने ही अन्यवादीजन सरस्वती की मूर्ति को अन्य प्रकार से स्थापित करते हैं, परन्तु वह पदार्थों का वास्तविक कथन करनेवाली नहीं है।

---

१. *आत्मा* - 'ब' प्रति पाठ

इहां कोई पूछै, आत्मा का अनंतधर्मा विशेषण कीया सो ते अनंत धर्म कोंन कोंन हैं।

तहां कहिये है जो वस्तु मैं सत्पणां वस्तुपणां प्रमेयपणां प्रदेशपणां चेतनपणां अचेतनपणां मूर्त्तीकपणां अमूर्त्तीकपणां इत्यादि तौ गुण हैं॥ वहुरि तिनि गुणनि का परिणमनरूप पर्याय, तीन काल संबंधी समय समयवर्ती अनंत हैं॥ वहुरि एकपणां अनेकपणां, नित्यपणां अनित्यपणां, भेदपणां अभेदपणां, शुद्धपणां अशुद्धपणां आदि अनेक धर्म हैं, ते सामान्यरूप तौ वचनगोचर हैं अर विशेष वचन तैं अगोचर हैं, अनंत हैं, ज्ञानगम्य हैं।

अैसैं आत्मा भी वस्तु है, तामैं भी अपनें अनंत धर्म हैं, तिनिमैं चेतनापणां असाधारण है, अन्य अचेतनद्रव्य मैं नाहीं अर सजातीय जीवद्रव्य अनंत हैं, तिनिमैं है, तौऊ अपनां अपनां जुदा जुदा निजस्वरूप करि कह्या है। जातैं द्रव्य द्रव्यनि कै प्रदेशभेद है, तातैं काहू का काहू मैं मिलता नाही सो यह चेतनापणां अपनें अनंत धर्मनि मैं व्यापक है, तातैं याही कूं आत्मा का तत्व कह्या है, ताकूं यह सरस्वती की मूर्त्ति देषै है अर दिषावै है॥ तातैं याकूं आशीर्वादरूप वचन कह्या है जो सदा प्रकाशरूप रहौ, यातैं सर्व प्राणीनि का कल्याण होय है, अैसा जाननां॥ छ॥

आगैं टीकाकार इस ग्रंथ के व्याख्यान करनें का फल कूं चाहता संता प्रतिज्ञा करै है॥ छ॥

॥ मालिनी॥

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।

यहाँ प्रश्न है कि आत्मा का अनन्तधर्मात्मक विशेषण किया है, वे अनन्त धर्म कौनसे हैं?

समाधान करते हुए कहते हैं कि वस्तु में अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तिकत्व, अमूर्तिकत्व इत्यादि तो गुण हैं और इन गुणों के परिणमनरूप समय-समयवर्ती तीन काल सम्बन्धी अनन्त पर्यायें हैं तथा एकत्व-अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, भेदत्व-अभेदत्व, शुद्धत्व-अशुद्धत्व आदि अनेक धर्म हैं। वे सामान्यरूप से तो वचनगोचर हैं और विशेषरूप से वचनगोचर नहीं हैं, अनन्त हैं; अतः ज्ञानगम्य हैं।

इसी प्रकार आत्मा भी वस्तु है, उसमें भी अपने अनन्त धर्म हैं, उनमें चेतनत्व असाधारण धर्म है, जो अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है एवं आत्मा के सजातीय अनन्त जीवद्रव्य हैं, उनमें भी चेतनत्व असाधारण धर्म है तो भी सबका अपना-अपना भिन्न-भिन्न निजस्वरूप कहा है क्योंकि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से प्रदेशभेद है; इसलिए किसी का [चेतनत्व] किसी [अन्य] में मिलता नहीं है - ऐसा यह चेतनत्व, अपने अनन्त धर्मों में व्यापक है, इसलिए इसे ही आत्मा का तत्त्व कहा है, उसे यह सरस्वती की मूर्ति देखती है और दिखाती है; अतः इसको आशीर्वादरूप वचन कहा है कि यह सदा प्रकाशरूप रहो क्योंकि इससे सर्व प्राणियों का कल्याण होता है – ऐसा जानना चाहिए।

अब, टीकाकार इस ग्रन्थ के व्याख्यान का फल चाहते हुए प्रतिज्ञा करते हैं —

मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्त्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवाऽनुभूतेः ॥ ३ ॥

॥ याका अर्थ ॥ श्री अमृतचंद्र आचार्य कहै है जो इस समयसार कहिये शुद्धात्मा तथा यह ग्रंथ, ताकी व्याख्या कहिये कथनीं तथा टीका, ताहि करि मेरी अनुभूति कहिये अनुभवन क्रियारूप परिणति, ताकै परमविशुद्धि कहिये समस्त रागादि विभाव परिणतिरहित उत्कृष्ट निर्मलता होहु।

कैसी है यह मेरी परिणति। परपरिणति कूं कारण जो मोह नामा कर्म, ताका अनुभाव कहिये उदयरूप विपाक, तातैं अनुभाव्य कहिये रागादिक परिणाम, तिनिकी जो व्याप्ति, ताकरि निरंतर कल्माषित कहिये मैली है॥

वहुरि मैं कैसा हूँ। द्रव्यदृष्टि करि शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हौं॥

॥ भावार्थ ॥ आचार्य कहै है जो शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि करि तौ मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्त्ति हौं॥ परंतु मेरी परिणति मोहकर्म के उदय के निमित्त करि मलिन है, रागादिरूप होय रही है सो इस शुद्ध आत्मा की कथनींरूप जो यह समयसार ग्रंथ, ताकी टीका करनें का फल यह चाहूं हौं जो मेरी परिणति रागादिक तैं रहित होय करि शुद्ध होहु, मेरै शुद्धस्वरूप की प्राप्ति होहु, अन्य किछू ख्याति

॥ रोला ॥

यद्यपि मैं तो मात्र शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ,
फिर भी परिणति मलिन हुई है मोहोदय से।
परमविशुद्धि को पावे यह परिणति मेरी,
'समयसार' की 'आत्मख्याति' नामक व्याख्या से॥ ३॥

अर्थ – श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि इस समयसार अर्थात् शुद्धात्मा तथा इस समयसार ग्रन्थ की व्याख्या अर्थात् कथनी और टीका करने से मेरी अनुभूति अर्थात् अनुभवन-क्रियारूप परिणति की परम विशुद्धि अर्थात् समस्त रागादि विभावपरिणति रहित उत्कृष्ट निर्मलता होवे।

कैसी है यह मेरी परिणति? – पर-परिणति का कारण मोह नामक कर्म है, उसके अनुभावक अर्थात् उदयरूप विपाक के साथ, अनुभाव्य अर्थात् रागादि परिणामों की व्याप्ति है, उससे [मेरी परिणति] निरन्तर कल्माषित अर्थात् मैली है।

और मैं कैसा हूँ? – द्रव्यदृष्टि से मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ।

भावार्थ – आचार्य कहते हैं कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से तो मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ परन्तु मेरी परिणति मोहकर्म के उदय के निमित्त से मलिन है अर्थात् रागादिरूप हो रही है, अतः इस शुद्ध आत्मा की कथनीरूप समयसार ग्रन्थ की टीका करने का फल मैं यह चाहता हूँ कि मेरी परिणति रागादि से रहित होकर शुद्ध होवे और मुझे मेरे शुद्धस्वरूप की प्राप्ति होवे; मैं अन्य कुछ ख्याति, लाभ, पूजा आदि नहीं चाहता हूँ। इस प्रकार आचार्यश्री ने टीका करने की प्रतिज्ञा करने के

लाभ पूजादिक नाही चाहूं हौं॥ अैसैं आचार्य नैं टीका करनें की प्रतिज्ञागर्भित याका फल की प्रार्थनां करी है॥ छ॥

आगैं मूल गाथासूत्रकार श्री कुंदकुंद आचार्य, सो ग्रंथ की आदि विषै मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करै है॥ छ॥

॥ गाथा॥

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं॥ १॥

॥ याका संस्कृत॥

वन्दित्वा सर्वसिद्धान्, ध्रुवामचलामनौपम्यां गतिं प्राप्तान्।
वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदं श्रुतकेवलिभणितम्॥ छ॥

॥ याका अर्थ॥ आचार्य कहै है, मैं सर्व सिद्धनि कूं वंदि करि, यह समय नाम प्राभृत है, ताहि कहूंगा॥ कैसे हैं सिद्ध। ध्रुव अर अचल अर अनौपम्य, इनि तीन विशेषणनि करि युक्त गति कूं प्राप्त भये हैं॥ वहुरि कैसा है यह समयप्राभृत। श्रुतकेवलीनि करि कह्या है॥ छ॥

॥ टीकाकार के वचन॥ तहां अथ शब्द तौ मंगल के अर्थ मैं है॥ वहुरि प्रथमत एव कहिये ग्रंथ की आदि ही विषै सिद्ध भगवान हैं, तिनि सर्व ही कूं भाव द्रव्य स्तवन करि अपनें आत्मा विषै

साथ, उसके फल की प्रार्थना की है।

अब, मूल गाथासूत्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य, ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं —

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धुवमचलमणोवमं[1] गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं॥ 1॥

॥ हरिगीतिका॥

ध्रुव अचल अरु अनुपम गति, पाए हुए सब सिद्ध को।
मैं वन्दूँ श्रुतकेवलि-कथित, कहूँ समयप्राभृत को अहो॥ १॥

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि मैं सर्व सिद्धों की वन्दना करके, इस 'समय' नामक प्राभृत को कहूँगा। **कैसे हैं सिद्ध?** – ध्रुव, अचल और अनुपम, इन तीन विशेषणों से युक्त गति को प्राप्त हुए हैं। और **कैसा है यह समयप्राभृत?** – श्रुतकेवलियों के द्वारा कहा हुआ है॥ १॥

टीका – यहाँ **अथ** शब्द तो मङ्गल के अर्थ में है तथा **प्रथमत एव** अर्थात् ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही सर्व सिद्ध भगवन्तों को, भाव-स्तवन और द्रव्य-स्तवन के द्वारा अपनी आत्मा और पर की आत्मा

१. *धुवममलमणोवमं* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

अर पर के आत्मा विषै स्थापि करि, इस समय नाम प्राभृत का भाववचन अर द्रव्यवचन करि परिभाषण आरंभिये है॥ अैसैं श्री कुंदकुंद आचार्य कहै है॥

कैसे हैं सिद्ध भगवान। सिद्ध नाम तैं साध्य जो आत्मा, ताके प्रतिच्छंद के स्थान हैं, जिनिका स्वरूप संसारी भव्यजीव चितवन करि तिनि समान अपनां स्वरूप कूं ध्याय, तिनि सारिषे होय हैं॥ वहुरि च्यारि गति तैं विलक्षण जो पंचमगति जो मोक्ष ताहि पाई है॥

कैसी है पंचमगति। स्वभावभाव[१] तैं उपजी है, तातैं ध्रुवपणां कूं अवलंवै है, इस विशेषण करि च्यारि गति परनिमित्त तैं होय है, तातैं ध्रुव नाही, विनाशीक हैं, ताका व्यवच्छेद भया॥

वहुरि कैसी है। अनादि तैं अन्यभाव जे पर, तिनिके निमित्त तैं भई पर विषै परिवृत्ति कहिये भ्रमण, ताकी विश्रांति कहिये अभाव, ताका वश करि अचलपणां कूं प्राप्त भई है, इस विशेषण करि च्यारि गति कै परनिमित्त तैं भया भ्रमण है, ताका व्यवच्छेद भया॥

वहुरि कैसी है। समस्त जे जगत मैं उपमान पदार्थ, तिनितैं विलक्षण अद्भुत माहात्म्यपणां करि नाही विद्यमान है काहू की उपमा जाकै, अैसी है, इस विशेषण करि च्यारि गति कै परस्पर कथंचित् समानपणां पाईये है, ताका व्यवच्छेद भया।

में स्थापित करके, इस **समय** नामक प्राभृत का भाववचन और द्रव्यवचन से व्याख्यान करना प्रारम्भ करता हूँ — इस प्रकार श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं।

कैसे हैं सिद्ध भगवान? – सिद्ध भगवान, हमारी आत्मा की साध्यरूप सिद्ध अवस्था के प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं [स्थानापन्न हैं, समान हैं]। जिनके स्वरूप का संसारी भव्य जीव चिन्तवन करके, उनके समान अपने स्वरूप का ध्यान करके, उन जैसे ही हो जाते हैं तथा जिन्होंने चार गतियों से विलक्षण पञ्चम गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त किया है।

कैसी है पञ्चम गति? – वह स्वभाव-भाव से उत्पन्न हुई है, अत: **ध्रुवपने** का अवलम्बन करती है। इस **[ध्रुव]** विशेषण से चारों गतियाँ, जो पर-निमित्तक होने से ध्रुव नहीं हैं, विनाशीक हैं; उनका निराकरण हुआ।

और वह कैसी है? – अनादिकाल से परभावरूप पर के निमित्त से होनेवाले पर (संसार) में परिभ्रमण के अभाव के कारण **अचलपने** को प्राप्त हुई है। इस **[अचल]** विशेषण से चार गतियों में पर-निमित्त से होनेवाले परिभ्रमण का निराकरण हुआ।

और वह कैसी है? – समस्त जगत में जो भी उपमा देने योग्य पदार्थ हैं, उनसे विलक्षण है अर्थात् इस जगत में अपने अद्भुत माहात्म्यपने के कारण इसकी उपमा देने योग्य कोई भी पदार्थ विद्यमान नहीं है। इस **[अनुपम]** विशेषण से चारों गतियों में पायी जानेवाली परस्पर कथञ्चित् समानता के कारण पञ्चम गति में उन सबका निराकरण हुआ।

और वह कैसी है? – जिसका [दूसरा] नाम **अपवर्ग** है। धर्म, अर्थ और काम; इन तीन को

---

१. *स्वभाव* - 'ब' प्रति पाठ

वहुरि कैसी है। अपवर्ग है नाम जाका, इस विशेषण तैं धर्म अर्थ काम, इनिकूं त्रिवर्ग कहिये है, सो मोक्षगति इस वर्ग मैं नाही, यातैं अपवर्ग नाम पाया है॥

अैसी पंचमगति कूं सिद्ध भगवान प्राप्त भये हैं॥

वहुरि कैसा है यह समयप्राभृत॥ अनादिनिधन जो श्रुत कहिये परमागम शव्दब्रह्म, ताकरि प्रकाशितपणां करि, वहुरि समस्त पदार्थनि का सार्थ कहिये समूह, ताके साक्षात् करनहारे जे केवली भगवान् सर्वज्ञ, तिनिकरि प्रणीतपणां करि तथा तिनि केवलीनि के निकटवर्ती साक्षात् सुननेंवाले जो श्रुतकेवली गणधरदेव, आप अनुभव करते, तिनिकरि भाषितपणां करि प्रमाणता कूं प्राप्त भया है, अन्यवादीनि के आगम की ज्यों छद्मस्थ ही का कल्प्या नाही है, जातैं अप्रमाण होय। वहुरि समय जो सर्व पदार्थ तथा जीव नामा पदार्थ ताका प्रकाशक है॥ वहुरि अर्हत् भगवान का प्रवचन जो परमागम, ताका अवयव है, अंश है॥ अैसा समयप्राभृत का मैं अपनां अर पर का अनादिकाल तैं भया जो मोह अज्ञान मिथ्यात्व, ताके नाश होनै कै अर्थि परिभाषण करूंगा॥

॥ भावार्थ॥ इहां सूत्र मैं आचार्य नैं वक्ष्यामि क्रिया कही, ताका अर्थ टीकाकार वच परिभाषणे धातु तैं परिभाषण अर्थ लेकरि कह्या सो याका अैसा आशय सूचै है जो चौदह पूर्व मैं ज्ञानप्रवाद नाम छठा पूर्व है, तामैं वारह वस्तु अधिकार हैं, तिनिमैं एक एक वस्तु मैं वीस वीस प्राभृत अधिकार हैं॥ तिनिमैं दशमां वस्तु मैं समय नाम प्राभृत है, ताका परिभाषण आचार्य करै है।

त्रिवर्ग कहते हैं परन्तु मोक्षगति इस त्रिवर्ग में नहीं है; अत: उसने **अपवर्ग** नाम प्राप्त किया है।

— ऐसी **पञ्चम गति** को सिद्ध भगवन्त प्राप्त हुए हैं।

कैसा है यह 'समयप्राभृत'? – यह समयप्राभृत शास्त्र अनादिनिधन श्रुत अर्थात् शब्दब्रह्म परमागम के द्वारा प्रकाशित होने के कारण, समस्त पदार्थों के सार्थ अर्थात् समूह को प्रत्यक्ष जाननेवाले सर्वज्ञदेव केवली भगवान के द्वारा प्ररूपित होने के कारण तथा उन केवली-भगवन्तों के समीप में साक्षात् सुननेवाले श्रुतकेवली गणधरदेवों के द्वारा स्वयं अनुभव करके कहा गया होने के कारण, प्रामाणिक है; अन्य मतवादियों के आगम की तरह छद्मस्थों की कल्पनामात्र नहीं होने से अप्रामाणिक नहीं है तथा **समय,** सर्व पदार्थ और जीव नामक पदार्थ का प्रकाशक है और अरहन्त भगवान के प्रवचनरूप परमागम का अवयव है, अंश है – ऐसे **समयप्राभृत** का मैं अपने और दूसरों के अनादिकाल से चले आ रहे मोह, अज्ञान और मिथ्यात्व का नाश करने के लिए परिभाषण करूँगा।

भावार्थ – यहाँ सूत्र में आचार्य ने **वक्ष्यामि** क्रिया का प्रयोग किया है। उसका अर्थ टीकाकार ने 'वच्' धातु से 'परिभाषण करना' किया है। इससे ऐसा आशय सूचित होता है कि चौदह पूर्वों में छठवाँ ज्ञानप्रवादपूर्व है, उसमें बारह वस्तु अधिकार हैं और प्रत्येक वस्तु अधिकार में बीस-बीस प्राभृत अधिकार हैं, उनमें से दसवें वस्तु अधिकार में **समयप्राभृत** नामक प्राभृत है, उसका परिभाषण अर्थात् कथन आचार्य [श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य] करते हैं।

सूत्रों की दश जातियों (प्रकारों) में एक जाति 'परिभाषा' भी है। वहाँ जो अधिकार के

सूत्रनि की दश जाति कही हैं, तिनिमैं एक जाति परिभाषा भी है॥ तहां जो अधिकार के यथास्थान अर्थ मैं सूचै सो परिभाषा कहिये, सो इस समय नाम प्राभृत का, मूल सूत्रनि का, शब्दनि का ज्ञान तौ पहले वडे आचार्यनि कै था, अर तिसके अर्थ का ज्ञान आचार्यनि की परिपाटी कै अनुसार श्री कुंदकुंद आचार्य कूं भी था सो तिनिनैं यह समयप्राभृत के परिभाषासूत्र वांधे हैं सो तिस प्राभृत के अर्थ कूं ही सूचैं हैं, अैसा जाननां॥

वहुरि मंगल अर्थि सिद्धनि कूं नमस्कार कीया अर तिनिका सर्व अैसा विशेषण कीया सो सिद्ध अनंत हैं। अन्यमती शुद्ध आत्मा एक कहैं हैं, तिनिका व्यवच्छेद जाननां। वहुरि संसारी कै शुद्ध आत्मा साध्य है सो साक्षात् शुद्ध आत्मा सिद्ध है, तिनिकूं नमस्कार उचित है अर काहू इष्टदेव का नाम न लीया, ताकी चरचा टीकाकार के मंगल परि करी है सो इहां भी जाननीं।

वहुरि श्रुतकेवली शव्द का अर्थ मैं श्रुत तौ अनादिनिधन प्रवाहरूप आगम कह्या अर केवली शव्द करि सर्वज्ञ अर परमागम के जाननहारे श्रुतकेवली कहे, तिनितैं समयप्राभृत की उत्पत्ति कहि, प्रमाणता कही अर अपनीं ही वुद्धि कल्पित कहनें का निषेध भया॥ अन्यवादी छद्मस्थ अपनी वुद्धि तैं पदार्थ का स्वरूप जैसैं तैसैं कहकरि विवाद करैं हैं, तिनिका असत्यार्थपणां जनाया॥

वहुरि अभिधेय संवंध प्रयोजन, इस ग्रंथ के प्रगट ही हैं। अभिधेय तौ शुद्ध आत्मा का स्वरूप है अर संवंध ताके वाचक या ग्रंथ मैं शव्द हैं, तिनिकै वाच्यवाचकरूप है ही॥ वहुरि प्रयोजन शुद्ध आत्मा का स्वरूप की प्राप्ति होनां है।

यथायोग्य अर्थ को सूचित करे, उसे **परिभाषा** कहते हैं। आशय यह है कि **समयप्राभृत** के मूलसूत्रों का शाब्दिक ज्ञान तो पहले महान आचार्यों को था और उन सूत्रों के अर्थ का ज्ञान आचार्यों की परिपाटी के अनुसार **श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य** को भी था; इसलिए उन्होंने इस **समयप्राभृत** के परिभाषा-सूत्रों की रचना की है, ये सूत्र उस प्राभृत के अर्थ को ही सूचित करते हैं - ऐसा जानना चाहिए।

आचार्यदेव ने **मङ्गल** के प्रयोजन से सिद्धों को नमस्कार कर, उनके लिए **सर्व** विशेषण का प्रयोग किया है, क्योंकि सिद्ध अनन्त हैं; इससे अन्यमती जो शुद्ध आत्मा को एक कहते हैं, उनका निराकरण हो जाता है। संसारी जीवों को शुद्ध आत्मा साध्य है और पूर्ण शुद्ध आत्मा सिद्ध हैं; अत: उन्हें नमस्कार करना योग्य है। यहाँ किसी इष्टदेव का नाम नहीं लिया गया है, उसकी चर्चा स्वयं टीकाकार ने मङ्गल करते हुए की है, उसे यहाँ भी जानना।

श्रुतकेवली शब्द के अर्थ में **श्रुत** तो अनादिनिधन प्रवाहरूप आगम है और **केवली** शब्द के द्वारा सर्वज्ञ भगवान और परमागम को जाननेवाले श्रुतकेवली कहे हैं, उनके द्वारा **समयप्राभृत** की उत्पत्ति बता कर उसकी प्रामाणिकता सिद्ध की है, इससे अपनी बुद्धि से कल्पित कहने का निषेध हो जाता है। अन्यवादी छद्मस्थ, अपनी बुद्धि से पदार्थ का स्वरूप, जैसे-तैसे अयथार्थ कह कर विवाद करते हैं; अत: उनका असत्यार्थपना बताया है।

इस ग्रन्थ के अभिधेय, सम्बन्ध और प्रयोजन तो प्रगट ही हैं। **अभिधेय** तो शुद्ध आत्मा का स्वरूप है; **सम्बन्ध** के वाचक इस ग्रन्थ के शब्द हैं, जिनका वाच्य-वाचकरूप सम्बन्ध है ही तथा

ऐसैं प्रथम गाथासूत्र का तात्पर्य अर्थ जाननां॥ छ॥

आगै प्रथम गाथा मैं समय का प्राभृत कहनें की प्रतिज्ञा करी, तहां आकांक्षा उपजै है जो समय कहा, तहां प्रथम ही समय कूं कहै है॥ छ॥

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिओ तं हि ससमयं जाण।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं॥ २॥

जीवःचरित्रदर्शनज्ञानस्थितःतं हि स्वसमयं जानीहि।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ हे भव्य, जो निश्चय करि जीव है सो चारित्र दर्शन ज्ञान विषै तिष्ठ्या होय, ताहि तू स्वसमय जानि॥ वहुरि जो पुद्गलकर्म के प्रदेशनि विषै तिष्ठ्या होय, ताहि परसमय जानि॥ छ॥

॥ टीका॥ जो यहु जीव नामा पदार्थ है सो ही समय है॥ जातैं समय शव्द का अैसा अर्थ है जो सं अैसा तो उपसर्ग है। वहुरि अय गतौ धातु है, ताका गमन अर्थ भी है अर ज्ञान अर्थ भी है। उपसर्ग का एकपणां अर्थ है, तातैं एक काल जाननां अर परिणमनां, दोऊ क्रिया होय, सो समय सो ही जीव नामा पदार्थ है। एकैं काल परिणमैं भी है अर जानैं भी है, अैसैं दोऊ क्रिया एक काल जाननीं।

प्रयोजन, शुद्ध आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति होना है।

इस प्रकार प्रथम गाथासूत्र का तात्पर्य या अर्थ जानना चाहिए।

यहाँ, प्रथम गाथा में समयप्राभृत को कहने की प्रतिज्ञा की है; अब यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि वह समय क्या है? अतः सर्व प्रथम समय का कथन करते हैं —

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं[1] च तं जाण परसमयं॥ २॥

जीव चरित-दर्शन-ज्ञानस्थित, स्वसमय निश्चय जानना।
स्थित कर्मपुद्गल के प्रदेशों, परसमय जीव जानना॥ २॥

अर्थ – हे भव्य! जो वास्तव में जीव है, वह यदि चारित्र-दर्शन-ज्ञान में स्थित है तो उसे तुम **स्वसमय** जानो और यदि पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित है तो उसे **परसमय** जानो॥ २॥

टीका – यह जीव नामक पदार्थ ही समय है; क्योंकि **समय** शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'गति' अर्थ की सूचक 'अय्' धातु से बना है। 'अय्' धातु का अर्थ गमन भी होता है और ज्ञान भी होता है तथा **सम्** उपसर्ग का अर्थ एकपना है; अतः एक काल में जानना और परिणमना — दोनों क्रियाएँ हों, वह **समय** है, वही जीव नामक पदार्थ है; वह एक ही काल में परिणमता भी है और जानता भी

---

१. *पुग्गलकम्मुवदेसट्ठिदं* - तात्पर्यवृत्ति पाठ।

सो कैसा है। नित्य ही परिणामस्वभाव विषै तिष्ठनें तैं उत्पाद व्यय ध्रौव्य की एकतारूप जो अनुभूति सो है लक्षण जाका, अैसी जो सत्ता, ताकरि अनुस्यूत है, सहित है॥ इस विशेषण करि नास्तिकवादी जीव की सत्ता मानैं नाही, ताका निराकरण भया।

तथा सांख्यमती पुरुष कूं अपरिणामी मानैं है, ताका परिणामस्वभाव कहनें तैं व्यवच्छेद भया।

तथा नैयायिक वैशेषिकमती सत्ता कूं नित्य ही मानैं हैं तथा बौद्धमती सत्ता कूं क्षणक ही मानैं है, तिनिका उत्पादव्ययध्रौव्यरूप कहनें तैं निराकरण भया॥

वहुरि कैसा है॥ चैतन्यस्वरूपपणां तैं नित्य उदयरूप निर्मल स्पष्ट दर्शनज्ञान ज्योतिस्वरूप है, चैतन्य का परिणमन दर्शनज्ञानरूप है। इस विशेषण करि संख्यमती चैतन्य कूं ज्ञानाकारस्वरूप नाही मानैं हैं, ताका निराकरण भया॥

वहुरि कैसा है। अनंत धर्मनि विषै अधिरूढ़ तिष्ठ्या जो एक धर्मीपणां, तातैं प्रगट भया है द्रव्यपणां जाकै, अनंत धर्मनि का एकपणां सो ही द्रव्यपणां है। इस विशेषण करि वस्तु कूं धर्मनि तैं रहित माननेंवाला वौद्धमती, ताका निषेध भया॥

वहुरि कैसा है। क्रमरूप अर अक्रमरूप प्रवर्त्ते जे अनेक भाव, तिस स्वभावपणां तैं अंगीकार है गुण पर्याय जाकै। पर्याय तौ क्रमवर्ती हैं अर गुण सहवर्ती हैं, तिनिकूं अक्रमरूप कहणें॥ इस विशेषण

है, इस प्रकार दोनों क्रियाएँ एक काल में होती हैं – ऐसा जानना।

वह [समय] कैसा है? – नित्य ही परिणामस्वभाव में स्थित रहने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप अनुभूति लक्षणवाली **सत्ता** से अनुस्यूत है, सहित है; इस विशेषण से जो जीव की सत्ता नहीं माननेवाले नास्तिकवादियों का निराकरण हो जाता है।

परिणामस्वभाव कहने से पुरुष को अपरिणामी माननेवाले सांख्यमतियों का निराकरण होता है।

तथा, **उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप** कहने से सत्ता को नित्य ही माननेवाले नैयायिक व वैशेषिक मतवालों का और सत्ता को क्षणिक ही माननेवाले बौद्धमतियों का निराकरण हो जाता है।

और कैसा है? – चैतन्यस्वरूप होने के कारण नित्य उदयरूप स्पष्ट निर्मल **दर्शन-ज्ञान ज्योतिस्वरूप** है। चैतन्य का परिणमन दर्शन-ज्ञानरूप है; इस विशेषण से चैतन्य को ज्ञानाकारस्वरूप नहीं माननेवाले सांख्यमतियों का निराकरण हो जाता है।

और कैसा है? – अनन्त धर्मों में अति प्रगाढ़तापूर्वक रहनेवाले एक धर्मीपने के कारण जिसका **द्रव्यपना** प्रगट है क्योंकि अनन्त धर्मों का एकपना ही द्रव्यपना है; इस विशेषण से वस्तु को धर्मों से रहित माननेवाले बौद्धमतियों का निषेध हो जाता है।

और कैसा है? – जिसने क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक भावों अर्थात् **गुण-पर्यायों** को स्वभावपने से अङ्गीकार किया है। पर्यायें तो क्रमवर्ती हैं और गुण सहवर्ती हैं, उन्हें अक्रमवर्ती भी कहा है; इस विशेषण से पुरुष को निर्गुण माननेवाले सांख्य आदि का निषेध हो जाता है।

करि पुरुष कूं निर्गुण मानैं, अैसे सांख्यादिक तिनिका निरास है॥

वहुरि कैसा है। अपनां अर अन्यद्रव्यनि का आकार के प्रकाशनें विषै समर्थपणां तैं पाया है, समस्त रूप जामैं झलकै, अैसा एकरूपपणां जानैं, अनेक वस्तुनि का आकार जामैं झलकै, अैसा एक ज्ञान का आकाररूप है॥ इस विशेषण करि ज्ञान आप ही कूं जानैं, पर कूं न जाणैं, अैसा एकाकार माननेंवाला का तथा आपकूं न जाणैं, पर ही कूं जाणैं, अैसा अनेकाकार ही माननेंवाला का व्यवछेद भया॥

वहुरि कैसा है॥ न्यारे न्यारे द्रव्यनि के गुण जे अवगाहन गति स्थिति वर्तनाहेतुपणां तथा रूपीपणां, तिनिके अभाव तैं अर असाधारण चैतन्यरूपपणां स्वभाव के सद्भाव तैं, अन्यद्रव्य जे आकाश धर्म अधर्म काल पुद्गल इनितैं भिन्न है॥ इस विशेषण तैं एक ही ब्रह्मवस्तु माननेंवाला का व्यवच्छेद भया॥

वहुरि कैसा है॥ अनंत अन्यद्रव्यनि तैं अत्यंत संकर कहिये एक क्षेत्र अवगाहरूप होतैं भी अपनें स्वरूप तैं न छूटने तैं टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावरूप है॥ इस विशेषण तैं वस्तुस्वभाव का नियम जनाया है।

अैसा जीव नामा पदार्थ समय है।

सो यह जिस काल सकल पदार्थनि के स्वभाव भासनें विषै समर्थ, अैसी विद्या जो केवलज्ञान, ताका उपजावनहारा जो भेदज्ञानज्योति, ताके उदय होनें तैं समस्त परद्रव्यनि तैं छूटिकरि दर्शनज्ञान विषै निश्चित प्रवृत्तिरूप जो आत्मतत्व, तिसतैं एकपणांरूप लीन होय प्रवर्त्तै, तिस काल दर्शनज्ञानचारित्र विषै

और कैसा है? – अपने और अन्य द्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य के कारण जिसने स्वयं में सम्पूर्ण स्वरूप झलकानेवाली एकरूपता को प्राप्त किया है अर्थात् वह अनेक वस्तुओं के आकार जिसमें झलकते हैं, ऐसे एक ज्ञान के आकाररूप है; इस विशेषण से 'ज्ञान, स्वयं को ही जानता है, पर को नहीं जानता'; ऐसे [सर्वथा] एकाकार माननेवालों का तथा 'ज्ञान, स्वयं को नहीं जानता, पर को ही जानता है'; ऐसे [सर्वथा] अनेकाकार माननेवालों का निराकरण हो जाता है।

और कैसा है? – आत्मा से भिन्न [पाँच] द्रव्यों के गुण अवगाहनहेतुत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व और रूपीपना हैं, उनके अभाव और असाधारण चैतन्यरूप स्वभाव के सद्भाव के कारण, अन्य द्रव्यरूप आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल – इनसे भिन्न है; इस विशेषण से वस्तु को [सर्वथा] एक ही ब्रह्मरूप माननेवालों का व्यवच्छेद हो जाता है।

और कैसा है? – अन्य अनन्त द्रव्यों के साथ अत्यन्त सङ्कर अर्थात् एक क्षेत्र में रहने पर भी अपने स्वरूप से च्युत न होने से टङ्कोत्कीर्ण चैतन्यस्वभाववाला है; इस विशेषण से वस्तुस्वभाव के नियम का ज्ञान कराया है।

— ऐसा यह जीव नामक पदार्थ **समय** है।

वह जीव, जब सर्व पदार्थों के स्वभाव को जानने में समर्थ, केवलज्ञानरूपी विद्या को उत्पन्न करनेवाली, भेदज्ञान-ज्योति का उदय होने पर, समस्त पदार्थों से छूट कर, दर्शन-ज्ञान में निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्व में एकपने लीन होकर रहता है; तब वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होने से, अपने स्वरूप को एकत्वपने से, एक काल में जानता और परिणमता हुआ, **स्वसमय** कहलाता है।

तिष्ठनें तैं अपनें स्वरूप कूं एकतारूप करि, एक काल जानता तथा परिणमता संता स्वसमय कहावै है॥

वहुरि जिस काल अनादि अविद्यारूप कंदली है मूल जाका, ऐसा कंद ज्यौं पुष्ट भया जे मोह, ताके उदय कै अनुसार प्रवृत्ति कै आधीनपणां करि दर्शनज्ञान स्वभाव विषै निश्चित वृत्तिरूप जो आत्मतत्व, तातैं छूटि करि अर परद्रव्य है निमित्त जाकूं, अैसा जो मोह राग द्वेषादि भाव, तिनि विषै एकतारूप लीन होय प्रवर्तै, तिस काल पुद्गलकर्म के प्रदेश जे कार्मण स्कंध, तिनि विषै तिष्ठनें तैं परद्रव्य कूं आप तैं एकपणां करि एक काल जानता तथा रागादिरूप परिणमता संता परसमय, अैसा प्रतीतिरूप कीजिये है॥

अैसैं इस जीव नामा पदार्थ के स्वसमय परसमय, अैसा दोय प्रकारपणां प्रगट होय है॥

॥ भावार्थ॥ जीव नामा वस्तु कूं पदार्थ कह्या सो पद तौ जीव ऐसा अक्षरसमूहरूप है अर इस पद करि द्रव्यपर्यायरूप अनेकांतात्मकपणां निश्चित कीजिये सो पदार्थ है, सो ऐसा पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यमयी सत्तास्वरूप है। वहुरि दर्शनज्ञानमयी चेतनास्वरूप है॥ वहुरि अनंत धर्मस्वरूप द्रव्य है। वहुरि द्रव्य है सो वस्तु है। वहुरि गुणपर्यायवान् है। वहुरि स्वपरप्रकाशक ज्ञान अनेकाकाररूप एक है। वहुरि आकाशादिक तैं भिन्न असाधारण चैतन्यगुणस्वरूप है॥ वहुरि अन्यद्रव्यनि तैं एकक्षेत्रावगाहरूप तिष्ठै है, तोऊ अपने स्वरूप तैं नाही छूटै है॥ अैसा जीव नामा पदार्थ समय है।

सो यह जव अपनें स्वभाव विषैं तिष्ठै, तव तो स्वसमय है॥ अर परस्वभाव रागद्वेषमोहरूप होय तिष्ठै, तव परसमय है। अैसैं याकै द्विविधपणां आवै है॥ छ॥

तथा, जब वह जीव, अनादि अविद्यारूप केले के मूल के समान, कन्द की भाँति पुष्ट हुए मोह के उदय के अनुसार, प्रवृत्ति की आधीनता के कारण, दर्शन-ज्ञान स्वभाव में निश्चित वृत्तिरूप आत्मतत्त्व से छूट कर और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले, मोह-राग-द्वेष आदि भावों में, एकपने लीन होकर रहता है; तब कार्मण-स्कन्धरूप पुद्गल के प्रदेशों में स्थित होने के कारण, परद्रव्यों को स्वयं से एकत्व करके एक काल में जानता और रागादिरूप परिणमता हुआ, **परसमय** प्रतीति में आता है।

इस प्रकार इस जीव नामक पदार्थ के **स्वसमय** और **परसमय** — ऐसे दो भेद प्रगट होते हैं।

भावार्थ – यहाँ 'जीव' नामक वस्तु को **पदार्थ** कहा है, वहाँ **पद** अर्थात् अक्षरों का समूहरूप **जीव** पद है और इस **[जीव]** पद से जिसकी द्रव्य-पर्यायरूप अनेकान्तात्मकता निश्चित की जाती है, वह वस्तु **पदार्थ** है। वह पदार्थ, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्तास्वरूप है, दर्शन-ज्ञानमयी चेतनास्वरूप है, अनन्तधर्मात्मक द्रव्य है और जो द्रव्य है, वही वस्तु है, वही गुण-पर्यायवान है। यहाँ स्व-परप्रकाशक ज्ञान, अनेकाकाररूप एक है, वह आकाशादि से भिन्न असाधारण चैतन्य गुणस्वरूप है तथा अन्य द्रव्यों के साथ एकक्षेत्र में रहने पर भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता है — ऐसा जीव नामक पदार्थ **समय** है।

जब यह [जीव नामक पदार्थ या समय] अपने स्वभाव में स्थित रहता है, तब तो **स्वसमय**

आगैं आचार्य कहै है जो यह समय के द्विविधपणां सुंदर नाही, जातैं यह वाधासहित है सो वाधिये है॥ छ॥

एयत्तणिच्छयगओ, समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहा एयत्ते, तेण विसंवाइणी होइ॥ ३॥

एकत्वनिश्चयगतः, समयः सर्वत्र सुन्दरो लोके।
बन्धकथा एकत्वे, तेन विसंवादिनी भवति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ समय है सो एकत्वनिश्चय विषै प्राप्त है सो सर्व लोक विषै सुंदर है॥ तिस कारण करि एकत्व विषै अन्य के वंध की कथा है सो विसंवादिनी कहिये निंदा करावनहारी है॥ छ॥

॥ टीका॥ इहां समय शव्द करि सामान्य करि सर्व ही पदार्थ कहिये, जातैं समय शव्द की अैसी निरुक्ति है जो 'समयते' कहिये एकीभाव करि अपनें गुणपर्यायनि कूं प्राप्त होय परिणमै सो समय है॥ तातैं सर्व ही धर्म अधर्म आकाश काल पुद्गल जीव द्रव्यस्वरूप लोक विषै, जे जितनां केई पदार्थ हैं, ते सर्व ही अपनें द्रव्य विषै अंतर्मग्न जे अपनें अनंत धर्म, तिनिके समूह कूं चूंवते स्पर्शते हैं, तौऊ परस्पर अन्य कूं अन्य नाही स्पर्शते हैं।

है और जब पर-स्वभाव राग-द्वेष-मोहरूप होकर रहता है, तब **परसमय** है। इस प्रकार इस जीव में द्विविधपना आता है।

अब, आचार्य कहते हैं कि समय का यह द्विविधपना सुन्दर नहीं है, क्योंकि यह बाधासहित है; अतः उस बाधा को बतलाते हैं —

एयत्तणिच्छयगदो, समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे।
बंधकहा एयत्ते, तेण विसंवादिणी होदि॥ ३॥

एकत्व-निश्चयगत समय, सर्वत्र सुन्दर लोक में।
उससे बने बन्धनकथा, जु विरोधिनी एकत्व में॥ ३॥

अर्थ – जो एकत्व-निश्चय को प्राप्त **समय** है, वह लोक में सर्वत्र सुन्दर है; अतः एकत्व में अन्य के बन्ध की कथा, विसंवादिनी अर्थात् निन्दा करानेवाली है॥ ३॥

टीका – यहाँ **समय** शब्द से सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं, क्योंकि समय शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है - जो **समयते** अर्थात् एकीभाव से अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होकर परिणमता है, वह **समय** है; इसलिए सभी धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीवद्रव्यस्वरूप लोक में जितने भी पदार्थ हैं; वे सभी अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों के समूह का चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं; फिर भी परस्पर एक-दूसरे का स्पर्श नहीं करते हैं।

वहुरि अत्यंत निकट एकक्षेत्रावगाहरूप तिष्ठैं हैं, तौऊ सदा काल निश्चय तैं अपनें स्वरूप तैं नाही चिगते हैं, यातैं पररूप नाही परिणमने तैं अविनष्ट जे अपनीं व्यक्ति, तिनिकरि जैसैं टांकी की उकीरी मूर्त्ति होय, तैसें सास्वते तिष्ठते हैं॥

याही तैं विरुद्ध कार्य, जे स्वभाव तैं विपरीत कार्य अर अविरुद्ध, जे स्वभावरूप कार्य, तिनिका हेतुपणां करि निरंतर समस्त नैं परस्पर उपकार करैं हैं परन्तु निश्चय करि एकत्व निश्चयपणां कूं प्राप्त भये ही सुंदरपणां कूं पावैं हैं।

जो अन्य प्रकार होय तौ संकर व्यतिकरादि दोष हैं, ते सर्व ही आय पडैं॥ ऐसैं सर्व पदार्थनि कै भिन्न-भिन्न एकत्वपणां ठहरतैं संतैं जीव नामा जो समय, ताकै वंध की कथा तैं विसंवाद की आपत्ति होय[१] है॥ काहे तैं। जातैं वंधकथा का मूल जो पुद्गलकर्म के प्रदेशनि मैं तिष्ठनां सो ही है मूल जाका, अैसा जो परसमयपणां, ताकरि उपजाया या जीव कै परसमय स्वसमयरूप द्विविधपणां आया है॥

यातैं समय कै एकत्वपणां[२] ही ठहरै है, यह ही सराहनें योग्य है॥

॥ भावार्थ॥ निश्चय तैं सर्व पदार्थ अपनें अपनें स्वभाव मैं ही तिष्ठते सोभा पावैं हैं। यातैं जीव नामा पदार्थ कै पुद्गलकर्म के निमित्तरूप अनादि तैं वंध अवस्था है, ताकरि याकै विसंवाद उपजै है, यातैं सोभा न पावै है, तातैं निश्चय करि विचारिये तौ एकत्वपणां[३] ही सुंदर है, याही तैं सोभा पावै है॥ छ॥

यद्यपि वे [पदार्थ] अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से स्थित रहते हैं, फिर भी निश्चय से सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते; इसलिए पररूप नहीं परिणमने के कारण और नष्ट नहीं होनेवाली अपनी व्यक्तता के कारण, टाँकी से उकेरी गयी मूर्ति के समान शाश्वत बने रहते हैं।

यद्यपि वे सभी स्वभाव से विपरीत विरुद्ध कार्य और स्वभावरूप अविरुद्ध कार्य — इन दोनों की हेतुता से निरन्तर परस्पर एक-दूसरे का उपकार करते हैं परन्तु निश्चय से एकत्व में निश्चयपने को प्राप्त होने से ही सुन्दरता को प्राप्त होते हैं।

यदि [वे पदार्थ] अन्य प्रकार से [सुन्दरता को प्राप्त] हों तो सङ्कर, व्यतिकर आदि सभी दोष उत्पन्न हो जाएँ। इस प्रकार सब पदार्थों का भिन्न-भिन्न एकत्वपना सिद्ध होने से, जीव नामक समय को बन्ध की कथा से विसंवाद की आपत्ति उत्पन्न होती है। **ऐसा क्यों?** – क्योंकि जीव का पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होना ही बन्धकथा का मूल है, ऐसे परसमयपने के कारण ही इस जीव के परसमय-स्वसमयरूप द्विविधपना आता है।

इस प्रकार समय का एकत्वपना ही सिद्ध होता है और यही प्रशंसनीय है।

भावार्थ – निश्चय से सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में स्थित होने पर ही शोभा पाते हैं। लेकिन जीव नामक पदार्थ की अनादि से पुद्गलकर्म के निमित्तरूप बन्ध अवस्था है, जिससे जीव को विसंवाद उत्पन्न होता है; अतः शोभा नहीं पाता है। इसलिए निश्चय से विचारने पर एकत्वपना ही सुन्दर है, इसी से जीव शोभा पाता है।

---

१. *हो* - अ प्रति पाठ

२-३. *एकपणां* - 'ब' प्रति पाठ

आगैं कहै हैं जो यह एकत्वपणां का पावनां दुर्लभ है, ताका गाथा सूत्र (कहै है)॥ छ॥

सुदपरिचिदाणुभूया, सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥ ४॥

श्रुतपरिचितानुभूता, सर्वस्यापि कामभोगबन्धकथा।
एकत्वस्योपलम्भः, केवलं न सुलभो विभक्तस्य॥ छ॥

॥ अर्थ॥ सर्व ही लोक कै कामभोगसंवंधी वंध की कथा तो सुनने मैं आई है, परिचय मैं आई है, अनुभव मैं आई है, तातैं सुलभ है॥ वहुरि यह भिन्न आत्मा का एकपणां कवहू श्रवण मैं न आया तथा परिचय मैं न आया तथा अनुभव मैं न आया, यातैं केवल एक यह ही सुलभ नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ इस समस्त ही जीवलोक कैं काम भोग संवंधी कथा है सो एकत्वपणां करि विरुद्धपणां तैं अत्यंत विसंवाद करावनहारी है, आत्मा का अत्यंत वुरा करनहारी है, तौऊ अनंत वार पहलैं सुनने मैं आई है, वहुरि अनंत वार पहलैं परिचय मैं आई है, वहुरि अनंत वार पहलैं अनुभव मैं आई है॥

कैसा है जीवलोक॥ संसार सो ही भया चक्र, ताका क्रोड कहिये मध्य, ता विषै आरोपण कीया है, स्थाप्या है॥

वहुरि कैसा है। निरंतर अनंत वार द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूप परावर्त्त जो पलटनां, तिनिकरि

अब, गाथा में कहते हैं कि इस एकत्वपने को प्राप्त करना दुर्लभ है —

सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विभत्तस्स॥ ४॥

है सर्व श्रुत-परिचित-अनुभूत, काम-भोग-बन्धन कथा।
पर से जुदा एकत्व की, उपलब्धि केवल सुलभ ना॥ ४॥

अर्थ – सर्व ही लोक को काम-भोगसम्बन्धी बन्ध की कथा तो सुनने में आई है, परिचय में आई है, अनुभव में आई है, अतः सुलभ है; लेकिन यह पर से भिन्न आत्मा का एकत्वपना न कभी सुनने में आया है, न परिचय में आया है और न अनुभव में ही आया है, इसलिए केवल एक यह ही सुलभ नहीं है॥ ४॥

टीका – इस समस्त ही जीव-लोक को काम-भोगसम्बन्धी कथा, एकत्व से विरुद्ध होने के कारण अत्यन्त विसंवाद करानेवाली है, आत्मा का अत्यन्त बुरा करनेवाली है; फिर भी पहले अनन्त बार सुनने में आई है, अनन्त बार परिचय में आई है तथा अनन्त बार अनुभव में आई है।

कैसा है जीव-लोक? – संसाररूपी चक्र के क्रोड अर्थात् मध्य में स्थित है।

और कैसा है? – निरन्तर अनन्त बार, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावरूप [पञ्च] परावर्तन द्वारा

प्राप्त भया है भ्रमण जाकै॥

वहुरि कैसा है॥ समस्त लोक कूं एक छत्र राज करि वशि कीया, तिसपणां करि महान् वडा जो मोहरूप पिशाच, ताकरि गऊ की ज्यों वाह्यमान है, वलध की ज्यौं वाह्या है॥ वहुरि वलात्कार करि उठी जो तृष्ना सो ही भया रोग, ताके दाहपणां करि प्रगट भई है अंतरंग विषै पीडा जाकै॥ वहुरि मृग की ज्यों तृष्ना करि जैसै भाडली परि दौडै, तैसैं उछलि उछलि अर इंद्रियनि के विषय के ठिकाणें कूं अपनें करै है॥

वहुरि कैसा है। परस्पर आचार्यपणां कूं आचरता है, वह वाकूं कहि करि अंगीकार करावै है वह वाकूं कहकरि अंगीकार करावै है, यातैं कामभोग संवंधी कथा तौ सर्व कै सुलभ है॥

वहुरि यह भिन्न आत्मा का एकत्वपणां है सो सदा प्रगटपणां करि अंतरंग विषै प्रकाशमान है, तौऊ कषाय के समूह करि एकरूपसा होय रह्या है, तातैं अत्यंत तिरोभाव होय रह्या है, आच्छादित है सो आपकै तो अनात्मज्ञपणां करि कदे आप कूं आप जान्या नाही अर पर जे आत्मा के जाननेंवाले तिनिके सेवन विनां न तौ कदे सुनने में आया, न कदाचित् परिचय में आया, न कदाचित् अनुभव मैं आया। कैसा है यह। निर्मल भेदज्ञानरूप प्रकास करि प्रगट देषनें मैं आवै है॥ तौऊ पूर्वोक्त कारणनि करि इस भिन्न आत्मा का एकत्वपणां पावनां दुर्लभ है॥

॥ भावार्थ॥ या लोक मैं सर्व ही जीव संसाररूप चाक चढ़े पांच परावर्तनरूप भ्रमण करैं हैं,

---

परिभ्रमण को प्राप्त हुआ है।

और कैसा है? – जिसने समस्त लोक को एक छत्र राज्य करके वश में किया है ऐसे महा मोहरूपी पिशाच के द्वारा गाय की तरह भार वहन करता है, बैल की तरह जोता जाता है तथा बलपूर्वक उत्पन्न तृष्णारूपी रोग के दाहपने से जिसके अन्तरङ्ग में पीड़ा प्रगट हुई है तथा जैसे - रेगिस्थान में तृष्णा से मृग, जल की प्राप्ति के लिए दौड़ता है, उसी प्रकार यह भी उछल-उछल कर इन्द्रिय-विषयों के स्थानों को अपनाता फिरता है।

और कैसा है? – परस्पर आचार्यत्व करता है अर्थात् काम-भोगसम्बन्धी कथा, वह उसको और वह उसको कह कर अङ्गीकार कराता है; इसलिए काम-भोगसम्बन्धी कथा तो सबको सुलभ है।

यद्यपि यह **भिन्न आत्मा का एकत्वपना** सदा प्रगटरूप से अन्तरङ्ग में प्रकाशमान है तथापि कषायों के समूह के साथ एकरूप-सा हो रहा है, इस कारण अत्यन्त तिरोभूत है, आच्छादित है, ढका हुआ है; अत: यह अपने अनात्मज्ञपने के कारण अपने को अपने रूप कभी जानता नहीं है और जो दूसरे आत्मा को जाननेवाले हैं, उनकी सेवा-सङ्गति नहीं करने से, न तो कभी सुनने में आया है, न कभी परिचय में आया है और न ही कभी अनुभव में आया है। **कैसा है यह?** – यद्यपि निर्मल भेदज्ञानरूपी प्रकाश से इस भिन्न आत्मा का एकत्वपना प्रगट देखने में आता है तो भी पूर्वोक्त कारणों से इसे पाना दुर्लभ है।

भावार्थ – इस लोक में सर्व ही संसारी जीव संसाररूपी चक्र पर चढ़ कर, पञ्च-परावर्तनरूप

तहां मोहकर्म का उदय सो ही भया पिशाच, ताकरि वाहिये[१] हैं, ताकरि विषयनि की तृष्नारूप दाह करि पीडे, तिसका इलाज इंद्रियनि के विषयनि कूं जानि, तिनि परि दौडैं हैं अर आपस मैं विषयनि ही का उपदेश परस्पर करै हैं, यातैं काम कहिये विषयनि की इच्छा अर भोग कहिये तिनिका भोगनां, यह कथा तौ अनंत वार सुणी, परिचय मैं करी, अनुभव मैं आई, तातैं सुलभ है॥

वहुरि सर्व परद्रव्यनि तैं भिन्न एक चैतन्य चमत्कार एकाकारस्वरूप अपनां आत्मा, ताकी कथा, अपनैं तौ स्वयमेव ज्ञान कदे याका भया नहीं, अर जिनिकै भया, तिनिकी उपासना कदे करी नहीं, यातैं याकी कथा कदे न सुनीं, न परिचई, न अनुभव मैं आई, तातैं याका पावनां दुर्लभ भया॥ छ॥

अव आचार्य कहै है, इस भिन्न आत्मा का एकत्वपणां इस आत्मा कै पासि ही दिखावैं हैं॥ छ॥

तं एयत्तविहत्तं, दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जइ दाएज्ज पमाणं, चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं ॥ ५ ॥

तदेकत्वविभक्तं, दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं, स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम्॥ छ॥

परिभ्रमण करते हैं; वहाँ मोहकर्म के उदयरूपी पिशाच के द्वारा जोते जाते हैं, उसके कारण विषयों की तृष्णा की दाह से पीड़ित जीव, इन्द्रियों के विषयों को उसका इलाज जान कर, उनके पीछे दौड़ते हैं और परस्पर विषयों का ही उपदेश करते हैं; इसलिए काम अर्थात् विषयों की इच्छा और भोग अर्थात् उनको भोगना, इसकी कथा तो इस जीव ने अनन्त बार सुनी है, परिचय की है, अनुभव में आयी है; अतः सुलभ है।

इस जीव को सर्व परद्रव्यों से भिन्न एक चैतन्य-चमत्कार एकाकारस्वरूप अपने आत्मा की कथा का ज्ञान, स्वयं को स्वयमेव तो हुआ नहीं है और जिनको ज्ञान प्राप्त हुआ है, उनकी कभी उपासना (सङ्गति) भी नहीं की है; अतः एकत्व-विभक्त आत्मा की कथा, न तो कभी सुनी है, न परिचय में आई है और न ही कभी अनुभव में आई है; इसलिए इसको प्राप्त करना दुर्लभ है।

अब आचार्य, इस भिन्न आत्मा का एकत्व, इस आत्मा के पास ही दिखाते हैं —

तं एयत्तविभत्तं, दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं, चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं॥ ५॥

दर्शाउँ एक विभक्त को, आत्मा तने निज विभव से।
दर्शाउँ तो करना प्रमाण, न छल ग्रहो स्खलना बने॥ ५॥

---

१. *वहीये* - 'अ' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ सो आत्मा एकत्व विभक्त है, ताहि मैं अपनें आत्मा के विभव करि दिषाऊं हौं॥ जो मैं दिषाऊं तौ प्रमाण करनां अर जो कहूं चूकूं तौ छल नाही ग्रहण करनां॥ छ॥

॥ टीका ॥ आचार्य कहै है जो कछू मेरा आत्मा का निज विभव है, तिस समस्त करि यह मैं, एकत्व विभक्त आत्मा है, ताहि दिषाऊं हौं, अैसा उद्यम वांध्या है॥

कैसा है मेरा आत्मा का निज विभव॥ इस लोक विषै प्रगट समस्त वस्तु का प्रकाश करनहारा अर स्यात्पद करि चिह्नित जो शव्दब्रह्म कहिये अर्हत् का परमागम, ताका उपासन करि है जन्म जाका॥

इहां स्यात् अैसा पद का तौ कथंचित् अर्थ है, कोई प्रकार कहनां॥ वहुरि सामान्य धर्म करि जे वचनगोचर धर्म हैं, तिनिका सर्व का नाम यामैं है अर जे केई विशेष धर्म, वचन कै अगोचर हैं, तिनिका अनुमान करावै, अैसें सर्व वस्तु का प्रकाशक है यातैं सर्वव्यापी कहिये, याही तैं अरहंत के परमागम कूं शव्दब्रह्म कहिये, तिसकी उपासन करि ज्ञानविभव उपज्या है॥

वहुरि कैसा है॥ समस्त जे विपक्ष कहिये अन्यवादीनि करि ग्रही सर्वथा एकांतरूप नयपक्ष, तिनिका क्षोद कहिये निराकरण तिस विषै समर्थ जे अतिनिस्तुष निर्वाध युक्ति, ताका अवलंवन करि है जन्म जाका॥

वहुरि कैसा है। निर्मल विज्ञानघन जो आत्मा ता विषै अंतरनिमग्न जे परगुरु[१] सर्वज्ञदेव, अपरगुरु

अर्थ – यह आत्मा एकत्व-विभक्त है, इसे मैं अपनी आत्मा के [सम्पूर्ण] वैभव से दिखाता हूँ। यदि मैं दिखाऊँ तो उसे प्रमाण करना और यदि कहीं चूक जाऊँ तो छल-ग्रहण नहीं करना॥ ५॥

टीका – आचार्य कहते हैं कि जो कुछ मेरे आत्मा का निज-वैभव है, उस समस्त के द्वारा मैं इस एकत्व-विभक्त आत्मा को दिखाता हूँ – ऐसा करने का मैंने निश्चय किया है।

कैसा है मेरे आत्मा का निज-वैभव? – इस लोक में प्रगट समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करनेवाला है और **स्यात्** पद से चिह्नित **शब्दब्रह्म** अर्थात् अर्हत् का परमागम, उसकी उपासना (स्वाध्याय) से उसका जन्म हुआ है।

यहाँ **स्यात्** पद का अर्थ **कथञ्चित्** है अर्थात् किसी अपेक्षा से कहना। यहाँ वचनगोचर जो सामान्यधर्म हैं, उन सबका कथन तो इसमें है और जो कोई वचनों से अगोचर विशेषधर्म हैं, उनका अनुमान कराता है - इस प्रकार यह परमागम सर्व वस्तुओं का प्रकाशक होने से सर्वव्यापी कहा जाता है और सर्वव्यापी होने से अरहन्त के परमागम को शब्दब्रह्म कहते हैं - ऐसे शब्दब्रह्म की उपासना से मेरा यह ज्ञान-वैभव उत्पन्न हुआ है।

और कैसा है? – समस्त विपक्ष अर्थात् अन्यवादियों द्वारा गृहीत सर्वथा एकान्तरूप नयपक्ष के **क्षोद** अर्थात् निराकरण में समर्थ अतिनिस्तुष निर्बाध युक्ति के अवलम्बन से इसका जन्म हुआ है।

और कैसा है? – निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अन्तर्निमग्न जो परगुरु (परमगुरु) अर्थात्

---

१. *परमगुरु* - 'ब' प्रति पाठ

गणधरादिक तैं लगाय हमारे गुरुपर्यंत, तिनिकरि प्रसादरूप कीया दीया जो शुद्धात्मतत्व का अनुशासन अनुग्रह करि उपदेश तथा पूर्वाचार्यनि कै अनुसार उपदेश, ताकरि है जन्म जाका॥

वहुरि कैसा है॥ निरंतर झरता आस्वाद मैं आवता अर सुंदर जो आनन्द, ताकरि मिल्या हूवा जो प्रचुर संवेदनस्वरूप जो स्वसंवेदन, ताकरि है जन्म जाका।

अैसा जो ज्यों मेरा ज्ञान का विभव है, ता समस्त करि दिषाऊं हूं॥ सो जौ यह दिषाऊं तो स्वयमेव अपनें अनुभवप्रत्यक्ष करि परीक्षा करि प्रमाण करनां। वहुरि जो कहूं अक्षर मात्रा अलंकार युक्ति आदि प्रकरणनि मैं चिगि जाऊं तौ छल ग्रहण विषै सावधान न होनां, जातैं प्रकरण शास्त्रसमुद्र के वहुत हैं, तातैं इहां स्वसंवेदनरूप अर्थ प्रधान है, तातैं अर्थ की परीक्षा करनां।

॥ भावार्थ॥ आचार्य आगम का सेवन, युक्ति का अवलंवन, परापरगुरु का उपदेश, स्वसंवेदन, इनि च्यारि वात करि उपज्या जो अपनां ज्ञान का विभव, ताकरि एकत्व विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप दिषावै है सो सुननेंवाले अपनां स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करि प्रमाण करो। कहूं कोई प्रकरण मैं चूकूं तो तिस मात्र छल ग्रहण मति करौ। इहां अपनां अनुभवप्रमाण प्रधान है, तिसतैं शुद्धस्वरूप का निश्चय करि ल्यो, अैसा कहनें का आशय है॥ छ॥

आगैं प्रश्न उपजै है जो अैसा शुद्ध आत्मा कौंन है, ताका स्वरूप जान्यां चाहिये, अैसे प्रश्न का उत्तररूप गाथासूत्र कहै है॥ छ॥

सर्वज्ञदेव और अपरगुरु अर्थात् गणधर आदि से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त सभी के द्वारा प्रसादरूप से किया गया और उसके द्वारा प्रदत्त शुद्धात्मतत्त्व के अनुशासन अर्थात् अनुग्रहपूर्वक उपदेश तथा पूर्वाचार्यों की परम्परा अनुसार दिये गए उपदेश से इस वैभव का जन्म हुआ है।

और कैसा है? – निरन्तर झरते हुए, आस्वाद में आते हुए, सुन्दर आनन्द से मिश्रित प्रचुर संवेदनस्वरूप स्वसंवेदन से जिसका जन्म हुआ है।

ऐसे मेरे समस्त ज्ञान के वैभव से मैं उस एकत्व-विभक्त आत्मा को दिखाता हूँ। यदि मैं इसे दिखाऊँ तो स्वयं ही अपने अनुभव-प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाणित करना। यदि कहीं अक्षर, मात्रा, अलङ्कार, युक्ति आदि प्रकरणों में चूक जाऊँ तो छल-ग्रहण करने में सावधान मत होना क्योंकि शास्त्र-समुद्र में प्रकरण बहुत हैं। यहाँ स्वसंवेदनरूप अर्थ प्रधान है; इसलिए [स्वसंवेदनरूप] अर्थ की परीक्षा (स्वसंवेदन से) करना।

भावार्थ – यहाँ आगम के सेवन, युक्ति के अवलम्बन, पर-अपर गुरु के उपदेश एवं स्वसंवेदन - इन चार से उत्पन्न हुए अपने ज्ञान के वैभव से एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा के स्वरूप को आचार्य दिखाते हैं; अतः हे सुननेवालों! तुम अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रमाणित करो। कहीं किसी प्रकरण में चूक हो जाए तो उस कारण मात्र से छल-ग्रहण मत करना। यहाँ, अपने अनुभव से प्रमाण करना मुख्य है, उससे ही शुद्धस्वरूप का निश्चय करो — यह कहने का आशय है।

अब, यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है? - जिसका स्वरूप जानना

ण वि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणओ उ जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं, णाओ जो सो उ सो चेव॥ ६॥

नापि भवत्यप्रमत्तो, न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः।
एवं भणन्ति शुद्धं, ज्ञातो यः स तु स चैव॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो ज्ञायकभाव है सो अप्रमत्त नाही है, वहुरि प्रमत्त भी नाही है॥ अैसैं याकूं शुद्ध कहै है॥ वहुरि जो ज्ञायकभाव करि जाण्यां, सो सो ही है, अन्य दूसरा कोई नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जो ज्ञायक एक भाव है सो आप ही तैं सिद्ध है, काहू करि भया नाही है, तिस भाव करि तौ अनादि सत्तारूप है। वहुरि कवहू याका विनाश नाही है, तातैं अनंत है॥ नित्य उद्योतरूप है, तातैं क्षणिक नाही है, अैसा स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है।

सो संसार अवस्था मैं अनादि वंधपर्याय की निरूपणां करि कर्मरूप पुद्गलद्रव्य करि सहित क्षीर नीर की ज्यों एकपणां होतैं भी द्रव्य का स्वभाव की निरूपणां करि देषिये, तव कठिन है मिटनां जाका, अैसा जो कषायसमूह का उदय, ताका विचित्रपणां करि प्रवर्त्तें जे पुण्य पाप के उपजावनहारे समस्त अनेकरूप शुभाशुभभाव, तिनिके स्वभाव करि नाही परिणमै है, ज्ञायकभाव तैं जडभावरूप नाही होय है, यातैं प्रमत्त भी नाही है अर अप्रमत्त भी नाही है॥ यह ही समस्त अन्यद्रव्यनि के भावनि करि भिन्नपणां

चाहिए, इस प्रश्न के उत्तर में यह गाथासूत्र कहते हैं —

ण वि होदि अप्पमत्तो, ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं, णादो जो सो दु सो चेव॥ ६॥

नहिं अप्रमत्त, प्रमत्त नहिं, जो एक ज्ञायकभाव है।
इस रीति शुद्ध कहाय अरु, जो ज्ञात वह तो वही है॥ ६॥

अर्थ – जो **ज्ञायकभाव** है, वह अप्रमत्त नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है; इसलिए इसे **शुद्ध** कहते हैं तथा जो ज्ञायकभाव से जाना गया, वह तो वही है; अन्य दूसरा कोई नहीं है॥ ६॥

टीका – जो एक ज्ञायकभाव है, वह स्वयं ही से सिद्ध है; किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है, इस भाव से तो वह अनादि सत्तारूप है और कभी इसका विनाश नहीं होता, अतः अनन्त है। नित्य उद्योतरूप है, इसलिए क्षणिक नहीं है – ऐसी स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है।

संसार अवस्था में वह अनादि बन्धपर्याय की अपेक्षा (निरूपणा) से कर्मरूप पुद्गलद्रव्य के साथ नीर-क्षीर की तरह एकरूप होने पर भी, द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखने पर, कठिनाई से मिटनेवाली कषायों के उदय की विचित्रता के कारण उत्पन्न होनेवाले समस्त पुण्य-पाप के उत्पादक अनेक प्रकार के समस्त शुभाशुभभावों के स्वभावरूप नहीं परिणमता है, ज्ञायकभाव से जड़भावरूप नहीं होता है; इस कारण वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है। यह ज्ञायकभाव ही, समस्त

करि सेया हूवा शुद्ध, अैसा कहिये है॥

वहुरि याकै ज्ञेयाकार होनें तैं ज्ञायकपणां प्रसिद्ध हो है॥ जैसैं दाहनें योग्य जो दाह्य इंधन, तिस आकार अग्नि होय है, तातैं अग्नि कूं दहन कहिये है तथापि अग्नि तो अग्नि ही है, दाहनें योग्य वस्तु इंधन, अग्नि नाही है। तैसैं ज्ञेयरूप आप नाही है, आप तौ ज्ञायक ही है॥ अैसैं तिस ज्ञेय करि कीया हूवा भी याकै अशुद्धपणां नाही है॥

जातैं ज्ञेयाकार अवस्था विषै भी जो ज्ञायकभाव करि जाण्यां जो अपनां ज्ञायकपणां, सो ही स्वरूप प्रकाशनें की, जाननें की अवस्था मैं भी ज्ञायक ही है, ज्ञेयरूप न भया। जातैं अभेदविवक्षा तैं कर्त्ता तो आप ज्ञायक अर कर्म, आप कूं जाण्यां, सो ए दोऊ एक आप ही है, अन्य नाही है।

जैसैं, दीपक घट पट आदि कूं प्रकाशै है, तिनिके प्रकाशनें की अवस्था मैं भी दीपक ही है, सो ही अपनी ज्योतिरूप लोय, ताकै प्रकाशनें की अवस्था मैं भी दीपक ही है, किछू अन्य नाही, तैसैं जाननां॥

॥ भावार्थ॥ अशुद्धपणां परद्रव्य के संयोग तैं आवै है, तहां जो मूलद्रव्य तौ अन्यद्रव्यरूप होय नाही अर किछू परद्रव्य के निमित्त तैं अवस्था मलिन होय, तहां द्रव्यदृष्टि करि तौ द्रव्य जो है सो ही है अर अवस्था की दृष्टि पर्यायदृष्टि है, ताकरि देषिये, तव मलिन ही दीषै, तैसैं आत्मा का द्रव्यस्वभाव ज्ञायकपणां मात्र है अर ताकी अवस्था पुद्गलकर्म के निमित्त तैं रागादिरूप मलिन है सो यह पर्याय है, ताकी दृष्टि करि देषिये तव मलिन ही दीषै अर द्रव्यदृष्टि करि देषिये, तव ज्ञायकपणां तौ ज्ञायकपणां

अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नपने सेवित (उपासित) होता हुआ, **शुद्ध** कहलाता है।

ज्ञेयाकाररूप परिणमित होने से उसका ज्ञायकपना प्रसिद्ध होता है। जिस प्रकार जलने योग्य दाह्य ईंधन के आकार अग्नि होती है, अत: अग्नि को दहन कहा जाता है; फिर भी अग्नि तो अग्नि ही है, जलने योग्य दाह्य ईंधन, अग्नि नहीं है; उसी प्रकार आत्मा, स्वयं ज्ञेयरूप नहीं है, स्वयं तो ज्ञायक ही है। इस प्रकार ज्ञेयकृत अशुद्धता भी इसके नहीं है।

ज्ञेयाकार अवस्था में भी ज्ञायकभाव से जाना गया जो अपना ज्ञायकपना है, वही स्वरूप को प्रकाशित करने की अर्थात् जानने की अवस्था में भी ज्ञायक ही है, ज्ञेयरूप नहीं हुआ क्योंकि अभेद विवक्षा से 'ज्ञायक आत्मा, स्वयं कर्ता और स्वयं को जाना, यह कर्म'; इस प्रकार ये दोनों एक आत्मा ही हैं, अन्य नहीं हैं।

जिस प्रकार दीपक घट-पट आदि को प्रकाशित करता है, उन [घट-पट] को प्रकाशित करने की अवस्था में भी वह दीपक ही है और वही अपनी ज्योतिरूप लौ (शिखा) को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है, अन्य कुछ नहीं है - ऐसा जानना चाहिए।

भावार्थ – अशुद्धता, परद्रव्य के संयोग से आती है। यद्यपि वहाँ मूल द्रव्य अन्यद्रव्यरूप नहीं होता है तथापि परद्रव्य के निमित्त से अवस्था कुछ मलिन होती है। वहाँ द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य जो है, वही है परन्तु अवस्था की दृष्टि अर्थात् पर्यायदृष्टि से देखने पर वह मलिन ही दिखाई देता है; उसी प्रकार आत्मा का द्रव्यस्वभाव तो ज्ञायकपना मात्र है और उसकी अवस्था पुद्गलकर्म के निमित्त

ही है, किछू जडपणां न भया।

सो इहां द्रव्यदृष्टि कूं प्रधान करि कह्या है जो प्रमत्त अप्रमत्त का भेद है सो तौ परद्रव्य के संयोगजनित पर्याय है, सो यह अशुद्धता है सो द्रव्यदृष्टि मैं यह गौण है, व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उपचार है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है, तातैं आत्मा ज्ञायक है, यामैं भेद नाही यातैं प्रमत्त-अप्रमत्त न कहिये॥

वहुरि ज्ञायक अैसा भी नाम ज्ञेय के जाननें करि कहिये है, जातैं ज्ञेय का प्रतिविंव झलकै, तव तैसा ही अनुभव मैं आवै सो यह भी अशुद्धपणां याकै नाही कहिये, जातैं जैसैं ज्ञेय, ज्ञान मैं प्रतिभास्या, तैसैं ज्ञायक ही का अनुभवन करतैं ज्ञायक ही है, यह मैं जाननहारा हूं सो मैं ही हूं, दूजा कोई नाही है, अैसैं आप का आप कै अभेदरूप अनुभव होय, तव तिस जाननक्रिया का कर्त्ता आप ही है अर जाकूं जाण्यां सो कर्म भी आप ही है। अैसै एक ज्ञायकपणां मात्र आप शुद्ध है, यह शुद्धनय का विषय है, अन्य परसंयोगजनित भेद हैं, ते सर्व भेदरूप अशुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय हैं सो शुद्धद्रव्य की दृष्टि मैं यह भी पर्यायार्थिक ही है सो व्यवहारनय ही है, अैसा आशय जाननां।

वहुरि इहां अैसा भी जाननां जो जिनमत की कथनी स्याद्वादरूप है। सो शुद्धता अर अशुद्धता दोऊ वस्तुधर्म हैं सो अशुद्धनय कूं सर्वथा असत्यार्थ ही न माननां। जो वस्तुधर्म है सो वस्तु का सत्व मैं है, परद्रव्य के संयोग तैं भये, यह ही भेद है। इहां अशुद्धनय कूं हेय कह्या है सो अशुद्धनय का

से रागादिरूप मलिन है, यह पर्याय है और इस पर्याय की दृष्टि से तो वह मलिन ही दिखाई देता है और द्रव्यदृष्टि से देखने पर ज्ञायकपना तो ज्ञायकपना ही है, उसमें कुछ भी जड़पना नहीं है।

यहाँ, द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से कहा है कि प्रमत्त-अप्रमत्त का भेद तो परद्रव्य के संयोगजनित पर्याय है, यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है, व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उपचार है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है; इसलिए आत्मा ज्ञायक है, इसमें भेद नहीं है; अत: उसे प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं कहते हैं।

ज्ञायक, यह नाम भी ज्ञेयों को जानने के कारण है क्योंकि जब ज्ञेय का प्रतिबिम्ब झलकता है, तब वह वैसा ही अनुभव में आता है, लेकिन इससे भी ज्ञायक को अशुद्धता नहीं है क्योंकि जिस समय ज्ञेय, ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं, उस समय ज्ञायक, स्वयं ही का अनुभव करते हुए ज्ञायक ही रहता है। 'यह मैं जाननहार हूँ, वह मैं ही हूँ, दूसरा कोई नहीं है' – ऐसे स्वयं का स्वयं में अभेदरूप अनुभव होता है, तब उस जाननक्रिया का कर्ता स्वयं ही है और जिसको जाना, वह कर्म भी स्वयं ही है। इस प्रकार एक ज्ञायकपना मात्र स्वयं शुद्ध है – यह शुद्धनय का विषय है। अन्य परसंयोगजनित सर्व भेद, भेदरूप अशुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय हैं; अत: शुद्धद्रव्य की दृष्टि में यह [अशुद्धद्रव्यार्थिकनय] भी पर्यायार्थिकनय ही है, इसलिए व्यवहारनय ही है – ऐसा आशय समझना चाहिए।

यहाँ ऐसा भी जानना चाहिए कि जिनमत की कथन-शैली स्याद्वादरूप है। वहाँ शुद्धता और अशुद्धता, दोनों वस्तु-धर्म हैं; अत: अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ ही नहीं मानना चाहिए क्योंकि यह वस्तु-धर्म भी वस्तु के सत्त्व में है; [मात्र] परद्रव्य के संयोग से हुआ है — यह ही अन्तर है। यहाँ

विषय संसार है, तामैं आत्मा क्लेश भोगवै है, सो आप परद्रव्य तैं भिन्न होय, तव संसार मिटै, तव क्लेश मिटै, अैसैं दुख मेटनें कूं शुद्धनय का प्रधान उपदेश है।

अर अशुद्धनय कूं असत्यार्थ कहनें तैं अैसा तो न समझनां जो यह वस्तुधर्म सर्वथा ही नाही, आकाश के फूल की ज्यों है, अैसैं सर्वथा एकांत समझें मिथ्यादृष्टि आवै है। तातैं स्याद्वाद का शरण ले शुद्धनय का अवलंवन करनां, स्वरूप की प्राप्ति भयें पीछैं शुद्धनय का भी अवलंवन नाही है, जो वस्तुस्वरूप है सो है, यह प्रमाणदृष्टि है, याका फल वीतरागता है, अैसा निश्चय करनां।

वहुरि इहां गाथा मैं प्रमत्त अप्रमत्त नाही है, अैसैं कह्या है सो गुणस्थानां की परिपाटी मैं छठा गुणस्थान तांई तो प्रमत्त है अर सातमा तैं लगाय अप्रमत्त है सो ए सर्व ही गुणस्थान अशुद्धनय की कथनी मैं है, शुद्धनय में आत्मा ज्ञायक ही है॥ छ॥

आगैं फेरि प्रश्न उपजै है जो दर्शन ज्ञान चारित्र, आत्मा के धर्म कहे हैं सो तीन भेद भये सो इनि भावनि करि याकै अशुद्धपणां आवै है॥ अैसा प्रश्न होतैं याका उत्तर की गाथासूत्र कहै हैं॥ छ॥

ववहारेणुवदिस्सइ, णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं, ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥ ७॥

अशुद्धनय को हेय कहने का कारण यह है कि अशुद्धनय का विषय संसार है और उसमें आत्मा क्लेश भोगता है; अतः जब स्वयं परद्रव्यों से भिन्न होता है, तब संसार और क्लेश मिटता है।

इस प्रकार दुःख मिटाने के लिए शुद्धनय का प्रधानता से उपदेश दिया गया है।

अशुद्धनय को असत्यार्थ कहने से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यह वस्तु-धर्म, आकाश-कुसुम की तरह वस्तु में सर्वथा है ही नहीं; इस प्रकार सर्वथा एकान्त को सत्य समझने से दृष्टि में मिथ्यात्व आता है, अतः स्याद्वाद की शरण लेकर शुद्धनय का अवलम्बन करना चाहिए। स्वरूप की प्राप्ति हो जाने के बाद शुद्धनय का अवलम्बन भी नहीं रहता है। जो वस्तुस्वरूप है, वह है – यह प्रमाणदृष्टि है और इसका फल वीतरागता है – ऐसा निश्चय करना चाहिए।

यहाँ गाथा में जो प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है – ऐसा कहा है, वहाँ गुणस्थानों के क्रमानुसार छठवें गुणस्थान तक तो प्रमत्त अवस्था है और सातवें से लेकर अप्रमत्त अवस्था है; अतः सभी गुणस्थान अशुद्धनय की कथनी में हैं, शुद्धनय की अपेक्षा आत्मा ज्ञायक ही है।

अब, फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र के तीन भेदरूप आत्मा के धर्म कहे गये हैं, लेकिन इन भेदरूप भावों से तो आत्मा में अशुद्धपना आता है? – ऐसा प्रश्न होने पर इसके उत्तर में गाथासूत्र कहते हैं —

ववहारेणुवदिस्सदि, णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं, ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥ ७॥

व्यवहारेणोपदिश्यते, ज्ञानिनश्चरित्रदर्शनं ज्ञानं।
नापि ज्ञानं न चरित्रं, न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः॥ ७॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी कै चारित्र दर्शन ज्ञान, ए तीन भाव हैं, ते व्यवहार करि उपदेशिये हैं। निश्चय करि ज्ञान भी नाही है, चारित्र भी नाही है, दर्शन भी नाही है। ज्ञानी तो एक ज्ञायक ही है, याही तैं शुद्ध कहिये॥ छ॥

॥ टीका॥ इस ज्ञायक आत्मा कै वंध पर्याय के निमित्त तैं अशुद्धपणां है सो तौ दूरि ही तिष्ठौ, याकै दर्शन ज्ञान चारित्र हैं, ते भी विद्यमान नाही हैं॥ जातैं निश्चय करि अनंत धर्मा जो एक धर्मी वस्तु, ताकूं जानैं न जाण्यां, अैसा जो निकटवर्ती शिष्यजन, ताकूं तिस अनंत धर्मस्वरूप धर्मी का जनावनहारे जे केई धर्म, तिनिकरि तिस शिष्यजन कूं उपदेश करते जे आचार्य, तिनिका धर्मनि कै अर धर्मी कै स्वभाव थकी अभेद है, तौऊ नाम थकी भेद उपजाय करि व्यवहारमात्र ही करि ज्ञानी कै दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, अैसैं उपदेश है॥

वहुरि परमार्थ तैं देषिये, तव एक द्रव्य नैं पीयें जे अनंत पर्याय, तिसपणां करि एक ज्यों मिल्या हूवा आस्वादरूप अभेदस्वभाव वस्तु कूं अनुभव करते जे पंडित पुरुष तिनिकै दर्शन नाही, ज्ञान नाही, चारित्र नाही, एक ज्ञायक ही है सो ही शुद्ध है॥

॥ भावार्थ॥ या शुद्ध आत्मा कै कर्मवंध के निमित्त तैं अशुद्धपणां आवै है सो तौ दूरि ही

चारित्र-दर्शन-ज्ञान भी, व्यवहार कहता ज्ञानि के।
चारित्र नहिं, दर्शन नहीं, नहिं ज्ञान, 'ज्ञायक' शुद्ध है॥ ७॥

अर्थ – ज्ञानी (आत्मा) के चारित्र-दर्शन-ज्ञानरूप तीन भाव, व्यवहार से उपदिष्ट हैं परन्तु निश्चय से [आत्मा] ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है, दर्शन भी नहीं है; ज्ञानी (आत्मा) तो एक 'ज्ञायक' ही है; इसी कारण इसे **शुद्ध** कहते हैं॥ ७॥

टीका – इस ज्ञायक आत्मा को बन्धपर्याय के निमित्त से अशुद्धपना तो दूर, उसको दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी विद्यमान नहीं हैं क्योंकि निश्चय से वस्तु अनन्त धर्मात्मक एक धर्मी से अनजान निकटवर्ती शिष्यजनों को उस अनन्त धर्मस्वरूप धर्मी का ज्ञान करानेवाले किन्हीं धर्मों के द्वारा उन शिष्यों को समझानेवाले आचार्यों का उपदेश है कि यद्यपि धर्मों और धर्मी में स्वभाव से अभेद है तो भी नाम से भेद उत्पन्न कर ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है – ऐसा व्यवहारमात्र से ही उपदेश है।

परमार्थ से देखा जाए तो एक द्रव्य ने अनन्त पर्यायों को पी लिया है, उसके कारण कुछ मिला हुआ (मिश्रित) एक आस्वादरूप अभेद स्वभाववाली वस्तु का अनुभव करनेवाले पण्डित पुरुषों को दर्शन भी नहीं है, ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है; बस एक 'ज्ञायक' ही है, वही '**शुद्ध**' है।

भावार्थ – इस शुद्ध आत्मा को कर्मबन्ध के निमित्त से अशुद्धता तो दूर, इसमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र का भेद भी नहीं है क्योंकि वस्तु तो अनन्त धर्मरूप एक धर्मी है परन्तु व्यवहारीजन धर्मों को

रहौ, याकै दर्शन ज्ञान चारित्र का भी भेद नाही है, जातैं वस्तु है सो अनंत धर्मरूप एकधर्मी है। सो व्यवहारीजन धर्मनि ही कूं समझै हैं अर धर्मी कूं नाही जानैं हैं, तातैं वस्तु का केई असाधारण धर्मनि कूं उपदेश मैं ले करि यद्यपि वस्तु अभेद है, तथापि धर्मनि का नामरूप भेद कूं उपजाय, ऐसैं उपदेश करैं हैं। जो ज्ञानी कै दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, यह अभेद विषै भेद कीया, तातैं व्यवहार है। परमार्थ विचारिये, तव अनंत पर्यायनि कूं एक द्रव्य अभेदरूप पीयें बैठा है, तातैं भेद नाही॥

इहां कोई कहै, पर्याय भी तौ द्रव्य ही के भेद हैं, अवस्तु तौ नाही, ताकूं व्यवहार कैसैं कहिये। **ताका समाधान** – जो यह तौ सत्य है, परंतु इहां द्रव्यदृष्टि करि अभेद कूं प्रधान करि उपदेश है। तातैं अभेददृष्टि मैं भेद गौण कहें ही अभेद स्पष्ट दीषै, तातैं भेद कूं गौण करि व्यवहार कह्या है। इहां प्रयोजन अैसा, जो भेददृष्टि मैं निर्विकल्पदशा होय नाही, अर सरागी कै विकल्प रहै, जेतै रागादिक मिटै नाही, तातैं भेद कूं गौण करि अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया है। वीतराग भये भेदाभेदरूप वस्तु का ज्ञाता होय है, तहां नय का आलंवन है नाही॥ छ॥

आगैं फेरि प्रश्न उपजै है, जो अैसैं है तौ एक परमार्थ ही का उपदेश क्यों न करिये, व्यवहार काहे कूं कहना॥ ताका उत्तर का गाथासूत्र कहै हैं॥ छ॥

जह ण वि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवएसणमसक्कं॥ ८॥

ही समझते हैं और धर्मी को नहीं जानते हैं; अत: वस्तु के कुछ असाधारण धर्मों को आधार बना कर, यद्यपि वस्तु अभेद है तथापि धर्मों के नामरूप भेदों को उत्पन्न करके ऐसा उपदेश किया जाता है कि ज्ञानी को दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है; यह अभेद में भेद किया गया है, इसलिए व्यवहार है। परमार्थ से विचारने पर तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य अभेदरूप पीकर बैठा है, अत: भेद नहीं है।

यहाँ कोई कहता है कि पर्यायें भी तो द्रव्य के ही भेद हैं, अवस्तु तो नहीं हैं; अत: उन्हें व्यवहार कैसे कहा जा सकता है? उसका समाधान – यद्यपि यह तो सत्य है तथापि यहाँ द्रव्यदृष्टि से अभेद को प्रधान करके उपदेश दिया है क्योंकि अभेददृष्टि में तो भेदों को गौण कहने पर ही अभेद स्पष्ट दिखाई देता है; अत: भेद को गौण करके व्यवहार कहा है। यहाँ प्रयोजन यह है कि भेददृष्टि में निर्विकल्पदशा तो होती नहीं है और जब तक सरागी को विकल्प रहते हैं, तब तक रागादि मिटते नहीं हैं; इसलिए भेद को गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया है। वीतराग हो जाने पर तो भेदाभेदरूप वस्तु का ज्ञाता हो जाता है, तब वहाँ नयों का अवलम्बन नहीं रहता है।

अब, पुन: प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि ऐसा है तो एक परमार्थ ही का उपदेश क्यों नहीं दिया जाता? व्यवहार क्यों कहा जाता है? – इसके उत्तर में गाथासूत्र कहते हैं –

जह ण वि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवदेसणमसक्कं॥ ८॥

यथा नापि शक्योनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुं।
तथा व्यवहारेण विना, परमार्थोपदेशनमशक्यं॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं अनार्य कहिये म्लेच्छ[१], म्लेच्छभाषा विनां किछू वस्तु का स्वरूप ग्रहण करावनें कूं असमर्थ हूजिये, तैसैं व्यवहार विना परमार्थ का उपदेश करनें कूं समर्थ न हूजिये है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं प्रगटपणैं कोई म्लेच्छ कूं काहू ब्राह्मण स्वस्ति होहु, अैसा शब्द कह्या सो म्लेच्छ तिस शब्द का वाच्य-वाचक संबंध का ज्ञान तैं वाह्य है, तातैं ताका अर्थ किछू भी न पावता संता ब्राह्मण की तरफ मींढा की ज्यों नेत्र उघाडि टिमकारें विनां देषता रह्या जो यानैं कहा कह्या, तव तिस ब्राह्मण की भाषा तथा म्लेच्छ की भाषा दोऊ का एक अर्थ जाननेंवाला सो ही ब्राह्मण तथा अन्य कोई तिस म्लेच्छभाषा कूं लेकरि स्वस्ति शब्द का अर्थ अैसा कह्या जो तेरा अविनाश कल्याण होऊ, अैसा याका अर्थ है, तव सो म्लेच्छ तत्काल उपज्या जो वहुत आनंद, तिसमयी जो अश्रुपात तिस करि झलकते भरि आये हैं लोचन पात्र जाकै, अैसा हूवा संता तिस स्वस्ति शब्द का अर्थ समझै ही हैं॥

तैसै ही व्यवहारीजन है सोऊ आत्मा अैसा शब्द कहतैं संतैं जैसा है, तैसा आत्म शब्द का अर्थ का[२] ज्ञान कै वाह्य वर्तै है, तातैं याका अर्थ किछू न पावता संता मींढे की ज्यों नेत्र उघाडि टिमकारें विनां देषता ही रहै अर जव व्यवहार परमार्थ मार्ग विषैं चलाया है सम्यक्ज्ञानरूप महारथ जानैं, अैसा

भाषा अनार्य बिना न समझाना ज्यों शक्य अनार्य को।
व्यवहार बिन परमार्थ का, उपदेश होय अशक्य यों॥ ८॥

अर्थ – जिस प्रकार [हम] अनार्य अर्थात् म्लेच्छ को, म्लेच्छ भाषा के बिना कुछ भी वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराने में असमर्थ होते हैं; उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश करने में भी समर्थ नहीं होते हैं॥ ८॥

टीका – जिस प्रकार प्रगटरूप से किसी म्लेच्छ को किसी ब्राह्मण ने **'स्वस्ति'** – ऐसा शब्द कहा परन्तु वह म्लेच्छ तो उस शब्द के वाच्य-वाचक सम्बन्ध के ज्ञान से रहित है; अत: उसका कुछ भी अर्थ न समझता हुआ, उस ब्राह्मण की तरफ मेंढे के समान खुली आँखों से अपलक एकटक देखता ही रहता है कि इन्होंने क्या कहा? तब उस ब्राह्मण और म्लेच्छ, दोनों की भाषा का अर्थ जाननेवाले उसी ब्राह्मण ने अथवा किसी अन्य व्यक्ति ने उस म्लेच्छ की भाषा में **'स्वस्ति'** शब्द का ऐसा अर्थ किया कि **'तेरा अविनाशी कल्याण हो'**; तब तत्काल ही उत्पन्न हुए तीव्र आनन्द से जिसके नेत्ररूपी पात्र आँसुओं से छलछला गये हैं, भर गये हैं – ऐसा वह म्लेच्छ, उस **स्वस्ति** शब्द का अर्थ समझ जाता है।

उसी प्रकार व्यवहारीजन भी **'आत्मा'** – ऐसा शब्द कहने पर आत्मा शब्द के अर्थ के ज्ञान से रहित होने के कारण, इसका कुछ भी अर्थ न समझ कर, मेंढ़े के समान आँखें खोल कर अपलक एकटक देखता ही रहता है; लेकिन जब व्यवहार और निश्चय (परमार्थ) [नयरूपी] मार्ग पर

---

१. *म्लेच्छ है सो* – 'ब' प्रति पाठ
२. *अर्थ है ताका* – 'ब' प्रति पाठ

सारथी सारिषा सो ही आचार्य तथा अन्य कोई आचार्य, व्यवहारमार्ग मैं तिष्ठि करि दर्शनज्ञानचारित्रनि कूं निरंतर प्राप्त होय सो आत्मा है, अैसा आत्म शव्द का अर्थ कहै, तव तत्काल ही उपज्या प्रचुर आनंद जामैं पाइए, अैसा अंतरंग विषैं सुन्दर अर वंधुर कहिये प्रवंधरूप ज्ञानरूप तरंग जाकै, अैसा व्यवहारीजन सो तिस आत्म शव्द का अर्थ पावै ही॥

अैसैं जगत् तौ म्लेच्छ स्थानीय जाननां। वहुरि व्यवहारनय म्लेच्छभाषा स्थानीय जाननां॥ यातैं व्यवहार कूं परमार्थ का कहनहारा मानि स्थापनां योग्य है॥ अथवा ब्राह्मण कूं म्लेच्छ न होनां, इस वचन तैं व्यवहारनय कूं सर्वथा उपादेय ही मान्य अंगीकार न करनां॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ लोक शुद्धनय कूं जानैं नाही, जातैं शुद्धनय का विषय अभेद एकरूप वस्तु है॥ वहुरि अशुद्धनय ही कूं जानैं है, जातैं याका विषय भेदरूप अनेक प्रकार है, तातैं व्यवहार कै द्वारै ही शुद्धनयरूप परमार्थ कूं समझै है, तातैं व्यवहारनय परमार्थ का कहनहारा जानि, याका उपदेश करै है।

इहां अैसा न जाननां जो व्यवहार का आलंवन करावै है, इहां तौ व्यवहार का आलंवन छुडाय, परमार्थ कूं पहुंचावै है, अैसा जाननां॥ छ॥

आगैं प्रश्न उपजै है जो व्यवहारनय कै परमार्थ का प्रतिपादकपणां कैसैं है॥ ताका उत्तर का सूत्र कहे है॥

सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलानेवाले सारथीरूपी, वे ही आचार्य अथवा अन्य कोई आचार्य, व्यवहारमार्ग में स्थित होकर कहते हैं कि '**जो निरन्तर दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त होता है, वह आत्मा है**' - ऐसा आत्मा शब्द का अर्थ कहते हैं; तब तत्काल ही उत्पन्न हुए प्रचुर आनन्द से, जिसके अन्तरङ्ग में **सुन्दर** और **बन्धुर** अर्थात् रुचिकर उत्कृष्ट ज्ञानरूपी बोधतरङ्गें उछलने लगती हैं - ऐसा वह व्यवहारीजन, उस 'आत्मा' शब्द का अर्थ प्राप्त कर लेता है अर्थात् भलीभाँति समझ लेता है।

इस प्रकार जगत को तो म्लेच्छ के स्थान पर और व्यवहारनय को म्लेच्छ भाषा के स्थान पर जानना चाहिए; इसलिए व्यवहार को परमार्थ का कहनेवाला समझ कर, उसकी स्थापना करना योग्य है, लेकिन ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं हो जाना चाहिए; इस वचन से व्यवहारनय को सर्वथा उपादेय ही मान कर अङ्गीकार नहीं करना चाहिए।

भावार्थ – लौकिकजन शुद्धनय को तो जानते नहीं हैं क्योंकि शुद्धनय का विषय अभेद एकरूप वस्तु है तथा अशुद्धनय ही को जानते हैं क्योंकि इसका विषय भेदरूप अनेक प्रकार है, इसलिए वे व्यवहारनय (अशुद्धनय) के द्वारा ही शुद्धनयरूप परमार्थ को समझते हैं; अत: व्यवहारनय, परमार्थ का प्रतिपादक जानकर, उसका उपदेश दिया जाता है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि व्यवहार का अवलम्बन करा रहे हैं, [बल्कि] यहाँ तो व्यवहार का अवलम्बन छुड़ा कर, परमार्थ तक पहुँचा रहे हैं – ऐसा जानना चाहिए।

अब, प्रश्न उत्पन्न होता है कि व्यवहारनय में परमार्थ का प्रतिपादकपना कैसे है? – उसके उत्तर का गाथासूत्र कहते हैं –

जो हि सुएणहिगच्छइ, अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुयकेवलिमिसिणो, भणंति लोयप्पईवयरा॥ ९॥
जो सुयणाणं सव्वं, जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं आया सव्वं, जम्हा सुयकेवली तम्हा॥ १०॥
॥ युग्मं॥

यो हि श्रुतेनाभिगच्छत्यात्मानमिमं तु केवलं शुद्धम्।
तं श्रुतकेवमिनमृषयो, भणन्ति लोकप्रदीपकराः॥ ९॥
यः श्रुतज्ञानं सर्वं, जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः।
ज्ञानमात्मा सर्वं, यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात्॥ १०॥

॥ अर्थ॥ जो जीव निहंय करि श्रुतज्ञान करि इस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्मा कूं सम्मुख होय करि जानैं॥ तिसकूं लोक के प्रगट जाननेंवाले ऋषीह्लह्लइ हैं, ते श्रुतकेवली, अैसा कहै है॥ छ॥

वहुरि जो जीव सर्व श्रुतज्ञान कूं जानैं है, ताकूं जिनदेव श्रुतकेवली कहै है॥ काहे तैं। जातैं ज्ञान

जो हि सुदेणहिगच्छदि[1], अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो, भणंति लोयप्पदीवयरा[2]॥ ९॥
जो सुदणाणं सव्वं, जाणदि[3] सुदकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा[4] सव्वं, जम्हा सुदकेवली तम्हा॥ १०॥

इस आत्म को श्रुत से नियत, जो शुद्ध केवल जानते।
ऋषिगण प्रकाशक लोक के, श्रुतकेवली उसको कहें॥ ९॥
श्रुतज्ञान सब जाने जु, जिन श्रुतकेवली उसको कहें।
सब ज्ञान सो आत्मा हि है, श्रुतकेवली उससे बने॥ १०॥

अर्थ – जो जीव, निश्चय से श्रुतज्ञान के द्वारा इस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को सन्मुख होकर जानता है, उसे लोक को प्रत्यक्ष जाननेवाले ऋषीश्वर, **श्रुतकेवली** कहते हैं॥ ९॥

तथा जो सर्व श्रुतज्ञान को जानता है, उसे जिनदेव **श्रुतकेवली** कहते हैं। **ऐसा क्यों?** – क्योंकि जो ज्ञान है, वह सर्व आत्मा ही है; अतः आत्मा ही को जानने के कारण वे **श्रुतकेवली** हैं॥ १०॥

१-२. – *सुदेणाभिगच्छदि / लोगप्पदीवयरा* – तात्पर्यवृत्ति पाठ ३-४. – *जाणादि / सुदणाणमादा* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

है सो सर्व आत्मा ही है, तातैं आत्मा ही कूं जान्यां यातैं श्रुतकेवली है॥ छ॥

॥ टीका॥ जो श्रुत करि केवल शुद्ध आत्मा कूं जानैं है सो श्रुतकेवली है, यह तो प्रथम परमार्थ है॥ वहुरि जो श्रुतज्ञान सर्व कूं जानैं है सो श्रुतकेवली है, यह व्यवहार है॥

सो इहां परीक्षा दोय पक्ष करि करै है जो यह कह्या हूवा सर्व ही ज्ञान अनात्मा[१] है कि आत्मा है॥ तहाँ प्रथम पक्ष लीजिये जो अनात्मा है तौ अनात्मा तौ नाही है॥ जातैं समस्त ही जे जडरूप अनात्मा आकाशादि पांच द्रव्य हैं, तिनिकै ज्ञान तैं तादात्म्यपणां[२] की अनुपपत्ति है, तत्स्वरूपपणां वणैं नाही॥ तातैं अन्यपक्ष के अभाव तैं ज्ञान है सो आत्मा है, अैसा दूजा पक्ष आया॥ यातैं श्रुतज्ञान भी आत्मा ही होय॥ अैसैं होतै जो आत्मा कूं जानैं है सो श्रुतकेवली है, अैसा ही आवै है सो परमार्थ ही है॥

अैसैं ज्ञान अर ज्ञानी कूं भेद करि कहता जो व्यवहार, तिसकरि भी परमार्थमात्र ही कहिये है, तिसतैं जुदा अधिका तौ कछू भी न कहै है॥ अथवा जो श्रुत करि केवल शुद्ध आत्मा कूं जानैं है सो श्रुतकेवली है, अैसैं परमार्थ का लक्षण के कहें विनां कहनें का असमर्थपणां है, तातैं जो सर्व श्रुतज्ञान कूं जानैं है सो श्रुतकेवली है, अैसा व्यवहार है सो परमार्थ के प्रतिपादकपणें तैं आत्मां कूं प्रतिष्ठारूप करै है, प्रगटरूप स्थापै है॥

॥ भावार्थ॥ जो शास्त्रज्ञान करि अभेदरूप ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्मा कूं जानैं सो श्रुतकेवली है, यह तौ परमार्थ है॥ वहुरि जो सर्व शास्त्रज्ञान कूं जानैं सो श्रुतकेवली है, यह व्यवहार है। तहां सर्व

टीका – जो श्रुत के द्वारा केवल शुद्ध आत्मा को जानता है, वह **श्रुतकेवली** है – यह तो परमार्थ है तथा जो श्रुतज्ञान सर्व को जानता है, वह **श्रुतकेवली** है – यह व्यवहार है।

यहाँ दोनों पक्षों के आधार पर परीक्षा करते हैं कि कहा हुआ यह सर्व ही ज्ञान, अनात्मा है या आत्मा? वहाँ यदि प्रथम पक्ष लिया जाए कि ज्ञान, अनात्मा है तो वह अनात्मा तो नहीं है क्योंकि समस्त ही आकाश आदि पाँच द्रव्य, जड़रूप अनात्मा हैं, उनकी ज्ञान के साथ तादात्म्यपने की असिद्धि है, तत्स्वरूपपना अर्थात् ज्ञानरूपता बनती नहीं है; इसलिए अन्य पक्ष का अभाव होने से ज्ञान, आत्मा ही है - ऐसा दूसरा पक्ष ही सिद्ध होता है; अतः श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है। इस तरह जो आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है - ऐसा ही सिद्ध होता है, यह परमार्थ ही है।

इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानी में भेद करके कथन करनेवाले व्यवहार से भी परमार्थमात्र ही कहा जाता है, उससे भिन्न या अधिक तो वह कुछ भी नहीं कहता है। अथवा जो श्रुत के द्वारा केवल शुद्ध आत्मा को जानता है, वह **श्रुतकेवली** है – ऐसे परमार्थ के लक्षण को कहे बिना समझाने में असमर्थता है; अतः जो सर्व श्रुतज्ञान को जानता है, वह श्रुतकेवली है - ऐसा व्यवहार कथन है, वह परमार्थ का प्रतिपादक होने से आत्मा को ही प्रतिष्ठित करता है अर्थात् प्रगटरूप से स्थापित करता है।

भावार्थ – जो शास्त्रज्ञान के द्वारा अभेदरूप ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्मा को जानता है, वह **श्रुतकेवली** है – यह तो परमार्थ है और जो सर्व शास्त्रज्ञान को जानता है, वह **श्रुतकेवली** है – यह

---

१. *आत्मा है कि अनात्मा* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ
२. *तादात्म्य* - 'ब' प्रति पाठ

शास्त्रज्ञान कूं जान्यां सो ज्ञान है सो ही आत्मा है, सो ज्ञान कूं जान्या सो आत्मा ही कूं जान्या सो ही परमार्थ है। अैसैं ज्ञान ज्ञानी कै भेद कहता जो व्यवहार, तिसनैं भी परमार्थ ही कह्या, अन्य तौ किछू न कह्या॥ बहुरि अैसा भी है जो परमार्थ का विषय तौ कथंचित् वचनगोचर नाही भी है, तातैं व्यवहारनय ही प्रगटरूप आत्मा कूं कहै है॥ अैसैं जाननां॥

आगैं फेरि प्रश्न उपजै है जो पहलैं कह्या था जो व्यवहार कूं अंगीकार न करनां, सो जो परमार्थ का कहनहारा है तौ अैसा व्यवहार कूं अंगीकार क्यों न करनां। ताका उत्तर का सूत्र कहै है॥

ववहारो भूयत्थो, भूयत्थो देसिओ उ सुद्धणओ।
भूयत्थमासिओ खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥ ११॥

व्यवहारोऽभूतार्थो, भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितः खलु, सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ व्यवहारनय है सो अभूतार्थ है॥ बहुरि शुद्धनय है सो भूतार्थ है। यह ऋषीश्वरनि नैं दिषाया है॥ तहां जो जीव भूतार्थ कूं आश्रित भया है सो जीव निश्चय करि सम्यग्दृष्टि होय है॥ छ॥

व्यवहार है। वहाँ सर्व शास्त्रज्ञान को जाना, वह ज्ञान है और वही आत्मा है; अतः ज्ञान को जानना, वह आत्मा ही को जानना है और वही परमार्थ है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानी में भेद कहनेवाले व्यवहार ने भी परमार्थ का ही प्रतिपादन किया, अन्य कुछ भी नहीं कहा। तथा, ऐसा भी है कि परमार्थ का विषय तो कथञ्चित् वचनगोचर नहीं भी है, अतः व्यवहारनय ही प्रगटरूप से आत्मा का कथन करता है - ऐसा जानना।

अब, पुनः प्रश्न उत्पन्न होता है कि पूर्व में यह कहा था कि व्यवहार को अङ्गीकार नहीं करना परन्तु जो परमार्थ को कहनेवाला है, ऐसे व्यवहार को अङ्गीकार क्यों नहीं करना? — इसके उत्तर में गाथासूत्र कहते हैं —

ववहारोऽभूदत्थो[1], भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु, सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥ 11॥

व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है।
भूतार्थ आश्रित आत्मा, सुदृष्टि निश्चय होय है॥ 11॥

अर्थ — व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है — यह ऋषीश्वरों ने दर्शाया है, वहाँ जो जीव भूतार्थ के आश्रित होता है, वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है॥ ११॥

---

१. *ववहारो अभूदत्थो* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

॥ टीका ॥ व्यवहारनय है सो सर्व ही अभूतार्थ है, तातैं अविद्यमान असत्य अभूत अर्थ है, ताहि प्रगट करै है॥ वहुरि शुद्धनय है सो एक ही है सो भूतार्थ है, तातैं विद्यमान सत्यभूत अर्थ कूं प्रगट करै है॥ सो ही दृष्टांत करि दिषाइए है॥

जैसैं प्रवल कर्दम के मिलनें करि तिरोहित कहिये आच्छादित भया है स्वाभाविक एक निर्मलभाव जाका, अैसा जो जल, ताके पीवनेंवाले पुरुष हैं, ते घणें तौ जल का अर कर्दम का भेद नाही करते संते तिस जल कूं मलिन ही कूं पीवैं हैं॥ वहुरि केई जीव अपनें हस्त तैं वषेरय डारया जो कतक कहिये निर्मली, ताके पटकनें मात्र करि ही भया जो कर्दम का अर जल का भेद, तिसपणां करि जामैं अपनां पुरुषाकार दिषाई दे, अैसा प्रगट भया जो स्वाभाविक एक जलस्वभावरूप निर्मलभाव, ताही कूं पीवैं हैं॥

तैसैं ही प्रवल कर्म का संवलन कहिये मिलनां, संयोग होनां, ताकरि आच्छादित भया है स्वाभाविक एक ज्ञायकभाव जाका, अैसा जो आत्मा, ताकै अनुभव करनेंवाले पुरुष हैं, ते आत्मा का अर कर्म का भेद नाही करते व्यवहार विषै विमोहित भया है हृदय जिनिका, ते प्रगटमान है भावनि का विह्वरूपपणां, अनेकरूपपणां जाकै, अैसा जो अशुद्ध आत्मा तिस ही कूं अनुभवैं हैं॥ वहुरि भूतार्थ जो शुद्धनय ताके देषनेंवाले हैं, ते अपनीं वुद्धि करि पातन करी जो शुद्धनय, ताके अनुसार ज्ञान होनें मात्र करि भया जो आत्मा का अर कर्म का भेद, तिसपणां करि अपनें पुरुषाकाररूप स्वरूप करि प्रगट भया जो स्वाभाविक एक ज्ञायकभाव, तिसपणां करि प्रद्योतमान प्रकाशमान है एक ज्ञायकभाव जामैं, अैसा शुद्धात्मा कूं अनुभवैं हैं॥

टीका – व्यवहारनय, सर्व ही अभूतार्थ होने से अविद्यमान, असत्य और अभूत अर्थ को प्रगट करता है और एकमात्र शुद्धनय ही भूतार्थ होने से विद्यमान, सत्य और भूत अर्थ को प्रगट करता है। इसी बात को दृष्टान्त से दिखाते हैं —

जैसे, प्रबल कीचड़ के मिलने से, जिस जल का स्वाभाविक एक निर्मल स्वभाव छिप गया है, ऐसे जल को पीनेवाले पुरुषों में, बहुत से तो जल और कीचड़ का भेद नहीं करते हुए, मलिन जल को ही पीते हैं तथा थोड़े से ही जीव मलिन जल में, अपने हाथ से कतकफल या निर्मली को बिखेर कर डाल देने मात्र से ही कीचड़ और जल का भेद हो जाने से, अपना पुरुषाकार दिखानेवाले (अथवा स्वपुरुषार्थ से प्रगट होनेवाले) जलस्वभावरूप सहज एक निर्मल भाववाले जल को ही पीते हैं।

उसी प्रकार प्रबल कर्म के संवलन अर्थात् मिलने या संयोग होने से, जिसका स्वाभाविक एक ज्ञायकभाव छिप गया है, ऐसे [संयोगी] आत्मा का अनुभव करनेवाले पुरुष, आत्मा और कर्म का भेद नहीं करते क्योंकि व्यवहार में ही विमोहित हृदयवाले तो भावों के विश्वरूपत्व अर्थात् अनेकरूपत्व को प्रगट कर अशुद्ध आत्मा का ही अनुभव करते हैं तथा भूतार्थरूप शुद्धनय को देखनेवाले, अपने बुद्धिबल के प्रयोग द्वारा डाले गये शुद्धनय के अनुसार ज्ञान होने मात्र से उत्पन्न आत्मा और कर्म के भेद (भेदज्ञान) से अपने पुरुषाकाररूप स्वभाव (अथवा स्वपुरुषार्थ) से प्रगट हुए स्वाभाविक एक ज्ञायकभाव के कारण, जिसमें एक ज्ञायकभाव प्रद्योतमान या प्रकाशमान है, ऐसे शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं।

तातैं इहां जे पुरुष भूतार्थ जो शुद्धनय ताकूं आश्रय करैं हैं, ते ही सम्यक् अवलोकन करते संते सम्यग्दृष्टी होय हैं॥ अन्य जे अशुद्धनय कूं सर्वथा आश्रय करैं हैं, ते सम्यग्दृष्टी न होय हैं॥ इहां शुद्धनय के कतक निर्मली स्थानीयपणां है॥

तातैं कर्म तैं भिन्न आत्मा के देषनेंवालेनि करि व्यवहारनय अंगीकार नांही करनां॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ इहां, व्यवहारनय कूं अभूतार्थ कह्या अर शुद्धनय कूं भूतार्थ कह्या सो जाका विषय विद्यमान नाही होय, असत्यार्थ होय, ताकूं अभूतार्थ कहिये सो अैसा आशय जाननां जो, शुद्धनय का विषय अभेद एकाकाररूप नित्यद्रव्य है, याकी दृष्टि मैं भेद दीषै नाही, तातैं या दृष्टि मैं भेद अविद्यमान असत्यार्थ ही कहिये। अैसा तौ नाही जो भेदरूप किछू वस्तु ही नाही, अैसा मानिये तौ वेदांत मतवाले जैसैं भेदरूप अनित्य कूं देषि अवस्तु मायास्वरूप कहै हैं अर सर्वव्यापक एक अभेद नित्य शुद्धब्रह्म कूं वस्तु कहैं हैं, तैसैं ठहरै, तातैं सर्वथा एकांत शुद्धनय की पक्षरूप मिथ्यादृष्टि का ही प्रसंग आवै॥

तातैं जिनवानी स्याद्वाद है, प्रयोजन के वश तैं नय कूं मुख्य गौण करि कहै है, तातैं इहां अैसा समझनां जो भेदरूप व्यवहार का तौ प्राणीनि कै अनादि ही तैं पक्ष है तथा याका उपदेश भी वाहुल्यता करि सर्व ही प्राणी परस्पर करैं हैं। जिनवाणी मैं व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलंव जाणि वहुत कीया है परंतु ताका फल संसार ही है।

वहुरि शुद्धनय की पक्ष कदे आई नाही तथा याका उपदेश भी विरला है, तातैं श्रीगुरु उपकारी,

---

यहाँ जो पुरुष, भूतार्थरूप शुद्धनय का आश्रय करते हैं, वे ही सम्यक् अवलोकन करते हुए सम्यग्दृष्टि होते हैं और अन्य जो अशुद्धनय का सर्वथा आश्रय करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं। यहाँ शुद्धनय, कतकफल या निर्मली के स्थान पर है।

इस प्रकार कर्म से भिन्न आत्मा को देखनेवालों को व्यवहारनय अङ्गीकार नहीं करना।

भावार्थ – यहाँ, व्यवहारनय को अभूतार्थ और शुद्धनय को भूतार्थ कहा है। जिसका विषय विद्यमान न हो, असत्यार्थ हो; उसे **अभूतार्थ** कहते हैं। यहाँ ऐसा अभिप्राय जानना कि शुद्धनय का विषय अभेद एकाकाररूप नित्य द्रव्य है, इसकी दृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता; अत: इस शुद्धनय की दृष्टि में भेद को अविद्यमान या असत्यार्थ ही कहते हैं परन्तु ऐसा तो नहीं है कि भेदरूप कुछ वस्तु ही नहीं है। यदि ऐसा माना भी जाए तो जैसे वेदान्ती भेदरूप अनित्य को देख कर अवस्तु या माया कहते हैं और सर्वव्यापक, एक, अभेद, नित्य, शुद्धब्रह्म को वस्तु कहते हैं, उसी के समान यहाँ भी सिद्ध हो; इसलिए सर्वथा एकान्त शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्यादृष्टिपने का ही प्रसङ्ग आता है।

जिनवाणी स्याद्वादरूप है, वह प्रयोजनवश नयों को मुख्य-गौण करके कथन करती है; अत: यहाँ ऐसा समझना कि भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो प्राणियों को अनादि ही से है और इसी का उपदेश भी बहुलता से सभी प्राणी परस्पर देते हैं। जिनवाणी में भी व्यवहारनय का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्बन (सहायक या प्रतिपादक) जान कर, बहुत किया है परन्तु उसका फल संसार ही है।

इस जीव को शुद्धनय का पक्ष कभी आया नहीं और इसका उपदेश भी दुर्लभ है; अत:

या शुद्धनय का ग्रहण का फल मोक्ष जाणि, याही का उपदेश प्रधान करि दीया है जो शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, याकूं आश्रय कीयें सम्यग्दृष्टी होय हैं, याकूं विनां जाणें व्यवहार मैं मग्न हैं जेतैं आत्मा का ज्ञान श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व नाही होय है - अैसा जाननां॥ छ॥

आगैं कहै है जो यह व्यवहारनय है सो भी केईकनि कूं कोई काल विषै प्रयोजनवान है, सर्वथा ही निषेधनें योग्य नाही है, जातैं अैसा उपदेश है॥ छ॥

सुद्धो सुद्धाएसो, णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण, जे उ अपरमे ट्ठिया भावे॥ १२॥

शुद्धः शुद्धादेशो, ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः।
व्यवहारदेशिता पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे॥ छ॥

॥ अर्थ॥ परमभावदर्शी जे, शुद्धनय तांई पहुंचि श्रद्धावान भये तथा पूरण ज्ञानचारित्रवान भये, तिनिकरि तौ शुद्ध का है आदेश कहिये आज्ञा उपदेश जामैं, अैसा शुद्धनय जाननें योग्य है। इहां प्रकरण शुद्ध आत्मा का है सो शुद्ध नित्य एक ज्ञायकमात्र आत्मा जाननां॥ वहुरि ये पुरुष अपरमभाव कहिये श्रद्धा के तथा ज्ञानचारित्र के पूरणभाव कूं नाही पहुंचे हैं, साधक अवस्था मैं तिष्ठैं हैं, तिनिकै व्यवहार

उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जान कर, इसी का उपदेश प्रधानता से दिया है कि "शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसके आश्रय से सम्यग्दृष्टि होते हैं; इसको जाने बिना जब तक जीव, व्यवहार में मग्न रहता है, तब तक उसे आत्मा के ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है - ऐसा जानना चाहिए।"

आगे कहते हैं कि जो यह व्यवहारनय है, वह भी किसी-किसी को, किसी काल में प्रयोजनवान है; अतः सर्वथा ही निषेध करने योग्य नहीं है क्योंकि ऐसा उपदेश है —

सुद्धो सुद्धादेसो, णादव्वो परमभावदरिसीहिं[1]।
ववहारदेसिदा[2] पुण, जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे॥ १२॥

देखे परम जो भाव उसको, शुद्धनय ज्ञातव्य है।
ठहरा जु अपरमभाव में, व्यवहार से उपदिष्ट है॥ १२॥

अर्थ – जो शुद्धनय तक पहुँच कर श्रद्धावान हुए और पूर्ण ज्ञान-चारित्रवान हुए – ऐसे परमभावदर्शियों के लिए तो शुद्धनय जानने योग्य है; जिसमें शुद्ध का आदेश अर्थात् आज्ञा या उपदेश होता है, उसे शुद्धनय कहते हैं। यहाँ शुद्ध आत्मा का प्रकरण है; अतः आत्मा को शुद्ध, नित्य, एक ज्ञायकमात्र जानना तथा जो पुरुष अपरमभाव अर्थात् श्रद्धान के और ज्ञान-चारित्र के पूर्णभाव तक नहीं पहुँचे हैं, साधक अवस्था में ही स्थित हैं; उनको व्यवहार का देशीपना (आदेशीपना) है अथवा वे

---

१. *परमभावदरसीहिं* - तात्पर्यवृत्ति पाठ २. *ववहारदेसिदो* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

का देशीपणां है अथवा ते व्यवहार करि उपदेशनें योग्य हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ इहां दृष्टांत द्वार करि कहै है॥ ये पुरुष अंत के पाक करि उतर्‍या जो शुद्ध सुवर्ण, तिस स्थानीय जो वस्तु का उत्कृष्ट असाधारणभाव तिसकूं अनुभवैं हैं॥ तिनिकै प्रथम द्वितीय अनेक पाक की परंपरा करि पच्यमान जो अशुद्ध सुवर्ण, तिस स्थानीय जो अनुत्कृष्ट मध्यमभाव, तिसके अनुभव करि शून्यपणां तैं शुद्धद्रव्य का आदेशीपणां करि प्रगट कीया है अचलित अखंड एक स्वभावरूप एक भाव जानैं, अैसा शुद्धनय है सो ही उपरि ही उपरि का एक प्रतिवर्णिका स्थानीयपणां तैं जान्यां हूवा प्रयोजनवान है॥

वहुरि अन्य जे केई पुरुष प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाक की परंपरा करि पच्यमान जो वह ही सुवर्ण, तिस स्थानीय जो वस्तु का अनुत्कृष्ट मध्यमभाव, ताकूं अनुभवैं हैं॥ तिनिकै अंत के पाक करि उतर्‍या जो शुद्ध सुवर्ण, तिस स्थानीय वस्तु का उत्कृष्टभाव, ताका अनुभव करि शून्यपणां तैं अशुद्धद्रव्य का आदेशीपणां करि दिषाया है न्यारा न्यारा एक भावस्वरूप अनेक भाव जानैं, अैसा व्यवहारनय है सो ही विचित्र अनेक जे वर्णमाला, तिस स्थानीयपणां तैं जाण्यां हूवा तिस काल प्रयोजनवान है, जातैं तीर्थ अर तीर्थ का फल, इनि दोऊनि का अैसैं ही व्यवस्थितपणां है॥ तीर्थ तौ जा करि तरिये, अैसा व्यवहारधर्म॥ वहुरि जो पार होनां सो व्यवहारधर्म का फल अपनां स्वरूप का पावनां, सो तीर्थफल है। इहां, उक्तं च गाथा है॥

जो जिणमयं पवज्जह, ता मा ववहार णिच्छये मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥ छ॥

व्यवहार के द्वारा उपदेश देने योग्य हैं॥ १२॥

टीका – यहाँ दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट करते हैं। जो पुरुष, अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान, वस्तु के उत्कृष्ट असाधारणभाव का अनुभव करते हैं; उनको प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पकाये जा रहे अशुद्ध स्वर्ण के समान, अनुत्कृष्ट मध्यमभाव का अनुभव नहीं होता है, उनको शुद्धद्रव्य के उपदेश से प्रगट अचलित, अखण्ड, एकस्वभावरूप, एकभावरूप शुद्धनय ही, सर्वोपरि अन्तिम तावावाली एक प्रतिवर्णिका या स्वर्ण-वर्ण के समान, जाना हुआ प्रयोजनवान है।

लेकिन अन्य जो कोई पुरुष, प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पकाये जा रहे स्वर्ण के समान, वस्तु के अनुत्कृष्ट मध्यमभाव का अनुभव करते हैं, उनको अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान, वस्तु के उत्कृष्टभाव का अनुभव नहीं होता है; उनको अशुद्धद्रव्य के उपदेश से भिन्न-भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेक भावों को दिखानेवाला व्यवहारनय, विचित्र अनेक वर्णमाला के समान, जाना हुआ उस काल में प्रयोजनवान है क्योंकि तीर्थ और तीर्थ के फल की ऐसी ही व्यवस्था है। **तीर्थ** अर्थात् जिससे तिरा जाए - ऐसा व्यवहारधर्म और **तीर्थफल** अर्थात् पार हो जाना अर्थात् व्यवहारधर्म के फल अपने स्वरूप की प्राप्ति होना है।

यहाँ, [संस्कृत टीका में] एक गाथा का उल्लेख किया गया है —

॥ याका अर्थ ॥ आचार्य कहै है जो हे पुरुष हौ, तुम जो जिणमत कूं प्रवर्त्तावो हौ तौ व्यवहार अर निश्चय, इनि दोऊ नयनि कूं मति छोडो, जातैं एक जो व्यवहारनय, ता विनां तो तीर्थ कहिये व्यवहारमार्ग ताका नाश होयगा ॥ वहुरि अन्येन कहिये निहचयनय विनां तत्व का नाश होयगा ॥ छ ॥

॥ भावार्थ ॥ लोक मैं सोनां के सोलह वान प्रसिद्ध हैं, तहां पंदरह वान तांई तौ तामैं चूरी आदि परसंयोग की कालिमा रहै है, तेतै अशुद्ध कहिये है। वहुरि ताव देतैं देतैं अंत का ताव तैं उतरै, तव सोलह वान शुद्ध सुवर्ण कहावै है ॥ तहां जिनिकै सोलहवां वान का सुवर्ण का ज्ञानश्रद्धान तथा प्राप्ति भई, तिनिकै तौ पंदरैवान तांई का किछू प्रयोजनवान है नाही ॥ वहुरि जिनिकै सोलहवां वान का शुद्ध सुवर्ण की प्राप्ति जेतै न होय तेतै पंदरै वान तांई का भी प्रयोजनवान है ॥

तैसैं ही यह जीव नामा पदार्थ है सो पुद्गल के संयोग मैं अशुद्ध अनेकरूप होय रह्या है ॥ ताका सर्व परद्रव्य तैं भिन्न एक ज्ञायकमात्र का जिनिकै ज्ञानश्रद्धान तथा ताका आचरणरूप प्राप्ति भई, तिनिकै तौ पुद्गल संयोगजनित अनेकरूपपणां[१] कहनहारा जो अशुद्धनय, सो किछू प्रयोजनवान है नाही ॥ वहुरि जेतै शुद्धभाव की प्राप्ति न भई, तेतै जेती अशुद्धनय की कथनीं हैं, तेती यथापदवी प्रयोजनवान हैं ॥ तहां जेतै यथार्थ ज्ञानश्रद्धान की प्राप्तिरूप सम्यक्दर्शन की प्राप्ति न भई होय, तेतै तो यथार्थ उपदेश

जइ जिणमयं पवज्जह, ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं, अण्णेण उण तच्चं॥

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि हे भव्यपुरुषों ! यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय – इस दोनों नयों को मत छोड़ो क्योंकि **एक** व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ या व्यवहारमार्ग का नाश हो जाएगा और **अन्येन** अर्थात् निश्चयनय के बिना तत्त्व का नाश हो जाएगा।

भावार्थ – लोक में स्वर्ण के सोलह वान प्रसिद्ध हैं। वहाँ पन्द्रह वान तक के स्वर्ण में तो चूरी आदि अन्य वस्तुओं के संयोग के कारण कालिमा रहती है, अत: तब तक उसे अशुद्ध कहा जाता है। ताव (ताप) देते-देते जब वह अन्तिम ताव से उतरता है, तब सोलहवें वानवाला (सौटंची) शुद्ध स्वर्ण कहलाता है। वहाँ, जिन जीवों को सोलहवें वान के स्वर्ण का ज्ञान-श्रद्धान और प्राप्ति हो गई है, उनको पन्द्रह वान तक के स्वर्ण का कोई प्रयोजन नहीं है परन्तु जिनको जब तक सोलहवें वान के शुद्ध स्वर्ण की प्राप्ति नहीं हुई है, उनको तब तक पन्द्रह वान तक का स्वर्ण भी प्रयोजनवान है।

उसी प्रकार, यह जीव नामक पदार्थ, पुद्गल के संयोग से अनेकरूप (अनेक प्रकार से) अशुद्ध हो रहा है। वहाँ जिनको सर्व परद्रव्यों से भिन्न एक ज्ञायकमात्र का ज्ञान-श्रद्धान तथा उसके आचरण की प्राप्ति हो गई है; उन्हें तो पुद्गलद्रव्य के संयोग से जनित अनेकरूपता को बतानेवाला अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है, लेकिन जब तक शुद्धभाव की प्राप्ति नहीं हुई है, तब तक जितनी अशुद्धनय की कथनी (वर्णन) हैं, उतनी [सभी] भूमिकानुसार प्रयोजनवान हैं। वहाँ, जब तक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान की प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई हो, तब तक जिनसे यथार्थ उपदेश

---

१. *अनेकरूपपणां के* - 'ब' प्रति पाठ

जिनितैं पाइए, अैसे जिनवचन का सुननां, धारणां तथा जिनवचन के कहनेंवाले श्रीगुरु, तिनिकी भक्ति तथा जिनविंव का दर्शन इत्यादि व्यवहारमार्ग मैं प्रवर्त्तनां प्रयोजनवान है॥

वहुरि जिनिकै श्रद्धानज्ञान तौ भया अर यथार्थ साक्षात् प्राप्ति न भई, तेतै पूर्वोक्त कार्य भी अर परद्रव्य का आलंवन छोडनेंरूप अणुव्रत महाव्रत का ग्रहण तथा समिति गुप्ति, पंच परमेष्ठी का, ध्यानरूप प्रवर्त्तनां तथा तैसैं प्रवर्त्तनेंवाले की संगति करनां, विशेषज्ञान करनें कूं शास्त्रनि का अभ्यास करनां इत्यादि व्यवहारमार्ग विषै आप कूं प्रवर्तनां, अन्य कूं प्रवर्त्तावनां, अैसा व्यवहारनय का उपदेश तथा अंगीकार करनां प्रयोजनवान है।

वहुरि व्यवहारनय कूं कथंचित् असत्यार्थ कहनें तैं सर्वथा असत्यार्थ जानि छोडै तौ शुभोपयोगरूप व्यवहार छोडै अर शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति न भई, तातैं अशुभोपयोग ही मैं उलटा आय भ्रष्ट भया संता यथाकथंचित् स्वेच्छा प्रवर्त्तै, तव नरकादि गति प्राप्त होय, परंपरा निगोद प्राप्त होय संसार ही मैं भ्रमै॥

तातैं साक्षात् शुद्धनय का विषय जो शुद्ध आत्मा, ताकी प्राप्ति न होय, तेतै व्यवहार भी प्रयोजनवान है, अैसा स्याद्वादमत मैं श्रीगुरुनि का उपदेश है॥ छ॥

इस अर्थ का कलशरूप काव्य टीकाकार का कह्या है॥

॥ मालिनी॥

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के,
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।

की प्राप्ति होती है – ऐसे जिन-वचनों का सुनना, धारण करना; जिन-वचनों को कहनेवाले श्रीगुरुओं की भक्ति करना और जिनबिम्ब का दर्शन करना इत्यादि व्यवहारमार्ग में प्रवर्तन करना प्रयोजनवान है।

जिनको श्रद्धान-ज्ञान तो हो गया हो, लेकिन यथार्थ साक्षात् प्राप्ति न हुई हो; उनको पूर्वोक्त कार्य, परद्रव्यों का आलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत-महाव्रतों का ग्रहण तथा समिति, गुप्ति, पञ्च परमेष्ठी के ध्यानरूप प्रवर्तन करना, उसरूप प्रवर्तन करनेवालों की सङ्गति करना, विशेषज्ञान करने के लिए शास्त्रों का अभ्यास करना, इत्यादि व्यवहारमार्ग में स्वयं प्रवर्तन करना एवं अन्य को प्रवर्तन कराना – ऐसे व्यवहारनय का उपदेश और उसका अङ्गीकार करना प्रयोजनवान है।

यदि व्यवहारनय को कथञ्चित् असत्यार्थ कहने से, कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जान कर छोड़ दे तो शुभोपयोगरूप व्यवहार को छोड़ देने पर, शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति के अभाव में अशुभोपयोग में ही उल्टा आकर, भ्रष्ट होकर, चाहे जैसा स्वच्छन्दतारूप प्रवर्तन करे तो नरक आदि गतियाँ प्राप्त होकर, परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करेगा।

इस प्रकार जब तक साक्षात् शुद्धनय के विषयभूत शुद्ध आत्मा की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक व्यवहार भी प्रयोजनवान है – ऐसा स्याद्वादमत में श्रीगुरुओं का उपदेश है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य, टीकाकार कहते हैं –

सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥ ४ ॥

॥ याका अर्थ ॥ निश्चय व्यवहाररूप जे दोय नय, तिनिकै विषय के भेद तैं परस्पर विरोध है, तिस विरोध का दूर करनहारा स्यात्पद करि चिह्नित जो जिन भगवान का वचन, तिस विषैं जे पुरुष रमै हैं, प्रचुर प्रीतिसहित अभ्यास करैं हैं।

कैसे हैं ते। स्वयं कहिये स्वयमेव विना कारण आपै आप वम्या है मोह कहिये मिथ्यात्वकर्म का उदय जिनिनैं, ते पुरुष इस समयसार जो शुद्ध आत्मा अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान, ताहि सीघ्र ही अवलोकन करैं हैं॥

कैसा है समयसार। अनव कहिये नवीन उपज्या नाही है, कर्म तैं आच्छादित था सो प्रगट व्यक्तिरूप भया है।

वहुरि कैसा है। अनय जो सर्वथा एकांतरूप कुनय, ताकी पक्ष, ताकरि अक्षुण्ण कहिये खंड्या न जाय है, निर्वाध है॥

॥ भावार्थ ॥ जिनवचन स्याद्वादरूप है सो जहां दोय नय कै विषय का विरोध है, जैसैं सत्रूप

॥ रोला ॥

उभयनयों में जो विरोध है उसके नाशक,
स्याद्वादमय जिनवचनों में जो रमते हैं।
मोह-वमन कर अनय-अखण्डित परमज्योतिमय,
स्वयं शीघ्र ही समयसार में वे रमते हैं ॥४॥

अर्थ – यद्यपि निश्चय-व्यवहाररूप दोनों नयों में विषय के भेद से परस्पर विरोध है, तथापि उस विरोध को दूर करनेवाले 'स्यात्' पद से चिह्नित जिनेन्द्र भगवान के वचन हैं, उनमें जो पुरुष रमण करते हैं और प्रचुर प्रीतिसहित उनका अभ्यास करते हैं;

वे पुरुष कैसे हैं? – जिन्होंने स्वयं अर्थात् स्वयमेव, बिना [किसी अन्य] कारण के अपने आप, मोह अर्थात् मिथ्यात्वकर्म के उदय का वमन करते हैं, वे पुरुष इस अतिशयरूप से प्रकाशमान परमज्योतिस्वरूप समयसार अर्थात् शुद्धात्मा का शीघ्र ही अवलोकन करते हैं।

यह समयसार कैसा है? – अनव अर्थात् नवीन उत्पन्न नहीं हुआ है, कर्मों से आच्छादित था, वह अब प्रगट व्यक्तरूप हुआ है।

और कैसा है? – अनय अर्थात् सर्वथा एकान्तरूप कुनयों के पक्ष द्वारा अक्षुण्ण है अर्थात् खण्डित नहीं होने से निर्बाध है।

भावार्थ – जिन-वचन स्याद्वादरूप हैं। यद्यपि जहाँ दोनों नयों के विषयों में विरोध दिखाई देता

होय सो असत्रूप न होय, एक होय सो अनेक न होय, नित्य होय सो अनित्य न होय, भेदरूप होय सो अभेदरूप न होय, शुद्ध होय सो अशुद्ध न होय, इत्यादि नयनि के विषयनि विषै विरोध है। तहां जिनवचन कथंचित् विवक्षा तैं सत् असत्रूप, एक अनेकरूप, नित्य अनित्यरूप, भेद अभेदरूप, शुद्ध अशुद्धरूप, जैसैं विद्यमान वस्तु है, तैसैं कहिकरि विरोध मेटै है, झूठी कल्पना नाही करै है, तातैं द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोय नय मैं प्रयोजन के वश तैं शुद्धद्रव्यार्थिक कूं मुख्य करि निश्चय कहै है अर अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप पर्यायार्थिक कूं गौण करि व्यवहार कहै है।

अैसैं जिनवचन विषैं जे पुरुष रमैं हैं, ते इस शुद्ध आत्मा कूं यथार्थ पावैं हैं, अन्य सर्वथा एकांती सांख्यादिक नाही पावैं हैं, जातैं सर्वथा एकांतपक्ष का वस्तु विषय नाही, एक धर्ममात्र कूं ग्रहण करि वस्तु की असत्यकल्पनां करै है सो असत्यार्थ ही है, वाधासहित मिथ्यादृष्टि है, अैसैं जाननां।

अैसैं वारह गाथा मैं पीठवंध है॥ छ॥

आगैं आचार्य शुद्धनय कूं प्रधान करि निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहै हैं, जातैं अशुद्धनय जो व्यवहारनय, ताकी प्रधानता मैं जीवादि तत्वनि का श्रद्धान कूं सम्यक्त्व कह्या है, तहां तिनि ही जीवादिक कूं भूतार्थ जो शुद्धनय, तिस करि जाणें सम्यक्त्व हो है, अैसैं कहै है॥ तहां टीकाकार, ताकी सूचनिकारूप तीन काव्य कही हैं, तिनिमैं पहले काव्य मैं कहै है जो व्यवहारनय कूं कथंचित् प्रयोजनवान कह्या तौऊ यह कछू वस्तुभूत नाही है॥

है; जैसे, जो सत्रूप है, वह असत्रूप नहीं होता; जो एक है, वह अनेक नहीं होता; जो नित्य है, वह अनित्य नहीं होता; जो भेदरूप है, वह अभेदरूप नहीं होता; जो शुद्ध है, वह अशुद्ध नहीं होता, इत्यादि नयों के विषयों में विरोध है; तथापि वहाँ जिनवचन कथञ्चित् विवक्षा से जिस प्रकार सत्-असत्रूप, एक-अनेकरूप, नित्य-अनित्यरूप, भेद-अभेदरूप, शुद्ध-अशुद्धरूप जिस प्रकार वस्तु विद्यमान है, उसी प्रकार कह कर विरोध को मिटाते हैं, झूठी कल्पना नहीं करते हैं; इसलिए [जिन-वचन] द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, दोनों नयों में प्रयोजन के वश से शुद्धद्रव्यार्थिक को मुख्य करके निश्चय कहता है और अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप पर्यायार्थिक को गौण करके व्यवहार कहता है।

इस प्रकार जिन-वचनों में जो पुरुष रमते हैं, वे इस शुद्ध आत्मा को यथार्थरूप में प्राप्त करते हैं, अन्य सांख्य आदि सर्वथा एकान्तवादी प्राप्त नहीं करते हैं क्योंकि वस्तु, सर्वथा एकान्तपक्ष का विषय नहीं है; वे [सर्वथा एकान्तवादी] एक धर्ममात्र को ही ग्रहण करके वस्तु की असत्य कल्पना करते हैं, वह असत्यार्थ ही है, अतः बाधासहित मिथ्यादृष्टिपना है – ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार, [उक्त वर्णित] बारह गाथाओं में पीठबन्ध अर्थात् ग्रन्थ की पीठिका है।

अब, आचार्यदेव शुद्धनय को प्रधान करके निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं क्योंकि [अन्यत्र ग्रन्थों में] अशुद्धनय अर्थात् व्यवहारनय की प्रधानता से जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है, जबकि गाथा में उन्हीं जीवादि तत्त्वों को भूतार्थरूप शुद्धनय से जानने पर सम्यक्त्व होता है – ऐसा कहा है; अतः अब टीकाकार (श्री अमृतचन्द्राचार्य), उसकी सूचना के रूप में तीन काव्य कहते हैं; उनमें पहले काव्य में कहते हैं कि यद्यपि व्यवहारनय को कथञ्चित् प्रयोजनवान्

॥ मालिनी ॥

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं,
पर विरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित् ॥ ५ ॥

॥ याका अर्थ ॥ व्यवहारनय है सो यद्यपि इस पहली पदवी जो शुद्धस्वरूप की प्राप्ति जेतै न होय, तेतै तिस विषै स्थाप्या है अपनां पद ज्यां, अैसे पुरुषनि कूं हस्तावलंव तुल्य कह्या है सो हंत कहिये यह वडा खेद है॥ तथापि जे पुरुष चैतन्यचमत्कारमात्र परम अर्थ शुद्धनय का विषयभूत परद्रव्यभावनि सूं रहित कूं अंतरंग विषै अवलोकन करैं हैं, ताका श्रद्धान करैं हैं तथा तिसस्वरूप लीन होय चारित्रभाव कूं प्राप्त होय हैं, तिनिकै यह व्यवहारनय किछू भी नाही है॥

॥ भावार्थ ॥ शुद्धस्वरूप का ज्ञान श्रद्धान तथा आचारण भयें पीछैं अशुद्धनय किछू भी प्रयोजनकारी नाही है॥ छ॥

अव, दूसरा काव्य मैं निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहै है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः,
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।

कहा है तो भी वह कुछ भी वस्तुभूत नहीं है —

॥ रोला ॥

ज्यों दुर्बल को लाठी है हस्तावलम्ब त्यों,
उपयोगी व्यवहार सभी को अपरमपद में।
पर उपयोगी नहीं रञ्च भी उन लोगों को,
जो रमते हैं परम-अर्थ चिन्मय चिद्घन में॥ ५॥

अर्थ – यद्यपि जब तक शुद्धस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती; तब तक उसके पूर्व भूमिका में अपने पैरों को स्थापित करनेवाले पुरुषों को व्यवहारनय, हस्तावलम्ब के समान कहा है, अतः 'हन्त' अर्थात् यह बड़ा खेद है; तथापि (लेकिन) जो पुरुष, परद्रव्य और परभावों से रहित शुद्धनय के विषयभूत चैतन्य-चमत्कारमात्र परम अर्थ को अपने अन्तरङ्ग में अवलोकन करते हैं, उसका श्रद्धान करते हैं व उसस्वरूप में लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं, उनको यह व्यवहारनय कुछ भी नहीं है।

भावार्थ – शुद्धस्वरूप का ज्ञान, श्रद्धान और आचरण हो जाने के बाद अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनवान् नहीं है।

अब, दूसरे काव्य में निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं —

सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं,
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥ ६ ॥

॥ याका अर्थ ॥ जो इस आत्मा का अन्यद्रव्यनि तैं न्यारा देषनां, श्रद्धान करनां सो ही यहु ही नियम तैं सम्यग्दर्शन है।

कैसा है आत्मा। अपनें गुणपर्यायनि विषै व्यापनेंवाला है।

वहुरि कैसा है। शुद्धनय तैं एकपणां विषै निश्चित कीया है।

वहुरि कैसा है। पूर्ण ज्ञानघन है। वहुरि जेता यह सम्यग्दर्शन है, तेता ही आत्मा है। तातैं आचार्य प्रार्थना करै है जो नवतत्व की परिपाटी कूं छोडि यहु आत्मा ही एक हमारै प्राप्त होहु।

॥ भावार्थ ॥ सर्व जे स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनीं अवस्थारूप गुण पर्याय भेद, तिनिमैं व्यापनेंवाला जो यहु आत्मा, शुद्धनय करि एकतापणां[१] विषै निश्चित कीया, शुद्धनय तैं ज्ञायकमात्र एक आकार दिषाया, ताका सर्व अन्यद्रव्य अरु अन्यद्रव्यनि के भाव, तिनितैं[२] न्यारा देषणां श्रद्धान करनां[३] यह नियम तैं सम्यग्दर्शन है। व्यवहारनय आत्मा का अनेक भेदरूप कहि सम्यग्दर्शन कूं अनेक भेदरूप कहै है, तहां व्यभिचार आवै, यातैं नियम न रहै। शुद्धनय की हद पहुंचें व्यभिचार नाही है, तातैं नियमरूप है ॥

॥ हरिगीतिका ॥

नियत है जो स्वयं के एकत्व में नय शुद्ध से।
वह ज्ञान का घनपिण्ड, पूरण पृथक् है परद्रव्य से॥
नवतत्त्व की सन्तति तज बस! एक यह अपनाइए।
इस आतमा का दर्श दर्शन आतमा ही चाहिए॥ ६ ॥

अर्थ – इस आत्मा को अन्य द्रव्यों से भिन्न देखना, श्रद्धान करना ही नियम से सम्यग्दर्शन है।

कैसा है आत्मा? – अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त होनेवाला है।

और कैसा है? – शुद्धनय से एकपने में नियत है, निश्चित किया गया है।

और कैसा है? – पूर्ण ज्ञानघन है। जितना यह सम्यग्दर्शन है, उतना ही आत्मा है; अतः आचार्य प्रार्थना करते हैं कि नव तत्त्वों की परिपाटी को छोड़ कर, यह एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो।

भावार्थ – सर्व स्वाभाविक और नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप गुण-पर्यायों के भेदों में व्याप्त होनेवाला यह आत्मा, शुद्धनय से एकत्वपने में निश्चित किया गया है। शुद्धनय से ज्ञायकमात्र एक आकार दिखाया है, उसको सर्व अन्य द्रव्यों और अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्न देखना या श्रद्धान करना – यह नियम से सम्यग्दर्शन है। व्यवहारनय, आत्मा को अनेक भेदरूप कहकर सम्यग्दर्शन को भी अनेक भेदरूप कहता है, उसमें दोष आता है; अतः नियम नहीं रहता। शुद्धनय की सीमा में पहुँचने

---

१. *एकपणां* - 'ब' प्रति पाठ २. *तिनितैं जो* - 'ब' प्रति पाठ ३. *करनां सो* - 'ब' प्रति पाठ

कैसा है शुद्धनय का विषयभूत आत्मा। पूर्णज्ञानघन है, सर्व लोकालोक का जाननहारा ज्ञानस्वरूप है॥ बहुरि याका श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है सो किछू न्यारा पदार्थ नाही है, आत्मा ही का परिणाम है, तातैं आत्मा ही है, तातैं सम्यग्दर्शन है सो ही आत्मा है, अन्य नाही है॥

॥ भावार्थ॥ इहां एता और जाननां जो नय हैं, ते श्रुतप्रमाण के अंश हैं, यातैं यह शुद्धनय है सोऊ श्रुतप्रमाण ही का अंश है अर श्रुतप्रमाण है सो परोक्षप्रमाण है, वस्तु कूं सर्वज्ञ के आगम के वचन तैं जाणैं है सो यह शुद्धनय है सो हू परोक्ष सर्व द्रव्यनि तैं न्यारा असाधारण चैतन्यधर्म कूं सर्व आत्मा की पर्यायनि विषै व्याप्त पूर्ण चैतन्य केवलज्ञानरूप सर्व लोकालोक का जाननहारा दिषावै, तिसकूं यह व्यवहारी छद्मस्थ जीव, सर्वज्ञ के आगम कूं प्रमाण करि, पूर्ण आत्मा का श्रद्धान करै सो ही श्रद्धान निश्चयसम्यग्दर्शन है। जेतै व्यवहारनय के विषयभूत जीवादिक भेदरूप तत्वनि का केवल श्रद्धान रहै, तेतैं निश्चयसम्यग्दर्शन नाही॥

यातैं आचार्य कहै है जो इस नव तत्त्व की संतति परिपाटी कूं छोडि करि, यहु शुद्धनय का विषयभूत एक आत्मा है सो ही हम कूं प्राप्त होहु, अन्य किछू न चाहैं हैं॥ यह वीतराग अवस्था की प्रार्थनां है, किछू नयपक्ष नाही है। जो सर्वथा नयनि का पक्षपात दोऊ ही का करै तौ मिथ्यात्व ही है।

इहां कोई पूछै, यह अनुभव मैं चैतन्यमात्र आवै है एता ही आत्मा कूं मानि श्रद्धान करै तौ सम्यग्दर्शन है कि नाही।

पर व्यभिचार नहीं है; अत: नियमरूप है।

कैसा है शुद्धनय का विषयभूत आत्मा? – पूर्ण ज्ञानघन है। सर्व लोक-अलोक को जाननेवाला ज्ञानस्वरूप है। तथा इसके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है, वह कोई अन्य पदार्थ नहीं है, आत्मा का ही परिणाम है, इसलिए आत्मा ही है; अत: सम्यग्दर्शन है, वह आत्मा ही है; अन्य नहीं है।

भावार्थ – यहाँ इतना और जानना कि जो नय हैं, वे श्रुत-प्रमाण के अंश हैं; अत: यह शुद्धनय है, वह भी श्रुत-प्रमाण ही का अंश है तथा श्रुत-प्रमाण, परोक्ष-प्रमाण है, वह वस्तु को सर्वज्ञप्रणीत आगम-वचन के माध्यम से जानता है। यह शुद्धनय भी परोक्षरूप से सर्व द्रव्यों से भिन्न असाधारण चैतन्यधर्म को, आत्मा की सर्व पर्यायों में व्याप्त पूर्ण चैतन्यमयी सर्व लोकालोक को जाननेवाले केवलज्ञानरूप दिखाता है, इसी को व्यवहारी छद्मस्थ जीव, सर्वज्ञ के आगम को प्रमाण मान कर पूर्ण आत्मा का श्रद्धान करता है, वही श्रद्धान निश्चयसम्यग्दर्शन है। जब तक व्यवहारनय के विषयभूत भेदरूप जीवादि तत्त्वों का केवल श्रद्धान रहता है, तब तक निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं है।

अत: आचार्य कहते हैं कि इन नव तत्त्वों की सन्तति या परिपाटी को छोड़ कर, यह शुद्धनय का विषयभूत एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो, हम अन्य कुछ नहीं चाहते हैं। यह वीतराग अवस्था की प्रार्थना है; कोई नयपक्ष नहीं है। यदि सर्वथा दोनों नयों ही का पक्षपात करें तो मिथ्यात्व ही है।

यहाँ कोई पूछता है कि यह जो अनुभव में चैतन्यमात्र आता है, इतना ही आत्मा को मान कर श्रद्धान करें तो सम्यग्दर्शन है या नहीं?

ताका समाधान जो चैतन्यमात्र तौ नास्तिक विना सर्व ही मत के आत्मा कूं मानैं हैं सो एता ही श्रद्धान कूं सम्यक्त्व कहिये तौ सर्व ही कै सम्यक्त्व ठहरै, तातैं सर्वज्ञ की वाणी मैं जैसा पूर्ण आत्मा का स्वरूप कह्या है, तैसा श्रद्धान भये निश्चयसम्यक्त्व होय है॥ छ॥

अव तीसरा काव्य मैं कहै है जो सूत्रकार आचार्य अैसैं कहै है जो याकै आगै शुद्धनय कै आधीन जो सर्व द्रव्यनि तैं भिन्न आत्मज्योति है सो प्रगट होय है॥ छ॥

॥ श्लोक/अनुष्टुभ्॥

अतः शुद्धनयायत्तं, प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुञ्चति॥ ७॥

॥ याका अर्थ॥ इहां तैं आगैं जो शुद्धनय कै आधीन भिन्न आत्मज्योति है सो प्रगट होय है जो नव तत्त्व मैं गत होय रह्या है, तौऊ अपनां एकत्वपणां कूं नाही छोडै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जो नव तत्त्व मैं आत्मा प्राप्त हूवा अनेकरूप दीषै है सो याका भिन्नस्वरूप विचारिये तौ अपनां चैतन्यचमत्कारमात्र ज्योति कूं छोडै नाही है सो ही शुद्धनय करि जाणिये है सो ही सम्यक्त्व है।

अैसैं सूत्रकार गाथा मैं कहै हैं॥ छ॥

भूयत्थेणाहिगया, जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जर, बंधो मुक्खो य सम्मत्तं॥ १३॥

उसका समाधान – आत्मा को चैतन्यमात्र तो नास्तिक को छोड़ कर सर्व ही मतवाले मानते हैं, यदि इतने ही श्रद्धान को सम्यक्त्व कहें तो सभी को सम्यक्त्व सिद्ध हो; अतः सर्वज्ञ की वाणी में जैसा पूर्ण आत्मा का स्वरूप कहा गया है, वैसा श्रद्धान होने पर ही निश्चयसम्यक्त्व होता है।

अब, तीसरे काव्य में सूत्रकार (टीकाकार) आचार्य ऐसा कहते हैं कि इसके बाद शुद्धनय के आधीन सर्व द्रव्यों से भिन्न आत्मज्योति प्रगट होती है —

॥ दोहा॥

शुद्धनयाश्रित आतमा, प्रगटे ज्योतिस्वरूप।
नवतत्त्वों में व्याप्त पर, तजे न एकस्वरूप॥ ७॥

अर्थ – इसके बाद जो शुद्धनय के आधीन भिन्न आत्मज्योति है, वह प्रगट होती है। यद्यपि वह [आत्मज्योति] नव तत्त्वों में अन्तर्गत हो रही है तथापि अपने एकत्वपने को नहीं छोड़ती है।

भावार्थ – नव तत्त्व में प्राप्त हुआ आत्मा, भले ही अनेकरूप दिखाई देता हो परन्तु यदि इसके भिन्नस्वरूप का विचार किया जाए तो वह अपनी चैतन्य-चमत्कार मात्र ज्योति को छोड़ता नहीं है, वही शुद्धनय से जाना जाता है, वही सम्यक्त्व है।

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च।
आस्रवसंवरनिर्जरा बन्धो मोक्षश्च सम्यक्त्वम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ भूतार्थनय करि जाण्यां हूवा जीव अजीव, वहुरि पुण्य पाप, वहुरि आश्रव संवर निर्जरा, वहुरि वंध अर मोक्ष, ए नव तत्व हैं, ते ही सम्यक्त्व है॥ छ॥

॥ टीका॥ जीवादिक नव तत्व हैं, ते भूतार्थनय करि जाणें संते सम्यग्दर्शन ही है[२]॥ यह नियम कह्या॥ जातैं ए नव तत्व, जीव अजीव पुण्य पाप आश्रव संवर निर्जरा वंध मोक्ष है लक्षण जिनिका, अैसे तीर्थ जो व्यवहारधर्म, ताकी प्रवृत्ति कै अर्थि, अभूतार्थनय जो व्यवहारनय ताकरि कहे हुये हैं, तिनि विषै एकपणां का प्रगट करनहारा जो भूतार्थनय, ताकरि एकपणां कूं प्राप्त करि शुद्धनयपणां करि स्थाप्या जो आत्मा, ताकी आत्मख्याति है लक्षण जाका, अैसी अनुभूति का प्राप्तपणां है। शुद्धनय करि नव तत्व कूं जाणें आत्मा की अनुभूति होय है॥ इस हेतु तैं नियम है॥

तहां विकार्य जो विकारी होनें योग्य अर विकार करनेंवाला विकारक, ए दोऊ तौ पुण्य है, वहुरि अैसें ही विकार्य विकारक, दोऊ पाप है॥ वहुरि आश्राव्य कहिये आश्रव होनें योग्य अर आश्रावक कहिये आश्रव करनेंवाला, ए दोऊ आश्रव है॥ वहुरि संवार्य कहिये संवररूप होंने योग्य अर संवारक

इसी विषय को सूत्रकार, गाथा में कहते हैं —

भूदत्थेणाभिगदा, जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जर, बंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥ १३॥

भूतार्थ से जाने अजीव-जीव, पुण्य-पाप रु निर्जरा।
आस्रव-संवर बन्ध-मुक्ति, ये हि समकित जानना॥ १३॥

अर्थ – भूतार्थनय से जाने हुए जीव-अजीव तथा पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा और बन्ध-मोक्ष – ये नव तत्त्व हैं, यही सम्यक्त्व है॥ १३॥

टीका – भूतार्थनय से जाने हुए जीवादि नव तत्त्व, सम्यग्दर्शन ही है – यह नियम कहा गया है क्योंकि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष लक्षणवाले नव तत्त्व, तीर्थ अर्थात् व्यवहारधर्म की प्रवृत्ति के लिए अभूतार्थनय या व्यवहारनय से कहे हुए हैं; उनमें एकपना प्रगट करनेवाले भूतार्थनय से एकपना प्राप्त करके, शुद्धनय द्वारा स्थापित आत्मा की आत्मख्याति लक्षणवाली अनुभूति प्राप्त होती है। इस प्रकार शुद्धनय से नव तत्त्व को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है – इस हेतु से यह नियम है।

वहाँ **विकार्य** अर्थात् विकारी होने योग्य और **विकारक** अर्थात् विकार करनेवाला, ये दोनों पुण्य हैं, ऐसे ही **विकार्य-विकारक,** दोनों पाप हैं, **आस्राव्य** अर्थात् आस्रव होने योग्य और **आस्रावक** अर्थात् आस्रव करनेवाला, ये दोनों आस्रव हैं, **संवार्य** अर्थात् संवररूप होने योग्य और **संवारक** अर्थात्

---

२. *हैं ही हैं* - 'अ' प्रति पाठ

कहिये संवर करनेंवाला, ए दोऊ संवर हैं॥ वहुरि निर्जरनें योग्य अर निर्जरा करनेंवाला, ए दोऊ निर्जरा हैं॥ वहुरि वंधनें योग्य अर वंध करनेंवाला, ए दोऊ वंध हैं॥ वहुरि मोक्ष होनें योग्य अर मोक्ष करनेंवाला, ए दोऊ मोक्ष है॥ जातैं एक ही कै आप ही तैं पुण्य पाप आश्रव संवर निर्जरा वंध मोक्ष की उपपत्ति वणैं नाही॥ वहुरि ते दौऊ जीव अर अजीव हैं॥ अैसैं ए नव तत्व हैं॥

इनिकूं वाह्यदृष्टि करि देषिये तव जीवपुद्गल की अनादि वंधपर्याय कूं प्राप्त करि एकपणां करि अनुभवन करतैं सतैं तौ ए नव ही भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं॥ वहुरि एक जीवद्रव्य ही का स्वभाव कूं लेकरि अनुभवन करतैं सतैं अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। जीव के एकाकार स्वरूप मैं ए नाही हैं॥ तातैं इनि नव तत्वनि विषै भूतार्थनय करि जीव एकरूप ही प्रकाशमान है॥

तैसैं ही अंतरदृष्टि करि देषिये, तव ज्ञायकभाव तौ जीव है, वहुरि जीव कै विकार का कारण अजीव है॥ वहुरि पुण्य पाप आश्रव संवर निर्जरा वन्ध मोक्ष है लक्षण जाका, अैसा केवल एकला जीव का विकार है॥ वहुरि पुण्य पाप आश्रव संवर निर्जरा वंध मोक्ष, ए सात केवल एकला अजीव के विकार, ते जीव के विकार कूं कारण हैं॥ अैसैं ए नव तत्व हैं, ते जीवद्रव्य का स्वभाव कूं छोडि करि, आप अर पर है कारण जाकूं, अैसा एक द्रव्यपर्यायपणां करि अनुभवन करतैं सतैं तौ भूतार्थ हैं॥ वहुरि सर्व काल मैं नाही चिगता एक जीवद्रव्य का स्वभाव कूं लेकरि अनुभवन करतैं संतैं, ए अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। तातैं इनि नव तत्वनि विषैं भूतार्थनय करि देषिये, तव जीव है सो तौ एकरूप ही प्रकाशमान है॥

संवर करनेवाला, ये दोनों संवर हैं, **निर्जरा** अर्थात् निर्जरारूप होने योग्य और **निर्जरक** अर्थात् निर्जरा करनेवाला, ये दोनों निर्जरा हैं, [**बन्ध्य** अर्थात्] बँधने योग्य और [**बन्धक** अर्थात्] बन्धन करनेवाला, ये दोनों बन्ध हैं, [**मोच्य** अर्थात्] मोक्ष होने योग्य और [**मोचक** अर्थात्] मोक्ष करनेवाला, ये दोनों मोक्ष हैं; क्योंकि एक ही में अपने आप (स्वयं ही से) पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष की सिद्धि नहीं होती है तथा वे दोनों जीव और अजीव हैं; इस प्रकार ये नव तत्त्व हैं।

इनको बाह्यदृष्टि से देखने पर तो जीव-पुद्गल की अनादि बन्धपर्याय को ग्रहण करके, एकपनेरूप अनुभव करने पर, ये सभी नव तत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं परन्तु एक जीवद्रव्य के ही स्वभाव को ग्रहण करके अनुभव करने पर [नव तत्त्व] अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं क्योंकि जीव के एकाकारस्वरूप में ये नहीं हैं; अत: इन नव तत्त्वों में भूतार्थनय से एकरूप जीव ही प्रकाशमान है।

उसी प्रकार अन्तर्दृष्टि से देखने पर ज्ञायकभाव तो जीव है और जीव के विकार का कारण अजीव है। वहाँ [भाव] पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष लक्षणवाले [सात तत्त्व] केवल जीव के विकार हैं और [द्रव्य] पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष – ये सात [तत्त्व] केवल अजीव के विकार हैं, जो जीव के विकार के कारण हैं। इस तरह जीवद्रव्य के स्वभाव को छोड़ कर, स्व और पर जिसके कारण हैं – ऐसे [असमानजातीय] एक द्रव्यपर्यायपने अनुभव करने पर तो ये [नव तत्त्व] भूतार्थ हैं परन्तु सर्व काल में अविचलित या अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव का अनुभव करने पर ये [नव तत्त्व] अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं; इसलिए इन नव तत्त्वों में भूतार्थनय से देखने पर तो एकरूप जीव ही प्रकाशमान है।

ऐसैं यहु जीवतत्व एकत्वपणां करि प्रगट प्रकाशमान हूवा संता शुद्धनयपणां करि अनुभवन कीजिये है॥ सो यहु अनुभवन है सो आत्मख्याति है, आत्मा ही का प्रकाश है॥ वहुरि यह आत्मख्याति है सो ही सम्यग्दर्शन है। ऐंसैं यह समस्त कहनां निर्दोष है, वाधारहित है॥

॥ भावार्थ॥ इनि नवतत्वनि कै विषै शुद्धनय करि देषिये, तव जीव है सो एक चैतन्यचमत्कारमात्र ही प्रकाशरूप प्रगट है, इस विना न्यारे न्यारे नव तत्व देषिये तौ किछू है नाही। जव तांई ऐसैं जीवतत्व का जाणपणां नाही, तव तांई व्यवहारदृष्टि है, न्यारे न्यारे नवतत्वनि कूं मानैं है। जीवपुद्गल की वंधपर्यायरूप दृष्टि करि न्यारे न्यारे सत्यार्थ दीषैं है, वहुरि जव जीवपुद्गल का निजस्वरूप न्यारा न्यारा शुद्धनय करि देषिये, तव ए पुण्यपाप आदि सात तत्व किछू भी वस्तु नाही दीषैं हैं। निमित्तनैमित्तिकभाव तैं भये थे सो निमित्तनैमित्तिकभाव मिटैं, जीव पुद्गल न्यारे न्यारे होय, तव किछू वस्तु न रहैं।

वस्तु तौ द्रव्य है सो द्रव्य के निजभाव तौ द्रव्य की लार हैं अर नैमित्तिकभाव का तौ अभाव ही होय, तातैं शुद्धनय करि जीव कूं जान्यां हूवा ही सम्यग्दृष्टि कौ प्राप्ति करै है, न्यारे न्यारे जानैं जेतै, आत्मा कूं जान्या नाही, पर्यायवुद्धि है।

इहां, इस अर्थ का कलशरूप काव्य है॥

॥ मालिनी॥

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं,
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।

इस प्रकार यह जीवतत्त्व, एकत्वपने से प्रगट प्रकाशित होता हुआ, शुद्धनय से अनुभव किया जाता है। यह अनुभवन ही आत्मख्याति है, आत्मा ही का प्रकाश है और यह आत्मख्याति ही सम्यग्दर्शन है। इस तरह यह समस्त कथन निर्दोष है, बाधारहित है।

भावार्थ – शुद्धनय से देखने पर, इन नव तत्त्वों में एक जीव ही चैतन्य-चमत्कार मात्र प्रगट प्रकाशरूप है, जिसके बिना इन नव तत्त्वों को भिन्न-भिन्न देखने पर वे कुछ नहीं हैं। जब तक जीवतत्त्व का [ऐसा] ज्ञान नहीं होता, तब तक व्यवहारदृष्टि है; वह नव तत्त्वों को भिन्न-भिन्न मानती है। यद्यपि जीव-पुद्गल की बन्धपर्यायरूप दृष्टि से [नव तत्त्व] भिन्न-भिन्न सत्यार्थ दीखते हैं, परन्तु जब जीव-पुद्गल का निजस्वरूप शुद्धनय से अलग-अलग देखते हैं, तब पुण्य-पाप आदि सात तत्त्व कुछ भी वस्तुभूत दिखाई नहीं देते। वे निमित्त-नैमित्तिकभाव से हुए थे; अतः निमित्त-नैमित्तिकभाव मिटने पर, जीव-पुद्गल अलग-अलग हो जाते हैं, ये कुछ भी वस्तु नहीं रहते।

वस्तु तो द्रव्य है, अतः द्रव्य के निजभाव तो द्रव्य के साथ ही रहते हैं और नैमित्तिकभावों का तो अभाव ही हो जाता है; इसलिए शुद्धनय से जीव को जाननेवाला ही सम्यग्दृष्टिपने को प्राप्त करता है। जब तक नव तत्त्वों को भिन्न-भिन्नरूप से जानता है और आत्मा को नहीं जानता है, तब तक पर्यायबुद्धि ही है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं,
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम्॥ ८॥

॥ अर्थ॥ ऐसैं नव तत्वनि विषै वहुत काल तैं छिप्या हूवा यह आत्मज्योति, शुद्धनय करि निकाश्य प्रगट कीया है, जैसैं वर्ण की माला के समूह में सुवर्ण का एकाकार छिप्या कूं निकाशै तैसैं॥ सो अव भव्यजीव याकों निरंतर अन्यद्रव्यनि तैं तथा तिनितैं भये नैमित्तिकभावनि तैं भिन्न एकरूप अवलोकन करो। यहु पद पद प्रति कहिये पर्याय पर्याय प्रति एकरूप चित्चमत्कारमात्र उद्योतमान है॥

॥ भावार्थ॥ यह आत्मा सर्व अवस्था मैं नानारूप दीषै था सो शुद्धनय एक चैतन्यचमत्कारमात्र दिषाया है सो अव सदा एकाकार ही अनुभवन करो, पर्यायवुद्धि का एकांत मति राषो, यह श्रीगुरुनि का उपदेश है॥ छ॥

[॥ पुनः टीका॥][१] अव टीकाकार फेरि कहै हैं जो जैसैं नवतत्व मैं एक जीव ही का जाननां भूतार्थ कह्या, तैसैं ही एकत्वपणां करि प्रकाशमान जो आत्मा, ताका अधिगम के उपाय ये प्रमाणनयनिक्षेप हैं, ते भी निश्चय तैं अभूतार्थ हैं। तिनि विषै भी यहु एक आत्मा ही भूतार्थ है॥ जातैं

॥ रोला॥

शुद्ध कनक ज्यों छिपा हुआ है वानभेद में,
नवतत्त्वों में छिपी हुई त्यों आत्मज्योति है।
एकरूप उद्योतमान पर से विविक्त वह,
अरे भव्यजन! पद-पद पर तुम उसको देखो॥ ८॥

अर्थ – जैसे वर्णों अर्थात् पृथक्-पृथक् तावावाले स्वर्ण-वर्णों की माला के समूह में से छिपे हुए एकाकार सुवर्ण को निकालते हैं, उसी प्रकार नव तत्त्वों में से बहुत काल से छिपी हुई उस आत्मज्योति को शुद्धनय के द्वारा प्रगट करते हैं; अतः हे भव्यजीवों! इस आत्मज्योति को अन्य द्रव्यों से तथा उनके निमित्त से हुए नैमित्तिकभावों से भिन्न एकरूप अवलोकन करो! यह आत्मज्योति पद-पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्याय-पर्याय में चित्-चमत्कारमात्र एकरूप उद्योतमान है।

भावार्थ – यह आत्मा, सब अवस्थाओं में नानारूप दिखाई देता था, जिसे शुद्धनय ने एक चैतन्य-चमत्कार मात्र दिखाया है; अतः अब उसे सदा एकरूप ही अनुभव करो, पर्यायबुद्धि का एकान्त मत रखो – यह श्रीगुरुओं का उपदेश है।

[पुनः टीका] – अब, टीकाकार पुनः कहते हैं – जैसे नव तत्त्वों में एक जीव ही का जानना भूतार्थ कहा है; उसी प्रकार एकत्वरूप से प्रकाशमान आत्मा के अधिगम के उपायभूत प्रमाण-नय-निक्षेप भी निश्चय से अभूतार्थ हैं, उनमें भी यह एक आत्मा ही भूतार्थ है क्योंकि ये [प्रमाण-नय-निक्षेप] ज्ञेय और वचन के भेद से अनेकरूप होते हैं। वहाँ सर्व प्रथम प्रमाण दो प्रकार का है

---

१. तेरहवीं गाथा की टीका में बीच में श्लोक आया है, अतः श्लोक के बाद पुनः १३वीं गाथा टीका लिखी गई है।

ज्ञेय के अर वचन के भेद तैं ते अनेक भेदरूप होय हैं॥ तहां प्रथम ही प्रमाण दोय प्रकार है, परोक्ष अर प्रत्यक्ष॥ तहां उपात्त कहिये इंद्रियनि तैं भिडि करि प्रवर्त्तै अर अनुपात्त कहिये विनां भिडै मन करि प्रवर्त्तै, अैसैं दोय पर द्वार करि प्रवर्त्तमान सो परोक्ष है। वहुरि केवल आत्मा ही करि प्रतिनिश्चितपणां करि प्रवर्तमान होय सो प्रत्यक्ष है। ॥ भावार्थ॥ प्रमाणज्ञान है सो ज्ञान पांच प्रकार है, मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल, तिनिमैं मति श्रुत तौ परोक्ष हैं अर अवधि मनःपर्यय विकलप्रत्यक्ष हैं, केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है॥ सो ए दौऊ ही प्रमाण हैं, ते प्रमाता प्रमाण प्रमेय के भेद कूं अनुभवन करतैं संतैं तौ भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं। वहुरि गौण भये हैं समस्त भेद जामैं, अैसा जो एक जीव का स्वभाव, ताका अनुभव करतैं संतैं अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

वहुरि नय है सो द्रव्यार्थिक है, पर्यायार्थिक है॥ तहां वस्तु है सो द्रव्यपर्यायस्वरूप है, तामैं द्रव्य कूं मुख्यपणां करि अनुभवन करावै, अैसा तौ द्रव्यार्थिक है॥ वहुरि पर्याय कूं मुख्यपणां करि अनुभवन करावै सो पर्यायार्थिक है॥ सो ए दोऊ ही नय द्रव्य पर्याय कूं भेदरूप पर्याय करि अनुभवन करतैं संतैं तौ भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं॥ वहुरि द्रव्य पर्याय दोऊ ही कूं नाही आलिंगन करता, अैसा शुद्ध वस्तुमात्र जो जीव का स्वभाव चैतन्यमात्र, ताकूं अनुभवन करतैं संतैं भेद अभूतार्थ असत्यार्थ है॥

वहुरि निक्षेप है सो नाम स्थापना द्रव्य भाव, भेद करि च्यारि प्रकार है॥ तहां जामैं जो गुण तौ न होय अर तिसके नाम वस्तु की संज्ञा करिये सो तौ नामनिक्षेप है॥ वहुरि अन्यवस्तु विषै अन्य की प्रतिमारूप स्थापना करनां, जो यह वह वस्तु है सो यहु स्थापनानिक्षेप है॥ वहुरि वर्त्तमानपर्याय

— परोक्ष और प्रत्यक्ष। उनमें **उपात्त** अर्थात् जो इन्द्रियों के निमित्त से होता है और अनुपात्त अर्थात् जो इन्द्रियों के निमित्त बिना मन के निमित्त से होता है; इस तरह इन इन्द्रिय-मन, दो पर-द्वारों से जो प्रवर्तित होता है, वह परोक्ष है तथा जो केवल आत्मा ही के प्रति प्रतिनिश्चित होकर प्रवर्तता है, वह प्रत्यक्ष है। तात्पर्य यह है कि जो प्रमाणज्ञान पाँच प्रकार का है — मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल — इनमें से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो परोक्ष हैं; अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान विकलप्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है। यहाँ प्रत्यक्ष और परोक्ष, दोनों ही प्रमाणज्ञान हैं; वे प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के भेद का अनुभव करते हुए तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं, परन्तु जिसमें समस्त भेद गौण हुए हैं — ऐसे एक जीव के स्वभाव का अनुभव करते हुए अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

नय के दो भेद हैं — द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वहाँ वस्तु, द्रव्य-पर्यायस्वरूप है; उसमें जो द्रव्य को मुख्यरूप से अनुभव कराता है, वह तो **द्रव्यार्थिकनय** है और जो पर्याय को मुख्यरूप से अनुभवन कराता है, वह **पर्यायार्थिकनय** है। ये दोनों ही नय, द्रव्य-पर्याय को भेदरूप पर्याय से अनुभवन करते हुए तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं तथा द्रव्य-पर्याय, दोनों को आलिङ्गन नहीं करनेवाले शुद्ध वस्तुमात्र जीव के चैतन्यमात्र स्वभाव का अनुभव करते हुए नय-भेद अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

निक्षेप के चार भेद हैं — नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। वहाँ, जिसमें जो गुण तो न हो, फिर भी उसके नाम से वस्तु की संज्ञा करना, **नामनिक्षेप** है; अन्य वस्तु में अन्य की प्रतिमारूप स्थापना करना कि 'यह, वह वस्तु है' — यह **स्थापनानिक्षेप** है; वर्तमान पर्याय से भिन्न अन्य भूतकाल अथवा

तैं अन्य अतीत अनागत पर्यायरूप वस्तु होय, ताकूं वर्त्तमान[१] कहिये सो द्रव्यनिक्षेप है॥ वहुरि वर्त्तमानपर्यायरूप वस्तु कूं ही वर्त्तमान कहिये सो भावनिक्षेप है॥ सो ए च्यारयों ही निक्षेप, अपनें अपनें लक्षणभेद तैं न्यारे न्यारे विलक्षणरूप करि अनुभवन करतैं संतैं भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं॥ वहुरि भिन्न लक्षण तैं रहित एक अपनां चैतन्य लक्षणस्वरूप जीव के स्वभाव कूं अनुभवन करतैं संतैं च्यारयों ही अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं॥ अैसैं इनि प्रमाणनयनिक्षेपनि विषै भूतार्थपणां करि एक जीव ही प्रकाशमान है॥

॥ भावार्थ॥ इहां इनि प्रमाणनयनिक्षेपनि का विस्तारूप व्याख्यान, इनिके प्रकरण के ग्रंथनि मैं है, तहां तैं जाननां, इनितैं वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक साधिये है, सो साधक अवस्था मैं तौ ए सत्यार्थ ही है, जातैं ए ज्ञान ही के विशेष हैं, इनि विनां वस्तु कूं यथा कथंचित् साधै, तव विपर्यय होय है।

अवस्था का व्यवहार के अभाव की तीन रीति हैं। एक तौ यथार्थ वस्तु कूं जाणि ज्ञानश्रद्धान की सिद्धि करनां सो ज्ञानश्रद्धान सिद्ध भयें पीछैं इनि प्रमाणादिक तैं श्रद्धान के अर्थि तौ किछू प्रयोजन नाही॥ वहुरि दूजी अवस्था, विशेषज्ञान अर रागद्वेषमोहकर्म का सर्वथा अभावरूप यथाख्यातचारित्र का होनां है, याही तैं केवल की प्राप्ति है, सो यहु भयें पीछैं प्रमाणादिक का आलंवन नाही है। ता पीछैं तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है सो तहां भी किछू आलंवन नाही है, अैसैं सिद्धि अवस्था मैं प्रमाणनयनिक्षेपनि का अभाव ही है।

इस अर्थ का कलशरूप काव्य है॥ छ॥

भविष्यकाल की पर्यायरूप वस्तु को वर्तमान में कहना — यह **द्रव्यनिक्षेप** है तथा वर्तमान पर्यायरूप वस्तु को ही वर्तमान में कहना — यह **भावनिक्षेप** है। ये चारों ही निक्षेप, अपने-अपने लक्षणभेद से अलग-अलग विलक्षणरूप अनुभव करते हुए तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं परन्तु भिन्न-भिन्न लक्षण से रहित अपने एक 'चैतन्य' लक्षणस्वरूप जीव के स्वभाव का अनुभवन करते हुए, चारों ही अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। इस प्रकार, इन प्रमाण-नय-निक्षेपों में भूतार्थरूप से एक जीव ही प्रकाशमान है।

भावार्थ — यहाँ इन प्रमाण-नय-निक्षेपों का विस्तारूप व्याख्यान, इन प्रकरणों के ग्रन्थों में से जानना, क्योंकि इनसे वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक सिद्ध होती है। साधक अवस्था में तो ये ज्ञान ही के विशेष होने से सत्यार्थ ही हैं क्योंकि इनके बिना वस्तु को चाहे जैसा साधने पर विपरीतता होती है।

अवस्थाओं की दृष्टि से व्यवहार के अभाव की तीन रीतियाँ हैं — पहली तो यथार्थ वस्तु को जान कर ज्ञान-श्रद्धान की सिद्धि करना; अतः ज्ञान-श्रद्धान की सिद्धि हो जाने के बाद, श्रद्धान करने के लिए इन प्रमाण आदि का तो कुछ प्रयोजन नहीं है। दूसरी अवस्था में विशेष ज्ञान और राग-द्वेष-मोहरूप कर्म (भावकर्म) के सर्वथा अभावरूप यथाख्यातचारित्र का होना है; इसी से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, इसके होने के बाद भी प्रमाण आदि का आलम्बन नहीं है तथा इसके बाद तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था में भी इनका कुछ आलम्बन नहीं है; इस प्रकार सिद्धि या सिद्ध अवस्था में भी प्रमाण-नय-निक्षेपों का अभाव ही है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

---

१. *वर्तमान वस्तु मे*-'अ' प्रति पाठ

॥ मालिनी ॥

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं,
क्वचिदपि न च विघ्नो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वङ्कषेस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥ ९॥

॥ अर्थ॥ आचार्य शुद्धनय का अनुभव करि कहै हैं जो इस सर्व भेदनि का गौण करनहारा जो शुद्धनय का विषयभूत चैतन्यचमत्कारमात्र तेजपुंज आत्मा, ताके अनुभव आयें संतैं, नयनि की लक्ष्मी है सो उदय कूं नाही प्राप्त हो है। वहुरि प्रमाण है सो अस्त कूं प्राप्त होय है॥ वहुरि निक्षेपनि का समूह है सो कहूं जाता रहै है सो हम नाही जानैं हैं॥ इस सिवाय और कहा कहैं, द्वैत ही नाही प्रतिभासै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ भेद कूं अत्यंत गौण करि कह्या है जो प्रमाणनयादिक का भेद की कहा चली है, शुद्ध अनुभव होतैं द्वैत ही नाही भासै है, एकाकार चिन्मात्र ही दीषै है॥ छ॥

इहां विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदांती कहै जो परमार्थ तौ अद्वैत ही का अनुभव भया सो ही हमारा मत है, तुमनें विशेष कहा कह्या॥

ताकूं कहिये जो तुमारा मत मैं सर्वथा अद्वैत माननां है सो सर्वथा मानें तौ बाह्यवस्तु का अभाव

॥ रोला ॥

निक्षेपों के चक्र विलय, नय नहीं जनमते,
अर प्रमाण के भाव अस्त हो जाते भाई!।
अधिक कहें क्या? द्वैतभाव भी भासित ना हो,
शुद्ध आतमा का अनुभव होने पर भाई!॥ ९॥

अर्थ – आचार्य शुद्धनय का अनुभव करते हुए कहते हैं कि इन सर्व भेदों को गौण करनेवाले शुद्धनय के विषयभूत चैतन्य-चमत्कार मात्र तेज-पुञ्ज आत्मा का अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती है, प्रमाण [का सूर्य] अस्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है?, वह हम नहीं जानते हैं। इससे अधिक और क्या कहें? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता है।

भावार्थ – यहाँ भेद को अत्यन्त गौण करके कहा है कि प्रमाण, नय आदि के भेदों की तो बात ही क्या? – शुद्ध अनुभव होने पर द्वैत ही भासित नहीं होता; एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।

यहाँ **विज्ञानाद्वैतवादी** तथा **वेदान्ती** कहते हैं कि आपके कहने से परमार्थ तो अद्वैत का अनुभव ही सिद्ध हुआ, वही हमारा मत है, तब तुमने विशेष क्या कहा?

समाधान करते हुए उनसे कहते हैं कि तुम्हारे मत में तो सर्वथा अद्वैत माना गया है; सर्वथा अद्वैत मानने पर तो बाह्यवस्तुओं का अभाव हो जाता है परन्तु ऐसा अभाव प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। लेकिन

होय है सो अैसा अभाव प्रत्यक्षविरुद्ध है॥ वहुरि हमारै नयविवक्षा है सो वाह्यवस्तु का लोप नाही करै है। शुद्ध अनुभव तैं विकल्प मिटै है, तव परमानंद कूं आत्मा प्राप्त होय है, तातैं अनुभव करावनें कूं अैसैं कहैं हैं अर वाह्यवस्तु का लोप कीयें तौ आत्मा का भी लोप आवै, तव शून्यवाद का प्रसंग आवै है, सो तुम कहो तैसें वस्तुस्वरूप सधै नाही है अर वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा विनां जो शुद्ध अनुभव भी करै तौ मिथ्यारूप है, शून्य का प्रसंग आया, तव आकाश के फूल का अनुभव है॥

आगैं शुद्धनय का उदय हो है, ताकी सूचनिका का काव्य कहै हैं॥

॥ उपजाति ॥

आत्मस्वभावं परभावभिन्न मापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसङ्कल्पविकल्पजालं, प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥ १०॥

॥ अर्थ॥ शुद्धनय है सो आत्मा के स्वभाव कूं प्रगट करता संता उदय हो है॥

कैसा प्रगट करै है॥ परद्रव्य तथा परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त तैं भये अपनें विभाव, अैसे परभावनि तैं भिन्न प्रगट करै है॥

वहुरि कैसा प्रगट करै है। आपूर्ण कहिये समस्तपणां[१] करि पूर्णस्वभाव, समस्त लोकालोक

हमारे यहाँ नयविवक्षा है, वह बाह्यवस्तुओं का लोप नहीं करती। जब शुद्ध अनुभव से विकल्प मिटते हैं, तब आत्मा परमानन्द को प्राप्त होता है, इसलिए अनुभव कराने के लिए ऐसा कहते हैं। बाह्य वस्तुओं का लोप करने पर तो आत्मा का भी लोप हो जाता है, तब शून्यवाद का प्रसङ्ग आता है; अतः जैसा तुम कहते हो, वैसा वस्तुस्वरूप सिद्ध नहीं होता है। वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा बिना यदि शुद्ध अनुभव भी करता है तो वह भी मिथ्यारूप है, शून्य का प्रसङ्ग आता है; [यदि ऐसा है तो] आकाश के फूल का भी अनुभव सिद्ध होता है।

अब, शुद्धनय के उदय की सूचनारूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

परभाव से जो भिन्न है, अरु आदि-अन्त विमुक्त है।
सङ्कल्प और विकल्प के, जञ्जाल से भी मुक्त है॥
जो एक है, परिपूर्ण है – ऐसे निजात्म-स्वभाव को।
करके प्रकाशित प्रगट होता, है यहाँ यह शुद्धनय॥ १०॥

अर्थ – यह शुद्धनय आत्मा के स्वभाव को प्रगट करता हुआ उदित होता है।

कैसा प्रगट करता है? – परद्रव्य, परद्रव्य के भाव और परद्रव्य के निमित्त से हुए अपने विभाव – इन सब परभावों से भिन्न प्रगट करता है।

---

१. *सामस्त्यपणां* – 'अ' प्रति पाठ

का जाननहारा, अैसा स्वभाव कूं प्रगट करै है, जातैं ज्ञान मैं भेद तो कर्मसंयोग तैं है, शुद्धनय मैं कर्म गौण है।

वहुरि कैसा प्रगट करै है। आदि अर अंत करि रहित जो कवहू आदि लेकरि काहू तैं भया नाही तथा कवहूं काहू करि जाका विनाश नाही, अैसा पारिणामिकभाव कूं प्रगट करै है॥

वहुरि कैसा प्रगट करै है॥ एक है, सर्व भेदभाव तैं द्वैतभाव तैं रहित एकाकार है॥ वहुरि विलय भये हैं समस्त संकल्प अर विकल्प के समूह जामैं॥ संकल्प तो द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्यनि विषै आपा कल्पै, सो लेणें॥ अर विकल्प जे ज्ञेयनि के भेद तैं ज्ञान मैं भेद दीषैं, ते लेणें॥ अैसा शुद्धनय प्रकाशरूप होय है।

सो इस शुद्धनय कूं गाथासूत्र करि कहै हैं॥ छ॥

जो पस्सइ अप्पाणं, अवद्धपुट्ठं अणण्णयं णिययं।
अविसेसमसंजुत्तं, तं सुद्धणयं वियाणीहि॥ १४॥

यः पश्यति आत्मानं, आबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतम्।
अविशेषमसंयुक्तं, तं शुद्धनयं विजानीहि॥ १४॥

और कैसा प्रगट करता है? – आपूर्ण अर्थात् हर तरह से पूर्णस्वभाव अर्थात् समस्त लोकालोक के जाननहार स्वभाव को प्रगट करता है क्योंकि ज्ञान में भेद तो कर्म-संयोग से होते हैं और शुद्धनय में कर्म गौण हैं।

और कैसा प्रगट करता है? – आदि-अन्त से रहित अर्थात् जो कभी आदि लेकर [या प्रारम्भ होकर] किसी से उत्पन्न नहीं हुआ और जिसका कभी किसी के द्वारा नाश नहीं होता – ऐसे पारिणामिकभाव को प्रगट करता है।

और कैसा प्रगट करता है? – एक अर्थात् सर्व भेदभावों और द्वैतभावों से रहित एकाकार है, जिसमें समस्त सङ्कल्प और विकल्पों के समूह विलीन हो गये हैं – ऐसा शुद्धनय प्रकाशरूप प्रगट होता है। यहाँ सङ्कल्प से तो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्यों में जो हम अपनापन कल्पित करते हैं, उसे समझना चाहिए तथा विकल्प से ज्ञेयभेद के कारण जो ज्ञान में भेद दिखाई देते हैं, उन्हें समझना चाहिए।

अब, इस शुद्धनय को गाथासूत्र के द्वारा कहते हैं –

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं, तं सुद्धणयं वियाणीहि॥ १४॥

अनबद्ध-स्पृष्ट अनन्य अरु जो, नियत देखे आत्मा को।
अविशेष अनसंयुक्त उसको, 'शुद्धनय' तू जानना॥ १४॥

॥ अर्थ ॥ जो नय आत्मा कूं अवद्धस्पृष्ट कहिये वंध्या अर स्पर्श्या[१] नाही, वहुरि अनन्य[२] कहिये अन्य नाही, वहुरि नियत कहिये चलाचल नाही, वहुरि अविशेष कहिये जामैं विशेष नाही, वहुरि असंयुक्त कहिये अन्य के संयोगरहित। अैसा पांच भावरूप अवलोकन करै, ताहि हे शिष्य, तू शुद्धनय जाणि॥ छ॥

॥ टीका ॥ जो खलु कहिये निश्चय तैं अवद्धस्पृष्ट अनन्य नियत अविशेष असंयुक्त, अैसे आत्मा की अनुभूति कहिये अनुभवन सो ही शुद्धनय है॥ सो यह अनुभूति निश्चय तैं आत्मा ही है, अैसैं आत्मा ही एक प्रकाशमान है॥ ॥ भावार्थ॥ शुद्धनय कहौ तथा आत्मा की अनुभूति कहौ तथा आत्मा कहौ, एक ही है, न्यारा कछू नाही है॥

इहां शिष्य पूछै है जो जैसा कह्या, तैसे आत्मा की अनुभूति, इनि पांच भावनि मैं कैसैं है॥ ताका समाधान करै है जो वद्धस्पृष्टत्व आदि पांच भाव हैं, तिनिकै अभूतार्थपणां है, असत्यार्थपणां है। तातैं शुद्धनय ही आत्मा की अनुभूति है॥ सो ही दृष्टांत करि प्रगट दिषावै है॥

जैसैं विशनी कहिये कमलिनी, ताका पत्र जल मैं डूव्या होय, ताकै जल के स्पर्शनेंरूप अवस्था करि अनुभवन करतैं संतै, जल का स्पर्शनपणां भूतार्थ सत्यार्थ है, तौऊ एकांत तैं जल के स्पर्शनें योग्य नाही, अैसा कमलिनी का पत्र का स्वभाव कूं लेकरि अनुभवन करतैं संतैं, जल का स्पर्शनपणां अभूतार्थ है, असत्यार्थ है॥ तैसैं आत्मा कूं अनादि पुद्गलकर्म तैं वद्धस्पर्शपणां की अवस्था करि अनुभवन करतैं

अर्थ – जो नय, आत्मा को **अबद्धस्पृष्ट** अर्थात् बद्ध-स्पर्शित नहीं, **अनन्य** अर्थात् अन्य-अन्य नहीं, **नियत** अर्थात् चलाचल नहीं, **अविशेष** अर्थात् जिसमें विशेष नहीं और **असंयुक्त** अर्थात् अन्य के संयोगरहित – ऐसे पाँच भावरूप अवलोकन करता है, उसे हे शिष्य! तू शुद्धनय जान॥ १४॥

टीका – निश्चय से अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्मा की अनुभूति अर्थात् अनुभवन ही शुद्धनय है; अतः निश्चय से यह अनुभूति आत्मा ही है – इस प्रकार एक आत्मा ही प्रकाशमान है। तात्पर्य यह है कि शुद्धनय कहो, आत्मा की अनुभूति कहो अथवा आत्मा कहो, सब एक ही है; कुछ अलग नहीं है।

यहाँ शिष्य पूछता है कि जैसे कहे गए हैं, वैसे [अबद्धस्पृष्टत्व आदि] पाँच भावयुक्त आत्मा की अनुभूति कैसे होती है? – **उसका समाधान** करते हैं कि बद्धस्पृष्टत्व आदि पाँच भावों का अभूतार्थपना है, असत्यार्थपना है, अतः शुद्धनय ही आत्मा की अनुभूति है; वही दृष्टान्त से प्रगट दिखाते हैं –

जैसे, जल में डूबे हुए **बिसिनी** अर्थात् कमलिनी के पत्र का जल से स्पर्शित अवस्था की अपेक्षा अनुभव करने पर, उसका जल से स्पर्शित होना भूतार्थ है, सत्यार्थ है, फिर भी कमलिनी-पत्र के एकान्ततः जल से अस्पर्शित स्वभाव को ग्रहण कर, अनुभव करने पर, जल से स्पर्शित होना अभूतार्थ है, असत्यार्थ है; उसी प्रकार आत्मा का अनादि पुद्गलकर्म से बद्ध-स्पर्शरूप अवस्था की अपेक्षा अनुभव करने पर, बद्ध-स्पृष्टपना भूतार्थ है, सत्यार्थ है, फिर भी **एकान्ततः पुद्गल से**

---

१. स्पार्श्या - 'अ' प्रति में पाठ। *२. अनन्यक - 'अ' प्रति में पाठ।*

संतैं, वद्धस्पृष्टपणां भूतार्थ है, सत्यार्थ है, तौऊ एकांत तैं पुद्गल कै स्पर्शनें योग्य नाही, अैसा आत्मस्वभाव कूं लेकरि अनुभवन करतैं संतैं, वद्धस्पृष्टपणां अभूतार्थ है॥

वहुरि जैसैं मृत्तिका का करवा ढकणां कूडी ठीकरी कपाल आदि[१] पर्यायभेदनि करि अनुभवन करतैं संतैं, अन्य अन्य पणां भूतार्थ है, सत्यार्थ है, तौऊ सर्व पर्यायभेदनि तैं नाही चिगता, भेदरूप न होता जो एक मृत्तिकास्वभाव, ताकूं लेकरि अनुभवन करतैं संतैं, पर्यायभेद अभूतार्थ है, असत्यार्थ है॥ तैसैं आत्मा कूं नारक आदि पर्यायभेदनि करि अनुभवन करतैं संतैं, पर्यायनि का और औरपणांरूप अन्यपणां भूतार्थ है, सत्यार्थ है, तौऊ सर्व पर्यायभेदनि तैं नाही चिगता, एक चैतन्याकार आत्मस्वभाव कूं लेकरि अनुभवन करतैं संतैं, अन्यपणां अभूतार्थ है, असत्यार्थ है॥

वहुरि जैसैं समुद्र कूं वृद्धिहानि अवस्था करि अनुभवन करतैं संतैं, अनियतपणां जो अनिश्चितपणां सो भूतार्थ है, तौऊ नित्य ठहरया हूवा समुद्रस्वभाव कूं लेकरि अनुभवन करतैं संतैं, अनियतपणां अभूतार्थ है, असत्यार्थ है॥ तैसैं आत्मा कूं वृद्धिहानि पर्यायभेदनि करि अनुभवन करतैं संतैं, अनियतपणां भूतार्थ है, तौऊ नित्य ठहरया हूवा निश्चल आत्मा का स्वभाव कूं लेकरि अनुभवन करतैं संतैं, अनियतपणां अभूतार्थ है, असत्यार्थ है॥

वहुरि जैसैं सुवर्ण कूं चीकणां भारी पीला आदि गुणरूप भेदनि करि अनुभवन करतैं संतैं, विशेषपणां भूतार्थ है, सत्यार्थ है, तौऊ विलय भये हैं समस्त विशेष जामैं, अैसा सुवर्णस्वभाव कूं लेकरि अनुभवन करतैं संतैं, विशेषपणां अभूतार्थ है, असत्यार्थ है॥ तैसैं आत्मा कूं ज्ञान दर्शन आदि गुणरूप

अस्पर्शित आत्मस्वभाव को ग्रहण कर, अनुभव करने पर बद्धता-स्पृष्टता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

जैसे, मिट्टी का घड़ा, ढक्कन, कुण्डा, ठीकरी, कपाल आदि पर्याय-भेदों की अपेक्षा अनुभव करने पर, अन्य-अन्यपना भूतार्थ है, सत्यार्थ है, फिर भी सर्व पर्याय-भेदों से अस्खलित अर्थात् भेदरूप नहीं होते हुए एक मिट्टी के स्वभाव को ग्रहण कर अनुभव करने पर, पर्यायभेद अभूतार्थ है, असत्यार्थ है; उसी प्रकार आत्मा को नारक आदि पर्याय-भेदों की अपेक्षा अनुभव करने पर, पर्यायों का विविधपना या अन्य-अन्यपना भूतार्थ है, सत्यार्थ है, फिर भी **सर्व पर्याय-भेदों से अस्खलित एक चैतन्याकार आत्मस्वभाव को ग्रहण कर, अनुभव करने पर अन्यपना अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।**

जैसे, समुद्र का वृद्धि-हानि अवस्था से अनुभव करने पर, अनियतता अर्थात् अनिश्चितता भूतार्थ है, सत्यार्थ है, फिर भी नित्य स्थिर समुद्रस्वभाव को ग्रहण कर, अनुभव करने पर, अनियतता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है; उसी प्रकार आत्मा को वृद्धि-हानिरूप पर्याय-भेदों से अनुभव करने पर, अनियतता भूतार्थ है, सत्यार्थ है, फिर भी **नित्य, स्थिर, निश्चल आत्मा के स्वभाव को ग्रहण कर, अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।**

जैसे, स्वर्ण को चिकना, भारी, पीला आदि गुणभेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है, सत्यार्थ है, फिर भी जिसमें समस्त विशेष विलय हो गए हैं – ऐसे स्वर्णस्वभाव को ग्रहण कर अनुभव करने पर, विशेषता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है; उसी प्रकार आत्मा को ज्ञान-दर्शन आदि गुण-

---

१. *करवा कूंडी ठीकरी कपाल आदि* - 'अ' प्रति पाठ / *करवा ढकणां कूंडी कपाल आदि* - 'ब' प्रति पाठ

भेदनि करि अनुभवन करतैं संतैं, विशेषपणां भूतार्थ है, तौऊ विलय भये हैं समस्त विशेष जामैं, अैसा एक चैतन्यमात्र आत्मस्वभाव कूं लेकरि अनुभवन करतैं संतैं, विशेषपणां अभूतार्थ है, असत्यार्थ है॥

वहुरि जैसैं जल कै अग्नि है निमित्त जाकूं, अैसा जो उष्ण सूं मिल्या तप्तपणांरूप अवस्था तिसकरि अनुभवन करतैं संतैं, जल कै उष्णपणांरूप संयुक्तपणां भूतार्थ है, तौऊ एकांत तैं शीतल जो जल का स्वभाव, ताकूं लेकरि अनुभवन करतैं संतैं, उष्णसंयुक्तपणां अभूतार्थ है, असत्यार्थ है॥ तैसैं आत्मा कै कर्म है निमित्त जाकूं, अैसा मोहसमाहितपणांरूप अवस्था, तिसकरि अनुभवन करतैं संतैं, संयुक्तपणां भूतार्थ है, तौऊ एकांत तैं आपवोध का वीजरूप स्वभाव जो चैतन्यभावरूप, ताकूं लेकरि अनुभवन करतैं संतैं, संयुक्तपणां अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

॥ भावार्थ॥ आत्मा पांच प्रकार करि अनेकरूप दीषै है। प्रथम तौ अनादि ही तैं कर्मपुद्गल के संवंध तैं वंध्या कर्मपुद्गल सूं स्पर्शरूप दीषै है॥ वहुरि कर्म के निमित्त तैं भये जे नर नारकादि पर्याय, तिनिमैं और औररूप दीषै है। वहुरि शक्ति के अविभागप्रतिच्छेद घटैं हैं, वधै हैं, यह वस्तुस्वभाव है, तातैं नित्य नियत एकरूप नाही दीषै है॥ वहुरि दर्शन ज्ञान आदि अनेक गुणनि करि अनेक विशेषरूप दीषै है॥ वहुरि कर्म के निमित्त तैं भये मोह राग द्वेषादिक परिणाम, तिनिकरि सहित सुखदुःखरूप दीषै है सो यह तौ सर्व अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप जो व्यवहारनय, ताका विषय है सो ताकी दृष्टि करि देषिये तौ सर्व ही सत्यार्थ है।

भेदों से अनुभव करने पर, विशेषता भूतार्थ है, सत्यार्थ है, फिर भी जिसमें समस्त विशेष विलय हो गए हैं – ऐसे **एक चैतन्यमात्र आत्मस्वभाव को ग्रहण कर, अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।**

जैसे, जल का, अग्नि के निमित्त से हुई उष्ण अवस्था से अनुभव करने पर, जल का उष्णता से संयुक्तपना भूतार्थ है, सत्यार्थ है, फिर भी एकान्ततः जल के शीतलस्वभाव को ग्रहण कर, अनुभवन करने पर, उष्णता से संयुक्तपना अभूतार्थ है, असत्यार्थ है; उसी प्रकार आत्मा का कर्म के निमित्त से हुई मोहरूप अवस्था से अनुभव करने पर, मोह से संयुक्तपना भूतार्थ है, सत्यार्थ है, फिर भी **एकान्ततः आत्मबोध के बीजभूत चैतन्यभावरूप स्वभाव को ग्रहण कर, अनुभव करने पर, मोह से संयुक्तपना अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।**

भावार्थ – आत्मा, पाँच प्रकार से अनेकरूप दिखाई देता है। **प्रथम** तो अनादि ही से कर्मपुद्गल के सम्बन्ध से बँधा हुआ होने से आत्मा, कर्म-पुद्गल से स्पर्शित दिखाई देता है। **दूसरे,** कर्म के निमित्त से हुईं नर-नारक आदि पर्यायों में आत्मा, अन्य-अन्यरूप दिखाई देता है। **तीसरे,** शक्ति के अविभागप्रतिच्छेदों का घटना-बढ़ना वस्तुस्वभाव है; अतः आत्मा, नित्य नियत एकरूप दिखाई नहीं देता है। **चौथे,** दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुणों के कारण आत्मा, विशेषरूप दिखाई देता है। तथा **पाँचवें,** कर्म के निमित्त से होनेवाले मोह, राग, द्वेष आदि परिणामों से सहित आत्मा, सुख-दुःखरूप दिखाई देता है। यह सब तो अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप व्यवहारनय का विषय है; अतः उस दृष्टि से देखा जाए तो सर्व ही सत्यार्थ है।

परंतु आत्मा का एक स्वभाव, या नय करि ग्रहण होय नाही अर एक स्वभाव जाणें विनां यथार्थ आत्मा कूं कैसैं जाणैं, तातैं दूजा नय याकी प्रतिपक्षी जो शुद्धद्रव्यार्थिक, ताकूं ग्रहण करि एक असाधारण ज्ञायकमात्र आत्मा का भाव लेकरि, सर्व परद्रव्यनि तैं भिन्न सर्व पर्यायनि मैं एकाकार, हानिवृद्धि तैं रहित, विशेषनि तैं रहित नैमित्तिकभावनि तैं रहित, शुद्धनय की दृष्टि करि देषिये, तव सर्व ही पांच भाव करि अनेक प्रकारपणां है सो अभूतार्थ है, असत्यार्थ है॥

इहां अैसा जाननां जो वस्तु का स्वरूप अनंत धर्मात्मक है सो स्याद्वाद तैं यथार्थ सधै है, तहां आत्मा भी अनंत धर्मा है, ताकै केतेक धर्म तौ स्वाभाविक हैं अर केतेक धर्म, पुद्गल के संयोग तैं होय हैं, तहां कर्म के संयोग तैं होय तिनिकरि आत्मा कै संसार की प्रवृत्ति होय, तिस संवंधी दुःखसुखादिक होय हैं, तिनिकूं भोगवै है। सो याकै अनादि अज्ञान तैं पर्यायवुद्धि है, अनादि अनंत एक आत्मा का ज्ञान नाही, ताका जनावनहारा सर्वज्ञ का आगम है, तामैं शुद्धद्रव्यार्थिकनय करि जनाया है जो आत्मा का एक असाधारण चैतन्यभाव है सो अखंड है, नित्य है, अनादिनिधन है सो याकूं जानें पर्यायवुद्धि का पक्षपात कटै है।

पद्रव्यनि तैं तथा तिनिके भावनि तैं तथा तिनिके निमित्त तैं भये अपनें विभावनि तैं आपा कूं भिन्न जानि, याका अनुभवन करै, तव परद्रव्य संवंधी भावनिरूप न परिणमैं, तव कर्म न वंधै, संसार तैं निवृत्ति होय, तातैं पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनय कूं गौण करि अभूतार्थ असत्यार्थ कहि करि, शुद्धनिश्चयनय कूं सत्यार्थ कहि, आलंवन पकडाया है, वस्तुस्वरूप की प्राप्ति भयें पीछैं, याका आलंवन नाही है।

लेकिन आत्मा का एकस्वभाव (अभेदस्वभाव), इस नय से ग्रहण नहीं होता और एकस्वभाव को जाने बिना यथार्थ आत्मा को कैसे जानें? अतः अशुद्धद्रव्यार्थिकनय के प्रतिपक्षी शुद्धद्रव्यार्थिकनय के द्वारा एक असाधारण ज्ञायकमात्र आत्मा का भाव ग्रहण करके सर्व परद्रव्यों से भिन्न, सर्व पर्यायों में एकाकार, हानि-वृद्धि से रहित, विशेषों से रहित, नैमित्तिकभावों से रहित शुद्धनय की दृष्टि से देखने पर, सर्व पाँच भावों की अपेक्षा जो अनेकरूपता है, वह अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

यहाँ ऐसा जानना कि जो वस्तु का स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है, वह स्याद्वाद से यथार्थ सिद्ध होता है। आत्मा भी अनन्त धर्मात्मक वस्तु है, उसके कितने ही धर्म तो स्वाभाविक हैं और कितने ही धर्म, पुद्गल के संयोग से होते हैं। जो धर्म, कर्मों के संयोग से होते हैं, उनके कारण आत्मा को संसार की प्रवृत्ति होती है और आत्मा, उस सम्बन्धी दुःख-सुख आदि को भोगता है। इस जीव को अनादि अज्ञान के कारण पर्यायबुद्धि है, अनादि-अनन्त एक आत्मा का ज्ञान नहीं है; अतः उसे बताने के लिए सर्वज्ञ भगवान के आगम में शुद्धद्रव्यार्थिकनय से यह बताया गया है कि आत्मा का एक असाधारण चैतन्यभाव, अखण्ड नित्य अनादिनिधन है; उसे जानने पर पर्यायबुद्धि का पक्षपात दूर होता है।

परद्रव्यों, उनके भावों और उनके निमित्त से हुए अपने विभावों से भिन्न आत्मा को जानकर, इसका अनुभव करने पर, यह आत्मा, परद्रव्य से सम्बन्धित भावोंरूप परिणमन नहीं करता, तब कर्मों का बन्धन नहीं होता और संसार से निवृत्ति होती है; अतः पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनय को गौण करके अभूतार्थ या असत्यार्थ कह कर और शुद्धनिश्चयनय को सत्यार्थ कह कर भले ही उसका आलम्बन

अैसा मति जाणूं जो शुद्धनय कूं सत्यार्थ कह्या सो अशुद्धनय सर्वथा ही असत्यार्थ है। अैसैं मानें, वेदांत मतवाले संसार कूं सर्वथा अवस्तु मानैं हैं, तिनिकी सर्वथा एकांत पक्ष आवै, तव मिथ्यादृष्टि आवै है, तव इस शुद्धनय का भी आलंवन तिनिकी ज्यों मिथ्यादृष्टि होय है। तातैं सर्व ही नयनि कूं कथंचित् प्रकार सत्यार्थ का श्रद्धान कीयें ही सम्यग्दृष्टि होय है।

अैसैं स्याद्वाद कूं समझि जिनमत का सेवन करनां, मुख्य गौण कथन सुणि सर्वथा एकांत पक्ष न पकडणां। अैसैं ही इस गाथा का व्याख्यान टीकाकार कीया है जो आत्मा व्यवहारनय की दृष्टि मैं वद्ध स्पृष्ट आदिरूप दीषै है सो इस दृष्टि मैं तौ सत्यार्थ ही है परंतु शुद्धनय की दृष्टि मैं वद्ध स्पृष्ट आदिरूप असत्यार्थ है। इस कथन मैं स्याद्वाद जनाया है, अैसैं जाननां॥

वहुरि अैसैं जाननां जो ए नय हैं, ते श्रुतज्ञान प्रमाण के अंश हैं सो श्रुतज्ञान है सो वस्तु कूं परोक्ष जनावै है सो ए नय भी परोक्ष ही जनावै हैं सो वद्ध स्पृष्ट आदि पांच भावनि तैं रहित आत्मा शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषय चैतन्यशक्तिमात्र है। सो शक्ति तौ परोक्ष है ही। वहुरि याकी व्यक्ति कर्मसंयोग तैं मति श्रुत आदि ज्ञानरूप हैं, ते कथंचित् अनुभवगोचर हैं, ते प्रत्यक्षरूप भी कहिये हैं।

अर संपूर्णज्ञान जो केवलज्ञान, सो छद्मस्थ कै प्रत्यक्ष नाही, तथापि यह शुद्धनय है सो आत्मा

ग्रहण कराया है परन्तु वस्तुस्वरूप की प्राप्ति हो जाने के बाद इसका भी आलम्बन नहीं रहता है।

यहाँ ऐसा मत समझना कि शुद्धनय को सत्यार्थ कहा है, अत: अशुद्धनय सर्वथा ही असत्यार्थ है क्योंकि ऐसा मानने पर संसार को सर्वथा अवस्तु माननेवाले वेदान्तमत के समान सर्वथा एकान्त का पक्ष आता है, जिससे मिथ्यादृष्टिपना आता है, तब इस शुद्धनय का आलम्बन लेनेवाला भी उन्हीं के समान मिथ्यादृष्टि होता है; अत: समस्त नयों का कथञ्चित् (अपेक्षा के अनुसार) सत्यार्थ श्रद्धान करनेवाला ही सम्यग्दृष्टि होता है।

इस प्रकार स्याद्वाद के स्वरूप को समझ कर, जिनमत का सेवन करना; मुख्य-गौण कथन को सुन कर (स्वीकार कर), सर्वथा एकान्त पक्ष नहीं पकड़ना। टीकाकार ने भी इसी प्रकार इस गाथा का व्याख्यान किया है। आत्मा, व्यवहारनय की दृष्टि से बद्धस्पृष्ट आदिरूप दिखाई देता है; अत: वह इस दृष्टि से तो सत्यार्थ ही है परन्तु शुद्धनय की दृष्टि से उसका बद्ध-स्पृष्ट आदिपना असत्यार्थ है। इस कथन से स्याद्वाद का ज्ञान कराया है - ऐसा जानना।

यहाँ ऐसा जानना कि ये नय, श्रुतज्ञान-प्रमाण के अंश हैं और श्रुतज्ञान वस्तु का परोक्षरूप से ज्ञान कराता है; अत: ये नय भी परोक्षरूप से ही ज्ञान कराते हैं। इन बद्ध-स्पृष्ट आदि पाँच भावों से रहित आत्मा, शुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय के रूप में चैतन्यशक्तिमात्र है। यद्यपि वह शक्ति तो परोक्ष ही है किन्तु उसकी व्यक्तता कर्म-संयोग से मति श्रुत आदि ज्ञानरूप है, वह कथञ्चित् अनुभवगोचर है; अत: प्रत्यक्ष भी कही जाती है।

यद्यपि सम्पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान है, वह छद्मस्थ को प्रत्यक्ष नहीं है; तथापि यह शुद्धनय आत्मा

का केवलज्ञानरूप परोक्ष जनावै है। जेतै इस नय कूं न जाणैं, तेतै आत्मा का पूर्णरूप का ज्ञान श्रद्धान होय नाही, तातैं श्रीगुरु या शुद्धनय कूं प्रगट करि दिषाया है जो वद्ध स्पृष्ट आदि पांच भावनि तैं रहित पूर्ण ज्ञानघनस्वभाव आत्मा कूं जानि श्रद्धान करनां, पर्यायबुद्धि न रहनां, यह उपदेश है।

इहां कोई कहै, अैसा आत्मा प्रत्यक्ष तो दीषै नाही अर विना दीषै श्रद्धान करनां तौ झूठा श्रद्धान है। ताकूं कहिये, दीषै ही का श्रद्धान करनां, यह तौ नास्तिकमत है। जिनमत मैं तो प्रमाण, प्रत्यक्ष परोक्ष दोऊ मानिये हैं सो आगमप्रमाण परोक्ष है, ताका भेद शुद्धनय है सो इस शुद्धनय की दृष्टि करि शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करनां, केवल व्यवहार प्रत्यक्ष ही का एकांत न करनां॥ छ॥

इहां, इस शुद्धनय कूं मुख्य करि कलशरूप काव्य है॥

॥ मालिनी ॥

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी,
स्फुटमुपरितरन्तोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्॥ ११॥

॥ याका अर्थ॥ टीकाकार उपदेश करै है जो जगत् के प्राणीसमूह, सो तिस सम्यक्स्वभाव

के केवलज्ञानरूप का परोक्षज्ञान कराता है। जब तक इस नय को न जाने, तब तक आत्मा के पूर्णरूप का ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता; अतः श्रीगुरु ने इस शुद्धनय के स्वरूप को प्रगट करके दिखाया है कि बद्ध-स्पृष्ट आदि पाँच भावों से रहित पूर्ण ज्ञानघनस्वभाव आत्मा को जान कर श्रद्धान करना, पर्यायबुद्धि नहीं रखना - यह उपदेश है।

यहाँ कोई कहता है कि ऐसा आत्मा, प्रत्यक्ष तो दिखायी देता नहीं और बिना देखे श्रद्धान करना तो झूठा श्रद्धान है। **उससे कहते हैं** कि देखी हुई वस्तु का ही श्रद्धान करना तो नास्तिक मत है। जिनमत में तो प्रत्यक्ष और परोक्ष, दोनों ही प्रकारों को प्रमाण माना गया है। उनमें से आगमप्रमाण परोक्ष है और उसका भेद शुद्धनय है; अतः इस शुद्धनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करना चाहिए, केवल व्यवहार प्रत्यक्ष (सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष) ही का एकान्त ग्रहण नहीं करना।

अब, यहाँ इस शुद्धनय को मुख्य करके कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

पावें न जिसमें प्रतिष्ठा, बस! तैरते हैं बाह्य में।
ये बद्धस्पृष्टादि सब, जिसके न अन्तरभाव में॥
जो है प्रकाशित चतुर्दिक्, उस एक आत्मस्वभाव का।
हे जगत्जन! तुम नित्य ही, निर्मोह हो अनुभव करो॥ 11॥

अर्थ — टीकाकार उपदेश देते हैं कि हे जगत के प्राणियों! इस सम्यक्स्वभाव का अनुभव

कूं अनुभवन करौ। जा विषै ए बद्ध स्पृष्ट आदि भाव हैं, ते प्रगटपणैं इस स्वभाव कै उपरि तरते हैं, तौऊ प्रतिष्ठा कूं नाही प्राप्त होय हैं, जातैं द्रव्यस्वभाव तौ नित्य, एकरूप है अर ए भाव अनित्य हैं, अनेकरूप हैं, पर्याय हैं सो द्रव्यस्वभाव मैं प्रवेश नाही करै हैं, उपरि ही रहै हैं॥

कैसा है यह शुद्ध स्वभाव। सर्व अवस्था मैं प्रकाशमान है॥

कैसे होय करि अनुभव करो॥ अपगतमोहीभूय कहिये दूरि भया है मोह जाका, अैसे होय करि। जातैं मोहकर्म के उदयजनित मिथ्यात्वरूप अज्ञान जेतै है, तेतै यह अनुभव यथार्थ होय नाही है॥

॥ भावार्थ॥ शुद्धनय का विषयस्वरूप आत्मा का अनुभव करो, यह उपदेश है॥ छ॥

आगैं, इस ही अर्थ के कलशरूप काव्य फेरि कहै है जो अैसा अनुभव कीयें आत्मदेव प्रगट प्रतिभासमान है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

भूतं भान्तमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यऽन्तः किल कोप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्माऽत्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं,
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः॥ १२॥

करो, जिसमें ये बद्ध-स्पृष्ट आदि भाव प्रगटरूप से इस स्वभाव के ऊपर ही तैरते हैं लेकिन अन्दर प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते हैं क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो नित्य है, एकरूप है और ये भाव अनित्य हैं, अनेकरूप हैं, पर्याय हैं; वे द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करते हैं, ऊपर ही रहते हैं।

कैसा है यह शुद्धस्वभाव? – सर्व अवस्थाओं में प्रकाशमान है।

कैसे होकर अनुभव करो? – अपगतमोहीभूय अर्थात् दूर हुआ है मोह जिसका, ऐसे होकर अनुभव करो क्योंकि यदि मोहकर्म के उदयजनित मिथ्यात्वरूप अज्ञान है तो यह अनुभव यथार्थ नहीं है।

भावार्थ – शुद्धनय के विषयभूत आत्मा का अनुभव करो – यह उपदेश है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं कि ऐसा अनुभव करने पर आत्मदेव प्रगट प्रतिभासमान होता है —

॥ रोला॥

अपने बल से मोह नाश कर भूत-भविष्यत्-,
वर्तमान के कर्म-बन्ध से भिन्न लखे बुध।
तो निज अनुभवगम्य आतमा सदा विराजित,
विरहित कर्म-कलङ्क-पङ्क से देव शाश्वत॥ १२॥

अर्थ – यदि कोई सुबुद्धि सम्यग्दृष्टि, भूत अर्थात् बीता हुआ, भान्त अर्थात् वर्तमान और अभूत

॥ याका अर्थ ॥ जो कोई सुवुद्धी सम्यग्दृष्टी, भूत कहिए पहलैं भया अर भांत कहिये वर्त्तमान का अर अभूत कहिये आगामी होयगा, अैसा तीन काल संवंधी कर्म का वंध कूं अपनें आत्मा तैं तत्काल शीघ्र न्यारा करि, वहुरि तिस कर्म कै उदय के निमित्त तैं भया जो मिथ्यात्वरूप अज्ञान, ताकूं अपने वल पुरुषार्थ तैं न्यारा करि अंतरंग विषै अभ्यास करै, देषै तौ यह आत्मा अपनें अनुभव ही करि है जाननें योग्य प्रगट महिमा जाकी, अैसा व्यक्त अनुभवगोचर निश्चल सास्वत नित्य कर्मकलंककर्दम तैं रहित, अैसा आप स्तुति करनें योग्य देव तिष्ठै है॥

॥ भावार्थ ॥ शुद्धनय की दृष्टि करि देषिये तौ सर्व कर्मनि तैं रहित चैतन्यमात्र देव अविनाशी आत्मा, अंतरंग विषै आप विराजै है। यहु प्राणी पर्यायवुद्धी वहिरात्मा, आत्मा कूं वाह्य हेरै है सो वडा अज्ञान है॥ छ॥

आगैं, शुद्धनय का विषयभूत आत्मा की अनुभूति है सो ही ज्ञान की अनुभूति है, अैसा अगिली गाथा की सूचनिका के अर्थरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ वसन्ततिलका ॥

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या,
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुध्वा॥
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात्॥ १३॥

॥ याका अर्थ ॥ अैसैं जो पूर्वोक्त शुद्धनयस्वरूप आत्मा की अनुभूति कहिये अनुभव है, सो

अर्थात् भविष्य में होनेवाले – ऐसे तीन काल से सम्बन्धित कर्म के बन्ध को अपने आत्मा से तत्काल या शीघ्र अलग करके और उस कर्म के उदय के निमित्त से हुए मिथ्यात्वरूप अज्ञान को अपने बल या पुरुषार्थ से अलग करके, अन्तरङ्ग में अभ्यास करे अर्थात् देखे तो उसे अनुभव होगा कि यह आत्मा, जिसकी प्रगट महिमा अपने अनुभव से ही जानने योग्य है - ऐसा व्यक्त, अनुभवगोचर, निश्चल, शाश्वत, नित्य, कर्म-कलङ्करूपी कीचड़ से रहित, स्वयं स्तुति करने योग्य देव [साक्षात्] विराजमान है।

भावार्थ – शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाए तो सर्व कर्मों से रहित चैतन्यमात्र देव अर्थात् अविनाशी आत्मा, अन्तरङ्ग में स्वयं विराजमान है। यह पर्यायबुद्धि बहिरात्मा प्राणी, आत्मा को बाहर ढूँढ़ता है – यह बड़ा अज्ञान है।

अब, शुद्धनय के विषयभूत आत्मा की अनुभूति ही ज्ञान की अनुभूति है – ऐसा आगामी गाथा की सूचना के अर्थरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला ॥

शुद्धनयातम आतम की अनुभूति कही जो,
वह ही है ज्ञानानुभूति तुम यही जानकर।

ही यह ज्ञान की अनुभूति है, अैसैं प्रगट जाणि करि, वहुरि आत्मा विषै आत्मा कूं निश्चल स्थाप्य करि अर सदा सर्व तरफ एक ज्ञानघन आत्मा है, अैसा देषनां॥

॥ भावार्थ॥ पहलैं सम्यग्दर्शन कूं प्रधान करि कह्या था, अव ज्ञान कूं प्रधान करि कहै है जो यह शुद्धनय का विषयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है सो ही सम्यक्ज्ञान है॥ छ॥

[आगैं], इस अर्थरूप गाथा कहै है॥ छ॥

जो पस्सइ अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपएससंतमज्झं, पस्सइ जिणसासणं सव्वं॥ १५॥

यः पश्यति आत्मानं, अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम्।
अपदेशसान्तमध्यं, पश्यति जिनशासनं सर्वं॥ १५॥

॥ अर्थ॥ जो पुरुष आत्मा कूं अवद्धस्पृष्ट अनन्य अविशेष, इहां उपलक्षण तैं पूर्वोक्त नियत असंयुक्त ए दोऊ विशेषण भी लेणां, अैसा देषै है सो सर्व जिनशासन कूं देषै है। कैसा है जिनशासन। अपदेश कहिये वचनरूप वाह्य द्रव्यश्रुत, वहुरि सांत कहिये ज्ञानरूप अभ्यंतर भावश्रुत, ए दोऊ हैं मध्य

आतम में आतम को निश्चल थापित करके,
सर्व ओर से एक ज्ञानघन आतम निरखो॥ १३॥

अर्थ – ऐसे जो पूर्वोक्त शुद्धनयस्वरूप आत्मा की अनुभूति अर्थात् अनुभव है, वही यह ज्ञान की अनुभूति है – ऐसा प्रगट जान कर और आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके, सदा सभी तरफ एक ज्ञानघन आत्मा ही है – ऐसा देखना।

भावार्थ – पहले सम्यग्दर्शन को प्रधान करके कहा था, अब ज्ञान को प्रधान करके कहते हैं कि शुद्धनय के विषयस्वरूप आत्मा की अनुभूति ही सम्यग्ज्ञान है।

अब, इस अर्थरूप गाथा कहते हैं –

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं, पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥ १५॥

अनबद्ध-स्पृष्ट अनन्य जो, अविशेष देखे आत्म को।
वह द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो!॥ १५॥

अर्थ – जो पुरुष, आत्मा को अबद्धस्पृष्ट (अबद्ध-स्पृष्ट), अनन्य, अविशेष तथा उपलक्षण से पूर्वोक्त नियत एवं असंयुक्त – इन पाँच विशेषणों से युक्त देखता है, वह सर्व जिनशासन को देखता है। **कैसा है जिनशासन?** – अपदेश अर्थात् वचनरूप बाह्य द्रव्यश्रुत और सान्त अर्थात् ज्ञानरूप अभ्यन्तर भावश्रुत, ये दोनों ही जिसके अन्तर्गत हैं – ऐसा जिनशासन है॥ १५॥

जाकै, अैसा है॥ छ॥

॥ टीका॥ जो यह अवद्धस्पृष्ट अनन्य नियत अविशेष असंयुक्त, अैसे पांच भावस्वरूप आत्मा, ताकी अनुभूति सो ही निश्चय करि समस्त जिनशासन की अनुभूति है॥ जातैं श्रुतज्ञान है सो आप आत्मा ही है, तातैं यह आया जो आत्मा की अनुभूति है सो ही ज्ञान की अनुभूति है॥

इहां यह विशेष है जो सामान्यज्ञान का तौ आविर्भाव कहिये प्रगटपणां अर विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान का तिरोभाव कहिये आच्छादनता करि, ज्ञानमात्र ही जव अनुभव करिये, तव ज्ञान प्रगट अनुभव मैं आवै है, तौऊ जे अज्ञानी हैं अर ज्ञेयनि विषै लुब्ध हैं, आसक्त हैं, तिनिकूं स्वादरूप न होय है॥ सो ही प्रगट दृष्टांत करि दिषावै है॥

जैसैं अनेक प्रकार के व्यंजन कहिये तरकारी आदि भोजन, तिनिके संयोग करि उपज्या सामान्य लूण का तौ तिरोभाव अर विशेष लूण का आविर्भाव, ताकरि अनुभव मैं आवता जो सामान्य लूण का तिरोभावरूप लूण, सो ही जे अज्ञानी अर व्यंजन विषै लुब्ध अैसे मनुष्य, तिनिकूं लूण का विशेष भावरूप जे व्यंजन, तिनिका ही स्वाद आवै है। वहुरि अन्य के संयोग रहितपणां तैं उपज्या सामान्य का तौ जामैं आविर्भाव अर विशेष का जामैं तिरोभाव, अैसा भाव करि एकाकार अभेदरूप लूण का स्वाद नाहीं आवै है। वहुरि परमार्थ करि देषिये, तव जो विशेष का आविर्भाव करि अनुभव मैं आवता क्षार रसरूप लूण है, सो ही सामान्य का आविर्भाव करि अनुभव मैं आवता क्षार रसरूप लूण है॥

तैसैं ही अनेकाकार ज्ञेयनि के आकार करि करंवित कहिये मिश्ररूप सारिषापणां करि सामान्य

टीका – जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त – ऐसे पाँच भावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वही निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है क्योंकि श्रुतज्ञान, स्वयं आत्मा ही है; अतः यह सिद्ध हुआ कि आत्मा की अनुभूति ही ज्ञान की अनुभूति है।

यहाँ इतना विशेष है कि सामान्यज्ञान का तो अविर्भाव अर्थात् प्रगट होना और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान का तिरोभाव अर्थात् छिपना या ढकना – ऐसा करके जब ज्ञानमात्र का अनुभव किया जाता है, तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है, फिर भी जो अज्ञानी हैं और ज्ञेयों में लुब्ध हैं, आसक्त हैं, उन्हें वह स्वाद में नहीं आता। इस बात को दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं —

जिस प्रकार अनेक प्रकार के व्यञ्जन अर्थात् शाक आदि भोजन के संयोग से उत्पन्न सामान्य लवण (नमक) के तिरोभाव और विशेष लवण के आविर्भाव से अनुभव में आते हुए जो सामान्य लवण के तिरोभावरूप लवण का, अज्ञानी और व्यञ्जनों में लुब्ध मनुष्यों को लवण के विशेषभावरूप व्यञ्जनों का ही स्वाद आता है तथा अन्य के संयोगरहितपने से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभावरूप भाव से एकाकार, अभेदरूप लवण का स्वाद नहीं आता है। यदि परमार्थ से देखा जाए तो विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला क्षाररसरूप लवण ही, सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला क्षाररसरूप लवण है।

उसी प्रकार अनेकाकाररूप ज्ञेयों के आकारों से **करंबित** अर्थात् मिश्रित होने की समानता के

का तौ जामैं तिरोभाव अर विशेष का जामैं आविर्भाव, अैसा भाव करि अनुभव में आवता जो ज्ञान, सो जे अज्ञानी हैं अर ज्ञेयनि विषै लुब्ध हैं, आसक्त हैं, तिनिकूं विशेषभावरूप भेद अनेकाकाररूप स्वाद मैं आवै है॥ वहुरि अन्य ज्ञेयाकार के संयोग तैं रहितपणां तैं उपज्या सामान्य का जामैं आविर्भाव अर विशेष का जामैं तिरोभाव, अैसा एकाकार अभेदरूप ज्ञानमात्र सो अनुभव मैं स्वादरूप नाही आवै है॥ अर परमार्थ विचारिये तव जो विशेष के आविर्भाव करि ज्ञान अनुभव मैं आवै है सो ही सामान्य का आविर्भाव करि जे ज्ञेय विषै आशक्त नाही हैं अर ज्ञानी हैं, तिनि कै अनुभव मैं आवै है॥

वहुरि जैसैं लूण की डली, अन्य द्रव्य के संयोग का अभाव करि केवल एक लूणमात्र अनुभवन करैं संतैं, एक लूणरस क्षारापणां करि, लूणपणां करि स्वाद मैं आवै है। तैसैं आत्मा भी परद्रव्य के संयोग तैं न्यारा भाव करि केवल एक भाव करि अनुभवन करैं संतैं, सर्व तरफ तैं एक विज्ञान घनस्वभाव तैं ज्ञानपणां करि स्वाद मैं आवै है॥

॥ भावार्थ॥ इहां आत्मा की अनुभूति सो ही ज्ञान की अनुभूति कही, तहां अज्ञानीजन हैं, ते ज्ञेय जे इन्द्रियज्ञान के विषय, तिनि ही विषै लुब्ध हैं सो तिनितैं अनेक आकाररूप भया ज्ञान, ताकूं ही ज्ञेयमात्र आस्वादै हैं। वहुरि ज्ञेयनि तैं भिन्न ज्ञानमात्र का आस्वाद नाही ले हैं, यातैं जे ज्ञानी हैं अर ज्ञेयनि तैं लुब्ध नाही हैं, ते एकाकार ज्ञेयनि तैं न्यारा ज्ञान ही का आस्वाद करैं हैं।

जैसैं व्यंजननि तैं न्यारी लूण की डली का क्षारमात्र स्वाद आवै, तैसैं आस्वादै हैं, यातैं जो ज्ञान है सो ही आत्मा है अर आत्मा है सो ही ज्ञान है। अैसैं गुणीगुण की अभेददृष्टि मैं अैसैं आया जो सर्व

कारण, अज्ञानी और ज्ञेयों में लुब्ध अथवा आसक्त को, सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आते हुए ज्ञान का, विशेषभावरूप भेदों का अनेकाकाररूप, स्वाद में आता है तथा अन्य ज्ञेयाकारों के संयोग से रहितपने से उत्पन्न, सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभावरूप एकाकार अभेदरूप ज्ञानमात्र का अनुभव या स्वाद नहीं आता है। यदि परमार्थ से विचार किया जाए तो ज्ञेयों में अनासक्त ज्ञानियों को तो विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला ज्ञान ही, सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है।

तथा जिस प्रकार लवण की डली (टुकड़े) को अन्य द्रव्यों के संयोग से भिन्न केवल एक लवणरूप अनुभव करने पर, एक लवणरस के क्षारपने के कारण लवणपने से स्वाद में आता है; उसी प्रकार आत्मा को भी परद्रव्य के संयोग से रहित केवल एक भाव से अनुभव करने पर, सभी ओर से एक विज्ञानघनस्वभाव के कारण ज्ञानपने से स्वाद में आता है।

भावार्थ – यहाँ आत्मा की अनुभूति को ही ज्ञान की अनुभूति कहा है। अज्ञानीजन, ज्ञेयों अर्थात् इन्द्रियज्ञान के विषयों में ही लुब्ध हैं, उसके कारण अनेक आकाररूप हुए ज्ञान को ही ज्ञेयरूप से आस्वादते हैं और ज्ञेयों से भिन्न ज्ञानमात्र का स्वाद नहीं लेते हैं, लेकिन जो ज्ञानी हैं, ज्ञेयों में लुब्ध नहीं हैं, वे ज्ञेयों से भिन्न एकाकार ज्ञान ही का आस्वाद लेते हैं।

जिस प्रकार व्यञ्जनों से भिन्न लवण की डली का क्षारमात्र स्वाद आता है; उसी प्रकार ज्ञानी,

परद्रव्य तैं न्यारा, अपनें पर्यायनि विषैं एकरूप निश्चल, अपनें गुणनि विषै एकरूप, परनिमित्त तैं भये भावनि तैं भिन्न, अपनां स्वरूप का अनुभवन है सो ही ज्ञान का अनुभवन है अर यह अनुभवन है सो भावश्रुतज्ञानरूप जो जिनशासन, ताका अनुभवन है, शुद्धनय करि यामैं किछू भेद नाही है॥ छ॥

अब, इस ही अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ पृथ्वी॥

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा॥
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम्॥ १४॥

॥ अर्थ॥ आचार्य कहै है जो तत् कहिये सो परम उत्कृष्ट, मह कहिये तेजप्रकाश रूप हमारै होहु। जो सदाकाल चैतन्य का उच्छलन कहिये परिणमन ताकरि भर्‌या जैसैं लूण की डली एक क्षाररस की लीला कूं आलंवन करै है, तैसैं एक ज्ञान रसस्वरूप कूं आलंवन करै है॥ वहुरि सो तेज कैसा है। अखंडित है, जामैं ज्ञेयनि के आकाररूप खंड ते नाही हैं॥ वहुरि कैसा है। अनाकुल है, जामें कर्म के निमित्त तैं भये रागादिक तिनि करि भई जो आकुलता सो नाही है॥ वहुरि कैसा है। अन्तर्वहिरनंतं

ज्ञेयों से भिन्न एकाकार ज्ञान ही का आस्वादन अर्थात् अनुभवन करते हैं; इसलिए ज्ञान ही आत्मा है और आत्मा ही ज्ञान है। इस प्रकार गुण-गुणी की अभेददृष्टि से ऐसा कहने में आता है कि सर्व परद्रव्यों से भिन्न, अपनी पर्यायों में एकरूप, निश्चल, अपने गुणों में एकरूप, पर-निमित्त से होनेवाले भावों से भिन्न, अपने स्वरूप का अनुभवन ही, ज्ञान का अनुभवन है और यह अनुभवन ही, भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासन का अनुभवन है; शुद्धनय से इसमें कुछ भी भेद नहीं है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

खारेपन से भरी हुई ज्यों नमक डली है,
ज्ञानभाव से भरा हुआ त्यों निज आतम है।
अन्तर-बाहर प्रगट तेजमय सहज अनाकुल,
जो अखण्ड चिन्मय चिद्घन वह हमें प्राप्त हो॥ १४॥

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि हमें **तत्** अर्थात् वह परम उत्कृष्ट, **मह** अर्थात् तेज-प्रकाश रूप प्राप्त हो, जो सदाकाल चैतन्य के **उच्छलन** अर्थात् परिणमन से परिपूर्ण है। जिस प्रकार नमक की डली, एक क्षाररस की लीला का अवलम्बन करती है; उसी प्रकार वह परम उत्कृष्ट तेज, एक ज्ञानस्वरूप रस का अवलम्बन करता है। **वह तेज कैसा है? – अखण्डित** है, जिसमें ज्ञेयों के

ज्वलत् कहिये अंतरहित, अविनासी जैसैं होय तैसैं अंतरंग तौ चैतन्यभाव करि दैदीप्यमान अनुभव मैं आवै है अर वाह्य वचनकाय की क्रिया करि प्रगट दैदीप्यमान हो है, जान्यां जाय है॥ वहुरि सहज कहिये स्वभाव करि भया है, काहू नैं रच्या नाही है॥ वहुरि सदा उद्विलासं कहिये निरंतर उदयरूप है विलास जाका, एकरूप प्रतिभासमान है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ आचार्य नैं प्रार्थनां करी है, जो यह स्वरूपज्योति ज्ञानानन्दमय एकाकार हमारे सदा प्राप्त रहो, अैसा जानना॥ छ॥

आगैं, अगिली गाथा की सूचनिका का ह्लोक है॥ छ॥

॥ अनुष्टुभ्॥

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन, द्विधैकः समुपास्यताम्॥ १५॥

॥ अर्थ॥ यहु पूर्वोक्त ज्ञानस्वरूप नित्य आत्मा है सो सिद्धि जो स्वरूप की प्राप्ति, ताके इच्छक पुरुषनि करि साध्यसाधकभाव के भेद करि, दोय प्रकार करि, एक ही सेवनें योग्य है सो सेवो॥ छ॥

आकाररूप खण्ड नहीं हैं। **और कैसा है? – अनाकुल** है, जिसमें कर्मों के निमित्त से होनेवाले रागादिभावों के कारण उत्पन्न होनेवाली आकुलता नहीं है। **और कैसा है? – अन्तर्बहिरनन्तं ज्वलत्** जो अन्तरहित अर्थात् अविनाशी है। अन्तरङ्ग में चैतन्यभाव से दैदीप्यमान अनुभव में आता है और बाह्य में वचन-काय की क्रियाओं से प्रगट दैदीप्यमान होता है, जाना जाता है। **सहज** है, स्वभाव से ही उपजा या जन्मा है, किसी ने उसकी रचना नहीं की है। **सदा उद्विलासं,** जिसका विलास निरन्तर उदयरूप है अर्थात् एकरूप प्रतिभासमान है।

भावार्थ – यहाँ आचार्य ने प्रार्थना की है कि यह ज्ञानानन्दमय एकाकार स्वरूपज्योति, हमें सदा प्राप्त रहे – ऐसा जानना।

अब, आगामी गाथा की सूचनिका का श्लोक कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

है कामना यदि सिद्धि की, ना चित्त को भरमाइए।
यह ज्ञान का घनपिण्ड चिन्मय, आतमा अपनाइए।
बस! साध्य-साधकभाव से इस, एक को ही ध्याइए।
फिर आप भी पर्याय में, परमातमा बन जाइये॥ १५॥

अर्थ – यह पूर्वोक्त ज्ञानस्वरूप नित्य आत्मा की सिद्धि अर्थात् स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों को साध्य और साधकभाव के भेद से दो प्रकार से एक [आत्मा] ही सेवन करने योग्य है; अतः [हे भव्यों!] तुम उसका सेवन करो।

॥ भावार्थ ॥ आत्मा तौ ज्ञानस्वरूप एक ही है परंतु याका पूर्णरूप साध्यभाव है अर अपूर्णरूप साधकभाव है, अैसैं भावभेद करि दोय प्रकार करि, एक ही सेवनां।

तहां दर्शनज्ञानचारित्ररूप साधकभाव है सो ही गाथा मैं कहै है॥ छ॥

दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि, अप्पाणं चेव णिच्छयदो॥ १६॥

दर्शनज्ञानचारित्राणि, सेवितव्यानि साधुना नित्यम्।
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानं चैव निश्चयतः॥ छ॥

॥ अर्थ ॥ साधु पुरुष करि दर्शनज्ञानचारित्र हैं, ते निरंतर सेवनें योग्य हैं॥ वहुरि ते तीन हैं, तौऊ निश्चयनय तैं एक आत्मा ही जानूं॥ छ॥

॥ टीका ॥ यहु आत्मा जिस भाव करि साध्य तथा साधन होय, तिस ही भाव करि नित्य उपासन करनें योग्य है, सेवनें योग्य है, अैसैं आप विचारि, वहुरि परनि कूं व्यवहार करि प्रतिपादन करै है जो साधु पुरुषनि करि दर्शनज्ञानचारित्र हैं, ते सदा सेवनें योग्य हैं॥ वहुरि परमार्थ करि देषिये, तव ए तीनूँ ही एक आत्मा ही है, जातैं ए अन्य वस्तु नाही हैं, आत्मा ही के पर्याय हैं॥

जैसैं कोई देवदत्त नाम पुरुष का ज्ञान श्रद्धान आचरण है, ते तिसके स्वभाव कूं नाहीं उल्लंघ्य

भावार्थ – यद्यपि ज्ञानस्वरूप आत्मा तो एक ही है परन्तु इसका पूर्णरूप साध्यभाव है और अपूर्णरूप साधकभाव है - ऐसे भावभेद से दो प्रकार से एक ही का सेवन करना योग्य है।

अब, यहाँ गाथा में दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधकभाव का स्वरूप कहते हैं —

दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि, अप्पाणं चेव णिच्छयदो॥ १६॥

दर्शनसहित नित ज्ञान अरु, चारित्र साधु सेविये।
पर ये तीनों आत्मा हि केवल, जान निश्चयदृष्टि में॥ १६॥

अर्थ – साधु पुरुष के द्वारा दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही निरन्तर सेवन करने योग्य हैं। यद्यपि वे तीन हैं, तथापि निश्चयनय से उन्हें एक आत्मा ही जानो॥ १६॥

टीका – यह आत्मा, जिस भाव से साध्य तथा साधन हो, उस ही भाव से नित्य उपासना करने योग्य है, सेवन करने योग्य है - ऐसा स्वयं विचार करके, पश्चात् दूसरों के लिए व्यवहार से प्रतिपादन करते हैं कि साधु पुरुषों के द्वारा दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही सदा सेवन करने योग्य है। परमार्थ से देखा जाए तो ये तीनों एक आत्मा ही हैं, अन्य वस्तु नहीं हैं, आत्मा ही की पर्यायें हैं।

वर्त्तैं हैं, तातैं ते देवदत्त पुरुष ही है, अन्य वस्तु नाही है॥ तैसैं आत्मा विषै भी आत्मा का ज्ञान श्रद्धान आचरण हैं, ते आत्मा के स्वभाव कूं नाही उल्लंघ्य वर्त्तैं हैं, तातैं आत्मा ही है, अन्य वस्तु नाही है। तातैं यह सिद्ध भया जो एक आत्मा ही सेवन करनें योग्य है॥ यह आपै आप ही प्रकाशमान हो है॥

॥ भावार्थ॥ दर्शन ज्ञान चारित्र, तीन कहे, ते आत्मा ही के पर्याय हैं, किछू न्यारे वस्तु नाही हैं, तातैं साधुपुरुषनि कूं एक आत्मा ही का सेवन करनां, यह निश्चय है। वहुरि व्यवहार करि अन्य कूं यह ही उपदेश करनां।

आगैं, इस ही अर्थ का कलशरूप ह्लोक कहै है॥

॥ अनुष्टुभ्॥

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम्।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः॥ १६॥

॥ अर्थ॥ यहु आत्मा प्रमाणदृष्टि करि देषिये, तव एकैं काल, मेचक कहिये अनेक अवस्थारूप भी है अर अमेचक कहिये एक अवस्थारूप भी है॥ जातैं याकै दर्शनज्ञानचारित्र करि तौ तीनपणां है, वहुरि आप करि आप कै एकपणां है॥ छ॥

जैसे, किसी देवदत्त नामक पुरुष के ज्ञान-श्रद्धान-आचरण, उसके स्वभाव का उल्लङ्घन नहीं करते हुए वर्तते हैं, अत: वे देवदत्त ही हैं, अन्य वस्तु नहीं है; उसी प्रकार आत्मा में भी आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान-आचरण, आत्मा के स्वभाव का उल्लङ्घन नहीं करने से आत्मा ही हैं, अन्य वस्तु नहीं हैं। अत: यह सिद्ध हुआ कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है, यह स्वयं अपने आप ही प्रकाशमान होता है।

भावार्थ – दर्शन-ज्ञान-चारित्र – ये तीनों आत्मा ही की पर्यायें हैं, कोई अन्य वस्तु नहीं हैं; अत: निश्चय से **साधु पुरुषों को एक आत्मा ही का सेवन करना चाहिए और व्यवहार से दूसरों को भी यही उपदेश देना चाहिए।**

अब, इसी अर्थ का कलशरूप श्लोक कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

मेचक कहा है आतमा, दृग-ज्ञान अरु आचरण से।
यह एक निज परमातमा, बस! है अमेचक स्वयं से॥
परमाण से मेचक-अमेचक, एक ही क्षण में अहा!।
यह अलौकिक मर्मभेदी, वाक्य जिनवर ने कहा॥ १६॥

अर्थ – इस आत्मा को प्रमाणदृष्टि से देखा जाए तो एक ही काल में, मेचक अर्थात् अनेक अवस्थारूप भी है और अमेचक अर्थात् एक अवस्थारूप भी है क्योंकि इस आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र से तो तीनरूपता है और स्वयं से स्वयं में एकपना है।

॥ भावार्थ ॥ प्रमाणदृष्टि मैं त्रिकालात्मक वस्तु द्रव्यपर्यायरूप देषिये है, तातैं आत्मा भी युगपत् एकानेकस्वरूप देषणां ॥ छ ॥

आगैं नयविवक्षा कहै है ॥

॥ अनुष्टुभ् ॥

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद्व्यवहारेण मेचकः ॥ १७ ॥

॥ अर्थ ॥ व्यवहारदृष्टि करि देषिये तव आत्मा एक है, तौऊ तीन स्वभावपणां करि मेचक कहिये अनेकाकाररूप है ॥ जातैं दर्शनज्ञानचारित्र, इनि तीन भावनि करि परिणमै है ॥ छ ॥

॥ भावार्थ ॥ शुद्धद्रव्यार्थिकनय करि आत्मा एक है, इस नय कूं प्रधान करि कहिये तव पर्यायार्थिकनय गौण भया सो एक कूं तीनरूप परिणमता कहनां सों ही व्यवहार भया, असत्यार्थ भी भया, अैसैं व्यवहारनय करि दर्शनज्ञानचारित्र परिणाम करि मेचक कह्या है ॥ छ ॥

अव परमार्थनय करि कहै है ॥

॥ अनुष्टुभ् ॥

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः ।
सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥ १८ ॥

भावार्थ – प्रमाणदृष्टि से त्रिकालात्मक वस्तु को द्रव्य-पर्यायरूप देखा जाता है; अतः आत्मा को भी युगपत् एक-अनेकस्वरूप देखना।

अब, नय-विवक्षा कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

आतमा है एक यद्यपि, किन्तु नय व्यवहार से।
त्रैरूपता धारण करे सद, ज्ञान-दर्शन-चरण से॥
बस! इसलिए मेचक कहा है, आतमा जिनमार्ग में।
अरु इसे जाने बिन जगतजन, ना लगें सन्मार्ग में॥ १७॥

अर्थ – व्यवहारनय की दृष्टि से देखें तो आत्मा एक होते हुए भी तीन स्वभावपने के कारण मेचक अर्थात् अनेकाकाररूप है क्योंकि आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्र, इन तीन भावरूप परिणमता है।

भावार्थ – शुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा एक है – इस नय को प्रधानता से कहा जाए तो पर्यायार्थिकनय गौण होता है, अतः एक को तीनरूप परिणमता हुआ कहना व्यवहार है, असत्यार्थ भी है; इस प्रकार व्यवहारनय से दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम के कारण आत्मा को मेचक कहा है।

अब, परमार्थनय से कथन करते हैं —

॥ अर्थ ॥ परमार्थ जो शुद्धनिश्चयनय ताकरि देषिये तव प्रगट ज्ञायक ज्योतिमात्र करि आत्मा एकस्वरूप है॥ जातैं याका शुद्धद्रव्यार्थिकनय करि सर्व ही अन्य द्रव्य के स्वभाव तथा अन्य के निमित्त तैं भये विभाव, तिनिका दूरि करनेंरूप स्वभाव है, यातैं अमेचक है, शुद्ध एकाकार है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ भेददृष्टि कूं गौण करि अभेददृष्टि करि देषिये तव आत्मा एकाकार ही है सो ही अमेचक है॥ छ॥

आगैं, प्रमाणनय करि मेचक अमेचक कह्या सो इस चिंता कूं मेटि, जैसैं साध्य की सिद्धि होय तैसैं करणां, यह कहै है॥

॥ अनुष्टुभ् ॥

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकाऽमेचकत्वयोः।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चाऽन्यथा॥ १९॥

॥ अर्थ ॥ यह आत्मा मेचक है, भेदरूप अनेकाकार है॥ तथा अमेचक है, अभेदरूप एकाकार

॥ हरिगीतिका ॥

आतमा मेचक कहा है, यद्यपि व्यवहार से।
किन्तु वह मेचक नहीं है, अमेचक परमार्थ से॥
है प्रगट ज्ञायक ज्योतिमय, वह एक है स्वभाव से।
है शुद्ध एकाकार पर से भिन्न है परमार्थ से॥ १८॥

अर्थ – परमार्थ अर्थात् शुद्धनिश्चयनय से देखा जाए तो आत्मा प्रगट ज्ञायक ज्योतिमात्र होने से एकस्वरूप है क्योंकि इसका, शुद्धद्रव्यार्थिकनय से सभी अन्य द्रव्य के स्वभावों और उनके निमित्त से हुए विभावों को दूर करने का स्वभाव है; अतः अमेचक है, शुद्ध एकाकार है।

भावार्थ – भेददृष्टि को गौण करके अभेददृष्टि से देखा जाए तो आत्मा एकाकार ही है, वही अमेचकपना है।

अब, आत्मा को प्रमाण-नय की अपेक्षाओं से मेचक-अमेचक कहा है; अतः इस चिन्ता को मिटा कर जैसे साध्य की सिद्धि हो, वैसे करना चाहिए – यह कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

मेचक-अमेचक आतमा के, चिन्तवन से लाभ क्या?।
बस! करो अब तो इन विकल्पों, से तुम्हें है साध्य क्या?॥
हो साध्यसिद्धि एक बस!, सद्ज्ञान-दर्शन-चरण से।
पथ अन्य कोई है नहीं, जिससे बचें संसरण से॥ १९॥

अर्थ – यह आत्मा, मेचक अर्थात् भेदरूप अनेकाकार है अथवा अमेचक अर्थात् अभेदरूप

है, अैसी चिंता करि तौ पूरी पडो॥ साध्य आत्मा की तौ सिद्धि है सो दर्शनज्ञानचारित्र, इनि तीन भावनि करि ही है, अन्य प्रकार नाही है, यह नियम है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ आत्मा का शुद्धद्रव्यार्थिकनय करि सिद्ध भया, अैसा शुद्धस्वभाव साध्य है सो पर्यायार्थिकस्वरूप व्यवहारनय ही करि साधिये है, तातैं अैसैं कह्या है जो भेदाभेद की कथनीं करि कहा, जैसैं साध्य की सिद्धि होय, तैसैं करनां। व्यवहारीजन पर्याय ही मैं समझैं हैं, तातैं दर्शनज्ञानचारित्र, तीन परिणाम हैं सो ही आत्मा है। अैसैं भेदप्रधान करि अभेद की सिद्धि करनीं कही॥ छ॥

आगैं इस ही प्रयोजन कूं गाथा दोय मैं दृष्टान्त करि कहै है॥ छ॥

जह णाम कोइ पुरिसो, रायाणं जाणिऊण सद्दहइ।
तो तं अणुचरइ पुणो, अत्थत्थीओ पयत्तेण॥ १७॥
एवं हि जीवराया, णायव्वो तह य सद्दहेयव्वो।
अणुचरियव्वो य पुणो, सो चेव दु मोक्खकामेण॥ १८॥

॥ युगलं॥

एकाकार है – ऐसी चिन्ता से तो बस होओ। साध्य आत्मा की सिद्धि तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र – इन तीन भावों से ही है, अन्यथा नहीं – यह नियम है।

भावार्थ – आत्मा का शुद्धद्रव्यार्थिकनय से सिद्ध हुआ - ऐसा शुद्धस्वभाव साध्य है, उसे पर्यायार्थिकस्वरूप व्यवहारनय ही के द्वारा साधते हैं; इसलिए ऐसा कहा गया है कि भेदाभेद की कथनी से क्या प्रयोजन है? जैसे भी साध्य की सिद्धि हो, वैसे करना। व्यवहारीजन पर्याय ही को समझते हैं, अत: दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन परिणाम ही आत्मा हैं; इस प्रकार भेद को प्रधान करके अभेद की सिद्धि करने का उपदेश दिया है।

अब, इसी प्रयोजन को दो गाथाओं में दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं —

जह णाम को वि पुरिसो, रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो, अत्थत्थीओ पयत्तेण॥ १७॥
एवं हि जीवराया, णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो, सो चेव दु मोक्खकामेण॥ १८॥

ज्यों पुरुष कोई नृपति को भी, जान कर श्रद्धा करे।
फिर यत्न से धन अर्थ वह, अनुचरण राजा का करे॥ १७॥

यथा नाम कोपि पुरुषो, राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन॥ छ॥
एवं हि जीवराजा, ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं कोई पुरुष धन का अर्थी, राजा कूं जाणि करि श्रद्धान करै॥ ता पीछैं ताकूं वहुत यत्न करि अनुचरै, ताकी नींकैं सेवा करै॥ छ॥

अैसैं ही मोक्ष का अर्थी पुरुष करि जीवनामा राजा कूं जाननां, पीछैं तैसैं ही ताका श्रद्धान करनां, पीछैं ताका अनुचरन करनां, अनुभव करि तन्मय होनां॥ छ॥

॥ टीका॥ निश्चय करि जैसैं कोई धन का अर्थी पुरुष वड़ा उद्यम करि प्रथम तौ राजा कूं जानैं जो यह राजा है। पीछैं तिस ही का श्रद्धान करै जो यह अवश्य राजा ही है, याका सेवन कीयें अवश्य धन की प्राप्ति होयगी। पीछैं तिस ही का अनुचरण करै, सेवन करै, आज्ञा मैं प्रवर्त्तै, वाकूं प्रसन्न करै॥ तैसैं ही मोक्ष का अर्थी पुरुष करि प्रथम तौ आत्मा कूं जाननां। पीछैं तिसका श्रद्धान करनां जो यह ही आत्मा है, याका आचरण कीये अवश्य कर्मनि तैं छूटियेगा। पीछैं तिस ही का आचरण करनां, अनुभव करि तामैं लीन होनां, जातैं साध्य जो निकर्म अवस्थारूप अभेद शुद्धरूप, ताकी अैसैं

जीवराज को यों जानना, फिर श्रद्धना इस रीति से।
उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष अर्थी यत्न से॥ १८॥

अर्थ – जैसे, कोई धन का इच्छुक पुरुष, राजा को जान कर, श्रद्धान करता है, फिर उसका बहुत यत्नपूर्वक अनुचरण करता है, उसकी अच्छी तरह सेवा करता है॥ १७॥

उसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक पुरुष को भी जीवरूपी राजा को जानना चाहिए, फिर उसी प्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिए और फिर उसका ही अनुचरण करना चाहिए अर्थात् अनुभव करके उसी में तन्मय होना चाहिए॥ १८॥

टीका – निश्चय से जैसे कोई धन का इच्छुक पुरुष, विशेष प्रयत्नपूर्वक पहले तो राजा को जानता है कि 'यह राजा है', फिर उसी का श्रद्धान करता है कि 'यह अवश्य राजा ही है, इसकी सेवा करने से अवश्य धन की प्राप्ति होगी', फिर 'उसी का अनुचरण करता है, उसकी सेवा करता है, आज्ञा में प्रवर्तता है, उसे प्रसन्न करता है;' उसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक पुरुष को भी प्रथम तो 'आत्मा को जानना चाहिए', फिर उसका श्रद्धान करना चाहिए कि 'यह ही आत्मा है, इसका आचरण करने से अवश्य कर्मों से छूट जाऊँगा', फिर 'उसी का आचरण करना चाहिए, अनुभव करके उसमें लीन होना चाहिए' क्योंकि साध्य जो निष्कर्म अवस्थारूप अभेद शुद्ध [आत्मा] है उसकी इसी प्रकार सिद्धि है **तथा-उपपत्ति** है[१], **अन्यथा-अनुपपत्ति**[२] है।

१-२. *तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति* - न्यायग्रन्थों में हेतु के लक्षण के रूप में उल्लिखित हैं अर्थात् ऐसे ही साध्य की सिद्धि है, अन्यथा नहीं।

ही सिद्धि है, उपपत्ति है, अन्यथा अनुपपत्ति है॥

तहां जिस काल आत्मा कै अनुभव मैं आवते जे अनेक पर्यायरूप भेदभाव, तिनि करि संकर कहिये मिश्रितपणां होतैं भी परम विवेक कहिये सर्व प्रकार भेदज्ञान, ताका प्रवीणपणां करि यह अनुभूति है, सो ही मैं हूं, अैसा आत्मज्ञान करि प्राप्त होता यहु आत्मा, जैसैं जाण्यां तैसा ही है, अैसी प्रतीति है लक्षण जाका, अैसा श्रद्धान उदय होय है॥ तिस ही काल समस्त अन्यभाव का भेद होनें करि निशंक ठहरनें कूं समर्थ होनें तैं आत्मा का आचरण उदय होता संता आत्मा कूं साधै हैं, अैसैं तौ साध्य आत्मा की सिद्धि की तथा उपपत्ति है, तैसैं ही होय, ताकूं तथा उपपत्ति कहिये॥

वहुरि जिस काल अैसा अनुभूतिस्वरूप भगवान् आत्मा वालगोपाल तांई सदाकाल आप ही अनुभव मैं आवतैं संतै भी अनादि वंध के वश तैं परद्रव्यनि सहित एकपणां के अध्यवसाय कहिये निश्चय करि मूढ जो अज्ञानी, ताकै यह अनुभूति है सो मैं हूं, अैसा आत्मज्ञान नाही उदय होय है, ताके अभाव तैं विना जाणें का श्रद्धान, गधा के सींग सारिषा होय है, अैसैं श्रद्धान भी नाही उदय होय है। तिस काल समस्त अन्य भावनि का भेद न होनें करि निशंक आत्मा विषै तिष्ठनें का असमर्थपणां तैं आत्मा का आचरण न होता संता आत्मा कूं नाही साधै है, अैसैं साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति है, और प्रकार करि न होय, ताकूं अन्यथानुपपत्ति कहिये॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ साध्य आत्मा की सिद्धि दर्शनज्ञानचारित्र ही करि है, अन्य प्रकार नाही है, जातैं पहलैं तौ आत्मा कूं जाणैं जो यह जाननहारा अनुभव में आवै है सो मैं हूं, पीछैं याकी प्रतीतिरूप श्रद्धान

वहाँ जिस समय आत्मा के अनुभव में आनेवाले अनेक पर्यायरूप भेदभावों से सङ्कर अर्थात् मिश्रितता होने पर भी परम विवेक अर्थात् सम्पूर्ण भेदज्ञान की प्रवीणता से ऐसा प्रतीतिरूप श्रद्धान उदित होता है कि 'यह अनुभूति है, वही मैं हूँ' – ऐसे आत्मज्ञान से प्राप्त होता हुआ यह आत्मा, जैसा जाना गया, वैसा ही है; उसी समय समस्त अन्य भावों से भेद होने के कारण, निःशङ्क स्थिर होने में समर्थ होने से आत्मा का आचरण उदित होकर आत्मा को साधता है। इस प्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि की **तथोपपत्ति** है। 'इसी प्रकार होता है' – इसे **तथा-उपपत्ति (तथोपपत्ति)** कहा जाता है।

तथा जिस समय ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा, आबालगोपाल अर्थात् सब जीवों को सदाकाल स्वयं ही अनुभव में आने पर भी, अनादि कर्म-बन्ध के वश परद्रव्यों के साथ एकत्व के अध्यवसाय से अर्थात् निश्चय से अनभिज्ञ अज्ञानी जीव को 'यह अनुभूति है, वही मैं हूँ' – ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता है, उस आत्मज्ञान के अभाव में अज्ञात का श्रद्धान गधे के सींग के समान होता है, श्रद्धान उत्पन्न ही नहीं होता है; उसी समय समस्त अन्य भावों से भेद भासित नहीं होने के कारण, निःशङ्क आत्मा में स्थिर होने में असमर्थतावश आत्मा का आचरण उदित नहीं होता हुआ आत्मा को नहीं साधता है। इस प्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि की **अन्यथा-अनुपपत्ति** है। 'अन्य प्रकार से नहीं होता है' – इसे **अन्यथा-अनुपपत्ति (अन्यथाऽनुपपत्ति)** कहा जाता है।

भावार्थ – साध्य आत्मा की सिद्धि, दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही होती है, अन्य किसी भी प्रकार

होय, विना जाणें श्रद्धान काहे का॥ वहुरि पीछैं समस्त अन्यभावनि तैं भेद करि आप विषै थिर होय, अैसैं सिद्धि है। वहुरि जव जाणैं नाही, तव श्रद्धान न होय, तव थिरता कोंन मैं कोंन[१] करै, तातैं अन्य प्रकार सिद्धि नाही है, अैसा निश्चय है॥ छ॥

अव इस ही अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ मालिनी॥

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया,
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं,
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः॥ २०॥

॥ अर्थ॥ आचार्य कहै है जो यह आत्मज्योति है, ताहि हम निरंतर अनुभवैं हैं। कैसा है। अवनिश्वर अनंत जो चैतन्य सो है चिह्न जाका। काहे तैं अनुभवैं हैं। जातैं याके अनुभव विनां अन्य प्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि नाहीं है, नाहीं है अैसा नियम है॥ कैसा है यह आत्मज्योति। कथंचित् प्रकार अंगीकार कीया है तीनपणां जानैं, तौऊ एकपणां तैं च्युत न भया है॥ वहुरि कैसा है। निर्मल जैसैं होय तैसैं उदय

से नहीं; अत: पहले तो आत्मा को जानता है कि 'यह जो जाननेवाला अनुभव में आ रहा है, वही मैं हूँ', फिर उसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है क्योंकि जाने बिना श्रद्धान किसका? इस प्रकार समस्त अन्य भावों से भेद करके स्वयं में निश्चल होने पर ही सिद्धि होती है तथा यदि जानता नहीं है तो श्रद्धान नहीं होता है और फिर स्थिरता किसमें कौन करेगा? अत: अन्य प्रकार सिद्धि नहीं है – ऐसा निश्चित होता है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

त्रैरूपता को प्राप्त है, पर ना तजे एकत्व को।
यह शुद्ध निर्मल आत्मज्योति, प्राप्त है जो स्वयं को॥
अनुभव करें हम सतत ही, चैतन्यमय उस ज्योति का।
क्योंकि उसके बिना जग में, साध्य की हो सिद्धि ना॥ २०॥

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि हम इस आत्मज्योति का निरन्तर अनुभव करते हैं। **कैसी है वह?** – जिसका चिह्न अनन्त अविनश्वर चैतन्य ही है। **क्यों अनुभव करते हैं?** – क्योंकि इसके अनुभव के बिना अन्य प्रकार से साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं है – यह नियम है। **कैसी है यह आत्मज्योति?** – किसी अपेक्षा से तीनरूपता को अङ्गीकार करने पर भी जो एकत्व से च्युत नहीं हुई

---

१. *कोंन मैं* - 'ब' प्रति पाठ

कूं प्राप्त होता है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ आचार्य कहै है, कोई प्रकार पर्यायदृष्टि करि जाकै तीनपणां प्राप्त है, तौऊ शुद्ध द्रव्यदृष्टि करि जो एकपणां तैं नाही च्युत भया है, अैसा आत्मज्योति अनंत चैतन्यस्वरूप निर्मल उदय कूं प्राप्त होता, ताहि हम निरंतर अनुभवै हैं, अैसैं कहनें तैं अैसा भी आशय जानिये जो सम्यग्दृष्टी पुरुष है, ते अैसैं ही अनुभव करौ, जैसैं हम अनुभवैं हैं अैसैं जाननां॥ छ॥

आगैं कोऊ तर्क करै है जो आत्मा तौ ज्ञान तैं तादात्म्यस्वरूप है, जुदा नाही, तातैं ज्ञान कूं नित्य सेवै ही है, ज्ञान का उपासन योग्यपणां करि याकूं काहे तैं सिष्या दीजिये है॥ तहां आचार्य कहै है जो यह अैसैं नाही है, जातैं आत्मा ज्ञान करि तादात्म्यरूप है, तौऊ एक क्षणमात्र भी ज्ञान कूं नाही सेवै है, जातैं स्वयंबुद्धत्व कहिये आप ही करि जाननें तैं तथा वोधितवुद्धत्व कहिये परके जनावनें करि, याकै ज्ञान की उत्पत्ति होय है॥ कै तौ काललब्धि आवै, तव आप ही जाणि ले। कै कोई उपदेश देनेंवाला मिलै, तव जाणैं। जैसैं सूता पुरुष, कै तौ आप ही जागै, कै कोई जगावै, तव जागै, अैसैं।

इहां फेरि पूछै है जो अैसैं है, तो जाणनें के कारण पहली आत्मा अज्ञानी ही है, जातैं सदा ही याकै अप्रतिवुद्धपणां है॥ तहां आचार्य कहै है, यहू अैसैं ही है, अज्ञानी ही है॥

वहुरि फेरि पूछै है जो यह आत्मा केते एक काल अप्रतिवुद्ध है सो कहौ॥ तहां आचार्य

है। **और कैसी है?** — जैसी निर्मल है, वैसी ही उदित होती है।

भावार्थ — आचार्य कहते हैं कि किसी अपेक्षा पर्यायदृष्टि से जिसको तीनरूपता प्राप्त है, फिर भी शुद्धद्रव्यदृष्टि से जो एकरूपता से च्युत नहीं हुई है — ऐसी अनन्त चैतन्यस्वरूप निर्मल आत्मज्योति उदित है, उसका हम निरन्तर अनुभव करते हैं; इस प्रकार कहने का यह भी आशय जानना कि सम्यग्दृष्टि पुरुष, वे ऐसा ही अनुभव करें, जैसा हम अनुभव करते हैं — ऐसा जानना।

[पुनः टीका][1] — अब कोई तर्क करता है कि आत्मा का तो ज्ञान से तादात्म्य है, वह उससे भिन्न नहीं है; अतः आत्मा, ज्ञान का नित्य सेवन करता ही है, फिर उसे ज्ञान की उपासना करने की शिक्षा क्यों दी जाती है? **वहाँ आचार्य उत्तर देते हैं** ऐसा नहीं है। यद्यपि आत्मा का ज्ञान से तादात्म्य है तथापि वह एक क्षण के लिए भी ज्ञान का सेवन नहीं करता है क्योंकि स्वयंबुद्धत्व अर्थात् स्वयं ही जानने से अथवा बोधितबुद्धत्व अर्थात् अन्य के द्वारा ज्ञान कराने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः या तो काललब्धि आने पर स्वयं ही जान ले या फिर कोई उपदेश देनेवाला मिले, तब जाने। जैसे, कोई सोया हुआ पुरुष, या तो स्वयं जागे अथवा कोई जगाये, तब जागे।

यहाँ शिष्य का पुनः प्रश्न है — यदि ऐसा है तो जानने का कारण मिलने से पहले आत्मा अज्ञानी ही है क्योंकि सदा से इसके अप्रतिबुद्धपना ही है। **तब आचार्य उत्तर देते हैं** — ऐसा ही है, तब तक वह अज्ञानी ही है।

अब, शिष्य पुनः प्रश्न करता है कि [हे आचार्य!] यह आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध

---

१. यहाँ श्लोक के बाद आचार्यदेव पुनः टीका लिखते हैं, अतः यह शीर्षक लगाया है।

कहै है॥

कम्मे णोकम्मम्मि य, अहमिदि अहयं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी, अप्पडिबुद्धो हवइ ताव॥ १९॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म।
यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जेतै या आत्मा कै कर्म जे ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म, भावकर्म वहुरि नोकर्म जे शरीरादिक, तिनि विषै यह कर्म नोकर्म हैं, ते मैं हूं अर ए कर्म नोकर्म हैं, ते मेरे हैं, अैसी वुद्धि है, तेतै यह आत्मा अप्रतिवुद्ध है, अज्ञानी है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं, स्पर्श रस गंध वर्ण आदि के भावनि मैं अरु पृथु कहिये चौडा अर वुध्न कहिये नीचैं अवगाहरूप अैसा उदर आदि का आकाररूप परिणये जे पुद्गल के स्कंध, तिनि विषै यह घट है अर घट विषै स्पर्श रस गंध वर्णादि भाव हैं[१] अरु पृथु वुध्न उदर आदि[२] के आकार परिणये पुद्गल स्कंध हैं, अैसैं वस्तु अभेद करि अनुभूति है॥ तैसैं, कर्म जे मोह आदि अंतरंग परिणाम अर नोकर्म शरीर आदि वाह्य वस्तु, ते कैसैं हैं, पुद्गल के परिणाम हैं अर आत्मा के तिरस्कार करनेवाले हैं, तिनि विषैं यह कर्म नोकर्म मैं हूं, वहुरि मोहादिक अंतरंग कर्म अर शरीरादि वहिरंग, ते आत्मा के तिरस्कार

रहता है, उसे बताएँ? – तब आचार्य कहते हैं —

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि, अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी, अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥ १९॥

नोकर्म-कर्म जु 'मैं' अरु, मझमें जु कर्म-नोकर्म हैं।
यह बुद्धि जब तक जीव की, अज्ञानी तब तक वह रहे॥ १९॥

अर्थ – जब तक इस आत्मा की कर्म अर्थात् ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म, राग आदि भावकर्म और शरीर आदि नोकर्म में, 'ये कर्म-नोकर्म, मैं हूँ और ये कर्म-नोकर्म, मेरे हैं' – ऐसी बुद्धि है; तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है, अज्ञानी है॥ १९॥

टीका – जिस प्रकार स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि भावों तथा **पृथु** अर्थात् चौड़ा और **बुध्न** अर्थात् निचले भाग में अवगाहरूप तथा **उदर** आदि के आकाररूप परिणमित पुद्गल के स्कन्धों में 'यह घट है' और 'घट में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि भाव और पृथु-बुध्न-उदर आदि के आकाररूप परिणत पुद्गल-स्कन्ध हैं' – ऐसी वस्तु में अभेदरूप अनुभूति होती है; उसी प्रकार कर्मरूप मोह आदि अन्तरङ्ग परिणाम और नोकर्मरूप शरीर आदि बाह्य वस्तुएँ – ये सब पुद्गल के परिणाम हैं और

---

१. *वर्णादि हैं, भाव हैं* - 'अ' प्रति पाठ
२. *उदरादि* - 'ब' प्रति पाठ।

करनेंवाले पुद्गल परिणाम हैं, ते ए आत्मा विषैं हैं। अैसैं वस्तु अभेद करि जेतै काल अनुभूति है, तेतै काल आत्मा अप्रतिवुद्ध है, अज्ञानी है॥

वहुरि जिस कोई काल विषैं जैसैं, रूपी दर्पण की स्वपर के आकार का प्रतिभास करनेंवाली स्वच्छता ही है, अर उष्णता अर ज्वाला अग्नि की ही है, तैसैं अरूपी जो आत्मा, ताकी तौ आपपर के जाननहारी ज्ञातृता ही है, ज्ञातापणां ही है अर कर्म नोकर्म पुद्गल के ही हैं, अैसी आप ही तैं तथा पर के उपदेशादिक तैं भेदविज्ञान है मूल जाका, अैसी अनुभूति उपजसी, तिस ही काल प्रतिवुद्ध होसी, ज्ञानी होसी॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ यहु आत्मा जव तांई अैसैं जानैं है जो स्पर्श आदिक तौ पुद्गल मैं है अर पुद्गल स्पर्शादिकमय है, तैसैं ही जीव मैं तो कर्म नोकर्म हैं अर कर्म नोकर्ममय जीव है, तव तांई तौ अज्ञानी है अर जव यह जानैं जो आत्मा तौ ज्ञाता ही है अर कर्म नोकर्म पुद्गल कै ही हैं, तव ही ज्ञानी होय है।

जैसैं आरसे मैं अग्नि की ज्वाला दीषै, तहां अैसा जानिये जो ज्वाला तौ अग्नि विषै ही है, आरसा मैं पैठी नाही अर आरसा मैं दीषै है सो आरसा की स्वच्छता ही है। अैसैं कर्म नोकर्म, आप मैं पैठे नाहीं, आत्मा की ज्ञान स्वच्छता अैसी ही है, जामैं ज्ञेय का प्रतिविंव दीषै, अैसैं कर्म नोकर्म ज्ञेय हैं, ते प्रतिभासै हैं, अैसा अनुभव आत्मा कै भेदज्ञानरूप, कै तौ स्वयमेव होय, कै उपदेश तैं होय, तिस

आत्मा का तिरस्कार करनेवाले हैं, उनमें 'ये कर्म-नोकर्म मैं हूँ' तथा 'मोह आदि अन्तरङ्ग कर्म और शरीर आदि बहिरङ्ग नोकर्म, जो आत्मा का तिरस्कार करनेवाले पुद्गल-परिणाम हैं, वे सब इस आत्मा के (मेरे) हैं'; इस प्रकार सब वस्तुओं (कर्म-नोकर्म एवं आत्मा) की जब तक अभेदरूप अनुभूति है, तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध है, अज्ञानी है।

बाद में जब कभी, जैसे, रूपी दर्पण की स्वच्छता ही स्व-पर के आकार का प्रतिभास करनेवाली है तथा उष्णता और ज्वाला, अग्नि की ही है; उसी प्रकार अरूपी आत्मा की तो आपा-पर (स्व-पर) को जाननेवाली ज्ञातृता ही है, ज्ञातापना ही है और कर्म-नोकर्म, पुद्गल के ही हैं; इस प्रकार की भेदज्ञानमूलक अनुभूति स्वत: ही अथवा अन्य के उपदेश से उत्पन्न होती है, उसी समय यह आत्मा प्रतिबुद्ध होता है, ज्ञानी होता है।

भावार्थ – यह आत्मा, जब तक ऐसा जानता है कि [जैसे] पुद्गल में स्पर्श आदि तो हैं और स्पर्श आदिमय पुद्गल है, वैसे ही जीव में कर्म-नोकर्म हैं और कर्म-नोकर्ममय जीव है; तब तक तो वह अज्ञानी है। लेकिन जब [वही आत्मा], यह जानता है कि आत्मा तो [मात्र] ज्ञाता ही है और कर्म-नोकर्म, पुद्गल के ही हैं, तभी वह ज्ञानी होता है।

जैसे, दर्पण में अग्नि की ज्वाला के दिखाई देने पर ऐसा जानना चाहिए कि ज्वाला तो अग्नि में ही है, दर्पण में प्रविष्ट नहीं हुई है और जो दर्पण में दिखाई देता है, वह तो दर्पण की स्वच्छता ही है; उसी प्रकार कर्म-नोकर्म, अपनी आत्मा में प्रविष्ट नहीं हुए हैं, आत्मा के ज्ञान की स्वच्छता ही इस प्रकार की है कि उसमें ज्ञेयों का प्रतिबिम्ब दिखता है; अत: कर्म-नोकर्म ज्ञेय हैं, वे आत्मा

ही काल ज्ञानी होय है॥ छ॥

अब याही अर्थ के कलशरूप काव्य कहै हैं॥

॥ मालिनी॥

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वाऽन्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकारा सन्ततं स्युस्त एव॥ २१॥

॥ अर्थ॥ ये पुरुष, आप ही तैं तथा पर के उपदेश तैं कोई प्रकार करि भेदविज्ञान है मूल उत्पत्ति कारण जाका, ऐसी अविचल निश्चल, अपनें आत्मा विषैं अनुभूति कूं पावैं हैं॥ ते ही पुरुष, आरसे की ज्यों आप मैं प्रतिविंवित भये जे अनंत भावनि के स्वभाव, तिनि करि निरंतर विकाररहित होय हैं, ज्ञान मैं ज्ञेयनि के आकार प्रतिभासैं, तिनि करि रागादि विकार कूं नाही प्राप्त होय हैं॥ छ॥

आगैं शिष्य प्रश्न करै है जो यह अप्रतिवुद्ध अज्ञानी कैसैं लषिये, ताके चिन्ह कहौ॥ ताका उत्तररूप गाथा कहै है॥ छ॥

अहमेयं एयमहं, अहमेयस्सम्हि अत्थि मम एयं।
अण्णं जं परदव्वं, सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा॥ २०॥

में [मात्र] प्रतिभासित होते हैं – ऐसा भेदज्ञानरूप आत्मा का अनुभव या तो स्वयमेव होता है अथवा किसी के उपदेश से होता है, तभी यह आत्मा ज्ञानी होता है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

जैसे भी हो स्वतः या कि पर-उपदेशों से,
भेदज्ञानमूलक अविचल अनुभूति हुई हो।
ज्ञेयों के अगणित प्रतिबिम्बों से वे ज्ञानी,
अरे! निरन्तर दर्पणवत् रहते अविकारी॥ २१॥

अर्थ – जो पुरुष, स्वयं ही से अथवा पर के उपदेश से किसी प्रकार भेदविज्ञानमूलक अर्थात् जिसकी उत्पत्ति का मूल कारण भेदज्ञान है - ऐसे अपने आत्मा की अविचल एवं निश्चल अनुभूति को प्राप्त होते हैं; वे ही पुरुष, दर्पण की तरह अपने आप में प्रतिबिम्बित हुए अनन्त भावों के स्वभावों से निरन्तर विकाररहित होते हैं; ज्ञान में प्रतिभासित होनेवाले ज्ञेयों के आकार के कारण रागादि विकाररूप नहीं होते हैं।

अब, शिष्य प्रश्न करता है कि इस अप्रतिबुद्ध अज्ञानी को कैसे पहचाना जाए, उसके चिह्न

आसि मम पुव्वमेयं, एयस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होही पुणो ममेयं, एयस्स अहं पि होस्सामि॥ २१॥
एयं तु असब्भूयं, आयवियप्पं करेइ सम्मूढो।
भूयत्थं जाणंतो, ण करेइ उ तं असम्मूढो॥ २२॥

॥ त्रिकलं॥

अहमेतदेतदहमहमेतस्यास्म्यस्ति ममैतत्।
अन्यद्यत् परद्रव्यं, सचित्ताचित्तमिश्रं वा॥ छ॥
आसीन्मम पूर्वमेतदेतस्याहमप्यासं पूर्वम्।
भविष्यति पुनर्ममैतदेतस्याहमपि भविष्यामि॥ छ॥
एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः।
भूतार्थं जानन्न करोति तु तं असंमूढः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो पुरुष, आप तैं अन्य जे परद्रव्य, सचित्त कहिये स्त्रीपुत्रादिक, अचित्त कहिये धन

बताइये? — इसके उत्तर में गाथाएँ कहते हैं —

अहमेदं एदमहं, अहमेदस्सम्हि अत्थि मम एदं[1]।
अण्णं जं परदव्वं, सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा॥ २०॥
आसि मम पुव्वमेदं, एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि[2]।
होहिदि पुणो ममेदं, एदस्स अहं पि होस्सामि[3]॥ २१॥
एयं तु असब्भूदं, आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो, ण करेदि दु तं असंमूढो॥ २२॥

मैं ये अरु ये मैं, मैं हूँ इनका अरु ये हैं मेरे।
जो अन्य हैं परद्रव्य मिश्र, सचित्त अथवा अचित्त वे॥ २०॥
मेरा ही यह था पूर्व में, मैं इसी का गतकाल में।
ये होयगा मेरा अरु, मैं इसका होऊँ भावि में॥ २१॥

---

१. *अहमेदस्सेव होमि मम एदं* – तात्पर्यवृत्ति, अगास प्रकाशन एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ
२. *अहमेदं चावि पुव्वकालम्हि* – तात्पर्यवृत्ति पाठ
३. *अहमेदं चावि होस्सामि* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

धान्यादिक, मिश्र कहिये दोऊ जामैं अैसैं ग्राम नगरादिक, तिनिकूं अैसैं जानैं कि मैं ए हूं तथा ए मैं हूं तथा मैं इनिका हूं तथा ए मेरे हैं॥ छ॥

तथा ए मेरे पूर्वैं थे तथा इनिका मैं पूर्वैं था, तथा ए मेरे आगामी होयगें तथा मैं भी इनिका आगामी हौंगा॥ छ॥

अैसा झूठा असत्यार्थ आत्मविकल्प करै है सो पुरुष मूढ है, मोही है, अज्ञानी है॥ वहुरि जो पुरुष भूतार्थ जो परमार्थ वस्तुस्वरूप ताकूं जानता संता है सो अैसा झूठा विकल्प नाही करै है सो मूढ नाही है, ज्ञानी है॥ छ॥

॥ टीका॥ पहलैं दृष्टांत कहै है॥ जैसैं कोई पुरुष, इंधन अग्नि कूं मिल्या देषि, अैसा झूठा विकल्प करै जो अग्नि है सो इंधन है तथा इंधन है सो अग्नि है॥ तथा अग्नि का इंधन है, इंधन का अग्नि है॥ तथा अग्नि का इंधन पूर्वैं था, इंधन का अग्नि पूर्वैं था॥ तथा अग्नि का इंधन आगामी होयगा अर इंधन का अग्नि आगामी होयगा॥ अैसैं इंधन के विषै ही अग्नि का विकल्प करै सो झूठा है, तिस करि अप्रतिवुद्ध अज्ञानी कोई लष्या जाय है॥

तैसैं ही दार्ष्टांत है। अैसैं[१] जो पुरुष, परद्रव्य विषैं असत्यार्थ आत्मविकल्प करै जो मैं यह परद्रव्य

अयथार्थ आत्मविकल्प ऐसा, मूढ़जीव ही आचरे।
भूतार्थ जाननहार ज्ञानी, ये विकल्प नहीं करे॥ २२॥

अर्थ – जो पुरुष, अपने से अन्य जो परद्रव्य, सचित्त अर्थात् स्त्री-पुत्र आदि, अचित्त अर्थात् धन-धान्य आदि, मिश्र अर्थात् जिसमें दोनों हों – ऐसे ग्राम-नगर आदि को ऐसा जानते हैं कि 'मैं, ये हूँ' और 'ये, मैं हूँ' तथा 'मैं, इनका हूँ' और 'ये, मेरे हैं'॥ २०॥

तथा 'ये, पूर्व में मेरे थे' और 'मैं, पूर्व में इनका था' तथा 'ये, भविष्य में मेरे होंगे' और 'मैं, भविष्य में इनका होऊँगा'॥ २१॥

— ऐसे झूठे असत्यार्थ आत्मविकल्प करता है; वह पुरुष मूढ़ है, मोही है, अज्ञानी है। लेकिन जो पुरुष, भूतार्थ अर्थात् परमार्थ वस्तुस्वरूप को जानता हुआ, ऐसे झूठे विकल्प नहीं करता है; वह मूढ़ नहीं है, ज्ञानी है॥ २२॥

टीका – पहले दृष्टान्त देते हैं – जैसे, कोई पुरुष, इन्धन और अग्नि को मिला हुआ देख कर ऐसे झूठे विकल्प करता है कि 'अग्नि, इन्धन है और इन्धन, अग्नि है', 'अग्नि का इन्धन है और इन्धन की अग्नि है', 'पूर्व में अग्नि का इन्धन था और इन्धन की अग्नि थी' तथा 'भविष्य में अग्नि का इन्धन होगा और इन्धन की अग्नि होगी' – ऐसे जो इन्धन में ही अग्नि का विकल्प करता है, वह झूठा है; इन विकल्पों से कोई अप्रतिबुद्ध या अज्ञानी पहचाना जाता है।

उसी प्रकार यह दार्ष्टान्त (सिद्धान्त) है – जो पुरुष, परद्रव्यों में असत्यार्थ आत्मविकल्प करता

---

१. *जैसैं* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

हूं अर यह परद्रव्य है सो मैं हूं॥ तथा मेरा यहु परद्रव्य है, इस परद्रव्य का मैं हूं॥ तथा मेरा यहु पूर्वैं था, मैं इसका पूर्वैं था॥ तथा मेरा यह आगामी होयगा, मैं इसका आगामी हूंगा॥ अैसे झूठे विकल्प करि अप्रतिवुद्ध अज्ञानी लष्या जाय है॥

वहुरि अग्नि है सो इंधन नाही है, इंधन है सो अग्नि नाही है॥ अग्नि है सो अग्नि ही है, इंधन है सो इंधन ही है॥ तथा अग्नि का इंधन नाही है, इंधन का अग्नि नाही है॥ अग्नि का ही अग्नि है, इंधन का इंधन है॥ तथा अग्नि का इंधन पूर्वैं भया नाही, इंधन का अग्नि पूर्वैं भया नाही॥ अग्नि का अग्नि पूर्वैं भया, इंधन का इंधन पूर्वैं भया। तथा अग्नि का इंधन आगामी नाही होयगा, इंधन का अग्नि आगामी नाही होयगा॥ अग्नि का ही अग्नि आगामी होयगा, इंधन का इंधन आगामी होयगा। अैसैं कोई कै अग्नि विषै ही सत्यार्थ अग्नि का विकल्प जैसैं होय।

तैसैं ही मैं यह परद्रव्य नाही हूँ तथा यह परद्रव्य मो स्वरूप नाही है॥ मैं तो मैं ही हूं, परद्रव्य है सो परद्रव्य ही है॥ तथा मेरा यह परद्रव्य नाही है, इस परद्रव्य का मैं नाही हूं॥ मेरा ही मैं हूं, परद्रव्य का परद्रव्य है॥ तथा या परद्रव्य का मैं पूर्वैं नाही भया, यह परद्रव्य मेरा पूर्वैं नाही भया॥ मेरा मैं ही पूर्वैं भया, परद्रव्य का परद्रव्य पूर्वैं भया॥ तथा यह परद्रव्य मेरा आगामी न होयगा, याका मैं आगामी नाही होंगा॥ मेरा मैं ही आगामी हौंगा, याका यह आगामी होयगा। अैसैं अपनें स्वद्रव्य ही विषै सत्यार्थ आत्मविकल्प होय है, यातैं यह ही प्रतिवुद्ध ज्ञानी का लक्षण है, याही तैं ज्ञानी लष्या जाय है॥

॥ भावार्थ॥ जो परद्रव्य विषै आत्मा का विकल्प करै है सो तौ अज्ञानी है। वहुरि अपनें आत्मा

है कि 'मैं, यह परद्रव्य हूँ और यह परद्रव्य, मैं हूँ', 'मेरा, यह परद्रव्य है और इस परद्रव्य का, मैं हूँ' तथा 'यह पूर्व में, मेरा था और मैं इसका, पूर्व में था' तथा 'यह भविष्य में, मेरा होगा और मैं भविष्य में, इसका होऊँगा' — ऐसे झूठे विकल्पों से अप्रतिबुद्ध या अज्ञानी पहचाना जाता है।

तथा जैसे, 'अग्नि, इन्धन नहीं है और इन्धन, अग्नि नहीं है; अग्नि, अग्नि ही है और इन्धन, इन्धन ही है।' 'अग्नि का इन्धन नहीं है और इन्धन की अग्नि नहीं है; अग्नि की ही अग्नि है और इन्धन का ही इन्धन है।' 'पूर्व में, अग्नि का इन्धन कभी हुआ नहीं और इन्धन की अग्नि कभी हुई नहीं; पूर्व में, अग्नि की ही अग्नि थी और इन्धन का ही इन्धन था।' तथा 'भविष्य में, अग्नि का इन्धन नहीं होगा और इन्धन की अग्नि नहीं होगी; भविष्य में, अग्नि की ही अग्नि होगी, इन्धन का ही इन्धन होगा।' – ऐसे किसी पुरुष को अग्नि में ही सत्यार्थ अग्नि का विकल्प होता है।

उसी प्रकार, 'मैं, परद्रव्य नहीं हूँ और परद्रव्य, मुझस्वरूप नहीं है; मैं तो मैं ही हूँ और परद्रव्य, परद्रव्य ही है।' 'मेरा, परद्रव्य नहीं है और मैं, परद्रव्य का नहीं हूँ। मेरा ही मैं हूँ और परद्रव्य का ही परद्रव्य है।' पूर्व में मैं, परद्रव्य का नहीं हुआ और यह परद्रव्य, मेरा नहीं हुआ। पूर्व में मैं, मेरा ही था और परद्रव्य, परद्रव्य ही का था।' तथा 'भविष्य में परद्रव्य, मेरा नहीं होगा और मैं, इसका नहीं होऊँगा। भविष्य में मेरा, मैं ही होऊँगा और इसका, यह ही होगा' – ऐसे अपने स्वद्रव्य में ही सत्यार्थ आत्मविकल्प होना, **प्रतिबुद्ध ज्ञानी का लक्षण** है, इससे ही ज्ञानी पहचाना जाता है।

विषै ही आपा मानैं है सो ज्ञानी है। अैसा अग्नि इंधन का दृष्टांत करि दृढ कीया है॥ छ॥

आगैं याही अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ मालिनी॥

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं,
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेकः,
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम्॥ २२॥

॥ अर्थ॥ जगत् कहिये लोक है सो अनादि संसार तैं लेकरि आस्वाद्या अनुभया जो मोह, ताहि अव तौ छोडो। वहुरि रसिकजन कों रुचनेंवाला उदय होता जो ज्ञान, ताहि आस्वादो॥ जातैं इस लोक विषै आत्मा है सो अनात्मा जो परद्रव्य, ता करि सहित काहू ही काल विषै प्रगटपणैं तादात्म्यवृत्ति कहिए एकत्वपणां, ताहि काहू ही प्रकार करि नाही प्राप्त होय है, जातैं आत्मा एक है सो अनात्मा जो दूजा अन्यद्रव्य, ता करि एकतारूप होय नाही॥

॥ भावार्थ॥ आत्मा परद्रव्य तैं काहू प्रकार, कोई काल विषै एकता का भाव कूं नाही प्राप्त होय है, तातैं आचार्य नैं अैसी प्रेरणा करी है जो अनादि तैं लग्या, जो परद्रव्य तैं मोह, ताका भेदज्ञान

भावार्थ – जो परद्रव्य में आत्मा का विकल्प करता है, वह तो अज्ञानी है और जो अपने आत्मा में ही अपनापन मानता है, वह ज्ञानी है - इसे अग्नि और इन्धन के दृष्टान्त द्वारा दृढ़ किया है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

आजन्म के इस मोह को, हे जगतजन! तुम छोड़ दो।
रसिकजन को जो रुचे, उस ज्ञान के रस को चखो॥
तादात्म्य पर के साथ जिनका, कभी भी होता नहीं।
अरु स्वयं का ही स्वयं से, अन्यत्व भी होता नहीं॥ २२॥

अर्थ – जगत् अर्थात् हे जगत् के जीवों! अनादि संसार से लेकर अब तक आस्वादित या अनुभव किये गए मोह को अब तो छोड़ो तथा रसिकजनों को रुचिकर लगनेवाले उदित हुए ज्ञान का स्वाद चखो। इस लोक में आत्मा, अनात्मारूप परद्रव्य के साथ किसी भी काल में, किसी भी प्रकार से प्रगटरूप तादात्म्य अर्थात् एकरूपता को प्राप्त नहीं होता है क्योंकि आत्मा एक है, वह अनात्मारूप दूसरे द्रव्य के साथ एकरूप नहीं होता है।

भावार्थ – आत्मा, परद्रव्य से किसी प्रकार, किसी काल में एकत्व के भाव को प्राप्त नहीं होता है; अत: अनादिकालीन परद्रव्य के प्रति मोह से भेदज्ञान करने की आचार्य प्रेरणा देते हैं कि इस

बताया है सो या एकत्वपणांरूप मोह कूं अव ही छोड़ो अर ज्ञान कूं आस्वादो। मोह है सो वृथा है, झूठा है, दुःख का कारण है॥ छ॥

आगैं अप्रतिवुद्ध के प्रतिवोधनें कै अर्थि व्यवसाय कहिये व्यापार उपाय कहै है॥

अण्णाणमोहियमई, मज्झमिणं भणइ पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा, जीवो बहुभावसंजुत्तो॥ २३॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो, जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पुग्गलदव्वीभूओ जं भणसि मज्झमिणं॥ २४॥
जइ सो पुग्गलदव्वीभूओ जीवत्तमागयं इयरं।
तो सक्का वुत्तुं जे, मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं॥ २५॥

॥ त्रिकलं॥

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यम्।
बद्धमबद्धं च तथा, जीवो बहुभावसंयुक्तः॥ छ॥
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो, जीव उपयोगलक्षणो नित्यम्।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदम्॥ छ॥

एकत्वरूपी मोह को तुरन्त छोड़ो और ज्ञान का स्वाद चखो। मोह, वृथा है, झूठा है, और दुःख का कारण है।

अब, अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिए व्यवसाय अर्थात् व्यापार या उपाय करते हैं —

अण्णाणमोहिदमदी, मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा, जीवो बहुभावसंजुत्तो॥ २३॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो, जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं॥ २४॥
जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सक्को[1] वत्तुं जे, मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं॥ २५॥

अज्ञान मोहितबुद्धि जो, बहुभावसंयुत जीव है।
'ये बद्ध और अबद्ध पुद्गलद्रव्य मेरा' वह कहै॥ २३॥

---

१. *सतो* - अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ

यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत्।
तच्छक्ता वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ अज्ञान करि मोहित है मति जाकी, ऐसा जीव है सो ऐसैं कहै है जो यहु, वद्ध कहिये शरीरादि, अवद्ध कहिये वाह्य धन धान्यादि परद्रव्य है सो मेरा है॥ कैसा है जीव। वहु भाव कहिये मोह राग द्वेषादि वहुत भाव, तिनि करि संयुक्त है॥ छ॥

आचार्य कहै है, सर्वज्ञ के ज्ञान करि देष्या जो नित्य उपयोग है लक्षण जाका, ऐसा जीव है सो पुद्गलद्रव्यरूप कैसैं होय॥ जो कहै है, यह पुद्गलद्रव्य मेरा है॥ छ॥

वहुरि जो जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप होय जाय तौ पुद्गलद्रव्य भी जीवपणां कूं प्राप्त होय, ऐसा आया॥ जो ऐसैं होय तौ यह पुद्गलद्रव्य मेरा है, ऐसैं कहनें कूं तुम भी समर्थ होहु सो ऐसैं है नाही॥ छ॥

॥ टीका॥ अप्रतिवुद्ध कहिये अज्ञानी जीव है, सो पुद्गलद्रव्य है, ताहि यह मेरा है, ऐसा अनुभवै है॥

कैसा है अज्ञानी जीव। अत्यंत आछादित भया जो अपनां स्वभावभाव, तिसपणां करि अस्त भया है समस्त विवेक कहिये भेदज्ञानरूप ज्योति जाकै।

वहुरि कैसा है। वड़े अज्ञान करि आप ही करि विमोहित है हृदय जाका॥

सर्वज्ञज्ञान विषै सदा, उपयोग लक्षण जीव है।
वह कैसे पुद्गल हो सके, जो तू कहे मेरा उसे॥ २४॥
जो जीव पुद्गल होय, पुद्गल प्राप्त हो जीवत्व को।
तू तब ही ऐसा कह सके, 'है मेरा' पुद्गलद्रव्य को॥ २५॥

अर्थ – अज्ञान से मोहित मतिवाला जीव, ऐसा कहता है कि यह बद्ध अर्थात् शरीर आदि और अबद्ध अर्थात् बाह्य धन-धान्य आदि परद्रव्य मेरे हैं। **कैसा है वह जीव?** – बहुभाव अर्थात् मोह-राग-द्वेष आदि बहुत भावों से संयुक्त है॥ २३॥

आचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञ के ज्ञान से देखा गया यह जीव, नित्य उपयोग लक्षणवाला है, **यह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो सकता है?** – जो तू कहता है कि पुद्गलद्रव्य मेरा है॥ २४॥

यदि जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्यरूप हो जाए तो पुद्गलद्रव्य भी जीवपने को प्राप्त हो जाए – ऐसा फलित सिद्ध हो। [आचार्य कहते हैं कि] यदि ऐसा होता है तो ही तुम ऐसा कहने में समर्थ हो सकते हो कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है परन्तु ऐसा [तो कभी होता] नहीं है॥ २५॥

टीका – अप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी जीव, पुद्गलद्रव्य को 'यह मेरा है' – ऐसा अनुभवता है।

कैसा है अज्ञानी जीव? – अपने स्वभाव के अत्यन्त आच्छादित हो जाने से जिसकी विवेक अर्थात् भेदज्ञानरूपी ज्योति अस्त हो गई है।

वहुरि कैसा है। भेदज्ञान विनां अपनां अर पर का भेद नाही करि, अर जे अपनें स्वभाव नाही अैसे विभाव, तिनिकूं अपनें करता है॥ जातैं जे अपनें स्वभाव नाही, अैसे जे परभाव, तिनिके संयोग के वश तैं अपना स्वभाव अत्यंत तिरोहित भया है, छिप्या है॥

कैसै हैं परभाव। एक काल अनेक प्रकार का जो वंधन की उपाधि, तिसके संनिधान कहिये अतिनिकटता, ता करि प्राप्त भये हैं॥ जैसैं स्फटिक पाषाण कै अनेक प्रकार के वर्ण की निकटता करि अनेक वर्णरूपपणां दीषै, स्फटिक का निज स्वेत निर्मलभाव दीषै नाही, तैसैं ही कर्म का उपाधि करि शुद्धस्वभाव, आत्मा का आच्छादित होय रह्या है सो दीषै नाही, इस प्रकार करि पुद्गलद्रव्य कूं अपनां करि मानैं है॥ अैसै अज्ञानी कूं प्रतिवोधिये हैं॥

रे दुरात्मा, आत्मा का घात करनहारा, तू परम अविवेक करि जैसे, तृणसहित सुंदर आहार कूं हस्ती आदि पशु षाय, तैसें षानें का स्वभावपणां कूं छोडि, छोडि। जो सर्वज्ञज्ञान करि प्रगट कीया नित्य उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य, सो कैसैं पुद्गलरूप भया, जाकरि तू यह पुद्गलद्रव्य मेरा है अैसैं अनुभवै है।

कैसा है सर्वज्ञ का ज्ञान, दूरि कीये है समस्त संदेह विपर्यय अनध्यवसाय जानैं॥

वहुरि कैसा है॥ विश्व कहिये समस्त वस्तु, ताकै प्रकाशनें कूं एक अद्वितीय ज्योति है॥ अैसै ज्ञान करि दिषाया है॥ वहुरि जो कदाचित् कोई प्रकार 'जैसैं लूण तौ जलरूप होय जाय है, जल लूणरूप

और कैसा है? – महा अज्ञान के कारण जिसका हृदय अपने आप ही विमोहित है।

और कैसा है? – जो भेदज्ञान के अभाव में स्व-पर का भेद न करके, जो अपने स्वभाव नहीं – ऐसे विभावों को अपना मानता है क्योंकि जो अपने स्वभाव नहीं – ऐसे परभावों के संयोगवश, उसका अपना स्वभाव अत्यन्त तिरोहित हो गया है, छिप गया है।

कैसे हैं वे परभाव? – जो एक ही काल में अनेक प्रकार के बन्धन की उपाधि के सन्निधान अर्थात् अतिनिकटता को प्राप्त हुए हैं। जैसे, जिस समय स्फटिकमणि, अनेक प्रकार के वर्णों (रङ्गों) की निकटता के कारण, अनेक वर्णरूप दिखाई देता है, उस समय स्फटिक का अपना श्वेत निर्मलभाव दिखाई नहीं देता; उसी प्रकार कर्म की उपाधि के कारण, आत्मा का जो शुद्धभाव आच्छादित हो रहा है, वह दिखता नहीं है; इस प्रकार पुद्गलद्रव्य को जो अपना मानता है – ऐसे अज्ञानी को समझाते हैं –

"रे दुरात्मन्! आत्मा का घात करनेवाले! जैसे, मधुर आहार को हाथी आदि पशु अविवेक के कारण तृणसहित ही खाते हैं; उसी प्रकार तू महा अविवेक से खाने के स्वभाव को छोड़! छोड़!! क्योंकि सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में जिस जीवद्रव्य को नित्य उपयोगस्वभावरूप प्रगट किया है, वह पुद्गलरूप कैसे हो सकता है? अतः तू क्यों 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है' – ऐसा अनुभव करता है?"

कैसा है सर्वज्ञ का ज्ञान? – जिन्होंने समस्त संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय को दूर किया है।

और कैसा है? – जो विश्व अर्थात् समस्त वस्तुओं का प्रकाशन करने के लिए एक अद्वितीय

होय जाय है॥' तैसैं जीवद्रव्य तौ पुद्गलद्रव्यरूप होय अर पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप होय तौ ते ही पुद्गलद्रव्य मेरा है, अैसी अनुभूति वणैं सो तौ कोई प्रकार भी द्रव्यस्वभाव पलटै नाही॥

सो ही दृष्टांत कूं स्पष्ट करै है॥ जैसैं क्षारपणां है लक्षण जाका अैसा लूण है सो तौ जलरूप होता देषिये है। वहुरि द्रवत्व है लक्षण जाका अैसा जल है सो लूणरूप होता देषिये है, जातैं लूण का क्षारपणां कै अर जल का द्रवपणां कै सहवृत्ति का अविरोध है, यह होनां विरोधरूप नाही है॥ तैसैं नित्य उपयोगलक्षण तौ जीवद्रव्य है सो तौ पुद्गलद्रव्य होता न देषिये है॥ वहुरि नित्य अनुपयोग जड़लक्षण पुद्गलद्रव्य है सो जीवद्रव्यरूप होता न देषिये है। जातैं प्रकाश तम की ज्यों उपयोग अनुपयोग कै सहवृत्ति का विरोध है, जड चेतन कदाचित् भी एक होय नाही। तातैं तू सर्व प्रकार करि प्रसन्न होहु, तेरा चित्त उज्जल करि सावधान होहु, अपनें ही द्रव्य कूं अपनां अनुभवरूप करि॥ अैसा श्रीगुरुनि का उपदेश है॥

॥ भावार्थ॥ यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्य कूं अपनां मानैं है, ताकूं उपदेश करि सावधान कीया है जो सर्वज्ञ नैं अैसा देष्या है जो जड चेतन द्रव्य सर्वथा न्यारे न्यारे हैं। कदाचित् कोई प्रकार भी एकरूप होय नाहीं। तातैं हे अज्ञानी, तू परद्रव्य कूं एकत्वपणां करि माननां छोडि, वृथा मान करि पूरि पडौ।

अव इस ही अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥

ज्योतिस्वरूप है – ऐसे [सर्वज्ञ] ज्ञान के द्वारा दिखाया [वस्तुस्वरूप] गया है। जैसे, नमक तो कभी किसी प्रकार जलरूप हो जाता है और कभी जल, नमकरूप हो जाता है; उसी प्रकार यदि जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्यरूप और पुद्गलद्रव्य, जीवरूप हो जाए तो तेरी 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है' – ऐसी अनुभूति उचित मानी जाए, परन्तु द्रव्यस्वभाव तो किसी भी प्रकार बदलता नहीं है।

इसी बात को दृष्टान्त के द्वारा और अधिक स्पष्ट करते हैं – जैसे, क्षारपना लक्षणवाला नमक तो जलरूप होता देखा जाता है और द्रवत्व लक्षणवाला जल भी नमकरूप होता देखा जाता है क्योंकि नमक के क्षारत्व और जल के द्रवत्व में सहवृत्ति अर्थात् एक साथ रहने में अविरोध है, कोई विरोध नहीं है; उसी प्रकार न तो नित्य 'उपयोग' लक्षणवाले जीवद्रव्य को पुद्गलद्रव्यरूप होता देखा जाता है और न नित्य 'अनुपयोग' या जड़ लक्षणवाले पुद्गलद्रव्य को जीवद्रव्यरूप होता देखा जाता है क्योंकि उपयोग और अनुपयोग में प्रकाश और अन्धकार के समान सहवृत्ति का विरोध है। जड़-चेतन कभी भी एक नहीं होते; अत: तू सब प्रकार से प्रसन्न हो, अपने चित्त को उज्ज्वल करके सावधान हो, अपने ही द्रव्य को अपनेरूप अनुभव कर – ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।

भावार्थ – यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है, उसे उपदेश देकर सावधान किया है कि जड़ और चेतनद्रव्य सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं; कभी भी किसी प्रकार भी एकरूप नहीं हो सकते हैं – ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, अत: हे अज्ञानी! तू परद्रव्य को एकत्वपने से मानना छोड़ अर्थात् ऐसी मान्यता को व्यर्थ मान कर बस हो।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ मालिनी ॥

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्,
अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन,
त्यजसि झगिति मूर्त्त्या साकमेकत्वमोहम्॥ २३॥

॥ अर्थ॥ अयि ऐसा कोमल आमंत्रण संवोधन अर्थ मैं अव्यय है॥ **ता करि** कहै है, हे भाई, **तू कथं अपि** कहिये कोई ही प्रकार करि, वड़ा कष्ट करि तथा मरि हू करि **तत्वनि का कौतुहली हूवा संता**, इस शरीरादि मूर्त्तद्रव्य का एक मुहूर्त दोय घड़ी पाडोसी होहु अर आत्मा का अनुभव करि, **जा करि अपनें आत्मा कूं विलासरूप, सर्व परद्रव्य तैं न्यारा देषि करि**, इस शरीरादि मूर्तीक पुद्गलद्रव्य **करि सहित एकत्वपणां का मोह कूं सीघ्र ही छोडैगा॥**

॥ भावार्थ॥ जो यह आत्मा, दोय घडी पुद्गलद्रव्य तैं भिन्न अपनां शुद्धस्वरूप कूं अनुभवै, तामैं लीन होय परीसह आयें चिगै नाही तौ घातिकर्म का नाश करि केवलज्ञान उपजाय मोक्ष कूं प्राप्त होय। आत्मानुभव का ऐसा माहात्म्य है तौ मिथ्यात्व का नाश करि सम्यक्दर्शन की प्राप्ति होनां तौ सुगम है। तातैं श्रीगुरुनि यह ही प्रधान करि उपदेश कीया है॥ छ॥

॥ हरिगीतिका ॥

निजतत्त्व का कौतूहली अरु, पड़ौसी बन देह का।
हे आत्मन्! जैसे बने, अनुभव करो निजतत्त्व का॥
जब भिन्न पर से सुशोभित लख, स्वयं को तब शीघ्र ही।
तुम छोड़ दोगे देह से, एकत्व के इस मोह को॥ २३॥

अर्थ – अयि, यह कोमल आमन्त्रण या सम्बोधन को सूचित करनेवाला अव्यय है, इसके माध्यम से [आचार्य] कहते हैं – हे भाई! तू **कथमपि** अर्थात् किसी भी प्रकार बड़े कष्टपूर्वक और मर कर भी [अर्थात् मृत्यु की कीमत पर भी] तत्त्वों का कौतूहली होता हुआ, इन शरीर आदि मूर्तद्रव्यों का एक मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी के लिए पड़ौसी होकर आत्मा का अनुभव कर, जिससे अपनी आत्मा को विलासरूप (प्रकाशमान) एवं सर्व परद्रव्यों से भिन्न देख कर, इन शरीर आदि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों के प्रति एकत्व के मोह को तू शीघ्र ही छोड़ देगा।

भावार्थ – यदि यह आत्मा, दो घड़ी के लिए भी पुद्गलद्रव्यों से भिन्न, अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करे, उसमें लीन होकर, परीषह आने पर भी विचलित न हो तो घातियाकर्मों का नाश करके केवलज्ञान को उत्पन्न कर मोक्ष को प्राप्त होता है; अतः आत्मा के अनुभव का ऐसा माहात्म्य है तो मिथ्यात्व का नाश कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना तो और भी अधिक सुगम है; इसलिए श्रीगुरुओं ने इसी का उपदेश प्रधानता से दिया है।

आगैं अप्रतिवुद्ध जो अज्ञानी जीव सो कहै है, ताकै वचन की पहलैं गाथा है॥ छ॥

जइ जीवो ण सरीरं[१], तित्थयरायरियसंथुई चेव।
सव्वा वि हवइ मिच्छा, तेण दु आदा हवइ देहो॥ २६॥

यदि जीवो न शरीरं, तीर्थकराचार्यसंस्तुतिश्चैव।
सर्वाऽपि भवति मिथ्या, तेन तु आत्मा भवति देहः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ अप्रतिवुद्ध कहै है, जो जीव है सो शरीर नाही है तौ तीर्थंकर आचार्य, इनिकी स्तुति करी है सो सर्व ही मिथ्या होय है, झूठी होय है। तिस कारण करि हम जानैं है, आत्मा यह देह ही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जै जो ही आत्मा है सो ही पुद्गलद्रव्यस्वरूप यह शरीर है, अैसैं नाही होय तौ तीर्थंकर आचार्यनि की अैसी स्तुति करी है सो सारी मिथ्या होय॥

सो स्तुति कैसी, ताकी स्तुति का काव्य है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये,
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं,
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्त्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः॥ २४॥

अब, अप्रतिबुद्ध अज्ञानी जीव कहता है, उसके मन्तव्य को गाथा में कहते हैं —

जदि जीवो ण सरीरं, तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वा वि हवदि मिच्छा, तेण दु आदा हवदि देहो॥ २६॥

जो जीव होय न देह तो, आचार्य वा तीर्थेश की।
मिथ्या बने स्तवना सभी, सो एकता जीव-देह की॥ २६॥

अर्थ – अप्रतिबुद्ध कहता है कि यदि जीव, शरीर नहीं है तो तीर्थङ्करों और आचार्यों की सर्व ही स्तुतियाँ मिथ्या ठहरती हैं, झूठी ठहरती हैं; अतः हमें ऐसा लगता है कि यह देह ही आत्मा है॥ २६॥

टीका – यह जो भी आत्मा है, वह पुद्गलद्रव्यस्वरूप यह शरीर है। यदि ऐसा न हो तो तीर्थङ्करों और आचार्यों की जो स्तुतियाँ की गई हैं, वे सब मिथ्या सिद्ध हों।

अब, वे स्तुतियाँ कैसी हैं? – यह बतानेवाला एक स्तुति का काव्य कहते हैं —

---

१. *शरीरं* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ ते तीर्थंकर आचार्य वंदिवे योग्य हैं ॥ कैसैं हैं ते। अपनीं देह की कांति करि तौ दस दिशानि कूं स्नपन करैं हैं, धोवैं हैं, निर्मल करैं हैं ॥ वहुरि अपनें तेज करि, तेज तैं[१] उत्कृष्ट जे सूर्यादिक तेजस्वी, तिनिका तेज कूं रौकैं हैं, छिपावैं हैं ॥ वहुरि जे रूप करि लोकनि के मन कूं हरैं हैं ॥ वहुरि दिव्यधुनि वाणी करि कानन विषै साक्षात् सुख अमृत वर्षावैं हैं। वहुरि एक हजार आठ लक्षणनि कों धारैं हैं ॥ अैसें हैं ॥ इत्यादिक तीर्थंकर आचार्यनि की स्तुति है सो सर्व ही मिथ्या ठहरै है, तातैं हमारै तौ यह ही एकांत करि निश्चय प्रतिपत्ति है जो आत्मा है सो ही शरीर है, पुद्गलद्रव्य है ॥ अैसा अप्रतिवुद्ध नैं कह्या ॥

तहां आचार्य उत्तर कहै है जो अैसैं नाही है ॥ तू नयविभाग का जाननेंवाला नाही है ॥ नयविभाग अैसैं है सो ही गाथा मैं कहै है ॥ छ ॥

ववहारणओ भासइ, जीवो देहो य हवइ खलु इक्को।
ण उ णिच्छयस्य जीवो, देहो य कयावि एकट्ठो ॥ २७ ॥

॥ हरिगीतिका ॥

लोक-मानस रूप से, रवि-तेज अपने तेज से।
जो हरे, निर्मल करें देशदिश, कान्तिमय तन-तेज से॥
जो दिव्यध्वनि से भव्यजन के, कान में अमृत भरें।
उन सहस-अठ लक्षणसहित, जिन-सूरि को वन्दन करें॥ २४॥

अर्थ – वे तीर्थङ्कर और आचार्य, वन्दना करने योग्य हैं। **कैसे हैं वे?** – अपने शरीर की कान्ति से दशों दिशाओं का स्नान करते हैं, धोते हैं, निर्मल करते हैं; अपने तेज से, उत्कृष्ट चमकवाले तेजस्वी सूर्य आदि के तेज को रोकते हैं, छिपा देते हैं; अपने रूप से लोगों के मन को हरते हैं और दिव्यध्वनिरूपी वाणी से भव्य जीवों के कानों में साक्षात् सुख की अमृत वर्षा करते हैं, एक हजार आठ लक्षणों को धारण करते हैं – ऐसे तीर्थङ्कर हैं। इस प्रकार तीर्थङ्करों और आचार्यों की सभी स्तुतियाँ मिथ्या सिद्ध होती हैं; अतः हमारा तो एकान्त से यही दृढ़ निश्चय है कि आत्मा ही शरीर है, पुद्गलद्रव्य है – ऐसा अप्रतिबुद्ध अज्ञानी ने कहा है।

अब, आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं है, तू नय-विभाग को जाननेवाला नहीं है। नयविभाग इस प्रकार है, वह गाथा में कहते हैं —

ववहारणओ भासदि, जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्य जीवो, देहो य कदा वि एक्कट्ठो॥ २७॥

---

१. *करि* - 'अ' प्रति पाठ

व्यवहारनयो भाषते, जीवो देहश्च भवति खल्वेकः।
न तु निश्चयस्य जीवो, देहश्च कदाप्येकार्थः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ व्यवहारनय है सो तौ जीव अर देह एक ही है, अैसा कहे है॥ वहुरि निश्चयनय कै जीव अर देह कदाचित् भी एक पदार्थ नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं इस लोक विषै सुवर्ण अर रूपा कूं गालि, एक कीयें एक पिंड का व्यवहार होय है, तैसैं आत्मा कै अर शरीर कै परस्पर एकक्षेत्रावगाह की अवस्था होतैं, एकपणें का व्यवहार है, अैसैं व्यवहारमात्र ही करि आत्मा अर शरीर कै एकपणां है॥ वहुरि निश्चय तैं एकपणां नाही है॥ जातैं पीला अर पांडुर है स्वभाव जिनिका, अैसा सुवर्ण अर रूपा है, तिनिकै जैसैं निश्चय विचारिये, तव अत्यंत भिन्नपणां करि एकपदार्थपणां की अनुपपत्ति है, तातैं नानापणां ही है। तैसैं ही आत्मा अर शरीर उपयोग अनुपयोग स्वभाव हैं, तिनिकै अत्यंत भिन्नपणां तैं एकपदार्थपणां की प्राप्ति नाही, तातैं नानापणां ही है। अैसैं यह प्रगट नयविभाग है॥ तातैं व्यवहारनय ही करि शरीर के स्तवन करि आत्मा का स्तवन वणैं है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ व्यवहारनय तौ आत्मा अर शरीर कूं एक कहै है अर निश्चयनय भिन्न कहै हैं, तातैं व्यवहारनय करि शरीर का स्तवन करि आत्मा का स्तवन मानिये है॥

सो ही आगैं गाथा मैं कहै है॥ छ॥

जीव-देह दोनों एक हैं, यह वचन है व्यवहार का।
निश्चय विषैं तो जीव-देह, कदापि एक पदार्थ ना॥ २७॥

अर्थ – यद्यपि व्यवहारनय तो ऐसा कहता है कि 'जीव और देह एक ही हैं', लेकिन निश्चयनय से जीव और देह कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं॥ २७॥

टीका – जिस प्रकार इस लोक में सोने और चाँदी को पिघला कर एकमेक करके, एक पिण्ड का व्यवहार होता है; उसी प्रकार आत्मा और शरीर की परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप अवस्था होने पर एकपने का व्यवहार होता है। इस प्रकार व्यवहार ही से आत्मा और शरीर का एकत्व है, परन्तु निश्चय से उनका एकत्व नहीं है क्योंकि जिस प्रकार पीले और सफेद स्वभाववाले सोने और चाँदी के बारे में जब निश्चय से विचार किया जाता है, तब अत्यन्त भिन्नत्व के कारण उनमें एक पदार्थपने की असिद्धि है, अतः उनमें अनेकपना ही है; उसी प्रकार उपयोग और अनुपयोग स्वभाववाले आत्मा और शरीर में अत्यन्त भिन्नता होने से एक पदार्थपने की प्राप्ति नहीं है, अतः अनेकपना ही है – ऐसा स्पष्ट नय-विभाग है; इसलिए व्यवहारनय से ही शरीर के स्तवन द्वारा आत्मा का स्तवन होता है।

भावार्थ – व्यवहारनय तो आत्मा और शरीर को एक कहता है परन्तु निश्चयनय उन्हें भिन्न-भिन्न कहता है; इसलिए व्यवहारनय से ही शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन माना जाता है।

अब, यही बात, आगामी गाथा में कहते हैं —

इणमण्णं जीवाओ, देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णइ हु संथुओ, वंदिओ मए केवली भयवं॥ २८॥

इममन्यत् जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः।
मन्यते खलु संस्तुतो, वन्दितो मया केवली भगवान्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ मुनि है सो यह जीव तैं अन्य पुद्गलमयी देह, ताकी स्तुति करि अर यह मानै है जो मैं केवली भगवान् की स्तुति करी, वंदना करी॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं रूपा का गुण जो पांडुरपणां, ताके नाम करि सुवर्ण कूं पांडुर, अैसा नाम करि कहिये, सो यह व्यवहारमात्र करि कहिये है। परमार्थ विचारिये, तव सुवर्ण का स्वभाव पांडुर नाही है, पीत है॥ तैसैं ही शुक्लरक्तपणां आदिक शरीर के गुण हैं, ताके स्तवन करि, तीर्थंकर केवलीपुरुष कूं कहिये, शुक्ल है, रक्त है, अैसा स्तवन करिये है, सो यह स्तवन व्यवहारमात्र करि है। परमार्थ विचारिये, तव शुक्लरक्तपणां तीर्थंकर केवली पुरुष का स्वभाव है नाही॥ तातैं निश्चयनय करि शरीर के स्तवन करि आत्मा का स्तवन नाही वर्णैं है॥

[॥ भावार्थ॥][1] इहां कोई पूछे जो व्यवहारनय तौ असत्यार्थ कह्या है अर शरीर जड है सो व्यवहार कै आश्रय जड की स्तुति का कहा फल।

इणमण्णं जीवादो, देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं॥ २८॥

जीव से जुदा पुद्गलमयी, इस देह की स्तवना करी।
माने मुनी जो केवली, वन्दन हुआ स्तवना हुई॥ २८॥

अर्थ – मुनिजन, जीव से भिन्न पुद्गलमयी देह की स्तुति करते हुए यह मानते हैं कि मैंने केवली भगवान की स्तुति की, वन्दना की॥ २८॥

टीका – जिस प्रकार चाँदी के श्वेतगुण के नाम से स्वर्ण को श्वेत (श्वेत स्वर्ण) व्यवहारमात्र से ही कहते हैं, परमार्थ से विचार करने पर तो स्वर्ण का स्वभाव श्वेत नहीं है, पीला है; उसी प्रकार सफेदी और लालिमा आदि शरीर के गुणों के स्तवन से तीर्थङ्कर केवली पुरुषों को 'ये सफेद हैं, ये लाल हैं' – ऐसा स्तवन, व्यवहारमात्र से ही है, परमार्थ से विचार करने पर सफेदी और लालिमा, तीर्थङ्कर केवली पुरुष (आत्मा) का स्वभाव नहीं है; अतः निश्चय से शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन सम्भव नहीं है।

[भावार्थ] – यहाँ कोई प्रश्न करता है कि व्यवहारनय तो असत्यार्थ कहा है और शरीर,

---

१. 'अ' 'ब' प्रति में ॥ भावार्थ॥ शब्द लिखने से छूट गया है।

ताका उत्तर जो व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नाही है, निश्चय कूं प्रधान करि असत्यार्थ कह्या है अर छद्मस्थ कूं अपर (स्वपर)[१] का आत्मा साक्षात् दीषै नाही अर शरीर दीषै, ताकी मुद्रा शांतरूप कूं देषि अपनें भी शांतभाव होय। अैसा उपकार जानि शरीर कै आश्रय भी स्तुति करै है तथा शांतमुद्रा देषि अंतरंग वीतरागभाव का निश्चय होय है, यह भी उपकार है॥ छ॥

सो ही गाथा करि कहै है॥[२]

तं णिच्छये ण जुज्जइ, ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणइ जो, सो तच्चं केवलिं थुणइ॥ २९॥

तन्निश्चये न युज्यते, न शरीरगुणा हि भवन्ति केवलिनः।
केवलिगुणान् स्तौति, यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ सो स्तवन निश्चय विषै युक्त नाही है, जातैं शरीर के गुण हैं, ते केवली के नाही हैं। जो केवली के गुणनि कूं स्तवै है सो ही परमार्थ करि केवलि कूं स्तवै है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं सुवर्ण के रूपे का गुण जो पांडुरपणां, ताका अभाव है, तातैं निश्चय तैं

जड़ है, अतः व्यवहार के आश्रय से जड़ शरीर की स्तुति करने से क्या लाभ है?

उसका उत्तर – व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है, निश्चय की प्रधानता से उसे असत्यार्थ कहा है। छद्मस्थ को स्व-पर का आत्मा साक्षात् दिखाई नहीं देता, केवल शरीर ही दिखाई देता है, शरीर की शान्तरूप मुद्रा देख कर स्वयं को भी शान्तभाव होते हैं – ऐसा उपकार जान कर शरीर के आश्रय से भी स्तुति करते हैं तथा [उनकी] शान्तमुद्रा देख कर अन्तरङ्ग वीतरागभाव का भी निश्चय होता है; यह भी उपकार है।

अब, इसी बात को [आगामी] गाथा में भी कहते हैं —

तं णिच्छये ण जुज्जदि, ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो, सो तच्चं केवलिं थुणदि॥ २९॥

निश्चय विषै नहिं योग्य है, नहिं देह-गुण केवली के।
जो केवली-गुण को स्तवे, परमार्थ केवलि वह स्तवे॥ २९॥

अर्थ – वह शरीराश्रित स्तवन, निश्चयनय में युक्त नहीं है क्योंकि शरीर के गुण, केवली के गुण नहीं हैं। जो केवली के गुणों का स्तवन करता है, वही परमार्थ से केवली का स्तवन करता है॥ २९॥

टीका – जिस प्रकार स्वर्ण में चाँदी के श्वेतगुण का अभाव है, अतः निश्चय से श्वेतपने के

---

१. *अपर* - 'ब' प्रति पाठ / 'अ' प्रति में **स्वपर** है, या **अपर** है, समझ में नहीं आता क्योंकि वहाँ कुछ काटकर सुधारा हुआ है।
२. यह पंक्ति हस्तलिखित प्रतियों में गाथा २८ के भावार्थ के पहले लिखी है।

पांडुरपणां नाम करि सुवर्ण का नाम नाही वणै है, सुवर्ण के गुण जे पीतपणां आदि, तिस ही के नाम करि सुवर्ण का नाम होय है॥ तैसैं ही तीर्थंकर केवली पुरुष कै, शरीर के गुण जे शुक्लरक्तपणां आदिक, तिनिका अभाव है, तातैं निश्चय तैं शरीर के गुण के स्तवन करि तीर्थंकर केवली पुरुष का स्तवन नाही होय है॥ तीर्थंकर केवली पुरुष के गुण के स्तवन करि ही ताका स्तवन होय है॥ छ॥

आगैं शिष्य का प्रश्न है जो आत्मा तौ शरीर ही कै आधार है, तातैं शरीर के स्तवन करि आत्मा का स्तवन निश्चय करि कैसैं नाही युक्त है, अैसा प्रश्न का उत्तररूप दृष्टांतसहित गाथा कहै है॥ छ॥

णयरम्मि वण्णिये जह, ण वि रण्णो वण्णणा कया होइ।
देहगुणे थुव्वंते, ण केवलिगुणा थुया होंति॥ ३०॥

नगरे वर्णिते यथा, नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति।
देहगुणे स्तूयमाने, न केवलिगुणाः स्तुता भवन्ति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं नगर का वर्णन करतैं संतैं राजा का वर्णन नाही कीया होय है॥ तैसैं देह का गुण कूं स्तवतैं संतैं केवली के गुण नाही स्तवनरूप कीये होय हैं॥

इस ही अर्थ का टीका विषै प्रथम काव्य है॥

नाम से स्वर्ण का नाम नहीं बनता है; स्वर्ण के पीतत्व आदि गुणों के नाम से स्वर्ण का नाम होता है; उसी प्रकार तीर्थङ्कर केवली पुरुष के शरीर में शुक्लरक्तत्व[२] आदि गुणों का अभाव है, अतः निश्चय से शरीर के गुण-स्तवन से तीर्थङ्कर केवली पुरुष (आत्मा) का स्तवन नहीं होता है, उनका स्तवन तो तीर्थङ्कर केवली पुरुष (आत्मा) के गुण-स्तवन से ही होता है।

अब, शिष्य का प्रश्न है कि आत्मा तो शरीर ही के आधार से है; अतः निश्चय से शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन करना युक्त क्यों नहीं है? – इसके उत्तर में दृष्टान्तसहित गाथा कहते हैं —

णयरम्मि वण्णिदे जह, ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते, ण केवलिगुणा थुदा होंति॥ ३०॥

रे! ग्राम-वर्णन करन से, भूपाल-वर्णन हो न ज्यों।
त्यों देह-गुण के स्तवन से, नहिं केवली-गुण-स्तवन हो॥ ३०॥

अर्थ – जिस प्रकार नगर का वर्णन करने से राजा का वर्णन नहीं होता है; उसी प्रकार देह के गुणों का स्तवन करने से केवली के गुणों का स्तवन नहीं होता है॥ ३०॥

---

२. 'शुक्लरक्तत्व' का दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है - एक तो तीर्थङ्करों के शरीर के रङ्ग सफेद, रक्त (लाल) आदि प्रसिद्ध ही हैं, दूसरे तीर्थङ्करों के शरीर में सफेद रक्त अर्थात् खून होता है - ऐसे दोनों अर्थ यहाँ पर घटित होते हैं।। आत्मख्याति टीका में भी 'शुक्ललोहितत्व' शब्द है, लोहित का अर्थ रक्त होता है।

॥ आर्या ॥

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम्।
पिबतीव हि नगरमिदं, परिखावलयेन पातालम्॥ २५॥

॥ अर्थ ॥ यह नगर है सो कैसा है। प्राकार कहिये कोट, ता करि तो ग्रस्या है आकाश जानैं, अैसा है। भावार्थ, कोट ऊंचा वहुत है॥ वहुरि उपवन कहिये वाग, तिनिकी राजी कहिये पंक्ति, तिनि करि निगल्या है भूमितल जानैं, अैसा है। भावार्थ, सर्व तरफ वागनि तैं पृथ्वी छाय रही है॥ वहुरि कैसा है। कोट कै चौगिरद खाई का वलय करि मानूं पाताल कूं पीवै ही है, अैसा है॥ भावार्थ, खाई ऊंडी वहुत है॥ छ॥

[॥ टीका ॥] अैसैं नगर का वर्णन करतैं संतैं राजा याकै आधार है, तौऊ कोट वाग[१] खाई आदि सहित राजा नाही है, तातैं राजा का वर्णन या करि नाही होय है॥ छ॥

तैसैं ही तीर्थंकर का स्तवन, शरीर का स्तवन कीयें नाही होय है, ताका भी काव्य है॥ छ॥

॥ आर्या ॥

नित्यमविकारसुस्थितसर्वाङ्गमपूर्वसहजलावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्रं, जिनेन्द्ररूपं परं जयति॥ २६॥

यहाँ, टीका में इसी अर्थ का सूचक पहले काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

प्राकार से कवलित किया, जिस नगर ने आकाश को।
अरु गोल गहरी खाई से है, पी लिया पाताल को॥
सब भूमितल को ग्रस लिया, उपवनों के सौंदर्य से।
अद्‌भुत अनूपम अलग ही है, वह नगर संसार से॥ २५॥

अर्थ — यह नगर कैसा है? — इसके **प्राकार** या कोट ने तो आकाश को ग्रस लिया है अर्थात् नगर का कोट बहुत ऊँचा है। उपवन या बगीचों की **राजी** या पंक्तियों ने समस्त भूमितल को निगल लिया है अर्थात् पृथ्वी, चारों तरफ बगीचों से आच्छादित है तथा कोट के चारों तरफ की खाई के घेरे ने मानों पाताल को पी लिया है अर्थात् खाई बहुत गहरी है।

[टीका] — इस प्रकार नगर का वर्णन है और उस नगर का अधिष्ठाता राजा होने पर भी, कोट-बाग-खाई आदिसहित राजा नहीं है, अत: नगर का वर्णन करने से राजा का वर्णन नहीं होता है।

अब, शरीर का स्तवन करने से तीर्थङ्कर का स्तवन नहीं होता है, इसका काव्य है —

---

१. *बाग नगर* - 'ब' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ जिनेंद्र का रूप है सो उत्कृष्ट जैसा होय, तैसैं जयवंत वर्त्तै है॥ कैसा है। नित्य ही अविकार अर भलै प्रकार सुखरूप तिष्ठ्या है सर्वांग जामैं॥ वहुरि कैसा है॥ अपूर्व स्वाभाविक है अर जन्म ही तैं लेकरि उपज्या है लावण्य जामैं। भावार्थ, सर्व कूं प्रिय लागै है॥ वहुरि कैसा है। समुद्र की ज्यों क्षोभरहित है, चलाचल नाही है॥ छ॥

[॥ टीका॥] अैसैं शरीर का स्तवन करतैं भी तीर्थंकर केवली पुरुष कै शरीर का अधिष्ठातापणां है, तौऊ सुस्थित सर्वांगपणां अर लावण्यपणां आत्मा का गुण नाही। तातैं तीर्थंकर केवली पुरुष कै इनि गुणनि का अभाव तैं याका स्तवन न होय॥ छ॥

अव, जैसैं तीर्थंकर केवली की निश्चयस्तुति होय, तैसैं कहै हैं॥ तहां प्रथम ही ज्ञेयज्ञायक कै संकरदोष आवै, ताका परिहार करि स्तुति कहै है॥

जो इंदिये जिणित्ता, णाणसहावाहियं मुणइ आयं।
तं खलु जिदिंदियं ते, भणंति जे णिच्छिया साहू॥ ३१॥

॥ हरिगीतिका ॥

गम्भीर सागर के समान, महान मानस मङ्ग हैं।
नित्य निर्मल निर्विकारी, सुव्यवस्थित अङ्ग हैं॥
सहज ही अद्‌भुत अनूपम, अपूरव लावण्य है।
क्षोभ-विरहित अरु अचल, जयवन्त जिनवर अङ्ग हैं॥ २६॥

अर्थ – जिनेन्द्र का रूप जितना उत्कृष्ट होता है, उतना ही जयवन्त होता है। **कैसा है?** – जो नित्य ही अविकार है, उनके सभी अङ्ग अच्छी तरह सुखरूप स्थित हैं। **और कैसा है?** – जिसमें जन्म से ही अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य उत्पन्न हुआ है अर्थात् सबको प्रिय लगता है। **और कैसा है?** – जो समुद्र की भाँति क्षोभरहित है, जिसमें चलाचलता नहीं है।

[टीका] – इस प्रकार शरीर का स्तवन करते हुए यद्यपि तीर्थङ्कर केवली पुरुष, ऐसे शरीर के अधिष्ठाता हैं तथापि सुस्थितपना, सर्वाङ्गता और लावण्य - ये आत्मा के गुण नहीं हैं; अत: तीर्थङ्कर केवली पुरुष में इन गुणों का अभाव होने के कारण, उन गुणों के स्तवन से तीर्थङ्कर केवली पुरुष का स्तवन नहीं होता है।

अब, तीर्थङ्कर केवली पुरुष की जैसे निश्चयस्तुति होती है, वैसे कहते हैं। वहाँ, सबसे पहले ज्ञेय-ज्ञायक नामक संकरदोष दूर करके [प्रथम] निश्चयस्तुति कहते हैं —

जो इंदिये[1] जिणित्ता, णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते, भणंति जे णिच्छिदा साहू॥ ३१॥

---

१. *इन्दिये* - अहिंसा मन्दिर एवं सोनगढ़ ट्रस्ट प्रकाशन पाठ

यः इन्द्रियाणि जित्वा, ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम्।
तं खलु जितेन्द्रियं ते, भणन्ति ये निश्चिताः साधवः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो इंद्रियनि कूं जीति करि, ज्ञानस्वभाव करि अन्य द्रव्यनि तैं अधिका आत्मा कूं जानै है, ताकूं जितेंद्रिय अैसा जे निश्चयनय विषैं तिष्ठे साधु हैं, ते कहैं हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ जो मुनि, द्रव्येंद्रिय तथा भावेंद्रिय तथा इंद्रियनि के विषयभूत पदार्थ, इनि तीनूं ही कूं आप तैं न्यारा करि अर समस्त अन्य द्रव्यनि तैं भिन्न अपनां आत्मा कूं अनुभवै है सो निश्चय करि जितेंद्रिय है।

कैसे हैं द्रव्येंद्रिय। अनादि अमर्यादरूप जो वंधपर्याय, ताके वश करि अस्त भया है समस्त स्वपर का विभाग जिनि करि। वहुरि कैसे हैं। शरीरपरिणाम कूं प्राप्त भये हैं॥ भावार्थ आत्मा तैं अैसैं एक होय रहे हैं जो भेद नाही दीषै है। तिनिकूं तौ निर्मल जो भेद का अभ्यास का प्रवीणपणां, ता करि पाया जो अंतरंगविषै प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव, ताका अवलंवन, ताके वल करि आप तैं न्यारे कीये हैं, यह ही जीतनां॥

वहुरि कैसे हैं भावेंद्रिय। न्यारे न्यारे विशेषनि कूं लीयैं जे अपनें विषय, तिनि विषै व्यापारपणां करि विषयनि कूं खंड खंड ग्रहण करते हैं॥ भावार्थ, ज्ञान कूं खंड खंडरूप जणावै हैं॥ तिनिकूं प्रतीति मैं आवती जो अखंड एक चैतन्यशक्ति, ता करि आपतैं न्यारे जानें है, इनि का ए ही जीतनां॥

कर इन्द्रि-जय ज्ञानस्वभाव से, अधिक जाने आत्म को।
निश्चय विषैं स्थित साधुजन, भाषैं 'जितेन्द्रिय' उन्हीं को॥ ३१॥

अर्थ – जो इन्द्रियों को जीत कर, ज्ञानस्वभाव के कारण आत्मा को अन्य द्रव्यों से अधिक जानते हैं, उन्हें निश्चयनय में स्थित साधु, **जितेन्द्रिय** कहते हैं॥ ३१॥

टीका – जो मुनि, द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ – इन तीनों को स्वयं से अलग करके, समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न अपनी आत्मा का अनुभव करते हैं, वे निश्चय से **जितेन्द्रिय** हैं।

कैसी हैं द्रव्येन्द्रियाँ? – अनादि अमर्यादरूप बन्धपर्याय के कारण जिनमें स्व-पर का समस्त विभाग अस्त हो गया है (अर्थात् जो स्व और पर का भेद कर सकने में असमर्थ हैं)। **और कैसी हैं?** – शरीरपरिणाम को प्राप्त हुई हैं अर्थात् आत्मा से इस प्रकार एक हो रही हैं कि भेद दिखता नहीं है; उन द्रव्येन्द्रियों को निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से अन्तरङ्ग में प्रगट अपने अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से, अपने से भिन्न करना ही, **[द्रव्येन्द्रियों का] जीतना** है।

कैसी हैं भावेन्द्रियाँ? – विभिन्न अलग-अलग विशेषोंवाले अपने-अपने विषयों में व्यापार करने के कारण विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं अर्थात् ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप में बतलाती हैं – ऐसी भावेन्द्रियों को प्रतीति में आती हुई अखण्ड एक चैतन्यशक्ति के द्वारा अपने से भिन्न जानना

वहुरि कैसे हैं इंद्रिय के विषयभूत पदार्थ॥ ग्राह्यग्राहक लक्षण जो संवंध, ताकी निकटता के वश करि, अपनें संवेदन अनुभव करि सहित परस्पर एक से होय गये दीषै हैं, तिनिकूं अपनीं चैतन्यशक्ति कै आप ही अनुभव मैं आवता जो असंगपणां, अमिल मिलाप, ता करि भाव इंद्रियनि करि ग्रहे हुये जे स्पर्शादिक पदार्थ, तिनिकूं आप तैं न्यारे कीये हैं, इनिका ए ही जीतनां।

अैसैं इंद्रिय ज्ञान कै अर विषयभूत पदार्थनि कै ज्ञेयज्ञायक का संकर नामा दोष आवै था, ताके दूरि होनें करि आत्मा एकत्वपणां विषैं टंकोत्कीर्ण ठहरया। जैसैं टांकी करि उकीरी पाषाण विषै मूर्त्ति एकाकार जैसी की तैसी ठहरै, तैसैं ठहरया॥

सो यह काहे करि अैसा जान्यां॥ समस्त पदार्थनि कै तौ उपरि तरता जानता संता भी तिनिरूप नाही होता अर प्रत्यक्ष उद्योतपणां करि नित्य ही अंतरंग विषै प्रकाशमान अर अनपायी अविनश्वर अर आप ही तैं सिद्ध[१] भया अर परमार्थरूप अैसा भगवान् जो ज्ञानस्वभाव, ता करि सर्व अन्य द्रव्यनि तैं परमार्थ तैं जुदा जान्यां, जातैं अैसा ज्ञानस्वभाव, अन्य अचेतन द्रव्यनि मैं नाही॥ तातैं सर्व तैं अधिक न्यारा ही है, अैसैं आत्मा कूं जाणैं सो जितेंद्रिय जिन है।

अैसैं एक तौ यह निश्चयस्तुति भई॥ इहां ज्ञेय तौ इंद्रियनि के विषयभूत पदार्थ अर ज्ञायक आप आत्मा, इनि दोऊनि का विषयनि की आसक्तता करि, अनुभवन एकसा होय था सो भेदज्ञान करि

ही, **[भावेन्द्रियों का] जीतना** है।

इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ कैसे हैं? – ग्राह्य-ग्राहक लक्षणरूप सम्बन्ध की निकटता के कारण जो अपने संवेदन या अनुभवन के साथ परस्पर एक जैसे दिखाई देते हैं, उनको अपनी चैतन्यशक्ति के स्वयं ही अनुभव में आनेवाले असङ्गपने अर्थात् कभी न मिलनेवाले मिलाप के द्वारा भावेन्द्रियों से ग्रहण किये हुए स्पर्श आदि पदार्थों को अपने से पृथक् करना ही, **[इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का] जीतना** है।

इस प्रकार इन्द्रिय-ज्ञान और उसके विषयभूत पदार्थों में ज्ञेय-ज्ञायक नामक संकरदोष आता था, उसको दूर करके आत्मा, एकत्वपने में उसी प्रकार टङ्कोत्कीर्ण स्थित हुआ, जिस प्रकार टांकी से उत्कीर्ण मूर्ति किसी पाषाण में एकाकार जैसी की तैसी बनी रहती है।

अतः यह कैसे ऐसा जाना? – समस्त पदार्थों के ऊपर तैरता हुआ अर्थात् उन्हें जानता हुआ भी [ज्ञान] उनरूप नहीं होता, प्रत्यक्ष उद्योतपने के कारण नित्य ही अन्तरङ्ग में प्रकाशमान, **अनपायी** अर्थात् अविनश्वर और स्वयं अपने से ही सिद्ध, परमार्थरूप ऐसे भगवान ज्ञानस्वभाव को, सर्व अन्य द्रव्यों से परमार्थतः भिन्न जाना क्योंकि ऐसा ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है, इस कारण यह सबसे अधिक है अर्थात् भिन्न ही है; इस प्रकार आत्मा को जो जानता है, वह **जितेन्द्रिय जिन** है।

इस प्रकार यह पहली निश्चयस्तुति हुई। यहाँ ज्ञेय तो इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ और ज्ञायक स्वयं आत्मा – इन दोनों का विषयों की अतिनिकटता के कारण, एक जैसा अनुभवन होता था, उसे

---

१. *सिद्धि* - 'अ' प्रति पाठ

भिन्नपणां जाण्यां, तव ज्ञेयज्ञायक संकरदोष दूरि भया॥ ऐसैं जाननां॥ छ॥

आगैं भाव्यभावक संकरदोष परिहार करि स्तुति कहै है॥

जो मोहं तु जिणित्ता, णाणसहावाहियं मुणइ आयं।
तं जियमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति[१]॥ ३२॥

यो मोहं तु जित्वा, ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम्।
तं जितमोहं साधुं, परमार्थविज्ञायका विन्दन्ति[१]॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो मुनि मोह कूं जीति करि अपनें आत्मा कूं ज्ञानस्वभाव करि अन्य द्रव्यभावनि तैं अधिका जानैं, तिस मुनि कूं परमार्थ कै जाननेंवाले जितमोह, ऐसा जानैं हैं, कहै हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ जो मुनि है सो फल देनें की सामर्थ्य करि प्रगट उदयरूप होय अर भावकपणां करि प्रगट होता जो मोहकर्म, ताहि, तिसकै अनुसार है प्रवृत्ति जाकी, ऐसा जो अपनां आत्मा भाव्य, ताकूं भेदज्ञान के वल तैं दूरि ही तैं न्यारा करनें करि, मोह कूं न्यारा करि, अर तिरस्कार करनें तैं दूरि भया है समस्त भाव्यभावक संकरदोष जामैं, तिसपणां करि एकत्वपणां होतैं, टंकोत्कीर्ण निश्चल एक अपनें आत्मा कूं अनुभवै है, सो जीत्या है मोह जानैं, ऐसा जिन है॥

भेदज्ञान के द्वारा भिन्नपने जानने पर **ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष** दूर हुआ – ऐसा जानना।

अब, भाव्य-भावक संकरदोष को दूर करके [दूसरी] निश्चयस्तुति कहते हैं —

जो मोहं तु जिणित्ता, णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं, परमट्ठवियाणया बेंति॥ ३२॥

कर मोहजय ज्ञानस्वभाव से, अधिक जाने आतमा।
परमार्थ-विज्ञायक पुरुष ने, उन्हें 'जितमोही' कहा॥ ३२॥

अर्थ – जो मुनि, मोह को जीत कर ज्ञानस्वभाव के कारण अपनी आत्मा को अन्य द्रव्य-भावों से अधिक जानता है, उस मुनि को परमार्थ के जाननेवाले **जितमोह** – ऐसा जानते हैं, कहते हैं॥ ३२॥

टीका – जो मोहकर्म, फल देने की सामर्थ्य के कारण प्रगट उदयरूप होता है, वह **भावक** है और उसके अनुसार जिसकी प्रवृत्ति होती है - ऐसा अपना आत्मा, **भाव्य** होता है; उस मोह को भेदज्ञान के बल से, दूर ही से पृथक् करके, उससे मोह को अलग करके अर्थात् मोह का तिरस्कार कर देने से समस्त भाव्य-भावक सङ्करदोष के दूर होते ही एकत्वपने के कारण टङ्कोत्कीर्ण, निश्चल, एक अपने आत्मा को जो मुनि अनुभव करता है, वह मोह को जीतने के कारण **जितमोह जिन** है।

---

२. बुवन्ति - तात्पर्यवृत्ति, सोनगढ़-जयपुर सोलापुर प्रकाशन पाठ / *विदन्ति* - अगास प्रकाशन पाठ

कैसा है आत्मा। समस्त लोक कै उपरि तरता अर प्रत्यक्ष उद्योतपणां करि नित्य ही अंतरंग विषै प्रकाशमान अविनाशी अर आप ही तैं सिद्ध[१] भया परमार्थरूप भगवान, अैसा जो ज्ञानस्वभाव ता करि, अन्य द्रव्य के स्वभाव करि होनेवाले[२] जे सर्व ही अन्य भाव, तिनितैं परमार्थ करि अतिरिक्त कहिये अधिका है, न्यारा है, अैसा ज्ञानस्वभाव, अन्य भावनि मैं नाही है, अैसा ज्ञानस्वरूप आत्मा कूं अनुभवै है।

॥ भावार्थ॥ अैसैं अपनां आत्मा, भावक जो मोह, ताकै अनुसार प्रवृत्ति तैं भाव्यरूप होय, ताकूं भेदज्ञान के वल तैं न्यारा अनुभवै सो जितमोह जिन है। अैसैं भाव्यभावकभाव के संकरदोष परिहार करि दूसरी निश्चयस्तुति है॥ इहां आशय अैसा, जो श्रेणी चढतैं मोह का उदय अनुभव मैं न रहै, अपने वल तैं उपशमादि करि आत्मा कूं अनुभवै है, ताकूं जितमोह कह्या है। इहां मोह कूं जीत्या है, ताका नाश न भया॥ छ॥

इहां गाथा मैं एक मोह ही का नाम लीया, तातैं मोह का पद पलटि करि, ताकी जायगां राग द्वेष क्रोध मान माया लोभ कर्म नोकर्म मन वचन काय, ए ग्यारह तो इस सूत्र करि, अर श्रोत्र चक्षु घ्राण रसन स्पर्शन, ए पांच इंद्रियसूत्र करि, अैसैं सोलह पद पलटनें तैं, सोलह सूत्र के व्याख्यान तैं[३] न्यारे न्यारे व्याख्यानरूप करने अर इस ही उपदेश करि अन्य भी विचारणें॥ छ॥

आगैं भाव्यभावक के अभाव करि निश्चयस्तुति कहै है॥ छ॥

कैसा है आत्मा? – समस्त लोक के ऊपर तैरता एवं प्रत्यक्ष उद्योतरूप होने से नित्य ही अन्तरङ्ग में प्रकाशमान, अविनाशी और स्वयंसिद्ध परमार्थरूप भगवान ज्ञानस्वभाव के कारण अन्य द्रव्य के स्वभाव से होनेवाले समस्त ही अन्य भावों से परमार्थत: अतिरिक्त अर्थात् अधिक है, भिन्न है – ऐसा ज्ञानस्वभाव अन्य भावों में नहीं है – ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का [जितमोह जिन] अनुभव करते हैं।

भावार्थ – अपना आत्मा, भावक अर्थात् मोह के अनुसार प्रवृत्ति के कारण भाव्यरूप हो रहा है, उसे भेदज्ञान के बल से जो पृथक् अनुभव करता है, वह **जितमोह जिन** है। इस प्रकार भाव्य-भावकभाव का परिहार करके, **दूसरी निश्चयस्तुति** होती है। यहाँ ऐसा आशय है कि जिन्हें श्रेणी (उपशमश्रेणी) चढ़ते समय अनुभव में मोह का उदय नहीं रहता अर्थात् अपने बल से उनका उपशम आदि करके जो आत्मा का अनुभव करते हैं, उन्हें **जितमोह** कहा है। यहाँ मोह को जीता है, उसका नाश नहीं हुआ है।

यद्यपि यहाँ गाथा में केवल एक **मोह** ही का नाम लिया है, पर इसमें 'मोह' शब्द के स्थान पर सोलह पदों – राग, द्वेष; क्रोध, मान, माया, लोभ; कर्म, नोकर्म; मन, वचन और कायरूप ग्यारह पद और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शनरूप पाँच इन्द्रिय पद को बदल-बदल कर सोलह सूत्रों के द्वारा व्याख्यान करना चाहिए और इस उपदेश से ही अन्य का भी विचार करना चाहिए।

---

१. *सिद्धि* – 'अ' प्रति पाठ
२. *होनवाले* – 'अ' प्रति पाठ
३. *सोलह सूत्र* – 'ब' प्रति पाठ

जियमोहस्स दु जइया, खीणो मोहो हविज्ज[१] साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो, भण्णइ सो णिच्छयविदूहिं॥ ३३॥

जितमोहस्य तु यदा, क्षीणो मोहो भवेत् साधोः।
तदा खलु क्षीणमोहो, भण्यते स निश्चयविद्भिः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जीत्या है मोह जानैं, अैसैं साधु कै, जिस काल मोह है सो क्षीण होय सत्ता मैं सूं नाश होय, तिस काल जे निश्चयनय के जाननेंवाले हैं, ते निश्चय करि तिस साधु कूं क्षीणमोह, अैसा नाम कहैं हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ इस निश्चयस्तुति विषै जो पूर्वोक्त विधान करि मोह कूं तिरस्कार करि, जैसा कह्या तैसा ज्ञानस्वभाव करि अन्य द्रव्य तैं अधिक आत्मा का अनुभव करनें करि जितमोह भया, ताकै जिस काल अपनें स्वभावभाव की भावनां का भलै प्रकार अवलम्वन करनें तैं मोह का संतान का अत्यंत विनाश अैसा होय, जो फेरि ताका उदय नाही होय है।[२]

अैसा भावकरूप मोह, जिस काल क्षीण होय, तिस काल भावक मोह के क्षय होतैं, आत्मा कै विभावरूप भाव्यभाव का भी अभाव होय। अैसैं भाव्यभावकभाव का अभाव करि एकत्वपणां

अब, भाव्य-भावकभाव के अभाव से [तीसरी] निश्चयस्तुति कहते हैं —

जिदमोहस्स दु जइया, खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो, भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं॥ ३३॥

जितमोह साधु पुरुष का जब, मोह क्षय हो जाय है।
परमार्थ-विज्ञायक पुरुष, 'क्षीणमोह' तब उनको कहें॥ ३३॥

अर्थ – जिसने मोह को जीत लिया है – ऐसे साधु का, जिस समय मोह क्षीण होकर सत्ता में से ही नष्ट हो जाता है, उस समय उस साधु को निश्चयनय के जाननेवाले, निश्चय से **क्षीणमोह** – ऐसे नाम से कहते हैं॥ ३३॥

टीका – इस निश्चयस्तुति में जो साधु, पूर्वोक्त विधान (भेदज्ञान) से मोह का तिरस्कार करके, ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा का अनुभव करके जितमोह हुआ था; उस साधु का जिस समय, अपने स्वभावभाव की भावना का सम्यक्तया अवलम्बन करने से, मोह की सन्तति का ऐसा आत्यन्तिक विनाश होता है कि पुनः मोह का उदय ही नहीं होता है।

इस प्रकार भावकरूप मोह जिस समय क्षीण हो जाता है; उस समय भावक मोह के क्षय होते ही आत्मा के विभावरूप भाव्यभाव का भी अभाव हो जाता है – ऐसे भाव्यभावकभाव के अभाव

---

१. *वेज्ज* - 'ब' कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
२. *होय* - 'अ' प्रति पाठ

होतैं, टंकोत्कीर्ण निश्चल परमात्मा कूं प्राप्त हूवा संता, क्षीणमोह जिन, अैसा कहिये। यह तीसरी निश्चयस्तुति है।

॥ भावार्थ॥ जिस काल साधु, पहलैं अपनें वल तैं उपशमभाव करि मोह कूं जीत्या, पीछैं जिस काल अपनीं वडी सामर्थ्य तैं मोह का सत्ता मैं सूं नाश करि, ज्ञानस्वरूप परमात्मा कूं प्राप्त होय, तव क्षीणमोह जिन कहिये॥ इहां भी पूर्वै कहै, तैसैं ही मोह पद कूं पलटि करि, तहां राग द्वेष क्रोध मान माया लोभ कर्म नोकर्म मन वचन काय श्रोत्र चक्षु घ्राण रसन स्पर्शन, ए पद स्थापि सोलह सूत्र पढ़नें अर व्याख्यान करनां अर इस ही प्रकार उपदेश करि अन्य भी विचारणें॥ छ॥

अव इहां इस निश्चयव्यवहाररूप स्तुति के अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः, कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः, स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरवलादेकत्वमात्माङ्गयोः॥ २७॥

॥ अर्थ॥ काय कै अर आत्मा कै व्यवहारनय करि एकपणां है। वहुरि निश्चयनय करि

से एकत्वपना सिद्ध होने पर, टङ्कोत्कीर्ण निश्चल परमात्मा को प्राप्त होता हुआ, **क्षीणमोह जिन** कहलाता है, यह **तीसरी निश्चयस्तुति** है।

भावार्थ – साधु, पहले अपने बल से उपशमभाव के द्वारा मोह को जीतते हैं। पश्चात् [पुनः क्षयोपशमभाव को प्राप्त करके] अपनी बड़ी सामर्थ्य से जब मोह का सत्ता से भी नाश करके, ज्ञानस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है, तब **क्षीणमोह जिन** कहलाता है। यहाँ भी पिछली गाथा की तरह **मोह** शब्द को बदल कर उसके स्थान पर राग, द्वेष; क्रोध, मान, माया, लोभ; कर्म, नोकर्म; मन, वचन, काय; श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शनरूप सोलह पदों को स्थापित करके सोलह सूत्रों को पढ़ना चाहिए और उनका व्याख्यान करना एवं इसी प्रकार के उपदेश से अन्य सूत्रों का भी विचार करना।

अब, इस निश्चय-व्यवहार स्तुति के अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

इस आतमा अरु देह का, एकत्व बस! व्यवहार से।
यह शरीराश्रित स्तवन भी है, इसलिए व्यवहार से॥
परमार्थ से स्तवन है, चिद्भाव का ही अनुभवन।
परमार्थ से तो भिन्न ही हैं, देह अरु चैतन्यघन॥ २७॥

अर्थ – यद्यपि शरीर और आत्मा का व्यवहारनय से एकत्व है परन्तु निश्चयनय से एकत्व

एकत्वपणां[१] नाही है, याही तैं शरीर के स्तवन तैं आत्मा पुरुष का स्तवन व्यवहारनय करि भया कहिये अर निश्चय तैं न कहिये॥ निश्चय तैं तौ चैतन्य के स्तवन तैं ही चैतन्य का स्तवन होय है सो चैतन्य का स्तवन इहां जितेंद्रिय जितमोह क्षीणमोह, अैसैं कह्या तैसैं होय है। तातैं यह सिद्ध भया जो अज्ञानी नैं तीर्थंकर के स्तवन का प्रह्द्ध कीया था, ताका यह नयविभाग करि उत्तर दीया, ताके वल तैं आत्मा कै अर शरीर कै एकत्वपणां निश्चय तैं नाही है॥ छ॥

फेरि, याही अर्थ के जाननें करि भेदज्ञान की सिद्धि होय है, अैसे अर्थरूप काव्य कहै है॥

॥ मालिनी॥

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां,
नयविभजनयुक्त्याऽत्यन्तमुच्छादितायाम्।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव॥ २८॥

॥ अर्थ॥ अैसैं परिचयरूप कीया है वस्तु का यथार्थस्वरूप जिनि नैं, अैसे मुनि नैं आत्मा अर शरीर के एकपणां कूं नय के विभाग की युक्ति करि अत्यंत उच्छादन कीया, निषेध्या, याकै होतैं

नहीं है; इसलिए ही शरीर के स्तवन से, आत्मा या पुरुष का स्तवन व्यवहार से हुआ कहते हैं, निश्चय से नहीं। निश्चय से तो चैतन्य के स्तवन करने से ही चैतन्य का स्तवन होता है, उस चैतन्य का स्तवन यहाँ जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह के रूप में जैसा कहा है, वैसा होता है; अतः यह सिद्ध होता है कि अज्ञानी ने तीर्थङ्कर के स्तवन के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया था, उसका नयविभाग के द्वारा यह उत्तर दिया है, उसके बल से आत्मा और शरीर का एकत्वपना निश्चय से नहीं है [– यह सिद्ध किया है]।

पुनः, इसी अर्थ को जानने से भेदज्ञान की सिद्धि होती है – ऐसे अर्थ का काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

इस आतमा अरु देह के, एकत्व को नय-युक्ति से।
निर्मूल ही जब कर दिया, तत्त्वज्ञ मुनिवरदेव ने॥
यदि भावना है भव्य तो फिर, क्यों नहीं सद्बोध हो।
भावोल्लसित आत्मार्थियों को, नियम से सद्बोध हो॥ २८॥

अर्थ – इस प्रकार जिन मुनियों ने वस्तु के यथार्थस्वरूप का परिचय करके आत्मा और शरीर के एकत्व का, नयविभाग की युक्ति से ऐसा आत्यन्तिक उच्छादन किया, निषेध किया कि तत्काल

---

१. *एकपणां* – 'ब' प्रति पाठ

तत्काल ज्ञान है सो यथार्थपणां कूं कौन पुरुष कै अवतार न धरै, अवश्य अवतार धरै ही धरै॥ कैसा होय करि। अपनां निजरस का भर का[१] वेग करि षैंच्या हूवा प्रगट होता एकस्वरूप होय करि॥

॥ भावार्थ॥ निश्चयव्यवहारनय के विभाग करि आत्मा कै अर पर कै अत्यंत भेद दिषाया, सो याकूं जानि करि, अैसा कोंन पुरुष है, जाकै भेदज्ञान न होय, होय ही होय। जातैं ज्ञान है सो अपनां स्वरस करि आप अपनां स्वरूप जाणैं, तव अवश्य आप न्यारा ही अपने आत्मा कूं जनावै है॥ इहां कोई दीर्घ संसारी ही होय तो ताका कछू कहनां है नाही॥ छ॥

अैसैं अप्रतिवुद्ध नैं कह्या था जो हमारै तो यह निश्चय है जो देह है सो ही आत्मा है, ताका निराकरण कीया॥ छ॥

आगैं कहै है जो अैसैं यहु अप्रतिवुद्ध अज्ञानी जीव अनादि के मोह के संतान करि निरूपण कीया जो आत्मा कै अर शरीर कै एकपणां, ताके संस्कारपणां करि अत्यंत अप्रतिवुद्ध था सो अव प्रगट उदय भया है तत्वज्ञानस्वरूप ज्योति जाकै। जैसैं कोई पुरुष कै नेत्र मैं विकार था, तव वर्णादिक अन्यथा दीषै था अर जव विकार मिटै, तव जैसा का तैसा दीष्या, तैसैं प्रगट उघाड्या है पटलस्थानीय आवरणकर्म जाका, अैसा भया संता प्रतिवुद्ध भया, तव साक्षात् देषनेंवाला आप कूं आप ही करि जानि अर श्रद्धान करि अर तिस कूं आचरण करनें का इच्छक भया संता पूछै है।

जो इस आत्माराम के अन्य द्रव्यनि का प्रत्याख्यान कहिये त्यागनां सो कहा होय,

---

ही ज्ञान का यथार्थपना **किस पुरुष को प्रगट नहीं होता है?** – अवश्य प्रगट होता है। **कैसे होकर प्रगट होता है?** – निजरस के सम्पूर्ण वेग से आकृष्ट होकर, एकस्वरूप होकर प्रगट होता है।

भावार्थ – यहाँ निश्चयनय और व्यवहारनय के विभाग से आत्मा और पर के अत्यन्त भेद को स्पष्ट किया है, इसे जान कर ऐसा कौन पुरुष है, जिसे भेदज्ञान नहीं होता? अर्थात् होता ही होता है क्योंकि जब ज्ञान अपने स्वरस से स्वयं अपना स्वरूप जानता है, तब वह अवश्य ही अपनी आत्मा का भिन्न ही ज्ञान कराता है। यदि कोई दीर्घ संसारी ही हो तो उसके सम्बन्ध में कुछ कहना नहीं है।

इस प्रकार अप्रतिबुद्ध ने जो कहा था कि 'हमारा तो यह निश्चय है कि देह ही आत्मा है' – उसका निराकरण हुआ।

अब, कहते हैं कि यह अप्रतिबुद्ध अज्ञानी जीव, आत्मा और शरीर का एकत्व निरूपित करनेवाली अनादि मोह की सन्तति के संस्कारों के कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, परन्तु अब उसे तत्त्वज्ञानस्वरूप ज्योति प्रगट उदित हुई है। जिस प्रकार किसी पुरुष की आँखों में विकार था, तब उसे वर्णादि अन्यथा दिखते थे, परन्तु जब विकार मिटता है, तब यथार्थ जैसे का तैसा देखता है; उसी प्रकार [जब अप्रतिबद्ध] पटल के समान आवरण कर्म को अच्छी तरह अनावृत्त करके प्रतिबुद्ध होता है, तब वह साक्षात् देखनेवाला अपने को अपने से ही जान कर और श्रद्धान कर, फिर उस रूप ही आचरण करने का इच्छुक होता है।

---

१. *भर का* – 'ब' प्रति में पाठ नहीं

ऐसैं पूछतैं संतैं आचार्य कहै है जो ऐसैं कहनां।

सव्वे भावे जम्हा, पच्चक्खाई परित्ति णाऊणं।
तम्हा पच्चक्खाणं, णाणं णियमां मुणेयव्वं॥ ३४॥

सर्वान् भावान् यस्मात्प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा।
तस्मात् प्रत्याख्यानं, ज्ञानं नियमात् ज्ञातव्यम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जा कारण तैं सर्व ही जे भाव कहिये पदार्थ, आप सिवाय हैं, ते पर हैं, ऐसैं जानि करि प्रत्याख्यान करै है, त्यागै है॥ तातैं जो पर है, यह जाननां है, सो ही यह ज्ञान है, सो ही प्रत्याख्यान है, यहु नियम तैं जाननां। अपनां ज्ञान मैं त्यागरूप अवस्था सो ही प्रत्याख्यान है, अन्य किछू नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं यह ज्ञाता द्रव्य आत्मा भगवान् है सो अन्य द्रव्य के स्वभाव तैं भये, ऐसैं जे अन्य समस्त परभाव, तिनिकूं अपनें स्वभावभाव करि नाही व्यापनें करि परपणां करि जानि अर त्यागै है॥ तातैं जो पहलैं जानैं, जान्यां है सो ही पीछैं त्यागै है, अन्य तौ कोई त्यागनेंवाला नाही है। ऐसैं त्यागभाव आत्मा ही विषै निश्चय करि अर त्याग कै समये प्रत्याख्यान करनें योग्य जे परभाव, तिनिकी

फिर पूछता है कि इस आत्माराम को अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग क्या है? [और वह कैसे होता है?] – ऐसा पूछने पर आचार्य इस प्रकार कहते हैं —

सव्वे भावे जम्हा[1], पच्चक्खाई[2] परे त्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं, णाणं णियमा मुणेदव्वं॥ ३४॥

सब भाव पर ही जान, प्रत्याख्यान भावों का करे।
इससे नियम से जानना, यह ज्ञान प्रत्याख्यान है॥ ३४॥

अर्थ – जिस कारण अपने से अतिरिक्त सर्व ही भावों अर्थात् पदार्थों को 'वे पर हैं' – ऐसा जान कर [उनका] प्रत्याख्यान या त्याग करता है; उसी कारण, 'वे पर हैं' – यह जानना ही ज्ञान है, वही प्रत्याख्यान है – यह नियम से जानना चाहिए। अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, अन्य कुछ नहीं है॥ ३४॥

टीका – यह ज्ञाता द्रव्य आत्मा भगवान है, वह अन्य द्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न अन्य समस्त परभावों को अपने स्वभावभाव में व्याप्त नहीं होने के कारण पररूप जानता है और त्यागता है, अत: जाननेवाला ही पहले जानता है, बाद में त्यागता है, दूसरा तो कोई त्यागनेवाला नहीं है। इस प्रकार त्यागभाव आत्मा में ही है – ऐसा निश्चय करके त्याग के समय प्रत्याख्यान करने योग्य परभाव के त्याग के कर्तृत्व की संज्ञा यद्यपि उपाधिमात्र प्रवर्तती है, तथापि परमार्थ से देखा

---

१. *णाणं सव्वे भावे* – तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ
२. *पच्चक्खादी* – कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

उपाधिमात्र प्रवर्त्त्या जो त्याग के कर्त्तापणां का नाम, ताके होतैं भी, परमार्थ करि देषिये, तव परभाव के त्याग का कर्त्तापणां का नाम आप कै नाही है, आप तौ या नाम तैं रहित है, ज्ञानस्वभाव तैं छूट्या नाही है, तातैं प्रत्याख्यान ज्ञान ही है, अैसा अनुभवन करनां॥

॥ भावार्थ॥ आत्मा कै परभाव का त्याग का कर्त्तापणां है सो नाममात्र है। आप तौ ज्ञानस्वभाव है, परद्रव्य कूं पर जान्यां, फेरि परभाव का ग्रहण नाही सो ही त्याग है, अैसैं यह जाननां ही प्रत्याख्यान है, ज्ञान सिवाय किछू अन्य भाव नाही है॥ छ॥

आगैं पूछै है, जो ज्ञाता के प्रत्याख्यान ज्ञान ही कह्या, या विषै दृष्टांत कहा है, ताका उत्तररूप दृष्टांत दार्ष्टांत की गाथा कहै है॥ छ॥

जह णाम कोवि पुरिसो, परदव्वमिणं ति जाणिउं चयइ।
तह सव्वे परभावे, णाऊण विमुंचए णाणी॥ ३५॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः, परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति।
तथा सर्वान् परभावान्, ज्ञात्वा विमुंचति ज्ञानी॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं लोक मैं कोई पुरुष, परवस्तु कूं अैसैं जानैं जो यह परवस्तु है, तव अैसैं जानि

जाए तो परभाव के त्याग के कर्तृत्व की संज्ञा आत्मा को नहीं है। आत्मा तो इस संज्ञा या उपाधि से रहित है क्योंकि वह ज्ञानस्वभाव से च्युत नहीं है; अतः प्रत्याख्यान, ज्ञान ही है – ऐसा अनुभव करना चाहिए।

भावार्थ – आत्मा को परभाव के त्याग का कर्तृत्व नाममात्र है। स्वयं तो ज्ञानस्वभाव है, परद्रव्य को पर जान कर, परभाव का ग्रहण नहीं होना ही त्याग है; इस प्रकार यह जानना ही प्रत्याख्यान है, वह ज्ञान के अतिरिक्त कोई अन्य भाव नहीं है।

अब शिष्य पूछता है कि 'ज्ञाता के ज्ञान को ही प्रत्याख्यान कहा है', इसका दृष्टान्त क्या है? – इसके उत्तर में दृष्टान्त-सिद्धान्त की गाथा कहते हैं –

जह णाम को वि पुरिसो, परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे, णादूण विमुंचदे णाणी॥ ३५॥

ये और का है जान कर, परद्रव्य को ज्यों नर तजे।
त्यों और के हैं जान कर, परभाव ज्ञानी परित्यजे॥ ३५॥

अर्थ – जिस प्रकार लोक में कोई पुरुष, परवस्तु को 'यह परवस्तु है' – ऐसा जान कर उसे त्याग देता है; उसी प्रकार ज्ञानी, सर्व ही परद्रव्यों के भावों को 'ये परभाव हैं' – ऐसा जान कर उनको त्याग देता है॥ ३५॥

परवस्तु कूं त्यागै है॥ तैसै ही ज्ञानी है सो सर्व ही परद्रव्यनि के भावनि कूं एक परभाव हैं, अैसा जानि, तिनिकूं त्यागै है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं कोई पुरुष धोवी के सूं पैले का वस्त्र ल्याय, तिसकूं भ्रम करि अपनां जानि वोढि करि सूता, आप अैसैं न जान्या जो यह पैले का है, पीछैं पैले नैं तिस वस्त्र का पल्ला पकडि षैंचि करि उघाडि नागा कीया अर कही जो शीघ्र जागि, सावधान होऊ॥ मेरा वस्त्र वदलै आया है सो मेरा मोकूं देहु, अैसा वारवार वचन कह्या सो सुणता संता, तिस वस्त्र के चिह्न समस्त देषि परीक्षा करि, अैसा जान्यां जो यह वस्त्र तौ पैला का ही है, अैसा जानि करि ज्ञानी भया संता, तिस पर के वस्त्र कूं शीघ्र ही त्यागै है॥

तैसैं ज्ञानी भी भ्रम करि परद्रव्य के भावनि कूं ग्रहण करि अपनें जानि, आत्मा विषै एकरूप करि सूता है, वेषवरि (वेखवरि) हूवा थका, आप ही तैं अज्ञानी होय रह्या है। जव गुरु याकूं सावधान करै, परभाव का भेदज्ञान कराय एक आत्मभावरूप करै, कहै जो तूं शीघ्र जागि, सावधान होहु, यह तेरा आत्मा तौ[१] एक ज्ञानमात्र है, अन्य सर्व परद्रव्य के भाव हैं, तव वारवार यह आगम के वाक्य सुणता संता, समस्त अपनें पर के चिह्ननि करि भलै प्रकार परीक्षा करि, अैसा निश्चय करै जो मैं एक ज्ञानमात्र हूं, अन्य सर्व परभाव हैं, अैसैं जानि करि ज्ञानी होय करि, सर्व परभावनि कूं तत्काल छोडै है॥

॥ भावार्थ॥ जेतै परवस्तु कूं भूलि करि अपनी जानैं, तेतै ही ममत्व रहै अर पर कूं पर की

टीका – जिस प्रकार कोई पुरुष, धोबी के घर से किसी अन्य का वस्त्र लाकर, उसे भ्रम से अपना जान कर, ओढ़ कर सोया था। उसे यह नहीं पता था कि यह वस्त्र अन्य का है, परन्तु बाद में जब उस अन्य व्यक्ति ने उस वस्त्र का कोना पकड़ कर खींचते हुए, उस पुरुष को उघाड़ कर नङ्गा किया और कहा कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र भूल से तेरे पास आ गया है, वह मेरा वस्त्र मुझे दे दो' – ऐसे जब उस व्यक्ति ने बार-बार वचन कहे, तब उन्हें सुनते हुए, उसने उस वस्त्र के समस्त चिह्नों को देख कर, परीक्षा करके 'यह वस्त्र तो अन्य का ही है' – ऐसा जान कर, ज्ञानी होकर, उस अन्य के वस्त्र को शीघ्र ही त्याग देता है।

उसी प्रकार ज्ञानी (आत्मा) भी भ्रम से परद्रव्य के भावों को ग्रहण करके, उन्हें अपना जान कर, आत्मा से एकरूप करके सोया है और बेखबर होकर स्वयं ही अज्ञानी हो रहा है। जब श्रीगुरु इसको सावधान करके, परभाव से भेदज्ञान कराकर एक आत्मभावरूप करते हैं और कहते हैं कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा तो एक ज्ञानमात्र है; अन्य सब परद्रव्य के भाव हैं', तब वह बार-बार इस आगम के वाक्य को सुन कर, समस्त अपने और पर के चिह्नों से भली प्रकार परीक्षा करके, यह निश्चय करता है कि 'मैं एक ज्ञानमात्र हूँ, अन्य सब परभाव हैं' – ऐसा जान कर ज्ञानी होकर, सर्व परभावों को तत्काल छोड़ देता है।

---

१. आत्मा है तौ – 'ब' प्रति पाठ

जानैं यथार्थ ज्ञान होय, तव पैले की वस्तु सूं काहे का ममत्व रहै, न रहै, यह प्रसिद्ध है॥ छ॥

अव, इस ही अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ मालिनी॥

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः॥
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता,
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव॥ २९॥

॥ अर्थ॥ यह परभाव के त्याग के दृष्टांत की दृष्टि है सो पुरानीं न पडै, अैसैं जैसैं होय तैसैं, अत्यंत वेग तैं जेतै प्रवृत्ति कूं नाही प्राप्त होय है, ता पहलैं ही तत्काल सकल अन्यभावनि करि रहित आप ही यह अनुभूति तौ प्रगट होती भई॥

॥ भावार्थ॥ यह परभाव का त्याग का दृष्टांत कह्या, ता परि दृष्टि पडतैं पहलैं समस्त अन्य भावनि तैं रहित अपनां स्वरूप का अनुभवन तौ तत्काल होय गया, जातैं यह प्रसिद्ध है जो वस्तु कूं पर की जानें पीछैं ममत्व रहै नाही॥ छ॥

आगैं या अनुभूति तैं परभाव का भेदज्ञान कौंन प्रकार भया, अैसी आशंका करि,

---

भावार्थ – जब तक परवस्तु को भूल से अपनी जानता है, तब तक ही ममत्व रहता है और जब पर को पर का जानने से यथार्थ ज्ञान होता है, तब अन्य की वस्तु से ममत्व कैसे रह सकता है? अर्थात् नहीं रह सकता – यह प्रसिद्ध [नियम] है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

परभाव के परित्याग की, दृष्टि पुरानी ना पड़े।
अरु जब तलक हे आत्मन्!, वृत्ति न हो अतिबलवती॥
व्यतिरिक्त जो परभाव से, वह आतमा अतिशीघ्र ही।
अनुभूति में उतरा अरे!, चैतन्यमय वह स्वयं ही॥ २९॥

अर्थ – यह परभाव के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि पुरानी न पड़े अर्थात् जैसे बने, वैसे जब तक यह दृष्टि अत्यन्त वेग से प्रवृत्ति को नहीं प्राप्त हो जाती, उससे पहले ही तत्काल सर्व ही अन्य भावों से रहित यह अनुभूति स्वयं ही तत्काल प्रगट हो जाती है।

भावार्थ – यहाँ यह परभाव के त्याग का दृष्टान्त कहा है, पुनः उस परभाव पर दृष्टि पड़ने से पहले ही समस्त अन्य भावों से रहित अपने स्वरूप का अनुभव तो तत्काल ही हो जाता है क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि वस्तु को अन्य की जानने के बाद, उससे ममत्व नहीं रहता।

प्रथम तौ भावक जो मोहकर्म का उदयरूप भाव, ताका भेदज्ञान का प्रकार कहै है॥

णत्थि मम को वि मोहो, बुज्झइ उवओग एव अहमिक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया विंति॥ ३६॥

नास्ति मम कोऽपि मोहो, बुध्यते उपयोग एवाहमेकः।
तं मोहनिर्ममत्वं, समयस्य विज्ञायका विन्दन्ति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो अैसा जानना होय जो यह मोह है सो मेरा कछू भी संवंधी नाही है॥ मैं अैसा जानूं हूं जो एक उपयोग है सो ही मैं हूं॥ अैसे जाननें कूं मोह तैं निर्ममत्वपणां सिद्धांत के तथा अपनें पर के स्वरूपरूप समय के जाननेंवाले जानैं हैं, कहैं हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ नाम, अैसा सत्य अर्थ मैं अव्यय है। तहां कहै है, मैं सत्यार्थपणैं अैसा जानूं हूं जो यह मोह है सो मेरा कछू भी लागता नाही। कैसा है यह। इस मेंरे अनुभवन मैं फल देनें की सामर्थ्य करि प्रगट होय, भावकरूप होता जो पुद्गलद्रव्य, ता करि रच्या हूवा है॥ सो मेरा काहे तैं नाही है, जातैं मैं तो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव हूं, यह जड है॥ सो परमार्थ तैं पर के भाव कै, पर का

अब, इस अनुभूति के द्वारा परभाव का भेदज्ञान किस प्रकार हुआ? – ऐसी आशङ्का होने पर पहले तो भावकभाव अर्थात् मोहकर्म के उदयरूप भाव से भेदज्ञान की विधि कहते हैं —

णत्थि मम को वि मोहो, बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया बेंति॥ ३६॥

कुछ मोह वो मेरा नहीं, उपयोग केवल एक मैं।
इस ज्ञान को ज्ञायक समय के, मोह-निर्ममता कहें॥ ३६॥

अर्थ – यदि ऐसा जानना होता है कि 'यह मोह मेरा कुछ भी सम्बन्धी नहीं है।' और मैं ऐसा जानता हूँ कि 'एक उपयोग ही मैं हूँ' – ऐसे जानने को ही सिद्धान्त तथा स्व-पर के स्वरूपरूप समय को जाननेवाले, मोह से निर्ममत्वपना जानते हैं, कहते हैं॥ ३६॥

टीका – 'नाम' यह वास्तविक या निःसन्देह अर्थ में अव्यय है।[१] यहाँ कहते हैं कि मैं सत्यार्थरूप से ऐसा जानता हूँ कि यह मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता है। **कैसा है यह मोह?** – मेरे इस अनुभव में फल देने की सामर्थ्य से प्रगट होकर भावकरूप होनेवाले पुद्गलद्रव्य से रचित है। **यह मेरा क्यों नहीं है?** – चूंकि मैं तो टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव हूँ और यह जड़ है। परमार्थ से एक के भाव को दूसरे के भाव से भाना (होना) अशक्य है।

---

१. इस गाथा की आचार्य अमृतचन्द्रकृत 'आत्मख्याति' संस्कृत टीका में 'कतमोऽपि न नाम मम मोहोऽस्ति' – यह वाक्य प्रयुक्त हुआ है, अतः यहाँ भाषा टीका में 'नाम' शब्द की व्याख्या प्रस्तुत की है।

भाव करि भावनें का असमर्थपणां है॥

तौ इहां कहा जाणिये है। जो स्वयमेव समस्त वस्तु का प्रकाशनें विषैं चतुर विकाशरूप भई अर निरंतर शाश्वती प्रताप संपदा जामैं पाइए, अैसी चैतन्यशक्ति, तिस मात्र स्वभावभाव करि भगवान आत्मा ही कूं जाणिये है जो मैं हूं सो परमार्थ करि एक चित्शक्ति मात्र हूं॥

तातैं समस्त द्रव्यनि कै परस्पर साधारण एकक्षेत्र अवगाह का निवारण करनें का असमर्थपणां तैं जैसैं दही अर षांड मिलि शिषरणि होय, तव दही षांड एक से होय रहे हैं, तौऊ प्रगट षाटा मींठा स्वाद के भेद तैं न्यारे जानें जाय हैं, तैसैं द्रव्यनि के लक्षणभेद तैं जड चेतन का न्यारा न्यारा स्वाद तैं प्रगट जान्यां जाय है जो मोहकर्म का उदय का स्वाद रागादिक हैं सो चैतन्य के निज स्वभाव के स्वाद तैं न्यारे ही हैं, तातैं मोह प्रति मैं निर्ममत्व ही हौं॥ जातैं यह आत्मा, सदाकाल ही आप तैं एकरूपपणां कूं प्राप्त हूवा अपनां स्वभावरूप समय सो ही भया महल, ता विषै तिष्ठै है॥

अैसैं भावकभाव जो मोह का उदय, तातैं भेदज्ञान भया॥

॥ भावार्थ॥ यह मोहकर्म है सो जड पुद्गलद्रव्य है, याका उदय कलुष मलिनभावरूप है, सो याका भाव है सो ही पुद्गल विकार है सो यह भावक का भाव है। सो जव यह चैतन्य के उपयोग के अनुभव मैं आवै, तव उपयोग भी विकारी होय रागादिरूप मलिन दीषै। सो जव याका भेदज्ञान होय जो चैतन्य की शक्ति की व्यक्ति तौ ज्ञानदर्शन उपयोगमात्र है अर यह कलुषता रागद्वेषमोहरूप

तो यहाँ कैसा जानना होता है? – जो स्वयमेव सर्व ही वस्तुओं को प्रकाशित करने में अच्छी तरह विकसित हुई है और जिसमें निरन्तर शाश्वत प्रताप-सम्पदा पाई जाती है – ऐसे चैतन्यशक्तिमात्र अपने स्वभावभाव के द्वारा भगवान आत्मा को ही ऐसा जानता है कि मैं तो परमार्थ से एक चित्शक्तिमात्र हूँ।

जैसे, दही और खाण्ड से मिल कर बने श्रीखण्ड में दही और खाण्ड एक जैसे हो रहे हैं, फिर भी वे परस्पर खट्टे और मीठे भिन्न-भिन्न स्वादों के कारण भिन्न-भिन्न जाने जाते हैं; उसी प्रकार समस्त द्रव्यों के परस्पर साधारण एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध को निवारण (दूर) करने में असमर्थता होने पर भी द्रव्यों के लक्षणभेद से जड़ और चेतन के भिन्न-भिन्न स्वादों के कारण उन्हें प्रगट भिन्न-भिन्न जाना जाता है। यह मोहकर्म के उदय के स्वाद रागादिक हैं, वे चैतन्य के निजस्वभाव के स्वाद से भिन्न ही हैं; अत: मोह के प्रति मैं निर्ममत्व ही हूँ क्योंकि यह आत्मा सदाकाल ही अपने से एकस्वरूपपने को प्राप्त हुआ, अपने स्वभावरूप समय-महल में विराज रहा है।

इस प्रकार भावकभावरूप मोह के उदय से भेदज्ञान हुआ।

भावार्थ – यह मोहकर्म, जड़ पुद्गलद्रव्य है, इसका उदय कलुषित मलिनभावरूप है; अत: इसका भाव भी पुद्गल-विकार है, यही भावक का भाव है। जब यह चैतन्य के उपयोग के अनुभव में आता है, तब उपयोग भी विकारी होकर रागादिरूप मलिन दिखाई देता है। जब इससे भेदज्ञान होता है कि चैतन्य की शक्ति की व्यक्ति तो ज्ञान-दर्शन उपयोगमात्र है और यह कलुषता,

है सो तिस द्रव्यकर्मरूप जड पुद्गलद्रव्य की है। अैसा भेदज्ञान होय, तव भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोह के भाव, तिनि तैं भेदभाव क्यों न होय, होय ही होय। आत्मा अपनें चैतन्य के अनुभवरूप ठहरै ही ठहरै, अैसा जाननां॥ छ॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ स्वागता॥

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं, चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः, शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि॥ ३०॥

॥ अर्थ॥ मैं इस लोक मैं आप ही करि अपनें एक आत्मस्वरूप कूं अनुभवूं हूं॥

कैसा है मेरा स्वरूप। सर्वतः कहिये सर्वांग करि अपनें निजरस जो चैतन्य का परिणमन, ता करि पूर्ण भर्या अैसा है भाव जामैं॥ याही तैं यह मोह है सो मेरा किछू भी लागता नाही है, याकै अर मैरै किछू भी नता[१] नाही है, नाही है। मैं तो शुद्धचैतन्य का घन कहिये समूहरूप तेजपुंज का निधि हौं। भावकभाव का भेदकरि अैसै अनुभवन करै॥ छ॥

अैसैं ही गाथा मैं मोह पद है, ताकूं पलटि करि राग द्वेष क्रोध मान माया लोभ कर्म नोकर्म

राग-द्वेष-मोहरूप है; अतः वह (कलुषता) उस द्रव्यकर्मरूप जड़-पुद्गल की है – ऐसा भेदज्ञान होने पर भावकभाव अर्थात् द्रव्यकर्मरूप मोह के भाव से भेदभाव क्यों नहीं हो सकता है अर्थात् होता ही होता है तथा आत्मा, अपने चैतन्य के अनुभवरूप ठहरता ही ठहरता है – ऐसा जानना।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

सब ओर से चैतन्यमय, निजभाव से भरपूर हूँ।
मैं स्वयं ही इस लोक में, निजभाव का अनुभव करूँ॥
यह मोह मेरा कुछ नहीं, चैतन्य का घनपिण्ड हूँ।
हूँ शुद्ध चिद्घन महानिधि, मैं स्वयं एक अखण्ड हूँ॥ ३०॥

अर्थ – मैं इस लोक में स्वयं के द्वारा ही अपने एक आत्मस्वरूप का अनुभव करता हूँ।

कैसा है मेरा स्वरूप? – सर्वतः अर्थात् सर्वाङ्ग से अपने निजरस अर्थात् चैतन्य के परिणमन से पूर्ण भरे हुए भाववाला है; इसलिए ही यह मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता है, इसका और मेरा कुछ भी नाता नहीं है, नहीं है। मैं तो शुद्धचैतन्य का घन अर्थात् चैतन्य के समूहरूप तेजपुञ्ज की निधि हूँ। इस प्रकार [ज्ञानी] भावकभाव से भेद करके अनुभव करता है।

इसी प्रकार गाथा में **मोह** शब्द के स्थान पर राग, द्वेष; क्रोध, मान, माया, लोभ; कर्म,

---

१. नता अर्थात् नाता

मन वचन काय श्रोत्र चक्षु घ्राण रसन स्पर्शन, ए सोलह पद न्यारे न्यारे सोलह गाथासूत्र करि व्याख्यान करनां अर इस ही उपदेश करि अन्य भी विचारनें ॥ छ॥

आगैं, ज्ञेयभाव तैं भेदज्ञान करनें का प्रकार कहै है॥ छ॥

णत्थि मम धम्म आई, बुज्झइ उवओग एव अहमिक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया विंति॥ ३७॥

नास्ति मम धर्मादयो, बुध्यते उपयोग एवाहमेकः।
तं धर्मनिर्ममत्वं, समयस्य विज्ञायका विन्दन्ति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो अैसा जाननां होय जो ए धर्म आदिक द्रव्य हैं, ते मेरा किछू भी लागते नाही हैं। मैं अैसा जानूं हूं जो एक उपयोग है सो ही मैं हूं॥ अैसैं जानने कूं धर्मद्रव्य तैं निर्ममत्वपणां समय सिद्धांत तथा अपनां पर का स्वरूपरूप समय के जाननेंवाले पुरुष हैं, ते जानै हैं, कहैं हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ ए धर्म अधर्म आकाश काल पुद्गल अन्य जीव, अैसैं सर्व ही परद्रव्य हैं, ते आत्मा विषै प्रकाशमान हैं। कैसैं। सो कहै है, अपनें निजरस करि प्रगट भया अर निवार्‌या न जाय, अैसा

नोकर्म; मन, वचन, काय; श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन - इन सोलह पदों को भिन्न-भिन्न रख कर, सोलह गाथासूत्रों द्वारा व्याख्यान करना चाहिए और इसी उपदेश से अन्य [पदों] का भी विचार करना चाहिए।

अब, ज्ञेयभाव से भेदज्ञान करने की विधि कहते हैं —

णत्थि मम धम्म आदी[१], बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं, समयस्य वियाणया बेंति॥ ३७॥

धर्मादि वे मेरे नहीं, उपयोग केवल एक हूँ।
इस ज्ञान को ज्ञायक समय के, धर्म-निर्ममता कहें॥ ३७॥

अर्थ – जब ऐसा जानना होता है कि 'ये धर्म आदि द्रव्य मेरे कुछ भी भासित नहीं होते हैं क्योंकि मैं ऐसा जानता हूँ कि 'एक उपयोग ही मैं हूँ' – तब इस प्रकार जानने को ही, समय अर्थात् सिद्धान्त और स्व-पर के स्वरूपरूप समय के ज्ञाता पुरुष, धर्मद्रव्य से निर्ममत्वपना जानते हैं, कहते हैं॥ ३७॥

टीका – धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल एवं अन्य जीव – ऐसे सर्व ही परद्रव्य आत्मा में प्रकाशमान हैं। **कैसे प्रकाशमान हैं?** – वही बताते हैं कि जो अपने निजरस से प्रगट हुई है,

---

१. *णत्थि हि मम धम्मादी* - कुन्दकुन्दभारती प्रकाशन पाठ

है फैलनां जाका अर समस्त पदार्थसमूह के ग्रसनें का है स्वभाव जाका, अैसी जो प्रचंड चिन्मात्र शक्ति, ता करि ग्रासीभूत करनें करि मानूं अत्यंत निर्मग्न होय रहे हैं, ज्ञान मैं तदाकार होय डूवि रहे हैं, अैसैं॥ तौऊ टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावपणां करि परमार्थ तैं अंतरंगतत्व सो तौ मैं हौं अर ते परद्रव्य, तिस मेरे स्वभाव तैं भिन्नपणां करि परमार्थ तैं वाह्यतत्वपणां कूं छोडनें कूं असमर्थ हैं, अपनां स्वरूप का अभाव करि ज्ञान मैं नाही आय पैठें है, इस हेतु तैं ते परद्रव्य धर्म आदिक मेरे संवंधी नाही हैं॥

इहां अैसा जानिये जो यह आत्मा चैतन्य तैं आप ही उपयुक्त हूवा संता, परमार्थ तैं अनाकुल जैसैं होय, तैसैं सर्व आकुलता सूं रहित होय करि एक आत्मा ही कूं अभ्यास करता संता है सो आत्मा करि आत्मा ही जानिये है जो मैं प्रगट निश्चय करि एक ही हौं॥ तातैं ज्ञेयज्ञायक भावमात्र तैं उपज्या जो परद्रव्यनि तैं परस्पर मिलनां, ताके होतैं भी प्रगट स्वाद मैं आवता जो स्वभाव का भेद, तिसपणां करि धर्म अधर्म आकाश काल पुद्गल अन्यजीव, तिनि प्रति मैं निर्ममत्व हौं। जातैं सदा ही काल आप विषै एकत्वपणां[१] करि प्राप्त होनें करि समय कहिये पदार्थनि की याही व्यवस्था है, अपनें स्वभाव कूं कोई छोडता नाही है॥

अैसैं अनुभव करनें तैं ज्ञेयभावनि तैं भेदज्ञान भया कहिये॥ छ॥

इहां, इस ही अर्थ का कलशरूप काव्य है॥

जिसका निवारण करना शक्य नहीं है, ऐसे विस्ताररूप है और समस्त पदार्थसमूह को ग्रासीभूत करने के स्वभावरूप है – ऐसी प्रचण्ड चिन्मात्र शक्ति द्वारा ग्रासीभूत करने पर [वे परद्रव्य] मानों अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हैं, ज्ञान में तदाकार होकर डूब रहे हैं; इस प्रकार [यद्यपि आत्मा में प्रकाशमान] हैं, तथापि टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावपने के कारण परमार्थभूत अन्तरङ्गतत्त्व तो मैं हूँ और वे परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न होने के कारण परमार्थ से बाह्यतत्त्वपने को छोड़ने में असमर्थ हैं, अपने स्वरूप का अभाव करके ज्ञान में आकर घुस नहीं गए हैं [अर्थात् प्रविष्ट नहीं हो गए हैं]; इस हेतु से वे धर्म आदि [परद्रव्य], मेरे सम्बन्धी नहीं हैं।

यहाँ ऐसा जानना चाहिए कि परमार्थ से यह आत्मा चैतन्य से स्वयं ही उपयुक्त होकर जैसे बने वैसे, अनाकुल होकर अर्थात् आकुलता से रहित होकर, एक आत्मा ही का अभ्यास करता हुआ आत्मा से आत्मा ही को जानता है कि निश्चय से मैं प्रगट **एक** ही हूँ। यद्यपि मात्र ज्ञेय-ज्ञायकभाव के कारण आत्मा का परद्रव्यों से परस्पर मिलना होता है, तथापि प्रगट अनुभव में आते हुए स्वभाव-भेद के कारण मैं धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल एवं अन्य जीव के प्रति **निर्ममत्व** हूँ क्योंकि सदाकाल ही अपने में एकत्वपना प्राप्त होने के कारण समय अर्थात् पदार्थों की यही व्यवस्था है कि कोई अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है।

इस प्रकार अनुभव करने से ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होता है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

---

१. *एकपणां* - 'ब' प्रति में पाठ

॥ मालिनी ॥

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके,
स्वयमयमुपयोगो विभ्रदात्मानमेकम्॥
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः,
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः॥ ३१॥

॥ अर्थ॥ ऐसैं पूर्वोक्त प्रकार, भावकभाव अर ज्ञेयभावनि तैं भेदज्ञान होतैं, सर्व ही जे अन्य भाव तिनितैं भिन्नता भई॥ तव यह उपयोग है सो आप ही अपनें एक आत्मा ही कूं धारता संता प्रगट भया है परमार्थ जिनिका, ऐसे जे दर्शनज्ञानचारित्र, तिनि करि करी है परिणति जानैं, ऐसा हूवा संता, अपनां आत्माराम जो आत्मारूपी वाग क्रीडावन, ताही विषैं प्रवर्तै है, अन्य जायगां न जाय है॥

॥ भावार्थ॥ सर्व परद्रव्य तथा तिनि करि भये जे भाव, तिनि तैं भेद जान्यां, तव उपयोग कूं रमने कूं अपनां आत्मा ही रह्या, अन्य ठिकाणां रह्या नाही, ऐसैं दर्शनज्ञानचारित्र तैं एकरूप भया आत्मा ही विषै रमैं है॥ ऐसा जाननां॥ छ॥

आगैं, ऐसैं दर्शनज्ञानचारित्र स्वरूप परिणया जो आत्मा, ताकै स्वरूप का संचेतन कैसा होय है, ऐसैं कहता संता आचार्य इस कथन कूं संकोचै है, समेटै है॥ छ॥

॥ हरिगीतिका ॥

बस! इस तरह सब अन्यभावों, से हुई जब भिन्नता।
तब स्वयं को उपयोग ने, स्वयमेव ही धारण किया॥
प्रगटित हुआ परमार्थ अरु, दृग-ज्ञान-वृत परिणत हुआ।
तब आतमा के बाग में, आतम रमण करने लगा॥ ३१॥

अर्थ – इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से भावकभाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर सर्व ही अन्य भावों से भिन्नता होती है; तब यह उपयोग, स्वयं ही अपने एक आत्मा ही को धारण करता हुआ, परमार्थस्वरूप प्रगट होकर, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित होता हुआ, अपने आत्माराम अर्थात् आत्मारूपी बाग या क्रीड़ावन में ही प्रवर्तता है, अन्य स्थान पर नहीं भटकता है।

भावार्थ – जब सर्व परद्रव्य तथा उनसे उत्पन्न हुए भावों से भेद जाना, तब उपयोग को रमने के लिए अपना आत्मा ही शेष रहा; अन्य कोई स्थान नहीं रहा। इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र से एकरूप होता हुआ वह आत्मा ही में रमता है – ऐसा जानना।

अब, इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप परिणमित आत्मा को स्वरूप का सञ्चेतन कैसा होता है? – यह बताते हुए आचार्य इस कथन को समेटते हैं, उपसंहार करते हैं —

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सयारूवी।
ण वि अत्थि मम किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तं पि॥ ३८॥

अहमेकः खलु शुद्धो, दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी।
नाप्यस्ति मम किञ्चिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणया आत्मा सो अैसा जानैं है जो मैं एक हौं, शुद्ध हौं, दर्शनज्ञानमयी हौं, अरूपी हौं, निश्चय करि सदा काल अैसा हौं, अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा किछू नाही है, यह निश्चय है॥ छ॥

॥ टीका॥ नाम कहिये सत्यार्थपणैं निश्चय करि अैसा है जो यह आत्मा अनादि मोहरूप अज्ञान तैं उन्मत्तपणां करि अत्यंत अप्रतिवुद्ध अज्ञानी था सो या परि अनुरागी जो गुरु ता करि निरंतर प्रतिवोध्या हूवा, कोई प्रकार वडा भाग्य तैं समझ्या, सावधान भया, तव जैसैं काहू के हाथ विषैं मूंठी मैं धर्‌या हूवा सुवर्ण था सो भूलि गया, फेरि यादि करै देषै, तिस न्याय करि अपनां परमेश्वर सर्व सामर्थ्य का धारनेंवाला आत्मा कूं भूलि रह्या था सो जाणि करि, ताका श्रद्धान करि अर ताही का आचरणरूप, तिसतैं तन्मय होय करि, भलै प्रकार आत्माराम हूवा, तव अैसा जान्यां जो मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हौं सो मेरे ही अनुभव करि प्रत्यक्ष जानूं हौं॥

अहमेक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदारूपी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमेत्तं पि॥ ३८॥

मैं एक शुद्ध सदा अरूपी, ज्ञान-दृग हूँ यथार्थ से।
कुछ अन्य वह मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे!॥ ३८॥

अर्थ – दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित आत्मा, निश्चय से ऐसा जानता है कि 'मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमयी हूँ, अरूपी हूँ और सदा काल ऐसा ही हूँ; अन्य परमाणुमात्र भी परद्रव्य, मेरा कुछ भी नहीं है' – यह निश्चय है॥ ३८॥

टीका – नाम अर्थात् सत्यार्थपने निश्चय से ऐसा है कि यह आत्मा, अनादि मोहरूप अज्ञान के कारण उत्पन्न उन्मत्तपने से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध अज्ञानी था, उसे धर्मानुरागी गुरु के द्वारा निरन्तर समझाए जाने पर, किसी प्रकार बड़े भाग्य से वह समझा, सावधान हुआ। जैसे, कोई व्यक्ति मुट्ठी में रखे हुए सोने को भूल गया हो और फिर उसे याद करके देखता है, इस न्याय से यह जीव अपने परमेश्वर अर्थात् सर्व सामर्थ्य को धारण करनेवाले आत्मा को भूला था, फिर जब उसे जान कर, उसका श्रद्धान कर और उसी में आचरणरूप तन्मय होकर भले प्रकार आत्माराम हुआ, तब ऐसा जाना कि 'मैं तो चैतन्यमात्र ज्योतिस्वरूप आत्मा हूँ, उसे मैं अपने ही अनुभव से **प्रत्यक्ष** जानता हूँ।'

जो समस्त क्रमरूप अर अक्रमरूप प्रवर्त्तते जे व्यावहारिक भाव, तिनि करि चिन्मात्र आकार करि तौ भेदरूप न भया हौं, तातैं मैं एक हौं।

वहुरि नर नारक आदि जीव के विशेष अर अजीव पुण्य पाप आश्रव संवर निर्जरा वंध मोक्ष लक्षण जे व्यावहारिक नवतत्त्व, तिनितैं टंकोत्कीर्ण जो एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव, ता करि अत्यंत जुदापणां तैं मैं शुद्ध हौं॥

वहुरि चिन्मात्रपणां तैं सामान्य विशेष जो उपयोग, ताकूं नाही उलंघनें तैं मैं दर्शनज्ञानमयी हौं॥

वहुरि स्पर्श रस गंध वर्ण हैं निमित्त जाकूं, अैसा जो संवेदन, तिसरूप परिणम्या हौं, तौऊ स्पर्श आदिरूप आप नाही परिणमनें तैं परमार्थ तैं सदा ही अरूपी हौं॥

अैसैं सर्व तैं न्यारा ऐसा स्वरूप कूं अनुभवता संता मैं प्रतापसहित हौं॥ अैसे प्रतापरूप होते कै मेरै वाह्य अनेक प्रकार स्वरूप की संपदा करि समस्त परद्रव्य स्फुरायमान है, तौऊ मोकूं परद्रव्य परमाणुमात्र भी किछू आपणें भाव करि नाही प्रतिभासै है जो मेरै भावकपणां करि तथा ज्ञेयपणां करि मोतैं एक होय करि फेरि मोह उपजावै॥ जातैं मेरे निजरस तैं ही अैसा महान ज्ञान प्रगट भया है, जानैं मोह कूं मूल तैं उपाडि करि दूरि कीया है जो फेरि जाका अंकुर नाही उपजै, अैसैं नाश कीया है॥

॥ भावार्थ॥ आत्मा अनादि तैं मोह के उदय तैं अज्ञानी था सो श्रीगुरुनि के उपदेश तैं अर अपनीं काललब्धि तैं ज्ञानी भया, अपनां स्वरूप कूं परमार्थ तैं जान्यां जो मैं एक हौं, शुद्ध हौं, अरूपी

चिन्मात्र आकारवाला होने के कारण समस्त क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तित होनेवाले व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं हुआ होने से **मैं एक हूँ**।

नर-नारक आदि जीव के विशेष एवं अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध एवं मोक्ष लक्षणवाले व्यावहारिक नवतत्त्वों और टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव की अत्यन्त भिन्नता होने से **मैं शुद्ध हूँ।**

चिन्मात्र होने के कारण सामान्य-विशेषरूप उपयोग का उल्लङ्घन नहीं होने से **मैं दर्शनज्ञानमय हूँ।**

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि के निमित्त से होनेवाले संवेदनरूप परिणमित होने पर भी, स्वयं स्पर्श आदिरूप नहीं परिणमने के कारण परमार्थ से **मैं सदा ही अरूपी हूँ।**

इस प्रकार सर्व से पृथक् अपने स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापसहित हूँ – ऐसा प्रतापवन्त होने पर भी बाह्य अनेक प्रकार की स्वरूप-सम्पदा के कारण, मुझमें समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं, फिर भी मुझको परमाणुमात्र भी परद्रव्य, अपने भावरूप प्रतिभासित नहीं होते हैं, जो भावकपने या ज्ञेयपने के कारण, मुझसे एकरूप होकर मुझमें फिर से मोह उत्पन्न करें क्योंकि मुझे मेरे निजरस से ही ऐसा महान ज्ञान प्रगट हुआ है, जिसने मोह को जड़मूल से उखाड़ कर ऐसे दूर कर दिया है कि जिसका अङ्कुर पुनः उत्पन्न नहीं होगा अर्थात् [मोह को सम्पूर्णतः] नष्ट कर दिया है।

भावार्थ – आत्मा, अनादि से ही मोह के उदय के कारण अज्ञानी था, वह श्रीगुरुओं के उपदेश एवं अपनी काललब्धि से ज्ञानी हुआ; तब अपने स्वरूप को परमार्थ से जाना कि '**मैं एक हूँ, शुद्ध**

हौं, दर्शनज्ञानमय हौं, अैसैं जाननें तैं मोह का समूल तैं नाश भया, भावकभाव अर ज्ञेयभाव तिनि तैं भेदज्ञान भया, अपनां स्वरूप संपदा अनुभव मैं आया, अव फेरि काहे कूं मोह उपजैगा, नाही उपजेगा॥ छ॥

अव, अैसा आत्मा का अनुभव भया, ताका आचार्य महिमा कहि प्रेरणांरूप काव्य कहै है जो अैसे ज्ञानस्वरूप आत्मा मैं समस्त लोक मग्न होऊ॥

॥ वसन्ततिलका॥

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका,
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण,
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः॥ ३२॥

॥ अर्थ॥ यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा है सो विभ्रमरूप आडी चादरि थी, ताकूं समूल तैं डवोय करि, दूरि करि, आप सर्वांग प्रगट भया है सो अव समस्त लोक है, ते याके शांतरस विषै एकैं काल ही अतिशय करि मग्न होहुं। कैसा है शांतरस। समस्त लोक तांई उझल्या है॥

॥ भावार्थ॥ जैसैं समुद्र कै आडा किछू आवै, तव जल दीषै नाही, अर जव आड दूरि होय, तव प्रगट होय, तव लोक कूं प्रेरणां योग्य होय जो या जल विषै सर्व लोक स्नान करो, तैसैं यह आत्मा

हूँ, अरूपी हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ' – ऐसा जानने से मोह का जड़मूल से नाश हुआ, भावकभाव और ज्ञेयभाव से भेदज्ञान हुआ, अपनी स्वरूप-सम्पदा अनुभव में आई, **अब फिर मोह क्यों उत्पन्न होगा?** अर्थात् नहीं उत्पन्न होगा।

अब, ऐसे [पूर्वोक्त प्रकार से] आत्मा का अनुभव हुआ, उसकी महिमा बता कर, आचार्य प्रेरणारूप काव्य कहते हैं कि ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा में समस्त लोक मग्न हो जाओ —

॥ हरिगीतिका॥

सुख - शान्तरस से लबालब, यह ज्ञानसागर आतमा।
विभरम की चादर हटा, सर्वाङ्ग प्रगट है आतमा॥
हे भव्यजन! इस लोक के, सब एक साथ नहाइए।
अरु इसे ही अपनाइए, इसमें मगन हो जाइए॥ ३२॥

अर्थ – यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा, विभ्रमरूपी आड़ी चादर को मूलसहित डुबो कर अर्थात् दूर करके, स्वयं सर्वाङ्ग से प्रगट हुआ है। अब, समस्त लोक, इसके शान्तरस में एक साथ ही अतिशयपूर्वक मग्न हों। **कैसा है शान्तरस?** – समस्त लोकपर्यन्त वृद्धिङ्गत हुआ है।

भावार्थ – जैसे, समुद्र के आड़े कुछ आ जाए तो जल दिखाई नहीं देता और जब आड़ दूर

विभ्रम करि आच्छादित था, तव याका रूप न दीषै था, अव विभ्रम दूरि भया, तव यथास्वरूप प्रगट भया, अव याके वीतरागविज्ञानरूप शांतरस विषैं एक काल सर्व लोक मग्न होहु॥ अैसैं आचार्य प्रेरणां करी है॥ अथवा, अैसा भी अर्थ है जो आत्मा का अज्ञान दूरि होय, तव केवलज्ञान प्रगट होय है, तव समस्त लोक मैं तिष्ठते पदार्थ, एकैं काल ज्ञान विषै आय झलकैं हैं॥ ताकूं सर्व लोक देषहु॥ छ॥

अैसैं इस समयप्राभृत ग्रंथ विषै पहला जीवाजीवाधिकार विषै टीकाकार पूर्वरंग स्थल कह्या॥

इहां टीकाकार का आशय जैसा जो इस ग्रंथ कूं अलंकार करि नाटकरूप वर्णन कीया है सो नाटक विषै पहलैं रंगभूमि अखाडा रचिये है। तहां देषनेंवाला नायक तथा सभा होय है अर नृत्य करनेंवाला होय हैं, ते अनेक स्वांग धारैं हैं तथा शृंगारादिक आठ रस का रूप दिषावैं हैं।

तहां शृंगार हास्य रौद्र करुणा वीर भयानक वीभत्स अद्भुत, ए आठ रस हैं, ते लौकिक रस हैं, नाटक मैं इनि ही का अधिकार है। नवमां शांतरस है सो अलौकिक है सो नृत्य मैं ताका अधिकार नाही है॥

इनि रसनि के स्थायीभाव सात्विकभाव अनुभाव विभाव व्यभिचारीभाव तथा इनिकी दृष्टि आदि

होती है, तब वह प्रगट होता है, तब मानो लोक को प्रेरित करता है कि इस जल में सर्व लोक स्नान करो; उसी प्रकार यह आत्मा, विभ्रम से आच्छादित था, तब इसका रूप दिखाई नहीं देता था; जब विभ्रम दूर हुआ, तब आत्मा का यथार्थस्वरूप प्रगट हुआ; अत: अब इसके वीतराग-विज्ञानरूप शान्तरस में एक साथ सर्व लोक मग्न होवें – ऐसी प्रेरणा आचार्य करते हैं। **अथवा** [इस श्लोक का] ऐसा भी अर्थ है कि आत्मा का अज्ञान दूर होने पर जब केवलज्ञान प्रगट होता है, तब समस्त लोक में स्थित पदार्थ, एक काल में (युगपत्) ज्ञान में आकर झलकते हैं, उसे सम्पूर्ण लोक देखो।

इस प्रकार इस समयप्राभृत ग्रन्थ में टीकाकार ने प्रथम जीवाजीवाधिकार के अन्तर्गत पूर्वरङ्ग-स्थल कहा है।

यहाँ टीकाकार का ऐसा आशय है कि इस ग्रन्थ को रूपक अलङ्कार के माध्यम से नाटकरूप में प्रस्तुत किया गया है। जैसे, नाटक में पहले रङ्गभूमि का मण्डप बनाया जाता है, जिसमें देखनेवाले दर्शक, नायक और सभा होती है; वहाँ नृत्य करनेवाले नर्तक अनेक स्वाङ्ग धारण करते हैं और शृङ्गार आदि आठ रसों का रूप (नाट्यरूप) दिखाते हैं।

शृङ्गार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत – ये आठ रस हैं, ये तो लौकिक रस हैं, नाटक में इन्हीं का प्रयोग होता है। नौवाँ **शान्तरस अलौकिक** है, उसका नाटक में प्रयोग नहीं होता।

इन रसों के स्थायी भाव, सात्त्विक भाव, अनुभाव, विभाव, व्यभिचारी भाव और इनकी दृष्टियों का वर्णन रसग्रन्थों में होता है, वहाँ से जानना चाहिए।

का वर्णन रसग्रंथनि मैं है सो तौ तहां तैं जान्यां जाय।

अर सामान्यपणैं रस का यह स्वरूप है जो ज्ञान मैं जो ज्ञेय आया, तिसतैं ज्ञान तदाकार भया, तामैं पुरुष का भाव लीन होय जाय, अन्य ज्ञेय की इच्छा न रहै सो रस है। सो आठ रस का रूप नृत्य मैं नृत्य करनेंवाले दिषावैं हैं अर इनिका कवीश्वर वर्णन करै, जव अन्यरस कूं अन्यरस कै समान करि भी वर्णन करै, तव अन्यरस का अन्यरस अंगभूत होने तैं तथा रसनि कै भाव, अन्य भाव अंग होनें तैं रसवत् आदि अलंकार कहिये।

सो इहां शांतरसरूप वर्णन है, तामैं नृत्य का अधिकार नाही है, तौऊ अलंकार करि नृत्य का रूप करि वर्णन कीया है।

तहां प्रथम ही रंगभूमि थल कीया, तहां देषनेंवाला तौ सम्यग्दृष्टी पुरुष है तथा अन्य मिथ्यादृष्टी पुरुष हैं तिनिकी सभा है, तिनिकूं दिषावै है॥ अर नृत्य करनेंवाले जीव अजीव पदार्थ हैं॥ अर दौऊ का एकपणां तथा कर्त्ताकर्मपणां आदि तिनिके स्वांग हैं, तिनिमैं परस्पर अनेकरूप होय हैं, ते आठ रसरूप होय परिणमैं हैं सो नृत्य है।

तहां सम्यग्दृष्टी देषनेंवाला जीव अजीव का भिन्नस्वरूप कूं जाणै है सो तौ इनि सर्व स्वांगनि कूं कर्मकृत जाणि शांतरस ही मैं मग्न है अर मिथ्यादृष्टी जीवाजीव का भेद न जाणैं हैं, यातैं इनि स्वांगनि ही कूं सांचे जाणि, इनि विषै लीन होय हैं, तिनिकूं सम्यग्दृष्टी यथार्थ दिषाय तिनिका भ्रम मेटि शांतरस मैं तिनिकूं लीन करि सम्यग्दृष्टी करै है, ताकी सूचनांरूप रंगभूमि कैं अंत आचार्य नैं

सामान्यरूप से रस का यह स्वरूप है कि ज्ञान में जो ज्ञेय आया, उससे ज्ञान के तदाकार हो जाने से, उस ज्ञेय में पुरुष के भाव ऐसे लीन हो जाएँ कि अन्य ज्ञेय की इच्छा न रहे, उसका नाम **रस** है। उन आठ रसों का रूप तो नाटक में नृत्य करनेवाले दिखाते हैं और इनका वर्णन करते समय कविगण एक रस को दूसरे के समान बता कर भी वर्णन करते हैं। एक रस का दूसरा रस या एक भाव का दूसरा भाव अङ्गभूत होने से रसवत् आदि अलङ्कार कहे जाते हैं।

यद्यपि यहाँ शान्तरसरूप वर्णन है, उसमें नृत्य का अधिकार या प्रयोग नहीं है, फिर भी रूपक अलङ्कार के माध्यम से नृत्य के रूप में वर्णन किया गया है।

यहाँ (ग्रन्थ में) पहले **रङ्गभूमि-स्थल** प्रस्तुत किया है, इसमें देखनेवाले दर्शक तो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषों की सभा है, जिन्हें नाटक दिखाते हैं; नृत्य करनेवाले जीव और अजीवपदार्थ हैं, इन दोनों का एकपना, कर्ताकर्मपना आदि इनके **स्वाँग** हैं, उनके परस्पर अनेकरूप होते हैं। [जीव-अजीव आदि पदार्थ] आठ रसरूप होकर परिणमित होते हैं, वह **नृत्य** है।

यहाँ देखनेवाले सम्यग्दृष्टि दर्शक तो जीव और अजीव के भिन्नस्वरूप को जानते हैं, वे तो इन सारे स्वाँगों को कर्मकृत जान कर, शान्तरस में ही मग्न होते हैं और मिथ्यादृष्टि, जीव-अजीव का भेद नहीं जानते, वे इन स्वाँगों को सत्य जान कर इनमें लीन होते हैं; जिन्हें सम्यग्दृष्टि, यथार्थता का ज्ञान करा कर, उनका भ्रम मिटा कर, उन्हें शान्तरस में लीन करके सम्यग्दृष्टि बनाते हैं।

मज्जंतु निर्भर इत्यादि यह काव्य रच्या है सो आगैं जीव अजीव का स्वांग वर्णन करिसी, ताकी सूचनारूप यह काव्य है॥ अैसा आशय सूचै है॥

॥ दोहा ॥

नृत्य कुतूहल तत्त्व को, मरि पचि देषो धाय।
निजानंद रस मैं छिको[१], आन सवैं छिटकाय॥

सो इहां तांई तौ रंगभूमि का वर्णन भया॥ छ॥[२]

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

इसी की सूचनारूप आचार्य ने रङ्गभूमि के अन्त में '**मज्जन्तु निर्भरममी...**' इत्यादि काव्य रचा है, वे आगे जीव-अजीव के स्वाँगों का वर्णन करेंगे, इसकी सूचनारूप भी यह काव्य है – ऐसा आशय सूचित होता है।

॥ दोहा॥

नृत्य कुतूहल तत्त्व का, मर-पच देखो धाय।
निजानन्द रस में छको, अन्य सर्व छिटकाय॥

[**अर्थ** – हे भव्यजीवों! आत्मतत्त्व के नृत्य को विशेष जिज्ञासाभाव से देखो। तथा अन्य सर्व परद्रव्यों के प्रति राग-द्वेषादि भावों को छोड़ कर आत्मा के आनन्दरस में डूब जाओ, समा जाओ, उससे ओतप्रोत हो जाओ।]

इस प्रकार यहाँ तक तो रङ्गभूमि का वर्णन हुआ।

[इस प्रकार आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेवप्रणीत श्री समयसार ग्रन्थ की आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेवविरचित श्री आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका की पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ाकृत श्री समयसार वचनिका में पहले 'जीव-अजीव अधिकार में पूर्वरङ्ग या रङ्गभूमि स्थल' पूर्ण होता है।]

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

---

१. *छको* - 'ब' प्रति पाठ

२. 'अ' 'ब' प्रतियों में यह पंक्ति दोहे के पहले आई है।

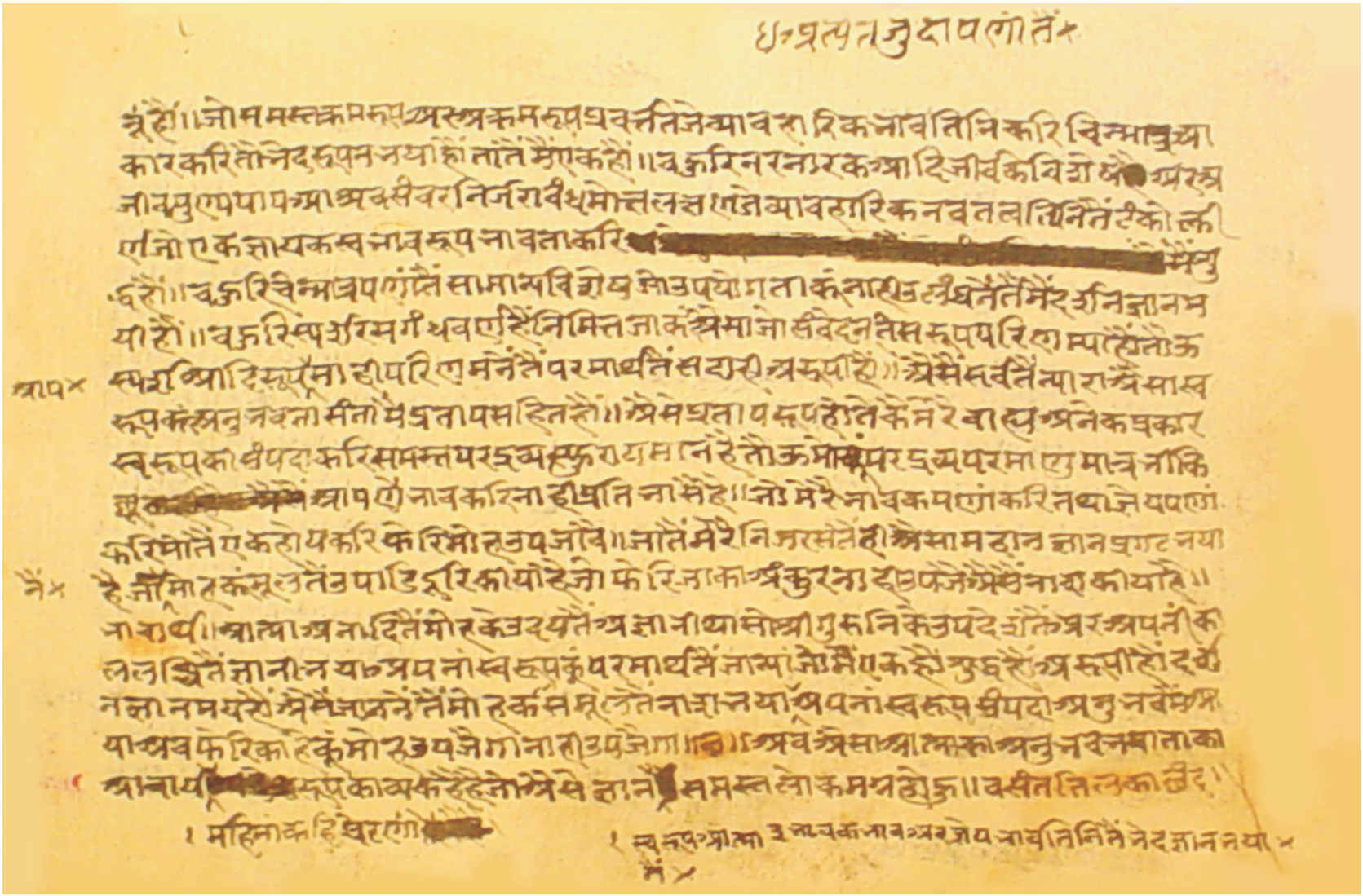

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ४१ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर नीचे से पाँचवीं पंक्ति से जीव-अजीव अधिकार (पूर्वरङ्ग) की अन्तिम गाथा ३८ का भावार्थ, प्रारम्भ हुआ है। इसमें ऊपर से तीसरी पंक्ति में कहा है – '**एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव, ताकरि मैं शुद्ध हौं।**'

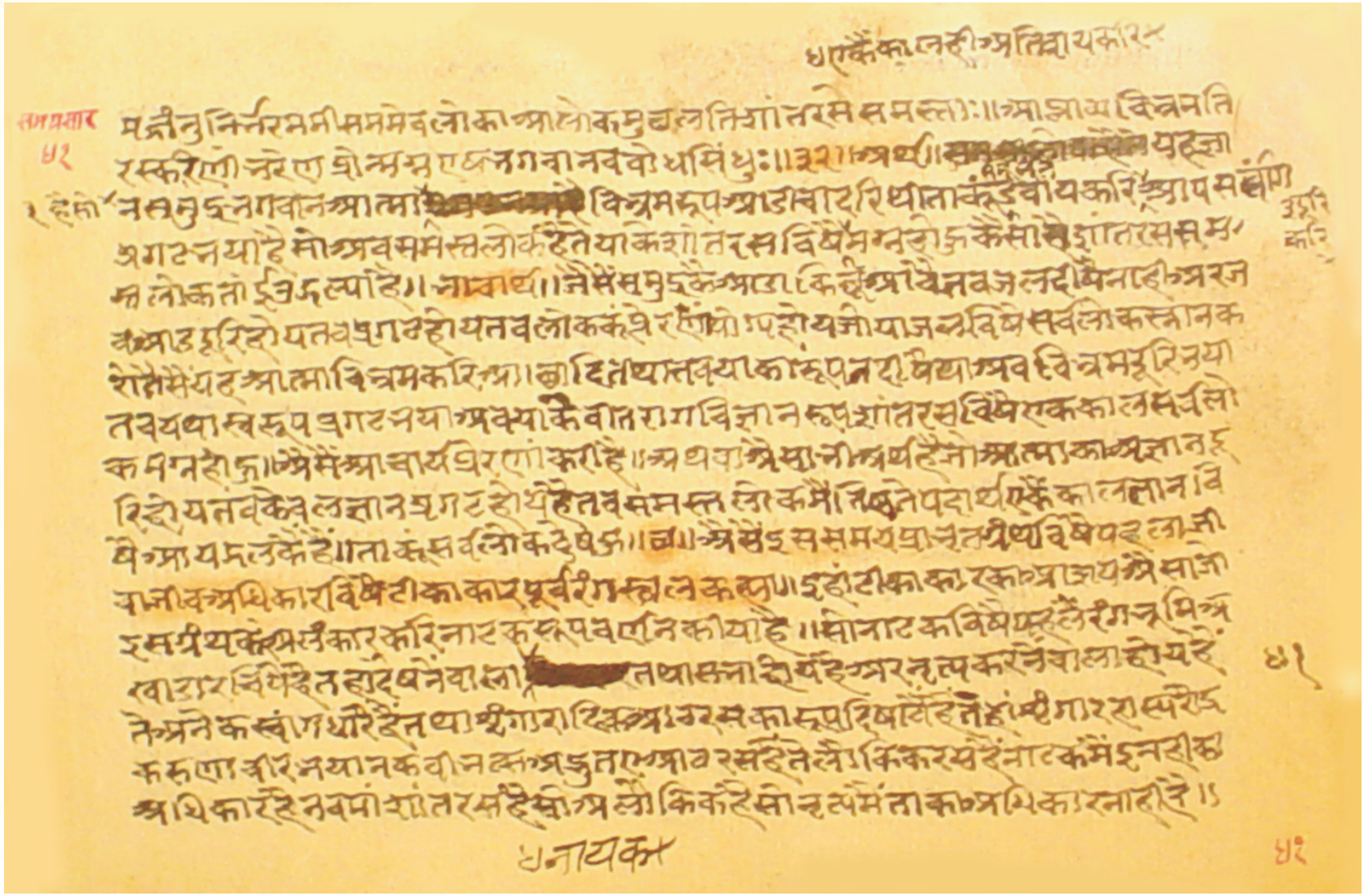

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ४१ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर ऊपर से ही **'मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका, आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः। आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण, प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः॥'** – यह पूर्वरङ्ग का अन्तिम कलश ३२ है।

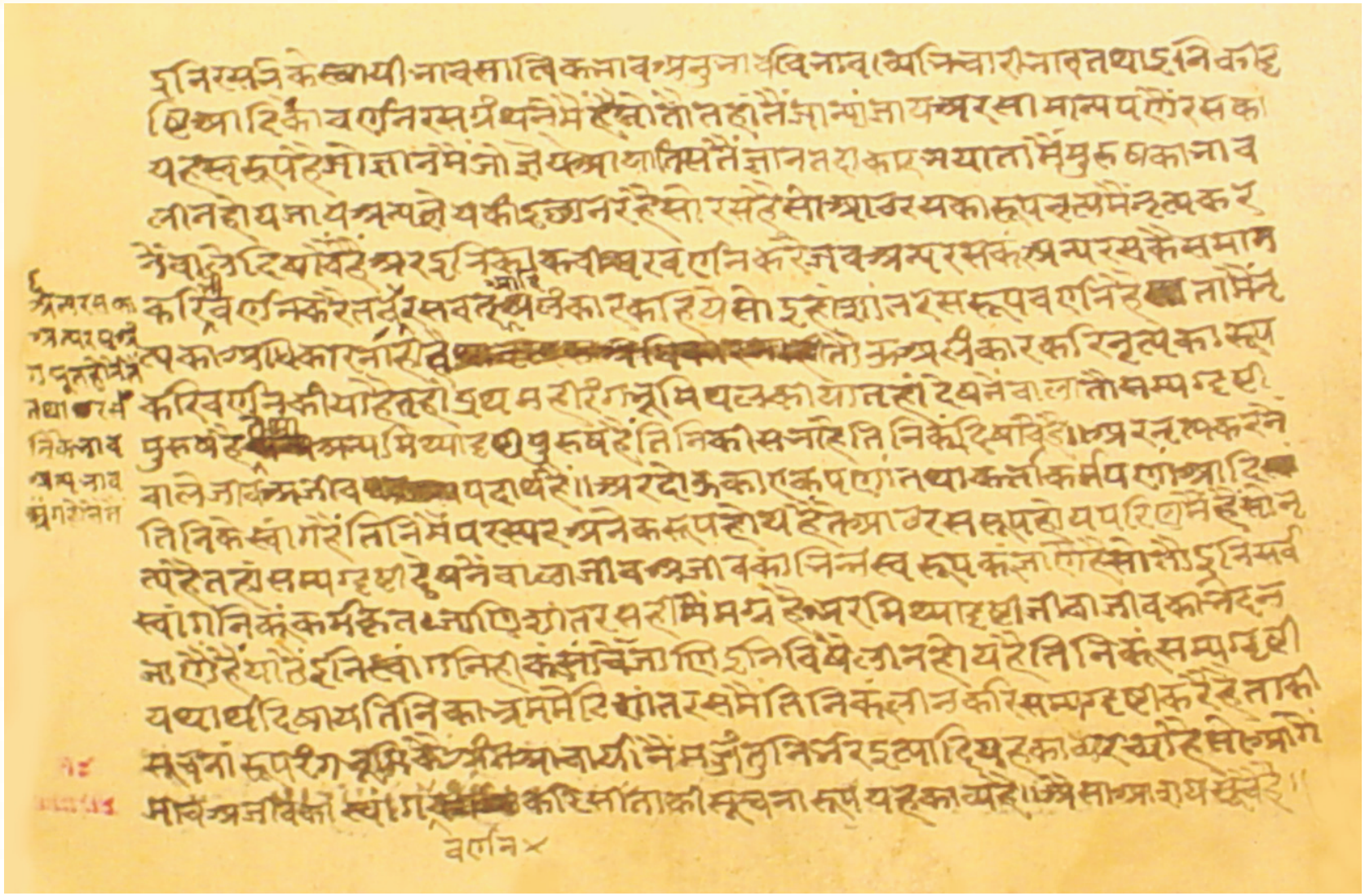

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ४२ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर जीव-अजीव अधिकार के पूर्वरङ्ग या रङ्गभूमि स्थल का अन्तिम भाग वर्णित है। इसमें नीचे से छठी पंक्ति में लिखा है – **'तहाँ सम्यग्दृष्टी देषनेंवाला, जीव अजीव का भिन्नस्वरूप कूं जाणै है।'**

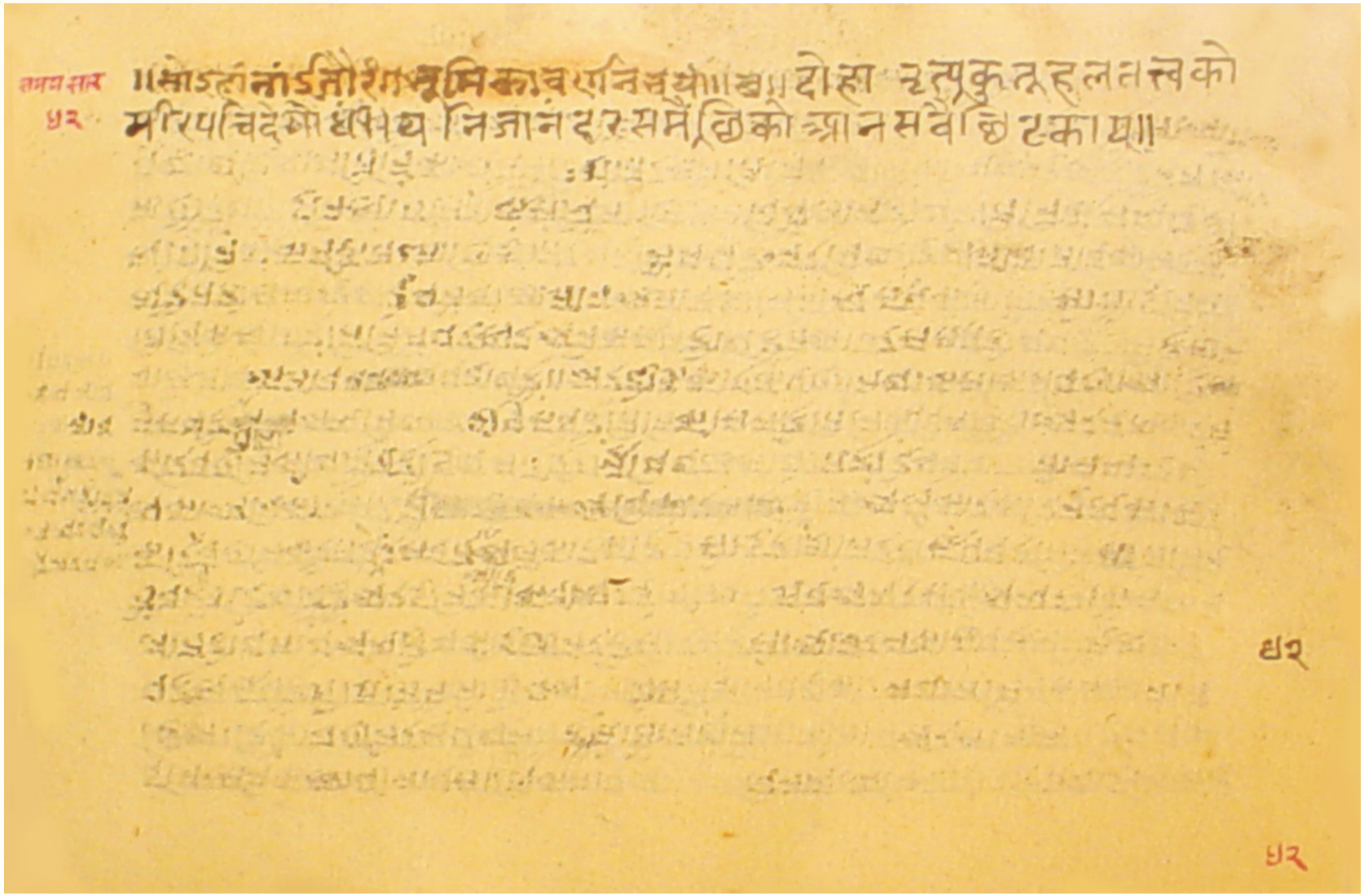

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ४२ का पिछला भाग है। यहाँ पर जीव-अजीव अधिकार का पूर्वरङ्ग या रङ्गभूमि स्थल पूर्ण होता है। इसमें पण्डित जयचन्दजी ने पूर्वरङ्ग स्थल की पूर्णतासूचक 'दोहा' लिखा है – '**नृत्यु कुतूहल तत्त्व को, मरि पचि देषो धाय। निजानंद रस मैं छिको, आन सवै छिटकाय॥**'

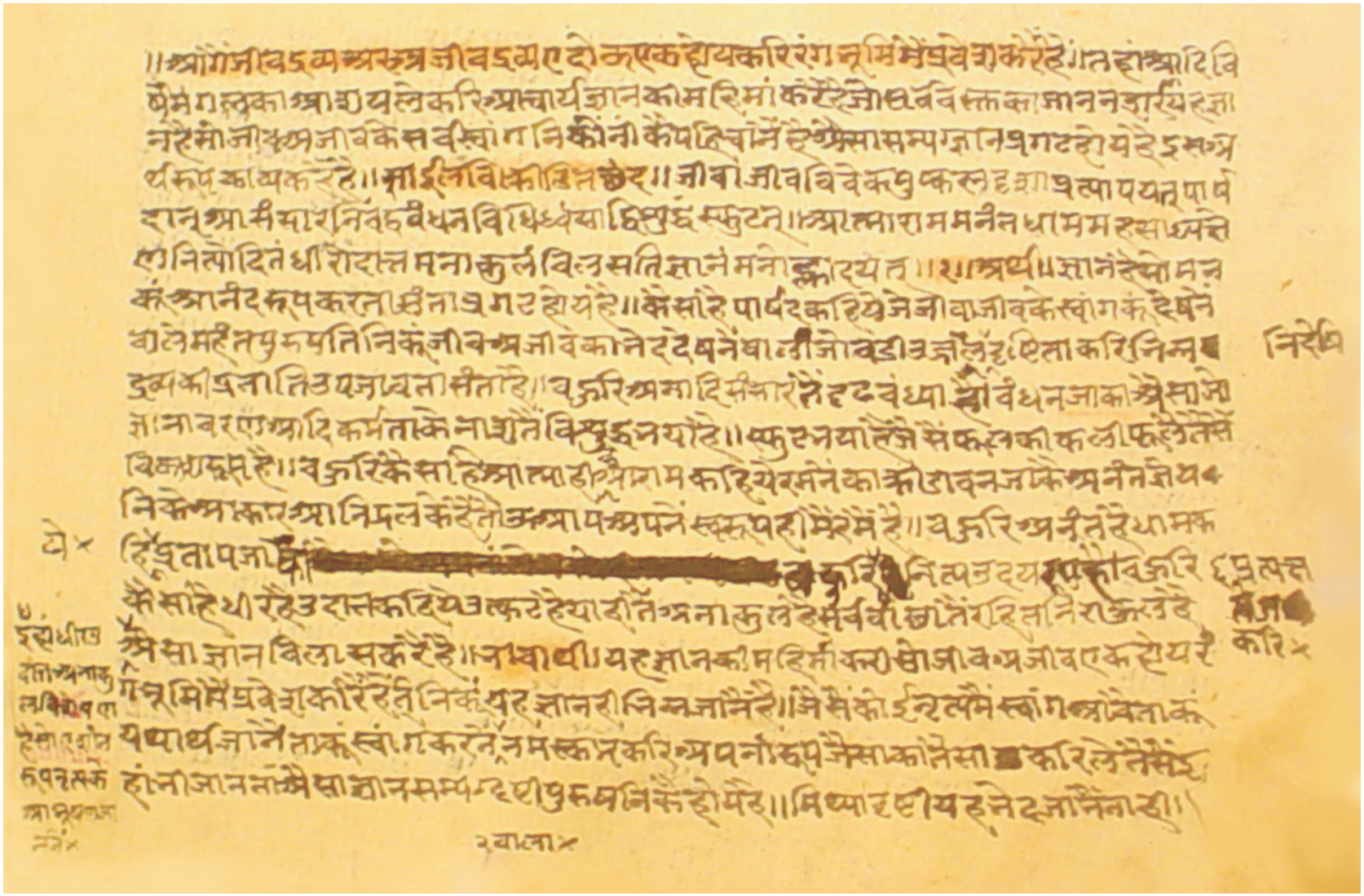

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ४३ का अगला भाग है। यहाँ से जीव-अजीव अधिकार का उत्तरार्द्ध प्रारम्भ होता है। वचनिका के प्रत्येक अधिकार में कलश एवं गाथाओं का नया क्रम शुरू किया है, परन्तु यहाँ उत्तरार्द्ध में मात्र कलशों का नया क्रम शुरू

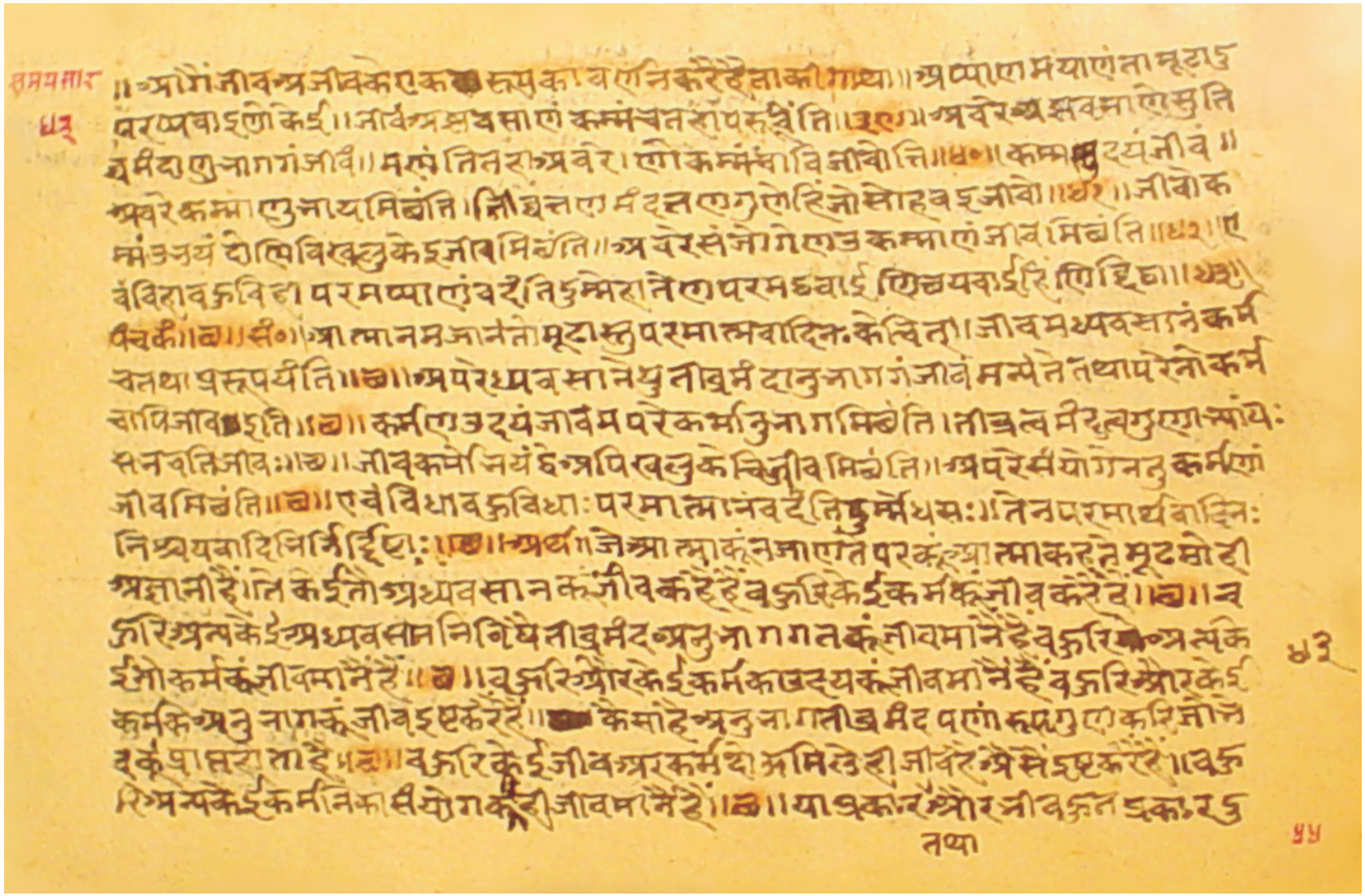

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ४३ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर ऊपर से ही गाथा ३९-४३ तक पाँच गाथाओं का उल्लेख हुआ है। सम्पूर्ण वचनिका में जहाँ एक से अधिक गाथाएँ एक साथ आई हैं; वहाँ युग्मं या युगलं, त्रिकलं, चतुष्कं, पंचकं आदि सङ्केतों से सूचित किया गया है।

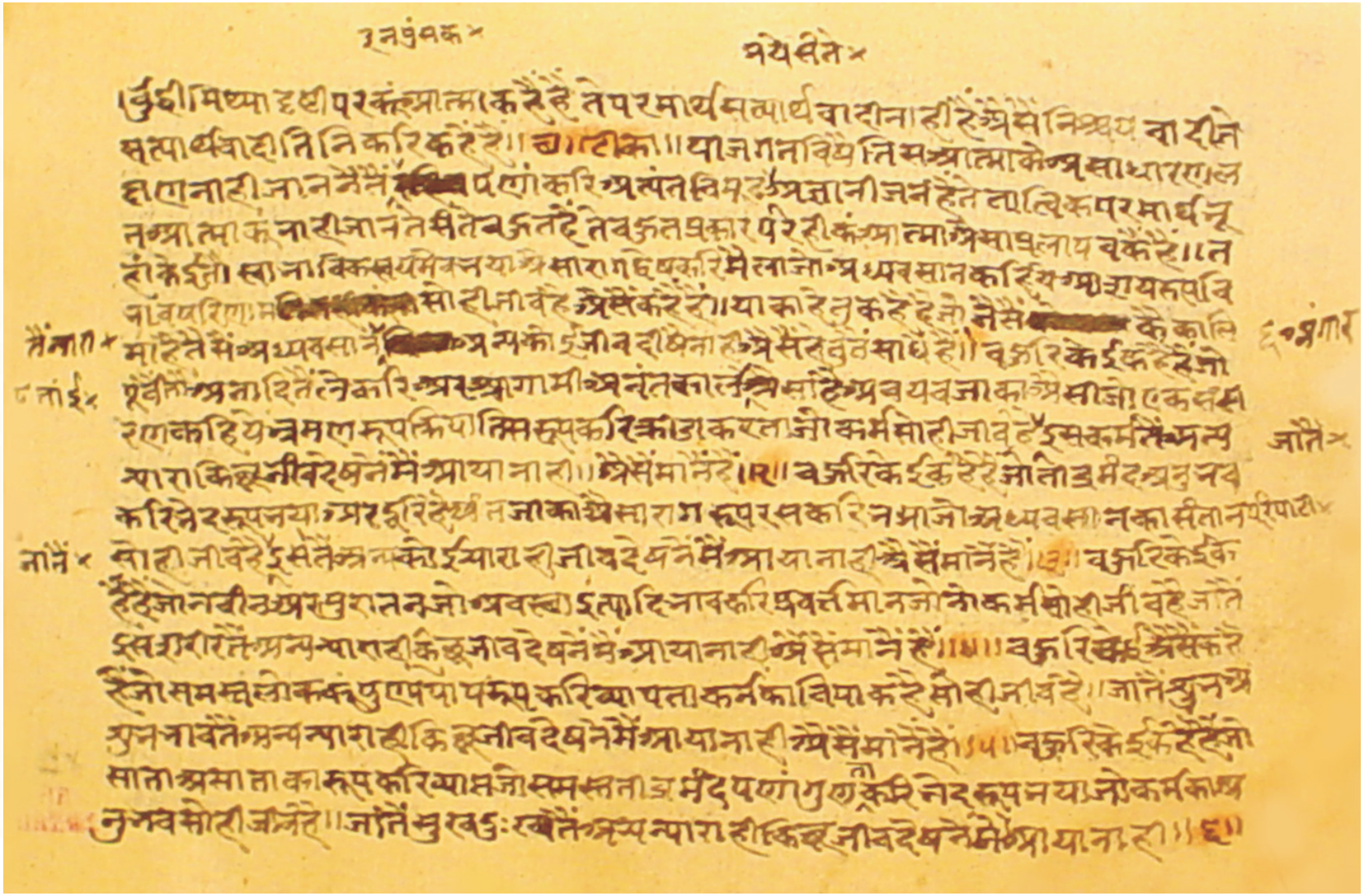

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ४४ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर गाथा ३९ से ४३ की टीका एवं उसके ८ बोलों का वर्णन आया है। इसमें प्रथम पंक्ति में ही कहा है – **'मिथ्यादृष्टी पर कूं आत्मा कहैं हैं, ते परमार्थ सत्यार्थवादी नाही हैं।'**

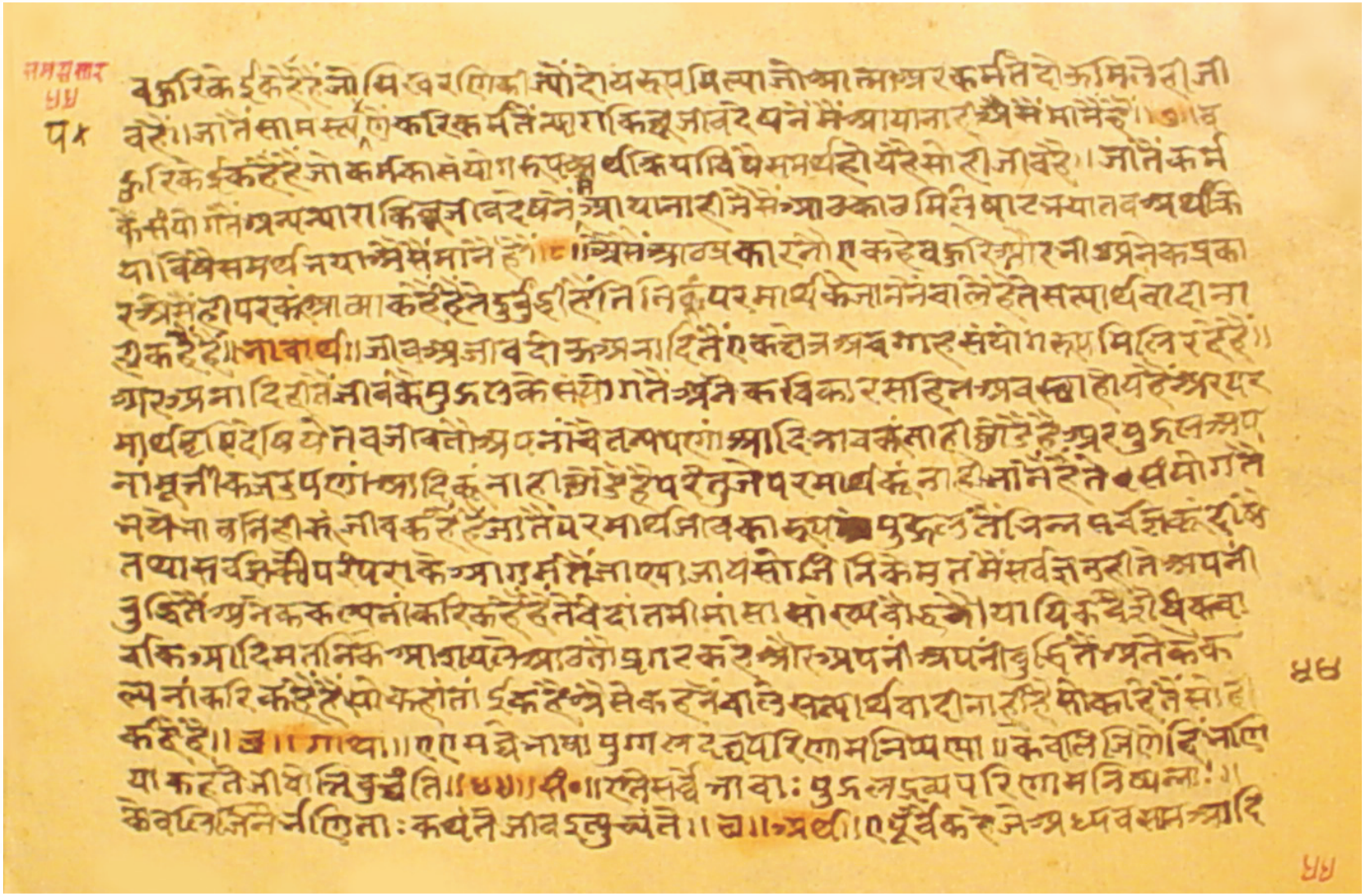

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ४४ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर नीचे से आठवीं पंक्ति में लिखा है – **'परमार्थजीव का रूप पुद्गल तैं भिन्न सर्वज्ञ कूं दीषै तथा सर्वज्ञ की परंपरा के आगम तैं जाण्या जाय सो जिनिके मत मैं सर्वज्ञ नहीं, ते अपनीं बुद्धि तैं अनेक कल्पना करि कहैं हैं।'**

॥ जीव-अजीव अधिकार ॥

(उत्तरार्द्ध[१])

आगैं जीवद्रव्य अर अजीवद्रव्य, ए दोऊ एक होय करि रंगभूमि मैं प्रवेश करैं हैं॥

तहां आदि विषै मंगल का आशय लेकरि आचार्य, ज्ञान की महिमां करै हैं जो सर्व वस्तु का जाननहारा यह ज्ञान है सो जीव अजीव के सर्व स्वांगनि कों नींकै पहिचानैं है, अैसा सम्यग्ज्ञान प्रगट होय है, इस अर्थरूप काव्य कहै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा, प्रत्याययत्पार्षदान्,
आसंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत्।
आत्माराममनन्तधाममहसाऽध्यक्षेण नित्योदितं,
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति, ज्ञानं मनो ह्लादयत्॥ १ ॥

॥ अर्थ॥ ज्ञान है सो मन कूं आनन्दरूप करता संता प्रगट होय है॥

यहाँ जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य – ये दोनों एक होकर रङ्गभूमि में प्रवेश करते हैं।

वहाँ सर्व प्रथम मङ्गलाचरण के उद्देश्य से आचार्य, ज्ञान की महिमा करते हुए कहते हैं कि यह ज्ञान, सर्व वस्तुओं को जाननेवाला है, जीव और अजीव के सर्व स्वाङ्गों को भली प्रकार पहचानता है – ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रगट है, इस अर्थ का सूचक काव्य कहते हैं —

॥ सवैया इकतीसा॥

जीव और अजीव के, विवेक से है पुष्ट जो;
ऐसी दृष्टि द्वारा इस, नाटक को देखता।
अन्य जो सभासद हैं, उन्हें भी दिखाता और;
दुष्ट अष्ट कर्म के, बन्धन को तोड़ता॥

---

१. 'रङ्गभूमि' से 'जीव-अजीव अधिकार' के 'उत्तरार्द्ध' को अलग बताने के उद्देश्य से वचनिकाकार ने यह प्रकरण नये पृष्ठ से प्रारम्भ किया है। यद्यपि यहाँ कलशों के क्रमाङ्क १ से प्रारम्भ किये गये हैं, तथापि गाथाओं के क्रमाङ्क १ से प्रारम्भ नहीं किये गये हैं। अन्यत्र अध्याय परिवर्तन होने पर गाथाओं एवं कलशों, दोनों को क्रमाङ्क १ से ही प्रारम्भ किया गया है।

कैसा है। पार्षद कहिये जे जीवाजीव के स्वांग कूं देषनेंवाले महंत पुरुष, तिनिकूं जीव अजीव का भेद देषनेंवाली जो वडी उज्जल निर्दोष दृष्टि, ता करि भिन्न द्रव्य की प्रतीति उपजावता संता है॥ वहुरि अनादि संसार तैं दृढ वंध्या है वंधन जाका, अैसा जो ज्ञानावरण आदि कर्म, ताके नाश तैं विशुद्ध भया है॥ स्फुट भया है॥ जैसैं फूल की कली फूलै, तैसैं विकाशरूप है।

वहुरि कैसा है। आत्मा ही है आराम कहिये रमनें का क्रीडावन जाकै, अनंत ज्ञेयनि के आकार आनि झलके हैं, तौऊ आप अपनें स्वरूप ही मैं रमैं है॥ वहुरि अनंत है धाम कहिये प्रताप जाका, वहुरि प्रत्यक्ष तेज करि नित्य उदयरूप है।

वहुरि कैसा है। धीर है, उदात्त कहिये उत्कट है, याही तैं अनाकुल है सर्व वांछा तैं रहित निराकुल है। इहां धीर उदात्त अनाकुल विशेषण है सो ए शांतरूप नृत्य के आभूषण जाननें, अैसा ज्ञान विलास करै है॥

॥ भावार्थ॥ यह ज्ञान की महिमा करी सो जीव अजीव एक होय रंगभूमि मैं प्रवेश करैं हैं, तिनिकूं यह ज्ञान ही भिन्न जानैं है॥

जैसैं कोई नृत्य में स्वांग आवै, ताकूं यथार्थ जानैं, ताकूं स्वांग करनेंवाला नमस्कार करि, अपनां

जाने लोकालोक को पै, निज में मगन रहे;
विकसित शुद्ध नित्य, निज अवलोकता।
ऐसो ज्ञानवीर धीर, मङ्ग भरे मन में;
स्वयं ही उदात्त और, अनाकुल सुशोभता॥ ३३॥

अर्थ – ज्ञान, मन को आनन्दित करता हुआ प्रगट होता है।

कैसा है वह? – पार्षद अर्थात् जीव और अजीव के स्वाँगों को देखनेवाले महापुरुषों को जीव और अजीव का भेद देखनेवाली अत्यन्त उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि द्वारा भिन्न द्रव्य की प्रतीति उत्पन्न कराता है। अनादि संसार से जिन ज्ञानावरण आदि कर्मों का दृढ़ बन्धन बँधा हुआ है, उनके नाश से यह ज्ञान विशुद्ध हुआ है, प्रस्फुटित हुआ है; जैसे, फूल की कली खिलती है, वैसे विकसित हुआ है।

और कैसा है? – जिसके आराम करने अर्थात् रमने का क्रीड़ावन आत्मा ही है; जिसमें अनन्त ज्ञेयों के आकार झलकते हैं, फिर भी जो अपने स्वरूप में ही रमता है। जिसका धाम अर्थात् प्रताप अनन्त है और जो प्रत्यक्ष तेज से नित्य उदयरूप है।

और कैसा है? – धीर है, उदात्त अर्थात् उत्कृष्ट है, इसीलिए अनाकुल है अर्थात् सर्व इच्छाओं से रहित निराकुल है। यहाँ प्रयुक्त धीर, उदात्त, अनाकुल विशेषणों को शान्तरसरूप नृत्य के आभूषण जानना चाहिए – ऐसा ज्ञान विलास करता है।

भावार्थ – यहाँ ज्ञान की महिमा बताई है कि जब जीव और अजीव, एक होकर रङ्गभूमि में प्रवेश करते हैं, तब उनको यह ज्ञान ही भिन्न जानता है।

रूप जैसा का तैसा करि ले, तैसैं इहां भी जाननां। अैसा ज्ञान सम्यग्दृष्टी पुरुषनि कै होय है॥ मिथ्यादृष्टी यह भेद जानैं नाही।

आगैं, जीव अजीव के एकरूप का वर्णन करै हैं, ताकी गाथा॥

अप्पाणमयाणंता, मूढा हु परप्पवाइणो केई।
जीवं अज्झवसाणं, कम्मं च तहा परूविंति॥ ३९॥
अवरे अज्झवसाणेसु, तिव्वमंदाणुभागगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे, णोकम्मं चावि जीवो त्ति॥ ४०॥
कम्मस्सुदयं जीवं, अवरे कम्माणुभायमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवइ जीवो॥ ४१॥
जीवो कम्मं उभयं, दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु, कम्माणं जीवमिच्छंति॥ ४२॥

जैसे, कोई नृत्य में स्वाँग बनाकर आता है, उसको जो यथार्थ जान लेता है, उसे वह स्वाँग बनानेवाला नमस्कार करके, अपने वास्तविक रूप में आ जाता है, यहाँ भी ऐसा ही जानना चाहिए। ऐसा ज्ञान, सम्यग्दृष्टि पुरुषों को होता है; मिथ्यादृष्टि, यह भेद नहीं जानते।

अब, जीव-अजीव की एकरूपता का वर्णन, गाथाओं के माध्यम से करते हैं —

अप्पाणमयाणंता, मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं, कम्मं च तहा परूवेंति॥ ३९॥
अवरे अज्झवसाणेसु, तिव्वमंदाणुभावगं[1] जीवं।
मण्णंति तहा अवरे, णोकम्मं चावि जीवो त्ति॥ ४०॥
कम्मस्सुदयं जीवं, अवरे कम्माणुभागमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो॥ ४१॥
जीवो कम्मं उहयं, दोण्णि वि खलु केवि[2] जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु, कम्माणं जीवमिच्छंति॥ ४२॥

१-२. *भावगं / केवि* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्दभारती प्रकाशन पाठ

एवंविहा बहुविहा, परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवाई, णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा॥ ४३॥

॥ पंचकं॥ छ॥

आत्मानमजानन्तो, मूढास्तु परात्मवादिनः केचित्।
जीवमध्यवसानं, कर्म च तथा प्ररूपयन्ति॥ छ॥
अपरेऽध्यवसानेषु, तीव्रमन्दाऽनुभागगं जीवं।
मन्यन्ते तथाऽपरे, नोकर्म चाऽपि जीव इति॥ छ॥
कर्मण उदयं जीवमपरे कर्माऽनुभागमिच्छन्ति।
तीव्रत्वमन्दत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः॥ छ॥
जीवकर्मोभयं, द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छन्ति।
अपरे संयोगेन तु, कर्मणां जीवमिच्छन्ति॥ छ॥
एवंविधा बहुविधाः, परमात्मानं वदन्ति दुर्मेधसः।
ते न परमार्थवादिनः, निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः॥ छ॥

एवंविहा बहुविहा, परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवादी[1], णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा॥ ४३॥

कोइ मूढ़ आत्म-अजान जो, पर-आत्मवादी जीव है।
'है कर्म, अध्यवसान ही जीव', यों ही वह कथनी करे॥ ३९॥
अरु कोइ अध्यवसान में, अनुभाग तीक्षण-मन्द जो।
उसको ही माने आत्मा, अरु अन्य कोइ नोकर्म को॥ ४०॥
कोइ अन्य माने आत्मा बस, कर्म के ही उदय को।
कोइ तीव्र-मन्द गुणों सहित, कर्मों ही के अनुभाग को॥ ४१॥
कोइ कर्म-आत्मा उभय मिल कर, जीव की आशा धरें।
कोइ कर्म के संयोग से, अभिलाष आत्मा की करें॥ ४२॥
दुर्बुद्धि यों ही और बहुविध, आतमा पर को कहें।
वे सर्व नहिं परमार्थवादी, यही निश्चयविद् कहें॥ ४३॥

---

१. **'तेण दु परप्पवादी'** – तात्पर्यवृत्ति पाठ। (अर्थात् इस कारण देह-रागादिक परद्रव्य को आत्मा कहनेवाले परात्मवादी हैं।)

॥ अर्थ ॥ जे आत्मा कूं न जाणते, पर कूं आत्मा कहते मूढ मोही अज्ञानी हैं॥ ते केई तौ अध्यवसायनि कूं जीव कहै हें। वहुरि केई कर्म कूं जीव कहै हैं॥ छ॥

वहुरि अन्य केई अध्यवसाननि विषै तीव्र मंद अनुभागगत कूं जीव मानै हैं। वहुरि अन्य केई नोकर्म कूं जीव मानैं हैं॥ छ॥

वहुरि और केई कर्म का उदय कूं जीव मानैं हैं। वहुरि और केई कर्म के अनुभाग कूं जीव इष्ट करैं हैं॥ कैसा है अनुभाग। तीव्रमंदपणांरूप गुण करि जो भेद कूं प्राप्त होता है॥ छ॥

वहुरि केई जीव अर कर्म दोऊ मिले ही जीव है अैसैं इष्ट करैं हैं। वहुरि अन्य केई कर्मनि का संयोग करि ही जीव मानैं हैं॥ छ॥

या प्रकार तथा और भी वहुत प्रकार दुर्वुद्धी मिथ्यादृष्टी, पर कूं आत्मा कहैं हैं, ते परमार्थ सत्यार्थवादी नाही हैं। अैसैं निश्चयवादी जे सत्यार्थवादी, तिनि करि कहें हैं॥ छ॥

॥ टीका ॥ या जगत विषै तिस आत्मा के असाधारण लक्षण नाही जाननैं तैं नपुंसकपणां करि अत्यंत विमूढ भये संते अज्ञानीजन हैं, ते तात्विक परमार्थभूत आत्मा कूं नाही जानते संते, वहुत हैं, ते वहुत प्रकार पर ही कूं आत्मा अैसा प्रलाप वकैं हैं॥

तहां, केई तौ स्वाभाविक स्वयमेव भया, अैसा राग द्वेष करि मैला जो अध्यवसान कहिये

अर्थ – जो आत्मा को तो नहीं जानते और पर को ही आत्मा कहते हैं; वे मूढ़ हैं, मोही हैं और अज्ञानी हैं; उनमें से कुछ तो 'अध्यवसान को जीव' कहते हैं और कुछ, 'कर्म को जीव' कहते हैं॥ ३९॥

अन्य कुछ, 'अध्यवसानों में व्याप्त तीव्र-मन्द अनुभाग को जीव' मानते हैं और अन्य कुछ, 'नोकर्म को जीव' मानते हैं॥ ४०॥

अन्य कुछ, 'कर्म के उदय को जीव' मानते हैं और अन्य कुछ को 'कर्म के अनुभाग को जीव' मानना इष्ट है। **कैसा है अनुभाग?** – जो तीव्र-मन्दरूप गुणों से भेद को प्राप्त होता है॥ ४१॥

अन्य कुछ, 'जीव और कर्म दोनों मिल कर जीव हैं' – ऐसा मानते हैं और अन्य कुछ 'कर्मों के संयोग से ही जीव' मानते हैं॥ ४२॥

इस प्रकार एवं अन्य भी बहुत प्रकार से दुर्बुद्धि मिथ्यादृष्टि, पर को आत्मा कहते हैं; वे परमार्थ से सत्यार्थवादी नहीं हैं — ऐसा निश्चयवादियों अर्थात् सत्यार्थवादियों ने उनके बारे में कहा है॥ ४३॥

टीका – इस जगत् में आत्मा के असाधारण लक्षण को नहीं जानने के कारण नपुंसकता से अत्यन्त विमूढ़ होते हुए तात्त्विक परमार्थभूत आत्मा को नहीं जाननेवाले अज्ञानी हैं। वे बहुत प्रकार से पर को ही आत्मा कह कर प्रलाप करते हैं, बकते हैं।

१. वहाँ, कुछ तो कहते हैं कि ''स्वाभाविक अर्थात् स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष से मलिन अध्यवसान अर्थात् मलिन आशयरूप (मिथ्या-अभिप्रायरूप) विभावपरिणाम ही जीव हैं'' – इसे

आशयरूप विभावपरिणाम सो ही जीव है, अैसैं कहैं हैं। याका हेतु कहैं हैं जो जैसैं अंगार कै कालिमा है, तैसैं अध्यवसान तैं न्यारा अन्य कोई जीव दीषै नाही, अैसैं हेतु तैं साधैं हैं॥ १॥

वहुरि केई कहैं हैं जो पूर्वै तौ अनादि तैं लेकरि अर आगामी अनंतकाल तांई अैसा है अवयव जाका, अैसी जो एक संसरण कहिये भ्रमणरूप क्रिया, तिसरूप करि क्रीडा करता जो कर्म सो ही जीव है। जातैं इस कर्म तैं अन्य न्यारा किछू जीव देषनें मैं आया नाही॥ अैसैं मानैं हैं॥ २॥

वहुरि केई कहै हैं जो तीव्र मंद अनुभव करि भेदरूप भया अर दूरि है अंत जाका, अैसा रागरूप रस करि भर्‌या जो अध्यवसान का संतान परिपाटी सो ही जीव है। जातैं इसतैं अन्य कोई न्यारा ही जीव देषनें मैं आया नाही, अैसैं मानैं हैं॥ ३॥

वहुरि केई कहैं हैं जो नवीन अर पुरातन जो अवस्था इत्यादि भाव करि प्रवर्त्तमान जो नोकर्म सो ही जीव है। जातैं इस शरीर तैं अन्य न्यारा ही किछू जीव देषनें मैं आया नाही, अैसैं मानैं हैं॥ ४॥

वहुरि केई अैसैं कहै हैं जो समस्त लोक कूं पुण्यपापरूप करि व्यापता कर्म का विपाक है सो ही जीव है॥ जातैं शुभ अशुभभाव तैं अन्य न्यारा ही किछू जीव देषनें मैं आया नाही, अैसैं मानैं हैं॥ ५॥

वहुरि केई कहै हैं जो साता असाता का रूप करि व्याप्त जो समस्त तीव्रमंदपणां गुण, ता करि भेदरूप भया जो कर्म का अनुभव सो ही जीव है॥ जातैं सुख दुःख तैं अन्य न्यारा ही किछू जीव देषनें मैं आया नाही॥ ६॥

सिद्ध करने के लिए वे कहते हैं कि ''जैसे, अङ्गार से कालिमा [अभिन्न] है; वैसे अध्यवसान से भिन्न, अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता है।''

२. कुछ कहते हैं कि ''पूर्व में अनादि काल से लेकर, भविष्य में अनन्त काल तक के अवयववाली एक संसरण अर्थात् भ्रमणात्मक क्रियाओं में क्रीड़ा करता हुआ, कर्म ही जीव है क्योंकि इस कर्म से भिन्न, अलग कोई जीव देखने में नहीं आता है'' – ऐसा वे मानते हैं।

३. कुछ कहते हैं कि ''तीव्र-मन्दरूप अनुभव के कारण भेदरूप होनेवाली और जिसका अन्त दूर है – ऐसे राग-रस से भरी हुई अध्यवसान की सन्तान अर्थात् परिपाटी ही जीव है क्योंकि इससे भिन्न, अलग कोई जीव देखने में नहीं आता है'' – ऐसा वे मानते हैं।

४. कुछ कहते हैं कि ''नई अवस्था और पुरानी अवस्था आदि भावों से प्रवर्तमान नोकर्म ही जीव है क्योंकि इस शरीर से भिन्न, अलग कोई जीव देखने में नहीं आता है'' – ऐसा वे मानते हैं।

५. कुछ ऐसा कहते हैं कि ''समस्त लोक में पुण्य-पापरूप से व्याप्त कर्म का विपाक ही जीव है क्योंकि शुभ-अशुभभाव से भिन्न, अलग कोई जीव देखने में नहीं आता है'' – ऐसा वे मानते हैं।

६. कुछ कहते हैं कि ''साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्र-मन्दरूप गुणों से भेदरूप हुआ कर्म का अनुभव ही जीव है क्योंकि सुख-दुःख से भिन्न, अलग कोई जीव देखने में नहीं आता है।''

वहुरि केई कहैं हैं जो सिखरणि की ज्यों दोयरूप मिल्या जो आत्मा अर कर्म, ते दोऊ मिले ही जीव हैं॥ जातैं सामस्त्यपणैं[१] करि कर्म तैं न्यारा किछू जीव देषनें मैं आया नाही, अैसैं मानैं हैं॥ ७॥

वहुरि केई कहैं हैं जो कर्म का संयोगरूप अर्थक्रिया विषै समर्थ होय है सो ही जीव है॥ जातैं कर्म के संयोग तैं अन्य न्यारा किछू जीव देषनें मैं आया नाही॥ जैसैं आठ काठ मिलि षाट (खाट) भया, तव अर्थक्रिया विषै समर्थ भया, अैसैं मानैं हैं॥ ८॥

अैसैं आठ प्रकार तौ ए कहे। वहुरि और भी अनेक प्रकार अैसैं ही पर कूं आत्मा कहैं हैं, ते दुर्वुद्धी हैं। तिनिकूं परमार्थ के जाननेंवाले हैं, ते सत्यार्थवादी नाही कहैं हैं॥

॥ भावार्थ॥ जीव अजीव दोऊ अनादि तैं एकक्षेत्र अवगाह संयोगरूप मिलि रहे हें॥ अर अनादि ही तैं जीव कै पुद्गल के संयोग तैं अनेक विकारसहित अवस्था होय हैं। अर परमार्थदृष्टि करि देषिये, तव जीव तौ अपनां चैतन्यपणां आदि भाव कूं नाही छोडै है अर पुद्गल अपनां मूर्त्तीक जडपणां आदि कूं नाही छोडै है।

परंतु जे परमार्थ कूं नाही जानैं हैं, ते संयोग तैं भये भावनि ही कूं जीव कहैं हैं। जातैं परमार्थजीव का रूप पुद्गल तैं भिन्न, सर्वज्ञ कूं दीषै तथा सर्वज्ञ की परंपरा के आगम तैं जाण्यां जाय सो जिनिके मत मैं सर्वज्ञ नहीं, ते अपनीं वुद्धि तैं अनेक कल्पनां करि कहैं हैं। ते वेदांत मीमांसा सांख्य वौद्ध नैयायिक वैशेषिक चार्वाक आदि मतनि के आशय ले, आठ तौ प्रगट कहे और अपनीं अपनीं वुद्धि तैं अनेक

---

७. कुछ कहते हैं कि ''श्रीखण्ड के समान आत्मा और कर्म दोनों का मिला हुआ रूप ही जीव है क्योंकि सम्पूर्ण कर्मों से भिन्न, अलग कोई जीव देखने में नहीं आता है'' – ऐसा वे मानते हैं।

८. कुछ कहते हैं कि ''अर्थक्रिया करने में समर्थ कर्म का संयोग ही जीव है क्योंकि कर्म के संयोग से भिन्न, अलग कोई जीव देखने में नहीं आता। जैसे, आठ लकड़ियों से मिल कर बनी खाट या पलङ्ग ही अर्थक्रिया करने में समर्थ होती है'' – ऐसा वे मानते हैं।

इस तरह आठ प्रकार [के अभिप्राय] तो ये कहे गये हैं; इसी प्रकार अन्य भी अनेक प्रकार से पर को आत्मा कहते हैं, वे दुर्बुद्धि हैं; उनको परमार्थ के जाननेवाले सत्यार्थवादी नहीं कहते हैं।

भावार्थ – जीव और अजीव, दोनों अनादि से एकक्षेत्रावगाह-संयोगरूप [सम्बन्ध से] मिले हुए हैं और अनादि ही से पुद्गल के संयोग से जीव की अनेक विकारसहित अवस्थाएँ हो रही हैं। यदि परमार्थ दृष्टि से देखा जाए तो जीव अपने चैतन्य आदि भावों को नहीं छोड़ता है और पुद्गल, अपने मूर्तिक, जड़त्व आदि भावों को नहीं छोड़ता है।

लेकिन जो परमार्थ को नहीं जानते हैं, वे दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए भावों को ही जीव कहते हैं, क्योंकि परमार्थ से जीव का रूप सर्वज्ञ को पुद्गल से भिन्न दिखाई देता है और वह सर्वज्ञ की परम्परा के आगम से जाना जाता है; अत: जिनके मत में सर्वज्ञ नहीं माने गये हैं, वे अपनी बुद्धि से कल्पना करके कहते हैं। उनमें से वेदान्ती, मीमांसक, सांख्य, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, चार्वाक

---

१. *समस्तपणैं* – 'ब' प्रति पाठ

कल्पनां करि कहैं हैं सो कहां तांई कहै।

ऐसे कहनेंवाले सत्यार्थवादी नाही हैं सो काहे तैं, सो ही कहै है॥ छ॥

एए सव्वे भावा, पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया, कह ते जीवो त्ति वुच्चंति॥ ४४॥

एते सर्वे भावाः, पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः।
केवलिजिनैर्भणिताः, कथं ते जीव इत्युच्यन्ते॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ए पूर्वैं कहे जे अध्यवसान आदिक भाव, ते सर्व ही पुद्गल के परिणाम करि निपजे हैं, ते केवली सर्वज्ञ जिनदेव नैं कहे हैं॥ तिनिकूं जीव अैसा कैसैं कहिये॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं ए अध्यवसानादिक भाव हैं ते सर्व ही, सर्व पदार्थनि कूं साक्षात् देषनेंवाले भगवान् वीतराग सर्वज्ञ अरहंतदेव, तिनहि पुद्गलद्रव्य के परिणाममयीपणां करि कहे हैं। तातैं चैतन्यभाव करि शून्य जो पुद्गलद्रव्य, तातैं भिन्नपणां करि कह्या जो चैतन्यस्वभावमयी जीवद्रव्य, सो होनें कूं नाही समर्थ हैं॥

तातैं निश्चय तैं आगम अर युक्ति अर स्वानुभव इनि तीननि करि वाधित पक्षपणां तैं जे इनि

आदि मतों का आशय लेकर [उपर्युक्त] आठ प्रकार तो प्रगट कहे हैं; अन्य भी अपनी-अपनी बुद्धि से अनेक कल्पनाएँ करके [मिथ्या अभिप्राय] कहते हैं, उनका कथन कहाँ तक करें।

अब, [उपर्युक्त] कथन करनेवाले सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं?, वह कहते हैं —

एदे सव्वे भावा, पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया, कह[१] ते जीवो त्ति वुच्चंति॥ ४४॥

पुद्गलदरव परिणाम से, उत्पन्न हैं सब भाव ये।
यह केवलीजिन भाषिया, किस रीत जीव कहें उन्हें॥ ४४॥

अर्थ – पूर्व में कहे गये अध्यवसान आदि भाव, वे सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम से उत्पन्न हैं – ऐसा केवली सर्वज्ञ जिनदेव ने कहा है; अतः उनको 'जीव' कैसे कह सकते हैं?॥ ४४॥

टीका – चूँकि सर्व पदार्थों को साक्षात् देखनेवाले वीतराग सर्वज्ञ भगवान अरिहन्तदेव ने इन अध्यवसान आदि सभी भावों को पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहा है, अतः वे चैतन्यमय भावों से शून्य पुद्गलद्रव्यमयी हैं और पुद्गलद्रव्य से भिन्न चैतन्यस्वभावमयी जीवद्रव्य होने में समर्थ नहीं हैं।

इस प्रकार निश्चय से आगम, युक्ति और स्वानुभव – इन तीनों द्वारा बाधित पक्ष होने से इन

---

१. *किह* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

अध्यवसानादि कूं जीव कहैं हैं, ते परमार्थवादी कहिये सत्यार्थवादी नाही हैं॥ तहां यह ही सर्वज्ञ का वचन है जो ए जीव नाही सो तौ आगम है। वहुरि यह स्वानुभवगर्भित युक्ति है सो कहै है॥

जो नैसर्गिक कहिये स्वयमेव उपज्या अैसा राग द्वेष करि कल्माषित कहिये मलिन अध्यवसान है, सो जीव नाही है॥ जातैं अैसैं अध्यवसान तैं न्यारा, जैसैं सुवर्ण कालिमा तैं न्यारा है, तैसैं चित्स्वभावरूप जीव भेदज्ञानीनि करि पाईए[१] है, ते प्रत्यक्ष चैतन्यस्वभाव कूं न्यारा अनुभवैं हैं॥ १॥

वहुरि अनादि अनंत पूर्वापरीभूत एक संसरण क्रियारूप क्रीडा करता कर्म है, सो भी जीव नाही है। जातैं कर्म तैं न्यारा, अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव का भेदज्ञानीनि करि प्राप्यमानपणां है, ते प्रत्यक्ष अनुभवैं हैं॥ २॥

वहुरि तीव्रमंद अनुभव करि भेदरूप भया दुरंत रागरस करि भर्या अध्यवसान का संतान भी जीव नाही है॥ जातैं तिस संतान तैं अन्य, न्यारा चैतन्यस्वभावरूप जीव का भेदज्ञानीनि करि प्राप्यमानपणां है, ते प्रत्यक्ष अनुभवैं हैं॥ ३॥

वहुरि नई पुराणी अवस्थादिक का भेद करि प्रवर्तता जो नोकर्म, सो भी जीव नाही है॥ जातैं शरीर तैं अन्य, न्यारा चैतन्यस्वभावरूप जीव का भेदज्ञानीनि करि स्वयमेव प्राप्यमानपणां है, ते आप प्रत्यक्ष अनुभवैं हैं॥ ४॥

अध्यवसान आदि भावों को जो जीव कहते हैं, वे परमार्थवादी अर्थात् सत्यार्थवादी नहीं हैं। वहाँ 'ये जीव नहीं हैं' – यही सर्वज्ञ का वचन है, वह तो आगम है और अब, स्वानुभूतिगर्भित युक्ति बताते हैं —

१. नैसर्गिक अर्थात् स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष से कलुषित अर्थात् मलिन अध्यवसान [अर्थात् मलिन आशयरूप विभावपरिणाम] जीव नहीं है क्योंकि जैसे, स्वर्ण कालिमा से भिन्न है; उसी प्रकार अध्यवसान से भिन्न चित्स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों को [स्वतः] प्राप्त है, वे [स्वयं] चैतन्यस्वभाव को प्रत्यक्ष भिन्न अनुभव करते हैं।

२. पूर्व में अनादि से और भविष्य में अनन्त काल तक की संसरणात्मक क्रियाओं में क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है क्योंकि कर्म से भिन्न, अलग चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों को [स्वतः] प्राप्त है और वे [स्वयं] उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

३. तीव्र-मन्द अनुभव के कारण हुई भेदरूप दुरन्त (जिसका दूर करना कठिन है) राग-रस से भरी हुई अध्यवसान की सन्तान अर्थात् परिपाटी भी जीव नहीं है क्योंकि उस सन्तान से भिन्न, अलग चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों को [स्वतः] प्राप्त है और वे [स्वयं] उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

४. नई-पुरानी अवस्था आदि के भेदों से प्रवर्तमान नोकर्म भी जीव नहीं है क्योंकि शरीर से भिन्न, अलग चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों को स्वयमेव प्राप्त है और वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष

---

१. पाइए - 'ब' प्रति में पाठ।

वहुरि समस्त जगत कूं पुण्यपापरूप करि व्यापता कर्म का विपाक है, सो भी जीव नाही है॥ जातैं शुभ अशुभ भाव तैं अन्य, न्यारा चैतन्यस्वभावरूप जीव का भेदज्ञानीनि करि प्राप्यमानपणां है, ते आप प्रत्यक्ष अनुभवैं हैं॥ ५॥

वहुरि साता असातारूप करि व्याप्त, जे समस्त तीव्रमंदपणांरूप गुण, तिनि करि भेदरूप होता जो कर्म का अनुभव, सो भी जीव नाही है॥ जातैं सुखदुःख तैं न्यारा, अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव का भेदज्ञानीनि करि स्वयं प्राप्यमानपणां है, ते आप प्रत्यक्ष अनुभवैं हैं॥ ६॥

वहुरि सिखरणि की ज्यों दोय स्वरूपपणां करि मिले, आत्मा अर कर्म दोऊ ही जीव नाही है॥ जातैं सामस्त्यपणैं[१] कर्म तैं न्यारा, अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव का भेदज्ञानीनि करि स्वयं प्राप्यमानपणां है, ते प्रत्यक्ष आप अनुभवैं हैं॥ ७॥

वहुरि अर्थक्रिया विषै समर्थ कर्म का संयोग भी जीव नाही है॥ जातैं कर्मसंयोग तैं न्यारा, जैसैं आठ काठरूप षाट तैं षाट (खाट) का सोवनेंवाला पुरुष अन्य है, तैसैं कर्म के संयोग तैं न्यारा, अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव का भेदज्ञानीनि करि स्वयं प्राप्यमाणपणां है, ते आप प्रत्यक्ष अनुभवैं हैं॥ ८॥

अैसैं ही अन्य कोई और प्रकार कहै, तहां भी यह ही युक्ति जाननीं॥

अनुभव करते हैं।

५. समस्त जगत् को पुण्य-पाप के रूप में व्यापता, ग्रसता कर्म का विपाक भी जीव नहीं है क्योंकि शुभ-अशुभभाव से भिन्न, अलग चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों को [स्वतः] प्राप्त है और वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

६. साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्रता-मन्दतारूप गुणों के द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव भी जीव नहीं है क्योंकि सुख-दुःख से भिन्न, अलग चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों को स्वतः प्राप्त है और वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

७. श्रीखण्ड के समान द्वि-स्वरूपता के कारण आत्मा और कर्म – दोनों मिल कर भी जीव नहीं है क्योंकि समस्त कर्मों से भिन्न अलग चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों को स्वतः प्राप्त है और वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

८. अर्थक्रिया करने में समर्थ कर्म का संयोग भी जीव नहीं है क्योंकि जैसे, आठ लकड़ियों के संयोग से बनी खाट (पलङ्ग) से खाट पर सोनेवाला पुरुष अन्य है; वैसे ही कर्म के संयोग से भिन्न, अलग चैतन्यस्वभावरूप जीव, भेदज्ञानियों को [स्वतः] प्राप्त है और वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

इसी तरह अन्य कोई पुरुष, अन्य प्रकारों से भी कहता है तो वहाँ भी यही युक्ति जाननी चाहिए।

---

१. समस्तपणैं - 'ब' प्रति में पाठ।

॥ भावार्थ॥ चैतन्यस्वभावरूप जीव, सर्व परभावनि तैं न्यारा भेदज्ञानीनि के अनुभवगोचर है, तातैं अज्ञानी मानैं है, तैसैं नाही है॥ छ॥

अव इहां, पुद्गल तैं भिन्न जो आत्मा की उपलब्धि, ता प्रति विप्रतिपन्न कहिये अन्यथा ग्रहण करनेंवाला, पुद्गल ही कूं आत्मा जानता जो पुरुष, ताकूं साम कहिये ताके हितरूप मिलाप की वार्त्ता कहि करि समभाव ही तैं उपदेश कहनां सो ही काव्य मैं कहै है॥

॥ मालिनी॥

विरम किमपरेणाऽकार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः॥ २॥

॥ अर्थ॥ हे भव्य, तैरे अन्य जे विना कार्य, निकम्मा कोलाहल करि कहा साध्य है, तिस कोलाहल तैं तू विरक्त होहु॥ अर एक चैतन्यमात्र वस्तु कूं आप निश्चल लीन होय देषि।

अैसैं छह महीनां अभ्यास करि, अैसैं कीयें, अपनां हृदयरूप सरोवर विषै पुद्गल तैं भिन्न है तेज प्रताप प्रकाश जाका, अैसा जो पुरुष आत्मा, ताकी कहा प्राप्ति न होय है, अैसा नियम है जो प्राप्ति होय ही होय॥

भावार्थ – चैतन्यस्वभावरूप जीव, सर्व परभावों से भिन्न, भेदज्ञानियों को अनुभवगोचर है; अत: अज्ञानी जैसा मानते हैं, वैसा नहीं है।

अब यहाँ, पुद्गल से भिन्न आत्मा की उपलब्धि के प्रति विप्रतिपन्न (विरोधी) अर्थात् अन्यथा ग्रहण करनेवाले या पुद्गल को ही आत्मा जाननेवाले पुरुष को साम अर्थात् उसके हितरूप मिलाप की बात कह कर समभाव ही से उपदेश करना – ऐसा ही काव्य में कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

हे भव्यजन! क्या लाभ है, इस व्यर्थ की बकवास से।
अब तो रुको, निज को लखो, अध्यात्म के अभ्यास से॥
यदि अनवरत छह मास हो, निज आतमा की साधना।
तो आतमा की प्राप्ति हो, सन्देह इसमें रञ्च ना॥ ३४॥

अर्थ – हे भव्य! तुम्हें अन्य व्यर्थ के कोलाहल करने से क्या साध्य है? अत: उस कोलाहल से तुम विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं में निश्चल लीन होकर देखो!

इस प्रकार छह महिने अभ्यास करने पर, अपने हृदय सरोवर में पुद्गल से भिन्न तेज प्रताप अर्थात् प्रकाशवाले पुरुष आत्मा की क्या तुम्हें प्राप्ति नहीं होगी? – उसकी प्राप्ति होती ही होती है – ऐसा नियम है।

॥ भावार्थ ॥ जो अपनें स्वरूप का अभ्यास करै तौ ताकी प्राप्ति होय ही होय। जो परवस्तु होय तौ ताकी तौ प्राप्ति न होय। अपनां स्वरूप तौ विद्यमान है, भूलि ही रह्या है सो चेत करि देषै तौ पासि ही है॥

इहां, छह महीनां अभ्यास कह्या सो अैसा न जाननां जो एते ही मैं होय, याका हौनां तौ मुहूर्तमात्र मैं ही है परंतु शिष्य कूं वहुत कठिन भासै तौ ताका निषेध है जो वहुत काल समझतैं लागैगा तौ छह महीनां सिवाय न लागैगा, तातैं अन्य निःप्रयोजन कोलाहल छोडि, यामैं लागैं, सीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति होयगी, अैसा उपदेश है॥ छ॥

आगैं सिष्य पूछै है जो ए अध्यवसानादिक भाव जीव न वताये अर चैतन्यस्वभाव जीव वताया, सो ए भाव भी तौ चैतन्य ही तैं अन्वयी प्रतिभासैं हैं, चैतन्य विनां जड कै तौ दीषैं नाही, इनिकूं पुद्गल के स्वभाव कैसैं कहै, अैसैं पूछें उत्तर का सूत्र कहै है॥

अट्ठविहं पि य कम्मं, सव्वं पोग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चइ, दुक्खं ति विपच्चमाणस्स॥ ४५॥

भावार्थ – यदि अपने स्वरूप का अभ्यास करें तो उसकी प्राप्ति होती ही होती है। यदि परवस्तु हो तो उसकी प्राप्ति न हो परन्तु अपना स्वरूप तो विद्यमान है, मात्र उसे भूल ही रहे हैं। यदि सचेत होकर उसे देखें तो वह पास ही है।

यद्यपि यहाँ छह महिने अभ्यास करने को कहा गया है, उससे ऐसा नहीं समझना कि इतने समय में ही होती है, उसका होना तो मुहूर्तमात्र के ही अन्दर होता है, परन्तु यदि शिष्य को बहुत कठिन प्रतीत होता है तो यहाँ उसका निषेध किया है। यदि समझने में बहुत अधिक समय भी लगेगा तो छह महिने से अधिक समय नहीं लगेगा; अतः अन्य निष्प्रयोजन कोलाहल को छोड़ कर, इसमें लगने से शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति होगी – ऐसा उपदेश है।

अब, शिष्य प्रश्न करता है कि यहाँ अध्यवसान आदि भावों को जीव नहीं कहा है और चैतन्यस्वभाव को ही जीव बताया है परन्तु ये भाव भी तो चैतन्य ही के साथ रहनेवाले प्रतिभासित होते हैं, चैतन्य के बिना जड़ में तो दिखते नहीं; फिर इनको पुद्गल का स्वभाव कैसे कहा? – ऐसा पूछने पर उत्तररूप गाथा कहते हैं —

अट्ठविहं पि य कम्मं, सव्वं पोग्गलमयं जिणा बेंति।
जस्स फलं तं वुच्चदि, दुक्खं ति विपच्चमाणस्स॥ ४५॥

रे! कर्म अष्ट प्रकार का, जिन सर्व पुद्गलमय कहे।
परिपाक में जिस कर्म का, फल 'दुःख' नाम प्रसिद्ध है॥ ४५॥

अष्टविधमपि च कर्म, सर्वं पुद्गलमयं जिना विन्दन्ति।
यस्य फलं तदुच्यते, दुःखमिति विपच्यमानस्य॥ छ॥

॥ अर्थ॥ आठ प्रकार कर्म ज्ञानावरणादिक हैं, ते सर्व ही पुद्गलमयी हैं, यह जिन भगवान सर्वज्ञदेव कहै है॥ वहुरि याका फल है सो दुःख है॥ यह कर्म पचि करि उदय आवै है सो दुःख है॥ छ॥

॥ टीका॥ जा कारण तैं ए अध्यवसान आदि समस्त भाव हैं, तिनिका उपजावनेंवाला आठ प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्म है सो समस्त ही पुद्गलमयी है, अैसैं सर्वज्ञ के वचन हैं॥ तिस कर्म का उदय हद कूं पहुंचै, ताका फल है सो यह अनाकुलस्वरूप जो सुख नामा आत्मा का स्वभाव, तातैं विलक्षण है, आकुलतामयी है, तातैं दुःख है॥ तिस दुःख के मांही आय पडे जे आकुलतास्वरूप अध्यवसान आदिक भाव, ते भी दुःख ही हैं॥ तातैं ते चैतन्य तैं अन्वय का विभ्रम उपजावैं हैं, तौऊ ते आत्मा के स्वभाव नाही हैं, पुद्गलस्वभाव ही हैं॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ यह आत्मा, कर्म का उदय आवै, तव दुःखरूप परिणमै है अर दुःखरूप भाव है सो अध्यवसान है। तातैं दुःखरूप भाव विषै चेतनता का भ्रम उपजै है, परमार्थ तैं दुःखरूप भाव चेतनता नाही है, कर्मजन्य है, यातैं जड ही है॥ छ॥

आगैं पूछै है जो ए अध्यवसान आदि भाव हैं, ते पुद्गलस्वभाव हैं तौ सर्वज्ञ के आगम में इनिकूं जीवभाव करि कैसैं कहे हैं, अैसैं पूछें या का उत्तर का सूत्र कहै है॥

अर्थ – ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्म, सभी पुद्गलमय हैं – यह जिन-भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा है और इनका फल दुःख है, ये कर्म परिपक्व होकर उदय में आते हैं, वह दुःख है॥ ४५॥

टीका – जिस कारण से ये सभी अध्यवसान आदि भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें उत्पन्न करनेवाले ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के सभी कर्म पुद्गलमयी हैं – ऐसा सर्वज्ञदेव का वचन है। उन कर्मों का उदय जब हद को पहुँचता है [अर्थात् उन कर्मों की स्थिति पूर्ण होने पर जब उस कर्म का उदय आता है], तब उसका फल, अनाकुलतास्वरूप सुख नामक आत्मा के स्वभाव से विलक्षण अर्थात् आकुलतामयी होता है; उससे दुःख है। उस दुःख में उत्पन्न होनेवाले आकुलता लक्षणवाले अध्यवसान आदि भाव भी दुःख ही हैं; इसलिए यद्यपि वे अध्यवसानादि भाव चैतन्य के साथ सम्बन्ध होने का विभ्रम उत्पन्न करते हैं तथापि वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, पुद्गलस्वभाव ही हैं।

भावार्थ – यह आत्मा, कर्म का उदय आने पर दुःखरूप परिणमता है और दुःखरूप भाव अध्यवसान हैं; अतः दुःखरूप भावों में चेतनता का भ्रम उत्पन्न होता है। परमार्थ से दुःखरूप भाव चेतन के नहीं हैं, कर्मजन्य हैं; अतः जड़ ही हैं।

अब, शिष्य पूछता है कि यदि ये अध्यवसान आदि भाव, पुद्गलस्वभाव हैं तो फिर सर्वज्ञ भगवान के आगम में इन्हें जीव के भाव कैसे कहा है? – ऐसा पूछने पर उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं —

ववहारस्स दरिसणं[१], उवएसो वण्णिओ जिणवरेहिं।
जीवा एए सव्वे, अज्झवसाणादओ भावा॥ ४६॥

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः।
जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो ए अध्यवसानादिक भाव हैं, ते जीव हैं, अैसैं जिनवर सर्वज्ञदेव नैं उपदेश वर्णन कीया है सो यह व्यवहारनय का दर्शन है, मत है॥ छ॥

॥ अर्थ॥ सर्व ही ए अध्यवसानादिक भाव हैं, तें जीव हैं, अैसैं जो भगवान् सर्वज्ञदेव कह्या है सो अभूतार्थ असत्यार्थरूप जो व्यवहारनय, ताका दर्शन कहिये मत है॥ जातैं व्यवहार है सो व्यवहारी जीवनि कूं परमार्थ का कहनहारा है॥ जैसैं म्लेच्छ की भाषा है सो म्लेच्छनि कूं वस्तुस्वरूप जनावै है, तैसैं है॥ तातैं अपरमार्थभूत है, तौऊ धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने कूं व्यवहारनय का वर्णन न्याय है॥ जातैं तिस व्यवहार कूं कहें विनां परमार्थ तौ जीव कूं शरीर तैं भिन्न कहै है। सो याका एकांत करिये तौ त्रसस्थावरजीवनि का घात निःशंकपणें करनां ठहरै।

जैसैं, भस्म के मर्दन करनें मैं हिंसा का अभाव है, तैसैं तिनिके घातने मैं भी हिंसा न ठहरै अर

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा॥ ४६॥

व्यवहार ये दिखला दिया, जिनदेव के उपदेश में।
ये सर्व अध्यवसान आदि, भाव को जहँ जीव कहें॥ ४६॥

अर्थ – 'ये अध्यवसान आदि भाव, जीव हैं' – ऐसा जो जिनवर सर्वज्ञदेव ने उपदेश दिया है, वह इस व्यवहारनय का दर्शन है, मत है॥ ४६॥

टीका – सभी अध्यवसान आदि भाव, जीव हैं – ऐसा जो भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह अभूतार्थ असत्यार्थरूप व्यवहारनय का दर्शन अर्थात् मत है क्योंकि जिस प्रकार मलेच्छ को मलेच्छ की भाषा, वस्तुस्वरूप का ज्ञान कराती है; उसी प्रकार व्यवहारी जीव को व्यवहार ही परमार्थ को कहनेवाला है, इसलिए अपरमार्थभूत होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के लिए व्यवहारनय का वर्णन करना न्याय-सङ्गत है क्योंकि इस व्यवहार को नहीं कहें तो निश्चयनय तो जीव को शरीर से भिन्न कहता है। यदि इसका एकान्त करें तो त्रस-स्थावर जीवों का निःशङ्करूप से घात करना, उचित सिद्ध होता है।

जिस प्रकार भस्म को मसलने में हिंसा का अभाव है, उस प्रकार त्रस-स्थावर जीवों के घात

---

१. *दरीसणं* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

हिंसा का अभाव ठहरै, तव तिनिके घात तैं वंध का भी अभाव ठहरै॥

तैसैं ही रागी द्वेषी मोही जीव कर्म तैं वंधै है, ताकूं छुड़ावनां, अैसैं कह्या है सो परमार्थ तैं राग द्वेष मोह तैं जीव कूं भिन्न दिषावनें करि मोक्ष का उपाय करनें का अभाव होय, तव मोक्ष का भी अभाव ठहरै॥

अैसैं व्यवहार न कहिये, तव वंधमोक्ष का अभाव ठहरै है॥

॥ भावार्थ॥ परमार्थनय तौ जीव कूं शरीर अर राग द्वेष मोह तैं भिन्न कहै है। सो याही का एकांत करिये, तव शरीर तथा राग द्वेष मोह पुद्गलमयी ठहरैं, तव पुद्गल के घातनें तैं हिंसा नाही अर राग द्वेष मोह तैं वंध नाही।

अैसैं परमार्थ तें संसारमोक्ष, दोऊ का अभाव कहै है सो यह ठहरै सो अैसा एकांतस्वरूप वस्तु का स्वरूप नाही, अवस्तु का श्रद्धान ज्ञान आचरण, मिथ्या अवस्तुरूप ही है, तातैं व्यवहार का उपदेश न्याय प्राप्त है। अैसैं स्याद्वाद करि दोऊ नय का विरोध मेटि श्रद्धान करना सम्यक्त्व है॥ छ॥

आगैं पूछै है जो यह व्यवहारनय कोंन दृष्टांत करि प्रवर्त्या है, ताका उत्तर कहै है॥

राया हु णिग्गओ त्ति य, एसो बलसमुदयस्स आएसो।
ववहारेण दु वुच्चइ, तत्थिक्को णिग्गओ राया॥ ४७॥

में भी हिंसा सिद्ध नहीं होती है और हिंसा का अभाव सिद्ध होने पर उनके घात से बन्ध का भी अभाव सिद्ध होता है।

उसी प्रकार यहाँ रागी-द्वेषी-मोही जीव, कर्म से बँधे हुए हैं, इसलिए उन्हें छुड़ाने के लिए व्यवहारनय का उपदेश, आगम में दिया है। परमार्थ से राग-द्वेष-मोह को जीव से भिन्न बताने पर मोक्ष का उपाय करने का अभाव होगा, तब मोक्ष का भी अभाव सिद्ध होगा।

इस प्रकार व्यवहारनय का प्रतिपादन नहीं करने पर, बन्ध-मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा।

भावार्थ – परमार्थनय (निश्चयनय) तो जीव को शरीर और राग-द्वेष-मोह से भिन्न कहता है। यदि ऐसा ही एकान्त से मानें तो शरीर और राग-द्वेष-मोह पुद्गलमयी सिद्ध होंगे – ऐसी स्थिति में पुद्गल शरीर के घात से हिंसा नहीं होगी और राग-द्वेष-मोह से बन्ध नहीं होगा।

इस प्रकार परमार्थ से तो संसार-मोक्ष, दोनों का अभाव सिद्ध होगा परन्तु ऐसा एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है और अवस्तु का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण, अवस्तुरूप मिथ्या ही होता है; अतः व्यवहार का उपदेश न्यायसङ्गत है। इस प्रकार स्याद्वाद के द्वारा दोनों नयों का विरोध मिटा कर श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है।

अब, शिष्य पूछता है कि इस व्यवहारनय की प्रवृत्ति का दृष्टान्त क्या है? – इसका उत्तर कहते हैं –

एमेव य[१] ववहारो, अज्झवसाणाइ अण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते, तत्थिक्को णिच्छिदो जीओ॥ ४८॥

॥ युगलं॥

राजा खलु निर्गत, इत्येष बलसमुदयस्यादेशः।
व्यवहारेण तूच्यते, तत्रैको निर्गतो राजा॥ छ॥
एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानाम्।
जीव इति कृतः सूत्रे, तत्रैको निश्चितो जीवः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसै कोई राजा, सेनांसहित नीसर्‌या, तहां व्यवहार करि सेनां के समुदाय कूं अैसा कहिये है जो यह राजा नीसर्‌या, तहां निश्चय तैं विचारिये, तव सेनां विषै राजा तौ एक ही है॥ छ॥

तैसैं ही ए अध्यवसान आदि अन्यभाव हैं, तिनिकूं जीव है, अैसा सूत्र विषै कह्या है सो व्यवहारनय का वचन है। निश्चय तैं विचारिये तौ तिनि विषै जीव तौ एक ही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं कहिये है जो यह राजा पांच योजन मैं व्यापि करि नीसरै है, तहां निश्चय करि

राया हु[२] णिग्गदो त्ति य, एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि, तत्थेक्को[३] णिग्गदो राया॥ ४७॥
एमेव य ववहारो, अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते, तत्थेक्को[४] णिच्छिदो जीवो॥ ४८॥

'निर्गमन इस नृप का हुआ' निर्देश सैन्यसमूह में।
व्यवहार से कहलाय यह, पर भूप इनमें एक है॥ ४७॥
त्यों सर्व अध्यवसान आदि, अन्य भाव जु जीव हैं।
शास्त्र में व्यवहार है पर, जीव निश्चय एक है॥ ४८॥

अर्थ – जिस प्रकार कोई राजा, सेनासहित [नगर में] निकलता है तो वहाँ व्यवहार से उस सेना के समुदाय को ऐसा कहते हैं कि 'यह राजा निकला', परन्तु यदि निश्चय से विचार करें तो उस सेना में राजा तो एक ही है॥ ४७॥

उसी प्रकार आगम में अध्यवसान आदि अन्य भावों को 'जीव' – ऐसा कहा है, वह व्यवहारनय का वचन है; निश्चय से विचार करने पर, उनमें जीव तो एक ही है॥ ४८॥

---

१. हि – 'ब' प्रति पाठ २. खु – कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ ३-४. **तत्थेको** – तात्पर्यवृत्ति पाठ

विचारिये तौ एक राजा कै पांच योजन व्यापनें का असमर्थपणां है, तौऊ व्यवहारी लोक कै सेनां का समुदाय विषै राजा, अैसैं कहनें का व्यवहार है॥ परमार्थ तैं तौ राजा एक ही है, सेनां राजा नाही॥

तैसैं ही यह जीव समस्त जे राग का ठिकाणां है, तिनिकूं व्याप्य करि प्रवर्त्तै है, निश्चय करि विचारिये है, तव एक कै समस्त राग के ठिकाणें कूं व्यापनें का असमर्थपणां है। तौऊ व्यवहारी लोकनि कै अध्यवसानादिक अन्यभावनि विषै ए जीव हैं, अैसा व्यवहार प्रवर्त्तै है॥ परमार्थ तैं तौ जीव एक ही है। अध्यवसानादि भाव हैं, ते जीव नाही हैं॥ छ॥

आगैं पूछै है जो ए अध्यवसानादिक भाव हैं, ते जीव नाही है, तौ जीव एक टंकोत्कीर्ण परमार्थस्वरूप कैसा कहै, याका लक्षण कहा है, अैसैं पूछें उत्तर कहै है॥ छ॥

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥ ४९॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम्।
जानीह्यलिङ्गग्रहणं, जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम्॥ छ॥

टीका – जिस प्रकार यह कहा जाता है कि यह राजा, पाँच योजन के विस्तार में फैल कर निकल रहा है, वहाँ निश्चय से विचार करने पर तो एक राजा का पाँच योजन के विस्तार में फैलना असम्भव है, फिर भी व्यवहारी लोगों का सेना के समुदाय को 'राजा' कहने का व्यवहार है। परमार्थ से तो राजा एक ही है; सेना, राजा नहीं है।

उसी प्रकार यह जीव, समस्त राग-द्वेष के स्थानों अर्थात् विषयों में व्याप्त होकर प्रवर्तता है, निश्चय से विचार करने पर एक का समस्त राग के स्थानों में व्याप्त होना असम्भव है। फिर भी व्यवहारी लोगों का अध्यवसान आदि अन्य भावों में 'ये जीव हैं' – ऐसा व्यवहार प्रवर्तित होता है। परमार्थ से तो जीव एक ही है; अध्यवसान आदि भाव, जीव नहीं हैं।

अब, शिष्य पूछता है कि ये अध्यवसान आदि भाव, जीव नहीं हैं तो एक टङ्कोत्कीर्ण परमार्थस्वरूप जीव कैसा है? इसका लक्षण क्या है? – ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं —

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं[1], जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥ ४९॥

जीव चेतनागुण, शब्द-रस-रूप-गन्ध-व्यक्तविहीन है।
निर्दिष्ट नहिं संस्थान इसका, ग्रहण नहिं है लिङ्ग से॥ ४९॥

---

१. *जाणमलिंगग्गहणं* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

॥ अर्थ ॥ हे भव्य, तू जीव अैसा जाणि। अरस कहिये रसरहित है, अरूप कहिये रूपरहित है॥ अगंध कहिये गंधरहित है, अव्यक्त कहिये इंद्रियनि कै गोचर व्यक्त नाही है॥ वहुरि चेतना है गुण जाकै॥ वहुरि अशव्द कहिये शव्दरहित है, वहुरि अलिंगग्रहण कहिये काहू चिह्न करि ही जाका ग्रहण नाही होय है॥ वहुरि अनिर्दिष्टसंस्थान कहिये जाका आकार किछू कह्या जाता नाही॥ अैसा जीव जाणूँ॥ छ॥

॥ टीका ॥ जो जीव है सो निश्चय करि पुद्गलद्रव्य तैं अन्य है, तातैं यामैं रसगुण विद्यमान नाही, तातैं अरस है॥ १॥

वहुरि पुद्गलद्रव्य का गुणनि तैं भी भिन्न है, यातैं आप भी रसगुण नाही है, तातैं भी अरस कहिये॥ २॥

वहुरि परमार्थ तैं पुद्गलद्रव्य का स्वामीपणां भी याकै नाही है, तातैं द्रव्येंद्रिय का अवलंवन करि आप रसरूप नाही परिणमै है, तातैं भी अरस कहिये॥ ३॥

वहुरि अपनें स्वभाव की दृष्टि करि देषिये, तव क्षायोपशमिकभाव का भी याकै अभाव है, यातैं भावेंद्रिय के अवलंवन करि भी याकै रसरूप परिणाम का अभाव कहिये, तातैं भी अरस कहिये॥ ४॥

वहुरि याका संवेदन परिणाम तौ एक ही है सो सकल विषयनि के विशेषनि मैं साधारण है, तिस स्वभाव तैं केवल एक रसवेदना परिणाम की प्राप्तिरूप ही न कहिये, तातैं भी अरस कहिये॥ ५॥

अर्थ – हे भव्य! तू जीव को ऐसा जान कि वह अरस अर्थात् रसरहित है, अरूप अर्थात् रूपरहित है, अगन्ध अर्थात् गन्धरहित है, अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से गोचर या व्यक्त नहीं है, चेतना गुणवाला है, अशब्द अर्थात् शब्दरहित है, अलिङ्गग्रहण अर्थात् किसी भी चिह्न से इसका ग्रहण नहीं हो सकता है, अनिर्दिष्ट-संस्थान अर्थात् जिसका कोई भी आकार नहीं कहा जा सकता है – ऐसा जीव को जानो॥ ४९॥

टीका – सर्व प्रथम, यहाँ **अरस** विशेषण का छह बोलों से वर्णन करते हैं —

१. जीव, निश्चय से पुद्गलद्रव्य से भिन्न है, अत: उसमें रसगुण विद्यमान नहीं है; इसलिए वह **अरस** कहलाता है।

२. [जीव], पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न है, अत: स्वयं भी रसगुण नहीं है; इसलिए भी **अरस** कहलाता है।

३. परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी जीव को नहीं है, अत: द्रव्येन्द्रिय का अवलम्बन लेकर स्वयं रसरूप परिणमन नहीं करता है; इसलिए भी **अरस** कहलाता है।

४. अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने पर क्षायोपशमिकभाव का भी जीव में अभाव है, अत: भावेन्द्रिय का अवलम्बन लेकर भी इसमें रसरूप परिणमन का अभाव है; इसलिए भी **अरस** कहलाता है।

५. जो समस्त विषयों के विशेषों में साधारण है - ऐसे एक संवेदन परिणामरूप जीव का

वहुरि याकै समस्त ही ज्ञेय का ज्ञान होय है, परि ज्ञेयज्ञायक कै तादात्म्य कहिये एकरूप होनां का निषेध ही है, यातैं रस का ज्ञानरूप परिणमै है, तौऊ आप तौ रसरूप परिणमै नाही, तातैं भी अरस कहिये॥ ६॥

अैसैं छह प्रकार करि रस का निषेध तैं अरस है॥

अैसैं ही अरूप अगंध अस्पर्श अशब्द, इनि च्यारयों विशेषणनि कै छह छह हेतु करि निषेध है सो कहे, तैसैं ही जान लेनें॥

वहुरि अनिर्दिष्टसंस्थान कूं कहै है॥

द्रव्यांतर कहिये पुद्गलद्रव्य, ता करि रच्या जो शरीर, ताके संस्थान जो आकार, तिनि करि कह्या न जाय है, याका अैसा आकार है॥

वहुरि आपका नियतस्वभाव है, ता करि अनियत संस्थानरूप जे अनंत शरीर, तिनि मैं वर्त्तै हैं, यातैं भी आकार कह्या जाता नाही॥

वहुरि संस्थान नामकर्म का विपाक है सो भी पुद्गलद्रव्य ही विषै कहिये है, ताके निमित्त तैं आकार न कहिये॥

वहुरि न्यारे न्यारे आकाररूप परिणमते जे समस्त वस्तु, तिनिके स्वरूप तैं तदाकार भया जो

स्वभाव होने से केवल एक रसवेदना परिणाम को प्राप्त नहीं होता; इसलिए भी **अरस** कहलाता है।

६. जीव को सभी ज्ञेयों का ज्ञान होने पर भी, ज्ञेय-ज्ञायक में तादात्म्य अर्थात् एकरूप होने का निषेध ही है, अतः रस के ज्ञानरूप परिणमने पर भी स्वयं रसरूप नहीं परिणमता; इसलिए भी **अरस** कहलाता है।

इस तरह छह प्रकार से रस का निषेध होने से **अरस** है।

इसी प्रकार **अरूप, अगन्ध, अस्पर्श और अशब्द** – इन चारों विशेषणों का भी छह-छह हेतुओं से निषेध किया है; उन्हें [भी उपर्युक्त रीति से संस्कृत टीका में जैसे] कहा है, वैसे ही जान लेना चाहिए।

अब, **अनिर्दिष्ट-संस्थान** [विशेषण] को कहते हैं —

१. द्रव्यान्तर अर्थात् पुद्गलद्रव्य, उससे रचित शरीर के संस्थान अर्थात् आकार के कारण 'इस जीव का ऐसा आकार है' - ऐसा नहीं कहलाता है।

२. जीव, अपने नियतस्वभाव के साथ अनियतसंस्थानरूप अनन्त शरीरों में रहता है; इसलिए भी उसका आकार नहीं कहलाता है।

३. संस्थान नामकर्म का विपाक भी पुद्गलद्रव्य में ही कहा है; इसलिए उसके निमित्त से भी [जीव का] आकार नहीं कहलाता है।

४. समस्त भिन्न-भिन्न आकाररूप परिणमित वस्तुओं के स्वरूप से तदाकार होनेवाले अपने

अपनां स्वभावरूप संवेदन, तिस शक्तिरूपपणां याकै होतैं भी आप तो समस्त लोक के मिलाप करि शून्य होती जो अपनीं निर्मल ज्ञानमात्र अनुभूति, तिसपणां करि किछू भी आकाररूप नाही है, तातैं अनिर्दिष्टसंस्थान है॥

अैसैं च्यारि हेतु तैं संस्थान का कहनां निषेध्या॥

वहुरि अव्यक्त विशेषण कूं साधै है॥

तहां षट्द्रव्यस्वरूप लोक है सो ज्ञेय है, व्यक्त है, अैसे व्यक्तरूप तैं जीव अन्य है, तातैं अव्यक्त है॥ १॥

वहुरि कषाय का समूह जो भावकभाव सो व्यक्त है, तातैं भी जीव अन्य है, तातैं अव्यक्त है॥ २॥

वहुरि चित्सामान्य विषै चैतन्य की व्यक्ति है, ते सर्व अंतर्भूत हैं, तातैं अव्यक्त है॥ ३॥

वहुरि क्षणिक व्यक्तिमात्र ही नाही है, तातैं भी अव्यक्त कहिये॥ ४॥

वहुरि व्यक्त अर अव्यक्त अर दोऊ भाव मिले हूये मिश्ररूप याकै प्रतिभास मैं आवै है, तौऊ व्यक्तभाव ही कूं केवल नाही स्पर्शै है, तातैं भी अव्यक्त कहिये॥ ५॥

वहुरि आप ही वाह्य आभ्यंतर प्रगट अनुभूयमान है, तौऊ व्यक्तभाव तैं उदासीन दूरिवर्त्ती प्रद्योतमान है, तातैं भी अव्यक्त कहिये॥ ६॥

अैसैं छह हेतु करि अव्यक्तभाव साध्या॥

स्वभावरूप संवेदन की सामर्थ्य होने पर भी, स्वयं तो समस्त लोक के मिलाप से रहित हुई अपनी निर्मल ज्ञानमात्र अनुभूति के कारण कोई भी आकाररूप नहीं है; इसलिए **अनिर्दिष्ट-संस्थान** है।

इस तरह चार हेतुओं से [जीव के] **संस्थान कहने का निषेध** किया है।

अब, **अव्यक्त** विशेषण को सिद्ध करते हैं —

१. छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञेय है, व्यक्त है – ऐसे व्यक्तरूप [लोक] से जीव अन्य है; इसलिए **अव्यक्त** है।

२. कषायों का समूह, भावकभाव व्यक्त है, उससे भी जीव अन्य है; इसलिए **अव्यक्त** है।

३. चित्सामान्य में चैतन्य की जितनी व्यक्तियाँ (पर्यायें) हैं, वे सर्व अन्तर्भूत हैं; इसलिए **अव्यक्त** है।

४. क्षणिक व्यक्तिमात्र ही नहीं है; इसलिए **अव्यक्त** कहलाता है।

५. व्यक्त और अव्यक्त तथा दोनों मिले हुए अर्थात् मिश्ररूप भाव, इसके प्रतिभास में आते हैं, फिर भी व्यक्तभाव ही को केवल नहीं स्पर्शता है; इसलिए भी **अव्यक्त** कहलाता है।

६. स्वयं ही बाह्य-अभ्यन्तर प्रगट अनुभूयमान अर्थात् अनुभव में आ रहा है तो भी व्यक्तभाव से उदासीन अर्थात् दूर रह कर प्रद्योतमान है; इसलिए भी **अव्यक्त** कहलाता है।

वहुरि अैसैं रस रूप गंध स्पर्श शव्द संस्थान व्यक्तपणां का अभावस्वरूप होतैं भी स्वसंवेदन के वल करि आप कै आप प्रत्यक्षगोचर होतैं अनुमानगोचरमात्रपणां का अभाव तैं अलिंगग्रहण कहिये॥

वहुरि आपके अनुभवन मैं आवै, अैसा चेतनागुण करि सदा अंतरंग विषै प्रकाशमान है, तातैं चेतनागुण है॥

कैसा है चेतनागुण॥ समस्त जे विप्रतिपत्ति कहिये जीव कूं अन्य प्रकार माननां, ताका तौ निराकरण करणहारा है॥ वहुरि भेदज्ञानी जीवनि कूं सौंप्या है अपनां सर्वस्व जानैं, अैसा है॥ वहुरि समस्त ही लोक अलोक कूं ग्रासीभूत करि अर अत्यंत सुखिया मंथर होय।

तैसैं सर्व काल मैं किंचित्मात्र भी चलायमान नाही होता है॥ वहुरि अन्यद्रव्यनि तैं साधारण नाही है, तातैं असाधारण स्वभावभूत है॥ अैसा चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप जीव है सो यह भगवान निर्मल है प्रकाश जाका, अैसा इस लोक मैं टंकोत्कीर्ण भिन्न ज्योतिरूप विराजमान है॥ छ॥

अव, इस ही अर्थ का कलशरूप काव्य कहि, याकै अनुभवन की प्रेरणां करैं हैं॥ छ॥

॥ मालिनी॥

सकलमपि विहायाह्राय चिच्छक्तिरिक्तं,
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्,
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम्॥ ३॥

इस प्रकार छह हेतुओं से **अव्यक्तभाव** सिद्ध किया।

इस प्रकार **रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संस्थान, व्यक्तता** के अभावस्वरूप होने पर भी स्वसंवेदन के बल से स्वयं को स्वयं प्रत्यक्षगोचर होने से अनुमानगोचरमात्रता का अभाव होने के कारण, **अलिङ्गग्रहण** कहलाता है।

स्वयं के अनुभव में आनेवाले चेतनागुण से सदा ही अन्तरङ्ग में प्रकाशमान है; इसलिए **चेतनागुणवाला** है।

कैसा है चेतनागुण? – समस्त विप्रतिपत्तियों अर्थात् जीव को अन्य प्रकार से मानने का तो निराकरण करनेवाला है; जिसने भेदज्ञानी जीवों को अपना सर्वस्व सौंप दिया है; जो समस्त ही लोक-अलोक को ग्रासीभूत कर, अत्यन्त सुखी होकर मन्थर हो गया है।

इस प्रकार सर्व काल में कभी भी किञ्चित्मात्र भी चलायमान नहीं होता है तथा जो अन्य द्रव्यों जैसा नहीं है, इसलिए असाधारण स्वभाववाला है – ऐसा चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप जीव, निर्मल प्रकाशवाला भगवान्, इस लोक में टङ्कोत्कीर्ण भिन्न ज्योतिरूप विराजमान है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कह कर, इसका अनुभव करने की प्रेरणा देते हैं –

॥ अर्थ ॥ भव्य आत्मा है सो अपनें एक केवल आत्मा कूं आत्मा ही विषै अभ्यास करो, अनुभव करो॥

कैसा आत्मा का अनुभव करो। जो सकल ही चित्शक्ति तैं रीते रहित अन्य भाव हैं, तिनिकूं सर्व ही कूं मूल तैं छोडि करि अर प्रगटपणैं अपनें चित्शक्तिमात्र भाव कूं अवगाहन करि अर यह समस्त पदार्थसमूह जो लोक, ताकै उपरि प्रवर्त्तता संता है, ताका साक्षात् अनुभव करौ।

कैसा है यह। अनंत है, अविनाशी है॥

॥ भावार्थ ॥ यह आत्मा, परमार्थ तैं समस्त अन्य भावनि तैं रहित चैतन्यशक्तिमात्र है, ताके अनुभव का अभ्यास करो। अैसा उपदेश है॥ छ॥

आगैं, चित्शक्ति तैं अन्य जे भाव हैं, ते सर्व पुद्गल संबंधी हैं। अैसी अगिली गाथा की सूचनिकारूप श्लोक कहै हैं॥ छ॥

॥ अनुष्टुभ्॥

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि, भावाः पौद्गलिका अमी॥ ४॥

॥ अर्थ ॥ यह जीव है सो चैतन्य शक्ति करि व्याप्त है सर्वस्व सार जाका, अैसा एतावन्मात्र

॥ हरिगीतिका॥

चैतन्यशक्ति से रहित, परभाव सब परिहार कर।
चैतन्यशक्ति से सहित, निजभाव नित अवगाह कर॥
है श्रेष्ठतम जो विश्व में, सुन्दर सहज शुद्धात्मा।
अब उसी का अनुभव करो, तुम स्वयं हे भव्यात्मा!॥ ३५॥

अर्थ – हे भव्य आत्मा! केवल एक अपने आत्मा का आत्मा ही में अभ्यास करो, अनुभव करो।

कैसे आत्मा का अनुभव करो? – समस्त ही चित्शक्ति से शून्य या रहित, सर्व अन्य भावों को ही मूल से छोड़ कर और प्रगटरूप अपने चित्शक्तिमात्र भाव का अवगाहन कर, समस्त पदार्थों के समूहरूप लोक के ऊपर प्रवर्त रहा है – ऐसे सुन्दर आत्मा का साक्षात् अनुभव करो।

कैसा है यह? – अनन्त है, अविनाशी है।

भावार्थ – यहाँ ऐसा उपदेश है कि परमार्थ से यह आत्मा, समस्त अन्य भावों से रहित चैतन्य शक्तिमात्र है, उसके अनुभव का अभ्यास करो।

अब, 'चित्शक्ति से भिन्न सब भाव, पुद्गल से सम्बन्धित हैं' – इस भाव की सूचक आगामी गाथाओं की उत्थानिकारूप श्लोक कहते हैं —

है॥ इस चित्शक्ति तैं रीते जे भाव हैं, ते सर्व ही पुद्गलजन्य हैं, ते पुद्गल के ही हैं॥

अैसैं तिनि भावनि का व्याख्यान छह गाथा मैं करै है॥ छ॥

जीवस्स णत्थि वण्णो, ण वि गंधो, ण वि रसो, ण वि य फासो।
ण वि रूवं, ण सरीरं, ण वि संठाणं, ण संहणणं॥ ५०॥
जीवस्स णत्थि राओ, ण वि दोसो, णेव विज्जए मोहो।
णो पच्चया, ण कम्मं, णोकम्मं चावि से णत्थि॥ ५१॥
जीवस्स णत्थि वग्गो, ण वग्गणा, णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा, णेव य अणुभायठाणाणि॥ ५२॥
जीवस्स णत्थि केई, जोयट्ठाणा, ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा, ण मग्गणाठाणया केई॥ ५३॥

॥ दोहा॥

चित्-शक्ति सर्वस्व जिन, केवल वह है जीव।
उसे छोड़ कर और सब, पुद्गलमयी अजीव॥ ३६॥

अर्थ – जिसका सर्वस्व सार, चैतन्यशक्ति से व्याप्त है, इतना मात्र ही जीव है – इस शक्ति से रहित सभी भाव, पुद्गलजन्य हैं, पुद्गल के ही हैं।

अब, इन भावों का व्याख्यान छह गाथाओं में करते हैं —

जीवस्स णत्थि वण्णो, ण वि गंधो, ण वि रसो, ण वि य फासो।
ण वि रूवं, ण सरीरं, ण वि संठाणं, ण संहणणं॥ ५०॥
जीवस्स णत्थि रागो, ण वि दोसो, णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया, ण कम्मं, णोकम्मं चावि से णत्थि॥ ५१॥
जीवस्स णत्थि वग्गो, ण वग्गणा, णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा, णेव य अणुभागठाणाणि[1]॥ ५२॥

---

१. *अणुभागठाणा वा* – कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

णो ट्ठिइबंधट्ठाणा, जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा, णो संजमलद्धिठाणा वा॥५४॥
णेव य जीवट्ठाणा, ण गुणट्ठाणा च अत्थि जीवस्स।
जेण उ एए सव्वे, पोग्गलदव्वस्स परिणामा॥५५॥

॥षट्कं॥

जीवस्य नास्ति वर्णो, नापि गन्धो, नापि रसो, नापि च स्पर्शः।
नापि रूपं, न शरीरं, नापि संस्थानं, न संहननम्॥छ॥
जीवस्य नास्ति रागो, नापि द्वेषो, नैव विद्यते मोहः।
नो प्रत्यया न कर्म, नोकर्म चापि तस्य नास्ति॥छ॥
जीवस्य नास्ति वर्गो, न वर्गणा, नैव स्पर्धकानि कानिचित्।
नो अध्यात्मस्थानानि, नैव चानुभागस्थानानि॥छ॥

जीवस्स णत्थि केई, जोयट्ठाणा, ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा, ण मग्गणट्ठाणया केई॥५३॥
णो ठिदिबंधट्ठाणा, जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा, णो संजमलद्धिठाणा वा॥५४॥
णेव य जीवट्ठाणा, ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे, पोग्गलदव्वस्स परिणामा॥५५॥

॥षट्कं॥

नहिं वर्ण जीव के, गन्ध नहिं, नहिं स्पर्श, रस जीव के नहीं।
नहिं रूप, अरु संहनन नहीं, संस्थान नहिं, तन भी नहीं॥५०॥
नहिं राग जीव के, द्वेष नहिं, अरु मोह जीव के हैं नहीं।
प्रत्यय नहीं, नहिं कर्म अरु, नोकर्म भी जीव के नहीं॥५१॥
नहिं वर्ग जीव के, वर्गणा नहिं, कर्मस्पर्द्धक हैं नहीं।
अध्यात्मस्थान न जीव के, अनुभागस्थान भी हैं नहीं॥५२॥

जीवस्य न सन्ति कानिचिद्योगस्थानानि, न बन्धस्थानानि वा।
नैव चोदयस्थानानि, न मार्गणास्थानानि कानिचित्॥ छ॥
नो स्थितिबन्धस्थानानि, जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा।
नैव विशुद्धिस्थानानि, नो संयमलब्धिस्थानानि वा॥ छ॥
नैव च जीवस्थानानि, न गुणस्थानानि वा सन्ति जीवस्य।
येन त्वेते सर्वे, पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जीव कै वर्ण[१] नाही है॥ गंध[२] भी नाही है॥ रस[३] भी नाही है॥ वहुरि स्पर्श[४] भी नाही है॥ रूप[५] भी नाही है॥ शरीर[६] भी नाही है॥ संस्थान[७] भी नाही है॥ संहनन[८] भी नाहीं है॥ छ॥

वहुरि जीव कै राग[९] भी नाही है॥ द्वेष[१०] भी नाही विद्यमान है॥ मोह[११] भी नाही है॥ प्रत्यय[१२] कहिये आश्रव भी नाही है॥ कर्म[१३] भी नाही है॥ नोकर्म[१४] भी ताकै नाही है॥ छ॥

वहुरि जीव कै वर्ग[१५] नाही है॥ वर्गणा[१६] नाही है॥ केई स्पर्द्धक[१७] भी नाही॥ अध्यात्मस्थान[१८] भी नाही हैं॥ वहुरि अनुभागस्थान[१९] भी नाही हैं॥ छ॥

वहुरि केई योगस्थान[२०] हैं, ते भी जीव कै नाही हैं॥ अथवा वंधस्थान[२१] भी नाही हैं॥ वहुरि उदयस्थान[२२] भी नाही हैं॥ वहुरि केई मार्गणास्थान[२३] हैं, ते भी नाही हैं॥ छ॥

जीव के नहीं कुछ योगस्थान रु, बन्धस्थान भी हैं नहीं।
नहिं उदयस्थान भी जीव के, अरु स्थान मार्गण के नहीं॥ ५३॥
स्थितिबन्धस्थान न जीव के, संक्लेशस्थान भी हैं नहीं।
जीव के विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान भी हैं नहीं॥ ५४॥
नहिं जीवस्थान भी जीव के, गुणस्थान भी जीव के नहीं।
ये सभी पुद्गलद्रव्य के, परिणाम हैं जानो यही॥ ५५॥

अर्थ – १. जीव के वर्ण नहीं हैं, २. गन्ध भी नहीं हैं, ३. रस भी नहीं हैं, ४. स्पर्श भी नहीं हैं, ५. रूप भी नहीं हैं, ६. शरीर भी नहीं हैं, ७. संस्थान भी नहीं हैं, ८. संहनन भी नहीं हैं॥ ५०॥

९. जीव के राग भी नहीं हैं, १०. द्वेष भी नहीं हैं, ११. मोह भी नहीं हैं, १२. प्रत्यय अर्थात् आस्रव भी नहीं हैं, १३. कर्म भी नहीं हैं, १४. नोकर्म भी उसके नहीं हैं॥ ५१॥

१५. जीव के वर्ग नहीं हैं, १६. वर्गणा नहीं हैं, १७. कोई स्पर्द्धक भी नहीं हैं, १८. अध्यात्मस्थान भी नहीं हैं, १९. अनुभागस्थान भी नहीं हैं॥ ५२॥

२०. जीव के कोई योगस्थान भी नहीं हैं, २१. बन्धस्थान भी नहीं हैं, २२. उदयस्थान भी नहीं

१-२९. यहाँ उन वर्ण, गन्ध आदि उनतीस भावों के नाम हैं, जिनका जीव में अभाव है।

वहुरि जीव कै स्थितिवंधस्थान[२४] हैं, ते भी नाही हैं॥ अथवा संक्लेशस्थान[२५] भी नाही हैं॥ विशुद्धिस्थान[२६] भी नाही हैं॥ अथवा संयमलव्धिस्थान भी नाही हैं॥ छ॥

वहुरि जीव कै जीवस्थान[२८] भी नाही हैं॥ अथवा गुणस्थान[२९] भी नाही हैं॥ जा कारण करि ए सर्व ही पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ जो कृष्न हरित पीत रक्त श्वेत वर्ण है सो सर्व ही जीव कै नाही है, जातैं पुद्गलद्रव्य का परिणाममयीपणां कूं होतैं अपनीं अनुभूति तैं ए वर्ण भिन्न हैं॥ १॥

वहुरि जो सुरभि दुरभि गंध है सो सर्व ही जीव कै नाही है, जातैं ए पुद्गलपरिणाममयी हैं, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ २॥

वहुरि जो कटुक कषाय तिक्त अम्ल मधुर रस है सो सर्व ही जीव कै नाही है॥ जातैं ए पुद्गलपरिणाममयी हैं, अैसैं होतैं अपनी अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ ३॥

वहुरि जो स्निग्ध रूक्ष, शीत उष्न, गुरु लघु, मृदु कठिन स्पर्श हैं सो सर्व ही जीव कै नाही हैं, जातैं ए पुद्गलपरिणाममयी हैं, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ छ॥

वहुरि जो स्पर्शादि सामान्य परिणाममात्र रूप है सो जीव कै नाही है, जातैं यह पुद्गलपरिणाममयी है, अैसैं होतैं अपनी अनुभूति तैं भिन्न है॥ ५॥

वहुरि जो औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मण शरीर हैं सो सर्व ही जीव कै नाही हैं॥

हैं, २३. कोई मार्गणास्थान भी नहीं हैं॥ ५३॥

२४. जीव के स्थितिबन्धस्थान भी नहीं हैं, २५. संक्लेशस्थान भी नहीं हैं, २६. विशुद्धिस्थान भी नहीं हैं, २७. संयमलब्धिस्थान भी नहीं हैं॥ ५४॥

२८. जीव के जीवस्थान भी नहीं हैं तथा २९. गुणस्थान भी नहीं हैं क्योंकि ये सब ही पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं॥ ५५॥

टीका – १. जो काला, हरा, पीला, लाल और सफेद **वर्ण** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

२. जो सुगन्ध और दुर्गन्धरूप **गन्ध** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

३. जो कड़वा, कसैला (कषायला), चरपरा, खट्टा और मीठा **रस** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

४. जो रूखा-चिकना, शीत-उष्ण, हल्का-भारी और कठोर-नरम **स्पर्श** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

५. जो स्पर्श आदि सामान्य-परिणाममात्र **रूप** है, वह भी जीव का नहीं है क्योंकि यह पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है।

जातैं ए पुद्गलपरिणाममयी हैं, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ ६॥

वहुरि जो समचतुरस्त्र न्यग्रोधपरिमंडल सातिक कुव्जक वामन हुंडक संस्थान हैं सो सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं ए पुद्गलपरिणाममयी हैं, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ ७॥

वहुरि जो वज्रर्षभनाराच वज्रनाराच नाराच अर्द्धनाराच कीलिका असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है सो सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं ए पुद्गलपरिणाममयी हैं, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ ८॥

वहुरि जो प्रीतिरूप राग है सो सर्व ही जीव कै नाही है॥ जातैं यहु पुद्गलपरिणाममयी है, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न है॥ ९॥

वहुरि जो अप्रीतिरूप द्वेष है सो सर्व ही जीव कै नाही है॥ जातैं यह पुद्गलपरिणाममयी है, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न है॥ १०॥

वहुरि जो यथार्थतत्व की अप्राप्तिरूप मोह है सो सर्व ही जीव कै नाही है॥ जातैं यह पुद्गलपरिणाममयी है, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न है॥ ११॥

वहुरि जे मिथ्यात्व अविरति कषाय योग है लक्षण जिनिका, अैसे प्रत्यय हैं, ते सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं ए पुद्गलपरिणाममयी हैं, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ १२॥

वहुरि जो ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र अंतरायरूप कर्म हैं सो सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं यह पुद्गलपरिणाममयी है, अैसें होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ १३॥

---

६. जो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण **शरीर** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

७. जो समचतुरस्त्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक **संस्थान** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

८. जो वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तासृपाटिका **संहनन** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

९. जो प्रीतिरूप **राग** है, वह सम्पूर्ण ही जीव का नहीं है क्योंकि यह पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है।

१०. जो अप्रीतिरूप **द्वेष** है, वह सम्पूर्ण ही जीव का नहीं है क्योंकि यह पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है।

११. जो यथार्थ तत्त्व की अप्राप्तिरूप **मोह** है, वह सम्पूर्ण जीव का नहीं है क्योंकि यह पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है।

१२. जो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग लक्षणवाले **प्रत्यय** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

१३. जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप

वहुरि जो छह पर्याप्ति, तीन शरीर योग्य वस्तुरूप पुद्गलस्कंध नोकर्म है सो सर्व ही जीव कै नाही है॥ जातैं यह पुद्गलपरिणाममयी है, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न है॥ १४॥

वहुरि जो कर्म के रस की शक्ति के अविभागप्रतिच्छेद का समूहरूप वर्ग है सो सर्व ही जीव कै नाही है॥ जातैं यह[१] पुद्गलपरिणाममयी है, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न है॥ १५॥

वहुरि जो वर्गनि के समूहरूप वर्गणा है सो सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं यह पुद्गलपरिणाममयी है, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न है॥ १६॥

वहुरि जे मंद तीव्र रसरूप कर्म का समूह करि विशिष्ट वर्ग, तिनिकी वर्गणा का स्थापन सो है लक्षण जिनिका अैसे स्पर्द्धक हैं, ते सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं ए पुद्गलपरिणाममयी हैं, तातैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न है॥ १७॥

वहुरि जे स्वपर का एकपणां का निश्चय आशय होतैं विशुद्ध चैतन्यपरिणाम तैं न्यारापणां है लक्षण जिनिका, अैसे अध्यात्मस्थान हैं, ते सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं ए पुद्गलपरिणाममयी हैं, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ १८॥

वहुरि जे न्यारे न्यारे विशेषरूप प्रकृतिनि के रसरूप परिणाम है लक्षण जिनिका, अैसे अनुभागस्थान हैं, ते सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं ए पुद्गलपरिणाममयी हैं, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ १९॥

कर्म हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

१४. जो छह पर्याप्तियों और तीन प्रकार के शरीर के योग्य वस्तुरूप पुद्गलस्कन्धमय **नोकर्म** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

१५. जो कर्म के रस की शक्ति के अविभाग-प्रतिच्छेदों के समूहरूप **वर्ग** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

१६. जो वर्गों के समूहरूप **वर्गणाएँ** हैं, वे सभी जीव की नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल के परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

१७. जो 'मन्द-तीव्र रसरूप कर्मों के समूह से विशिष्ट वर्गों की वर्गणा का स्थापन करना' – ऐसे लक्षणवाले **स्पर्द्धक** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

१८. जो 'स्व-पर के एकत्व का निश्चय अर्थात् आशय होने से विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्न होना' – ऐसे लक्षणवाले **अध्यात्मस्थान** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

१९. जो 'भिन्न-भिन्न विशेषोंवाली प्रकृतियों के रसरूप परिणाम होना' – ऐसे लक्षणवाले **अनुभाग-स्थान** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति

---

१. *यह सर्व ही* - 'ब' प्रति पाठ

वहुरि जे काय वचन मनरूप वर्गणा का चलनां सो है लक्षण जिनिका, अैसे योगस्थान, ते सर्व ही जीव कै नाहीं हैं॥ जातैं ए पुद्गलपरिणाममयी हैं, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ २०॥

वहुरि जे न्यारे न्यारे विशेष कूं लीयें प्रकृतिनि के परिणाम हैं लक्षण जिनिका, अैसे वंधस्थान हैं, ते सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं ए पुद्गलपरिणाममयी हैं, अैसें होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ २१॥

वहुरि जे अपनें फल के उपजावनें विषै समर्थ कर्म की अवस्था, सो है लक्षण जिनिका अैसैं उदयस्थान हैं, ते सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं ए पुद्गलपरिणाममयी हैं, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ २२॥

वहुरि जे गति इंद्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान संयम दर्शन लेश्या भव्य सम्यक्त्व संज्ञा आहारक है लक्षण जिनिका, अैसै मार्गणास्थान हैं, ते सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं ए पुद्गलपरिणाममयी है॥ अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ २३॥

वहुरि जे न्यारे न्यारे विशेषनि कूं लीयें प्रकृतिनि के कालांतर विषै साथि रहनां है लक्षण जिनिका, अैसे स्थितिवंध के स्थान हैं, ते सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं ए पुद्गलद्रव्य के परिणाममयी हैं, अैसें होतैं अपनी अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ २४॥

वहुरि जे कषाय का विपाक का उत्कटपणां है लक्षण जिनिका, अैसे संक्लेशस्थान हैं, ते सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं ए पुद्गलद्रव्य के परिणाममयी हैं॥ तातैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ २५॥

से भिन्न हैं।

२०. जो 'काय-वचन-मनरूप वर्गणा का परिस्पन्दन होना' – ऐसे लक्षणवाले **योगस्थान** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

२१. जो 'भिन्न-भिन्न विशेषोंसहित प्रकृतियों के परिणाम होना' – ऐसे लक्षणवाले **बन्धस्थान** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

२२. जो 'अपने फल को उत्पन्न करने में समर्थ कर्म की अवस्था होना' – ऐसे लक्षणवाले **उदयस्थान** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

२३. जो 'गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भाव, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक' – ऐसे लक्षणवाले **मार्गणास्थान** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल-परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

२४. जो 'भिन्न-भिन्न विशेषोंसहित प्रकृतियों का कालान्तर में साथ रहना' – ऐसे लक्षणवाले **स्थितिबन्धस्थान** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

२५. जो 'कषाय के विपाक की तीव्रता होना' – ऐसे लक्षणवाले **संक्लेशस्थान** हैं, वे सभी

वहुरि जे कषाय के विपाक का मंदपणां है लक्षण जिनिका, अैसे विशुद्धिस्थान हैं, ते सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं ए पुद्गलद्रव्य के परिणाममयी हैं, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ २६॥

वहुरि जे चारित्रमोह का उदय की अनुक्रम तैं निवृत्ति है लक्षण जिनिका, अैसे संयमलब्धिस्थान हैं, ते सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं ए पुद्गलद्रव्य के परिणाममयी हैं, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ २७॥

वहुरि जे पर्याप्त अपर्य्याप्त वादर सूक्ष्म, एकेंद्रिय द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय, संज्ञी असंज्ञी पंचेंद्रिय है लक्षण जिनिका, अैसे जीवस्थान हैं, ते सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं ए पुद्गलद्रव्य के परिणाममयी हैं, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ २८॥

वहुरि जे मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि संयतासंयत प्रमत्तसंयत अप्रमत्तसंयत अपूर्वकरण उपशमक क्षपक, अनिवृत्तिवादरसांपराय उपशमक क्षपक, सूक्ष्मसांपराय उपशमक क्षपक, उपशांतकषाय क्षीणकषाय सयोगकेवली अयोगकेवली, ए हैं लक्षण जिनिके, अैसे गुणस्थान हैं, ते सर्व ही जीव कै नाही हैं॥ जातैं ए पुद्गलद्रव्यपरिणाममयी हैं, अैसैं होतैं अपनीं अनुभूति तैं भिन्न हैं॥ २९॥

अैसैं ए सर्व ही पुद्गलद्रव्य के परिणाममयी भाव हैं, ते सर्व ही जीव कै नाही हैं। जीव तौ परमार्थ चैतन्यशक्तिमात्र है।

अव, इस ही अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥

जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

२६. जो 'कषाय के विपाक की मन्दता होना' – ऐसे लक्षणवाले **विशुद्धिस्थान** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

२७. जो 'चारित्रमोह के उदय की अनुक्रम से निवृत्ति होना' – ऐसे लक्षणवाले **संयमलब्धिस्थान** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

२८. जो 'बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय – इन सभी के पर्याप्त और अपर्याप्त' – ऐसे लक्षणवाले **जीवस्थान** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

२९. तथा जो 'मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, उपशमक-क्षपक अपूर्वकरण, उपशमक-क्षपक अनिवृत्तिकरण या बादरसाम्पराय, उपशमक-क्षपक सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली' – ऐसे लक्षणवाले **गुणस्थान** हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गलपरिणाममयी होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

इस प्रकार ये सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाममयी भाव हैं, वे सभी जीव के नहीं हैं; जीव तो परमार्थ से चैतन्यशक्तिमात्र है।

॥ शालिनी ॥[१]

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा,
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात्॥ ५॥

॥ अर्थ॥ वर्णादिक अथवा राग मोहादिक सर्व ही भाव कहे, ते सर्व ही या पुरुष कै भिन्न हैं, तिस ही कारण करि अंतरदृष्टि करि देषते कूं ए सर्व ही नाही दीषे, केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप पुरुष ही दीष्या।

॥ भावार्थ॥ परमार्थनय अभेद ही है, तातैं तिस दृष्टि करि देषतैं भेद नाही दीषै है, तिस नय की दृष्टि मैं चैतन्यमात्र ही पुरुष दीषै है। तातैं ते सर्व ही वर्णादिक तथा रागादिक पुरुष कै भिन्न ही हैं अर इनि वर्ण कूं आदि लेकरि गुणस्थान पर्यंत भाव है, तिनिका स्वरूप विशेष करि जाण्यां चाहै सो गोम्मट्टसार आदि ग्रंथनि तैं जाणियो॥ छ॥

आगैं पूछै है जो वर्णादिक भाव ए कहे, ते जीव के नाही हैं तौ अन्य सिद्धांत विषै ए जीव कै हैं, अैसैं कैसैं कह्या है॥ ताका उत्तर गाथा मैं कहै है॥ छ॥

ववहारेण उ एए, जीवस्स हवंति वण्णमाईया।
गुणठाणंता भावा, ण उ केई णिच्छयणयस्स॥ ५६॥

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ दोहा॥

वर्णादिक रागादि सब, हैं आतम से भिन्न।
अन्तर्दृष्टि देखिए, दिखे एक चैतन्य॥ ३७॥

अर्थ – वर्ण आदि अथवा राग, [द्वेष], मोह आदि जो सभी भाव कहे हैं, वे सभी इस पुरुष आत्मा से भिन्न हैं; इसलिए अन्तर्दृष्टि से देखनेवाले को ये सभी दिखाई नहीं देते हैं, केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप पुरुष आत्मा ही दिखाई देता है।

भावार्थ – परमार्थनय अभेद ही [देखता] है, इसलिए उस दृष्टि से देखने पर भेद दिखाई नहीं देता, उस नय की दृष्टि में तो चैतन्यमात्र पुरुष आत्मा ही दिखाई देता है; इसलिए ये सभी वर्णादि तथा रागादि भाव, पुरुष आत्मा से भिन्न ही हैं और इन वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भावों का स्वरूप विशेषरूप से जो जानना चाहते हैं, उन्हें गोम्मटसार आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए।

अब, शिष्य पूछता है कि जो ये वर्णादि भाव कहे हैं, वे जीव के नहीं हैं तो अन्य सिद्धान्त

---

१. *सालिनी छन्द* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

व्यवहारेण त्वेते, जीवस्य भवन्ति वर्णाद्याः।
गुणस्थानान्ता भावा, न तु केचित् निश्चयनयस्य॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ए वर्ण आदि गुणस्थान अंत जे भाव कहे ते जीव कै व्यवहारनय करि होय हैं, तातैं सूत्र मैं कहे हैं॥ वहुरि निश्चयनय के मत मैं तौ इनिमैं का केई जीव कै नाहीं है॥

॥ टीका॥ इहां व्यवहारनय है सो पर्याय आश्रित है सो पुद्गल के संयोग के वश तैं अनादि तैं प्रसिद्ध है वंधपर्याय जाकै, अैसा जीव कै॥ जैसैं कुपास के श्वेत वस्त्र कै कुसूंभा का लालरंग औपाधिक होय है, तैसैं औपाधिक भाव जीव कै, वर्णादिक होय हैं, तिनिकूं आलंवन करि व्यवहारनय प्रवर्त्तै है॥ सो पर के भाव कूं पर कै कहै है॥

वहुरि निश्चयनय है सो द्रव्य के आश्रय है सो केवल एक जीव का स्वाभाविक भाव कूं अवलंवन करि प्रवर्त्तै है सो सर्व ही परभाव कूं पर के नाही कहै है, प्रतिषेध करै है॥ तातैं वर्ण कूं आदि लेकरि गुणस्थान तांई जे भाव हैं, ते जीव कै हैं, अैसैं व्यवहार करि कहिये हैं॥ वहुरि निश्चयनय करि जीव कै ए नाही हैं, अैसैं कहिये है॥

अैसैं भगवान् की स्याद्वाद कथनीं युक्त है॥ छ॥

ग्रन्थों में इन्हें 'ये जीव के हैं', ऐसा कैसे कहा है? – इसका उत्तर गाथासूत्र में कहते हैं —

ववहारेण दु एदे, जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा, ण दु केई णिच्छयणयस्स॥ ५६॥

वर्णादि गुणस्थानान्त भाव जु, जीव के व्यवहार से।
पर कोई भी ये भाव नहिं हैं, जीव के निश्चय विषैं॥ ५६॥

अर्थ – ये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जो भाव कहे हैं, वे जीव के व्यवहारनय से होते हैं, इसलिए सूत्र में कहे हैं परन्तु निश्चयनय की दृष्टि में तो इनमें से कोई भी जीव का नहीं है॥ ५६॥

टीका – यहाँ व्यवहारनय पर्यायाश्रित है, वह पुद्गल के संयोग के वश से जिसकी बन्धपर्याय अनादि प्रसिद्ध है – ऐसे जीव के वर्णादि भी उसी प्रकार औपाधिक भाव होते हैं; जिस प्रकार कपास से बने सफेद वस्त्र पर कुसुम्भ का लाल रङ्ग औपाधिक होता है। उन (औपाधिक भावों) का अवलम्बन लेकर व्यवहारनय प्रवर्तता है, वह एक के भाव को दूसरे का कहता है।

तथा, निश्चयनय द्रव्याश्रित है, वह केवल एक जीव के स्वाभाविकभाव का ही अवलम्बन करके प्रवर्तता है; अतः परभाव (सर्वत्र एक वस्तु के भाव) को दूसरे का नहीं कहता है, बल्कि निषेध करता है; इसलिए 'वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव जीव के हैं' – ऐसा व्यवहारनय से कहते हैं तथा 'ये जीव के नहीं हैं' – ऐसा निश्चयनय से कहते हैं।

इस प्रकार भगवान की स्याद्वाद कथनी युक्त (प्रामाणिक) है।

आगैं, फेरि पूछै है जो ए वर्णादिक, जीव कै निश्चय करि काहे तैं नाही हैं, ताका हेतु कहौ, अैसैं पूछै उत्तर कहै है॥

एएहिं य संबंधो, जहेव खीरोदयं मुणेयव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि उ, उवओगगुणाहिओ जम्हा॥ ५७॥

एतैश्च सम्बन्धो, यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्यः।
न च भवन्ति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ इनि वर्णादि भावनि करि जीव कै जैसैं जल कै अर दूध कै एकक्षेत्रावगाह संयोग संवंध है, तैसैं संवंध जाननां॥ वहुरि ते तिस जीव कै नाही हैं, जातैं जीव इनितैं उपयोगगुण करि अधिका है, इस उपयोग गुण करि न्यारा जाणिये है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं जल करि मिश्रित जो दूध, ताकै जल करि सहित परस्पर अवगाह है लक्षण जाका, अैसा संवंध होतैं भी दूध तो[१] अपनां स्वलक्षणभूत जो दूधपणां, तिस ही करि व्याप्य है ता करि[२] जल तैं अधिकपणां करि प्रतीयमान है, तिसकै अर दूध कै तादात्म्यस्वरूप संवंध का अभाव है। जैसैं अग्नि कै अर उष्नपणां कै तादात्म्यसंवंध है, तैसैं इनिकै नाही है, तातैं निश्चय करि 'दूध कै

अब शिष्य, पुनः प्रश्न करता है कि निश्चय से ये वर्ण आदि, जीव के क्यों नहीं हैं, इसका हेतु बताएँ? – ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं —

एदेहिं य संबंधो, जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य होंति तस्स ताणि दु, उवओगगुणाधिगो जम्हा॥ ५७॥

इन भाव से सम्बन्ध जीव का, क्षीर-जलवत् जानना।
उपयोगगुण से अधिक इससे, भाव कोइ न जीव का॥ ५७॥

अर्थ – जैसे, जल और दूध का एकक्षेत्रावगाहरूप संयोगसम्बन्ध है, वैसा ही इन वर्णादि-भावों के साथ जीव का सम्बन्ध जानना चाहिए। ये वर्णादि उस जीव के नहीं हैं क्योंकि जीव इनसे अपने उपयोगगुण के कारण अधिक है; इस उपयोगगुण के द्वारा भिन्न जाना जाता है॥ ५७॥

टीका – जिस प्रकार जल से मिश्रित दूध का जल के साथ परस्पर-अवगाह लक्षणवाला सम्बन्ध होने पर भी दूध तो अपने स्वलक्षणभूत दुग्धत्वगुण से व्याप्त होने के कारण जल से अधिकपने (भिन्न) प्रतीत होता है। जल और दूध में तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध का अभाव है। जैसे अग्नि और उष्णता में तादात्म्यसम्बन्ध है, वैसे दूध और जल में नहीं है; इसलिए निश्चय से दूध में जलपना

---

१. *दूध* – 'ब' प्रति पाठ
२. *दूधपणां गुण है व्याप्य जाकै, तिसपणां करि* – 'ब' प्रति पाठ।

जलपणां'[१] नाही है॥

तैसैं ही वर्णादिक पुद्गल[२] के परिणामनि करि मिश्रित जो आत्मा, ताकै पुद्गलद्रव्य करि सहित परस्पर अवगाह लक्षण संबंध होतैं भी अपनां लक्षणभूत 'उपयोगगुण, ताकरि व्याप्यपणां करि'[३] सर्व द्रव्यनि तैं अधिकपणां करि प्रतीयमान है। सो जैसैं अग्नि कै अर उष्नपणां कै तादात्म्यस्वरूप संबंध है, तैसैं आत्मा कै अर वर्णादिक कै तादात्म्य संबंध नाही है॥ तातैं निश्चयनय करि वर्णादिक पुद्गल के परिणाम हैं, ते जीव कै नाही हैं॥ छ॥

आगैं फेरि पूछै है जो अैसैं तौ व्यवहारनय कै अर निश्चयनय कै विरोध आया, अविरोध कैसैं कहिये॥ ताका उत्तर दृष्टांत करि गाथा तीन मैं कहै है॥ छ॥

पंथे मुस्संतं, पस्सिऊण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सइ एसो पंथो, ण य पंथो मुस्सए कोई॥ ५८॥
तह जीवे कम्माणं, णोकम्माणं च पस्सिउं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो, जिणेहिं ववहारओ वुत्तो॥ ५९॥[४]

नहीं है।

उसी प्रकार पुद्गल के वर्णादि परिणामों से मिश्रित आत्मा का पुद्गलद्रव्य के साथ परस्पर अवगाह लक्षणवाला सम्बन्ध होने पर भी आत्मा अपने स्वलक्षणभूत उपयोगगुण से व्याप्त होने के कारण सर्व द्रव्यों से अधिकपने (भिन्न) प्रतीत होता है। जैसे अग्नि और उष्णता में तादात्म्यसम्बन्ध है, वैसे आत्मा और वर्णादि में तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है; इसलिए निश्चयनय से वर्णादि पुद्गल के परिणाम, जीव के नहीं हैं।

अब, शिष्य पुनः प्रश्न करता है कि यदि ऐसा है तो व्यवहारनय और निश्चयनय में विरोध आता है, तब इन्हें निर्विरोध कैसे कहते हैं? – इस प्रश्न का उत्तर दृष्टान्तपूर्वक तीन गाथाओं में देते हैं —

पंथे मुस्संतं, पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो, ण य पंथो मुस्सदे कोई॥ ५८॥
तह जीवे कम्माणं, णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो, जिणेहिं ववहारदो उत्तो॥ ५९॥

---

१. *जल* – 'ब' प्रति पाठ
२. *पुद्गलद्रव्य* – 'ब' प्रति पाठ
३. *उपयोगगुण सो है व्याप्य जाकै, तिसपणां करि* – 'ब' प्रति पाठ
४. *यहाँ पर॥ ५९॥ एवं* – ऐसा 'अ' 'ब' प्रति में पाठ

गंधरसफासरूवा, देहा[१] संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य, णिच्छयदण्हु ववदिसंति॥ ६०॥

॥ त्रिकलं॥

पथि मुष्यमाणं, दृष्ट्वा लोका भणन्ति व्यवहारिणः।
मुष्यते एष पन्था, न च पन्था मुष्यते कश्चित्॥ छ॥
तथा जीवे कर्मणां, नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णम्।
जीवस्यैष वर्णो, जिनैर्व्यवहारतः उक्तः॥ छ॥[२]
गन्धरसस्पर्शरूपाणि, देहः संस्थानादयो ये च।
सर्वे व्यवहारस्य च, निश्चयद्रष्टारो[३] व्यपदिशन्ति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं मार्ग विषै चालते कूं लुटता देषि, व्यवहारी लोक कहै, यह मार्ग लुटै है। तहां परमार्थ विचारिये, तव कोई मार्ग तौ नाही लूटै है, चालते लोक ही लुटैं हैं॥ छ॥

तैसैं जीव विषै कर्मनि का तथा नोकर्मनि का वर्ण कूं देषि करि जिनदेव, व्यवहार तैं कह्या

गंधरसफासरूवा, देहो संठाणमाइया जे य।[४]
सव्वे ववहाररस्स य, णिच्छयदण्हू ववदिसंति॥ ६०॥

देखा जु लुटते पन्थ में कोइ, 'पन्थ ये तो लुटत है' –
जन-गण कहें व्यवहार से, नहिं पन्थ कोई लुटत है॥ ५८॥
त्यों वर्ण देखा जीव में, इन कर्म अरु नोकर्म का।
जिनवर कहें व्यवहार से, 'यह वर्ण है इस जीव का'॥ ५९॥
त्यों गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, तन, संस्थान इत्यादिक सबैं।
भूतार्थदृष्टा पुरुष ने, व्यवहारनय से वर्णये॥ ६०॥

अर्थ – जैसे, मार्ग पर चलते हुए राहगीर को लुटते हुए देख कर व्यवहारी लोग कहते हैं कि 'यह मार्ग लुटता है' वहाँ परमार्थ से विचार किया जाए तो कोई मार्ग तो लुटता नहीं है, उस मार्ग पर चलनेवाले लोग (राहगीर) ही लुटते हैं॥ ५८॥

उसी प्रकार जीव में कर्मों और नोकर्मों का वर्ण देख कर, व्यवहार से जिनदेव ने कहा है कि

---

१. *देहो* – 'ब' प्रति पाठ
२. यहाँ पर॥ छ॥ *एवं* – ऐसा 'अ' 'ब' प्रति पाठ
३. *दृष्टारो* – 'ब' प्रति पाठ
४. *एवं रसगन्धफासा संठाणादीय जे समुद्दिट्ठा* – तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ

है जो यह वर्ण जीव का है॥ छ॥

ऐसैं ही गंध रस स्पर्श रूप देह संस्थान आदिक, जे सर्व ही हैं, ते व्यवहार का उपदेश है। ऐसैं निश्चयनय के देषनेंवाले कहैं हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं मार्ग विषै चालता साथ कूं लुटता देषि अर कोई कहै जो यह मार्ग लुटै है, तहां तिस मार्ग विषै लुटनें तैं मार्ग लुटनें का उपचार करि कहै है॥ ऐसा व्यवहारी लोकनि कै कहनां होतैं भी निश्चय तैं देषिये, तव मार्ग तौ आकाश के प्रदेश का विशेष है सो मार्ग तौ कोई लुटै है नांही॥

तैसैं जीव विषै वंधपर्याय करि अवस्थित जो कर्म का अर नोकर्म का वर्ण, ताहि देषि करि, जीव विषै तिष्ठनें करि, तिसका उपचार करि जीव का यह वर्ण है, ऐसैं व्यवहार तैं भगवान अरहंतदेव प्रज्ञापन करै है, जनावै है, तौऊ निश्चय तैं जीव है सो नित्य ही अमूर्त्तस्वभाव है अर उपयोगगुण करि अन्यद्रव्य तैं अधिक है, भिन्न है, तातैं ताकै कोई वर्ण नाही है॥

ऐसैं ही गंध रस स्पर्श रूप शरीर संस्थान संहनन राग द्वेष मोह प्रत्यय कर्म नोकर्म वर्ग वर्गणा स्पर्द्धक अध्यात्मस्थान अनुभागस्थान योगस्थान वंधस्थान उदयस्थान मार्गणास्थान स्थितिवंधस्थान संक्लेशस्थान विशुद्धिस्थान संयमलब्धिस्थान जीवस्थान गुणस्थान, ए सर्व ही व्यवहार तैं जीव कै अरिहंतदेव कहै हैं। तौऊ निश्चय तैं जीव है सो नित्य ही अमूर्त्तस्वभाव है अर उपयोगगुण करि अन्य तैं अधिक है, भिन्न है, तातैं ताकै ए सर्व ही नाही हैं॥ जातैं इनि वर्णादिक भावनि कै अर जीव कै

'यह वर्ण, जीव का है'॥ ५९॥

इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, देह, संस्थान आदि सभी [जीव के] हैं – यह भी व्यवहारनय का उपदेश है – ऐसा निश्चयनय को देखनेवाले कहते हैं॥ ६०॥

टीका – जिस प्रकार मार्ग में चलते हुए संघ को लुटता हुआ देख कर कोई कहता है कि 'यह मार्ग लुटता है', लेकिन वहाँ उस मार्ग में लुटने के कारण 'मार्ग का लुटना' उपचार से कहा जाता है – ऐसा व्यवहारी जनों का कहना होने पर भी निश्चय से देखा जाए तो मार्ग तो आकाश के प्रदेशों का एक विशेष [भाग] है; अतः मार्ग तो लुटता है नहीं।

उसी प्रकार जीव में बन्धपर्याय के रूप में अवस्थित कर्म और नोकर्म के वर्ण को देख कर, जीव में उन कर्म-नोकर्म का सम्बन्ध होने से, उसे उपचारवश 'जीव का यह वर्ण है' – ऐसा भगवान अरहन्तदेव व्यवहार से प्रगट करते हैं, ज्ञान कराते हैं; फिर भी निश्चय से जीव नित्य ही अमूर्त स्वभाववाला है और अपने उपयोगगुण के कारण अन्य द्रव्यों से अधिक है, भिन्न है; इसलिए उसका कोई वर्ण नहीं है।

इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान, गुणस्थान – इन सभी को व्यवहार से जीव का अरिहन्तदेव ने कहा है, फिर भी निश्चय से जीव नित्य ही

तादात्म्यलक्षण संबंध का अभाव है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ ए वर्ण तैं लगाय गुणस्थान पर्यंत भाव कहे, ते सिद्धांत मैं जीव कै कहे हैं, ते व्यवहारनय करि कहै हैं। निश्चयनय करि जीव कै नाही हैं, जातैं जीव तौ परमार्थ करि उपयोगस्वरूप है॥

वहुरि इहां अैसा जाननां जो पहलैं व्यवहारनय कूं असत्यार्थ कह्या है, तहां अैसा तौ नाही जो सर्वथा ही असत्यार्थ है, कथंचित् असत्यार्थ जाननां। जातैं जहां एक द्रव्य कूं न्यारा, पर्यायनि तैं अभेद असाधारण गुणमात्र कूं प्रधान करि कहिये, तव परस्पर द्रव्यनि का निमित्तनैमित्तिकभाव तथा निमित्त तैं भये पर्याय, ते सर्व गौण भये, तिस एक अभेदद्रव्य की दृष्टि मैं तिनिका प्रतिभास नाही, तातैं ते सर्व तिस द्रव्य मैं नाही हैं, अैसैं कथंचित् निषेध करिये। वहुरि तिस द्रव्य मैं कहिये तव व्यवहारनय करि कहिये, अैसैं नयविभाग है।

सो इहां शुद्धद्रव्य की दृष्टि करि कथन है, तातैं तिनि सर्व ही कूं जीव कै व्यवहारनय करि कह्या है, अैसैं सिद्ध कीया है अर निमित्तनैमित्तिकभाव की दृष्टि करि देषिये, तव कथंचित् सत्यार्थ भी कहिये। सर्वथा असत्यार्थ ही कहिये तौ सर्व व्यवहार का लोप होय, तव परमार्थ का भी लोप होय। तातैं जिनदेव की देशना स्याद्वादरूप ही समझैं सम्यक्ज्ञान है, सर्वथा एकांत मिथ्यात्व है॥ छ॥

अमूर्तस्वभाववाला है और अपने उपयोगगुण के कारण अन्य से अधिक है, भिन्न है; इसलिए ये सभी जीव के नहीं हैं, क्योंकि इन वर्णादिभावों और जीव में तादात्म्यलक्षणरूप सम्बन्ध का अभाव है।

भावार्थ – यहाँ वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जो भाव कहे हैं, उन्हें सिद्धान्त ग्रन्थों में व्यवहारनय से जीव का कहा है; निश्चयनय से वे जीव के नहीं हैं क्योंकि जीव तो परमार्थ से उपयोगस्वरूप है।

यहाँ ऐसा जानना चाहिए कि पहले व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है, वहाँ वह सर्वथा ही असत्यार्थ नहीं है, उसे कथञ्चित् असत्यार्थ जानना चाहिए क्योंकि जब एक द्रव्य को [अन्य द्रव्यों से] भिन्न, अपनी पर्यायों से अभेदरूप एवं उसके असाधारण गुणमात्र को प्रधान करके कहा जाता है; तब द्रव्यों का परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव और परनिमित्त से होनेवाली पर्यायें सब गौण हो जाती हैं। उस एक अभेद द्रव्य की दृष्टि में उनका प्रतिभास नहीं होता है; इसलिए वे उस द्रव्य में नहीं हैं, इस प्रकार कथञ्चित् निषेध किया जाता है। फिर भी यदि उन्हें उस द्रव्य में कहते हैं तो वह व्यवहारनय से कहते हैं – ऐसा नयविभाग है।

यहाँ शुद्धद्रव्य की दृष्टि से कथन है, इसलिए उन सभी वर्णादिक को जीव का व्यवहारनय से कहा है – ऐसा सिद्ध किया है। यदि निमित्त-नैमित्तिकभाव की दृष्टि से देखा जाए तो उन्हें कथञ्चित् सत्यार्थ भी कहते हैं, क्योंकि यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहें तो सर्व व्यवहार का लोप होता है, तब परमार्थ का भी लोप हो जाता है; इसलिए जिनदेव की देशना को स्याद्वादरूप से ही समझने पर सम्यग्ज्ञान होता है, सर्वथा एकान्त [मानने पर] मिथ्यात्व होता है।

आगैं पूछै है जो वर्णादिक करि जीव कै तादात्म्यसंवध काहे तैं नाही, अैसैं पूछें उत्तर कहै है॥ छ॥

तत्थ भवे जीवाणं, संसारत्थाण होंति वण्णाई।
संसारपमुक्काणं, णत्थि उ[1] वण्णादओ केई॥ ६१॥

तत्र भवे जीवानां, संसारस्थानां भवन्ति वर्णादयः।
संसारप्रमुक्तानां, न सन्ति खलु वर्णादयः केचित्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ वर्णादिक हैं, ते जे जीव संसार विषै तिष्ठैं हैं, तिनिकै तिस संसार विषै तौ होय हैं। वहुरि जे संसार तैं छूटै हैं, मुक्त भये हैं, तिनिकै वर्णादिक निश्चय करि कोई भी नाहीं हैं, यातैं तादात्म्यसंवंध नाही॥ छ॥

॥ टीका॥ जो निश्चय करि सर्व ही अवस्था विषै तत्स्वरूप करि व्याप्त होय अर तिस स्वरूप की व्याप्ति करि रहित न होय, तिस वस्तु कै तिनि भावनि करि सहित तादात्म्यसंवंध होय॥ तातैं सर्व ही अवस्था विषै वर्णादि स्वरूपपणां करि व्याप्त होता, वहुरि वर्णादिक की व्याप्ति करि शून्य न होता जो पुद्गलद्रव्य, ताकै वर्णादिभावनि करि सहित तादात्म्यलक्षण संवंध होय है॥

वहुरि संसार अवस्था विषै कथंचित् वर्णादि स्वरूपपणां करि होता अर वर्णादि स्वरूपपणां की

अब, शिष्य प्रश्न करता है कि वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्यसम्बन्ध क्यों नहीं है? — इसका उत्तर देते हैं —

तत्थ भवे जीवाणं, संसारत्थाण[2] होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं, णत्थि हु वण्णादओ केई॥ ६१॥

संसारी जीव के वर्ण आदि, भाव हैं संसार में।
संसार से परिमुक्त के नहिं, भाव हों वर्णादि के॥ ६१॥

अर्थ – जो जीव, संसार में स्थित हैं, उनकी संसार अवस्था में तो वर्णादि होते हैं परन्तु जो जीव, संसार से छूटे हैं, मुक्त हो गए हैं, उनके निश्चय से कोई भी वर्णादि नहीं हैं; इसलिए उनका जीव के साथ तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है॥ ६१॥

टीका – निश्चय से जो सभी अवस्थाओं में उसस्वरूप (तत्स्वरूप) से व्याप्त होता है और उसस्वरूप की व्याप्ति से रहित नहीं होता है, उस वस्तु का उन भावों के साथ तादात्म्यसम्बन्ध होता है। पुद्गलद्रव्य का वर्णादिभावों के साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध होता है क्योंकि वह सभी अवस्थाओं में वर्णादि स्वरूपपने से व्याप्त होता है और वर्णादि की व्याप्ति से रहित कभी नहीं होता है।

---

१. हु – 'ब' प्रति में पाठ। *२. संसारत्थाणं – तात्पर्यवृत्ति में पाठ।*

व्याप्ति करि शून्य न होता तो जीव, ताकै मोक्ष अवस्था विषै सर्व प्रकार करि वर्णादि स्वरूपपणां की व्याप्ति करि शून्य होता कै अर वर्णादि स्वरूपपणां करि व्याप्त न होता कै वर्णादि भावनि करि तादात्म्यलक्षण संवंध कोई प्रकार भी नाही है॥

॥ भावार्थ॥ जो वस्तु जिनि भावनि करि सर्व अवस्था मैं व्यापै, ताकै तिनि भावनि करि तादात्म्य संवंध कहिये॥ सो वर्णादिक तैं पुद्गल तौ सर्व अवस्था मैं व्यापक है अर जीव कै संसार अवस्था मैं तौ वर्णादिक कोई प्रकार कहिये अर मोक्ष अवस्था मैं सर्वथा ही नाही। तातैं जीव कै वर्णादिक करि तादात्म्यसंवंध नाही है, अैसा न्याय है॥ छ॥

आगैं जीव कै वर्णादिक करि तादात्म्य है, अैसा कोई मिथ्या अभिप्राय करै, तौ तामैं यह दोष है सो कहै है॥ छ॥

जीवो चेव हि एए, सव्वे भाव त्ति मण्णसे जइ हि।
जीवस्साजीवस्स य, णत्थि विसेसो दु दे कोई॥ ६२॥

जीवश्चैव ह्येते, सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि।
जीवस्याजीवस्य च, नास्ति विशेषस्तु ते कश्चित्॥ छ॥

जीव भी, संसार अवस्था में कथञ्चित् वर्णादि-स्वरूपपने से व्याप्त होता है और वर्णादि-स्वरूपपने की व्याप्ति से शून्य नहीं होता, वही मोक्ष अवस्था में सर्व प्रकार से वर्णादि-स्वरूपपने की व्याप्ति से शून्य होता है और वर्णादि-स्वरूपपने से व्याप्त नहीं होने के कारण, वर्णादिभावों के साथ उसका तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध किसी भी प्रकार से नहीं है।

भावार्थ – जो वस्तु, जिन भावों से अपनी सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होती है, उसका उन भावों से तादात्म्यसम्बन्ध कहा जाता है। वर्णादि के साथ पुद्गल तो सर्व अवस्थाओं में व्यापक है और जीव की संसार अवस्था में तो वर्णादि किसी प्रकार कहे जा सकते हैं, लेकिन मोक्ष अवस्था में तो सर्वथा हैं ही नहीं; अत: जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है – यह न्याय है।

अब, यदि कोई जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है – ऐसा मिथ्या अभिप्राय करता है तो उसका क्या दोष है? – वह बताते हैं –

जीवो चेव हि एदे, सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य, णत्थि विसेसो दु[1] दे कोई॥ ६२॥

ये भाव सब हैं जीव यदि, ऐसा ही तू माने सही।
तो जीव और अजीव में कुछ, भेद ही रहता नहीं॥ ६२॥

---

१. *हि* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

॥ अर्थ ॥ वर्णादिक तैं जीव कै तादात्म्य माननेंवाला कूं कहै है। हे मिथ्या अभिप्रायी, जो तू अैसैं मानैं है जो ए वर्णादिक भाव, सर्व ही जीव है, तौ तेरे मत मैं जीव कै अर अजीव कै किछू विशेष नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं वर्णादिक भाव हैं, ते अनुक्रम तैं भाया है आविर्भाव कहिये उपजनां अर तिरोभाव कहिये नाश होनां ज्यां, अैसी जे ते ते व्यक्ति कहिये पर्याय, तिनि करि पुद्गलद्रव्य ही कूं अन्वयरूप प्राप्त होते पुद्गलद्रव्य ही कै तादात्म्यस्वरूप कूं विस्तारैं हैं॥

तैसैं ही ए वर्णादिक भाव क्रम करि भाया है आविर्भाव तिरोभाव ज्यां, अैसी जे ते ते पर्याय अवस्था, तिनि करि जीव कूं अन्वयरूप प्राप्त होते जीव कै वर्णादिक तैं तादात्म्यस्वरूप कूं विस्तारैं हैं, अैसा जाका अभिप्राय है, ताकै अन्य वाकी द्रव्य तैं असाधारण, वर्णादि स्वरूप जो पुद्गलद्रव्य का लक्षण, ताका जीव[१] करि अंगीकार करणें तैं जीव पुद्गल कै अविशेष का प्रसंग होतैं पुद्गलनि तैं न्यारा जीवद्रव्य का अभाव होनें तैं जीव का अभाव होय ही है॥

॥ भावार्थ॥ जैसैं वर्णादि, पुद्गलद्रव्य सूं तादात्म्यस्वरूप है, तैसैं जो जीव सूं भी तादात्म्यस्वरूप होय तौ जीव पुद्गल मैं भेद न ठहरै, तव जीव का अभाव होय ही॥ यह वडा दोष आवै॥ छ॥

आगैं संसार अवस्था विषै ही जीव कै वर्णादिक तैं तादात्म्य है, अैसा अभिप्राय होतैं भी यह ही दोष आवै है, अैसैं कहै है॥ छ॥

अर्थ – यहाँ [आचार्य], वर्णादि से जीव का तादात्म्य माननेवाले से कहते हैं – "हे मिथ्या अभिप्रायी! यदि तू ऐसा मानता है कि सब वर्णादिभाव ही जीव हैं तो तेरे मत में जीव और अजीव में कुछ भी विशेष (अन्तर) नहीं है।"॥ ६२॥

टीका – जैसे वर्णादिभाव, अनुक्रम से प्रगट होनेवाली, **आविर्भाव** अर्थात् उत्पन्न होनेवाली और **तिरोभाव** अर्थात् नष्ट होनेवाली, उन-उन व्यक्तियों अर्थात् पर्यायों के द्वारा पुद्गलद्रव्य ही को अन्वयरूप से प्राप्त करके, पुद्गलद्रव्य ही का तादात्म्यस्वरूप विस्तारित करते हैं।

उसी प्रकार ये वर्णादिभाव, अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव को प्राप्त होनेवाली उन-उन पर्यायों अर्थात् अवस्थाओं के द्वारा जीव को अन्वयरूप से प्राप्त करके जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्यस्वरूप विस्तारित करते हैं – ऐसा जिनका अभिप्राय है, उनके अनुसार शेष अन्य द्रव्यों से असाधारण, वर्णादिस्वरूप पुद्गलद्रव्य का लक्षण, जीव के द्वारा अङ्गीकार करने पर जीव-पुद्गल में अन्तर नहीं होने का प्रसङ्ग आता है, जिससे पुद्गलद्रव्य से भिन्न जीवद्रव्य के स्वरूप का अभाव हो जाने पर जीवद्रव्य का अभाव होता ही है।

भावार्थ – जैसे वर्णादि, पुद्गलद्रव्य से तादात्म्यस्वरूप हैं; वैसे ही यदि वे जीव से भी तादात्म्यस्वरूप हों तो जीव और पुद्गल में कोई भेद नहीं रहे, तब जीव का भी अभाव ही हो जाए – यह बड़ा दोष आता है।

---

१. *जीवस्वरूप* – 'अ' प्रति पाठ

अह संसारत्थाणं, जीवाणं तुज्झ होंति वण्णाई।
तम्हा संसारत्था, जीवा रूवित्तमावण्णा॥ ६३॥
एवं पोग्गलदव्वं, जीवो तह लक्खणेण मूढमई।
णिव्वाणमुवगओ वि य, जीवत्तं पोग्गलो पत्तो॥ ६४॥

॥ युगलं॥

अथ संसारस्थानां, जीवानां तव भवन्ति वर्णादयः।
तस्मात्संसारस्था, जीवा रूपित्वमापन्नाः॥ छ॥
एवं पुद्गलद्रव्यं, जीवस्तथालक्षणेन मूढमते।
निर्वाणमुपगतोऽपि च, जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ अथ संसार विषै तिष्टे जीवनि कै तेरे मत मैं वर्णादिक तादात्म्यस्वरूप हैं॥ तौ इस ही हेतु तैं संसार विषै तिष्टे जीव रूपीपणां कूं प्राप्त भये॥ छ॥

अब, [केवल] संसार अवस्था में ही जीव का वर्णादि से तादात्म्य है - ऐसा अभिप्राय होने पर भी यही दोष आता है - ऐसा कहते हैं -

अह[1] संसारत्थाणं, जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी[2]।
तम्हा संसारत्था, जीवा रूवित्तमावण्णा॥ ६३॥
एवं पोग्गलदव्वं[3], जीवो तह लक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य, जीवत्तं पोग्गलो[4] पत्तो॥ ६४॥

वर्णादि हैं संसारी जीव के, यों हि मत तुझ होय जो।
संसारस्थित सब जीवगण, पायें तदा रूपित्व को॥ ६३॥
इस रीति पुद्गल वह ही जीव, हे मूढ़मति! उस चिह्न से।
अरु मोक्ष-प्राप्त हुआ भी पुद्गलद्रव्य जीव बने अरे!॥ ६४॥

अर्थ – अथवा यदि तेरे मत में संसार में स्थित जीवों का वर्णादि से तादात्म्य है तो इस हेतु से संसार में स्थित जीव, रूपीपने को प्राप्त हुए॥ ६३॥

---

१. *जदि* - तात्पर्यवृत्ति पाठ
२. *वण्णादि* - तात्पर्यवृत्ति पाठ
३. *पुग्गलदव्वं* - तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ
४. *पुग्गलो* - तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ

ऐसैं होतैं 'जीव, पुद्गलद्रव्य'[१] ठहरया॥ जातैं पुद्गल का लक्षण सो ही जीव का लक्षण भया॥ ऐसैं तौ हे मूढबुद्धी, निर्वाण कूं प्राप्त भया भी पुद्गल ही है सो पुद्गल ही जीवपणां कूं प्राप्त भया॥ छ॥

॥ टीका॥ जाके मत मैं संसारावस्था विषै जीव कै वर्णादि भावनि करि सहित तादात्म्यसंबंध है, ऐसा अभिप्राय है॥ ताकै तिस संसार अवस्था के काल विषै सो जीव, रूपीपणां कूं अवश्य प्राप्त होय है॥ वहुरि रूपीपणां है सो काहू द्रव्य का असाधारण, अन्यद्रव्यनि तैं न्यारा लक्षण है॥ तातैं रूपीपणां करि लक्षमाण जो कछू है सो ही जीव है॥ सो रूपीपणां करि लक्ष्यमाण पुद्गलद्रव्य ही है॥ ऐसैं पुद्गलद्रव्य ही आप जीव है॥ अन्य कोई नाही है।

ऐसैं होतैं मोक्ष अवस्था विषै भी पुद्गलद्रव्य ही आप जीव होय है, जातैं जो द्रव्य है सो नित्य अपणां लक्षण करि लक्षित है सो सर्व ही अवस्था विषै अविनाशी स्वभाव है॥ यातैं अनादिनिधन है॥ तातैं पुद्गल ही जीव है, अन्य कोई न्यारा ही नाही है। वहुरि तैसै होतैं पुद्गलनि तैं भिन्न जीवद्रव्य का अभाव तैं जीव का अभाव भया ही॥ ऐसैं यह निश्चय भया जो वर्णादिक भाव हैं, ते जीव नाही हैं॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जो कोई वर्णादि भावनि करि जीव कै संसार अवस्था मैं भी तादात्म्यसंवंध मानै है, ताकै भी जीव का अभाव ही आवै है, जातैं वर्णादिक मूर्त्तीकद्रव्य के लक्षण हैं, ऐसा मूर्त्तीक पुद्गलद्रव्य है।

ऐसा होने पर जीव, पुद्गलद्रव्य सिद्ध होता है क्योंकि पुद्गल का लक्षण ही जीव का लक्षण हुआ। इस प्रकार हे मूढ़बुद्धि! निर्वाण को प्राप्त हुआ जीव भी पुद्गल ही सिद्ध हुआ, वह पुद्गल ही जीवत्व को प्राप्त हुआ॥ ६४॥

टीका – जिनके मतानुसार संसार अवस्था में जीव का वर्णादिभावों के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध का अभिप्राय है, उनके अनुसार वह जीव, इस संसार अवस्था के काल में रूपीपने को अवश्य प्राप्त होता है, लेकिन रूपीपना तो किसी द्रव्य का असाधारण अर्थात् अन्य द्रव्यों से भिन्न लक्षण है। इसलिए यदि रूपीपने से लक्षित जो कुछ है, वह ही जीव है और वह रूपीपने से लक्षित पुद्गलद्रव्य ही है तो इससे सिद्ध होता है कि पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव है, उससे अन्य कोई नहीं है।

ऐसा होने पर मोक्ष अवस्था में भी पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव सिद्ध होता है क्योंकि जो नित्य अपने लक्षण से लक्षित है और सर्व ही अवस्थाओं में अविनाशी स्वभाववाला होने से अनादिनिधन है, वही द्रव्य है; अतः पुद्गल ही जीव है, इससे भिन्न जीव नहीं है और ऐसा सिद्ध होने पर पुद्गलों से भिन्न जीवद्रव्य के नहीं होने से, जीव का अभाव ही हो जाता है; इसलिए यह निश्चित होता है कि वर्णादिभाव, जीव नहीं हैं।

भावार्थ – यदि कोई वर्णादिभावों के साथ जीव का संसार अवस्था में भी तादात्म्यसम्बन्ध मानता है तो उसके मतानुसार भी जीव का अभाव ही सिद्ध होता है क्योंकि वर्णादि तो मूर्तिकद्रव्य

---

१. पुद्गलद्रव्य ही जीव - 'ब' प्रति में पाठ।

सो वर्णादिकरूप जीव ठहरै, तव जीव भी पुद्गल ही ठहरै। जव जीव मोक्ष होय, तव तहां भी पुद्गल ही ठहरै, तव पुद्गल तैं न्यारा तौ जीव न ठहरै। अैसैं जीव का अभाव आवै, तातैं वर्णादिक जीव कै नाही हैं, अैसा निश्चय है॥ छ॥

आगैं, इस ही अर्थ का विशेष कहै है॥

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य, चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बायरपज्जत्तियरा, पयडीओ णामकम्मस्स॥ ६५॥
एयाहिं य णिव्वत्ता, जीवट्ठाणा उ करणभूयाहिं।
पयडीहिं पोग्गलमईहिं, ताहिं कहं भण्णए जीवो॥ ६६॥

॥ युगलं॥

एकं वा द्वे त्रीणि च, चत्वारि च पञ्चेन्द्रियाणि जीवाः।
बादरपर्याप्तेतराः, प्रकृतयो नामकर्मणः॥ छ॥
एताभिश्च निर्वृत्तानि, जीवस्थानानि करणभूताभिः।
प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः॥ छ॥

के लक्षण हैं और ऐसा मूर्तिक पुद्गलद्रव्य ही है।

यदि जीव, वर्णादिरूप हो तो जीव भी पुद्गल ही सिद्ध होता है; अतः जब जीव का मोक्ष होता है, तब वहाँ भी वह जीव, पुद्गल ही सिद्ध होता है – ऐसी स्थिति में पुद्गल से भिन्न कोई जीव सिद्ध नहीं होता, इस प्रकार जीव का अभाव ही सिद्ध होता है; अतः वर्णादि, जीव के नहीं हैं – यह निश्चय है।

अब, इसी अर्थ का विशेष कहते हैं –

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य, चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा, पयडीओ णामकम्मस्स॥ ६५॥
एदाहिं य णिव्वत्ता, जीवट्ठाणा उ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पोग्गलमइहिं, ताहिं कहं भण्णदे जीवो॥ ६६॥

जीव एक-दो-त्रय-चार-पञ्चेन्द्रिय, बादर-सूक्ष्म हैं।
पर्याप्त-अनपर्याप्त जीव जु, नामकर्म की प्रकृति हैं॥ ६५॥

॥ अर्थ ॥ एकेंद्रिय वेंद्रिय तेंद्रिय चतुरिंद्रिय पंचेंद्रिय, जीव हैं ॥ वहुरि वादर सूक्ष्म, पर्याप्त अपर्याप्त, ए जीव हैं, ते नामकर्म की प्रकृति हैं।

इनि प्रकृतिनि करि करणस्वरूप होय करि जीवस्थान कहिये जीवसमास रचै हैं, ते ए प्रकृति पुद्गलमयी हैं सो इनि करि रचे कूं जीव कैसें कहिये॥ छ॥

॥ टीका॥ निश्चयनय करि कर्म अर करण अभेदभाव है, इस न्याय करि जो जाकरि कीजिये सो वह ही है। अैसैं करतें, जैसैं सुवर्ण का पत्र सुवर्ण करि कीया सो वह पत्र सुवर्ण ही है, अन्य तौ किछू नाही॥

तैसैं ए जीवस्थान हैं, ते वादर सूक्ष्म एकेंद्रिय, वेइंद्रिय तेइंद्रिय चतुरिंद्रिय पंचेंद्रिय, ते सर्व पर्याप्त अपर्याप्त हैं, ते सर्व ही है नाम जिनिके, अैसी पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृति हैं, ते करणरूप हैं, तिनि करि कीये हैं, तातैं पुद्गल ही हैं, ते जीव नाही हैं॥

वहुरि नामकर्म की प्रकृतिनि कै पुद्गलमयीपणां आगम विषै प्रसिद्ध है अर प्रत्यक्ष देषनें मैं आवै जे शरीर आदि मूर्तीकभाव, ते पुद्गल कर्मप्रकृतिनि के कार्य हैं, तिनि करि अनुमान प्रमाण करि प्रसिद्ध हैं॥ अैसैं ही गंध रस स्पर्श रूप शरीर संस्थान संहनन, ए भी नामकर्म की प्रकृतिनि करि कीये हैं, तातैं तिस पुद्गल तैं अभेदरूप हैं, तातैं जीवस्थान पुद्गलमयी कहनें तैं ही कहे जाननें॥

जो प्रकृति यह पुद्गलमयी, वह करणरूप बने अरे!।
उससे रचित जीवस्थान जो हैं, जीव क्यों हि कहाय वे॥ ६६॥

अर्थ – बादर-सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय तथा पर्याप्त-अपर्याप्त जीव हैं – ये नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं॥ ६५॥

इन प्रकृतियों से करणभूत होकर जीवस्थान अर्थात् जीवसमास रचित हैं, परन्तु ये प्रकृतियाँ तो पुद्गलमय हैं; अत: इनके द्वारा रचित को जीव कैसे कहा जा सकता है?॥ ६६॥

टीका – निश्चयनय से कर्म और करण में अभेदभाव है, इस न्याय से 'जो जिसके द्वारा किया जाता है, वह वही है' – ऐसा मान कर जैसे स्वर्ण का पत्र, स्वर्ण से बना है, अत: वह पत्र, स्वर्ण ही है, अन्य कुछ नहीं है।

उसी प्रकार ये जीवस्थानरूप बादर-सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय और इन सबके पर्याप्त एवं अपर्याप्त नामक भेदवाली जो पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं, वे करणरूप हैं; अत: उनके द्वारा किये होने से ये पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं।

नामकर्म की प्रकृतियों की पुद्गलमयता आगम में प्रसिद्ध है और प्रत्यक्ष दिखनेवाले शरीर आदि मूर्तिकभाव, पुद्गल कर्मप्रकृतियों के कार्य हैं – ऐसा अनुमानप्रमाण से सिद्ध है। इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन भी नामकर्म की प्रकृतियों द्वारा रचित होने से उस पुद्गल से अभेदरूप है; इसलिए जीवस्थानों के समान इन्हें भी पुद्गलमयी जानना चाहिए।

तातैं ए वर्णादिक जीव नाही हैं, अैसा निश्चयनय का सिद्धांत है॥ छ॥

इहां, इस अर्थ का कलशरूप काव्य है॥ छ॥

॥ उपजाति ॥

निर्वर्त्त्यते येन यदत्र किञ्चित्, तदेव तत्स्यान्न कथञ्चनान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं, पश्यन्ति रुक्मं न कथञ्चनासिम्॥ ६॥

॥ अर्थ॥ जिस वस्तु करि जो ज्यों भाव वर्णैं सो वह भाव वह वस्तु ही है॥ किछु अन्य वस्तु नाही है॥ जैसैं रूपे सोनें[१] करि षड्ग का कोस वर्ण्यां॥ ताहि लोक रूपा सोनां[२] ही देषै है, 'तिसकूं षड्ग तौ कोई प्रकार[३] नाहीं देषै है॥

॥ भावार्थ॥ वर्णादिक पुद्गल तैं वर्णैं हैं, ते पुद्गल ही हैं, ते जीव नाही हैं॥ छ॥

॥ उपजाति॥[४]

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु, निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा, यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः॥ ७॥

॥ अर्थ॥ अहो ज्ञानीजन हौ, ए वर्णादिक गुणस्थान पर्यंत भाव हैं, ते समस्त ही पुद्गल[५] के रचे

इस प्रकार ये वर्णादि जीव नहीं है – यह निश्चयनय का सिद्धान्त है।

अब यहाँ, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ दोहा॥

जिस वस्तु से जो बने, वह हो वही न अन्य।
स्वर्ण-म्यान तो स्वर्ण है, असि है उससे अन्य॥ ३८॥

अर्थ – जिस वस्तु के द्वारा जो जैसा भी भाव बनता है, वह भाव वह वस्तु ही है; अन्य वस्तु नहीं है। जैसे, लोग चाँदी-सोने से बनी तलवार की म्यान को चाँदी-सोना ही देखते हैं, उस तलवार को तो चाँदी-सोने की नहीं देखते।

भावार्थ – वर्णादि, पुद्गल से बने हैं, वे पुद्गल ही हैं; जीव नहीं हैं।

॥ दोहा॥

वर्णादिक जो भाव हैं, वे सब पुद्गलजन्य।
एक शुद्ध विज्ञानघन, आतम इनसे भिन्न॥ ३९॥

अर्थ – हे ज्ञानीजनों! इन वर्णादि से गुणस्थानपर्यन्त समस्त ही भावों को तुम एक पुद्गल से

---

१. *रूपे* – 'अ' प्रति पाठ
२. *रूपा* – 'अ' प्रति पाठ
३. *तिस रूपे का षड्ग तौ* – 'अ' प्रति पाठ
४. *॥ पुनः ॥* – 'अ' 'ब' प्रति पाठ
५. *एक पुद्गल* – 'ब' प्रति पाठ

तुम जाणूं, तातैं ए पुद्गल ही होहु, आत्मा मति होहु॥ जातैं आत्मा तौ विज्ञानघन है, ज्ञान का पुंज है, तातैं इनि वर्णादिक तैं अन्य ही है॥ छ॥

आगैं कहै है जो इस ज्ञानघन आत्मा सिवाय अन्य किछू है, तिनि कूं जीव कहनां सो सर्व ही व्यवहारमात्र है॥

पज्जत्तापज्जत्ता[१] जे सुहुमा बायरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा, सुत्ते ववहारओ वुत्ता॥ ६७॥

पर्याप्तापर्याप्ता[२], ये सूक्ष्मा बादराश्च ये चैव।
देहस्य जीवसंज्ञाः, सूत्रे व्यवहारत उक्ताः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जे सूक्ष्म वादर वहुरि पर्याप्त अपर्याप्त आदि जेती देह कूं जीव संज्ञा कही हैं॥ ते सर्व ही सूत्र विषै व्यवहारनय करि कही हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ निश्चय करि यह जानूं, वादर सूक्ष्म एकेंद्रिय, वेइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त, अैसैं शरीर कूं सूत्र विषै जीव संज्ञापणां करि कही है॥ तहां पर की प्रसिद्धि करि घृत के घट की ज्यौं व्यवहार है। सो यह व्यवहार जामैं प्रयोजनभूत वस्तु है सो नाही, अैसा है सो

रचित जानो, इसलिए ये पुद्गल ही हों; आत्मा नहीं क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन अर्थात् ज्ञान का पुञ्ज है, इसलिए वह इन वर्णादि से भिन्न ही हैं।

अब, गाथा में कहते हैं कि इस विज्ञानघन आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ भी है, उन सभी को जीव कहना व्यवहारमात्र है —

पज्जत्तापज्जत्ता, जे सुहुमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा, सुत्ते ववहारदो उत्ता॥ ६७॥

पर्याप्त अनपर्याप्त जो हैं, सूक्ष्म अरु बादर सभी।
व्यवहार से कही जीवसंज्ञा, देह को शास्त्रन महीं॥ ६७॥

अर्थ – देह की सूक्ष्म-बादर और पर्याप्त-अपर्याप्त आदि जितनी भी [अवस्थाओं को] 'जीव' संज्ञा कही गई हैं, वे सभी सूत्र में व्यवहारनय से कही गई हैं॥ ६७॥

टीका – निश्चय से यह जानना चाहिए कि सूत्र में जो बादर-सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्तरूप शरीर की संज्ञाओं को 'जीव' नाम से कहा है, वह पर की प्रसिद्धि के कारण 'घी के घड़े' के समान व्यवहार है परन्तु यह व्यवहार प्रयोजनभूत

---

१. *पज्जत्त अपज्जत्त य* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ
२. *पर्य्याप्ता अपर्य्याप्ता* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

स्पष्ट कहै है॥

जैसैं कोई पुरुष अैसा जो जानैं जन्म तैं लगाय घृत का ही घट देष्या, घृत तैं रीता न्यारा घट देष्या नाही, ताकै समझावनें कै अर्थि अैसैं कहिये जो यह घृत का घट है सो माटीमयी है, घृतमयी नाही है।

अैसैं तिस पुरुष कै घृत ही का घट प्रसिद्ध है, ता करि समझावनेंवाला भी घृत का घट कहै है॥ अैसैं व्यवहार है॥

तैसैं ही इस अज्ञानी लोक कै अनादि संसार तैं लगाय अशुद्ध जीव ही प्रसिद्ध है, शुद्ध जीव कूं नाही जानैं है, ताकै शुद्ध जीव का ज्ञान करावनें कै अर्थि अैसैं सूत्र मैं कहै है॥ जो यह वर्णादिमान् जीव कहिये है सो ज्ञानमयी है, वर्णादिमयी नाही है॥

अैसैं तिस अज्ञानी लोक कै वर्णादिमान् प्रसिद्ध है, तिस प्रसिद्धि करि जीव विषै वर्णादिमान्पणां का व्यवहार सूत्र मैं कीया है॥

अव इस ही अर्थ के कलशरूप काव्य कहै हैं॥ छ॥

॥ अनुष्टुभ्॥

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः॥ ८॥

वस्तु नहीं है, इसे ही स्पष्ट समझाते हैं —

जैसे, किसी पुरुष ने जन्म से घी का ही घड़ा देखा हो, घी से रहित अलग घड़ा देखा नहीं हो; उसे समझाने के लिए ऐसा कहा जाता है कि 'जो यह घी का घड़ा है, वह मिट्टीमयी है, घीमयी नहीं'।

इस प्रकार उस पुरुष को घी के घड़े की ही प्रसिद्धि है, इसलिए उसे समझानेवाला भी 'घी का घड़ा' कहता है – यह व्यवहार है।

उसी प्रकार इस अज्ञानी जगत् को अनादि संसार से अशुद्ध जीव ही प्रसिद्ध है, वह शुद्ध जीव को जानता नहीं है; उसे शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिए आगम में ऐसा कहा है कि यह 'जो वर्णादिमान् जीव है [परन्तु] वह ज्ञानमयी है; वर्णादिमय नहीं।'

इस प्रकार उस अज्ञानी जगत् को वर्णादिमान जीव ही प्रसिद्ध है, इसलिए सूत्र में उस प्रसिद्धि के कारण, जीव में वर्णादिमानपने का व्यवहार किया गया है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ दोहा॥

कहने से घी का घड़ा, घड़ा न घीमय होय।
कहने से वर्णादिमय, जीव न तन्मय होय॥ ४०॥

॥ अर्थ ॥ जो घृत का कुंभ है, अैसैं कहतैं भी कुंभ है सो घृतमयी नाही है, मृत्तिका ही का है, तौ तैंसैं जीव है सो वर्णादिमान् है, अैसैं कहतैं भी वर्णादिमान् नाही, ज्ञानघन ही है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ जो पहलैं घट कूं मृत्तिका का जाण्यां नाही अर घृत के भरे घट कूं लोक घृत का घट कहते सुणैं, तहां यह ही जाण्यां जो घट, घृत ही का कहिये है, ताकूं समझावनें कूं मृत्तिका का घट जाननेंवाला भी घृत का घट कह करि समझावैं[१]।

तैसैं ज्ञानस्वरूप आत्मा कूं जानैं जान्यां नाही अर वर्णादिक के संबंधरूप ही जीव कूं जानैं, ताके समझावनें कूं सूत्र मैं भी कह्या है जो यह वर्णादिमान है सो जीव है, अैसा व्यवहार है। निश्चय तैं वर्णादिमान् पुद्गल है, जीव है नाही, जीव तौ ज्ञानघन है, अैसा जाननां॥ छ॥

आगैं कहै है जो वर्णादि भाव जीव नाही है, तैसैं ही यह भी ठहरी ही जो रागादिक भाव हैं, ते भी जीव नाही हैं॥

मोहणकम्मस्सुदया, उ वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा, जे णिच्चमचेयणा वुत्ता॥ ६८॥

मोहनकर्मण उदयात्तु, वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि।
तानि कथं भवन्ति जीवा[२], यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि॥ छ॥

अर्थ – जिस प्रकार 'यह घी का घड़ा है' – ऐसा कहने पर भी घड़ा तो घीमयी नहीं है, मिट्टी ही का है; उसी प्रकार 'जीव वर्णादिमान् है' – ऐसा कहने पर भी जीव वर्णादिमान् नहीं है, ज्ञानघन ही है।

भावार्थ – यदि पहले घड़े को मिट्टी का जाना नहीं और घी से भरे घड़े को लोक में 'घी का घड़ा' ही कहते सुना है, वहाँ उसने तो यही जाना कि घड़ा, घी का ही कहा जाता है; अत: उसे समझाने के लिए मिट्टी का घड़ा जाननेवाला भी, 'घी का घड़ा' कह कर समझाता है।

उसी प्रकार जिसने ज्ञानस्वरूप आत्मा को जाना नहीं और वर्णादि के सम्बन्धरूप ही जीव को जाना है, उसे समझाने के लिए सूत्र में भी 'जो यह वर्णादिमान् है, वह जीव है' – ऐसा व्यवहार से कहा है। निश्चय से वर्णादिमान् पुद्गल है, जीव नहीं; जीव तो ज्ञानघन है – ऐसा जानना चाहिए।

अब कहते हैं कि जैसे वर्णादिभाव जीव नहीं हैं; उसी प्रकार यह भी सिद्ध होता है कि रागादिभाव भी जीव नहीं हैं —

मोहणकम्मस्सुदया, दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा, जे[३] णिच्चमचेदणा उत्ता॥ ६८॥

---

१. *समझावैं है* – 'ब' प्रति पाठ २. *जीवा:* – 'ब' प्रति पाठ ३. *ते* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

॥ अर्थ ॥ जे ए गुणस्थान हैं, ते मोहकर्म के उदय तैं होय हैं, अैसैं सर्वज्ञ के आगम मैं वर्णन कीये हैं, ते जीव कैसैं होय, नाही होय॥ जातैं ए नित्य अचेतन कहे हैं॥ छ॥

॥ टीका ॥ जे ए मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान हैं, ते पुद्गलरूप जो मोहकर्म की प्रकृति, ताका उदयपूर्वक होतैं संतैं नित्य ही अचेतन हैं, जातैं जैसा कारण होय, ताही का अनुसारी कार्य होय, जैसैं यवपूर्वक यव होय हैं, ते यव ही हैं। अैसा न्याय करि ते पुद्गल ही हैं, जीव नाहीं हैं॥

इहां गुणस्थाननि कै नित्य अचेतनपणां आगम तैं सिद्ध है अर चैतन्यस्वभाव करि व्याप्त जो आत्मा, तातैं भिन्नपणां करि भेदज्ञानी पुरुषनि करि स्वयं प्राप्यमाण है, इस हेतु तैं साधणां, चैतन्यमात्र आत्मा के अनुभवन तैं ए वाह्य हैं, तातैं अचेतन ही हैं॥

अैसैं ही राग द्वेष मोह प्रत्यय कर्म नोकर्म वर्ग वर्गणा स्पर्द्धक अध्यात्मस्थान अनुभागस्थान योगस्थान वंधस्थान उदयस्थान मार्गणास्थान स्थितिवंधस्थान संक्लेशस्थान विशुद्धिस्थान संयमलब्धिस्थान, ए सर्व ही पुद्गलकर्मपूर्वक होतैं संतैं नित्य अचेतनपणां तैं पुद्गल ही हैं, जीव नाही हैं, अैसा स्वयं आपै आप आया, तातैं रागादिक भाव हैं, ते जीव नाही हैं, अैसा सिद्ध भया।

॥ भावार्थ ॥ पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त तैं चैतन्य के विकार भये, ते भी पुद्गल ही हैं, जातैं

मोहनकरम के उदय से, गुणस्थान जो ये वर्णये।
कैसे बनें आत्मा निरन्तर, जो अचेतन जिन कहें॥ ६८॥

अर्थ – जो ये गुणस्थान हैं, वे मोहकर्म के उदय से होते हैं – ऐसा सर्वज्ञ के आगम में वर्णन किया गया है तो **वे जीव कैसे हो सकते हैं?** – नहीं हो सकते हैं, क्योंकि इन्हें नित्य अचेतन कहा गया है॥ ६८॥

टीका – जो ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान हैं, वे पुद्गलात्मक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होने से नित्य ही अचेतन हैं क्योंकि जैसा कारण होता है, उसी के अनुसार कार्य होता है। जिस प्रकार 'जौ पूर्वक जो जौ होते हैं, वे जौ ही हैं' – इस न्याय से वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं।

यहाँ, गुणस्थानों का नित्य अचेतनपना आगम से सिद्ध है और 'चैतन्यस्वभाव से व्याप्त आत्मा' का भिन्नपना होने से भेदज्ञानी पुरुषों द्वारा स्वयं प्राप्त होने योग्य है – इस हेतु से यह सिद्ध होता है कि चैतन्यमात्र आत्मा के अनुभव से ये बाह्य हैं; अतः अचेतन ही हैं।

इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान – ये सभी, पुद्गलकर्मपूर्वक होते हुए नित्य अचेतन होने के कारण पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं – ऐसा स्वयं अपने आप प्राप्त होता है, इसलिए रागादिभाव, जीव नहीं हैं – यह सिद्ध होता है।

भावार्थ – पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से जो चैतन्य के विकार होते हैं, वे भी पुद्गल

शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि मैं तो चैतन्य अभेद है अर याके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञानदर्शन हैं॥ तातैं जे परनिमित्त तैं विकार भये, ते तौ चैतन्य सारिषे दीषैं हैं, तौऊ चैतन्य की सर्व अवस्था मैं व्यापक नाही, तातैं चैतन्यशून्य जड है, अैसैं जड है सो पुद्गल है, अैसा निश्चय है॥ छ॥

आगैं पूछै है जो वर्णादिक अर रागादिक जीव नाही तौ जीव कोंन है, ताका उत्तररूप ह्लोक कहै हैं॥

॥ अनुष्टुभ्॥

अनाद्यनन्तमचलं, स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते॥ ९॥

॥ अर्थ॥ जीव है सो यह चैतन्य है, यह आपै आप अतिशय करि चमत्काररूप प्रकाशमान है॥

कैसा है। अनादि है, काहू काल विषै नवीन नाही उपज्या है। वहुरि अनंत है, जाका काहू काल विषै विनाश नाही है॥ वहुरि अचल है, चैतन्यपणां तैं अन्यरूप चलाचल कवहू न होय है॥ वहुरि स्वसंवेद्य है, आप ही करि जान्यां जाय है॥ वहुरि स्फुट कहिये प्रगट है, छिप्या नाही है॥ छ॥

आगैं, इस लक्षण का अव्याप्ति अतिव्याप्ति दूषण दूरि करनें कूं काव्य कहै है॥ छ॥

ही हैं क्योंकि शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में तो चैतन्य अभेद है और इसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन हैं; इसलिए पर-निमित्त के कारण जो विकार होते हैं, वे भले ही चैतन्य के समान दिखाई देते हैं, फिर भी चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्यापक नहीं हैं; अतः चैतन्य से शून्य जड़ हैं और जो जड़ हैं, वे पुद्गल हैं – ऐसा निश्चय है।

अब पूछते हैं कि यदि वर्णादि और रागादिभाव, जीव नहीं हैं तो जीव कौन हैं? – इसके उत्तररूप श्लोक कहते हैं —

॥ दोहा॥

स्वानुभूति में प्रगट जो, अचल अनादि-अनन्त।
स्वयं जीव चैतन्यमय, जगमगात अत्यन्त॥ ४१॥

अर्थ – जीव चैतन्यस्वरूप है, यह अपने आप अतिशय से चमत्काररूप प्रकाशमान है।

यह कैसा है? – अनादि है अर्थात् किसी भी काल में नवीन उत्पन्न नहीं हुआ है; **अनन्त** है अर्थात् जिसका किसी भी काल में विनाश नहीं है; **अचल** है अर्थात् कभी भी चैतन्यपने से अन्यरूप चलायमान नहीं होता; **स्वसंवेद्य** है अर्थात् स्वयं से ही जाना जाता है और **स्फुट** है अर्थात् प्रगट है, छिपा नहीं है।

अब, इस लक्षण में अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोष दूर करने के लिए काव्य कहते हैं —

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो, द्वेधाऽस्त्यजीवो यतो,
नाऽमूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा,
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यताम्॥ १०॥

॥ अर्थ॥ जो जीव का लक्षण अमूर्त्तीकपणां कहिये तौ अजीव पदार्थ दोय प्रकार है, धर्म अधर्म आकाश काल, ए तौ वर्णादिक भाव रहित हैं अर पुद्गल है सो वर्णादिसहित है। तातैं अमूर्त्तीकपणां कूं ग्रहण करि लोक, जीव का यथार्थस्वरूप कूं नाही देषै, यामैं अतिव्याप्ति दूषण आवै।

वहुरि वर्णादिक मैं रागादिक भी आय गये, ते रागादिक जीव का लक्षण कहिये तौ तिनिकी व्याप्ति पुद्गल ही तैं है, जीव की सर्व अवस्था मैं व्याप्ति नाही, तातैं अव्याप्ति दूषण आवै।

अैसैं भेदज्ञानी पुरुषां आलोचनां करि, परीक्षा करि अतिव्याप्ति, अव्याप्ति दूषण तैं रहित

॥ सवैया इकतीसा॥

मूर्तिक अमूर्तिक, अजीवद्रव्य दो प्रकार;
इसलिए अमूर्तिक, लक्षण न बन सके।
सोच कर विचार कर, भलीभाँति ज्ञानियों ने;
कहा वह निर्दोष, लक्षण जो बन सके॥
अतिव्याप्ति अव्याप्ति, दोषों से विरहित;
चैतन्यमय 'उपयोग', लक्षण है जीव का।
अतः अवलम्ब लो, अविलम्ब इसका ही;
क्योंकि यह भाव ही है, जीवन इस जीव का॥ ४२॥

अर्थ – जीव का अमूर्तिक लक्षण ग्रहण करने पर, अजीवपदार्थ के दो प्रकारों में वर्णादिसहित पुद्गल को छोड़ कर वर्णादिरहित धर्म, अधर्म, आकाश और काल में वह लक्षण व्याप्त होता है, जिससे अतिव्याप्ति दोष आता है; अतः लोक को जीव का यथार्थस्वरूप भासित नहीं होता है।

वर्णादि में रागादि भी आ जाते हैं। यदि उन रागादिक को जीव का लक्षण कहें तो इसमें क्योंकि उनकी व्याप्ति तो पुद्गल ही के निमित्त से होती है और जीव की सर्व अवस्थाओं में भी उनकी व्याप्ति नहीं है; अतः अव्याप्ति दोष आता है।

इस प्रकार भेदज्ञानी पुरुषों ने आलोचना एवं परीक्षा करके अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष से रहित **चेतनत्व** को जीव का लक्षण कहा है, वह भले प्रकार योग्य है क्योंकि इसमें प्रगट जीव का

चेतनपणां लक्षण कह्या है सो भलै प्रकार योग्य है, प्रगट जीव का यथार्थस्वरूप जानैं व्यक्त कीया है॥

वहुरि कैसा है। जीव तैं कवहू चलाचल नाही है, सदा विद्यमान रहै है॥ सो जगत्, इस ही लक्षण कूं अवलंवो, याही तैं यथार्थ जीव का ग्रहण होय है॥ छ॥

आगैं जो अैसा लक्षण करि जीव प्रगट है, तौऊ अज्ञानी लोक कै याका अज्ञान कैसैं रहै है, ताका आचार्य आश्चर्य तथा खेदसहित वचन कहै है॥

॥ वसन्ततिलका॥

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं,
ज्ञानीजनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम्।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं,
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति॥ ११॥

॥ अर्थ॥ ऐसैं पूर्वोक्त लक्षण तैं जीव तैं अजीव[१] भिन्न है सो ज्ञानीजन है सो याकूं आपै आप प्रगट उघडता अनुभवन करै है। तौऊ अज्ञानीजन कै यह अमर्यादरूप मोह अज्ञान प्रगट फैलता संता कैसैं अतिशय करि नृत्य करै है, हमारै वड़ा आश्चर्य है तथा खेद है।

फेरि याका प्रतिषेध करै है जो मोह नृत्य करै है तौ करो, तथापि अैसैं है।

यथार्थस्वरूप व्यक्त किया गया है।

और कैसा है? – जीव से कभी चलाचल अर्थात् चलायमान नहीं होता है, सदा विद्यमान रहता है; अतः हे जगत् के जीवों! इसी लक्षण का अवलम्बन करो, इसी से जीव के यथार्थस्वरूप का ग्रहण होता है।

अब, यदि ऐसे लक्षण से जीव प्रगट है तो अज्ञानीजनों को इसका अज्ञान कैसे रहता है?, अतः आचार्य आश्चर्य और खेदसहित वचन कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

निज लक्षणों की भिन्नता से, जीव और अजीव को।
जब स्वयं से ही ज्ञानिजन, भिन्न-भिन्न ही हैं जानते॥
जग में पड़े अज्ञानियों का, अमर्यादित मोह यह।
अरे! तब भी नाचता क्यों, खेद है, आश्चर्य है॥ ४३॥

अर्थ – इस प्रकार यद्यपि पूर्वोक्त लक्षण से जीव से अजीव भिन्न है, जिसे ज्ञानीजन अपने आप प्रगटरूप से अनुभव करते हैं, फिर भी अज्ञानीजनों का प्रगट फैलता हुआ अमर्यादित मोह अर्थात् अज्ञान कैसे अतिशय से नृत्य करता है? — इसका हमें बड़ा आश्चर्य और खेद है।

---

१. *अजीव तैं जीव* - 'अ' प्रति पाठ

॥ वसन्ततिलका ॥

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये,
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्त्तिरयं स जीवः॥ १२॥

॥ अर्थ॥ यह अनादिकाल का वडा अविवेक का नृत्य है, तिस विषै वर्णादिमान् पुद्गल ही नृत्य करै है, अन्य कोई नाही है। अभेदज्ञान मैं पुद्गल ही अनेक प्रकार दीषै है, किछू जीव तौ अनेक प्रकार है नाही॥ यह जीव है सो तौ रागादिक जे पुद्गल तैं भये विकार, तिनि तैं विरुद्ध विलक्षण शुद्ध चैतन्यधातुमयी मूर्त्ति है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ रागादि चित्त विकार कूं देषि अैसा भ्रम न करनां, जो ए भी चैतन्य ही हैं, जातैं चैतन्य की सर्व अवस्था मैं व्यापै तौ चैतन्य के कहिये सो अैसैं हैं नाही, मोक्ष अवस्था मैं इनिका अभाव है॥ तथा इनिका अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है। चैतन्य का अनुभव निराकुल है सो ही जीव का स्वभाव है॥ अैसैं जाननां॥ छ॥

आगैं, भेदज्ञान की प्रवृत्तिपूर्वक यह ज्ञाताद्रव्य आप प्रगट होय है, अैसैं महिमा करि

पुनः इसका प्रतिषेध करते हैं कि मोह नृत्य करता है तो करे, लेकिन यह जीव ऐसा ही है —

॥ हरिगीतिका ॥

अरे! काल अनादि से, अविवेक के इस नृत्य में।
बस! एक पुद्गल नाचता, चेतन नहीं इस कृत्य में॥
यह जीव तो पुद्गलमयी, रागादि से भी भिन्न है।
आनन्दमय चिद्भाव तो, दृग-ज्ञानमय चैतन्य है॥ ४४॥

अर्थ – यह अनादिकाल से महा अविवेक के नृत्य में वर्णादिमान् पुद्गल ही नृत्य करता है, अन्य कोई नहीं। इस अभेदज्ञान में पुद्गल ही अनेकरूप दिखाई देता है, कोई जीव तो अनेकरूप है नहीं। यह जीव तो रागादि पौद्गलिक विकारों से विरुद्ध अर्थात् विलक्षण शुद्ध चैतन्यधातुमयी मूर्ति है।

भावार्थ – रागादिरूप चैतन्य के विकारों को देख कर ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए कि ये भी चैतन्य ही है, क्योंकि यदि वे चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त हों तो चैतन्य के कहलावें, परन्तु ऐसा तो है नहीं क्योंकि मोक्ष अवस्था में इनका अभाव है। इन रागादि का अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है, इसके विपरीत चैतन्य का अनुभव निराकुल है और यही जीव का स्वभाव है – ऐसा जानना।

अब, भेदज्ञान की प्रवृत्तिपूर्वक यह ज्ञाताद्रव्य, स्वयं ही प्रगट होता है – ऐसी महिमा कहकर

अधिकार पूरण करै है, ताका कलशरूप काव्य कहै है।

॥ मन्दाक्रान्ता ॥

इत्थं ज्ञानक्रकचकलना पाटनं नाटयित्वा,
जीवाऽजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत् प्रयातः।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्त चिन्मात्रशक्त्या,
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे॥ १३॥

॥ अर्थ॥ या प्रकार ज्ञानरूप करोत की कलना का पाटन कहिये वारवार अभ्यास करनां, ताकूं नचाय करि जीव अर अजीव दोऊ प्रगटपणैं जेतै न्यारे न भये, तेतै यह ज्ञाताद्रव्य आत्मा है सो समस्त पदार्थनि विषै व्याप्य करि अर प्रगट विकाशरूप व्यक्त होती जो चैतन्यमात्र शक्ति, ता करि आपै आप अतिवेग तैं अतिशय करि प्रगट होता भया॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जीव अजीव दोऊ अनादि तैं संयोगरूप है सो अज्ञान तैं एक से दीषैं हैं, तहां भेदज्ञान के अभ्यास करि जेतै 'प्रगट होय'[१] न्यारे न भये, जीव कर्मनि तैं छूटि मोक्ष प्राप्त न भया, तेतै यह जीव ज्ञाताद्रव्य है सो अपनीं ज्ञानशक्ति करि समस्त वस्तु कूं जानि करि अतिवेग तैं आप प्रगट भया॥

अधिकार पूर्ण करते हुए, उसका कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

जब इस तरह धाराप्रवाही, ज्ञान का आरा चला।
तब जीव और अजीव में, अतिप्रगट विघटन हो चला॥
अब जब तलक हों भिन्न, जीव-अजीव उसके पूर्व ही।
यह ज्ञान का घनपिण्ड निज, ज्ञायक प्रकाशित हो उठा॥ ४५॥

अर्थ – इस प्रकार ज्ञानरूपी करवत (आरा) की **कलना** अर्थात् उसे पकड़ कर, **पाटन** अर्थात् उसका बारम्बार अभ्यास करके, उसको नचा कर, जब तक जीव और अजीव दोनों प्रगटरूप से अलग-अलग नहीं हो जाते, तब तक यह **ज्ञाताद्रव्य** आत्मा, समस्त पदार्थों में व्याप्त होकर और प्रगट विकासरूप व्यक्त होती हुई चैतन्यमात्र शक्ति के द्वारा अपने आप अतिवेग से अतिशयपूर्वक प्रगट होता है।

भावार्थ – जीव और अजीव, दोनों अनादिकाल से संयोगरूप हैं, इसलिए वे अज्ञान के कारण एक जैसे दीखते हैं। वहाँ, भेदज्ञान के अभ्यास से जब तक वे प्रगटरूप से भिन्न-भिन्न नहीं हो जाते अर्थात् जीव, कर्मों से छूट कर मोक्ष को प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक यह ज्ञाताद्रव्य जीव, अपनी

---

१. *प्रगट* - 'अ' प्रति पाठ

इहां, तात्पर्य यह जो सम्यग्दृष्टि भयें पीछैं जेतै केवलज्ञान न उपजै, तेतै तौ सर्वज्ञ के आगम तैं भया श्रुतज्ञान, ता करि समस्त वस्तु का संक्षेप तथा विस्तार करि परोक्षज्ञान होहै, तिस ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव होय है सो ही याका प्रगट होनां है॥ वहुरि जव घातिकर्म का नाश तैं केवलज्ञान उपजै है, तव समस्त वस्तु कूं साक्षात् प्रत्यक्ष जानैं है। अैसे ज्ञानस्वरूप आत्मा कूं साक्षात् अनुभवै है सो याका प्रगट होनां है। अैसैं मोक्ष भयें पहलैं ही आत्मा प्रकाशमान होहै, यह भी जीव अजीव का न्यारा होनें का प्रकार है॥ छ॥

अैसैं जीव अजीव का पहला अधिकार पूर्ण भया॥

तहां टीकाकार पहलैं रंगभूमि का स्थल न्यारा कहि, पीछैं कही थी जो नृत्य के अषाडे मैं जीव अजीव दोऊ एक होय प्रवेश करैं हैं, दोऊ एकपणां का स्वांग रच्या है। तहां भेदज्ञानी सम्यक्दृष्टी पुरुष अपनें सम्यक्ज्ञान तैं दोऊ कूं लक्षणभेद तैं परीक्षा करि दोय जाणि लीये, तव स्वांग होय चुक्या, दोऊ न्यारे न्यारे होय, अषाडा मैं सूं वाहरि भये, अैसा अलंकार करि वर्णन कीया॥ छ॥

॥ सवइया तेईसा॥

जीव अजीव अनादि संजोग, मिले लषि मूढ न आतम पावैं।
सम्यक् भेदविग्यान भयें बुध, भिन्न गहैं निजभाव सु दावैं॥

ज्ञानशक्ति से समस्त वस्तुओं को जान कर, अतिवेग से स्वयं ही प्रगट होता है।

यहाँ, तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि होने के बाद जब तक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हो जाता, तब तक तो सर्वज्ञ के आगम से उत्पन्न श्रुतज्ञान के द्वारा समस्त वस्तुओं का संक्षेप एवं विस्तार से परोक्षज्ञान होता है और उस ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है, वही इसका प्रगट होना है तथा जब घातिया कर्मों के नाश से केवलज्ञान उत्पन्न होता है, तब समस्त वस्तुओं को साक्षात् प्रत्यक्ष जानता है और उस ज्ञानस्वरूप आत्मा का साक्षात् अनुभव करता है, वही इसका प्रगट होना है – ऐसे मोक्ष होने से पहले ही आत्मा प्रकाशमान होता है। यह भी जीव-अजीव के पृथक् होने की पद्धति है।

इस प्रकार पहला जीवाजीवाधिकार पूर्ण हुआ।

टीकाकार ने पहले रङ्गभूमिस्थल अलग से कह कर, फिर वहाँ कहा था कि नृत्य के रङ्गमञ्च में जीव और अजीव, दोनों मिल कर प्रवेश करते हैं, [तब वहाँ] दोनों ने एकपने का स्वाङ्ग रचा। वहाँ भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष, अपने सम्यग्ज्ञान से दोनों को लक्षण-भेद के द्वारा परीक्षा करके, दोनों को अलग-अलग जान लेते हैं, तब उनका बनाया हुआ स्वाङ्ग समाप्त हो जाता है और दोनों अलग-अलग होकर, रङ्गमञ्च से बाहर हो जाते हैं। इस प्रकार यहाँ अलङ्कारिक शैली से वर्णन किया है।

॥ सवैया तेईसा॥

जीव-अजीव अनादि संयोग, मिले लखि मूढ़ न आतम पावें।
सम्यक् भेद-विज्ञान भये बुध, भिन्न गहे निजभाव सु दावें॥

श्रीगुरु के उपदेश सुनैं रु, भले दिन पाय अग्यान गमावैं।
ते जग मांहि महंत कहाय, वसैं सिव जाय सुषी निति थावैं॥[१]

अैसैं इस समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति नामा टीका विषैं पहला जीवाजीवाधिकार पूर्ण भया॥ छ॥ ॥ १ ॥

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

श्रीगुरु के उपदेश सुने रु, भले दिन पाय अज्ञान गमावें।
ते जग मॉंहि महन्त कहाय, वसें शिव जाय सुखी नित थावें॥

[अर्थ – जीव और अजीव का अनादिकालीन संयोग है, उन्हें मिला हुआ देख कर मूढ़ अज्ञानी जीव, आतमा के शुद्धस्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता है। श्रीगुरु का उपदेश सुन कर सच्चा भेदविज्ञान होने पर, ज्ञानीजन निजभाव को भिन्न ग्रहण करता है। वही जीव उत्कृष्ट समय पाकर अर्थात् काललब्धि आने पर अज्ञान का नाश करता है अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त करता है – ऐसे जीव ही जगत् में महन्त कहलाते हैं और मोक्ष में जाकर निवास करते हैं और हमेशा के लिए सुखी हो जाते हैं।]

[इस अधिकार के पूर्वरङ्ग में ३८ गाथाएँ एवं ३२ कलश हैं तथा उत्तरार्द्ध में ३० गाथाएँ एवं १३ कलश हैं, इस तरह कुल मिलाकर ६८ गाथाएँ एवं ४५ कलश हुए।]

इस प्रकार [आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेवप्रणीत] श्री समयसार ग्रन्थ की [आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेवविरचित] श्री आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका [की पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ाकृत श्री समयसार वचनिका] में पहला 'जीव-अजीव अधिकार' पूर्ण होता है॥ १॥

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

---

१. यह 'सवैया तेईसा' छन्द 'अ' 'ब' प्रति में इसके बाद के अन्तिम परिच्छेद के बाद दिया गया है, उसे यहाँ सभी अध्यायों के अन्त की एकरूपता की दृष्टि से आगे-पीछे किया है।

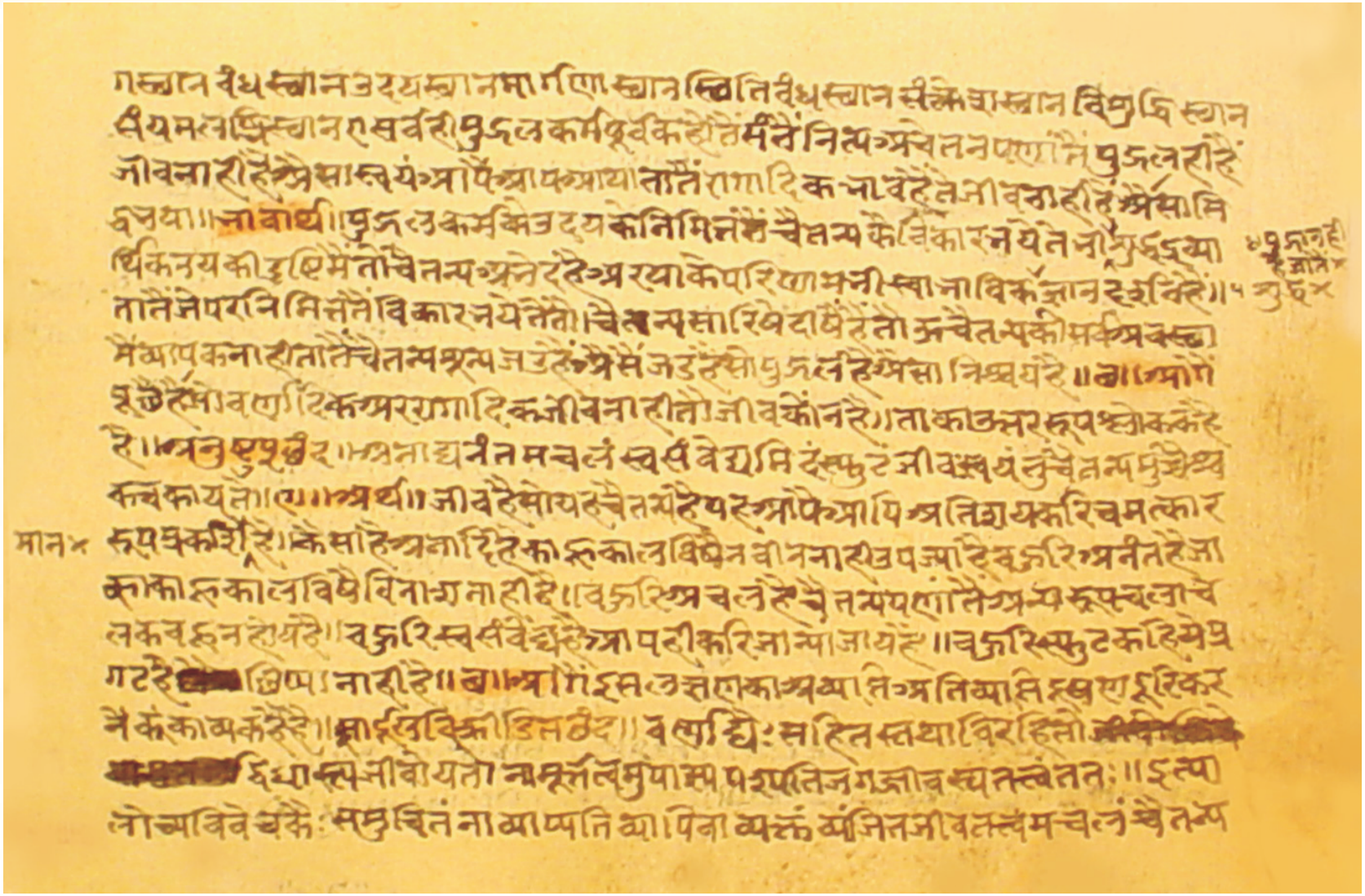

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ५७ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर जीव-अजीव अधिकार का कलश ९-१० (४१-४२) का प्रकरण चल रहा है। इसमें रागादि को पुद्गल का बताते हुए ऊपर से चौथी पंक्ति में लिखा है – **'पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त तैं चैतन्य के विकार भये, ते भी पुद्गल ही हैं।'**

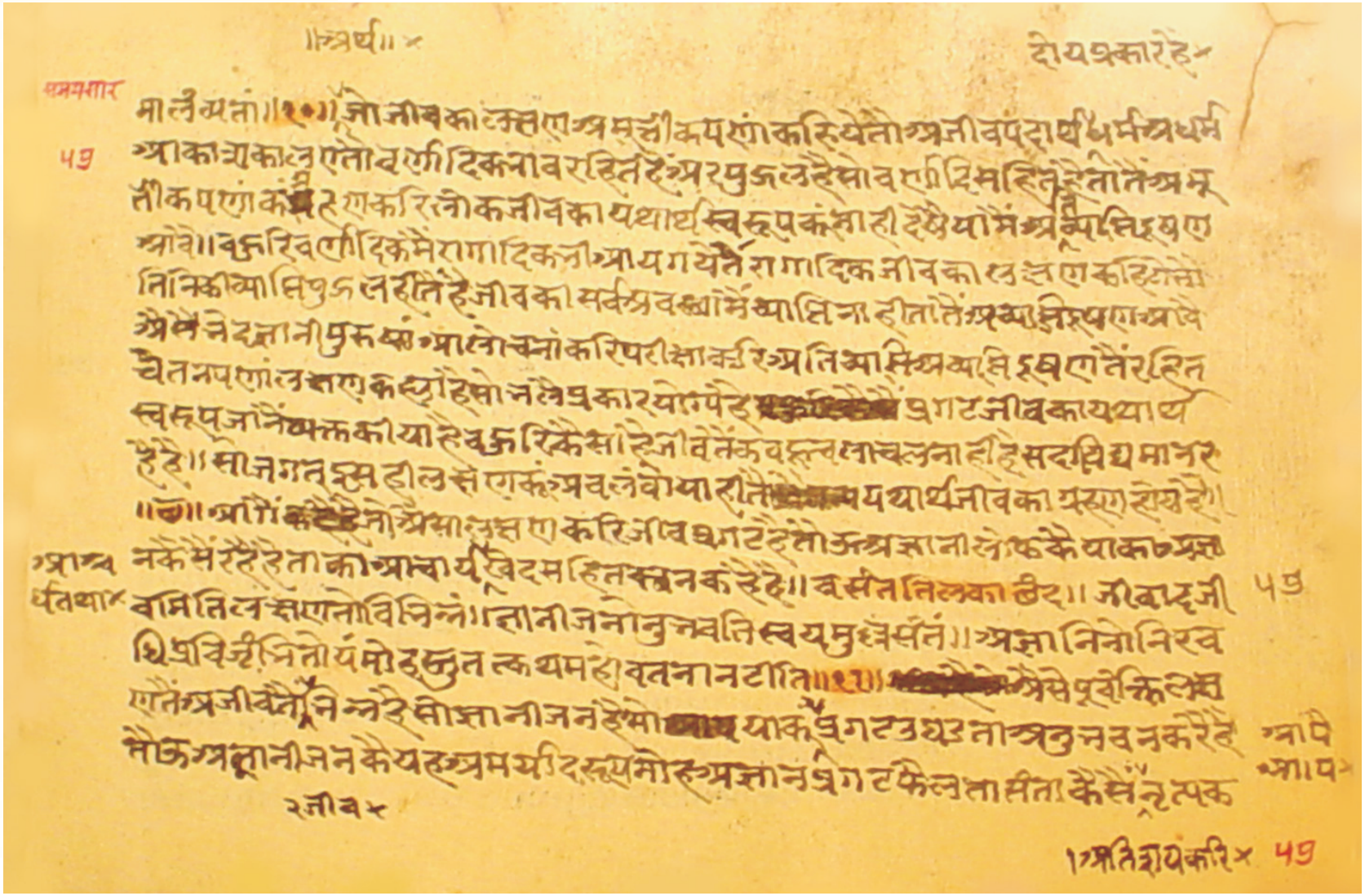

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ५७ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर कलश १०-११ (४२-४३) का प्रकरण चल रहा है। इसमें नीचे से दूसरी पंक्ति में लिखा है – '**अजीव तैं जीव भिन्न है सो ज्ञानीजन है सो याकूं आपै आप प्रगट उघडता अनुभवन**

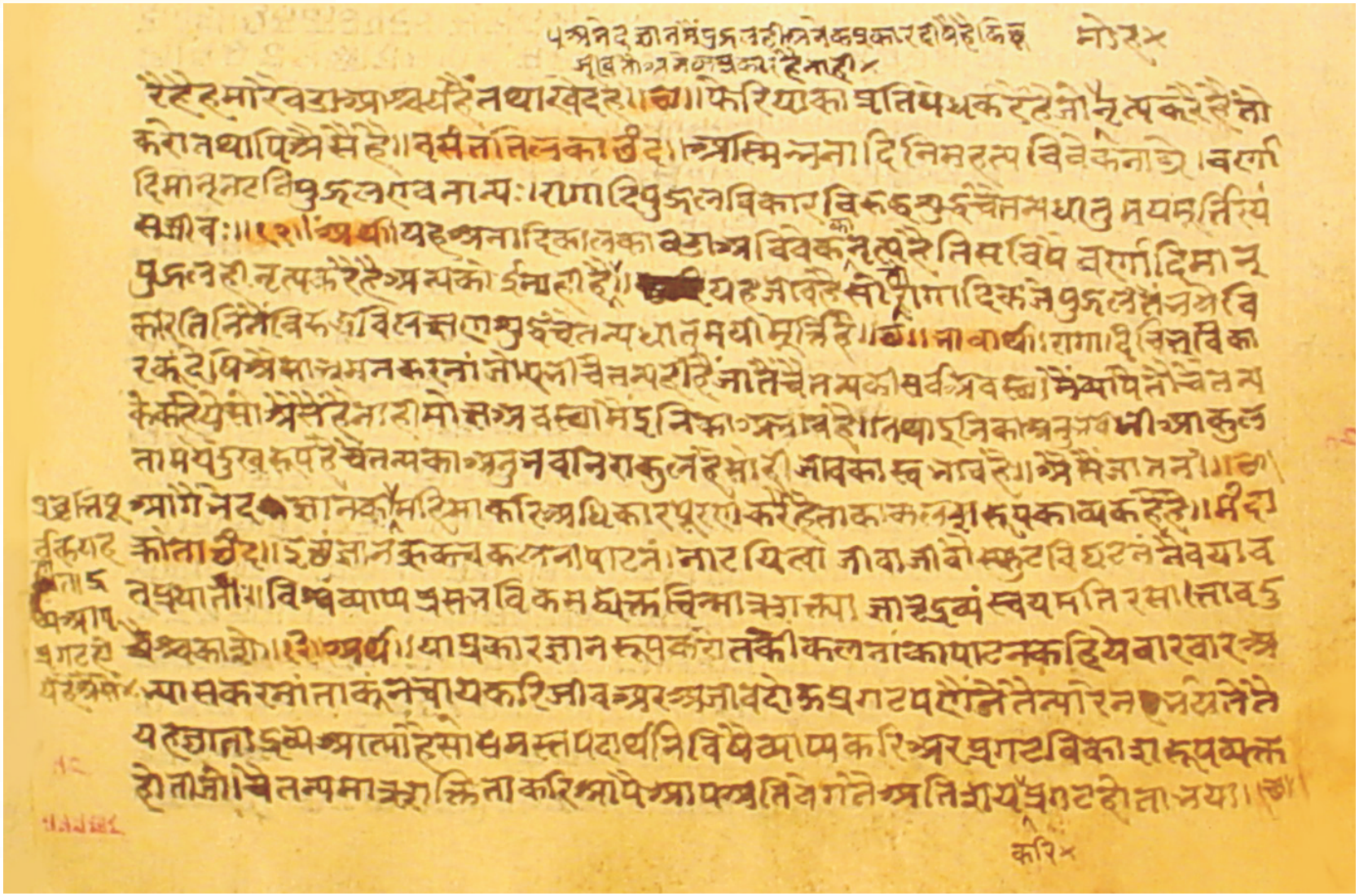

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ५८ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर जीव-अजीव अधिकार (उत्तरार्द्ध) के अन्तिम कलश १२-१३ (४४-४५) का वर्णन चल रहा है। इसमें नीचे आठवीं पंक्ति में लिखा है – **'चैतन्य का अनुभव निराकुल है सो ही जीव का स्वभाव है, ऐसैं जाननां।'**

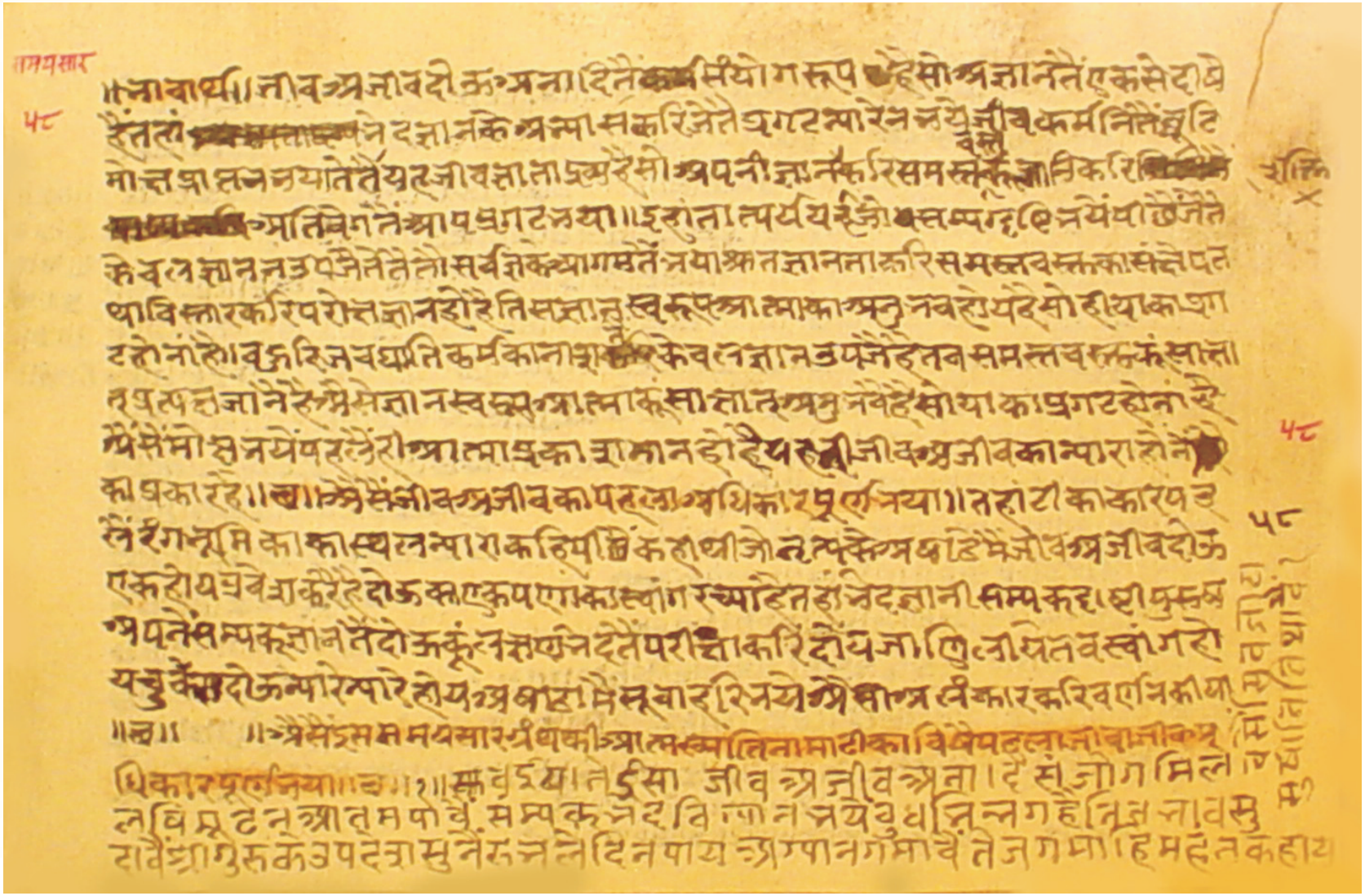

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ५८ का पिछला भाग है। यहाँ पर जीव-अजीव अधिकार (उत्तरार्द्ध) पूर्ण होता है। अधिकार समापन पर 'सवैया तेईसा' छन्द, वचनिकाकार ने स्वयं लिखा है। इस छन्द की तीसरी और पृष्ठ की अन्तिम पंक्ति में लिखा है -

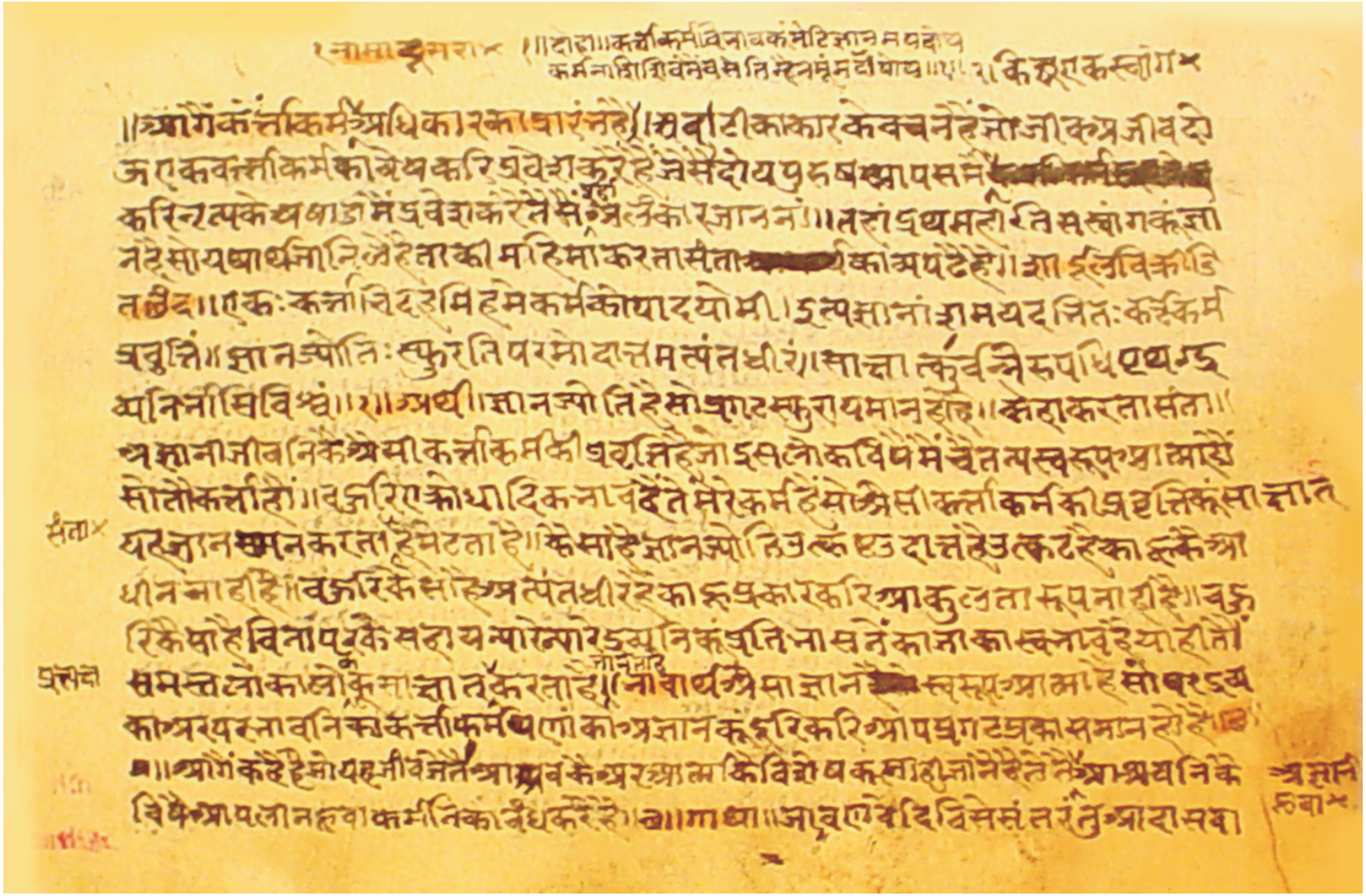

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ५९ का अगला भाग है। यहाँ से दूसरे कर्ता-कर्म अधिकार का प्रारम्भ मङ्गलसूचक 'दोहा' लिख कर किया गया है – **'कर्ताकर्म विभाव कूं, मेटि ज्ञानमय होय। कर्म नाशि शिव में बसे, तिन्हें नमूं मद खोय॥'**

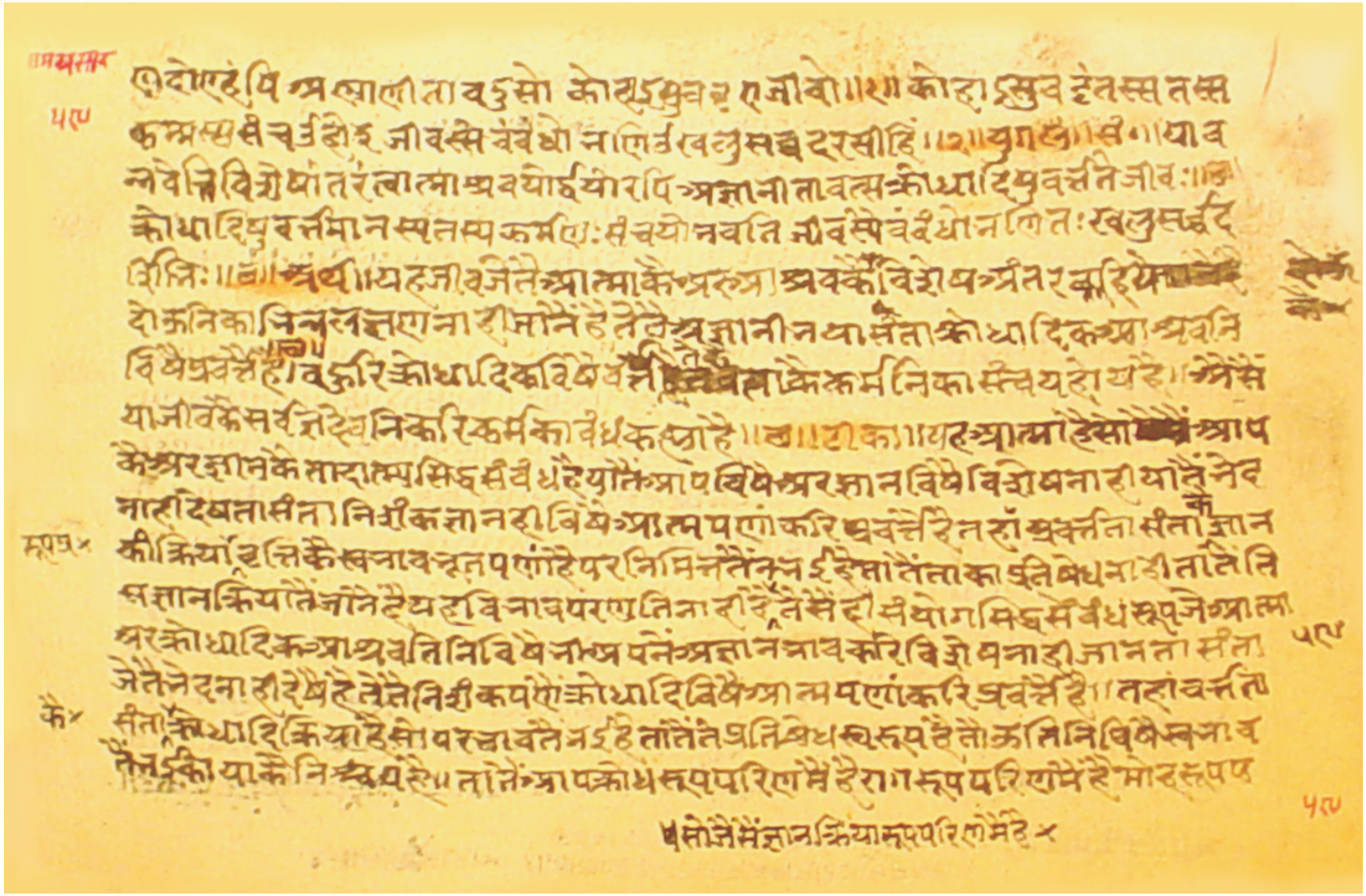

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ५९ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर कर्ता-कर्म अधिकार की गाथा १-२ (६९-७०) का प्रकरण चल रहा है। इसमें ऊपर से पाँचवी पंक्ति में लिखा है – **'यह जीव जेतै आत्मा कै अर आश्रव कै विशेष अंतर कहिये दोऊनि का भिन्न लक्षण नाही जानैं है, तेतै अज्ञानी भया संता क्रोधादिक आश्रवनि विषै प्रवर्त्तै है ॥ छ ॥'**

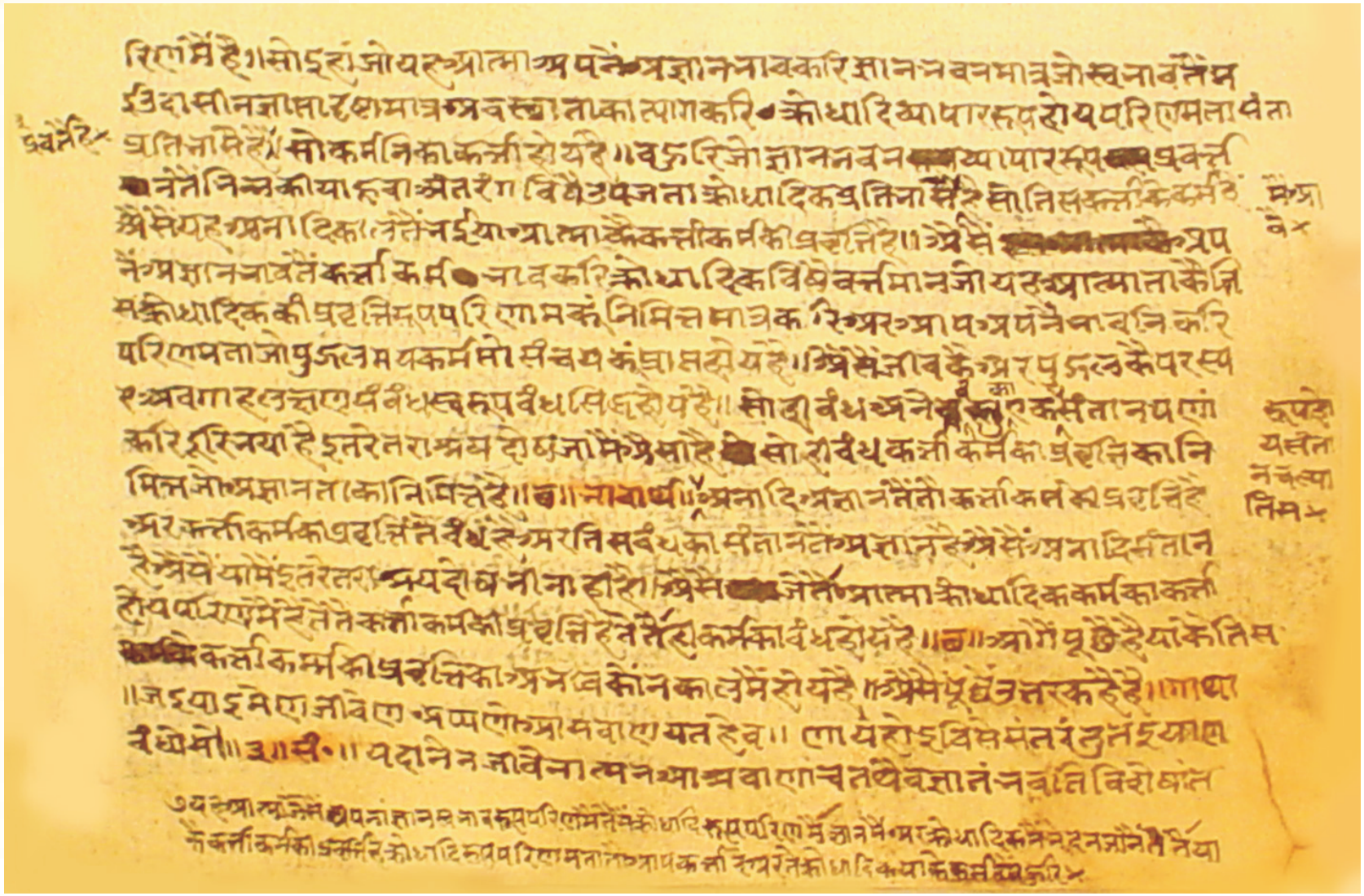

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ६० का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर नीचे कर्ता-कर्म अधिकार की गाथा ३ (७१) का प्रकरण आया है। इसमें नीचे से सातवीं पंक्ति में लिखा है – **'अनादि अज्ञान तैं तौ कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति है अर कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति तैं बंध है अर तिस बंध का संतान तैं अज्ञान है।'**

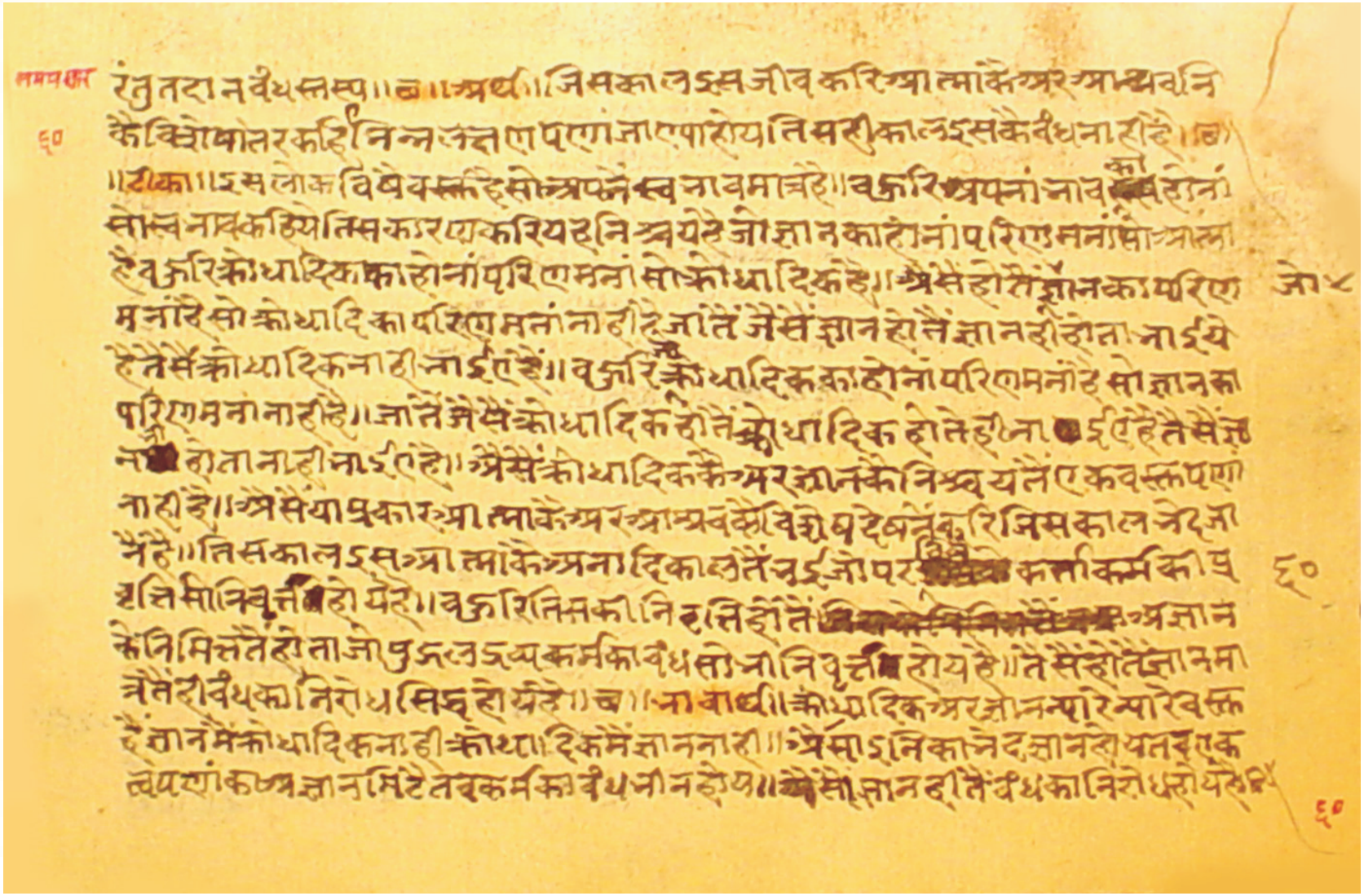

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ६० का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर कर्ता-कर्म अधिकार की गाथा ३ (७१) की टीका का प्रकरण आया है। इसमें ऊपर से तीसरी पंक्ति में टीका का प्रारम्भ करते हुए लिखा है – '**इस लोक विषै वस्तु है सो अपनें स्वभावमात्र**

२

॥ कर्ता-कर्म अधिकार ॥

॥ आगैं कर्त्ताकर्म नामा दूसरा अधिकार का प्रारंभ है॥

॥ दोहा ॥

कर्त्ताकर्म विभाव कूं, मेटि ज्ञानमय होय।
कर्म नाशि शिव मैं वसे, तिन्हैं नमूं मद षोय॥ १ ॥

अव टीकाकार के वचन हैं जो जीव अजीव दोऊ, एक कर्ताकर्म का वेष करि प्रवेश करैं हैं। जैसैं, दोय पुरुष आपस मैं किछू एक स्वांग करि नृत्य के अषाडा मैं प्रवेश करै, तैसैं इहां अलंकार जाननां॥ तहां प्रथम ही तिस स्वांग कूं ज्ञान है सो यथार्थ जानि ले है, ताकी महिमा करता संता काव्य पढै है॥

अब, दूसरा कर्ता-कर्म अधिकार, प्रारम्भ होता है —

॥ दोहा ॥

कर्ताकर्म विभाव को, मेट ज्ञानमय होय।
कर्म नाश शिव में बसें, उन्हें नमूँ मद खोय॥

[अर्थ — मैं कर्ता-कर्म के सम्बन्ध में विभाव अर्थात् मिथ्या मान्यता को मिटा कर, सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करके, कर्तृत्व के अभिमान को छोड़ कर; उन्हें नमस्कार करता हूँ, जो कर्मों का नाश करके सिद्धालय में जाकर निवास करते हैं।]

अब, यहाँ टीकाकार के वचन हैं कि जीव और अजीव दोनों, एक कर्ता-कर्म का वेश धारण करके प्रवेश करते हैं।

जिस प्रकार दो व्यक्ति मिलकर कोई एक स्वाँग बना कर नृत्य के अखाड़े (रङ्गभूमि) में प्रवेश करते हैं; उसी प्रकार यहाँ [रूपक] अलङ्कार जानना। वहाँ, प्रथम ही ज्ञान, उस स्वाँग को यथार्थ जान लेता है; अतः उसकी महिमा करते हुए कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ मन्दाक्रान्ता ॥

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी,
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं,
साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम्॥ १॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानज्योति है सो प्रगट स्फुरायमान हो है॥

कहा करता संता। अज्ञानी जीवनि कै अैसी कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति है जो इस लोक विषै मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हौं सो तौ कर्त्ता हौं॥ वहुरि ए क्रोधादिक भाव हैं, ते मेरे कर्म हैं सो अैसी कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति कूं साक्षात् यह ज्ञान समन करता संता है, मेटता है॥

कैसा है ज्ञानज्योति। उत्कृष्ट उदात्त है, उत्कट है, काहू कै आधीन नाही है॥

वहुरि कैसा है, अत्यंत धीर है, काहू प्रकार करि आकुलतारूप नाही है॥

वहुरि कैसा है, विना पर कै सहाय न्यारे न्यारे द्रव्यनि कूं प्रतिभासनें का जाका स्वभाव है, याही तैं समस्त लोकालोक कूं साक्षात् प्रत्यक्ष करता है, जानता है॥

॥ भावार्थ॥ अैसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है सो परद्रव्य का अर परभावनि का कर्त्ताकर्मपणां का

॥ हरिगीतिका ॥

मैं एक कर्ता आत्मा, क्रोधादि मेरे कर्म सब।
बस! यही कर्ता-कर्म की, है प्रवृत्ति अज्ञानमय॥
शमन करती इसे प्रगटी, सर्व विश्व विकाशिनी।
अतिधीर परमोदात्त पावन, ज्ञानज्योति प्रकाशिनी॥ ४६॥

अर्थ – ज्ञानज्योति प्रगट स्फुरायमान होती है।

क्या करती हुई प्रगट होती है? – अज्ञानी जीवों की ऐसी कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति है कि इस लोक में 'मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो कर्ता हूँ और क्रोधादिभाव मेरे कर्म हैं' – ऐसी कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति को, यह साक्षात् ज्ञानज्योति शमन करती है अर्थात् मिटाती है।

कैसी है यह ज्ञानज्योति? – परम उदात्त है अर्थात् श्रेष्ठ है; किसी के आधीन नहीं है।

और कैसी है? – अत्यन्त धीर है अर्थात् किसी भी प्रकार से आकुलतामय नहीं है।

और कैसी है? – अन्य की सहायता के बिना ही भिन्न-भिन्न द्रव्यों को प्रकाशित करने का जिसका स्वभाव है, इसी कारण यह समस्त लोकालोक को साक्षात् प्रत्यक्ष करती है, जानती है।

भावार्थ – यह ज्ञानस्वरूप आत्मा, परद्रव्यों और परभावों सम्बन्धी कर्ता-कर्मरूप अज्ञान को

अज्ञान कूं दूरि करि आप प्रगट प्रकासमान हो है॥ छ॥

आगैं कहै है जो यह जीव, जेतैं आश्रव कै अर आत्मा कै विशेष कूं नाही जानै है, तेतै अज्ञानी हूवा आश्रवनि कै विषै आप लीन हूवा कर्मनि का वंध करै है॥ छ॥

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हं पि।
अण्णाणी तावदु सो, कोहाइसु वट्टए जीवो॥ १॥
कोहाइसु वट्टंतस्स, तस्स कम्मस्स संचओ होइ।
जीवस्सेवं बंधो, भणिओ खलु सव्वदरिसीहिं॥ २॥

॥ युगलं॥

यावन्न वेत्ति विशेषान्तरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि।
अज्ञानी तावत्स, क्रोधादिषु वर्तते जीवः॥ छ॥
क्रोधादिषु वर्तमानस्य, तस्य कर्मणः संचयो भवति।
जीवस्यैवं बन्धो, भणितः खलु सर्वदर्शिभिः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ यह जीव जेतै आत्मा कै अर आश्रव कै विशेष अंतर कहिये दोऊनि का भिन्न लक्षण

दूर करके स्वयं प्रगट प्रकाशमान होता है।

अब कहते हैं कि जब तक यह जीव, आस्रव और आत्मा के भेद को नहीं जानता है, तब तक अज्ञानी रह कर, आस्रवों में स्वयं लीन होकर कर्मों का बन्ध करता है —

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हं पि।
अण्णाणी ताव दु सो, कोहादिसु वट्टदे जीवो॥ ६९॥
कोहादिसु वट्टंतस्स, तस्स कम्मस्स संचओ होदि।
जीवस्सेवं बंधो, भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं॥ ७०॥

रे! आत्म-आस्रव का जहाँ तक, भेद जीव जाने नहीं।
क्रोधादि में स्थिति होय है, अज्ञानी ऐसे जीव की॥ ६९॥
जीव वर्तता क्रोधादि में, तब करम सञ्चय होय है।
सर्वज्ञ ने निश्चय कहा, यों बन्ध होता जीव के॥ ७०॥

अर्थ – जब तक यह जीव, आत्मा और आस्रव – दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षणों से उनके

नाही जानैं है, तेतै अज्ञानी भया संता क्रोधादिक आश्रवनि विषै प्रवर्त्तै है॥ छ॥

वहुरि क्रोधादिक विषै वर्त्तते कै ताकै कर्मनि का संचय होय है॥ अैसैं या जीव कै सर्वज्ञदेवनि करि कर्म का वंध कह्या है॥ छ॥

॥ टीका॥ यह आत्मा है सो आप कै अर ज्ञान कै तादात्म्यसिद्ध संवंध है, यातैं आप विषै अर ज्ञान विषै विशेष नाही, यातैं भेद नाही देषता संता निशंक ज्ञान ही विषै आत्मपणां करि प्रवर्त्तै है। तहां प्रवर्तता संता कै ज्ञान की क्रियारूप प्रवृत्ति कै स्वभावभूतपणां है, परनिमित्त तैं न भई है, तातैं ताका प्रतिषेध नाही, तातैं तिस ज्ञानक्रिया तैं जानैं है, यह विभाव परिणति नाही है।

सो जैसैं ज्ञानक्रियारूप परिणमैं है, तैसैं ही संयोगसिद्धसंवंधरूप जे आत्मा अर क्रोधादिक आश्रव, तिनि विषै भी अपने अज्ञानभाव करि विशेष नाही जानता संता, जेतै भेद नाही देषै है, तेतै निशंकपणैं क्रोधादि विषै आत्मपणां करि प्रवर्त्तै है॥ तहां वर्त्तता संता कै क्रोधादि क्रिया है सो परभाव तैं भई है, तातैं ते प्रतिषेधस्वरूप है, तौऊ तिनि विषै स्वभाव तैं भई का याकै निश्चय है॥ तातैं आप क्रोधरूप परिणमैं है, रागरूप परिणमैं है, मोहरूप परिणमैं है॥

सो इहां जो यह आत्मा अपनें अज्ञानभाव करि ज्ञानभवनमात्र जो स्वभाव तैं भई उदासीन ज्ञाता दृष्टा मात्र अवस्था, ताका त्याग करि क्रोधादि व्यापाररूप होय परिणमता संता प्रतिभासै है, प्रवर्त्तै

विशेष अन्तर [अर्थात् भेद] को नहीं जानता है, तब तक अज्ञानी रहता हुआ क्रोधादि आस्रवों में प्रवर्तता है॥ ६९॥

क्रोधादि में प्रवर्तते हुए उस जीव को कर्मों का संचय होता है। इस प्रकार सर्वज्ञदेव ने इस जीव को कर्मों का बन्ध होना बताया है॥ ७०॥

टीका – स्वयं आत्मा और ज्ञान का तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है, इसलिए स्वयं आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं है; अतः आत्मा, इनमें भेद नहीं देखता हुआ ज्ञान में निःशङ्क होकर आत्मपने से प्रवर्तता है। वहाँ प्रवर्तते हुए ज्ञानक्रियारूप प्रवृत्ति का स्वभावभूतपना है क्योंकि वह पर के निमित्त से नहीं हुई है, इसलिए उसका निषेध नहीं किया गया है; अतः आत्मा, उस ज्ञानक्रिया से जानता है, यह विभाव परिणति नहीं है।

जिस प्रकार यह आत्मा, ज्ञानक्रियारूप परिणमता है; उसी प्रकार संयोगसिद्धसम्बन्धरूप आत्मा और क्रोधादि आस्रव में भी अपने अज्ञानभाव के कारण अन्तर नहीं जानता हुआ, जब तक भेद नहीं देखता है, तब तक निःशङ्क होकर क्रोधादि में भी आत्मपने से प्रवृत्ति करता है। वहाँ प्रवर्तते हुए, यद्यपि क्रोधादि क्रियाएँ परभाव से उत्पन्न हुई हैं, अतः निषेध करने योग्य हैं; फिर भी उन्हें स्वभाव से उत्पन्न हुई हैं – ऐसा [अज्ञानी] निश्चय करता है, इस कारण स्वयं आत्मा क्रोधरूप, रागरूप और मोहरूप परिणमन करता है।

इस प्रकार यह आत्मा, अपने अज्ञानभाव के कारण ज्ञानरूप परिणमनमात्र, स्वभाव से उत्पन्न हुई, उदासीन ज्ञाता-दृष्टामात्र अवस्था का त्याग करके, क्रोधादि व्यापाररूप परिणमन करता हुआ

है सो कर्मनि का कर्त्ता होय है। वहुरि जो ज्ञानभवन व्यापाररूप प्रवर्त्तन तैं भिन्न कीया हूवा, अंतरंग विषै उपजता क्रोधादिक प्रतिभास मैं आवै है सो तिस कर्त्ता के कर्म हैं। ऐसैं यह अनादिकाल तैं भई या आत्मा कै कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति है॥

ऐसैं अपनें अज्ञानभाव तैं कर्त्ताकर्मभाव करि क्रोधादिक विषै वर्त्तमान जो यह आत्मा, ताकै तिस क्रोधादिक की प्रवृत्तिरूप परिणाम कूं निमित्तमात्र करि अर आप अपनें भावनि करि परिणमता जो पुद्गलमय कर्म सो संचय कूं प्राप्त होय है॥ ऐसैं जीव कै अर पुद्गल कै परस्पर अवगाहलक्षण संवंधस्वरूप वंध सिद्ध होय है॥ सो ही वंध अनेक वस्तु का एकरूप होय सन्तान चल्या, तिस संतानपणां करि दूरि भया है इतरेताश्रय दोष जामैं, ऐसा है, सो ही वंध, कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति का निमित्त जो अज्ञान, ताका निमित्त है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ यह आत्मा जैसैं अपनां ज्ञानस्वभावरूप परिणमैं, तैसैं क्रोधादिरूप परिणमैं, ज्ञान मैं अर क्रोधादिक मैं भेद न जानैं, तेतै याकै कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति है। क्रोधादिरूप परिणमता तौ आप कर्त्ता है अर ते क्रोधादिक याके कर्म हैं।

वहुरि अनादि अज्ञान तैं तौ कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति है अर कर्ताकर्म की प्रवृत्ति तैं वंध है अर तिस वंध का संतान तैं अज्ञान है, ऐसैं अनादि संतान है। ऐसैं यामैं इतरेतराश्रयदोष भी नाही है॥ ऐसैं जेतै आत्मा क्रोधादिक कर्म का कर्त्ता होय परिणमैं है, तेतै कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति है, तेतै ही कर्म का

प्रतिभासित होता है, प्रवर्तता है, इसलिए वह कर्मों का कर्ता होता है तथा ज्ञानरूप परिणमन के व्यापाररूप प्रवर्तन से भिन्न किये हुए और अन्तरङ्ग में उत्पन्न होते हुए क्रोधादिभाव प्रतिभासित होते हैं, वे उस कर्ता के कर्म हैं – ऐसे यह आत्मा में अनादिकाल से चली आ रही, [अज्ञान से उत्पन्न] कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति है।

इस प्रकार अपने अज्ञानभाव के कारण कर्ता-कर्मभाव से क्रोधादि में प्रवर्तमान आत्मा को उन क्रोधादि में प्रवृत्तिरूप परिणाम के निमित्तमात्र से, स्वयं अपने भावों से परिणमित पौद्गलिककर्म का संचय होता है। इस तरह जीव और पुद्गल का परस्पर अवगाहलक्षण सम्बन्धस्वरूप बन्ध सिद्ध होता है, उसी बन्ध की अनेक वस्तुओं में एकरूप होकर सन्तति चलती रहती है – इस सन्तति के कारण ही इसमें से इतरेतराश्रयदोष नहीं रहता है। इस प्रकार वही बन्ध, कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति के निमित्तभूत अज्ञान का निमित्त है।

भावार्थ – [जब तक] यह आत्मा, जिस तरह अपने ज्ञानस्वभावरूप परिणमन करता है, उसी तरह क्रोधादिरूप भी परिणमन करता है, ज्ञान और क्रोधादि में भेद नहीं जानता है; तब तक इसकी कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति रहती है। क्रोधादिरूप परिणमन करता हुआ वह स्वयं तो कर्ता है और वे क्रोधादि इसके कर्म हैं।

अनादि अज्ञान से तो कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति है, कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति से बन्ध है और उस बन्ध की सन्तान से अज्ञान है – ऐसी यह अनादिकाल से सन्तान-परम्परा चली आ रही है और इस तरह इसमें इतरेतराश्रयदोष भी नहीं है। इस प्रकार जब तक यह आत्मा, क्रोधादि कर्म का कर्ता होकर परिणमन

वंध होय है॥ छ॥

आगैं पूछै है, याकै तिस कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति का अभाव कोंन काल मैं होय है॥ अैसैं पूछैं उत्तर कहै है॥

जइया इमेण जीवेण, अप्पणो आसवाण य तहेव।
णायं होइ विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से॥ ३॥

यदानेन जीवेनात्मन आस्रवाणां च तथैव।
ज्ञातं भवति विशेषान्तरं तु तदा न बन्धस्तस्य॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जिस काल इस जीव करि आत्मा कै अर आश्रवनि कै विशेषांतर कहिये, भिन्न लक्षणपणां जाण्या होय, तिस ही काल इस कै वंध नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ इस लोक विषै वस्तु है सो अपनें स्वभावमात्र है। वहुरि अपनां भाव का होनां सो स्वभाव कहिये। तिस कारण करि यह निश्चय है जो ज्ञान का होनां, परिणमनां सो आत्मा है। वहुरि क्रोधादिक का होनां, परिणमनां सो क्रोधादिक हैं। अैसैं होतैं जो ज्ञान का परिणमनां है सो क्रोधादिक का परिणमनां नाही है। जातैं जैसैं ज्ञान होतैं ज्ञान ही होता भाइये है, तैसैं क्रोधादिक नाही भाइए हैं॥ वहुरि जो क्रोधादिक का होनां, परिणमनां है सो ज्ञान का परिणमनां नाही है॥ जातैं जैसैं क्रोधादिक

करता है, तब तक ही उसकी कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति है और तब तक ही उसे कर्म का बन्ध होता है।

अब, कोई पूछता है कि इस कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अभाव कब होता है? – ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं –

जइया इमेण जीवेण, अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से॥ ७१॥

ये जीव ज्यों ही आस्रवों का, त्यों हि अपने आत्म का।
जाने विशेषान्तर तभी, बन्धन नहीं उसको कहा॥ ७१॥

अर्थ – जिस समय यह जीव, आत्मा और आस्रवों के विशेष अन्तर अर्थात् भिन्न लक्षणों को जानता है, उसी समय उसे बन्ध नहीं होता है॥ ७१॥

टीका – इस लोक में प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावमात्र है और अपने भाव का होना ही स्वभाव कहलाता है, इससे यह निश्चय होता है कि ज्ञान का होना या परिणमना तो आत्मा है और क्रोधादिरूप होना या परिणमना क्रोधादि है। इस तरह जो ज्ञान का परिणमन है, वह क्रोधादि का परिणमन नहीं है क्योंकि जैसे ज्ञान के होने पर, ज्ञान ही होता हुआ भासित होता है, वैसे क्रोधादि भासित नहीं होते; इसी प्रकार जो क्रोधादि का होना या परिणमना है, वह ज्ञान का परिणमना नहीं है क्योंकि जैसे

होतैं क्रोधादिक होते ही भाइए हैं, तैसैं ज्ञान भी होता नाही भाइए है॥ अैसैं क्रोधादिक कै अर ज्ञान कै निश्चय तैं एक वस्तुपणां नाही है॥

अैसैं या प्रकार आत्मा कै अर आश्रव कै विशेष देषनें करि जिस काल भेद जानै है॥ तिस काल इस आत्मा कै अनादिकाल तैं भई जो पर विषै कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति सो निवृत्त होय है॥ वहुरि तिसकी निवृत्ति होतैं अज्ञान के निमित्त तैं होता जो पुद्गल द्रव्यकर्म का वंध सो भी निवृत्त होय है॥ तैसैं होतैं ज्ञानमात्र तैं ही वंध का निरोध सिद्ध होय है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ क्रोधादिक अर ज्ञान न्यारे न्यारे वस्तु हैं, ज्ञान मैं क्रोधादिक नाही, क्रोधादिक मैं ज्ञान नाही॥ अैसा इनिका भेदज्ञान होय, तव एकत्वपणां का अज्ञान मिटै, तव कर्म का वंध भी न होय॥ अैसैं ज्ञान ही तैं वंध का निरोध होय है॥ छ॥

आगैं पूछै है, ज्ञानमात्र ही तैं वंध का निरोध कैसैं है॥ ताका उत्तर कहै है॥

णाऊणं आसवाणं, असुइत्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य, तदो[1] णियत्तिं कुणइ जीवो॥ ४॥

ज्ञात्वा आस्त्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च।
दुःखस्य कारणानीति च, ततो निवृत्तिं करोति जीवः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ आश्रवनि का अशुचिपणां, वहुरि विपरीतपणां, वहुरि ए दुःख के कारण हैं, अैसैं

क्रोधादि के होने पर क्रोधादि ही होते हुए भासित होते हैं, वैसे ज्ञान भी होता हुआ भासित नहीं होता। इस प्रकार निश्चय से क्रोधादि और ज्ञान का एक वस्तुपना नहीं है।

इसी प्रकार जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रव के विशेष [अन्तर] को देख कर, जिस समय उनके भेद को जानता है, उसी समय अनादिकाल से चली आ रही पर में कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति से निवृत्त हो जाता है। उसकी निवृत्ति होने पर अज्ञान के निमित्त से होनेवाला पौद्गलिक द्रव्यकर्म का बन्ध भी निवृत्त (दूर) हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध होता है।

भावार्थ – क्रोधादि और ज्ञान, भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। ज्ञान में क्रोधादिक नहीं है और क्रोधादि में ज्ञान नहीं है – ऐसा [जब] इनका भेदज्ञान होता है, तब इनमें एकत्वपने का अज्ञान मिटता है और तब कर्म का बन्ध भी नहीं होता है। इस प्रकार ज्ञान ही से बन्ध का निरोध होता है।

अब, यह प्रश्न है कि ज्ञानमात्र से बन्ध का निरोध कैसे होता है? इसका उत्तर देते हैं –

णादूण आसवाणं, असुचित्तं च विवरीदभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य, तदो णियत्तिं कुणदि जीवो॥ ७२॥

---

१. *ततो* – 'अ' 'ब' प्रति पाठ

जानि करि यह जीव तिनितैं निवृत्ति करै है॥ छ॥

॥ टीका॥ ए आश्रव हैं, ते अशुचि मलिन हैं, जातैं जैसैं जल विषै जंवाल कहिये सेवाल है सो मलिन है, जल कूं मलिन दिषावै है। तैसैं ए आश्रव भी कलुषपणां जो मलिनपणां, ता करि प्राप्यमाण हैं, आप मलिन हैं, आत्मा कूं मलिन अनुभवन करावैं हैं॥ वहुरि आत्मा है सो भगवान् है, ज्ञानवान् है सो 'सदा अति निर्मल'[1] जो चैतन्यभाव, 'ता करि प्राप्यमाण है'[2], तातैं अत्यंत शुचि है, पवित्र है, उज्वल है॥

वहुरि आश्रव हैं, ते आत्मा तैं अन्य स्वभाव हैं, ज्ञेय हैं, जातैं जडस्वभावपणां के होतैं, पर करि जाननें योग्य हैं। जड होय ते आप कूं न जानैं, पर कूं न जानैं, तिनि कूं पैला ही जानैं। अर आत्मा है सो सदा ही विज्ञानघनस्वभाव है, तातैं आप चेतक है, ज्ञाता है, आश्रवनि तैं अन्य स्वभाव है॥ आप कूं अर पर कूं जानैं है॥

वहुरि आश्रव हैं, ते दुःख के कारण हैं, जातैं ए आत्मा कै आकुलता के उपजावनहारे हैं॥ वहुरि भगवान आत्मा है सो सदा ही निराकुलस्वभाव है, तातैं काहू का कार्य नाही है तथा काहू का कारण भी नाही है, तातैं दुःख का कारण नाही है।

अैसैं आत्मा कै अर आश्रव कै तीन विशेषणनि करि भेद देषनें करि जिस काल भेद जानैं,

---

अशुचिपना, विपरीतता – ये आस्रवों का जान के।
अरु दुःखकारण जान कर, उनसे निवर्तन जीव करे॥ ७२॥

अर्थ – आस्रवों का अशुचिपना, विपरीतपना और दुःख का कारणपना जान कर, यह जीव उनसे निवृत्ति करता है॥ ७२॥

टीका – ये आस्रव, अशुचि अर्थात् मलिन हैं क्योंकि जैसे, जल में सेवाल या शैवाल, स्वयं तो मलिन है ही, जल को भी मलिन दिखाती है; उसी प्रकार ये आस्रव भी कलुषता अथवा मलिनता को प्राप्त होने से स्वयं मलिन हैं एवं आत्मा को भी मलिन अनुभव कराते हैं। लेकिन आत्मा, भगवान है, ज्ञानवान है और वह सदा अति निर्मल चैतन्यभाव को प्राप्त है; अतः वह अत्यन्त शुचि है, पवित्र है, उज्ज्वल है।

आस्रव, आत्मा से भिन्न स्वभाववाले हैं, ज्ञेय हैं क्योंकि जड़स्वभावी होने के कारण वे दूसरों के द्वारा जानने योग्य हैं। जो जड़ होता है, वह न तो स्वयं को जानता है और न पर को, उसे तो दूसरे ही जानते हैं। लेकिन आत्मा सदा ही विज्ञानघनस्वभाववाला है; अतः वह स्वयं चेतक है, ज्ञाता है, आस्रवों से भिन्न स्वभाववाला है तथा स्व और पर को जानता है।

आस्रव, दुःख के कारण हैं क्योंकि ये आत्मा में आकुलता को उत्पन्न करनेवाले हैं। लेकिन भगवान आत्मा सदा ही निराकुलस्वभाववाला है, वह न तो किसी का कार्य है और न ही किसी का कारण है; अतः वह दुःख का कारण नहीं है।

---

1. *सदा निर्मल* - 'ब' प्रति पाठ
2. *ता करि ताका ज्ञायक है* - 'अ' प्रति पाठ

तिस ही काल क्रोधादिक आश्रवनि तैं निवृत्त होय हैं॥ वहुरि तिनि आश्रवनि तैं निवृत्तमान न होय, ताकै पारमार्थिक सांची भेदज्ञान की सिद्धि न होय है॥ तातैं अैसैं कह्या है, जो क्रोधादिक आश्रवनि की निवृत्ति तैं अविनाभावी जो ज्ञान, तिस मात्र तैं ही अज्ञान तैं भया जो पौद्गलिक कर्म का वंध, ताका निरोध सिद्ध होय है॥

इहां अैसा विशेष जाननां॥ जो यह आत्मा अर आश्रव का भेदज्ञान है सो पूछिये है जो अज्ञान है कि ज्ञान है॥ जो अज्ञान है, तौ आश्रवनि तैं अभेदज्ञान ही भया, विशेष नाही भया। वहुरि जो ज्ञान है तौ पूछिये, आश्रवनि विषैं प्रवर्त्तता है कि तिनितैं निवृत्तिरूप है॥ जो आश्रवनि विषैं प्रवर्त्तता है तौ सो ज्ञान आश्रवनि तैं अभेदज्ञानरूप अज्ञान ही है, यामैं भी विशेष नाही॥ वहुरि जो आश्रवनि तैं निवृत्तिरूप है तौ ज्ञान ही तैं वंध का निरोध कैसैं सिद्ध भया नाही कहिये, सिद्ध भया ही॥ 'अैसैं सिद्ध होने तैं तौ जामैं अज्ञान का अंश पाईए, अैसी क्रियानय का एकांत निराकरण भया।'[१] वहुरि जो आत्मा अर आश्रव का भेदज्ञान है सो भी आश्रवनि तैं निवृत्त न भया तौ वह ज्ञान ही नाही है। 'अैसैं कहनें तैं ज्ञान का अंश, अैसा ज्ञाननय का निराकरण भया॥'[२]

॥ भावार्थ॥ आश्रव अशुचि हैं, जड हैं, दु:ख के कारण हैं अर आत्मा पवित्र है, ज्ञाता है,

---

इस प्रकार [आत्मा], आत्मा और आस्रवों में इन तीन विशेषणों के द्वारा भिन्नता देख कर, जिस समय भेदज्ञान करता है; उसी समय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त होता है। यदि उन आस्रवों से निवृत्त न हो तो पारमार्थिक सच्चे भेदज्ञान की सिद्धि नहीं होती है, इसलिए यहाँ ऐसा कहा है कि क्रोधादि आस्रवों की निवृत्ति से अविनाभावी ज्ञानमात्र से ही, अज्ञान के कारण होनेवाले पौद्गलिक कर्मबन्ध का निरोध (संवर), सिद्ध होता है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि यह आत्मा और आस्रवों का **जो भेदज्ञान है, वह अज्ञान है या ज्ञान?** – यदि अज्ञान है तो यह आस्रवों से अभेदज्ञान (आत्मा और आस्रवों को अभिन्न जाननेवाला ज्ञान) ही हुआ, उससे अलग नहीं हुआ और यदि ज्ञान है तो पुन: प्रश्न है कि **वह ज्ञान, आस्रवों में प्रवृत्तिरूप है या निवृत्तिरूप?** – यदि वह ज्ञान, आस्रवों में प्रवर्तता है तो वह ज्ञान, आस्रवों से अभेदज्ञानरूप अज्ञान ही है, इसमें भी कोई विशेषता नहीं है और यदि वह आस्रवों से निवृत्तिरूप है तो ज्ञान ही से बन्ध का निरोध कैसे सिद्ध नहीं हुआ? अर्थात् सिद्ध हुआ ही। इस प्रकार सिद्ध होने पर, जिसमें अज्ञान का अंश पाया जाता है – ऐसे क्रियानय के एकान्त का निराकरण हो जाता है तथा यदि आत्मा और आस्रव का भेदज्ञान आस्रवों से निवृत्त नहीं है तो वह ज्ञान ही नहीं है – ऐसा कहने से जिसमें ज्ञान का अंश है, ऐसे [एकान्त] ज्ञाननय (अज्ञाननय) का भी निराकरण हो जाता है।

भावार्थ – आस्रव, अशुचि हैं, जड़ हैं और दु:ख के कारण हैं एवं आत्मा, पवित्र है, ज्ञाता

---

१. *'अैसैं सिद्ध होनें तैं तौ अज्ञान का अंश, अैसी क्रियानय का निराकरण भया'* – 'ब' प्रति पाठ

२. *अैसैं कहनें तैं ज्ञान का है अंश जामैं, अैसा अज्ञाननय भी निराकरण भया* – 'अ' प्रति पाठ / *संस्कृत टीका में 'इति ज्ञानांशो ज्ञाननयोऽपि निरस्त:'* – ऐसा पाठ है।

सुखस्वरूप है। ऐसैं दोऊनि कूं लक्षणभेद तैं भिन्न जानि करि आश्रवनि तैं आत्मा निवृत्त होय है, तिस कै कर्म का वंध न होय है। जातैं ऐसैं जानैं भी निवृत्त न होय तौ वह ज्ञान ही नाही, अज्ञान ही है।

यहाँ कोई पूछैं, अविरतसम्यग्दृष्टी कैं मिथ्यात्व अनंतानुवंधी संवंधी प्रकृतिनि का तौ आश्रव नाही अर अन्य प्रकृतिनि का तौ आश्रव होय, वंध होय है। याकूं ज्ञानी कहिये कि अज्ञानी।

ताका समाधान॥ जो याकै प्रकृतिनि का वंध होय है, सो याके अभिप्रायपूर्वक नाही है। सम्यग्दृष्टी भयें पीछैं परद्रव्य का स्वामित्वपणां[१] का याकै अभाव है, तातैं जेतैं चारित्रमोह का याकै उदय है, ताकै उदय के अनुसारि आश्रव वंध है, तिसका स्वामित्वपणां[२] नाही, यातैं अभिप्राय मैं निवृत्त होनां ही चाहै है, तातैं ज्ञानी ही कहिये॥ अर इहां वंध, मिथ्यात्व संवंधी अनंत संसार का कारण है सो ही प्रधानता करि विवक्षित है। अविरत आदिक तैं वंध होय सो अल्प स्थिति अनुभागरूप है, दीर्घ संसार का कारण नाही, तातैं प्रधान न गिणिये[३] है।

अथवा ज्ञान है सो वंध का कारण नाही है, ज्ञान मैं मिथ्यात्व का उदय था, तव अज्ञान कहावै था अर मिथ्यात्व गयें पीछैं अज्ञान नाही, ज्ञान ही है। सो यामैं किछू चारित्रमोह संवंधी विकार है सो ज्ञानी ताका स्वामी नाही, तातैं ज्ञानी कै वंध नाही। विकार वंधरूप है सो वंध की पद्धति मैं है, ज्ञान की पद्धति मैं नाही है॥ या अर्थ का समर्थनरूप कथन अगिली गाथा मैं होसी॥ छ॥

है और सुखस्वरूप है; इस प्रकार दोनों को उनके लक्षणभेद से भिन्न-भिन्न जान कर जो आत्मा, आस्रवों से निवृत्त होता है, उसको कर्म का बन्ध नहीं होता है क्योंकि इस प्रकार भेद को जान कर भी यदि वह आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है, अज्ञान ही है।

यहाँ कोई पूछता है कि अविरत सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय से सम्बन्धित प्रकृतियों का आस्रव तो नहीं है, परन्तु अन्य प्रकृतियों का तो आस्रव और बन्ध होता है; अत: इन्हें ज्ञानी कहें या अज्ञानी?

समाधान – सम्यग्दृष्टि को जो कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है, वह उसके अभिप्रायपूर्वक नहीं है। सम्यग्दृष्टि होने के बाद उसे परद्रव्यों के स्वामित्व का अभाव है, इसलिए जब तक चारित्रमोह का उदय है, तब तक उदय के अनुसार आस्रव-बन्ध तो है, परन्तु उसका स्वामीपना नहीं है अर्थात् अभिप्राय में वह उनसे निवृत्त होना ही चाहता है, इसलिए उसे ज्ञानी ही कहते हैं। यहाँ जो बन्ध, मिथ्यात्व से सम्बन्धित होकर अनन्त संसार का कारण है, वही प्रधानता से विवक्षित है; अविरति आदि से जो बन्ध होता है, वह अल्प स्थिति-अनुभागरूप है, दीर्घ संसार का कारण नहीं है; अत: उसे प्रधान नहीं माना गया है।

अथवा ज्ञान, बन्ध का कारण नहीं है। जब तक ज्ञान में मिथ्यात्व का उदय था, तब तक अज्ञान कहा जाता था और मिथ्यात्व के नाश हो जाने के बाद अज्ञान नहीं, ज्ञान ही है। यहाँ जो चारित्रमोह-सम्बन्धी विकार है, उसका स्वामी ज्ञानी नहीं है; अत: ज्ञानी को बन्ध नहीं है। विकार बन्धरूप है, वह बन्ध की पद्धति में है; ज्ञान की पद्धति में नहीं हैं – इसी अर्थ का समर्थन अगली गाथा में होगा।

१-२. *स्वामित्व* - 'ब' प्रति पाठ ३. *गणिये* - 'ब' प्रति पाठ

इहां कलशरूप काव्य है॥

॥ मालिनी ॥

परपरिणतिमुज्झत् खण्डयद्भेदवादा-
निदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः॥
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः॥ २॥

॥ अर्थ॥ यह ज्ञान है सो प्रत्यक्ष उदय कूं प्राप्त भया।

कैसा भया। अखंड कहिये, जामैं ज्ञेय के निमित्त तैं तथा क्षयोपशम के विशेष तैं अनेक खंडरूप आकार प्रतिभास मैं आवैं थे, तिनितैं रहित ज्ञानमात्र आकार अनुभवन मैं आया, याही तैं अैसा विशेषण है।

कैसा है ज्ञान। भेदवादान् खंडयत् कहिये मतिज्ञानादि अनेक भेद कहावैं थे सो तिनिकूं दूरि करता संता उदय भया, याही तैं अखंड विशेषण है॥

वहुरि कैसा है। पर के निमित्त तैं रागादिरूप परिणमैं था, तिस परिणति कूं छोडता संता उदय भया॥

वहुरि कैसा है। उच्चैः उच्चंड कहिये अतिशय करि प्रचंड है, पर का निमित्त तैं रागादिरूप

अब, यहाँ कलशरूप काव्य कहते हैं –

॥ हरिगीतिका ॥

परपरणति को छोड़ती अरु, तोड़ती सब भेदभ्रम।
यह अखण्ड प्रचण्ड प्रगटित, हुई पावन ज्योति जब॥
अज्ञानमय इस प्रवृत्ति को, है कहाँ अवकाश तब।
अब किस तरह हो कर्मबन्धन, जगी जगमग ज्योति जब॥ ४७॥

अर्थ – यह ज्ञान, प्रत्यक्ष उदय को प्राप्त होता है।

कैसा है वह? – अखण्ड है अर्थात् जिसमें ज्ञेयों के निमित्त से और क्षयोपशमज्ञान के विशेषों के कारण अनेक खण्डरूप आकार प्रतिभासित होते थे, उनसे रहित अखण्ड ज्ञानमात्र आकार अनुभव में आया है, इसलिए यहाँ [अखण्ड] यह विशेषण कहा है।

और कैसा है ज्ञान? – भेदवादान् खण्डयत् अर्थात् मतिज्ञान आदि अनेक भेदरूप खण्डों को दूर करता हुआ उदित हुआ है, इसलिए भी अखण्ड विशेषण कहा है।

और कैसा है? – [परपरिणतिम् उज्झत् अर्थात्] पर के निमित्त से रागादिरूप परिणमित होता था, उस परिणति को छोड़ता हुआ उदित होता है।

नाही परिणमैं है, वलवान् है॥

तहां आचार्य कहै है जो अहो, ऐसा ज्ञान मैं परद्रव्य कै कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति का अवकाश कैसैं होय तथा पौद्गलिक कर्मवंध कैसैं होय, नाही होय॥

॥ भावार्थ॥ कर्मवंध तौ अज्ञान तैं भई कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति तैं था। अव भेदवाद कूं दूरि करि अर परपरिणति कूं दूरि करि एकाकार ज्ञान प्रगट भया, तव भेदरूप कारक की प्रवृत्ति मिटी, तव काहे कूं वंध होय, नाही होय॥ छ॥

आगैं पूछै है, कोंन विधान करि आश्रवनि तैं निवर्तन होय है॥ ताका उत्तररूप गाथा कहै है॥ छ॥

अहमिक्को खलु सुद्धो, णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिओ तच्चित्तो, सव्वे एए खयं णेमि॥५॥

अहमेकः खलु शुद्धः, निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः।
तस्मिन्स्थितस्तच्चित्तः, सर्वानेतान् क्षयं नयामि॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी विचारै है जो मैं निश्चय तैं एक हौं, शुद्ध हौं, निर्ममत हौं, ज्ञानदर्शन करि पूर्ण

और कैसा है? – उच्चैः उच्चण्ड अर्थात् अतिशयरूप से प्रचण्ड है; इतना बलवान है कि पर के निमित्त से रागादिरूप परिणमित नहीं होता है।

इसलिए आचार्य कहते हैं – ''अहो! ऐसे ज्ञान में परद्रव्यों के कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति को अवकाश **कैसे हो सकता है** तथा पौद्गलिक कर्मबन्ध भी **कैसे हो सकता है?** – नहीं हो सकता है।''

भावार्थ – कर्म-बन्ध तो अज्ञान से हुई कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति के कारण था। अब भेदवाद और पर-परिणति को दूर करके एकाकार ज्ञान प्रगट हुआ है, उससे भेदरूप कारकों की प्रवृत्ति मिट गई है **तो फिर बन्ध क्यों हो?** – नहीं होता है।

अब, शिष्य का प्रश्न है कि किस विधान से आस्रवों से निवर्तन होता है? – उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं –

अहमेक्को खलु सुद्धो, णिम्ममओ[1] णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो, सव्वे एदे खयं णेमि॥७३॥

मैं एक शुद्ध ममत्वहीन रु ज्ञान-दर्शन पूर्ण हूँ।
इसमें रहूँ स्थित लीन इसमें, शीघ्र ये सब क्षय करूँ॥७३॥

---

१. *य णिम्ममो* – तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

हौं। अैसैं स्वभाव मैं तिष्ठ्या तिस ही चैतन्य अनुभव मैं लीन भया, ए क्रोधादिक आश्रव हैं, तिनि सर्वनि कूं क्षय कूं प्राप्त करूँ हौं॥ छ॥

॥ टीका॥ यह मैं आत्मा हौं सो प्रत्यक्ष अखंड अनंत चैतन्यमात्र ज्योति हौं।

सो कैसा हौं॥ अनादि अनंत नित्य उदयरूप विज्ञानघन स्वभावभावपणां तैं तौ एक हौं॥

वहुरि समस्त कर्त्ता कर्म करण संप्रदान अपादान अधिकरणस्वरूप जो कारकनि का समूह, ताकी प्रक्रिया, ता करि पार उतर्‌या दूरिवर्ती निर्मल चैतन्य अनुभूतिमात्रपणां तैं शुद्ध हौं।

वहुरि पुद्गलद्रव्य है स्वामी जिनिका, अैसैं जो क्रोधादिभाव का विश्वरूपपणां, सामस्त्यपणां, ताका स्वामीपणां करि सदा ही आपके नाही परिणमनें तैं तिनितैं निर्ममत हौं॥

वहुरि वस्तु का स्वभाव सामान्यविशेषस्वरूप है, यातैं चैतन्यमात्र तेजपुंज है सो भी वस्तु है, तातैं सामान्यविशेषस्वरूप जो ज्ञानदर्शन, तिनि करि परिपूर्ण हौं॥

अैसा आकाशादि द्रव्य की ज्यों परमार्थस्वरूप वस्तुविशेष हौं।

तातैं मैं इस ही आत्मस्वभाव विषै समस्त परद्रव्य तैं निवृत्ति करि, निश्चल तिष्ठता संता समस्त परद्रव्य के निमित्त तैं होती जे विशेषरूप चैतन्य विषै चंचल कल्लोल, तिसके निरोध करि इस चैतन्यस्वरूप कूं अनुभवता संता अपनें ही अज्ञान करि आत्मा विषै उपजते जे ए क्रोधादिक भाव, तिनि समस्तनि कूं क्षय कूं प्राप्त करूं हौं॥

अर्थ – ज्ञानी विचारता है कि ''मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मम (ममतारहित) हूँ और ज्ञान-दर्शन से पूर्ण हूँ।'' इस प्रकार मैं अपने चैतन्यस्वभाव में स्थित होकर, उसी के अनुभव में लीन होता हुआ, इन सभी क्रोधादि आस्रवों का क्षय करता हूँ॥ ७३॥

टीका – मैं यह आत्मा, प्रत्यक्ष अखण्ड अनन्त चैतन्यमात्र ज्योति हूँ।

वह कैसा हूँ? – अनादि-अनन्त नित्य-उदयरूप विज्ञानघनस्वभाव-भावत्व के कारण, **मैं एक हूँ।**

समस्त कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरणस्वरूप कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार को प्राप्त, उत्तीर्ण हुई, दूरवर्ती (भिन्न) निर्मल चैतन्यमय अनुभूतिमात्र होने से, **मैं शुद्ध हूँ।**

पुद्गलद्रव्य, जिनका है स्वामी – ऐसे क्रोधादिभावों के विश्वरूपत्व अर्थात् सर्वव्यापक स्वामित्व से स्वयं सदा ही परिणमित नहीं होने के कारण, **मैं निर्मम हूँ।**

वस्तु का स्वभाव सामान्य-विशेषस्वरूप है, इससे चैतन्यमात्र तेजपुञ्ज भी वस्तु है; इसलिए सामान्य-विशेषस्वरूप ज्ञान-दर्शन से, **मैं परिपूर्ण हूँ।**

— ऐसा आकाश आदि द्रव्यों के समान **मैं परमार्थस्वरूप वस्तुविशेष हूँ।**

इस तरह मैं इसी आत्मस्वभाव में समस्त परद्रव्यों से निवृत्ति करके, निश्चल स्थित होकर, समस्त परद्रव्यों के निमित्त से चैतन्य में उत्पन्न होनेवाली, विशेषरूप चञ्चल कल्लोलों का निरोध करके, इस चैतन्यस्वरूप का अनुभव करता हुआ, अपने ही अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न होनेवाले

ऐसैं आत्मा विषै निश्चय करि अर जैसैं घणें काल का ग्रह्या था जो जिहाज सो अब छोड्या जानैं, ऐसा समुद्र का आवर्त्त की ज्यों सीघ्र ही उद्भांत कहिये दूरि डारै हैं समस्त विकल्प जानैं, ऐसा निर्विकल्प अचलित निर्मल आत्मा कूं अवलंवन करता संता विज्ञानघन भया यहु आत्मा, आश्रवनि तैं निवृत्त होय है।

॥ भावार्थ ॥ शुद्धनय करि ज्ञानी आत्मा का ऐसा निश्चय कीया जो मैं एक हौं, शुद्ध हौं, परद्रव्य तैं निर्ममत हौं, ज्ञानदर्शन करि पूर्ण वस्तु हौं। सो जब ऐसा अपना स्वरूप विषै तिष्ठै, तिस ही का अनुभवनरूप होय, तब क्रोधादिक आश्रव क्षय हो जाय। जैसैं समुद्र का आवर्त्त वहुत काल तैं जिहाज कूं पकडि राष्या, पीछैं कोई काल मैं आवर्त्त पलटै, तव जिहाज कूं छोडै, तैसैं आश्रवनि तैं आत्मा निवृत्त होय है[१] ॥ छ ॥

आगैं पूछै है, ज्ञान होनें कै अर आश्रव की निवृत्ति कै समकाल कैसैं है॥ ताका उत्तररूप गाथा कहै हैं॥ छ॥

जीवणिबद्धा एए, अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफलित्ति य, णाऊण णियत्तए तेहिं॥ ६॥

समस्त क्रोधादिभावों का क्षय करता हूँ।

इस प्रकार आत्मा के विषय में निश्चय करके, जैसे, समुद्र के आवर्त अर्थात् भँवर के द्वारा बहुत काल से पकड़े गए जहाज को अब छोड़ दिया गया हो; उसी प्रकार जिसने समस्त विकल्पों को शीघ्र ही उगल दिया है, दूर कर दिया है – ऐसे निर्विकल्प अचलित निर्मल आत्मा का अवलम्बन करके विज्ञानघन होता हुआ यह आत्मा, आस्रवों से निवृत्त होता है।

भावार्थ – शुद्धनय से ज्ञानी ने आत्मा का ऐसा निश्चय किया कि ''मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, परद्रव्यों में निर्ममत्व (ममतारहित) हूँ, ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण वस्तु हूँ;'' वही ज्ञानी जब ऐसे अपने स्वरूप में स्थित होकर, उसी के अनुभवरूप होता है, तब क्रोधादि आस्रवों का क्षय हो जाता है। जिस प्रकार समुद्र के भँवर ने जहाज को बहुत काल से पकड़ रखा हो, पश्चात् जब किसी काल में वह भँवर पलटती है तो वह जहाज को छोड़ देती है; उसी प्रकार यह आत्मा भी आस्रवों से निवृत्त हो जाता है।

अब, कोई प्रश्न करता है कि ज्ञान की उत्पत्ति और आस्रवों की निवृत्ति, दोनों का समकालपना कैसे है? – उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं —

जीवणिबद्धा एदे, अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफलात्ति य, णादूण णिवत्तदे तेहिं॥ ७४॥

---

१. *तैसैं आत्मा आश्रवनि कूं छोडै है* – 'ब' प्रति पाठ

जीवनिबद्धा एते, अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च।
दुःखा दुःखफला इति च, ज्ञात्वा निवर्तते तेभ्यः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ए आश्रव हैं, ते जीव करि सहित निवद्ध हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं तथा अशरण हैं॥ वहुरि दुःखरूप हैं॥ दुःख ही जिनिका फल है, अैसैं ज्ञानी जानि करि तिनितैं निवृत्ति करै है॥ छ॥

॥ टीका॥ ए आश्रव हैं, ते लाक्षवृक्ष की ज्यों वध्यघातक स्वभाव हैं। जैसैं पीपल आदि वृक्ष कै लाष उपजै, ता करि वृक्ष वंधैं, पीछैं तिसके निमित्त तैं वृक्ष का घात होय। 'तैसैं आश्रव जीव कै आप उपजैं अर वंधैं अर जीव कूं घातैं, अैसैं जीव वध्य अर ए घातक'[१], अैसैं वध्यघातक स्वभावरूप जीव सहित निवद्ध हैं, वंधे हैं अर विरुद्धस्वभाव हैं, तातैं जीव ही नाही हैं॥ छ॥

वहुरि आश्रव हैं, ते मृगी का रोग के वेग की ज्यों वधता जाय, फेरि घटता जाय, अैसैं अध्रुव हैं॥ वहुरि जीव है सो चैतन्यभावमात्र है सो ध्रुव है॥

वहुरि आश्रव हैं, ते शीतदाहज्वर का स्वभाव की ज्यों अनुक्रम तैं उपजता हैं, तातैं अनित्य हैं॥ वहुरि जीव है सो विज्ञानघनस्वभाव है, तातैं नित्य है॥

वहुरि आश्रव हैं, ते अशरण हैं, जातैं जैसैं कामसेवन मैं वीर्य का वंध छूटै, तिस ही काल दारुण काम का संस्कार है सो क्षीण होय, काहू तैं राष्या न जाय, तैसैं उदयकाल आयें पीछैं आश्रव क्षरि

ये सर्व जीवनिबद्ध अध्रुव, शरणहीन अनित्य हैं।
अरु दुःख दुःखफल जान कर, इनसे निवर्तन जीव करे॥ ७४॥

अर्थ – ये आस्रव, जीव के साथ निबद्ध हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःखरूप हैं और दुःख ही जिनका फल है – ऐसा जान कर ज्ञानी उनसे निवृत्ति करता है॥ ७४॥

टीका – आस्रव, वृक्ष और लाख की तरह वध्य-घातकस्वभाववाले हैं। जिस प्रकार पीपल आदि के वृक्ष में लाख उत्पन्न हो जाए तो वृक्ष उससे बँध जाता है और फिर उस लाख के निमित्त से वृक्ष का घात भी हो जाता है; उसी प्रकार आस्रव, जीव में स्वयं उत्पन्न होते हैं, बँधते हैं और जीव को घातते हैं; अतः जीव, वध्य है और आस्रव, घातक हैं। इस प्रकार आस्रव, वध्य-घातकस्वभाव से सहित **जीवनिबद्ध हैं,** बँधे हैं और विरुद्ध स्वभाववाले हैं; अतः **वे जीव ही नहीं हैं।**

आस्रव, मृगी रोग के वेग के समान बढ़ते जाते हैं, फिर घटते जाते हैं, अतः **अध्रुव हैं** और **जीव,** चैतन्यभावमात्र है, अतः **ध्रुव है।**

आस्रव, शीत-दाहज्वर के स्वभाव की तरह अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं, अतः **अनित्य हैं** और **जीव,** विज्ञानघनस्वभावी है, अतः **नित्य है।**

आस्रव, अशरण हैं क्योंकि जैसे, काम-सेवन में जब वीर्य का बन्ध छूट जाता है, तब दारुण कामभाव का संस्कार भी क्षीण हो जाता है अर्थात् किसी से रोक कर रखा नहीं जा सकता है; उसी

---

१. इस पूरी पंक्ति का 'ब' प्रति में पाठ नहीं

ही जाय, राषे न जाय, तातैं शरणरहित हैं॥ वहुरि जीव है सो अपनी स्वाभाविक चित्शक्तिरूप आप ही करि रक्षारूप है, तातैं शरणसहित है॥

वहुरि आश्रव हैं, ते सदा ही आकुलतास्वभाव लीयें हैं, तातैं दुःखरूप हैं॥ वहुरि जीव है सो सदा ही निराकुलस्वभावरूप है, तातैं सुखरूप है॥

वहुरि आश्रव हैं, ते आगामी काल मैं आकुलता का उपजावनहारा पुद्गलपरिणाम का कारण हैं, तातैं ते दुःखफलस्वरूप हैं॥ वहुरि जीव है सो समस्त ही पुद्गलपरिणाम का कारण नाही है, तातैं दुःखफलस्वरूप नाही है॥

अैसा आश्रव कै अर जीव कै भेदज्ञान भया, तिसतैं लगता ही शिथिल[१] भया है कर्म का उदय जाकै अर जैसैं दिशा का मध्य वादले की रचना का अभाव होय, तव निर्मल हो जाय, तैसैं अमर्याद फैलावरूप हूवा संता स्वभाव ही करि उदयमान भई जो चित्शक्ति तिसपणां करि जैसैं जैसैं विज्ञानघनस्वभाव होय है, तैसैं तैसैं आश्रवनि तैं निवृत्त होय है। वहुरि जैसैं जैसैं आश्रवनि तैं निवृत्त होता जाय, तैसैं तैसैं विज्ञानघनस्वभाव होता जाय।

अैसैं तहां ताईं विज्ञानघनस्वभाव होय है, जेतै सम्यक् प्रकार आस्रवनि तैं निवृत्त होय है। वहुरि तहां ताईं आश्रवनि तैं निवृत्त होय है, जहां तांई सम्यक् विज्ञानघनस्वभाव होय है॥

अैसैं ज्ञान कै अर आश्रव की निवृत्ति कै समकालपणां है॥

॥ भावार्थ॥ आश्रवनि कै अर आत्मा कै कह्या तिस प्रकार भेद जानतैं ही जेता अंशां जिस

प्रकार उदयकाल आने के बाद आस्रव नष्ट हो जाते हैं, रोके नहीं जा सकते हैं; अत: **अशरण हैं** और **जीव** अपनी स्वाभाविक चित्शक्ति से स्वयं ही रक्षारूप है, अत: **शरणसहित** है।

आस्रव, सदा ही आकुलतास्वभाव को ग्रहण किये हुए हैं, अत: **दुःखरूप** हैं और इसके विपरीत **जीव,** सदा ही निराकुलस्वभावरूप है, अत: **सुखरूप है।**

आस्रव, आगामी काल में आकुलता को उत्पन्न करनेवाले पुद्गलपरिणाम के कारण हैं, अत: **दुःखफलस्वरूप हैं** और **जीव,** समस्त पुद्गलपरिणाम का कारण नहीं है, अत: दुःखफलस्वरूप नहीं है।

— ऐसे आस्रव और जीव का भेदज्ञान होते ही, उसके साथ ही कर्म का उदय अर्थात् विपाक शिथिल हो जाता है। जिस प्रकार जिस दिशा में बादलों की रचना का अभाव हो जाने पर, वह दिशा निर्मल हो जाती है; उसी प्रकार अमर्यादित विस्ताररूप स्वभाव से ही उदित चित्शक्ति के कारण आत्मा जैसे-जैसे विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है, वैसे-वैसे आस्रवों से निवृत्त होता जाता है और जैसे-जैसे आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, वैसे-वैसे विघानघनस्वभाव होता जाता है।

इस तरह आत्मा तब तक विज्ञानघनस्वभाव होता है, जब तक सम्यक् प्रकार से आस्रवों से निवृत्त होता है और तब तक आस्रवों से निवृत्त होता है, जब तक सम्यक्प्रकार से विघानघनस्वभाव होता है।

इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति और आस्रव की निवृत्ति में समकालपना है।

---

१. *शिथल* - 'अ' प्रति पाठ

जिस प्रकार आश्रवनि तैं निवृत्त होय है, तिस तिस प्रकार तेता अंशां विज्ञानघनस्वभाव होता जाय। जव समस्त आश्रवनि तैं निवृत्त होय, तव संपूर्ण ज्ञानघनस्वभाव आत्मा होय है। अैसैं आश्रव की निवृत्ति का अर ज्ञान कै एक काल होनां जाननां।

इस आश्रव का अभाव अर संवर का होनां, गुणस्थाननि की परिपाटीरूप तत्त्वार्थसूत्र की टीका आदि सिद्धांतनि मैं वर्णन है, तहां तैं जाननां। इहां सामान्य प्रकरण है, तातैं सामान्य करि कह्या है।

अर इहां विज्ञानघनस्वभाव होनां कह्या सो जहां ताईं मिथ्यात्व है, तहां ताईं तौ ज्ञान कूं अज्ञान कहिए है अर मिथ्यात्व गयें पीछैं अज्ञान संज्ञा नाही, विज्ञान संज्ञा है। सो कर्म का क्षय तथा उपशम की अपेक्षा ज्ञान हीनाधिक होय है सो ज्यों ज्यों आश्रव की निवृत्ति होय, त्यों त्यों ज्ञान वधता जाय, ताकूं विज्ञान नाम कहिए है, थोरे ज्ञान कूं मिथ्यात्व विना अज्ञान न कहिये, अैसैं जाननां॥ छ॥

अव इस ही अर्थ का कलशरूप तथा अगिले कथन की सूचनिकारूप काव्य कहै है॥

॥ शार्दूलविक्रीड़ित॥

इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां,
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात्, क्लेशान्निवृत्तः स्वयं,
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः, साक्षी पुराणः पुमान्॥ ३॥

॥ अर्थ॥ इहां तैं आगैं पुराणपुरुष जो आत्मा, सो जगत का साक्षीभूत ज्ञातादृष्टा, आप ही ज्ञानी

भावार्थ – आस्रवों और आत्मा के उपर्युक्त प्रकार से भेदों को जानते ही जिस-जिस प्रकार से, जितने-जितने अंशों में आस्रवों से निवृत्त होता है; उस-उस प्रकार से उतने-उतने अंशों में विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है और जब आत्मा, समस्त आस्रवों में निवृत्त होता है, तब सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव होता है; इस तरह आस्रव की निवृत्ति और ज्ञान का एक काल में होना जानना।

आस्रवों का अभाव और संवर का होना - इसका वर्णन गुणस्थानों की परिपाटी के अनुसार 'तत्त्वार्थसूत्र' की टीकाओं आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में है, वहाँ से जानना चाहिए। यहाँ [तत्सम्बन्धी] सामान्य प्रकरण है, अतः सामान्यरूप से कहा गया है।

यहाँ 'विज्ञानघनस्वभाव' होना कहा है, उसका हेतु यह है कि जब तक मिथ्यात्व है, तब तक ज्ञान को 'अज्ञान' कहा जाता है और मिथ्यात्व के चले जाने के बाद उसकी 'अज्ञान' संज्ञा नहीं, 'विज्ञान' संज्ञा होती है। यद्यपि कर्मों के क्षय-उपशम (क्षयोपशम) की अपेक्षा ज्ञान में हीनाधिकता होती है, परन्तु जैसे-जैसे आस्रव की निवृत्ति होती जाती है, वैसे-वैसे ज्ञान भी बढ़ता जाता है, उसी को 'विज्ञान' नाम से कहा जाता है। यदि मिथ्यात्वरहित अवस्था में ज्ञान अल्प भी हो तो भी वह 'अज्ञान' नहीं कहा जाता – ऐसा जानना चाहिए।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप और अगले कथन की सूचनिकारूप काव्य कहते हैं —

भया संता प्रकाशमान होय है॥

सो पूर्वैं कहा करि कैसा भया संता सो कहै है॥ ऐसैं पहलैं कह्या तिस विधान करि परद्रव्य तैं उत्कृष्ट सर्व प्रकार निवृत्ति करि अर विज्ञानघनस्वभावरूप जो केवल अपनां आत्मा, ताहि निशंक आस्तिक्यभावरूप स्थिरीभूत करता संता, अज्ञान तैं भई थी जो कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति, ताका अभ्यास तैं भया था जो क्लेश, तिसतैं निवृत्त भया संता प्रकाशमान होय है॥ छ॥

आगैं पूछै है, ऐसा आत्मा ज्ञानी भया कैसैं लषिये, पहचानिये, ताके चिह्न कहे चाहिये॥ ताका उत्तररूप गाथा कहै है॥ छ॥

कम्मस्स य परिणामं, णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा, जो जाणइ[१] सो हवइ[२] णाणी॥ ७॥

कर्मणश्च परिणामं, नोकर्मणश्च तथैव परिणामम्।
न करोत्येनमात्मा, यो जानाति स भवति ज्ञानी॥ छ॥

॥ सवैया इकतीसा॥

इस प्रकार जान, भिन्नता विभावभाव की;
कर्त्तृत्व का अहं, विलीयमान हो रहा।
निज विज्ञानघन, भाव गजारूढ़ हो;
निज भगवान शोभायमान हो रहा॥
जगत् का साक्षी, पुरुषपुराण यह;
अपने स्वभाव में, विकासमान हो रहा।
अहो! सद्ज्ञानवन्त, दृष्टिवन्त यह पुमान;
जग-मग ज्योतिमय, प्रकाशमान हो रहा॥ ४८॥

अर्थ – इस तरह वह पुराणपुरुष आत्मा, जगत् का साक्षीभूत अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा होकर स्वयं ही ज्ञानी होता हुआ प्रकाशमान होता है।

वह पूर्व में क्या करके, कैसा होता हुआ प्रकाशमान होता है? – वह कहते हैं। पहले कहे हुए विधान के अनुसार परद्रव्य से उत्कृष्टतया सर्व प्रकार से निवृत्ति करके और विज्ञानघनस्वभावरूप केवल अपने आत्मा को निःशङ्क आस्तिक्यभाव से स्थिरीभूत करता हुआ, अज्ञानजन्य कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति के अभ्यास से उत्पन्न हुए क्लेशों से निवृत्त होता हुआ, प्रकाशमान होता है।

१-२. *जाणदि / हवदि* - 'अ' 'ब' प्रति, अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ

॥ अर्थ ॥ जो इस कर्म के परिणाम कूं वहुरि तैसैं ही नोकर्म के परिणाम कूं आत्मा न करै है, जातैं जो तिनि परिणामनि कूं जानैं है सो ज्ञानी होय है॥ छ॥

॥ टीका ॥ जो निश्चय करि मोह राग द्वेष, सुख दुख आदिरूप करि अंतरंग विषै उपजता सो तौ कर्म का परिणाम है॥ वहुरि स्पर्श रस गंध वर्ण शब्द वंध संस्थान स्थौल्य सूक्ष्म आदिरूप करि वाहरि उपजता सो नोकर्म का परिणाम है॥

सो ए समस्त ही परमार्थ तैं पुद्गलपरिणाम कै अर पुद्गल कै जैसैं घट कै अर मृत्तिका कै व्याप्यव्यापकभाव के सद्भाव तैं कर्त्ताकर्मपणां है, तैसैं पुद्गलद्रव्य स्वतंत्र व्यापक होय, कर्त्ता होय करि कीये हैं अर ते आप अंतरंग व्याप्यरूप होय व्यापे हैं, तातैं पुद्गल के कर्म हैं।

अर पुद्गलपरिणाम कै अर आत्मा कै, घट कुंभकार कै जैसैं, व्याप्यव्यापकभाव नाही है, तैसैं व्याप्यव्यापकपणां का अभाव है, तातैं कर्त्ताकर्मपणां की असिद्धि है॥ तातैं कर्मनोकर्मपरिणाम कूं आत्मा नाही करै है॥

अब, शिष्य पूछता है कि 'कोई आत्मा ज्ञानी हुआ', यह कैसे जाना या पहचाना जाता है, उसके चिह्न बताइए? – इसके उत्तररूप गाथा कहते हैं —

कम्मस्स य परिणामं, णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेदि एयमादा, जो जाणदि सो हवदि णाणी॥ ७५॥

जो कर्म का परिणाम अरु, नोकर्म का परिणाम है।
सो नहिं करे जो मात्र जाने, वही आत्मा ज्ञानी है॥ ७५॥

अर्थ – जो आत्मा, इस कर्म के परिणाम को और इसी प्रकार नोकर्म के परिणाम को नहीं करता, बल्कि उन परिणामों को [मात्र] जानता है; वह ज्ञानी होता है॥ ७५॥

टीका – निश्चय से मोह-राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि रूप से अन्तरङ्ग में उत्पन्न होनेवाले तो कर्म के परिणाम हैं तथा स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण, शब्द, संस्थान, स्थूलता-सूक्ष्मता आदि रूप से बाह्य में उत्पन्न होनेवाले नोकर्म के परिणाम हैं।

जैसे, घट और मृत्तिका में व्याप्य-व्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है; उसी प्रकार परमार्थ से इन समस्त कर्म और नोकर्म के पुद्गलपरिणामों और पुद्गलद्रव्य में कर्ता-कर्मपना है। पुद्गलद्रव्य ने स्वतन्त्र व्यापक होकर, कर्ता होकर इन पुद्गलपरिणामों को किया है और वे स्वयं ही अन्तरङ्ग में व्याप्यरूप होकर पुद्गल में व्याप्त होते हैं; अतः वे पुद्गल के कर्म हैं।

जैसे, घट और कुम्भकार में व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है; वैसे पुद्गलपरिणाम और आत्मा में व्याप्यव्यापकपने का अभाव है, इसलिए उनमें कर्ता-कर्मभाव भी सिद्ध नहीं होता है; अतः कर्म और नोकर्म के परिणाम को आत्मा नहीं करता है।

तहां यह विशेष है जो परमार्थ तैं पुद्गलपरिणाम का ज्ञान कै अर पुद्गल कै, घट अर कुंभार की ज्यों, व्याप्यव्यापकभाव के अभाव तैं कर्त्ताकर्मपणां की सिद्धि न होतैं, आत्मपरिणाम कै अर आत्मा कै, घट मृत्तिका की ज्यों, व्याप्यव्यापकभाव के सद्भाव तैं आत्मद्रव्य जो कर्त्ता, ता करि आप स्वतंत्र व्यापक होय करि, ज्ञान नामा कर्म कीया है। तातैं सो ज्ञान आप ही आत्मा तैं व्याप्यरूप होय कर्मरूप भया है। तातैं पुद्गलपरिणाम का ज्ञान कूं कर्मपणां करि कर्त्ता जो आत्मा, ताहि आप जानैं है।

सो आत्मा, पुद्गलपरिणामरूप कर्म नोकर्म तैं अत्यंत भिन्न ज्ञानी भया संता ज्ञानी ही होय है, कर्त्ता न होय है॥ बहुरि ऐसैं होतैं ज्ञातापुरुष कै पुद्गलपरिणाम व्याप्यस्वरूप नाही है॥ जातैं पुद्गल कै अर आत्मा कै ज्ञेयज्ञायकसंबंध व्यवहारमात्र करि होतैं संतैं भी पुद्गलपरिणाम है निमित्त जाकूं, ऐसा पुद्गलपरिणाम का ज्ञान, सो ही ज्ञाता कै व्याप्य है, तातैं सो ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है॥ छ॥

अब, इस ही अर्थ का समर्थन का कलशरूप काव्य है सो कहै है॥

॥ शार्दूलविक्रीड़ित॥

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि,
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते, का कर्तृकर्मस्थितिः॥
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिन्दंस्तमो,
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः, कर्तृत्वशून्यः पुमान्॥ ४॥

यहाँ यह विशेष है कि परमार्थ से पुद्गलपरिणाम के ज्ञान और पुद्गल में, घट एवं कुम्भकार के समान व्याप्य-व्यापकभाव के अभाव के कारण कर्ता-कर्मपना सिद्ध नहीं होता। लेकिन आत्मपरिणाम और आत्मा में, घट एवं मृत्तिका के समान, व्याप्य-व्यापकभाव के सद्भाव के कारण आत्मद्रव्य कर्ता स्वयं स्वतन्त्र व्यापक होकर, ज्ञान नामक कर्म करता है; अतः वह ज्ञान, स्वयं ही आत्मा से व्याप्यरूप होकर कर्मरूप हुआ है, इसलिए पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को कर्मपने से कर्ता आत्मा, स्वयं जानता है।

इस प्रकार आत्मा, पुद्गलपरिणामरूप कर्म-नोकर्म से अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप (ज्ञानी) होता हुआ ज्ञानी ही होता है, कर्ता नहीं होता है – ऐसी अवस्था में पुद्गलपरिणाम, ज्ञातापुरुष के व्याप्यस्वरूप नहीं हैं, इसलिए पुद्गल और आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध, व्यवहारमात्र से होने पर भी पुद्गलपरिणाम के निमित्त से होनेवाला पुद्गलपरिणाम का ज्ञान ही ज्ञाता का व्याप्य है, इसलिए वह ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है।

अब, इसी अर्थ के समर्थन में कलशरूप काव्य कहते हैं –

॥ सवैया इकतीसा॥

तत्स्वरूप भाव में ही, व्याप्य-व्यापक बने;
बने न कदापि वह, अतत्स्वरूप भाव में।
कर्ता-कर्मभाव का, बनना असम्भव है;
व्याप्य-व्यापकभाव, सम्बन्ध के अभाव में।

॥ अर्थ ॥ व्याप्यव्यापकपणां है, सो तदात्मा कहिये तत्स्वरूप ही होय ताकै होय, अतत्स्वरूप विषै नाही होय है॥ वहुरि व्याप्यव्यापकभाव का संभव विना, कर्त्ताकर्म की स्थिति कौंनसी, कछू भी नाही॥ अैसा उदार विवेकरूप अर घस्मर कहिए समस्त कूं ग्रासीभूत करनें का जाका स्वभाव, अैसा जो ज्ञानस्वरूप तेज प्रकाश, ताका भार करि अज्ञानरूप अंधकार कूं भेदता संता यह आत्मा ज्ञानी होय, तिस काल कर्त्तापणां करि रहित भया सोभै है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ जो सर्व अवस्था मैं व्यापै सो तौ व्यापक अर जे अवस्था के विशेष, ते व्याप्य, अैसैं होतैं द्रव्य तो व्यापक है अर पर्याय व्याप्य हैं सो द्रव्य पर्याय, अभेदरूप ही है। जो द्रव्य का आत्मा सो ही पर्याय का आत्मा सो अैसा व्याप्यव्यापकभाव तत्स्वरूप विषै ही होय, अतत्स्वरूप विषै नाही होय। तहां अैसा सिद्ध होय है, जो व्याप्यव्यापकभाव विना कर्त्ताकर्मभाव न होय, अैसैं जो जानैं सो पुद्गल कै अर आत्मा कै कर्त्ताकर्मभाव नाही जानैं, तव ज्ञानी होय, कर्त्ताकर्मभाव करि रहित होय, ज्ञाता दृष्टा, जगत का साक्षीभूत होय है॥ छ॥

आगैं पूछै हैं जो जीव, पुद्गलकर्म कूं जानैं, ताकै पुद्गल करि सहित कर्ताकर्मभाव होय है कि नाही होय है, अैसैं पूछें उत्तर कहै है॥

इस भाँति प्रबल, विवेक - दिनकर से ही;
भेद अन्धकार, लीन निज ज्ञानभाव में।
कर्तृत्व-भार से, शून्य शोभायमान;
पूर्ण निर्भार मगन, आनन्द स्वभाव में॥ ४९॥

अर्थ – व्याप्य-व्यापकपना, तदात्मक अर्थात् तत्स्वरूप में ही होता है, अतत्स्वरूप में नहीं होता है; अत: **व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्ता-कर्म की स्थिति कैसे सम्भव है?** – कुछ भी नहीं। इस प्रकार उदार विवेकरूप और **घस्मर** अर्थात् समस्त को ग्रासीभूत करने के स्वभाववाले ज्ञानस्वरूप तेज या प्रकाश के प्रभाव से अज्ञानरूपी अन्धकार को भेदता हुआ यह आत्मा, जिस समय ज्ञानी होता है, उस समय कर्तापने से रहित शोभित होता है।

भावार्थ – जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होता है, वह तो व्यापक है और जो अवस्था के विशेष हैं, वे व्याप्य हैं। इस प्रकार द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है, वे द्रव्य और पर्याय अभेदरूप ही हैं। जो द्रव्य का आत्मा है, वही पर्याय का आत्मा है; अत: ऐसा व्याप्य-व्यापकभाव तत्स्वरूप में ही होता है, अतत्स्वरूप में नहीं होता। यहाँ यह सिद्ध होता है कि व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्ता-कर्मभाव नहीं होता है। ऐसे जो जानता है, वह पुद्गल और आत्मा में कर्ता-कर्मभाव को नहीं जानता है; तब ज्ञानी होता हुआ, कर्ता-कर्मभाव से रहित होकर ज्ञाता-दृष्टा अर्थात् जगत् का साक्षीभूत होता है।

अब, प्रश्न है कि जो जीव, पुद्गलकर्म को जानता है, उसका पुद्गलकर्म के साथ कर्ता-कर्मभाव होता है या नहीं? – ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं —

ण वि परिणमइ ण गिण्हइ, उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु, पुग्गलकम्मं अणेयविहं॥ ८॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु, पुद्गलकर्मानेकविधम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी है सो अनेक प्रकार पुद्गलद्रव्य के पर्यायरूप ताके कर्म हैं, तिनिकूं जानता संता है, तौऊ निश्चय करि परद्रव्य के पर्यायनि विषै तिनिस्वरूप परिणमैं नाही है, वहुरि तिनि कूं ग्रहण नाही करै है, वहुरि तिनि विषै उपजै नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं यह ज्ञानी है सो पुद्गल का परिणामस्वरूप जो कर्म, ताकूं जानता संता भी है॥

कैसा है पुद्गलकर्म। सामान्यपणैं कर्म का स्वरूप तीन प्रकार॥ तहां प्राप्य कहिये जाकूं सिद्ध भये कूं ग्रहण करिये सो॥ वहुरि विकार्य कहिये वस्तु की अवस्था पलटनां, विकाररूप होनां सो॥ वहुरि निर्वृत्य कहिये जो अवस्था पहलैं न थी, नवीन उपजै सो॥

अैसा कर्म का स्वरूप है सो पुद्गल का परिणाम, तीनूं ही स्वरूप करि पुद्गलद्रव्य के व्यापनें योग्य है सो पुद्गलद्रव्य, आप अंतर्व्यापक होय आदि मध्य अंत, तीनूं भावनि विषै व्याप्य करि ताकूं ग्रहण करता है, वहुरि तिसरूप परिणमता है, तिसस्वरूप करि उपजै है॥

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु, पोग्गलकम्मं अणेयविहं॥ ७६॥

बहुभाँति पुद्गलकर्म सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे।
परद्रव्य-पर्यायों न परणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे॥ ७६॥

अर्थ – ज्ञानी, पुद्गलद्रव्य की पर्यायरूप अनेक प्रकार के कर्मों को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य की पर्यायस्वरूप न तो परिणमन करता है, न उनको ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न होता है॥ ७६॥

टीका – ज्ञानी, पुद्गल के परिणामस्वरूप कर्म को भी जानता है।

कैसा है पुद्गलकर्म? – सामान्यरूप से कर्म का स्वरूप तीन प्रकार का है - प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य। वहाँ सिद्ध (प्राप्त) हुए कार्य को ग्रहण करना, **प्राप्य [कर्म]** है; वस्तु की अवस्था का पलटना या विकाररूप होना, **विकार्य [कर्म]** है और जो अवस्था पहले नहीं थी – ऐसी नवीन अवस्था का उत्पन्न होना, **निर्वर्त्य [कर्म]** है।

यह जो तीन प्रकार के स्वरूपवाला कर्म है, वह पुद्गल का परिणाम है, इसलिए तीनों ही प्रकारों की अपेक्षा पुद्गलद्रव्य से व्याप्त होने योग्य [कर्म] है; अतः पुद्गलद्रव्य स्वयं ही आदि, मध्य

ऐसैं सो परिणाम पुद्गलद्रव्य ही करि क्रियमाण है॥ ऐसे कूं ज्ञानी जानता है, तौऊ आप तिस विषै अंतर्व्यापक होय करि, वाह्य तिष्ठ्या जो परद्रव्य, ताका परिणाम कूं आदि मध्य अंत विषै व्याप्य करि तिसरूप परिणमै नाही है, तिसकूं आप ग्रहण नाही करै है, तिस विषै उपजै नाहीं है। जैसैं मृत्तिका घटरूप होय है, ताकूं ग्रहण करै है, ताकूं उपजावै है, तैसैं नाही है॥

तातैं यह सिद्ध भया जो प्राप्य विकार्य निर्वृत्यस्वरूप व्याप्यलक्षण परद्रव्य का परिणामस्वरूप कर्म, ताहि नाही करता संता अर ताकूं जानता संता जो ज्ञानी, ताकै पुद्गल करि सहित कर्त्ताकर्म भाव नाही है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ पुद्गलकर्म कूं जीव जानता संता है, तौऊ ताकै पुद्गल करि सहित कर्त्ताकर्मभाव नाही है॥ जातैं कर्म तीन प्रकार करि कहिये है। कै तौ तिस परिणामरूप आप परिणमै सो परिणाम॥ कै आप काहू कूं ग्रहण करै सो वस्तु॥ कै काहू कूं आप उपजावै सो वस्तु॥ सो ऐसैं तीनूं ही प्रकार करि, जीव है सो आप तैं न्यारा जो पुद्गलद्रव्य, तिसरूप परमार्थ तैं परिणमै नाही है, जातैं आप चेतन है, पुद्गल जड है, चेतन जडरूप परिणमै नाही। वहुरि पुद्गल कूं ग्रहण भी परमार्थ तैं नाही करै है, जातैं पुद्गल मूर्त्तीक है, आप अमूर्त्तीक है, अमूर्त्तीक कै ग्रहण नाही॥ वहुरि पुद्गल कूं आप परमार्थ तैं उपजावै

और अन्त में अन्तर्व्यापक होकर तीनों ही भावों में व्याप्त होकर उसे ग्रहण करता है, उस परिणामरूप परिणमता है और उस स्वरूप से उत्पन्न होता है।

इस तरह ये परिणाम, पुद्गलद्रव्य के द्वारा ही किये गए हैं – इनको ज्ञानी जानता है तो भी स्वयं उसमें अन्तर्व्यापक होकर, बाहर में स्थित परद्रव्य के परिणामों के आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, न उसरूप परिणमन करता है, न उसे स्वयं ग्रहण करता है और न उसमें उत्पन्न ही होता है। जिस प्रकार मिट्टी घटरूप परिणमती है, उसको ग्रहण करती है और उसको उत्पन्न करती है; उस प्रकार ज्ञानी, उन पुद्गलपरिणामोंरूप नहीं होता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्राप्य-विकार्य-निर्वर्त्यस्वरूप 'व्याप्य' लक्षणवाले परद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्म को नहीं करते हुए और उसको [मात्र] जानते हुए ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्ता-कर्मभाव नहीं है।

भावार्थ – यद्यपि जीव, पुद्गलकर्म को जानता है, परन्तु उसका पुद्गल के साथ कर्ता-कर्मभाव नहीं है क्योंकि कर्म तीन प्रकार से कहे गए हैं – १. या तो वस्तु, उस परिणामरूप स्वयं परिणमन करे, वह [विकार्यरूप] परिणाम है। २. या वस्तु, स्वयं किसी को ग्रहण करे, वह [प्राप्यरूप कर्म] है। ३. या वस्तु, स्वयं किसी को उत्पन्न करे, वह [निर्वर्त्यरूप कर्म] है – इन तीनों ही प्रकाररूप, अपने से भिन्न पुद्गलद्रव्यरूप जीव परमार्थ से परिणमता नहीं है क्योंकि वह स्वयं तो चेतन है और पुद्गल, जड़ है; इसलिए न तो चेतन, जड़रूप परिणमित होता है और न परमार्थ से वह पुद्गल को ग्रहण करता है क्योंकि पुद्गल, मूर्तिक है और जीव स्वयं अमूर्तिक है; इसलिए अमूर्तिक के द्वारा मूर्तिक का ग्रहण करना, सम्भव नहीं है। इसी प्रकार परमार्थ से पुद्गल को स्वयं

भी नाही है, जातैं चेतन जड कूं कैसैं उपजावै।

अैसैं पुद्गल है सो जीव का कर्म नाही, जीव याका कर्त्ता नाही। जीव का स्वभाव ज्ञाता है सो अपनां ज्ञानरूप परिणमता संता ताकूं जानैं है। अैसैं जानता कै पर करि सहित कर्त्ताकर्मभाव काहे कूं होय॥ छ॥

आगैं पूछै है, अपनें परिणामनि कूं जानता संता जीव कै पुद्गल करि सहित कर्त्ताकर्मभाव है कि नाही है, अैसैं पूछें उत्तर कहै है॥ छ॥

ण वि परिणमइ ण गिण्हइ, उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु, सगपरिणामं अणेयविहं॥ ९॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु, स्वकपरिणाममनेकविधम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी है सो अपनें परिणाम अनेक प्रकारकेनि कूं जानता संता प्रवर्त्तै है, तौऊ परद्रव्य के पर्याय विषै परिणमै नाही है, ताकूं ग्रहण नाही करै है, ता विषै उपजै नाही है, तातैं ता करि सहित कर्त्ताकर्मभाव नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं ज्ञानी है सो प्राप्य विकार्य निर्वृत्य, अैसैं व्याप्य है लक्षण जाका, अैसा तीन

उत्पन्न भी नहीं करता है क्योंकि चेतन, जड़ को कैसे उत्पन्न कर सकता है?

इस प्रकार पुद्गल, जीव का कर्म नहीं है; जीव, पुद्गल का कर्ता नहीं है। जीव तो स्वभाव से ज्ञाता है; वह अपने ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ केवल उसे (पुद्गलकर्म को) जानता है। इस तरह जाननेवाले [ज्ञाता] का पर के साथ कर्ता-कर्मभाव कैसे हो सकता है?

अब, प्रश्न है कि अपने परिणामों को जानते हुए जीव का, पुद्गल के साथ कर्ता-कर्मभाव है या नहीं? – ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं —

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु, सगपरिणामं अणेयविहं॥ ७७॥

बहुभाँति निजपरिणाम सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे।
परद्रव्य-पर्यायों न परणमें, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे॥ ७७॥

अर्थ – ज्ञानी, अनेक प्रकार के अपने परिणामों को जानता हुआ प्रवर्तता है, फिर भी परद्रव्य की पर्यायों में न तो परिणमित होता है, न उन्हें ग्रहण करता है, न उनमें उत्पन्न होता है; इसलिए उसका पुद्गल के साथ कर्ता-कर्मभाव नहीं है॥ ७७॥

टीका – ज्ञानी, तीन प्रकार के प्राप्य-विकार्य-निर्वर्त्यरूप 'व्याप्य' लक्षणवाले आत्मा के

प्रकार कर्म सो आत्मा कै अपनां परिणाम ही है, ताहि आपैआप आप करि अंतर्व्यापक होय करि आदि मध्य अंत विषै व्याप्य करि तिस ही कूं ग्रहण करै है, तिस ही रूप परिणमै है, तैसें ही उपजै है। या प्रकार तिस ही अपनां परिणामरूप कर्म कूं करता संता है, तिसकूं आप जानता संता भी वाह्य तिष्ठ्या जो परद्रव्य का परिणाम, ताकूं जैसैं, मृत्तिका कलश कूं व्याप्य करि करै है, तैसें आप तिस परद्रव्य के परिणाम विषै आदि मध्य अंत विषै व्याप्य करि न तो ताहि ग्रहण करै है, न तिसरूप परिणमै है, न तैसें उपजै है॥

तातैं प्राप्य विकार्य निर्वृत्य, तीन प्रकार व्याप्य लक्षण परद्रव्य का परिणामरूप कर्म, ताहि न करता जो यह ज्ञानी सो अपनें परिणाम कूं जानता संता प्रवर्त्तै है, ताकै पुद्गल करि सहित कर्त्ताकर्मभाव नाही है॥

॥ भावार्थ॥ पहली गाथा मैं कह्या सो ही जाननां। विशेष इतनां जो इहां अपनां परिणाम कूं जानता संता ज्ञानी कह्या है॥ छ॥

आगैं पूछै है जो पुद्गलकर्म के फल कूं जानता संता जीव कै पुद्गल करि सहित कर्त्ताकर्मभाव है कि नाही है, अैसैं पूछें उत्तर कहै है॥ छ॥

ण वि परिणमइ ण गिण्हइ, उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु, पुग्गलकम्मप्फलमणंतं॥ १०॥

परिणामरूप कर्मों को अपने आप, अपने में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उनको ही ग्रहण करता है, उनरूप परिणमन करता है, उन्हीं रूप उत्पन्न होता है। इस प्रकार आत्मा, उसी अपने परिणामरूप कर्म को करता हुआ और जानता हुआ भी बाहर में स्थित परद्रव्य के परिणाम को नहीं करता। जैसे, मिट्टी, कलश में व्याप्त होकर उसे करती है, वैसे आत्मा स्वयं, उस परद्रव्य के परिणाम में, उसके आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, न उसे ग्रहण करता है, न उसरूप परिणमता है और न वैसे उत्पन्न होता है।

इसलिए यह ज्ञानी, प्राप्य-विकार्य-निर्वर्त्यरूप तीन प्रकार के व्याप्य लक्षणवाले परद्रव्य के परिणामरूप कर्म को नहीं करता हुआ, अपने परिणाम को जानता हुआ प्रवर्तता है; अतः उसका पुद्गल के साथ कर्ता-कर्मभाव नहीं है।

भावार्थ – इसके पूर्व की गाथा में जो भावार्थ कहा था, वह ही यहाँ जानना। यहाँ इतना विशेष है कि [पूर्व गाथा में 'पुद्गलकर्म को जानता हुआ ज्ञानी' – ऐसा कहा था, जबकि] इस गाथा में 'अपने परिणाम को जानता हुआ ज्ञानी' – ऐसा कहा है।

अब, प्रश्न है कि पुद्गलकर्म के फल को जानते हुए जीव का, पुद्गल के साथ कर्ता-कर्मभाव है या नहीं? – ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं —

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु, पोग्गलकम्मप्फलमणंतं॥ ७८॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु, पुद्गलकर्मफलमनन्तम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी है सो पुद्गलकर्म के फल अनंत हैं, तिनिकूं जानता संता प्रवर्त्तै है, तौऊ परमार्थ तैं परद्रव्य के पर्याय विषै नाही परिणमै है तथा ता विषै किछू नाही ग्रहै है तथा ता विषै उपजै नाही है॥ अैसैं ता विषै याकै कर्त्ताकर्मभाव नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं प्राप्य विकार्य निर्वृत्य, अैसैं व्याप्य है लक्षण जाका, अैसा तीन प्रकार का सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्म का फल सो पुद्गलद्रव्य अंतर्व्यापक होय करि आदि मध्य अंत विषै व्याप्य करि ताकूं ग्रहण करता संता तथा तैसैं परिणमता तथा तैसैं ही उपजता करि कीया है, ताहि जानता संता जो यह ज्ञानी सो आप अंतर्व्यापक होय करि वाह्य तिष्ठता परद्रव्य का परिणाम कूं मृत्तिका कलश की ज्यों आदि मध्य अंत विषै व्याप्य करि नाही ग्रहण करै है तथा तैसैं परिणमै नाही है तथा तैसैं उपजै नाही है॥

तौ कहा है। प्राप्य विकार्य निर्वृत्यरूप व्याप्यलक्षण अपनां स्वभावरूप कर्म है, ताहि आप अंतर्व्यापक होय करि आदि मध्य अंत विषै व्याप्य, तिस ही कूं ग्रहण करै है, तैसैं ही परिणमै है, तैसैं ही उपजै है। तातैं प्राप्य विकार्य निर्वृत्यरूप व्याप्यलक्षण परद्रव्य का परिणामरूप कर्म कूं न करता संता सुख दुःखरूप पुद्गलकर्म का फल कूं जानता संता है, तौऊ ज्ञानी कै पुद्गल करि सहित कर्त्ताकर्मभाव नाही है॥ छ॥

पुद्गलकर्म के फल अनन्ता, ज्ञानिजन जाना करें।
परद्रव्य-पर्यायों न परणमें, नहिं ग्रहे नहिं ऊपजे॥ ७८॥

अर्थ – ज्ञानी, पुद्गलकर्म के अनन्त प्रकार के फलों को जानता हुआ प्रवर्तता है; फिर भी परमार्थ से न तो परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमन करता है, न उनमें कुछ ग्रहण ही करता है और न उनमें उत्पन्न होता है। इस प्रकार ज्ञानी का उनके साथ कर्ता-कर्मभाव नहीं है॥ ७८॥

टीका – तीन प्रकार के प्राप्य-विकार्य-निर्वर्त्य – ऐसे व्याप्य लक्षणवाले सुख-दुःख आदिरूप, पुद्गलकर्म के फलों में पुद्गलद्रव्य ही अन्तर्व्यापक होकर अर्थात् आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उसको ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ और उससे ही उत्पन्न होता हुआ उन्हें करता है परन्तु उन कर्मफलों को जानता हुआ भी यह ज्ञानी, स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, बाहर में स्थित परद्रव्य के परिणाम को, मिट्टी और कलश की तरह, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, न तो ग्रहण करता है, न उसरूप परिणमन करता है और न उससे उत्पन्न होता है।

तो फिर कैसे है? – [ज्ञानी], प्राप्य-विकार्य-निर्वर्त्यरूप व्याप्य लक्षणवाले अपने स्वभावरूप कर्म में, स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उसी को ग्रहण करता है, उसी रूप परिणमन करता है और उससे ही उत्पन्न होता है। लेकिन [ज्ञानी], प्राप्य-विकार्य-निर्वर्त्यरूप व्याप्य लक्षणवाले परद्रव्य के परिणामरूप कर्म को नहीं करते हुए, सुख-दुःखरूप पुद्गलकर्म के फलों

॥ भावार्थ ॥ पहली गाथा मैं कह्या सो ही जाननां ॥ छ ॥

आगैं पूछै है जो जीव के परिणाम कूं तथा अपनें परिणाम कूं तथा अपनें परिणाम के फल कूं नाही जानता, अैसा जो पुद्गलद्रव्य, ताकै जीव करि सहित कर्त्ताकर्मभाव है कि नाही है? अैसैं पूछें उत्तर कहै है॥

ण वि परिणमइ ण गिण्हइ, उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा, परिणमइ[१] सएहिं भावेहिं ॥ ११ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
पुद्गलद्रव्यमपि तथा, परिणमति स्वकैर्भावैः ॥ छ ॥

॥ अर्थ ॥ पुद्गलद्रव्य है सो भी परद्रव्य के पर्याय विषै तैसैं नाही परिणमै है तथा ताहि ग्रहण नाही करै है तथा तैसैं उपजै नाही है, जातैं अपने ही भावनि करि परिणमै है॥ छ॥

॥ टीका ॥ जातैं पुद्गलद्रव्य है सो जीव के परिणाम कूं, वहुरि अपनें परिणाम कूं तथा अपनें परिणाम के फल कूं नाही जानता संता वर्त्तै है। परद्रव्य के परिणामरूप कर्म कूं मृत्तिका कलश की ज्यों आप अंतरव्यापक होय करि आदि मध्य अंत विषै व्याप्य करि नाही ग्रहण करै है तथा तैसैं परिणमै

को जानता ही है; अत: ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्ता-कर्मभाव नहीं है।

भावार्थ – पूर्व की गाथा में जो भावार्थ कहा है, वही यहाँ भी जानना।

अब, प्रश्न है कि जीव के परिणाम, अपने परिणाम और अपने परिणाम के फल को नहीं जाननेवाले पुद्गलद्रव्य का, जीव के साथ कर्ता-कर्मभाव है या नहीं? – इसका उत्तर देते हैं —

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि, उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पोग्गलदव्वं पि तहा, परिणमदि सएहिं भावेहिं॥ ७९॥

इस भाँति पुद्गलद्रव्य भी, निजभाव से ही परिणमे।
परद्रव्य-पर्यायों न परणमें, नहिं ग्रहे नहिं ऊपजे॥ ७९॥

अर्थ – पुद्गलद्रव्य भी, परद्रव्य (जीवद्रव्य) की पर्यायों में न तो उनरूप परिणमन करता है, न उनको ग्रहण ही करता है और न उनरूप उत्पन्न ही होता है क्योंकि वह तो केवल अपने भावों से ही परिणमन करता है॥ ७९॥

टीका – पुद्गलद्रव्य, जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को नहीं जानता हुआ प्रवर्तता है। वह परद्रव्य (जीवद्रव्य) के परिणामरूप कर्म को, मिट्टी और कलश

---

१. *परिणमए* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

नाहीं हैं तथा तैसैं उपजै नाही है॥

तौ कहा है। प्राप्य विकार्य निर्वृत्यरूप व्याप्यलक्षण अपनां स्वभावरूप कर्म कूं अंतर्व्यापक होय करि आदि मध्य अंत विषै व्याप्य, तिस ही कूं ग्रहण करै है, तैसैं ही परिणमै है, तैसैं ही उपजै है॥ तातैं प्राप्य विकार्य निर्वृत्यरूप व्याप्यलक्षण परद्रव्य का परिणामस्वरूप कर्म कूं न करता जो पुद्गलद्रव्य सो जीव के परिणाम कूं तथा अपनें परिणाम कूं तथा अपनें परिणाम का फल कूं नाही जानता है, ताकै जीव करि सहित कर्त्ताकर्मभाव नाही है॥

॥ भावार्थ॥ कोऊ जानैगा जो पुद्गल जड है सो काहू कूं जानैं नाही, ताकै जीव करि सहित कर्त्ताकर्मभाव होगा सो यह भी नाही है। परमार्थ तैं परद्रव्य की साथि काहू ही कै कर्त्ताकर्म भाव नाही है॥ छ॥

अव, इस ही अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ स्रग्धरा॥

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्,
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात्।

की तरह, स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, न तो ग्रहण ही करता है, न उनरूप परिणमन करता है और न उनरूप उत्पन्न ही होता है।

तो फिर कैसा है? – पुद्गलद्रव्य, प्राप्य-विकार्य-निर्वर्त्यरूप व्याप्य लक्षणवाले अपने ही स्वभावरूप कर्म में अन्तर्व्यापक होकर, उसके आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ही ग्रहण करता है, उसरूप ही परिणमन करता है और उससे ही उत्पन्न होता है; इसलिए वह, प्राप्य-विकार्य-निर्वर्त्यरूप व्याप्य लक्षणवाले परद्रव्य (जीवद्रव्य) के परिणामस्वरूप कर्म को नहीं करता हुआ, वह पुद्गलद्रव्य, जीव के परिणाम, अपने परिणाम और अपने परिणाम के फल को जानता भी नहीं है; अतः उस पुद्गल का जीव के साथ कर्ता-कर्मभाव नहीं है।

भावार्थ – यदि कोई ऐसा जाने कि पुद्गल तो जड़ है, इसलिए वह किसी को जानता भी नहीं है तो फिर उसका तो जीव के साथ कर्ता-कर्मभाव होगा ही, परन्तु ऐसा भी नहीं है क्योंकि परमार्थ से एक द्रव्य का किसी भी दूसरे द्रव्य के साथ कर्ता-कर्मभाव नहीं होता है।

अब, इसी अर्थ से परिपूर्ण कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ सवैया इकतीसा॥

निज-परपरिणति, जानकार जीव यह;
परपरिणति को, करता कभी नहीं।
निज-परपरिणति, अजानकार पुद्गल;
परपरिणति को, करता कभी नहीं॥

अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्,
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥ ५ ॥

॥ अर्थ ॥ ज्ञानी है सो तौ अपनां अर पर की, दोऊ की परिणति कूं जानता संता प्रवर्त्तै है ॥ वहुरि पुद्गल है सो अपनीं अर पर की, दोऊ ही परिणति कूं नाही जानता संता प्रवर्त्तै है ॥ तौऊ ते दोऊ परस्पर अंतरंग व्याप्यव्यापकभाव कूं प्राप्त होने कूं असमर्थ हैं, जातैं दोऊ भिन्न द्रव्य हैं सो सदाकाल तिनिकै अत्यंत भेद है, सो अैसैं होतैं इनिकै कर्ताकर्मभाव माननां भ्रमवुद्धि है, सो यहु जेतै इनि दोऊनि कै करोत की ज्यों निर्दय होय तत्काल भेद कूं उपजाय भेदज्ञान है ज्वाला प्रकाश जाकै, अैसा ज्ञान, प्रकाश न होय तेतै ही है ॥ छ ॥

॥ भावार्थ ॥ भेदज्ञान भयें पीछैं पुद्गल कै अर जीव कै कर्त्ताकर्मभाव की वुद्धि न रहै, जातैं जेतै भेदज्ञान नाही होय, तेतै ही अज्ञान तैं कर्त्ताकर्मभाव की वुद्धि है ॥ छ ॥

आगैं कहै है जो जीव के परिणाम कै अर पुद्गल के परिणाम कै परस्पर निमित्तमात्रपणां है, तौऊ तिनि दोऊनि कै कर्त्ताकर्मभाव तौ नाही है ॥ छ ॥

जीवपरिणामहेदुं, कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्मणिमित्तं, तहेव जीवो वि परिणमइ ॥ १२ ॥

नित्य अत्यन्त भेद, जीव-पुद्गल में;
करता-करमभाव, उनमें बने नहीं।
ऐसो भेदज्ञान, जब तक प्रगटे नहीं;
करता-करम की, प्रवृत्ति मिटे नहीं ॥ ५० ॥

अर्थ – ज्ञानी तो, अपनी और पर की, दोनों की परिणति को जानता हुआ प्रवर्तता है; जबकि पुद्गल, अपनी और पर की, दोनों की ही परिणति को नहीं जानता हुआ प्रवर्तता है; इसीलिए ये दोनों परस्पर अन्तरङ्ग में व्याप्य-व्यापकभाव को प्राप्त होने में असमर्थ हैं क्योंकि दोनों भिन्न द्रव्य हैं; अत: इनमें सदाकाल अत्यन्त भेद है, इस कारण से इनमें कर्ता-कर्मभाव मानना भ्रमबुद्धि है। यह भ्रमबुद्धि तब तक ही है, जब तक कि इन दोनों में निर्दय होकर किये गए करवत-प्रहार की तरह तत्काल भेद को उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञानरूपी ज्योति के प्रकाश से युक्त ज्ञान, प्रकाशमान नहीं हो जाता है।

भावार्थ – भेदज्ञान होने के बाद, पुद्गल में और जीव में [परस्पर] कर्ता-कर्मभाव की बुद्धि नहीं रहती है क्योंकि जब तक भेदज्ञान नहीं होता है, तब तक ही उनमें अज्ञान के कारण कर्ता-कर्मभाव की बुद्धि होती है।

अब कहते हैं कि जीव के परिणाम और पुद्गल के परिणाम में परस्पर निमित्तमात्रपना है, परन्तु दोनों में कर्ता-कर्मभाव नहीं है —

ण वि कुव्वइ कम्मगुणे, जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण उ, परिणामं जाण दोण्हं पि॥ १३॥
एएण कारणेण उ, कत्ता आया सएण भावेण।
पोग्गलकम्मकयाणं, ण उ कत्ता सव्वभावाणं॥ १४॥

॥ त्रिकलं ॥

जीवपरिणामहेतुं, कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमन्ति।
पुद्गलकर्मनिमित्तं, तथैव जीवोऽपि परिणमति॥ छ॥
नापि करोति कर्मगुणान्, जीवः कर्म तथैव जीवगुणान्।
अन्योन्यनिमित्तेन तु, परिणामं जानीहि द्वयोरपि॥ छ॥
एतेन कारणेन तु, कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन।
पुद्गलकर्मकृतानां, न तु कर्ता सर्वभावानाम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ पुद्गल हैं, ते जीव के परिणाम है निमित्त जाकूं, अैसा कर्मपणांरूप परिणमैं हैं। तैसैं

जीवपरिणामहेदुं, कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्मणिमित्तं, तहेव जीवो वि परिणमदि॥ ८०॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे, जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु, परिणामं जाण दोण्हं पि॥ ८१॥
एदेण कारणेण दु, कत्ता आदा सएण भावेण।
पोग्गलकम्मकदाणं, ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥ ८२॥

जीवभावहेतु पाय पुद्गल, कर्मरूप जु परिणमे।
पुद्गलकरम के निमित से, यह जीव भी त्यों परिणमे॥ ८०॥
जीव कर्मगुण करता नहीं, नहिं जीवगुण कर्म ही करे।
अन्योन्य के ही निमित से, परिणाम दोनों के बने॥ ८१॥
इस हेतु से आत्मा हुआ, कर्ता स्वयं निजभाव का।
पुद्गलकरमकृत सर्व भावों, का कभी कर्ता नहीं॥ ८२॥

ही जीव है सो भी पुद्गलकर्म है निमित्त जाकूं, अैसा कर्मपणांरूप परिणमैं है॥ छ॥

वहुरि जीव है सो तौ कर्म के गुणनि कूं नाही करै है॥ वहुरि तैसैं ही कर्म है सो जीव के गुणनि कूं नाही करै है। इनि दौऊनि कै परस्पर निमित्त करि परिणाम जानूं॥ छ॥

इस कारण करि आत्मा कूं कर्त्ता कहिये है सो अपनें ही भाव करि है॥ वहुरि पुद्गलकर्म करि कीये भाव हैं, तिनिका तौ सर्व ही का कर्त्ता नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं जीवपरिणाम कूं निमित्तमात्र करि पुद्गल है सो कर्मभाव करि परिणमै है। वहुरि पुद्गलकर्म कूं निमित्तमात्र करि जीव भी परिणमै है॥ अैसैं जीव के परिणाम कै अर पुद्गल के परिणाम कै परस्पर हेतुपणां का स्थापन होतैं भी जीव कै अर पुद्गल कै परस्पर व्याप्यव्यापकभाव के अभाव तैं जीव कै तौ पुद्गलपरिणामनि का अर पुद्गलकर्म कै जीव के परिणामनि का कर्त्ताकर्मपणां की असिद्धि होतैं निमित्तनैमित्तिकभावमात्र का प्रतिषेध नाही है, यातैं परस्पर निमित्तमात्र होनें ही करि दोऊनि के परिणाम हैं॥

तिस कारण तैं मृत्तिका कै कलश की ज्यों अपनें भाव करि अपनें भाव के कारण[१] तैं जीव है सो अपनें भाव का कर्त्ता कदाकाल होय है॥ वहुरि मृत्तिका जैसैं कपडा का कर्त्ता नाही, तैसैं अपनें भाव करि पर के भाव का करनें का असमर्थपणां तैं पुद्गल के भावनि का तौ कर्त्ता कदाचित् भी नाही है॥ अैसा निश्चय है॥

अर्थ – जिस प्रकार पुद्गल, जीव के परिणाम के निमित्त से कर्मरूप परिणमन करते हैं; उसी प्रकार जीव भी, पुद्गलकर्म के निमित्त से कर्मत्वरूप परिणमन करता है॥ ८०॥

जिस प्रकार जीव, कर्म के गुणों को नहीं करता है; उसी प्रकार कर्म भी, जीव के गुणों को नहीं करता है। इस प्रकार परस्पर निमित्त से दोनों के परिणाम होते हैं – ऐसा जानना चाहिए॥ ८१॥

इस कारण अपने ही भावों को करने से आत्मा को कर्ता कहा है परन्तु आत्मा, पुद्गलकर्म के द्वारा किये गए सभी भावों का कर्ता नहीं है॥ ८२॥

टीका – जीव-परिणाम के निमित्तमात्र से पुद्गल, कर्मभावरूप परिणमन करता है और पुद्गलकर्म के निमित्तमात्र से जीव भी परिणमन करता है। इस प्रकार जीव के परिणामों और पुद्गल के परिणामों में परस्पर हेतुपने (निमित्तपने) की स्थापना होने पर भी जीव में और पुद्गल में परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से जीव में पुद्गलपरिणामों का और पुद्गलकर्म में जीव के परिणामों का कर्ता-कर्मपना असिद्ध होने पर भी, निमित्त-नैमित्तिकभावमात्र का प्रतिषेध नहीं है क्योंकि परस्पर निमित्तमात्र होने पर ही दोनों के परिणाम होते हैं।

इस कारण से मिट्टी के कलश के समान, अपने भावों से अपने भाव के कारण ही जीव, किसी काल में अपने भाव का कर्ता होता है परन्तु जिस प्रकार मिट्टी, कपड़े की कर्ता नहीं है; उसी प्रकार जीव, अपने भावों से भिन्न परभाव को करने में असमर्थ होने से पुद्गल के भावों का तो कर्ता

---

१. *करणैं* – 'ब' प्रति पाठ

॥ भावार्थ ॥ जीव पुद्गल परिणामनि कैं परस्पर निमित्तमात्रपणां है, तौऊ परस्पर कर्त्ताकर्मभाव तौ नाही है॥ पर के निमित्त तैं अपनें भाव भये, तिनिका तौ अज्ञानदशा मैं कदाचित् कर्त्ता कहिये भी, अर परभाव का तौ कर्त्ता कदाचित् भी नाही है॥ छ॥

आगैं कहै है जो इस हेतु तैं यह ठहरी जो जीव कै अपनें परिणामनि ही करि सहित कर्त्ताकर्मभाव अर भोक्ताभोग्यभाव है॥ छ॥

णिच्छयणयस्स एवं, आया अत्ताणमेव हि करेइ।
वेएइ पुणो तं चेव, जाण अत्ता उ अत्ताणं॥ १५॥

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति।
वेदयते पुनस्तं चैव, जानीह्यात्मा त्वात्मानम्॥ छ॥

॥ अर्थ ॥ निश्चयनय का यहु मत है जो आत्मा है सो आप ही कूं करै है। वहुरि आप ही कूं वेदै है, भोगवै है॥ हे शिष्य, तूं अैसैं जानि॥ छ॥

॥ टीका ॥ तहां प्रथम दृष्टांत॥ जैसैं, पवन का चालनां, न चालनां है निमित्त जिनिकूं, अैसी जो समुद्र कै विषै तरंग का ऊठनां अर विलय होनांरूप दोऊ अवस्था, तिनिकै पवन कै अर समुद्र

किसी काल में (कदाचित्) भी नहीं है - ऐसा निश्चय है।

भावार्थ – जीव और पुद्गल के परिणामों में परस्पर निमित्तमात्रपना तो है परन्तु उनमें परस्पर कर्ता-कर्मभाव नहीं है। पर के निमित्त से जो अपने में भाव होते हैं, उनका तो अज्ञानदशा में कदाचित् कर्ता कहा भी जाता है परन्तु परभाव का तो कर्ता कदाचित् भी नहीं हैं।

अब कहते हैं कि इस हेतु से यह निश्चित हुआ है कि जीव का अपने परिणामों ही के साथ कर्ता-कर्मभाव और भोक्ता-भोग्यभाव है —

णिच्छयणयस्स एवं, आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव, जाण अत्ता दु अत्ताणं॥ ८३॥

आत्मा करे निज को ही यह, मन्तव्य निश्चयनय कहा।
अरु भोगता निज को ही आत्मा, शिष्य यों तू जानना॥ ८३॥

अर्थ – हे शिष्य! निश्चयनय का यह मत है कि आत्मा स्वयं ही को करता है और स्वयं ही को वेदता है, भोगता है – ऐसा तुम जानो॥ ८३॥

टीका – यहाँ पहले दृष्टान्त देते हैं – जिस प्रकार पवन के चलने और न चलने के निमित्त से समुद्र में तरङ्गों के उठने और विलय होनेरूप दो अवस्थाएँ होती हैं, उन अवस्थाओं के समय पवन

कै व्याप्यव्यापकभाव के अभाव तैं कर्त्ताकर्मपणां की असिद्धि होतैं, समुद्र है सो ही आप तिनि अवस्थानि विषै अंतर्व्यापक होय करि, आदि मध्य अंत विषै तिनि अवस्थानि मैं व्याप्य करि उत्तरंग निस्तरंगरूप आप ही कूं करता संता आप ही कूं, एक कूं करता संता प्रतिभासै है, कोई और कूं करता तौ नाही है। तैसैं ही सो ही समुद्र, तिस पवन कै अर समुद्र कै भाव्यभावकभाव के अभाव तैं परभाव कै पर करि अनुभवन करनें का असमर्थपणां तैं उत्तरंग निस्तरंगस्वरूप आप ही कूं अनुभवता संता प्रतिभासै है और कोई कूं अनुभवै[१] नाही है।

तैसैं ही दार्ष्टांत है॥ जो पुद्गलकर्म का उदय का संभव असंभव है निमित्त जाकूं, अैसी जो ससंसार अर निःसंसार, ए दोऊ अवस्था, ताका पुद्गलकर्म कै अर जीव कै व्याप्यव्यापकपणां का अभाव तैं कर्त्ताकर्मपणां की असिद्धि है। यातैं जीव है सो आप अंतर्व्यापक होय करि, आदि मध्य अंत विषै ससंसार निःसंसार अवस्था मैं व्याप्य करि ससंसार निःसंसाररूप आत्मा कूं करता संता आप ही कूं करता प्रतिभासो, अन्य कूं करता मति प्रतिभासो। तैसैं ही यह ही जीव भाव्यभावकभाव के अभाव तैं परभाव कै पर करि अनुभवन करनें का असमर्थपणां है, तातैं ससंसार निःसंसाररूप आत्मा ही कूं अनुभवता संता आप ही कूं अनुभवन करता 'प्रतिभासमान होऊ, अन्य मति हौऊ'॥[२]

॥ भावार्थ॥ आत्मा कैं ससंसार निःसंसार अवस्था है सो परद्रव्य पुद्गलकर्म के निमित्त तैं है,

---

और समुद्र में परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से कर्ता-कर्मभाव की असिद्धि होने से, समुद्र स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, उन अवस्थाओं के आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उत्तरङ्ग-निस्तरङ्गरूप स्वयं ही को करता हुआ अर्थात् स्वयं एक ही को करता हुआ प्रतिभासित होता है, किसी अन्य को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता। इसी प्रकार उस पवन और समुद्र में भाव्य-भावकभाव का अभाव होने से, परभाव का पर के द्वारा अनुभव किये जाने की असमर्थता होने से, वही समुद्र, उत्तरङ्ग-निस्तरङ्गस्वरूप स्वयं ही को अनुभवता हुआ प्रतिभासित होता है; किसी अन्य को अनुभवता हुआ प्रतिभासित नहीं होता है।

उसी प्रकार यह दार्ष्टान्त (सिद्धान्त) है – पुद्गलकर्म के उदय के होने और नहीं होने के निमित्त से जीव की संसारी और मुक्त, दो अवस्थाएँ होती हैं। यहाँ पुद्गलकर्म और जीव में व्याप्य-व्यापकभाव के अभाव से कर्ता-कर्मपने की असिद्धि है; इसलिए जीव, स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में संसारी और मुक्त अवस्था में व्याप्त होकर, आत्मा को संसारी-मुक्तरूप करता हुआ, अपने को ही करता हुआ तो प्रतिभासित हो; अन्य को करता हुआ प्रतिभासित नहीं हो। इसी प्रकार यही जीव, भाव्य-भावकभाव का अभाव होने से, दूसरे के भाव का दूसरे के द्वारा अनुभव करने में असमर्थता होने से संसारी-मुक्तरूप स्वयं आत्मा ही को अनुभवता हुआ अर्थात् स्वयं ही को अनुभव करता हुआ तो प्रतिभासमान हो; अन्य नहीं।

भावार्थ – आत्मा की संसारी-मुक्त अवस्था, परद्रव्यस्वरूप पुद्गलकर्म के निमित्त से है।

---

१. *करता तौ*- 'ब' प्रति पाठ २. *प्रतिभासो* - 'ब' प्रति पाठ

तहां तिनि अवस्थारूप आप ही परिणमै है, तातैं आप ही का कर्त्ता भोक्ता है, निमित्तमात्र पुद्गलकर्म है, ताका तौ कर्त्ता भोक्ता नाही है॥ छ॥

आगैं व्यवहार कूं दिषावै हैं॥ छ॥

ववहारस्स दु आदा, पुग्गलकम्मं करेइ अणेयविहं[१]।
तं चेव पुणो वेयइ, पुग्गलकम्मं अणेयविहं॥ १६॥

व्यवहारस्य त्वात्मा, पुद्गलकर्म करोत्यनेकविधम्[२]।
तच्चैव पुनर्वेदयते, पुद्गलकर्मानेकविधम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ व्यवहारनय का यह मत है जो आत्मा अनेक प्रकार पुद्गलकर्म कूं करै है॥ वहुरि तिस ही अनेक प्रकार पुद्गलकर्म कूं वेदै है, भोगवै है॥ छ॥

॥ टीका॥ तहां प्रथम दृष्टांत कहै है। जैसैं मृत्तिका कलस कूं करै है अर भोगवै है सो अंतर्व्याप्यव्यापकभाव करि करै है तथा भाव्यभावकभाव करि भोगवै है, तौऊ वाह्य व्याप्यव्यापकभाव करि कलस होनें विषै संभवै तिसकै अनुकूल व्यापार कूं अपनें हस्तादिक करि करता अर कलश करि कीया जो जल का उपयोग तैं भया तृप्तिभाव ताकूं भाव्यभावकभाव करि अनुभवन करता, भोगवता

आत्मा उन अवस्थारूप स्वयं ही परिणमन करता है; इसलिए आत्मा, स्वयं ही का कर्ता-भोक्ता है, निमित्तमात्र पुद्गलकर्म का तो कर्ता-भोक्ता नहीं है।

अब, व्यवहारनय को दिखाते हैं —

ववहारस्स दु आदा, पोग्गलकम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पोग्गलकम्मं अणेयविहं॥ ८४॥

'आत्मा करे बहुभाँति पुद्गलकर्म' – मत व्यवहार का।
अरु वे ही पुद्गलकर्म, आत्माऽनेकविधमय भोगता॥ ८४॥

अर्थ – व्यवहारनय का यह मत है कि आत्मा, जिन अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों को करता है, वह उन्हीं अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों को वेदता है, भोगता है॥ ८४॥

टीका – यहाँ पहले दृष्टान्त देते हैं – जिस प्रकार मिट्टी, घट को करती है और उसे भोगती है, वह अन्तर्व्याप्य-व्यापकभाव से उसे करती है और भाव्य-भावकभाव से उसे भोगती है तो भी बाह्य व्याप्य-व्यापकभाव से घट के उत्पन्न होने में होनेवाले उसके अनुकूल व्यापार को अपने हाथों से करनेवाले और घट में भरे हुए जल के उपयोग से प्राप्त तृप्तिभाव को भाव्य-भावकभाव से अनुभव

---

१. *णेयविहं* - 'ब' प्रति एवं प्रकाशित प्रतियों पाठ २. *करोति नैकविधम्* - प्रकाशित प्रतियों में पाठ

जो कुंभकार, ताकूं लोक कहै है जो इस कलश कूं कुंभार करै है तथा भोगवै है, अैसा लोकनि[१] कै अनादि तैं प्रसिद्ध भया व्यवहार प्रवर्त्तै है॥

तैसैं ही दार्ष्टांत है। जो पुद्गलकर्म कूं अंतर्व्याप्यव्यापकभाव करि पुद्गलद्रव्य करै है अर भाव्यभावकभाव करि पुद्गलद्रव्य की अनुभवै है, भोगवै है, तौऊ वाह्य व्याप्यव्यापकभाव करि अज्ञान तैं पुद्गलकर्म के होनें कै अनुकूल अपनां रागादि परिणाम कूं करता अर पुद्गलकर्म के उदय करि निपजाई जो विषयनि कै समीपता, तामैं[२] दोड़ी जो अपनीं दुःखरूप परिणति, ताकूं भाव्यभावकभाव करि अनुभवता, भोगवता जो जीव सो पुद्गलकर्म करै है, भोगवै है, अैसा अज्ञानी लोकनि कै अनादि संसार तैं ले करि प्रसिद्ध भया व्यवहार प्रवर्त्तै है॥

॥ भावार्थ॥ पुद्गलकर्म कूं परमार्थ तैं पुद्गलद्रव्य ही करै है अर पुद्गलकर्म के होनें कै अनुकूल अपनां रागादि परिणाम कूं जीव करै है, तिसका निमित्तनैमित्तिकभाव कूं देषि करि अज्ञानीनि कै यह भ्रम है जो पुद्गलकर्म कूं जीव ही करै है सो अनादि अज्ञान तैं प्रसिद्ध व्यवहार है।

जीव पुद्गल का भेदज्ञान नाही है, तेतै दोऊ की प्रवृत्ति एक की सी ही दीषै है, तातैं जेतै भेदज्ञान न होय जेतै दीषै सो कहै, श्रीगुरु भेदज्ञान कराय परमार्थ जीव का स्वरूप दिषाय अज्ञानी के प्रतिभास कूं व्यवहार कहै है॥ छ॥

आगैं इस व्यवहार कूं दूषण दे है॥ छ॥

करनेवाले या भोगनेवाले कुम्भकार ने घट को बनाया है और उसका उपभोग किया है – ऐसा इस लोक में अनादि से प्रसिद्ध व्यवहार प्रवर्तता है।

उसी प्रकार यह दार्ष्टान्त (सिद्धान्त) है – यद्यपि पुद्गलकर्म को अन्तर्व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलद्रव्य ही करता है और भाव्य-भावकभाव से पुद्गलद्रव्य ही अनुभव करता है, भोगता है तो भी बाह्य व्याप्य-व्यापकभाव से अज्ञान के कारण पुद्गलकर्म के होने [अर्थात् बँधने] में अनुकूल अपने रागादि परिणाम को करनेवाले और पुद्गलकर्म के उदय से उत्पन्न हुई विषयों की समीपता में दौड़ती हुई अपनी दुःखरूप परिणति को भाव्य-भावकभाव से अनुभव करनेवाले या भोगनेवाले जीव ने पुद्गलकर्म को किया है, बाँधा है एवं अनुभव किया है, भोगा है – ऐसा अज्ञानी लोगों में अनादि संसार से चला आ रहा प्रसिद्ध व्यवहार प्रवर्तता है।

भावार्थ – परमार्थ से पुद्गलकर्म को पुद्गलद्रव्य ही करता है और पुद्गलकर्म के होने में अनुकूल अपने रागादि परिणामों को जीव करता है; उनमें निमित्त-नैमित्तिकभाव को देख कर, अज्ञानियों को यह भ्रम होता है कि पुद्गलकर्म को जीव ही करता है – ऐसा अनादि अज्ञान के कारण प्रसिद्ध व्यवहार है।

जब तक [अज्ञानी को] जीव-पुद्गल का भेदज्ञान नहीं है, तब तक दोनों की प्रवृत्ति एक जैसी ही दिखती है; इसलिए भेदज्ञान नहीं होने से जैसा दिखता है, वैसा ही कहता है। यहाँ श्रीगुरु भेदज्ञान करा कर, जीव का परमार्थस्वरूप दिखा कर, अज्ञानी के प्रतिभास को व्यवहार कहते हैं।

---

१. *लोक* - 'ब' प्रति पाठ

२. *विषयनि की समीपता तैं* - 'ब' प्रति पाठ

जइ पोग्गलकम्ममिणं, कुव्वइ तं चेव वेययइ आदा।
दोकिरियावदिरित्तो, पसज्जए सो जिणावमयं॥ १७॥

यदि पुद्गलकर्मेदं, करोति तच्चैव वेदयते आत्मा।
द्विक्रियाऽव्यतिरिक्तः, प्रसजति स जिनाऽवमतम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो आत्मा, इस पुद्गलकर्म कूं करै है, वहुरि तिस ही कूं वेदै है, भोगवै है, तौ सो आत्मा दोय क्रिया तैं अभिन्न ठहरै, अैसा प्रसंग आवै है सो यह जिनदेव का मत नाही॥ छ॥

॥ टीका॥ इस लोक विषै जो क्रिया है सो प्रथम तौ समस्त ही परिणामस्वरूप है, तातैं परिणाम ही है, किछू भिन्न वस्तु नाही॥ वहुरि परिणाम है सो भी परिणाम अर परिणामी द्रव्य, दोऊ अभिन्न वस्तु हैं, न्यारे न्यारे दोय वस्तु नाही, तातैं परिणाम परिणामी तैं भिन्न नाही॥ तातैं यह ठहरी जो किछू क्रिया है सो क्रियावान द्रव्य तैं भिन्न नाही है॥

अैसैं क्रिया कै अर क्रियावान कै अभेदपणां है। अैसी वस्तु की मर्यादा होतैं संते, जैसैं जीव व्याप्यव्यापकभाव करि अपने परिणाम कूं करै है अर भाव्यभावकभाव करि तिस ही अपनें परिणाम कूं अनुभवै है, भोगवै है, तैसैं ही व्याप्यव्यापकभाव करि पुद्गलकर्म कूं भी करै तथा भाव्यभावकभाव

अब, इस व्यवहार का दोष बताते हैं —

जदि पोग्गलकम्ममिणं[1], कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरियावदिरित्तो, पसज्जदे सो जिणावमदं॥ ८५॥

पुद्गलकरम जीव जो करे, उनको ही जो जीव भोगवे।
'जिन' को असम्मत द्विक्रिया से, आत्मा तन्मय हुआ॥ ८५॥

अर्थ – यदि आत्मा इस पुद्गलकर्म को करता है और उसका ही वेदन करता है, भोगता है तो वह आत्मा दो क्रियाओं से अभिन्न ठहरता है, ऐसा प्रसङ्ग आता है परन्तु यह जिनदेव का मत नहीं है॥ ८५॥

टीका – प्रथम तो इस लोक में जो क्रिया है, वह समस्त ही परिणामस्वरूप है, इसलिए वह परिणाम ही है, उससे अलग कोई भिन्न वस्तु नहीं है तथा परिणाम और परिणामी द्रव्य, दोनों अभिन्न वस्तुएँ हैं, पृथक्-पृथक् दो वस्तुएँ नहीं हैं; अतः परिणाम, परिणामी से पृथक् नहीं है। इससे यह निश्चित होता है कि जो कुछ भी क्रिया है, वह क्रियावान् द्रव्य से भिन्न नहीं है।

इस प्रकार क्रिया और क्रियावान् में अभिन्नता है - ऐसी वस्तु की मर्यादा होने से जिस प्रकार जीव, व्याप्य-व्यापकभाव से अपने परिणाम को करता है और भाव्य-भावकभाव से उस ही अपने

---

१. *पुग्गलकम्मम्मिणं* - तात्पर्यवृत्ति, अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन में पाठ

करि तिस ही कूं अनुभवै, भोगवै, तौ अपनीं अर पर की मिली जो दोय क्रिया, तिनिका अभिन्नपणां ठहरया। अैसा प्रसंग होतैं, अपनां अर पर का विभाग का अभाव भया। तव अैसैं अनेकद्रव्यस्वरूप एक आत्मा कूं अनुभवता संता, मिथ्यादृष्टी होय है, जातैं अैसा वस्तुस्वरूप जिनदेव कह्या नाही, तातैं जिन के मत तैं वाह्य है॥

॥ भावार्थ॥ दोय द्रव्य की क्रिया भिन्न ही हैं। जड की क्रिया चेतन करै नाही, चेतन की क्रिया जड करै नाही। जो पुरुष, दोऊ क्रिया कूं एक द्रव्य करता मानैं सो मिथ्यादृष्टी है, जातैं दोय द्रव्य की क्रिया एक द्रव्य कै माननां, यहु जिन का मत नाही॥ छ॥

आगैं, फेरि पूछै है जो एक पुरुष दोय क्रिया का अनुभवन करनेंवाला मिथ्यादृष्टी कैसैं॥ ताका समाधान करै है॥

जम्हा उ अत्तभावं, पुग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण उ मिच्छाइट्ठी, दोकिरियावाइणो हुंति॥ १८॥

यस्मात्त्वात्मभावं, पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वन्ति।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो, द्विक्रियावादिनो भवन्ति॥ छ॥

परिणाम का अनुभव करता है, भोगता है; उसी प्रकार यदि जीव, व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलकर्म को भी करे और भाव्य-भावकभाव से उसी का अनुभव भी करे या भोगे तो अपनी और पर की मिली हुई दो क्रियाओं में अभिन्नता ठहरती है – ऐसा प्रसङ्ग होने पर स्व और पर के भेद का अभाव होता है, तब अनेकद्रव्यस्वरूप एक आत्मा को अनुभवता मिथ्यादृष्टि होता है क्योंकि ऐसा वस्तुस्वरूप जिनदेव ने नहीं कहा है; अतः वह जिन (जिनेन्द्र भगवान) के मत से बाहर है।

भावार्थ – दो द्रव्यों की क्रियाएँ भिन्न ही होती हैं। जड़ की क्रिया, चेतन नहीं करता और चेतन की क्रिया, जड़ नहीं करता; इसलिए जो पुरुष, दो क्रियाओं का कर्ता एक द्रव्य को मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि दो द्रव्यों की क्रिया को एक द्रव्य की क्रिया मानना – यह जिनदेव का मत नहीं है।

अब शिष्य, पुनः प्रश्न करता है कि दो क्रियाओं का अनुभव करनेवाला पुरुष मिथ्यादृष्टि कैसे है? – उसका समाधान करते हैं —

जम्हा दु अत्तभावं, पोग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी, दोकिरियावादिणो हुंति॥ ८६॥

जीवभाव पुद्गलभाव - दोनों, भाव को आत्मा करे।
इससे ही मिथ्यादृष्टि – ऐसे द्विक्रियावादी हुए॥ ८६॥

॥ अर्थ ॥ जातैं आत्मा के भाव कूं अर पुद्गल के भाव कूं दोऊ ही कूं आत्मा करै है, अैसैं कहै है, तिस कारण तैं दोय क्रिया एक ही कै कहनेंवाले मिथ्यादृष्टी हैं ॥ छ ॥

॥ टीका ॥ जातैं निश्चय तैं आत्मा के परिणाम कूं अर पुद्गल के परिणाम कूं करता आत्मा कूं जे मानैं हैं, ते दोय क्रिया एक ही के कहनेंवाले हैं, ते मिथ्यादृष्टी ही हैं, अैसा सिद्धांत है ॥ सो एक द्रव्य करि दोय परिणाम कीये हुये मति प्रतिभासमान होऊ[१] ॥

जैसैं कुंभकार है, सो कलश के होनें कै अनुकूल अपनां व्यापाररूप हस्तादिक क्रिया तथा इच्छारूप परिणाम आपतैं अभिन्न तथा आपतैं अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया करि कीया हूवा कूं करता संता प्रतिभासै है ॥ वहुरि कलश करणें के अहंकार करि सहित है, तौऊ मृत्तिका का मृत्तिका के व्यापार कै अनुरूप कलशपरिणाम, मृत्तिका तैं अभेदरूप तथा मृत्तिका तैं अभिन्न मृत्तिका की[२] परिणतिमात्र क्रिया करि कीया हूवा, ताकूं करता संता नाही प्रतिभासै है ॥

तैसैं ही आत्मा भी अज्ञान तैं पुद्गलकर्म के परिणाम कै अनुकूल अपनें परिणाम आपतैं अभिन्न कूं आपतैं अभिन्न जो अपनीं परिणति मात्र क्रिया, ता करि कीया हूवा कूं करता संता प्रतिभासमान होऊ[३] ॥ वहुरि पुद्गल के परिणाम का करनें का अहंकार करि सहित है, तौऊ पुद्गल कै परिणाम कै अनुरूप पुद्गल कै अभिन्न जो पुद्गल का परिणाम, पुद्गल ही तैं अभिन्न जो पुद्गल की परिणतिमात्र क्रिया, तिस करि कीया हूवा, ताकूं करता संता मति प्रतिभासो ॥ छ ॥

अर्थ – यहाँ कोई ऐसा कहता है कि आत्मा और पुद्गल, दोनों ही के भावों को आत्मा करता है; अत: वे दो क्रियाओं को एक ही की कहनेवाले मिथ्यादृष्टि हैं ॥ ८६ ॥

टीका – निश्चय से जो आत्मा और पुद्गल, दोनों के परिणामों का कर्ता आत्मा को मानते हैं, वे दो क्रियाओं को एक ही की कहनेवाले होने से मिथ्यादृष्टि ही हैं – ऐसा सिद्धान्त है; इसलिए एक द्रव्य के द्वारा दो परिणाम किये हुए प्रतिभासित नहीं होना चाहिए।

जिस प्रकार कुम्भकार, कलश के बनने में अनुकूल अपने व्यापाररूप हस्त आदि की क्रिया, स्वयं से अभिन्न इच्छारूप परिणाम और स्वयं से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया के द्वारा किये हुए, [अपने परिणाम] को करता हुआ प्रतिभासित होता है। यद्यपि [वह कुम्भकार], कलश बनाने के अहङ्कार से सहित है; तथापि मिट्टी के व्यापार के अनुरूप, मिट्टी का कलश-परिणाम, मिट्टी से अभेदरूप और मिट्टी से अभिन्न मिट्टी की परिणतिमात्र क्रिया से होता है; उस कलश-परिणाम को करता हुआ [कुम्भकार] प्रतिभासित नहीं होता है।

उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञान से पुद्गलकर्म के परिणाम के अनुकूल, अपने से अभिन्न अपने परिणाम और अपने से अभिन्न अपनी परिणतिमात्र क्रिया के द्वारा किये हुए, अपने परिणाम को करता हुआ। प्रतिभासमान हो। यद्यपि [अज्ञानी जीव], पुद्गल के परिणाम को करने के अहङ्कार से सहित है; तथापि पुद्गलपरिणाम के अनुरूप, पुद्गल से अभिन्न, पुद्गल का परिणाम, पुद्गल ही से अभिन्न,

---

१ व ३. प्रतिभासो - 'ब' प्रति पाठ *२. मृत्तिका* - 'ब' प्रति पाठ

॥ भावार्थ ॥ आत्मा अपनें ही परिणाम कूं करता संता प्रतिभासमान होऊ[१]। पुद्गल के परिणाम कूं तौ करता मति प्रतिभासो॥ याही तैं आत्मा की अर पुद्गल की, दोऊ क्रिया कूं एक आत्मा ही की माननेंवाला कूं मिथ्यादृष्टी कह्या है। जड चेतन की एक क्रिया होय तौ सर्व द्रव्य पलटतैं सर्व का लोप होय है, यह वड़ा दोष उपजै॥ छ॥

अब, इस ही अर्थ के समर्थन कूं कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ आर्या ॥

यः परिणमति स कर्त्ता, यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा, त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥ ६॥

॥ अर्थ ॥ जो परिणमै है सो कर्त्ता है॥ वहुरि जो परिणम्यां, ताका परिणाम है सो कर्म है॥ वहुरि जो परिणति है सो क्रिया है। ये तीनूं ही वस्तुपणां करि भिन्न नाही हैं॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ द्रव्यदृष्टि करि परिणाम परिणामी कै अभेद है अर पर्यायदृष्टि करि भेद है। तहां भेददृष्टि करि तौ कर्त्ता कर्म क्रिया, तीन कहिये हैं अर इहां अभेददृष्टि करि परमार्थ कह्या है जो कर्त्ता कर्म क्रिया, तीनूं ही एक द्रव्य की अवस्था है, प्रदेशभेदरूप न्यारे वस्तु नाही हैं॥ छ॥

पुद्गल की परिणतिमात्र क्रिया से होता है, उस पुद्गलपरिणाम को करता हुआ, वह [अज्ञानी जीव] प्रतिभासित नहीं हो।

भावार्थ – आत्मा, अपने ही परिणाम को करता हुआ प्रतिभासमान हो, परन्तु पुद्गल के परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित नहीं हो; इसी कारण आत्मा और पुद्गल, दोनों की क्रियाओं को एक आत्मा ही की माननेवाले को मिथ्यादृष्टि कहा है। यदि जड़ और चेतन की एक क्रिया हो तो सर्व द्रव्यों के पलटने पर सर्व के लोप होने का बड़ा दोष उत्पन्न हो जाता है।

अब, इसी अर्थ का समर्थन करते हुए कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

कर्ता वही जो परिणमे, परिणाम ही बस कर्म है।
है परिणति ही क्रिया बस!; तीनों अभिन्न अखण्ड हैं॥ ५१॥

अर्थ – जो परिणमित होता है, वह कर्ता है; परिणमित होनेवाले का जो परिणाम है, वह कर्म है और जो परिणति है, वह क्रिया है – ये तीनों ही वस्तुपने की अपेक्षा भिन्न नहीं हैं।

भावार्थ – द्रव्यदृष्टि से परिणाम-परिणामी का अभेद है और पर्यायदृष्टि से उनमें भेद है। वहाँ भेददृष्टि से तो कर्ता, कर्म और क्रिया – ये तीन कहे जाते हैं परन्तु यहाँ अभेददृष्टि से परमार्थ कहा है कि कर्ता, कर्म और क्रिया – ये तीनों ही एक द्रव्य की अवस्थाएँ हैं, प्रदेशभेदरूप भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं।

---

१. *प्रतिभासो* - 'ब' प्रति पाठ

फेरि कहै है॥

॥ आर्या ॥

एकः परिणमति सदा, परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः॥ ७॥

॥ अर्थ॥ वस्तु एक ही सदा परिणमै है॥ वहुरि एक ही कै सदा परिणाम उपजै है, अवस्था सूं अन्य अवस्था होय है॥ वहुरि एक ही कै परिणति क्रिया होय है॥ जातैं अनेकरूप भया, तौऊ एक ही वस्तु है, भेद नाही है॥

॥ भावार्थ॥ एक वस्तु कै अनेक पर्याय होय हैं, तिनिकूं परिणाम भी कहिये, अवस्था भी कहिये, ते संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजनादिक करि न्यारे न्यारे प्रतिभासरूप हैं, तौऊ एक ही वस्तु हैं, न्यारे नाही हैं, अैसा ही भेद अभेदस्वरूप वस्तु का स्वभाव है॥

फेरि कहै है॥

॥ आर्या ॥

नोभौ परिणमतः खलु, परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा॥ ८॥

॥ अर्थ॥ दोय द्रव्य हैं सो एक होय परिणमै नाही हैं॥ वहुरि दोय द्रव्य का एक परिणाम नाही

पुनः कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

अनेक होकर एक है, हो परिणमित बस! एक ही।
परिणाम हो बस! एक का, हो परिणति बस! एक की॥ ५२॥

अर्थ – एक ही वस्तु सदा परिणमित होती है; एक ही में सदा परिणाम उत्पन्न होता है, एक अवस्था से अन्य अवस्था होती है और एक ही में परिणतिरूप क्रिया होती है क्योंकि अनेकरूप होने पर भी वस्तु एक ही है; उसमें भेद नहीं है।

भावार्थ – एक वस्तु की अनेक पर्यायें होती हैं, उन्हें परिणाम भी कहते है, अवस्था भी कहते हैं; वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि से भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होती हैं तो भी एक ही वस्तु हैं, भिन्न-भिन्न नहीं हैं – ऐसा ही भेद-अभेदस्वरूप वस्तु का स्वभाव है।

पुनः कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

परिणाम दो का एक ना, मिल कर नहीं दो परिणमें।
परिणति दो की एक ना, बस! क्योंकि दोनों भिन्न हैं॥ ५३॥

होय है॥ वहुरि दोय द्रव्य की परिणति क्रिया एक नाही होय है॥ जातैं जो अनेक द्रव्य है सो अनेक ही हैं, पलटि करि एक नाही होय है॥

॥ भावार्थ॥ दोय वस्तु हैं, ते सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेशभेदरूप ही हैं, दोऊ एक होय परिणमैं नाही, एक परिणाम कूं उपजावैं नाही, क्रिया एक होय नाही, अैसा नियम है॥ जो दोय द्रव्य एक होय परिणमै तौ सर्व द्रव्यनि का लोप हो जाय॥ छ॥

फेरि इस ही अर्थ कूं दृढ़ करै है॥

॥ आर्या॥

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे, एकमनेकं यतो न स्यात्॥ ९॥

॥ अर्थ॥ एक द्रव्य का दोय कर्त्ता न होय॥ वहुरि एक द्रव्य का दोय कर्म न होय॥ वहुरि एक द्रव्य कै दोय क्रिया न होय॥ जातैं एक द्रव्य है सो अनेक द्रव्य होय नाही॥

॥ भावार्थ॥ यह निश्चयनय करि नियम है सो शुद्धद्रव्यार्थिकनय करि कह्या जाननां॥ छ॥

अव कहै है जो आत्मा कै अनादि तैं परद्रव्य का कर्त्ताकर्मपणां का अज्ञान है सो जो यह परमार्थनय का ग्रहण करि एक वार भी विलय होय तौ फेरि न आवै॥

अर्थ – दो द्रव्य, एक होकर परिणमित नहीं होते, दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्यों की परिणति अर्थात् क्रिया भी एक नहीं होती है क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं, वे अनेक ही हैं; पलट कर एक नहीं होते हैं।

भावार्थ – दो वस्तुएँ सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेशभेदरूप ही हैं; न तो वे दोनों एक होकर परिणमित होती हैं, न एक परिणाम को उत्पन्न करती हैं और न उनकी क्रिया एक होती है क्योंकि ऐसा ही नियम है। यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमन करें तो सर्व द्रव्यों का लोप हो जाए।

पुनः इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

कर्ता नहीं दो एक के हों, एक के दो कर्म ना।
ना दो क्रियाएँ एक की हों, क्योंकि एक अनेक ना॥ ५४॥

अर्थ – एक द्रव्य में दो कर्ता नहीं होते, एक द्रव्य के दो कर्म भी नहीं होते और एक द्रव्य की दो क्रियाएँ भी नहीं होती क्योंकि एक द्रव्य, अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।

भावार्थ – निश्चयनय से यह नियम है, उसे शुद्धद्रव्यार्थिकनय से भी जानना चाहिए।

अब कहते हैं कि आत्मा में अनादि से परद्रव्य के प्रति जो कर्ता-कर्मपने का अज्ञान है, वह यदि इस परमार्थनय का ग्रहण करने से एक बार भी नष्ट हो जाए तो फिर कभी उत्पन्न न हो —

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

आसंसारत एव धावति परं, कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
र्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपं तमः ॥
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं, यद्येकवारं व्रजेत्,
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो, भूयो भवेदात्मनः ॥ १० ॥

॥ अर्थ ॥ इस जगत विषै मोही अज्ञानी जीवनि कै यह मैं परद्रव्य कूं करौं हौं, अैसा परद्रव्य के कर्त्तापणां का अहंकाररूप अज्ञान अंधकार अनादि संसार तै लगाय चल्या आवै है।

कैसा है। अतिशय करि दुर्वार है, निवार्या न जाय है॥ सो आचार्य कहै है जो शुद्धद्रव्यार्थिक अभेदनय परमार्थ है, सत्यार्थ है, ताका ग्रहण करि कैं जो एक वार भी नाश होय जाय॥ तौ यह जीव ज्ञानघन है सो यथार्थ ज्ञान भयें पीछैं कहा ज्ञान जाता रहे, नाही जाय अर ज्ञान न जाय, तव कहा फेरि अज्ञान तैं वंध होय, कदाचित् नाही होय॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ इहां तात्पर्य अैसा जो अज्ञान तौ अनादि ही का है परंतु दर्शनमोह का नाश करि एक वार यथार्थ ज्ञान होय करि क्षायिक सम्यक्त उपजै तौ फेरि मिथ्यात्व नाही आवै, तव मिथ्यात्व का वंध न होय अर मिथ्यात्व गयें पीछैं संसार का वंधन काहे कूं रहै, मोक्ष ही पावै, अैसा जाननां।

॥ हरिगीतिका ॥

'पर को करूँ मैं' – यह अहं, अत्यन्त ही दुर्वार है।
यह है अखण्ड अनादि से, जीवन हुआ दुःस्वार है॥
भूतार्थनय के ग्रहण से यदि, प्रलय को यह प्राप्त हो।
तो ज्ञान के घनपिण्ड आतम, को कभी न बन्ध हो॥ ५५॥

अर्थ – इस जगत् में मोही अज्ञानी जीव को 'यह मैं परद्रव्य को करता हूँ' — ऐसा परद्रव्य के कर्तापने का अहङ्काररूप अज्ञान-अन्धकार, अनादि संसार से ही चला आ रहा है।

कैसा है वह अज्ञान-अन्धकार? – अतिशयरूप से दुर्वार है; निवारण नहीं किया जा सकता है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि यह शुद्धद्रव्यार्थिकरूप अभेदनय परमार्थ है, सत्यार्थ है; उसका ग्रहण करने से यदि एक बार भी अज्ञानान्धकार का नाश हो जाए तो इस ज्ञानघन जीव का यथार्थ ज्ञान होने के बाद **क्या ज्ञान चला जाएगा?** – नहीं जाएगा और जब ज्ञान ही कहीं नहीं जाएगा **तो फिर क्या अज्ञान से बन्ध होगा?** – कभी भी नहीं होगा।

भावार्थ – यहाँ तात्पर्य यह है कि अज्ञान तो अनादि ही से है परन्तु दर्शनमोह के नाश से यदि एक बार यथार्थ ज्ञानपूर्वक क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न हो जाए तो पुनः मिथ्यात्व नहीं आए, तब मिथ्यात्व का बन्ध भी नहीं हो तथा मिथ्यात्व के चले जाने के बाद **संसार का बन्धन कैसे रह सकता है?** –

फेरि विशेष करि कहै है॥

॥ अनुष्टुभ्॥

आत्मभावान्करोत्यात्मा, परभावान्सदा परः।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः, परस्य पर एव ते॥ ११॥

॥ अर्थ॥ आत्मा है सो तौ अपनें भावनि कूं करै है॥ वहुरि परद्रव्य है सो पर के भावनि कूं करै है॥ जातैं अपनें भाव हैं, ते तौ आप ही है॥ वहुरि परभाव हैं, ते पर ही हैं, यह नियम है॥ छ॥

आगैं, परद्रव्य का कर्त्ताकर्मपणां के मानने कूं अज्ञान कह करि कह्या जो अैसैं मानैं सो मिथ्यादृष्टी है, तहां आशंका उपजै है जो यह मिथ्यात्वादि भाव कहा वस्तु है, जो जीव के परिणाम कहिये तौ पूर्वैं रागादि भावनि कूं पुद्गल के परिणाम कहै हैं, तातैं विरोध आवै है॥ वहुरि पुद्गल के परिणाम कहिये तौ जीव का प्रयोजन नाही, याका फल जीव काहे कूं पावै॥ अैसी आशंका दूर करने कूं कहै हैं॥

मिच्छत्तं पुण दुविहं, जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरइ जोगो मोहो, कोहाईया इमे भावा॥ १९॥

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं, जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानम्।
अविरतिर्योगो मोहः, क्रोधाद्या इमे भावाः॥ छ॥

मोक्ष ही प्राप्त होता है – ऐसा जानना चाहिए।

पुनः विशेषरूप से कहते हैं —

॥ दोहा॥

परभावों को पर करे, आतम आतमभाव।
आत्मभाव आतम ही हैं, पर हैं पर के भाव॥ ५६॥

अर्थ – आत्मा तो अपने भावों को करता है और परद्रव्य पर के भावों को करता है क्योंकि अपने भाव तो आत्मा ही हैं और परभाव पर ही हैं – ऐसा नियम है।

पूर्व में परद्रव्य के कर्ता-कर्मपने की मान्यता को अज्ञान कहते हुए यह कहा था कि जो ऐसा मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। उसमें यह आशङ्का उत्पन्न होती है कि ये मिथ्यात्व आदि भाव क्या वस्तु हैं? यदि इन्हें जीव के परिणाम कहा जाए तो पूर्व में रागादि भावों को पुद्गल के परिणाम कहा था, उससे विरोध आता है और यदि पुद्गल के परिणाम कहा जाए तो जीव का इनसे कुछ प्रयोजन नहीं रहता है तो फिर इनका फल जीव क्यों प्राप्त करता है? अतः ऐसी आशङ्का दूर करने के लिए कहते हैं —

मिच्छत्तं पुणं दुविहं, जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो, कोहादीया इमे भावा॥ ८७॥

॥ अर्थ ॥ पहली गाथा मैं दोयक्रियावादी मिथ्यादृष्टी कह्या था, ताका जोड कूं पुनः शव्द है सो कहै है। मिथ्यात्व कह्या सो दोय प्रकार है, एक जीव मिथ्यात्व, एक अजीव मिथ्यात्व॥ वहुरि तैसैं ही अज्ञान भी दोय प्रकार, जीव अजीव। वहुरि तैसैं ही अविरति योग मोह, क्रोध आदि कषाय, जीव अजीव के भेद करि दोय दोय प्रकार ए सर्व ही भाव हैं॥ छ॥

॥ टीका ॥ मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति इत्यादिक जे भाव हैं, ते प्रत्येक न्यारे न्यारे मयूर अर दर्पण की ज्यों जीव अजीव करि भाये हुए हैं, तातैं जीव भी हैं, अजीव भी हैं सो ही कहै हैं॥ जैसैं मयूर कै नील कृष्न हरित पीत आदि वर्णरूप भाव हैं, ते मयूर के निजस्वभाव करि भाये हुए मयूर ही हैं॥ वहुरि जैसैं दर्पण विषै तिनि वर्णनि का प्रतिविंव दीषै है, ते दर्पण की स्वच्छता निर्मलता का विकारमात्र करि भाये हुए ते दर्पण ही हैं। मयूर कै अर आरसा कै अत्यंत भिन्नता है॥

तैसैं ही मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति इत्यादिक भाव हैं, ते अपनें अजीव के द्रव्यस्वभाव करि अजीवपणें करि भाए हुए ते अजीव ही हैं॥ वहुरि ते मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति आदि भाव चैतन्य के विकारमात्र करि जीव करि भाये हुए जीव ही हैं॥

॥ भावार्थ ॥ कर्म के निमित्त तैं जीव, विभावरूप परिणमै है, ते तौ चेतन के विकार हैं, ते जीव ही हैं॥ वहुरि जे पुद्गल मिथ्यात्व आदि कर्मरूप परिणमैं है, ते पुद्गल के परमाणु हैं तथा तिनि

मिथ्यात्व जीव-अजीव द्विविध, उभयविध अज्ञान है।
अविरमण, योग अरु मोह भी, क्रोधादि उभय प्रकार हैं॥ ८७॥

अर्थ – पूर्व गाथा में द्विक्रियावादी को मिथ्यादृष्टि कहा है, उसी से जोड़ कर पुनः कहते हैं कि वह मिथ्यात्व दो प्रकार का है – एक जीव-मिथ्यात्व और दूसरा अजीव-मिथ्यात्व। इसी प्रकार अज्ञान भी दो प्रकार का है – जीव-अज्ञान और अजीव-अज्ञान। इसी तरह अविरति, योग, मोह, क्रोध आदि कषायें – ये सर्व ही भाव, जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं॥ ८७॥

टीका – मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि प्रत्येक भाव, पृथक्-पृथक् मयूर और दर्पण के समान जीव और अजीव के द्वारा उत्पन्न होने से जीव भी हैं और अजीव भी हैं; इसे ही स्पष्ट करते हैं – जैसे, मयूर के नीला, काला, हरा, पीला आदि वर्णरूप भाव; मयूर के निजस्वभाव के द्वारा उत्पन्न होने से मयूर ही हैं तथा जैसे, दर्पण में उन रङ्गों का प्रतिबिम्ब दिखता है, वे दर्पण की स्वच्छता अर्थात् निर्मलता के विकारमात्र के रूप में उत्पन्न होने से दर्पण ही हैं क्योंकि मयूर और दर्पण में अत्यन्त भिन्नता है।

उसी प्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि भाव; स्वयं अजीव के द्रव्यस्वभाव के द्वारा अजीवरूप से उत्पन्न होने के कारण अजीव ही हैं तथा मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि भाव; चैतन्य के विकारमात्र होने से एवं जीव से उत्पन्न होने के कारण जीव ही हैं।

भावार्थ – कर्म के निमित्त से जीव, [मिथ्यात्वादि] विभावरूप परिणमन करता है, वे [विभाव] तो चेतन का विकार होने से जीव ही हैं तथा जो पुद्गलपरमाणु, मिथ्यात्व आदि कर्मरूप

का विपाक उदयरूप होय, स्वादरूप होय हैं, ते मिथ्यात्व आदि अजीव हैं। अैसैं मिथ्यात्व आदि भाव जीव अजीव भेद करि दोय प्रकार हैं।

इहां अैसा जाननां, जो मिथ्यात्व आदि कर्म की प्रकृति हैं, ते पुद्गलद्रव्य के परमाणु हैं, तिनि का उदय होय, तव जीव उपयोगस्वरूप है सो याके उपयोग कै अैसी सुच्छता है जो जिसका[१] उदय का स्वाद आवै, तव तिस कै आकार उपयोग होय। तव अज्ञान तैं तिसका भेदज्ञान होय नाही, तिस स्वाद कूं ही अपनां भाव जानैं है सो याका भेदज्ञान होनां जो जीवभाव कूं जीव जानैं, अजीवभाव कूं अजीव जानैं, तव मिथ्यात्व का अभाव होय, सम्यक्ज्ञान होय है॥ छ॥

आगैं पूछै है जो ए मिथ्यात्व आदि जीव अजीव कहे, ते कौंन हैं॥ ताका उत्तर कहै है॥

पुग्गलकम्मं मिच्छं, जोगो अविरइ अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं, अविरइ मिच्छं च जीवो उ॥ २०॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं, योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः।
उपयोगोऽज्ञानमविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु॥ छ॥

से परिणमन करते हैं, उनका विपाक उदयरूप होकर स्वादरूप [अर्थात् अनुभव या अनुभागरूप] होता है; अतः वे मिथ्यात्व आदि अजीव हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व आदि भाव, जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार के हैं।

यहाँ ऐसा जानना चाहिए कि जो मिथ्यात्व आदि कर्म की प्रकृतियाँ हैं, वे पुद्गलद्रव्य के परमाणु (वर्गणाएँ) हैं, उनका ही उदय आता है तथा जीव उपयोगस्वरूप है, इसलिए उसके उपयोग में ऐसी स्वच्छता है कि जब कर्मप्रकृतियों का उदय आता है, तब उनके उदय का स्वाद आने पर उसी के आकार उपयोग हो जाता है; तब जीव अज्ञान के कारण भेदज्ञान नहीं होने से, उस स्वाद को अपना भाव जानता है; अतः इसका भेदज्ञान होने पर जीवभाव को जीव जानता है और अजीवभाव को अजीव जानता है, तब मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है।

अब, प्रश्न है कि ये मिथ्यात्व आदि जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार के कौनसे हैं? — उसका उत्तर कहते हैं —

पोग्गलकम्मं मिच्छं, जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं, अविरदि मिच्छं च[२] जीवो दु॥ ८८॥

मिथ्यात्व अविरति योग आदि, अजीव पुद्गलकर्म हैं।
अज्ञान अरु अविरमण अरु, मिथ्यात्व जीव-उपयोग हैं॥ ८८॥

---

१. *तिसका* - 'अ' प्रति पाठ २. *मिच्छत्त* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

॥ अर्थ ॥ जे मिथ्यात्व योग अविरति अज्ञान ए अजीव हैं, ते तौ पुद्गलकर्म हैं॥ वहुरि अज्ञान अविरति मिथ्यात्व ए जीव हैं, ते उपयोग हैं॥ छ॥

॥ टीका ॥ जो निश्चय करि मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति इत्यादि अजीव है सो तौ अमूर्त्तीक जो चैतन्य का परिणाम, तातैं अन्य है, मूर्त्तीक है सो तौ पुद्गलकर्म है॥ वहुरि जो मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति इत्यादि जीव है सो मूर्त्तीक जो पुद्गलकर्म, तातैं अन्य है, चैतन्यपरिणाम का विकार है॥ छ॥

फेरि पूछै है जो जीव मिथ्यात्व आदि चैतन्यपरिणाम के विकार कोंन हेतु तैं है। ताका उत्तर कहै है॥

उवओगस्स अणाई, परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं, अविरइभावो य णायव्वो॥ २१॥

उपयोगस्यानादयः, परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्च ज्ञातव्यः॥ छ॥

॥ अर्थ ॥ आत्मा के उपयोग के अनादि तैं लेकरि तीन परिणाम हैं। जातैं यह अनादि ही तैं मोहयुक्त है, ताके निमित्त तैं होय है। तहां मिथ्यात्व अज्ञान अविरतिभाव ए तीन जाननें॥ छ॥

अर्थ – जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान अजीवरूप हैं, वे तो पुद्गलकर्म हैं तथा जो अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व जीवरूप हैं, वे उपयोगमय हैं॥ ८८॥

टीका – निश्चय से जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव हैं, वे तो अमूर्तिक चैतन्य के परिणाम से भिन्न होने से मूर्तिक हैं; अतः वे पुद्गलकर्म हैं और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जीवरूप हैं, वे मूर्तिक पुद्गलकर्म से भिन्न होने से चैतन्यपरिणाम के विकार हैं।

पुनः प्रश्न है कि जीव-मिथ्यात्व आदि, चैतन्यपरिणाम के विकार किस हेतु से हैं? – उसका उत्तर कहते हैं –

उवओगस्स अणादी[1], परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं, अविरदिभावो य णादव्वो॥ ८९॥

है मोहयुत उपयोग का, परिणाम तीन अनादि का।
मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरति भाव – ये त्रय जानना॥ ८९॥

अर्थ – आत्मा के उपयोग में अनादि से ही तीन प्रकार के परिणाम-विकार हैं – मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति क्योंकि यह आत्मा अनादि से ही मोहयुक्त है और ये परिणाम, उसके निमित्त से होते हैं – ऐसा जानना चाहिए॥ ८१॥

---

१. *अणाई* – तात्पर्यवृत्ति, अगास एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

॥ टीका ॥ निश्चय करि समस्त वस्तुनि कै अपनें स्वरसपरिणमन तैं ही स्वभावभूत स्वरूपपरिणाम विषै समर्थपणां होतैं भी आत्मा के उपयोग कै अनादि ही तैं अन्यवस्तुभूत जो मोह, तिस करि युक्तपणां तैं मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति, अैसैं तीन प्रकार परिणाम के विकार हैं ॥ सो यह जैसैं स्फटिकमणि की स्वच्छता कै पर के डंक तैं परिणामविकार होता देषिये है, तैसैं है ॥ सो ही प्रगट करि कहै है ॥

जैसैं स्फटिक की स्वच्छता कै अपनां स्वरूप जो उज्जलता, तिसरूप परिणाम की समर्थता होतैं भी कदाचित् काल विषै काला हरया पीला जो तमाल कदली कंचन का पात्र ताका उपाश्रय का[१] समीप युक्तपणां तैं नीला हरया पीला अैसा तीन प्रकार परिणाम का विकार दीषै है ॥ तैसैं ही आत्मा कै उपयोग कै अनादि मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति स्वभाव जो अन्यवस्तुभूत जो मोह[२], ता करि युक्तपणां तैं मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति अैसैं तीन प्रकार परिणामविकार देषणां ॥

॥ भावार्थ ॥ आत्मा कै उपयोग मैं ए तीन प्रकार का परिणामविकार, अनादि कर्म के निमित्त तैं है ॥ अैसा नाही जो पहलैं शुद्ध ही था, यह नवीन भया है। अैसैं होय तौ सिद्धनि कै भी नवीन भया चाहिये सो यह है नाही, अैसैं जाननां ॥ छ ॥

आगैं, आत्मा कै इस तीन प्रकार के परिणामविकार का कर्त्तापणां दिषावै है ॥ छ ॥

एएसु य उवओगो, तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेइ भावं, उवओगो तस्स सो कत्ता ॥ २२ ॥

टीका – निश्चय से समस्त वस्तुओं की अपने स्वरस-परिणमन से ही स्वभावभूत स्वरूप-परिणाम की सामर्थ्य होने पर भी आत्मा के उपयोग के अनादि ही से अन्यवस्तुभूत मोह से युक्तता होने के कारण मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति – ये तीन प्रकार के परिणाम के विकार होते हैं। जैसे, स्फटिकमणि की स्वच्छता में पर की उपाधि के निमित्त से परिणाम-विकार होता हुआ दिखाई देता है। इसे ही स्पष्ट करते हैं —

जैसे, स्फटिक की स्वच्छता में, अपने उज्ज्वल स्वरूपमय परिणमन करने की सामर्थ्य होने पर भी कदाचित् किसी काल में काले तमाल, हरे केले और पीले स्वर्ण-पात्र के आश्रय की समीपता से युक्त होने पर नीला, हरा और पीला – ऐसे स्फटिक में तीन प्रकार के परिणाम-विकार होते हुए दिखाई देते हैं; उसी प्रकार आत्मा के उपयोग में अनादि से मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति स्वभाववाले अन्यवस्तुभूत (पौद्गलिक) मोह की युक्तता के कारण मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति – ऐसे तीन प्रकार के परिणाम-विकार होते हुए दिखाई देते हैं।

भावार्थ – आत्मा के उपयोग में अनादिकाल से ही कर्म के निमित्त से तीन प्रकार के विकारी परिणाम होते हैं। ऐसा नहीं है कि पहले आत्मा शुद्ध ही था और यह विकार नवीन हुआ है। यदि ऐसा हो तो सिद्धों को भी नवीन परिणाम-विकार होना चाहिए परन्तु ऐसा है नहीं – ऐसा जानना।

---

१. *उपाश्रय* - 'ब' प्रति पाठ २. *अन्यवस्तुभूत मोह* - 'ब' प्रति पाठ

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरञ्जनो भावः।
यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता॥ छ॥

॥ अर्थ॥ मिथ्यात्व अज्ञान अविरति, इनि तीननि का अनादि तैं निमित्त होतैं आत्मा का उपयोग शुद्धनय करि एक है, शुद्ध है, निरंजन है। तौऊ याकै मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति, अैसा तीन प्रकार परिणाम है सो इनिमैं जिस भाव कूं आप करै है, ताका कर्त्ता होय है॥ छ॥

॥ टीका॥ पहली गाथा मैं कहे जे तीन प्रकार के उपयोग के परिणाम, ते अब पूर्वोक्त प्रकार अनादि अन्यवस्तुभूत जो मोह, ताकरि युक्तपणां तैं आत्मा विषै उपजते जे मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरतिभावरूप तीन परिणामविकार, तिनिकूं निमित्तभूत होतैं आत्मा का भाव, परमार्थ तैं देषिये तौ शुद्ध निरंजन अनादिनिधन वस्तु का सर्वस्वभूत चैतन्यमात्र भावपणां करि एक प्रकार है, तौऊ अशुद्ध सांजन अनेकभावपणां कूं प्राप्त हूवा संता, तीन प्रकार होय करि आप अज्ञानी हूवा संता, कर्त्तापणां कूं प्राप्त होता संता, विकाररूप परिणाम करि जिस जिस भाव कूं आप कै करै है, तिस तिस भाव का उपयोग प्रगटपणैं निश्चय करि कर्त्ता होय है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ पूर्वै कह्या है जो परिणमैं सो कर्त्ता है, सो इहां अज्ञानरूप होय उपयोग परिणम्यां

अब, आत्मा के इन तीन प्रकार के परिणाम-विकार का कर्तापना दिखाते हैं —

एदेसु य उवओगो, तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं, उवओगो तस्स सो कत्ता॥ ९०॥

इससे ही है उपयोग त्रयविध, शुद्ध निर्मलभाव जो।
जो भाव कुछ भी वह करे, उस भाव का कर्ता बने॥ ९०॥

अर्थ – आत्मा को अनादि से मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति – इन तीनों का निमित्त होने पर भी, आत्मा का उपयोग शुद्धनय से एक है, शुद्ध है, निरञ्जन है तो भी इसके मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिरूप तीन प्रकार का परिणाम होता है; वहाँ यह आत्मा, जिस विकारीभाव को स्वयं करता है, उसका कर्ता होता है॥ ९०॥

टीका – पिछली गाथा में कथित जो तीन प्रकार के उपयोग के परिणाम हैं, वे अब पूर्वोक्त प्रकार से अनादिकालीन अन्यवस्तुभूत मोह से युक्त होने के कारण आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिभावरूप तीन प्रकार के परिणाम-विकारों का निमित्तभूत (कारणभूत) होनेवाला आत्मा का भाव, परमार्थदृष्टि से शुद्ध, निरञ्जन, अनादिनिधन वस्तु का सर्वस्वभूत चैतन्यमात्र भावपने से एक प्रकार का है; फिर भी वह अशुद्ध, साञ्जन, अनेकभावपने को प्राप्त होता हुआ, तीन प्रकार का होकर, स्वयं अज्ञानरूप होता हुआ, कर्तापने को प्राप्त होकर विकाररूप परिणामों से जिस-जिस भाव को स्वयं करता है, उस-उस भाव का निश्चय से प्रगटपने वह उपयोग, कर्ता होता है।

सो जिसरूप परिणम्यां, तिसका कर्त्ता कह्या। शुद्धद्रव्यार्थिकनय करि आत्मा कर्त्ता है नाही, इहां उपयोग कूं कर्त्ता जाननां। वहुरि उपयोग अर आत्मा एक ही वस्तु है, तातैं आत्मा ही कूं कर्त्ता कहिये॥ छ॥

आगैं, आत्मा कै तीन प्रकार परिणामविकार का कर्त्तापणां होतैं संतैं पुद्गलद्रव्य है सो आप ही कर्मपणांरूप होय परिणमै है, अैसैं कहै है॥ छ॥

जं कुणइ भावमादा, कत्ता सो होइ तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमए, तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं॥ २३॥

यं करोति भावमात्मा, कर्ता स भवति तस्य भावस्य।
कर्मत्वं परिणमते, तस्मिन् स्वयं पुद्गलं द्रव्यम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ आत्मा है सो जिस भाव कूं करै है, ताका कर्त्ता आप होय है। वहुरि तिसकूं कर्त्ता होतैं, तिस विषै[१] पुद्गलद्रव्य है सो आपै आप कर्मपणांरूप परिणमै है॥ छ॥

॥ टीका॥ आत्मा है सो निश्चय करि आप ही करि तैसैं परिणमनें करि प्रगटपणैं जिस भाव कूं करै है॥ ताका यह कर्त्ता होय है॥ साधक कहिये मंत्र साधनेंवाले की ज्यों॥ वहुरि तिस आत्मा कूं तैसैं निमित्त होतैं पुद्गलद्रव्य है सो कर्मभावरूप आप ही परिणमै है सो ही प्रगट करि कहै है॥

भावार्थ – पूर्व में कहा था कि जो परिणमता है, वह कर्ता है। यहाँ अज्ञानरूप होकर उपयोग परिणमित हुआ, वहाँ वह जिसरूप परिणमित हुआ, उस भाव का उसे कर्ता कहा जाता है। शुद्धद्रव्यार्थिकनय से तो आत्मा कर्ता है नहीं लेकिन यहाँ उपयोग को कर्ता जानना क्योंकि उपयोग और आत्मा एक ही वस्तु है; अत: आत्मा ही को कर्ता कहा है।

अब, आत्मा को तीन प्रकार के परिणाम-विकारों का कर्तृत्व होने पर भी पुद्गलद्रव्य स्वयं ही कर्मत्वरूप होकर परिणमन करता है, ऐसा कहते हैं —

जं कुणदि भावमादा, कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे, तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं[२]॥ ९१॥

जो भाव जीव करे स्वयं, उस भाव का कर्ता बने।
उस ही समय पुद्गल स्वयं, कर्मत्वरूप ही परिणमे॥ ९१॥

अर्थ – आत्मा, जिस भाव को करता है, उसका कर्ता स्वयं होता है; उस भाव के कर्ता होने पर, उस आत्मा के साथ पुद्गलद्रव्य भी स्वयमेव कर्मपनेरूप परिणमन करता है॥ ९१॥

टीका – निश्चय से आत्मा, स्वयं ही वैसे परिणमन के द्वारा प्रगटरूप से जिस भाव को करता है, उसका वह साधक अर्थात् मन्त्र साधनेवाले की तरह कर्ता होता है तथा उस आत्मा के उस प्रकार

---

१. *होतैं* – 'ब' प्रति पाठ

२. *पुग्गलदव्वं* – तात्पर्यवृत्ति पाठ / *पुग्गलं दव्वं* – अगास प्रकाशन पाठ

जैसैं साधक जो मंत्र साधनेंवाला पुरुष सो तिस प्रकार का ध्यानरूप भाव करि आप ही करि परिणमता संता, तिस ध्यान का कर्त्ता होय है॥ वहुरि समस्त जो तिस साधक कै साधनें योग्य वस्तु, तिसका अनुकूलपणां करि तिस ध्यानभाव कूं निमित्तमात्र होतैं संतैं, तिस साधक विना ही अन्य सर्पादिक की विष की व्याप्ति, ते स्वयमेव मिटि जाय हैं तथा स्त्रीजन हैं, ते विटंवनारूप होय जाय हैं॥ वहुरि वंधन हैं, ते षुलि जाय हैं। इत्यादि कार्य मंत्र के ध्यान की सामर्थ्य तैं होय जाय हैं।

तैसैं ही यह आत्मा, अज्ञान तैं मिथ्यादर्शन आदि भाव करि परिणमता संता, मिथ्यादर्शन आदि भाव का कर्त्ता होय, तव तिस मिथ्यादर्शन आदि भाव कूं अपनें करनें के अनुकूलपणें करि निमित्तमात्र होतैं संतैं आत्मा जो कर्त्ता, तिस विना ही पुद्गलद्रव्य आप ही मोहनीय आदि कर्मभाव करि परिणमैं हैं॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ आत्मा तौ अज्ञानरूप परिणमैं है, काहू सूं ममत्व करै है, काहू सूं राग करै है, काहू सूं द्वेष करै है, तिनि भावनि का आप कर्त्ता होय है॥ वहुरि तिसकूं निमित्तमात्र होतैं पुद्गलद्रव्य, आप अपनें भाव करि कर्मरूप होय परिणमै है॥ परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव है। कर्त्ता दोऊ अपनें अपनें भाव के हैं, यह निश्चय है॥ छ॥

आगैं, कर्म होय है सौ अज्ञान ही तैं होय है, यह तात्पर्य कहै है॥ छ॥

परमप्पाणं कुव्वं, अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो, कम्माणं कारओ होइ॥ २४॥

के भाव का निमित्त होने पर पुद्गलद्रव्य, स्वयं ही कर्मभावरूप परिणमन करता है। इसे ही स्पष्ट करते हैं —

जिस प्रकार साधक अर्थात् मन्त्र साधनेवाला पुरुष, उस प्रकार के ध्यानरूप भाव से स्वयं परिणमन करता हुआ, उस ध्यान का कर्ता होता है तथा उस साधक के द्वारा साधने योग्य समस्त वस्तुओं की अनुकूलता के कारण उस ध्यानभाव के निमित्तमात्र होने पर, उस साधक के बिना ही अन्य सर्प आदि के विष की बाधा स्वयमेव मिट जाती है, स्त्रियाँ स्वयमेव विडम्बनारूप हो जाती हैं, बन्धन स्वयमेव खुल जाते हैं, इत्यादि कार्य, मन्त्र के ध्यान की सामर्थ्य से [स्वयमेव] हो जाते हैं।

उसी प्रकार यह आत्मा जब अज्ञान से मिथ्यादर्शन आदि भाव से परिणमन करता हुआ मिथ्यादर्शन आदि भाव का कर्ता होता है, तब उस मिथ्यादर्शन आदि भाव की अपनी क्रिया के अनुकूल निमित्तमात्र होने पर, आत्मा जो (उन भावों का) कर्ता है, उसके बिना ही पुद्गलद्रव्य, स्वयमेव मोहनीय आदि कर्मरूप से परिणमन करता है।

भावार्थ – आत्मा तो अज्ञानरूप परिणमन करता है, किसी से ममत्व करता है, किसी से राग करता है, किसी से द्वेष करता है; उन भावों का कर्ता आप स्वयं ही होता है और उसके निमित्तमात्र होने पर, पुद्गलद्रव्य स्वयं अपने भाव से कर्मरूप होकर परिणमन करता है – ऐसा परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव है, कर्ता तो दोनों, अपने-अपने भाव के हैं – यह निश्चय है।

अब, अज्ञान ही से कर्म उत्पन्न होता है – यह तात्पर्य बताते हैं —

परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः।
अज्ञानमयो जीवः, कर्मणां कारको भवति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जीव है सो आप अज्ञानमयी भया संता, पर कूं आप करै है, वहुरि आपकूं पर करै है, अैसैं कर्मनि का कर्त्ता होय है॥ छ॥

॥ टीका॥ यह आत्मा, प्रगट अज्ञान करि पर कै अर आप कै विशेष का भेदज्ञान न करतैं संतैं पर कूं तौ आप करै है, वहुरि आप कूं पर करै है। अैसैं आप अज्ञानमयी भया संता कर्मनि का कर्त्ता होय है॥ सो ही प्रगट करि कहै है॥

जैसैं शीत उष्ण का अनुभव करावनें विषै समर्थ जो पुद्गलपरिणाम की शीत उष्ण अवस्था है सो पुद्गल तैं अभिन्नपणां करि आत्मा तैं नित्य ही अत्यंत भिन्न है। तैसैं ही तिस प्रकार का अनुभव करावनें विषै समर्थ जो राग द्वेष, सुख दुःखादिरूप पुद्गलपरिणाम की अवस्था सो पुद्गल तैं अभिन्नपणां करि आत्मा तैं नित्य ही अत्यंत भिन्न है॥ वहुरि तिस निमित्त तैं भये तिस प्रकार का राग द्वेषादिक का 'अनुभवपणां करि आत्मा तैं अभिन्नपणां'[१] है अर पुद्गल तैं नित्य ही अत्यंत भिन्नपणां है।

तौऊ तिस राग द्वेषादिक का अर तिसका अनुभव का अज्ञान तैं परस्पर भेदज्ञान नाही होतैं

परमप्पाणं कुव्वं[२], अप्पाणं पि य परं करिंतो[३] सो।
अण्णाणमओ जीवो, कम्माणं कारगो होदि॥ ९२॥

पर को करे निजरूप अरु, निज आत्म को जो पर करे।
अज्ञानमय यह जीव ऐसे, कर्म का कारक बने॥ ९२॥

अर्थ – जीव, स्वयं अज्ञानमयी होता हुआ पर को अपनेरूप करता है और स्वयं को पररूप करता है; इस प्रकार वह कर्मों का कर्ता होता है॥ ९२॥

टीका – यह आत्मा, प्रगट अज्ञान से पर और आत्मा के विशेष का भेदज्ञान नहीं करता हुआ, पर को आत्मा और आत्मा को पर करता है; इस प्रकार स्वयं अज्ञानमयी होता हुआ, कर्मों का कर्ता होता है, इसे ही स्पष्ट करके कहते हैं —

जिस प्रकार शीत-उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ पुद्गलपरिणाम की शीत-उष्ण अवस्था, पुद्गल से अभिन्न होने से आत्मा से नित्य ही अत्यन्त भिन्न है; उसी प्रकार राग-द्वेष, सुख-दुःख आदिपने अनुभव कराने में समर्थ राग-द्वेष, सुख-दुःख आदिरूप पुद्गलपरिणाम की अवस्था, पुद्गल से अभिन्न होने से आत्मा से नित्य ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से हुए उस प्रकार के राग-द्वेष आदि के अनुभव की आत्मा से अभिन्नता है तथा पुद्गल से नित्य ही अत्यन्त भिन्नता है।

---

१. *अनुभव कै आत्मा तैं अभिन्नपणां* - 'ब' प्रति पाठ
२. *परं अप्पाणं कुव्वदि* - तात्पर्यवृत्ति पाठ
३. *करंतो* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

एकत्वपणां[१] का निश्चय तैं, जैसैं शीत उष्णरूप करि आत्मा कै परिणमनें का असमर्थपणां है, तैसैं राग द्वेष, सुख दुःखादिरूप भी आप ही करि परिणमनें का असमर्थपणां है, तौऊ राग द्वेषादिक पुद्गलपरिणाम की अवस्था कूं तिसके अनुभव का निमित्तमात्र होतैं अज्ञानस्वरूप राग द्वेषादिरूप परिणवता संता अपनें ज्ञान कै अज्ञानपणां कूं प्रगट करता संता आप अज्ञानमयी भया संता, यह मैं रागी हौं इत्यादि विधान करि रागादिक कर्म का कर्त्ता प्रतिभासै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ राग द्वेष, सुख दुःख आदि अवस्था पुद्गलकर्म के उदय का स्वाद है सो यह पुद्गलकर्म तैं अभिन्न है, आत्मा तैं अत्यंत भिन्न है, जैसैं शीत उष्णपणां है तैसैं। सो आत्मा कै अज्ञान तैं याका भेदज्ञान नाही, यातैं अैसा जानैं है जो यह स्वाद मेरा ही है, जातैं ज्ञान की स्वच्छता अैसी ही है जो राग द्वेषादिक का स्वाद शीत उष्ण की ज्यों ज्ञान मैं प्रतिविंवित होय, तव अैसा प्रतिभासै, जानूं कि ए ज्ञान ही हैं, तातैं अैसैं अज्ञान तैं या अज्ञानी जीव कै इनि का कर्त्तापणां भी आया, जातैं याकै अैसी मान्य भई जो मैं रागी हौं, द्वेषी हौं, क्रोधी हौं, मानी हौं इत्यादि, अैसैं कर्त्ता होय है॥ छ॥

आगैं कहै है जो ज्ञान तैं कर्म नाही उपजै है॥ छ॥

परमप्पाणमकुव्वं, अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो, कम्माणमकारओ होइ[२]॥ २५॥

फिर भी उस राग-द्वेष आदि का और उसके अनुभव का, अज्ञान के कारण परस्पर भेदज्ञान नहीं होने से एकत्व का निश्चय है; जैसे, आत्मा की शीत-उष्णरूप परिणमन करने में असमर्थता है, उसी प्रकार राग-द्वेष, सुख-दुःख आदिरूप भी अपने आप परिणमन करने की असमर्थता होने पर भी, राग-द्वेष आदि पुद्गलपरिणाम की अवस्था को, उसरूप अनुभव कराने का निमित्तमात्र होने पर अज्ञानी आत्मा, अज्ञानस्वरूप राग-द्वेष आदिरूप परिणमन करता हुआ, अपने ज्ञान की अज्ञानता को प्रगट करता हुआ, स्वयं अज्ञानमयी होता हुआ, 'यह मैं रागी हूँ' इत्यादि प्रकार से रागादि कर्म का कर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ – राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि अवस्था, पुद्गलकर्म के उदय का स्वाद है; अतः यह पुद्गलकर्म से अभिन्न है, आत्मा से अत्यन्त भिन्न है; जैसे, शीत-उष्ण अवस्था आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। आत्मा को अज्ञान के कारण इसका भेदज्ञान नहीं है, इसलिए वह ऐसा जानता है कि यह मेरा ही स्वाद है क्योंकि ज्ञान की स्वच्छता ऐसी ही है कि राग-द्वेष आदि का स्वाद, शीत-उष्ण की तरह ही ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो ये ज्ञान ही हैं; अतः ऐसे अज्ञान के कारण इस अज्ञानी जीव को इनका कर्तृत्व सिद्ध होता है क्योंकि इसको ऐसी मान्यता हुई है कि 'मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ, क्रोधी हूँ, मानी हूँ इत्यादि' – इस प्रकार वह [अज्ञानी जीव] कर्ता होता है।

अब, कहते हैं कि ज्ञान से कर्म उत्पन्न नहीं होता है —

---

१. *एकपणां* - 'ब' प्रति पाठ

२. *होदि* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन्।
स ज्ञानमयो जीवः, कर्मणामकारको भवति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो जीव, आत्मा कूं पर नाही करता है वहुरि पर कूं आत्मा नाही करता है सो जीव ज्ञानमयी है, कर्मनि का कारक नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ यह जीव, ज्ञान तैं पर का अर आप का परस्पर विशेष करि भेदज्ञान होतैं आप कूं पर नाही करता संता वर्त्तै है वहुरि पर कूं आप नाही करता संता वर्त्तै है॥ तव आप ज्ञानी भया संता कर्मनि का अकर्त्ता प्रतिभासै है॥ सो ही प्रगट करि कहै है॥

जैसैं शीत उष्ण स्वरूप पुद्गलपरिणाम की अवस्था है सो शीत उष्ण अनुभवन करावनें कूं समर्थ है सो पुद्गल तैं अभिन्नपणां करि आत्मा तैं नित्य ही अत्यंत भिन्न है, तैसैं ही राग द्वेष, सुख दुःखादिरूप पुद्गलपरिणाम की अवस्था है सो राग द्वेष, सुख दुःखादिरूप अनुभवन करावनें विषै समर्थ है॥ अैसी अवस्था है निमित्त जाकूं, अैसा वहुरि तिस प्रकार का अनुभव आत्मा तैं अभिन्नपणां करि पुद्गल तैं अत्यंत सदा ही भिन्नता का ज्ञान तैं परस्पर विशेष का भेदज्ञान होतैं नानापणां का विवेक तैं जैसैं शीत उष्णरूप आत्मा आप करि परिणमनें कूं असमर्थ है, तैसैं राग द्वेष, सुख दुःखादिरूप भी आप करि परिणमनें कूं असमर्थ है।

परमप्पाणमकुव्वं[1], अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो, कम्माणमकारगो होदि॥ ९३॥

पर को नहीं निजरूप अरु, निज आत्म को नहिं पर करे।
वह ज्ञानमय आत्मा अकारक, कर्म का ऐसे बने॥ ९३॥

अर्थ – जो जीव, आत्मा को पर नहीं करता है और पर को आत्मा नहीं करता है; वह जीव ज्ञानमय है, कर्मों को करनेवाला नहीं है॥ ९३॥

टीका – यह जीव, ज्ञान के द्वारा पर और आत्मा का परस्पर विशेष (अन्तर) जानने से भेदज्ञान होने पर आत्मा को पर और पर को आत्मा नहीं करता हुआ प्रवर्तता है, तब वह स्वयं ज्ञानी होता हुआ कर्मों का अकर्ता प्रतिभासित होता है। इसे ही स्पष्ट करके कहते हैं —

जिस प्रकार शीत-उष्णस्वरूप पुद्गलपरिणाम की अवस्था, शीत-उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ है, वह पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से नित्य ही अत्यन्त भिन्न है; उसी प्रकार राग-द्वेष, सुख-दुःख आदिरूप पुद्गलपरिणाम की अवस्था भी राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि का अनुभव कराने में समर्थ है, ऐसी अवस्था के निमित्त से होनेवाले उस प्रकार के अनुभव की आत्मा से अभिन्नता और पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्नता का ज्ञान होने पर, उनके परस्पर अन्तर का भेदज्ञान होने से नानापने के विवेक के कारण जिस प्रकार आत्मा स्वयं शीत-उष्णरूप परिणमन करने में

---

१. *परं अप्पाणमकुव्वी* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

ऐसैं अज्ञानस्वरूप जो राग द्वेष, सुख दुःख आदिक तिनिरूप करि नाही परिणमता संता, ज्ञान कै ज्ञानपणां कूं प्रगट करता संता ज्ञानमयी भया ऐसैं जानै है जो यह मैं राग द्वेषादिक कूं जानूं ही हौं अर रागरूप पुद्गल है, इत्यादि विधान करि समस्त ही जे ज्ञान तैं विरुद्ध रागादिक कर्म, तिनिका कर्त्ता नाही प्रतिभासै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जब राग द्वेष, सुख दुःख अवस्था कूं ज्ञान तैं भिन्न जानैं जो जैसैं पुद्गल की शीत उष्ण अवस्था है, तैसैं राग द्वेषादिक भी हैं, ऐसा भेदज्ञान होय, तब आप कूं ज्ञाता जानैं, रागादिरूप पुद्गल कूं जानैं॥ ऐसैं होतैं इनिका कर्त्ता आत्मा नाही हो है, ज्ञाता ही रहै है॥ छ॥

आगैं पूछै है जो अज्ञान तैं कर्म कैसैं निपजैं हैं॥ ताका उत्तर कहै है॥ छ॥

तिविहो एसुवओगो, अप्पवियप्पं करेइ कोहोहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स, होइ सो अत्तभावस्स॥ २६॥

त्रिविध एष उपयोग, आत्मविकल्पं करोति क्रोधोऽहम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य, भवति स आत्मभावस्य॥ छ॥

॥ अर्थ॥ यह उपयोग है सो तीन प्रकार स्वरूप, आपकै विकल्प करै है जो मैं क्रोधस्वरूप

असमर्थ है; उसी प्रकार राग-द्वेष, सुख-दुःख आदिरूप भी स्वयं से परिणमन करने में असमर्थ है।

इस तरह अज्ञानस्वरूप जो राग-द्वेष, सुख-दुःख आदिरूप नहीं परिणमता हुआ, ज्ञान के ज्ञानपने को प्रगट करता हुआ ज्ञानमयी होकर ऐसा जानता है कि **'मैं राग-द्वेष आदि को जानता ही हूँ और राग [आदि] रूप पुद्गल हैं'** – इत्यादि प्रकार से समस्त ही जो ज्ञान से विरुद्ध रागादि कर्म हैं, उनका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता है।

भावार्थ – जब आत्मा, राग-द्वेष, सुख-दुःख [आदि] अवस्थाओं को ज्ञान से भिन्न जानता है कि **'जैसे पुद्गल की शीत-उष्ण अवस्था है, वैसे ही राग-द्वेषादि भी हैं'** – ऐसा भेदज्ञान होने पर स्वयं को ज्ञाता ही जानता है और रागादिरूप पुद्गल को जानता है। इस प्रकार आत्मा इनका कर्ता नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है।

अब, प्रश्न है कि अज्ञान से कर्म कैसे उत्पन्न होते हैं? – उसका उत्तर देते हैं –

तिविहो एसुवओगो, अप्पवियप्पं[1] करेदि कोहोऽहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स, होदि सो अत्तभावस्स॥ ९४॥

'मैं क्रोध' आत्मविकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे।
तब जीव उस उपयोगमय, आत्मभाव का कर्ता बने॥ ९४॥

---

१. *अस्सवियप्पं (असद्विकल्प)* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

हौं अैसैं, सो अैसा अपनां उपयोगभाव का कर्त्ता होय है॥ छ॥

॥ टीका॥ निश्चय करि यह विकारसहित चैतन्यपरिणाम है सो सामान्य करि अज्ञानरूप है सो ही मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति रूप तीन प्रकार है॥ सो यह परिणाम पर कै अर आत्मा कै अविशेष अभेद देषनें करि, अविशेष अभेद जाननें करि, 'अविशेषरूप प्रीति राग करि'[१], समस्त भेद कूं छिपाय अर भाव्यभावकभाव कूं प्राप्त भये जे चेतन अचेतन दोऊ, तिनिका एक आधार करि अनुभवन करने तैं मैं क्रोध हौं अैसैं आत्मा का विकल्प उपजावै है, क्रोध ही कूं आपा जानैं है। तातैं यह आत्मा मैं क्रोध हौं, अैसी भ्रांति करि विकारसहित चैतन्यपरिणाम, तिस करि परिणमता संता तिस विकारसहित चैतन्यपरिणामरूप अपनें भाव का कर्त्ता होय है॥ छ॥

अैसैं ही जैसैं क्रोध कह्या, तैसैं ही क्रोध की जायगां, मान माया लोभ, मोह राग द्वेष, कर्म नोकर्म, मन वचन काय, श्रोत्र चक्षु घ्राण रसन स्पर्शन, ए पद पलटि करि सोला सूत्र व्याख्यान करणां। वहुरि इस ही उपदेश करि अन्य भी विचारणैं॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरति, अैसैं तीन प्रकार विकारसहित चैतन्यपरिणाम है सो आपा पर का भेद न जानि करि अैसैं मानै है जो मैं क्रोधी हौं, मैं मानी हौं, इत्यादि। सो अैसा माननें तैं अपना विकारसहित चैतन्यपरिणाम है, ताका यह अज्ञानी जीव कर्त्ता होय है अर कर्त्ता भया तव ते अज्ञानभाव अपनें कर्म भयें। अैसैं अज्ञान ही तैं कर्म होय है॥ छ॥

अर्थ – यह तीन प्रकार का उपयोग स्वयं ही ऐसे विकल्प करता है कि 'मैं क्रोधस्वरूप हूँ', इस प्रकार वह अपने उपयोगभाव का कर्ता होता है॥ ९४॥

टीका – निश्चय से यह विकारसहित चैतन्यपरिणाम सामान्य से अज्ञानरूप है और वह ही मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति – ऐसे तीन प्रकार का है; यह परिणाम, पर और आत्मा को अविशेष अभेद देखने से, अविशेष अभेद जानने से और अविशेषरूप प्रीति या राग या रति करने से अर्थात् सब भेदों को छिपा कर, भाव्य-भावकभाव को प्राप्त हुए चेतन और अचेतन दोनों को एक आधारमय अनुभव करने से 'मैं क्रोध हूँ' – इस प्रकार आत्मा का [असद्] विकल्प उत्पन्न करता है, क्रोध ही को आत्मा जानता है; इसलिए यह आत्मा 'मैं क्रोध हूँ' – ऐसी भ्रान्ति करके विकारसहित चैतन्य-परिणामरूप परिणमन करता हुआ, उस विकारसहित चैतन्यपरिणामरूप अपने भाव का कर्ता होता है।

इसी प्रकार जैसे, यहाँ क्रोध कहा; वैसे ही क्रोध के स्थान पर मान, माया, लोभ; मोह, राग, द्वेष; कर्म, नोकर्म; मन, वचन, काय; कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन – ये पद बदल-बदल कर सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिए तथा इसी उपदेश के अनुसार अन्य का भी विचार करना चाहिए।

भावार्थ – मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति – ऐसे तीन प्रकार के विकारसहित चैतन्य-परिणाम हैं, वे स्व-पर का भेद न जान कर, 'मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ' इत्यादि मानते हैं – ऐसा मानने से यह अज्ञानी जीव, अपने विकारसहित चैतन्यपरिणाम का कर्ता होता है और कर्ता होने पर वे अज्ञानभाव उसके अपने कर्म होते हैं; इस प्रकार अज्ञान ही से कर्म होता है।

---

१. *अविशेषरूप रति करि* – 'ब' प्रति पाठ

आगैं कहै है जो अैसैं ही धर्मद्रव्य आदि अन्यद्रव्यनि के विषै आत्मविकल्प करै है॥

तिविहो एसुवओगो, अप्पवियप्पं करेइ धम्माई।
कत्ता तस्सुवओगस्स, होइ सो अत्तभावस्स॥ २७॥

त्रिविध एष उपयोग, आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य, भवति स आत्मभावस्य॥ छ॥

॥ अर्थ॥ यह उपयोग है सो तीन प्रकार भया संता धर्म आदिक द्रव्यरूप आत्मविकल्प करै है, तिनिकूं आपा जानै है सो तिस उपयोगरूप अपनां भाव का कर्त्ता होय है॥ छ॥

॥ टीका॥ यह सामान्य करि अज्ञानरूप सविकार चैतन्यपरिणाम, सामान्य करि[१] मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरतिरूप तीन प्रकार है सो यह जव पर का अर आप का परस्पर विशेष नाही देषनें करि तथा अविशेष जाननें करि तथा अविशेष रति करि, समस्त भेदनि कूं लोप करि ज्ञेयज्ञायकभाव कूं प्राप्त जे धर्म आदि द्रव्य, तिनिकूं अपनां अर तिनिका एक आधार के अनुभवन करनें तैं अैसैं मानैं है जो मैं धर्मद्रव्य हौं, मैं अधर्मद्रव्य हौं, मैं आकाशद्रव्य हौं, मैं कालद्रव्य हौं, मैं पुद्गलद्रव्य हौं, अन्य जीव भी मैं हौं, अैसैं भ्रम करि उपाधिसहित अपनां भया जो चैतन्यपरिणाम, तिस करि परिणमता संता, तिस उपाधिसहित चैतन्यपरिणामरूप जो अपनां भाव, ताका कर्त्ता होय है॥

अब कहते हैं कि इसी प्रकार अज्ञानी जीव, धर्म आदि अन्य द्रव्यों में भी आत्मविकल्प करता है —

तिविहो एसुवओगो, अप्पवियप्पं[२] करेदि धम्मादी।
कत्ता तस्सुवओगस्स, होदि सो अत्तभावस्स॥ ९५॥

'मैं धर्म आदि' विकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे।
तब जीव उस उपयोगमय, आत्मभाव का कर्ता बने॥ ९५॥

अर्थ – यह तीन प्रकार का उपयोग, धर्म आदि द्रव्यरूप आत्मविकल्प करता है, उन्हें अपना जानता है; इसलिए वह उस उपयोगरूप अपने भाव का कर्ता होता है॥ ९५॥

टीका – यह सामान्य से अज्ञानरूप सविकार चैतन्यपरिणाम ही मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति – ऐसे तीन प्रकार का है; यह [उपयोग], जब पर और अपना परस्पर विशेष (अन्तर) नहीं देखने से, अविशेष जानने से और अविशेष रति करने से समस्त भेदों को छिपा कर, ज्ञेय-ज्ञायकभाव को प्राप्त धर्म आदि द्रव्यों में अपना और उनका एक आधारमय अनुभव करते हुए ऐसा मानता है कि 'मैं धर्मद्रव्य हूँ, मैं अधर्मद्रव्य हूँ, मैं आकाशद्रव्य हूँ, मैं कालद्रव्य हूँ, मैं पुद्गलद्रव्य हूँ और अन्य जीव भी मैं हूँ' – ऐसे भ्रम के कारण उपाधिसहित अपने चैतन्यपरिणामरूप परिणमन करता हुआ, उस

---

१. *चैतन्यपरिणाम सो ही* - 'ब' प्रति पाठ
२. *अस्सवियप्पं* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

॥ भावार्थ॥ यह आत्मा, अज्ञान तैं धर्म आदि द्रव्य विषै भी आपा मानैं है सो तिस अपनां अज्ञानरूप चैतन्यपरिणाम का भी[१] आप कर्त्ता होय है॥

इहां कोई पूछै, पुद्गल अर अन्यजीव तौ प्रवृत्ति मैं दीषैं, तिनि विषै तौ अज्ञान तैं आपा माननां समझे। वहुरि धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य आकाशद्रव्य कालद्रव्य तौ दृष्टिगोचर नाही, तिनि विषै आपा माननां कहा॥[२]

ताका समाधान जो धर्म आदि का भी लक्षण अनुभवन मैं आवै है। तहां धर्म अधर्म का तौ गतिहेतुपणां स्थितिहेतुपणां है, तिनिकूं गमन करनां, तिष्ठनां जातैं होय, तिस विषै ममत्ववुद्धि होय है। वहुरि आकाश का अवगाहरूप क्षेत्र विषै ममत्व होय है अर काल का समय मुहूर्त आदि मैं मरनां जीवनां आदि कार्य होय, तिस विषैं ममत्ववुद्धि होय है, अैसैं जाननां॥

आगैं कहै है जो इस हेतु तैं कर्त्तापणां का मूल अज्ञान ठहरया।

एवं पराणि दव्वाणि, अप्पयं कुणइ[३] मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं पि य परं, करेइ अण्णाणभावेण॥ २८॥

एवं पराणि द्रव्याणि, आत्मानं[४] करोति मन्दबुद्धिस्तु।
आत्मानमपि च परं, करोति अज्ञानभावेन[५]॥ छ॥

उपाधिसहित चैतन्यपरिणामरूप अपने भाव का कर्ता होता है।

भावार्थ – यह आत्मा, अज्ञान से धर्म आदि द्रव्यों में भी अपनापन मानता है; अत: उस अपने अज्ञानरूप चैतन्यपरिणाम का भी स्वयं कर्ता होता है।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है कि पुद्गल और अन्य जीवों की तो प्रवृत्ति दिखती है, इसलिए उनमें तो अज्ञान के कारण अपनापन मानना समझ में आता है परन्तु धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य तो दृष्टिगोचर हैं नहीं; अत: उनमें अपनापन मानना कैसे सम्भव है?

उसका समाधान – धर्मद्रव्य आदि के लक्षण भी अनुभव में आते हैं। जैसे, धर्म और अधर्म का लक्षण तो गतिहेतुत्व और स्थितिहेतुत्व है अर्थात् उन जीवों तथा पुद्गलों का गमन करना और ठहरना, जिनके निमित्त से होता है, उनमें ममत्वबुद्धि होती है; इसी प्रकार आकाश के अवगाहनरूप क्षेत्र में भी ममत्व होता है और काल के समय, मुहूर्त आदि में मरना-जीना आदि कार्य होते हैं, अत: उनमें भी ममत्वबुद्धि होती है – ऐसा जानना चाहिए।

अब कहते हैं कि इस हेतु से कर्तृत्व का मूल कारण अज्ञान सिद्ध हुआ —

एवं पराणि दव्वाणि, अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं, करेदि अण्णाणभावेण॥ ९६॥

---

१. *का* - 'ब' प्रति पाठ
२. *कह्या सो कैसे* - 'ब' प्रति पाठ
३. *कुणय* - 'अ' प्रति पाठ
४. *द्रव्याण्यात्मानं* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ
५. *करोत्यज्ञानभावेन* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ अैसैं पूर्वोक्त प्रकार मंदवुद्धी अज्ञानी है सो अज्ञानभाव करि परद्रव्यनि कूं आपा करै है, वहुरि आप कूं पर करै है॥ छ॥

॥ टीका ॥ जो प्रगटपणैं यह आत्मा, मैं क्रोध हौं इत्यादिवत्, वहुरि मैं धर्मद्रव्य हौं इत्यादिवत्, पूर्वोक्त प्रकार परद्रव्यनि कूं आपा करै है अर आत्मा कूं परद्रव्यरूप करै है॥ सो यह आत्मा यद्यपि समस्त वस्तु का संवंध सूं रहित अमर्यादरूप शुद्ध चैतन्यधातुमयी है, तौऊ अज्ञान तैं सविकार सोपाधिरूप कीया जो अपनां चैतन्यपरिणाम, तिसपणां करि तिस प्रकार का अपनां परिणाम का कर्त्ता प्रतिभासै है॥ अैसैं आत्मा कै भूताविष्ट पुरुष की ज्यों तथा ध्यानाविष्ट पुरुष की ज्यों कर्त्तापणां का मूल अज्ञान प्रतिष्ठित भया, प्रगटपणैं ठहरया॥ सो ही प्रगट दृष्टांत करि दिषावै है।

जैसैं कोई पुरुष भूताविष्ट भया, अपनां शरीर मैं भूत प्रवेश कीया॥ सो वह पुरुष अज्ञान तैं भूत कूं अर आप कूं एकरूप करता संता जैसी मनुष्य कै योग्य चेष्टा न होय, तैसी करनें लगा, तिस चेष्टा का आलंवनरूप अति भयकारी आरंभ करि भरया अमानुष व्यवहारपणां करि तिस प्रकार चेष्टारूप भाव का कर्त्ता प्रतिभासै है॥ तैसैं ही यह आत्मा भी अज्ञान ही तैं पर अर आत्मा कूं भाव्यभावकरूप एक करता संता निर्विकार अनुभूतिमात्र भावक कै अयोग्य अनेक प्रकार भाव्यरूप क्रोधादि विकार करि मिल्या चैतन्य का विकारसहित परिणामपणां करि तिस प्रकार के भाव का कर्त्ता प्रतिभासै है।

यह मन्दबुद्धि जीव यों, परद्रव्य को निजरूप करे।
इस भाँति से निज आत्म को, अज्ञान से पररूप करे॥ ९६॥

अर्थ – इस तरह पूर्वोक्त रीति से मन्दबुद्धि अज्ञानी, अज्ञानभाव से परद्रव्यों को आत्मा और आत्मा को पर करता है॥ ९६॥

टीका – प्रगटरूप से यह आत्मा, 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि और 'मैं धर्मद्रव्य हूँ' इत्यादि की तरह पूर्वोक्त प्रकार से परद्रव्यों को आत्मा और आत्मा को परद्रव्यरूप करता है। यद्यपि यह आत्मा, समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित अमर्यादित शुद्ध चैतन्यधातुमयी है, तथापि अज्ञान के कारण सविकार सोपाधिरूप किये गए अपने चैतन्यपरिणाम से उस प्रकार के अपने परिणाम का कर्ता प्रतिभासित होता है। इस प्रकार आत्मा में भूताविष्ट और ध्यानाविष्ट पुरुष के समान कर्तृत्व का मूल अज्ञान प्रतिष्ठित होता है अर्थात् प्रगटरूप से निश्चित होता है। इसी को दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट समझाते हैं —

जिस प्रकार कोई पुरुष भूताविष्ट हुआ, उसके अपने शरीर में भूत ने प्रवेश किया; तब वह अज्ञान से भूत को और स्वयं को एकरूप करता हुआ, मनुष्य के अयोग्य चेष्टाएँ करने लगा, उन चेष्टाओं के आलम्बन से वह पुरुष, अत्यन्त भयङ्कर आरम्भ से युक्त अमानवीय व्यवहार के कारण उस प्रकार की चेष्टारूप भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है। उसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञान ही के कारण पर और आत्मा को भाव्य-भावकरूप से एक करता हुआ, निर्विकार अनुभूतिमात्र भावक के अयोग्य, अनेक प्रकार के भाव्यरूप क्रोधादि विकारों से मिले हुए चैतन्य के विकारसहित परिणामों के कारण उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।

वहुरि जैसैं कोई भोला पुरुष अपरीक्षक आचार्य का उपदेश करि भैंसे का ध्यान करनें लगा॥ सो अज्ञान तैं भैंसे कूं अर आप कूं एकरूप करता, आपकै विषै अभ्रंकष कहिये वादल कूं स्पर्शते भेदते सींग जाकै, अैसा महान् वडा भैंसापणां का अध्यास तैं मनुष्य के योग्य जो ओवरीकुटी का द्वार तैं नीसरणां, तिसतैं च्युत भया तिस प्रकार के भाव का कर्त्ता प्रतिभासै है॥ तैसैं ही यह आत्मा भी अज्ञान तैं ज्ञेयज्ञायक जे पर अर आत्मा, तिनिकूं एकरूप करता आत्मा कै विषै परद्रव्य के अध्यास निश्चय तैं मन के विषयरूप कीये धर्म अधर्म आकाश काल पुद्गल अन्य जीवद्रव्य, तिनि करि रुकी जो शुद्ध चैतन्यधातु, तिसपणां करि तथा इंद्रियनि के विषयरूप कीये जे रूपी पदार्थ, तिनि करि तिरोहित कीया, ढक्या गया जो अपनां केवल एक ज्ञान, तिसपणां करि तथा मृतक शरीर विषै मूर्छित भया परम अमृतरूप विज्ञानघन आत्मा, तिसपणां करि तिस प्रकार के भाव का कर्त्ता प्रतिभासै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ यह आत्मा अज्ञान तैं क्रोधादिक कूं तौ भाव्यभावकसंवंध तैं आपतैं एकरूप मानैं है अर धर्म आदि द्रव्य ज्ञेयरूप हैं, तिनिकूं आपतैं एक करि मानैं है सो जैसा आप का भाव होय है, तिस भाव का कर्त्ता होय है। तहां क्रोधादिक तैं एक माननें का तौ भूताविष्ट पुरुष का दृष्टांत है॥ वहुरि धर्म आदि अन्य द्रव्य तैं एकता माननें का ध्यानाविष्ट पुरुष का दृष्टांत है॥ छ॥

आगैं कहै है जो इस ही कारण तैं यह ठहरया जो ज्ञान तैं कर्तापणां का नाश होय है॥

एदेण दु सो कत्ता, आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि, सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं॥ २९॥

इसी प्रकार जैसे कोई भोला पुरुष, [विचारशून्य] अपरीक्षक आचार्य के उपदेश से भैंसे का ध्यान करने लगा, तब वह अज्ञान से भैंसे और स्वयं को एकरूप करता हुआ, अपने को **अभ्रंकष** अर्थात् बादलों को भेदनेवाले गगनस्पर्शी विशाल सींगयुक्त भैंसे के भ्रम से मनुष्य के योग्य छोटी कुटी के द्वार से बाहर निकलने से च्युत होकर, उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है। उसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञान से ज्ञेय और ज्ञायकरूप, [क्रमशः] पर और आत्मा को एकरूप करता हुआ, आत्मा में परद्रव्य के भ्रमपूर्ण निश्चय से मन के विषयभूत धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवद्रव्यों में रुकी हुई शुद्ध चैतन्यधातु के कारण, इन्द्रियों के विषयभूत रूपी पदार्थों में तिरोहित या ढँके हुए अपने केवल एक ज्ञानस्वभाव के कारण तथा मृतक शरीर में मूर्च्छित परम अमृतस्वरूप विज्ञानघनस्वरूप आत्मा के कारण उस प्रकार के भावों का कर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ – यह आत्मा, अज्ञान से भाव्य-भावकसम्बन्ध के कारण क्रोधादि को और धर्म आदि ज्ञेयरूप द्रव्यों को स्वयं से एकरूप मानता है; उसके कारण जैसा अपना भाव होता है, उस भाव का कर्ता होता है। यहाँ [टीका में] क्रोधादि से स्वयं को एक मानने के सन्दर्भ में तो भूताविष्ट पुरुष का दृष्टान्त दिया है और धर्म आदि अन्य द्रव्यों से स्वयं को एक मानने के सन्दर्भ में ध्यानाविष्ट पुरुष का दृष्टान्त दिया है।

अब कहते हैं कि इसलिए यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान से कर्तापने का नाश होता है —

एतेन तु स कर्तात्मा, निश्चयविद्भिः परिकथितः।
एवं खलु यो जानाति, स मुञ्चति सर्वकर्तृत्वम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ इस पूर्वोक्त कारण तैं निश्चयनय के जाननेंवाले ज्ञानी हैं, तिनिनैं सो पूर्वोक्त प्रकार आत्मा कूं कर्त्ता कह्या, तिस प्रकार कूं जो जानै है, ज्ञानी होय है, सो सर्व कर्त्तापणां कूं छोड़ै है॥ छ॥

॥ टीका॥ जा कारण करि यह आत्मा, अज्ञान तैं पर कै अर आत्मा कै एकपणां का विकल्प करै है॥ तिस कारण करि निश्चय तैं कर्त्ता प्रतिभासै है॥ अैसैं जो जानैं है सो समस्त कर्त्तापणां कूं छोड़े है॥ तातैं सो अकर्त्ता प्रतिभासै है॥ सो ही प्रगट करि कहै है॥

इस जगत विषै यह आत्मा, प्रगट अज्ञानी भया संता अज्ञान तैं अनादि संसार तैं लगाय पुद्गलकर्म का अर आपका भाव का मिल्या हुआ आस्वाद का स्वाद लेनें करि मुद्रित भयी है अपनां जुदा अनुभवन की शक्ति जाकी, अैसा अनादि ही तैं है॥ तातैं पर कूं अर आप कूं एकपणां करि जानैं है॥ तातैं मैं क्रोध हौं, इत्यादिक विकल्प आप कै करै है॥ तातैं निर्विकल्परूप अकर्तृम एक जो अपनां विज्ञानघनस्वभाव तातैं भ्रष्ट भया संता वारवार अनेक विकल्पनि करि परिणमता संता कर्त्ता प्रतिभासै है॥

वहुरि ज्ञानी होय, तव सम्यक्ज्ञान तैं तिस सम्यग्ज्ञान कूं आदि लगाय करि प्रसिद्ध भया जो

एदेण दु सो कत्ता, आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि, सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं॥ ९७॥

इस हेतु से परमार्थविद्, कर्ता कहें इस आत्म को।
यह ज्ञान जिसको होय वह, छोड़े सकल कर्तृत्व को॥ ९७॥

अर्थ – इस पूर्वोक्त कारण से निश्चयनय के जाननेवाले ज्ञानियों ने उस आत्मा को इस प्रकार कर्ता कहा है; अतः ऐसा जो जानता है, वह ज्ञानी सर्व कर्तृत्व को छोड़ता है॥ ९७॥

टीका – जिस कारण से यह आत्मा, अज्ञान से पर और आत्मा के एकपने का विकल्प करता है, उस कारण से निश्चय से कर्ता प्रतिभासित होता है तथा जो ऐसा जानता है, वह समस्त कर्तृत्व को छोड़ता है; अतः वह अकर्ता प्रतिभासित होता है। इसे ही स्पष्ट करके समझाते हैं —

इस जगत् में यह आत्मा, प्रगट अज्ञानी होता हुआ अज्ञान के कारण अनादि संसार से अब तक पुद्गलकर्म और स्वयं के भाव, दोनों के मिले हुए आस्वाद का अनुभव करने से, जिसकी अपने को भिन्न अनुभव करने की शक्ति मुद्रित हो गई है, ढँक गई है – ऐसा अनादि से ही है; इसलिए पर और स्व को एकरूप जानता है, इस कारण 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि विकल्प स्वयं करता है, अतः अपने निर्विकल्परूप अकृत्रिम एक विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट होकर, बारम्बार अनेक विकल्पों में परिणमता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है।

जब वही आत्मा, ज्ञानी होता है, तब सम्यग्ज्ञान के कारण उस सम्यग्ज्ञान के प्रारम्भ से ही

पुद्गलकर्म के स्वाद तैं अपनां भिन्न स्वाद, तिसका आस्वादन करि उघडी है भेद के अनुभव की शक्ति जाकै, अैसा होय है॥ तव अैसा जानैं है जो अनादिनिधन निरंतर स्वाद में आवता समस्त अन्य रस स्वादनि तैं विलक्षण भिन्न अत्यन्त मधुरा मींठा जो एक चैतन्यस्वरूप रस, तिस स्वरूप तौ यह आत्मा है। वहुरि कषाय यातैं भिन्न रस हैं, कसायले वेस्वाद हैं, तिनि करि सहित जो एकपणां का विकल्प करणां है सो अज्ञान तैं है।

अैसैं इस प्रकार पर कूं अर आत्मा कूं न्यारे न्यारे नानापणां करि जानैं है॥ तातैं अकर्तृम नित्य एक ज्ञान ही मैं हौं, वहुरि कर्तृम अनित्य अर अनेक जे ए क्रोधादिक ते मैं नाहीं हौं, अैसैं जानैं, तव क्रोधादिक मैं हौं, इत्यादि विकल्प आपकै किंचित्मात्र भी नाही करै है॥ तातैं समस्त ही कर्त्तापणां कूं छोड़ै है॥ तातैं सदा ही उदासीन वीतराग अवस्थास्वरूप होय जानता संता ही तिष्टै है॥ तातैं निर्विकल्प स्वरूप अकर्तृम नित्य एक विज्ञानघन भया संता अत्यन्त अकर्त्ता प्रतिभासै है॥

॥ भावार्थ॥ जो परद्रव्य का अर परद्रव्य के भावनि का अपनें कर्त्तापणां कूं अज्ञान जानैं, तव आप कर्त्ता काहे कूं वणैं, अज्ञानी रहनां होय तौ परद्रव्य का कर्त्ता वणैं, तातैं ज्ञान भयें पीछैं परद्रव्य का कर्तापणां न रहै॥ छ॥

अव इस ही अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ वसन्ततिलका॥

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी,
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।

प्रसिद्ध हुए पुद्गलकर्म के स्वाद से भिन्न अपने स्वाद के अनुभवन से, जिसकी भेद का अनुभव करने की शक्ति प्रगट हो गई है – ऐसा होता है, तब वह ऐसा जानता है कि अनादिनिधन निरन्तर स्वाद में आता हुआ समस्त अन्य रसों के आस्वादों से विलक्षण या भिन्न, अत्यन्त मधुर-मीठा एक चैतन्यस्वरूप रसमय तो यह आत्मा है और उससे भिन्न रसवाली, कषायली और स्वादरहित कषायें हैं; अतः उनमें एकत्व का विकल्प करना, अज्ञान के कारण है।

इस प्रकार ज्ञानी, पर और आत्मा को भिन्न-भिन्न अर्थात् नानारूप से जानता है; अतः वह **'अकृत्रिम, एक, नित्य, ज्ञान ही मैं हूँ और कृत्रिम, अनित्य एवं अनेक क्रोधादि हैं, वे मैं नहीं हूँ'** – ऐसा जानता हुआ 'मैं क्रोधादि हूँ' इत्यादि विकल्प अपने में किञ्चित्मात्र भी नहीं करता है। ऐसे समस्त ही कर्तापने को छोड़ता है और सदा ही उदासीन वीतराग अवस्थास्वरूप होकर ज्ञाता ही रहता है; इसलिए वह निर्विकल्प, अकृत्रिम, नित्य, एक, विज्ञानघन होता हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ – जो परद्रव्य और परद्रव्य के भावों के प्रति अपने कर्तृत्व को अज्ञान जानता है, **वह स्वयं उनका कर्ता क्यों बनेगा?** – यदि उसे अज्ञानी रहना हो तो परद्रव्य का कर्ता बने। इस प्रकार ज्ञान हो जाने के बाद परद्रव्य का कर्तृत्व नहीं रहता है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं –

पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या,
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम्॥ १२॥

॥ अर्थ॥ जो पुरुष आप निश्चय तैं ज्ञानस्वरूप होता संता भी अज्ञान तैं तृणसहित अन्न आदिक सुन्दर आहार कूं मिल्या हूवा खानेंवाला हस्ती आदि तिर्यंच की ज्यों होय, प्रसन्न होय है सो कहा करै है। ताका दृष्टांत कहै है॥ जैसैं कोई रसाल कहिये शिषरणि कूं पीय करि तिस के दही मींठे का मिल्या हूवा खाटा मींठा रस, तिसकी अति चाहि करि तिसका रसभेद कूं न जानि करि, दूध कै अर्थि गऊ कूं दोहै है॥

॥ भावार्थ॥ कोई पुरुष शिषरणि पीय करि, ताके स्वाद की अति चाहि तैं रस का ज्ञान विनां अैसा जान्यां जो यह गऊ का दूध मैं स्वाद है सो गऊ कूं अतिलुब्ध होय दोहै, तैसैं अज्ञानी पुरुष आपा पर का भेद न जानि, विषयनि मैं स्वाद जानि, पुद्गलकर्म कूं अतिलुब्ध होय ग्रहण करै है, अपनां ज्ञान का अर पुद्गलकर्म का स्वाद भिन्न नाही अनुभवै है। तिर्यंच की ज्यों अन्न कूं घास मैं मिल्या एक स्वाद ले है॥ छ॥

॥ कुण्डलिया॥

नाज सम्मिलित घास को, ज्यों खावे गजराज।
भिन्न स्वाद जाने नहीं, समझे मीठी घास॥
समझे मीठी घास, नाज को ना पहिचाने।
त्यों अज्ञानी जीव, निजातम स्वाद न जाने॥
पुण्य-पाप में धार, एकता शून्य हिया है।
अरे! शिखरणी पी, माने गो-दूध पिया है॥५७॥

अर्थ – जो पुरुष निश्चय से स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी अज्ञान के कारण तृणमिश्रित अन्न आदि सुन्दर आहार को, मिला हुआ खानेवाले हाथी आदि तिर्यञ्चों की तरह खाकर प्रसन्न होता है।

वह क्या करता है? – उसका दृष्टान्त कहते हैं – जिस प्रकार कोई रसाल अर्थात् शिखरणी को पीकर उसके दही एवं शक्कर के मिले हुए खट्टे-मीठे रस की अतिचाह के कारण, उसके रस-भेद (विशेष स्वाद) को न जान कर [दूध को ही शिखरणी के समान खट्टा-मीठा मान कर] दूध के लिए गाय को दुहता है।

भावार्थ – जैसे, कोई पुरुष शिखरणी को पीकर उसके स्वाद की अतिचाह से, रस के ज्ञान बिना, ऐसा जानता है कि यह स्वाद गाय के दूध में है, इसलिए अतिलुब्ध होकर गाय को दुहता है; उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष अपने और पर के भेद को जाने बिना विषयों में स्वाद जान कर, पुद्गलकर्म को अतिलुब्ध होकर ग्रहण करता है तथा अपने ज्ञान और पुद्गलकर्म के स्वाद को भिन्न-भिन्न अनुभव किए बिना तिर्यञ्च की तरह अन्न और घास के मिले हुए एक स्वाद को ग्रहण करता है।

फेरि कहै है, जो अैसैं अज्ञान तैं पुद्गलकर्म का कर्त्ता होय है।

॥ शार्दूलविक्रीड़ित ॥

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगाः,
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाऽध्यासेन रज्जौ जनाः।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी, कर्त्रीभवन्त्याकुलाः॥ १३॥

॥ अर्थ॥ ए लोक के जन हैं, ते निश्चय करि शुद्ध एक ज्ञानमयी हैं, तौऊ आप अज्ञान तैं व्याकुल होय परद्रव्य का कर्त्तारूप होय हैं। जैसैं पवन करि कल्लोलनि सहित समुद्र होय है, तैसैं विकल्पनि के समूह करैं हैं, यातैं कर्त्ता वणैं हैं। देषो, अज्ञान ही तैं मृग हैं, ते भाडली कूं जल जाणि पीवनें कूं दौड़ै हैं॥ वहुरि अज्ञान ही तैं लोक अंधकार में जेवडे विषै सर्प का निश्चय करि भय करि भागै हैं॥

॥ भावार्थ॥ अज्ञान तैं कहा कहा न होय। मृग तौ भाडली कूं जल जानि पीवनें कूं दौडि खेदखिन्न होय है॥ लोक अंधारे मैं जेवडे कूं सर्प मानि डर करि भागै हैं॥ अैसैं ही यह आत्मा, जैसैं वात करि समुद्र क्षोभरूप होय, तैसैं अज्ञान करि अनेक विकल्पनि तैं क्षोभरूप होय है। सो परमार्थ तैं शुद्धज्ञानघन है, तौऊ अज्ञान तैं कर्त्ता होय है॥ छ॥

पुनः कहते हैं कि ऐसे अज्ञान के कारण पुद्गलकर्म का कर्ता होता है —

॥ हरिगीतिका ॥

अज्ञान से ही भागते मृग, रेत को जल जान कर।
अज्ञान से ही डरें तम में, रस्सी विषधर मान कर॥
ज्ञानमय है जीव पर अज्ञान के कारण अहो!।
वातोद्वेलित उदधिवत्, कर्ता बने आकुलित हो॥ ५८॥

अर्थ – यद्यपि लौकिकजन भी निश्चय से शुद्ध एक ज्ञानमयी हैं, तथापि स्वयं अज्ञान से व्याकुलित होकर परद्रव्य के कर्तारूप होते हैं। जैसे, हवा के कारण समुद्र कल्लोलों सहित होता है, वैसे ही [यह जीव] अनेक विकल्पों को करता है, इसलिए कर्ता बनता है। देखो, अज्ञान ही के कारण हिरण, बालू में दिखनेवाली मरीचिका को जल समझ कर पीने को दौड़ता है एवं अज्ञान ही के कारण लोग अन्धकार में, रस्सी में सर्प का निश्चय करके भय से भागते हैं।

भावार्थ – अज्ञान से क्या-क्या नहीं होता? – जैसे, हिरण तो मरीचिका को जल जान कर, पीने के लिए दौड़-दौड़ कर खेद-खिन्न होता है; जैसे, अन्धेरे में रस्सी को सर्प मान कर, डर कर लोग भागते हैं तथा जैसे, पवन के कारण समुद्र क्षोभरूप होता है। उसी प्रकार यह आत्मा, अज्ञान के कारण अनेक प्रकार से क्षोभरूप होता है। यद्यपि यह (आत्मा), परमार्थ से शुद्ध ज्ञानघन है, तथापि अज्ञान से कर्ता होता है।

फेरि कहै है, ज्ञान तैं कर्त्ता न होय है॥

॥ वसन्ततिलका॥

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाः पयसोर्विशेषम्।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो,
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि॥ १४॥

॥ अर्थ॥ जो पुरुष, ज्ञान तैं बहुरि विवेकी, भेदज्ञानीपणां तैं पर का अर आत्मा का विशेष करि भेद जानै है। जैसैं हंस दूध जल मिले हुए हैं, तौऊ तिनिका भेद करि ग्रहण करै है, तैसैं सो पुरुष चैतन्यधातु अचल कूं सदा आश्रय करता संता जानैं ही है, ज्ञाता ही है, किछू भी नाही करै है॥

॥ भावार्थ॥ आपा पर का भेद जानै है सो ज्ञाता ही है, कर्त्ता नाहीं है॥ छ॥

आगैं कहै है जो जानिये है सो ज्ञान ही तैं जानिये है॥

॥ मन्दाक्रान्ता॥

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था,
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः।
ज्ञानादेव स्वरसविकस[१]न्नित्यचैतन्यधातोः,
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम्॥ १५॥

पुनः कहते हैं कि ज्ञान से कर्ता नहीं होता है —

॥ हरिगीतिका॥

दूध-जल में भेद जाने, ज्ञान से बस! हंस ज्यों।
सद्ज्ञान से अपना-पराया, भेद जाने जीव त्यों॥
जानता तो है सभी, करता नहीं कुछ आतमा।
चैतन्य में आरूढ़ नित ही, यह अचल परमातमा॥ ५९॥

अर्थ – यह पुरुष (आत्मा), ज्ञान के कारण विवेकीपने अर्थात् भेदज्ञानीपने से पर और अपनी आत्मा का विशेषरूप से भेद जानता है। जैसे हंस, दूध और जल को मिले हुए होने पर भी अलग-अलग करके ग्रहण करता है; वैसे ही यह पुरुष (आत्मा), अचल चैतन्य धातु का सदा आश्रय करता हुआ जानता ही है, ज्ञाता ही है, कुछ भी करता नहीं है।

भावार्थ – जो स्व-पर का भेद जानता है; वह ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं है।

अब कहते हैं कि जो कुछ भी जाना जाता है, वह ज्ञान ही से जाना जाता है —

---

१. *विकशन्* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ अग्नि की अर जल की उष्णपणां की अर शीतपणां की व्यवस्था है सो ज्ञान ही तैं जानिये है॥ वहुरि लवण का अर व्यंजन का स्वाद का भेद है सो ज्ञान ही तैं जानिये है॥ वहुरि अपनें रस करि विकाशरूप होता जो नित्य चैतन्यधातु, ताका अर क्रोधादिक भाव का भेद है सो भी ज्ञान ही तैं जानिये है।

कैसा है यह भेदज्ञान[१]। कर्त्तापणां का भाव है, ताकूं भेदरूप कर्त्ता संता प्रगट होय है॥ छ॥

फेरि कहै है जो आत्मा कर्त्ता होय है, तौऊ अपनें ही भाव का है।

॥ अनुष्टुभ्॥

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं, कुर्वन्नात्मानमञ्जसा।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य, परभावस्य न क्वचित्॥ १६॥

॥ अर्थ ॥ अैसैं अज्ञानरूप भी तथा ज्ञानरूप भी आत्मा ही कूं करता संता आत्मा प्रगटपणैं अपनें

॥ अडिल्ल॥

उष्णोदक में उष्णता है अग्नि की,
और शीतलता सहज ही नीर की।
व्यञ्जनों में है नमक का क्षारपन,
ज्ञान ही यह जानता है विज्ञजन।
क्रोधादिक के कर्तापन को छेदता,
अहंबुद्धि के मिथ्यातम को भेदता।
इसी ज्ञान में प्रगटे निज शुद्धात्मा,
अपने रस से भरा हुआ यह आतमा॥ ६०॥

अर्थ – जैसे, अग्नि की उष्णता और जल की शीतलता की व्यवस्था, ज्ञान ही से जानी जाती है तथा लवण और व्यञ्जन के स्वाद का भेद भी ज्ञान ही से जाना जाता है; इसी प्रकार अपने रस से विकासरूप नित्य चैतन्यधातु और क्रोधादिभावों का भेद भी ज्ञान ही से जाना जाता है।

कैसा है यह भेदज्ञान? – कर्तृत्व के भाव को भेदरूप करता हुआ प्रगट होता है।

फिर कहते हैं कि यद्यपि आत्मा कर्ता होता है परन्तु वह अपने ही भावों का होता है —

॥ सोरठा॥

करे निजातम भाव, ज्ञान और अज्ञानमय।
करे न पर के भाव, ज्ञानस्वभावी आतमा॥ ६१॥

---

१. भेद - 'ब' प्रति पाठ

ही भाव का कर्त्ता है, परभाव का कर्त्ता तौ कहूं ही नाही है॥ छ॥

आगैं, अगिली गाथा की सूचनिकारूप श्लोक है॥ छ॥

॥ अनुष्टुभ्॥

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं, ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा, मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥ १७॥

॥ अर्थ॥ आत्मा ज्ञानस्वरूप है सो आप ज्ञान ही है॥

ज्ञान तैं अन्य कूं कौन कूं करै। काहू कूं न करै। वहुरि परभाव का कर्त्ता आत्मा है, यह माननां तथा कहनां है सो व्यवहारी जीवनि कै मोह है, अज्ञान है॥ छ॥

आगैं, सो ही कहै है जो व्यवहारी जीव ऐसैं कहै है॥ छ॥

ववहारेण दु आदा, करेदि घडपडरधाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य, णोकम्माणीह विविहाणि॥ ३०॥

व्यवहारेण त्वात्मा, करोति घटपटरथान् द्रव्याणि।
करणानि च कर्माणि च, नोकर्माणीह विविधानि॥ छ॥

अर्थ – इस प्रकार अज्ञानरूप भी तथा ज्ञानरूप भी, आत्मा ही को करता हुआ, आत्मा प्रगटरूप से अपने ही भावों का कर्ता है, परभाव का कर्ता तो कभी भी नहीं है।

अब, आगामी गाथा की सूचनिकारूप श्लोक कहते हैं –

ज्ञानस्वभावी जीव, करे ज्ञान से भिन्न क्या?
कर्ता पर का जीव, जगत्-जनों का मोह यह॥ ६२॥

अर्थ – आत्मा, ज्ञानस्वरूप है; अत: वह स्वयं ज्ञान ही है।

ज्ञान के अतिरिक्त क्या करे? – कुछ भी नहीं करे। आत्मा परभावों का कर्ता है – यह मानना और कहना, व्यवहारी जीवों का मोह है, अज्ञान है।

अब, वही कहते हैं कि व्यवहारी जीव ऐसा कहते हैं –

ववहारेण दु आदा[1], करेदि घडपडरधाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य, णोकम्माणीह विविहाणि॥ ९८॥

घट-पट-रथादिक वस्तुएँ, कर्मादि अरु सब इन्द्रियाँ।
नोकर्म विध-विध जगत् में, आत्मा करे व्यवहार से॥ ९८॥

---

१. *एवं* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

॥ अर्थ ॥ आत्मा व्यवहार करि घट पट रथ, इनि वस्तुनि कूं करै है॥ वहुरि इंद्रियादिक करण पदार्थ हैं, तिनिकूं करै है॥ वहुरि ज्ञानावरणादि तथा क्रोधादिक द्रव्यकर्म भावकर्मनि कूं करै है॥ वहुरि शरीर आदि अनेक प्रकार के नोकर्मनि कूं करै है॥ छ॥

॥ टीका ॥ जातैं व्यवहारी जीवनि कै यह आत्मा, जैसैं अपनें विकल्प अर व्यापार, इनि दोऊनि करि घट आदि परद्रव्यस्वरूप वाह्यकर्म करता संता प्रतिभासै है॥ तातैं तैसैं ही क्रोधादिक परद्रव्य-स्वरूप समस्त ही अंतरंगकर्म कूं करै है। जातैं दोऊ परद्रव्यस्वरूप हैं, इनिके करनें मैं विशेष नाही॥ अैसैं व्यवहारी जीवनि कै व्यामोह[१] है, अज्ञान है॥

॥ भावार्थ ॥ परद्रव्यनि का कर्त्ता, आपकूं माननां, यह व्यवहार है सो परमार्थदृष्टि मैं यह अज्ञान है॥ छ॥

आगैं कहै है, यह व्यवहार का माननां परमार्थदृष्टि मैं भला नाही, सत्यार्थ नाही॥

जइ सो परदव्वाणि य, करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण, सो ण तेसिं हवदि कत्ता॥ ३१॥

यदि स परद्रव्याणि च, कुर्यात् नियमेन तन्मयो भवेत्।
यस्मान्न तन्मयस्तेन, स न तेषां भवति कर्ता॥ छ॥

अर्थ – आत्मा, व्यवहार से घट, पट, रथ आदि वस्तुओं को करता है; इन्द्रिय आदि करणरूप पदार्थों को करता है; ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मों और क्रोध आदि भावकर्मों को करता है तथा शरीर आदि अनेक प्रकार के नोकर्मों को करता है॥ ९८॥

टीका – जिस कारण से व्यवहारी जीवों को यह आत्मा, जैसे, अपने विकल्प और व्यापार – इन दोनों के द्वारा घट आदि परद्रव्यस्वरूप बाह्यकर्म को करता हुआ प्रतिभासित होता है; उसी कारण से वैसे यह आत्मा, क्रोधादि परद्रव्यस्वरूप अन्तरङ्ग कर्म को भी करता [हुआ प्रतिभासित होता] है क्योंकि दोनों ही परद्रव्यस्वरूप हैं और इनके करने में कोई अन्तर नहीं है – ऐसा व्यवहारी जीवों का व्यामोह है, अज्ञान है।

भावार्थ – स्वयं को परद्रव्यों का कर्ता मानना – यह व्यवहार है परन्तु वह परमार्थदृष्टि से अज्ञान है।

अब कहते हैं कि ऐसे व्यवहार का मानना परमार्थदृष्टि में भला नहीं है, सत्यार्थ नहीं है —

जदि सो परदव्वाणि य, करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता॥ ९९॥

---

१. *व्याप्त मोह* - 'ब' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ जो आत्मा परद्रव्यनि कूं करै तौ सो आत्मा, तिनि परद्रव्यनि तैं नियम करि तन्मय होय जाय॥ वहुरि तन्मय नाही होय है, तिस कारण करि तिनिका कर्त्ता नाही है॥ छ॥

॥ टीका ॥ जो निश्चय करि यह आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्म कूं करै तौ परिणामपरिणामीभाव की अन्यथा अप्राप्ति तैं नियम करि तन्मयी होय सो अैसैं होय नाही। जो अैसैं होय तौ अन्य द्रव्य तैं अन्य द्रव्य तन्मयी होनें तैं अन्य द्रव्य का उच्छेद होय, नाश होय। तातैं व्याप्यव्यापकभाव करि तौ तिस परद्रव्य का कर्त्ता आत्मा नाही है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य कर्त्ता होय, तौ न्यारे न्यारे द्रव्य काहे कूं रहैं, अन्य द्रव्य का नाश होय॥ यह वड़ा दोष आवै, तातैं अन्य द्रव्य का कर्त्ता अन्य द्रव्य कूं कहनां भला नाही॥ छ॥

आगैं, कोई जानैंगा कि व्याप्यव्यापकभाव करि तौ कर्त्ता नाही, तथापि निमित्तनैमित्तिकभाव करि तौ कर्त्ता होगा॥ ताकूं निषेधै है जो निमित्तनैमित्तिकभाव करि भी कर्त्ता नाही है॥ छ॥

जीवो ण करेइ घडं, णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवइ कत्ता॥ ३२॥

परद्रव्य को जीव जो करे, तो अवश्य वह तन्मय बने।
पर वह नहीं तन्मय हुआ, इससे न कर्ता जीव है॥ ९९॥

अर्थ – यदि आत्मा, परद्रव्यों को करे तो वह आत्मा, नियम से उन परद्रव्यों से तन्मय हो जाए परन्तु वह तन्मय होता नहीं है; इसलिए वह उनका कर्ता नहीं है॥ ९९॥

टीका – यदि निश्चय से यह आत्मा, परद्रव्यस्वरूप कर्म को करे तो परिणाम-परिणामीभाव की अन्यथा प्राप्ति नहीं होने से नियम से [वह परद्रव्य के साथ] तन्मय हो जाए, परन्तु ऐसा तो होता नहीं है। यदि ऐसा हो तो अन्य द्रव्य के साथ [दूसरे] अन्य द्रव्य के तन्मय होने से [एक] अन्य द्रव्य का उच्छेद हो जाएगा, नाश हो जाएगा; अतः व्याप्य-व्यापकभाव से तो उस परद्रव्य का कर्ता आत्मा नहीं है।

भावार्थ – अन्य द्रव्य का कर्ता [दूसरा] अन्य द्रव्य हो तो वे **द्रव्य भिन्न-भिन्न कैसे रहें?** – किसी एक द्रव्य का नाश होगा, यह बड़ा दोष आएगा; अतः [एक] अन्य द्रव्य का कर्ता अन्य [दूसरे] अन्य द्रव्य को कहना उचित नहीं है।

अब, कोई ऐसा जानेगा कि [एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का] व्याप्य-व्यापकभाव से तो कर्ता नहीं है, लेकिन निमित्त-नैमित्तिकभाव से तो कर्ता है तो उसका यहाँ निषेध करते हैं कि निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी [एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का] कर्ता नहीं है —

जीवो ण करेदि घडं, णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता॥ १००॥

जीवो न करोति घटं, नैव पटं नैव शेषकानि[१] द्रव्याणि।
योगोपयोगावुत्पादकौ, च तयोर्भवति कर्ता॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जीव है सो घट कूं नाही करै है, वहुरि पट कूं नाही करै है, वहुरि शेष जे वाकी सर्व ही द्रव्य हैं, तिनिकूं काहू ही कूं नाही करै है॥ जीव के योग अर उपयोग हैं, ते दोऊ तिनि घटादिक के उपजावनें कै उत्पादक निमित्त हैं अर जीव है सो तिनि योग उपयोगनि का कर्त्ता है॥ छ॥

॥ टीका॥ जो किछू घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप प्रगट कर्म देषिये है, तिनिकूं यह आत्मा व्याप्यव्यापकभाव करि तौ नाही करै है। जो अैसैं करै तौ तिनितैं तन्मयीपणां का प्रसंग आवै॥ वहुरि निमित्तनैमित्तिकभाव करि भी नाही करै है। जातैं अैसैं करै तौ सदा सर्व अवस्था मैं कर्त्तापणां का प्रसंग आवै॥

तौ इनि कर्मनि कूं कौंन करै है।

सो कहै है॥ जो इस आत्मा के योग, मन वचन काय के निमित्त तैं प्रदेशनि का चलनां अर उपयोग जो ज्ञान का कषायनि तैं उपयुक्त होनां, ए दोऊ अनित्य हैं, सर्व अवस्था मैं व्यापक नाही, ते तिनि घटादि कूं तथा क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप कर्म कूं निमित्तमात्र करि कर्त्ता कहिये है॥ वहुरि ते योग उपयोग हैं, ते योग तौ आत्मा के प्रदेशनि का चलनरूप व्यापार है अर उपयोग है सो आत्मा

जीव नहिं करे घट, पट नहीं, नहिं शेष द्रव्यों को करे।
उपयोग-योग निमित्त-कर्त्ता, जीव तत्कर्ता बने॥ १००॥

अर्थ – जीव, घट को नहीं करता, पट को नहीं करता, इसी तरह शेष सभी द्रव्यों में किसी को भी नहीं करता है क्योंकि जीव के योग और उपयोग, ये दोनों उन घट आदि को उत्पन्न करने में उत्पादक निमित्त हैं और जीव, उन योग-उपयोग का [उपादान] कर्ता है॥ १००॥

टीका – जो कुछ भी घट आदि और क्रोध आदि परद्रव्यस्वरूप प्रगट कर्म देखे जाते हैं, उनको यह आत्मा, व्याप्य-व्यापकभाव से तो करता ही नहीं है क्योंकि यदि वह ऐसा करे तो उसका उनसे तन्मयता का प्रसङ्ग आएगा तथा निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी नहीं करता है क्योंकि यदि वह ऐसा करे तो सदा सर्व अवस्थाओं में उसके कर्ता होने का प्रसङ्ग आएगा।

शङ्का – तो फिर इन कर्मों को कौन करता है?

समाधान – इस आत्मा के योग अर्थात् मन-वचन-काय के निमित्त से प्रदेशों का हिलना एवं उपयोग अर्थात् ज्ञान का कषायों से उपयुक्त होना – ये दोनों अनित्य हैं, सर्व अवस्थाओं में व्यापक नहीं हैं। ये योग-उपयोग, इन घट आदि तथा क्रोध आदि परद्रव्यस्वरूप कर्मों के निमित्तमात्र से कर्ता कहे गए हैं। यहाँ, योग-उपयोग में से योग तो आत्मा के प्रदेशों का हलन-चलनरूप व्यापार है तथा उपयोग, आत्मा का अर्थात् चैतन्य का रागादि विकल्परूप परिणाम है – इन दोनों का अर्थात् कदाचित्

१. *शेषकाणि* - अगास प्रकाशन एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ

को चैतन्य का रागादि विकल्परूप परिणाम है, तिनि दोऊनि का कदाचित् काल अज्ञान तैं इनिकूं करने तैं इनिका आत्मा कूं भी कर्त्ता कहिये है, परंतु परद्रव्यस्वरूप कर्म का तौ कर्त्ता कदाचित् भी नाही है॥

॥ भावार्थ॥ आत्मा के योग उपयोग तौ घटादि तथा क्रोधादिक कूं निमित्त हैं, तिनिकूं तौ तिनिका निमित्तकर्त्ता कहिये अर आत्मा कूं तिनिका कर्त्ता न कहिये अर आत्मा कूं योग उपयोग का कर्त्ता संसारावस्था मैं अज्ञान तैं कहिये॥ इहां तात्पर्य अैसा जो द्रव्यदृष्टि करि तौ कोई द्रव्य अन्य काहू द्रव्य का कर्त्ता नाही॥ वहुरि पर्यायदृष्टि करि कोई द्रव्य का पर्याय, कदा काल काहू अन्यद्रव्य के पर्याय कूं निमित्त होय है सो इस अपेक्षा अन्य के परिणाम, अन्य के परिणाम का निमित्तकर्त्ता कहिये। वहुरि परमार्थ तैं द्रव्य अपनें परिणाम का कर्त्ता है, अन्य के परिणाम का अन्यद्रव्य कर्त्ता नाही है, अैसा जाननां॥ छ॥

आगैं, अैसा कहै है जो ज्ञानी ज्ञान ही का कर्त्ता है॥ छ॥

जे पोग्गलदव्वाणं, परिणामा होंति णाणमावरणा।
ण करेदि ताणि आदा, जो जाणइ सो हवइ णाणी॥ ३३॥

ये पुद्गलद्रव्याणां, परिणामा भवन्ति ज्ञानावरणानि।
न करोति तान्यात्मा, यो जानाति स भवति ज्ञानी॥ छ॥

अज्ञान अवस्था में इनको करने के कारण आत्मा को भी उनका कर्ता कहा जाता है परन्तु [आत्मा] परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता तो कभी भी नहीं है।

भावार्थ – आत्मा के योग-उपयोग तो घट आदि तथा क्रोध आदि के निमित्त हैं; अत: उनको (योग-उपयोग को) तो उनका (घटादि और क्रोधादि का) निमित्तकर्ता कहा जा सकता है परन्तु आत्मा को तो उनका कर्ता नहीं कहा जा सकता है। आत्मा को संसार अवस्था में अज्ञान के कारण योग-उपयोग का कर्ता कहा जा सकता है। यहाँ तात्पर्य यह है कि द्रव्यदृष्टि से तो कोई भी द्रव्य, किसी भी अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है परन्तु पर्यायदृष्टि से किसी द्रव्य की पर्याय, किसी समय, किसी अन्य द्रव्य की पर्याय में निमित्त होती है; अत: इस अपेक्षा से अन्य (एक) के परिणाम को अन्य (दूसरे) के परिणाम का निमित्तकर्ता कहा जाता है। परमार्थ से द्रव्य अपने परिणाम का कर्ता है; अन्य (एक) के परिणाम का अन्य (दूसरा) द्रव्य, कर्ता नहीं होता है – ऐसा जानना चाहिए।

अब, ऐसा कहते हैं कि ज्ञानी, ज्ञान ही का कर्ता है —

जे पोग्गलदव्वाणं[1], परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा, जो जाणदि सो हवदि णाणी॥ १०१॥

---

१. *पुग्गलदव्वाणं* - तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ

॥ अर्थ ॥ जे ज्ञानावरण आदिक पुद्गलद्रव्यनि के परिणाम हैं॥ तिनिकूं आत्मा नाही करै है। जो जाने है सो ज्ञानी है॥ छ॥

॥ टीका ॥ जे निश्चय करि ज्ञानावरणरूप परिणाम हैं, ते जैसैं गोरस मैं व्याप्त दही दूध, मींठा षाटा परिणाम है, तैसैं पुद्गलद्रव्य तैं व्याप्तपणां करि होते संते पुद्गलद्रव्य ही के परिणाम हैं॥ तिनिकूं जैसैं गोरस कै निकट वैठा पुरुष, तिसके परिणाम कूं देषै जानै है, तैसैं आत्मा ज्ञानी तिनि पुद्गल के परिणामनि का ज्ञाता दृष्टा है, कर्त्ता नाही है।

तौ कहा है। जैसैं गोरस कूं गोरस कै निकट वैठा पुरुष, तिसकूं देषै है, तिस देषनेंरूप अपनें परिणाम तैं व्याप्तपणैं रूप होता संता है, तिसकूं व्याप्य करि देषै ही है॥ तैसैं ही पुद्गलपरिणाम है निमित्त जाकूं, अैसा अपनां ज्ञान, ताकूं आपतैं व्याप्यपणां करि होता कूं व्याप्य करि जानैं ही है। अैसैं ज्ञानी ज्ञान ही का कर्त्ता होय है॥ छ॥

अैसैं ही ज्ञानावरण पद कूं पलटि करि कर्मसूत्र का विभाग करि स्थापनें तैं दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र अंतराय, इनिके सूत्र सात करि, वहुरि तिनि करि सहित मोह राग द्वेष, क्रोध मान माया लोभ, नोकर्म, मन वचन काय, श्रोत्र चक्षु घ्राण रसन स्पर्शन, ए सोलह सूत्र व्याख्यानरूप करणें॥ वहुरि इस ही रीति करि अन्य भी विचारणें॥ छ॥

आगैं कहै है जो अज्ञानी है सो भी परद्रव्य के भाव का कर्त्ता नाही है॥

ज्ञानावरण आदिक सभी, पुद्गलदरब-परिणाम हैं।
करता नहीं आत्मा उन्हें, जो जानता वह ज्ञानि है॥ १०१॥

अर्थ – ज्ञानावरण आदि जो पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं; उनको जो आत्मा नहीं करता है, जानता है, वह ज्ञानी है॥ १०१॥

टीका – जैसे, गोरस में व्याप्त दूध-दही, मीठा-खट्टा आदि परिणाम हैं, वैसे निश्चय से ज्ञानावरणरूप परिणाम, पुद्गलद्रव्य से व्याप्त होने के कारण पुद्गलद्रव्य ही के परिणाम हैं तथा जैसे, गोरस के निकट बैठा पुरुष, उसके परिणाम को देखता-जानता है; वैसे ही ज्ञानी आत्मा, उन पुद्गल के परिणामों का ज्ञाता-दृष्टा है, कर्ता नहीं है।

तो कैसा है? – जैसे, गोरस के निकट बैठा पुरुष, गोरस को देखता है, उस देखनेरूप अपने परिणाम से व्याप्त होता हुआ उस अपने परिणाम को व्याप्यरूप से देखता ही है; वैसे ज्ञानी, पुद्गलपरिणाम के निमित्त से अपने ज्ञान को स्वयं व्याप्यपने से उत्पन्न होते हुए को व्याप्यरूप से जानता ही है। इस प्रकार ज्ञानी, ज्ञान ही का कर्ता होता है।

इसी प्रकार ज्ञानावरण पद को बदल कर उसके स्थान पर कर्मसूत्र के विभागों को स्थापित करके दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय – इन सात सूत्रों का तथा उनके साथ मोह, राग, द्वेष; क्रोध, मान, माया, लोभ; नोकर्म; मन, वचन, काय; श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन – इन सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिए तथा इसी रीति से अन्य भी विचार लेना चाहिए।

जं भावं सुहमसुहं, करेइ अप्पा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होइ कम्मं, सो तस्स दु वेदगो अप्पा॥ ३४॥

यं भावं शुभमशुभं, करोत्यात्मा स तस्स खलु कर्ता।
तत्तस्य भवति कर्म, स तस्य तु वेदक आत्मा॥ छ॥

॥ अर्थ॥ आत्मा है सो जिस शुभ अशुभ अपनें भाव कूं करै है सो तिस भाव का कर्त्ता निश्चय तैं होय है॥ वहुरि सो भाव तिसका कर्म होय है॥ वहुरि सो ही आत्मा तिस भावरूप कर्म का वेदक कहिये भोक्ता होय है॥ छ॥

॥ टीका॥ इस लोक विषै आत्मा है सो अनादि अज्ञान तैं, पर का अर आत्मा का एकपणां का निश्चय करि तीव्र मंद स्वादरूप जे पुद्गलकर्म की दोय दशा, तिनि करि यद्यपि आप अचलित विज्ञानघनरूप एक स्वादस्वरूप है, तौऊ स्वाद कूं भेदरूप करता संता शुभ तथा अशुभ जो अज्ञानरूप भाव, ताकूं करै है सो आत्मा तिस काल तिस भाव तैं तन्मयीपणां करि, तिस भाव का व्यापकपणां करि तिस भाव का कर्त्ता होय है॥ वहुरि सो वह भाव भी तिस काल, तिस आत्मा कै तन्मयीपणां करि, तिस आत्मा कै व्याप्य होय है, तातैं ताका कर्म होय है॥

वहुरि सो ही आत्मा, तिस काल तिस भाव तैं तन्मयीपणां करि, तिस भाव का भावक होय

अब कहते हैं कि अज्ञानी भी परद्रव्य के भाव का कर्ता नहीं है —

जं भावं सुहमसुहं, करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं, सो तस्स दु वेदगो अप्पा॥ १०२॥

जो भाव जीव करे शुभाशुभ, उसी का कर्ता बने।
उसका बने वह कर्म, आत्मा, उसी का वेदक बने॥ १०२॥

अर्थ – आत्मा, अपने जिस शुभ-अशुभभाव को करता है, उस भाव का कर्ता निश्चय से वह [स्वयं] होता है और वह भाव, उसका कर्म होता है एवं वही आत्मा, उस भावरूप कर्म का वेदक अर्थात् भोक्ता होता है॥ १०२॥

टीका – इस लोक में आत्मा, अनादि अज्ञान के कारण, पर और आत्मा के एकत्व का निश्चय करके, तीव्र-मन्द स्वादरूप (अनुभवरूप) पुद्गलकर्म की दोनों दशाओं में, यद्यपि स्वयं अचलित विज्ञानघन एक स्वादस्वरूप है, तथापि वह आत्मा, स्वाद को भेदरूप करता हुआ अज्ञानरूप शुभ और अशुभभाव को जिस समय करता है, उस समय उस भाव से तन्मय होने के कारण उस भाव में व्यापक होने के कारण उस भाव का कर्ता होता है तथा वह भाव भी, उस समय उस आत्मा से तन्मय होने के कारण उस आत्मा का व्याप्य होता है; इसलिए उसका कर्म होता है।

तथा वही आत्मा, उस समय उस भाव से तन्मय होने के कारण उस भाव का भावक होता

है, तातैं ताका अनुभवन करनेंवाला भोक्ता होय है॥ वहुरि सो भाव भी तिस काल तिस आत्मा तैं तन्मयीपणां करि, तिस आत्मा कै भावनें योग्य होय है, तातैं अनुभवनें योग्य, भोगनें योग्य होय है॥ अैसैं अज्ञानी है सो भी परभाव का कर्त्ता नाही है॥

॥ भावार्थ॥ अज्ञानी भी अपनां अज्ञानभावरूप शुभाशुभभावनि ही का कर्त्ता अज्ञान अवस्था मैं है, परद्रव्य के भाव का तौ कर्त्ता कदाचित् भी नाही है॥ छ॥

आगैं कहै है जो परभाव कोई ही करि करनें कूं समर्थ न हूजिये है, यह न्याय है॥ छ॥

जो जम्हि गुणे दव्वे, सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो, कह तं परिणामए दव्वं॥ ३५॥

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये, सोऽन्यस्मिंस्तु न सङ्क्रामति द्रव्ये।
सोऽन्यदसङ्क्रान्तः, कथं तत्परिणामयति द्रव्यम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो द्रव्य, जिस अपनें द्रव्यस्वभाव विषै तथा अपनें जिस गुण विषै वर्त्तै है॥ सो द्रव्य, अन्य द्रव्य विषै तथा गुण विषै संक्रमणरूप नाही होय है, पलटि करि अन्य विषै मिलै नाही है॥ सो अन्य विषै नाही मिलता संता तिस अन्य द्रव्य कूं कैसैं परिणमावै, कदाचित् नाही परिणमावै॥ छ॥

है, इसलिए उसका अनुभव करनेवाला भोक्ता होता है तथा वह भाव भी, उस समय उस आत्मा से तन्मय होने के कारण आत्मा के द्वारा भावने योग्य होता है; अतः अनुभव करने योग्य अर्थात् भोगने योग्य होता है। इस प्रकार वह अज्ञानी भी, परभाव का कर्ता नहीं है।

भावार्थ – अज्ञानी भी अज्ञान अवस्था में अपने अज्ञानभावरूप शुभाशुभभावों ही का कर्ता है, परद्रव्य के भाव का तो कर्ता कभी भी नहीं है।

अब कहते हैं कि परभाव को कोई भी करने में समर्थ नहीं होता है, यह न्याय है —

जो जम्हि गुणे[1] दव्वे, सो अण्णम्हि[2] दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो, कह तं परिणामए दव्वं॥ १०३॥

जो द्रव्य जो गुण-द्रव्य में, परद्रव्यरूप न संक्रमे।
अनसंक्रमा किस भाँति वह, परद्रव्य परिणामे अरे!॥ १०३॥

अर्थ – जो द्रव्य, अपने जिस द्रव्यस्वभाव में और अपने जिस गुण में वर्तता है; वह द्रव्य, उससे अन्य द्रव्य और गुण में संक्रमित नहीं होता है अर्थात् बदल कर अन्य द्रव्य में मिलता नहीं है तो फिर वह द्रव्य, अन्य में बिना मिले उस **अन्य द्रव्य को कैसे परिणमित करा सकता है?** – कभी भी परिणमित नहीं कराता है॥ १०३॥

---

१. *गुणो* – तात्पर्यवृत्ति पाठ २. *अण्ण* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

॥ टीका ॥ इस लोक विषै जो जेते वस्तुविशेष हैं सो जेते अपनें चेतनस्वरूप तथा अचेतन-स्वरूप द्रव्य विषै तथा अपनां गुण विषै अपनां निजरस तैं ही अनादि तैं वर्त्तै हैं, सो निश्चय करि अचलित जो अपनीं वस्तुस्थिति की मर्यादा, ताकूं भेदनें कूं असमर्थ हैं, तातैं अपनें स्वभाव ही मैं वर्त्तै हैं ॥ द्रव्यांतर तथा गुणांतर कूं संक्रमणरूप नाही होय है, पलटै नाही है ॥ अैसैं अन्य द्रव्यरूप तथा अन्य गुणरूप न होता संता अन्य वस्तुविशेष कूं कैसैं परिणमावै, कदाचित् ही नाही परिणमावै ॥ यातैं परभाव है, ताहि कोई भी नाही परिणमाय सकै है ॥ छ ॥

॥ भावार्थ ॥ जो द्रव्यस्वभाव है, ताहि कोई भी नाही पलटाय सकै है ॥ यह वस्तु की मर्याद है ॥ छ ॥

आगैं कहै हैं जो इस कारण तैं आत्मा निश्चय करि पुद्गलकर्मनि का अकर्त्ता है, यह ठहरी ॥

दव्वगुणस्स य आदा, ण कुणदि पोग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
तं उभयमकुव्वंतो, तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥ ३६ ॥

द्रव्यगुणस्य चात्मा, न करोति पुद्गलमये कर्मणि।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन् कथं तस्य स कर्ता ॥ छ ॥

टीका – इस लोक में जितनी वस्तुविशेष हैं, वे सब अनादि से अपने-अपने चेतनस्वरूप अथवा अचेतनस्वरूप द्रव्य में तथा अपने गुणों में अपने निजरस से ही वर्तती हैं अर्थात् वे निश्चय से अपनी वस्तुस्थिति की अचलित मर्यादा को भेदने में असमर्थ हैं; अत: अपने स्वभाव ही में वर्तती हैं; द्रव्यान्तर और गुणान्तररूप से संक्रमित नहीं होती हैं, पलटती नहीं हैं। **इस प्रकार आत्मा अन्य द्रव्यरूप और अन्य गुणरूप न होता हुआ अन्य वस्तुविशेष को कैसे परिणमित करा सकता है? –** कभी भी परिणमित नहीं करा सकता है; इसलिए परभाव को कोई भी परिणमित नहीं करा सकता है।

भावार्थ – जो द्रव्यस्वभाव है, उसे कोई भी बदल नहीं सकता है – यह वस्तु की मर्यादा है।

अब कहते हैं कि इस कारण आत्मा निश्चय से पुद्गलकर्मों का अकर्ता है – यह सिद्ध होता है —

दव्वगुणस्स य आदा, ण कुणदि पोग्गलमयम्हि[1] कम्मम्हि।
तं उभयमकुव्वंतो, तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥ १०४ ॥

आत्मा करे नहीं द्रव्य-गुण, पुद्गलमयी कर्मों विषै।
इन उभय को करता नहीं, तब क्योंहि तत्कर्ता बने ॥ १०४ ॥

---

१. *पुग्गलमयम्हि* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

॥ अर्थ ॥ आत्मा है सो पुद्गलमयी कर्म विषै द्रव्य कूं तथा गुण कूं नाही करै है, तिस विषै तिनि दोऊनि कूं नाही करता संता, ताका कर्त्ता कैसैं होय॥ छ॥

॥ टीका ॥ प्रथम ही दृष्टांत॥ जैसैं मृत्तिकामयी कलश नामा कर्म मृत्तिका नामा द्रव्य अर मृत्तिका का गुण, तिनि विषै अपनें निजरस करि ही वर्त्तमान है, ता विषै कुंभकार अपनां द्रव्यस्वरूप कूं तथा अपनां गुण कूं नाही मिलावै है॥ जातैं अन्य द्रव्य का अर अन्य गुण का, अन्य द्रव्यगुणरूप पलटनें का वस्तु की मर्यादा ही करि निषेध है॥

वहुरि द्रव्य का अन्यद्रव्यरूप भयें विनां अन्यवस्तु कूं अन्य कै परिणमावनें का असमर्थपणां तैं तिनि द्रव्य कूं अर गुण कूं अन्य विषै नाही धारता संता, परमार्थ तैं तिस मृत्तिकामयी कलस नामा कर्म का निश्चय करि कुंभकार कर्त्ता नाही प्रतिभासै है॥ तैसैं पुद्गलमयी ज्ञानावरणादि कर्म हैं, ते पुद्गलद्रव्य अर पुद्गल के गुण, तिनि विषै अपनें रस तैं ही वर्त्तमान हैं, तिनि विषै आत्मा अपनां द्रव्यस्वभाव कूं अर अपनां गुण कूं निश्चय करि नाही धारै है, जातैं अन्यद्रव्य का अन्य द्रव्य विषै तथा अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य के गुण विषै संक्रमण होनें का असमर्थपणां है॥

अैसैं अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य विषै संक्रमण विना अन्य वस्तु कूं परिणमावनें का असमर्थपणां तैं, तिनि द्रव्य अर गुण, दोऊनि कूं तिस अन्य विषै नाही धारता आत्मा, तिस अन्य पुद्गलद्रव्य का कैसैं कर्त्ता होय, कदाचित् नाही होय॥ तातैं यह निश्चय ठहरया जो आत्मा पुद्गलकर्मनि का अकर्त्ता है॥ छ॥

अर्थ – आत्मा, पुद्गलमयी कर्म में न तो उसके द्रव्य को और न उसके गुण को करता है तो फिर इन दोनों को नहीं करता हुआ, वह उनका कर्ता कैसे हो सकता है॥ १०४॥

टीका – पहले दृष्टान्त देते हैं – जिस प्रकार मिट्टीमय कलश नामक कार्य, मिट्टी नामक द्रव्य और मिट्टी के गुणों में अपने निजरस से ही प्रवर्तमान है; उसमें कुम्भकार, अपने द्रव्य और अपने गुणों को मिलाता नहीं है क्योंकि एक द्रव्य और उसके गुणों का, अन्य द्रव्य-गुणरूप पलटने में वस्तु की मर्यादा से ही निषेध है।

एक द्रव्य का अन्यद्रव्यरूप हुए बिना, एक वस्तु को अन्य वस्तु के द्वारा परिणमन कराने की असमर्थता है, इसलिए परमार्थ से एक द्रव्य और गुण को अन्य में नहीं धारण करता हुआ, निश्चय से उस मिट्टीमय कलश नामक कार्य का, कर्ता कुम्भकार प्रतिभासित नहीं होता है; उसी प्रकार पुद्गलमयी ज्ञानावरण आदि कर्म, पुद्गलद्रव्य और पुद्गल के गुणों में अपने रस से ही प्रवर्तमान हैं, उनमें आत्मा, अपने द्रव्यस्वभाव और अपने गुणों को निश्चय से धारण नहीं करता है क्योंकि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य और उसके गुणों में संक्रमित होनेरूप सामर्थ्य का अभाव है।

इस प्रकार एक द्रव्य का दूसरे द्रव्यरूप संक्रमण हुए बिना अन्य वस्तु को परिणमन कराने में असमर्थता होने से, उस द्रव्य और उसके गुण, दोनों को दूसरे द्रव्यरूप नहीं स्वीकार करता हुआ **आत्मा, उस अन्य पुद्गलद्रव्य का कर्ता कैसे हो सकता है? –** कभी भी नहीं हो सकता है; अत: यह निश्चित होता है कि आत्मा, पुद्गलकर्मों का अकर्ता है।

आगैं कहै है जो इस सिवाय अन्य निमित्तनैमित्तिक आदि भाव हैं, तिनि कूं देषि किछू और प्रकार कहनां है सो उपचार है॥ छ॥

जीवम्हि हेदुभूदे, बंधस्स दु पस्सदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं, भण्णदि उवयारमित्तेण॥ ३७॥

जीवे हेतुभूते, बन्धस्य तु दृष्ट्वा परिणामम्।
जीवेन कृतं कर्म, भण्यते उपचारमात्रेण॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जीव कूं निमित्तरूप होतैं कर्मवंध का परिणाम होय है, ताकूं देषि करि कहिये है जो जीव करि कर्म कीये हैं सो उपचारमात्र करि कहिये है॥ छ॥

॥ टीका॥ इस लोक मैं आत्मा निश्चय करि स्वभाव तैं पुद्गलकर्म का निमित्तभूत नाही है, तौऊ अनादि अज्ञान तैं ताका निमित्तभूत भया जो अज्ञानभाव, ता करि परिणमनें तैं पुद्गलकर्म का निमित्तभूत होतैं उपज्या जो पुद्गलकर्म, ताकूं आत्मा नैं कीया, अैसा विकल्प होय है सो जे निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभाव तैं भ्रष्ट हैं अर विकल्पनि विषै तत्पर हैं, तिनि अज्ञानीनि कै होय है सो यह आत्मा नैं कीया, अैसा कहनां उपचार है, परमार्थ नाही है॥

॥ भावार्थ॥ कदाचित् भया निमित्तनैमित्तिकभाव विषै कर्त्ताकर्मभाव कहनां, यह उपचार है॥ छ॥

अब कहते हैं कि इसके अतिरिक्त अन्य निमित्त-नैमित्तिक आदि भावों को देख कर कुछ और कहना उपचार है —

जीवम्हि हेदुभूदे, बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं, भण्णदि उवयारमेत्तेण[१]॥ १०५॥

जीव हेतुभूत हुआ अरे!, परिणाम देख जु बन्ध का।
उपचारमात्र कहाय यों, यह कर्म आत्मा ने किया॥ १०५॥

अर्थ – जीव के निमित्तभूत होने पर कर्मबन्ध के परिणाम होते हुए देख कर यह कहा जाता है कि जीव ने कर्म किये हैं परन्तु यह उपचारमात्र से ही कहा जाता है॥ १०५॥

टीका – इस लोक में आत्मा, निश्चय से स्वभावतः पुद्गलकर्म का निमित्तभूत नहीं है, फिर भी अनादि अज्ञान के निमित्त से उत्पन्न हुए अज्ञानभावरूप परिणमन करने के कारण, उसके निमित्त से उत्पन्न हुए पुद्गलकर्म को 'आत्मा ने किया' – ऐसा विकल्प जो निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट और विकल्पों में तत्पर अज्ञानियों को होता है; अतः 'यह [पुद्गलकर्म] आत्मा ने किया' – ऐसा कहना उपचार है, परमार्थ नहीं है।

---

१. *उवयारमत्तेण* – तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ।

आगैं, यह उपचार कैसैं है सो दृष्टांत करि कहै है॥ छ॥

जोधेहिं कए जुद्धे, राएण कयं ति जंपए लोओ।
ववहारेण तह कयं, णाणावरणादि जीवेण॥ ३८॥

योधैः कृते युद्धे, राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः।
तथा व्यवहारेण कृतं, ज्ञानावरणादि जीवेन॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं जोधा जुद्ध करै, तहां लोक अैसा कहै है जो राजा जुद्ध कीया सो यह व्यवहार करि कहनां है, तैसैं ही ज्ञानावरण आदि कर्म जीव करि कीये हैं, अैसा कहनां व्यवहार करि है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं जुद्ध परिणामनि करि आप परिणमें जे जोधा, तिनि करि कीया जो यह जुद्ध, ताकूं होतैं जुद्ध परिणामनि करि आप न परिणम्यां जो राजा, ताकूं लोक कहै है जो जुद्ध राजा कीया सो अैसा उपचार परमार्थ नाही है॥ तैसैं ही ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामनि करि आप परिणमता जो पुद्गलद्रव्य, ता करि कीये जे ज्ञानावरण आदि कर्म, ताकूं होतैं ज्ञानावरण आदि कर्मपरिणाम करि आप नाही परिणमता जो आत्मा, ताकूं कहिये जो ज्ञानावरण आदि कर्म आत्मा कीये हैं सो अैसा उपचार है सो परमार्थ नाही है॥

भावार्थ – कदाचित् होनेवाले निमित्त-नैमित्तिकभाव में कर्ता-कर्मभाव कहना उपचार है।

अब, यह उपचार कैसे है? – वह दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं –

जोधेहिं कदे जुद्धे, राएण कदं ति जंपदे लोगो।
तह ववहारेण[1] कदं, णाणावरणादि जीवेण॥ १०६॥

योद्धा करें हैं युद्ध तो भी, भूपकृत जनगण कहें।
त्यों जीव ने ज्ञानावरण, आदिक किये व्यवहार से॥ १०६॥

अर्थ – जिस प्रकार योद्धा युद्ध करते हैं तो वहाँ लोग ऐसा कहते हैं कि 'राजा ने युद्ध किया', उनका यह व्यवहारनय से कहना है; उसी प्रकार 'ज्ञानावरण आदि कर्म, जीव ने किये हैं' – ऐसा कहना भी व्यवहार से ही है॥ १०६॥

टीका – जैसे, युद्ध के परिणामों से स्वयं परिणमित योद्धाओं के द्वारा किये गये युद्ध के होने पर, युद्ध के परिणामों से स्वयं अपरिणमित राजा को लोग कहते हैं कि 'राजा ने युद्ध किया'; अतः ऐसा उपचार, परमार्थ नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्म-परिणामों से स्वयं परिणमित पुद्गलद्रव्य के द्वारा किये गए ज्ञानावरण आदि कर्मों के होने पर ज्ञानावरण आदि कर्म-परिणामों से स्वयं अपरिणमित आत्मा को [व्यवहार से] कहा जाता है कि 'आत्मा ने ज्ञानावरण आदि कर्म किये हैं';

---

१. *तह ववहारेण* - तात्पर्यवृत्ति एवं अगास व कुन्दकुन्दभारती प्रकाशन पाठ

॥ भावार्थ ॥ जैसैं योद्धा जुद्ध करै, तहां राजा का कीया उपचार करि कहिये है, तैसैं पुद्गलकर्म जीव नैं कीये, अैसैं उपचार करि कहिये हैं॥ छ॥

आगैं कहै है जो इस हेतु तैं अैसा निश्चय ठहरया॥ छ॥

उप्पादेदि करेदि य, बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं, ववहारणयस्स वत्तव्वं॥ ३९॥

उत्पादयति करोति च, बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च।
आत्मा पुद्गलद्रव्यं, व्यवहारनयस्य वक्तव्यम्॥ छ॥

॥ अर्थ ॥ आत्मा है सो पुद्गलद्रव्य कूं उपजावै है, वहुरि करै है, वहुरि वांधै है, वहुरि परिणमावै है, वहुरि ग्रहण करै है। अैसा कहनां है सो व्यवहारनय का वचन है॥ छ॥

॥ टीका ॥ यह आत्मा निश्चय करि पुद्गलद्रव्यस्वरूप कर्म कूं व्याप्यव्यापकभाव के अभाव तैं प्राप्य विकार्य निर्वर्त्य, ए तीन प्रकार ही के कर्म कूं ग्रहण नाही करै है, परिणमावै नाही है, उपजावै नाही है, करै नाही है, वांधै नाही है॥ वहुरि व्याप्यव्यापकभाव के अभाव होतैं भी प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य, अैसै तीन प्रकार के पुद्गलद्रव्यस्वरूप कर्म कूं यह आत्मा ग्रहण करै है, परिणमावै है, उपजावै है, करै

अतः ऐसा उपचार, परमार्थ नहीं है।

भावार्थ – जैसे, योद्धा युद्ध करते हैं, तब 'राजा ने युद्ध किया' – ऐसा उपचार से कहा जाता है; वैसे ही 'पुद्गलकर्म जीव ने किये' – ऐसा उपचार से कहा जाता है।

अब कहते हैं कि इस हेतु से यह निश्चित होता है —

उप्पादेदि करेदि य, बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पोग्गलदव्वं[1], ववहारणयस्स वत्तव्वं॥ १०७॥

उपजावता, परिणामता, ग्रहता, अरु बाँधे, करे।
पुद्गलदरव को आतमा – व्यवहारनय वक्तव्य है॥ १०७॥

अर्थ – आत्मा, पुद्गलद्रव्य को उपजाता है, करता है, बाँधता है, परिणमन कराता है, ग्रहण करता है – ऐसा कहना व्यवहारनय का वचन है॥ १०७॥

टीका – यह आत्मा, निश्चय से पुद्गलद्रव्यस्वरूप कर्म को, व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – इन तीनों ही प्रकार के कर्म को न तो ग्रहण करता है, न परिणमन कराता है, न उपजाता है, न करता है और न बाँधता है। लेकिन व्याप्य-व्यापकभाव का

---

१. *पुग्गलदव्वं* - अगास एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ

है, वांधै है। अैसा विकल्प होय है सो प्रगट उपचार है॥

॥ भावार्थ॥ व्याप्यव्यापकभाव विनां कर्म का कर्त्ता कहनां सो उपचार है॥ छ॥

आगैं पूछै है, यह उपचार कैसैं है, ताका उत्तर दृष्टांत करि कहै है॥ छ॥

जह राजा ववहारा, दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा, दव्वगुणुप्पादगो भणिओ॥ ४०॥

यथा राजा व्यवहारात्, दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः।
तथा जीवो व्यवहारात्, द्रव्यगुणोत्पादको भणितः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं प्रजा विषै राजा है सो दोष अर गुण का उपजावनहारा है, अैसा व्यवहार तैं कह्या॥ तैसैं जीव कूं भी व्यवहार तैं पुद्गलद्रव्य विषै द्रव्य गुण का उत्पादक कह्या है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं लोक कै प्रजा कै व्याप्यव्यापकभाव करि स्वभाव ही तैं उपजते जे गुण अर दोष, तिनि विषै राजा कै व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है, तौऊ लोक कहै जो गुण दोष का उपजावनहारा राजा है, अैसा उपचार है॥ तैसैं पुद्गलद्रव्य कै व्याप्यव्यापकभाव करि स्वभाव ही तैं उपजते

अभाव होने पर भी प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य – ऐसे तीन प्रकार के पुद्गलद्रव्यस्वरूप कर्म को यह आत्मा ग्रहण करता है, परिणमन कराता है, उपजाता है, करता है, बाँधता है - ऐसा जो विकल्प होता है, वह प्रगट उपचार है।

भावार्थ – व्याप्य-व्यापकभाव के अभाव में [आत्मा को] कर्म का कर्ता कहना उपचार है।

अब, यह उपचार कैसे है? – इस प्रश्न का दृष्टान्तपूर्वक उत्तर देते हैं —

जह राया ववहारा, दोसगुणुप्पादगो त्ति[1] आलविदो।
तह जीवो ववहारा, दव्वगुणुप्पादगो भणिदो॥ १०८॥

गुण-दोष उत्पादक कहा, ज्यों भूप को व्यवहार से।
त्यों द्रव्य-गुण उत्पन्नकर्ता, जीव कहा व्यवहार से॥ १०८॥

अर्थ – जिस प्रकार, 'राजा प्रजा में दोष और गुण को उत्पन्न करनेवाला है' – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है; उसी प्रकार 'व्यवहार से जीव को भी पुद्गलद्रव्य में द्रव्य-गुण का उत्पादक' कहा है॥ १०८॥

टीका – जिस प्रकार लोक में प्रजा के व्याप्य-व्यापकभावरूप स्वभाव से ही उत्पन्न हुए गुण और दोषों में राजा के व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है, फिर भी लोक कहता है कि 'प्रजा के गुण-

---

१. *दोसगुणुप्पादगोत्ति* - तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ

जे गुण अर दोष, तिनि विषै जीव कै व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है, तौऊ तिनि गुण दोषनि का उपजावनहारा जीव है, अैसा उपचार है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जैसैं लोक मैं कहिये है जो जैसैं राजा है, तैसैं ही प्रजा है। अैसैं कह करि गुण दोष का कर्त्ता राजा कूं कहै है, तैसैं ही पुद्गलद्रव्य के गुण दोष का कर्त्ता जीव कूं कहिये है सो यह परमार्थदृष्टि तैं विचारिये, तव उपचार है॥ छ॥

आगैं पूछै है जो पुद्गलकर्म का कर्त्ता जीव नाही है तौ कौंन है॥ अैसे प्रश्न का काव्य है॥ छ॥

॥ वसन्ततिलका॥

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव,
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्क्यैव।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय,
सङ्कीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ॥ १८॥

॥ अर्थ॥ जो पुद्गलकर्म कूं जीव नाही करै है तौ तिस पुद्गलकर्म कूं कौंन करै है, अैसी आशंका करि कैं अर इस कर्त्ताकर्म का तीव्र वेगरूप मोह अज्ञान के दूरि करनें कूं पुद्गलकर्म का जो कर्त्ता है सो कहिये है सो हे ज्ञान के इच्छक पुरुष हौ, तुम सुणूं॥ छ॥

दोषों को उत्पन्न करनेवाला राजा है' – ऐसा उपचार है; उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य के व्याप्य-व्यापकभावरूप स्वभाव से ही उत्पन्न हुए गुण-दोषों में जीव के व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है तो भी उन पुद्गलद्रव्य के गुण-दोषों को उत्पन्न करनेवाला जीव है – ऐसा उपचार है।

भावार्थ – जिस प्रकार लोक में कहावत है कि 'यथा राजा तथा प्रजा' – ऐसा कह कर प्रजा के गुण-दोषों का कर्ता राजा को कहा जाता है, उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य के गुण-दोषों का कर्ता जीव को कहा जाता है; अतः परमार्थदृष्टि से विचार करने पर यह उपचार ही है।

अब पूछते हैं कि पुद्गलकर्म का कर्ता जीव नहीं है तो कौन है? – ऐसे प्रश्न का सूचक काव्य कहते हैं –

॥ दोहा॥

यदि पुद्गलमय कर्म को, करे न चेतनराय।
कौन करे – यह अब कहें, सुनो भरम नश जाय॥ ६३॥

अर्थ – यदि पुद्गलकर्म को जीव नहीं करता है तो उस **पुद्गलकर्म को कौन करता है? –** ऐसी आशङ्का करके तथा इस कर्ता-कर्म के तीव्र वेगरूप मोह-अज्ञान को दूर करने के लिए पुद्गलकर्म का जो कर्ता है, उसे कहते हैं; अतः हे ज्ञान के इच्छुक पुरुषों! तुम उसे सुनो।

याके उत्तर की गाथा॥

सामण्णपच्चया खलु, चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य बोधव्वा॥ ४१॥
तेसिं पुणो वि य इमो, भणिओ भेओ दु तेरसवियप्पो।
मिच्छादिट्ठी आई, जाव सजोइस्स[१] चरिमंतं॥ ४२॥
एए अचेयणा खलु, पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा।
ते जदि करेइ कम्मं, ण वि तेसिं वेदगो आदा॥ ४३॥
गुणसण्णिदा दु एदे, कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा।
तम्हा जीवोकत्ता, गुणा य कुव्वंति कम्माणि॥ ४४॥

॥ चतुष्कं॥

सामान्यप्रत्ययाः खलु, चत्वारो भण्यन्ते बन्धकर्तारः।
मिथ्यात्वमविरमणं, कषाययोगौ च बोद्धव्याः॥ छ॥

अब, इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं —

सामण्णपच्चया खलु, चउरो भण्णंति[२] बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य बोद्धव्वा॥ १०९॥
तेसिं पुणो वि य इमो, भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो।
मिच्छादिट्ठी आदी,[३] जाव सजोगिस्स चरमंतं॥ ११०॥
एदे अचेदणा खलु, पोग्गलकम्मुदयसंभवा[४] जम्हा।
ते जदि करेंति[५] कम्मं, ण वि तेसिं वेदगो आदा॥ १११॥
गुणसण्णिदा दु एदे, कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा।
तम्हा जीवोऽकत्ता,[६] गुणा य कुव्वंति कम्माणि॥ ११२॥

---

१. *सजोयस्स* - 'अ' प्रति पाठ
२. *भणंति* - तात्पर्यवृत्ति पाठ
३. *मिच्छादिट्ठीआदी* - तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ
४. *पुग्गलकम्मुदयसंभवा* - तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ
५. *करंति* - तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ
६. *जीवोकत्ता* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

तेषां पुनरपि चायं, भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः।
मिथ्यादृष्ट्यादिः, यावत् सयोगिनश्चरमान्तः॥ छ॥
एते अचेतनाः खलु, पुद्गलकर्मोदयसम्भवा यस्मात्।
ते यदि कुर्वन्ति कर्म, नापि तेषां वेदक आत्मा॥ छ॥
गुणसंज्ञितास्तु एते, कर्म कुर्वन्ति प्रत्यया यस्मात्।
तस्माज्जीवोऽकर्ता[१], गुणाश्च कुर्वन्ति कर्माणि॥ छ॥

॥ अर्थ॥ प्रत्यय कहिये कर्मवंध कूं कारण जे आश्रव ते सामान्य तौ च्यारि हैं॥ ते वंध के कर्त्ता कहिये हैं॥ मिथ्यात्व अविरमण कषाय योग, अैसैं ते जाननें॥ छ॥

वहुरि तिनि का भेद तेरह भेदरूप कह्या है सो मिथ्यादृष्टि कूं आदि लगाय सयोगकेवली तांई तेरह गुणस्थान जाननें॥ छ॥

ते ए निश्चयदृष्टि करि जातैं पुद्गलकर्म के उदय तैं भये हैं, तातैं अचेतन हैं॥ सो जो ए कर्म कूं करैं हैं॥ तौ तिनि का वेदक कहिये भोक्ता आत्मा नाही होय है॥ छ॥

वहुरि इनिकूं गुण, अैसी संज्ञा है, ते ए प्रत्यय गुण हैं, ते कर्म कूं करैं हैं॥ तातैं जीव तौ कर्म

सामान्य प्रत्यय चार, निश्चय बन्ध के कर्ता कहे।
मिथ्यात्व अविरति योग अरु कषाय – ये ही जानने॥ १०९॥
फिर उन्हीं का दर्शा दिया, यह भेद तेरा प्रकार का।
मिथ्यात्व गुणस्थानादि से है, चरमभेद सयोगि का॥ ११०॥
पुद्गलकरम के उदय से, उत्पन्न अतः अजीव हैं।
वे करें कर्म भले अरे!, भोक्ता नहीं जीवद्रव्य है॥ १११॥
परमार्थ से 'गुण' नाम के, प्रत्यय करें इन कर्म को।
इसलिए अकर्ता जीव है, गुणस्थान करते कर्म को॥ ११२॥

अर्थ – प्रत्यय अर्थात् कर्मबन्ध के कारण आस्रव, वे सामान्यरूप से चार प्रकार के हैं – मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग; इन्हें बन्ध का कर्ता कहा है – ऐसा जानना॥ १०९॥

उन [प्रत्ययों] के तेरह भेद भी कहे गए हैं, उन्हें मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान जानना चाहिए॥ ११०॥

ये सब [प्रत्यय], निश्चयदृष्टि से पुद्गलकर्म के उदय से होते हैं, अतः अचेतन हैं; ये कर्म को करते हैं, अतः उनका वेदक अर्थात् भोक्ता आत्मा नहीं होता है॥ १११॥

---

१. *तस्माज्जीवोकर्ता* – 'अ' 'ब' प्रति पाठ

का कर्त्ता नाही है॥ वहुरि ए गुण हैं, ते कर्म कूं करैं हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ निश्चय करि पुद्गलकर्म का एक पुद्गलद्रव्य ही कर्त्ता है॥ तिस पुद्गलद्रव्य का विशेष मिथ्यात्व अविरति कषाय योग, ये च्यारि सामान्य हेतुपणां करि वंध का च्यारि कर्त्ता हैं॥ वहुरि ते ही भेदरूप भये संते मिथ्यादृष्टि कूं आदि ले करि सयोगकेवली तांई तेरह कर्त्ता हैं॥ सो ए पुद्गलकर्म के विपाक के भेद हैं, तातैं अत्यंत अचेतन हैं, जड़ हैं॥ ते अचेतन भये संते जो केवल ते ही पुद्गलकर्म के कर्त्ता होय करि व्याप्यव्यापकभाव करि किछू पुद्गलकर्म कूं करै, तौ करौ। जीव का यामैं कहा आया, किछू भी न आया॥

अथवा इहां यह तर्क है॥ जो पुद्गलमयी मिथ्यात्व आदिक कूं वेदता संता जीव है सो आप ही मिथ्यादृष्टी होय करि पुद्गलकर्म कूं करै है॥

ताका यह समाधान जो यह अविवेक है, अज्ञान है॥ जातैं आत्मा भाव्यभावकभाव के अभाव तैं पुद्गलकर्म जे मिथ्यात्व आदिक, तिनि का वेदक कहिये भोक्ता भी निश्चय करि नाही है॥ तौ पुद्गलकर्म का कर्त्ता कैसैं होय॥

सो अव अैसा आया जो जातैं पुद्गलद्रव्यमयी, जे सामान्य च्यारि प्रत्यय, तिनिके विशेष भेदरूप प्रत्यय तेरह, ते गुण शव्द करि कहे, तिनिके नाम गुणस्थान हैं॥ ते ही केवल कर्मनि कूं करैं हैं॥ तातैं जीव है सो पुद्गलकर्मनि का अकर्त्ता है अर ते गुण ही तिनि पुद्गलकर्मनि के कर्त्ता हैं। ते गुण पुद्गलद्रव्यमयी

इन प्रत्ययों की 'गुण' (गुणस्थान) नामक संज्ञा है; अत: वे कर्म को करते हैं, इसलिए जीव तो कर्म का कर्ता नहीं है; ये गुण ही कर्म को करते हैं॥ ११२॥

टीका – निश्चय से पुद्गलकर्म का कर्ता एक पुद्गलद्रव्य ही है। उस पुद्गलद्रव्य के विशेष अर्थात् भेद, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – ये चार, सामान्यतया बन्ध के कर्ता हैं; वे ही भेदरूप होकर मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली तक तेरह कर्ता हैं। ये सब पुद्गलकर्म के विपाक के भेद हैं; अत: अत्यन्त अचेतन हैं, जड़ हैं। वे अचेतन होने से केवल वे ही पुद्गलकर्म के कर्ता होकर व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलकर्म का कुछ करें तो करो, **जीव का इसमें क्या है?** – कुछ भी नहीं है।

यहाँ **तर्क** है कि पुद्गलमयी मिथ्यात्व आदि का वेदन करता हुआ जीव, स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्म को करता है [– ऐसा मानने में क्या आपत्ति है?]।

उसका **समाधान** – यह कहना अविवेक है, अज्ञान है क्योंकि निश्चय से आत्मा भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण मिथ्यात्व आदि पुद्गलकर्म का वेदक अर्थात् भोक्ता भी नहीं है तो वह **पुद्गलकर्म का कर्ता कैसे हो सकता है?**

अत: अब ऐसा निश्चित होता है कि सामान्यरूप से पुद्गलद्रव्यमयी चार प्रत्यय ही विशेष भेदरूप करने पर तेरह हो जाते हैं, उन्हें ही 'गुण' शब्द से कहा जाता है, उनके नाम गुणस्थान हैं और केवल वे ही कर्मों को करते हैं। इस प्रकार जीव पुद्गलकर्मों का अकर्ता है और वे 'गुण' (गुणस्थान) ही उन पुद्गलकर्मों के कर्ता हैं क्योंकि वे 'गुण' पुद्गलद्रव्यमय ही हैं; अत: निश्चित हुआ कि

ही हैं। तातैं यह ठहरी जो पुद्गलकर्म का पुद्गलद्रव्य ही एक कर्त्ता है॥

॥ भावार्थ॥ अन्यद्रव्य का अन्यद्रव्य कर्त्ता नाही, इस न्याय तैं आत्मद्रव्य तौ पुद्गल द्रव्यकर्म का कर्त्ता नाही अर वंध के कर्त्ता योग कषायादिक तैं भये गुणस्थान हैं, ते परमार्थ करि अचेतन पुद्गलमयी हैं, तातैं ते पुद्गलकर्म के कर्त्ता हैं॥ अर जीव कूं कर्त्ता माननां अज्ञान है॥ छ॥

वहुरि कहै है जो जीव कै अर तिनि प्रत्ययनि कै एकपणां भी नाही है॥ छ॥

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जइ अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य, एवमणण्णत्तमावण्णं॥ ४५॥
एवमिह जो दु जीवो, सो चेव दु णियमदो तहाजीवो।
अयमेयत्ते दोसो, पच्चयणोकम्मकम्माणं॥ ४६॥
अह दे अण्णो कोहो, अण्णुवओगप्पगो हवइ चेदा।
जह कोहो तह पच्चय, कम्मं णोकम्ममवि अण्णं॥ ४७॥

॥ त्रिकलं॥

पुद्गलकर्म का कर्ता एक पुद्गलद्रव्य ही है।

भावार्थ – 'एक द्रव्य का कर्ता, दूसरा द्रव्य नहीं होता है' – इस न्याय से आत्मद्रव्य तो पौद्गलिक द्रव्यकर्म का कर्ता है नहीं और बन्ध के कर्ता योग, कषाय आदि के कारण होनेवाले 'गुणस्थान' हैं, वे परमार्थ से अचेतन पुद्गलमयी हैं; अत: वे ही पुद्गलकर्म के कर्ता हैं और जीव को कर्ता मानना अज्ञान है।

अब कहते हैं कि जीव और उन प्रत्ययों का एकपना भी नहीं है —

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य, एवमणण्णत्तमावण्णं॥ ११३॥
एवमिह जो दु जीवो, सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो।[1]
अयमेयत्ते दोसो, पच्चयणोकम्मकम्माणं॥ ११४॥
अह दे[2] अण्णो कोहो, अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय, कम्मं णोकम्ममवि अण्णं॥ ११५॥

---

१. *तहाजीवो* – तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ २. *पुण* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्यः।
जीवस्याजीवस्य, चैवमनन्यत्वमापन्नम्॥ छ॥
एवमिह यस्तु जीवः, स चैव तु नियमतस्तथाऽजीवः[१]।
अयमेकत्वे दोषः, प्रत्ययनोकर्मकर्मणाम्॥ छ॥
अथ ते अन्यः क्रोधोऽन्यः[२] उपयोगात्मको भवति चेतयिता।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः, कर्म नोकर्माप्यन्यत्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं जीव कै अनन्य कहिये एकरूप उपयोग है, तैसैं जो क्रोध भी एकरूप अनन्य होय तौ अैसैं जीव कै अर अजीव कैं अनन्यपणां एकरूपपणां आया॥ छ॥

अैसैं भयें इस लोक मैं जो जीव है सो ही नियम तैं तैसा ही भया, अजीव भया। अैसैं दोऊ के एकत्व होने मैं यह दोष आया॥ अैसैं ही प्रत्यय नोकर्म कर्म, इनि विषै यह ही दोष जाननां॥ छ॥

अथवा इस दोष के भय तैं तेरे मत मैं क्रोध तौ अन्य है अर उपयोगस्वरूप चेतयिता आत्मा है सो अन्य है, अैसैं कहै है तौ क्रोध की ज्यों प्रत्यय कर्म नोकर्म, ए भी आत्मा तैं अन्य ही हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ जो जैसैं जीव कै तन्मयीपणां तैं जीव तैं उपयोग अनन्य है, एकरूप है, तैसैं जड

उपयोग ज्यों है अनन्य जीव से, क्रोध त्यों ही जीव से।
तो दोष आवे जीव और, अजीव के एकत्व से॥ ११३॥
यों जगत में जो जीव वह ही, अजीव भी निश्चय बने।
नोकर्म प्रत्यय कर्म के, एकत्व में भी दोष ये॥ ११४॥
जो क्रोध यों है अन्य अरु, उपयोगमय जीव अन्य है।
तो क्रोधवत् नोकर्म प्रत्यय, कर्म भी सब अन्य हैं॥ ११५॥

अर्थ – जिस प्रकार जीव से अनन्य अर्थात् एकरूप उपयोग है, उसी प्रकार यदि क्रोध भी एकरूप या अनन्य हो तो इस प्रकार जीव और अजीव के अनन्यत्व अर्थात् एकत्व का प्रसङ्ग आता है॥ ११३॥

ऐसा होने पर इस लोक में जीव ही नियम से अजीव हो जाता है। इस तरह दोनों के एकत्व होने पर यह दोष आता है। इसी प्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म में भी यही दोष जानना॥ ११४॥

यदि इस दोष के भय से तुम्हारे मतानुसार क्रोध तो अन्य है और उपयोगस्वरूप चेतयिता आत्मा अन्य है – ऐसा कहते हो तो क्रोध की तरह ही प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी आत्मा से अन्य ही हैं॥ ११५॥

टीका – जिस प्रकार जीव के साथ तन्मय होने से जीव से उपयोग अनन्य है, एकरूप है; उसी

क्रोध भी अनन्य ही है, अैसी प्रतिपत्ति है तौ चिद्रूप कै अर जड़ कै अनन्यपणां तैं जीव कै उपयोगमयीपणां की ज्यों जड़ क्रोधमयीपणां की भी प्राप्ति आई॥ तैसैं होतैं जो ही जीव है सो ही अजीव है, अैसैं होतैं न्यारा अन्यद्रव्य का लोप भया॥ अैसैं ही प्रत्यय नोकर्म कर्मनि के भी जीव तैं अनन्य की प्रतिपत्ति विषै यह ही दोष आवै है॥

वहुरि इस दोष के भय तैं अैसैं मानै जो उपयोगस्वरूप जीव है सो तौ अन्य ही है अर जडस्वरूप क्रोध है सो अन्य है तौ जैसैं उपयोगस्वरूप जीव तैं जडस्वभाव क्रोध है सो अन्य है तौ[१] तैसैं ही प्रत्यय नोकर्म कर्म भी अन्य ही हैं, जातैं जैसैं जडस्वभाव क्रोध, तैसैं ही प्रत्यय नोकर्म कर्म भी जड, इनिमैं विशेष[२] नाही॥ अैसैं जीव कै अर प्रत्यय कै एकपणां नाही है॥

॥ भावार्थ॥ मिथ्यात्व आदि आश्रव तौ जडस्वभाव हैं अर जीव चेतनस्वभाव है सो जड चेतन एक होय तौ वडा दोष आवै, भिन्न द्रव्य का लोप होय, तातैं आश्रव कै अर आत्मा कै एकपणां नाही, यह निश्चयनय का सिद्धांत है॥ छ॥

आगैं सांख्यमत का अनुसारी शिष्य प्रति पुद्गलद्रव्य कै परिणामस्वभावपणां साधै है। सांख्यमती प्रकृति पुरुष कूं अपरिणामी मानैं है, ताकूं समझावै है॥

जीवे ण सयं बद्धं, ण सयं परिणमइ कम्मभावेण।
जइ पुग्गलदव्वमिणं, अप्परिणामिं तदा[३] होइ॥ ४८॥

प्रकार यदि 'जड़ क्रोध भी अनन्य ही है' – ऐसी मान्यता है तो चिद्रूप और जड़ के अनन्यत्व के कारण जीव के उपयोगमयी होने की तरह, जड़ क्रोधमयी होने की भी आपत्ति आती है। वैसा होने पर 'जो जीव है, वही अजीव है' – ऐसा होने से भिन्न अन्य द्रव्यों का लोप हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म के भी जीव से अनन्य होने की मान्यता में भी यही दोष आता है।

यदि इस दोष के भय से ऐसा मानते हो कि उपयोगस्वरूप जीव तो अन्य है और जड़स्वरूप क्रोध अन्य है तो फिर जिस प्रकार उपयोगस्वरूप जीव से जड़स्वभावी क्रोध अन्य है, उसी प्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी अन्य ही हैं क्योंकि जैसे, क्रोध जड़स्वभावी है; वैसे ही प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी जड़ हैं; इनमें कोई भिन्नता नहीं है। इस प्रकार जीव और प्रत्यय का एकत्व नहीं है।

भावार्थ – मिथ्यात्व आदि आस्रव तो जड़स्वभावी हैं और जीव चैतन्यस्वभावी है। यदि जड़ और चेतन एक हो जाएँ तो बड़ा दोष उत्पन्न होता है, भिन्न-भिन्न द्रव्यों का लोप ही हो जाए; अतः आस्रव और आत्मा का एकत्व नहीं है – यह निश्चयनय का सिद्धान्त है।

अब, सांख्यमत का अनुसरण करनेवाले शिष्य को समझाने के लिए 'पुद्गलद्रव्य परिणामस्वभावी है' – ऐसा सिद्ध करते हैं क्योंकि सांख्यमती प्रकृति और पुरुष को अपरिणामी मानते हैं; अतः उसे समझाते हैं —

---

१. *हैं* – 'ब' प्रति पाठ २. *विसेष* – 'अ' प्रति पाठ ३. *तहा* – 'अ' प्रति पाठ

कम्मइयवग्गणासु य, अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो, पसज्जए[१] संखसमओ वा॥ ४९॥
जीवो परिणामयदे, पोग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते, कहं णु परिणामयदि चेदा॥ ५०॥
अह सयमेव हि परिणमदि, कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे, कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा॥ ५१॥
णियमा कम्मपरिणदं, कम्मं चिय होदि पोग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइ, परिणयं मुणसु तच्चेव॥ ५२॥

॥ पंचकं ॥

जीवे न स्वयं बद्धं, न स्वयं परिणमते कर्मभावेन।
यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति॥ छ॥

जीवे ण सयं बद्धं, ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पोग्गलदव्वमिणं,[२] अप्परिणामी तदा होदि॥ ११६॥
कम्मइयवग्गणासु य, अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो, पसज्जदे संखसमओ वा॥ ११७॥
जीवो परिणामयदे, पोग्गलदव्वाणि[३] कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते, कहं णु[४] परिणामयदि चेदा[५]॥ ११८॥
अह सयमेव हि परिणमदि, कम्मभावेण पोग्गलं दव्वं[६]।
जीवो परिणामयदे, कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा॥ ११९॥
णियमा कम्मपरिणदं, कम्मं चिय होदि पोग्गलं दव्वं[७]।
तह तं णाणावरणाइ, परिणदं मुणसु तच्चेव॥ १२०॥

---

१. *संपज्जइ* – 'अ' प्रति पाठ
२. *जदि पुग्गलदव्वमिणं* – तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ
३. *पुग्गलदव्वाणि* – तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ
४. *ते सयमपरिणमंतं कहं तु* – तात्पर्यवृत्ति पाठ
५. *णाणी* – तात्पर्यवृत्ति पाठ
६-७. *पुग्गलं दव्वं* – अगास प्रकाशन पाठ।

कार्मणवर्गणासु, चापरिणममानासु कर्मभावेन।
संसारस्याभावः, प्रसजति सांख्यसमयो वा॥ छ॥
जीवः परिणामयति, पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन।
तानि स्वयमपरिणममानानि, कथं नु परिणामयति चेतयिता॥ छ॥
अथ स्वयमेव हि परिणमते, कर्मभावेन पुद्गलं द्रव्यम्।
जीवः परिणामयति, कर्म कर्मत्वमिति मिथ्या॥ छ॥
नियमात् कर्मपरिणतं, कर्म चैव भवति पुद्गलं द्रव्यम्।
तथा तद्ज्ञानावरणादिपरिणतं जानीत तच्चैव॥ छ॥

॥ अर्थ॥ पुद्गलद्रव्य है सो जो जीव विषै आप स्वयं न वंध्या है अर कर्मभाव करि आप नाही परिणमै है, अैसैं मानिये तौ यह पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ठहरै है॥ छ॥

अथवा कार्मणवर्गणा आप कर्मभाव करि नाही परिणमैं हैं, अैसैं मानिये तौ संसार का अभाव ठहरै अथवा सांख्यमत का प्रसंग आवै है॥ छ॥

वहुरि जीव है सो पुद्गलद्रव्यनि कूं कर्मभाव करि परिणमावै है, अैसैं मानिये तौ ते पुद्गलद्रव्य

जीव में स्वयं नहिं बद्ध, अरु नहिं कर्मभावों परिणमे।
तो वही पुद्गलद्रव्य भी, परिणमनहीन बने अरे!॥ ११६॥
यदि वर्गणा कार्माण की, नहिं कर्मभावों परिणमे।
संसार का ही अभाव अथवा, सांख्यमत निश्चित बने॥ ११७॥
यदि कर्मभावों परिणमावे, जीव पुद्गलद्रव्य को।
जीव परिणमावे उसे कैसे, स्वयं नहिं परिणमित जो॥ ११८॥
स्वयमेव पुद्गलद्रव्य यदि, वह कर्मभावों परिणमे।
जीव परिणमावे कर्म को, 'कर्मत्व' वह मिथ्या बने॥ ११९॥
पुद्गलदरब यदि कर्मपरिणत, नियम से कर्म हि बने।
ज्ञानावरण इत्यादि परिणत, वही तुम जानो उसे॥ ११६॥

अर्थ – यदि 'पुद्गलद्रव्य, न तो जीव से स्वयं बँधा है और न ही कर्मभाव से स्वयं परिणमन करता है' – ऐसा माना जाता है तो यह पुद्गलद्रव्य अपरिणामी सिद्ध होता है॥ ११६॥

अथवा 'कार्मणवर्गणा, स्वयं कर्मभाव से नहीं परिणमती है' – ऐसा माना जाता है तो संसार का अभाव सिद्ध होता है अथवा सांख्यमत का प्रसङ्ग प्राप्त होता है॥ ११७॥

यदि 'जीव, पुद्गलद्रव्य को कर्मभाव से परिणमाता है' – ऐसा माना जाता है तो यह आशङ्का

आप नाही परिणमते संते हैं, तिनिकूं जीव चेतन कैसैं परिणमावै, यह तर्क ठहरै॥ छ॥

अथवा पुद्गलद्रव्य आप ही कर्मभाव करि परिणमैं है, अैसैं मानिये तौ जीव है सो कर्मभाव करि पुद्गलद्रव्य कूं परिणमावै है, अैसैं कहनां मिथ्या ठहरै॥ छ॥

तातैं यह ठहरया जो पुद्गलद्रव्य है सो कर्मरूप परिणया नियम तैं कर्मरूप होय है॥ अैसैं होतैं सो पुद्गलद्रव्य ही ज्ञानावरण आदिरूप परिणया जानूं॥ छ॥

॥ टीका॥ जो पुद्गलद्रव्य, जीव विषै आप नाही वंध्या संता स्वयमेव कर्मभाव करि नाही परिणमै है॥ तौ पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ही ठहरै है॥ अैसैं[१] होतैं संसार का अभाव होय है। कर्मरूप भयें विना जीव कर्मरहित ठहरै, तव संसार काहे का॥

वहुरि जो इहां अैसा तर्क करै जो जीव है सो पुद्गलद्रव्य कूं कर्मभाव करि परिणमावै है, तातैं संसार का अभाव नाही होय है॥

ताका समाधान कूं दोय पक्ष करि पूछै है जो जीव है सो पुद्गल कूं परिणमावै है सो स्वयं अपरिणमते कूं परिणमावै है कि स्वयं परिणमते कूं परिणमावै है॥ तहां प्रथम पक्ष लीजिये[१] तौ स्वयं अपरिणमते कूं तौ नाही परिणमावै है, जातैं आपं न परिणमते कूं पर कै परिणमावनें की सामर्थ्य नाही है॥ जातैं स्व तैं शक्ति नाही होय सो शक्ति पर करि करी न जाय है॥ वहुरि जो पुद्गलद्रव्य कूं स्वयं परिणमते कूं जीव कर्मभाव करि परिणमावै है, यह दूजी पक्ष कहै तौ आप परिणमता होय तौ अन्य

होती है कि स्वयं अपरिणमते हुए पुद्गलद्रव्य को चेतन कैसे परिणमा सकता है?॥ ११८॥

यदि ऐसा माना जाता है कि 'पुद्गलद्रव्य स्वयं ही कर्मभाव से परिणमता है' तो फिर 'जीव, पुद्गलद्रव्य को कर्मभाव से परिणमाता है' – यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है॥ ११९॥

अतः यह सिद्ध होता है कि 'पुद्गलद्रव्य, स्वयं कर्मरूप परिणमता हुआ, नियम से कर्मरूप होता है।' इस प्रकार पुद्गलद्रव्य ही ज्ञानावरण आदिरूप परिणमित होता है – ऐसा जानना॥ १२०॥

टीका – यदि पुद्गलद्रव्य, जीव में स्वयं नहीं बँधता हुआ स्वयं ही कर्मभाव से परिणमित नहीं होता है तो पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ही सिद्ध होता है – ऐसा होने पर संसार का अभाव होता है क्योंकि [पुद्गलद्रव्य के] कर्मरूप हुए बिना जीव कर्मरहित सिद्ध होता है, **तब संसार किसका?**

यदि यहाँ **ऐसा** तर्क किया जाए कि जीव, पुद्गलद्रव्य को कर्मभावरूप परिणमाता है, इसलिए संसार का अभाव नहीं होता है।

उसका **समाधान** करने के लिए दो प्रकार से प्रश्न करते हैं – यदि जीव, पुद्गल को परिणमाता है तो **स्वयं अपरिणमते हुए [पुद्गल] को परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुए को परिणमाता है?** – यदि पहला विकल्प लिया जाए तो स्वयं अपरिणमते हुए को तो परिणमाना सम्भव नहीं है क्योंकि **अपरिणमते हुए को परिणमाने की किसी में सामर्थ्य ही नहीं होती है, अतः यदि स्वयं में शक्ति न हो तो वह दूसरे के द्वारा पैदा नहीं की जा सकती है।** तथा यदि 'स्वयं परिणमते हुए पुद्गलद्रव्य को

---

१. *तौ अैसैं* – 'अ' प्रति पाठ

१. *लीजीये* – 'अ' प्रति पाठ

परिणमावनेंवाला की अपेक्षा नाही चाहै है॥ जातैं वस्तु की शक्ति हैं, ते पर कूं नाही अपेक्षारूप करैं हैं॥ तातैं पुद्गलद्रव्य है सो परिणामस्वभाव स्वयमेव होहु॥ तैसैं होतैं जैसैं कलशरूप परिणई मृत्तिका, आप सो कलश ही है, तैसैं जडस्वभाव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणया पुद्गलद्रव्य सो ही आप ज्ञानावरणादि कर्म ही है॥ अैसैं पुद्गलद्रव्य कै परिणामस्वभावपणां सिद्ध भया॥ छ॥

अव, इस अर्थ कै कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ उपजाति ॥

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य, स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं, यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता॥ १९॥

॥ अर्थ॥ अैसैं उक्त प्रकार करि पुद्गलद्रव्य कै परिणामशक्ति स्वभावभूत निर्विघ्न सिद्धि भई ठहरी॥ ताकूं ठहरतैं संतैं सो पुद्गलद्रव्य जिस भाव कूं आप कै करै है, ताका सो पुद्गलद्रव्य ही कर्त्ता है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ सर्व द्रव्यनि कै परिणामस्वभावपणां सिद्ध है, तातैं जाका भाव का जो ही कर्त्ता है सो पुद्गलद्रव्य भी जिस भाव कूं आप कै करै है, ताका सो ही कर्त्ता है॥ छ॥

आगैं, जीवद्रव्य कै परिणामस्वभावपणां साधै है॥ छ॥

जीव, कर्मभाव से परिणमाता है' – यह दूसरा विकल्प करें तो जो स्वयं परिणमित होता है, उसे अन्य किसी परिणमानेवाले की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि **वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती हैं;** अतः पुद्गलद्रव्य, स्वयमेव परिणामस्वभाववाला सिद्ध होता है – ऐसा होने पर जैसे कलशरूप परिणमित मिट्टी स्वयं कलश ही है, उसी प्रकार जड़स्वभावी ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित पुद्गलद्रव्य स्वयं ज्ञानावरणादि कर्म ही है; इस प्रकार पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वभावपना सिद्ध हुआ।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

सब पुद्गलों में है स्वभाविक, परिणमन की शक्ति जब।
तथा उनके परिणमन में, है न कोई विघ्न जब॥
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता, स्वयं के परिणमन का।
सहज ही यह नियम जानो, वस्तु के परिणमन का॥ ६४॥

अर्थ – इस प्रकार पुद्गलद्रव्य की परिणामशक्ति स्वभावभूत निर्विघ्न सिद्ध हुई — ऐसा सिद्ध होने पर वह पुद्गलद्रव्य, जिस भाव को स्वयं करता है, उसका कर्ता वह पुद्गलद्रव्य स्वयं ही है।

भावार्थ – सर्व द्रव्यों का परिणामस्वभावपना सिद्ध है, इसलिए जिसका जो भाव होता है, उसका वही कर्ता होता है; अतः वह पुद्गलद्रव्य भी जिस भाव को स्वयं करता है, उसका वही कर्ता है।

अब, जीवद्रव्य का परिणामस्वभावपना सिद्ध करते हैं —

ण सयं बद्धो कम्मे, ण सयं परिणमइ कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो, अप्परिणामी[१] तदा होइ॥ ५३॥
अपरिणमंतंमि सयं, जीवे कोहाइएहिं भावेहिं।
संसारस्स अभावो, पसज्जए संखसमओ वा॥ ५४॥
पुग्गलकम्मं कोहो, जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं, कहं णु परिणामयदि कोहो॥ ५५॥
अह सयमप्पा परिणमइ, कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे, जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा॥ ५६॥
कोहुवजुत्तो कोहो, माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया, लोहुवजुत्तो हवइ लोहो॥ ५७॥

॥ पंचकं ॥

ण सयं बद्धो कम्मे, ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ[२] एस तुज्झ जीवो, अप्परिणामी तदा होदि॥ १२१॥
अपरिणमंतम्हि सयं, जीवे कोहादिएहिं भावेहिं।
संसारस्स अभावो, पसज्जदे संखसमओ वा॥ १२२॥
पोग्गलकम्मं[३] कोहो, जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं, कहं णु[४] परिणामयदि कोहो॥ १२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि, कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे, जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा॥ १२४॥
कोहुवजुत्तो कोहो, माणवजुतो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया, लोहुवजुत्तो हवदि लोहो॥ १२५॥

---

१. *अपरिणामी* - 'अ' प्रति पाठ
२. *जदि* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
३. *पुग्गलकम्मं* - तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ
४. *किह* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

न स्वयं बद्ध कर्मणि, न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः।
यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति॥ छ॥
अपरिणममाने स्वयं, जीवे क्रोधादिभिः भावैः।
संसारस्याभावः, प्रसजति सांख्यसमयो वा॥ छ॥
पुद्गलकर्म क्रोधो, जीवं परिणामयति[१] क्रोधत्वम्।
तं स्वयमपरिणममानं कथं नु परिणामयति[२] क्रोधः॥ छ॥
अथ स्वयमात्मा परिणमते, क्रोधभावेन एषा ते बुद्धिः।
क्रोधः परिणामयति[३] जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या॥ छ॥
क्रोधोपयुक्तः क्रोधो, मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा।
मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः॥ छ॥

॥ अर्थ ॥ सांख्यमत के अनुसारी शिष्य[४] प्रति आचार्य कहै है जो हे भाई, तेरी बुद्धि मैं यह जीव कर्म विषै आप स्वयं न बंध्या है अर क्रोधादिक भावनि करि आप स्वयं न परिणमै है तौ अपरिणामी होय है॥ छ॥

यदि कर्म से नहिं स्वयं बद्ध, नहिं क्रोधभावों परिणमे।
तो जीव यह तुझ मत विषै, परिणमनहीन बने अरे!॥ १२१॥
क्रोधादिभावों से स्वयं नहिं, जीव आप हि परिणमे।
संसार का ही अभाव अथवा, सांख्यमत निश्चित बने॥ १२२॥
यदि क्रोध-पुद्गलकर्म जीव को, परिणमावे क्रोध में।
तो क्रोध कैसे परिणमावे, जो स्वयं नहिं परिणमे॥ १२३॥
अथवा स्वयं जीव क्रोधभावों, परिणमे तुझ बुद्धि से।
तो क्रोध जीव को परिणमावे, 'क्रोध' वह मिथ्या बने॥ १२४॥
क्रोधोपयोगी क्रोध जीव, मानोपयोगी मान है।
मायोपयोगी माया अरु, लोभोपयोगी लोभ है॥ १२५॥

अर्थ – सांख्यमत के अनुसारी शिष्य को आचार्य समझाते हैं – हे भाई! यदि तेरी बुद्धि में यह जीव, न तो कर्म से स्वयं बँधा है और न क्रोधादि भाव से स्वयं परिणमता है तो यह जीव अपरिणामी सिद्ध होता है॥ १२१॥

१-३. *परिणमयति* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ ४. *सिष्य* - 'अ' प्रति पाठ

सो अैसैं क्रोधादिक भावनि करि जीव कूं आप स्वयं न परिणमतैं संतैं संसार का अभाव होय है अर सांख्यमत का प्रसंग आवै है॥ छ॥

वहुरि कहैगा जो पुद्गलकर्म क्रोध है सो क्रोधभावरूप जीव कूं परिणमावै है तौ आप स्वयं नाही परिणमता जो जीव, ताहि क्रोध कैसैं परिणमावै, यह तर्क है॥ छ॥

अथवा तेरी अैसी वुद्धि है जो आत्मा आपै आप क्रोधभाव करि परिणमै है तौ जीव कूं क्रोध है सो क्रोधभावरूप परिणमावै है, अैसैं कहनां मिथ्या ठहरै है॥ छ॥

तातैं यह सिद्धांत है जो यह आत्मा, क्रोध तैं उपयुक्त होय है, उपयोग क्रोधाकाररूप परिणमै है, तव तौ क्रोध ही है॥ वहुरि मानकरि उपयुक्त होय है, तव यह आत्मा मान ही है॥ वहुरि माया करि उपयुक्त होय है, तव माया ही है। वहुरि लोभ करि उपयुक्त होय है, तव लोभ ही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जो जीव है सो कर्म विषै आप स्वयं नाही वंध्या संता क्रोधादि भाव करि आप नाही परिणमै है तौ सो जीव अपरिणामी ही होय है॥ तैसैं होतैं संसार का अभाव आवै है॥ अथवा जो ऐसा तर्क करै है जो पुद्गलकर्म क्रोधादिक है सो जीव कूं क्रोधादि भाव करि परिणमावै है। तातैं संसार का अभाव नाही होय है॥ तौ तहां दोय पक्ष पूछिए॥

जो पुद्गलकर्म क्रोधादिक है सो जीव कूं आपै आप अपरिणमते कूं परिणमावै है कि परिणमते कूं परिणमावै है॥ तहां प्रथम तौ आप नाही परिणमता होय, ताकूं तौ पर कै परिणमावनें का असमर्थपणां

अत: क्रोधादि भावोंरूप स्वयं नहीं परिणमते हुए जीव को संसार का अभाव होता है और सांख्यमत का प्रसङ्ग आता है॥ १२२॥

यदि कहते हो कि पुद्गलकर्मरूप क्रोध, जीव को क्रोधभावरूप परिणमाता है तो यह तर्क है कि स्वयं नहीं परिणमते हुए जीव को क्रोध कैसे परिणमा सकता है॥ १२३॥

अथवा यदि तेरी ऐसी बुद्धि है कि स्वयं आत्मा, अपने आप क्रोधभाव से परिणमता है तो जीव को क्रोध, क्रोधभावरूप परिणमाता है – ऐसा कहना मिथ्या सिद्ध होता है॥ १२४॥

अत: यह सिद्धान्त है कि जब यह आत्मा, क्रोध से उपयुक्त होता है अर्थात् उपयोग, क्रोधाकाररूप परिणमता है, तब [यह आत्मा] क्रोध ही है। इसी प्रकार जब मान से उपयुक्त होता है, तब यह आत्मा मान ही है; जब माया से उपयुक्त होता है, तब माया ही है और जब लोभ से उपयुक्त होता है, तब लोभ ही है॥ १२५॥

टीका – यदि जीव, कर्मों से स्वयं नहीं बँधता हुआ क्रोधादिभावरूप स्वयं परिणमित नहीं होता तो वह अपरिणामी ही सिद्ध होता है, वैसा होने पर संसार के अभाव का प्रसङ्ग आता है अथवा यदि ऐसा तर्क किया जाए कि पुद्गलकर्मरूप क्रोधादि, जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमाते हैं, अत: संसार का अभाव नहीं होता है तो यहाँ दो पक्ष उत्पन्न करके पूछते हैं —

पुद्गलकर्मरूप क्रोधादि, स्वत: अपरिणमते हुए जीव को परिणमाते है या स्वत: परिणमते हुए को परिणमाते है। वहाँ यदि प्रथम विकल्प को माना जाए तो स्वयं नहीं परिणमते हुए को परिणमाने

है॥ जातैं आप मैं जो शक्ति नाही जो पर करि करी न जाय है॥ वहुरि स्वयं परिणमता होय सो पर कूं परिणमावनेंवाला कूं नाही चाहै है, जातैं वस्तु की शक्ति हैं, ते पर की अपेक्षा नाही करैं हैं, अन्य मैं अन्य कोई शक्ति नई निपजाय सकै नाही॥ तातैं यह ठहरी जो जीव है सो परिणामस्वभावरूप स्वयमेव होहु॥

तैसैं होतैं जैसैं कोई मंत्रसाधक गरुड का ध्यान करता तिस गरुडभावरूप परिणया गरुड ही है, तैसैं यह जीव आत्मा अज्ञानस्वभाव क्रोधादिरूप परिणया जो उपयोग, तिसरूप आप स्वयमेव क्रोधादिक ही होय है॥ अैसैं जीव कै परिणामस्वभावपणां सिद्ध भया॥

॥ भावार्थ॥ जीव भी परिणामस्वभाव है, जव अपनां उपयोग क्रोधादिरूप परिणमै है, तव आप क्रोधादिकरूप ही होय है, अैसा जाननां॥ छ॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ उपजाति॥

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया, स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं, यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता॥ २०॥

॥ अर्थ॥ जीव कै अपनें स्वभाव ही तैं भई, अैसी परिणामशक्ति है सो पूर्वोक्त प्रकार निर्विघ्न

की किसी में सामर्थ्य नहीं है क्योंकि **यदि स्वयं में शक्ति नहीं हो तो वह अन्य के द्वारा पैदा नहीं की जा सकती** तथा यदि स्वयं परिणमता हो तो वह अन्य किसी परिणमानेवाले को चाहता नहीं है, क्योंकि **वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं करतीं,** एक वस्तु में कोई अन्यवस्तु नई शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकती है; अतः यह सिद्ध हुआ कि जीव स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है।

इस प्रकार जैसे, कोई मन्त्रसाधक गरुड़ का ध्यान करता हुआ, उस गरुड़भावरूप परिणमित हुआ गरुड़ ही है; उसी प्रकार यह जीवात्मा, अज्ञानस्वभाववाले क्रोधादिरूप परिणमते हुए उपयोगरूप होकर स्वयमेव क्रोधादि ही होता है। इस प्रकार जीव का परिणामस्वभावपना सिद्ध होता है।

भावार्थ – जीव भी परिणामस्वभावाला है; जब अपना उपयोग क्रोधादिरूप परिणमता है, तब वह स्वयं क्रोधादिरूप ही होता है – ऐसा जानना।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं –

आत्मा में है स्वाभाविक, परिणमन की शक्ति जब।
तथा उसके परिणमन में, है न कोई विघ्न जब॥
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता, स्वयं के परिणमन का।
सहज ही यह नियम जानो, वस्तु के परिणमन का॥ ६९॥

अर्थ – जीव में अपने स्वभाव से ही उत्पन्न ऐसी परिणामशक्ति पूर्वोक्त प्रकार से निर्विघ्न सिद्ध

ठहरी। ताकूं ठहरतैं संतैं सो जीव तिस भाव कूं आप कै करै, 'ताका सो ही'[१] कर्त्ता होय है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जीव भी परिणामी है सो आप जिस भाव रूप परिणमै, ताका कर्त्ता होय है॥ छ॥

आगैं, इस ही अर्थ कूं लेकरि भावनि का विशेष करि कर्त्ता कहै है॥ छ॥

जं कुणइ भावमादा, कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स स णाणमओ, अण्णाणमओ अणाणिस्स॥ ५८॥

यं करोति भावमात्मा, कर्ता स भवति तस्य कर्मणः।
ज्ञानिनः स ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः॥ ५८॥

॥ अर्थ॥ जो आत्मा जिस भाव कूं करै, सो ही तिस भावरूप कर्म का कर्त्ता होय है। तहां ज्ञानी कै तौ सो भाव ज्ञानमयी है॥ वहुरि अज्ञानी कै सो भाव अज्ञानमयी है॥ छ॥

॥ टीका॥ ऐसैं पूर्वोक्त कथन करि यह आत्मा आप स्वयमेव परिणामस्वभाव है, तौऊ जिस भाव कूं आप कै करै है सो ही भाव कर्म, के[२] भाव कूं प्राप्त होय है, ताका आप कर्तापणां कूं प्राप्त होय है॥

वहुरि सो भाव ज्ञानी कै तौ ज्ञानमयी ही है॥ जातैं ज्ञानी के सम्यक् प्रकार आपापर का भेदज्ञान

होती है; उसके सिद्ध होते ही वह जीव, अपने जिस भाव को करता है, उसका कर्ता वह ही होता है।

भावार्थ – जीव भी परिणामी है, वह जिस भावरूप परिणमता है, उसका कर्ता होता है।

अब, इसी अर्थ को लेकर भावों के भेदों के द्वारा कर्ता का स्वरूप स्पष्ट करते हैं —

जं कुणदि भावमादा, कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स स णाणमओ, अण्णाणमओ अणाणिस्स॥ १२६॥

जिस भाव को आत्मा करे, कर्ता बने उस कर्म का।
वह ज्ञानमय है ज्ञानी का, अज्ञानमय अज्ञानि का॥ १२६॥

अर्थ – जो आत्मा, जिस भाव को करता है, उस भावरूप कर्म का कर्ता वही होता है। वहाँ ज्ञानी का तो वह भाव, ज्ञानमयी है और अज्ञानी का वह भाव, अज्ञानमयी है॥ १२६॥

टीका – इस प्रकार पूर्वोक्त कथन के अनुसार यह आत्मा, स्वयं ही परिणमनस्वभाववाला है, फिर भी वह अपने जिस भाव को करता है, वही भाव, उसका कर्म है अर्थात् वही भाव, कर्म के भाव को प्राप्त होता है और वह स्वयं उसके कर्तापने को प्राप्त होता है।

वह भाव, ज्ञानी को तो ज्ञानमयी ही है क्योंकि ज्ञानी को तो सम्यक् प्रकार से आपा-पर का

---

१. *ताही का सो* – 'ब' प्रति पाठ २. *के* – 'ब' प्रति पाठ

भया है, ता करि अत्यंत उदय कूं प्राप्त भई जो सर्व परद्रव्यभावनि तैं भिन्न आत्मा की ख्याति तिस स्वरूपपणां है॥ वहुरि सो भाव अज्ञानी कै अज्ञानमयी ही है। जातैं अज्ञानी कै भलै प्रकार स्वपर का भेदज्ञान का अभाव करि भिन्न आत्मा की ख्याति कहिये प्रगटता सो अत्यंत अस्त भई है, भेदज्ञान का अभाव तैं भिन्न आत्मा कूं नाही जानैं है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञानी कै तौ आपापर का भेदज्ञान भया है, तातैं अपनां ज्ञानमयी भाव ही का कर्त्तापणां है। वहुरि अज्ञानी कै आपापर का भेदज्ञान नाही है, तातैं अज्ञानमयी ही भाव का कर्त्तापनां है॥ छ॥

आगैं कहै है जो ज्ञानमयी भाव तैं तौ कहा होय है अर अज्ञानमयी भाव तैं कहा होय है॥ छ॥

अण्णाणमओ भावो, अणाणिणो कुणइ तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु, ण कुणइ[१] तम्हा दु कम्माणि॥ ५९॥

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि।
ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु, न करोति तस्मात्तु कर्माणि॥ छ॥

॥ अर्थ॥ अज्ञानी कै अज्ञानमयी भाव है, तिस कारण करि अज्ञानी कर्मनि कूं करै है॥ वहुरि

भेदज्ञान होने से, उसे अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई, सर्व परद्रव्य के भावों से भिन्न आत्मा की ख्याति प्रगट हुई है, वह उसस्वरूप ही है। वह भाव, अज्ञानी को अज्ञानमयी ही है क्योंकि अज्ञानी को अच्छी तरह स्व-पर के भेदज्ञान का अभाव होने के कारण, उसे भिन्न आत्मा की ख्याति अर्थात् प्रगटता अत्यन्त अस्त हो गई है; अतः भेदज्ञान का अभाव होने के कारण, वह भिन्न आत्मा को नहीं जानता है।

भावार्थ – ज्ञानी को तो आपा-पर का भेदज्ञान हुआ है; अतः उसको अपने ज्ञानमयी भाव ही का कर्तापना है तथा अज्ञानी को आपा-पर का भेदज्ञान नहीं है, इसलिए उसको अज्ञानमयी भाव ही का कर्तापना है।

अब कहते हैं कि ज्ञानमयी भाव से क्या होता है? और अज्ञानमयी भाव से क्या होता है? —

अण्णाणमओ भावो, अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु, ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि॥ १२७॥

अज्ञानमय अज्ञानि का, जिससे करे वह कर्म को।
पर ज्ञानमय है ज्ञानि का, जिससे करे नहिं कर्म वो॥ १२७॥

अर्थ – अज्ञानी को अज्ञानमयी भाव है; अतः वह अज्ञानी, कर्मों को करता है और ज्ञानी को

---

१. *कुणदि* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

ज्ञानी कै ज्ञानमयी भाव है, तातैं सो ज्ञानी कर्मनि कूं नाही करै है॥ छ॥

॥ टीका॥ अज्ञानी कै निश्चय करि भलै प्रकार स्वपर का भेदज्ञान का अभाव है, ता करि अत्यंत अस्त भया है भिन्न आत्मा का प्रगटपणां जाकै, तिसपणें करि अज्ञानमयी ही भाव होय हैं, तिस अज्ञानमयी भाव के होतैं आत्मा का अर पर का एकपणां का निश्चय आशय करि ज्ञानमात्र अपनां आत्मस्वरूप तैं भ्रष्ट हूवा संता परद्रव्यस्वरूप जे राग द्वेष, तिनि करि सहित एक होय करि प्रवर्त्त्या है अहंकार जाकै, अैसा भया संता अज्ञानी अैसैं मानैं है, मैं रागी हौं, मैं द्वेषी हौं, अैसैं रागी होय है, द्वेषी होय है। तिस रागादिस्वरूप अज्ञानमयी भाव तैं अज्ञानी भया संता परद्रव्यस्वरूप जे राग द्वेष, तिनिस्वरूप आप कूं करता संता कर्मनि कूं करै है॥

वहुरि ज्ञानी कै सम्यक् भलै प्रकार आपापर का भेदज्ञान भया है, ता करि अत्यंत उदय भया है भिन्न आत्मा का प्रगटपणां जाकै, तिस भाव करि ज्ञानमयी ही भाव होय हैं, ताके होतैं अपनां अर पर का भिन्नपणां का ज्ञान करि ज्ञानमात्र अपनां आत्मस्वरूप विषै तिष्ठ्या संता ज्ञानी है सो परद्रव्यस्वरूप जे राग द्वेष, तिनिकरि न्यारापणां करि अपनां रस ही तैं निवृत्त भया है पर विषै अहंकार जाकै, अैसा भया संता निश्चय करि जानैं ही है, रागरूप नाही होय है तथा द्वेषरूप नाही होय है॥ तातैं ज्ञानमयी भाव तैं ज्ञानी भया संता परद्रव्यस्वरूप जे राग द्वेष, तिनिरूप आत्मा कूं नाही करता संता कर्मनि कूं नाही करै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ या आत्मा कै क्रोधादिक मोह की प्रकृति का उदय आवै है, ताका अपनें उपयोग

ज्ञानमयी भाव है; अत: वह ज्ञानी, कर्मों को नहीं करता है॥ १२७॥

टीका – अज्ञानी को निश्चय से सम्यक् प्रकार से स्व-पर के भेदज्ञान का अभाव होने से आत्मा का प्रगटपना अत्यन्त अस्त हो गया है, इसलिए उसको अज्ञानमयी ही भाव होते हैं; उस अज्ञानमयी भाव के होने पर, आत्मा और पर के एकपने के निश्चय या आशय के कारण, अपने ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप से भ्रष्ट होता हुआ अज्ञानी, परद्रव्यस्वरूप राग-द्वेष के साथ एक होकर अहङ्कार करता हुआ ऐसा मानता है कि 'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ' – ऐसे रागी होता है, द्वेषी होता है। इस प्रकार वह, उन रागादिस्वरूप अज्ञानमयी भाव से अज्ञानी होता हुआ, परद्रव्यस्वरूप राग-द्वेषमय अपने को करता हुआ, कर्मों को करता है।

ज्ञानी को सम्यक् प्रकार से आपा-पर का भेदज्ञान होने से भिन्न आत्मा का प्रगटपना अत्यन्त उदित हुआ है, इसलिए उसको ज्ञानमयी ही भाव होते हैं; उस ज्ञानमयी भाव के होने पर अपना और पर के भिन्नपने का ज्ञान होने के कारण, अपने ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप में स्थित होता हुआ ज्ञानी, परद्रव्यस्वरूप राग-द्वेष से भिन्नपने के कारण, अपने निजरस से पर के अहङ्कार से निवृत होता हुआ वह ज्ञानी निश्चय से जानता ही है, रागरूप नहीं होता है और द्वेषरूप नहीं होता है। इस प्रकार वह, ज्ञानमयी भाव से ज्ञानी होता हुआ, परद्रव्यस्वरूप राग-द्वेषमय अपनी आत्मा को नहीं करता हुआ, कर्मों को नहीं करता है।

भावार्थ – जब इस आत्मा में क्रोधादि-मोह की प्रकृति का उदय आता है, तब उसके अपने

मैं राग द्वेषरूप कलुष मलिन स्वाद आवै है, ताका भेदज्ञान विना अज्ञानी भया संता अैसा मानैं है जो यह राग द्वेषमयी मलिन उपयोग है सो ही मेरा स्वरूप है, यह ही मैं हूं, अैसा अज्ञानरूप अहंकार करि युक्त भया संता कर्मनि कूं वांधै है। अैसैं अज्ञानमयी भाव तैं कर्मवंध होय है॥

वहुरि जव अैसैं जानैं है जो ज्ञानमात्र शुद्ध उपयोग है सो तौ मेरा स्वरूप है सो मैं हौं अर राग द्वेष हैं सो कर्म का रस हैं, मेरा स्वरूप नाही, अैसा भेदज्ञान होय, तव ज्ञानी होय है, तव आप कूं राग द्वेष भावरूप नाही करै है, केवल ज्ञाता ही होय है, तव कर्म कूं नाही करै है॥ छ॥

आगैं, अगिली गाथा का अर्थ की सूचनिकारूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ आर्या ॥

ज्ञानमय एव भावः, कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।
अज्ञानमयः सर्वः, कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः॥ ६६॥

॥ अर्थ॥ इहां प्रश्न वचन है॥ जो ज्ञानी कै तौ ज्ञानमयी ही भाव होय है अर अन्य नाही होय है सो यह तौ काहे तैं है॥ वहुरि अज्ञानी कै अज्ञानमयी ही सर्व भाव होय है अर अन्य नाही होय हैं सो यह काहे तैं होय हैं॥ छ॥

इस ही प्रश्न के उत्तररूप गाथा है॥ छ॥

उपयोग में राग-द्वेषरूप कलुषता का मलिन स्वाद अनुभव में आता है, उसके भेदज्ञान के बिना अज्ञानी होता हुआ, वह ऐसा मानता है कि 'यह राग-द्वेषमयी मलिन उपयोग ही मेरा स्वरूप है, यही मैं हूँ' – ऐसे अज्ञानरूप अहङ्कार से युक्त होता हुआ [वह अज्ञानी], कर्मों को बाँधता है; इस प्रकार अज्ञानमयी भावों से कर्मबन्ध होता है।

लेकिन जब वह ऐसा जानता है कि '**ज्ञानमात्र शुद्ध उपयोग ही मेरा स्वरूप है, वही मैं हूँ और राग-द्वेष, कर्म के रस हैं, मेरा स्वरूप नहीं हैं**' – ऐसा भेदज्ञान होने पर वह ज्ञानी होता है; तब अपने को राग-द्वेष भावरूप नहीं करता है, केवल ज्ञाता ही होता है; कर्मों को नहीं करता है।

अब, आगामी गाथा के अर्थ की सूचनारूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला ॥

ज्ञानी के सब भाव शुभाशुभ ज्ञानमयी हैं,
अज्ञानी के वही भाव अज्ञानमयी हैं।
ज्ञानी और अज्ञानी में यह अन्तर क्यों है,
तथा शुभाशुभभावों में भी अन्तर क्यों है॥ ६६॥

अर्थ – यहाँ प्रश्न है कि ज्ञानी को तो ज्ञानमयी ही सब भाव होते हैं, अन्य नहीं होते हैं – **ऐसा क्यों होता है?** और अज्ञानी को अज्ञानमयी ही सब भाव होते हैं, अन्य नहीं होते हैं – **ऐसा क्यों होता है?**

णाणमया भावाओ, णाणमओ चेव जाय[1] भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स, सव्वे भावा हु णाणमया॥ ६०॥
अण्णाणमया भावाओ[2], अण्णाणो चेव जायए भावो।
जम्हा तम्हा भावा, अण्णाणमया अणाणिस्स॥ ६१॥

॥ युगलं॥

ज्ञानमयाद्भावात्, ज्ञानमयश्चैव जायते भावः।
यस्मात्तस्मात् ज्ञानिनः, सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः॥ छ॥
अज्ञानमयाद्भावादज्ञानश्चैव जायते भावः।
यस्मात्तस्मात् भावा, अज्ञानमया अज्ञानिनः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जातैं ज्ञानमयी भाव तैं ज्ञानमयी ही भाव उपजैं हैं, तातैं ज्ञानी कै निश्चय तैं सर्व भाव ज्ञानमयी ही उपजैं हैं॥ छ॥

वहुरि जातैं अज्ञानमयी भाव तैं अज्ञानमयी ही भाव होय है, तातैं अज्ञानी कै अज्ञानमयी ही भाव उपजै है॥ छ॥

इसी प्रश्न के उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं —

णाणमया भावादो, णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स, सव्वे भावा हु णाणमया॥ १२८॥
अण्णाणमया भावादो, अण्णाणो चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा भावा, अण्णाणमया अणाणिस्स॥ १२९॥

ज्यों ज्ञानमय इस भाव में से, ज्ञानभाव हि उपजते।
त्यों नियत ज्ञानी जीव के, सब भाव ज्ञानमयी बनें॥ १२८॥
अज्ञानमय कोइ भाव में से, अज्ञानभाव हि ऊपजे।
इस हेतु से अज्ञानी के, अज्ञानमय भाव हि बने॥ १२९॥

अर्थ – ज्ञानमयी भाव में से ज्ञानमयी ही भाव उत्पन्न होते हैं, इसलिए निश्चय से ज्ञानी को सर्व ज्ञानमयी ही भाव उत्पन्न होते हैं॥ १२८॥

इसी प्रकार अज्ञानमयी भाव में से अज्ञानमयी ही भाव होते हैं; अतः अज्ञानी को सर्व अज्ञानमयी ही भाव उत्पन्न होते हैं॥ १२९॥

---

१. *जायदे* – 'अ' 'ब' प्रति पाठ २. *भावा* – 'ब' प्रति पाठ

॥ टीका ॥ जातैं निश्चय करि अज्ञानमयी भाव तैं जो कछू भाव होय है सो सर्व ही अज्ञानपणां कूं नाही उल्लंघ्य करि वर्त्तता संता अज्ञानमयी ही होय है॥ तातैं अज्ञानी कै सर्व ही भाव अज्ञानमयी हैं॥ छ॥ वहुरि जातैं ज्ञानमयी भाव तैं जो कछू भाव होय है, सो सर्व ही ज्ञानमयीपणां कूं नाही उलंघ्य वर्त्तता संता ज्ञानमयी ही होय है॥ तातैं ज्ञानी कै सर्व ही भाव हैं, ते ज्ञानमयी हैं॥

॥ भावार्थ ॥ सुगम है॥

अव, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ अनुष्टुभ् ॥

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः, सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता, भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते॥ २२॥

॥ अर्थ ॥ ज्ञानी कै सर्व ही भाव हैं, ते ज्ञान करि निपजै हैं॥ वहुरि अज्ञानी कै जे सर्व ही भाव हैं, ते अज्ञान करि निपजै हैं॥ छ॥

आगैं, इस अर्थ कूं दृष्टांत करि दृढ करै है॥ छ॥

कणयमया भावादो, जायंते कुण्डलादयो भावा।
अयमइया भावादो, जह जायंते तु कडयाई॥ ६२॥

टीका – चूंकि निश्चय से अज्ञानमयी भाव में से जो कुछ भाव उत्पन्न होते हैं, वे सभी अज्ञानमयता को छोड़ कर नहीं होते हुए अज्ञानमयी ही होते हैं; इसलिए अज्ञानी के सर्व ही भाव अज्ञानमयी हैं तथा चूंकि ज्ञानमयी भाव में से जो कुछ भाव उत्पन्न होते हैं, वे सर्व ही ज्ञानमयता को छोड़े बिना होते हुए ज्ञानमयी ही होते हैं; इसलिए ज्ञानी के सर्व ही भाव ज्ञानमयी हैं।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला ॥

ज्ञानी के सब भाव ज्ञान से बने हुए हैं,
अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमयी हैं।
उपादान के ही समान कारज होते हैं,
जौ बोने पर जौ ही तो पैदा होते हैं॥ ६७॥

अर्थ – ज्ञानी के सर्व ही भाव, ज्ञान से उत्पन्न होते हैं तथा अज्ञानी के सर्व ही भाव, अज्ञान से उत्पन्न होते हैं।

अब, इसी अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं —

कणयमया भावादो, जायंते कुण्डलादओ भावा।
अयमयया भावादो, जह जायंते दु कडयादी॥ १३०॥

अण्णाणमया भावा, अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया, सव्वे भावा तहा होंति॥ ६३॥

॥ युगलं॥

कनकमयाद्भावाज्जायन्ते कुण्डलादयो भावाः।
अयोमयकाद्भावाद्यथा जायन्ते तु कटकादयः॥ छ॥
अज्ञानमयाद्भावा अज्ञानिनो बहुविधा अपि जायन्ते।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयाः सर्वे भावास्तथा भवन्ति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ प्रथम दृष्टांत॥ जैसैं सुवर्णमयी भाव तैं सुवर्णमयी कुंडल आदिक भाव होय हैं॥ वहुरि लोहमयी भाव तैं लोहमयी कड़ा इत्यादिक भाव होय हैं॥ छ॥

याका दार्ष्टांत॥ तैसैं अज्ञानी कै अज्ञानमयी भाव तैं अनेक प्रकार के अज्ञानमयी भाव होय हैं॥ वहुरि ज्ञानी कै सर्व ज्ञानमयी भाव तैं सर्व ही ज्ञानमयी भाव होय हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं निश्चय करि पुद्गलद्रव्य कै स्वयं परिणामस्वभावपणांरूप होतैं भी जैसा पुद्गल कारण होय, तिसकै स्वरूप कार्य होय, यह प्रसिद्ध है। ऐसैं होतैं सुवर्णमयी भाव तैं सुवर्णजाति कूं नाही उल्लंघ्य वर्त्तता सुवर्णमयी ही कुंडल आदिक भाव होय हैं॥ सुवर्ण तैं लोहमयी कडा आदिक

अण्णाणमया भावा, अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया, सव्वे भावा तहा होंति॥ १३१॥

ज्यों कनकमय कोइ भाव में से, कुण्डलादिक ऊपजें।
पर लोहमय कोइ भाव में से, कटक भाव हि नीपजें॥ १३०॥
त्यों भाव बहुविध ऊपजें, अज्ञानमय अज्ञानि के।
पर ज्ञानि के तो सर्व भाव हि, ज्ञानमय निश्चित बनें॥ १३१॥

अर्थ – यहाँ पहले **दृष्टान्त** – जैसे, स्वर्णमयी भाव में से स्वर्णमयी कुण्डल आदि भाव और लोहमयी भाव में से लोहमयी कड़ा इत्यादि भाव होते हैं॥ १३०॥

इसका **दार्ष्टान्त (सिद्धान्त)** – जैसे, अज्ञानी के अज्ञानमयी भाव में से अनेक प्रकार के अज्ञानमयी भाव होते हैं और ज्ञानी के सर्व ज्ञानमयी भाव में से सभी ज्ञानमयी भाव होते हैं॥ १३१॥

टीका – जिस प्रकार निश्चय से पुद्गलद्रव्य को स्वयं परिणमनस्वभावीपना होते हुए भी **'जैसा पुद्गल कारण होता है, उसी के अनुसार कार्य होता है'**, यह प्रसिद्ध है – ऐसा होते हुए स्वर्णमयी भाव में से, स्वर्णजाति को छोड़े बिना स्वर्णमयी ही कुण्डल आदि भाव होते हैं, स्वर्ण में

भाव न होय हैं॥ वहुरि लोहमयी भाव तैं लोह की जाति कूं नाहीं उल्लंघ्य वर्त्तते लोहमयी कडा आदिक भाव होय हैं॥ वहुरि लोह तैं सुवर्णमयी कुंडल आदिक भाव नाही होय हैं॥

तैसैं जीव कैस्वयं परिणामस्वभावरूप होतैं संतैं भी जैसा कारण होय तैसा ही कार्य होय, अैसा न्याय है, इस न्याय तैं अज्ञानी कै स्वयमेव अज्ञानमयी भाव तैं अज्ञान की जाति कूं नाही उल्लंघ्य वर्त्तते अनेक प्रकार के अज्ञानमयी ही भाव होय हैं अर ज्ञानमयी नाही होय हैं॥ वहुरि ज्ञानी कै स्वयमेव ज्ञानमयी भाव है, यातैं ज्ञान की जाति कूं नाही उल्लंघ्य वर्त्तते सर्व ज्ञानमयी ही भाव होय हैं, अज्ञानमयी नाही होय हैं॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जैसा कारण होय तैसा ही कार्य होय, इस न्याय तैं जैसैं सुवर्ण तैं तौ सुवर्णमयी गहणें होय, लोह तैं लोहमयी होय, तैसैं अज्ञानी कै अज्ञान तैं अज्ञानमयी ही भाव होय हैं, ज्ञानी कै ज्ञान तैं ज्ञानमयी ही भाव होय हैं।

इहां अैसा आशय जाननां, जो अज्ञानभाव तौ क्रोधादिक हैं, ज्ञानभाव क्षमा आदिक हैं। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टी कै चारित्रमोह के उदय तैं क्रोधादिक भी प्रवर्त्तै हैं, तथापि तिनि विषै आत्मवुद्धि नाही है, परनिमित्त तैं भई उपाधि मानैं है सो उदय देय षिरै है, आगामी अैसा वंध नाही करै है, जातैं संसार का भ्रमण वधै अर आप उद्यमी होय तिनिरूप परिणमै भी नाही है, उदय की वरजोरी तैं परिणमै है, तातैं तहां भी ज्ञान ही विषै अपनां स्वामिपणां माननें तैं तिनि क्रोधादि भाव का भी अन्य ज्ञेय की ज्यों ज्ञाता ही है, कर्त्ता नाही है। अैसैं तहां भी ज्ञानीपणां करि ज्ञानभाव ही भया जाननां॥ छ॥

से लोहमयी कड़ा आदि भाव नहीं होते है तथा लोहमयी भाव में से, लोह की जाति को छोड़े बिना लोहमयी ही कड़ा आदि भाव होते हैं, लोहे में से स्वर्णमयी कुण्डल आदि भाव नहीं होते हैं।

उसी प्रकार जीव को स्वयं परिणमनस्वभावीपना होते हुए भी '**जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है**' – इस न्याय से अज्ञानी को स्वयमेव अज्ञानमयी भाव में से अज्ञान की जाति को छोड़े बिना होनेवाले अनेक प्रकार के अज्ञानमयी ही भाव होते हैं, ज्ञानमयी नहीं होते तथा ज्ञानी को स्वयमेव ज्ञानमयी भाव में से ज्ञान की जाति को छोड़े बिना होनेवाले सर्व ज्ञानमयी ही भाव होते हैं, अज्ञानमयी नहीं होते।

भावार्थ – 'जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है' – इस न्याय से जैसे, स्वर्ण में से स्वर्णमयी आभूषण बनते हैं, लोहे में से लोहमयी वस्तुएँ बनती हैं; उसी प्रकार अज्ञानी को अज्ञान में से अज्ञानमयी ही भाव होते हैं, ज्ञानी को ज्ञान में से ज्ञानमयी ही भाव होते हैं।

यहाँ ऐसा आशय समझना कि अज्ञानमय भाव तो क्रोधादि हैं और ज्ञानमय भाव क्षमा आदि हैं। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि को चारित्रमोह के उदय से क्रोधादि भी प्रवर्तते हैं तथापि उसको उनमें आत्मबुद्धि नहीं होती है, वह उन्हें परनिमित्त से उत्पन्न हुई उपाधि मानता है, जो उदय में आकर खिर जाते हैं, वे उसे आगामी काल में ऐसा बन्ध नहीं करते हैं, जिससे संसार-भ्रमण में वृद्धि हो, वह स्वयं उद्यमी होकर उनरूप परिणमता भी नहीं है, उदय की बलवत्ता के कारण परिणमता है; इसलिए वहाँ भी ज्ञान ही में अपना स्वामित्व मानने से वह उन क्रोधादि भावों का भी अन्य ज्ञेयों की तरह ज्ञाता

आगैं, अगिली गाथा की सूचनिका के अर्थरूप श्लोक है॥ छ॥

॥ अनुष्टुभ्॥

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्यभूमिकाम्[१]।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम्॥ २३॥

॥ अर्थ॥ अज्ञानी है सो अज्ञानमयी अपनें भाव, तिनिकी भूमिका कूं व्याप्य करि आगामी द्रव्यकर्म कूं कारण जे अज्ञानादिक भाव, तिनिका हेतुपणां कूं प्राप्त होय है॥ छ॥

सो ही अर्थ, गाथा पाँच करि कहै है॥ छ॥

अण्णाणस्स स उदओ, जा जीवस्स दु अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ, जीवस्स असद्दहाणत्तं॥ ६४॥
उदओ असंजमस्स दु, जं जीवाणं हवेइ अविरमणं।
जो दु कलुसोवओगो, जीवाणं सो कसाउदओ॥ ६५॥
तं जाण जोगउदयं, जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहणं वा, कायव्वो विरदिभावो वा॥ ६६॥

ही हैं; कर्ता नहीं है। इस प्रकार वहाँ भी ज्ञानीपना होने के कारण ज्ञानभाव ही हुआ समझना।

अब, आगामी गाथा की सूचना के अर्थरूप श्लोक कहते हैं —

॥ दोहा॥

अज्ञानी अज्ञानमय, भावभूमि में व्याप्त।
इस कारण द्रव्यकर्म के, हेतुपने को प्राप्त॥ ६८॥

अर्थ – अज्ञानी, अपने अज्ञानमयी भावों की भूमिका में व्याप्त होकर, आगामी द्रव्यकर्म को कारणभूत अज्ञानादि भावों के हेतुपने को प्राप्त होता है।

अब, इसी अर्थ को पाँच गाथाओं द्वारा कहते हैं —

अण्णाणस्स स उदओ, जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ, जीवस्स असद्दहाणत्तं[२]॥ १३२॥
उदओ असंजमस्स दु, जं जीवाणं हवेदि अविरमणं।
जो दु कलुसोवओगो, जीवाणं सो कसाउदओ॥ १३३॥

---

१. *भूमिका:* – 'अ' 'ब' प्रति पाठ
२. *जीवाणं अतच्चसद्दहणं* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

एदेसु हेदुभूदेसु, कम्मइयवग्गणागयं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं, णाणावरणादिभावेहिं॥ ६७॥
तं खलु जीवणिबद्धं, कम्मइयवग्गणागयं जइया।
तइया दु होदि हेदू, जीवो परिणामभावाणं॥ ६८॥

॥ पंचकं॥

अज्ञानस्य स उदयो, या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः।
मिथ्यात्वस्य तूदयो, जीवस्याश्रद्दधानत्वम्॥ छ॥
उदयोऽसंयमस्य तु, यज्जीवानां भवेदविरमणम्।
यस्तु कलुषोपयोगो, जीवानां स कषायोदयः॥ छ॥
तं जानीहि योगोदयं, यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः।
शोभनोऽशोभनो वा, कर्तव्यो विरतिभावो वा॥ छ॥

तं जाण जोगउदयं, जो[1] जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहणं वा, कायव्वो विरदिभावो वा॥ १३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु, कम्मइयवग्गणागदं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं, णाणावरणादिभावेहिं॥ १३५॥
तं खलु जीवणिबद्धं, कम्मइयवग्गणागदं जइया।
तइया दु होदि हेदू, जीवो परिणामभावाणं॥ १३६॥

जो तत्त्व का अज्ञान जीव के, उदय वह अज्ञान का।
तत्त्व की अप्रतीति जीव के, उदय वह मिथ्यात्व का॥ १३२॥
जीव का जु अविरतभाव है, वह उदय असंयम का कहा।
जीव का कलुष-उपयोग वह, उदय जान कषाय का॥ १३३॥
शुभ-अशुभ वर्तन या निवर्तन रूप जो चेष्टा हि का।
उत्साह-वर्धन जीव में, वह उदय जानों योग का॥ १३४॥

---

१. जं - तात्पर्यवृत्ति पाठ

एतेषु हेतुभूतेषु, कार्मणवर्गणागतं यत्तु।
परिणमतेऽष्टविधं, ज्ञानावरणादिभावैः॥ छ॥
तत्खलु जीवनिबद्धं, कार्मणवर्गणागतं यदा।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानाम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो जीवनि कै अतत्व की उपलब्धि है, अन्यथा स्वरूप का जाननां है सो तौ अज्ञान का उदय है॥ वहुरि जो जीव कै अतत्त्व का श्रद्धान है सो मिथ्यात्व का उदय है॥ छ॥

वहुरि जो जीवनि कै अविरमण कहिये अत्यागभाव है सो असंयम का उदय है॥ वहुरि जो जीवनि कै कलुष कहिये मलिन जाणपणां की स्वच्छता तैं रहित उपयोग है सो कषाय का उदय है॥ छ॥

वहुरि जो जीवनि कै शुभरूप तथा अशुभरूप मन वचन काय की चेष्टा का उत्साह करनें योग्य तथा न करनें योग्य का व्यापार है, ताकूं योग का उदय जानूं॥ छ॥

इनिकूं हेतुभूत होतैं जो कार्मणवर्गणारूप आय प्राप्त भया अष्ट प्रकार ज्ञानावरणादि भावनि करि परिणमैं है॥ छ॥

सो निश्चय तैं जिस काल कार्मणवर्गणारूप आया संता जीव विषै निवद्ध होय है॥ तिस काल तिनि अज्ञानादिक परिणामभावनि का कारण जीव होय है॥ छ॥

॥ टीका॥ अतत्व कहिये अयथार्थ वस्तुस्वरूप की उपलब्धि करि ज्ञान विषै स्वाद मैं आवै

जब होंय हेतुभूत ये तब, स्कन्ध जो कार्माण के।
वे अष्टविध ज्ञानावरण, इत्यादि भावों परिणमे॥ १३५॥
कार्मणवर्गणारूप वे जब, बन्ध पावें जीव में।
आत्मा हि जीव-परिणामभावों, का तभी हेतु बने॥ १३६॥

अर्थ – जो जीवों को अतत्त्व की उपलब्धि है, अन्यथा स्वरूप का जानना होता है, वह तो अज्ञान का उदय है और जो जीवों को अतत्त्व का श्रद्धान है, वह मिथ्यात्व का उदय है॥ १३२॥

जो जीवों को अविरमण अर्थात् अत्यागभाव है, वह असंयम का उदय है और जो जीवों को जानपने की स्वच्छता से रहित कलुष या मलिन उपयोग है, वह कषाय का उदय है॥ १३३॥

जो जीवों को शुभरूप अथवा अशुभरूप मन-वचन-काय की चेष्टा का उत्साह अर्थात् करने योग्य या नहीं करने योग्य व्यापार है, उसे योग का उदय जानो॥ १३४॥

इनके निमित्तभूत होने पर कार्मणवर्गणा आकर या प्राप्त होकर, आठ प्रकार के ज्ञानावरण आदि भावों (भेदों) के रूप में परिणमित होती है॥ १३५॥

निश्चय से जिस समय वे कार्मणवर्गणाएँ आकर जीव में बँधती हैं, उस समय उन अज्ञान आदि परिणामभावों का कारण जीव होता है॥ १३६॥

सो अज्ञान का उदय है॥ मिथ्यात्व असंयम कषाय योगादिक, तिस अज्ञानमयी च्यारि भाव हैं।

कैसैं हैं ते। ज्ञानावरण आदि कर्म कै कारण हैं॥ तहां तत्व के अश्रद्धानरूप करि ज्ञान मैं आस्वाद आवै सो तो मिथ्यात्व का उदय है॥ वहुरि अविरमण कहिये अत्यागभाव करि ज्ञान विषै आस्वादरूप आवै है सो असंयम का उदय है॥ वहुरि कलुष कहिये मलिन उपयोगरूप करि ज्ञान विषै आस्वादरूप आवै है सो कषाय का उदय है॥ वहुरि शुभ अशुभ, प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप व्यापाररूप करि ज्ञान विषै स्वादरूप होय है सो योग का उदय है॥

ए मिथ्यात्व आदि का उदयस्वरूप च्यार्यों भाव पुद्गल के हैं, ते आगामी कर्मवंध कूं कारण होय हैं, तिनिकूं कारणरूप होतैं जो पुद्गलद्रव्य कर्मवर्गणारूप आया हूवा ज्ञानावरण आदि भावनि करि अष्ट प्रकार स्वयमेव परिणमै है॥

सो यहु ज्ञानावरणादिकरूप कर्मवर्गणा करि प्राप्त भया जब जीव विषै निवद्ध होय, तव जीव है सो स्वयमेव अपनें अज्ञानभाव तैं पर का अर आत्मा का एकपणां निश्चय करि अज्ञानमयी जे अतत्वार्थश्रद्धान आदिक अपनें परिणामस्वरूप भाव, तिनिका कारण होय है॥

॥ भावार्थ॥ अज्ञानभाव के भेदरूप जे मिथ्यात्व अविरत कषाय योगरूप परिणाम, ते पुद्गल के परिणाम हैं। ते ज्ञानावरण आदि आगामी कर्म वंधनें कूं कारण हैं॥ अर जीव तिनि मिथ्यात्व आदि भावनि का उदय होतैं अपनें अज्ञानभाव तैं अतत्वश्रद्धान आदि भावनिरूप परिणमै है, तिनि अपनें अज्ञानरूप भावनि का कारण होय है॥ छ॥

टीका – अतत्त्व अर्थात् अयथार्थ वस्तुस्वरूप की उपलब्धि से ज्ञान में जो स्वाद आता है, वह अज्ञान का उदय है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग — ये चार अज्ञानमयी भाव हैं।

कैसे हैं वे? – ज्ञानावरण आदि कर्मों के कारण हैं। वहाँ तत्त्व के अश्रद्धानरूप से जो ज्ञान में आस्वाद या अनुभव आता है, वह तो **मिथ्यात्व का उदय** है। अविरमण अर्थात् अत्यागभावरूप से जो ज्ञान में आस्वाद या अनुभव आता है, वह **असंयम का उदय** है। कलुष अर्थात् मलिन उपयोगरूप से जो ज्ञान में आस्वाद या अनुभव आता है, वह **कषाय का उदय** है। तथा शुभ-अशुभ में प्रवृत्ति-निवृत्तिमय व्यापाररूप से जो ज्ञान में आस्वाद या अनुभव आता है, वह **योग का उदय** है।

इन मिथ्यात्व आदि के उदयस्वरूप चारों भाव, पुद्गल के हैं, वे आगामी कर्मबन्ध के कारण हैं; इनके कारणरूप होने पर कर्मवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य, आकर ज्ञानावरण आदि भावों के रूप में आठ प्रकार से स्वयमेव परिणमता है।

जब यह (पुद्गलद्रव्य) ज्ञानावरण आदि कर्मवर्गणारूप प्राप्त होकर जीव से निबद्ध होता है; तब यह जीव, स्वयं ही अपने अज्ञानभाव के कारण, पर और आत्मा के एकपने का निश्चय करके अज्ञानमयी अतत्त्वश्रद्धान आदि अपने परिणामस्वरूप भावों का कारण होता है।

भावार्थ – अज्ञानभाव के भेदरूप मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप परिणाम, पुद्गल के परिणाम हैं; वे ज्ञानावरण आदि कर्म के बँधने में कारण हैं। जीव, उन मिथ्यात्व आदि भावों का उदय होने पर अपने अज्ञानभाव से अतत्त्वश्रद्धान आदि भावोंरूप परिणमता है और अपने उन अज्ञानरूप

आगैं कहै है जो पुद्गलद्रव्य का परिणाम है सो जीव तैं न्यारा ही है॥

जइ जीवेण सह च्चिय, पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पोग्गलजीवा, हु दो वि कम्मत्तमावण्णा॥ ६९॥
एकस्स दु परिणामो, पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं, विणा कम्मस्स परिणामो॥ ७०॥

॥ युग्मं॥

यदि जीवेन सह चैव, पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः।
एवं पुद्गलजीवौ, खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ॥ छ॥
एकस्य तु परिणामः, पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन।
तज्जीवभावहेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो जीव करि सहित ही पुद्गलद्रव्य का कर्मरूप परिणाम होय है॥ ऐसैं मानिये तौ ऐसैं तौ जीव अर पुद्गल दोऊ ही कै कर्मभाव कूं प्राप्त होनां आया॥ छ॥

भावों का कारण होता है।

अब कहते हैं कि पुद्गलद्रव्य का परिणाम जीव से भिन्न ही है —

जइ जीवेण सह च्चिय, पोग्गलदव्वस्स[1] कम्मपरिणामो।
एवं पोग्गलजीवा हु, दो वि कम्मत्तमावण्णा॥ १३७॥
एकस्स दु परिणामो, पोग्गलदव्वस्स[2] कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं, विणा कम्मस्स परिणामो॥ १३८॥[3]

यदि कर्ममय परिणाम, जीव के साथ पुद्गल का बने।
तो जीव अरु पुद्गल उभय ही, कर्मपन पावें अरे!॥ १३७॥
पर कर्मभावों परिणमन है, एक पुद्गलद्रव्य का।
जीवभावहेतु के बिना वह, कर्म का परिणाम है॥ १३८॥

अर्थ – यदि ऐसा माना जाए कि जीव के साथ ही पुद्गलद्रव्य का कर्मरूप परिणाम होता है

१-२. *पुग्गलदव्वस्स* - तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ

३. तात्पर्यवृत्ति, अगास एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन में गाथा १३७-१३८ को १३९-१४० एवं १३९-१४० को १३७-१३८ के स्थान पर रखा गया है।

तातैं जीवभाव निमित्तकारण है, तिनि विना न्यारा ही कर्म का परिणाम है सो एक पुद्गलद्रव्य ही का कर्मभाव करि परिणाम है॥ छ॥

॥ टीका॥ जो पुद्गलद्रव्य का कर्मपरिणाम है सो तिसकूं निमित्तभूत जो जीव का रागादि अज्ञानपरिणाम, तिसरूप परिणया जो जीव, तिस करि सहित ही होय है, अैसा तर्क कीजिये तौ पुद्गलद्रव्य कै अर जीव कै दोऊ कै जैसैं हलद कै अर फिटकडी कै दोऊ कै साथि ही रंग का परिणाम होय है। तैसैं दोऊ ही के कर्मपरिणाम की प्राप्ति आवै है॥ सो अैसैं है नाही।

तातैं अैसा सिद्ध होय है जो कर्मपरिणाम है सो एक पुद्गलद्रव्य ही का है, तातैं जीव का रागादिस्वरूप अज्ञानपरिणाम, जो कर्म कूं निमित्तकारण है, तिनितैं न्यारा ही पुद्गलकर्म का परिणाम है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जो पुद्गलद्रव्य कै कर्मपरिणाम होनां जीव की साथि ही मानिये तौ दोऊ कै कर्मपरिणाम ठहरै॥ तातैं जीव का अज्ञानरूप रागादि परिणाम कर्म कूं निमित्त है, तिसतैं पुद्गलकर्म-परिणाम पुद्गलद्रव्य कै, जीव तैं न्यारा ही है॥ छ॥

आगैं कहैं है जो अैसैं ही जीव का परिणाम है सो पुद्गलद्रव्य तैं न्यारा ही है॥

जीवस्स दु कम्मेण य, सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च, दो वि रागादिमावण्णा॥ ७१॥

तो जीव और पुद्गल, दोनों ही में कर्मभाव को प्राप्त होने का प्रसङ्ग आता है॥ १३७॥

अत: जीवभावों के निमित्तकारण बिना, कर्म का परिणाम भिन्न ही है; वह एक पुद्गलद्रव्य ही का कर्मभावरूप परिणाम है॥ १३८॥

टीका – यदि यहाँ ऐसा तर्क किया जाए कि जो पुद्गलद्रव्य का कर्मपरिणाम है, उसको निमित्तभूत जीव का रागादि अज्ञानपरिणाम है, उस अपने अज्ञानपरिणामरूप परिणमित जीव के साथ ही कर्मपरिणाम होता है तो जैसे, हल्दी और फिटकरी, दोनों का मिल कर ही रङ्ग का परिणमन होता है; उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य और जीव, दोनों ही का मिल कर कर्मपरिणाम की प्राप्ति का प्रसङ्ग आता है, किन्तु ऐसा है नहीं।

इस प्रकार ऐसा सिद्ध होता है कि एक पुद्गलद्रव्य ही का कर्मपरिणाम है। इस कारण जीव का रागादिस्वरूप अज्ञानपरिणाम, कर्म का निमित्तकारण है; अत: अज्ञानपरिणाम से भिन्न ही पुद्गलकर्म का परिणाम है।

भावार्थ – यदि पुद्गलद्रव्य का कर्मपरिणाम होना, जीव के साथ ही माना जाए तो दोनों का ही कर्मपरिणाम सिद्ध होता है; अत: जीव का अज्ञानरूप रागादि परिणाम, कर्म का निमित्त है। इस कारण उसके निमित्त से होनेवाला पौद्गलिक कर्मरूप परिणाम पुद्गलद्रव्य का है, वह जीव से भिन्न ही है।

अब कहते हैं कि इसी प्रकार जीव का परिणाम भी पुद्गलद्रव्य से भिन्न ही है –

एकस्स दु परिणामो, जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहिं, विणा जीवस्स परिणामो॥ ७२॥

॥ युगलं॥

जीवस्य तु कर्मणा च, सह परिणामाः खलु भवन्ति रागादयः।
एवं जीवः कर्म च, द्वे अपि रागादित्वमापन्ने॥ छ॥
एकस्य तु परिणामो, जायते जीवस्य रागादिभिः।
तत्कर्मोदयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो ऐसैं मानिये जो जीव कै परिणाम रागादिक होय हैं, ते कर्म करि सहित होय हैं तौ जीव अर कर्म ए दोऊ ही रागादि परिणाम कूं प्राप्त होय, ऐसा आवै॥ छ॥

तातैं यह सिद्ध होय है जो रागादि करि एक जीव ही का परिणाम उपजै है॥ सो इनि परिणामनि कूं कर्म का उदय निमित्तकारण है, तिस निमित्तरूप कर्मपरिणामनि तैं न्यारा परिणाम केवल एक जीव ही का है॥ छ॥

॥ टीका॥ जो जीव का परिणाम रागादिरूप होय है सो तिसकूं निमित्तभूत जो विपाकरूप

जीवस्स दु कम्मेण य, सह परिणामा हु होंति रागादि।
एवं जीवो कम्मं च, दो वि रागादिमावण्णा॥ १३९॥
एकस्स दु परिणामो, जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहिं, विणा जीवस्स परिणामो॥ १४०॥

जीव में कर्म के साथ ही, यदि भाव रागादिक बने।
तो कर्म अरु जीव उभय ही, रागादिपन पावें अरे॥ १३९॥
पर परिणमन रागादिरूप तो, होय है जीव एक के।
इससे ही कर्मोदय-निमित्त से, भिन्न जीव-परिणाम है॥ १४०॥

अर्थ – यदि ऐसा माना जाए कि जीव के रागादि परिणाम, कर्मसहित होते हैं तो जीव और कर्म, दोनों ही को रागादि परिणाम प्राप्त होने का प्रसङ्ग आता है॥ १३९॥

अतः यह सिद्ध होता है कि एक जीव ही का रागादिरूप परिणाम होता है, इन परिणामों के होने में कर्म का उदय निमित्तकारण है; उस निमित्तरूप कर्मपरिणाम से भिन्न रागादिरूप परिणाम, केवल एक जीव ही का होता है॥ १४०॥

टीका – यदि यहाँ ऐसा **तर्क** किया जाए कि जो जीव का रागादिरूप परिणाम होता है, वह

भया उदय आया जो पुद्गलकर्म, तिस करि सहित ही होय है, अैसा तर्क कीजिये तौ जीव कै अर पुद्गलकर्म कै दौऊ कै जैसैं साथि रंग में डारे हलद अर फिटकडी, तिनि दोऊनि कै रंगरूप परिणाम होय है, तैसैं दोऊ ही कै कर्मपरिणाम की प्राप्ति आवै सो अैसैं है नाहीं॥

वहुरि जौ अैसैं मानिये जो रागादि अज्ञानपरिणाम केवल एक जीव ही कै होय है तौ इस हेतु तैं अैसा आया जो पुद्गलकर्म का उदय जीव के रागादि अज्ञानपरिणामनि कूं निमित्त है, तिस विना न्यारा ही जीव का परिणाम है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ पुद्गलकर्म का उदय कै लार ही जीव का परिणाम मानिये तौ जीव कै अर कर्म कै दोऊ कै रागादिक की प्राप्ति आवै सो अैसैं है नाही। तातैं पुद्गलकर्म का उदय जीव के अज्ञानरूप रागादि परिणाम कूं निमित्त है, तिस निमित्त तैं न्यारा ही जीव का परिणाम है॥ छ॥

आगैं पूछै है जो आत्मा विषै कर्म है सो वद्धस्पृष्ट है कि अवद्धस्पृष्ट है, अैसैं पूछें नयविभाग करि उत्तर कहै है॥

जीवे कम्मं बद्धं, पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे, अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं॥ ७३॥
जीवे कर्म बद्धं, स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितम्।
शुद्धनयस्य तु जीवे, अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म॥ छ॥

निमित्तभूत विपाकरूप होकर उदय में आए पुद्गलकर्म के साथ ही होता है तो जैसे, रङ्ग बनाने के लिए एक साथ डाले गए हल्दी और फिटकरी, दोनों का ही रङ्गरूप परिणाम होता है; उसी प्रकार जीव और पुद्गलकर्म, दोनों ही में मिल कर कर्मपरिणाम की प्राप्ति का प्रसङ्ग आता है, परन्तु ऐसा है नहीं।

इस प्रकार ऐसा मानना चाहिए कि रागादि अज्ञानपरिणाम, केवल एक जीव ही के होते हैं; अतः इस हेतु से सिद्ध होता है कि पुद्गलकर्म का उदय, जीव के रागादि अज्ञानपरिणाम को निमित्तभूत है; अतः कर्मोदय से भिन्न ही जीव का परिणाम है।

भावार्थ – यदि पुद्गलकर्म के उदय के साथ ही जीव का परिणाम माना जाए तो जीव और कर्म, दोनों को रागादि की प्राप्ति का प्रसङ्ग आता है, परन्तु ऐसा तो है नहीं। पुद्गलकर्म का उदय, जीव के अज्ञानरूप रागादि परिणाम में निमित्त है; अतः उस पुद्गलकर्म के उदय से भिन्न ही जीव का परिणाम है।

अब पूछते हैं कि आत्मा में कर्म बद्ध-स्पृष्ट हैं या अबद्ध-स्पृष्ट? – ऐसा प्रश्न होने पर नयविभाग से उत्तर देते हैं —

जीवे कम्मं बद्धं, पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे, अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं॥ १४१॥

॥ अर्थ ॥ जीव विषै कर्म है सो वद्ध है, जीव के प्रदेशनि तैं वंधे है तथा स्पृष्ट कहिये स्पर्शे हैं॥ अैसा तौ व्यवहारनय का वचन है॥ वहुरि जीव विषै कर्म वंधे भी नाही हैं, स्पर्शे भी नाही हैं, अैसा शुद्धनय का वचन है॥ छ॥

॥ टीका ॥ जीव कै अर पुद्गलकर्म कै एक वंधपर्यायपणां करि देषिये तौ तिस काल व्यतिरेक कहिये भिन्नता का अभाव है। तहां जीव विषै कर्म वद्धस्पृष्ट हैं, वंधे भी हैं स्पर्शे भी हैं, अैसा कहिये सो तौ व्यवहारनय का पक्ष है॥ वहुरि जीव कै अर पुद्गलकर्म कै अनेक द्रव्यपणां है, तिस करि देषिये, तव अत्यंत भिन्नपणां है, तातैं जीव विषै कर्म वद्धस्पृष्ट नाही है, अैसा कहिये सो निश्चयनय[१] का पक्ष है॥ छ॥

आगैं कहै है जो ए दोऊ नयपक्ष हैं, तिनितैं कहा होय है॥

कम्मं बद्धमबद्धं, जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण, भण्णदि जो सो समयसारो॥ ७४॥

कर्म बद्धमबद्धं, जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षम्।
पक्षातिक्रान्तः पुनः, भण्यते यः स समयसारः॥ छ॥

हैं कर्म, जीव में बद्ध-स्पृष्ट – यह कथन है व्यवहार का।
पर बद्ध-स्पृष्ट न कर्म जीव में – कथन है नय शुद्ध का॥ १४१॥

अर्थ – 'जीव में कर्म, बद्ध हैं अर्थात् जीव के प्रदेशों से बँधे हैं और स्पृष्ट हैं अर्थात् स्पर्शित हैं' – ऐसा तो व्यवहारनय का कथन है तथा 'जीव में कर्म बँधे भी नहीं हैं और स्पर्शित भी नहीं हैं' – ऐसा शुद्धनय का कथन है॥ १४१॥

टीका – जीव और पुद्गलकर्म को एक बन्धपर्यायपने से देखा जाए तो उस काल व्यतिरेक अर्थात् भिन्नता का अभाव होने से 'जीव में कर्म, बद्ध-स्पृष्ट हैं अर्थात् बँधे भी हैं और स्पर्शित भी हैं' – ऐसा कहना तो व्यवहारनय का पक्ष है तथा जीव और पुद्गलकर्म को अनेक (भिन्न-भिन्न) द्रव्यपने से देखा जाए तो उनमें अत्यन्त भिन्नता है; अतः 'जीव में कर्म, बद्ध-स्पृष्ट नहीं हैं' – ऐसा कहना निश्चयनय का पक्ष है।

अब कहते हैं कि दोनों नयपक्षों से क्या होता है? —

कम्मं बद्धमबद्धं, जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण, भण्णदि जो सो समयसारो॥ १४२॥

हैं कर्म जीव में बद्ध अरु, अनबद्ध – ये नयपक्ष हैं।
पर पक्ष से अतिक्रान्त भाषित, वह समय का सार है॥ १४२॥

---

१. *निश्चय* - 'ब' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ जीव विषै कर्म वंधे हैं अथवा नाही वंधे हैं, या प्रकार ए दोऊ नयपक्ष हैं॥ वहुरि जो पक्ष तैं अतिक्रांत है, दूरिवर्ती है, अैसा कहिये सो समयसार है, निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्व है॥ छ॥

॥ टीका ॥ जो प्रगट करि जीव विषै कर्म वंधे हैं, अैसैं कहनां। वहुरि जीव विषैं कर्म नाही वंधे हैं, अैसैं कहनां, अैसा ए दोऊ विकल्प हैं, ते दोऊ ही नयपक्ष हैं॥ तहां जो इस नयपक्ष के विकल्प कूं उल्लंघ्य वर्त्ते है, छोड़े है सो ही समस्त विकल्पनि तैं दूरवर्ती होय है सो आप निर्विकल्प एक विज्ञानघन स्वभावरूप होय करि, साक्षात् समयसार भलै प्रकार होय है॥

तहां, प्रथम तौ जो जीव विषै कर्म वंध्या है, अैसा विकल्प करै है, सो जीव विषै कर्म नाही वंध्या है, अैसा एकपक्ष कूं छोडता संता भी विकल्प कूं नाही छोडै है। वहुरि जो जीव विषै कर्म नाही वंध्या है, अैसैं विकल्प करै है सो भी जीव विषै कर्म वंध्या है, अैसा विकल्परूप पक्ष कूं छोडता संता भी विकल्प कूं नाही छोडै है॥ वहुरि जो जीव विषै वंध्या भी है अर नाही भी वंध्या है, अैसा विकल्प करै है सो तिनि दोऊ ही पक्ष कूं नाही छोडता संता विकल्प कूं नाही छोड़ै है॥ तातैं जो समस्त ही नयपक्ष कूं छोड़ै है॥ सो ही समस्त विकल्प कूं छोड़ै है॥ वहुरि सो ही समयसार कूं अनुभवै है॥

॥ भावार्थ ॥ जीव कर्मनि सूं वंध्या है तथा नाही वंध्या है, ए दोऊ नयपक्ष हैं। तिनिमैं काहू नैं वंधपक्ष पकडी सो विकल्प ही पकड्या, काहू नैं अवंधपक्ष पकडी सो भी विकल्प ही पकड्या, काहू नैं दोऊ पक्ष लई सो भी पक्ष ही का विकल्प लीया, अैसैं विकल्प कूं छोडि, जो किछू भी पक्ष

अर्थ – 'जीव में कर्म बँधे हुए हैं अथवा नहीं बँधे हुए हैं', इस प्रकार ये दोनों नयपक्ष हैं तथा जो पक्ष से अतिक्रान्त अर्थात् दूरवर्ती कहलाता है, वह समयसार है अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व है॥ १४२॥

टीका – वास्तव में 'जीव में कर्म बँधे हैं' – ऐसा कहना तथा 'जीव में कर्म नहीं बँधे हैं' – ऐसा कहना; इस प्रकार ये दोनों विकल्प हैं, ये दोनों ही नयपक्ष हैं। वहाँ, जो इन नयपक्षों के विकल्पों का उल्लङ्घन करता है, छोड़ता है; वही समस्त विकल्पों से दूरवर्ती होता है अर्थात् वह स्वयं निर्विकल्प एक विज्ञानघन स्वभावरूप होकर सम्यक् प्रकार से साक्षात् समयसार होता है।

वहाँ, प्रथम तो जो 'जीव में कर्म बँधे हैं' – ऐसा विकल्प करता है, वह 'जीव में कर्म नहीं बँधे हैं' – ऐसे पक्ष को छोड़ता हुआ भी विकल्प को नहीं छोड़ता है तथा जो 'जीव में कर्म नहीं बँधे हैं' – ऐसा विकल्प करता है, वह भी 'जीव में कर्म बँधा है' – ऐसे अन्यपक्ष को छोड़ता हुआ भी विकल्प को नहीं छोड़ता है तथा जो 'जीव में कर्म बँधे भी हैं और नहीं भी बँधे हैं' – ऐसा विकल्प करता है, वह उन दोनों ही पक्षों को न छोड़ता हुआ, विकल्प को नहीं छोड़ता है; इसलिए जो समस्त ही नयपक्ष को छोड़ता है, वही समस्त विकल्पों को छोड़ता है और वही समयसार (शुद्ध आत्मा) का अनुभव करता है।

भावार्थ – 'जीव, कर्मों से बँधा है' तथा 'जीव, कर्मों से नहीं बँधा है' – ये दोनों नयपक्ष हैं; उनमें से किसी ने बन्धपक्ष पकड़ा, उसने विकल्प ही पकड़ा। किसी ने अबन्धपक्ष पकड़ा, उसने भी विकल्प ही पकड़ा। किसी ने दोनों पक्ष पकड़े, उसने भी पक्ष ही का विकल्प किया। इसलिए

नाही पकडै सो शुद्धपदार्थ का स्वरूप जानि तिस रूप समयसार शुद्धात्मा कूं पावै है॥ नयनि का पक्ष पकडनां राग है सो समस्त नयपक्ष छोडें, वीतराग समयसार होय है॥ छ॥

इहां पूछै है जो अैसैं है तौ नयपक्ष का त्याग की भावनां कूं कौंन नृत्य करावै है, ताका उत्तररूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ उपेन्द्रवज्रा॥

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति॥ २४॥

॥ अर्थ॥ जे पुरुष नय का पक्षपात कूं छोडि, अपनें स्वरूप विषै गुप्त होय निरंतर वसैं हैं, ते ही पुरुष विकल्प कै जाल तैं रहित शांत भया है चित्त जिनिका, अैसे भये संते साक्षात् अमृत कूं पीवैं हैं॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जेतै कछू पक्षपात रहै, तेतै चित्त का क्षोभ मिटै नाही, जव सर्व नय का पक्षपात मिटि जाय, तव वीतरागदशा होय, स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होय अर स्वरूप विषै प्रवृत्ति होय है॥ छ॥

अव, नयपक्ष कूं प्रगट करि कहै है अर तिसकूं छोडै है सो तत्वज्ञानी है, स्वरूप कूं पावै है, अैसा अर्थ के कलशरूप वीस काव्य कहै है॥ छ॥

[सब] विकल्पों को छोड़ कर, जो किसी भी पक्ष को नहीं पकड़ता है, वह शुद्धपदार्थ का स्वरूप जान कर उसरूप होता हुआ, समयसारस्वरूप शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। नयों के पक्ष को पकड़ना राग है, अत: समस्त नयपक्षों को छोड़ने पर ही वीतराग समयसार होता है।

यहाँ प्रश्न है कि यदि ऐसा है तो नयपक्ष के त्याग की भावना को कौन नचाता है? उसके उत्तररूप काव्य कहते हैं —

॥ सोरठा॥

जो निवसे निज माहिं, छोड़ सभी नयपक्ष को।
करे सुधारस पान, निर्विकल्प चित शान्त हो॥ ६९॥

अर्थ – जो पुरुष, नयों के पक्षपात को छोड़ कर, अपने स्वरूप में गुप्त होकर निरन्तर लीन रहते हैं, वे ही पुरुष विकल्प के जाल से रहित शान्त-चित्त होते हुए, साक्षात् अमृत का पान करते हैं।

भावार्थ – जब तक कुछ भी पक्षपात रहता है, तब तक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता है। जब सर्व नयों का पक्षपात मिट जाता है, तब वीतरागदशा होकर स्वरूप की निर्विकल्प श्रद्धा होती है और स्वरूप में प्रवृत्ति होती है।

अब, नयपक्षों को प्रगट करके कहते हैं कि जो उनको छोड़ता है, वह तत्त्वज्ञानी है, स्वरूप को प्राप्त करता है – ऐसे अर्थ के कलशरूप बीस काव्य कहते हैं —

॥ उपजाति ॥

एकस्य बद्धो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ २५॥

॥ अर्थ॥ यहु चिन्मात्र जीव है सो एकनय कै तौ कर्म करि वंध्या है, अैसा पक्ष है॥ वहुरि दूसरे नय कै कर्म करि नाही वंध्या है, अैसा पक्ष है॥ अैसैं दोऊ ही नय के दोऊ पक्ष हैं सो अैसैं दोऊ नय का जाकै पक्षपात है सो तौ तत्ववेदी नाही है। वहुरि जो तत्ववेदी है, तत्व का स्वरूप जाननेंवाला है सो पक्षपातरहित है। तिस पुरुष कै जो चिन्मात्र आत्मा है सो चिन्मात्र ही है॥ यामैं पक्षपात का विकल्प नाही करै है॥

॥ भावार्थ॥ इहां शुद्धनय कूं प्रधान करि कथन है। तहां जीव नाम पदार्थ कूं शुद्ध नित्य अभेद चैतन्यमात्र स्थापि अर कहै है जो इस शुद्धनय का भी जो पक्षपात करैगा सो भी तिस स्वरूप का स्वाद कूं नाही पावैगा। अशुद्धपक्ष कूं तौ गौण करि कहते ही आवै हैं 'अर कोई शुद्धनय का भी जो पक्षपात करैगा'[१] तौ पक्ष का राग न मिटैगा, तव वीतरागता नाही होयगी।

तातैं पक्षपात कूं छोडि चिन्मात्रस्वरूप विषै लीन भये समयसार पावै हैं अर चैतन्य के परिणाम परनिमित्त तैं अनेक होय हैं, तिनि सर्वनि कूं गौण कहते ही आवै हैं॥ तातैं सर्व पक्ष छोडि शुद्धस्वरूप

॥ रोला ॥

एक कहे ना बँधा, दूसरा कहे बँधा है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ७०॥

अर्थ – यह चिन्मात्र जीव है, वह एक नय की अपेक्षा तो 'कर्म से बँधा है' – ऐसा पक्ष है और दूसरे नय की अपेक्षा 'कर्म से नहीं बँधा है' – ऐसा पक्ष है; इस प्रकार दोनों ही नयों के दो पक्ष हैं; अत: दोनों नयों का जिसे पक्षपात है, वह तो तत्त्ववेदी नहीं है। लेकिन जो तत्त्ववेदी है, तत्त्व के स्वरूप को जाननेवाला है; वह पक्षपात से रहित है, उस पुरुष के लिए जो चिन्मात्र आत्मा है, वह चिन्मात्र ही है, इस कारण वह पक्षपात का विकल्प नहीं करता है।

भावार्थ – यहाँ शुद्धनय को प्रधान करके कथन है। वहाँ, जीव नामक पदार्थ को शुद्ध, नित्य, अभेद, चैतन्यमात्र स्थापित करके कहते हैं कि इस शुद्धनय का भी जो पक्षपात करेगा, वह भी उस स्वरूप के स्वाद को नहीं पाएगा। अशुद्धपक्ष को तो गौण करके कहते ही आए हैं, लेकिन यदि कोई शुद्धनय के पक्ष को पकड़ कर पक्षपात ग्रहण करेगा तो भी पक्ष का राग नहीं मिटेगा, वीतरागता भी नहीं होगी।

इसलिए पक्षपात को छोड़ कर, चिन्मात्रस्वरूप में लीन होने से ही समयसार की प्राप्ति होती है। चैतन्य के परिणाम पर-निमित्त से अनेक प्रकार के होते हैं, उन सबको गौण कहते ही आए हैं;

---

१. अर कोई शुद्धपक्ष कूं पकडि पक्षपात ग्रहैगा – 'अ' प्रति पाठ

का श्रद्धान करि, पीछैं स्वरूप विषै प्रवृत्तिरूप चारित्र भयें, वीतरागदशा करनां योग्य है॥ छ॥

अब, जैसैं वद्ध अवद्धपक्ष छुडाई, तैसैं ही अन्य पक्ष कूं प्रगट करि[२] करि छुडावै है॥ छ॥

॥ उपजाति॥

एकस्य मूढो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ २६॥[३]

॥ अर्थ॥ एक नय कै तौ जीव मूढ है, मोही है॥ वहुरि दूसरे नय कै मूढ नाही है, यह पक्ष है। अैसैं ए दोऊ ही चैतन्य विषै पक्षपात हैं। वहुरि जो तत्ववेदी है सो पक्षपातरहित है॥ ताकै चित् है सो चित् ही है, मोही अमोही नाही है॥ छ॥

एकस्य रक्तो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ २७॥

॥ अर्थ॥ एक नय कै तौ यह जीव रक्त कहिये रागी है, अैसा पक्ष है॥ वहुरि दूसरे नय कै रक्त नाही है, अैसा पक्ष है। सो ए दोऊ ही चैतन्य विषै नय के पक्षपात हैं॥ वहुरि जो तत्ववेदी है सो पक्षपातरहित है, ताकै पक्षपात नाही है, ताकै जो चित् है सो चित् ही है॥ छ॥

इसलिए सर्व पक्षों को छोड़ कर, शुद्धस्वरूप का श्रद्धान करके, फिर स्वरूप में प्रवृत्तिरूप चारित्र करके वीतरागदशा प्राप्त करना योग्य है।

अब, जिस प्रकार बद्ध-अबद्ध का पक्ष छुड़ाया था, वैसे ही अन्यपक्षों को भी प्रगट कर-करके छुड़ाते हैं —

एक कहे ना मूढ़, दूसरा कहे मूढ़ है, किन्तु यह ,तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ७१॥

अर्थ – एक नय की अपेक्षा तो 'जीव, मूढ़ अर्थात् मोही है' – यह पक्ष है और दूसरे नय की अपेक्षा 'जीव, मूढ़ नहीं है' – यह पक्ष है; इस तरह ये दोनों ही चैतन्य के सम्बन्ध में पक्षपात हैं। लेकिन जो तत्त्ववेदी है, वह पक्षपात से रहित है; उसके लिए जो चित् है, वह चित् ही है; मोही-अमोही नहीं है।

एक कहे ना रक्त, दूसरा कहे रक्त है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ७२॥

अर्थ – एक नय की अपेक्षा तो 'जीव, रक्त अर्थात् रागी है' – यह पक्ष है तथा दूसरे नय की अपेक्षा 'जीव, रक्त नहीं है' – यह पक्ष है; इस तरह ये दोनों ही चैतन्य के सम्बन्ध में पक्षपात हैं। लेकिन जो तत्त्ववेदी है, वह पक्षपात से रहित है, उसको पक्षपात नहीं है; उसके लिए जो चित् है, वह चित् ही है।

---

२. *कहि* - 'अ' प्रति पाठ

३. २६ से ४४ तक १९ छन्दों में समानता है, अत: हस्तलिखित प्रतियों में संक्षिप्त में लिखा है जबकि यहाँ उन्हें पूर्णरूप में दिया है।

एकस्य दुष्टो[१] न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ २८॥

एकस्य कर्ता न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ २९॥

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३०॥

एकस्य जीवो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३१॥

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३२॥

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३३॥

एक कहे ना दुष्ट, दूसरा कहे दुष्ट है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ७३॥
एक अकर्ता कहे, दूसरा कर्ता कहता, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ७४॥
एक अभोक्ता कहे, दूसरा भोक्ता कहता, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ७५॥
एक कहे ना जीव, दूसरा कहे जीव है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ७६॥
एक कहे ना सूक्ष्म, दूसरा कहे सूक्ष्म है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ७७॥
एक कहे ना हेतु, दूसरा कहे हेतु है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ७८॥

---

१. *द्विष्टो* - अगास प्रकाशन में वैकल्पिक पाठ

एकस्य कार्यं न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३४॥

एकस्य भावो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३५॥

एकस्य चैको न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३६॥

एकस्य सान्तो[१] न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३७॥

एकस्य नित्यो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३८॥

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ३९॥

एक कहे ना कार्य, दूसरा कहे कार्य है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ७९॥
एक कहे ना भाव, दूसरा कहे भाव है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ८०॥
एक कहे ना एक, दूसरा कहे एक है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ८१॥
एक कहे ना सान्त, दूसरा कहे सान्त है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ८२॥
एक कहे ना नित्य, दूसरा कहे नित्य है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ८३॥
एक कहे ना वाच्य, दूसरा कहे वाच्य है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ८४॥

---

१. *शान्तो* - अगास प्रकाशन में वैकल्पिक पाठ

एकस्य नाना न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ४०॥
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ४१॥
एकस्य दृश्यो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ४२॥
एकस्य वेद्यो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ४३॥
एकस्य भातो न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ४४॥

॥ अर्थ॥ एक नय कै तो दुष्ट कहिये द्वेषी है, वहुरि दूसरे नय कै दुष्ट नाही है। अैसैं ए चैतन्य विषै दोऊ नय के दोय पक्षपात हैं॥ छ॥

एक नय कै कर्त्ता है, दूसरे नय कै कर्त्ता नाही है। अैसै ए चैतन्य विषै दोऊ नय कै दोऊ पक्षपात हैं॥ छ॥

नाना कहता एक, दूसरा कहे अनाना, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ८५॥
एक कहे ना चेत्य, दूसरा कहे चेत्य है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ८६॥
एक कहे ना दृश्य, दूसरा कहे दृश्य है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ८७॥
एक कहे ना वेद्य, दूसरा कहे वेद्य है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ८८॥
एक कहे ना भात, दूसरा कहे भात है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है॥ ८९॥

अर्थ – एक नय की अपेक्षा 'जीव, दुष्ट अर्थात् द्वेषी है', और दूसरे नय की अपेक्षा 'जीव, दुष्ट नहीं है'; इस प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं॥

एक नय की अपेक्षा 'जीव, कर्ता है', दूसरे नय की अपेक्षा 'जीव, कर्ता नहीं है'; इस प्रकार

एक नय कै भोक्ता है, दूसरे नय कै भोक्ता नाही है। ए चैतन्य विषै दोऊ नय कै दोऊ पक्षपात हैं॥ छ॥

एक नय कै जीव है, दूसरे नय कै जीव नाही है। ए चैतन्य विषै दोऊ नय कै दोऊ पक्षपात हैं॥ छ॥

एक नय कै सूक्ष्म है, दूसरे नय कै सूक्ष्म नाही है। अैसे ए चैतन्य विषै दोऊ नय कै दोऊ पक्षपात हैं॥ छ॥

एक नय कै हेतु है, दूसरे नय कै हेतु नाही है। ए दोऊ नय कै चैतन्य विषै दोऊ पक्षपात हैं॥ छ॥

एक नय कै कार्य है, दूसरे नय कै कार्य नाही है। ए दोऊ नय कै चैतन्य विषै दोऊ पक्षपात हैं॥ छ॥

एक नय कै भावरूप है, दूसरे नय कै अभावरूप है। ए दोऊ नय कै चैतन्य विषै दोऊ पक्षपात हैं॥ छ॥

एक नय कै एक है, दूसरे नय कै अनेक है। ए दोऊ नय कै चैतन्य विषै दोऊ पक्षपात हैं॥ छ॥

एक नय कै सांत कहिये अंतसहित है, दूसरे कै अंतसहित नाही है। ए दोऊ नय कै चैतन्य विषै दोऊ पक्षपात हैं॥ छ॥

चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं॥

एक नय की अपेक्षा 'जीव, भोक्ता है', दूसरे नय की अपेक्षा 'जीव, भोक्ता नहीं है'; इस प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं॥

एक नय की अपेक्षा 'जीव, जीव है', दूसरे नय की अपेक्षा 'जीव, जीव नहीं है'; इस प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के पक्षपात हैं॥

एक नय की अपेक्षा 'जीव, सूक्ष्म है', दूसरे नय की अपेक्षा 'जीव, सूक्ष्म नहीं है'; इस प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं॥

एक नय की अपेक्षा 'जीव, हेतु है', दूसरे नय की अपेक्षा 'जीव, हेतु नहीं है'; इस प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं॥

एक नय की अपेक्षा 'जीव, कार्य है', दूसरे नय की अपेक्षा 'जीव, कार्य नहीं है'; इस प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं॥

एक नय की अपेक्षा 'जीव, भाव है', दूसरे नय की अपेक्षा 'जीव, अभाव है [या भाव नहीं है]'; इस प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं॥

एक नय की अपेक्षा '[जीव], एक है', दूसरे नय की अपेक्षा '[जीव], अनेक है [या एक नहीं है]'; इस प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं॥

एक नय की अपेक्षा '[जीव], सान्त अर्थात् अन्तसहित है', दूसरे नय की अपेक्षा '[जीव],

एक नय कै नित्य है, दूसरे नय कै अनित्य है। ए दोऊ नय कै चैतन्य विषै दोऊ पक्षपात हैं॥ छ॥

एक नय कै वाच्य कहिये वचन करि कहने मैं आवै है, दूसरे कै वचनगोचर नाही है। ए दोऊ नय कै चैतन्य विषै दोऊ पक्षपात हैं॥ छ॥

एक नय कै नानारूप है, दूसरे नय कै नानारूप नाही है। ए दोऊ नय कै चैतन्य विषै दोऊ पक्षपात हैं॥ छ॥

एक नय कै चेत्य कहिये जाननें योग्य है, दूसरे कै चितवनें योग्य नाही है॥ छ। ए दोऊ नय के चैतन्य विषै दोऊ पक्षपात हैं॥ छ॥

एक नय कै दृश्य कहिये देषनें योग्य है, दूसरे कै देषनें मैं नाही आवै है। ए दोऊ नय के चैतन्य विषै दोऊ पक्षपात हैं॥ छ॥

एक नय कै वेद्य कहिये वेदनें योग्य है, 'भोगनें मैं आवै है, दूसरे कै भोगनें मैं न आवै है।[१]' ए दोऊ नय कै चैतन्य विषै दोऊ पक्षपात हैं॥ छ॥

एक नय कै भात कहिये वर्तमान प्रत्यक्ष है, दूसरे कै नाही है। ए दोऊ नय कै चैतन्य विषै दोऊ पक्षपात हैं॥ छ॥

अन्तसहित नहीं है'; इस प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं॥

एक नय की अपेक्षा 'जीव, नित्य है', दूसरे नय की अपेक्षा 'जीव, अनित्य है [या नित्य नहीं है]'; इस प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं॥

एक नय की अपेक्षा 'जीव, वाच्य अर्थात् वचन द्वारा कहने योग्य है', दूसरे नय की अपेक्षा 'जीव, वचनगोचर नहीं है'; इस प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं॥

एक नय की अपेक्षा 'जीव, नानारूप है', दूसरे नय की अपेक्षा 'जीव, नानारूप नहीं है'; इस प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं॥

एक नय की अपेक्षा 'जीव, चेत्य अर्थात् जानने योग्य है', दूसरे नय की अपेक्षा 'जीव, चितवनें (जानने) योग्य नहीं है'; इस प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं।

एक नय की अपेक्षा 'जीव, दृश्य अर्थात् देखने योग्य है', दूसरे की अपेक्षा 'जीव, देखने में नहीं आता है'; इस प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं।

एक नय की अपेक्षा 'जीव, वेद्य अर्थात् वेदन करने योग्य या भोगने में आता है'; दूसरे नय की अपेक्षा 'जीव, वेदन करने में या भोगने में नहीं आता है'; इस प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं।

एक नय की अपेक्षा 'जीव, भात अर्थात् वर्तमान में प्रत्यक्ष है', दूसरे नय की अपेक्षा 'जीव, प्रत्यक्ष नहीं है'; इस प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं।

---

१. *दूसरे कै वेदनें में न आवै है* – 'ब' प्रति पाठ

ऐसैं चैतन्यसामान्य विषै ए सर्व पक्षपात हैं॥ वहुरि तत्ववेदी है, स्वरूप कूं यथार्थ अनुभवन करनेंवाला है। ताकै चिन्मात्रभाव है सो चिन्मात्र ही है, पक्षपात सूं रहित है॥

॥ भावार्थ॥ जीव के परनिमित्त तैं अनेक परिणाम हैं तथा यामैं साधारण अनेक धर्म हैं, तथापि असाधारण धर्म चित्स्वभाव है सो ही सामान्यभाव करि शुद्धनय का विषय है, तिस ही कूं प्रधान करि कथन है, सो याके साक्षात् अनुभव कै अर्थि अैसा कह्या है जो यामैं नयनि के अनेक पक्षपात उपजैं हैं। वद्ध अवद्ध, मूढ अमूढ, रागी विरागी, द्वेषी अद्वेषी, कर्त्ता अकर्त्ता, भोक्ता अभोक्ता, जीव अजीव, सूक्ष्म स्थूल, कारण अकारण, कार्य अकार्य, भाव अभाव, एक अनेक, सान्त असान्त, नित्य अनित्य, वाच्य अवाच्य, नाना अनाना, चेत्य अचेत्य, दृश्य अदृश्य, वेद्य अवेद्य, भात अभात, इत्यादि नयनि के पक्षपात हैं सो तत्व का अनुभवन करनेंवाला पक्षपात नाही करै है, नयनि कूं तौ यथायोग्य विवक्षा तैं साधै है अर चैतन्य कूं चैतन्यमात्र ही अनुभवन करै है॥ छ॥

इस ही अर्थ का संक्षेप करि काव्य कहै है॥

॥ वसन्ततिलका॥

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।

— इस प्रकार चैतन्यसामान्य के बारे में ये सभी पक्षपात हैं। लेकिन जो तत्त्ववेदी है, स्वरूप का यथार्थ अनुभव करनेवाला है; उसके चिन्मात्रभाव है, वह चिन्मात्र ही है, पक्षपात से रहित है।

भावार्थ – जीव के पर-निमित्त से अनेक परिणाम होते हैं तथा जीव में अनेक [साधारण] धर्म हैं, फिर भी जीव का असाधारण धर्म चित्स्वभाव है, वही सामान्यभाव से शुद्धनय का विषय है। यहाँ उसे ही प्रधान करके कथन किया गया है। यहाँ इस चित्स्वभाव का साक्षात् अनुभव करने के लिए ऐसा कहा है कि इसमें नयों के अनेक पक्षपात उत्पन्न होते हैं; जैसे, बद्ध-अबद्ध, मूढ़-अमूढ़, रागी-विरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता, जीव-अजीव, सूक्ष्म-स्थूल, कारण-अकारण, कार्य-अकार्य, भाव-अभाव, एक-अनेक, सान्त-असान्त, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य, नाना-अनाना, चेत्य-अचेत्य, दृश्य-अदृश्य, वेद्य-अवेद्य, भात-अभात इत्यादि नयों के पक्षपात हैं; लेकिन तत्त्व का अनुभव करनेवाला पक्षपात नहीं करता है, वह तो नयों को यथायोग्य विवक्षा के अनुसार साधता है, समझता है और चैतन्य को चैतन्यमात्र ही अनुभव करता है।

इसी अर्थ का संक्षेपरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

उठ रहा जिसमें अनन्ते, विकल्पों का जाल है।
वह वृहद् नयपक्षकक्षा, विकट है, विकराल है॥

अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं,

स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम्॥ ४५॥

॥ अर्थ॥ जो तत्व का जाननेंवाला पुरुष है सो पूर्वोक्त प्रकार आपै आप उठते हैं वहुत विकल्पनि कै जाल जामैं, अैसी जो वडी नयपक्षरूप वनी, ताकूं उल्लंघ्य करि अर समरस जो वीतरागभाव सो ही है एकरस जामैं, अैसा है स्वभाव जाका, अैसा जो आत्मा का भाव अपनां स्वरूप अनुभूतिमात्र, ताकूं प्राप्त होय है ॥ छ॥

फेरि कहै है -

॥ रथोद्धता॥

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत् पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।

यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं, कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः॥ ४६॥

॥ अर्थ॥ तत्ववेदी अैसैं अनुभवन करै है जो मैं चिन्मात्र मह तेज का पुंज हौं, जाका स्फुरायमान होनां ही वडी वडी पुष्ट उठती चंचल जे विकल्परूप लहरि, तिनि करि उछलता इनि[१] नयनि के प्रवर्तनरूप इंद्रजाल, ताहि तत्काल समस्त ही कूं दूरि करै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ चैतन्य का अनुभवन अैसा है जो याके होतैं समस्त नयनि का विकल्परूप इंद्रजाल है सो तत्काल विलय जाय है॥ छ॥

उल्लङ्घन कर उसे बुध, अनुभूतिमय निजभाव को।

हों प्राप्त अन्तर्बाह्य से, समरसी एक स्वभाव को॥ ९०॥

अर्थ – तत्त्व को जाननेवाला पुरुष पूर्वोक्त प्रकार से स्वयमेव उठनेवाले अनेक विकल्पों के जालस्वरूप नयपक्षरूपी बड़े वन (जङ्गल) को उल्लंघन करके [अन्तर्बाह्य] समरस अर्थात् वीतरागभावरूप एकरसस्वभावी अपनी आत्मा के स्वरूपानुभूतिमात्र भाव को प्राप्त होता है।

फिर कहते हैं —

॥ दोहा॥

इन्द्रजाल से उछलते, सब विकल्प के कुञ्ज।

जो क्षणभर में लय करे, मैं हूँ वह चित्पुञ्ज॥ ९१॥

अर्थ – तत्त्ववेदी ऐसा अनुभव करता है कि 'मैं चिन्मात्र **मह** अर्थात् प्रकाश या तेज का पुञ्ज हूँ', जिसके स्फुरायमान होने मात्र से ही, बड़ी-बड़ी वेगवान् उठती हुई विकल्परूपी चञ्चल लहरों से उछलते हुए समस्त नयों के प्रवर्तनरूप इन्द्रजाल[२] तत्काल ही दूर हो जाता है।

भावार्थ – चैतन्य का अनुभव ऐसा है कि इसके होते ही समस्त नयों के विकल्परूपी

---

१. *ऊछलता इस* - 'अ' प्रति पाठ

२. जादूगरी, बाजीगरी, छद्मपूर्ण, अवास्तविक या भ्रमात्मक

आगैं पूछै है जो पक्ष तैं अतिक्रांत है, दूरि वर्तै है, तिसका कहा स्वरूप है॥ ताका उत्तररूप गाथा कहै है॥ छ॥

दोण्ह वि णयाण भणियं, जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि, किंचि वि णयपक्खपरिहीणो॥ ७५॥

द्वयोरपि नययोर्भणितं, जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः।
न तु नयपक्षं गृह्णाति, किञ्चिदपि नयपक्षपरिहीनः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो पुरुष समय कहिये अपनां शुद्ध आत्मा, तिसतैं प्रतिवद्ध है, आत्मा [आगम][१] कूं जानैं है सो दोऊ ही नय का कह्या कूं केवल जानैं ही है॥ वहुरि नयपक्ष कूं किछू भी कूं नाही ग्रहण करै है।

कैसा है वह पुरुष। नय के पक्ष करि रहित है॥ छ॥

॥ टीका॥ इहां प्रथम दृष्टांत कहै है॥ जैसैं केवली भगवान् सर्वज्ञ वीतराग, समस्त वस्तु का साक्षीभूत है, ज्ञाता दृष्टा है सो श्रुतज्ञान के अवयवभूत जे व्यवहार निश्चयनय के पक्षरूप दोय नय, तिनिका केवल स्वरूप कूं जानैं ही है॥ वहुरि काहू ही नय की पक्ष कूं नाही ग्रहण करै है, जातैं केवली

इन्द्रजाल का तत्काल ही विलय हो जाता है।

अब प्रश्न है कि जो पक्ष से अतिक्रान्त है, उससे दूर रहता है, उसका क्या स्वरूप है? — इसके उत्तररूप गाथा कहते हैं —

दोण्ह वि णयाण भणिदं, जाणदि णवरं[२] तु समयपडिबद्धो[३]।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि, किंचि वि णयपक्खपरिहीणो॥ १४३॥

नयद्वय कथन जाने ही केवल, समय से प्रतिबद्ध जो।
नयपक्ष कुछ भी नहिं ग्रहे, नयपक्ष से परिहीन वो॥ १४३॥

अर्थ — जो पुरुष, समय अर्थात् अपने शुद्धात्मा से प्रतिबद्ध है, आत्मा और आगम को जानता है, वह दोनों ही नयों के कथन को केवल जानता ही है किन्तु नयपक्ष को जरा भी ग्रहण नहीं करता है। **कैसा है वह पुरुष?** — नयों [समस्त] के पक्ष से रहित है॥ १४३॥

टीका — पहले दृष्टान्त देते हैं — जैसे, सर्वज्ञ-वीतराग-केवली भगवान समस्त वस्तुओं के साक्षीभूत हैं, ज्ञाता-दृष्टा हैं; वे श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार और निश्चयनय के पक्षरूप दोनों नयों के स्वरूप को केवल जानते ही हैं परन्तु किसी भी नय के पक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं क्योंकि

---

१. *आत्मा* - 'ब' प्रति पाठ / *आगम* - 'अ' प्रति पाठ
२. *णवरिं* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
३. *समयपरिबद्धो* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

भगवान् निरंतर उदयरूप स्वाभाविक निर्मल केवलज्ञानस्वभाव है, तातैं नित्य ही स्वयमेव विज्ञानघनस्वरूप है, याही तैं श्रुतज्ञान की भूमिका तैं अतिक्रांतपणां करि समस्त नयपक्ष का परिग्रह तैं दूरिवर्ती है॥

तैसैं ही जो मतिश्रुतज्ञानी है सो भी श्रुतज्ञान के अवयवभूत जे व्यवहार निश्चय दोऊ नय, तिनिका पक्ष का स्वरूप कूं ही केवल जानैं है, जातैं याकै क्षायोपशमिक ज्ञान है, ता करि उपजे जे श्रुतज्ञानस्वरूप विकल्प, तिनिका फेरि फेरि उपजनां होय है तौऊ पर जे ज्ञेय, तिनिका ग्रहण प्रति उत्साह की निवृत्ति है, ता करि नयनि का स्वरूप का ज्ञाता ही है, वहुरि काहू ही नय का पक्ष कूं नाही ग्रहण करै है॥ जातैं तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि करि ग्रह्या जो निर्मल नित्य जाका उदय, अैसा जो चिन्मय समय कहिये चैतन्यस्वरूप अपनां शुद्ध आत्मा, तिसतैं याकै प्रतिवद्धपणां है, ता करि तिस स्वरूप कै अनुभवन कै काल स्वयमेव केवली की ज्यों विज्ञानघनरूप भया है॥

याही तैं श्रुतज्ञानस्वरूप जे समस्त अंतरंग अर वाह्य जल्प कहिये अक्षरस्वरूप विकल्प, ताकी भूमिका तैं अतिक्रांत है, तिस पणें करि केवली की ज्यों समस्त नयपक्ष का ग्रहण तैं दूरीभूत है॥ सो अैसा मतिश्रुतज्ञानी भी है सो निश्चय करि समस्त विकल्पनि तैं दूरिवर्त्ती परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योति आत्मख्यातिरूप अनुभूतिमात्र समयसार है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जैसैं केवली भगवान सदा नयनि की पक्ष का ज्ञाता दृष्टा है, तैसैं ही श्रुतज्ञानी भी जिस काल समस्त नयपक्ष तैं रहित होय शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभवन करै है, तव नयपक्ष

केवली भगवान, निरन्तर उदयरूप स्वाभाविक केवलज्ञान के धारक हैं, इसलिए नित्य ही स्वयमेव विज्ञानघनस्वरूप हैं; इसी कारण श्रुतज्ञान की भूमिका से अतिक्रान्त होने से समस्त नयपक्ष के परिग्रह से दूरवर्ती हैं।

उसी प्रकार मति-श्रुतज्ञानी भी श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार और निश्चय, दोनों नयों के पक्षों को केवल जानता ही है। यद्यपि इसको क्षायोपशमिक ज्ञान है, उसके कारण उत्पन्न हुए श्रुतज्ञानात्मक विकल्पों का बार-बार उपजना होता है, तथापि परज्ञेयों के ग्रहण के प्रति उत्साह की निवृत्ति होने से वह नयों के स्वरूप का ज्ञातामात्र है तथा किसी भी नय के पक्ष को ग्रहण नहीं करता है क्योंकि तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि के द्वारा ग्रहण किया निर्मल नित्योदयस्वरूप चिन्मय समय अर्थात् चैतन्यस्वरूप अपने शुद्धात्मा से उसकी प्रतिबद्धता होती है; इसलिए वह स्वरूप के अनुभव के समय स्वयमेव केवली के समान विज्ञानघनरूप हो जाता है।

इसी कारण श्रुतज्ञानस्वरूप समस्त अन्तरङ्ग और बाह्य जल्प अर्थात् अक्षरात्मक विकल्पों की भूमिका से अतिक्रान्त होने से केवली की ही तरह वह समस्त नयपक्षों के ग्रहण से दूर ही है। इस प्रकार मति-श्रुतज्ञानी भी निश्चय से समस्त विकल्पों से दूरवर्ती परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप अनुभूतिमात्र समयसार है।

भावार्थ – जैसे, केवली भगवान सदा नयपक्षों के ज्ञाता-दृष्टा हैं; उसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी जिस समय समस्त नयपक्षों से रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभव करता है, उस समय

का ज्ञाता ही है॥ एक नय की सर्वथा पक्ष ग्रहण करै तौ मिथ्यात्व सूं मिल्यो पक्ष को राग होय॥

वहुरि प्रयोजन के वश[१] तैं एक नय कूं प्रधान करि ग्रहण करै तौ मिथ्यात्व विनां चारित्रमोह का पक्ष सूं राग रहै अर जव नयपक्ष छोडि वस्तुस्वरूप कूं केवल जानैं ही, तव तिस काल श्रुतज्ञानी भी केवली की ज्यों वीतराग सारिषा ही होय है, अैसा जाननां॥ छ॥

इस अर्थ कूं मन में धारि तत्ववेदी, अैसा अनुभव करै, अैसैं अर्थरूप काव्य कहै है॥

॥ स्वागता॥

चित्स्वभावभर[२]भावितभावाऽभावभावपरमार्थतयैकम्।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां, चेतये समयसारमपारम्॥ ४७॥

॥ अर्थ॥ मैं जू हौं तत्व का जाननेंवाला सो समयसार जो परमात्मा, ताहि अनुभवूं हूं॥

कैसा है समयसार। चैतन्यस्वभाव का भर कहिये पुंज, ता करि भाया है भाव अभाव स्वरूप जो एक भावरूप परमार्थ, तिसपणां करि एक है। भावार्थ, परमार्थ करि विधि प्रतिषेध का विकल्प जामैं नाही है॥

नयपक्ष का ज्ञाता ही है। यदि वह एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण करे तो उसे मिथ्यात्व से मिला हुआ पक्ष का राग हो जाए।

यदि प्रयोजनवश वह एक नय को प्रधान करके ग्रहण करे तो मिथ्यात्वरहित चारित्रमोह के पक्ष से राग रहता है और जब नयपक्ष को छोड़ कर, वस्तुस्वरूप को केवल जानता ही है, तब उस समय श्रुतज्ञानी भी केवली की तरह वीतराग जैसा ही होता है – ऐसा समझना।

इस अर्थ को मन में धारण करके तत्त्ववेदी इस प्रकार अनुभव करता है, ऐसे अर्थ का सूचक काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

मैं हूँ वह चित्पुञ्ज जु भावाभावभावमय,
परमारथ से एक सदा अविचल स्वभावमय।
कर्मजनित यह बन्धपद्धति करूँ पार मैं,
नित अनुभव यह करूँ कि चिन्मय समयसार मैं॥ ९२॥

अर्थ – मैं तत्त्व को जाननेवाला, समयसाररूपी परमात्मा को अनुभव करता हूँ।

वह कैसा समयसार है? – चैतन्यस्वभाव के भर अर्थात् पुञ्ज के द्वारा भाया हुआ भाव-अभावस्वरूप अर्थात् एकभावरूप परमार्थ होने से एक है। भावार्थ यह है कि उसमें परमार्थ से विधि-निषेध का विकल्प नहीं है।

---

१. *बस* – 'अ' प्रति पाठ २. *पर* – अगास प्रकाशन वैकल्पिक पाठ

वहुरि पहलैं कहा करि अनुभवूं हौं॥ समस्त ही जो वंध की पद्धति कहिये परिपाटी, ताकूं दूरि करि कैं॥ भावार्थ, परद्रव्य के कर्त्ताकर्मभाव करि वंध की परिपाटी चालै थी, ताकूं पहलैं दूरि करि समयसार कूं अनुभवूं हौं॥

वहुरि कैसा है। अपार है, जाके केवलज्ञानादि गुण का पार नाही है॥

आगैं, अैसा नियम करि ठहरावै है जो पक्ष तैं अतिक्रांत, दूरिवर्ती ही समयसार है॥ छ॥

सम्मद्दंसणणाणं, एसो लहइत्ति णवर ववएसं।
सव्वणयपक्खरहिओ, जो सो भणिओ समयसारो॥ ७६॥

सम्यग्दर्शनज्ञानमेष लभत इति केवलं व्यपदेशम्।
सर्वनयपक्षरहितो यः स भणितो समयसारः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो सर्व नयपक्ष तैं रहित है सो ही समयसार, अैसा कह्या है॥ वहुरि यह समयसार है सो ही केवल सम्यग्दर्शन ज्ञान, अैसा नाम कूं पावै है, यह नाम वाही के हैं, वस्तु दोय नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जो निश्चय तैं समस्त नयपक्ष तैं भेदरूप न कीया जाय, अैसा चिन्मात्र भाव, तिस

पहले क्या करके उसका अनुभव करता हूँ? – समस्त ही बन्ध की पद्धति अर्थात् परिपाटी को दूर करके अनुभव करता हूँ। भावार्थ यह है कि परद्रव्य के कर्ताकर्मभाव के कारण बन्ध की परिपाटी चलती थी, उसे पहले दूर करके समयसार का अनुभव करता हूँ।

और कैसा है वह [समयसार]? – अपार है अर्थात् उसके केवलज्ञान आदि गुणों का पार नहीं है।

अब, नियमपूर्वक यह निश्चित करते हैं कि पक्ष से अतिक्रान्त अर्थात् दूरवर्ती ही समयसार है —

सम्मद्दंसणणाणं, एसो लहदि त्ति[1] णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो, भणिदो जो सो समयसारो॥ १४४॥

सम्यक्त्व और सुज्ञान की, जिस एक को संज्ञा मिले।
नयपक्ष सकल विहीन भाषित, वह समय का सार है॥ १४४॥

अर्थ – जो सर्व नयपक्ष से रहित है, वह ही समयसार है – ऐसा कहा है तथा यह समयसार ही केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान – ऐसे नाम को प्राप्त करता है। यद्यपि ये दोनों नाम उसी के हैं तथापि वस्तु दो नहीं हैं॥ १४४॥

टीका – जो निश्चय से समस्त नयपक्ष से भेदरूप नहीं किया जाता – ऐसे चिन्मात्र भाव के

---

१. *एदं लहदित्ति* – तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ

करि विलय भये हैं समस्त विकल्पनि के व्यापार जामैं, अैसा समयसार शुद्धस्वरूप है सो यह ही केवल सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, अैसा नाम कूं पावै है, परमार्थ तैं एक ही है॥

जातैं आत्मा प्रथम ही श्रुतज्ञान के अवलंवन करि ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करि, ता पीछैं निश्चय तैं आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि होनें कै अर्थि परख्याति जो आत्मा तैं परपदार्थ की ख्याति कहिये प्रगट होनां, ताकूं कारन जो इंद्रिय अर मन कै द्वारै प्रवृत्तिरूप वुद्धि, ताकूं गौण करि आत्मा कै सन्मुख कीया है मतिज्ञान का स्वरूप जानैं, अैसा होय है॥

वहुरि तैसैं ही नाना प्रकार के नयनि के पक्ष, तिनिका अवलंवन करि अनेक विकल्पनि करि आकुलता उपजावती जो श्रुतज्ञान की वुद्धि, ताकूं भी गौण करि अर श्रुतज्ञान है ताकूं भी आत्मतत्व स्वरूप विषैं सन्मुख करता संता अत्यंत निर्विकल्परूप होय अर तत्काल ही अपनें निजरस ही करि व्यक्त प्रगट होता, आदि मध्य अंत के भेद करि रहित, अनाकुल एक केवल समस्त पदार्थसमूह जो लोक, ताकै उपरि तरता जैसैं होय, तैसैं अखंड प्रतिभासमयी अविनाशी अनंत विज्ञानघनस्वरूप परमात्मा जो समयसार, ताहि अनुभवता संता सम्यक्प्रकार देषिये है, श्रद्धिये है, सम्यक् प्रकार जानिये है। तातैं यह ही सम्यग्दर्शन है, यह ही सम्यग्ज्ञान है, अैसैं यह ही समयसार है॥

॥ भावार्थ॥ आत्मा कूं पहलैं आगमज्ञान तैं ज्ञानस्वरूप निश्चय करि, पीछैं इंद्रियवुद्धिरूप मतिज्ञान कूं भी ज्ञानमात्र ही मैं मिलाय, श्रुतज्ञानरूप नयनि के विकल्प मेटि, अर श्रुतज्ञान कूं भी निर्विकल्प करि एक ज्ञानमात्र अखंड प्रतिभास का अनुभवन करनां। यह ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान

कारण जिसमें समस्त विकल्पों के व्यापार विलीन हो गए हैं – ऐसा शुद्धस्वरूप समयसार है, वही केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान – ऐसे नामों को प्राप्त करता है; परमार्थ से वह एक ही है।

आत्मा, सबसे पहले श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करके, उसके बाद निश्चय से आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए, परख्याति अर्थात् आत्मा से भिन्न परपदार्थों की ख्याति अर्थात् उनके प्रगट होने में कारणभूत इन्द्रिय और मन के द्वारा प्रवृत्त होनेवाली बुद्धि को गौण करके, जिसने मतिज्ञान के स्वरूप को आत्मा के सन्मुख किया है – ऐसा होता है।

इसी प्रकार नाना प्रकार के नयों के पक्ष के अवलम्बन से होनेवाले अनेक विकल्पों से आकुलता को उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी गौण करके, श्रुतज्ञान को भी आत्मतत्त्व अर्थात् स्वरूप के सन्मुख करता हुआ अत्यन्त निर्विकल्प होकर, तत्काल ही अपने निजरस ही से व्यक्त या प्रगट होता हुआ, आदि-मध्य-अन्त के भेद से रहित, अनाकुल, एक, केवल, समस्त पदार्थों के समूहरूप लोक के ऊपर मानो तैरता हो – ऐसे अखण्ड प्रतिभासमयी, अविनाशी, अनन्त, विज्ञानघनस्वरूप, परमात्मारूपी समयसार को अनुभवता हुआ सम्यक् प्रकार से देखता है, श्रद्धान करता है, सम्यक् प्रकार से जानता है; इसलिए यह ही सम्यग्दर्शन है, यह ही सम्यग्ज्ञान है और यह ही समयसार है।

भावार्थ – पहले आगमज्ञान से आत्मा को ज्ञानस्वरूप निश्चय करके, फिर इन्द्रिय-बुद्धिरूप मतिज्ञान को भी ज्ञानमात्र ही में मिला कर, श्रुतज्ञानरूप नयों के विकल्पों को मिटा कर और श्रुतज्ञान

नाम पावै है॥ किछू न्यारा ही है नाही॥ छ॥

अब, याही अर्थ का कलशरूप काव्य है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं, पक्षैर्नयानां विना,
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्,
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा, यत्किञ्चनैकोऽप्ययम्॥ ४८॥

॥ अर्थ॥ जो नयनि का पक्ष विना निर्विकल्पभाव कूं प्राप्त होता निश्चल जैसैं होय, तैसैं समय कहिये आगम अथवा आत्मा, ताका सार है सो सोभै है।

सो कैसा है। जे निश्चित पुरुष हैं, तिनि करि स्वयं आस्वाद्यमान है, तिनिनैं अनुभव तैं जाणि लीया है, सो ही यह भगवान् विज्ञान ही है एक रस जाका, अैसा है सो पवित्र पुराण पुरुष है, याकूं ज्ञान कहौ अथवा दर्शन कहौ अथवा किछू और नाम करि कहौ, जो कछू है सो यह एक ही है, नाना नाम कहावै है॥ छ॥

अब कहै है जो यह आत्मा ज्ञान तैं च्युत भया था, सो ज्ञान ही सूं आय मिलै है॥

को भी निर्विकल्प करके, एक ज्ञानमात्र अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान नाम पाता है; इससे भिन्न कुछ है नहीं।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

यह पुरुष पुण्य पुराण सब, नयपक्ष बिन भगवान है।
यह अचल है अविकल्प है, बस! यही दर्शन-ज्ञान है॥
निभृतजनों का स्वाद्य है, अरु जो समय का सार है।
जो भी है वह एक ही, अनुभूति का आधार है॥ ९३॥

अर्थ – जो नयों के पक्ष छोड़ कर, निर्विकल्पभाव को प्राप्त होकर निश्चल के समान होता है, तभी वह समयसार अर्थात् आगम अथवा आत्मा के सार से सुशोभित होता है।

वह समयसार कैसा है? – जो निश्चल पुरुषों के द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है अर्थात् उन्होंने उसे अनुभव से जान लिया है। विज्ञान ही जिसका एक रस है – ऐसा वह भगवान है, वही पवित्र पुराण-पुरुष है; उसे ही ज्ञान कहो अथवा दर्शन कहो अथवा किसी और नाम से कहो; जो कुछ है, वह यह एक ही है; अनेक नामों से कहा जाता है।

अब कहते हैं कि जो यह आत्मा ज्ञान से च्युत हुआ था, वह पुनः ज्ञान ही से आकर मिल जाता है —

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

दूरं भूरिविकल्पजालगहने, भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो,
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात्।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्,
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत्॥ ४९॥

॥ अर्थ ॥[१] **यह आत्मा अपनें विज्ञानघनस्वभाव तैं च्युत भया संता, प्रचुर विकल्पनि के जाल के गहन वन में अतिशय करि भ्रमण करै था, तिस भ्रमते कूं विवेकरूप नीचे मार्ग के गमन करि जल की ज्यों अपनां विज्ञानघनस्वभाव विषै दूरि तैं आणि मिलाया॥**

कैसा है। जे विज्ञान का रस ही के एक रसीले हैं, तिनिकूं एक विज्ञानरसस्वरूप ही है॥ सो अैसा आत्मा अपनें आत्मस्वभाव ही कूं आप ही विषै समेटता संता जैसैं वाह्य गया था, तैसैं ही अपनें स्वभाव विषै आय प्राप्त होय है॥

॥ भावार्थ॥ इहां जल का दृष्टांत है॥ जैसैं जल है सो जल के निवास मैं सूं कोई मार्ग करि वाह्य नीसरै सो वन में अनेक जायगां भ्रमै, फेरि कोई नीचा मार्ग करि ज्यौं का त्यौं अपनां जल के निवास मैं आय मिलै। तैसैं आत्मा भी अनेक विकल्पनि के मार्ग करि स्वभाव तैं च्युत भया भ्रमण करता संता कोई विवेक भेदज्ञानरूप नीचा मार्ग करि आप ही आप कूं षैंचता संता, अपनें

॥ हरिगीतिका ॥

निज औघ से च्युत जिस तरह, जल ढालवाले मार्ग से।
बलपूर्वक यदि मोड़ दें तो, आ मिले निज औघ से॥
उस ही तरह यदि मोड़ दें, बलपूर्वक निजभाव को।
निजभाव से च्युत आत्मा, निजभाव में ही आ मिले॥ ९४॥

अर्थ – यह आत्मा, अपने विज्ञानघनस्वभाव से च्युत होकर, बहुत विकल्पों के जालवाले गहन वन में दूर तक अत्यधिक भ्रमण कर रहा था, उस भ्रमण करते हुए को विवेकरूपी ढालवाले मार्ग से गमन करा कर, जल की तरह अपने विज्ञानघनस्वभाव में दूर से लाकर मिलाया।

कैसा है वह? – जो विज्ञानरस ही के रसिक हैं, उनको एक विज्ञानरसस्वरूप ही [अनुभव में आता] है – ऐसा वह आत्मा, अपने आत्मस्वभाव को अपने आत्मस्वभाव ही में समेटता हुआ, जैसे बाहर गया था, वैसे ही अपने स्वभाव में ही आकर मिल जाता है।

भावार्थ – यहाँ जल का दृष्टान्त दिया है। जैसे – जल, जल के निवास में से किसी मार्ग से बाहर निकल कर, वन में अनेक स्थानों पर बहता है, फिर किसी ढालवाले मार्ग से होकर ज्यों का त्यों अपने जल के निवास में आकर मिल जाता है; उसी प्रकार आत्मा भी अपने स्वभाव से च्युत

---

१. *॥ अर्थ ॥* – 'अ' 'ब' प्रति में पाठ नहीं

स्वभावविज्ञानघन विषै आय मिलै है॥ छ॥

अव, कर्त्ताकर्म अधिकार कूं पूर्ण कीया है सो कर्त्ताकर्म का संक्षेप अर्थ का कलशरूप श्लोक कहै है॥ छ॥

॥ अनुष्टुभ्॥

विकल्पकः परं कर्ता, विकल्पः कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृकर्मत्वं, सविकल्पस्य नश्यति॥ ५०॥

॥ अर्थ॥ विकल्प करनेंवाला तौ केवल कर्त्ता है॥ वहुरि विकल्प है सो केवल कर्म है, अन्य किछू कर्त्ताकर्म नाही है। यातैं जो विकल्पसहित है, ताकै कर्त्ताकर्मपणां कदाचित् भी नष्ट नाही होय है॥

॥ भावार्थ॥ जहां तांई विकल्पभाव है, तहां तांई कर्त्ताकर्मभाव है। जिस काल विकल्प का अभाव होय, तिस काल कर्त्ताकर्मभाव का भी अभाव होय है॥ छ॥

अव कहै है जो करै है सो करै ही है, जानैं है सो जानैं ही है॥ छ॥

॥ रथोद्धता॥

यः करोति स करोति केवलं, यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्, यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्॥ ५१॥

होकर, अनेक विकल्पों के मार्ग में भटकता हुआ, किसी विवेक अर्थात् भेदज्ञानरूपी ढालवाले मार्ग से स्वयं ही स्वयं को खींचता हुआ, अपने विज्ञानघनस्वभाव में आ मिलता है।

अब, कर्ताकर्म अधिकार को पूर्ण करते हैं; अतः कर्ता-कर्म के संक्षिप्त अर्थ का सूचक कलशरूप श्लोक कहते हैं —

॥ रोला॥

है विकल्प ही कर्म, विकल्पक कर्ता होवे;
जो विकल्प को करे, वही तो कर्ता होवे।
नित अज्ञानी जीव विकल्पों में ही होवे।
इस विधि कर्ताकर्मभाव का नाश न होवे॥ ९५॥

अर्थ – विकल्प करनेवाला ही केवल कर्ता है और विकल्प ही केवल कर्म है, अन्य कुछ भी कर्ता-कर्म नहीं है; इसलिए जो विकल्पसहित है, उसका कर्ता-कर्मपना कभी भी नष्ट नहीं होता है।

भावार्थ – जब तक विकल्पभाव है, तब तक कर्ता-कर्मभाव है; जिस समय विकल्प का अभाव होता है, उसी समय कर्ता-कर्मभाव का भी अभाव होता है।

अब कहते हैं कि जो करता है, वह करता ही है और जो जानता है, वह जानता ही है —

॥ अर्थ ॥ जो करै है सो केवल करै ही है॥ वहुरि जो जानै है सो केवल जानैं ही है॥ वहुरि जो करै है सो कहूं ही नाही जानैं है॥ अर जो जानैं है सो कहूं ही नाही करै है॥

॥ भावार्थ ॥ कर्त्ता है सो ज्ञाता नाही अर ज्ञाता है सो कर्त्ता नाही॥ छ॥

अव कहै है, अैसैं ही करनेंरूप क्रिया अर जाननेंरूप क्रिया दोऊ भिन्न हैं॥ छ॥

॥ इन्द्रवज्रा ॥

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः, ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने, ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च॥ ५२॥

॥ अर्थ ॥ जाननरूप क्रिया है सो तौ करनेंरूप क्रिया विषै अंतरंग मैं नाही भासै है॥ वहुरि करनेंरूप क्रिया है, सो जाननेंरूप क्रिया विषै अंतरंग मैं नाही भासै है॥ तातैं ज्ञप्ति क्रिया अर करोति क्रिया, दोऊ भिन्न हैं। तातैं यह ठहरी जो ज्ञाता है सो कर्त्ता नाही है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ जिस काल अैसैं परिणमै है जो मैं परद्रव्य कूं करूं हौं, तिस काल तौ तिस परिणमन

॥ रोला ॥

जो करता है, वह केवल करता ही होवे,
जो जाने बस! वह केवल ज्ञाता ही होवे।
जो करता, वह नहीं जानता कुछ भी भाई,
जो जाने, वह करे नहीं कुछ भी हे भाई!॥ ९६॥

अर्थ – जो करता है, वह केवल करता ही है और जो जानता है, वह केवल जानता ही है तथा जो करता है, वह कुछ भी नहीं जानता है और जो जानता है, वह कुछ भी नहीं करता है।

भावार्थ – जो कर्ता है, वह ज्ञाता नहीं है और जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं है।

अब कहते हैं कि इसी प्रकार करनेरूप क्रिया और जाननेरूप क्रिया, दोनों भिन्न-भिन्न हैं —

॥ रोला ॥

करनेरूप क्रिया में जानन भासित ना हो,
जाननरूप क्रिया में करना भासित ना हो।
इसीलिए तो जानन-करना भिन्न-भिन्न हैं,
इसीलिए तो ज्ञाता-कर्ता भिन्न-भिन्न हैं॥ ९७॥

अर्थ – जाननेरूप क्रिया, करनेरूप क्रिया के अन्तरङ्ग में भासित नहीं होती और करनेरूप क्रिया, जाननेरूप क्रिया के अन्तरङ्ग में भासित नहीं होती; इसलिए ज्ञप्ति (जाननेरूप) क्रिया और करोति (करनेरूप) क्रिया दोनों भिन्न-भिन्न हैं; अतः यह निश्चित हुआ कि जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं है।

क्रिया का कर्त्ता ही है। वहुरि जिस काल अैसैं परिणमै है जो मैं परद्रव्य कूं जानूं हूं, तिस जानन क्रियारूप ज्ञाता ही है॥

इहां कोई पूछै, अविरत सम्यग्दृष्टी आदि कै जेतै चारित्रमोह का उदय है, तेतै कषायरूप परिणमै है, तहां कर्त्ता कहिये कि नाही॥

ताका समाधान॥ जो अविरत सम्यग्दृष्टी आदि कै श्रद्धान ज्ञान मैं परद्रव्य के स्वामित्वपणांरूप कर्तापणां का अभिप्राय नाही अर कषायरूप परिणमन है सो उदय की वरजोरी सूं है, ताका यह ज्ञाता है, तातैं अज्ञान संवंधी कर्त्तापणां याकै नाही है॥ अर निमित्त की वरजोरी का परिणमन का फल किंचित् होय है सो संसार का कारण नाही है। जैसैं वृक्ष की जड कटें पीछैं, किंचित् काल हरे पान रहै, तैसैं है॥ छ॥

फेरि दृढ करै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं, कर्मापि तत्कर्तरि,
द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा, का कर्तृकर्मस्थितिः।

भावार्थ – जिस समय [आत्मा] 'मैं परद्रव्य को करता हूँ' – ऐसे [भावरूप] परिणमता है तो उस समय वह उस परिणमनरूप (भावरूप) क्रिया का कर्ता ही है तथा जिस समय 'मैं परद्रव्य को जानता हूँ' — ऐसे [ज्ञानभावरूप] परिणमता है, उस समय वह उस जाननरूप क्रिया का ज्ञाता ही है।

यहाँ **कोई पूछता है** कि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि को जब तक [जितना] चारित्रमोह का उदय है, तब तक [उतना] वह कषायरूप परिणमता है; वहाँ उसे कर्ता कहा जाए या नहीं?

उसका समाधान – अविरत सम्यग्दृष्टि आदि को श्रद्धान-ज्ञान में परद्रव्य के स्वामित्वरूप कर्तृत्व का अभिप्राय नहीं है और जो कषायरूप परिणमन है, वह [कर्म के] उदय की जबरदस्ती[१] से है, उसका वह ज्ञाता ही है; अतः अज्ञान-सम्बन्धी कर्तृत्व उसको नहीं है और निमित्त की जबरदस्ती से हुए परिणमन का फल किञ्चित् ही होता है, वह संसार का कारण नहीं है। जैसे, वृक्ष की जड़ कट जाने के बाद कुछ काल तक उसके पत्ते हरे रहते हैं, उसी प्रकार यहाँ जानना।

पुनः इसी बात को दृढ़ करते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

कर्म में कर्ता नहीं, अरु कर्म कर्ता में नहीं।
इसलिए कर्ता-कर्म की थिति, भी कभी बनती नहीं॥

---

१. यहाँ कर्म के उदय की जबरदस्ती / बलजोरी / बलवत्ता / जोर आदि का मतलब यह नहीं है कि कर्म का उदय, आत्मा के उपादान में कुछ कर सकता है। अविरत सम्यग्दृष्टि का चारित्र-सम्बन्धी उपादान ही जब स्वयं निर्बल होता है तो वहाँ निमित्तरूप में चारित्रमोहनीय कर्म के उदय को प्रधान करके, व्यवहार से कर्म के उदय की जबरदस्ती / बलजोरी / बलवत्ता / जोर आदि कहा जाता है।

ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा, व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा, मोहस्तथाप्येष किम्॥ ५३॥

॥ अर्थ॥ कर्त्ता है सो तौ कर्म विषै निश्चय करि नाही है॥ वहुरि कर्म है सो भी कर्त्ता विषै निश्चय करि नाही है॥ अैसैं दोऊ ही परस्पर विशेष करि प्रतिषेधिये, तव कर्त्ताकर्म की कहा स्थिति होय, नाही होय। तव वस्तु की मर्यादा प्रगट व्यक्तरूप यह ठहरी जो ज्ञाता तौ सदा ज्ञान विषै ही है॥ अर कर्म है सो सदा कर्म विषै ही है॥ तौऊ यह मोह अज्ञान है सो नेपथ्य विषै कैसैं नाचैं है सो यह वड़ा खेद है।

नेपथ्य कहिये शांत ललित उदात्त धीर, इनि च्यारि आभरणनि सहित जो यह तत्वनि का नृत्य, ता विषै यह मोह कैसैं नाचै है। कर्त्ताकर्मभाव तौ नेपथ्यस्वरूप नृत्य का आभूषण नाहीं, अैसैं षेदसहित वचन आचार्य नैं कह्या है॥

॥ भावार्थ॥ कर्म तौ पुद्गल है, ताका कर्त्ता जीव कूं कहिये तौ तिनि दोऊनि कै तो वडा भेद है, जीव तौ पुद्गल मैं नाही, पुद्गल जीव मैं नाही, तव इनिकै कर्त्ताकर्मभाव कैसैं वणैं। तातैं जीव तौ ज्ञाता है सो ज्ञाता ही है, पुद्गल का कर्त्ता नाही॥ वहुरि पुद्गल कर्म है सो कर्म ही है। तहां आचार्य खेद करि कह्या है जो अैसैं प्रगट भिन्न द्रव्य है, तौऊ अज्ञानी कै यह मोह कैसैं नाचै है जो मैं तो कर्त्ता हौं अर यह पुद्गल मेरा कर्म है॥ यह वडा अज्ञान है॥ छ॥

कर्म में है कर्म, ज्ञाता में रहा ज्ञाता सदा।
यदि स्पष्ट है यह बात तो फिर, मोह है क्यों नाचता?॥ ९८॥

अर्थ – निश्चय से कर्ता (जीव) तो कर्म (पुद्गल) में और कर्म भी कर्ता में नहीं होता है। इस प्रकार दोनों ही का परस्पर विशेषरूप से प्रतिषेध किया जाए तो उनमें कर्ता-कर्म की स्थिति कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती; अत: वस्तु की मर्यादा व्यक्तरूप से यह निश्चित होती है कि ज्ञाता तो सदा ज्ञान में ही है और कर्म सदा कर्म में ही है। फिर भी यह मोह अर्थात् अज्ञान नेपथ्य में क्यों नाचता है? – यह बड़ा खेद है।

नेपथ्य अर्थात् शान्त, ललित, उदात्त और धीर – इन चार आभूषणों (विशेषणों) सहित जो तत्त्वों का नृत्य है, उसमें **यह मोह कैसे नाचता है?** – क्योंकि कर्ता-कर्मभाव तो नेपथ्यस्वरूप नृत्य का आभूषण नहीं है; अत: इस प्रकार खेदसहित वचन, आचार्य न कहे हैं।

भावार्थ – कर्म तो पुद्गल है, यदि उसका कर्ता जीव को कहा जाता है तो इन दोनों में तो बड़ा भेद है क्योंकि जीव, पुद्गल में नहीं है और पुद्गल, जीव में नहीं है तो इनमें **कर्ता-कर्मभाव कैसे बन सकता है?** क्योंकि जीव, ज्ञाता है तो वह ज्ञाता ही है, पुद्गल का कर्ता नहीं है और पुद्गल, कर्म है तो वह कर्म ही है। यहाँ आचार्य ने खेद के साथ कहा है कि ये दोनों प्रगट भिन्न द्रव्य हैं, फिर भी **अज्ञानी में यह मोह कैसे नाचता है?** कि मैं तो कर्ता हूँ और यह पुद्गल मेरा कर्म है – यह बड़ा अज्ञान है।

फेरि कहै है जो अैसैं मोह नांचै है तो नांचो, वस्तुस्वरूप तौ जैसैं है, तैसैं तिष्टै है॥ छ॥

॥ मन्दाक्रान्ता॥

कर्ता कर्ता भवति न यथा, कर्म कर्मापि नैव,
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा, पुद्गलः पुद्गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं, व्यक्तमन्तस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत्॥ ५४॥

॥ अर्थ॥ यहु ज्ञानज्योति है सो अंतरंग विषै अतिशय करि अपनीं चैतन्यशक्ति के समूह के भार तैं अत्यंत गंभीर जाका थाह नाही सो तैसैं निश्चल व्यक्तरूप प्रगट भया। जैसैं अज्ञान विषै आत्मा कर्त्ता था सो तौ अव कर्त्ता न होय, अर याके अज्ञान तैं पुद्गल कर्मरूप होय था सो अव कर्मरूप न होय॥ वहुरि जैसैं ज्ञान तौ ज्ञानरूप ही होय अर पुद्गल है सो पुद्गलरूप ही रहै, अैसैं प्रगट भया॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ आत्मा ज्ञानी होय, तव ज्ञान तौ ज्ञानरूप ही परिणमै, पुद्गलकर्म का कर्त्ता न वणै। वहुरि पुद्गल है सो पुद्गलरूप ही रहै, कर्मरूप न परिणमै॥ अैसैं आत्मा कै ज्ञान यथार्थ भयें, दोऊ द्रव्य

अब कहते हैं कि यदि मोह नाचता है तो नाचो, वस्तुस्थिति तो जैसी है वैसी ही रहती है —

॥ सवैया इकतीसा॥

जगमग जगमग, जली ज्ञानज्योति जब,
अति गम्भीर चित्शक्तियों के भार से॥
अद्भुत अनुपम, अचल अभेद ज्योति।
व्यक्त धीर-वीर, निर्मल आर-पार से॥
तब कर्म कर्म अरु, कर्ता कर्ता न रहा।
ज्ञान ज्ञानरूप हुआ, आनन्द अपार से॥
और पुद्गलमयी, कर्म कर्मरूप हुआ,
ज्ञानी पार हुआ, भवसागर अपार से॥ ९९॥

अर्थ – यह ज्ञानज्योति, अन्तरङ्ग में अतिशयरूप से अपनी चैतन्यशक्तियों के समूह के भार से ऐसी अत्यन्त गम्भीर है कि जिसकी थाह नहीं है, वह निश्चल व्यक्तरूप प्रगट हुई है। जैसे, पहले अज्ञान अवस्था में आत्मा कर्ता बनता था, वह तो अब कर्ता नहीं बनता और इस अज्ञान के निमित्त से जैसे, पुद्गल कर्मरूप होता था, वैसे वह अब कर्मरूप नहीं होता है तथा वह जैसे, ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहे और पुद्गल, पुद्गलरूप ही रहे – ऐसे प्रगट होता है।

भावार्थ – जब आत्मा, ज्ञानी होता है, तब ज्ञान तो ज्ञानरूप ही परिणमता है, पुद्गलकर्म का

के परिणाम कै निमित्तनैमित्तिकभाव नाही होय है। अैसा सम्यग्दृष्टी कै ज्ञान होय है॥ छ॥

अैसैं जीव अर अजीव दोऊ कर्त्ताकर्म के वेष करि एक होय नृत्य कै अषारे मैं प्रवेश कीया था सो सम्यग्दृष्टी का ज्ञान यथार्थ देषनेंवाला है सो दोऊ कूं न्यारे न्यारे लक्षण तैं दोय जानि लीये, तव वेष दूरि करि, रंगभूमि तैं वाह्य नीसरि गये॥ वहुरूपे का वेष का यह ही प्रवर्तन है जो देषनेंवाला जेतै पहिचानै नाही, तेतै चेष्टा कीया करै अर यथार्थ पहिचानि ले, तव निजरूप प्रगट करि चेष्टा करता वैठि रहै, तैसैं जाननां॥ छ॥

अैसैं कर्ताकर्म नामा दूसरा अधिकार पूर्ण भया॥ छ॥

॥ सवइया तेईसा॥

जीव अनादि अज्ञान वसाय, विकार उपाय वणैं करता सो,
ता करि वंध नवीनतणूं फल, ले सुख दुःख भवाश्रम वासो।
ज्ञान भयें करता न वणैं तव, वंध न होय षुलै पर पासो,
आतम माहि सदा सुविलास, करै शिव पाय रहै निति थासो॥ १॥

कर्ता नहीं बनता और पुद्गल, पुद्गलरूप ही रहता है, कर्मरूप नहीं परिणमता। इस प्रकार आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर दोनों द्रव्यों के परिणामों में निमित्त-नैमित्तिकभाव नहीं होता – ऐसा सम्यग्दृष्टि को ज्ञान होता है।

इस तरह जीव और अजीव, दोनों ने कर्ता-कर्म के वेश में एक होकर नृत्य के अखाड़े में प्रवेश किया था परन्तु सम्यग्दृष्टि का ज्ञान उन्हें यथार्थ देखनेवाला है, उसने दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षणों से दोनों को भिन्न-भिन्न जान लिया, तब वे दोनों, वेष को उतार कर रङ्गभूमि से बाहर निकल जाते हैं। बहुरूपिओं के भेषों की ऐसी ही प्रवृत्ति है कि जब तक देखनेवाला उन्हें पहिचानता नहीं है, तब तक वे [बाह्य] चेष्टाएँ करते रहते हैं परन्तु उन्हें यथार्थतया पहचान लिये जाने पर, वे अपना निजरूप प्रगट करके उसमें ही चेष्टा करके बैठ जाते हैं, वैसे ही यहाँ जानना चाहिए।

इस प्रकार कर्ता-कर्म नामक दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

॥ सवैया तेईसा॥

जीव अनादि अज्ञान वसाय, विकार उपाय, वणै करता सो।
ता करि बन्ध नवीनतणूं फल, ले सुख-दुःख भवाश्रमवासो॥
ज्ञान भये करता न बनै तब, बन्ध न होय खुलै पर पासो।
आतम माहिं सदा सुविलास, करै सिव पाय रहै निति थासो॥

[**अर्थ** – जीव, अनादिकाल से अज्ञान में ही रहने के कारण विकारों को उत्पन्न करके परद्रव्यों का कर्ता बनता है, इस कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति के कारण नवीन कर्म का बन्ध होता है, उन कर्मों का फल प्राप्त होने पर संसार में ही रहता हुआ सुख-दुःख भोगता रहता है। जब उसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है

याकी गाथा ७६, कलसा ५४, अर पहला अधिकार की गाथा ६८, कलसा ४५, सव मिलै गाथा तौ १४४ भई अर कलसा ९९ भये॥ छ॥

अैसैं इस समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति नामा टीका की वचनिका विषै[२] दूसरा कर्त्ताकर्म नामा अधिकार पूर्ण भया॥ छ॥

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

तो वह परद्रव्यों का कर्ता नहीं बनता है, तब उसे नवीन कर्म-बन्ध भी नहीं होता और पूर्वबद्ध कर्मों के बन्ध खुल जाते हैं अर्थात् पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है। तथा जब यह आत्मा, सदाकाल अपनी आत्मा में ही सुविलास करता है, तब मोक्ष को प्राप्त करके नित्य वहीं निवास करता है।]

इस अधिकार में ७६ गाथाएँ और ५४ कलश हैं तथा पहले अधिकार की ६८ गाथाएँ व ४५ कलश, इस तरह कुल मिला कर १४४ गाथाएँ और ९९ कलश हुए।

इस प्रकार [आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेवप्रणीत] श्री समयसार ग्रन्थ की [आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेवविरचित] श्री आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका की [पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ाकृत] श्री समयसार वचनिका में दूसरा 'कर्ता-कर्म अधिकार' पूर्ण होता है।

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

---

२. *टीका विषै* - 'अ' प्रति पाठ

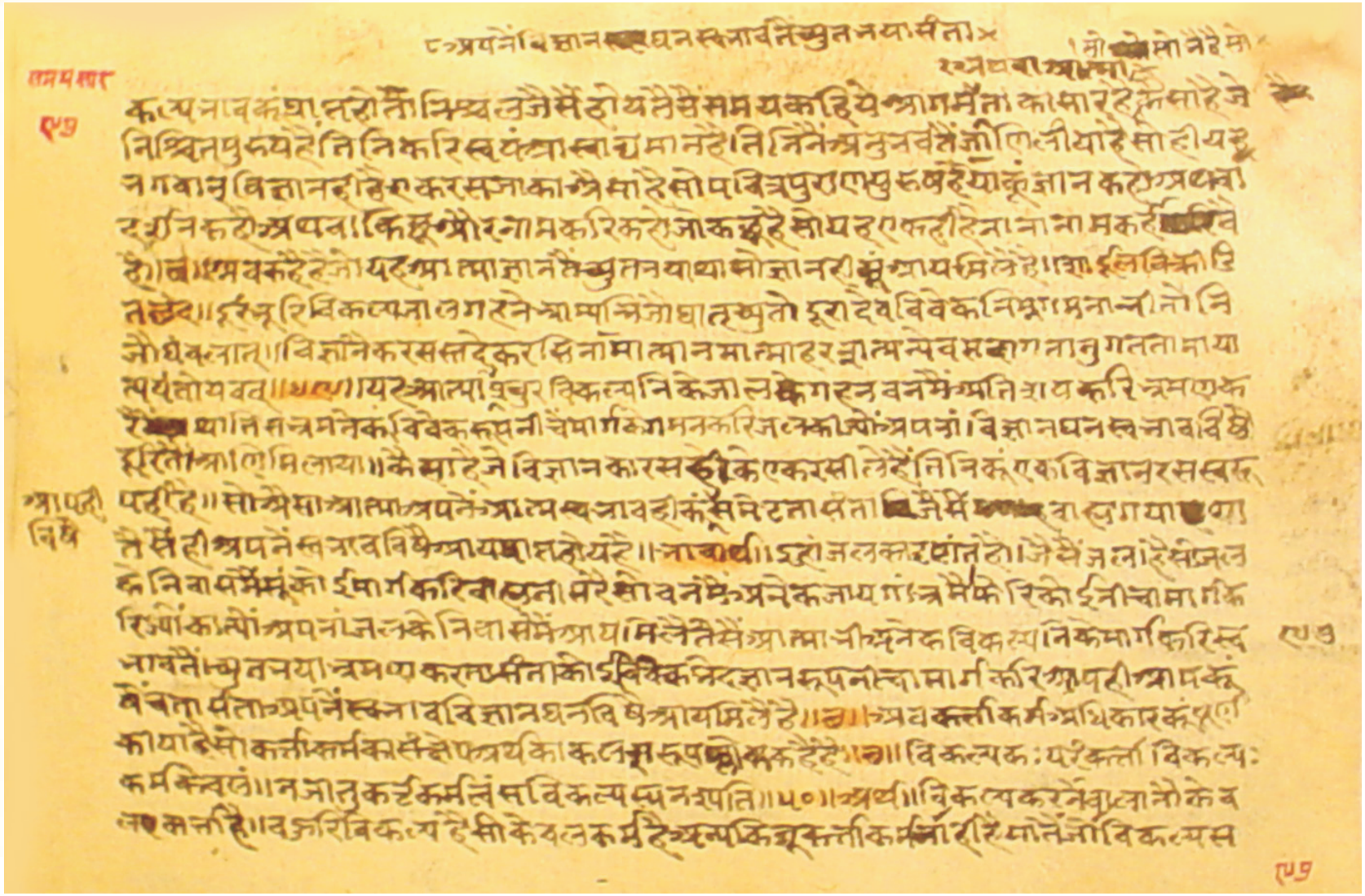

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ९७ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर कर्ता-कर्म अधिकार के अन्तिम कलशों में से कलश ४९-५० (९४-९५) का प्रकरण आया है। इसमें नीचे से दूसरी पंक्ति में लिखा है - '**विकल्प करनेंवाला तौ केवल कर्त्ता है॥ बहुरि**

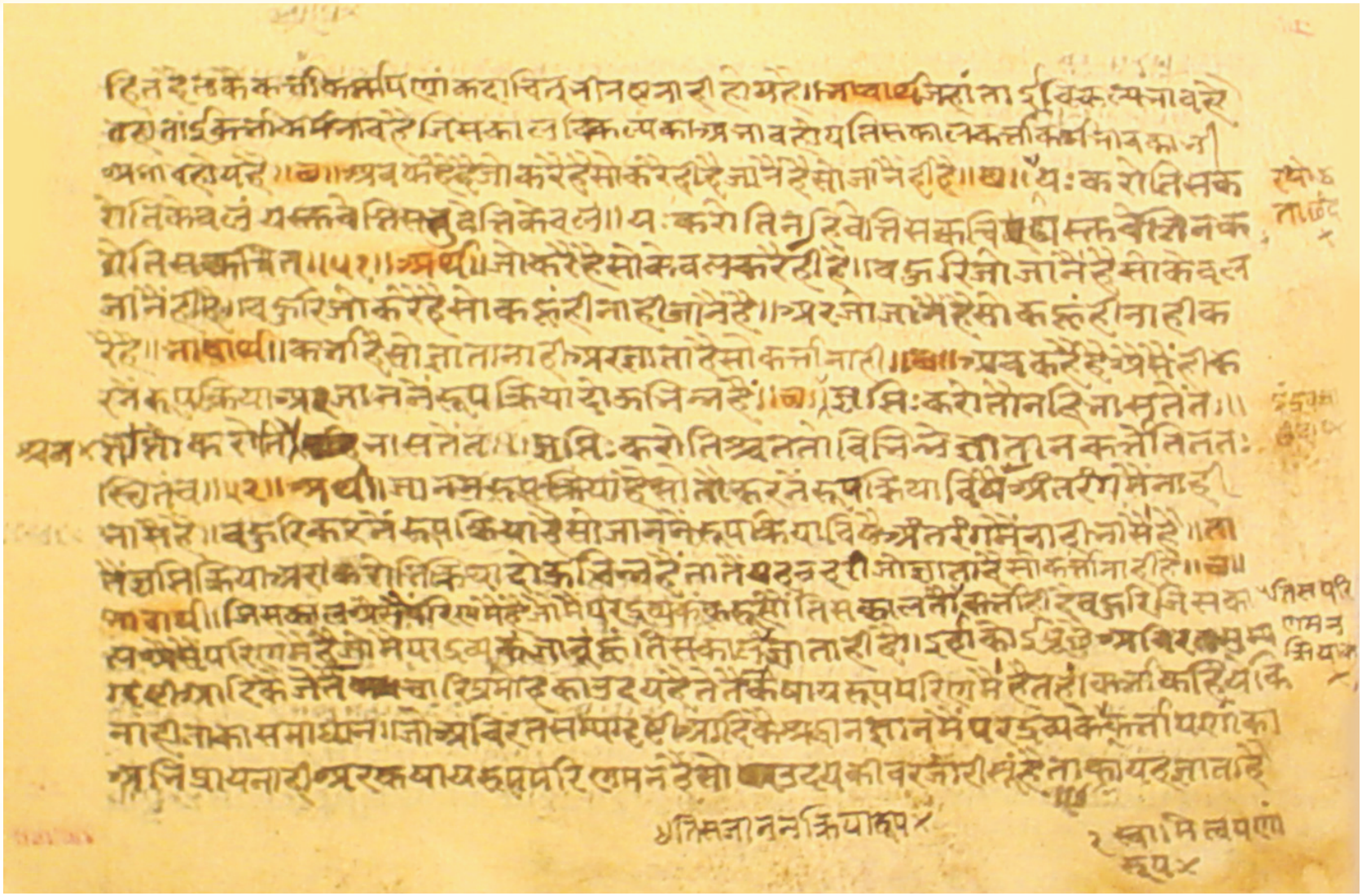

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ९८ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर कर्ता-कर्म अधिकार के अन्तिम कलशों में से कलश ५१ (९६) का प्रकरण चल रहा है। इसमें ऊपर से पाँचवी पंक्ति में लिखा है – '**जो करै है सो केवल करै ही है॥ बहुरि जो जानैं है सो केवल जानैं ही है।**'

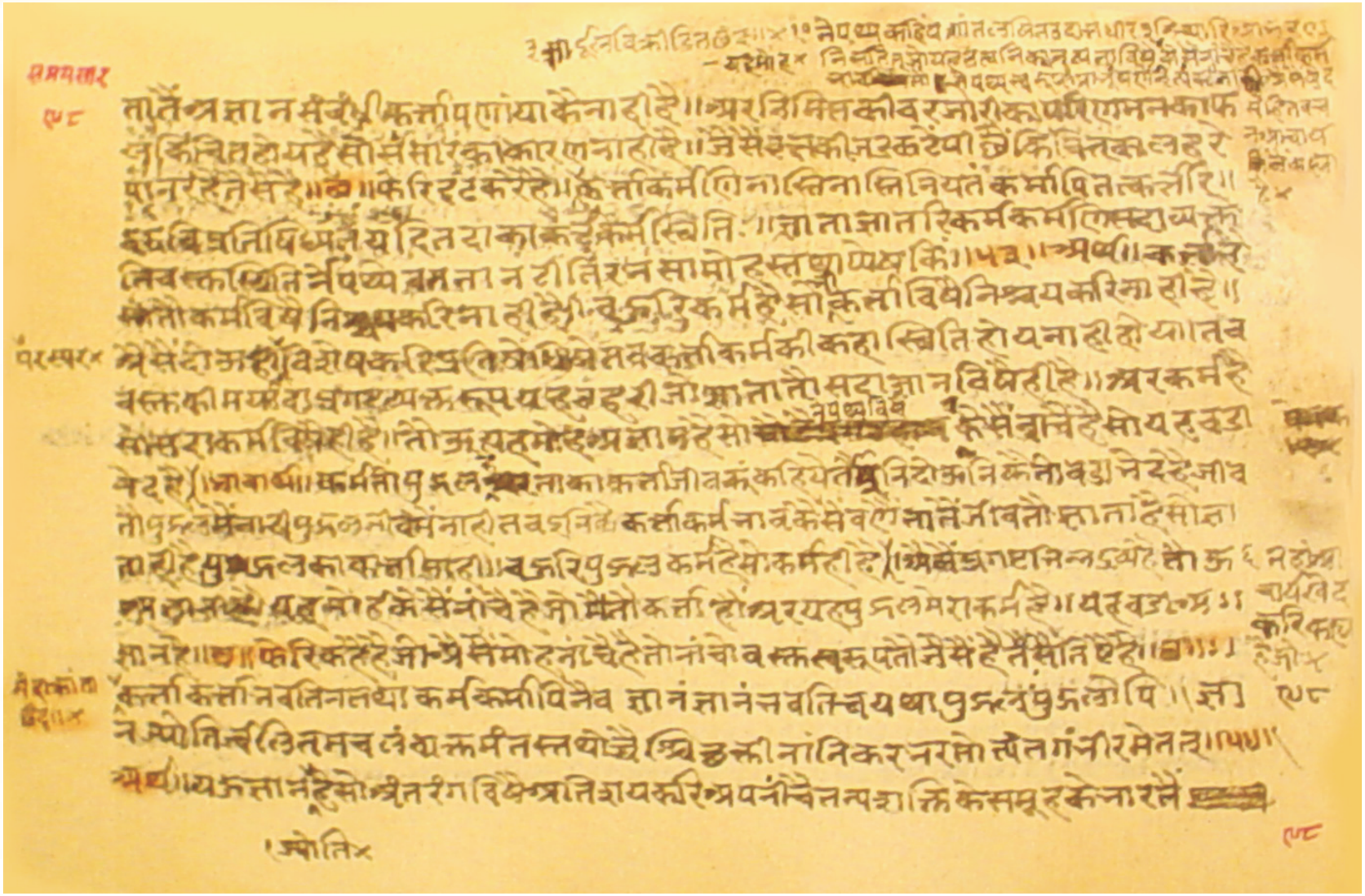

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ९८ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर कर्ता-कर्म अधिकार के अन्तिम कलश ५३-५४ (९८-९९) का प्रकरण चल रहा है। इसमें नीचे से सातवीं पंक्ति में लिखा है – '**जीव तौ ज्ञाता है सो ज्ञाता ही है, पुद्गल का कर्त्ता नाही। वहुरि पुद्गल कर्म है सो कर्म ही है।**'

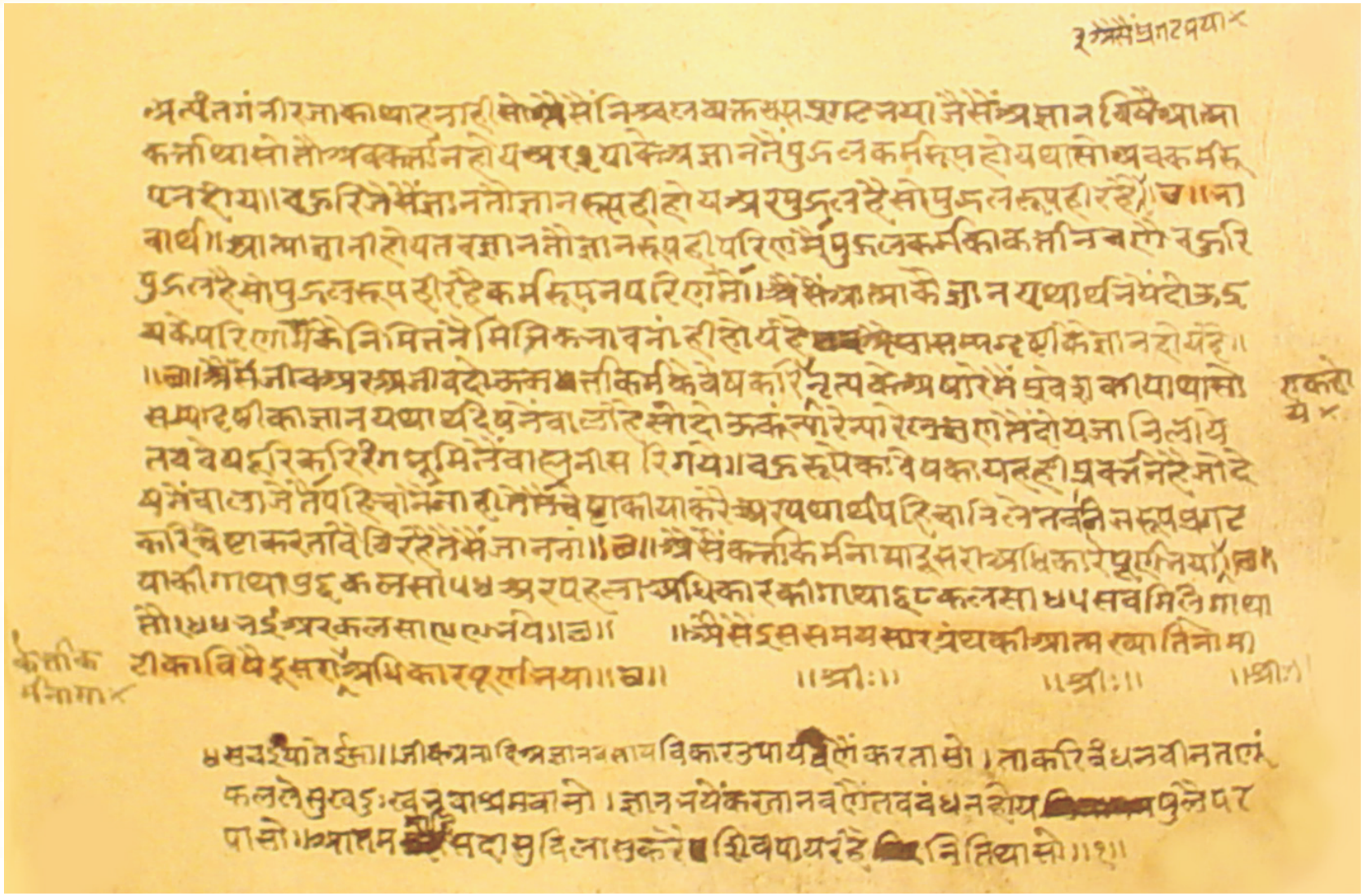

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ९९ का अगला भाग है। यहाँ पर कर्ता-कर्म अधिकार पूर्ण होता है। अन्त में वचनिकाकार ने मङ्गलसूचक 'सवैया तेईसा' लिखा है। इस छन्द में लिखा है – **'ज्ञान भयें करता न वणैं, तव वंध न होय षुलै (खुलै) पर पासो। आतम मांहि सदा सुविलास करै, शिव पाय, रहै निति थासो ॥१ ॥'**

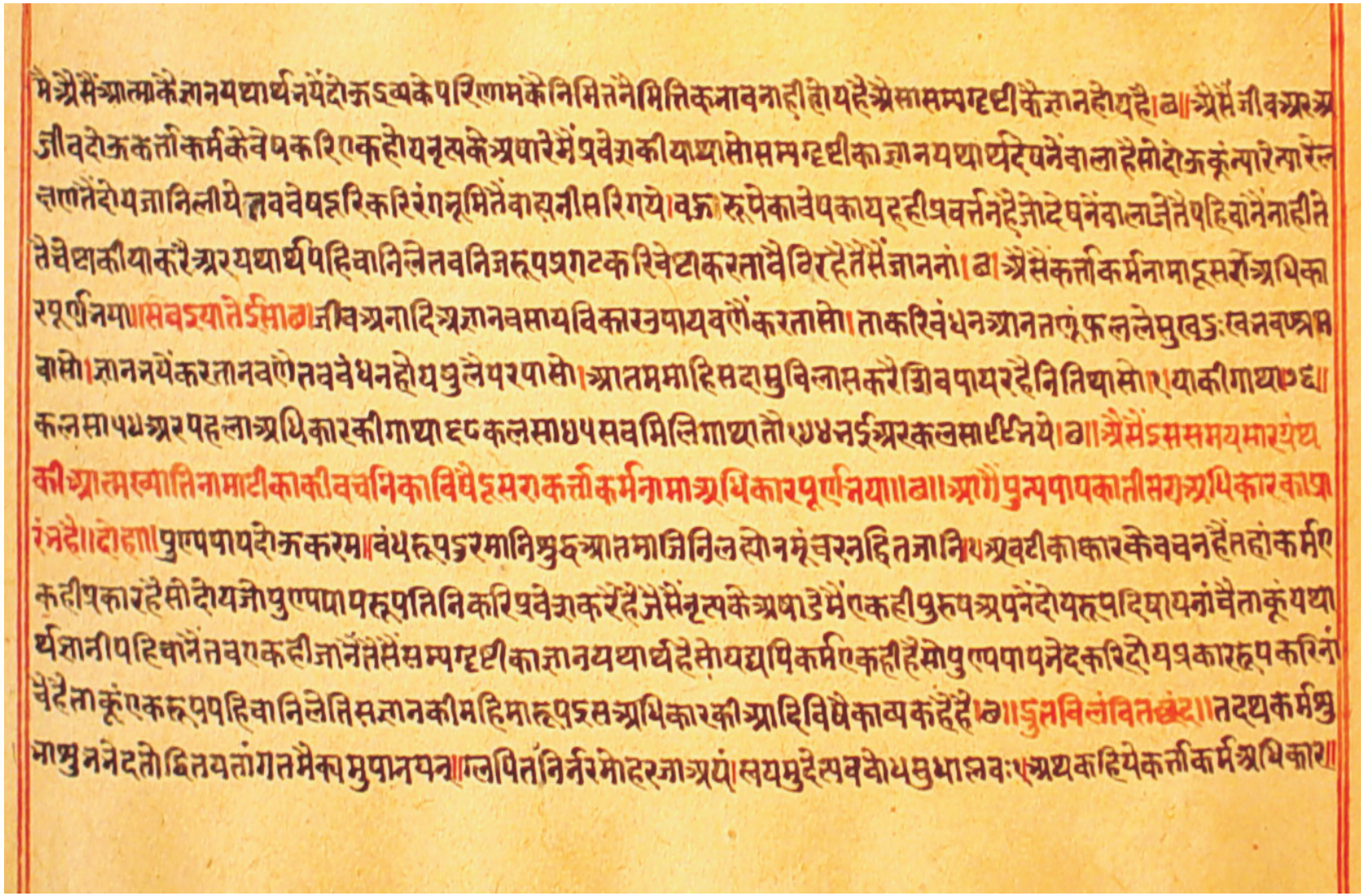

पृष्ठ-परिचय : मूल हस्तलिखित प्रति 'अ' में **पुण्य-पाप अधिकार** के पृष्ठ १०० से १०९ तक नहीं होने से प्रथम शुद्ध प्रतिलिपि 'ब' के आधार पर इस ग्रन्थ में मूल पाठ दिया गया है। यह पत्र क्रमाङ्क ९५ का अगला भाग है। इसमें नीचे से छठी पंक्ति से **पुण्य-पाप अधिकार** प्रारम्भ हो रहा है।

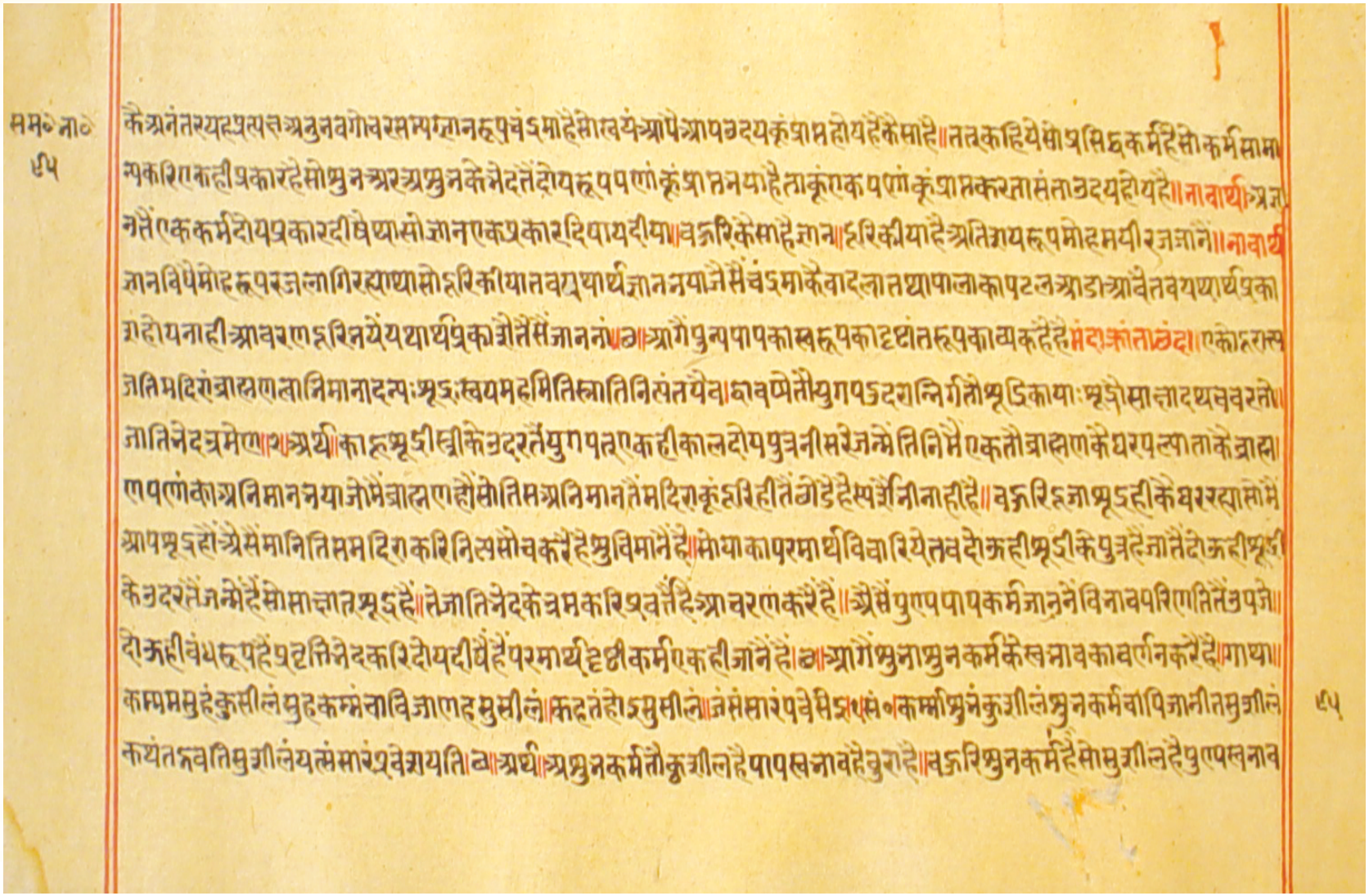

समय० ना० ९५

केअनंतरयद्पुण्यपापअनुभवगोचरसम्यग्ज्ञानरूपचंद्रमाहैसोत्वयंआपैआपउदयकूंप्राप्तहोयहैकेसाहै॥तबकहियेसोपसिद्धकर्महैसोकर्मसामा
न्यकरिकहीप्रकारहैसोशुभअरअशुभकेभेदतैंदोयरूपपणांकूंप्राप्तनयाहैताकूंएकपणांकूंप्राप्तकरतासंताउदयहोयहै॥भावार्थ॥अज्ञा
नतैंएककर्मदोयप्रकारदीषेथासोज्ञानएकप्रकारदिषायदीया॥बहुरिकैसाहैज्ञान॥इहिकीयादैअतिशयरूपमोहमयीरजज्ञानैं॥भावार्थ
ज्ञानविषैमोहरूपरजलागिरह्याथासोइहिकीयातवयूंयार्थज्ञाननयाजैसैंचंद्रमाकैवादलातथापालाकापटलआडाआवैतवयथार्थप्रका
शहोयनाहीआवरणइहिनयेंयथार्थप्रकाशतैंसैंजाननंछ॥आगैंपुन्यपापकास्वरूपकादृष्टांतरूपकाव्यकहैहैमंदाक्रांताछंदा॥एकोदरस्य
जातिमदिरंब्राह्मणस्यानिमानादन्यःशूद्रःस्वयमहमितिस्नातिनित्यंतयैवाक्वप्येतौयुगपदुदरान्निर्गतौशूद्रिकायाःशूद्रौसाक्षादथसवदरतो
जातिभेददूरमपास्यशुद्धचरणाधीकाहूशूद्रीस्त्रीकेउदरतैंयुगपत्एकहीकालदोयपुत्रनीसरेजन्मेतिनिमैंएकतौब्राह्मणकेघरपत्नीताकेब्राह्म
णपणांकाअनिमाननयाजोमैंब्राह्मणहौंसोतिसअनिमानतैंमदिराकूंइहिहीतैंगेडैहैस्यूंनिनाहीहै॥बहुरिइहाशूद्रहीकेघरस्त्रीसोमैं
आपशूद्रहौंऐसैंमानितिसमदिराकरिनित्यसोचकरैहैअविमानैंहैसोयाकापरमार्थीविचारियेतबदोऊहीशूद्रीकेपुत्रदोजातैंदोऊहीशूद्री
केउदरतैंजन्मेहैंसोसाक्षातशूद्रहैं॥तेजातिभेदकेभ्रमकरिश्रवर्तैंहैआचरणकरैहैं॥ऐसैंपुण्यपापकर्मजाननेंविभावपरिणतितैंउपजे॥
दोऊहीबंधरूपहैंपरतिभेदकरिदोयदीयैंहैंपरमार्थदृष्टीकर्मएकहीजाननेंहैं॥आगैंशुभाशुभकर्मकेस्वभावकावर्णनकरैहैंगाथा॥
कम्ममसुहंकुसीलंसुहकम्मंचावि जाणहसुसीलं॥कहतंहोइसुसीलंजंसंसारंपवेसेइ॥१४५॥कर्मअशुभकुशीलंशुभकर्मचापिजानीतसुशीलं
कथंतत्भवतिसुशीलंयत्संसारंप्रवेशयति॥अर्थी॥अशुभकर्मतौकुशीलहैपापस्वभावहैबुराहै॥बहुरिशुभकर्महैसोसुशीलहैपुण्यस्वभाव

पृष्ठ-परिचय : यह द्वितीय हस्तलिखित प्रति 'ब' के पत्र क्रमाङ्क ९५ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर पुण्य-पाप अधिकार के कलश १-२ (१००-१०१) का प्रकरण चल रहा है। इसमें नीचे से चौथी पंक्ति में लिखा है - '**ऐसैं पुण्य पाप कर्म जाननें, विभाव परिणति तैं उपजे, दौऊ ही बंधरूप हैं।**'

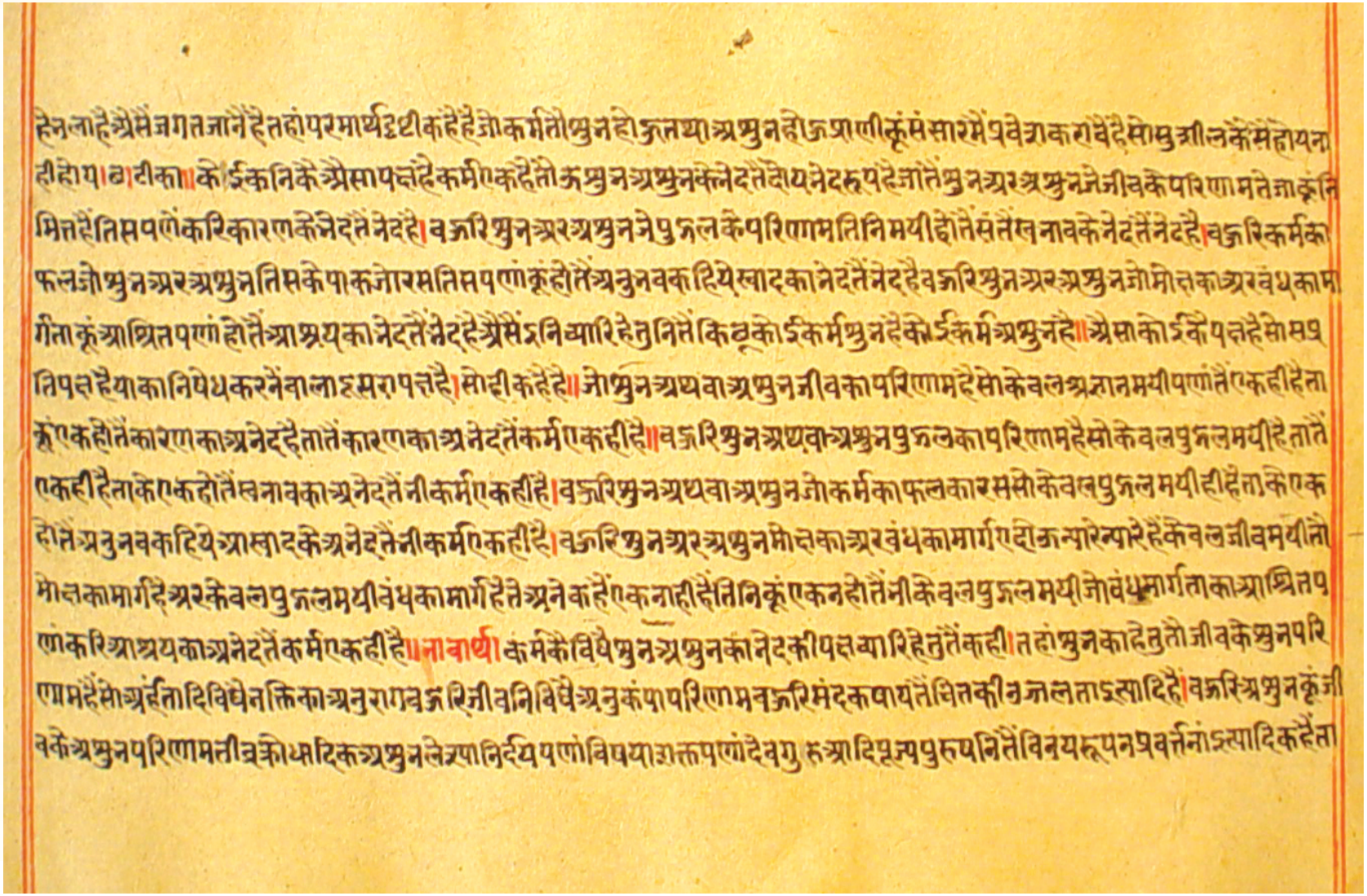

पृष्ठ-परिचय : यह द्वितीय हस्तलिखित प्रति 'ब' का पत्र क्रमांक ९६ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर पुण्य-पाप अधिकार की गाथा १ (१४५) का प्रकरण है। इसमें ऊपर से छठी पंक्ति में लिखा है – **'जो शुभ अथवा अशुभ जीव का परिणाम है सो केवल अज्ञानमयीपणां तैं एक ही है।'**

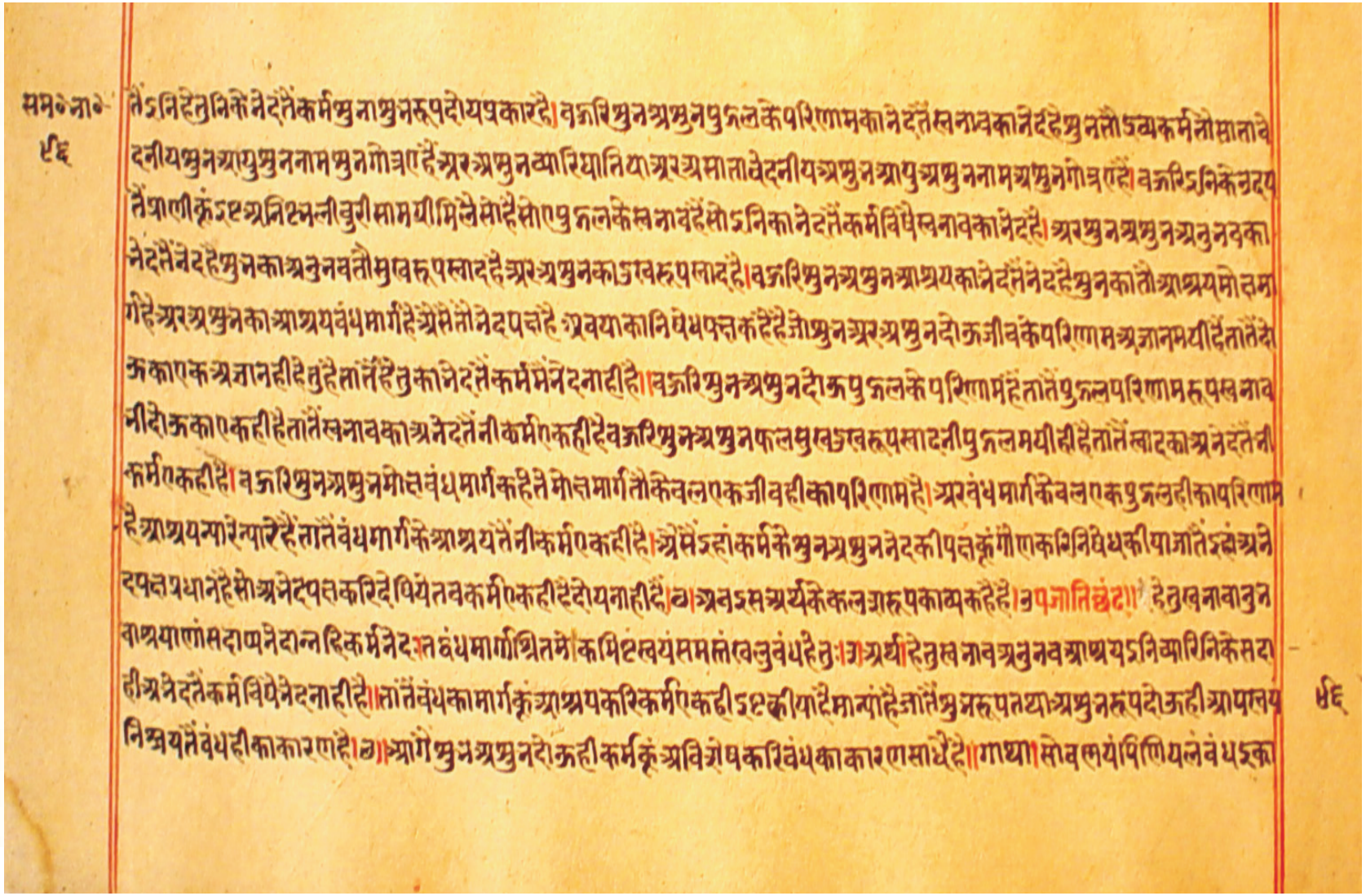

पृष्ठ-परिचय : यह द्वितीय हस्तलिखित प्रति 'ब' का पत्र क्रमाङ्क ९६ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर पुण्य-पाप अधिकार के कलश ३ (१०२) का प्रकरण है। इसमें ऊपर से छठी पंक्ति में लिखा है – **'बहुरि शुभ अशुभ दोऊ पुद्गल के परिणाम हैं, तातैं पुद्गल परिणामरूप स्वभाव भी दोऊ का एक ही है।'**

३

॥ पुण्य-पाप अधिकार ॥

आगैं, पुन्यपाप का तीसरा अधिकार का प्रारंभ है ॥[१]

॥ दोहा ॥

पुण्यपाप दोऊ करम, वंधरूप दुर मानि।
शुद्ध आत्मा जिनि लह्यो, नमूं चरन हित जानि॥ १ ॥

अब टीकाकार के वचन हैं। तहां कर्म एक ही प्रकार है सो दोय जो पुण्य पाप रूप, तिनि करि प्रवेश करै है।

जैसैं नृत्य के अषाडे मैं एक ही पुरुष अपनें दोय रूप दिषाय नांचै, ताकूं यथार्थ ज्ञानी पहिचानैं, तव एक ही जानैं। तैसैं सम्यग्दृष्टी का ज्ञान यथार्थ है, सो यद्यपि कर्म एक ही है सो पुण्य पाप भेद करि दोय प्रकार रूप करि नांचै है, ताकूं एकरूप पहिचानि

अब, तीसरा पुण्य-पाप अधिकार, प्रारम्भ होता है —

॥ दोहा ॥

पुण्य-पाप दोनों करम, बन्धरूप दुर् मानि।
शुद्ध आतमा जिनि लह्यो, नमूँ चरण हित जानि॥

[अर्थ – पुण्य और पाप दोनों कर्म, बन्धरूप हैं और बुरे हैं – ऐसा मानकर जिन्होंने शुद्ध आत्मा को ग्रहण किया, उनके चरणों में अपना हित जान कर मैं नमस्कार करता हूँ।]

यहाँ टीकाकार कहते हैं कि कर्म तो एक ही प्रकार का है, वह पुण्य और पाप – इन दो रूपों में प्रवेश करता है।

जिस प्रकार नृत्य के अखाड़े में एक ही पुरुष अपने दो रूप दिखा कर नाचता है, उन्हें ज्ञानी यथार्थ पहचानता है तो एक ही जानता है; उसी प्रकार कर्म यद्यपि एक ही है, तथापि वह पुण्य-पाप

---

१. यह अधिकार, मूल हस्तलिखित प्रति के पृष्ठ १०० से १०९ में था, परन्तु वे पृष्ठ ग्रन्थ भण्डार में से कहीं खो गए हैं – ऐसा ही दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर, तेरापंथियान, घीवालों का रास्ता, जयपुर के वेष्टन संख्या १८५७ पर लिखा है; अतः दो वर्ष बाद वि. सं. १८६६ में लिखी गई प्रथम एवं शुद्ध हस्तलिखित प्रतिलिपि एवं मुद्रित संस्करण के आधार पर यह अधिकार यहाँ दिया जा रहा है।

ले, तिस ज्ञान की महिमारूप इस अधिकार के आदि विषै काव्य कहै है॥ छ॥

॥ द्रुतविलम्बित॥

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो, द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन्।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं, स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः॥ १॥

॥ अर्थ॥ अथ कहिये कर्त्ताकर्म अधिकार कै अनंतर, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर सम्यग्ज्ञानरूप चंद्रमा है सो स्वयं आपै आप उदय कूं प्राप्त होय है।

कैसा है॥ तत् कहिये सो प्रसिद्ध कर्म है सो कर्मसामान्य करि एक ही प्रकार है सो शुभ अर अशुभ के भेद तैं दोयरूपपणां कूं प्राप्त भया है, ताकूं एकपणां कूं प्राप्त करता संता उदय होय है॥ भावार्थ॥ अज्ञान तैं एक कर्म दोय प्रकार दीषै था सो ज्ञान एक प्रकार दिषाय दिया॥

वहुरि कैसा है ज्ञान॥ दूरि कीया है अतिशयरूप मोहमयी रज जानैं॥ **भावार्थ॥** ज्ञानविषै मोहरूप रज लागि रह्या था सो दूरि कीया, तव यथार्थ ज्ञान भया। जैसैं चंद्रमा कै वादला तथा पाला का पटल आडा आवै, तव यथार्थ प्रकाश होय नाही, आवरण दूरि भयें यथार्थ प्रकाशै, तैसैं जाननां॥ छ॥

के भेद से दो प्रकार का रूप धारण करके नाचता है; उसे सम्यग्दृष्टि का यथार्थ ज्ञान, एकरूप पहचान लेता है, उस ज्ञान की महिमा करते हुए इस अधिकार के प्रारम्भ में काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

शुभ अर अशुभ के भेद से, जो दोपने को प्राप्त हो।
वह कर्म भी जिसके उदय से, एकता को प्राप्त हो॥
जब मोहरज का नाश कर, सम्यक् सहित वह स्वयं ही।
जग में उदय को प्राप्त हो, वह सुधा-निर्झर ज्ञान ही॥ १००॥

अर्थ – अब कर्ता-कर्म अधिकार के बाद कहते हैं कि यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्रमा, स्वयं अपने आप उदय को प्राप्त होता है।

कैसा है सम्यग्ज्ञान? – तत् अर्थात् वह प्रसिद्ध कर्म, कर्मसामान्य की अपेक्षा एक ही प्रकार का है, वह शुभ और अशुभ के भेद से दो-पने को प्राप्त हुआ है, उसे एक करता हुआ [सम्यग्ज्ञान] उदित होता है। **भावार्थ** यह है कि अज्ञान के कारण एक कर्म दो प्रकार का दिखता था, उसे ज्ञान ने एक प्रकार का दिखा दिया है।

और कैसा है वह ज्ञान? – जिसने मोहमयी रज को अतिशयरूप से दूर किया है। **भावार्थ** यह है कि ज्ञान में मोहरूपी रज लग रही थी, उसे दूर किया तो यथार्थ ज्ञान प्रगट हुआ। जिस प्रकार चन्द्रमा के सामने बादल अथवा कोहरे का पटल आड़े आ जाता है तो यथार्थ प्रकाश नहीं होता, उस आवरण के दूर हो जाने पर यथार्थ प्रकाश होता है; उसी प्रकार यहाँ सम्यग्ज्ञान में भी जानना।

आगैं पुण्यपाप का स्वरूप का दृष्टांतरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ मन्दाक्रान्ता॥

एको दूरात्त्यजति मदिरां, ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति, स्नाति नित्यं तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादपि[१] च चरतो जातिभेदभ्रमेण॥ २॥

॥ अर्थ॥ काहू शूद्री स्त्री के उदर तैं युगपत् एक ही काल दोय पुत्र नीसरे - जन्में, तिनि मैं एक तौ ब्राह्मण के घर पल्या, ताकै ब्राह्मणपणां का अभिमान भया जो मैं ब्राह्मण हौं, सो तिस अभिमान तैं मदिरा कूं दूरि ही तैं छोडै है, स्पर्शै भी नाही है॥ बहुरि दूजा शूद्र ही कै घर रह्या सो मैं आप शूद्र हौं, अैसैं मानि तिस मदिरा करि नित्य सौच करै है, शुचि मानै है॥

सो याका परमार्थ विचारिये तव दोऊ ही शूद्री के पुत्र हैं, जातैं दोऊ ही शूद्री के उदर तैं जन्मे

अब, पुण्य-पाप के स्वरूप का दृष्टान्तसूचक काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

दोनों जन्में एक साथ शूद्रा के घर में,
एक पला बामन के घर दूजा निजघर में।
एक छुए ना मद्य ब्राह्मणत्व-अभिमान से,
दूजा डूबा रहे उसी में शूद्रभाव से।
जातिभेद के भ्रम से ही यह अन्तर आया,
इस कारण अज्ञानी ने पहिचान न पाया।
पुण्य-पाप भी कर्म जाति के जुड़वा भाई!,
दोनों ही हैं हेय मुक्ति-मारग में भाई!॥ १०१॥

अर्थ – किसी शूद्र की स्त्री के उदर से एक साथ एक ही समय में दो पुत्रों ने जन्म लिया, उनमें से एक तो ब्राह्मण के घर पला, उसको ब्राह्मणत्व का अभिमान हुआ कि 'मैं ब्राह्मण हूँ'; अतः उस अभिमान के कारण वह मदिरा को दूर से ही छोड़ता है, स्पर्श भी नहीं करता तथा दूसरा शूद्र ही के घर में रहा, वह 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' – ऐसा मान कर, उस मदिरा से ही नित्य स्नान करता है और उसे ही शुद्ध मानता है।

यदि इस सन्दर्भ में परमार्थ से विचार किया जाए तो दोनों ही शूद्री के पुत्र हैं क्योंकि दोनों ही

---

१. *साक्षादथ* - 'ब' प्रति में पाठ

हैं सो साक्षात् शूद्र हैं॥ ते जातिभेद के भ्रम करि प्रवर्त्तैं हैं, आचरण करैं हैं॥ अैसैं पुण्यपाप कर्म जाननें, विभाव परिणति तैं उपजे॥ दोऊ ही वंधरूप हैं, प्रवृत्तिभेद करि दोय दीषैं हैं, परमार्थदृष्टी कर्म एक ही जानैं हैं॥ छ॥

आगैं शुभाशुभकर्म के स्वभाव का वर्णन करै है॥

कम्ममसुहं कुसीलं, सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होइ सुसीलं, जं संसारं पवेसेइ॥ १॥

कर्माशुभं कुशीलं, शुभकर्म चापि जानीत सुशीलम्।
कथं तद्भवति सुशीलं, यत्संसारं प्रवेशयति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ अशुभकर्म तौ कुशील है, पापस्वभाव है, वुरा है॥ वहुरि शुभकर्म है सो सुशील है, पुण्यस्वभाव है, भला है। अैसैं जगत जानै है। तहां परमार्थदृष्टी कहै है जो कर्म तौ शुभ होऊ तथा अशुभ होऊ, प्राणी कूं संसार मैं प्रवेश करावै है सो सुशील कैसै होय, नाही होय॥ छ॥

॥ टीका॥ केईकनि कै अैसा पक्ष है, कर्म एक है तौऊ शुभ अशुभ के भेद तैं दोय भेदरूप है।

शूद्री के उदर से जन्मे हैं, अत: साक्षात् शूद्र हैं परन्तु वे जाति-भेद के भ्रम से प्रवर्तते हैं, आचरण करते हैं। इसी प्रकार पुण्य-पाप कर्मों के बारे में भी यह जानना कि वे दोनों ही विभाव-परिणति से उत्पन्न होने के कारण बन्धरूप हैं; प्रवृत्ति के भेद से दो भले ही दिखते हैं परन्तु परमार्थदृष्टि तो कर्म को एक ही जानती है।

अब, शुभाशुभकर्म के स्वभाव का वर्णन करते हैं —

कम्ममसुहं कुसीलं, सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह[1] तं होदि सुसीलं, जं संसारं पवेसेदि॥ १४५॥

है अशुभकर्म कुशील अरु, जानों सुशील शुभकर्म को।
किस रीति होय सुशील जो, संसार में दाखिल करे?॥ १४५॥

अर्थ – जगत् ऐसा जानता है कि अशुभकर्म तो कुशील है, पापस्वभाव है, बुरा है तथा शुभकर्म सुशील है, पुण्यस्वभाव है, भला है। वहाँ परमार्थदृष्टि कहती है कि कर्म चाहे शुभ हो या अशुभ हो, जो प्राणी को संसार में प्रवेश कराता है, **वह सुशील कैसे हो सकता है?** – नहीं हो सकता है॥ १४५॥

टीका – कुछ लोगों का ऐसा पक्ष है कि कर्म एक होने पर भी शुभ-अशुभ के भेद से दो

---

१. *किह* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

जातैं शुभ अर अशुभ जे जीव के परिणाम, ते जाकूं निमित्त हैं, तिसपणें करि कारण के भेद तैं भेद है।

वहुरि शुभ अर अशुभ जे पुद्गल के परिणाम, तिनिमयी होतैं संतैं, स्वभाव के भेद तैं भेद है॥

वहुरि कर्म का फल जो शुभ अर अशुभ, तिसके पाक जो रस, तिसपणां कूं होतैं, अनुभव कहिये स्वाद का भेद तैं भेद है॥

वहुरि शुभ अर अशुभ जो मोक्ष का अर वंध का मार्ग, ताकूं आश्रितपणां होतैं, आश्रय का भेद तैं भेद है।

अैसैं इनि च्यारि हेतुनि तैं किछू कोई कर्म शुभ है, कोई कर्म अशुभ है, अैसा कोई कै पक्ष है सो सप्रतिपक्ष है, याका निषेध करनेंवाला दूसरा पक्ष है सो ही कहै है॥

जो शुभ अथवा अशुभ जीव का परिणाम है सो केवल अज्ञानमयीपणां तैं एक ही है, ताकूं एक होतैं कारण का अभेद है, तातैं कारण का अभेद तैं कर्म एक ही है॥

वहुरि शुभ अथवा अशुभ पुद्गल का परिणाम है सो केवल पुद्गलमयी है, तातैं एक ही है, ताके एक होतैं स्वभाव का अभेद तैं भी कर्म एक ही है॥

वहुरि शुभ अथवा अशुभ जो कर्म का फल का रस सो केवल पुद्गलमयी ही है, ताके एक होतैं अनुभव कहिये आस्वाद के अभेद तैं भी कर्म एक ही है॥

भेदरूप है, क्योंकि —

१. शुभ और अशुभरूप जीव के परिणाम, जिसके निमित्तभूत (कारणभूत) होते हैं - ऐसे **कारण के भेद** से कर्मों में भेद है।

२. शुभ और अशुभ पुद्गलपरिणाममयी होने से **स्वभाव के भेद** से कर्मों में भेद है।

३. शुभ और अशुभरूप कर्मों के फल उनके पाक अर्थात् रसरूप होने से **अनुभव अर्थात् स्वाद के भेद** से कर्मों में भेद है।

४. शुभ और अशुभ, [क्रमशः] मोक्षमार्ग और बन्धमार्ग के आश्रित होने से **आश्रय के भेद** से कर्मों में भेद है।

इस प्रकार इन चार हेतुओं से कोई कर्म, शुभ है और कोई कर्म, अशुभ है – ऐसा जिनका पक्ष है, वह प्रतिपक्षसहित है अर्थात् उनका निषेध करनेवाला दूसरा पक्ष भी है, वही कहते हैं —

१. शुभ या अशुभरूप जीव का परिणाम, केवल अज्ञानमयी होने से एक ही है, उसके एक होने से कारण का अभेद सिद्ध होता है; अतः **कारण का अभेद** होने से कर्म, एक ही है।

२. शुभ या अशुभरूप पुद्गल का परिणाम, केवल पुद्गलमयी होने से एक ही है, उसके एक होने से **स्वभाव का अभेद** होने से भी कर्म, एक ही है।

३. शुभ या अशुभरूप कर्म के फल का रस, केवल पुद्गलमयी ही है, उसके एक होने से

वहुरि शुभ अर अशुभ मोक्ष का अर वंध का मार्ग, ए दोऊ न्यारे हैं, केवल जीवमयी तौ मोक्ष का मार्ग है अर केवल पुद्गलमयी वंध का मार्ग है, ते अनेक हैं, एक नाही हैं। तिनिकूं एक न होतैं भी केवल पुद्गलमयी जो वंधमार्ग, ताका आश्रितपणां करि आश्रय का अभेद तैं कर्म एक ही है॥

॥ भावार्थ॥ कर्म के विषै शुभ अशुभ का भेद की पक्ष च्यारि हेतु तैं कही।

तहां शुभ का हेतु तौ जीव के शुभपरिणाम हैं सो अर्हंतादि विषै भक्ति का अनुराग, वहुरि जीवनि विषै अनुकंपा परिणाम, वहुरि मंदकषाय तैं चित्त की उज्जलता इत्यादि हैं। वहुरि अशुभ कूं जीव के अशुभपरिणाम तीव्रक्रोधादिक, अशुभलेश्या, निर्दयपणां, विषयाशक्तपणां, देव गुरु आदि पूज्य पुरुषनि तैं विनयरूप न प्रवर्त्तनां इत्यादिक हैं। तातैं इनि हेतुनि के भेद तैं कर्म शुभाशुभरूप दोय प्रकार है।

वहुरि शुभ अशुभ पुद्गल के परिणाम का भेद तैं स्वभाव का भेद है। शुभ तौ द्रव्यकर्म तौ सातावेदनीय शुभ आयु शुभनाम शुभगोत्र, ए हैं अर अशुभ च्यारि घातिया अर असातावेदनीय अशुभ आयु अशुभनाम अशुभगोत्र, ए हैं। वहुरि इनिके उदय तैं प्राणी कूं इष्ट अनिष्ट, भली वुरी सामग्री मिलै सो है, सो ए पुद्गल के स्वभाव हैं, सो इनिका भेद तैं कर्म विषै स्वभाव का भेद है।

अर शुभ अशुभ अनुभव का भेद तैं भेद है। शुभ का अनुभव तौ सुखरूप स्वाद है अर अशुभ

अनुभव अर्थात् **आस्वाद के अभेद** से भी कर्म, एक ही है।

४. शुभ और अशुभपना तथा मोक्षमार्ग और बन्धमार्ग, ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं, इनमें केवल जीवमयी तो मोक्ष का मार्ग है और केवल पुद्गलमयी बन्ध का मार्ग है; अत: वे अनेक हैं, एक नहीं हैं; उस कारण एकत्व नहीं होने पर भी [शुभ और अशुभ में] केवल पुद्गलमयी बन्धमार्ग की आश्रितता होने से **आश्रय के अभेद** से कर्म, एक ही है।

भावार्थ – यहाँ कर्म में शुभ-अशुभ के भेदपक्ष को चार हेतुओं से कहा है —

१. शुभ के हेतु तो जीव के शुभपरिणाम हैं, वे अरहन्त आदि में भक्ति का अनुराग, जीवों में अनुकम्पा परिणाम, मन्दकषाय से चित्त की उज्ज्वलता इत्यादि हैं तथा अशुभ के हेतु जीव के अशुभपरिणाम हैं – तीव्र क्रोध आदि, अशुभलेश्या, निर्दयता, विषयासक्तता, देव-गुरु आदि पूज्य पुरुषों के प्रति विनयरूप नहीं प्रवर्तना इत्यादि हैं; अत: इन **हेतुओं के भेद** से कर्म शुभ-अशुभरूप दो प्रकार का है।

२. शुभ-अशुभरूप पुद्गलपरिणाम के भेद से उनमें स्वभाव का भेद है। शुभरूप द्रव्यकर्म तो सातावेदनीय, शुभ-आयु, शुभनाम और शुभगोत्र हैं तथा अशुभरूप द्रव्यकर्म के अन्तर्गत चार घातियाकर्म और असातावेदनीय, अशुभ-आयु, अशुभनाम और अशुभगोत्र हैं; इनके उदय से प्राणी को इष्ट-अनिष्ट, भली-बुरी सामग्री मिलती है; अत: इन पुद्गल के **स्वभाव के भेद** से कर्म में स्वभाव का भेद है।

३. शुभ के अनुभव का तो सुखरूप स्वाद है और अशुभ के अनुभव का दु:खरूप स्वाद है;

का दुःखरूप स्वाद है।

वहुरि शुभ अशुभ आश्रय का भेद तैं भेद है। शुभ का तौ आश्रय मोक्षमार्ग है अर अशुभ का आश्रय वंधमार्ग है।

अैसै तौ भेदपक्ष है। अव याका निषेधपक्ष कहै है।

जो शुभ अर अशुभ, दोऊ जीव के परिणाम अज्ञानमयी हैं, तातैं दोऊ का एक अज्ञान ही हेतु है, तातैं हेतु का भेद तैं कर्म मैं भेद नाही है॥

वहुरि शुभ अशुभ दोऊ पुद्गल के परिणाम हैं, तातैं पुद्गलपरिणामरूप स्वभाव भी दोऊ का एक ही है, तातैं स्वभाव का अभेद तैं भी कर्म एक ही है।

वहुरि शुभ अशुभ फल, सुखदुःखरूप स्वाद भी पुद्गलमयी ही है, तातैं स्वाद का अभेद तैं भी कर्म एक ही है।

वहुरि शुभ अशुभ, मोक्ष वंधमार्ग कहे, ते मोक्षमार्ग तौ केवल एक जीव ही का परिणाम है अर वंधमार्ग केवल एक पुद्गल ही का परिणाम है, आश्रय न्यारे न्यारे हैं, तातैं वंधमार्ग के आश्रय तैं भी कर्म एक ही है।

अैसैं इहां कर्म कै शुभ अशुभ भेद की पक्ष कूं गौण करि निषेध कीया, जातैं इहां अभेदपक्ष प्रधान है सो अभेदपक्ष करि देषिये, तव कर्म एक ही है, दोय नाही हैं।

अतः शुभ-अशुभ में **अनुभव के भेद** से भी भेद है।

४. शुभ का आश्रय तो मोक्षमार्ग है और अशुभ का आश्रय बन्धमार्ग है; अतः शुभ-अशुभ में **आश्रय के भेद** से भी भेद है।

इस प्रकार यह तो भेदपक्ष है। अब, इसका निषेधपक्ष (अभेदपक्ष) कहते हैं —

१. शुभ और अशुभ, दोनों ही जीव के अज्ञानमयी परिणाम हैं क्योंकि दोनों का हेतु एक अज्ञान ही है; अतः हेतु के भेद से कर्म में भेद नहीं है [कर्म एक ही है]।

२. शुभ और अशुभ, दोनों पुद्गल के परिणाम हैं क्योंकि पुद्गलपरिणामरूप स्वभाव भी दोनों का एक ही है; अतः स्वभाव के अभेद से भी कर्म एक ही है।

३. शुभ-अशुभ के फलस्वरूप सुख-दुःखरूप स्वाद भी पुद्गलमय ही है; अतः स्वाद के अभेद से भी कर्म एक ही है।

४. शुभ-अशुभ, मोक्षमार्ग-बन्धमार्ग को कहा है, वहाँ मोक्षमार्ग तो केवल एक जीव ही का परिणाम है और बन्धमार्ग केवल एक पुद्गल ही का परिणाम है, दोनों के आश्रय भिन्न-भिन्न हैं; अतः [शुभ-अशुभ दोनों] बन्धमार्ग के आश्रयभूत होने से भी कर्म एक ही है।

इस प्रकार यहाँ कर्म के शुभ-अशुभ भेद के पक्ष को गौण करके निषेध किया क्योंकि यहाँ अभेदपक्ष प्रधान है; अतः अभेदपक्ष से देखने पर तो कर्म एक ही है, दो नहीं हैं।

अब इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै हैं॥ छ॥

॥ उपजाति॥

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां, सदाऽप्यभेदान्न हि कर्मभेदः।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं, स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः॥ ३॥

॥ अर्थ॥ हेतु स्वभाव अनुभव आश्रय, इनि च्यारिनि के सदा ही अभेद तैं कर्म विषै भेद नाही है, तातैं वंध का मार्ग कूं आश्रय करि कर्म एक ही इष्ट कीया है, मान्यां है, जातैं शुभरूप तथा अशुभरूप दोऊ ही आप स्वयं निश्चय तैं वंध ही का कारण है।

आगैं शुभ अशुभ, दोऊ ही कर्म कूं अविशेष करि वंध का कारण साधै है॥ छ॥

सोवण्णियं पि णियलं, बंधइ कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधइ एवं जीवं, सुहमसुहं वा कयं कम्मं॥ २॥

सौवर्णकमपि[१] निगलं, बध्नाति कालायसमपि यथा पुरुषम्।
बध्नात्येवं जीवं, शुभमशुभं वा कृतं कर्म॥ छ॥

अब, इस अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

अरे! पुण्य अरु पापकर्म का हेतु एक है,
आश्रय अनुभव अरु स्वभाव भी सदा एक है।
अतः कर्म को एक मानना ही अभीष्ट है,
भले-बुरे का भेद जानना ठीक नहीं है॥ १०२॥

अर्थ – हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय - इन चारों की अपेक्षा सदा ही अभेद होने से कर्म में भेद नहीं हैं क्योंकि बन्धमार्ग के आश्रित होने के कारण कर्म को एक ही मानना इष्ट है क्योंकि निश्चय से शुभरूप और अशुभरूप, दोनों ही कर्म स्वयं बन्ध ही के कारण हैं।

अब, शुभ और अशुभ, दोनों ही कर्मों को समानरूप से बन्ध का कारण सिद्ध करते हैं —

सोवण्णियं[१] पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥ १४६॥

ज्यों लोह की त्यों स्वर्ण की, जंजीर जकड़े पुरुष को।
इस रीति से शुभ या अशुभकृत, कर्म बाँधे जीव को॥ १४६॥

---

१. *सौवर्णिकमपि* - अगास एवं सोनगढ़ प्रकाशन पाठ

॥ अर्थ ॥ जैसैं सुवर्ण की वेडी पुरुष कूं वांधै है अर लोहे की वेडी भी पुरुष कूं वांधै है॥ तैसैं शुभ तथा अशुभ कीये हुए कर्म हैं सो जीव कूं वांधै ही हैं॥ छ॥

॥ टीका ॥ शुभ अर अशुभकर्म है सो अविशेष करि पुरुष जो आत्मा ताकूं वांधै ही है, जातैं दोऊ वंधपणां करि विशेषरहित हैं॥ जैसैं सुवर्ण की वेड़ी अर लोहे की वेड़ी मैं वंध अपेक्षा भेद नाही। तैसैं कर्म मैं भी वंध अपेक्षा भेद नाहीं॥

आगैं शुभ अशुभ जे दोऊ कर्म तिनि कूं निषेधै है॥ छ॥

तम्हा दु कसीलेहिं य, रायं मा कुणह मा व संसग्गिं।
साहीणो हि विणासो, कुसीलसंसग्गिरागेण॥ ३॥

तस्मात्तु कुशीलाभ्यां च, रागं मा कुरुत मा वा संसर्गम्।
स्वाधीनो हि विनाशः, कुशीलसंसर्गरागेण॥ छ॥

॥ अर्थ ॥ भो मुनिजन हौ, पूर्वोक्त शुभ अशुभ कर्म हैं, ते कुशील हैं, निंद्यस्वभाव हैं। तातैं तिनि दोऊ कुशीलनि तैं राग प्रीति मति करौ अथवा तिनि का संसर्ग्ग भी मति करौ, जातैं कुशील के संसर्ग तैं अर राग तैं अपनां स्वाधीन ही विनाश है, आप का घात आप ही तैं होय है॥ छ॥

अर्थ – जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी पुरुष को बाँधती है और लोहे की बेड़ी भी पुरुष को बाँधती है; उसी प्रकार शुभ और अशुभरूप दोनों ही किये हुए कर्म, जीव को बाँधते ही हैं॥ १४६॥

टीका – शुभ और अशुभ, दोनों कर्म बिना भेदभाव किये पुरुष अर्थात् आत्मा को बाँधते ही हैं क्योंकि दोनों में बन्धपने की अपेक्षा अन्तर नहीं है। जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी और लोहे की बेड़ी में बन्ध की अपेक्षा अन्तर नहीं है; उसी प्रकार कर्म में भी बन्ध की अपेक्षा अन्तर नहीं है।

अब, शुभ-अशुभ, दोनों कर्मों का निषेध करते हैं -

तम्हा दु कुसीलेहि य, रागं मा कुणह[1] मा व संसग्गं।
साहीणो[2] हि विणासो, कुसीलसंसग्गरायेण॥ १४७॥

इससे करो नहिं राग अरु, संसर्ग उभय कुशील का।
इस कुशील के संसर्ग से है, नाश तुझ स्वातन्त्र्य का॥ १४७॥

अर्थ – हे मुनिजनों! पूर्वोक्त शुभ-अशुभकर्म कुशील हैं, निन्द्यस्वभाववाले हैं; इसलिए उन दोनों कुशीलों से राग या प्रीति मत करो और उनका संसर्ग भी मत करो क्योंकि कुशील के संसर्ग और राग से अपनी स्वाधीनता का ही नाश होता है, स्वयं का घात स्वयं से ही होता है॥ १४७॥

१-२. *काहि / साधीणो* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

॥ टीका॥ कुशील जे शुभ अशुभ कर्म, तिनि करि सहित राग अर संसर्ग, दोऊ प्रतिषेधे हैं, जातैं ए दोऊ ही कर्मवंध के कारण हैं। जैसैं कुशील जो मन के रमावनेंवाली अर मन के नाही रमावनेंवाली हथणीरूपी कुट्टनी, ताका राग अर संसर्ग करनेंवाला हस्ती का स्वाधीन विनाश होय है, तैसैं स्वाधीन विनाश है॥ छ॥

आगैं दोऊ कर्म का प्रतिषेध कूं आप दृष्टांत करि दृढ़ करै है॥ छ॥

जह णाम कोवि पुरिसो, कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता।
वज्जेइ तेण समयं, संसग्गिं रायकरणं च॥ ४॥
एमेव कम्मपयडी, सीलसहावं च कुच्छियं णाउं।
वज्जंति परिहरंति य, तस्संसग्गिं सहावरया॥ ५॥

॥ युगलं॥

यथा नाम कोऽपि[१] पुरुषः, कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय।
वर्जयति तेन समकं, संसर्गं रागकरणं च॥ छ॥
एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं च कुत्सितं ज्ञात्वा।
वर्जयन्ति परिहरन्ति च, तत्संसर्गं स्वभावरताः॥ छ॥

टीका – शुभ और अशुभकर्म, दोनों कुशील हैं, उनके साथ राग और संसर्ग दोनों का निषेध किया गया है क्योंकि ये दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं। जैसे, मन को लुभानेवाली और मन को नहीं लुभानेवाली हथिनीरूपी कुशील कुट्टनी के साथ राग और संसर्ग करनेवाले हाथी की स्वाधीनता का नाश होता है।

अब, आचार्य स्वयं, दोनों कर्मों के निषेध को दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं —

जह णाम कोवि पुरिसो, कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता।
वज्जेदि तेण समयं, संसग्गं रागकरणं च॥ १४८॥
एमेव कम्मपयडी, सीलसहावं च कुच्छिदं णादुं।
वज्जंति परिहरंति य, तस्संसग्गं[२] सहावरदा॥ १४९॥

जिस भाँति कोई पुरुष, कुत्सितशील जन को जान के।
संसर्ग उसके साथ त्यों ही, राग करना परितजे॥ १४८॥

---

१. *कश्चित्* - 'ब' प्रति पाठ

२. *तं संसग्गं* - तात्पर्यवृत्ति पाठ / *तं संसग्गिं* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

॥ अर्थ ॥ जैसैं कोई पुरुष कुत्सित कहिये निंदनें योग्य वुरा जाका स्वभाव, अैसा काहू लोक कूं जानि, तिसकी साथि संसर्ग करणां अर राग करनां वर्जै है॥ छ॥

अैसैं ही कर्मप्रकृति का शील स्वभाव, कुत्सित निंदनें योग्य षोटा जानि, ताका संसर्ग वर्जै हैं, छोडैं हैं अर ताका राग छोडैं हैं, अपनें स्वभाव मैं रत होय हैं, स्वभाव मैं लीन होय हैं ते॥ छ॥

॥ टीका ॥ जैसैं कोई प्रवीण वन का हस्ती, आपके वंध कै अर्थि समीप वर्त्तती चंचल मुख कूं लीलारूप करती, मन के रमानेंवाली सुंदर तथा असुंदर जे हथिणीरूपी कुट्टिनी, ताकूं कुत्सित शील वुरी जाणि, तिस करि सहित राग अर संसर्ग समीप जानां, दोऊ प्रतिषेधै है, नाही करै है॥

तैसैं ही आत्मा रागरहित ज्ञानी भया संता, अपनें वंध कै अर्थि समीप उदय आवती मनोरमा अमनोरमा कहिये शुभरूप तथा अशुभरूप जो समस्त ही कर्मप्रकृति, ताहि परमार्थ तैं कुत्सित शील कहिये वुरी जाणि, तिस करि सहित राग अर संसर्ग प्रतिषैधै है॥

॥ भावार्थ ॥ जैसैं हस्ती के पकडनें कूं कपट की हथणी दिषावै, तव हस्ती कामांध भया तिससूं राग, संसर्ग करि षंधक में पडि पराधीन होय, दुख भुगतै अर प्रवीण हस्ती होय तौ तासूं राग संसर्ग न करै॥

त्यों कर्मप्रकृति शील और, स्वभाव कुत्सित जान के।
निजभाव में रत राग अरु, संसर्ग उसका परिहरे॥ १४९॥

अर्थ – जिस प्रकार कोई पुरुष, किसी व्यक्ति को कुत्सित अर्थात् निन्दनीय खोटे स्वभाववाला जान कर, उसके साथ संसर्ग करना और राग करना छोड़ देता है॥ १४८॥

उसी प्रकार [ज्ञानी पुरुष] कर्मप्रकृति के भी शील या स्वभाव को कुत्सित अर्थात् निन्दनीय या खोटा जान कर, उसका संसर्ग करना छोड़ देता है, उसका राग छोड़ देता है और अपने स्वभाव में रत होता है अर्थात् अपने स्वभाव में लीन होता है॥ १४९॥

टीका – जिस प्रकार जङ्गल का कोई चतुर हाथी, उसे बाँधने के लिए निकट आती हुई, चञ्चल मुख को लीलारूप करती हुई, मन को रमानेवाली मनोरम अथवा अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनी (दूती) को खोटे स्वभाववाली बुरी जान कर, उससे राग और संसर्ग अर्थात् समीप जाना, दोनों को छोड़ देता है, नहीं करता है।

उसी प्रकार आत्मा भी रागरहित ज्ञानी होता हुआ, स्वयं को बाँधने के लिए समीप उदय में आती हुई मनोरम या अमनोरम अर्थात् शुभरूप या अशुभरूप समस्त ही कर्मप्रकृतियों को परमार्थ से खोटे स्वभाववाली अर्थात् बुरी जान कर, उनसे राग और संसर्ग करना छोड़ देता है।

भावार्थ – जिस प्रकार हाथी को पकड़ने के लिए मायावी (नकली) हथिनी दिखाते हैं, तब वह हाथी कामान्ध होकर, उससे राग और संसर्ग के कारण गड्ढे में गिर कर, बन्दी (कैद) होकर दु:ख भोगता है, लेकिन यदि हाथी चतुर हो तो वह उससे राग और संसर्ग नहीं करता।

तैसैं कर्मप्रकृति कूं भली जाणि अज्ञानी तासूं राग करै, संसर्ग करै, तव वंध में पडि संसार कै दुःख भोगवै॥ ज्ञानी होय सो तासूं संसर्ग राग नाही करै॥ छ॥

आगैं शुभ अशुभ दोऊ कर्म हैं, ते वंध के कारण हैं अर प्रतिषेधनें योग्य हैं, यह आगम करि साधै है॥ छ॥

रत्तो बंधइ कम्मं, मुंचइ जीवो विरायसंपण्णो।
एसो जिणोवएसो, तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥ ६॥

रक्तो बध्नाति कर्म, मुच्यते जीवो विरागसम्पन्नः[१]।
एष[२] जिनोपदेशः तस्मात् कर्मसु मा रज्यस्व॥ छ॥

॥ अर्थ॥ रागी जीव है सो तौ कर्म कूं वांधै है॥ वहुरि वैराग्य कूं प्राप्त है सो जीव कर्म सूं छूटै है, यहु जिनभगवान का उपदेश है। तातैं भो भव्यजीव, तू कर्मनि विषै राग प्रीति मति करै, रागी मति होहु॥ छ॥

॥ टीका॥ जो रागी है सो अवश्य कर्म कूं वांधै ही है॥ वहुरि विरक्त है सो ही कर्म तैं छूटै है, अैसा यह आगम का वचन है॥ सो यह वचन है, सो सामान्य करि कर्म रागीपणां का निमित्तपणां

उसी प्रकार कर्मप्रकृति को अच्छी जान कर, अज्ञानी, उससे राग और संसर्ग करता है; तब बन्ध में पड़ कर संसार के दुःख भोगता है, लेकिन यदि ज्ञानी होता है तो वह उससे राग और संसर्ग नहीं करता है।

अब, शुभ-अशुभ दोनों कर्म, बन्ध के कारण और निषेध करने योग्य हैं – यह आगम से सिद्ध करते हैं —

रत्तो बंधदि कम्मं, मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो[१]।
एसो जिणोवदेसो, तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥ १५०॥

जीव रागी बाँधे कर्म को, वैराग्यगत मुक्ति लहे।
यह जिनप्रभू उपदेश है, नहिं रक्त हो तू कर्म से॥ १५०॥

अर्थ – रागी जीव तो कर्मों को बाँधता है और वैराग्य को प्राप्त जीव, कर्मों से छूटता है – ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपेदश है; इसलिए हे भव्यजीव! तुम कर्मों से राग या प्रीति मत करो, रागी मत बनो॥ १५०॥

टीका – जो रागी है, वह अवश्य कर्मों को बाँधता ही है और जो विरक्त है, वही कर्मों से

---

१. *मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो* – तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

करि शुभ तथा अशुभ, ए दोऊ हैं, तिनिकूं अविशेष करि वंध का कारण साधै है, तातैं तिनि दोऊ ही कर्मनि कूं निषेधै है॥ छ॥

इस अर्थ का कलशरूप काव्य है॥ छ॥

॥ स्वागता॥

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्, बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं, ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः॥ ४॥

॥ अर्थ॥ सर्वज्ञदेव हैं, ते सर्व ही कर्म, शुभ तथा अशुभ कूं अविशेष तैं वंध का कारण कहैं हैं, तिस ही कारण करि सर्व ही कर्म प्रतिषेध्या है॥ मोक्ष का कारण तौ एक ज्ञान ही कूं कह्या है॥ छ॥

अव कहै है जो कर्म सर्व ही प्रतिषेध्या तौ मुनि हैं, ते कौंन के शरणैं आश्रय मुनिपद पालैंगे॥ याके निर्वाह कूं काव्य कहै हैं॥ छ॥

॥ शिखरिणी॥

निषिद्धे सर्वस्मिन्, सुकृतदुरिते कर्मणि किल,
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये, न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।

छूटता है – ऐसा आगम का वचन है। वहाँ सामान्य से रागीपने की निमित्तता से शुभ और अशुभ दोनों कर्म होते हैं, उन्हें समानरूप से बन्ध का कारण उक्त आगमवचन सिद्ध करता है; अतः इन दोनों ही कर्मों का निषेध किया गया है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ दोहा॥

जिनवाणी का मर्म यह, बन्ध करें सब कर्म।
मुक्तिहेतु बस! एक ही, आत्मज्ञानमय धर्म॥ १०३॥

अर्थ – सर्वज्ञदेव, सभी शुभ और अशुभकर्मों को अविशेषपने [अर्थात् समानरूप से] बन्ध का कारण कहते हैं; इसी कारण से सर्व ही कर्मों का प्रतिषेध किया है, मोक्ष का कारण तो एक ज्ञान ही को कहा है।

अब कहते हैं कि यदि सभी कर्मों का निषेध कर दिया गया है तो मुनिजन किसकी शरण या आश्रय से मुनिपद पालेंगे? अतः उनको सहारा प्रदान करने के लिए काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

सभी शुभाशुभभावों के निषेध होने से,
अशरण होंगे नहीं, रमेंगे निजस्वभाव में।

तदा ज्ञाने ज्ञानं, प्रतिचरितमेषां हि शरणं,
स्वयं विन्दन्त्येते, परममृतं तत्र निरताः॥५॥

॥ अर्थ॥ सुकृत कहिये शुभ आचरणरूप कर्म, वहुरि दुरित कहिये पापकर्म आचरणरूप कर्म, अैसा सर्व ही कर्म का निषेध करतैं संतैं, वहुरि नैष्कर्म्य कहिये कर्मरहित निवृत्ति अवस्था कूं प्रवर्ततैं संतैं मुनि हैं, ते अशरण नाही हैं।

इहां अैसी नाही आशंका करणीं जो ए मुनिपद काहे कै आश्रय पालैंगे। जिस काल निवृत्ति अवस्था प्रवृत्तैं, तिस काल इनि मुनिनि कै ज्ञान विषै ज्ञान ही कूं आचरणां, यह शरणां है, ते मुनि तिस ज्ञान विषै लीन भये संते परम उत्कृष्ट अमृत कूं आप स्वयं भोगवैं हैं॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ सर्व कर्म का त्याग भयें ज्ञान का वडा शरणां है, तिस ज्ञान मैं लीन भयें सर्व आकुलतारहित परमानंद का भोगनां हो है, याका स्वाद ज्ञानी ही जानैं हैं, अज्ञानी कषायी जीव कर्म ही कूं सर्वस्व जानि तामैं लीन हैं, ज्ञानानंद का स्वाद नाहीं जानैं हैं॥ छ॥

आगैं, ज्ञान कूं मोक्ष का कारण साधै है॥ छ॥

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ट्ठिदा सहावे, मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥७॥

अरे! मुनीश्वर तो निशदिन निज में ही रहते,
निजानन्द के परमामृत में ही नित रमते॥१०४॥

अर्थ – सुकृत अर्थात् शुभ आचरणरूप कर्म और **दुरित** अर्थात् अशुभ आचरणरूप कर्म – ऐसे सभी कर्मों का निषेध करते हुए तथा **नैष्कर्म्य** अर्थात् कर्मरहित निवृत्तिरूप अवस्था में प्रवर्तते हुए मुनिगण अशरण नहीं हैं।

यहाँ ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए कि **वे मुनिपद किसके आश्रय से पालन करेंगे?** – जिस समय निवृत्ति अवस्था में प्रवर्तते हैं, उस समय इन मुनियों को ज्ञान में ज्ञान ही का आचरण करना चाहिए, यही शरण है; वे मुनि उस ज्ञान में लीन होकर परम उत्कृष्ट अमृत को स्वयं, स्वयं ही भोगते हैं।

भावार्थ – सर्व कर्म का त्याग होने पर ज्ञान ही की महान शरण है, उस ज्ञान में लीन होने पर सर्व आकुलताओं से रहित जिस परम आनन्द का भोग होता है, उसका स्वाद ज्ञानी ही जानते हैं। अज्ञानी कषायी जीव, कर्म ही को सर्वस्व जान कर उसमें ही लीन होते हैं; अतः वे ज्ञानानन्द का स्वाद नहीं जानते हैं।

अब, ज्ञान को मोक्ष का कारण सिद्ध करते हैं —

परमार्थः खलु समयः, शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी।
तस्मिन् स्थिताः स्वभावे, मुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ निश्चय करि परमार्थरूप समय कहिये जीव नाम पदार्थ का यह स्वरूप है जो शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है, ए जाके नाम हैं। तिस स्वभाव विषै जे मुनि तिष्टैं हैं, ते मुनि निर्वाण कूं प्राप्त होय हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ ज्ञान ही मोक्ष का हेतु कहिये कारण है, जातैं अज्ञान शुभ अशुभ कर्मरूप है, ताकै वंध का कारणपणां होतैं संतैं मोक्ष का कारणपणां की तैसैं ही उपपत्ति है, मोक्ष का हेतुपणां ज्ञान ही कै वणै है॥ सो यह ज्ञान है सो ही परमार्थ है, आत्मा है, अैसा कहिये है, जातैं समस्त कर्म कूं आदि लेकरि अन्य पदार्थनि तैं भिन्न जात्यंतर चित् जातिमात्र है सो ही परमार्थस्वरूप आत्मा है, जड जाति तैं भिन्न है॥

सो याही कूं समय कहिये, जातैं समय शव्द का, अैसा अर्थ पूर्वैं कह्या है। सं अैसा तौ उपसर्ग है, ताका अर्थ तौ एकैं काल एकरूप प्रवर्त्तनां है॥ वहुरि अय अैसा शव्द का अर्थ ज्ञान भी है अर गमन भी है सो दोऊ क्रियारूप एकैं काल होय प्रवर्त्तै, ताकूं समय कहिये सो अैसा प्रवर्तन जीव नाम पदार्थ का है सो ही आत्मा है॥

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ट्ठिदा सहावे, मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥ १५१॥

परमार्थ है निश्चय, समय, शुध, केवली, मुनि, ज्ञानी हैं।
उस स्वभाव में स्थित होय मुनिवर, मोक्ष की प्राप्ति करें॥ १५१॥

अर्थ – निश्चय से परमार्थरूप समय अर्थात् जीव नामक पदार्थ का यह स्वरूप है कि वह शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है; इत्यादि जिसके नाम हैं, उस स्वभाव में जो मुनि स्थित होते हैं, वे मुनि निर्वाण को प्राप्त होते हैं॥ १५१॥

टीका – ज्ञान ही मोक्ष का हेतु अर्थात् कारण है क्योंकि अज्ञान, शुभ और अशुभ कर्मरूप है, वह बन्ध का कारण होने से मोक्ष के कारण की सहज ही सिद्धि हो जाती है कि मोक्ष का हेतुपना ज्ञान ही में बनता है; अतः यह ज्ञान ही परमार्थ है, आत्मा है – ऐसा कहा जाता है क्योंकि वह ज्ञान ही समस्त कर्म आदि अन्य पदार्थों से भिन्न, जात्यन्तर चिन्मात्र जातिवाला है, वही परमार्थस्वरूप आत्मा है, वही जड़ जाति से भिन्न है।

इसी को 'समय' कहते हैं क्योंकि 'समय' शब्द का ऐसा अर्थ पहले भी बता चुके हैं। '**सम्**' – यह तो उपसर्ग है, उसका अर्थ एक काल में एकरूप होकर प्रवर्तना है और '**अय**' शब्द का अर्थ ज्ञान भी है और गमन भी है; अतः जो दोनों क्रियारूप एक ही काल में प्रवर्तित होता है, उसे '**समय**'

वहुरि तिस ही कूं शुद्ध अैसा नाम कहिये, जातैं समस्त धर्म तथा धर्मी के ग्रहण करनेंवाले जे नय, तिनिका पक्ष तिनितैं असंकीर्ण कहिये मिलै नाही, न्यारा ही एक ज्ञानपणां है, यह असाधारण धर्म है सो अन्य धर्मनि तैं न्यारा ही प्रकाशरूप है, अन्य तैं न मिलै सो एक कूं शुद्ध कहिये।

वहुरि याही कूं केवली कहिये जातैं केवल एक चैतन्यमात्र वस्तुपणां याकै है॥ केवल शव्द का अर्थ एक है॥

वहुरि याही कूं मुनि कहिये, जातैं मननमात्र कहिये ज्ञानमात्र तिसभावमात्र यह है, तिसपणां करि मुनि भी यह ही है॥

वहुरि आप स्वयमेव ज्ञानी है ही, तिसपणां करि ज्ञानी भी याकूं कहिये है॥

वहुरि अपनां जो ज्ञानस्वरूप, ताका भवन कहिये होनां, सत्तारूप प्रवर्त्तनां, तिसपणां करि स्वभाव भी याकूं कहिये तथा अपनां चेतनां का भवनमात्रपणां कहिये सत्तारूप होनां, ता करि सद्भाव, अैसा भी याही का नाम है॥

अैसैं शव्दनि के भेद तैं नामभेद होतैं भी वस्तुभेद नाही है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ मोक्ष का अपादान तौ आत्मा ही है सो आत्मा का परमार्थ करि ज्ञानस्वभाव है सो ज्ञान है सो आत्मा ही है तथा आत्मा है सो ज्ञान ही है, तातैं ज्ञान ही कूं मोक्ष का कारन कहनां

कहते हैं और ऐसा प्रवर्तन जीव नामक पदार्थ का है, वही आत्मा है।

उस आत्मा को ही '**शुद्ध**' नाम से कहते हैं क्योंकि वह समस्त धर्म और धर्मी को ग्रहण करनेवाले नयों के पक्ष से असङ्कीर्ण अर्थात् मिलता नहीं है, सबसे भिन्न एक ज्ञानपना ही जिसका असाधारण धर्म है अर्थात् जो अन्य धर्मों से भिन्न ही प्रकाशरूप है, अन्य से मिलता नहीं है – ऐसे उस एक आत्मा को ही '**शुद्ध**' कहते हैं।

इस आत्मा को ही '**केवली**' कहते हैं क्योंकि इसको ही केवल एक चैतन्यमात्र वस्तुपना है। केवल शब्द का अर्थ '**एक**' है।

इस आत्मा को ही '**मुनि**' कहते हैं क्योंकि यह मननमात्र अर्थात् ज्ञानमात्र भावमय है; अत: मुनि भी यह ही है।

यह आत्मा आप स्वयं ज्ञानी है ही, ज्ञानमात्र होने से '**ज्ञानी**' भी इसी को कहते हैं।

अपने ज्ञानस्वरूप का भवन अर्थात् होना या सत्तारूप प्रवर्तना, इस कारण '**स्वभाव**' भी इसे कहते हैं। अपनी चेतना का भवनमात्रपना अर्थात् सत्तारूप होना, इस कारण '**सद्भाव**' भी इसका ही नाम है।

इस प्रकार शब्दभेद के कारण नामभेद होने पर भी वस्तुभेद नहीं है।

भावार्थ – मोक्ष का अपादान (उपादान कारण) तो आत्मा ही है। परमार्थ से आत्मा का ज्ञानस्वभाव है अर्थात् ज्ञान, वह आत्मा ही है और आत्मा, वह ज्ञान ही है; इसलिए ज्ञान ही को मोक्ष

युक्त है॥ छ॥

आगैं कोई जानैंगा कि वाह्य तपश्चरणादि करै है सो ही ज्ञान है, ताकूं ज्ञान की विधि वतावै हैं॥ छ॥

परमट्ठम्मि दु अठिदो, जो कुणइ तवं वयं च धारेइ।
तं सव्वं बालतवं, बालवदं विंति सव्वण्हू॥ ८॥

परमार्थे त्वस्थितो, यः करोति तपो व्रतं च[१] धारयति।
तत्सर्वं बालतपो, बालव्रतं विन्दन्ति[२] सर्वज्ञाः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा विषै तौ नाही तिष्ठ्या है अर तप करै है, वहुरि व्रत कूं धारै है॥ सो सर्व ही तप व्रत कूं सर्वज्ञदेव हैं, ते वालतप कहिये अज्ञानतप अर वालव्रत कहिये अज्ञानव्रत जानैं हैं, कहैं हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ मोक्ष का कारण ज्ञान ही है, यह विधि है। जातैं परमार्थभूत जो ज्ञान ता करि शून्य कहिये रहित जो अज्ञान तैं कीये तप अर व्रतरूप कर्म, तिनि दोऊनि कै वंध का कारणपणां है, तातैं वालतप वालव्रत, अैसा नाम कह करि सर्वज्ञदेव नैं प्रतिषेधे है, तातैं तिस पूर्वोक्त ज्ञान ही कै मोक्ष

का कारण कहना युक्त है।

अब, यदि कोई ऐसा समझता है कि बाह्य तपश्चरण आदि करना ही ज्ञान है तो उसे ज्ञान की विधि बताते हैं —

परमट्ठम्हि दु[३] अठिदो, जो कुणदि तवं वदं च धारेदि।
तं सव्वं बालतवं, बालवदं बेंति[४] सव्वण्हू॥ १५२॥

परमार्थ में नहिं तिष्ठ कर, जो तप करें व्रत को धरें।
तप सर्व उसका बाल अरु, व्रत बाल जिनवर ने कहे॥ १५२॥

अर्थ – जो परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा में तो स्थिर नहीं है, लेकिन तप करते हैं और व्रतों को धारण करते हैं, उन सभी तप-व्रत को सर्वज्ञदेव **बालतप** अर्थात् अज्ञानतप और **बालव्रत** अर्थात् अज्ञानव्रत, जानते हैं और कहते हैं॥ १५२॥

टीका – मोक्ष का कारण ज्ञान ही है – यह विधि अर्थात् आगमवचन है क्योंकि परमार्थभूत ज्ञान से रहित अर्थात् अज्ञान से किये गए तप और व्रतरूप कर्म, दोनों बन्ध के कारण हैं; अतः उन्हें

---

१. *वा* - *'ब' प्रति पाठ*
२. *ब्रुवन्ति* - तात्पर्यवृत्ति / *वदन्ति* - अगास प्रकाशन पाठ
३. *वा* - 'ब' प्रति पाठ
४. *विंति* - तात्पर्यवृत्ति, अगास एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

का कारणपणां है॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञान विना तप व्रत करनां है, सो वालतप वालव्रत कह्या है, तातैं मोक्ष का कारण ज्ञान ही है॥ छ॥

आगैं ज्ञान है सो तौ मोक्ष का हेतु है अर अज्ञान है सो वंध का हेतु है, अैसा नियम करि कहै है॥ छ॥

वयणियमाणि धरंता, सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे, णिव्वाणं ते ण विंदंति॥ ९॥

व्रतनियमान्[१] धारयन्तः, शीलानि तथा तपश्च कुर्वन्तः।
परमार्थबाह्या ये, निर्वाणं ते न विन्दन्ति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ये केई व्रत अर नियम इनिकूं धारैं हैं, तैसैं ही शील वहुरि तप तिनिकूं करैं हैं अर परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा तैं वाह्य हैं, ताका स्वरूप का ज्ञान श्रद्धान जिनिकै नाही है, ते निर्वाण कूं नाही अनुभवैं हैं, नाही पावैं हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है, जातैं ज्ञान के अभाव कूं होतैं आप अज्ञानरूप भये जे

बालतप और बालव्रत के नाम से कह कर सर्वज्ञदेव ने उनका प्रतिषेध किया है। इस प्रकार पूर्वोक्त ज्ञान ही में मोक्ष का कारणपना है।

भावार्थ – यहाँ ज्ञान के बिना तप और व्रत को बालतप और बालव्रत कहा है, इसलिए मोक्ष का कारण तो ज्ञान ही है।

अब, ज्ञान तो मोक्ष का हेतु है और अज्ञान, बन्ध का हेतु है – ऐसा नियमपूर्वक कहते हैं —

वदणियमाणि धरंता, सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे, णिव्वाणं ते ण विंदंति[२]॥ १५३॥

व्रत-नियम को धारे भले, तप-शील को भी आचरे।
परमार्थ से जो बाह्य वह, निर्वाण-प्राप्ति नहिं करे॥ १५३॥

अर्थ – जो कोई व्रत और नियम धारण करते हैं, उसी प्रकार शील और तप को करते हैं किन्तु यदि वे परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा से बाहर हैं अर्थात् उस आत्मा के स्वरूप का ज्ञान-श्रद्धान जिनको नहीं है, वे निर्वाण का अनुभव नहीं करते हैं अर्थात् उसे प्राप्त नहीं करते हैं॥ १५३॥

टीका – ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है क्योंकि ज्ञान का अभाव होने पर स्वयं अज्ञानमय हुए

---

१. *व्रतनियमौ* – 'ब' प्रति पाठ
२. *परमट्ठबाहिरा जेण, तेण ते होंति अण्णाणी* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

अज्ञानी, तिनिकै अंतरंग विषै व्रत नियम शील तपरूप शुभकर्म का सद्भाव होतैं भी मोक्ष का अभाव है॥ भावार्थ॥ ज्ञान विना शुभकर्मरूप व्रत नियम शील तपरूप प्रवृत्ति होतैं भी मोक्ष नाही होय है॥

वहुरि अज्ञान है सो ही वंध का हेतु है॥ जातैं अज्ञान का अभाव होतैं आप ज्ञानरूप भये जे ज्ञानी, तिनिकै वाह्य व्रत नियम शील तप आदि शुभकर्म का असद्भाव होतैं भी मोक्ष का सद्भाव है॥ भावार्थ॥ ज्ञान होतैं ज्ञानी कै व्रत नियम शील तपरूप शुभकर्म वाह्य न होतैं भी मोक्ष होय है।

इहां अैसा जाननां जो व्रत आदि की प्रवृत्ति शुभकर्म है सो प्रवृत्ति का अभाव भयें निवृत्ति अवस्था भयें व्रत नियम शील तप का वाह्य प्रवृत्तिरूप का अभाव है, तौऊ मोक्ष होय है। यह नियम जाननां।

इस अर्थ का कलशरूप काव्य है॥ छ॥

॥ शिखरिणी ॥

यदेतद् ज्ञानात्मा, ध्रुवमचलमाभाति भवनं,
शिवस्याऽयं हेतुः, स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।
अतोऽन्यद्बन्धस्य, स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्
ततो ज्ञानात्मत्वं, भवनमनुभूतिर्हि विहितम्॥ ६॥

अज्ञानियों को अन्तरङ्ग में व्रत, नियम, शील और तपरूप शुभकर्म का सद्भाव होने पर भी मोक्ष का अभाव होता है। **भावार्थ** यह है कि ज्ञान के बिना शुभकर्मरूप व्रत, नियम, शील और तपरूप प्रवृत्ति होने पर भी मोक्ष नहीं होता है।

तथा, अज्ञान ही बन्ध का कारण है क्योंकि अज्ञान का अभाव होने पर स्वयं ज्ञानरूप हुए ज्ञानियों को बाह्य व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभकर्म का असद्भाव होने पर भी मोक्ष का सद्भाव होता है। **भावार्थ** यह है कि ज्ञान होने पर ज्ञानी को व्रत, नियम, शील और तपरूप शुभकर्म, बाह्य में नहीं होने पर भी मोक्ष होता है।

यहाँ ऐसा जानना कि व्रत आदि की प्रवृत्ति शुभकर्म है, उस प्रवृत्ति का अभाव होने पर अर्थात् निवृत्ति की अवस्था होने पर यदि व्रत, नियम, शील और तप की वाह्य प्रवृत्ति का अभाव है तो भी मोक्ष होता है – ऐसा नियम जानना।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला ॥

ज्ञानरूप ध्रुव अचल आतमा का ही अनुभव,
मोक्षरूप है स्वयं अतः वह मोक्षहेतु है।
शेष भाव सब बन्धरूप हैं बन्धहेतु हैं,
इसीलिए तो अनुभव करने का विधान है॥ १०५॥

॥ अर्थ ॥ जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव है सो जब निश्चल अपनें ज्ञानस्वरूप होता सोहै है सो ही यह मोक्ष का कारण है, जातैं आप स्वयमेव ही मोक्षस्वरूप है॥ बहुरि या सिवाय अन्य है सो बंध का कारण है, जातैं सो आप स्वयमेव बंधस्वरूप है॥ तातैं ज्ञानस्वरूप अपनां होनां सो ही अनुभूति है, अैसैं निश्चय तैं बंधमोक्ष का हेतु का विधान कीया है॥ छ॥

आगैं, फेरि भी पुन्यकर्म का पक्षपात करै, ताका प्रतिवोधनें के अर्थि उत्तर कहै है॥

परमट्ठबाहिरा जे, ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेउं, पि मोक्खहेउं अयाणंता॥ १०॥

परमार्थबाह्या ये, ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छन्ति।
संसारगमनहेतुमपि मोक्षहेतुमजानन्तः॥ छ॥

॥ अर्थ ॥ जे जीव परमार्थ तैं वाह्य हैं, परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा कूं नाही अनुभवैं हैं, ते जीव अज्ञान करि पुण्य कूं इष्ट करैं हैं, भला मानि चाहैं हैं।

कैसा है पुण्य। संसार के गमन कूं कारण है।

तौऊ बहुरि ते जीव कैसे हैं। मोक्ष का कारण ज्ञानस्वरूप आत्मा कूं नाही जानते संते पुण्य ही कूं मोक्ष का कारण मानैं हैं॥ छ॥

अर्थ – यह ज्ञानस्वरूपी आत्मा ध्रुव है, वह जब अपने ज्ञानस्वरूप में निश्चल होता हुआ शोभायमान होता है, तब ही यह मोक्ष का कारण है क्योंकि वह स्वयं ही मोक्षस्वरूप है तथा इसके अतिरिक्त अन्य सब बन्ध के कारण हैं क्योंकि वे स्वयं ही बन्धस्वरूप हैं; अतः स्वयं का ज्ञानस्वरूप होना ही अनुभूति है। इस प्रकार निश्चय से बन्ध-मोक्ष के कारण का विधान किया है।

अब, पुनः पुण्यकर्म का पक्षपात करनेवालों को समझाने के लिए कहते हैं —

परमट्ठबाहिरा जे, ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं, पि मोक्खहेदुं अजाणंता॥ १५४॥

परमार्थ-बाहर जीवगण, जानें न हेतु मोक्ष का।
अज्ञान से वे पुण्य इच्छें, हेतु जो संसार का॥ १५४॥

अर्थ – जो जीव, परमार्थ से बाहर हैं अर्थात् परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं करते हैं, वे जीव अज्ञानवश पुण्य को इष्ट मानते हैं अर्थात् भला मान कर उसे चाहते हैं।

कैसा है पुण्य? – संसार-भ्रमण का कारण है।

फिर भी वे जीव कैसे हैं? – मोक्ष के कारणभूत ज्ञानस्वरूपी आत्मा को नहीं जानते हुए पुण्य

॥ टीका ॥ या लोक विषै निश्चय करि केईक जीव अैसे हैं, जे समस्त कर्म के पक्ष का नाश करि उपजै है आत्मलाभ कहिये निजस्वरूप का लाभ जामैं, अैसा मोक्ष कूं चाहते भी हैं, तौऊ तिस मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वभाव परमार्थभूत ज्ञान के होनेंमात्र एकाग्रता लक्षण समयसारभूत सामायिक चारित्र, ताकी प्रतिज्ञा लेकरि भी दुरंत कर्म का समूह के पार होनें विषैं समर्थपणां के अभाव करि परमार्थभूत ज्ञान के होनेंमात्र जो सामायिकचारित्रस्वरूप आत्मा का स्वभाव, ताकूं नाही पावते संते, अतिशय करि मोटा स्थूल संक्लेश परिणामस्वरूप कर्म तैं तौ निवृत्त भये हैं॥ वहुरि अतिशय करि स्थूल मोटा विशुद्धरूप परिणामरूप कर्म करि प्रवर्तते हैं, ते कर्म का अनुभव का गुरुपणां अर लघुपणां की प्राप्तिमात्र करि ही संतुष्ट है चित्त जिनिका।

वहुरि स्थूल लक्ष्यतारूप जो मोटा अनुभवगोचर संक्लेशरूप कर्मकांड, ताकूं तौ छोडै है परंतु समस्त कर्मकांड कूं मूल तैं नाही उन्मूल करते हैं, ते आप ही अपने अज्ञान तैं अशुभकर्म ही कूं केवल वंधकारण निश्चय करि व्रत नियम शील तप आदिक शुभकर्मवंध का कारण है, तौऊ याकूं वंध का कारण नाही जानते, याकूं मोक्ष का कारण मानैं हैं, अंगीकार करैं हैं, ते परमार्थ तैं वाह्य हैं॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ केई जीव अतिसंक्लेश परिणामरूप कर्म कूं तौ वंध का कारण जाणि छोडैं हैं अर अतिविशुद्धतारूप परिणामरूप कर्मसहित वर्तैं हैं, कर्म का घणां थोडा मात्र ही वंध मोक्ष का कारण

ही को मोक्ष का कारण मानते हैं॥ १५४॥

टीका – इस लोक में वास्तव में कितने ही जीव ऐसे हैं, जो समस्त कर्म के पक्ष के नाश से उत्पन्न होनेवाले आत्मलाभ अर्थात् निजस्वरूप के लाभरूप मोक्ष को चाहते तो हैं किन्तु वे उस मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाववाले परमार्थभूत ज्ञान के होनेमात्र एकाग्रता लक्षणवाले समयसारभूत सामायिकचारित्र की प्रतिज्ञा लेकर भी दुरन्त कर्मसमूह से पार होने की सामर्थ्य के अभाव के कारण, परमार्थभूत ज्ञान के होनेमात्र सामायिकचारित्रस्वरूप आत्मा के स्वभाव को नहीं प्राप्त होते हुए अतिस्थूल संक्लेश परिणामस्वरूप कर्म से निवृत्त होते हुए भी अतिस्थूल विशुद्ध परिणामरूप कर्म में प्रवर्तते हैं क्योंकि वे कर्म के अनुभव की गुरुता (तीव्रता) और लघुता (मन्दता) की प्राप्तिमात्र में ही सन्तुष्ट चित्तवाले होते हैं।

यद्यपि वे स्थूल लक्ष्यवाले अर्थात् स्थूल अनुभवगोचर संक्लेशरूप कर्मकाण्ड को तो छोड़ देते हैं परन्तु समस्त कर्मकाण्ड को मूल से उन्मूलन नहीं करते; अतः वे स्वयं ही अपने अज्ञान के कारण अशुभकर्म को ही केवल बन्ध का कारण निश्चित करके व्रत, नियम, शील, तप आदि, शुभकर्मबन्ध के कारणों को बन्ध का कारण नहीं जानते हुए, उन्हें मोक्ष का कारण मानते हैं, अङ्गीकार करते हैं; इसलिए वे परमार्थ से बाहर हैं।

भावार्थ – लोक में कितने ही जीव, अतिसंक्लेश परिणामरूप कर्म को तो बन्ध का कारण जान कर छोड़ते हैं परन्तु अतिविशुद्ध परिणामरूप कर्मसहित प्रवर्तते हैं। वे कर्म की अधिकता और

जाणैं हैं अर सकल कर्म तैं रहित अपनां स्वरूप मोक्ष का कारण नाही जानैं हैं, ते अशुभकर्म कूं छोडि व्रत नियम शील तपरूप शुभकर्म ही कूं मोक्ष का कारण मानि अंगीकार करैं हैं, ते व्रत आदि कूं पालते भी अज्ञानी ही हैं, परमार्थ कूं नाही जानैं हैं।

आगैं अैसे जीवनि कूं परमार्थस्वरूप मोक्ष का कारण दिषावै है॥ छ॥

जीवादीसद्दहणं, सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादीपरिहरणं, चरणं एसो दु मोक्खपहो॥ ११॥

जीवादिश्रद्धानं, सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानम्।
रागादिपरिहरणं, चरणं एषस्तु मोक्षपथः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जीव आदिक पदार्थनि का श्रद्धान सो तौ सम्यक्त्व है॥ वहुरि तिनि जीवादि पदार्थनि का अधिगम सो ज्ञान है॥ वहुरि रागादिक का परिहरण त्याग सो चारित्र है॥ यहु मोक्ष का मार्ग है॥ छ॥

॥ टीका॥ मोक्ष के कारण प्रगटपणैं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र हैं॥ तहां जीव आदि पदार्थनि का सम्यग्दर्शन कहिये सम्यक् प्रकार यथार्थ श्रद्धान, तिस श्रद्धानस्वभाव करि ज्ञान का भवन कहिये होनां परिणमनां सो तौ सम्यग्दर्शन है॥ वहुरि तैसैं जीवादि पदार्थनि का ज्ञान, तिस स्वभाव करि ज्ञान का

अल्पता ही को बन्ध और मोक्ष का कारण जानते हैं लेकिन सकल कर्मों से रहित अपने स्वरूप को मोक्ष का कारण नहीं जानते हैं; अतः अशुभकर्म को छोड़ कर व्रत, नियम, शील, तपरूप शुभकर्म को ही मोक्ष का कारण मान कर अङ्गीकार करते हैं लेकिन वे व्रत आदि का पालन करते हुए भी अज्ञानी ही हैं क्योंकि वे परमार्थ को नहीं जानते हैं।

अब, इन परमार्थ से अनभिज्ञ जीवों को परमार्थस्वरूप मोक्ष का कारण दिखाते हैं —

जीवादीसद्दहणं, सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रागादीपरिहरणं, चरणं एसो दु मोक्खपहो॥ १५५॥

जीवादि का श्रद्धान समकित, ज्ञान उसका ज्ञान है।
रागादि का परिहार चारित, यही मुक्तिपन्थ है॥ १५५॥

अर्थ – जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान तो सम्यक्त्व है, उन जीवादि पदार्थों का अधिगम, ज्ञान है और रागादि का परिहरण अर्थात् त्याग, चारित्र है; यही मोक्ष का मार्ग है॥ १५५॥

टीका – मोक्ष का कारण स्पष्टतया सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। वहाँ जीवादि पदार्थों का सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यक् प्रकार से यथार्थ श्रद्धान अथवा उस श्रद्धानस्वभाव से ज्ञान का भवन अर्थात् होना या परिणमना, **सम्यग्दर्शन** है; उसी प्रकार जीवादि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान अथवा उस स्वभाव से

होनां सो सम्यग्ज्ञान है॥ बहुरि रागादिक का परिहरण कहिये त्यागनां, तिस स्वभाव करि ज्ञान का होनां सो सम्यक्चारित्र है।

सो अैसैं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र, ए तीनूं ही ज्ञान के परिणमन में आय गये, तातैं ज्ञान ही परमार्थरूप मोक्ष का कारण भया॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ आत्मा का असाधारणस्वरूप ज्ञान ही है अर इस प्रकरण मैं ज्ञान ही कूं प्रधान करि व्याख्यान है, तातैं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र, ए तीनूं ज्ञान ही का परिणमन है, अैसैं कहि ज्ञान ही कूं मोक्ष का कारण कह्या है, ज्ञान है सो अभेदविवक्षा मैं आत्मा ही है सो कहनें मैं किछू विरोध नाही।

आगैं परमार्थरूप मोक्ष का कारण तैं अन्य जो कर्म, ताकूं प्रतिषेधैं है॥ छ॥

मोत्तूण णिच्छयट्ठं, ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमासिदाण दु, जदीण कम्मक्खओ विहिओ॥ १२॥

ज्ञान का होना या परिणमना, **सम्यग्ज्ञान** है तथा रागादि का परिहरण अर्थात् त्याग अथवा उस स्वभाव से ज्ञान का होना या परिणमना, **सम्यक्चारित्र** है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र – ये तीनों ही ज्ञान के परिणमन में आ जाते हैं, अतः परमार्थ से ज्ञान ही मोक्ष का कारण सिद्ध होता है।

भावार्थ – आत्मा का असाधारणस्वरूप ज्ञान ही है। यहाँ इस प्रकरण में ज्ञान ही की मुख्यता से ही व्याख्यान है; अतः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों ज्ञान ही के परिणमन हैं – ऐसा कह कर, ज्ञान ही को मोक्ष का कारण कहा है तथा अभेदविवक्षा से 'ज्ञान, आत्मा ही है' – ऐसा कहने में कोई विरोध नहीं है।

अब, परमार्थभूत मोक्ष के कारण से भिन्न कर्मों का प्रतिषेध करते हैं –

मोत्तूण णिच्छयट्ठं, ववहारेण विदुसा पवट्टंति[1]।
परमट्ठमस्सिदाण[2] दु, जदीण कम्मक्खओ विहिओ॥ १५६॥[3]

१-२. *ववहारे ण विदुसा पवट्टंति / परमट्ठमासिदाण* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

३. इस गाथा का अर्थ आचार्य श्री जयसेन ने इस प्रकार किया है -

''*मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे* निश्चयार्थं मुक्त्वा व्यवहारविषये *ण विदुसा पवंट्टति* विद्वांसो ज्ञानिनो न प्रवर्तन्ते।

कस्मात्?

परमट्ठमासिदाण दु जदीण कम्मक्खओ होदि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिलक्षणं निज शुद्धात्मभावनारूपं परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो भवतीति यतः कारणादिति।

अर्थात् ज्ञानी विद्वानजन, निश्चयनय के विषय को छोड़ कर, व्यवहार-विषयों में प्रवृत्ति नहीं करते हैं।

शङ्का - क्यों नहीं करते हैं?

समाधान - क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकाग्रता-परिणति लक्षणवाली निज शुद्धात्म-भावनारूप परमार्थ का आश्रय करनेवाले यतीश्वरों के द्वारा ही कर्म का नाश होता है।''

मुक्त्वा निश्चयार्थं, व्यवहारेण विद्वांसः प्रवर्तन्ते।
परमार्थमाश्रितानां तु, यतीनां कर्मक्षयो विहितः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ निश्चयनय का विषय कूं छोडि करि पंडितजन व्यवहार करि प्रवर्तैं हैं परंतु ये यतीश्वर परमार्थभूत आत्मस्वरूप कूं आश्रित हैं, तिनिकै कर्म का नाश कह्या है, व्यवहार ही में प्रवर्तनेंवाले कै कर्मक्षय नाही होय है॥ छ॥

॥ टीका॥ केईकनि कै अैसा मोक्ष का हेतु कारण है जो परमार्थभूत मोक्ष का कारण, तातैं तौ रहित अर व्रत तप आदिक शुभकर्मस्वरूप ही तैं मोक्ष है सो अैसा मोक्ष का हेतु माननां सर्व ही प्रतिषेध्या है। जातैं अैसैं मोक्ष के कारण कै अन्यद्रव्य का स्वभावपणां है, तिस स्वभाव करि ज्ञान के परिणमन कै न होनां है। ज्ञान का परिणमन परमार्थ तैं शुभाशुभरूप नाही है। परमार्थभूत जो मोक्ष का कारण, ताही कै एकद्रव्य का स्वभावपणां है, तिस स्वभाव करि ही ज्ञान के परिणमन कै होनां है॥

॥ भावार्थ॥ मोक्ष आत्मा कै होय है सो ताका कारण भी आत्मा का स्वभाव ही चाहिये, जो अन्य का स्वभाव होय, ता करि आत्मा कै मोक्ष कैसैं होय॥ यह निश्चयनय का मत है॥ यातैं शुभकर्म पुद्गलद्रव्य का स्वभाव है सो आत्मा कै मोक्ष का कारण नाही॥ ज्ञान, आत्मा का स्वभाव है सो ही आत्मा कै परमार्थभूत मोक्ष का कारण है॥ छ॥

विद्वान् जन भूतार्थ तज, व्यवहार में वर्तन करें।
पर कर्म-नाश-विधान तो, परमार्थ-आश्रित सन्त के॥ १५६॥

अर्थ – निश्चयनय के विषय को छोड़ कर पण्डितजन व्यवहार से प्रवर्तन करते हैं परन्तु जो यतीश्वर परमार्थभूत आत्मस्वरूप के आश्रित हैं, उनके द्वारा ही कर्मों का नाश होना कहा है; व्यवहार ही में प्रवर्तनेवालों के द्वारा कर्मों का नाश नहीं होता है॥ १५६॥[१]

टीका – कुछ लोगों के अनुसार मोक्ष का हेतु या कारण ऐसा है, जो परमार्थभूत मोक्ष के कारण से रहित है। उनके अनुसार व्रत, तप आदि शुभकर्मों से ही मोक्ष होता है परन्तु ऐसे मोक्ष का हेतु मानने का सर्वथा निषेध किया गया है क्योंकि ऐसे मोक्ष के कारण का अन्यद्रव्यस्वभावपना होता है परन्तु उस स्वभाव से ज्ञान का परिणमन नहीं होता है। परमार्थ से ज्ञान का परिणमन शुभाशुभरूप नहीं होता है [क्योंकि] परमार्थभूत मोक्ष के कारण का एकद्रव्यस्वभावपना होता है और उस स्वभाव से ही ज्ञान का परिणमन होता है।

भावार्थ – मोक्ष, आत्मा को होता है; इसलिए उसका कारण भी आत्मा का स्वभाव ही होना चाहिए। यदि मोक्ष का कारण, अन्य द्रव्य का स्वभाव हो तो उससे आत्मा को मोक्ष कैसे हो सकता है? – यह निश्चयनय का मन्तव्य है। चूँकि शुभकर्म, पुद्गलद्रव्य का स्वभाव है, इसलिए वह आत्मा के मोक्ष का कारण नहीं हो सकता। ज्ञान, आत्मा का स्वभाव है; अतः वही आत्मा के लिए परमार्थभूत मोक्ष का कारण है।

अव इस ही अर्थ के कलशरूप दोय श्लोक कहै है॥ छ॥

॥ अनुष्टूभ्॥

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन, ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत्॥ ७॥

वृत्तं कर्मस्वभावेन, ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत्॥ ८॥

॥ अर्थ॥ जो ज्ञानस्वभाव करि वर्त्तनां, ज्ञान का होनां है सो ही मोक्ष का कारण है, जातैं ज्ञान कै एक आत्मद्रव्य का स्वभावपणां है॥ छ॥

वहुरि जो कर्मस्वभाव करि वर्त्तनां है सो ज्ञान का होनां नाही सो कर्म का वर्तनां, मोक्ष का कारण नाहीं, जातैं कर्म कै अन्यद्रव्य का स्वभावपणां है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ मोक्ष, आत्मा कै होय है सो आत्मा का स्वभाव ही मोक्ष का कारण होय, यातैं ज्ञान, आत्मा का स्वभाव है सो ही मोक्ष का कारण है। वहुरि कर्म है सो अन्य द्रव्य जो पुद्गलद्रव्य, ताका स्वभाव है सो आत्मा कै मोक्ष का कारण नाही है, यह निश्चय है।

आगैं, अगिले कथन की सूचनिका का श्लोक है॥

अब, इसी अर्थ के कलशरूप दो श्लोक कहते हैं —

॥ दोहा॥

ज्ञानभाव का परिणमन, ज्ञानभावमय होय।
एकद्रव्यस्वभाव यह, हेतु मुक्ति का होय॥ १०६॥
ज्ञानभाव का परिणमन, कर्मरूप ना होय।
द्रव्यान्तरस्वभाव यह, इससे मुक्ति न होय॥ १०७॥

अर्थ – जो ज्ञानस्वभावरूप परिणमन है, वह ज्ञान का होना है, वही मोक्ष का कारण है क्योंकि ज्ञान में एक आत्मद्रव्य का स्वभावपना है।

जो कर्मस्वभावरूप परिणमन है, वह ज्ञान का होना नहीं है; अत: कर्मरूप परिणमन मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि कर्म में अन्य द्रव्य का स्वभावपना है।

भावार्थ – मोक्ष, आत्मा को होता है; इसलिए आत्मा का स्वभाव ही मोक्ष का कारण होता है और ज्ञान, आत्मा का स्वभाव है; अत: वही मोक्ष का कारण है। कर्म, अन्य द्रव्यरूप पुद्गलद्रव्य का स्वभाव है; अत: वह आत्मा के मोक्ष का कारण नहीं है – यह निश्चय है।

अब, आगामी कथन की सूचनारूप श्लोक कहते हैं —

॥ अनुष्टुभ्॥

मोक्षहेतुतिरोधानाद् बन्धत्वात्स्वयमेव च।

मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥ ९॥

॥ अर्थ॥ कर्म है सो मोक्ष के कारण का तिरोधान है, आच्छादन करनेंवाला है अर आप स्वयमेव वंधस्वरूप है। वहुरि मोक्ष का कारण का तिरोधायिभावपणां याकै है। अैसैं तीन हेतु तैं सो कर्म निषेधिये है।

सो ही अर्थ आगैं गाथा करि साधै है। तहां प्रथम ही कर्म कै मोक्ष का कारण जो दर्शनज्ञानचारित्र, तिनिकै तिरोधान करनां, आच्छादनां, ताकूं साधै है॥ छ॥

वत्थस्स सेयभावो, जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं, तह सम्मत्तं खु णायव्वं॥ १३॥
वत्थस्स सेयभावो, जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
अण्णाणमलोच्छण्णं, तह णाणं होइ णायव्वं॥ १४॥

॥ दोहा॥

बन्धस्वरूपी कर्म यह, शिवमग रोकनहार।
इसीलिए अध्यात्म में, है निषिद्ध शतबार॥ १०८॥

अर्थ – कर्म, मोक्ष के कारणों का तिरोधान अर्थात् आच्छादन करनेवाला है, वह स्वयं ही बन्धस्वरूप है तथा इसको मोक्ष के कारणों का तिरोधायिभावपना अर्थात् आच्छादन करने का स्वभावपना है; इस प्रकार इन तीन हेतुओं से कर्म का निषेध किया गया है।

अब, इसी अर्थ को आगामी गाथाओं के द्वारा सिद्ध करते हैं। यहाँ सबसे पहले, कर्म को मोक्ष के कारणभूत दर्शन-ज्ञान-चारित्र का तिरोधान करनेवाला अर्थात् आच्छादन करनेवाला सिद्ध करते हैं —

वत्थस्स सेदभावो, जह णासेदि मलमेलणासत्तो[1]।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं, तह सम्मत्तं खु णादव्वं॥ १५७॥
वत्थस्स सेदभावो, जह णासेदि मलमेलणासत्तो[4]।
अण्णाणमलोच्छण्णं, तह णाणं होदि णादव्वं॥ १५८॥

---

१. *जह णासदि मलविमेलणोच्छण्णो* – तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

वत्थस्स सेयभावो, जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
कसायमलोच्छण्णं, तह चारित्तं पि णायव्वं॥ १५॥

॥ त्रिकलं॥

वस्त्रस्य श्वेतभावो, यथा नश्यति मलमेलनासक्तः[१]।
मिथ्यात्वमलावच्छन्नं, तथा सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यम्॥ छ॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो, यथा नश्यति मलमेलनासक्तः[२]।
अज्ञानमलावच्छन्नं, तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यम्॥ छ॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो, यथा नश्यति मलमेलनासक्तः[३]।
कषायमलावच्छन्नं, तथा चारित्रमपि ज्ञातव्यम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं, वस्त्र का स्वेतभाव, मल के मेलनें करि लिप्त भया संता नष्ट होय है, तिरोभूत होय है॥ तैसैं मिथ्यात्वमल करि व्याप्त भया, आत्मा का सम्यक्त्वगुण आच्छादित होय है, अैसैं जाननां॥ छ॥

वहुरि जैसैं, वस्त्र का स्वेतभाव, मल के मेलनें करि लिप्त भया संता नष्ट होय है, तैसैं अज्ञानमल

वत्थस्स सेदभावो, जह णासेदि मलमेलणासत्तो[५]।
कसायमलोच्छण्णं, तह चारित्तं पि णादव्वं॥ १५९॥

मल-मिलन-लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
मिथ्यात्व-मल के लेप से, सम्यक्त्व त्यों ही जानना॥ १५७॥
मल-मिलन-लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
अज्ञान-मल के लेप से, सद्ज्ञान त्यों ही जानना॥ १५८॥
मल-मिलन-लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
कषाय-मल के लेप से, चारित्र त्यों ही जानना॥ १५९॥

अर्थ – जैसे, वस्त्र का श्वेतभाव, मल के संयोग से लिप्त होता हुआ नष्ट हो जाता है, छिप जाता है; उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी मल से व्याप्त होता हुआ आत्मा का सम्यक्त्वगुण आच्छादित हो जाता है – ऐसा जानना॥ १५७॥

जैसे, वस्त्र का श्वेतभाव, मल के संयोग से लिप्त होता हुआ नष्ट हो जाता है; उसी

१-३. *यथा नश्यति मलविमेलनाच्छन्नः* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

४-५. *जह णासदि मलविमेलणोच्छण्णो* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

करि व्याप्त हुवा, आत्मा का ज्ञानभाव आच्छादित होय है, अैसैं जाननां॥ छ॥

वहुरि जैसैं, वस्त्र का स्वेतभाव, मल के मेलनें करि लिप्त भया संता नष्ट होय है, तैसैं कषायमल करि व्याप्त भया संता, आत्मा का चारित्रभाव आच्छादित होय है, अैसैं जाननां॥ छ॥

॥ टीका॥ ज्ञान कै सम्यक्त्व है सो मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है॥ सो यह सम्यक्त्व परभावस्वरूप जो मिथ्यात्व नामा कर्म सो ही भया मल, तिस करि व्याप्तपणां तैं तिरोधानरूप होय है, आच्छादित होय है॥ जैसैं परभावभूत जो मल रंग, ता करि अवच्छन्न जो स्वेत वस्त्र, ताका स्वभावभूत स्वेतस्वभाव आच्छादित होय है तैसैं।

वहुरि ज्ञान कै ज्ञान है सो मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है॥ सो परभाव जो अज्ञान नामा कर्म सो ही भया मल, ता करि व्याप्तपणां तैं तिरोधान कीजिये है, आच्छादिये है। जैसैं परभावभूत जो मल रंग, ता करि व्याप्त भया स्वेत वस्त्र का स्वभावभूत स्वेतस्वभाव आच्छादित होय है तैसैं।

वहुरि ज्ञान कै चारित्र है सो मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है॥ सो परभावस्वरूप जो कषाय नामा कर्म सो ही भया मल, ता करि व्याप्तपणां तैं तिरोधान कीजिये है, आच्छादिये है॥ जैसैं परभावभूत जो मल रंग, ता करि व्याप्त भया स्वेत वस्त्र का स्वभावभूत स्वेतस्वभाव आच्छादित कीजिये है तैसैं।

यातैं मोक्ष कै कारण जे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र, तिनिका आच्छादन करनें तैं कर्म कूं प्रतिषेध्या है॥

प्रकार अज्ञानरूपी मल से व्याप्त होता हुआ, आत्मा का ज्ञानभाव आच्छादित हो जाता है – ऐसा जानना॥ १५८॥

तथा जैसे, वस्त्र का श्वेतभाव, मल के संयोग से लिप्त होता हुआ नष्ट हो जाता है; उसी प्रकार कषायरूपी मल से व्याप्त होता हुआ आत्मा का चारित्रभाव आच्छादित हो जाता है – ऐसा जानना॥ १५९॥

टीका – ज्ञान का सम्यक्त्व, मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है, यह सम्यक्त्व परभावस्वरूप मिथ्यात्व नामक कर्मरूपी मल से व्याप्त होने पर तिरोभूत हो जाता है, ढँक जाता है। जैसे, श्वेत वस्त्र की स्वभावभूत सफेदी, परभावभूत मल या रङ्ग से व्याप्त होने पर आच्छादित हो जाती है।

ज्ञान का ज्ञान, मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है, वह परभावस्वरूप अज्ञान नामक कर्मरूपी मल से व्याप्त होने पर तिरोभूत हो जाता है, ढँक जाता है। जैसे, श्वेत वस्त्र की स्वभावभूत सफेदी, परभावभूत मल या रङ्ग से व्याप्त होने पर आच्छादित हो जाती है।

इसी प्रकार ज्ञान का चारित्र मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है, वह परभावस्वरूप कषाय नामक कर्मरूपी मल से व्याप्त होने पर तिरोभूत हो जाता है, ढँक जाता है। जैसे, श्वेत वस्त्र की स्वभावभूत सफेदी, परभावभूत मल या रङ्ग से व्याप्त होने पर आच्छादित हो जाती है।

इस प्रकार मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का आच्छादन करनेवाले कर्म का निषेध किया है।

॥ भावार्थ ॥ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप ज्ञान के परिणमनस्वरूप मोक्षमार्ग के प्रतिवंधक मिथ्यात्व अज्ञान कषायरूप कर्म हैं सो ए कर्म तिस मोक्ष के कारणभाव कूं आच्छादित करै हैं, यातैं कर्म का निषेध है॥ छ॥

आगैं, कर्म कै स्वयमेव वंधपणां साधै है॥ छ॥

सो सव्वणाणदरिसी, कम्मरएणं णियेणवच्छण्णो।
संसारसमावण्णो, ण विजाणइ सव्वदो सव्वं॥ १६॥

स सर्वज्ञानदर्शी, कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः।
संसारसमापन्नो, न विजानाति सर्वतः सर्वम्॥ छ॥

॥ अर्थ ॥ सो आत्मा स्वभाव करि सर्व का जाननहारा देषनहारा है, तौऊ अपनां कर्मरूप रज करि आच्छादित व्याप्त भया संता संसार कूं प्राप्त है, अैसा भया संता सर्व प्रकार सर्व वस्तु कूं न जानै है॥ छ॥

॥ टीका ॥ जातैं यह ज्ञानरूप आत्मा है सो आप स्वयमेव ज्ञानपणां करि विश्व कहिये सर्व पदार्थ, तिनिकूं सामान्य विशेष करि जाननें का ज्ञानस्वभावरूप है, तौऊ अनादिकाल तैं अपनां पुरुषार्थ

भावार्थ – ज्ञान के परिणमनस्वरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग के प्रतिबन्धक, मिथ्यात्व-अज्ञान-कषायरूप कर्म हैं। ये कर्म, उस मोक्ष के कारणरूप भावों को आच्छादित करते हैं; इसलिए यहाँ कर्म का निषेध किया है।

अब, कर्म स्वयमेव बन्धस्वरूप है, यह सिद्ध करते हैं —

सो सव्वणाणदरिसी, कम्मरएण[1] णियेणावच्छण्णो।
संसाररसमावण्णो, ण विजाणदि सव्वदो सव्वं॥ १६०॥

यह सर्वज्ञानी-दर्शि भी, निजकर्म रज आच्छाद से।
संसार-प्राप्त हुआ न जाने, सर्व को सब रीत से॥ १६०॥

अर्थ – यह आत्मा, स्वभाव से सर्व को जानने-देखनेवाला है, फिर भी अपने कर्मरूप रज से आच्छादित होता हुआ, व्याप्त होता हुआ संसारपने को प्राप्त हुआ है; इसलिए सर्व प्रकार से सर्व वस्तुओं को नहीं जानता है॥ १६०॥

टीका – यह ज्ञानस्वरूप आत्मा, स्वयमेव अपने ज्ञानपने के कारण विश्व अर्थात् सर्व पदार्थों को सामान्य-विशेषरूप से जानने के स्वभाववाला है, फिर भी अनादिकाल से अपने [मिथ्या] पुरुषार्थ

---

१. *कम्मरयेण* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

करि कीया जो अपराध, ता करि प्रवर्त्या जो कर्म, सोई भया मल, ता करि अवच्छन्न कहिये आच्छादित है, व्याप्त है, मलिन है। तिस भाव करि वंध अवस्था विषै सर्व प्रकार सर्व ज्ञेयाकाररूप जो अपनां स्वरूप, ताकूं नाही जानता संता अज्ञानभाव करि ही यह आप इस प्रकार तिष्टै है॥ तातैं यह निश्चय भया जो कर्म है सो स्वयमेव आप ही वंधस्वरूप है, यातैं कर्म स्वयमेव आप ही वंधपणांरूप जानि प्रतिषेध्या है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ इहां ज्ञान शव्द करि आत्मा ही का ग्रहण कीया है सो यह ज्ञान, स्वभाव करि तौ सर्व का देषन जाननहारा है परंतु अनादि तैं आप अपराधी है, तातैं कर्म वंधै है, ता करि आच्छादित है सो अपनां संपूर्णरूप कूं न जानता संता अज्ञानरूप भया आप तिष्टै है। ताकै कर्म आप ही वंधैं हैं, कर्म कूं आप तौ लेकरि नाही वांधै है, आप तौ अपनें अज्ञानभावरूप परिणमै है अर कर्म आप स्वयमेव वंधरूप होय हैं। तातैं कर्म का प्रतिषेध है॥ छ॥

आगैं, कर्म कै मोक्ष का कारण जे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र, तिनिका तिरोधायी भावपणां दिषावै है, इनिकूं प्रगट न होनें देनां, यह तिरोधायी भावपनां है॥ छ॥

सम्मत्तपडिणिबद्धं, मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो, मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो॥ १७॥

से किये गए अपराधों के कारण प्रवर्तित कर्मरूपी मल से आच्छादित है, व्याप्त है, मलिन है। इस कारण से बन्ध अवस्था में **सर्व प्रकार सर्व ज्ञेयाकाररूप अपने स्वभाव** को नहीं जानता हुआ, अज्ञानभाव से ही यह स्वयं इस प्रकार स्थित है; इसलिए यह निश्चित हुआ कि कर्म, स्वयं ही बन्धस्वरूप है; इस कारण कर्म को स्वयं ही बन्धस्वरूप जान कर उसका निषेध किया है।

भावार्थ – यहाँ 'ज्ञान' शब्द से आत्मा का ही ग्रहण किया गया है। यह **ज्ञान, स्वभाव से तो सबको देखने-जाननेवाला है** परन्तु अनादिकाल से वह स्वयं अपराधी है, इसलिए कर्म बँधते हैं, उनसे वह आच्छादित होता है और अपने सम्पूर्णरूप को नहीं जानता हुआ अज्ञानरूप होकर स्वयं स्थित होता है। उससे कर्म स्वयं ही बँधते हैं, वह स्वयं तो कर्म को लेकर बाँधता नहीं है; स्वयं तो अपने अज्ञानभावरूप परिणमता है और कर्म स्वयं ही बन्धरूप होता है; इसलिए यहाँ कर्म का निषेध किया है।

अब, मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को आच्छादित करनेवाले कर्म के स्वभाव को दिखाते हैं। इन [मोक्ष के कारणों] को प्रगट नहीं होने देना, यही कर्मों का आच्छादनस्वभावपना है —

सम्मत्तपडिणिबद्धं, मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहिदं।
तस्सोदयेण जीवो, मिच्छादिट्ठि त्ति णादव्वो॥ १६१॥

णाणस्य पडिणिबद्धं, अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो, अण्णाणी होइ णायव्वो॥ १८॥
चारित्तपडिणिबद्धं, कस्सायं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो, अचरित्तो होदि णायव्वो॥ १९॥

॥ त्रिकलं॥

सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं, मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितम्।
तस्योदयेन जीवो, मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः॥ छ॥

णाणस्स पडिणिबद्धं, अण्णाणं जिणवरेहि परिकहिदं।
तस्सोदयेण जीवो, अण्णाणी होदि णादव्वो॥ १६२॥
चारित्तपडिणिबद्धं, कसायं जिणवरेहि परिकहिदं।
तस्सोदयेण जीवो, अचरित्तो होदि णादव्वो॥ १६३॥[१]

सम्यक्त्व-प्रतिबन्धक करम, मिथ्यात्व जिनवर ने कहा।
उसके उदय से जीव, मिथ्यात्वी बने – यह जानना॥ १६१॥

---

१. आचार्य श्री जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति टीका में पुण्य-पाप अधिकार की उन्नीस गाथाओं को दो अवान्तर अधिकारों में विभाजित किया है। उनके अनुसार शुरु की दश गाथाओं में पुण्याधिकार एवं बाद की नौ गाथाओं में पापाधिकार का वर्णन है। विशेष आश्चर्य की बात यह है कि बाद की नौ गाथाओं में 'व्यवहार रत्नत्रय' की मुख्यता से व्याख्यान है, फिर भी उसे 'पापाधिकार' में क्यों रखा है? – इसका विवेचन स्वयं आचार्यदेव ने शङ्का-समाधान के माध्यम से किया है, स्वयं उनके ही शब्दों में वह विवेचन इस प्रकार है —

अत्राह शिष्यः – 'जीवादीसद्दहणं' इत्यादि व्यवहाररत्नत्रयव्याख्यानं कृतं, तिष्ठति कथं पापाधिकार इति?

तत्र परिहारः – यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेयः, परम्परया जीवस्य पवित्रताकारणत्वात् पवित्रस्तथापि बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेन पराधीनत्वात् पतति, नश्यतीत्येकं कारणम्। निर्विकल्पसमाधिरतानां व्यवहारविकल्पाऽलम्बनेन स्वरूपात् पततिं भवतीति द्वितीयं कारणम्। इति निश्चयनयाऽपेक्षया पापम्। अथवा सम्यक्त्वादिविपक्षभूतानां मिथ्यात्वादीनां व्याख्यानं कृतमिति वा पापाधिकारः।

अर्थात् **यहाँ, शिष्य कहता है – 'जीवादीसद्दहणं'** इत्यादि गाथाओं द्वारा व्यवहाररत्नत्रय का व्याख्यान किया गया है, फिर यह **पापाधिकार** कैसे है?

वहाँ, **शिष्य की शङ्का का परिहार करते हुए आचार्य कहते हैं** – यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्ग, उपादेयभूत निश्चयमोक्षमार्ग (निश्चयरत्नत्रय) का कारणभूत होने से उपादेय है तथा परम्परा से जीव की पवित्रता में कारणभूत होने से पवित्र भी है; तथापि ● बहिर्द्रव्य का आलम्बन लेने के कारण पराधीन होने से [स्वाधीनता से] गिरता है, नष्ट होता है, यह **पहला कारण** है तथा ● निर्विकल्प समाधि में लीन जीवों का, व्यवहार विकल्पों का आलम्बन करने से स्वरूप से पतन होता है, यह **दूसरा कारण** है – इन उक्त दोनों कारणों से [व्यवहाररत्नत्रय भी] निश्चयनय की अपेक्षा पाप है। ● अथवा यहाँ [गाथा १६१-१६३ में] सम्यक्त्व आदि के विपक्षभूत मिथ्यात्व आदि का भी व्याख्यान किया गया है, इसलिए भी यह **पापाधिकार** है।

ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धमज्ञानं जिनवरैः परिकथितम्।
तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः॥ छ॥
चारित्रप्रतिनिबद्धः, कषायो जिनवरैः परिकथितः।
तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवति ज्ञातव्यः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ सम्यक्त्व का प्रतिवंधक रोकनेंवाला मिथ्यात्व है सो जिनवरदेव कह्या है॥ ताका उदय करि जीव मिथ्यादृष्टी होय है, अैसा जाननां॥ छ॥

ज्ञान का प्रतिवंधक रोकनेंवाला अज्ञान है, यह जिनवरदेव कह्या है॥ ताके उदय करि जीव अज्ञानी होय है, अैसा जाननां॥ छ॥

चारित्र का प्रतिवंधक कषाय है, अैसैं जिनवरदेव कह्या है॥ ताके उदय करि जीव अचारित्री होय है, अैसा जाननां॥ छ॥

॥ टीका॥ सम्यक्त्व कै मोक्ष का कारणस्वभाव है, ताका प्रतिनिवंधक रोकनेंवाला मिथ्यात्व है सो आप स्वयं कर्म ही है॥ ताके उदय तैं ही ज्ञान कै मिथ्यादृष्टीपणां है॥

वहुरि ज्ञान कै मोक्ष का कारणस्वभाव है, ताका प्रतिनिवंधक रोकनेंवाला प्रगट अज्ञान है सो आप स्वयं कर्म ही है॥ ताके उदय तैं ही ज्ञान कै अज्ञानीपणां है॥

त्यों ज्ञान-प्रतिबन्धक करम, अज्ञान जिनवर ने कहा।
उसके उदय से जीव, अज्ञानी बने – यह जानना॥ १६२॥
चारित्र-प्रतिबन्धक करम, जिन ने कषायों को कहा।
उसके उदय से जीव, चारित्रहीन हो – यह जानना॥ १६३॥

अर्थ – जिनवरदेव ने कहा है कि सम्यक्त्व का प्रतिबन्धक अर्थात् रोकनेवाला मिथ्यात्व है, उसके उदय से जीव **मिथ्यादृष्टि** होता है – ऐसा जानना॥ १६१॥

जिनवरदेव ने कहा है कि ज्ञान का प्रतिबन्धक अर्थात् रोकनेवाला अज्ञान है, उसके उदय से जीव **अज्ञानी** होता है – ऐसा जानना॥ १६२॥

इसी प्रकार जिनवरदेव ने कहा है कि चारित्र की प्रतिबन्धक अर्थात् रोकनेवाली कषाय है, उसके उदय से जीव **अचारित्री (अविरत)** होता है – ऐसा जानना॥ १६३॥

टीका – सम्यक्त्व में मोक्ष का कारणस्वभाव है, उसका प्रतिबन्धक अर्थात् रोकनेवाला मिथ्यात्व है, वह स्वयं कर्म ही है; अतः उसके उदय से ही **ज्ञान में मिथ्यादृष्टिपना** होता है।

ज्ञान में मोक्ष का कारणस्वभाव है, उसका प्रतिबन्धक अर्थात् रोकनेवाला प्रगट अज्ञान है, वह स्वयं कर्म ही है; अतः उसके उदय से **ज्ञान में अज्ञानीपना** होता है।

चारित्र कै मोक्ष का कारणस्वभाव है, ताका प्रतिनिवंधक प्रगट कषाय है सो आप स्वयं कर्म ही है॥ ताके उदय ही तैं ज्ञान कै अचारित्रपणां है॥

यातैं कर्म कै स्वयमेव मोक्ष का कारण जे सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्र, तिनिका तिरोधायी भावपणां है, तातैं कर्म प्रतिषेध्या है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञान कै मोक्ष का कारणपणां स्वभाव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र है॥ तिनि तीननि का प्रतिपक्षी कर्म मिथ्यात्व अज्ञान कषाय हैं, ते तीनूंनि कूं प्रगट न होनें दे हैं। तातैं कर्म कै मोक्ष का कारण का तिरोधायी भावपणां है, तातैं कर्म का प्रतिषेध है॥ अशुभकर्म कै तौ मोक्ष का कारण का वाधकपणां प्रसिद्ध ही है, परंतु शुभकर्म भी वंधरूप ही है, तातैं यह भी कर्मसामान्य मैं प्रतिषेधरूप ही जाननां॥ छ॥

आगैं, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा, पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्,
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं, ज्ञानं स्वयं धावति॥ १०॥

चारित्र में मोक्ष का कारणस्वभाव है, उसकी प्रतिबन्धक अर्थात् रोकनेवाली प्रगट कषाय है, वह स्वयं कर्म ही है; अत: उसके उदय से **ज्ञान में अचारित्रपना** होता है।

इस प्रकार कर्म में, स्वयं ही मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को आच्छादन करने का स्वभावपना है; अत: कर्म का निषेध किया है।

भावार्थ – ज्ञान में मोक्ष के कारणरूप स्वभाव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं। उन तीनों के प्रतिपक्षी कर्म, मिथ्यात्व अज्ञान और कषाय हैं, जो उन्हें प्रगट नहीं होने देते; इसलिए कर्म में मोक्ष के कारणों को आच्छादित करने का स्वभाव होने से कर्म का निषेध किया है। अशुभकर्म में तो मोक्ष का बाधकपना प्रसिद्ध ही है परन्तु शुभकर्म भी बन्धरूप है; इसलिए कर्मसामान्य में शुभकर्म का भी निषेध जानना।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

त्याज्य ही हैं जब मुमुक्षु के लिए सब कर्म ये।
तब पुण्य एवं पाप की, यह बात करनी किसलिये॥

॥ अर्थ ॥ मोक्ष के अर्थी पुरुष कूं यह समस्त कर्म ही त्यागनें योग्य है, अैसैं तिस समस्त ही कर्म कूं छोडें संतें पुण्य अथवा पाप की कहा कथा है, कर्मसामान्य में दोऊ आय गये। अैसैं समस्त कर्म का त्याग भयें ज्ञान है सो सम्यक्त्व आदिक जो अपनां स्वभाव, तिसरूप होनें तैं मोक्ष का कारण होता संता कर्मरहित अवस्था तैं प्रतिवद्ध उद्धत है रस जाका, अैसा आपै आप दोड्या आवै है॥

॥ भावार्थ ॥ कर्म कौं पटकें ज्ञान आपै आप अपनां मोक्ष का कारणस्वभावरूप भया संता प्रगटै है, फेरि कोंन रोकै।

आगैं, आशंका उपजै है जो अविरतसम्यग्दृष्टि आदि कै जेतैं कर्म का उदय रहै, तेतै ज्ञान, मोक्ष का कारण कैसैं। कर्म अर ज्ञान, दोऊ लार कैसैं रहै। ताका समाधान कूं काव्य कहै है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो, यत्कर्म बन्धाय तत्,
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं, ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥ ११॥

निज आतमा के लक्ष्य से, जब परिणमन हो जाएगा।
निष्कर्म में ही रस जगे, तब ज्ञान दौड़ा आएगा॥ १०९॥

अर्थ – मोक्षार्थी पुरुष को ये समस्त ही कर्म त्याज्य हैं, इस प्रकार उन समस्त ही कर्मों को छोड़ देने पर **पुण्य अथवा पाप [के भेद] की बात ही कहाँ है?** – कर्मसामान्य में दोनों आ जाते हैं। इस प्रकार समस्त कर्मों का त्याग होते ही ज्ञान, अपने सम्यक्त्व आदि स्वभावरूप हो जाता है; अतः कर्मरहित अवस्था से जिसका रस प्रतिबद्ध है, उद्धत है – ऐसा वह [ज्ञान] मोक्ष का कारणभूत [अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप] होता हुआ, अपने आप दौड़ा चला आता है अर्थात् उत्पन्न होता है।

भावार्थ – जब कर्म को परास्त करके ज्ञान, अपने आप मोक्ष के कारण-स्वभावरूप होता हुआ प्रगट होता है तो **फिर उसे कौन रोक सकता है?**

अब, यह आशङ्का उत्पन्न होती है कि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि को जब तक कर्म का उदय रहता है; तब तक ज्ञान, मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है? कर्म और ज्ञान, दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं? – इस शङ्का का समाधान करने के लिए काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

यह कर्मविरति जब तलक, ना पूर्णता को प्राप्त हो।
हाँ, तब तलक यह कर्मधारा-ज्ञानधारा साथ हो॥

॥ अर्थ ॥ जेतै कर्म का उदय है अर ज्ञान की सम्यक् विरति नाही है, तेतै कर्म का अर ज्ञान का समुच्चय कहिये एकठापणां भी कह्या है, तेतै यामें किछू हाणि नाही है॥ इहां विशेष अैसा जो इस आत्मा विषै जो कर्म कै उदय की वरजोरी तैं आत्मा के वश विनां कर्म उदय होय है सो तौ वंध कै ही अर्थि है॥ वहुरि मोक्ष कै अर्थि तौ एक परमज्ञान है सो ही है।

कैसा है ज्ञान। कर्म तैं आप ही तैं रहित है, कर्म के करनें विषै आपका स्वामिपणांरूप कर्तापणां का भाव नाही है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ जेतै कर्म उदय है, तेतै कर्म तौ अपनां कार्य करै है अर तहां ही ज्ञान है सो अपनां कार्य करै है, एक ही आत्मा मैं ज्ञान अर कर्म दोऊ एकठे रहनें में भी विरोध नाही है॥ मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान कै जैसैं विरोध है, तैसैं कर्म सामान्य कै अर ज्ञान कै विरोध नाही है॥ छ॥

आगैं, कर्म का अर ज्ञान का नयविभाग दिषावै है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा, ज्ञानं न जानन्ति यत्[१],
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदति[२]स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।

अवरोध इसमें है नहीं, पर कर्मधारा बन्धमय।
मुक्तिमारग एक ही है, ज्ञानधारा मुक्तिमय॥ ११०॥

अर्थ – जब तक कर्म का उदय है और ज्ञान में सम्यक् विरक्ति नहीं है; तब तक कर्म और ज्ञान का समुच्चय अर्थात् एक साथ रहना भी कहा है, तब तक इसमें कुछ हानि नहीं है। यहाँ इतना विशेष है कि इस आत्मा में जो कर्म के उदय की प्रबलता से अर्थात् आत्मा के वश बिना जो कर्म का उदय होता है, वह तो बन्ध के लिए ही है तथा मोक्ष के लिए तो एक परम ज्ञान ही है।

कैसा है वह ज्ञान? – कर्म से स्वयं ही रहित है अर्थात् कर्म के करने में स्वयं के स्वामिपनेरूप कर्तृत्व का भाव नहीं है।

भावार्थ – जब तक कर्म का उदय है, तब तक कर्म तो अपना कार्य करता है और वहीं ज्ञान, अपना कार्य करता है। एक ही आत्मा में ज्ञान और कर्म के एक साथ रहने में भी कोई विरोध नहीं है। मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान में जैसा विरोध है, वैसा कर्मसामान्य और ज्ञान में विरोध नहीं है।

अब, कर्म और ज्ञान का नय-विभाग दिखाते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

कर्मनय के पक्षपाती, ज्ञान से अनभिज्ञ हों।
ज्ञानमय के पक्षपाती, आलसी स्वच्छन्द हों॥

---

१. *ये* – 'ब' प्रति पाठ २. *सततं* – 'ब' प्रति पाठ

विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं, ज्ञानं भवन्तः स्वयं,
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं, यान्ति प्रमादस्य च॥ १२॥

॥ अर्थ॥ जे केई कर्मनय के अवलंवन विषै तत्पर हैं॥ ताके पक्षपाती हैं, ते डूवे, जातैं ते ज्ञान कूं जानैं ही नाही। वहुरि जे ज्ञाननय के इच्छक हैं, पक्षपाती हैं, ते भी डूवे, जातैं ते क्रियाकांड को छोडि स्वच्छंद होइ प्रमादी होय, स्वरूप विषै मंद उद्यमी हैं। वहुरि जे आप निरंतर ज्ञानरूप होते कर्म कूं तौ नाही करैं हैं अर प्रमाद कै वशि नाही होय हैं। स्वरूप में उत्साहवान हैं, ते सर्व लोक कै उपरि तरैं हैं॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ इहां सर्वथा एकांत अभिप्राय का निषेध कीया है, जातैं सर्वथा एकांत का अभिप्राय है सो ही मिथ्यादृष्टि है॥

तहां जे परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा कूं तौ नाही जानै हैं अर व्यवहार दर्शनज्ञानचारित्ररूप क्रियाकांड के आडंवर ही कूं मोक्ष का कारण जाणि, तिस ही विषै तत्पर रहैं हैं, ताका पक्षपात करैं हैं, यह कर्मनय है, याके पक्षपाती ज्ञान कूं तौ जानैं नाही अर इस कर्मनय ही विषै खेदषिन्न हैं, ते संसारसमुद्र में डूवैं हैं॥

वहुरि जे परमार्थभूत आत्मस्वरूप कूं यथार्थ तौ जान्यां नाही अर मिथ्यादृष्टी सर्वथा एकांतीनि के उपदेश करि तथा स्वयमेव ही किछू अंतरंग विषै ज्ञान का स्वरूप मिथ्या कल्पि, तिस विषै पक्षपात

जो ज्ञानमय हों परिणमित, परमाद के वश में न हों।
कर्मविरहित जीव वे, संसार-सागर पार हों॥ 111॥

अर्थ – जो कर्मनय के अवलम्बन में तत्पर हैं, उसके पक्षपाती हैं, वे डूबे हुए हैं क्योंकि वे ज्ञान को जानते ही नहीं हैं; जो ज्ञाननय के इच्छुक हैं, उसके पक्षपाती हैं, वे भी डूबे हुए हैं क्योंकि वे क्रियाकाण्ड को छोड़ कर स्वच्छन्दी अर्थात् प्रमादी होकर स्वरूप में मन्द-उद्यमी हैं। लेकिन जो निरन्तर ज्ञानरूप होकर कर्म को तो नहीं करते हैं और प्रमाद के वश भी नहीं होते हैं; वे स्वरूप में उत्साहवान हैं, वे समस्त लोक के ऊपर तैरते हैं।

भावार्थ – यहाँ सर्वथा एकान्त अभिप्राय का निषेध किया है क्योंकि सर्वथा एकान्त का अभिप्राय ही मिथ्यादर्शन है।

वहाँ जो जीव, परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा को तो जानते नहीं हैं और व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप क्रियाकाण्ड के आडम्बर ही को मोक्ष का कारण जान कर, उसी में तत्पर रहते हैं, उसी का पक्षपात करते हैं – ऐसे कर्मनय के पक्षपाती ज्ञान को तो जानते नहीं हैं और कर्मनय ही में खेद-खिन्न होते हैं, वे संसार-समुद्र में डूबते हैं।

तथा जो जीव, परमार्थभूत आत्मस्वरूप को यथार्थ तो जानते नहीं हैं और सर्वथा एकान्तवादी मिथ्यादृष्टियों के उपदेश से अथवा स्वयं ही कुछ अन्तरङ्ग में ज्ञान का स्वरूप मिथ्या कल्पित करके,

करैं हैं अर व्यवहार दर्शनज्ञानचारित्र का क्रियाकांड कूं निरर्थक जानि छोडैं हैं, ज्ञाननय के पक्षपाती हैं, ते भी संसारसमुद्र मैं डूबैं हैं॥ जातैं वाह्य क्रियाकांड कूं छोड़ि स्वेच्छाचारी रहैं हैं स्वरूप विषैं मंद उद्यमी रहैं हैं॥

तातैं जे पक्षपात का अभिप्राय छोडि निरंतर ज्ञानरूप होतैं, कर्मकांड कूं छोडैं हैं अर निरंतर ज्ञानस्वरूप विषै जेतै न थंभ्या जाय, तेतै अशुभकर्म कूं छोडि स्वरूप का साधनरूप शुभ कर्मकांड विषै प्रवर्त्तैं हैं, ते कर्म का नाश करि, संसार तैं निवृत्त होय हैं, ते सर्व लोक के उपरि वर्तैं[१] हैं, ऐसा जाननां॥ छ॥

आगैं, इस पुण्यपाप अधिकार कूं संपूर्ण करि अर ज्ञान की महिमा करै है॥ छ॥

॥ मन्दाक्रान्ता॥

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं,
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।
हेलोन्मीलत्परमकलया, सार्धमारब्धकेलि,
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण॥ १३॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानज्योति है सो अतिशय करि उदय कूं प्राप्त होत भया, सर्वत्र फैल्या।

उसका ही पक्षपात करते हैं और व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के क्रियाकाण्ड को निरर्थक जान कर छोड़ देते हैं; वे ज्ञाननय के पक्षपाती हैं, वे भी संसार-समुद्र में डूबते हैं क्योंकि वे बाह्य क्रियाकाण्ड को छोड़ कर, स्वेच्छाचारी रहते हैं, स्वरूप में मन्द-उद्यमी रहते हैं।

इस कारण जो जीव, पक्षपात के अभिप्राय को छोड़ कर, निरन्तर ज्ञानरूप रहते हुए कर्मकाण्ड को छोड़ते तो हैं, लेकिन जब तक निरन्तर ज्ञानस्वरूप में ठहरा नहीं जाता, तब तक अशुभकर्म को छोड़ कर, स्वरूप के साधनरूप शुभकर्मकाण्ड में प्रवर्तते हैं; वे कर्म का नाश करके संसार से निवृत्त होते हैं और वे समस्त लोक के ऊपर विराजमान होते हैं – ऐसा जानना।

अब, इस पुण्य-पाप अधिकार को पूर्ण करते हुए ज्ञान की महिमा करते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

जग शुभ-अशुभ में भेद माने, मोह मदिरापान से।
पर भेद इनमें हैं नहीं, जाना है सम्यग्ज्ञान से॥
यह ज्ञानज्योति तम-विरोधी, खेले केवलज्ञान से।
जयवन्त हो इस जगत में, जगमगे आतमज्ञान से॥ ११२॥

अर्थ – यह **ज्ञानज्योति** अतिशयरूप से प्रगट होती हुई सर्वत्र व्याप्त होती है।

---

१. *उपरिवर्ती* – 'ब' प्रति पाठ

कैसा है। लीलामात्र करि उघडी जो अपनीं परमकला केवलज्ञान, तिस सहित आरंभी है क्रीडा जानैं। इहां भावार्थ अैसा जो जेतै सम्यग्दृष्टी छद्मस्थ है, तेतै तो ताका ज्ञान परमकला जो केवलज्ञान, तिस सहित शुद्धनय के वल तैं परोक्ष क्रीडा करै है। वहुरि केवलज्ञान उपजै, तव साक्षात् है।

वहुरि कैसा है। ग्रासीभूत कीया है, दूरि कीया है अज्ञानरूप अंधकार जानैं।

सो यह अैसा ज्ञानज्योति पहलैं कहा करि प्रगट भया है॥ पूर्वोक्त शुभ अशुभरूप समस्त कर्म, ताकूं अपनां वल जो वीर्यशक्ति, ता करि मूल तैं उन्मूल कहिये उपाडि करि।

कैसा है यह कर्म॥ पीया है मोह जानैं॥ याही तैं भ्रम के रस के भार तैं शुभ अशुभ का भेदरूप उन्माद कूं नचावता संता है॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञानज्योति है सो अपनां प्रतिवंधक कर्म था सो भेदरूप होय नृत्य करै था, ज्ञान कूं भुलावा दे था, ताकूं अपनीं शक्ति करि विगाडि, आप अपनां संपूर्ण रूपसहित प्रकाशरूप भया॥

इहां आशय अैसा जाननां, कर्म सामान्य करि एक ही है, तथापि शुभ अशुभ दोय भेदरूप स्वांग

कैसी है ज्ञानज्योति? – जिसने लीलामात्र में प्रगट हुई अपनी परमकला अर्थात् केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा आरम्भ की है। यहाँ ऐसा तात्पर्य समझना चाहिए कि जब तक सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है, तब तक तो ज्ञान, शुद्धनय के बल से अपनी परमकला केवलज्ञान के साथ परोक्ष क्रीड़ा करता है और केवलज्ञान हो जाने पर साक्षात् हो जाता है।

और कैसी है? – जिसने अज्ञानरूप अन्धकार को ग्रासीभूत किया है अर्थात् नष्ट किया है।

ऐसी यह ज्ञानज्योति पूर्व में क्या करके प्रगट हुई है? – समस्त शुभाशुभकर्मों को अपनी वीर्यशक्ति के बल से मूल से ही उखाड़ कर प्रगट हुई है।

कैसा है यह कर्म? – जो मोहरूपी मदिरा पीने के कारण भ्रमरूपी रस के भार से शुभ-अशुभ के भेदरूप उन्माद को नचाता रहता है।

भावार्थ – ज्ञानज्योति, भेदरूप होकर नृत्य करनेवाले और उससे ज्ञान को भ्रमित करनेवाले अपने प्रतिबन्धक कर्म को अपनी सम्पूर्ण शक्ति से नष्ट करके, स्वयं अपने सम्पूर्ण स्वरूपसहित प्रकाशित होती है।

यहाँ ऐसा आशय जानना चाहिए कि यद्यपि कर्म, सामान्यरूप से तो एक ही है, तथापि शुभ-अशुभ के भेद से भिन्न-भिन्न स्वाङ्ग बना कर रङ्गभूमि में प्रविष्ट हुआ था, उसे ज्ञान ने जब यथार्थ एकरूप जान लिया; तब कर्म रङ्गभूमि से बाहर निकल गया और ज्ञान अपनी शक्ति से यथार्थ प्रकाशित हुआ – ऐसा जानना।

करि रंगभूमि मैं प्रवेश कीया था, ताकूं ज्ञान यथार्थ एक जानि लीया, तव कर्म रंगभूमि तैं निकसि गया, ज्ञान अपनीं शक्ति करि यथार्थ प्रकाशरूप भया॥ अैसैं जाननां॥ छ॥

अैसें कर्म है सो नृत्य के अषाडे मैं पुण्यपाप रूप करि दोय नृत्यकारिणी वणि नांचै था सो ज्ञान यथार्थ जानि लीया जो कर्म एक ही है, तव एकरूप करि निकसि गया, नृत्य करता रह गया ॥ छ॥

॥ सवइया तेईसा॥

आश्रय कारन रूप सवाद सु,
भेद विचारि गिनें दोऊ न्यारे।
पुण्य रु पाप शुभाशुभ भावनि,
वंध भये सुखदुःख करा रे॥
ज्ञान भयें दोऊ एक लषै वुध,
आश्रय आदि समान विचारे।
वंध के कारण हैं दोऊरूप,
इन्हें तजि श्रीमुनि मोक्ष पधारे॥ १॥

इस प्रकार कर्म, नृत्य के अखाड़े में पुण्य-पाप के रूप में दो स्वाङ्ग बना कर नाच रहा था, उसे ज्ञान ने यथार्थ जान लिया कि कर्म एक ही है, तब कर्म एकरूप होकर बाहर निकल गया और ज्ञान नृत्य करता रह गया।

॥ सवैया तेईसा॥

आश्रय, कारण, रूप, स्वाद सु,
भेद विचारि गिनें दोऊ न्यारे।
पुण्य रु पाप शुभाशुभ भावनि,
बन्ध भये सुख-दुःख करा रे॥
ज्ञान भये दोउ एक लखे बुध,
आश्रय आदि समान विचारे।
बन्ध के कारण हैं दोऊ रूप,
इन्हें तजि जिनमुनि मोक्ष पधारे॥

[**अर्थ** – अज्ञानी जीव कहता है कि आश्रय, कारण, स्वरूप और अनुभव – इन चार भेदों की अपेक्षा विचार करने पर, पुण्य और पाप में भेद है अर्थात् पुण्य का आश्रय, कारण, स्वरूप और अनुभव

इहां तांई गाथा १६३ भई। कलशा ११२ भये।[१]

अैसैं इस समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति नामा टीका की वचनिका विषै तीसरा पुण्यपाप नामा अधिकार पूर्ण भया॥ छ॥[२]

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

अलग है तथा पाप का आश्रय, कारण, स्वरूप और अनुभव अलग है। इनसे होनेवाला शुभाशुभ बन्ध भी अलग-अलग है अर्थात् शुभबन्ध, सुख का कारण है और अशुभबन्ध, दुःख का कारण है।

सम्यग्ज्ञान के प्रगट होने पर पुण्य और पाप दोनों एक भासित होते हैं; पुण्य और पाप दोनों को ज्ञानीजन आश्रय, कारण, स्वरूप और अनुभव की अपेक्षा समान विचार करते हैं तथा दोनों को बन्ध का कारण मानते हैं – यही कारण है कि जिनेन्द्र भगवान के शासन में मुनिजन, पुण्य और पाप दोनों को छोड़ कर, मोक्ष की ओर गमन करते हैं।]

यहाँ तक कुल १६३ गाथाएँ और ११२ कलश हुए।[३]

इस प्रकार [आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेवप्रणीत] श्री समयसार ग्रन्थ की [आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेवरचित] श्री आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका की [पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ाकृत] श्री समयसार वचनिका में तीसरा 'पुण्यपाप अधिकार' पूर्ण हुआ।[४]

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

१-४. यहाँ सम्पादन एवं एकरूपता की दृष्टि से अनुच्छेदों को आगे-पीछे किया है।

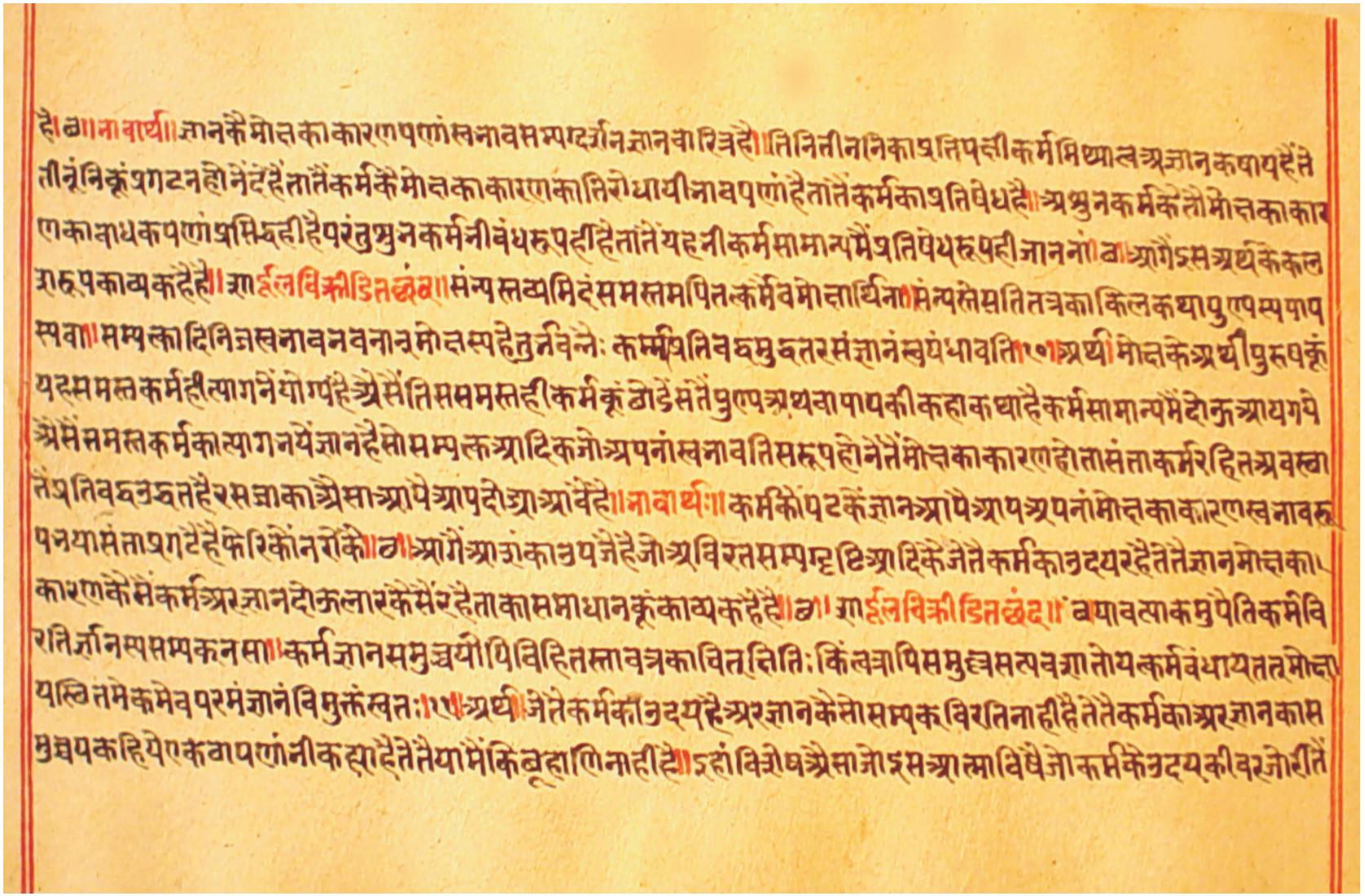

पृष्ठ-परिचय : यह द्वितीय हस्तलिखित प्रति 'ब' के पत्र १०३ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर पुण्य-पाप अधिकार के कलश १०-११ (१०९-११०) का प्रकरण है। इसमें ऊपर से दूसरी पंक्ति में लिखा है - **'अशुभकर्म कै तौ मोक्ष का कारण का वाधकपणां प्रसिद्ध ही है, परंतु शुभकर्म भी वंधरूप ही है, तातैं यह भी कर्मसामान्य मैं प्रतिषेधरूप ही जाननां ॥ छ ॥'**

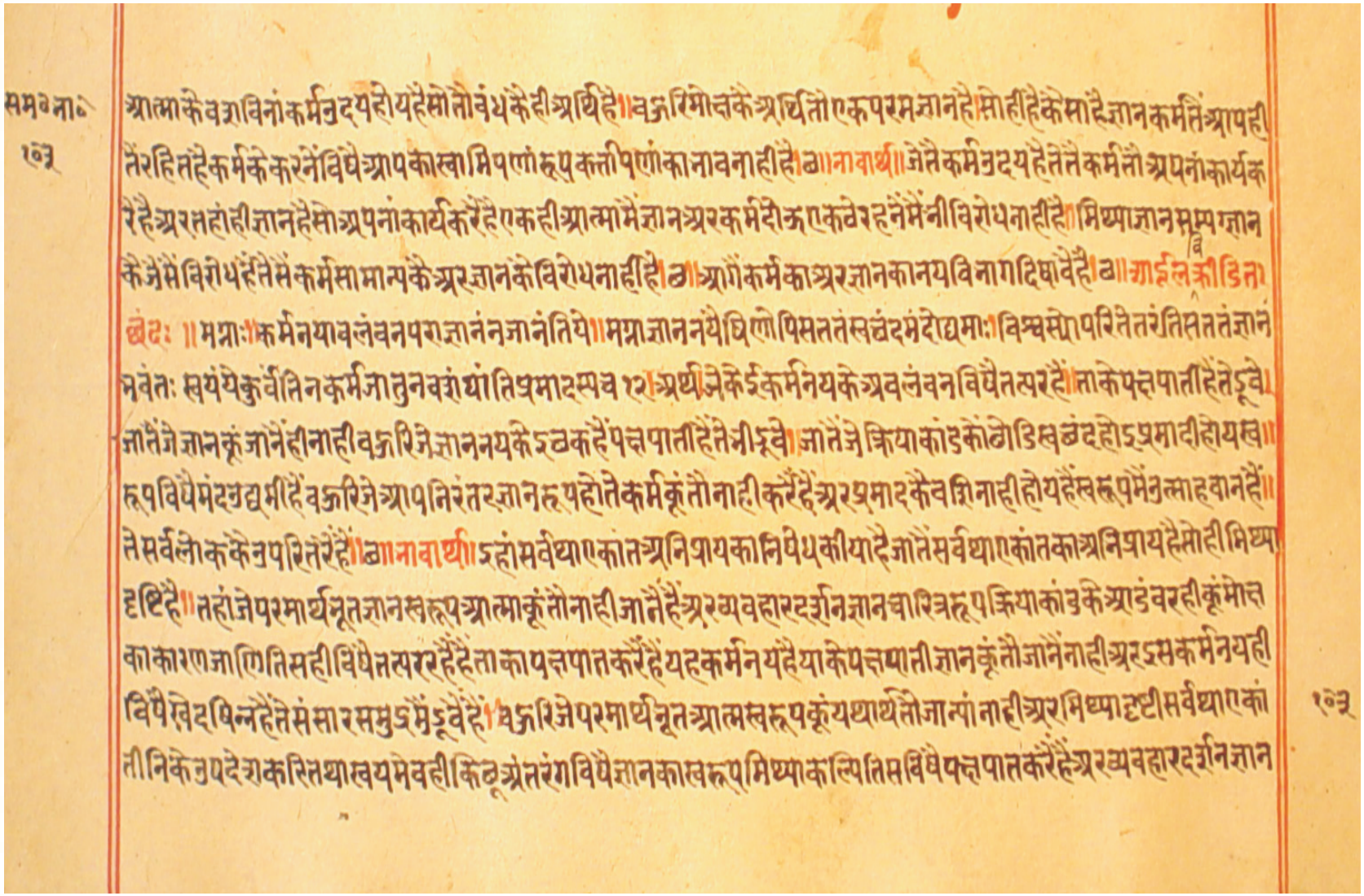

समयसार नाटक

पृष्ठ-परिचय : यह 'ब' प्रति के पत्र क्रमाङ्क १०३ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर ऊपर से छठी पंक्ति में लिखा है – **'जे केई कर्मनय के अवलंवन विषै तत्पर हैं, ताके पक्षपाती हैं, ते डूवे, जातैं ते ज्ञान कूं जानैं ही नाही। वहुरि जे ज्ञाननय के इच्छक हैं,**

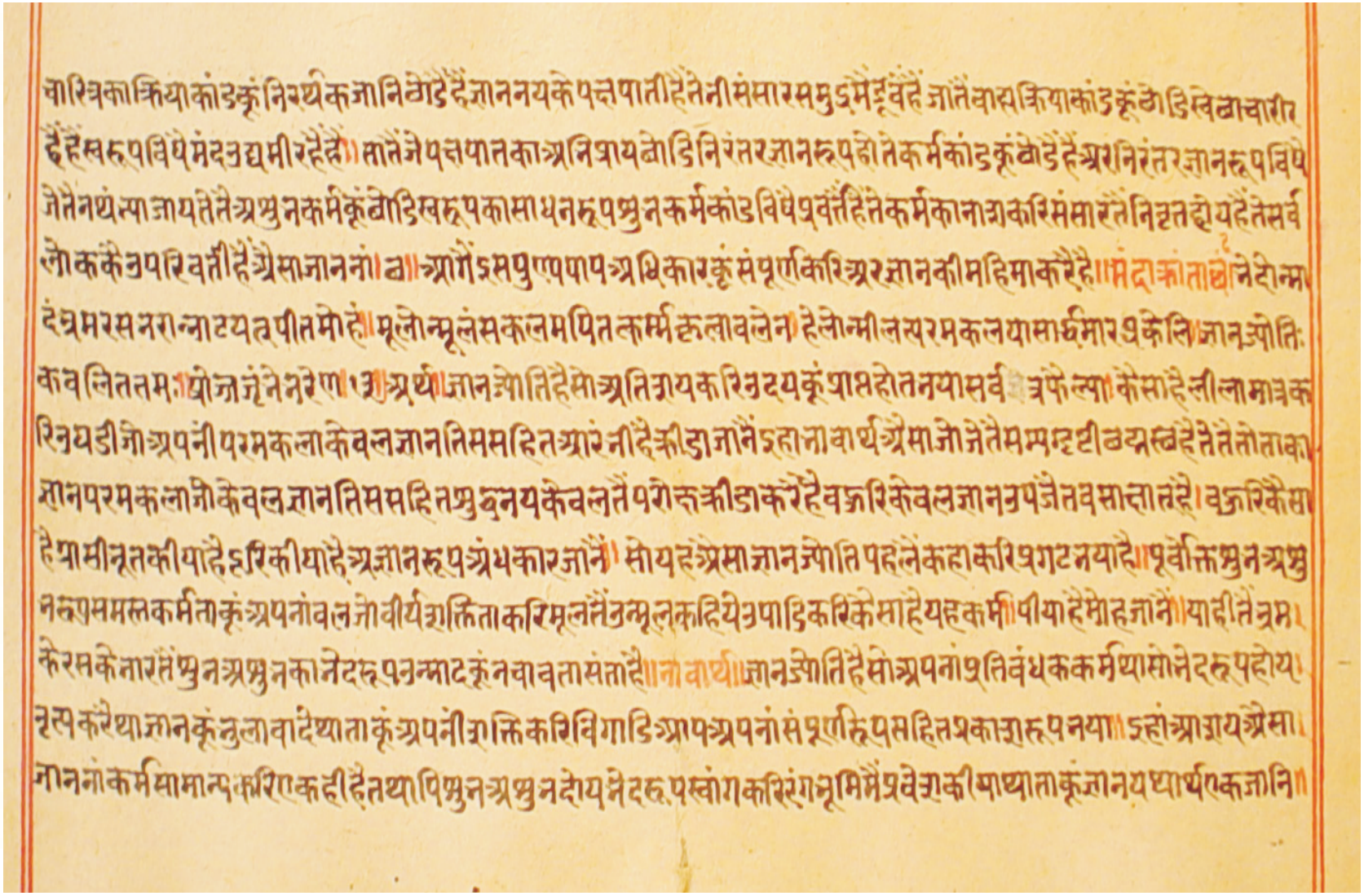

पृष्ठ-परिचय : यह 'ब' प्रति के पत्र क्रमाङ्क १०४ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर ऊपर से दूसरी पंक्ति में लिखा है – **'जे पक्षपात का अभिप्राय छोडि निरंतर ज्ञानरूप होतैं, कर्मकांड कूं छोडैं हैं अर निरंतर ज्ञानस्वरूप विषै जेतै न थंभ्या जाय, तेतै अशुभकर्म कूं छोडि स्वरूप का साधनरूप शुभ कर्मकांड विषै प्रवर्त्तैं हैं, ते कर्म का नाश करि, संसार तैं निवृत्त होय हैं।'**

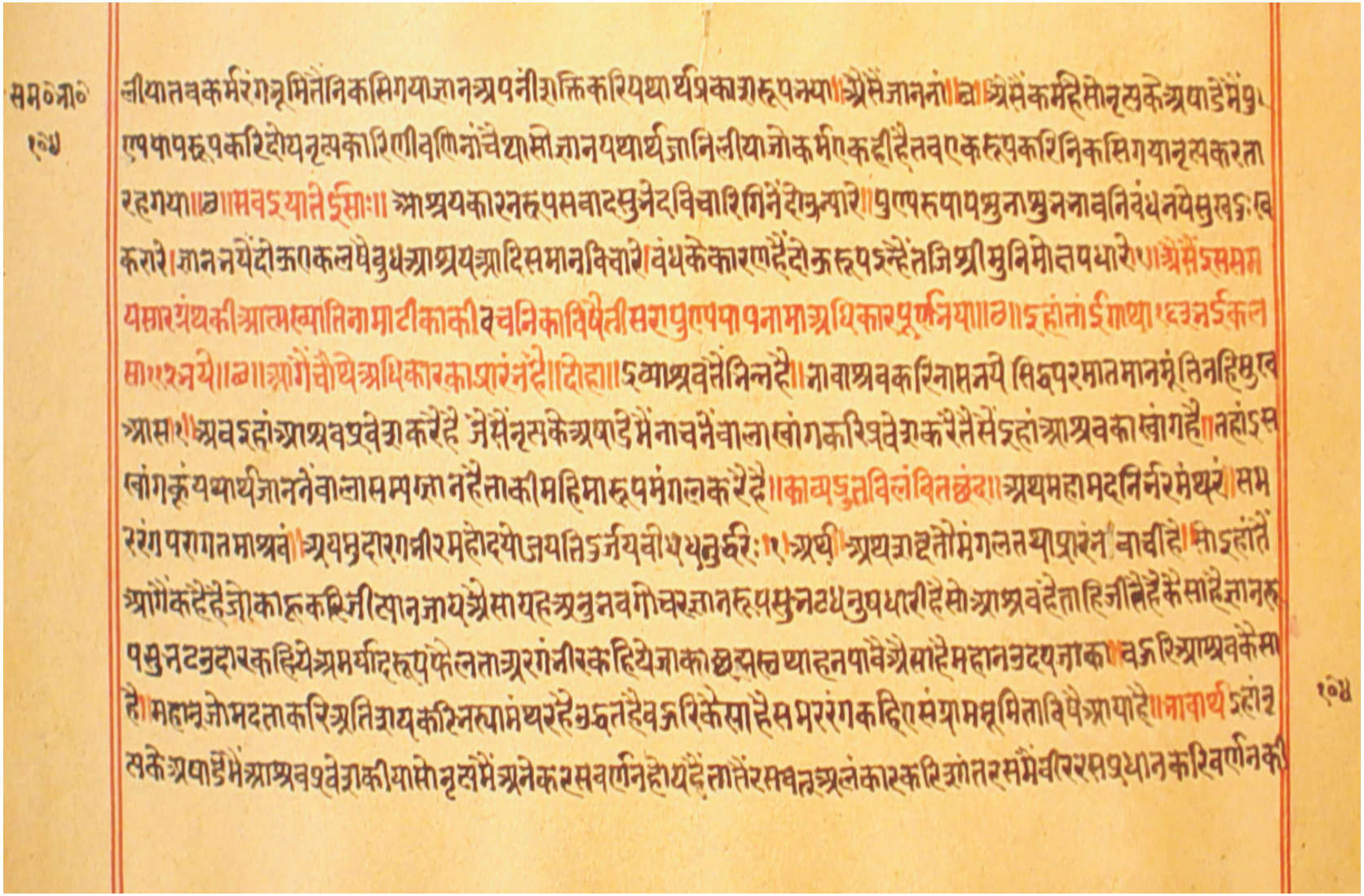

पृष्ठ-परिचय : यह 'ब' प्रति के पत्र क्रमाङ्क १०४ का पिछला भाग है। यहाँ पर ऊपर से पाँचवी पंक्ति में पुण्य-पाप अधिकार पूर्ण होता है। उसके बाद आस्रव अधिकार प्रारम्भ हो गया है। यहाँ वचनिकाकार ने ऊपर से तीसरी पंक्ति में मङ्गलसूचक 'सवैया

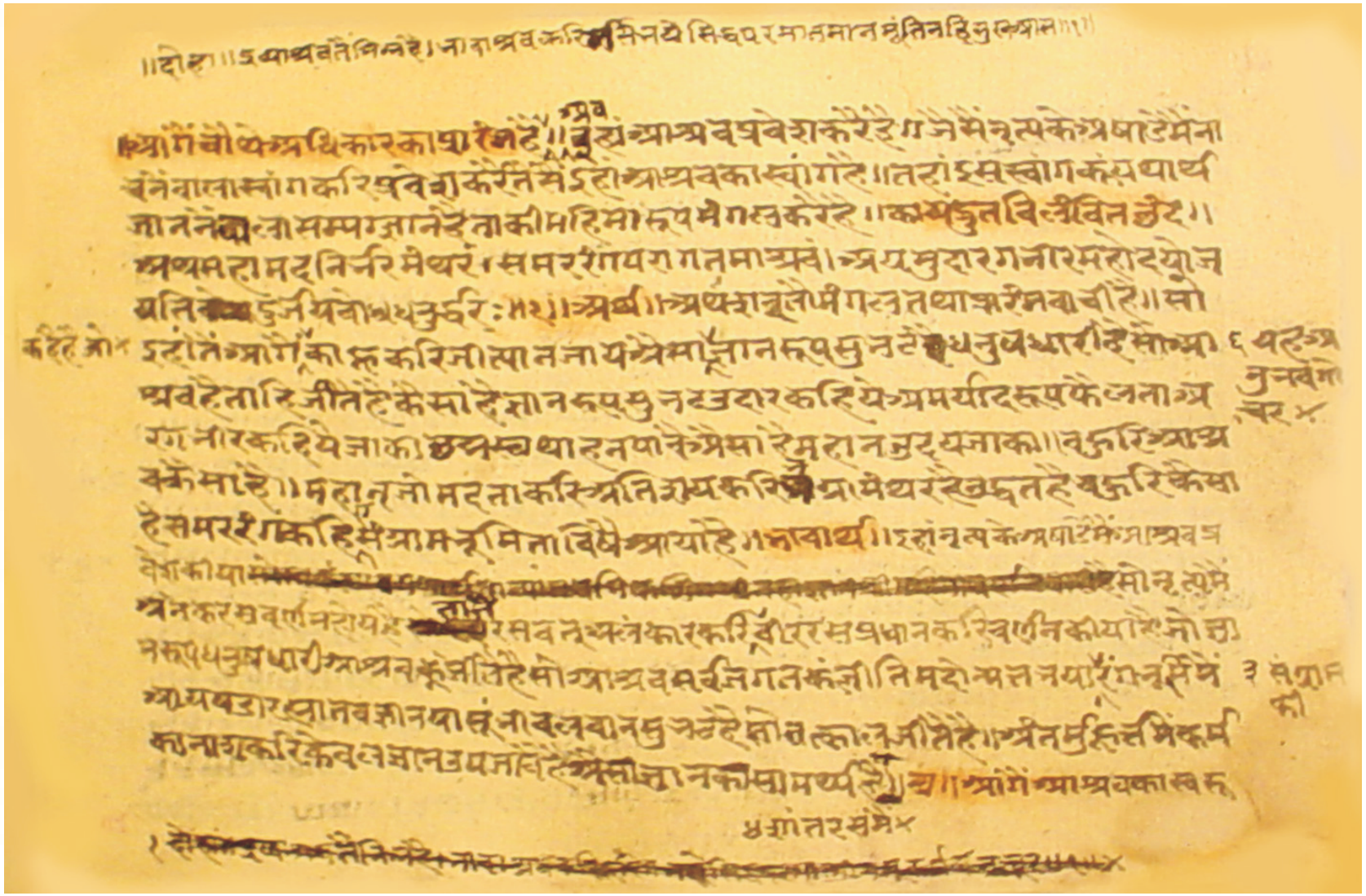

पृष्ठ-परिचय : यह पुन: मूल स्वहस्तलिखित प्रति के पत्र क्रमाङ्क ११० का अगला भाग है। यहाँ से चौथे आस्रव अधिकार का प्रारम्भ होता है। सर्व प्रथम अधिकार का प्रारम्भ मङ्गलसूचक दोहा लिख कर किया गया है – '**आगैं चौथे अधिकार का प्रारंभ है**

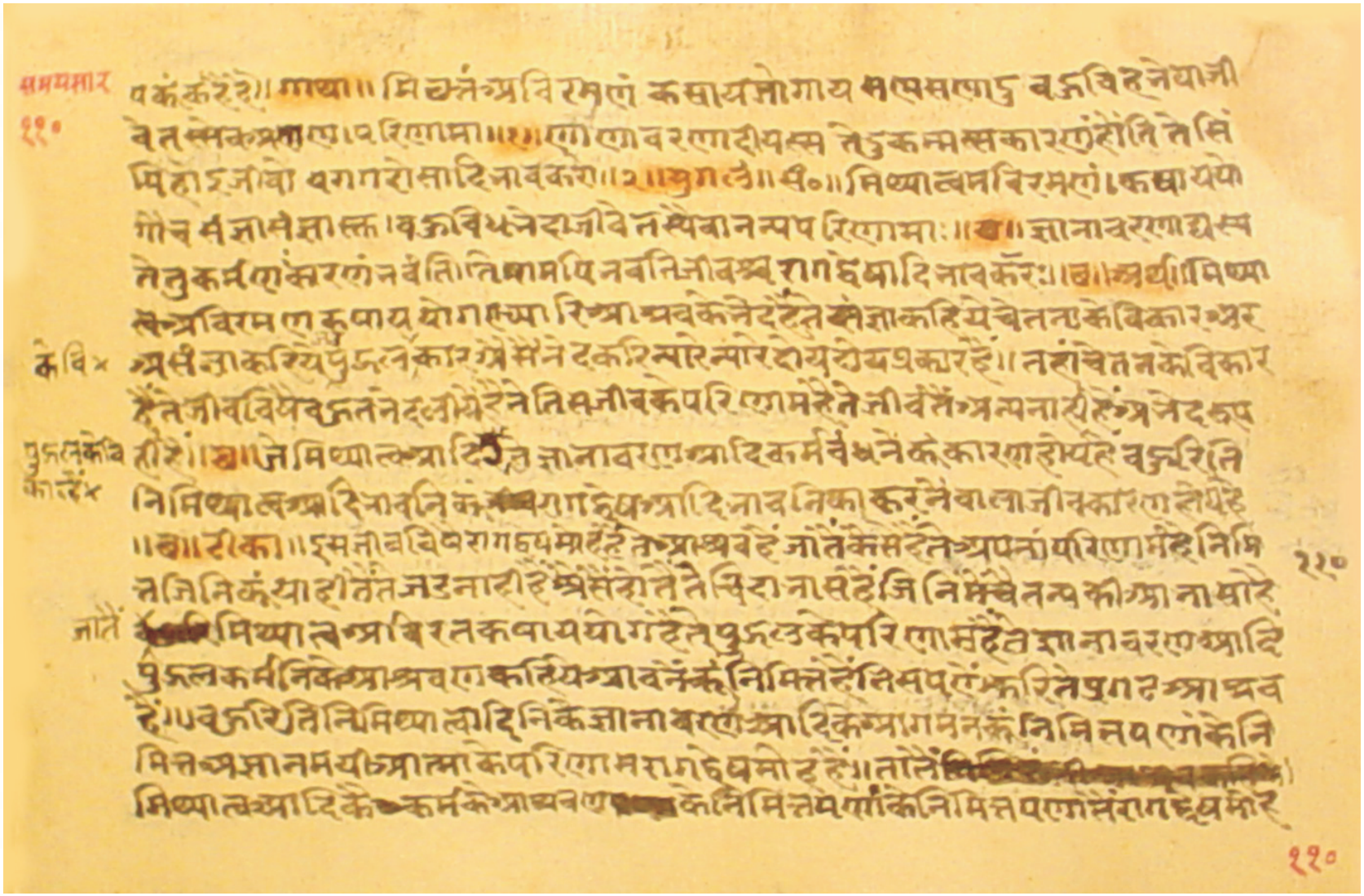

पृष्ठ-परिचय : यह मूल स्वहस्तलिखित प्रति के पत्र क्रमाङ्क ११० का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर आस्रव अधिकार की गाथा १-२ (१६४-१६५) का प्रकरण चल रहा है। इसमें नीचे से सातवीं पंक्ति में लिखा है – **'इस जीव विषै राग द्वेष मोह हैं, ते आश्रव हैं।**

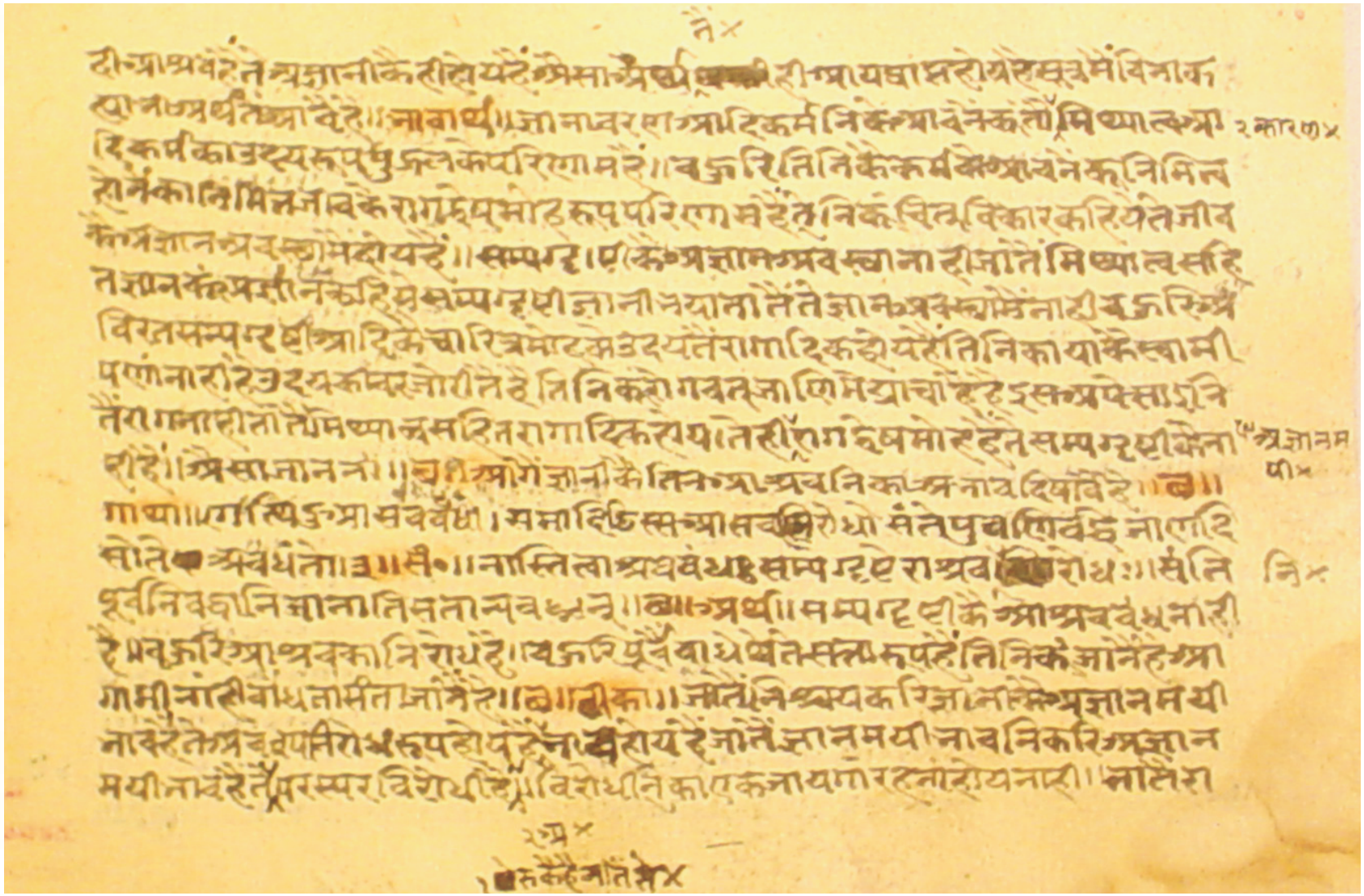

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १११ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर आस्रव अधिकार की गाथा ३ (१६६) का प्रकरण है। इसमें नीचे से पाँचवीं पंक्ति में लिखा है – **'सम्यग्दृष्टी कै आश्रव वंध नाही है॥ वहुरि आश्रव का निरोध है॥ वहुरि पूर्वै वांधे थे, ते सत्तारूप हैं, तिनिकूं जानैं है, आगामी नाही वांधता संता जानैं है॥छ॥'**

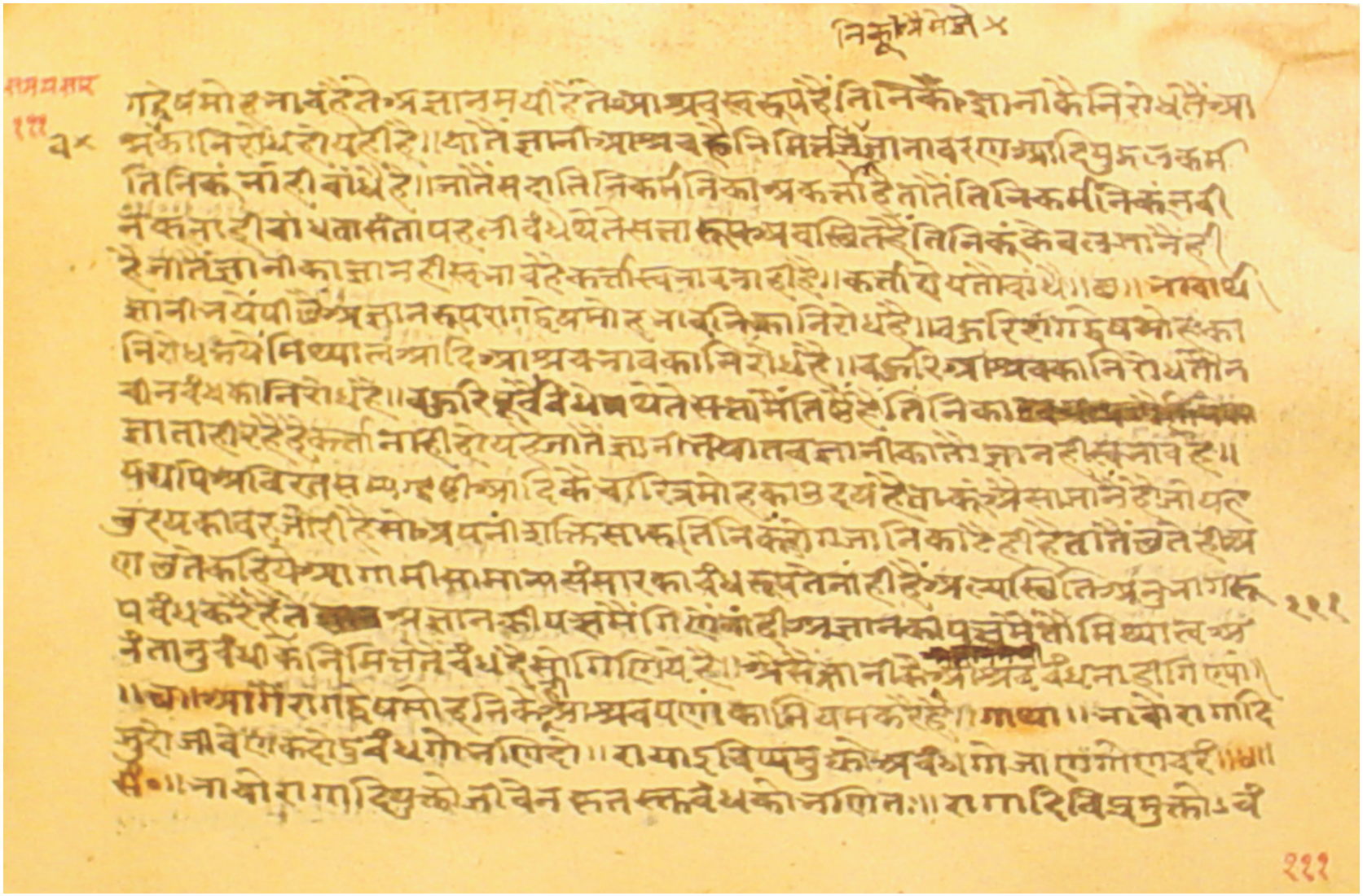

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १११ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर आस्रव अधिकार की गाथा ४ (१६७) का प्रकरण है। इसमें ऊपर से छठी पंक्ति में लिखा है – **'ज्ञानी भयें पीछैं अज्ञानरूप राग द्वेष मोह भावनि का निरोध है॥ वहुरि राग द्वेष मोह का निरोध भयें, मिथ्यात्व आदि आश्रवभाव का निरोध है॥ वहुरि आश्रव का निरोध तैं नवीन वंध का निरोध है॥'**

४

॥ आस्रव अधिकार ॥

आगैं, चौथे अधिकार का प्रारंभ है॥

॥ दोहा ॥

द्रव्याश्रव तैं भिन्न है, भावाश्रव करि नास।
भये सिद्ध परमातमा, नमूं तिनहि सुख आस॥ १॥

अब, इहां आश्रव प्रवेश करै है।

जैसैं नृत्य के अषाडे मैं नाचनेंवाला स्वांग करि प्रवेश करै, तैसैं इहां आश्रव का स्वांग है॥ तहां इस स्वांग कूं यथार्थ जाननेंवाला सम्यग्ज्ञान है, ताकी महिमारूप मंगल करै है॥

॥ द्रुतविलम्बित ॥

अथ महामदनिर्भरमन्थरं, समररङ्गपरागतमास्रवम्।
अयमुदारगभीरमहोदयो, जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः॥ १॥

॥ अर्थ॥ अथ शब्द तौ मंगल तथा प्रारंभवाची है॥ सो इहां तैं आगैं कहै है जो काहू करि जीत्या न जाय, अैसा यह अनुभवगोचर ज्ञानरूप सुभट धनुषधारी है सो आश्रव है, ताहि जीतै है।

अब, चौथा [आस्रव] अधिकार, प्रारम्भ होता है —

॥ दोहा ॥

द्रव्यास्रव से भिन्न हैं, भावास्रव करि नाश।
भये सिद्ध परमातमा, नमूँ तिन्हें सुख आश॥

[अर्थ — जो द्रव्यास्रवों से तो स्वतः ही भिन्न हैं और जिन्होंने भावास्रवों का पुरुषार्थ से नाश कर दिया है – ऐसे सिद्ध परमात्मा को मैं सुख-प्राप्ति की आशा से नमस्कार करता हूँ।]

अब, यहाँ आस्रव प्रवेश करता है।

जैसे, नृत्य के अखाड़े में नाचनेवाला स्वाँग बना कर प्रवेश करता है, वैसे यहाँ आस्रव का स्वाँग [प्रवेश करता] है; इस स्वाँग को यथार्थ जाननेवाला सम्यग्ज्ञान है; अतः उसकी महिमारूप मङ्गल (मङ्गलाचरण) करते हैं —

कैसा है ज्ञानरूप सुभट। उदार कहिये अमर्यादरूप फैलता अर गंभीर कहिये जाका छद्मस्थ थाह न पावै, अैसा है महान् उदय जाका॥

वहुरि आश्रव कैसा है। महान् जो मद ता करि अतिशय करि भर्‌या मंथर है, उद्धत है। वहुरि कैसा है। समररंग कहिये संग्रामभूमि ता विषै आया है।

॥ भावार्थ॥ इहां नृत्य के अषाडे मैं आश्रव प्रवेश कीया सो नृत्य मैं अनेक रस वर्णन होय हैं, तातैं रसवत् अलंकार करि शांतरस मैं वीररस प्रधान करि वर्णन कीया है जो ज्ञानरूप धनुषधारी आश्रव कूं जीतै है सो आश्रव सर्व जगत कूं जीति मदोन्मत्त भया संग्राम की रंगभूमि मैं आय षडा रह्या, तव ज्ञान यासूं भी वलवान् सुभट है सो तत्काल जीतै है॥ अंतर्मुहूर्त मैं कर्म का नाश करि केवलज्ञान उपजावै है। अैसा ज्ञान का सामर्थ्य है।

आगैं आश्रव का स्वरूप कूं कहै है॥

मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे, तस्सेव अणण्णपरिणामा॥ १॥

॥ हरिगीतिका॥

सारे जगत को मथ रहा, उन्मत्त आस्रवभाव यह।
समराङ्गण में समागत, मदमत्त आस्रवभाव यह॥
मर्दन किया रणभूमि में, इस भाव को जिस ज्ञान ने।
वह धीर है गम्भीर है, हम रमें नित उस ज्ञान में॥ ११३॥

अर्थ – 'अथ' शब्द मङ्गल और प्रारम्भ का सूचक है। यहाँ कहते हैं कि 'जो किसी से जीता नहीं जाता' – ऐसा यह अनुभवगोचर ज्ञानरूपी धनुर्धारी सुभट, आस्रव को जीतता है।

कैसा है ज्ञानरूपी सुभट? – उदार अर्थात् असीमित फैलनेवाला, गम्भीर अर्थात् जिसकी थाह या गहराई छद्मस्थ नहीं पा सकते, ऐसा जिसका महान उदय है।

और कैसा है आस्रव? – जो महामद से अतिशय पूर्ण लबालब भरा होने से मन्थर है, उन्मत्त है और जो समररङ्ग अर्थात् संग्रामभूमि में प्रविष्ट हुआ है।

भावार्थ – यहाँ नृत्य के अखाड़े में आस्रव ने प्रवेश किया है। नृत्य में अनेक रसों का वर्णन होता है, इसलिए यहाँ रसवत् अलङ्कार के द्वारा शान्तरस में वीररस को मुख्य करके वर्णन करते हैं कि ज्ञानरूपी धनुर्धारी योद्धा आस्रव को जीतता है। जब यह आस्रव, सर्व जगत् को जीत कर मदोन्मत्त होकर संसाररूपी संग्राम की रङ्गभूमि में आकर खड़ा होता है, तब उससे भी बलवान सुभट ज्ञान, उसे तत्काल जीत लेता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में कर्म का नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करता है – ऐसी ज्ञान की सामर्थ्य है।

अब, आस्रव का स्वरूप कहते हैं —

णाणावरणादीयस्स, ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिं पि होइ जीवो, य रागदोसादिभावकरो॥ २॥

॥ युगलं॥

मिथ्यात्वमविरमणं, कषाययोगौ च संज्ञाऽसंज्ञास्तु।
बहुविधभेदा जीवे, तस्यैवाऽनन्यपरिणामाः॥ छ॥
ज्ञानावरणाद्यस्य, ते तु कर्मणः कारणं भवन्ति।
तेषामपि भवति जीवश्च रागद्वेषादिभावकरः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ मिथ्यात्व अविरमण कषाय योग, ए च्यारि आश्रव के भेद हैं, ते संज्ञा कहिये चेतना के विकार अर असंज्ञा कहिये जडपुद्गल के विकार, अैसें भेद करि न्यारे न्यारे दोय दोय प्रकार हैं॥ तहां चेतन के विकार हैं, ते जीव विषै वहुत भेद लीयें हैं, ते तिस जीव के परिणाम हैं, ते जीव तैं अन्य नाहीं हैं, अभेदरूप ही हैं॥ छ॥

जे मिथ्यात्व आदि पुद्गल के विकार हैं, ते ज्ञानावरण आदि कर्म वंधनें कूं कारण होय हैं। वहुरि तिनि मिथ्यात्व आदि भावनि कूं, रागद्वेष आदि भावनि का करनेंवाला जीव कारण होय है॥ छ॥

॥ टीका॥ इस जीव विषै राग द्वेष मोह हैं, ते आश्रव हैं।

मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेदा जीवे, तस्सेव अणण्णपरिणामा॥ १६४॥
णाणावरणादीयस्स, ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिं पि होदि जीवो, य रागदोसादिभावकरो॥ १६५॥

मिथ्यात्व अविरत अरु कषाएँ, योग संज्ञ-असंज्ञ हैं।
ये विविध भेद जु जीव में, जीव के अनन्य परिणाम हैं॥ १६४॥
अरु वे ही ज्ञानावरण आदिक, कर्म के कारण बनें।
उनका भी कारण जीव बने, जो राग-द्वेषादिक करे॥ १६५॥

अर्थ – मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – ये चार आस्रव के भेद हैं। वे संज्ञ अर्थात् चेतना के विकार और असंज्ञ अर्थात् जड़-पुद्गल के विकार के भेद से अलग-अलग दो-दो प्रकार के हैं। वहाँ [जो मिथ्यात्व आदि] चेतना के विकार हैं, वे जीव में बहुत प्रकार के हैं; वे उसी जीव के परिणाम हैं, वे जीव से अन्य नहीं हैं, अभेदरूप ही हैं॥ १६४॥

जो मिथ्यात्वादि पुद्गल के विकार हैं, वे ज्ञानावरणादि कर्म के बँधने में कारण होते हैं तथा उन मिथ्यात्वादि भावों का कारण, राग-द्वेष आदि भावों को करनेवाला जीव होता है॥ १६५॥

जातैं कैसे हैं ते। अपनां परिणाम है निमित्त जिनिकूं, याही तैं ते जड नाही है। अैसें होतैं ते चिदाभास हैं, जिनिमैं चैतन्य की आभासा है।

जातैं मिथ्यात्व अविरत कषाय योग हैं, ते पुद्गल के परिणाम हैं, ते ज्ञानावरण आदि पुद्गलकर्मनि के आश्रवण कहिये आवनें कूं निमित्त हैं, तिसपणें करि ते प्रगट आश्रव हैं। वहुरि तिनि मिथ्यात्वादिनि कै ज्ञानावरणादि के आगमन कूं निमित्तपणां के निमित्त अज्ञानमयी आत्मा के परिणाम राग द्वेष मोह हैं, तातैं मिथ्यात्व आदि कै कर्म के आश्रवण के निमित्तपणां के निमित्तपणां तैं राग द्वेष मोह ही आश्रव हैं, ते अज्ञानी कै ही होय हैं, अैसा अर्थ तैं ही आय प्राप्त होय है, सूत्र में विना कह्या भी अर्थ तैं आवै है॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञानावरण आदि कर्मनि के आवनें कूं तौ कारण मिथ्यात्व आदि कर्म का उदयरूप पुद्गल के परिणाम हैं॥ वहुरि तिनिकै कर्म के आवनें कूं निमित्त होनें का निमित्त जीव के राग द्वेष मोहरूप परिणाम हैं, तिनिकूं चित्विकार कहिये, ते जीव कै अज्ञान अवस्था मैं होय हैं॥ सम्यग्दृष्टी कै अज्ञान अवस्था नाही, जातैं मिथ्यात्वसहित ज्ञान कूं अज्ञान कहिये। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी भया, तातैं ते ज्ञान अवस्था मैं नाही। वहुरि अविरत सम्यग्दृष्टी आदि कै चारित्रमोह के उदय तैं रागादिक होय हैं, तिनिका याकै स्वामीपणां नाही है, उदय की वरजोरी तैं हैं, तिनिकूं रोगवत् जाणि मेट्या चाहै है, इस अपेक्षा इनितैं राग नाही, तातैं मिथ्यात्वसहित रागादिक होय, ते ही अज्ञानमयी राग द्वेष मोह हैं, ते सम्यग्दृष्टी कै नाही हैं, अैसा जाननां॥ छ॥

टीका – इस जीव में राग-द्वेष-मोह हैं, वे आस्रव हैं।

कैसे हैं वे? – जिनमें अपना परिणाम निमित्त (कारण) होता है, इसी कारण वे जड़ नहीं हैं और ऐसा होने से वे **चिदाभास** हैं अर्थात् उनमें चैतन्य का आभास होता है।

चूँकि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग; ये पुद्गल के परिणाम, ज्ञानावरण आदि पुद्गल कर्मों के आस्रवण अर्थात् आने में निमित्त हैं; इसलिए वे प्रगट आस्रव हैं तथा ज्ञानावरणादि कर्मों के आगमन में निमित्तभूत मिथ्यात्व आदि के निमित्त, आत्मा के अज्ञानमयी राग-द्वेष-मोह के परिणाम हैं; अत: मिथ्यात्व आदि में ज्ञानावरण आदि कर्मों के आस्रवण का निमित्तपना है और राग-द्वेष-मोह में मिथ्यात्व आदि का निमित्तपना है; अत: राग-द्वेष-मोह ही आस्रव हैं और वे अज्ञानी के ही होते हैं - ऐसा [निष्कर्ष, गाथा के] अर्थ से ही प्राप्त होता है। यद्यपि मूल गाथासूत्र में [उपरोक्त निष्कर्ष] स्पष्टत: कहा नहीं गया है, तथापि अर्थ से [ऐसा निष्कर्ष] प्राप्त होता है।

भावार्थ – ज्ञानावरण आदि कर्मों के आने का कारण तो मिथ्यात्व आदि कर्म के उदयरूप पुद्गल का परिणाम है और उन कर्मों के आने में निमित्त होने के निमित्त जीव के राग-द्वेष-मोहरूप परिणाम हैं, उन्हें **चिद्-विकार** कहते हैं; वे जीव की अज्ञान अवस्था में होते हैं। सम्यग्दृष्टि को अज्ञान अवस्था नहीं है क्योंकि मिथ्यात्वसहित ज्ञान को अज्ञान कहते हैं। सम्यग्दृष्टि तो ज्ञानी हो गया है; अत: वे चिद्-विकार ज्ञान अवस्था में नहीं है। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि को चारित्रमोह के उदय से जो रागादि होते हैं, तथापि उनका स्वामित्व उन्हें नहीं है। उदय की प्रबलता से होते हैं, लेकिन उन्हें रोगवत् जान कर मिटाना चाहते हैं, इस अपेक्षा इन्हें राग नहीं है; अत: मिथ्यात्वसहित

आगैं ज्ञानी कै तिनि आश्रवनि का अभाव दिषावै है॥ छ॥

णत्थि दु आसवबंधो, सम्माइट्ठिस्स आसवणिरोधो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो॥ ३॥

नास्ति त्वास्रवबन्धः, सम्यग्दृष्टेरास्रवनिरोधः।
सन्ति पूर्वनिबद्धानि, जानाति स तान्यबध्नन्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ सम्यग्दृष्टी कै आश्रव वंध नाही है॥ वहुरि आश्रव का निरोध है॥ वहुरि पूर्वै वांधे थे, ते सत्तारूप हैं, तिनिकूं जानैं है, आगामी नाही वांधता संता जानैं है॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं निश्चय करि ज्ञानी कै अज्ञानमयी भाव हैं, ते अवश्य निरोधरूप होय हैं, अभाव होय हैं, जातैं ज्ञानमयी भावनि करि अज्ञानमयी भाव हैं, ते रुकैं हैं, जातैं ते परस्पर विरोधी हैं॥ विरोधीनि का एक जायगां रहनां होय नाही॥ तातैं राग द्वेष मोह भाव हैं, ते अज्ञानमयी हैं, ते आश्रवस्वरूप हैं, तिनिका ज्ञानी कै निरोध तैं आश्रव का निरोध होय ही है॥ यातैं ज्ञानी आश्रव है निमित्त जिनिकूं, अैसे जे ज्ञानावरण आदि पुद्गलकर्म, तिनिकूं नाही वांधै है॥ जातैं सदा तिनि कर्मनि का अकर्त्ता है, तातैं तिनि कर्मनि कूं नवीन कूं नाही वांधता संता पहली वंधे थे, ते सत्तारूप अवस्थित हैं, तिनिकूं केवल जानैं ही है, जातैं ज्ञानी का ज्ञान ही स्वभाव है, कर्त्तास्वभाव नाही है॥ कर्त्ता होय तौ वांधै॥ छ॥

होनेवाले रागादि ही अज्ञानमयी राग-द्वेष-मोह हैं और वे सम्यग्दृष्टि को नहीं हैं – ऐसा जानना।

अब, ज्ञानियों को उन आस्रवों का अभाव दिखाते हैं —

णत्थि दु आसवबंधो, सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे, जाणदि सो ते अबंधंतो॥ १६६॥

सद्दृष्टि को आस्रव नहीं, नहिं बन्ध, आस्रवरोध है।
नहिं बाँधता, जाने ही पूर्वनिबद्ध जो सत्ताविषैं॥ १६६॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टि को आस्रव-बन्ध नहीं है, आस्रव का निरोध है। वह पूर्व में बाँधे हुए कर्मों को सत्तारूप जानता है परन्तु नवीन कर्मों को नहीं बाँधता हुआ जानता है॥ १६६॥

टीका – निश्चय से ज्ञानी को अज्ञानमयी भाव का अवश्य निरोध होता है, अभाव होता है। ज्ञानमयी भावों से अज्ञानमयी भाव रुकते हैं क्योंकि वे परस्पर विरोधी हैं और परस्पर विरोधियों का एक जगह रहना सम्भव नहीं है; अतः राग-द्वेष-मोहभाव अज्ञानमयी हैं, आस्रवस्वरूप हैं; उनका ज्ञानी के द्वारा निरोध होने से आस्रव का निरोध होता ही है; इसलिए ज्ञानी, आस्रव-निमित्तक ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मों को नहीं बाँधता है क्योंकि वह सदा उन कर्मों का अकर्ता है, इसलिए उन नवीन कर्मों को नहीं बाँधता हुआ, जो पहले से बँधे हुए सत्तारूप से अवस्थित कर्म हैं, उनको केवल जानता ही है क्योंकि ज्ञानी का ज्ञान ही स्वभाव है, कर्तास्वभाव नहीं है; जो कर्ता है, वही बाँधता है।

॥ भावार्थ ॥ ज्ञानी भयें पीछैं अज्ञानरूप राग द्वेष मोह भावनि का निरोध है॥ वहुरि राग द्वेष मोह का निरोध भयें, मिथ्यात्व आदि आश्रवभाव का निरोध है॥ वहुरि आश्रव का निरोध तैं नवीन वंध का निरोध है॥ वहुरि पूर्वैं वंधे थे, ते सत्ता मैं तिष्टैं हैं, तिनिका ज्ञाता ही रहै है, कर्त्ता नाही होय है, जातैं ज्ञानी भया, तव ज्ञानी का तौ ज्ञान ही स्वभाव है॥

यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टी आदि कै चारित्रमोह का उदय है, ताकूं अैसा जानैं है जो यह उदय की वरजोरी है सो अपनीं शक्ति सारू तिनिकूं रोग जानि काटै ही है, तातैं छते ही अणछते कहिये आगामी सामान्य संसार का वंधरूप ते नाही, अल्प स्थिति अनुभागरूप वंध करै हैं, ते अज्ञान की पक्ष में गिणें नाही, अज्ञान की पक्ष मैं तौ मिथ्यात्व अनंतानुवंधी के निमित्त तै वंधै है सो गिणिये है॥ अैसैं ज्ञानी कै आश्रव वंध नाही गिण्यां॥ छ॥

आगैं राग द्वेष मोहनि कै ही आश्रवपणां का नियम करै है॥ छ॥

भावो रागादिजुदो, जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रायाइविप्पमुक्को, अबंधगो जाणगो णवरं॥ ४॥

भावो रागादियुक्तो[१], जीवेन कृतस्तु बन्धको भणितः।
रागादिविप्रमुक्तोऽबन्धको ज्ञायकः केवलं[२]॥ छ॥

भावार्थ – ज्ञानी होने पर अज्ञानमय राग-द्वेष-मोहभावों का निरोध होता है, राग-द्वेष-मोहभावों का निरोध होने पर मिथ्यात्व आदि आस्रवभावों का निरोध होता है, आस्रव का निरोध होने से नवीन बन्ध का निरोध होता है तथा पूर्व में जो कर्म बँधे थे, वे सत्ता में स्थित हैं; उनका भी वह ज्ञाता ही रहता है, कर्ता नहीं होता क्योंकि ज्ञानी होने पर ज्ञानी का तो ज्ञान ही स्वभाव है।

यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि को चारित्रमोह के उदय से रागादि होते हैं तथापि वे ऐसा जानते हैं कि यह उदय की बलजबरी है; उसे वे रोग जान कर अपनी शक्ति के अनुसार नष्ट करते ही हैं, इसलिए उन्हें रागादि होने पर भी, नहीं होने के समान कहा है; उनसे आगामी सामान्य संसार का बन्ध नहीं होता है, मात्र अल्प स्थिति-अनुभागरूप बन्ध होता है; उन्हें अज्ञान के पक्ष में नहीं गिना है। अज्ञान के पक्ष में तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के निमित्त से होनेवाले बन्ध को ही गिना जाता है। इस प्रकार ज्ञानी को आस्रव-बन्ध नहीं कहा है।

अब, राग-द्वेष-मोह को ही आस्रवपने का नियम करते हैं —

भावो रागादिजुदो, जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रागादिविप्पमुक्को, अबंधगो जाणगो णवरि॥ १६७॥

रागादियुत जो भाव जीवकृत, उसी को बन्धक कहा।
रागादि से प्रविमुक्त ज्ञायकमात्र, बन्धक नहिं रहा॥ १६७॥

१-२. युतः/नवरि - अगास प्रकाशन पाठ

॥ अर्थ ॥ जो रागादि करि युक्त भाव जीव करि कीया होय सो नवीन कर्म का वंध करनेंवाला कह्या है॥ वहुरि जो भाव रागादिक भावनि करि रहित है सो वंध करनेंवाला नाही है, केवल जाननेंवाला ही है॥ छ॥

॥ टीका॥ इस आत्मा विषै निश्चय करि जो राग द्वेष मोह का मिलाप तैं उपज्या भाव होय सो अज्ञानमयी ही है॥ सो जैसैं चुंवकपाषाण के संपर्क तैं उपज्या भाव लोह की सूई कूं प्रेरै है, चलावै है, तैसैं आत्मा कूं कर्म के करनें कूं प्रेरै है॥

वहुरि तिनि रागादिक के भेदज्ञान तैं उपज्या भाव है सो ज्ञानमयी है। सो जैसैं चुंवकपाषाण का संसर्ग विनां सूई का स्वभाव है सो चलनेंरूप नाही है, तैसैं आत्मा कूं कर्म के करनें विषै उत्साहरूप नाही, अैसैं स्वभाव करि स्थापै है॥

तातैं रागादिक तैं मिल्या अज्ञानमयी भाव है सो ही कर्म का कर्तापणां विषै प्रेरक है, तातैं नवीन वंध का करनेंवाला है। वहुरि रागादिक तैं नाही मिल्या भाव है सो अपनें स्वभाव का प्रगट करनेंवाला है सो केवल जाननेंवाला ही है सो नवीन कर्म का किंचित्मात्र भी वंध करनेंवाला नाही है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ रागादिक के मिलाप तैं भया अज्ञानमयी भाव है सो ही वंध करनेंवाला है। वहुरि रागादिक तैं नाही मिल्या, अैसा ज्ञानमयी भाव है सो वंध का करनेंवाला नाही है, यह नियम है।

आगैं रागादिक तैं मिल्या नाही, अैसा ज्ञानमयी भाव का संभवनां दिषावै है॥

पक्वे फलम्हि पडिए, जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे, पडिए ण पुणोदयमुवेइ॥ ५॥

अर्थ – जीव के द्वारा किया गया रागादि से सहित भाव, नवीन कर्मबन्ध को करनेवाला कहा है और रागादि से रहित भाव, बन्ध को करनेवाला नहीं है, केवल जाननेवाला ही है।

टीका – इस आत्मा में निश्चय से राग-द्वेष-मोह के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाला भाव, अज्ञानमयी ही है। जैसे, चुम्बक-पाषाण के सम्पर्क से उत्पन्न होनेवाला भाव, लोहे की सुई को प्रेरित करता है, चलाता है; उसी प्रकार अज्ञानमयी भाव, आत्मा को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है।

तथा उन रागादि के भेदज्ञान से उत्पन्न होनेवाला भाव, ज्ञानमयी है। जिस प्रकार चुम्बक-पाषाण के संसर्ग बिना सुई में विचलित होने का स्वभाव नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानमयी भाव आत्मा को कर्म करने के प्रति अनुत्सुक करता हुआ अपने स्वभाव में स्थापित करता है।

इस प्रकार रागादि से मिला हुआ अज्ञानमय भाव, कर्म के कर्तृत्व में प्रेरक है, नवीन बन्ध को करनेवाला है और रागादि के मिलापरहित भाव, अपने स्वभाव को प्रगट करनेवाला है, मात्र जाननेवाला ही है, नवीन कर्म का किञ्चित्मात्र भी बन्ध करनेवाला नहीं है।

भावार्थ – रागादि के मिलाप से उत्पन्न होनेवाला अज्ञानमय भाव ही बन्ध करनेवाला है और रागादि के मिलापरहित ज्ञानमय भाव, बन्ध करनेवाला नहीं है – यह नियम है।

अब, रागादि से असङ्कीर्ण ज्ञानमयी भावों का उत्पन्न होना दिखाते हैं —

पक्वे फले पतिते, यथा न फलं वध्यते पुनर्वृन्ते।
जीवस्य कर्मभावे, पतिते न पुनरुदयमुपैति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं, वृक्ष तथा वेलि कै फल पक्वि करि पडै, वींट सूं क्षरि जाय सो वह फल फेरि वींट सूं वंधै नाही॥ तैसैं जीव विषै पुद्गलकर्म भावरूप था सो पचि करि झडि गया, निर्जरा होय गई सो कर्म फेरि उदय नाही आवै है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं निश्चय करि यह प्रगट है जो वींट सूं पाका फल एक वार क्षरि पड्या सो वह फल फेरि वींट सूं संवंधरूप नाही होय है॥ तैसैं कर्म का उदय सूं निपज्या जो जीव कै भाव सो एक वार जीवभाव सूं भिन्न भया संता, फेरि जीवभाव कूं नाही प्राप्त होय है॥ अैसैं ज्ञानमयी भाव रागादि करि असंकीर्ण संभवै है॥

॥ भावार्थ॥ कर्म की निर्जरा भयें पीछै वह कर्म फेरि उदय नाही आवै, तव ज्ञानमयी ही भाव रह्या। अैसैं जव जीव कै मिथ्यात्वकर्म अनंतानुवंधी सहित सत्त्व मैं सूं क्षय होय जाय, तव फेरि उदय आवै नाही, तव ज्ञानी भया संता फेरि कर्म का कर्त्ता नाही। तव मिथ्यात्व की लार लगी प्रकृति तौ वंधै नाही अर अन्य प्रकृति सामान्य संसार का कारण नाही। मूल तैं कटे वृक्ष के हरे पानवत् हैं, ते शीघ्र सूकनें योग्य हैं, अैसैं ज्ञानी कै रागादिक तैं नाही मिल्या, अैसा ज्ञानमयी भाव संभवै है॥ चारित्रमोह

पक्के फलम्हि[1] पडिदे, जह ण फलं बज्झदे पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे, पडिदे ण पुणोदयमुवेदि[2]॥ १६८॥

फल पक्व खिरता, वृन्त सह सम्बन्ध फिर पाता नहीं।
त्यों कर्मभाव खिरा, पुनः जीव में उदय पाता नहीं॥ १६८॥

अर्थ – जैसे, वृक्ष और बेलों के फल पक कर डण्ठल से गिर जाने पर, पुनः वे फल डण्ठलों से नहीं जुड़ते; उसी प्रकार जीव में पुद्गलकर्म भावरूप (विद्यमान) था, वह पक कर झड़ गया, उसकी [सविपाक] निर्जरा हो गई तो वह कर्म फिर से उदय में नहीं आता है॥ १६८॥

टीका – जिस प्रकार वास्तव में यह स्पष्ट है कि जो पका फल, डण्ठल से एक बार गिर गया, वह फल पुनः डण्ठल से सम्बद्ध नहीं होता है; उसी प्रकार कर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाला जीव का भाव, एक बार जीवभाव से भिन्न होने पर पुनः जीवभाव को प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार रागादि से असङ्कीर्ण ज्ञानमयी भाव सम्भव है।

भावार्थ – कर्म की निर्जरा हो जाने के बाद वह कर्म फिर उदय में नहीं आता है, तब ज्ञानमयी भाव ही रहता है। इस प्रकार जब जीव का मिथ्यात्वकर्म, अनन्तानुबन्धी के साथ सत्ता में से क्षय हो जाता है, तब वह फिर से उदय में नहीं आता है। उस समय जीव, ज्ञानी होता हुआ कर्म का कर्ता नहीं होता, तब मिथ्यात्व से सम्बन्धित प्रकृतियाँ तो बँधती ही नहीं हैं, अन्य प्रकृतियाँ भी

१-२. *फलम्मि/पुणोदयमुवेहि* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

का उदय का राग अज्ञान मैं न गिणिये है, जातैं सम्यग्दृष्टी कै ताका स्वामिपणां नाही है॥ छ॥

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ शालिनी॥

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो, जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्त्रवौघान्, एषोऽभावः सर्वभावास्त्रवाणाम्॥ २॥

॥ अर्थ॥ जो जीव कै राग द्वेष मोह विना भाव होय है सो भाव ज्ञान ही करि रच्या हूवा है सो यह भाव है सो सर्व द्रव्याश्रवनि कूं रोकता संता है, तातैं सर्व ही भावाश्रवनि का अभाव कहिये॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ पूर्वोक्त ही जाननां॥ इहां सर्व भावाश्रवनि का अभाव कह्या सो संसार का कारण मिथ्यात्व ही है, तिस संबंधी रागादिक का अभाव भया सो सर्व ही भावाश्रव का अभाव भया॥ छ॥

आगैं, ज्ञानी कै द्रव्याश्रव का अभाव दिषावै है॥ छ॥

पुढवीपिंडसमाणा, पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते, बद्धा सव्वे वि णाणिस्स॥ ६॥

सामान्य संसार की कारण नहीं होती हैं; वे मूल से कटे हुए वृक्ष के हरे पत्तों के समान हैं, शीघ्र सूखने योग्य हैं। इस प्रकार ज्ञानी को रागादि से नहीं मिला हुआ ज्ञानमयी भाव उत्पन्न होता है। चारित्रमोह के उदय में होनेवाला राग, अज्ञान में नहीं गिना जाता क्योंकि सम्यग्दृष्टि को उसका स्वामीपना नहीं है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

इन द्रव्यकर्मों के पहाड़ों, के निरोधक भाव जो।
हैं राग-द्वेष-विमोह बिन, सद्ज्ञान निर्मित भाव जो॥
भावास्त्रवों से रहित वे, इस जीव के निजभाव हैं।
वे ज्ञानमय शुद्धात्ममय, निज आत्मा के भाव हैं॥ ११४॥

अर्थ – राग-द्वेष-मोह के बिना जीव में होनेवाला भाव, ज्ञान से ही रचित है; यह भाव, सर्व द्रव्यास्त्रवों को रोकनेवाला है; अतः यह सभी भावास्त्रवों के अभावस्वरूप कहा है।

भावार्थ – इस कलश का भावार्थ पूर्व कथित गाथा के अनुसार ही समझना चाहिए। यहाँ सर्व भावास्त्रवों का अभाव कहा है क्योंकि संसार का कारण मिथ्यात्व ही है; अतः मिथ्यात्व-सम्बन्धी रागादि का अभाव हुआ तो सभी भावास्त्रवों का अभाव हुआ – ऐसा कहा है।

अब, ज्ञानी को द्रव्यास्त्रव का अभाव दिखाते हैं —

पुढवीपिंडसमाणा, पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते, बद्धा सव्वे वि णाणिस्स॥ १६९॥

पृथिवीपिण्डसमानाः, पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य।
कर्मशरीरेण तु ते, बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ तिस पूर्वोक्त ज्ञानी कै पहलैं अज्ञान अवस्था मैं कर्म वंधै हैं, ते प्रत्यय संज्ञा करि कहिये हैं, ते कार्मण शरीर करि सहित वंधे हैं, ते जीव कै रागादिभाव भयें विनां पृथिवी के पिंड समान हैं। जैसैं मृत्तिका आदि अन्य पुद्गलस्कंध हैं, तैसैं ते भी हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ जे प्रगटपणैं पहलैं अज्ञान करि वांधे जे मिथ्यात्व अविरति कषाय योगरूप द्रव्याश्रवभूत प्रत्यय, ते ज्ञानी कै अन्य द्रव्यभूत अचेतन पुद्गलद्रव्य के परिणामपणां तैं पृथिवी के पिंड समान हैं, ते सर्व ही अपनें पुद्गलस्वभाव तैं ही कार्मणशरीर ही करि एक होय वंधे हैं, वहुरि जीव करि नाही वंधे हैं॥ यातैं ज्ञानी कै द्रव्याश्रव का अभाव स्वभाव की करि सिद्ध है।

॥ भावार्थ॥ आत्मा ज्ञानी भया, तव तैं ज्ञानी कै भावाश्रव का तो अभाव भया ही अर द्रव्याश्रव है सो मिथ्यात्व आदि पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं, ते कार्मणशरीर तैं स्वयमेव वंधि रहे हैं, ते अन्य मृत्तिका का पिंड है, तैसैं ते भी हैं, भावाश्रव विनां किछू आगामी कर्मवंध कूं कारण नाही अर पुद्गलमयी हैं, तातैं अमूर्त्तीक चैतन्यस्वरूप जीव तैं स्वयमेव ही भिन्न हैं, अैसा ज्ञानी जानैं हैं॥ छ॥

अव, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ उपजाति॥

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो, द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो, निरास्रवो ज्ञायक एक एव॥ ३॥

जो सर्व पूर्व निबद्ध प्रत्यय, वर्तते हैं ज्ञानि के।
वे पृथ्वी-पिण्ड समान हैं, कार्मणशरीर निबद्ध हैं॥ १६९॥

अर्थ – उस ज्ञानी ने पहले अज्ञान अवस्था में जो कर्म बाँधे हैं, उनकी 'प्रत्यय' संज्ञा है। वे कार्मणशरीर के साथ बँधे हैं और जीव के रागादिभाव हुए बिना पृथ्वी के पिण्ड के समान [निष्क्रिय] हैं। जैसे, मिट्टी आदि अन्य पुद्गलस्कन्ध [भिन्न] हैं, वैसे ही ये भी [भिन्न] हैं॥ १६९॥

टीका – जो प्रगटरूप से पहले अज्ञानदशा में बाँधे गए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं, वे ज्ञानी के लिए अन्य द्रव्यभूत अचेतन पुद्गल के परिणाम होने से पृथ्वी के पिण्ड के समान हैं, वे सभी पुद्गलस्वभाव होने से कार्मणशरीर ही से एक होकर बँधे हैं और जीव के साथ नहीं बँधे हैं। इस प्रकार ज्ञानी को स्वभाव से ही द्रव्यास्रव का अभाव सिद्ध है।

भावार्थ – आत्मा ज्ञानी हुआ तो उसे भावास्रवों का तो अभाव हुआ ही है, द्रव्यास्रव भी मिथ्यात्व आदि पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं, वे कार्मणशरीर के साथ स्वयमेव बँधे हुए हैं, वे अन्य मिट्टी के पिण्डों के समान ही हैं क्योंकि वे भावास्रव के बिना किञ्चित् भी आगामी कर्मबन्ध के कारण नहीं हैं और पुद्गलमयी होने से अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप जीव से स्वतः ही भिन्न हैं – ऐसा ज्ञानी जानते हैं।

॥ अर्थ ॥ यह ज्ञानी है सो भावाश्रव के अभाव कूं तौ प्राप्त भया है ॥ बहुरि द्रव्याश्रवनि तैं स्वयमेव ही भिन्न है ॥ जातैं ज्ञानी है सो सदा ज्ञानमयी ही है, केवल एक भाव जाकै अैसा है, यातैं निराश्रव ही है, एक ज्ञायक ही है ॥ छ ॥

॥ भावार्थ ॥ भावाश्रव जे राग द्वेष मोह, तिनिका तौ ज्ञानी कै अभाव भया ॥ अर द्रव्याश्रव हैं, ते पुद्गलपरिणाम हैं, तिनितैं सदा ही स्वयमेव ही भिन्न है, तातैं ज्ञानी निराश्रव ही है ॥ छ ॥

आगैं पूछै है जो ज्ञानी निराश्रव कैसैं है ॥ ताका उत्तर की गाथा कहै है ॥ छ ॥

चउविह अणेयभेयं, बंधंते णाणदंसणगुणेहिं ।
समए समए जम्हा, तेण अबंधो त्ति णाणी उ ॥ ७ ॥

चतुर्विधा अनेकभेदं, बध्नन्ति ज्ञानदर्शनगुणाभ्याम् ।
समये समये यस्मात्, नातेऽबन्ध इति ज्ञानी तु ॥ छ ॥

॥ अर्थ ॥ जातैं च्यारि प्रकार आश्रव कहे थे, मिथ्यात्व अविरमण कषाय योग सो ए दर्शन ज्ञान गुणनि करि समये समये अनेक भेद लीयें कर्मनि कूं बांधैं हैं, तातैं ज्ञानी तौ अबंधरूप ही है ॥ छ ॥

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ दोहा ॥

द्रव्यास्रव से भिन्न है, भावास्रव करि नाश ।
सदा ज्ञानमय निरास्रव, ज्ञायकभाव प्रकाश ॥ ११५ ॥

अर्थ – यह ज्ञानी, भावास्रव के अभाव को तो प्राप्त हुआ है और द्रव्यास्रवों से स्वत: ही भिन्न है क्योंकि ज्ञानी सदा केवल एक ज्ञानमयी ही भाववाला है; अत: निरास्रव ही है, एक ज्ञायक ही है।

भावार्थ – ज्ञानी को राग-द्वेष-मोहरूप भावास्रव का तो अभाव हुआ है और द्रव्यास्रव, पुद्गल के परिणाम हैं, उनसे तो सदा स्वत: ही भिन्न है; इसलिए ज्ञानी निरास्रव ही है।

अब, प्रश्न है कि ज्ञानी निरास्रव कैसे है? - उसके उत्तर की गाथा कहते हैं —

चउविह[१] अणेयभेयं, बंधंते णाणदंसणगुणेहिं[२] ।
समए समए[३] जम्हा, तेण अबंधो त्ति[४] णाणी दु ॥ १७० ॥

चउविधास्रव समय समय, ज्ञान-दर्शन गुणों से ।
बहु भेद बाँधे कर्म, इससे ज्ञानी बन्धक नहीं है ॥ १७० ॥

अर्थ – मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग - ये चार प्रकार के आस्रव, दर्शन-ज्ञानगुणों के द्वारा प्रतिसमय अनेक भेदस्वरूप कर्मों को बाँधते हैं, लेकिन ज्ञानी तो अबन्धरूप ही है ॥ १७० ॥

१-३. *चहुविह / समये समये* - तात्पर्यवृत्ति, अगास एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
२. *'अणाणदंसणगुणोहि' इति पाठान्तर केचन पठन्ति* - तात्पर्यवृत्ति टीका पाठ ४. *अबंधुत्ति* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

॥ टीका ॥ प्रथम ही ज्ञानी है सो तौ आश्रवभाव की भावनां का अभिप्राय का अभाव तैं निराश्रव ही है॥ वहुरि तिस ज्ञानी कै भी द्रव्याश्रव समय समय प्रति अनेक प्रकार पुद्गलकर्म कूं वांधैं हैं, तिस विषै ज्ञानगुण का परिणमन है सो कारण है॥ छ॥

आगैं फेरि पूछै है, ज्ञानगुण का परिणाम वंध का कारण कैसैं है॥ छ॥ ताका उत्तर की गाथा [कहै है]॥

जम्हा उ जहण्णाओ, णाणगुणाओ पुणो वि परिणमए।
अण्णत्तं णाणगुणो, तेण उ सो बंधओ होदि॥ ८॥

यस्मात्तु जघन्यात्, ज्ञानगुणात् पुनरपि परिणमते।
अन्यत्वं ज्ञानगुणः, तेन तु स बन्धको भणितः॥ छ॥

॥ अर्थ ॥ जातैं ज्ञानगुण है सो जघन्य ज्ञानगुण तैं फेरि भी अन्यपणांरूप परिणमै है, तिस कारण करि सो ज्ञानगुण कर्म का वंध करनेंवाला कह्या है॥ छ॥

॥ टीका ॥ ज्ञानगुण का जेतै जघन्यभाव है, क्षयोपशमरूप भाव है, तेतै अंतर्मुहूर्त्त विपरिणामी है, ज्ञानभावरूप अंतर्मुहूर्त्त ही रहै है, पीछैं अन्य प्रकार परिणमै है, तातैं अन्यपणांरूप भी याकै परिणाम है सो

टीका – प्रथम ही ज्ञानी, आस्रवभाव की भावना के अभिप्राय का अभाव होने से निरास्रव ही हैं लेकिन उन ज्ञानी को भी द्रव्यास्रव, प्रतिसमय अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों को बाँधता है, उसमें ज्ञानगुण का परिणमन ही कारण है।

अब, पुनः प्रश्न है कि ज्ञानगुण का परिणमन बन्ध का कारण कैसे है? – उसके उत्तर की गाथा कहते हैं —

जम्हा दु जहण्णादो, णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो, तेण दु सो बंधगो भणिदो॥ १७१॥

जो ज्ञानगुण की जघनता में, वर्तता गुण ज्ञान का।
फिर परिणमित हो अन्यथा, उससे ही बन्धक है कहा॥ १७१॥

अर्थ – ज्ञानगुण, जघन्य ज्ञानगुण के कारण पुनः पुनः अन्यपनेरूप परिणमन करता है; इसलिए वह ज्ञानगुण, कर्मबन्ध को करनेवाला कहा गया है॥ १७१॥[१]

टीका – ज्ञानगुण का जब तक जघन्यभाव है, क्षयोपशमरूप भाव है; जब तक वह अन्तर्मुहूर्त में विपरिणामी है अर्थात् वह ज्ञानभावरूप अन्तर्मुहूर्त ही रहता है, बाद में अन्य-अन्य प्रकार से परिणमता है; अतः अन्यपनेरूप भी इसका परिणाम है, इसलिए यथाख्यातचारित्र अवस्था के पहले

---

१. इस गाथा का द्वितीय व्याख्यान करते हुए आचार्य श्री जयसेन कहते हैं – *''मिथ्यादृष्टि का जघन्य ज्ञानगुण, जब काललब्धि के वश से सम्यक्त्व प्राप्त होने पर कर्ता होकर मिथ्यात्व पर्याय छोड़ कर अन्य सम्यग्ज्ञानपने परिणमित होता है 'तेण दु सो, [ऽ] बंधगो भणिदो' उस कारण वह ज्ञानगुण से परिणमित जीव अबन्धक कहलाता है - ऐसा अभिप्राय है।''* - तात्पर्यवृत्ति पाठ।

यथाख्यातचारित्र अवस्था कै नीचैं अवश्यभावी रागपरिणाम का सद्भाव है, तातैं वंध का कारण ही है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ क्षयोपशमज्ञान का एक ज्ञेय परि थंभनां अंतर्मुहूर्त्त ही है, पीछैं अवश्य अन्य ज्ञेय कूं अवलंवै है, तातैं स्वरूप विषै भी अंतर्मुहूर्त ही थंभनां हो है, तातैं अैसा अनुमान है जो यथाख्यातचारित्र अवस्था के नीचैं अवश्य रागपरिणाम का सद्भाव है, तिस राग के सद्भाव तैं वंध भी हो है, तातैं ज्ञानगुण का जघन्यभाव वंध का कारण कह्या है॥ छ॥

आगैं फेरि पूछै है जो अैसैं है, ज्ञानगुण का जघन्यभाव अन्यपणांरूप परिणाम वंध का कारण है तौ ज्ञानी निराश्रव है, अैसा कैसैं कह्या॥ छ॥ ताका उत्तर की गाथा [कहै है]॥

दंसणणाणचरित्तं, जं परिणमए जहण्णभावेण।
णाणी तेण उ बज्झइ, पोग्गलकम्मेण विविहेण॥ ९॥

दर्शनज्ञानचरित्रं, यत्परिणमते जघन्यभावेन।
ज्ञानी तेन तु वध्यते, पुद्गलकर्मणा विविधेन॥ छ॥

॥ अर्थ॥ दर्शन ज्ञान चारित्र हैं, ते जो जघन्यभाव करि परिणमैं हैं। तिस कारण करि ज्ञानी अनेक प्रकार पुद्गलकर्म करि वंधै है॥ छ॥

॥ टीका॥ जो निश्चय करि ज्ञानी है सो वुद्धिपूर्वक राग द्वेष मोहरूप आश्रवभावनि के अभाव तैं निराश्रव ही है। तहां यह विशेष है॥ सो ही ज्ञानी, जेतै ज्ञान कूं सर्वोत्कृष्ट भाव करि देषनें कूं, जाननें

अवश्यम्भावी रागपरिणाम का सद्भाव होने से बन्ध का कारण ही है।

भावार्थ – क्षयोपशमज्ञान का एक ज्ञेय पर स्थिर रहना, अन्तर्मुहूर्त काल तक ही होता है, बाद में वह अवश्य अन्य ज्ञेय का अवलम्बन लेता है; अतः स्वरूप में भी उसका अन्तर्मुहूर्त ही स्थिर रहना होता है। इस प्रकार यह अनुमान किया जाता है कि यथाख्यातचारित्ररूप अवस्था के पहले रागपरिणाम का सद्भाव अवश्य है, राग के सद्भाव में बन्ध भी होता ही है; इसलिए ज्ञानगुण के जघन्यभाव को बन्ध का कारण कहा है।

अब, पुनः प्रश्न ऐसा है कि यदि ज्ञानगुण का जघन्यभाव अर्थात् अन्यपनेरूप परिणमन, बन्ध का कारण है तो ज्ञानी को निरास्रव कैसे कहा है?, उसके उत्तर की गाथा कहते हैं —

दंसणणाणचरित्तं, जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि, पोग्गलकम्मेण विविहेण॥ १७२॥

चारित्र-दर्शन-ज्ञान तीन, जघन्यभाव जु परिणमें।
इसलिए ज्ञानी विविध, पुद्गलकर्म से बँध जाय है॥ १७२॥

अर्थ – दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यदि जघन्यभाव से परिणमते हैं तो उस कारण से ज्ञानी, अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों से बँधते हैं॥ १७२॥

कूं, आचरनें कूं, असमर्थ है अर जघन्यभाव ही करि ज्ञान कूं देषै है, जानै है, आचरै है, तेतै तिस ज्ञानी कै भी ज्ञान के जघन्यभाव की अन्यथा अप्राप्ति करि अनुमानरूप कीया अवुद्धिपूर्वक कर्मकलंक का उदय का सद्भाव है, यातैं पुद्गलकर्म का वंध होय है॥ यातैं यह उपदेश है जो तेतै ज्ञान कूं देषनां, जाननां, आचरण करनां, जेतै ज्ञान का पूर्णभाव जेता है तेता देष्या, जान्या, आचर्‍या भलै प्रकार होय। ता पीछैं साक्षात् ज्ञानी भया संता सर्वथा निराश्रव ही होय है॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञानी कूं निराश्रव अैसैं कह्या है जो जेतै याकै क्षयोपशमज्ञान है, तेतै तौ वुद्धिपूर्वक अज्ञानमयी राग[१] द्वेष मोह का अभाव है, तातैं निराश्रव कह्या है॥ अर जेतै क्षयोपशमज्ञान है, तेतै दर्शन ज्ञान चारित्र, जघन्यभाव करि परिणमै है, तेतै संपूर्ण ज्ञान कूं देष्या, जान्यां, आचर्‍या जाय नाही सो इस जघन्यभाव ही करि अैसा जानिये है जो याकै अवुद्धिपूर्वक कर्मकलंक विद्यमान है, ता करि वंध भी होय है सो यह चारित्रमोह का उदय करि है, अज्ञानमयी भाव नाही है।

तातैं अैसा उपदेश है जो जेतै ज्ञान संपूर्ण न होय, केवलज्ञान न उपजै, तेतै ज्ञान ही का ध्यान निरंतर करनां, ज्ञान ही कूं देषनां, ज्ञान ही कूं जाननां, ज्ञान ही कूं आचरनां, इस ही मार्ग चारित्रमोह

टीका – निश्चय से ज्ञानी, बुद्धिपूर्वक[२] राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभावों के अभाव के कारण निरास्रव ही है। यहाँ यह विशेष है कि वही ज्ञानी, जब तक ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने में, जानने में या आचरने में असमर्थ है और जघन्यभाव से ही ज्ञान को देखता है, जानता है और आचरता है; तब तक उस ज्ञानी को भी ज्ञान के जघन्यभाव की अन्यथा अप्राप्ति (अनुपपत्ति) होने से, अनुमानित किये गए अबुद्धिपूर्वक[३] कर्मकलङ्क के उदय का सद्भाव होने से पुद्गलकर्म का बन्ध होता है। इसलिए यह उपदेश है कि तब तक ज्ञान को देखना, जानना और आचरना चाहिए; जब तक ज्ञान का पूर्णभाव, जितना है उतना अच्छी तरह देखना, जानना और आचरण करना हो; उसके बाद ही वह साक्षात् ज्ञानी होता हुआ सर्वथा निरास्रव होता है।

भावार्थ – ज्ञानी को निरास्रव इसलिए कहा है कि जब तक ज्ञानी को क्षयोपशमज्ञान है, तब तक उसे बुद्धिपूर्वक [अज्ञानमयी] राग-द्वेष-मोह का अभाव है, इसलिए उसे निरास्रव कहा है। लेकिन जब तक क्षयोपशमज्ञान है, तब तक दर्शन-ज्ञान-चारित्र जघन्यभाव से परिणमते हैं और तब तक सम्पूर्ण ज्ञान का देखना, जानना और आचरण करना सम्भव नहीं होता है; अत: इस जघन्यभाव के होने से ही ऐसा जाना जाता है कि इसके अबुद्धिपूर्वक कर्मकलङ्क विद्यमान है, उससे बन्ध भी होता है लेकिन यह चारित्रमोह के उदय के कारण है, अज्ञानमयी भाव नहीं है।

अत: ऐसा उपदेश है कि जब तक ज्ञान सम्पूर्ण न हो जाए अर्थात् केवलज्ञान न हो जाए, तब तक ज्ञान ही का निरन्तर ध्यान करना चाहिए; ज्ञान ही को देखना, ज्ञान ही को जानना, ज्ञान ही को

---

१. बुद्धिपूर्वक राग - 'अ' प्रति पाठ

२-३. यहाँ अगास, अहिंसा मन्दिर एवं सोनगढ़ प्रकाशन में बुद्धिपूर्वक एवं अबुद्धिपूर्वक परिणामों के सम्बन्ध में संस्कृत भाषा में एक टिप्पणी दी गई है, उसका हिन्दी अनुवाद निम्न प्रकार है - *''जो परिणाम, मन के माध्यम से बाह्य विषयों का अवलम्बन लेकर प्रवर्तते हैं, जो परिणमते हुए स्वानुभवगम्य होते हैं और अनुमान से दूसरों को भी ज्ञात होते हैं, वे परिणाम 'बुद्धिपूर्वक' हैं तथा जो परिणाम, इन्द्रिय और मन के व्यापार के बिना केवल मोहोदय के निमित्त से होने पर भी जो स्वानुभवगोचर [नहीं] होते हैं, वे परिणाम 'अबुद्धिपूर्वक' कहलाते हैं; यही इनमें विशेष अन्तर है।''*

का नाश होय है अर केवलज्ञान उपजै है, तव सर्व प्रकार करि साक्षात् निराश्रव होय है॥

यह विवक्षा का विचित्रपणां है। वुद्धिपूर्वक रागादिक का अभाव की अपेक्षा तौ अवुद्धिपूर्वक रागादिक छतैं भी निराश्रव कह्या अर अवुद्धिपूर्वक का अभाव भयें केवलज्ञान ही उपजैगा, तव साक्षात् निराश्रव होयगा ही[१], अैसैं जाननां॥ छ॥

अव इस ही अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

संन्यस्य[२]न्निजबुद्धिपूर्वमनिशं, रागं समग्रं स्वयं
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं, जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्।
उच्छिन्दन्परवृत्ति[३]मेव सकलां, ज्ञानस्य पूर्णो भवन्-
आत्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि, ज्ञानी यदा स्यात्तदा॥ ४॥

॥ अर्थ॥ यह आत्मा जव ज्ञानी होय है, तव अपनें वुद्धिपूर्वक राग कूं तौ समस्त कूं आप दूरि करता संता निरंतर प्रवर्त्तै है॥ वहुरि अवुद्धिपुर्वक राग कूं भी जीतनें कूं वार वार अपनीं ज्ञानानुभवनरूप शक्ति कूं स्पर्शता संता प्रवर्त्तै है॥ वहुरि ज्ञान की पलटनि है, ताकूं समस्त ही कूं दूरि करता संता ज्ञान

आचरण करना योग्य है – इसी मार्ग से चारित्रमोह का नाश होता है तथा केवलज्ञान उत्पन्न होता है और तब सर्व प्रकार से साक्षात् निरास्रव होता है।

यह विवक्षा की विचित्रता है कि बुद्धिपूर्वक रागादि के अभाव की अपेक्षा तो अबुद्धिपूर्वक रागादि के होते हुए भी निरास्रव कहा है तथा अबुद्धिपूर्वक रागादि का अभाव होने पर केवलज्ञान उत्पन्न होगा ही और तब साक्षात् निरास्रव हो ही जाएगा – ऐसा जानना।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ कुण्डलिया॥

स्वयं सहज परिणाम से, कर दीना परित्याग।
सम्यग्ज्ञानी जीव ने, बुद्धिपूर्वक राग॥
बुद्धिपूर्वक राग, त्याग दीना है जिसने।
और अबुद्धिक राग, त्याग करने को जिसने॥
निजशक्ति-स्पर्श, प्राप्त कर पूर्णभाव को।
रहे निरास्रव सदा, उखाड़े परपरिणति को॥ ११६॥

अर्थ – यह आत्मा, जब ज्ञानी होता है, तब अपने बुद्धिपूर्वक समस्त राग को स्वयं ही निरन्तर दूर करता हुआ प्रवर्तता है और अबुद्धिपूर्वक राग को भी जीतने के लिए बार-बार अपनी ज्ञानानुभवनरूप शक्ति को स्पर्शता हुआ प्रवर्तता है तथा ज्ञान की समस्त ही पलटनेवाली परिणतियों

---

१. *होयहीगा* – 'ब' प्रति पाठ

२-३. *सन्यसन् / परिवृति* – 'अ' 'ब' प्रति में पाठ।

कूं स्वरूप विषै थांभता, पूर्ण होता संता प्रवर्त्तै है॥ अैसैं ज्ञानी होय, तव सास्वता[१] निराश्रव होय है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ तौ सुगम है। जव समस्त राग कूं हेय जान्यां, तव ताका मेटनें ही का उद्यमी भया प्रवर्त्तै है, तव सदा निराश्रव ही कहिये, जातैं आश्रव के भावनि की भावनां का अभिप्राय का याकै अभाव है। वहुरि इहां वुद्धिपूर्वक अवुद्धिपूर्वक की दोय सूचनां है। एक तौ जो आप कीया न चाहै अर परनिमित्त तैं जवरी तैं होय, ताकूं आप जाणैं भी, तौऊ ताकूं अवुद्धिपूर्वक कहिये। वहुरि दूजा जो अपनें ज्ञानगोचर ही नाही, प्रत्यक्षज्ञानी जानैं है तथा ताके अविनाभावी चिह्न करि अनुमान तैं जानिये सो अवुद्धिपूर्वक है, अैसा जाननां॥ छ॥

आगैं पूछै है जो सर्व ही द्रव्याश्रव की संतति कूं जीवतैं ज्ञानी निराश्रव कैसें। अैसे प्रश्न का श्लोक है॥ छ॥

॥ अनुष्टुभ्॥

सर्वस्यामेव जीवन्त्यां, द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ।
कुतो निरास्त्रवो ज्ञानी, नित्यमेवेति चेन्मतिः॥ ५॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी कै सर्व ही द्रव्याश्रव की संतति कूं जीवतैं संतैं ज्ञानी नित्य ही निराश्रव[२] है, अैसा काहे तैं कह्या॥

को दूर करता हुआ, ज्ञान को स्वरूप में स्थिर करके पूर्ण होता हुआ प्रवर्तता है; इस प्रकार जब ज्ञानी होता है, तब शाश्वत निरास्त्रव होता है।

भावार्थ – भावार्थ तो सुगम है, [फिर भी कुछ विशेष कहते हैं] – जब समस्त राग को हेय जाना, तब उसे मिटाने का ही उद्यमी होकर प्रवर्तता है; अतः उसे सदा निरास्त्रव ही कहते हैं क्योंकि ज्ञानी को आस्त्रवभावों की भावना का अभिप्राय नहीं है। यहाँ बुद्धिपूर्वक-अबुद्धिपूर्वक के सम्बन्ध में दो अपेक्षाएँ हैं – १. जिसे स्वयं करना न चाहे और परनिमित्त की बलजबरी से हो; यद्यपि स्वयं जानता है तो भी उसे **अबुद्धिपूर्वक** ही कहा जाता है और २. जो अपने ज्ञानगोचर ही नहीं है, प्रत्यक्षज्ञानी ही उसे जान पाते हैं तथा [स्वयं को भी] उसके अविनाभावी चिह्न के द्वारा अनुमान से जो जानने में आता है, उसे **अबुद्धिपूर्वक** कहते हैं – ऐसा जानना।

अब, प्रश्न है कि सर्व ही द्रव्यास्त्रव की सन्तति के जीवित रहते हुए ज्ञानी निरास्त्रव कैसे है? – ऐसे प्रश्न का सूचक श्लोक कहते हैं —

॥ दोहा॥

द्रव्यास्त्रव की सन्तति, विद्यमान सम्पूर्ण।
फिर भी ज्ञानी निरास्त्रव, कैसे हो परिपूर्ण?॥ ११७॥

अर्थ – ज्ञानी में सर्व ही द्रव्यास्त्रव की सन्तति के जीवित रहते हुए भी ज्ञानी नित्य ही निरास्त्रव है, **ऐसा क्यों कहा है?**

---

१. *शाश्वता* - 'ब' प्रति पाठ
२. *ज्ञानी निराश्रव* - 'अ' प्रति पाठ

जो शिष्य कै अैसी आशंकारूप वुद्धि है॥ ताका उत्तर की गाथा कहै है॥ छ॥

सव्वे पुव्वणिबद्धा, उ पच्चया अत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
उवओगप्पाओगं, बंधंते कम्मभावेण॥ १०॥
होऊण णिरुवभोज्जा, तह वंधइ जह हवंति उवभोज्जा।
सत्तट्ठविहा भूया, णाणावरणाइभावेहिं॥ ११॥
संता उ णिरुवभोज्जा, बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स।
बंधइ ते उवभोज्जे, तरुणी इत्थी जह णरस्स॥ १२॥
एएण कारणेण उ, सम्माइट्ठी अबंधओ भणिओ।
आसवभावाभावे, ण पच्चया बंधया भणिया॥ १३॥

॥ चतुष्कं॥

सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु, प्रत्ययाः सन्ति सम्यग्दृष्टेः।
उपयोगप्रायोग्यं, वध्नन्ति कर्मभावेन॥ छ॥

— ऐसी आशङ्कारूप बुद्धि शिष्य को होती है, उसके उत्तरस्वरूप गाथाएँ कहते हैं —

सव्वे पुव्वणिबद्धा, दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स।
उवओगप्पाओगं, बंधंते कम्मभावेण॥ १७३॥
होदूण णिरुवभोज्जा, तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा।
सत्तट्ठविहा भूदा, णाणावरणादिभावेहिं॥ १७४॥[२]
संता दु[१] णिरुवभोज्जा, बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स।
बंधदि ते उवभोज्जे, तरुणी इत्थी जह णरस्स॥ १७५॥[२]
एदेण कारणेण दु, सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो।
आसवभावाभावे, ण पच्चया बंधगा भणिदा॥ १७६॥

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते सद्दृष्टि के।
उपयोग के प्रायोग्य से, बन्धन करें कर्मभाव से॥ १७३॥

---

१. *संता वि / संति दु* - तात्पर्यवृत्ति / अगास प्रकाशन पाठ

२. तात्पर्यवृत्ति, अगास एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन में गाथा १७४-१७५ का क्रम आगे-पीछे है

भूत्वा निरुपभोग्यानि, तथा बध्नाति यथा भवन्त्युपभोग्यानि।
सप्ताष्टविधानि भूतानि, ज्ञानावरणादिभावैः॥ छ॥
सन्ति तु निरुपभोग्यानि, वाला स्त्री यथेह पुरुषस्य।
बध्नाति तान्युपभोग्यानि, तरुणी स्त्री यथा नरस्य॥ छ॥
एतेन कारणेन तु, सम्यग्दृष्टिरबन्धको भणितः।
आस्रवभावाभावे, न प्रत्यया बन्धका भणिताः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ सम्यग्दृष्टी कै सर्व ही पूर्वै अज्ञान अवस्था मैं वांधे मिथ्यात्व आदि प्रत्यय कहिये आश्रव, ते सत्तारूप विद्यमान हैं, ते उपयोग कै प्रायोग्य कहिये प्रयोग करनेंरूप जैसैं होय तैसैं, तिस कै अनुसार कर्मभाव करि आगामी वंध कूं प्राप्त होय हैं॥ छ॥

वहुरि ते पूर्व वंधे प्रत्यय उदय आयें विनां, निरुपभोग्य कहिये भोगनें योग्यपणां तैं रहित होय करि तिष्टैं हैं, ते फेरि आगामी तैसैं वंधैं हैं, जैसैं सात आठ प्रकार ज्ञानावरणादि भाव करि फेरि भोगनें योग्य होय॥ छ॥

वहुरि ते पूर्व वंधे प्रत्यय, सत्ता मैं अैसैं हैं, जैसैं पुरुष कै वालक स्त्री भोगनें योग्य नाही है॥ वहुरि ते ही उपभोग्य कहिये भोगनें योग्य होय, तव पुरुष कों वांधैं हैं। जैसैं सो ही वाला स्त्री, तरुणी होय, तव पुरुष कूं वांधै है॥ पुरुष ताकै आधीन होय, यह ही वंधनां॥ छ॥

अनभोग्य वे जब भोग्य होवें, तभी बाँधें कर्म को।
ज्ञानावरण इत्यादि कर्म जु, सप्त-अष्ट प्रकार के॥ १७४॥
सत्ता विषैं वे निरुपभोग्य हि, बालिका ज्यों पुरुष को।
उपभोग्य बनने पर ही बाँधे, यौवना ज्यों पुरुष को॥ १७५॥
इस हेतु से सम्यक्त्व-संयुत, जीव अनबन्धक कहे।
आस्रवभाव-अभाव में, प्रत्यय नहीं बन्धक कहे॥ १७६॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टि को, पहले अज्ञान अवस्था में बाँधे गए सभी मिथ्यात्व आदि प्रत्यय अर्थात् आस्रव, सत्तारूप से विद्यमान हैं; वे उपयोग के द्वारा प्रयोग करने योग्य जिस प्रकार होते हैं, उसी के अनुसार कर्मभाव से आगामी बन्ध को प्राप्त होते हैं॥ १७३॥

वे पूर्वबद्ध प्रत्यय, उदय में आये बिना निरुपभोग्य अर्थात् भोगने के अयोग्य होकर सत्ता में स्थित रहते हैं; वे जब भोगने योग्य हो जाते हैं, तभी आगामी ज्ञानावरण आदिरूप सात या आठ प्रकार से बँधते हैं॥ १७४॥

वे पूर्वबद्ध प्रत्यय, सत्ता में ऐसे हैं; जैसे, पुरुष को बालिका (छोटी कन्या) भोगने योग्य नहीं होती तथा वे ही प्रत्यय, उपभोग्य अर्थात् भोगने योग्य होने पर जीव को बाँधते हैं; जैसे, वही बालिका, तरुणी हो जाने पर पुरुष को बाँधती है। यहाँ पुरुष का, उसके अधीन होना ही बँधना है॥ १७५॥

इस कारण करि सम्यग्दृष्टी अवंधक कह्या है, जातैं आश्रवभाव जे रागद्वेषमोह, तिनिका अभाव होतैं, प्रत्यय मिथ्यात्व आदिक हैं, ते सत्ता मैं छते भी आगामी कर्मवंध के करनेंवाले नाही हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं अैसै है जो जैसैं तत्काल की परणी वालक स्त्री पहलैं वालक अवस्था मैं पुरुष कै भोगनें योग्य नाही है, फेरि सो ही स्त्री जव तरुणी होय, तव जोवन अवस्था मैं भोगनें योग्य होय है, तव पुरुष ताकै आधीन होय है। तैसैं पहलैं वांधे कर्म सत्ता अवस्था मैं हैं, तेतै भोगनें योग्य नाही हैं। वहुरि ते ही जव विपाक अवस्था कूं प्राप्त होय, तव तिस उदय अवस्था मैं भोगनें योग्य होय हैं, तव जैसा आत्मा का उपयोग विकारसहित होय। तिस ही योग्यता कै अनुसार पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय सत्तारूप होते संते भी कर्म का उदय अनुसार जीव के भावनि के सद्भाव ही तैं वंध कूं प्राप्त होय है।

तातैं ज्ञानी कै जो द्रव्यकर्मरूप प्रत्यय आश्रव, सत्ता मैं विद्यमान है तौ होऊ, तथापि सो ज्ञानी तौ निराश्रव ही है, जातैं कर्म का उदय का कार्य जो जीव का भाव, राग द्वेष मोहरूप आश्रवभाव, ताका अभाव कूं होतैं द्रव्याश्रवनि कै वंध का कारणपणां नाही है॥

॥ भावार्थ॥ सत्ता मैं मिथ्यात्व आदि द्रव्याश्रव विद्यमान हैं, तौऊ ते आगामी वंध के करनेंवाले नाही है॥ जातैं वंध कै करनेंवाले तौ जीव के भाव राग द्वेष मोहरूप होय हैं, ते हैं सो मिथ्यात्व आदि द्रव्याश्रव के उदय कै अर जीव के भावनि कै कारणकार्यभाव निमित्तनैमित्तिकरूप है सो जव मिथ्यात्वादि का उदय आवै, तव जीव का राग द्वेष मोहरूप जैसा भाव होय, तिस जीवभाव कै अनुसार आगामी वंध होय है॥

इस कारण से सम्यग्दृष्टि को अबन्धक कहा है क्योंकि आस्रवभावरूप राग-द्वेष-मोह का अभाव होने पर मिथ्यात्वादि प्रत्यय, सत्ता में होते हुए भी आगामी कर्मबन्ध को करनेवाले नहीं हैं॥ १७६॥

टीका – जैसे, तत्काल की विवाहिता बालिका, बालिका अवस्था में पुरुष के द्वारा भोगने योग्य नहीं होती; फिर वही बालिका, तरुणी होने पर यौवन अवस्था में भोगने योग्य होती है और तब पुरुष उसके आधीन होता है। उसी प्रकार पूर्व में बाँधे हुए कर्म, सत्ता अवस्था में भोगने योग्य नहीं हैं, फिर जब वे विपाक अवस्था को प्राप्त होते हैं, तब उस उदय अवस्था में भोगने योग्य होते हैं; उस समय आत्मा का उपयोग विकारसहित होता है। उसी योग्यता के अनुसार पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय, सत्तारूप होते हुए भी, कर्मोदय के अनुसार जीव के भावों के सद्भाव ही से बन्ध को प्राप्त होते हैं।

अतः ज्ञानी को द्रव्यकर्मरूप प्रत्यय अर्थात् आस्रव, सत्ता में विद्यमान हैं तो भले रहें, तब भी वह ज्ञानी तो निरास्रव ही है क्योंकि कर्मोदय के कार्यरूप जीव के राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव का अभाव होने पर द्रव्यास्रवों में बन्ध का कारणपना नहीं है।

भावार्थ – सत्ता में मिथ्यात्व आदि द्रव्यास्रव विद्यमान हैं, फिर भी वे आगामी बन्ध के कारक नहीं हैं क्योंकि बन्ध के कारक तो जीव के राग-द्वेष-मोहरूप भाव होते हैं। जब वे भाव होते हैं, तब मिथ्यात्व आदि द्रव्यास्रव के उदय का और जीव के भावों का निमित्त-नैमित्तिकरूप कारण-कार्यभाव होता है; अतः जब मिथ्यात्व आदि का उदय आता है, उस समय जीव का राग-द्वेष-मोहरूप जैसा भाव होता है, उस जीवभाव के अनुसार आगामी बन्ध होता है।

अर जव सम्यग्दृष्टी होय, तव मिथ्यात्व सत्ता मैं सूं नाश होय, तव तौ तिसकी लार की अनंतानुवंधी कषाय तथा तिस संवंधी अविरमण अर योगभाव भी नष्ट होय, तव तिस संवंधी जीव कै राग द्वेष मोह भाव भी नाही होय है, तव तिस मिथ्यात्व अनंतानुवंधी संवंधी वंध होय था, तिनि प्रकृतिनि का आगामी वंध भी नाही होय है अर जो मिथ्यात्व का उपशम ही होय, तव सत्ता मैं रहै, तव सत्ता का द्रव्य, उदय विनां वंध का कारन नाही है।

वहुरि जेतै अविरत सम्यग्दृष्टी आदिक गुणस्थाननि की परिपाटी मैं चारित्रमोह के उदय संवंधी वंध कह्या है सो इहां संसारसामान्य की अपेक्षा तौ वंध मैं गिण्यां नाही है, जातैं ज्ञानी अज्ञानी का विशेष है। जेतै कर्म का उदय मैं कर्म का स्वामिपणां राषि परिणमै है, तेतै ही कर्म का कर्त्ता कह्या है। पर के निमित्त तैं परिणमै, ताका ज्ञाता दृष्टा होय, तव ज्ञानी है। ज्ञाता है सो कर्त्ता नाही, अैसी अपेक्षा तैं सम्यग्दृष्टि भयें पीछैं चारित्रमोह के उदयरूप परिणाम होतैं भी ज्ञानी ही कह्या है। मिथ्यात्व का उदय है, जेतै तिस संवंधी राग द्वेष मोह भावरूप परिणमनें तैं अज्ञानी कह्या है। अैसैं ज्ञानी अज्ञानी कहनें का विशेष जाननां। अैसैं वंध अवंध का विशेष है। वहुरि शुद्धस्वरूप में लीन रहनें के अभ्यास तैं[१] साक्षात् संपूर्ण ज्ञानी केवलज्ञान प्रगट भयें होय है॥ तव सर्वथा निराश्रव होय है। अैसैं पहलैं कह ही आये हैं॥ छ॥

अव, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ मालिनी॥

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः,
समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः।

जब जीव [क्षायिक] सम्यग्दृष्टि होता है, तब मिथ्यात्व का सत्ता में से नाश हो जाता है, उसके साथ ही अनन्तानुबन्धी कषाय और उस सम्बन्धी अविरति और योगभाव भी नष्ट हो जाते हैं, तब उस सम्बन्धी जीव के राग-द्वेष-मोहभाव भी नहीं होते हैं। जो पहले मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का बन्ध होता था, उन प्रकृतियों का आगामी बन्ध भी नहीं होता है। यदि मिथ्यात्व का उपशम होता है तो वह सत्ता में रहता है किन्तु सत्ता में स्थित द्रव्यकर्म, उदय के बिना बन्ध के कारण नहीं हैं।

यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों की परिपाटी में चारित्रमोह के उदय-सम्बन्धी बन्ध होता है, तथापि उसे यहाँ संसार-सामान्य [अर्थात् अनन्त संसार] की अपेक्षा बन्ध में नहीं गिना है क्योंकि यही ज्ञानी-अज्ञानी में अन्तर है। जब तक यह जीव, कर्म के उदय में उसके स्वामीपने का भाव रख कर परिणमता है, तब तक ही वह कर्म का कर्ता कहा जाता है परन्तु जब पर के निमित्त से परिणमता हुआ भी उसका ज्ञाता-दृष्टा रहता है तो वह ज्ञानी है। जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं है – ऐसी अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि हो जाने के बाद चारित्रमोह के उदयरूप परिणाम होते हुए भी ज्ञानी ही कहा है, लेकिन जब तक मिथ्यात्व का उदय है, तब तक उस सम्बन्धी राग-द्वेष-मोह भावरूप परिणमन होने से अज्ञानी कहा है। इस प्रकार ज्ञानी-अज्ञानी में अन्तर समझना। इसी प्रकार बन्ध-अबन्ध में अन्तर है तथा शुद्धस्वरूप में लीन रहने के अभ्यास से केवलज्ञान होने पर साक्षात् सम्पूर्ण

---

१. *'शुद्धस्वरूप में लीन रहने के अभ्यास तैं'* - 'ब' प्रति पाठ

तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः॥ ६॥

॥ अर्थ॥ यद्यपि पूर्वैं अज्ञान अवस्था मैं वंधरूप भये थे, ते द्रव्यरूप प्रत्यय कहिये द्रव्याश्रव, ते सत्ता मैं विद्यमान हैं, जातैं तिनि का उदय अपनी स्थिति कै अनुसार है, तातैं जेतै उदय का समय नाही आवै, तेतै सत्ता ही मैं रहैं॥ अैसैं द्रव्याश्रव सत्ता मैं हैं, ते अपनी सत्ता कूं नाही छोडैं हैं, तौऊ ज्ञानी कै समस्त राग द्वेष मोह का अभाव तैं नवीन कर्म का वंध कदाचित् ही अवतार नाही धरै है॥

॥ भावार्थ॥ राग द्वेष मोह भाव विना, सत्ता का द्रव्याश्रव, वंध का कारण नाही है॥ इहां सकल राग द्वेष मोह का अभाव, वुद्धिपूर्वक अपेक्षा जाननां॥ छ॥

आगैं, इस ही अर्थ कै दृढ़ करनेंरूप गाथा है, ताकी सूचनिका का श्लोक है॥ छ॥

॥ अनुष्टुभ्॥

रागद्वेषविमोहानां, ज्ञानिनो यदसम्भवः।
तत एव न बन्धोऽस्य, ते हि बन्धस्य कारणम्॥ ७॥

ज्ञानी होता है, तब सर्वथा निरास्रव होता है – ऐसा पहले भी कहा ही है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

पूर्व में जो द्रव्यप्रत्यय, बँधे थे वे अब सभी।
निजकाल पाकर उदित होंगे, सुप्त सत्ता में अभी॥
यद्यपि वे हैं विद्यमान, पर राग-द्वेष अभाव से।
अन्तर अमोही ज्ञानियों को, बन्ध होता है नहीं॥ ११८॥

अर्थ – यद्यपि पहले अज्ञान अवस्था में बँधे द्रव्यरूप प्रत्यय अर्थात् द्रव्यास्रव, सत्ता में विद्यमान हैं क्योंकि उनका उदय तो अपनी स्थिति के अनुसार होता है; अतः जब तक उदय का समय न आता, तब तक वे सत्ता में ही रहते हैं। इस प्रकार द्रव्यास्रव, सत्ता में अपनी सत्ता को नहीं छोड़ते हैं तो भी ज्ञानी को समस्त राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से नवीन कर्म का बन्ध कभी भी नहीं होता है।

भावार्थ – राग-द्वेष-मोहभाव के बिना सत्ता में स्थित द्रव्यास्रव, बन्ध का कारण नहीं है। यहाँ सकल राग-द्वेष-मोह का अभाव, बुद्धिपूर्वक [राग-द्वेष-मोह के अभाव] की अपेक्षा जानना।

अब, इसी अर्थ को दृढ़ करनेवाली आगामी गाथाओं की सूचनारूप श्लोक कहते हैं —

॥ दोहा॥

राग-द्वेष अरु मोह ही, केवल बन्धक भाव।
ज्ञानी के ये हैं नहीं, तातैं बन्ध अभाव॥ ११९॥

॥ अर्थ ॥ जातैं ज्ञानी कै राग द्वेष मोह का असंभव है, ताही तैं ज्ञानी कै वंध नाही है॥ जातैं राग द्वेष मोह हैं, ते ही वंध के कारण हैं॥ छ॥

आगैं, इस अर्थ के समर्थन की गाथा [कहै है]॥

रागो दोसो मोहो, य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तम्हा आसवभावेण, विणा हेऊ ण पच्चया होंति॥ १४॥
हेऊ चउव्वियप्पो, अट्ठवियप्पस्स कारणं भणियं।
तेसिं पि य रायाई, तेसिमभावे ण वज्झंति॥ १५॥

॥ युग्मं॥

रागो द्वेषो मोहश्चास्रवा न सन्ति सम्यग्दृष्टेः।
तस्मादास्रवभावेन, विना हेतवो न प्रत्यया भवन्ति॥ छ॥
हेतुश्चतुर्विकल्पोऽष्टविकल्पस्य कारणं भणितम्।
तेषामपि चं रागादयस्तेषामभावे न बध्यन्ते॥ छ॥

॥ अर्थ ॥ राग द्वेष मोह, ए आश्रव हैं, ते सम्यग्दृष्टी कै नाही हैं। तातैं आश्रवभाव विना द्रव्यप्रत्यय हैं, ते कर्म वंधनें कूं कारण नाही हैं॥ छ॥

अर्थ – ज्ञानी को राग-द्वेष-मोहभाव असम्भव (उत्पन्न नहीं होते) हैं, इसलिए ज्ञानी को बन्ध भी नहीं होता है क्योंकि राग-द्वेष-मोहभाव ही बन्ध के कारण हैं।

अब, इस अर्थ के समर्थन की गाथाएँ कहते हैं —

रागो दोसो मोहो, य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तम्हा आसवभावेण, विणा हेदू ण पच्चया होंति॥ १७७॥
हेदू चदुव्वियप्पो, अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिं पि य रागादी, तेसिमभावे ण बज्झंति॥ १७८॥

नहिं राग-द्वेष अरु मोह भी, आस्रव नहीं सद्दृष्टि के।
इससे ही आस्रवभाव बिन, प्रत्यय नहीं कारण बने॥ १७७॥
प्रत्यय चतुर्विध कर्म अष्ट प्रकार के कारण कहे।
रागादि हैं उनके भी कारण, राग नहिं वहाँ बन्ध ना॥ १७८॥

अर्थ – राग-द्वेष-मोहरूप आस्रव, सम्यग्दृष्टि को नहीं होते हैं; अत: आस्रवभाव के बिना द्रव्यप्रत्यय, कर्म-बन्धन में कारण नहीं हैं॥ १७७॥

मिथ्यात्व आदि च्यारि प्रकार हेतु है सो अष्ट प्रकार कर्म के वंधनें कूं कारण है। वहुरि तिनि च्यारि प्रकार के हेतु कूं भी जीव के रागादिक भाव कारण हैं सो सम्यग्दृष्टी कै तिनि रागादिक भावनि का अभाव है, तातैं सम्यग्दृष्टी कै वंध नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ सम्यग्दृष्टी कै राग द्वेष मोह नाही हैं॥ जातैं राग द्वेष मोह का अभाव विना सम्यग्दृष्टिपणां वणैं नाही॥ वहुरि तिनि राग द्वेष मोह के अभाव होतैं, तिस सम्यग्दृष्टी कै द्रव्याश्रव है, ते पुद्गलकर्म के वंधनें कूं कारणपणां नाही धारै है॥ जातैं द्रव्याश्रवनि कै पुद्गलकर्म वंधनें का कारणपणां का रागादिक ही कै कारणपणां है॥ तातैं कारण के कारण का अभाव होतैं कार्य का अभाव का भलै प्रकार प्रसिद्धपणां है॥ तातैं ज्ञानी कै वंध नाही है॥

॥ भावार्थ॥ सम्यग्दृष्टी, राग द्वेष मोह का अभाव विना होय नाही, अैसा अविनाभाव नियम कह्या सो यह मिथ्यात्व संवंधी रागादिक का अभाव जाननां, तिनि ही कूं रागादिक गणें हैं। सम्यग्दृष्टि भयें पीछैं किछू चारित्रमोह संवंधी राग रहै सो इहां न गणिये है, गौण है॥ तातैं तिनि भावाश्रवनि विनां द्रव्याश्रव वंध के कारण नाही। कारण का कारण न होय, तव भी कार्य का अभाव है, यह प्रसिद्ध है। तातैं सम्यग्दृष्टी ज्ञानी है, याकै वंध नाही है॥

इहां, सम्यग्दृष्टी कूं ज्ञानी कहनें की अपेक्षा अैसी जाननीं जो प्रथम तौ ज्ञान जाकै होय सो ज्ञानी कहिये सो सामान्य ज्ञान की अपेक्षा तौ सर्व ही जीव ज्ञानी है॥ वहुरि सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान की अपेक्षा लीजिये, तव सम्यग्दृष्टी कै सम्यग्ज्ञान है, ताकी अपेक्षा ज्ञानी है, मिथ्यादृष्टी अज्ञानी है॥ वहुरि

मिथ्यात्व आदि चार प्रकार के हेतु ही, आठ प्रकार के कर्म-बन्धन में कारण हैं और उन चार प्रकार के हेतुओं के भी कारण जीव के रागादिभाव हैं, लेकिन सम्यग्दृष्टि को उन रागादिभावों का अभाव है; अत: सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं है॥ १७८॥

टीका – सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष-मोह नहीं हैं क्योंकि राग-द्वेष-मोह का अभाव हुए बिना सम्यग्दृष्टि नहीं बन सकता है तथा उन राग-द्वेष-मोह का अभाव होने पर उस सम्यग्दृष्टि को द्रव्यास्रव, पुद्गलकर्म के बन्धन में कारणपना नहीं धारण करते हैं क्योंकि पुद्गलकर्म के बन्धन में द्रव्यास्रवों का कारणपना, रागादि ही के कारण है; अत: **कारण के कारण का अभाव होने पर कार्य का अभाव होना,** भली प्रकार प्रसिद्ध है; इसलिए ज्ञानी को बन्ध नहीं है।

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि, राग-द्वेष-मोह का अभाव हुए बिना नहीं हो सकता – ऐसा अविनाभाव नियम कहा है, लेकिन यहाँ मिथ्यात्व-सम्बन्धी रागादि का अभाव जानना, उन्हीं को रागादि में गिना गया है। सम्यग्दृष्टि होने के बाद चारित्रमोह-सम्बन्धी राग रहता है, उसे यहाँ नहीं गिना है, वह गौण है; अत: उन भावास्रवों के बिना द्रव्यास्रव, बन्ध के कारण नहीं है। यदि **कारण का कारण न हो, तो भी कार्य का अभाव होता है** – यह प्रसिद्ध है; अत: सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को बन्ध नहीं है।

यहाँ, सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहने की अपेक्षा इस प्रकार जानना – १. प्रथम तो जिसके ज्ञान हो, उसे **ज्ञानी** कहते हैं; अत: सामान्यज्ञान की अपेक्षा तो सभी जीव ज्ञानी हैं। २. दूसरे, सम्यग्ज्ञान-मिथ्याज्ञान की अपेक्षा ग्रहण करने पर सम्यग्दृष्टि को सम्यग्ज्ञान है, इस अपेक्षा वह **ज्ञानी** है, मिथ्यादृष्टि

संपूर्ण ज्ञान की अपेक्षा ज्ञानी कहिये, तव केवली भगवान् ज्ञानी है॥ जेतै सर्वज्ञ न होय, तेतै पंच भावनि की कथनी मैं अज्ञानभाव वारमां गुणस्थान तांई सिद्धांत मैं कह्या है॥ ऐसैं अनेकांत तैं विधि निषेध सर्व अपेक्षा निर्वाध सिद्ध होय है। सर्वथा एकांत तैं किछू भी नाहीं सधै है॥ छ॥

ऐसैं ज्ञानी होय, वंध नाही करै है सो यह शुद्धनय का माहात्म्य है, तातैं शुद्धनय की महिमा करि कहै है॥

॥ वसन्ततिलका॥

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न-
मैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये तें।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः,
पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम्॥ ८॥

॥ अर्थ॥ जे पुरुष, शुद्धनय कूं अंगीकार करि निरंतर एकाग्रपणां का अभ्यास करैं हैं।

कैसा है शुद्धनय। उद्धत वोध कहिये काहू का दाव्या न दवै, ऐसा उज्जल ज्ञान सो है चिह्न जाका॥ सो इसके अवलंवन करनेंवाले पुरुष रागादिक करि रहित है मन जिनिका, ऐसे निरंतर होते संते वंध करि रहित जो समयसार, अपनां शुद्ध आत्मस्वरूप, ताहि अवलोकन करैं हैं॥

॥ भावार्थ॥ इहां शुद्धनय करि एकाग्र होनां कह्या सो साक्षात् शुद्धनय का होनां तो केवलज्ञान

को सम्यग्ज्ञान नहीं है, इस अपेक्षा वह अज्ञानी है तथा ३. तीसरे, सम्पूर्ण ज्ञान की अपेक्षा ज्ञानी कहा जाता है, इस अपेक्षा तो केवली भगवान ज्ञानी हैं और जब तक सर्वज्ञ न हो जाएँ, तब तक पाँच भावों की कथनी में अज्ञानभाव बारहवें गुणस्थान तक सिद्धान्त में कहा है; इस प्रकार अनेकान्त से विधि-निषेध आदि सभी अपेक्षाओं से निर्बाध सिद्ध होते हैं, सर्वथा एकान्त से कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार जो ज्ञानी होता है, वह बन्ध नहीं करता है – यह शुद्धनय की महिमा है; इसलिए शुद्धनय की महिमा करते हुए कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

सदा उद्धत चिह्नवाले, शुद्धनय अभ्यास से।
निज आत्म की एकाग्रता के, ही सतत अभ्यास से॥
रागादि विरहित चित्तवाले, आत्म-केन्द्रित ज्ञानिजन।
बन्ध-विरहित अरु अखण्डित, आतमा को देखते॥ १२०॥

अर्थ – जो पुरुष, **शुद्धनय** को अङ्गीकार करके निरन्तर एकाग्रता का अभ्यास करते हैं।

कैसा है शुद्धनय? – उद्धत बोध अर्थात् किसी के द्वारा दबाया न जा सके - ऐसा उज्ज्वल ज्ञान ही जिसका चिह्न है। इस शुद्धनय का अवलम्बन करनेवाले पुरुष, रागादि से रहित मनवाले होते हुए निरन्तर बन्ध से रहित समयसार अर्थात् अपने शुद्धात्मस्वरूप का अवलोकन करते हैं।

भयें होय है अर शुद्धनय है सो श्रुतज्ञान का अंश है सो इसकै द्वारै शुद्धस्वरूप का श्रद्धान करनां तथा ध्यान करि एकाग्र होनां है सो यह परोक्ष अनुभव है। एकदेश शुद्ध की अपेक्षा व्यवहार करि प्रत्यक्ष भी कहिये है॥ छ॥

फेरि कहै है, जे यातैं चिगैं हैं, ते कर्म वांधैं हैं॥

॥ वसन्ततिलका॥

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु,
रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम्॥ ९॥

॥ अर्थ॥ वहुरि जे पुरुष शुद्धनय तैं छूटि करि फेरि रागादि के योग कहिये संवंध कूं प्राप्त होय हैं, ते छोड्या है ज्ञान जिनिनै अैसे भये संते कर्मवंध कूं धारैं हैं।

कैसा कर्मवंध कूं धारैं हैं॥ पूर्वैं वंधे जे द्रव्याश्रव तिनि करि कीया है विचित्र अनेक प्रकार विकल्पनि का जाल जानैं॥

॥ भावार्थ॥ फेरि शुद्धनय तैं चिगैं तौ रागादिक के संवंध तैं द्रव्याश्रव कै अनुसार अनेक भेद लीयें कर्मनि कूं वांधै हैं॥ नय तैं चिगनां, यह जो फेरि मिथ्यात्व का उदय आय जाय, तव वंध होनें

भावार्थ – यहाँ शुद्धनय के द्वारा एकाग्र होना कहा है किन्तु साक्षात् शुद्धनय का होना तो केवलज्ञान होने पर होता है; लेकिन यह शुद्धनय तो श्रुतज्ञान का अंश है, अतः इसके द्वारा शुद्धस्वरूप का श्रद्धान करना और ध्यान में एकाग्र होना, वह परोक्ष अनुभव है; एकदेश शुद्ध होने की अपेक्षा इसे ही व्यवहार से प्रत्यक्ष भी कहा जाता है।

पुनः कहते हैं कि जो इससे च्युत हो जाते हैं, वे कर्म बाँधते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

च्युत हुए जो शुद्धनय से, बोध-विरहित जीव वे।
पहले बँधे द्रव्यकर्म से, रागादि में उपयुक्त हों॥
अरे! विचित्र विकल्पवाले, और विविध प्रकार के।
विपरीतता से भरे विध-विध, कर्म का बन्धन करें॥ १२१॥

अर्थ – जो पुरुष, शुद्धनय से छूट कर, पुनः रागादि के साथ योग अर्थात् सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, वे ज्ञान को छोड़ कर, कर्मबन्ध को धारण करते हैं। **कैसे कर्मबन्ध को धारण करते हैं?** – पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवों के द्वारा अनेक प्रकार के विचित्र विकल्पों का जाल जिन्होंने रच रखा है।

भावार्थ – शुद्धनय से छूटने पर तो रागादि के सम्बन्ध से द्रव्यास्रवों के अनुसार अनेक

लगि जाय। जातैं इहां मिथ्यात्व संबंधी रागादिक तैं बंध होनें की प्रधानता करी है अर उपयोग की अपेक्षा गौण है। शुद्धोपयोगरूप रहनें का काल अल्प है, तातैं ताका छूटनें की अपेक्षा इहां नाही, अन्य ज्ञेय तैं ज्ञान उपयुक्त होय तौऊ मिथ्यात्व विनां, राग का अंश है सो ज्ञानी के अभिप्रायपूर्वक नाही, तातैं अल्प बंध संसार का कारण नाही॥

[अथवा उपयोग की अपेक्षा लीजिये, तव शुद्धस्वरूप तैं चिगै सम्यक्त्व तैं न छूटै। तव चारित्रमोह का राग तैं किछू बंध होय है सो अज्ञान की पक्ष मैं नाही गिणिये अर बंध है ही, ताकूं मेटनें कूं शुद्धनय तैं न छूटनें का अर शुद्धोपयोग मैं लीन होनें का सम्यग्दृष्टी ज्ञानी कूं उपदेश है, अैसैं जाननां।][१] ॥ छ॥

आगैं, इस ही अर्थ के समर्थन कूं दृष्टांत करि दिषावै हैं॥ छ॥

जह पुरिसेणाहारो, गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं।
मंसवसारुहिराई, भावे उयरग्गिसंजुत्तो॥ १६॥
तह णाणिस्स उ पुव्वं, जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बंधंते कम्मं ते, णयपरिहीणा उ ते जीवा॥ १७॥
॥ युगलं॥

भेदोंवाले कर्मों को बाँधते हैं। शुद्धनय से च्युत होने पर अर्थात् पुनः मिथ्यात्व का उदय आने पर [पुनः] बन्ध होने लग जाता है क्योंकि यहाँ मिथ्यात्व-सम्बन्धी रागादि से होनेवाले बन्ध को प्रधान माना है और उपयोग (अशुद्धोपयोग) की अपेक्षा गौण है। शुद्धोपयोगरूप रहने का काल तो अल्प है, इसलिए उसके छूटने की अपेक्षा यहाँ नहीं है। अन्य ज्ञेयों से ज्ञान जुड़ने पर भी मिथ्यात्व से रहित राग का अंश ज्ञानी को अभिप्रायपूर्वक नहीं है; अतः अल्प बन्ध, संसार का कारण नहीं है।

[**अथवा** यदि उपयोग की अपेक्षा विचार किया जाए तो शुद्धस्वरूप से उपयोग हटने पर भी सम्यक्त्व नहीं छूटता, तब चारित्रमोह के राग से कुछ अल्प बन्ध होता है लेकिन वह अज्ञान के पक्ष में नहीं गिना जाता; परन्तु बन्ध तो वहाँ है ही, अतः उसे मिटाने के लिए शुद्धनय से नहीं छूटने का और शुद्धोपयोग में लीन होने का उपदेश सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को भी देते हैं – ऐसा जानना चाहिए]।[२]

अब, इसी अर्थ के समर्थन के लिए दृष्टान्तपूर्वक दिखाते हैं —

जह पुरिसेणाहारो, गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं।
मंसवसारुहिरादी, भावे उदरग्गिसंजुत्तो॥ १७९॥

१-२. यह अनुच्छेद मूल प्रति 'अ' में नहीं हैं परन्तु प्रतिलिपि 'ब' में है। इतना बड़ा सटीक अनुच्छेद जोड़ने की कोशिश अन्य कोई सामान्य लिपिकार नहीं कर सकता; अतः ज्ञात होता है कि इस 'ब' प्रतिलिपि को स्वयं पण्डित जयचन्दजी ने अथवा उनके सुयोग्य पुत्र पण्डित नन्दलालजी ने अथवा अन्य किसी अधिकारी विद्वान् ने अवश्य संशोधित किया होगा। इस सम्बन्ध में इस ग्रन्थ के सम्पादकीय में भी स्पष्टीकरण किया गया है। – *सम्पादक*

यथा पुरुषेणाहारो, गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधम्।
मांसवसारुधिरादीन्, भावानुदराग्निसंयुक्तः॥ छ॥
तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं, ये बद्धा प्रत्यया बहुविकल्पम्।
बध्नन्ति कर्म ते, नयपरिहीनास्तु ते जीवाः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं पुरुष नैं आहार ग्रहण कीया, सो आहार उदराग्नि करि युक्त भया अनेक प्रकार मांस वसा रुधिर आदि भावनिरूप परिणमै है॥ छ॥

तैसैं ज्ञानी कै पूर्वैं वंधे जे द्रव्याश्रव, ते वहुत भेद लीयें कर्मनि कूं वांधैं हैं॥ वहुरि जिनिकै ए कर्म वंधैं हैं, ते जीव कैसे हैं। नय करि हीन भये हैं, शुद्धनय तैं छूटि गये हैं, अज्ञान अवस्था कूं प्राप्त भये हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ जिस काल ज्ञानी शुद्धनय तैं परिहीण होय है, छूटै है॥ तिस काल ताकै रागादि भावनि का सद्भाव तैं पूर्वैं वांधे थे जे प्रत्यय कहिये द्रव्याश्रव, ते अपनां हेतुपणां का हेतु का सद्भाव होतैं हेतुमत् कहिये कार्य, ताका भाव का अनिवारण है, अवश्य होय है, तातैं ज्ञानावरण आदि भावनि करि पुद्गलकर्म कूं वंधरूप परिणमावै है सो यहु अप्रसिद्ध नाही है, दृष्टांत करि प्रसिद्ध है॥ जैसैं पुरुष करि ग्रह्या जो आहार, ताका उदराग्नि करि रस रुधिर मांस आदि भावनि करि परिणाम करनें का

तह णाणिस्स दु पुव्वं, जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते, णयपरिहीणा दु ते जीवा॥ १८०॥

आहार पुरुष गृहीत ज्यों, उदराग्नि के संयोग से।
बहुभेद माँस वसा अरु, रुधिरादि भावों परिणमे॥ १७९॥
त्यों ज्ञानी के भी पूर्वकाल, निबद्ध जो प्रत्यय रहे।
बहुभेद बाँधे कर्म जो, जीव शुद्धनय-परिच्युत बने॥ १८०॥

अर्थ – जिस प्रकार पुरुष द्वारा ग्रहण किया गया आहार, उदराग्नि से युक्त होकर अनेक प्रकार माँस, वसा, रुधिर आदिरूप परिणमन करता है॥ १७९॥

उसी प्रकार ज्ञानी के पूर्वबद्ध द्रव्यास्रव, बहुत प्रकार के कर्मों को बाँधते हैं। **जिनसे ये कर्म बँधते हैं, वे जीव कैसे हैं?** – नय से हीन हुए हैं, शुद्धनय से छूट गये हैं और अज्ञान अवस्था को प्राप्त हुए हैं॥ १८०॥

टीका – जिस समय ज्ञानी, शुद्धनय से च्युत होता है, छूटता है; उस समय उसके रागादिभावों के सद्भाव से पूर्वबद्ध प्रत्यय अर्थात् द्रव्यास्रव, अपने कारण के कारण का सद्भाव होने से हेतुमान अर्थात् कार्य के सद्भाव की अनिवार्यता होने से अवश्य होता है; अतः वे रागादिभाव, [निमित्त होकर] ज्ञानावरण आदि भावोंरूप पुद्गलकर्म का बन्ध कराते हैं – यह अप्रसिद्ध नहीं है, दृष्टान्त से प्रसिद्ध है। जैसे, पुरुष के द्वारा ग्रहण किये गए आहार का, उदराग्नि के द्वारा रस, रुधिर, माँस

प्रत्यक्ष दर्शन है, देषिये है, तैसैं जाननां॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञानी शुद्धनय तैं छूटै, तव रागादि भावनि का सद्भाव होय, 'तव अज्ञानी मिथ्यादृष्टी भया'[१] संता कर्मनि कूं वांधै है, जातैं रागादि भाव हैं, ते द्रव्याश्रव कूं निमित्त होय, तव ते आश्रव अवश्य कर्मवंध कूं कारण होय हैं॥ छ॥

इहां, इस अर्थ का तात्पर्यरूप श्लोक है॥ छ॥

॥ अनुष्टुभ्॥

इदमेवात्र तात्पर्यं, हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्त्यागाद्बन्ध एव हि॥ १०॥

॥ अर्थ॥ इहां पहलैं कथन विषै यह तात्पर्य है जो शुद्धनय है सो त्यागनें योग्य नाही है। यह उपदेश है, जातैं तिस शुद्धनय के अत्याग तैं तौ कर्म का वंध नाही होय है। वहुरि तिसके त्याग तैं वंध होय ही है॥ छ॥

फेरि, तिस शुद्धनय ही के ग्रहण कूं दृढ़ करते संते काव्य कहै है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने, बोधे निबध्नन् धृतिं,
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वङ्कषः कर्मणाम्।

आदिरूप परिणमन प्रत्यक्ष देखा जाता है; उसी प्रकार यहाँ भी जानना।

भावार्थ – ज्ञानी, जब शुद्धनय से छूटता है, तब रागादिभावों का सद्भाव होता है, तब वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होता हुआ कर्मों को बाँधता है क्योंकि रागादिभाव द्रव्यास्रव के निमित्त होते हैं, तब वे आस्रव, अवश्य ही कर्मबन्ध में कारण होते हैं।

यहाँ, इस अर्थ का तात्पर्यरूप श्लोक कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

इस कथन का सार यह कि, शुद्धनय उपादेय है।
अरु शुद्धनय द्वारा निरूपित, आत्मा ही ध्येय है॥
क्योंकि इसके त्याग से ही, बन्ध और अशान्ति है।
इसके ग्रहण में आत्मा की, मुक्ति एवं शान्ति है॥ १२२॥

अर्थ – यहाँ पूर्वोक्त कथन का यह तात्पर्य है कि शुद्धनय, त्यागने योग्य नहीं है – यह उपदेश है क्योंकि उस शुद्धनय के ग्रहण से तो कर्म का बन्ध नहीं होता और उसके त्याग से बन्ध होता ही है।

अब, पुनः उस शुद्धनय ही के ग्रहण करने को दृढ़ करते हुए काव्य कहते हैं —

---

१. *तव रागादिरूप भया* – 'ब' प्रति पाठ

तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः,
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं, पश्यन्ति शान्तं महः॥ ११॥

॥ अर्थ॥ पुन्यवान महंत पुरुषनि करि शुद्धनय है सो कदाचित् भी छोडनें योग्य नाही है।

कैसा है शुद्धनय॥ ज्ञान विषै थिरता कूं अतिशय करि वांधता संता है।

कैसे ज्ञान विषै थिरता वांधै है॥ धीर कहिये चलाचलपणें तैं रहित अर उदार कहिये सर्व पदार्थ मैं आप विस्तरती है महिमा जाकी॥

वहुरि कैसा है ज्ञान॥ अनादिनिधन है, जाका आदि अंत नाही है॥

वहुरि कैसा है शुद्धनय॥ कर्मनि का सर्वंकष कहिये मूल तैं नाश करनहारा है॥

अैसे शुद्धनय के विषै जे तिष्टे हैं, ते पुरुष, अपनीं ज्ञान की मरीचि कहिये व्यक्तिविशेष, तिनिकूं तत्काल समेटि करि कर्म के पटल तैं वाह्य नीसरता अर संपूर्ण ज्ञानघन का समूहस्वरूप निश्चल जो शांतरूप महः कहिए ज्ञानमयी तेज प्रताप का पुंज, ताहि अवलोकन करैं हैं॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ शुद्धनय है सो आत्मा कूं एक चैतन्यमात्र, समस्त ज्ञान के विशेषनि कूं गौण करि अर समस्त परिनिमित्त तैं भये भावनि कूं गौण करि, शुद्ध नित्य अभेदरूप कूं ग्रहण करै है सो अैसे

॥ हरिगीतिका॥

धीर और उदार महिमा-युत अनादि-अनन्त जो।
उस ज्ञान में थिरता करे, अरु कर्मनाशक भाव जो॥
सद्ज्ञानियों को कभी भी वह, शुद्धनय ना हेय है।
विज्ञानघन इक अचल आतम, ज्ञानियों का ज्ञेय है॥ १२३॥

अर्थ – पुण्यवान् महन्त पुरुषों को शुद्धनय कभी भी छोड़ने योग्य नहीं है।

कैसा है शुद्धनय? – ज्ञान में स्थिरता को अत्यधिक बाँधता हुआ है।

वह ज्ञान में स्थिरता को कैसे बाँधता है? – धीर अर्थात् चलाचलता से रहित और उदार अर्थात् सर्व पदार्थों में जिसकी महिमा स्वयं विस्तृत होती है।

कैसा है ज्ञान? – अनादिनिधन है अर्थात् जिसका आदि और अन्त नहीं है।

और कैसा है शुद्धनय? – कर्मों का सर्वङ्कष अर्थात् मूल से नाश करनेवाला है।

इस प्रकार शुद्धनय में स्थित पुरुष, अपने ज्ञान की मरीचि अर्थात् व्यक्त पर्यायों को तत्काल समेट कर, कर्म के आवरण से मुक्त होते हुए सम्पूर्ण ज्ञानघन के समूहस्वरूप निश्चल शान्तरूप **महः** अर्थात् ज्ञानमय तेज-प्रताप के पुञ्ज का अवलोकन करते हैं।

भावार्थ – शुद्धनय, आत्मा को एक चैतन्यमात्र, समस्त ज्ञान के विशेषों और समस्त परनिमित्तों से हुए भावों को गौण करके, शुद्ध नित्य अभेदस्वरूप ग्रहण करता है – ऐसे शुद्धनय के विषयभूत अपनी आत्मा का जो अनुभव करते हैं, उसमें एकाग्र होकर स्थित होते हैं; वे समस्त कर्मों के समूह

शुद्ध का विषयस्वरूप अपनां आत्मा कूं अनुभवैं हैं, एकाग्र होय तिष्टैं हैं, ते समस्त कर्म के समूह तैं न्यारा संपूर्ण ज्ञान जो केवलज्ञानस्वरूप अमूर्त्तीक पुरुषाकार वीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप अपनां आत्मा, ताहि अवलोकन करैं हैं या शुद्धनय कै विषै अंतर्मुहूर्त तिष्टैं शुक्लध्यान की प्रवृत्ति होय करि केवलज्ञान उपजै है, अैसा याका माहात्म्य है सो याकूं अवलंवन करि फेरि जेतै केवलज्ञान न उपजै, तेतै यातैं चिगनां नाही, अैसा श्रीगुरुनि का उपदेश है॥ छ॥

अैसैं आश्रव का अधिकार पूर्ण कीया। अव रंगभूमि मैं आश्रव का स्वांग प्रवेश भया था, ताकूं ज्ञान यथार्थ जाणि, स्वांग दूरि कराय, आप प्रगट भया, अैसे ज्ञान की महिमा के अर्थरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ मन्दाक्रान्ता॥

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्त्रवाणां,
नित्योद्योतं किमपि परमं, वस्तु संपश्यतोऽन्तः।
स्फार-स्फारैः स्वरसविसरैः, प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकान्तादचलमतुलं, ज्ञानमुन्मग्नमेतत्॥ १२॥

॥ अर्थ॥ रागादिक आश्रवनि का तत्काल क्षणमात्र मैं सर्व प्रकार दूरि होनें तैं नित्य उद्योतरूप किछू परमवस्तु कूं अंतरंग विषै अवलोकन करनेंवाला पुरुष कै यहु ज्ञान है सो उन्मग्न कहिये उदयरूप प्रगट भया॥

से रहित सम्पूर्ण ज्ञान अर्थात् केवलज्ञानस्वरूप अमूर्तिक पुरुषाकार वीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप अपनी आत्मा का अवलोकन करते हैं। इस शुद्धनय के विषय में अन्तर्मुहूर्त स्थिर होने पर शुक्लध्यान की प्रवृत्ति होकर केवलज्ञान उत्पन्न होता है – ऐसा इसका माहात्म्य है; अतः इसका अवलोकन करने के बाद जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो जाए, तब तक इससे च्युत नहीं होना – ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।

इस प्रकार आस्रव अधिकार पूर्ण होता है। अधिकार के प्रारम्भ में रङ्गभूमि में आस्रव का स्वाङ्ग प्रविष्ट हुआ था; उसे ज्ञान, यथार्थ जान कर, स्वाङ्ग को दूर कर स्वयं प्रगट होता है; अतः ऐसे ज्ञान की महिमा व्यक्त करते हुए काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

निज आतमा है परमवस्तु, उसे जो पहिचानते।
अरु उसी में जो नित रमें, अरु उसे ही जो जानते॥
वे आस्रवों का नाश कर, नित रहें आतमध्यान में।
वे रहें निज में किन्तु लोकाऽलोक उनके ज्ञान में॥ १२४॥

अर्थ – रागादि आस्रवों के तत्काल क्षणमात्र में सर्व प्रकार दूर होने पर नित्य उद्योतरूप परमवस्तु को अन्तरङ्ग में अवलोकन करनेवाले पुरुष को यह ज्ञान, उन्मग्न अर्थात् उदयरूप प्रगट होता है।

कैसा प्रगट भया॥ अति विस्ताररूप फैलते जे अपनें निजरस के प्रवाह, तिनि करि सर्व लोक पर्यंत अन्य भाव, तिनिकूं अंतर्मग्न करता संता।

वहुरि कैसा है। अचल है, जैसैं के तैसैं सर्व पदार्थ जामैं सदा प्रतिभासैं हैं, चलैं नाही हैं।

वहुरि कैसा है। अतुल है, जाकी वरावरि और नाही है॥

॥ भावार्थ॥ शुद्धनय कूं अवलंवन करि जो पुरुष अंतरंग विषै चैतन्यमात्र परमवस्तु कूं एकाग्र अनुभवै है, ताकै सर्व रागादिक आश्रवभाव दूरि होय अर सर्व पदार्थनि कूं जाननेंवाला निश्चल अतुल्य केवलज्ञान प्रगट होय है सो यह ज्ञान सर्व तैं महान है॥ छ॥

अैसैं आश्रव का स्वांग रंगभूमि मैं प्रवेश भया था, ताकूं ज्ञान यथार्थरूप जानि लीया, तव नीसरि गया॥ छ॥

॥ सवइया तेईसा॥

योग कषाय मिथ्यात्व असंयम, आश्रव द्रव्य ते आगम गाये।
राग विरोध विमोह विभाव, अज्ञानमयी यह भाव तजाये।
जे मुनिराज करैं इनि त्याज[१], सुरिद्धि समाज लयें सिव थाये।
काय नवाय, नमूं चित लाय, कहूं जय पाय, लहूं मन भाये॥ १॥

कैसे प्रगट होता है? – अति विस्ताररूप फैले हुए अपने निजरस के प्रवाह में सर्व लोकपर्यन्त के अन्य भावों को अन्तर्मग्न करता हुआ प्रगट होता है।

और कैसा है? – अचल है, सर्व पदार्थ ज्यों के त्यों प्रतिभासित होते हैं, चलित नहीं होते।

और कैसा है? – अतुल है, जिसके बराबर और कोई नहीं है।

भावार्थ – जो पुरुष, शुद्धनय का अवलम्बन करके अन्तरङ्ग में चैतन्यमात्र परमवस्तु का एकाग्र अनुभव करते हैं, उनके सर्व रागादि आस्रवभाव दूर होकर, सर्व पदार्थों को जाननेवाला अचल एवं अतुलनीय केवलज्ञान प्रगट होता है – ऐसा यह ज्ञान, सबसे महान है।

इस प्रकार आस्रव का स्वाङ्ग, जो रङ्गभूमि में प्रविष्ट हुआ था, उसे जब ज्ञान ने यथार्थ जान लिया, तब वह [आस्रव] बाहर निकल गया।

॥ सवैया तेईसा॥

योग कषाय मिथ्यात्व असंयम, आस्रव द्रव्य ते आगम गाये।
राग विरोध विमोह विभाव, अज्ञानमयी यह भाव तजाये॥
जे मुनिराज करैं इनि त्याग, सुरिद्धि समाज लयें शिव थाये।
काय नवाय नमूँ चित लाय, कहूँ जय, पाय लहूँ, मन भाये॥ १॥

---

१. *पाज* - 'ब' प्रति पाठ / *पाल* - अगास प्रकाशन पाठ

इहां ताई गाथा १८० भई, कलसा १२४ भये।[१]

ऐसैं इस समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति नामा टीका की वचनिका विषै आश्रव नाम चौथा अधिकार पूर्ण भया॥ छ॥[२]

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

[**अर्थ** – आगम में मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग को द्रव्यास्रव बताया गया है तथा राग-द्वेष-विमोह – इन अज्ञानमयी भावों (भावास्रव) का त्याग कराया गया है। जो मुनिराज, इन दोनों का त्याग कर, ऋद्धियों और सर्व गुणों को प्राप्त करके सिद्ध हो गए हैं; उन्हें मैं अच्छी तरह मन लगाकर साष्टाङ्ग नमस्कार करता हूँ, उन्होंने सर्व आस्रव भावों पर विजय प्राप्त की है; अतः मैं (जयचन्द छाबड़ा) उनकी जय-जयकार करता हूँ, जिससे मैं अपना मनवाञ्छित मोक्षपद प्राप्त कर सकूँ।]

यहाँ तक कुल गाथाएँ १८० और कलश १२४ हो गए हैं।[३]

इस प्रकार [आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेवप्रणीत] श्री समयसार ग्रन्थ की एवं [आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेवविरचित] श्री आत्मख्याति नामक [संस्कृत] टीका की [पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ाकृत] श्री समयसार वचनिका में चौथा 'आस्रव अधिकार' पूर्ण होता है।[४]

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

१-४. यहाँ सम्पादन एवं एकरूपता की दृष्टि से अनुच्छेदों को आगे-पीछे किया गया है।

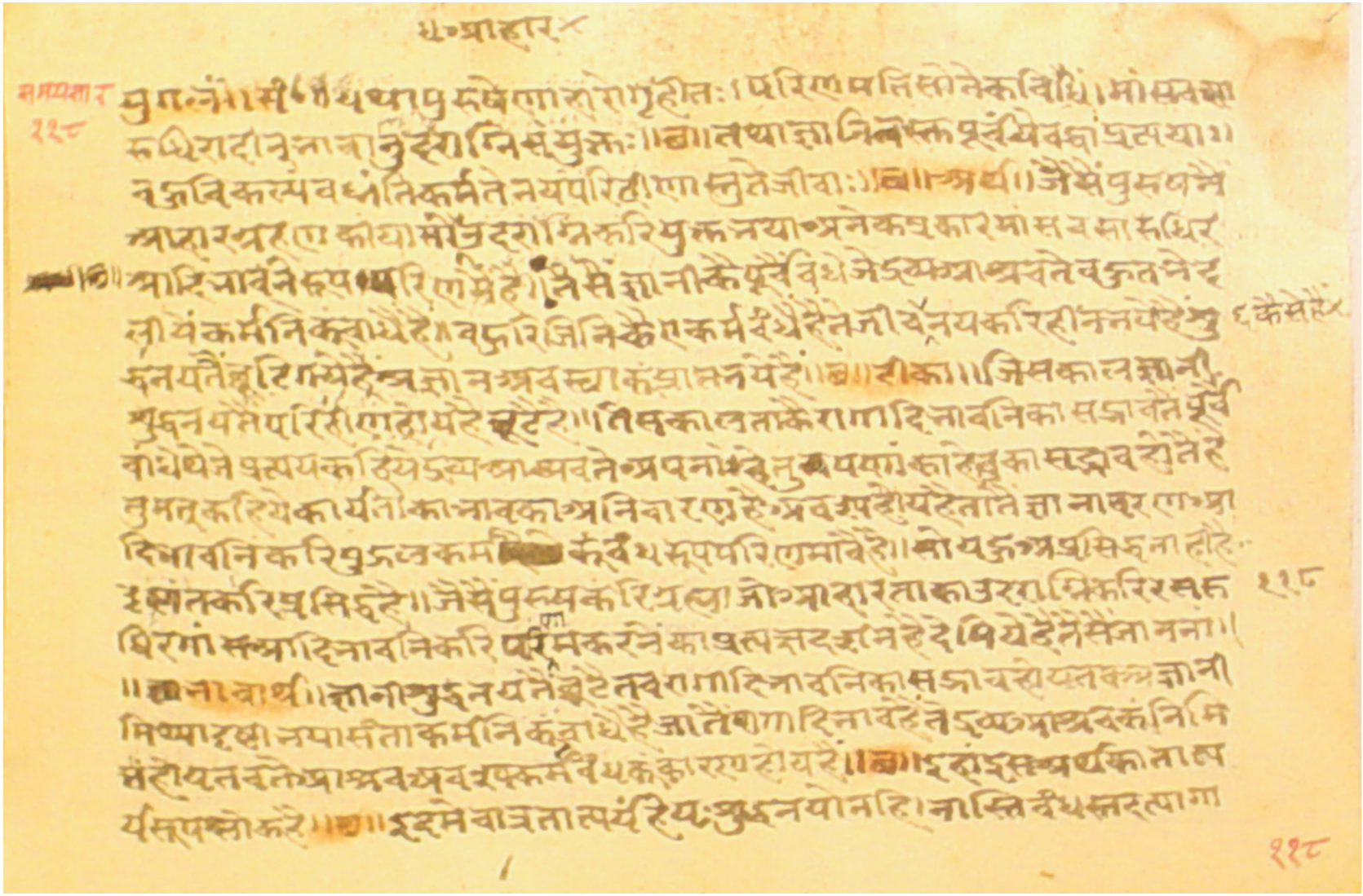

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ११८ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर आस्रव अधिकार की अन्तिम गाथाएँ १६-१७ (१७९-१८०) का प्रकरण चल रहा है। इसमें नीचे से चौथी पंक्ति में लिखा है - **'ज्ञानी शुद्धनय तैं छूटै, तव रागादि भावनि का सद्भाव**

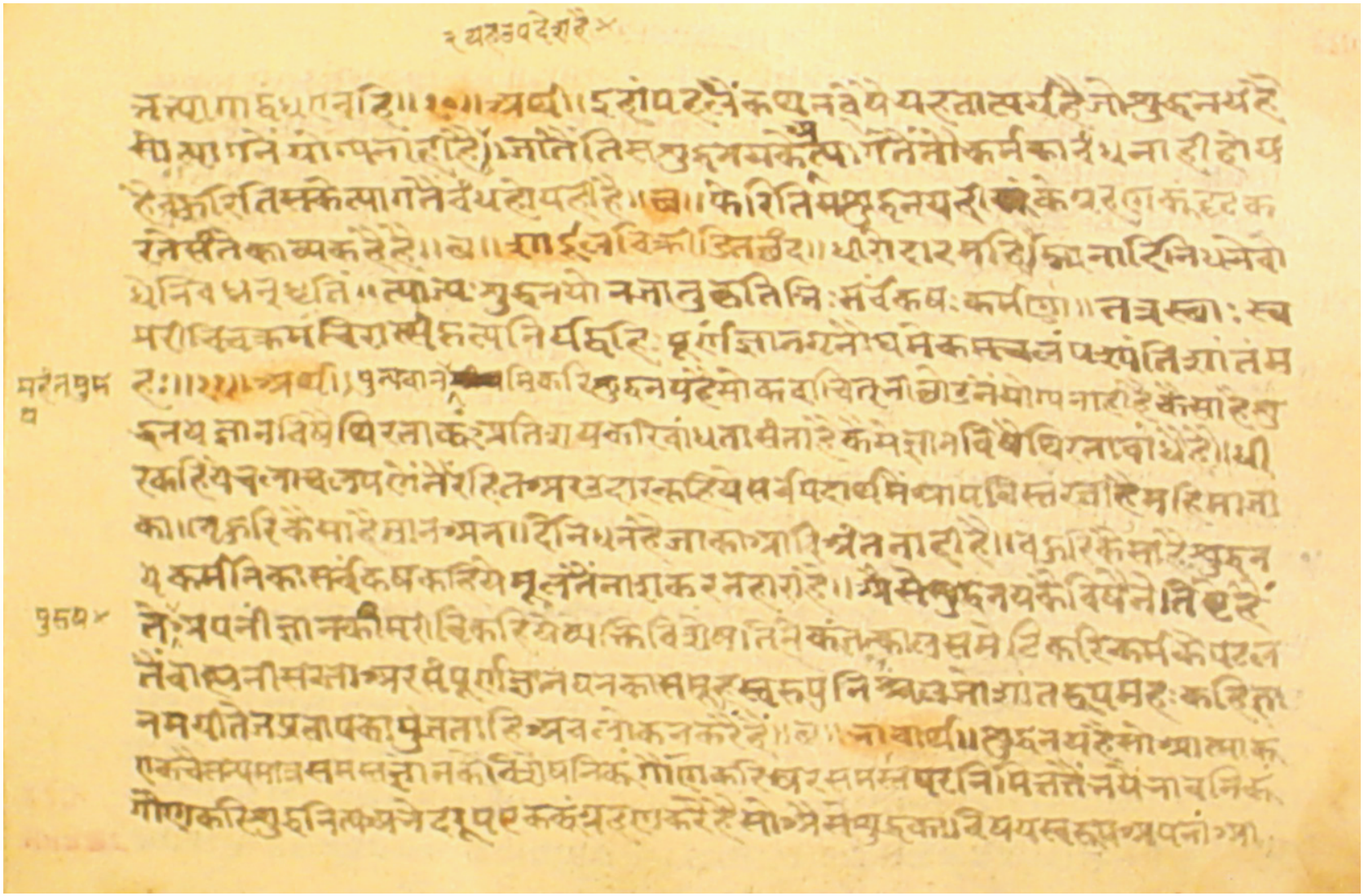

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क ११९ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर आस्रव अधिकार के अन्तिम कलशों में से कलश ११ (१२३) का प्रकरण है। इसमें ऊपर से पहली ही पंक्ति में लिखा है – **'यह तात्पर्य है जो शुद्धनय है सो त्यागनें योग्य नाही है, यह उपदेश है, जातैं तिस शुद्धनय के अत्याग तैं तौ कर्म का वंध नाही होय है। वहुरि तिसके त्याग तैं वंध होय ही है ॥ छ ॥'**

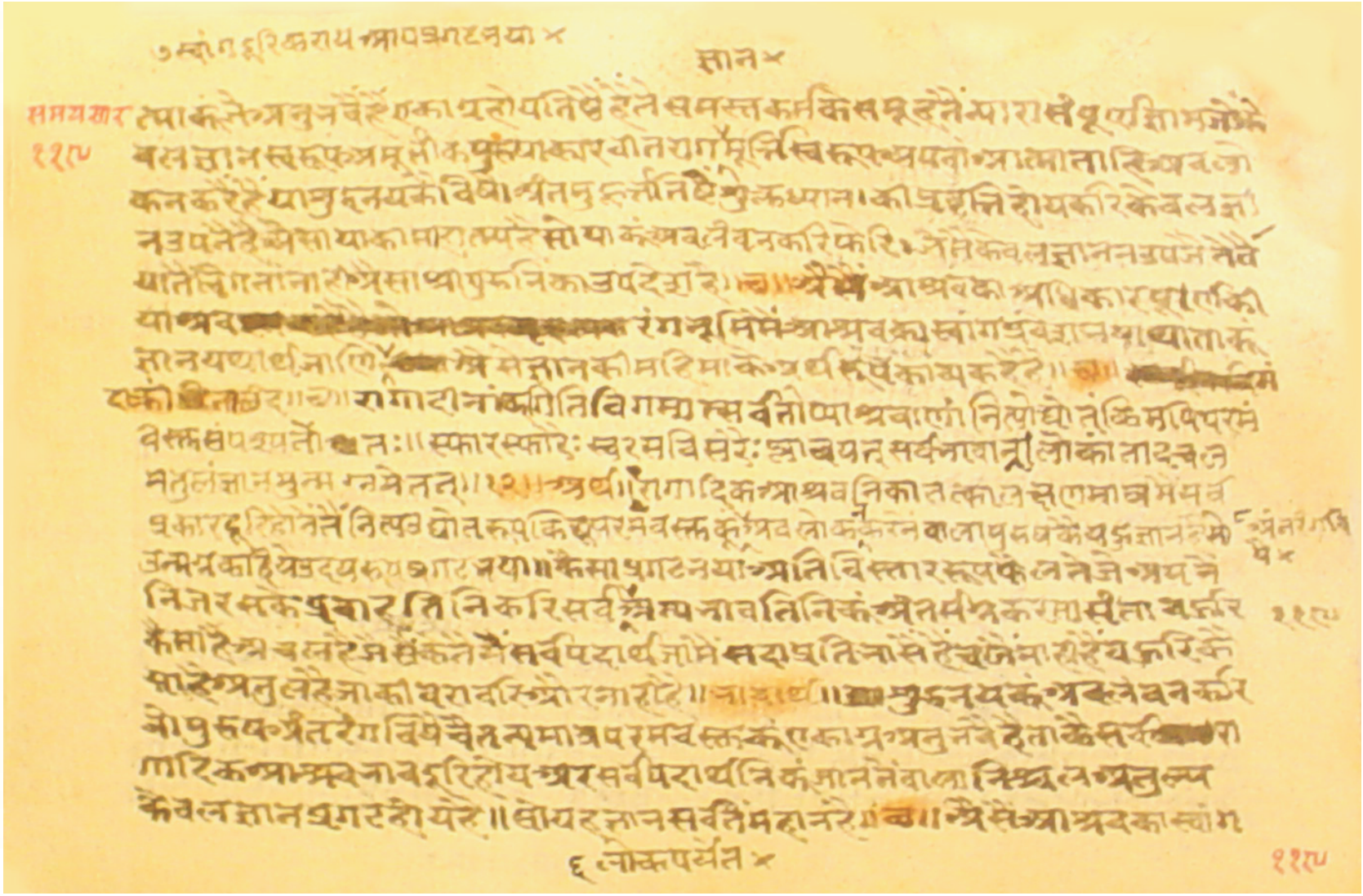

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र ११९ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर आस्रव अधिकार का अन्तिम कलश १२ (१२४) का प्रकरण चल रहा है। इसमें ऊपर से तीसरी पंक्ति में लिखा है – **'या शुद्धनय कै विषै अंतर्मुहूर्त तिष्टैं, शुक्लध्यान की प्रवृत्ति होय करि,**

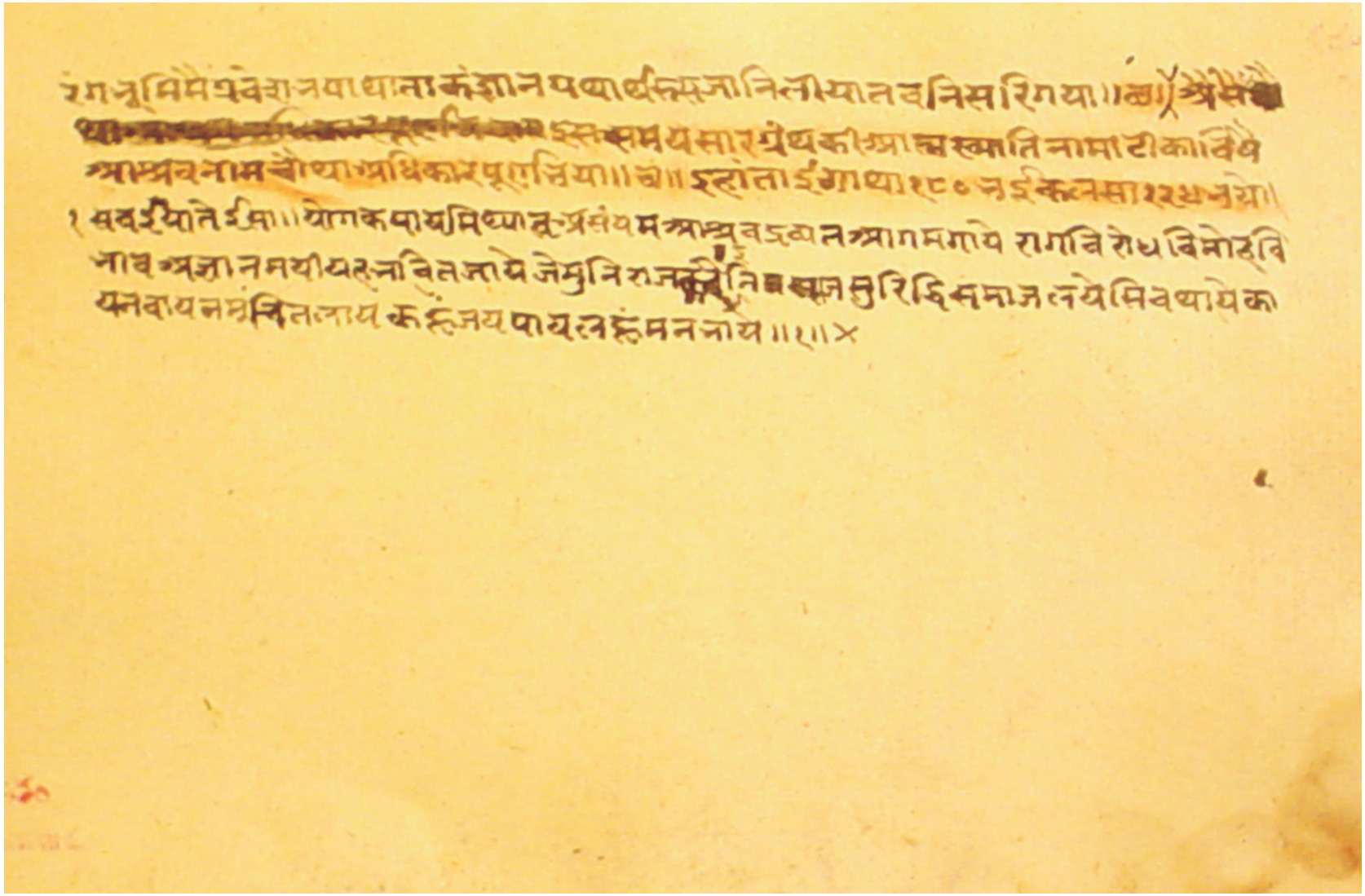

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १२० का अगला भाग है। इस पत्र का पिछला भाग खाली छोड़ा गया है। यहाँ आस्रव अधिकार पूर्ण होता है। आस्रव अधिकार के अन्त में मङ्गलसूचक 'सवैया तेईसा' छन्द में लिखा है – '**जे मुनिराज करैं इनि त्याज, सुरिद्धि समाज लयें सिव थाये। काय नवाय, नमूं चित्त लाय, कहूं जय पाय, लहूं मन भाये॥ १ ॥**'

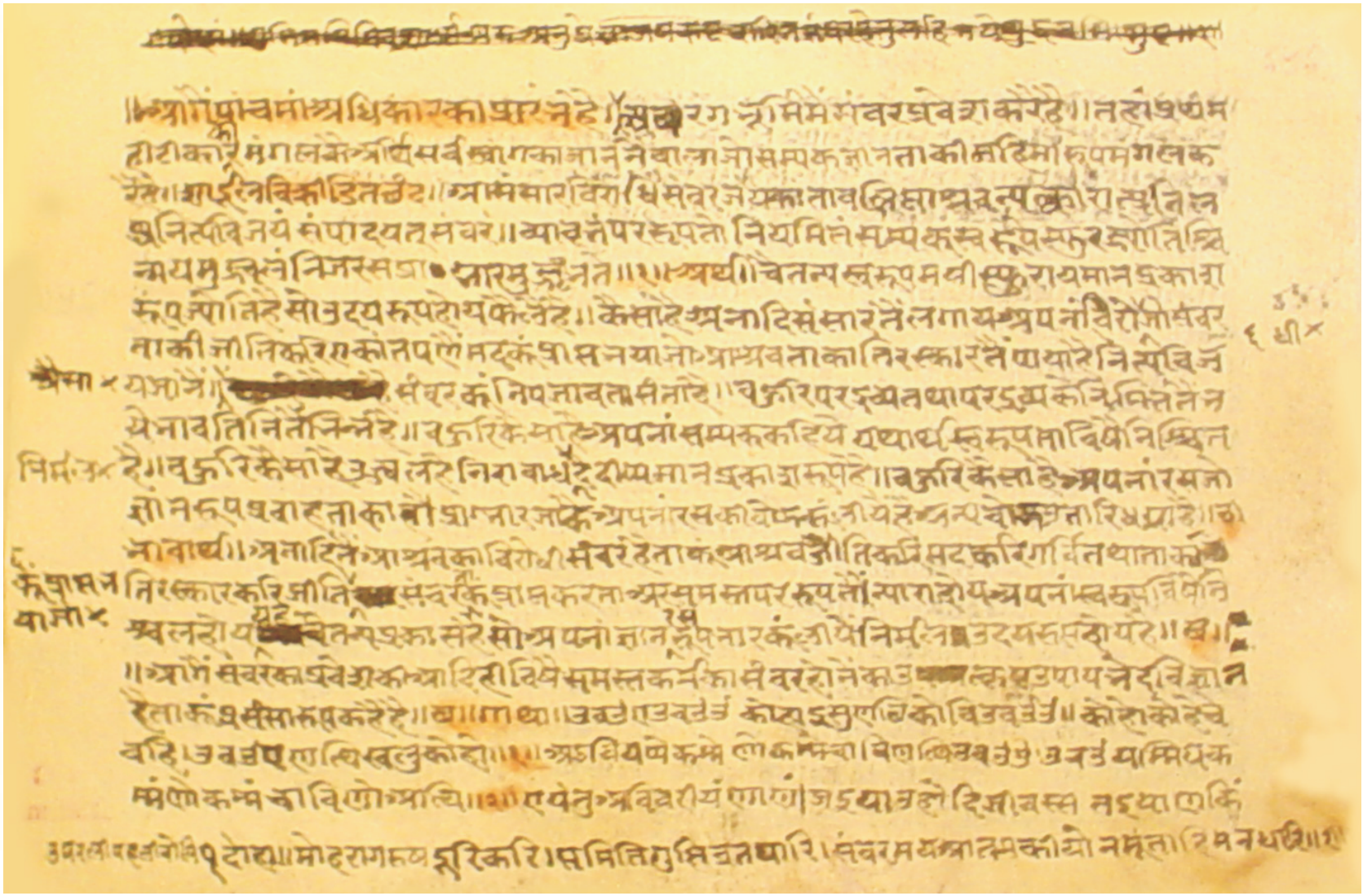

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १२१ का अगला भाग है। यहाँ से पाँचवाँ संवर अधिकार प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ में मङ्गलसूचक 'दोहा' लिखा है, जिसे पण्डितजी ने बाद में जोड़ा है – **'आगैं पांचमां अधिकार का प्रारंभ है** ॥ दोहा ॥ **मोह राग रुष दूरि करि, समिति गुप्ति व्रत पारि। संवरमय आतम कीयो, नमूं ताहि मन धारि॥ १ ॥'**

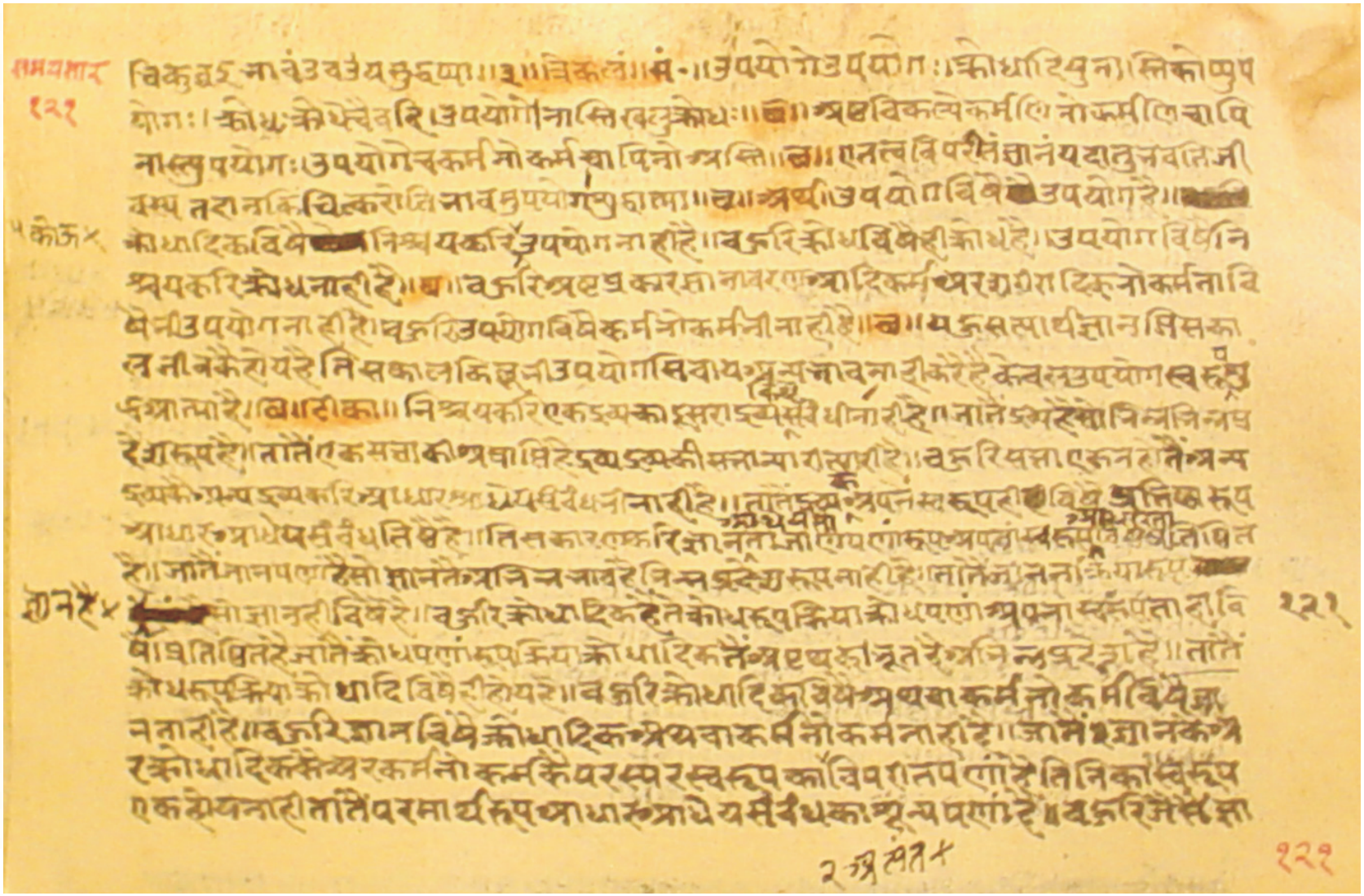

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १२१ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर संवर अधिकार की प्रारम्भिक तीन गाथाओं १-२-३ (१८१-१८२-१८३) का प्रकरण है। इसमें ऊपर से चौथी पंक्ति में लिखा है - '**उपयोग विषै उपयोग है। क्रोधादिक विषै निश्चय**

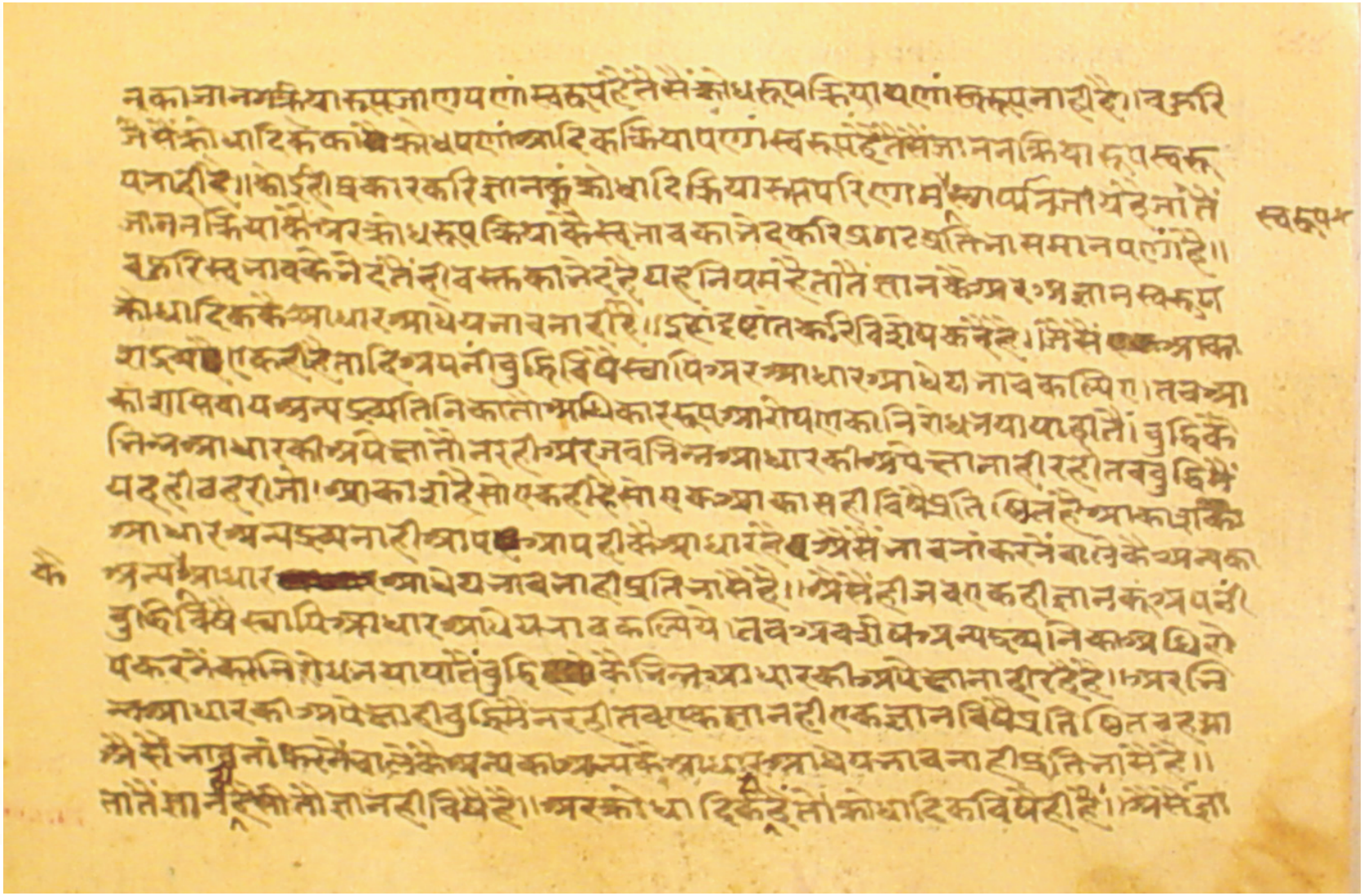

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १२२ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर संवर अधिकार की प्रारम्भिक तीन गाथाओं की टीका का प्रकरण है। इसमें ऊपर से तीसरी पंक्ति में लिखा है – '**कोई ही प्रकार करि ज्ञान कूं, क्रोधादि क्रियारूप परिणामस्वरूप**

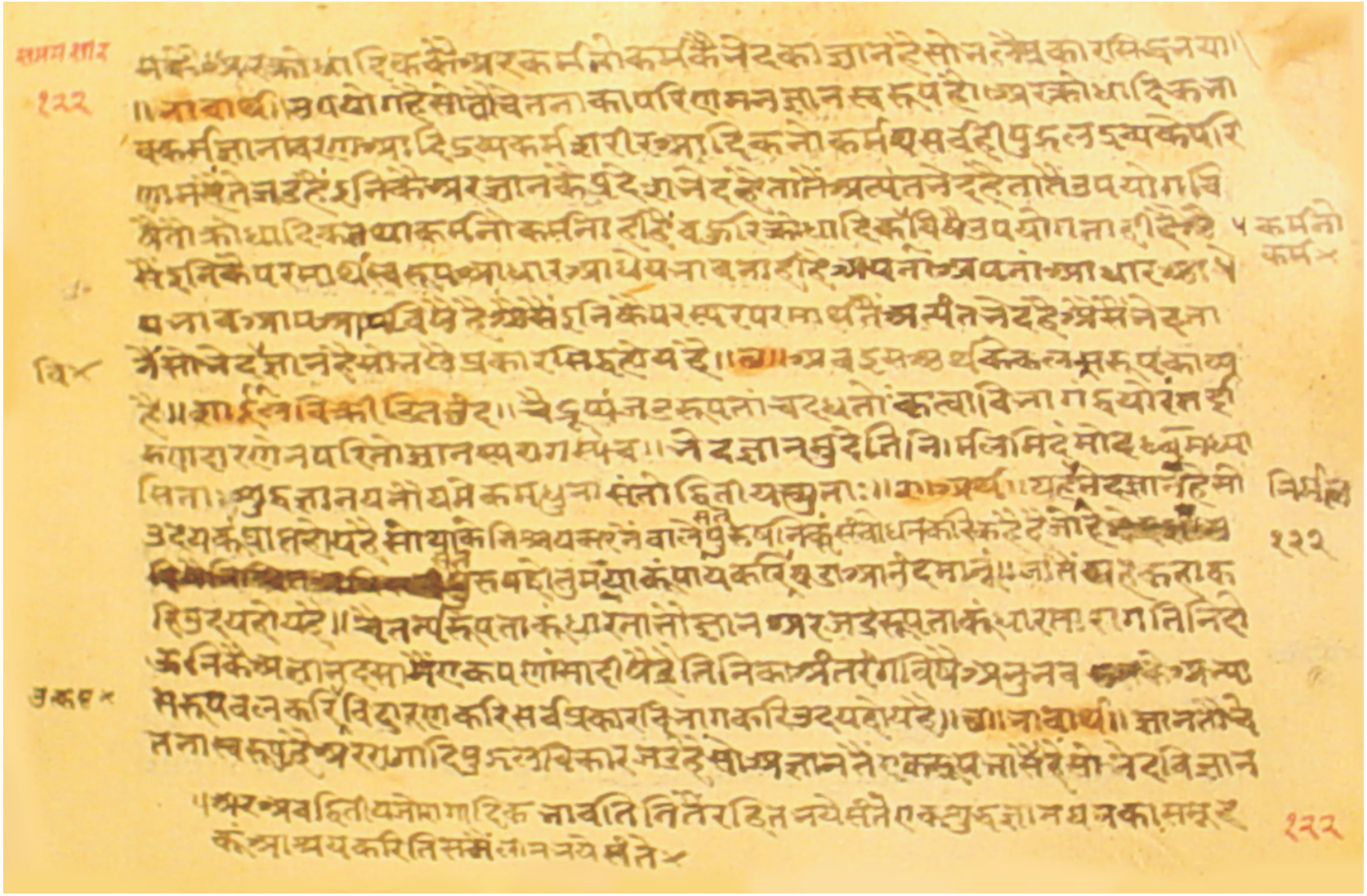

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १२२ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर संवर अधिकार के कलश २ (१२६) का प्रकरण है। इसमें ऊपर से दूसरी पंक्ति में लिखा है – **'उपयोग है सो तौ चेतना का परिणमन ज्ञानस्वरूप है॥ अर क्रोधादिक भावकर्म, ज्ञानावरण**

५

॥ संवर अधिकार ॥

आगैं, पांचमां अधिकार का प्रारंभ है ॥

॥ दोहा ॥

मोह राग रुष दूरि करि, समिति गुप्ति व्रत पारि।
संवरमय आतम कीयो, नमूं ताहि मन धारि॥ १ ॥

अव रंगभूमि मैं संवर प्रवेश करै है॥

तहां प्रथम ही टीकाकार मंगल कै अर्थि सर्व स्वांग का जाननेंवाला जो सम्यक्ज्ञान, ताकी महिमारूप मंगल करै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

आसंसारविरोधिसंवरजयै-कान्ताऽवलिप्ताऽस्रव-
न्याक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं, सम्पादयत् संवरम्॥

अब, पाँचवाँ [संवर] अधिकार, प्रारम्भ होता है —

॥ दोहा ॥

मोह-राग-रुष दूर कर, समिति-गुप्ति-व्रत-पाल।
संवरमय आतम कियो, नमूँ ताहि मन धार॥ १॥

[**अर्थ** — मोह-राग-द्वेष को दूर करके, समिति-गुप्ति-व्रतों का पालन करके, जिन्होंने आत्मा को संवरमय किया है, उन्हें मन में धारण करके नमन करता हूँ।]

अब, रङ्गभूमि में संवर प्रवेश करता है।

यहाँ पहले ही टीकाकार [आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव] मङ्गल के लिए सर्व स्वाङ्गों को जाननेवाले सम्यग्ज्ञान की महिमारूप मङ्गलाचरण करते हैं —

व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं, सम्यक्स्वरूपे स्फुरत्-
ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरस-प्राग्भारमुज्जृम्भते॥ १॥

॥ अर्थ॥ चैतन्यस्वरूपमयी स्फुरायमान प्रकाशरूप ज्योति है सो उदयरूप होय फैलै है॥

कैसा है। अनादि संसार तैं लगाय अपनां विरोधी जो संवर, ताकी जीति करि एकांतपणैं मद कूं प्राप्त भया जो आश्रव, ताका तिरस्कार तैं पाया है नित्य विजय जानैं॥ अैसा संवर कूं निपजावता संता है॥ वहुरि परद्रव्य तथा परद्रव्य के निमित्त तैं भये भाव, तिनितैं भिन्न है॥

वहुरि कैसा है। अपनां सम्यक् कहिये यथार्थस्वरूप, ता विषै निश्चित है॥

वहुरि कैसा है। उज्ज्वल है, निरावाध निर्मल दैदीप्यमान प्रकाशरूप है॥

वहुरि कैसा है। अपनां रस जो ज्ञानरूप प्रवाह, ताका है प्राग्भार जाकै, अपनां रस का वोझ कूं लीयें है, अन्य वोझ उतारि धर्‌या है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ अनादि तैं आश्रव का विरोधी संवर है, ताकूं आश्रव जीति करि मद करि गर्वित था, ताका तिरस्कार करि जीति कूं प्राप्त भया जो संवर, ताकूं प्राप्त करता अर समस्त पररूप तैं न्यारा होय, अपनां स्वरूप विषै निश्चल होय। यह चैतन्यप्रकाश है सो अपनां ज्ञानरसरूप भार कूं लीयें निर्मल उदयरूप होय है॥ छ॥

॥ हरिगीतिका॥

संवरजयी मदमत्त आस्रव-भाव का अपलाप कर।
व्यावृत्य हो पररूप से, सद्बोध संवर भास्कर॥
प्रगटा परम आनन्दमय, निज आत्म के आधार से।
सद्ज्ञानमय उज्ज्वल धवल, परिपूर्ण निजरस भार से॥ १२५॥

अर्थ – चैतन्यस्वरूपमयी स्फुरायमान प्रकाशरूप ज्योति, उदयरूप होकर फैलती है।

कैसी है वह? – अनादि संसार से ही अपने विरोधी संवर को जीतने के कारण, एकान्तपने मद को प्राप्त हुए आस्रव का तिरस्कार करके, जिसने नित्य ही विजय पायी है — ऐसे संवर को उत्पन्न करती है तथा जो परद्रव्य और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले भावों से भिन्न है।

और कैसी है? – अपने सम्यक् अर्थात् यथार्थस्वरूप में निश्चित है।

और कैसी है? – उज्ज्वल है अर्थात् निराबाध, निर्मल, दैदीप्यमान प्रकाशरूप है।

और कैसी है? – निजरस अर्थात् ज्ञानरूप प्रवाह का जिसे प्राग्भार है अर्थात् जिसने अपने निजरस के भार को धारण किया है, अन्य भार को उतार दिया है।

भावार्थ – अनादि से ही आस्रव के विरोधी संवर को जीत कर, आस्रव मद से गर्वित था, उसका तिरस्कार करके, उसे जीतनेवाले संवर को प्राप्त कर, समस्त परभावों से अलग होकर, अपने स्वरूप

आगैं संवर का प्रवेश की आदि ही विषै समस्त कर्म का संवर होनें का उत्कृष्ट उपाय भेदविज्ञान है, ताकूं प्रशंसारूप कहै है॥ छ॥

उवओए उवओओ, कोहाइसु णत्थि को वि उवओओ।
कोहो काहे चेव हि, उवओए णत्थि खलु कोहो॥ १॥
अट्ठवियप्पे कम्मे, णोकम्मे चावि णत्थि उवओओ।
उवओयम्मि य कम्मं, णोकम्मं चावि णो अत्थि॥ २॥
एयं तु अविवरीयं, णाणं जइया उ होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वइ, भावं उवओयसुद्धप्पा॥ ३॥

॥ त्रिकलं॥

उपयोगे उपयोगः, क्रोधादिषु नास्ति कोऽप्युपयोगः।
क्रोधः क्रोधे चैव हि, उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः॥ छ॥
अष्टविकल्पे कर्मणि, नोकर्मणि चाऽपि नाऽस्त्युपयोगः।
उपयोगे च कर्म, नोकर्म चापि नो अस्ति॥ छ॥

में निश्चल होकर, यह चैतन्यप्रकाश अपने ज्ञानरसरूप भार को लेकर निर्मल उदयरूप होता है।

अब, संवर के प्रवेश करते ही सबसे पहले समस्त कर्मों का संवर करने के उत्कृष्ट उपायभूत भेदविज्ञान की प्रशंसारूप वचन कहते हैं —

उवओगे उवओगो, कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
कोहो कोहे[1] चेव हि, उवओगे णत्थि खलु कोहो॥ १८१॥
अट्ठवियप्पे कम्मे, णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगम्हि य कम्मं, णोकम्मं चावि णो अत्थि॥ १८२॥
एदं तु अविवरीदं, णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि, भावं उवओगसुद्धप्पा॥ १८३॥

उपयोग में उपयोग है, उपयोग नहिं क्रोधादि में।
है क्रोध, क्रोध विषैं ही निश्चय, क्रोध नहिं उपयोग में॥ १८१॥

---

१. *कोहे कोहो* – तात्पर्यवृत्ति, अगास एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

एतत्त्वविपरीतं, ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य।
तदा न किञ्चित्करोति, भावमुपयोगशुद्धात्मा॥ छ॥

॥ अर्थ॥ उपयोग विषै उपयोग है॥ क्रोधादिक विषै निश्चय करि कोऊ उपयोग नाही है॥ वहुरि क्रोध विषै ही क्रोध है॥ उपयोग विषै निश्चय करि क्रोध नाही है॥ छ॥

वहुरि अष्ट प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्म अर शरीरादिक नोकर्म, ता विषै भी उपयोग नाही है॥ वहुरि उपयोग विषै कर्म नोकर्म भी नाही है॥ छ॥

यहु सत्यार्थज्ञान जिस काल जीव कै होय है, तिस काल किछू भी उपयोग सिवाय अन्यभाव नाही करै है। केवल उपयोगस्वरूप शुद्ध आत्मा है॥ छ॥

॥ टीका॥ निश्चय करि एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य किछू संवंधी नाही है॥ जातैं द्रव्य है सो भिन्न भिन्न प्रदेशरूप है॥ तातैं एक सत्ता की अप्राप्ति है, द्रव्य द्रव्य की सत्ता न्यारी न्यारी है॥ वहुरि सत्ता एक न होतैं अन्य द्रव्य कै अन्य द्रव्य करि आधार आधेय संवंध भी नाही है॥

तातैं द्रव्य कै अपनें स्वरूप ही विषै प्रतिष्ठारूप आधार आधेय संवंध तिष्ठै है॥ तिस कारण करि ज्ञान आधेय सो तौ जाणपणांरूप अपनां स्वरूप आधार, ता विषै प्रतिष्ठित है॥ जातैं जाणपणां

उपयोग है नहिं अष्टविध, कर्मों अवरु नोकर्म में।
ये कर्म अरु नोकर्म भी, कुछ हैं नहीं उपयोग में॥ १८२॥
ऐसा अविपरीत ज्ञान ही जब, प्रगटता है जीव के।
तब अन्य कुछ नहिं भाव, वह उपयोग शुद्धात्मा करे॥ १८३॥

अर्थ – उपयोग में उपयोग है, क्रोधादि में निश्चय से कोई उपयोग नहीं है तथा क्रोध में ही क्रोध है, उपयोग में निश्चय से क्रोध नहीं है॥ १८१॥

आठ प्रकार के ज्ञानावरण आदि कर्म और शरीर आदि नोकर्म में भी उपयोग नहीं है तथा उपयोग में कर्म-नोकर्म भी नहीं है॥ १८२॥

यह सत्यार्थ ज्ञान, जिस काल में जीव को होता है, उस काल में वह उपयोग से अतिरिक्त अन्य कुछ भी भाव नहीं करता है, तब वह केवल उपयोगस्वरूप शुद्ध आत्मा है॥ १८३॥

टीका – निश्चय से एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है क्योंकि [सभी] द्रव्य भिन्न-भिन्न प्रदेशरूप हैं, अत: उनमें एक सत्तापने की अनुपलब्धि है। प्रत्येक द्रव्य की सत्ता भिन्न-भिन्न है तथा एक सत्ता नहीं होने पर अन्य द्रव्य का [दूसरे] अन्य द्रव्य के साथ आधार-आधेयसम्बन्ध भी नहीं है।

अत: [प्रत्येक] द्रव्य का अपने स्वरूप ही में प्रतिष्ठारूप आधार-आधेयसम्बन्ध ठहरता है। इस कारण से ज्ञान-आधेय तो जानपनेरूप अपने स्वरूप-आधार में प्रतिष्ठित है क्योंकि जानपना, ज्ञान

है सो ज्ञान तैं अभिन्नभाव है, भिन्नप्रदेशरूप नाही है॥ तातैं जाननक्रियारूप ज्ञान है सो ज्ञान ही विषै है॥ वहुरि क्रोधादिक हैं, ते क्रोधरूप क्रिया, क्रोधपणां अपनां स्वरूप, ताही विषै प्रतिष्ठित है, जातैं क्रोधपणांरूप क्रिया क्रोधादिक तैं अपृथक्भूत है, अभिन्न प्रदेश है॥ तातैं क्रोधरूप क्रिया क्रोधादि विषै ही होय है॥

वहुरि क्रोधादिक विषै अथवा कर्म नोकर्म विषै ज्ञान नाही है॥ वहुरि ज्ञान विषै क्रोधादिक अथवा कर्म नोकर्म नाही हैं॥ जातैं ज्ञान कै अर क्रोधादिक कै अर कर्म नोकर्म कै परस्पर स्वरूप का अत्यंत विपरीतपणां है, तिनिका स्वरूप एक होय नाही, तातैं परमार्थरूप आधार आधेय संवंध का शून्यपणां है॥

वहुरि जैसैं ज्ञान का जाननक्रियारूप जाणपणां स्वरूप है, तैसैं क्रोधरूप क्रियापणां स्वरूप नाही है॥ वहुरि जैसैं क्रोधादिक का क्रोधपणां आदिक क्रियापणां स्वरूप है, तैसैं जाननक्रियारूप स्वरूप नाही है॥ कोई ही प्रकार करि ज्ञान कूं क्रोधादि क्रियारूप परिणामस्वरूप स्थाप्या न जाय है, जातैं जाननक्रिया कै अर क्रोधरूप क्रिया कै स्वभाव का भेद करि प्रगट प्रतिभासमानपणां है॥ वहुरि स्वभाव के भेद तैं ही वस्तु का भेद है, यह नियम है। तातैं ज्ञान कै अर अज्ञानस्वरूप क्रोधादिक कै आधार आधेय भाव नाही है॥

इहां दृष्टांत करि विशेष कहै है॥ जैसैं, आकाशद्रव्य एक ही है, ताहि अपनीं वुद्धि विषै स्थापि अर आधार आधेय भाव कल्पिए, तव आकाशद्रव्य[१] सिवाय अन्य द्रव्य, तिनिका तौ अधिकाररूप आरोपण का निरोध भया। याही तैं वुद्धि कै भिन्न आधार की अपेक्षा तौ न रही अर जव भिन्न आधार

से अभिन्नभाव है, भिन्न प्रदेशरूप नहीं है, इसलिए जाननक्रियारूप ज्ञान, ज्ञान ही में है तथा क्रोधादि या क्रोधादिरूप क्रिया, क्रोधादिरूप अपने स्वरूप ही में प्रतिष्ठित है क्योंकि क्रोधादिपनेरूप क्रिया, क्रोधादि से अभिन्न है, अभिन्न प्रदेश है; अतः क्रोधादिरूप क्रिया, क्रोधादि में ही होती है।

तथा, क्रोधादि अथवा कर्म-नोकर्म में ज्ञान नहीं है और ज्ञान में क्रोधादि अथवा कर्म-नोकर्म नहीं हैं क्योंकि ज्ञान में और क्रोधादि व कर्म-नोकर्म में परस्पर स्वरूप की अत्यन्त विपरीतता है, उनका स्वरूप [कभी] एक होता नहीं है; अतः परमार्थरूप आधार-आधेयसम्बन्ध का भी शून्यपना है।

जैसे, ज्ञान का जाननक्रियारूप जानपना स्वरूप है, वैसे क्रोधरूप क्रियापना स्वरूप नहीं है तथा जैसे, क्रोधादि का क्रोध आदि क्रियापना स्वरूप है, वैसे जाननक्रियारूप [जानपना] स्वरूप नहीं है। किसी भी प्रकार से ज्ञान को क्रोधादि क्रियारूप परिणामस्वरूप स्थापित नहीं किया जा सकता है क्योंकि जाननक्रिया का और क्रोधरूप क्रिया का स्वभाव के भेद से प्रगट प्रतिभासमानपना है तथा स्वभाव के भेद से ही वस्तु का भेद होता है – यह नियम है; इसलिए ज्ञान का और अज्ञानस्वरूप क्रोधादि का आधार-आधेयभाव नहीं है।

यहाँ दृष्टान्त द्वारा विशेष समझाते हैं – जैसे, एक ही आकाशद्रव्य को अपनी बुद्धि में स्थापित करके आधार-आधेयभाव का विचार किया जाता है तो आकाशद्रव्य के अलावा अन्य द्रव्य में तो

---

१. *आकाश* - 'ब' प्रति पाठ

की अपेक्षा नाही रही, तव वुद्धि मैं यह ही ठहरी जो आकाश है सो एक ही है सो एक आकाश ही विषै प्रतिष्ठित है, आकाश का आधार अन्य द्रव्य नाही, आप आप ही कै आधार है। अैसैं भावनां करनेंवाले कै अन्य का अन्य कै आधार आधेय भाव नाही प्रतिभासै है॥

अैसैं ही जव एक ही ज्ञान कूं अपनीं वुद्धि विषै स्थापि, आधार आधेय भाव कल्पिये, तव अवशेष अन्य द्रव्यनि का अधिरोप करनें का निरोध भया, यातैं वुद्धि कै भिन्न आधार की अपेक्षा नाही रहै है॥ अर भिन्न आधार की अपेक्षा ही वुद्धि मैं न रही, तव एक ज्ञान ही एक ज्ञान विषै प्रतिष्ठित ठहरया।

अैसैं भावनां करनेंवाले कै अन्य का अन्य कै आधार आधेय भाव नाही प्रतिभासै है॥ तातैं ज्ञान ही है, सो तौ ज्ञान ही विषै है॥ अर क्रोधादिक ही हैं, ते क्रोधादिक विषै ही हैं॥ अैसैं ज्ञान कै अर क्रोधादिक कै अर कर्म नोकर्म कै भेद का ज्ञान है सो भलै प्रकार सिद्ध भया॥

॥ भावार्थ॥ उपयोग है सो तौ चेतना का परिणमन ज्ञानस्वरूप है॥ अर क्रोधादिक भावकर्म, ज्ञानावरण आदिक द्रव्यकर्म, शरीर आदिक नोकर्म, ए सर्व ही पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं, ते जड हैं, इनिकै अर ज्ञान कै प्रदेशभेद है, तातैं अत्यंत भेद है, तातैं उपयोग विषै तौ क्रोधादिक तथा कर्म नोकर्म नाही हैं। वहुरि क्रोधादिक, कर्म नोकर्म विषै उपयोग नाहीं है। अैसैं इनिकै परमार्थस्वरूप आधार आधेय भाव नाही है। अपनां अपनां आधार आधेय भाव आप आप विषै है। अैसैं इनिकै परस्पर परमार्थ तैं

[आकाशद्रव्य के समान आधार के] अधिकाररूप आरोपण का निरोध होता है; अत: बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा तो नहीं रहती है और जब भिन्न आधार की अपेक्षा नहीं रहती है तो बुद्धि में यह निश्चित होता है कि एक आकाशद्रव्य तो एक आकाशद्रव्य ही में प्रतिष्ठित है अर्थात् आकाश का आधार, अन्य द्रव्य नहीं है; स्वयं, स्वयं ही के आधार है – ऐसी भावना करनेवाले को किसी अन्य का किसी अन्य में आधार-आधेयभाव प्रतिभासित नहीं होता।

इसी प्रकार जब एक ही ज्ञान को अपनी बुद्धि में स्थापित करके आधार-आधेयभाव का विचार किया जाता है तो शेष अन्य द्रव्यों में ज्ञान के अधिकाररूप आरोपण करने का निरोध होता है; अत: बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा ही नहीं रहती है और जब भिन्न आधार की अपेक्षा ही बुद्धि में नहीं रहती है तो एक ज्ञान ही, एक ज्ञान ही में प्रतिष्ठित रहता है।

इस तरह ऐसी भावना करनेवाले को अन्य का, [दूसरे] अन्य में आधार-आधेयभाव प्रतिभासित नहीं होता; अत: ज्ञान तो ज्ञान ही में है और क्रोधादि तो क्रोधादि ही में हैं। इस प्रकार ज्ञान का तथा क्रोधादि और कर्म-नोकर्म का भेदज्ञान भली प्रकार सिद्ध होता है।

भावार्थ – उपयोग तो चेतना का परिणमन है, ज्ञानस्वरूप है। क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म और शरीर आदि नोकर्म; सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं, जड़ हैं – इनमें और ज्ञान में प्रदेशभेद होने से अत्यन्त भेद है; इसलिए उपयोग में तो क्रोधादि और कर्म-नोकर्म नहीं हैं तथा क्रोधादि और कर्म-नोकर्म में उपयोग नहीं है। इस प्रकार इनमें परमार्थस्वरूप आधार-आधेयभाव नहीं है। अपना-अपना आधार-आधेयभाव, अपने-अपने में है; अत: परमार्थ से इनमें परस्पर अत्यन्त भेद

अत्यंत भेद है। अैसैं भेद जानैं सो भेदविज्ञान है सो भलै प्रकार सिद्ध होय है॥ छ॥

अव इस अर्थ के कलशरूप काव्य है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः, कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो, ज्ञानस्य रागस्य च॥
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं, मोदध्वमध्यासिताः,
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना, सन्तो द्वितीयच्युताः॥ २॥

॥ अर्थ॥ यह निर्मल भेदज्ञान है सो उदय कूं प्राप्त होय है सो याके निश्चय करनेंवाले सत्पुरुषनि कूं संवोधन करि कहै है जो हे सत्पुरुष हो, तुम याकूं पाय करि अर अव द्वितीय जो रागादिक भाव, तिनितैं रहित भये संते, एक शुद्ध ज्ञानघन का समूह कूं आश्रय करि, तिसमैं लीन भये संते वडा आनंद मानूं॥

जातैं यह कहा करि उदय होय है। चैतन्यरूपता कूं धारता तौ ज्ञान अर जडरूपता कूं धारता राग, तिनि दोऊनि कै अज्ञानदशा मैं एकपणां सा दीषै है, तिनिका अंतरंग विषै अनुभव के अभ्यासरूप वल करि उत्कृष्ट विदारण करि, सर्व प्रकार विभाग करि, उदय होय है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञान तौ चेतनास्वरूप है अर रागादि पुद्गलविकार जड हैं सो अज्ञान तैं एकरूप

है। इस तरह भेद को जानना ही भेदविज्ञान है और वह भले प्रकार सिद्ध होता है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

यह ज्ञान है चिद्रूप किन्तु, राग तो जड़रूप है।
मैं ज्ञानमय आनन्दमय पर, राग तो पररूप है॥
इस तरह के अभ्यास से जब, भेदज्ञान उदित हुआ।
आनन्दमय रसपान से तब, मनोभाव मुदित हुआ॥ १२६॥

अर्थ – यह निर्मल भेदविज्ञान उदय को प्राप्त होता है; अतः इसका निश्चय करनेवाले सत्पुरुषों को सम्बोधन करते हुए [आचार्य] कहते हैं कि हे सत्पुरुषों! तुम इस [भेदविज्ञान] को प्राप्त करके और उससे अन्य रागादि भावों से रहित होते हुए, एक शुद्धज्ञानघन के समूह का आश्रय करके, उसमें लीन होकर अत्यन्त आनन्द मानो।

यह ज्ञान कैसे उदित होता है? – चैतन्यरूपता को धारण करनेवाला ज्ञान और जड़रूपता को धारण करनेवाला राग, इन दोनों का अज्ञानदशा में एकत्व-सा दिखता है; उनका अन्तरङ्ग में अनुभव के अभ्यासरूप बल से अच्छी तरह विदारण करके अर्थात् सर्व प्रकार से विभाजन करके उदित होता है।

भावार्थ – ज्ञान तो चेतनास्वरूप है और रागादि पुद्गल के विकार जड़ हैं – ये दोनों अज्ञान

भासैं हैं सो भेदविज्ञान जब प्रगट होय है, तब ज्ञान का अर रागादिक का भिन्नपणां का अंतरंग अनुभव के अभ्यास तैं प्रगट होय है, तब अैसैं जाणैं है जो ज्ञान का स्वभाव तौ जाणनें मात्र ही है अर ज्ञान मैं रागादिक की कलुषता मलिनता आकुलतारूप संकल्प विकल्प भासै है सो ए सर्व पुद्गल के विकार हैं, जड हैं। अैसा ज्ञान का अर रागादि का भेद का आस्वाद आवै है॥

सो यह भेदविज्ञान सर्व विभावभाव मेटनें कूं कारण होय है अर आत्मा कूं परम संवरभाव कूं प्राप्त करै है॥ तातैं सत्पुरुषनि कूं कहै है जो याकूं पाय करि रागादिक तैं च्युत होय शुद्ध ज्ञानघन आत्मा का आश्रय ले आनंद कूं प्राप्त होहु॥ छ॥

[॥ टीका॥] अब कहै है जो अैसैं यह भेदविज्ञान जिस काल ज्ञान कै रागादि विकाररूप विपरीतपणां की कणिका कूं न प्राप्त करता अविचलित है, तिस काल ज्ञान है सो शुद्धोपयोग स्वरूपपणां करि ज्ञान ही रूप केवल भया संता किंचित्मात्र भी राग द्वेष मोह भाव कूं नाही प्राप्त होय है॥ तातैं यह ठहरी जो भेदविज्ञान तैं शुद्धात्मा की प्राप्ति होय है॥ वहुरि शुद्धात्मा की प्राप्ति तैं राग द्वेष मोह जे आश्रवभाव, तिनिका अभाव है लक्षण जाका, अैसा संवर होय है॥ छ॥

आगैं पूछै है जो भेदविज्ञान ही तैं शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसैं होय है, ताका उत्तर गाथा मैं कहै है॥

जह कणयमग्गितवियं, पि कणयभावं ण तं परिच्चयइ।
तह कम्मोदयतविओ, ण जहइ णाणी उ णाणित्तं॥ ४॥

से एकरूप भासित होते हैं। जब भेदविज्ञान प्रगट होता है, तब ज्ञान और रागादि में भिन्नता, अनुभव के अभ्यास से प्रगट होती है, तब ज्ञानी ऐसा जानता है कि ज्ञान का स्वभाव तो जाननामात्र ही है तथा जो ज्ञान में रागादि की कलुषता, मलिनता, आकुलतारूप सङ्कल्प-विकल्प भासित होते हैं; वे सर्व ही पुद्गल के विकार हैं, जड़ हैं। इस प्रकार ज्ञान और रागादि के भेद का आस्वाद आता है।

यह भेदविज्ञान सर्व विभावभावों को नाश करने में कारण होता है और आत्मा को परम संवरभाव प्राप्त कराता है; अतः सत्पुरुषों को [आचार्यदेव] कहते हैं कि इसे प्राप्त करके, रागादि से च्युत होकर, शुद्ध ज्ञानघन आत्मा का आश्रय लेकर, आनन्द को प्राप्त होओ।

[पुनः टीका] – अब कहते हैं कि ऐसा यह भेदविज्ञान, जिस समय ज्ञान की रागादि विकाररूप विपरीतता की कणिका को नहीं प्राप्त करता हुआ अविचलित रहता है, उस समय ज्ञान शुद्धोपयोग स्वरूपपने से मात्र ज्ञानरूप ही होता हुआ, किञ्चित्मात्र भी राग-द्वेष-मोहभाव को प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है तथा शुद्धात्मा की प्राप्ति से राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव के अभाव लक्षणवाला संवर होता है।

अब, प्रश्न है कि भेदविज्ञान ही से शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे होती है? – उसका उत्तर गाथा द्वारा कहते हैं –

एवं जाणइ णाणी, अण्णाणी मुणइ रायमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो, आदसहावं अयाणंतो॥ ५॥

॥ युग्मं॥

यथा कनकमग्नितप्तमपि, कनकभावं न तं परित्यजति।
तथा कर्मोदयतप्तो, न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वम्॥ छ॥
एवं जानाति ज्ञानी, अज्ञानी जानाति रागमेवात्मानम्।
अज्ञानतमोऽवच्छन्नः आत्मस्वभावमजानन्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं सुवर्ण अग्नि करि तप्त भया संता भी अपनां तिस सुवर्णभाव कूं नाही छोडै है॥ तैसैं ज्ञानी कर्म के उदय करि तप्तायमान भया भी अपनां ज्ञानीपणां स्वभाव कूं नाही छोडै है॥ छ॥

अैसैं ज्ञानी जानै है॥ वहुरि अज्ञानी है सो राग ही कूं आत्मा जानै है॥ जातैं अज्ञानी अज्ञानरूप अंधकार तैं अवच्छन्न है, व्याप्त है, तातैं आत्मा का स्वभाव कूं नाही जानता संता प्रवर्त्तै है॥ छ॥

जह कणयमग्गितवियं, पि कणयभावं[1] ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो, ण जहदि[2] णाणी दु णाणित्तं॥ १८४॥
एवं जाणदि णाणी, अण्णाणी मुणदि रागमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो, आदसहावं अयाणंतो॥ १८५॥

ज्यों अग्नितप्त सुवर्ण भी, निज स्वर्णभाव नहीं तजे।
त्यों कर्म-उदय प्रतप्त भी, ज्ञानी न ज्ञानीपन तजे॥ १८४॥
जीव ज्ञानी जाने ये अरु, अज्ञानी राग ही जीव गिने।
आत्मस्वभाव अजान जो, अज्ञानतम-आच्छाद से॥ १८५॥

अर्थ – जिस प्रकार स्वर्ण, अग्नि से तप्त होकर भी अपने उस स्वर्णस्वभाव को नहीं छोड़ता है; उसी प्रकार ज्ञानी, कर्म के उदय से तप्तायमान होकर भी अपने ज्ञानीपने के स्वभाव को नहीं छोड़ता है॥ १८४॥

इस प्रकार ज्ञानी जानता है लेकिन अज्ञानी, राग ही को आत्मा जानता है क्योंकि अज्ञानी अज्ञानरूप अन्धकार से आच्छादित है, व्याप्त है; अतः आत्मा के स्वभाव को नहीं जानता हुआ प्रवर्तता है॥ १८५॥

---

१. *कणयसहावं* – तात्पर्यवृत्ति, अगास एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
२. *चयदि* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

॥ टीका॥ जातैं जाकै जैसा कह्या तैसा भेदविज्ञान है सो ही तिस भेदविज्ञान के सद्भाव तैं ज्ञानी भया संता अैसैं जानैं है, जैसैं प्रचंड अग्नि करि तपाया भी सुवर्ण अपनें सुवर्णपणां स्वभाव कूं नाही छोडै है, तैसैं प्रचंड तीव्रकर्म का उदय करि युक्त भया संता भी ज्ञान है सो अपनां ज्ञानपणां कूं नाही छोडै है॥ जातैं जो जाका स्वभाव है सो हजारां कारण मिलै, तौऊ सो ताका स्वभाव कूं छोड़नें कूं असमर्थ है॥ जो स्वभाव कूं छोडै तौ तिस छोडनें करि तिस स्वभावमात्र जो वस्तु ताका ही अभाव होय॥ सो वस्तु का अभाव होय नाही, जातैं सत्ता का नाश का असंभव है॥ अैसैं जानता संता ज्ञानी है सो कर्म करि व्याप्त है, तौऊ रागरूप नाही होय है, द्वेषरूप नाही होय है, मोहरूप नाही होय है॥

तौ कैसा होय है। एक शुद्ध आत्मा ही कूं पावै है॥

वहुरि जाकै जैसा कह्या तैसा भेदविज्ञान नाही है सो तिस भेदविज्ञान के अभाव तैं अज्ञानी भया संता अज्ञानरूप अंधकार करि आच्छादितपणां करि चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा का स्वभाव कूं नाही जानता संता रागस्वरूप ही आत्मा कूं मानता संता रागी होय है, द्वेषी होय है, मोही होय है॥ शुद्ध आत्मा कूं कदाचित् भी नाही पावै है॥

तातैं यह ठहरी जो भेदविज्ञान ही तैं शुद्ध आत्मा का पावनां है॥

॥ भावार्थ॥ भेदविज्ञान तैं आत्मा ज्ञानी होय है, तव कर्म का उदय आवै, ता करि तप्तायमान होय, तौऊ अपनां ज्ञानस्वभाव तैं छूटै नाही है, जातैं जो जाका स्वभाव है सो चाहो जेते कारण मिलो,

---

टीका – जिसको जैसा कहा, वैसा भेदविज्ञान होता है, वही उस भेदविज्ञान के सद्भाव से ज्ञानी होकर ऐसा जानता है – जैसे, प्रचण्ड अग्नि के द्वारा तपाया हुआ भी स्वर्ण, अपने स्वर्णपने के स्वभाव को नहीं छोड़ता है; वैसे प्रचण्ड तीव्रकर्म के उदय से युक्त होकर भी ज्ञान अपने ज्ञानपने को नहीं छोड़ता है क्योंकि **जिसका जो स्वभाव होता है, वह हजारों कारण मिलने पर भी अपने उस स्वभाव को छोड़ने में असमर्थ होता है।** यदि वह अपने स्वभाव को छोड़े तो उसे छोड़ने के कारण उस स्वभावमात्र वस्तु का ही अभाव हो जाता है परन्तु वस्तु का अभाव होता नहीं है क्योंकि सत्ता का नाश होना असम्भव है – ऐसा जानता हुआ ज्ञानी, कर्मों से व्याप्त होने पर भी रागरूप नहीं होता है, द्वेषरूप नहीं होता है और मोहरूप नहीं होता है।

तो कैसा होता है? – एक शुद्ध आत्मा ही को प्राप्त होता है।

लेकिन जिसे पूर्वकथित भेदविज्ञान नहीं है, वह उस भेदविज्ञान के अभाव से अज्ञानी होता हुआ, अज्ञानरूप अन्धकार से आच्छादित होने के कारण चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा के स्वभाव को नहीं जानता हुआ, रागस्वरूप ही आत्मा को मानता हुआ रागी होता है, द्वेषी होता है और मोही होता है; शुद्ध आत्मा को कभी भी नहीं प्राप्त होता है।

अत: यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान ही से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है।

भावार्थ – जब भेदविज्ञान से आत्मा ज्ञानी होता है, तब कर्म के उदय से तप्तायमान होकर भी अपने ज्ञानस्वभाव से छूटता नहीं है क्योंकि **जिसका जो स्वभाव होता है, वह चाहे जितने कारण**

स्वभाव तैं छूटै नाही, जो स्वभाव तैं छूटे तौ वस्तु का नाश होय, यह न्याय है। तातैं कर्म के उदय मैं ज्ञानी, रागी द्वेषी मोही नाही होय है॥ वहुरि जाकै भेदविज्ञान नाही है सो अज्ञानी भया संता रागी द्वेषी मोही होय है॥ तातैं यह निश्चय है जो भेदविज्ञान ही तैं शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होय है॥ छ॥

आगैं पूछै है जो शुद्ध आत्मा की प्राप्ति ही तैं संवर कैसैं होय है, ताका उत्तर कहै है॥

सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो तु असुद्धं, असुद्धमेवप्पयं लहइ॥ ६॥

शुद्धं च विजानन्, शुद्धमेवात्मानं लभते जीवः।
जानंस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं लभते॥ छ॥

॥ अर्थ॥ शुद्ध आत्मा कूं जानता संता जीव है सो तौ शुद्ध ही आत्मा कूं पावै है॥ वहुरि आत्मा कूं अशुद्ध जानता संता जीव अशुद्ध ही आत्मा कूं पावै है॥ छ॥

॥ टीका॥ जो पुरुष नित्य ही अविच्छेदरूप धारावाही ज्ञान करि शुद्ध आत्मा कूं पावता संता तिष्ठै[१] है सो पुरुष, ज्ञानमयी[२] भाव तैं ज्ञानमयी ही भाव होय है॥ ऐसें न्याय करि आगामी कर्म का

मिलने पर भी स्वभाव से छूटता नहीं है; यदि स्वभाव से छूटे तो वस्तु का नाश हो जाए – यह न्याय है। इसलिए कर्म के उदय में ज्ञानी जीव, रागी-द्वेषी-मोही नहीं होता है किन्तु जिसे भेदविज्ञान नहीं है, वह अज्ञानी होता हुआ रागी-द्वेषी-मोही होता है। अत: यह निश्चित होता है कि भेदविज्ञान ही से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है।

अब, प्रश्न है कि शुद्ध आत्मा की प्राप्ति ही से संवर कैसे होता है? – उसका उत्तर कहते हैं —

सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्धं चेवप्पयं[३] लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं, असुद्धमेवप्पयं लहदि॥ १८६॥

जो शुद्ध जाने आत्म को, वह शुद्ध आत्म ही प्राप्त हो।
जाने अशुद्ध जो आत्म को, अशुद्ध आत्म ही प्राप्त हो॥ १८६॥

अर्थ – शुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव, शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है और आत्मा को अशुद्ध जानता हुआ जीव, अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है॥ १८६॥

टीका – जो पुरुष, सदा ही अविच्छिन्न धारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता हुआ अवस्थित होता है; वह पुरुष, **ज्ञानमयी भाव से ज्ञानमयी ही भाव होते हैं** – इस न्याय से आगामी

---

१. *तिष्टै* - 'ब' प्रति पाठ
२. *ज्ञानमय* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ
३. *सुद्धमेवप्पयं* - तात्पर्यवृत्ति पाठ / *विसुद्धमेवप्पयं* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

आश्रवण का निमित्त जे राग द्वेष मोह, तिनिका संतान परिपाटीरूप उत्पत्ति का निरोध तैं शुद्ध ही आत्मा कूं पावै है॥ वहुरि जो जीव नित्य ही अज्ञान करि अशुद्ध आत्मा कूं पावता संता तिष्ठै[१] है सो जीव, अज्ञानमयी भाव तैं अज्ञानमयी ही भाव होय, अैसा न्याय करि आगामी कर्म के आश्रवण कूं निमित्त जे राग द्वेष मोह, तिनिका संतानरूप उत्पत्ति का निरोध न होनें तैं अशुद्ध ही आत्मा कूं पावै है॥ यातैं शुद्ध आत्मा का उपलंभ ही तैं संवर होय है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ आत्मा कूं शुद्ध अनुभवता संता तो शुद्ध ही कूं पावै है, ताकै आश्रव रुकि संवर होय है अर आपा कूं अशुद्ध अनुभवता संता अशुद्ध ही कूं पावै है, ताकै आश्रव रुकै नाही है, संवर नाही होय है।

अव, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ मालिनी॥

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन,
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्मारामरमात्मानमात्मा,
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाऽभ्युपैति॥ ३॥

कर्मों के आस्रव की निमित्तभूत राग-द्वेष-मोह की सन्तान अर्थात् परम्परारूप उत्पत्ति का निरोध होने से, शुद्ध आत्मा को ही पाता है तथा जो जीव, नित्य ही अज्ञान से अशुद्ध आत्मा को प्राप्त होता हुआ अवस्थित होता है; वह जीव, **अज्ञानमयी भावों से अज्ञानमयी ही भाव होते हैं** – इस न्याय से आगामी कर्मों के आस्रव की निमित्तभूत राग-द्वेष-मोह की सन्तानरूप उत्पत्ति का निरोध नहीं होने से, अशुद्ध आत्मा को ही पाता है। इस प्रकार शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से ही संवर होता है।

भावार्थ – आत्मा को शुद्ध अनुभव करनेवाले को तो शुद्धता ही की प्राप्ति होती है, उसके आस्रव रुकते हैं और संवर होता है तथा आत्मा को अशुद्ध अनुभव करनेवाले को अशुद्धता ही की प्राप्ति होती है, उसके आस्रव रुकते नहीं हैं और संवर होता नहीं है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

भेदज्ञान के इस अविरल धाराप्रवाह से,
कैसे भी जो प्राप्त करे, निज शुद्धातम को।
और निरन्तर उसमें ही, थिर होता जाए,
पर-परिणति को त्याग निरन्तर शुध हो जाए॥ १२७॥

---

१. तिष्टै - 'ब' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ जो आत्मा कोई प्रकार वडे भाग्य तैं धारावाही ज्ञान करि निश्चल शुद्ध आत्मा कूं प्राप्त होता संता तिष्ठै है॥ तौ यहु आत्मा उदय होता है, आत्मारूप क्रीडावन जाकै, अैसा अपनां आत्मा कूं परपरिणति जे राग द्वेष मोह, तिनिका निरोध तैं शुद्ध ही कूं पावै है॥ अैसैं शुद्ध आत्मा की प्राप्ति तैं संवर होय है।

इहां धारावाही ज्ञान कह्या, ताका अर्थ यहु जो एक प्रवाहरूप ज्ञान होय सो धारावाही है। सो याकी दोय रीति हैं। एक तौ मिथ्याज्ञान वीचि मैं न आवै, अैसा सम्यक्ज्ञान सो धारावाही है। वहुरि दूजा उपयोग का ज्ञेय के उपयुक्त होनें की अपेक्षा है। सो जहां तांई एक ज्ञेय सूं उपयोग उपयुक्त होय रहै, तहां तांई धारावाही कहिये। सो याकी स्थिति अंतर्मुहूर्त ही है, पीछैं विच्छेद होय है। सो जहां जैसी विवक्षा कहै[१], तहां तैसा जाननां। श्रेणी चढै, तव शुद्ध आत्मा सूं उपयुक्त होय धारावाही होय है॥ छ॥

आगैं पूछै है जो कोंन प्रकार करि संवर होय है। ताका उत्तर कहै है।

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपावजोएसु।
दंसणणाणम्मि ठिओ, इच्छाविरओ य अण्णंमि॥ ७॥
जो सव्वसंगमुक्को, झायइ अप्पाणमप्पणो अप्पा।
ण वि कम्मं णोकम्मं, चेया चित्तेइ एयत्तं॥ ८॥

अर्थ – जो आत्मा, किसी प्रकार बड़े भाग्य से [अथवा उत्कृष्ट पुरुषार्थ से] धारावाही ज्ञान के द्वारा निश्चल शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता हुआ अवस्थित होता है तो यह आत्मा, अपने आत्मारूपी क्रीड़ावन को प्राप्त होता हुआ, अपनी आत्मा को परपरिणति अर्थात् राग-द्वेष-मोह के निरोध से शुद्ध ही पाता है। इस प्रकार शुद्ध आत्मा की प्राप्ति से संवर होता है।

यहाँ धारावाही ज्ञान का अर्थ यह है कि जो एक प्रवाहरूप ज्ञान होता है, वह **धारावाही ज्ञान** है। इसकी दो रीतियाँ हैं – १. एक तो मिथ्याज्ञान बीच में न आए, ऐसा सम्यग्ज्ञान ही धारावाही ज्ञान है और २. दूसरा, उपयोग को ज्ञेय में एकाग्रतापूर्वक लगाने की अपेक्षा है। जब तक उपयोग, एक ज्ञेय में लगा रहे, तब तक धारावाही है परन्तु इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त ही है, उसके बाद उपयोग, वहाँ से हट जाता है; अत: **जहाँ जैसी विवक्षा कही हो, वहाँ वैसा जानना चाहिए।** श्रेणी चढ़ने पर उपयोग शुद्ध आत्मा में उपयुक्त होकर धारावाही होता है।

अब प्रश्न है कि किस विधि से संवर होता है? – उसका उत्तर कहते हैं –

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण[२] दोपुण्णपावजोगेसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो, इच्छाविरदो य अण्णम्हि॥ १८७॥

---

१. *होय* - 'ब' प्रति पाठ

२. *रुंधिदूण* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

अप्पाणं झायंतो, दंसणणाणमओ[१] अणण्णमओ।
लहइ अचिरेणमप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं॥ ९॥

॥ त्रिकलं॥

आत्मानमात्मना, रुन्ध्वा द्विपुण्यपापयोगयोः।
दर्शनज्ञाने स्थितः, इच्छाविरतश्चाऽन्यस्मिन्॥ छ॥
यः सर्वसङ्गमुक्तो, ध्यायत्यात्मानमात्मनात्मा।
नापि कर्म नोकर्म, चेतयिता चिन्तयत्येकत्वम्[२]॥ छ॥
आत्मानं ध्यायन्, दर्शनज्ञानमयोऽनन्यमयः।
लभतेऽचिरेणाऽत्मानमेव स कर्मविप्रमुक्तम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो जीव, अपनें आत्मा कूं आप ही करि दोय जे पुण्यपापरूप शुभाशुभयोग, तिनितैं रोकि करि अर दर्शन ज्ञान विषै तिष्ठ्या हूवा अन्य वस्तु विषै इच्छा तैं रहित हूवा संता॥ छ॥

जो सव्वसंगमुक्को, ज्ञायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
ण वि कम्मं णोकम्मं, चेदा चिंतेदि एयत्तं॥ १८८॥
अप्पाणं झायंतो, दंसणणाणमओ[३] अणण्णमओ।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं[४]॥ १८९॥

शुभ अशुभ से जो रोक कर, निज आत्म को आत्मा ही से।
अरु ठहर दर्शन-ज्ञान में, परद्रव्य-इच्छा परिहरे॥ १८७॥
जो सर्व सङ्ग-विमुक्त ध्यावे, आत्म से आत्मा ही को।
नहिं कर्म अरु नोकर्म, चेतक चेतता एकत्व को॥ १८८॥
वह आत्म ध्याता, ज्ञान-दर्शनमय अनन्यमयी हुआ।
बस, अल्पकाल जु कर्म से, परिमोक्ष पावे आत्म का॥ १८९॥

अर्थ – जो जीव, अपने आत्मा को स्वयं ही से, पुण्य-पापरूपी दोनों शुभ-अशुभ योगों से रोक कर दर्शन-ज्ञान में स्थित होता हुआ, अन्य वस्तुओं की इच्छा से रहित होता है.... ॥ १८७॥

---

१. *दंसणणाणण्णमओ* - 'ब' प्रति पाठ
२. *चेतयत्येकत्वम्* - अगास प्रकाशन पाठ
३. *रुंधिदूण/दंसणणाणमइओ* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ।
४. *कम्माविम्मुक्कं* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

जो सर्व परिग्रह तैं रहित हूवा आत्मा ही करि आत्मा कूं ध्यावै है॥ अर कर्म नोकर्म कूं नाही ध्यावै है अर आप चेतनारूप है, तिस स्वरूप कूं एकपणां कूं अनुभवै है, विचारै है॥ छ॥

सो जीव, दर्शनज्ञानमयी भया, अन्यमयी नाही भया संता आत्मा कूं ध्यावता संता थोरे ही काल मैं कर्म करि रहित अपनें आत्मा कूं पावै है॥ छ॥

॥ टीका॥ निश्चय करि जो जीव राग द्वेष मोह है मूल जाका, अैसा जो शुभअशुभयोग तिस विषै वर्त्तमान जो अपनां आत्मा, ताकूं दृढतर भेदविज्ञान का अवलंवन करि आप ही करि अत्यंत रोकि करि, वहुरि शुद्ध ज्ञानदर्शनरूप जो अपनां आत्मद्रव्य, ता विषै भलै प्रकार प्रतिष्ठित करि ठहराय करि अर समस्त परद्रव्य की इच्छा का परिहार करि समस्त परिग्रह सूं रहित होय करि, नित्य ही अतिनिःप्रकंप निश्चल हूवा संता, किंचित्मात्र भी कर्म कों स्पर्शन नाही करि अर अपनें आत्मा ही कूं आत्मा करि ध्यावता संता, आप स्वयं चेतनेंवाला है सो अपनां चेतनारूप ही कूं एकत्व कूं चेतै है, अनुभवै है, ज्ञानचेतनामय होय है सो जीव निश्चय करि एकत्वपणां[1] का अनुभव करनें करि परद्रव्य तैं अत्यंत भिन्न चैतन्यचमत्कारमात्र अपनां आत्मा कूं ध्यावता संता, शुद्ध दर्शनज्ञानमयी आत्मद्रव्य कूं प्राप्त भया संता शुद्धात्मा का उपलंभ होतैं संतै समस्त परद्रव्यमयीपणां तैं दूरि भया संता थोरे ही काल मैं समस्त कर्म तैं रहित आत्मा कूं पावै है। यहु संवर का प्रकार है॥

॥ भावार्थ॥ जो जीव पहलैं तौ राग द्वेष मोह सूं मिले शुभ अशुभ मन वचन काय के योग,

---

तथा जो सर्व परिग्रह से रहित होकर, आत्मा ही से आत्मा को ध्याता है; कर्म-नोकर्म को नहीं ध्याता है और स्वयं चेतनारूप होने से उस स्वरूप के एकत्व को अनुभवता है, विचारता है॥ १८८॥

वह जीव, दर्शन-ज्ञानमयी होता हुआ, अन्यमयी नहीं होता हुआ, आत्मा को ध्याता हुआ अल्प काल में ही कर्म से रहित अपने आत्मा को प्राप्त करता है॥ १८९॥

टीका – निश्चय से जो जीव, राग-द्वेष-मोहमूलक शुभ-अशुभ योगों में प्रवर्तमान अपने आत्मा को दृढ़तर भेदविज्ञान के अवलम्बन से स्वयं ही अत्यन्त रोक कर, शुद्ध ज्ञान-दर्शनरूप अपने आत्मद्रव्य में भली प्रकार प्रतिष्ठित कर, उसी में रोक कर, समस्त परद्रव्यों की इच्छा का परिहार कर, समस्त परिग्रह से रहित होकर, नित्य ही अतिनिष्कम्प निश्चल होता हुआ किञ्चित्मात्र भी कर्म को स्पर्श नहीं करता और अपने आत्मा ही को, आत्मा से ही ध्याता हुआ, स्वयं चेतनेवाला होने से अपने चेतनास्वरूप एकत्व को ही चेतता है, अनुभव करता है, ज्ञानचेतनामय होता है; वह जीव, निश्चय से एकत्वपने का अनुभव करने से, परद्रव्य से अत्यन्त भिन्न चैतन्य-चमत्कारमात्र अपने आत्मा को ध्याता हुआ, शुद्ध दर्शन-ज्ञानमयी आत्मद्रव्य को प्राप्त होता हुआ, शुद्धात्मा की उपलब्धि होने से समस्त परद्रव्यों से दूर होता हुआ, थोड़े ही काल में समस्त कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है। यही संवर की विधि है।

भावार्थ – जो जीव, पहले तो राग-द्वेष-मोह से मिले हुए शुभ-अशुभ मन-वचन-काय के

---

१. *एकपणां* - 'ब' प्रति पाठ

तिनितैं भेदज्ञान के वल तैं अपनें आत्मा कूं चलनैं न दे॥ पीछैं शुद्ध दर्शनज्ञानमयी अपनां स्वरूप विषै निश्चल करै अर समस्त वाह्य अभ्यंतर के परिग्रह तैं रहित होय करि, कर्म नोकर्म तैं भिन्न अपनां स्वरूप विषै एकाग्र होय ध्यान करता संता तिष्ठै सो थोरे ही काल मैं समस्त कर्म का नाश करै है। यह संवर का प्रकार है॥ छ॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है।

॥ मालिनी॥

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या,
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां,
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः॥ ४॥

॥ अर्थ॥ जे पुरुष भेदविज्ञान की शक्ति करि अपनां स्वरूप की महिमा विषै लीन हैं, तिनिकै नियम तैं शुद्धतत्व की प्राप्ति होय है॥ वहुरि तिस शुद्धतत्व की प्राप्ति होतैं संतैं जे निश्चल जैसैं होय, तैसैं समस्त अन्य द्रव्यनि तैं दूरि तिष्ठै हैं, तिनिकै कर्म का मोक्ष कहिये अभाव होय है सो अक्षय होय है, फेरि कर्मवंध नाही होय है॥ छ॥

योगों से भेदविज्ञान के बल से अपने आत्मा को चलित नहीं होने देता, फिर उपयोग को शुद्ध दर्शन-ज्ञानमय अपने स्वरूप में निश्चल करता है और समस्त बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह से रहित होकर, कर्म-नोकर्म से भिन्न अपने स्वरूप में एकाग्र होकर ध्यान करता हुआ स्थित होता है; वह जीव, अल्पकाल में ही समस्त कर्मों का नाश करता है – यह संवर की विधि है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

भेदज्ञान की शक्ति से निजमहिमा रत को,
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि निश्चित हो जाए।
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होने पर उसके,
अतिशीघ्र ही सब कर्मों का क्षय हो जाए॥ १२८॥

अर्थ – जो पुरुष, भेदविज्ञान की शक्ति से अपने स्वरूप की महिमा में लीन हैं, उनको नियम से शुद्धतत्त्व की प्राप्ति होती है और उस शुद्धतत्त्व की प्राप्ति होने पर वे जीव जैसे ही निश्चल होते हैं, वैसे ही समस्त अन्य द्रव्यों से दूर स्थित हो जाते हैं और उनके कर्म का मोक्ष अर्थात् अभाव होता है। यह मोक्ष अक्षय होता है अर्थात् पुनः कर्म का बन्धन नहीं होता है।

आगैं पूछैं है जो संवर कोंन से अनुक्रम करि होय है॥ ताका उत्तर कहै है॥

तेसिं हेऊ भणिया, अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं, अविरयभावो य जोगा य॥ १०॥
हेउ अभावे णियमा, जायइ णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा, जायइ कम्मस्स वि णिरोहो॥ ११॥
कम्मस्स अभावेण य, णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो।
णोकम्मणिरोहेण य, संसारणिरोहणं होइ॥ १२॥

॥ त्रिकलं॥

तेषां हेतवो भणिता, अध्यवसानानि सर्वदर्शिभिः।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतभावश्च[१] योगश्च॥ छ॥
हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिनः आस्त्रवनिरोधः।
आस्त्रवभावेन विना, जायते कर्मणोऽपि निरोधः॥ छ॥

अब, प्रश्न है कि संवर किस अनुक्रम से होता है? — उसका उत्तर कहते हैं —

तेसिं हेदू भणिदा, अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं[२]।
मिच्छत्तं अण्णाणं, अविरदभावो[३] य जोगो य॥ १९०॥
हेदुअभावे णियमा, जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा, जायदि कम्मस्स वि[४] णिरोहो॥ १९१॥
कम्मस्साभावेण य, णोकम्माणं पि जायदि णिरोहो।
णोकम्मणिरोहेण य, संसारणिरोहणं होदि॥ १९२॥

रागादि के कारण कहें, सर्वज्ञ अध्यवसान को।
मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव त्यों ही योग को॥ १९०॥

---

१. *मिथ्यात्वमविज्ञानमविरतभावश्च* - 'ब' प्रति पाठ
२. *सव्वदरसीहिं* - तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ
३. *अविरदिभावो*- तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
४. दु - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

कर्मणोऽभावेन च, नोकर्मणामपि जायते निरोधः।
नोकर्मनिरोधेन च[१], संसारनिरोधनं भवति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ तेषां कहिये पूर्वैं कहे जे राग द्वेष मोह, तिनिका हेतु सर्वज्ञदेव अध्यवसान कहे हैं, ते मिथ्यात्व अज्ञान अविरतिभाव योग, ये च्यारि कहे हैं॥ छ॥

सो ज्ञानी कै इनिका अभाव होतैं नियम तैं आश्रव का निरोध होय है॥ सो आश्रवभाव विना कर्म का भी निरोध होय है॥ छ॥

वहुरि कर्म का अभाव करि नोकर्म का भी निरोध होय है॥ वहुरि नोकर्म का निरोध करि संसार का निरोध होय है॥ छ॥

॥ टीका॥ प्रथम ही जीव कै आत्मा अर कर्म का एकपणां का निश्चयरूप आशय है मूल कारण जिनिका, अैसे मिथ्यात्व अज्ञान अविरति योगस्वरूप अध्यवसान विद्यमान हैं॥ ते राग द्वेष मोह है लक्षण जाका, अैसे आश्रव का कारण हैं॥ वहुरि आश्रवभाव है सो कर्म का कारण है॥ वहुरि कर्म है सो नोकर्म का कारण है॥ वहुरि नोकर्म है सो संसार का कारण है॥

तातैं आत्मा है सो नित्य ही आत्मा अर कर्म का एकपणां का निश्चयरूप आशय तैं मिथ्यात्व

कारण बिना फिर नियम से, आस्रव निरोध ज्ञानी करें।
तो आस्रवों के भाव बिन, कर्म का रोधन करें॥ १९१॥
फिर कर्म के अवरोध से, नोकर्म का रोधन बने।
नोकर्म का रोधन करें, संसार अवरोधन बने॥ १९२॥

अर्थ – तेषां अर्थात् उन पूर्वकथित राग-द्वेष-मोह का हेतु सर्वज्ञदेव ने अध्यवसान को बताया है; वे मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग के भेद से चार प्रकार के हैं॥ १९०॥

इनका अभाव होने पर ज्ञानी को नियम से आस्रव का निरोध होता है और आस्रवभाव के बिना कर्म का भी निरोध होता है॥ १९१॥

कर्म के अभाव से नोकर्म का भी निरोध होता है और नोकर्म के निरोध से संसार का निरोध होता है॥ १९२॥

टीका – प्रथम ही जीव में आत्मा और कर्म के एकत्व के निश्चयरूप अभिप्राय के मूल कारण मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान विद्यमान हैं; वे अध्यवसान, राग-द्वेष-मोह लक्षणवाले आस्रव के कारण हैं; आस्रवभाव, कर्म के कारण हैं; कर्म, नोकर्म के कारण हैं और नोकर्म, संसार का कारण है।

इसलिए यह आत्मा, नित्य ही आत्मा और कर्म के एकत्वरूप अभिप्राय के कारण, आत्मा को

---

१. तु - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

अज्ञान अविरति योगमयी आत्मा कूं निश्चय करि मानैं है। तिस निश्चय तैं राग द्वेष मोहरूप जो आश्रवभाव, ताहि भावै है॥ वहुरि तातैं कर्म का आश्रव होय है॥ वहुरि कर्म तैं नोकर्म होय है॥ वहुरि नोकर्म तैं संसार प्रगट प्रवर्त्तै है॥

वहुरि जिस काल आत्मा, आत्मा का अर कर्म का भेदविज्ञान करि शुद्ध चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा कूं पावै है, तिस काल मिथ्यात्व अज्ञान अविरति योगस्वरूप अध्यवसान, आश्रवभाव के कारण हैं, तिनिका आत्मा कै अभाव होय है॥ अर मिथ्यात्व आदि का अभाव होतैं राग द्वेष मोहरूप आश्रवभाव का अभाव होय है॥ अर राग द्वेष मोह का अभाव होतैं कर्म का अभाव होय है॥ अर कर्म का अभाव होतैं नोकर्म अभाव होय है॥ अर नोकर्म का अभाव होतैं संसार का अभाव होय है॥ अैसैं यह संवर का अनुक्रम है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जीव कै जेतै आत्मा का अर कर्म का एकपणां[१] का आशय है, भेदविज्ञान नाही है, तेतै मिथ्यात्व अज्ञान अविरत योगरूप अध्यवसान विद्यमान हैं, तिनितैं राग द्वेष मोहरूप आश्रवभाव होय है, आश्रवभाव तैं कर्म वंधै है, कर्म तैं नोकर्म शरीरादिक प्रगट होय है, नोकर्म तैं संसार है॥

वहुरि जिस काल आत्मा का अर कर्म का भेदविज्ञान होय है, तव शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होय है, तव मिथ्यात्व आदि अध्यवसान का अभाव होय है अर अध्यवसान का अभाव भयें राग द्वेष मोहरूप आश्रव का अभाव होय है, आश्रव के अभाव तैं कर्म नाही वंधै है अर कर्म के अभाव तैं नोकर्म

वास्तव में (निश्चय से) मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगमयी मानता है; इस अभिप्राय से [वह आत्मा] राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभावों को चाहता है, जिससे कर्म का आस्रव होता है, कर्म से नोकर्म होता है और नोकर्म से संसार में प्रगट परिभ्रमण होता है।

जिस समय आत्मा, आत्मा और कर्म का भेदविज्ञान करके, शुद्ध चैतन्य-चमत्कारमात्र आत्मा को प्राप्त होता है; उस समय आस्रवभाव के कारण मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसानों का आत्मा में अभाव होता है। मिथ्यात्व आदि का अभाव होने पर, राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभावों का अभाव होता है; राग-द्वेष-मोह का अभाव होने पर, कर्म का अभाव होता है; कर्म का अभाव होने पर, नोकर्म का अभाव होता है और नोकर्म का अभाव होने पर, संसार का अभाव होता है। इस प्रकार यह संवर का अनुक्रम है।

भावार्थ – जीव को जब तक आत्मा और कर्म के एकत्व का अभिप्राय है, भेदविज्ञान नहीं है; तब तक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगरूप अध्यवसान विद्यमान हैं; उनसे राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव होता है; आस्रवभाव से कर्म-बन्ध होता है; कर्म से नोकर्म शरीर आदि प्रगट होते हैं और नोकर्म से संसार होता है।

जिस समय आत्मा और कर्म का भेदविज्ञान होता है, उस समय शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है और मिथ्यात्व आदि अध्यवसानों का अभाव होता है; अध्यवसानों का अभाव होने पर राग-द्वेष-

---

१. *एकपणें* - 'ब' प्रति पाठ

नाही प्रगटै है, नोकर्म के अभाव तैं संसार का अभाव होय है, ऐसैं संवर का अनुक्रम जाननां॥ छ॥

अब, इस संवर का कारण प्रथम ही भेदविज्ञान कह्या, ताकी भावनां का उपदेश करै है, ताका कलशरूप काव्य कहे है॥ छ॥

॥ उपजाति॥

सम्पद्यते संवर एष साक्षात्, शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्, तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम्॥ ५॥

॥ अर्थ॥ जातैं यह संवर है सो निश्चय तैं साक्षात् शुद्धात्मतत्व के उपलंभ कहिये पावनें तैं होय है॥ वहुरि शुद्धात्मतत्व का उपलम्भ है सो आत्मा अर कर्म का भेदविज्ञान तैं होय है। कर्म कूं अर आत्मा कूं न्यारे जानैं, तव आत्मा कूं अनुभवै॥ तातैं सो भेदविज्ञान अतिशय[१] करि भावनें योग्य है॥ छ॥

फेरि कहै है जो भेदविज्ञान कहां तांई भावणां॥

॥ अनुष्टुभ्॥

भावयेद्भेदविज्ञान-मिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा, ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते॥ ६॥

मोहरूप आस्रवभावों का अभाव होता है; आस्रव के अभाव से कर्म नहीं बँधते हैं; कर्म के अभाव से नोकर्म नहीं प्रगट होता है और नोकर्म के अभाव से संसार का अभाव होता है – यह संवर का अनुक्रम जानना।

अब, इस संवर का कारण प्रथम ही भेदविज्ञान कह कर, उसकी भावना का उपदेश देते हुए कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

आत्मतत्त्व की उपलब्धि हो भेदज्ञान से,
आत्मतत्त्व की उपलब्धि से संवर होता।
इसीलिए तो सच्चे दिल से नितप्रति करना,
अरे भव्यजन! भव्यभावना भेदज्ञान की॥ १२९॥

अर्थ – वास्तव में यह संवर, साक्षात् शुद्धात्मतत्त्व के उपलम्भ अर्थात् पाने से होता है और शुद्धात्मतत्त्व का उपलम्भ, आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान से होता है। [यह जीव], जब कर्म और आत्मा को भिन्न-भिन्न जानता है, तब उसे आत्मा का अनुभव होता है; इसलिए यह भेदविज्ञान अतिशयरूप से भाने योग्य है।

---

१. *अतिसै* - 'अ' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ यह भेदविज्ञान है, ताहि निरंतर धाराप्रवाहरूप जामैं विच्छेद न पडै, अैसैं तेतै भावै, जेतै ज्ञान है सो परभावनि तैं छूटि करि अपनें स्वरूप ज्ञान ही विषै प्रतिष्ठित होय, ठहरि जाय॥

॥ भावार्थ ॥ इहां ज्ञान का ज्ञान विषै ठहरनां, दोय प्रकार जाननां। एक तौ मिथ्यात्व का अभाव होय सम्यक्ज्ञान होय, फेरि मिथ्यात्व न आवै। वहुरि दूजा यह जो शुद्धोपयोगरूप होय ठहरै, ज्ञान अन्य विकाररूप न परिणमै सो दोऊ प्रकार न वणैं, तेतै निरंतर भेदविज्ञान की भावनां राषणी॥ छ॥

फेरि भेदविज्ञान की महिमा कहै है॥

॥ अनुष्टुभ्॥

भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाऽभावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन॥ ७॥

पुनः कहते हैं कि भेदविज्ञान को कब तक भाना चाहिए —

॥ रोला॥

अरे भव्यजन! भव्यभावना भेदज्ञान की,
सच्चे मन से बिन विराम के तब तक भाना।
जब तक पर से हो विरक्त यह ज्ञान ज्ञान में,
ही थिर न हो जाय, अधिक क्या कहें? जिनेश्वर!॥ १३०॥

अर्थ – यह भेदविज्ञान की धारा खण्डित न हो, इस प्रकार निरन्तर धारावाहीरूप से तब तक भाना चाहिए; जब तक ज्ञान, परभावों से छूट कर अपने ज्ञानस्वरूप ही में प्रतिष्ठित न हो जाए, ठहर न जाए।

भावार्थ – यहाँ ज्ञान का ज्ञान में ठहरना, दो प्रकार से जानना चाहिए – १. एक तो मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान हो और [यह आत्मा] जिससे पुनः मिथ्यात्व में न आए तथा २. दूसरा यह है कि ज्ञान, शुद्धोपयोगरूप होकर स्थिर हो जाए, अन्य विकाररूप परिणमित नहीं हो। अतः जब तक दोनों प्रकार से ज्ञान का ज्ञान में ठहरना नहीं हो जाता, तब तक निरन्तर भेदविज्ञान की भावना रखनी चाहिए।

अब, पुनः भेदविज्ञान की महिमा करते हुए कहते हैं —

॥ रोला॥

अब तक जो भी हुए सिद्ध या आगे होंगे,
महिमा जानो एकमात्र सब भेदज्ञान की।
और जीव जो भटक रहे हैं भवसागर में,
भेदज्ञान के ही अभाव से भटक रहे हैं॥ १३१॥

॥ अर्थ ॥ जे केई सिद्ध भये हैं, ते इस भेदविज्ञान तैं भये हैं॥ वहुरि जे कर्म तैं वंधे हैं, ते तिस ही भेदविज्ञान के अभाव तैं वंधे हैं॥

॥ भावार्थ ॥ संसार है सो आत्मा अर कर्म कै एकता की मान्य तैं है सो अनादि तैं जेतै भेदविज्ञान नाही है, तेतै कर्म तैं वंधे ही है, तातैं कर्मवंध का मूल भेदविज्ञान का अभाव ही है। जे वंधे हैं, ते याही के अभाव तैं वंधे हैं॥ वहुरि जे सिद्ध भये हैं, ते भेदविज्ञान भयें ही भये हैं, तातैं प्रथम भेदविज्ञान ही मोक्ष का कारण है।

इहां अैसा भी जाननां जो विज्ञानाद्वैतवादी वौद्ध तथा वेदांती वस्तु कूं अद्वैत कहैं हैं, ते अद्वैत की अनुभव ही तैं सिद्धि कहैं हैं, तिनिका भी इस भेदविज्ञान तैं सिद्धि कहनें तैं निषेध भया, जातैं सर्वथा अद्वैत वस्तु का स्वरूप नाही अर जे मानैं हैं, तिनिकै भेदविज्ञान कहनां वनैं नाही। भेदविज्ञान तौ वस्तु द्वैत होय, तव कहनां वनैं। सो जीव अजीव दोय वस्तु मानैं अर दोय का संयोग मानैं, तव भेदविज्ञान वनै, यातैं स्याद्वादीनि कै सर्व निर्वाध सिद्धि होय है॥ छ॥

आगैं संवर का अधिकार पूर्ण भया सो या संवर के भयें ज्ञान कैसा है, अैसैं ज्ञान की महिमा का कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ मन्दाक्रान्ता ॥

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भात्-
रागग्रामप्रलयकरणात् कर्मणां संवरेण॥

अर्थ – आज तक जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे इस भेदविज्ञान से ही हुए हैं और जितने कर्म से बँधे हैं, वे इसी भेदविज्ञान के अभाव से बँधे हैं।

भावार्थ – आत्मा और कर्म की एकता की मान्यता से संसार है; अतः [इस जीव को] अनादिकाल से जब तक भेदविज्ञान नहीं होता, तब तक वह कर्म से बँधता ही है; अतः कर्मबन्ध का मूल भेदविज्ञान का अभाव ही है। [आज तक] जितने भी जीव बँधे हैं, वे इस [भेदविज्ञान] के अभाव से ही बँधे हैं और जो सिद्ध हुए हैं, वे इस भेदविज्ञान के होने पर ही हुए हैं; अतः भेदविज्ञान ही मोक्ष का प्रथम कारण है।

यहाँ यह भी जानना कि विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध तथा वेदान्ती, वस्तु को अद्वैत कहते हैं, वे अद्वैत के अनुभव ही से सिद्ध होना कहते हैं; अतः इस भेदविज्ञान से सिद्धि होने का कथन करने से उनका भी निषेध हो जाता है क्योंकि सर्वथा अद्वैत, वस्तु का स्वरूप नहीं है, लेकिन जो सर्वथा अद्वैत मानते हैं, उनके अनुसार भेदविज्ञान कहना बनता नहीं है। यदि वस्तु में द्वैत हो, तब ही भेदविज्ञान कहना बनता है; अतः जीव और अजीव – ऐसी दो वस्तुएँ मानें और उन दोनों का संयोग मानें, तब ही भेदविज्ञान कहना बनता है। इस कारण स्याद्वादियों को ही सर्व निर्बाध सिद्धि होती है।

अब, संवर का अधिकार पूर्ण करते हुए, इस संवर के होने पर ज्ञान कैसा होता है? – इस प्रकार ज्ञान की महिमा का कलशरूप काव्य कहते हैं —

बिभ्रत्तोषं परममलाऽलोकमम्लानमेकं,
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत्॥ ८॥

॥ अर्थ॥ यह ज्ञान है सो ज्ञान ही विषै निश्चल नियमरूप उदय कूं प्राप्त भया॥

कैसे अनुक्रम तैं उदय भया। प्रथम तौ भेदज्ञान का उदय होनां, ताका अभ्यास भया॥ वहुरि तिस भेदज्ञान के अभ्यास तैं शुद्धतत्त्व का उपलंभ भया॥ वहुरि तिस शुद्धतत्त्व के उपलंभ तैं राग के समूह का प्रलय कीया॥ वहुरि रागग्राम के प्रलय करणें तैं आश्रव के रुकनें तैं कर्मनि का संवर भया। वहुरि कर्म के संवर होनें करि परम उत्कृष्ट संतोष कूं धारता संता, ज्ञान प्रगट भया।

वहुरि कैसा है ज्ञान। निर्मल है आलोक कहिये प्रकाश जाका॥ क्षयोपशम के दोष तैं मलिनता थी सो अव नाही है। वहुरि अम्लान है॥ रागादिक तैं कलुषता थी सो अव नाही है, तातैं निर्मल है॥

वहुरि कैसा है। एक है, क्षयोपशम करि भेद थे, ते अव नाही हैं॥ वहुरि शाश्वता है उद्योत जाका, क्षयोपशमज्ञान मैं क्रम तैं होनां था, सो अव नाही है॥ छ॥

अैसैं रंगभूमि मैं संवर का स्वांग प्रवेश भया था, ताकूं ज्ञान जानि लीया सो नृत्य करि रंगभूमि तैं निकसि गया॥ छ॥

भेदज्ञान से शुद्धतत्त्व की उपलब्धि हो,
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि से रागनाश हो।
रागनाश से कर्मनाश अरु कर्मनाश से,
ज्ञान ज्ञान में थिर होकर शाश्वत हो जाए॥ १३२॥

अर्थ – यह ज्ञान, ज्ञान ही में निश्चल होकर अवश्य ही उदित हुआ है।

किस अनुक्रम से उदित हुआ है? – प्रथम तो भेदज्ञान को प्रगट करने का अभ्यास हुआ, उस भेदज्ञान के अभ्यास से शुद्धतत्त्व की प्राप्ति हुई, उस शुद्धतत्त्व की प्राप्ति से राग के समूह का नाश किया, राग के समूह का नाश करने के कारण आस्रव के रुकने से कर्मों का संवर हुआ, तब कर्मों का संवर होने से परम उत्कृष्ट सन्तोष को धारण करता हुआ ज्ञान प्रगट हुआ।

कैसा है वह ज्ञान? – जिसका आलोक अर्थात् प्रकाश **निर्मल** है अर्थात् क्षयोपशम के दोष से मलिनता थी, वह अब नहीं है और जो **अम्लान** है अर्थात् रागादि के कारण कलुषता थी, वह अब नहीं है; अत: निर्मल है, अम्लान है।

और कैसा है? – जो **एक** है अर्थात् क्षयोपशम की अपेक्षा भेद थे, वे अब नहीं हैं तथा जिसका **उद्योत शाश्वत** है अर्थात् क्षयोपशमज्ञान में जो क्रम होता था, वह अब नहीं है।

इस प्रकार रङ्गभूमि में जो संवर के स्वाँग का प्रवेश हुआ था, उसे ज्ञान ने जान लिया; अत: वह भी नृत्य करके रङ्गभूमि से बाहर निकल गया।

॥ सवइया तेईसा ॥

भेदविज्ञान कला प्रगटै तव, शुद्धस्वभाव लहै अपनां ही।
राग रु द्वेष विमोह सवै, गलि जाय इमैं दुठ कर्म रुकांही॥
उज्ज्वल ज्ञानप्रकाश करै वहु, तोष धरै परमातम मांही।
यों मुनिराज भली विधि धारत, केवल पाय सुखी शिव जांही॥ १ ॥

इहां तांई गाथा १९२ भई, कलसा १३२ भये॥ छ॥[१]

॥ ऐसैं इस समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति नामा टीका की वचनिका विषै[२] **पांचमां संवर अधिकार पूर्ण भया॥**[३]

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

॥ सवैया तेईसा ॥

भेदविज्ञान कला प्रगटै तब, शुद्धस्वभाव लहें अपना ही,
राग-द्वेष-विमोह सभी गल जाय इमै दुठ कर्म रुकाहीं।
उज्ज्वल ज्ञानप्रकाश करै, बहु तोष धरै परमातम माहीं,
यों मुनिराज भली विधि धारत, केवल पाय सुखी शिव जाहीं॥

[अर्थ — जब भेदविज्ञान की कला प्रगट होती है, तब अपने ही शुद्धस्वभाव की प्राप्ति होती है। राग-द्वेष-मोह सब गल जाते हैं और दुष्ट कर्मों का आना रुक जाता है। वह भेदविज्ञान उज्ज्वल ज्ञान का प्रकाश करता है और निज परमात्मा का अत्यन्त सन्तुष्ट होकर ध्यान करता है। जो मुनि इस भेदविज्ञान को भलीभाँति धारण करते हैं, वे केवलज्ञान प्राप्त करके सुखस्वरूप मोक्ष में जाते हैं।]

यहाँ तक कुल गाथाएँ १९२ हुईं और कलश १३२ हुए।[४]

इस प्रकार [आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेवप्रणीत] श्री समयसार ग्रन्थ की [आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेवविरचित] श्री आत्मख्याति नामक टीका की [पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ाकृत] श्री समयसार वचनिका में पाँचवाँ 'संवर अधिकार' पूर्ण होता है।[५]

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

१, ३, ४ व ५ - यहाँ सम्पादन एवं एकरूपता की दृष्टि से अनुच्छेदों को आगे-पीछे किया गया है।

२. *टीका विषै* - 'अ' प्रति पाठ

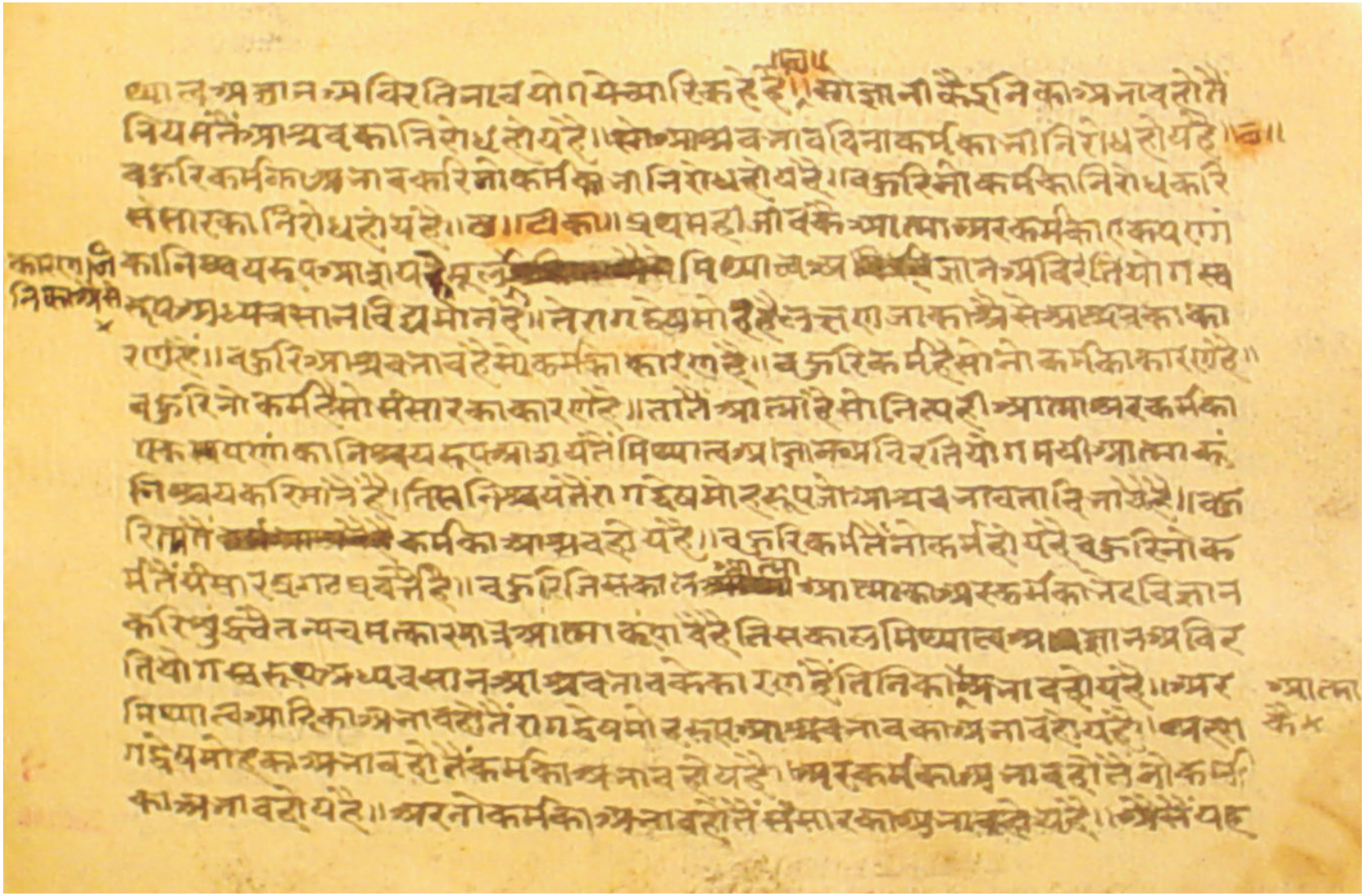

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १२६ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर संवर अधिकार की अन्तिम गाथाओं ११-१२ (१९१-१९२) की टीका का प्रकरण है। इसमें नीचे से छठी पंक्ति में संवर का कारण भेदविज्ञान की महिमा बताते हुए लिखा है – **'आत्मा का अर कर्म का भेदविज्ञान करि शुद्ध चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा कूं पावै है।'**

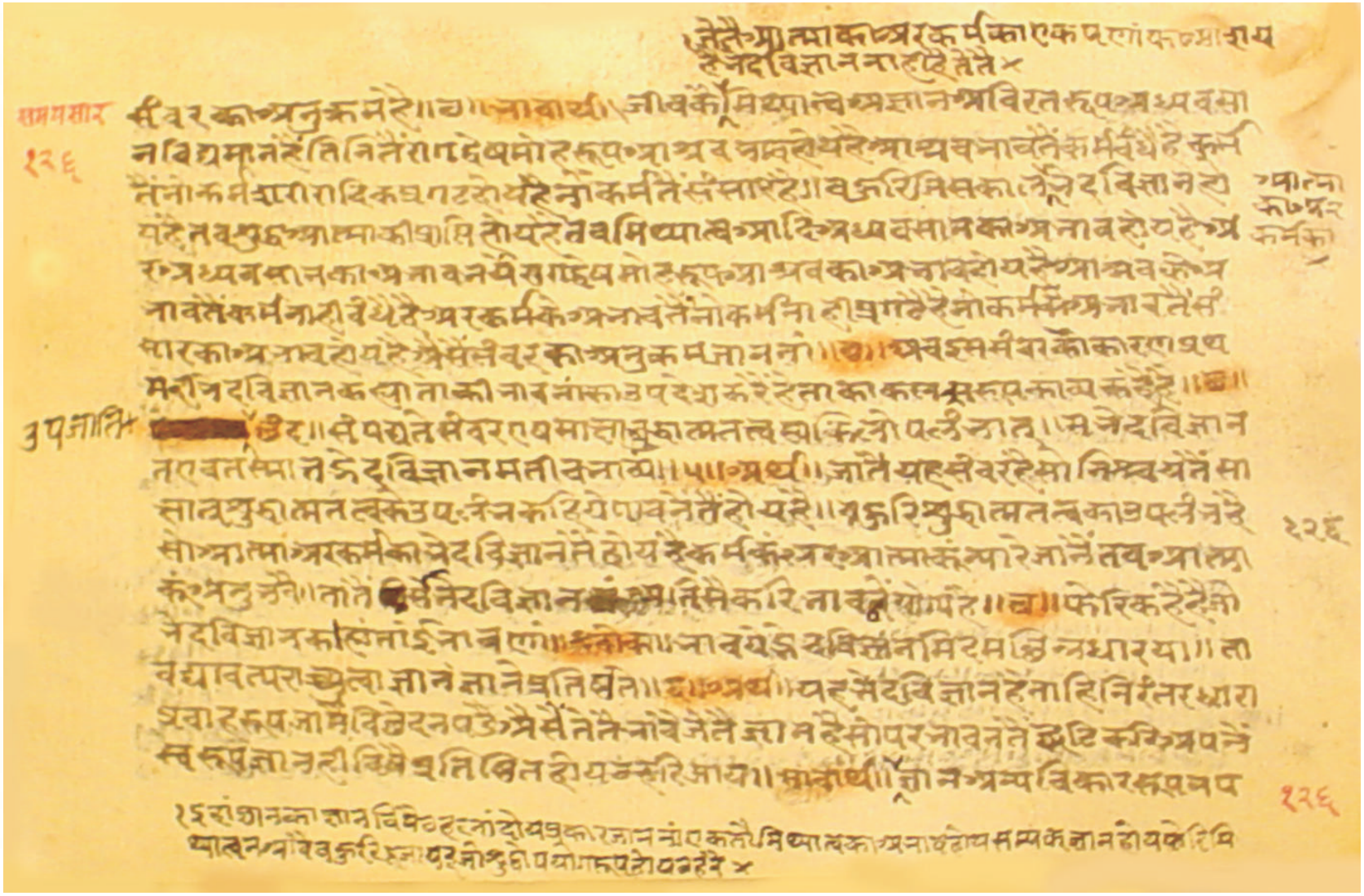

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १२६ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर संवर अधिकार के कलश ५-६ (१२९-१३०) का प्रकरण है। इसमें पहली पंक्ति में ही भावार्थ में बताया है - ' ॥ भावार्थ ॥ **जीव कै जेतै आत्मा का अर कर्म का एकपणां का आशय है, भेदविज्ञान नाही है, तेतै मिथ्यात्व अज्ञान योगरूप अध्यवसान विद्यमान हैं।'**

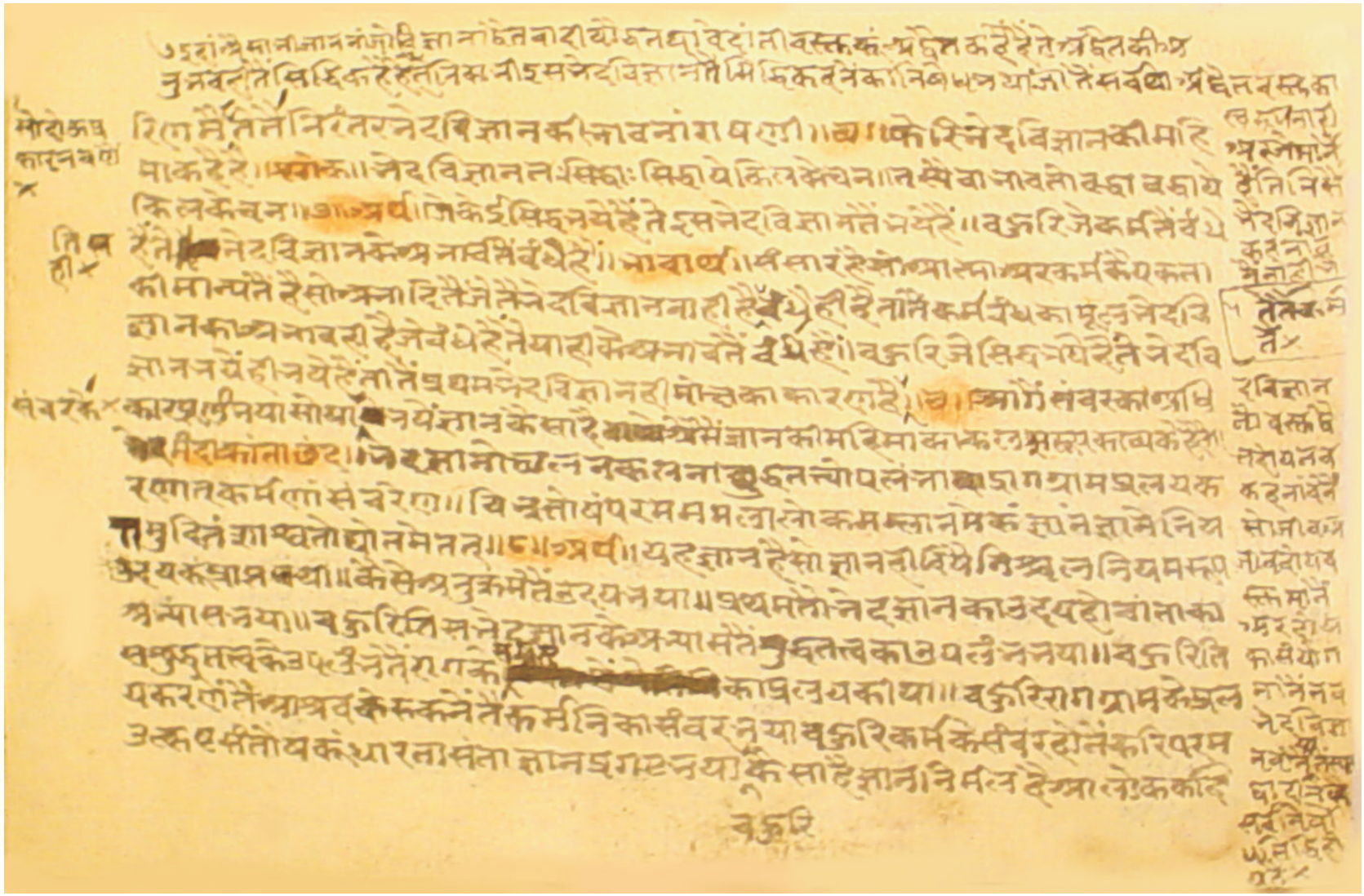

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १२७ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर संवर अधिकार के अन्तिम कलश ७-८ (१३१-१३२) का प्रकरण है। इसमें ऊपर से दूसरी पंक्ति में यह भेदविज्ञान का सुप्रसिद्ध श्लोक आया है - '**भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन। तस्यैवाऽभावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन॥ ७॥**'

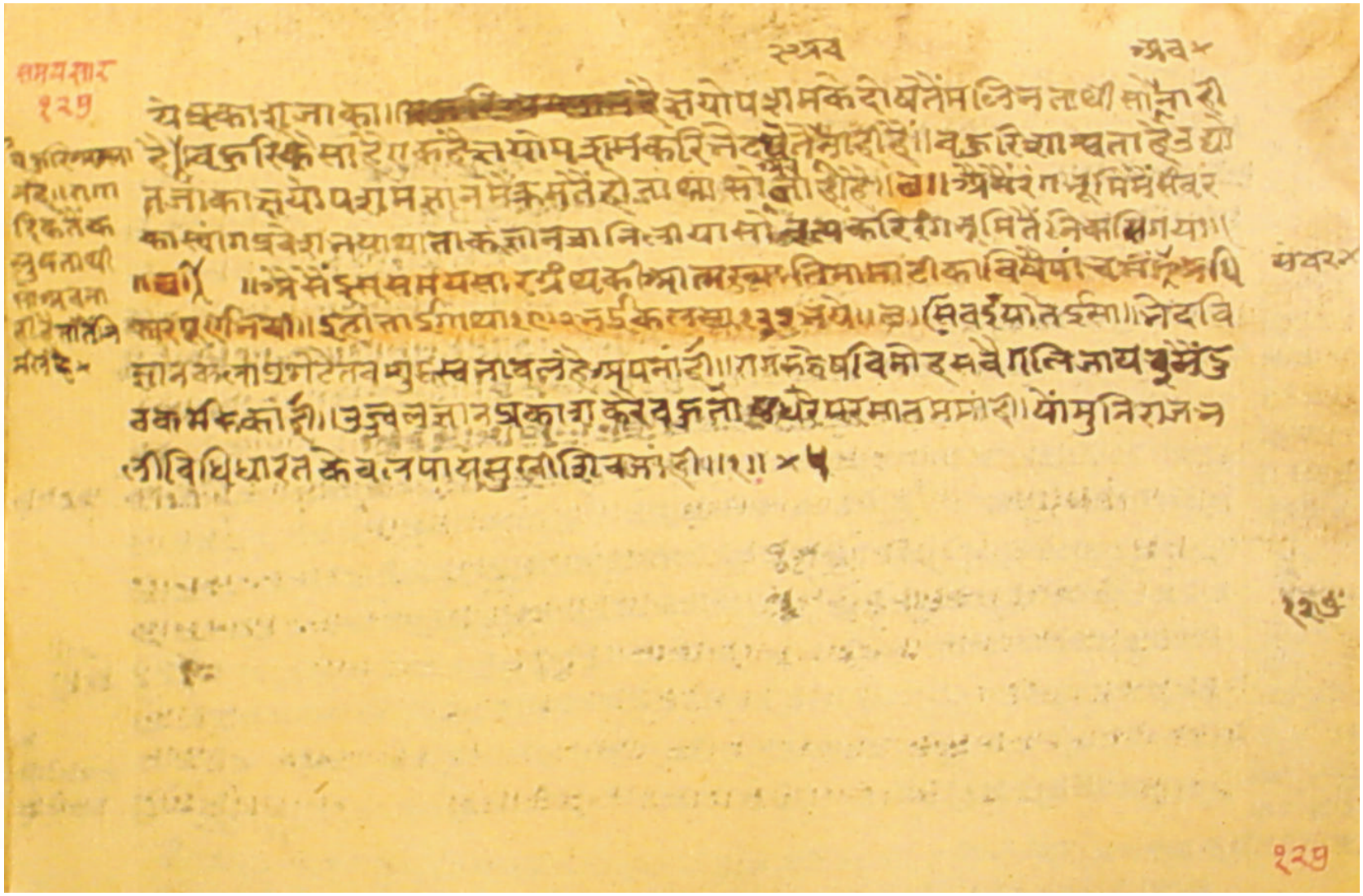

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १२७ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर संवर अधिकार के अन्त में 'सवैया तेईसा' छन्द लिखा है – **'भेदविज्ञान कला प्रगटै तव, शुद्धस्वभाव लहै अपनां ही। राग रु द्वेष विमोह सवै, गलि जाय इमैं दुठ कर्म रुकांही॥ उज्जवल ज्ञानप्रकाश करै वहु, तोष धरै परमातम मांही। यों मुनिराज भली विधि धारत, केवल पाय सुखी शिव जांही॥ १॥'**

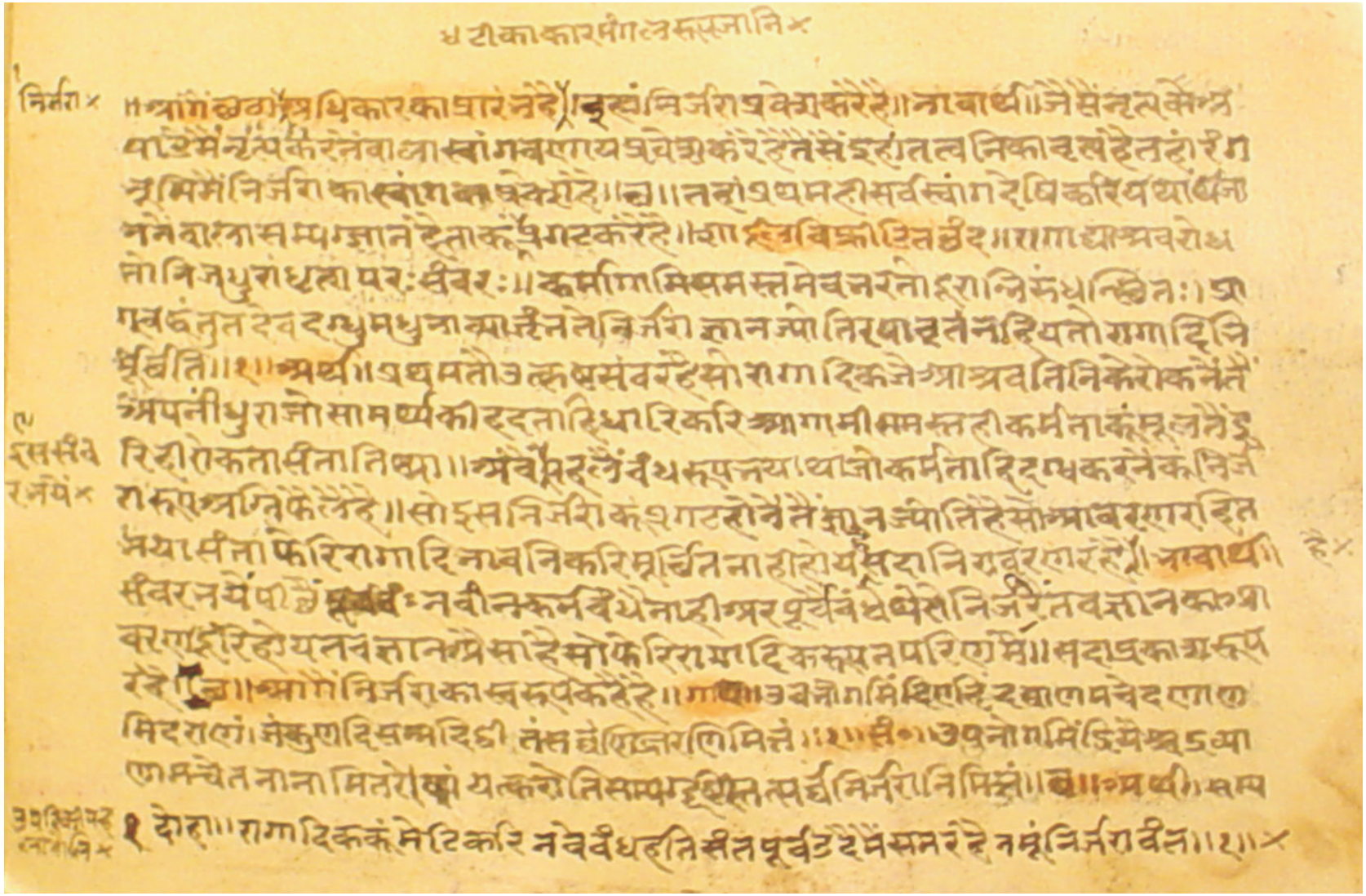

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १२८ का अगला भाग है। यहाँ से छठा **निर्जरा अधिकार** प्रारम्भ होता है। सर्व प्रथम अधिकार सूचक वाक्य एवं मङ्गल सूचक 'दोहा' लिखा है – '**आगैं छठा निर्जरा अधिकार का प्रारंभ है।** ॥ दोहा ॥ **रागादिक कूं मेटि करि,**

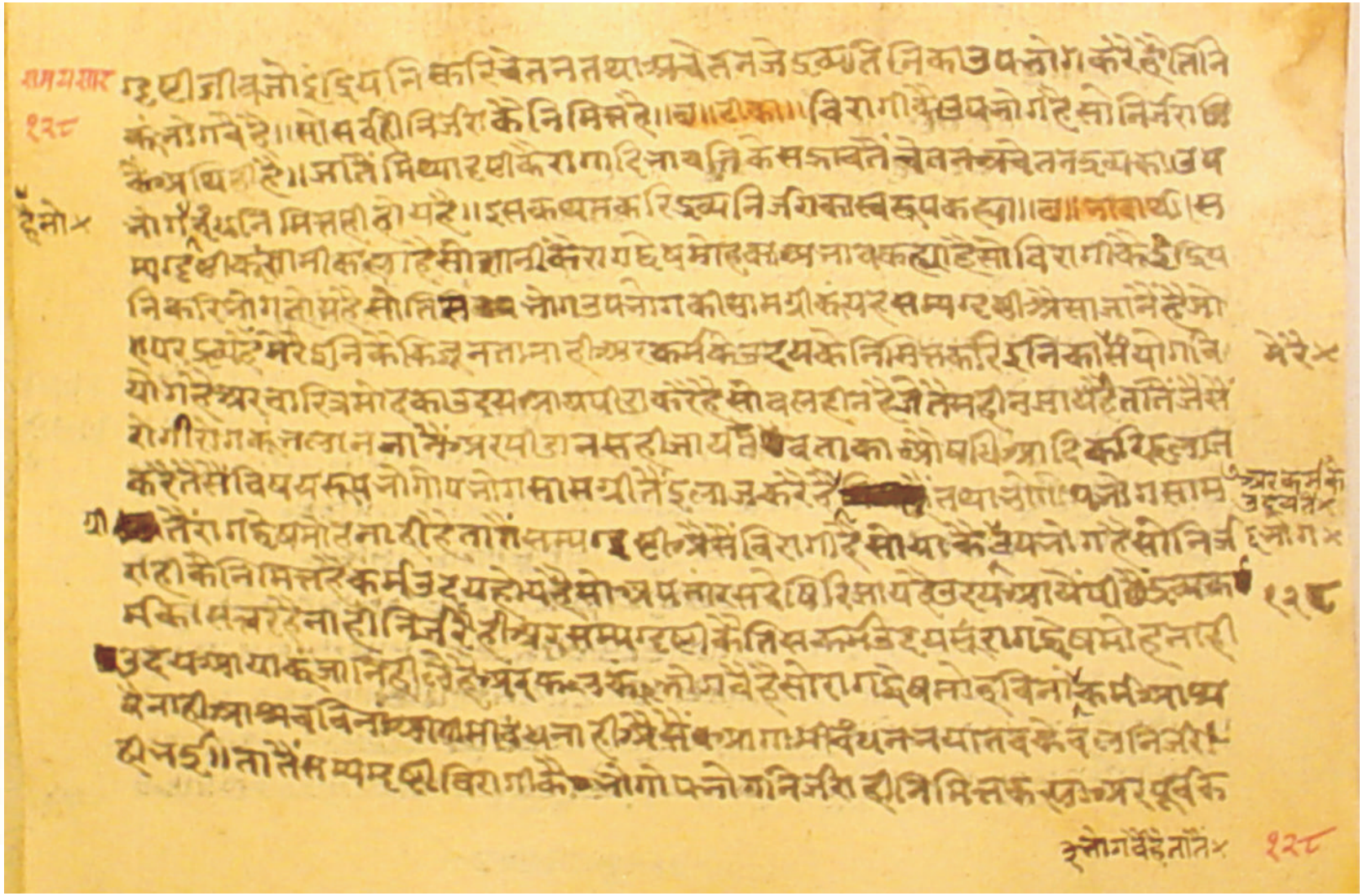

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १२८ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर ऊपर से दूसरी पंक्ति में निर्जरा अधिकार की गाथा १ (१९३) की टीका में लिखा है – **'विरागी कै उपभोग है सो निर्जरा कै अर्थि ही है॥ जातैं मिथ्यादृष्टी कै रागादि भावनि के सद्भाव तैं**

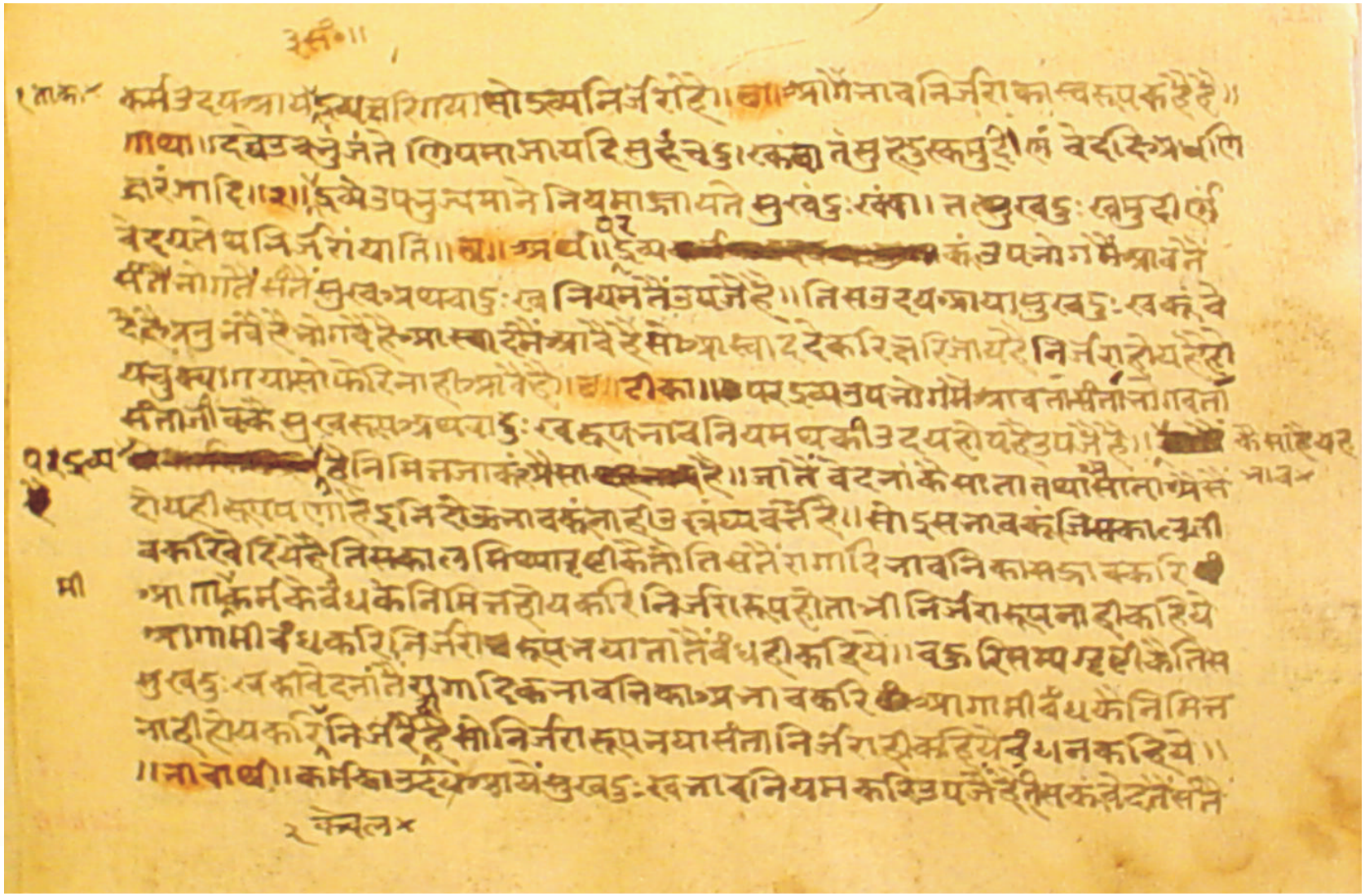

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १२९ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर नीचे चौथी पंक्ति में निर्जरा अधिकार की गाथा २ (१९४) की टीक में लिखा है – **'वहुरि सम्यग्दृष्टी कै तिस सुख दुःख की वेदनां तैं रागादिक भावनि का अभाव करि, आगामी वंध कै निमित्त नाही होय करि, केवल निर्जरै ही है।'**

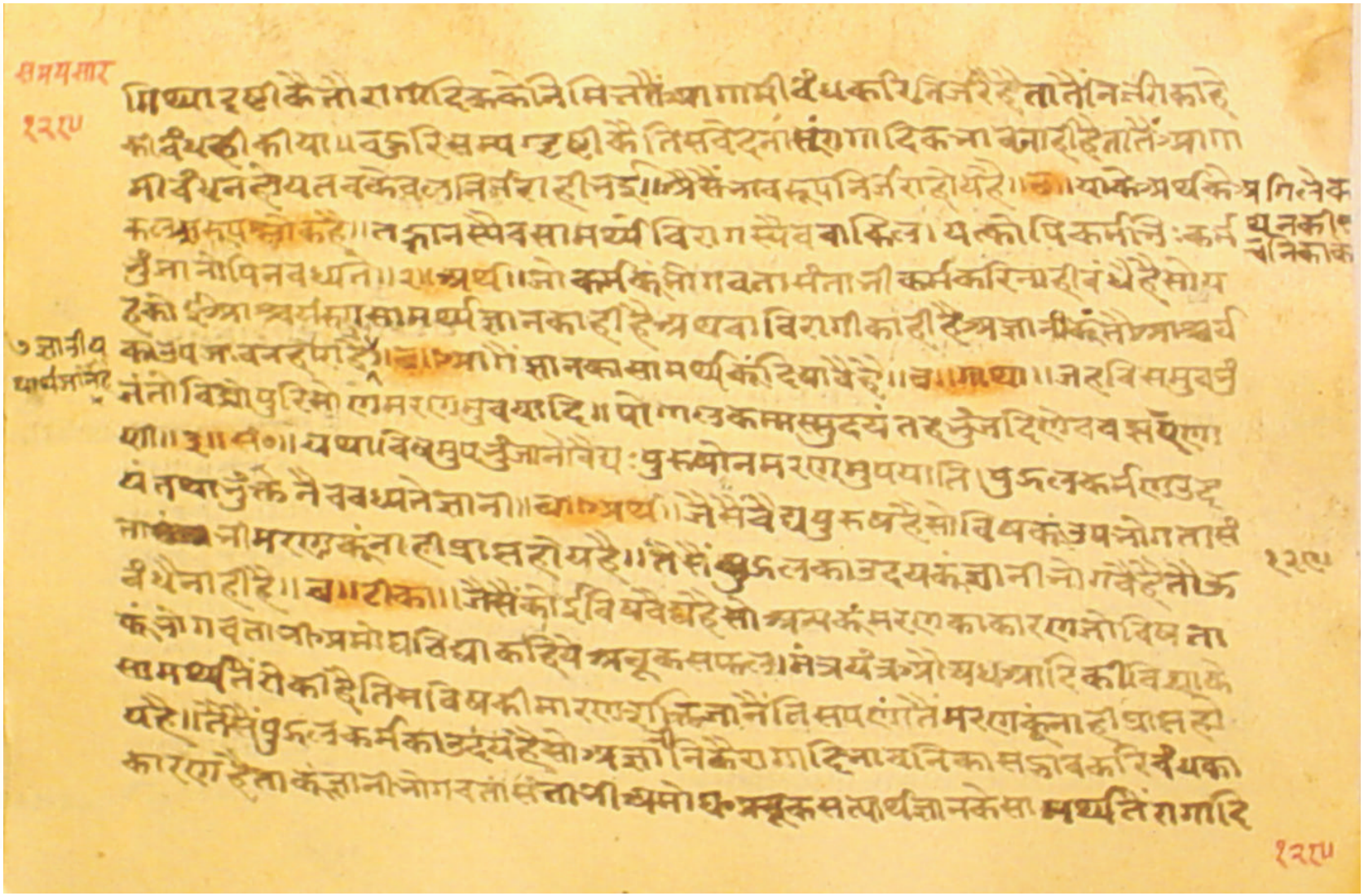

समयसार
१२९

मिथ्यादृष्टीके तो रागादिकके होनेतैं आगामी बंध करि निर्जरै है तातैं नहीं कह्या
कर्मबंधका कर्ता। बहुरि सम्यग्दृष्टीके तिस वेदनाका संगादिक नवा नाहीं है तातैं आगामी
बंधनहोय तब केवल निर्जरा ही है ऐसैं नवरूप निर्जरा होय है। ता यातैं एक अर्थ कर्म विषै
कर्तृत्वरूप कह्या है। तहां ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल। यत्कोपि कर्मनिःकर्म
तुंजानोपि न बध्यते॥ याका अर्थ॥ जो कर्म कूं भोगवता संता भी कर्म करि नाहीं बंधै है सो यह
कोई आश्चर्यरूप सामर्थ्य ज्ञानका ही है अथवा विरागी का ही है। ऐसा अर्थ कलश
काव्य जानना। ऐसैं ज्ञानका सामर्थ्य कह्या है। ता आगैं ज्ञानका सामर्थ्य कहै है॥ ता गाथा॥ जह
णवि परिणमदि सयं णवि य परदव्वं परिणामयदि॥ अह तह जाणगभावो
णाणी णेयं परिणमयदि॥ टीका॥ यथा विषमुपभुंजानोपि वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति पुरुषकर्मोदय
यं तथा जुक्तं नैव बध्यते ज्ञानी॥ याका अर्थ॥ जैसैं वैद्य पुरुष है सो विषकूं उपभोगता संता
नाहीं मरणकूं नाहीं प्राप्त होय है॥ तैसैं पुरुषकर्मका उदय कूं ज्ञानी भोगवै है तोऊ
बंधै नाहीं है॥ ता टीका॥ जैसैं कोई विषवैद्य है सो अन्यकूं मरणका कारण जो विष ता
कूं भोगवता संता भी अप्रमोघविद्या करिये अचूक सफल मंत्र यंत्र औषधादिकी विद्या के
सामर्थ्यतैं रोकी है तिस विषकी मारणशक्ति ज्ञानैं तिस पुरुषकूं तैं मरणकूं नाहीं प्राप्त
होय है। तैसैं पुरुषकर्मका उदय है सो यद्यपि केवल रागादिभावनिका सद्भाव करि बंधका
कारण है तातैं कर्म भोगवता संता भी अप्रमोघ अचूक सत्यार्थज्ञानका सामर्थ्यतैं रागादि

१२९

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १२९ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर निर्जरा अधिकार के कलश २ (१३४) के अर्थ में ऊपर से पाँचवी पंक्ति में ज्ञान एवं वैराग्य की सामर्थ्य, बताई है – **'जो कर्म कूं भोगवता संता भी कर्म करि नाही वंधै है सो यह कोई आश्चर्यरूप सामर्थ्य, ज्ञान का ही है अथवा विरागी का ही है।'**

६

॥ निर्जरा अधिकार ॥

आगैं, छठा निर्जरा अधिकार का प्रारंभ है।

॥ दोहा ॥

रागादिक कूं मेटि करि, नवे वंध हति संत।
पूर्व उदै मैं सम रहै, नमूं निर्जरावंत॥ १॥

इहां निर्जरा प्रवेश करै है॥

॥ भावार्थ ॥ जैसैं नृत्य के अषाडे मैं नृत्य करनेंवाला स्वांग वणाय प्रवेश करै है, तैसैं इहां तत्वनि का नृत्य है। तहां रंगभूमि मैं निर्जरा का स्वांग का प्रवेश है॥ छ॥

तहां प्रथम ही सर्व स्वांग देषि करि यथार्थ जाननेंवाला सम्यग्ज्ञान है, ताकूं टीकाकार मंगलरूप जानि प्रगट करै है॥

अब, छठा निर्जरा अधिकार, प्रारम्भ होता है —

॥ दोहा ॥

रागादिक को मेट कर, नये बन्ध हति सन्त।
पूर्व उदय में सम रहें, नमूँ निर्जरावन्त॥

[**अर्थ** – जो रागादि को मिटा कर, नये बन्ध का नाश कर, पूर्व कर्म के उदय में समभाव से रहते हैं – ऐसे निर्जरावन्त सन्तों को मैं नमन करता हूँ।]

अब, यहाँ निर्जरा प्रवेश करती है।

भावार्थ – जिस प्रकार नृत्य के अखाड़े में नृत्य करनेवाला स्वाँग बना कर प्रवेश करता है; उसी प्रकार यहाँ तत्त्वों का नृत्य है, वहाँ रङ्गभूमि में निर्जरा के स्वाँग का प्रवेश होता है।

वहाँ, प्रथम ही सर्व स्वाँगों को देख कर, यथार्थ जाननेवाले सम्यग्ज्ञान को टीकाकार मङ्गलरूप जान कर प्रगट करते हैं —

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

रागाद्यास्त्रवरोधतो निजधुरां, धृत्वा परः संवरः,
कर्मागामि समस्तमेव भरतो, दूरान्निरुन्धन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना, व्याजृम्भते निर्जरा,
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो, रागादिभिर्मूर्छति॥ १॥

॥ अर्थ ॥ प्रथम तौ उत्कृष्ट संवर है सो रागादिक जे आश्रव, तिनिके रोकनें तैं, अपनीं धुरा जो सामर्थ्य की हद, ताहि धारि करि, आगामी समस्त ही कर्म, ताकूं मूल तैं दूरि ही रोकता संता तिष्ठ्या॥ अवै इस संवर भयें पहलैं वंधरूप भया था जो कर्म, ताहि दग्ध करनें कूं निर्जरारूप अग्नि फैलै है सो इस निर्जरा के[१] प्रगट होनें तैं ज्ञानज्योति है सो आवरणरहित भया संता फेरि रागादि भावनि करि मूर्च्छित नाही होय है, सदा निरावरण रहै है॥

॥ भावार्थ ॥ संवर भयें पीछैं नवीन कर्म वंधै नाही अर पूर्वै वंधे थे, ते निर्जरैं[२], तव ज्ञान का आवरण दूरि होय, तव ज्ञान अैसा है सो फेरि रागादिकरूप न परिणमै॥ सदा प्रकाशरूप रहै॥ छ॥

आगैं, निर्जरा का स्वरूप कहै है॥

॥ हरिगीतिका ॥

आगामी बन्धन रोकने, संवर सजग सन्नद्ध हो।
रागादि के अवरोध से जब, कमर कस के खड़ा हो॥
अरु पूर्वबद्ध करम-दहन को, निर्जरा तैयार हो।
तब ज्ञानज्योति यह अरे!, नित ही अमूर्छित क्यों न हो॥ १३३॥

अर्थ – प्रथम तो उत्कृष्ट संवर, रागादि आस्रवों को रोकने से अपनी धुरा अर्थात् सामर्थ्य की हद को धारण करता है और आगामी समस्त ही कर्मों को मूल से दूर ही रोकता हुआ स्थित होता है तथा इस संवर के होने से पहले जो कर्म, बन्धरूप हुए थे, उन्हें जलाने (नष्ट करने) के लिए निर्जरारूप अग्नि फैलती है; इस निर्जरा के प्रगट होने से ज्ञानज्योति आवरणरहित होती हुई, पुनः रागादिभावों से मूर्च्छित नहीं होती है, सदा निरावरण रहती है।

भावार्थ – जब संवर होने से नवीन कर्म बँधते नहीं हैं और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है; तब ज्ञान का आवरण दूर होता है और ऐसा ज्ञान प्रगट होता है कि वह पुनः रागादिरूप नहीं परिणमता है, सदा प्रकाशरूप ही रहता है।

अब, निर्जरा का स्वरूप कहते हैं —

---

१. *निर्जरा कूं* – 'अ' प्रति पाठ
२. *निर्जरैं* – 'ब' प्रति पाठ

उवभोगमिंदिएहिं, दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं॥ १॥

उपभोगमिन्द्रियैः[१], द्रव्याणामचेतनानामितरेषाम्।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिः, तत्सर्वं निर्जरानिमित्तम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ सम्यग्दृष्टी जीव जो इंद्रियनि करि चेतन तथा अचेतन जे द्रव्य, तिनिका उपभोग करै है, तिनिकूं भौगवै है॥ सो सर्व ही निर्जरा कै निमित्त है॥ छ॥

॥ टीका॥ विरागी कै उपभोग है सो निर्जरा कै अर्थि ही है॥ जातैं मिथ्यादृष्टी कै रागादि भावनि के सद्भाव तैं चेतन अचेतन द्रव्य का उपभोग है सो वंध निमित्त ही होय है॥

इस कथन करि द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कह्या॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ सम्यग्दृष्टी कूं ज्ञानी कह्या है सो ज्ञानी कै राग द्वेष मोह का अभाव कह्या है सो विरागी कै इंद्रियनि करि भोग होय है, सो तिस भोग उपभोग की सामग्री कूं यह सम्यग्दृष्टी ऐसा जानैं है जो ए परद्रव्य हैं, मेरै इनिकै किछू नता नाही अर कर्म के उदय के निमित्त करि इनिका मेरै संयोग वियोग है।

अर चारित्रमोह का उदय आय पीडा करै है सो वलहीन है जेतै, सही न जाय है। तातैं जैसैं,

---

उवभोगमिंदियेहिं[२], दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं॥ १९३॥

चेतन-अचेतन द्रव्य का, उपभोग इन्द्रि-समूह से।
जो-जो करे सद्दृष्टि वह सब, निर्जरा-कारण बने॥ १९३॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टि जीव, इन्द्रियों के द्वारा जिन चेतन और अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है, उनको भोगता है; वे सभी निर्जरा के निमित्त हैं॥ १९३॥

टीका – विरागी का उपभोग, निर्जरा के लिए ही है क्योंकि मिथ्यादृष्टि को रागादिभावों का सद्भाव होने से चेतन-अचेतन द्रव्य का उपभोग बन्ध में ही निमित्त होता है।

इस कथन के द्वारा **द्रव्यनिर्जरा** का स्वरूप कहा है।

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा है और ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा है – ऐसे विरागी को इन्द्रियों के द्वारा भोग होता है, लेकिन उस भोगोपभोग की सामग्री को यह सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि **'ये परद्रव्य हैं, मेरा इनसे कुछ भी नाता नहीं है; कर्मोदय के निमित्त से इनका मेरे साथ संयोग-वियोग है।'**

---

१. *उपभोगमिन्द्रियैश्च* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ
२. *उवभोज्जमिंदियेहिं* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

रोगी रोग कूं भला न जानैं अर पीडा न सही जाय, तव ताका औषधि आदि करि इलाज करै, तैसैं विषयरूप भोगोपभोग सामग्री तैं इलाज करै है अर कर्म के उदय तैं तथा भोगोपभोग सामग्री तैं राग द्वेष मोह नाही है। तातैं सम्यग्दृष्टी अैसैं विरागी है सो याकै भोग उपभोग है सो निर्जरा ही कै निमित्त है। कर्म उदय होय है सो अपनां रस दे षिरि जाय है, उदय आयें पीछैं द्रव्यकर्म का सत्त्व रहै नाही, निर्जरै ही।

अर सम्यग्दृष्टी कै तिस कर्म उदय सूं राग द्वेष मोह नाही। उदय आया कूं जानि ही ले है अर फल कूं भौगवै है सो राग द्वेष मोह विना भोगवै है, तातैं कर्म आश्रवै नाही, आश्रव विना आगामी वंध नाही, अैसैं आगामी वंध न भया, तव केवल निर्जरा ही भई॥ तातैं सम्यग्दृष्टी विरागी कै भोगोपभोग, निर्जरा ही निमित्त कह्या अर पूर्व कर्म उदय आय, ताका द्रव्य क्षरि गया सो द्रव्यनिर्जरा है॥ छ॥

आगैं, भावनिर्जरा का स्वरूप कहै है॥

दव्वे उवभुंजंते, णियमा जायदि सुहं च दुक्खं वा।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं, वेददि अध णिज्जरं जादि॥ २॥

उस [सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को भी] चारित्रमोह का उदय आकर पीड़ा करता है तो जब तक वह बलहीन है, तब तक उसे भी सहा नहीं जाता है। जिस प्रकार रोगी, रोग को भला नहीं जानता है परन्तु जब पीड़ा सही नहीं जाती है, तब उस रोग का औषधि आदि से इलाज करता है; उसी प्रकार ज्ञानी भी जब सहा नहीं जाता, तब विषयरूप भोगोपभोग सामग्री से इलाज करता है परन्तु उसे कर्म के उदय और भोगोपभोग सामग्री से राग-द्वेष-मोह नहीं है – ऐसा विरागी सम्यग्दृष्टि है; अत: इसके भोग-उपभोग भी निर्जरा ही के निमित्त हैं। उसे कर्म का उदय आता है, वह अपना रस देकर खिर जाता है क्योंकि उदय आने के बाद द्रव्यकर्म की सत्ता नहीं रहती; निर्जरित ही होता है।

सम्यग्दृष्टि को उस कर्म के उदय से राग-द्वेष-मोह नहीं है, वह उदय में आये कर्म को जान लेता है और वह फल को भोगता है, लेकिन बिना राग-द्वेष-मोह किये भोगता है; अत: उसे नवीन कर्म का आस्रव नहीं होता और आस्रव के बिना आगामी बन्ध नहीं होता। इस प्रकार आगामी बन्ध नहीं हुआ तो केवल निर्जरा ही हुई, इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागी के भोगोपभोग को निर्जरा ही के निमित्त कहा है; पूर्व कर्म का उदय आकर उसका द्रव्य खिर गया, वह **द्रव्यनिर्जरा** है।

अब, भावनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं —

दव्वे उवभुंजंते[१], णियमा जायदि सुहं च[२] दुक्खं वा।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं, वेददि अध[३] णिज्जरं जादि॥ १९४॥

---

१. उवभुज्जंते - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
२. व - सोनगढ़ प्रकाशन पाठ / *वा* - अगास प्रकाशन पाठ
३. अथ - तात्पर्यवृत्ति पाठ, / *अह* - अगास प्रकाशन पाठ

द्रव्ये उपभुज्यमाने, नियमाज्जायते सुखं दुःखं वा।
तत्सुखदुःखमुदीर्णं, वेदयतेऽथ निर्जरां याति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ परद्रव्य कूं उपभोग मैं आवतैं संतैं, भोगतैं संतैं, सुख अथवा दुःख नियम तैं उपजै है॥ तिस उदय आया सुख दुःख कूं वेदै है, अनुभवै है, भोगवै है, आस्वाद मैं आवै है सो आस्वाद देकरि क्षरि जाय है, निर्जरा होय है। होय चुक्या गया सो फेरि नाही आवै है॥ छ॥

॥ टीका॥ परद्रव्य उपभोग मैं आवता संता, भोगवता संता, जीव कै सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियम थकी उदय होय है, उपजै है।

कैसा है यह भाव। परद्रव्य है निमित्त जाकूं, अैसा है॥ जातैं वेदनां कै साता तथा असाता, अैसैं दोय ही रूपपणां है, इनि दोऊ भाव कूं नाही उल्लंघ्य वर्तै है॥

सो इस भाव कूं जिस काल जीव करि वेदिये है, तिस काल मिथ्यादृष्टी कै तौ तिसतैं रागादिभावनि का सद्भाव करि, आगामी कर्म के वंध के निमित्त होय करि, निर्जरारूप होता भी, निर्जरारूप नाही कहिये, आगामी वंध करि निर्जरारूप भया, तातैं वंध ही कहिये॥ वहुरि सम्यग्दृष्टी कै तिस सुख दुःख की वेदनां तैं रागादिक भावनि का अभाव करि आगामी वंध कै निमित्त नाही होय करि, केवल निर्जरै ही है सो निर्जरारूप भया संता निर्जरा ही कहिये, वंध न कहिये॥

परद्रव्य के उपभोग निश्चय, दुःख वा सुख होय है।
इन उदित सुख-दुख भोगता, फिर निर्जरा हो जाय है॥ १९४॥

अर्थ – जीव को परद्रव्य का उपभोग होने पर, भोगते हुए सुख अथवा दुःख नियम से उत्पन्न होता है। वह उस उदय में होनेवाले सुख-दुःख का वेदन करता है, अनुभव करता है, भोगता है। वह उदय, आस्वाद (अनुभव) में आता है और आस्वाद देकर खिर जाता है अर्थात् क्षय को प्राप्त होता है क्योंकि कर्म की एक बार निर्जरा हो जाने के बाद वह फिर से वही कर्म उदय में नहीं आता है॥ १९४॥

टीका – परद्रव्य का उपभोग होने पर, भोगनेवाले जीव को सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियम से उदित होता है, उत्पन्न होता है।

कैसे हैं ये भाव? – इनमें परद्रव्य निमित्त हैं क्योंकि वेदना के साता और असाता – ये दो ही रूप हैं, वह [वेदना] इन दोनों भावों का उल्लङ्घन नहीं करती है।

जीव, इन भावों का जिस काल वेदन करता है, उस काल मिथ्यादृष्टि को तो उसके प्रति आगामी बन्ध के निमित्त रागादिभावों का सद्भाव होने से पूर्वबद्ध कर्म निर्जरारूप होते हुए भी वह निर्जरारूप नहीं कहलाते क्योंकि वे आगामी बन्ध करके निर्जरारूप हुए हैं; अतः उन्हें बन्ध ही कहते हैं तथा सम्यग्दृष्टि को उस सुख-दुःख की वेदना से रागादिभावों का अभाव होने से आगामी बन्ध का निमित्त नहीं होने से पूर्वबद्ध कर्म केवल निर्जरित ही होते हैं; अतः निर्जरारूप ही होने से [ज्ञानी को] निर्जरा ही कहते हैं, बन्ध नहीं कहते।

॥ भावार्थ ॥ कर्म का उदय आयें सुख दुःख भाव, नियम करि उपजैं हैं, तिसकूं वेदतैं संतैं मिथ्यादृष्टी कै तौ रागादिक कै निमित्त तैं आगामी वंध करि निर्जरै है, तातैं निर्जरा काहे की, वंध ही कीया॥ वहुरि सम्यग्दृष्टी कै तिस वेदनां सूं रागादिक भाव नाही है, तातैं आगामी वंध न होय, तव केवल निर्जरा ही भई॥ ऐसैं भावरूप निर्जरा होय है॥ छ॥

याके अर्थ के अगिले कथन की सूचनिका के कलशरूप श्लोक है॥

॥ अनुष्टुभ्॥

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं, विरागस्यैव वा किल।
यत्कोपि कर्मभिः कर्म, भुञ्जानोऽपि न बध्यते॥ २॥

॥ अर्थ ॥ जो कर्म कूं भोगवता संता भी कर्म करि नाही वंधै है सो यह कोई आश्चर्यरूप सामर्थ्य, ज्ञान का ही है अथवा विरागी का ही है। अज्ञानी कूं तौ आश्चर्य का उपजावनहारा है, ज्ञानी यथार्थ जानैं है॥ छ॥

आगैं ज्ञान का सामर्थ्य कूं दिषावै है॥ छ॥

जह विसमुवभुंजंतो, विज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पोग्गलकम्मस्सुदयं, तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी॥ ३॥

भावार्थ – कर्म का उदय आने पर सुख-दुःख के भाव नियम से होते हैं, उसका वेदन करते हुए मिथ्यादृष्टि को तो रागादि के निमित्त से आगामी बन्ध होकर निर्जरा होती है; इसलिए निर्जरा कैसे कही जाए? बन्ध ही किया, [अतः उसे बन्ध ही कहा जाएगा।] तथा सम्यग्दृष्टि को उस वेदना से रागादिभाव नहीं हैं; अतः आगामी बन्ध भी नहीं होता, तब केवल निर्जरा ही हुई – इस प्रकार उसे **भावनिर्जरा** होती है।

अब, आगामी गाथा की सूचना देनेवाला कलशरूप श्लोक कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

ज्ञानी बँधे न कर्म से, सब कर्म करते-भोगते।
यह ज्ञान की सामर्थ्य अरु, वैराग्य का बल जानिये॥ १३४॥

अर्थ – जो कर्म को भोगता हुआ भी कर्म से नहीं बँधता है, यह कोई आश्चर्यरूप सामर्थ्य ज्ञान की ही है अथवा विराग की ही है। यद्यपि यह अज्ञानी को आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली है, तथापि ज्ञानी यथार्थ को जानते हैं।

अब, ज्ञान की सामर्थ्य को दिखाते हैं —

यथा विषमुपभुञ्जानो, वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति।
पुद्गलकर्मण उदयं, तथा भुङ्क्ते नैव बध्यते ज्ञानी॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं, वैद्य पुरुष है सो विष कूं उपभोगता संता भी मरण कूं नाही प्राप्त होय है॥ तैसैं, पुद्गल का उदय कूं ज्ञानी भोगवै है, तौऊ वंधै नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं, कोई विषवैद्य है सो अन्य कूं मरण का कारण जो विष, ताकूं भोगवता भी अमोघ विद्या कहिये अचूक सफल मंत्र यंत्र औषध आदि की विद्या के सामर्थ्य तैं रोकी है, तिस विष की मारणशक्ति जानैं, तिसपणां तैं मरण कूं नाही प्राप्त होय है॥

तैसैं, पुद्गलकर्म का उदय है सो अज्ञानीनि कै रागादिभावनि का सद्भाव करि वंध का कारण है, ताकूं ज्ञानी भोगवता संता भी अमोघ अचूक सत्यार्थज्ञान के सामर्थ्य तैं रागादिभावनि का अभाव होतैं संतैं रोकी है तिस कर्म के उदय कै आगामी वंध करनें की शक्ति जानैं, तिसपणां करि आगामी कर्म करि नाही वंधै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जैसैं, वैद्य अपनीं विद्या की सामर्थ्य करि विष की मारनें की शक्ति का अभाव करै है, ताकूं षावै, तौऊ तिसतैं मरै नाही। तैसैं, ज्ञानी कै ज्ञान की सामर्थ्य ऐसी है जो कर्म का उदय कै वंध करनें की शक्ति रोकै है। तातैं तिसकै कर्म का उदय भोग मैं आवै, तौऊ आगामी वंध नाही

जह विसमुवभुंजंतो, वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।[1]
पोग्गलकम्मस्सुदयं[2], तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी॥ १९५॥

ज्यों जहर के उपभोग से भी, वैद्यजन मरता नहीं।
त्यों उदयकर्म जु भोगता भी, ज्ञानिजन बँधता नहीं॥ १९५॥

अर्थ – जिस प्रकार वैद्य पुरुष, विष का उपभोग करता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता है; उसी प्रकार ज्ञानी, पुद्गलकर्म के उदय को भोगता है तो भी बँधता नहीं है॥ १९५॥

टीका – जिस प्रकार कोई विषवैद्य, अन्य पुरुषों को मरण में कारणभूत विष को भोगता हुआ भी अमोघ विद्या अर्थात् अचूक सफल मन्त्र, यन्त्र, औषधि आदि विद्याओं की सामर्थ्य से उस विष की मारण शक्ति को रोक कर, मरण को प्राप्त नहीं होता है।

उसी प्रकार यद्यपि पुद्गलकर्म का उदय अज्ञानियों को रागादिभावों के सद्भाव के कारण बन्ध का कारण है, तथापि उसे भोगता हुआ भी ज्ञानी अमोघ अर्थात् अचूक सत्यार्थ ज्ञान की सामर्थ्य से, रागादिभावों का अभाव होने के कारण, उस कर्म के उदय की आगामी बन्ध करने की शक्ति को रोक कर, आगामी कर्म से बँधता नहीं है।

भावार्थ – जैसे वैद्य, अपनी विद्या की सामर्थ्य से विष की मारने की शक्ति का अभाव कर,

---

१-२. जह विसमुवभुञ्जंता विज्जापुरिसा ण मरणमुवयंति/पुग्गलकम्मस्सुदयं - तात्पर्यवृत्ति पाठ

करै है। यह सम्यग्ज्ञान की सामर्थ्य है॥ छ॥

आगैं, वैराग्य का सामर्थ्य दिषावै है॥

जह मज्जं पिबमाणो, अरईभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो, णाणी वि ण बज्झदि तहेव॥ ४॥

यथा मद्यं पिबन्नरतिभावेन माद्यति न पुरुषः।
द्रव्योपभोगेऽरतो, ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं, कोई पुरुष, मद्य कूं तीव्र अरतिभाव करि, विनां प्रीति, पीवता संता मदरूप न होय है, मतवाला न होय है॥ तैसैं, ज्ञानी, द्रव्य के उपभोग विषै अरत कहिये तीव्र रागरहित भया संता कर्मनि करि नाही वंधै है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं, कोई पुरुष मदिरा प्रति प्रवृत्या है तीव्र अरतिभाव जाकै, अैसा भया संता, मदिरा कूं पीवता संता भी तीव्र अरतिभाव की सामर्थ्य तैं मतवाला नाही होय है॥

तैसैं, ज्ञानी भी रागादिभावनि के अभाव करि सर्व द्रव्य का उपभोग प्रति प्रवर्त्त्या है तीव्र

उसे खाकर भी मरता नहीं है; उसी प्रकार ज्ञानी की ज्ञान-सामर्थ्य, कर्म के उदय की बन्ध करने की शक्ति को इस प्रकार रोक देती है कि उस कर्म के उदय को भोगने पर भी, आगामी बन्ध नहीं होता है – यह सम्यग्ज्ञान की सामर्थ्य है।

अब, वैराग्य की सामर्थ्य को दिखाते हैं —

जह मज्जं पिबमाणो, अरदीभावेण[1] मज्जदि[2] ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो, णाणी वि ण बज्झदि[3] तहेव॥ १९६॥

ज्यों अरतिभाव से मद्य पीकर, पुरुष मत्त बने नहीं।
द्रव्योपभोग विषैं अरत, ज्ञानी पुरुष बँधता नहीं॥ १९६॥

अर्थ – जैसे, कोई पुरुष तीव्र अरतिभाव अर्थात् बिना प्रीतिसहित मदिरा पीकर भी मदमत्त या मतवाला नहीं होता है; उसी प्रकार ज्ञानी भी द्रव्य के उपभोग में अरत अर्थात् तीव्र रागरहित होकर कर्मों से नहीं बँधता है॥ १९६॥

टीका – जैसे, मदिरा के प्रति तीव्र अरतिभाव रखनेवाला कोई पुरुष, मदिरा को पीता हुआ भी तीव्र अरतिभाव की सामर्थ्य से मतवाला नहीं होता है।

---

१. *पिवमाणो अरदिभावेण* - तात्पर्यवृत्ति, अगास एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

२. - ३. *मज्जदे/बज्झदे* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

विरागभाव जाकै, अैसा भया संता भी विषयनि कूं भोगता संता भी तीव्र विरागभाव के सामर्थ्य तैं कर्मनि करि नाही वंधै है॥

॥ भावार्थ॥ यह वैराग्य का सामर्थ्य है जो विषयनि कूं सेवता संता भी कर्मनि करि नाही वंधै है॥

अव, इस अर्थ कै कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ रथोद्धता॥

नाऽश्नुते विषयसेवनेऽपि यत्, स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्, सेवकोऽपि तदसावसेवकः॥ ३॥

॥ अर्थ॥ यह पुरुष है सो जो विषयनि कूं सेवतैं संतै भी जो विषय सेवनें का निजफल है, ताकों नाही पावै है॥ सो ज्ञान के विभव का अर विरागता का वल तैं, यह विषयनि का सेवनहारा है तौऊ सेवनहारा नाही है॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञान का अर विरागता का कोई अचिंत्य सामर्थ्य अैसा ही है जो इंद्रियनि करि विषयनि कूं सेवै है, तौऊ ताकूं सेवनहारा न कहिये, जातैं विषयसेवन का सामान्य निजफल संसार है सो ज्ञानी वैरागी कै मिथ्यात्व के अभाव तैं संसार का भ्रमणरूप फल नाही होय है॥ छ॥

उसी प्रकार ज्ञानी भी रागादिभाव का अभाव होने से, सर्व द्रव्यों के उपभोग के प्रति तीव्र वैराग्यभाव होने के कारण, विषयों को भोगने पर भी तीव्र वैराग्यभाव की सामर्थ्य से कर्मों से बँधता नहीं है।

भावार्थ – यह वैराग्य की सामर्थ्य है कि विरागी जीव, विषयों का सेवन करता हुआ भी कर्मों से बँधता नहीं है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ दोहा॥

बँधे न ज्ञानी कर्म से, बल विराग अरु ज्ञान।
यद्यपि सेवें विषय को, तदपि असेवक जान॥ १३५॥

अर्थ – यह [सम्यग्दृष्टि ज्ञानी] पुरुष, विषयों का सेवन करते हुए भी विषय-सेवन के अपने फल को ज्ञान के वैभव और विरागता के बल से नहीं पाता है; इस प्रकार वह विषयों का सेवन करनेवाला होने पर भी सेवन करनेवाला नहीं है।

भावार्थ – ज्ञान और विरागता की ऐसी कोई अचिन्त्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी, इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करते हुए भी उसका सेवन करनेवाला नहीं कहा जाता है क्योंकि विषय-सेवन का सामान्यतः अपना फल संसार है, लेकिन विरागी ज्ञानी को मिथ्यात्व का अभाव होने के कारण संसार में भ्रमणरूप फल नहीं होता है।

आगैं, इस ही अर्थ कूं प्रगट दृष्टांत करि दिषावै है॥

सेवंतो पि ण सेवइ, असेवमाणो वि सेवओ कोई।
पगरणचेट्ठा कस्स वि, ण य पायरणोत्ति सो होइ॥ ५॥

सेवमानोऽपि न सेवतेऽसेवमानोऽपि सेवकः कश्चित्।
प्रकरणचेष्टा कस्यापि, न च प्राकरण इति स भवति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ कोई तौ विषयनि कूं सेवता संता भी है, तौऊ भी न सेवै है, अैसा कहिये है॥ वहुरि कोई नाही सेवता संता है, तौऊ सेवनहारा है, अैसा कहिये है॥ जैसैं, कोई पुरुष कै कोई कार्य संवंधी प्रकरण की चेष्टा तौ है, तिस प्रकरण संवंधी सर्व क्रिया करै है, तौऊ किसी का कराया करै है, आप तिसका स्वामी नाही है, ताकूं प्राकरण कहिये कार्य का करनेंवाला है, अैसा न कहिये॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं, कोई पुरुष किसी कार्य का प्रकरण क्रिया विषै व्यापाररूप होय प्रवर्त्तै है, तिस संवंधी सर्व क्रिया करै है॥ तौऊ तिस कार्य का प्रकरण का स्वामी कोई और है, ताका कराया करै है, तातैं प्रकरण का स्वामीपणां का अभाव तैं प्राकरणिक कहिये प्रकरणवाला नाही है॥ वहुरि अन्य कोई तिस प्रकरण विषै व्यापाररूप प्रवर्तता नाही है, तिस कार्य संवंधी क्रिया कूं नाही करै है,

---

अब, इसी अर्थ को प्रगट दृष्टान्त से दिखाते हैं —

सेवंतो वि ण सेवदि, असेवमाणो वि सेवगो को वि।
पगरणचेट्ठा कस्स वि, ण य पायरणोत्ति सो होदि॥ १९७॥

सेवता हुआ नहिं सेवता, नहिं सेवता सेवक बने।
प्रकरणगत चेष्टा करे, पर प्राकरणिक ज्यों नहिं बने॥ १९७॥

अर्थ – कोई विषयों का सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करनेवाला कहा जाता है तथा कोई सेवन नहीं करते हुए भी सेवन करनेवाला कहा जाता है। जैसे, किसी पुरुष की किसी कार्य-सम्बन्धी प्रकरण की चेष्टा तो है अर्थात् उस प्रकरण-सम्बन्धी सभी क्रियाएँ वह करता है तो भी किसी के द्वारा कराने पर करता है अर्थात् स्वयं उसका स्वामी नहीं है; इसलिए उसे प्राकरणिक अर्थात् कार्य को करनेवाला नहीं कहा जाता है॥ १९७॥

टीका – जैसे, कोई पुरुष, किसी कार्य की प्रकरण-क्रिया में सक्रिय होकर प्रवर्तता है, उस सम्बन्धी सर्व क्रियाएँ करता है, फिर भी यदि उस कार्य के प्रकरण का स्वामी कोई अन्य है अर्थात् उसके द्वारा कराने पर वह कार्य करता है; अतः वह प्रकरण का स्वामी नहीं होने से वह प्राकरणिक अर्थात् प्रकरणवाला नहीं है तथा दूसरा व्यक्ति जो उस प्रकरण में सक्रिय प्रवर्तन नहीं कर रहा है, उस कार्य-सम्बन्धी कोई क्रिया भी नहीं कर रहा है तो भी उस कार्य का स्वामीपना होने के कारण

तौऊ तिस कार्य का स्वामीपणां तैं प्राकरणिक कहिये, तिस प्रकरण का करणेंवाला कहिए है॥

तैसैं ही सम्यग्दृष्टी है सो पूर्वैं सांचे थे जे कर्म, तिनिका उदय करि प्राप्त भये जे इंद्रियनि के विषय, तिनिकूं सेवता संता है, तौऊ रागादिक भावनि के अभाव करि विषयसेवन का फल का स्वामीपणां का अभाव तैं सेवनेंवाला नाही है॥ वहुरि मिथ्यादृष्टी है सो विषयनि कूं नाही सेवता संता भी रागादिक भावनि का सद्भाव करि विषय सेवनें का फल का स्वामीपणां तैं विषयनि का सेवनें वाला ही कहिए है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जैसैं कोई व्योपारी, धन का धणी, काहू कूं हाटि परि चाकर राष्या सो हाटि का काम व्योपार[१] विणज देनां लेनां सर्व चाकर करै है अर धणी अपनें घर वैठा रहै है, हाटि संवंधी कार्य कूं नाही करै है।

तहां विचारिये, इस हाटि के टोटे नफे का स्वामी कोंन है॥ तहां परमार्थ यह है, जो हाटि का कार्य संवंधी टोटा नफा का स्वामी तौ धन का धणी है, चाकर व्योपारादिक[२] क्रिया करै है, तौऊ स्वामीपणां का अभाव तैं तिसका फल का भोक्ता नाही है अर धन का धणी किछू व्योपारादि[३] नाही करै है, तौऊ तिसका स्वामीपणां तैं टोटा नफा का फल का भोक्ता है।

तैंसै साह[४] की ज्यौं तौ मिथ्यादृष्टी जाननां अर चाकर की ज्यौं सम्यग्दृष्टी जाननां॥ छ॥

अव, इस अर्थ कै समर्थनरूप सम्यग्दृष्टी के भावनि की प्रवृत्ति का कलशरूप काव्य

प्राकरणिक अर्थात् उस प्रकरण को करनेवाला कहा जाता है।

उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि, पूर्व-सञ्चित कर्मों के उदय में प्राप्त हुए इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता है तो भी रागादिभावों के अभाव के कारण विषय-सेवन के फल का स्वामीपना नहीं होने से, उनका सेवन करनेवाला नहीं है तथा मिथ्यादृष्टि, विषयों का सेवन नहीं करता हुआ भी रागादिभावों के सद्भाव के कारण, विषय-सेवन के फल का स्वामीपना होने से, विषयों का सेवन करनेवाला कहा जाता है।

भावार्थ – जैसे, कोई व्यापारी धनवान है। उसने किसी व्यक्ति को अपनी दुकान पर नौकर रखा। दुकान का सारा काम अर्थात् व्यापार या वाणिज्य, लेन-देन आदि वह नौकर करता है और व्यापारी, अपने घर पर बैठा रहता है, दुकान-सम्बन्धी कार्यों को नहीं करता है।

वहाँ विचार करें कि उस दुकान के नफे-नुकसान का स्वामी कौन है? – वास्तव में दुकान के कार्य-सम्बन्धी नफे-नुकसान का स्वामी तो धनवान व्यापारी है; नौकर तो केवल व्यापार आदि क्रियाएँ करता है परन्तु स्वामित्व के अभाव के कारण उसके फल का भोक्ता नहीं है। जबकि धन का स्वामी, व्यापार आदि कुछ नहीं करता तो भी उसका स्वामित्व होने से नफे-नुकसानरूप फल का वह भोक्ता है।

उसी प्रकार यहाँ धनवान व्यापारी के समान मिथ्यादृष्टि को जानना चाहिए और नौकर के

१-३. *व्यापार* - 'ब' प्रति पाठ

४. *तैसैं संसार में साह* - 'ब' प्रति पाठ

कहै है॥

॥ मन्दाक्रान्ता॥

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं, ज्ञानवैराग्यशक्तिः,
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं, स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं, तत्त्वतः स्वं परं च,
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्॥ ४॥

॥ अर्थ॥ सम्यग्दृष्टी कै नियम तैं ज्ञान अर वैराग्य की शक्ति होय है॥ जातैं यह सम्यग्दृष्टी अपनां वस्तुपणां यथार्थस्वरूप, ताका अभ्यास करनें कूं अपनां स्वरूप का ग्रहण अर पर का त्याग की विधि करि, यह तौ अपनां आत्मस्वरूप है अर यह परद्रव्य है, ऐसैं दोऊ का भेद परमार्थ करि जानि, अर आप विषै तौ तिष्ठै है अर परद्रव्य तैं सर्व प्रकार राग के योग तैं विरक्त होय हैं सो यह रीति ज्ञान वैराग्य की शक्ति विना होय नाही॥ छ॥

आगैं, इस काव्य के अर्थरूप गाथा है॥ तहां कहै है सम्यग्दृष्टी प्रथम ही आप कूं अर पर कूं सामान्य करि तौ ऐसैं जानैं है॥

उदयविवागो विविहो, कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा, जाणगभावो दु अहमिक्को॥ ६॥

समान सम्यग्दृष्टि को जानना चाहिए।

अब, इस अर्थ के समर्थनरूप सम्यग्दृष्टि के भावों की प्रवृत्ति का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

निजभाव को निज जान, अपनापन करें जो आतमा।
परभाव से हो भिन्न नित, निज में रमें जो आतमा॥
वे आतमा सद्दृष्टि उनके ज्ञान अरु वैराग्य बल।
हो नियम से – यह जानिये, पहिचानिये निज आत्मबल॥ १३६॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टि के पास नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है क्योंकि यह सम्यग्दृष्टि अपने वस्तुत्वरूप यथार्थस्वरूप का अभ्यास करने के लिए, अपने स्वरूप के ग्रहण और पर के त्याग की विधि से, 'यह तो मेरा आत्मस्वरूप है और यह परद्रव्य है' – ऐसा दोनों का भेद परमार्थ से जान कर, अपने में तो स्थित होता है और परद्रव्य के प्रति सर्व प्रकार के राग के योग से विरक्त होता है; इस प्रकार यह रीति, ज्ञान-वैराग्य की शक्ति के बिना नहीं होती।

उदयविपाको विविधः, कर्मणां वर्णितो जिनवरैः।
न तु ते मम स्वभावाः, ज्ञायकभावस्त्वहमेकः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ कर्मनि का उदय का विपाक कहिये रस है सो अनेक प्रकार जिनेश्वरदेव कह्या है॥ ते कर्मविपाक तैं भये भाव, मेरा स्वभाव नाही हैं॥ मैं तौ एक ज्ञायकस्वभाव स्वरूप हौं॥ छ॥

॥ टीका॥ जे कर्म के उदय के रस तैं उपजे अनेक प्रकार भाव, ते मेरा स्वभाव नाही हैं॥ मैं तौ यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हौं॥ अैसैं सामान्य करि सर्व ही कर्मजन्य भावनि कूं सम्यग्दृष्टी पर जानैं है। आप कूं एक जाननेंवाला ही जानैं है।

अैसैं सामान्य करि जाननां भया॥

आगैं कहै है, सम्यग्दृष्टी आप अर पर कूं विशेष करि अैसैं जाणैं है॥

पोग्गलकम्मं रागो, तस्य विवागोदओ हवइ एसो।
ण दु एस मज्झ भावो, जाणगभावो दु अहमिक्को॥ ७॥

पुद्गलकर्म रागः, तस्य विपाकोदयो भवत्येषः।
न त्वेष मम भावो, ज्ञायकभावः खल्वहमेकः॥ छ॥

अब, इस काव्य के अर्थरूप गाथा कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि सबसे पहले स्व और पर को सामान्य से ऐसा जानता है —

उदयविवागो विविहो, कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा, जाणगभावो दु अहमेक्को[1]॥ १९८॥

कर्मों के जो अनेक उदय-विपाक जिनवर ने कहे।
वे मुझ स्वभाव में हैं नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ॥ १९८॥

अर्थ – कर्मों के उदय का विपाक अर्थात् रस अनेक प्रकार का है – ऐसा जिनेश्वरदेव ने कहा है। उस कर्म-विपाक से हुए भाव, मेरे स्वभाव नहीं हैं; मैं तो एक ज्ञायकस्वभाव हूँ, ज्ञायकस्वरूप हूँ॥ १९८॥

टीका – कर्मों के उदय के रस से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के भावमय मेरा स्वभाव नहीं है, **मैं तो यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ**; इस तरह सम्यग्दृष्टि सामान्यरूप से सर्व ही कर्मजन्य भावों को पर जानता है और स्वयं को केवल जाननेवाला ही जानता है।

इस प्रकार [सम्यग्दृष्टि को स्व-पर का] सामान्यरूप से जानना होता है।

---

१. *अहमिक्को* – तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ

॥ अर्थ ॥ सम्यग्दृष्टी अैसैं जानै है जो राग[१] है सो पुद्गलकर्म है॥ ताका विपाक का उदय यह मेरे अनुभव मैं रागरूप प्रीतिरूप आस्वाद होय है सो है॥ सो यह मेरा भाव नाही है॥ जातैं निश्चय करि मैं तौ एक ज्ञायकभावस्वरूप हौं॥ छ॥

॥ टीका ॥ निश्चय करि राग नामा पुद्गलकर्म है, तिस पुद्गलकर्म के उदय के विपाक करि निपज्या यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर रागरूप भाव है सो यह मेरा स्वभाव नाही हैं, मैं तो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप हौं॥ अैसैं सम्यग्दृष्टी विशेष करि आप पर कूं जानैं है॥

इहां गाथा मैं परभाव का विशेष राग कह्या, तैसैं ही राग की जायगां पद पलटनें करि द्वेष मोह क्रोध मान माया लोभ, कर्म नोकर्म, मनो वचन काय, श्रोत्र चक्षु घ्राण रसन स्पर्शन, ए पद धरि सोलह सूत्र व्याख्यान करणें। वहुरि इस ही उपदेश करि अन्य भी विचारणें॥ छ॥

या प्रकार सम्यग्दृष्टी आप कूं जानता संता, वहुरि राग कूं छोडता संता, नियम तैं ज्ञान वैराग्य करि युक्त होय है॥ छ॥ आगैं, इस ही अर्थ कूं सूचता गाथा कहै है॥ छ॥

अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि स्व-पर को विशेषरूप से इस प्रकार जानता है —

पोग्गलकम्मं[२] रागो, तस्य विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो, जाणगभावो दु अहमेक्को[३]॥ १९९॥

पुद्गलकर्मरूप राग का ही, विपाकरूप यह उदय है।
यह है नहीं मुझभाव, मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ॥ १९९॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि राग, पुद्गलकर्म है; उसके विपाक का उदय, मेरे अनुभव में रागरूप या प्रीतिरूप आस्वादित होनेवाला है, परन्तु वह मेरा भाव नहीं है क्योंकि निश्चय से **मैं तो एक ज्ञायकभावस्वरूप हूँ॥ १९९॥**

टीका – निश्चय से राग नाम का पुद्गलकर्म है और उस पुद्गलकर्म के उदय के विपाक से यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर रागरूप भाव उत्पन्न हुआ है, परन्तु यह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभावस्वरूप हूँ। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विशेषरूप से स्व और पर को जानता है।

यद्यपि यहाँ गाथा में परभावों के एक भेद, राग को कहा है; इसी भाँति राग के स्थान पर पद पलट कर द्वेष, मोह; क्रोध, मान, माया, लोभ; कर्म, नोकर्म; मन, वचन, काय; श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन आदि सोलह पद रख कर सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिए तथा इसी उपदेश से अन्य का भी विचार करना चाहिए।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि स्वयं को जानता हुआ और राग को छोड़ता हुआ, नियम से ज्ञान-

---

१. है राग - 'अ' प्रति पाठ *२. पुग्गलकम्मं* - तात्पर्यवृत्ति पाठ
३. अहमिक्को - तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ

एवं सम्मादिट्ठी, अप्पाणं मुणइ जाणयसहावं।
उदयं कम्मविवागं, च मुयइ तच्चं वियाणंतो॥ ८॥

एवं सम्यग्दृष्टिरात्मानं जानाति ज्ञायकस्वभावम्।
उदयं कर्मविपाकं, च मुञ्चति तत्त्वं विजानन्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ अैसैं सम्यग्दृष्टी आप कूं ज्ञायकस्वभाव जानैं है॥ अर कर्म का उदय कूं कर्म का विपाक जानि ताकूं छोडै है॥ कैसा भया संता॥ तत्व कहिये वस्तु का यथार्थस्वरूप ताकूं जानता संता प्रवर्त्तै है॥ छ॥

॥ टीका॥ या प्रकार सम्यग्दृष्टी है सो सामान्य करि तथा विशेष करि सर्व ही परभावनि तैं भिन्न होय करि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभावरूप आत्मा का तत्व कूं नीकैं जानैं है॥

वहुरि तिस प्रकार तत्व कौं नीकैं जानता संता, स्वभाव का ग्रहण अर परभाव का त्याग करि निपजनें योग्य जो अपनां वस्तुपणां, ताहि विस्तारता फैलावता संता कर्म के उदय के विपाक करि निपजे जे भाव, तिनि सर्वनि कूं छोडै है॥ तातैं यह सम्यग्दृष्टी नियम तैं ज्ञान वैराग्य करि संयुक्त होय है, यह सिद्ध भया॥ छ॥

वैराग्य से युक्त होता है। अब, इसी अर्थ को बतानेवाली गाथा कहते हैं —

एवं सम्मद्दिट्ठी[1], अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।
उदयं कम्मविवागं, च मुयदि[2] तच्चं वियाणंतो॥ २००॥

सद्दृष्टि इससे आत्म को, ज्ञायकस्वभाव ही जानता।
अरु उदय कर्मविपाक को वह, तत्त्वज्ञायक छोड़ता॥ २००॥

अर्थ – इस प्रकार सम्यग्दृष्टि, स्वयं को ज्ञायकस्वभाव जानता है और कर्म के उदय को कर्म का विपाक जान कर छोड़ता है। **वह कैसा होता है?** – तत्त्व अर्थात् वस्तु के यथार्थस्वरूप को जानता हुआ प्रवर्तता है॥ २००॥

टीका – इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सामान्य और विशेषरूप से सर्व ही परभावों से भिन्न होकर, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभावरूप आत्मा के तत्त्व को भली प्रकार जानता है।

इस प्रकार तत्त्व को अच्छी तरह जानता हुआ, **स्वभाव के ग्रहण और परभाव के त्याग से उत्पन्न होने योग्य अपने वस्तुत्व** को विस्तारता अर्थात् फैलाता हुआ, कर्म के उदय के विपाक से उत्पन्न होनेवाले सर्व भावों को छोड़ता है; इसलिए यह सम्यग्दृष्टि नियम से ज्ञान-वैराग्य से संयुक्त होता है – यह सिद्ध होता है।

---

१. *सम्माइट्ठी / सम्मादिट्ठी* - तात्पर्यवृत्ति / कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ २. *य मुअदि* - तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ

॥ भावार्थ ॥ जब आप कूं तौ ज्ञायकभावस्वरूप सुखमय जानैं अर कर्म के उदय करि भये भावनि कूं आकुलतारूप दुःख जानैं, तब ज्ञानरूप रहनां अर परभावनि तैं विरागता होय ही होय, यह प्रगट अनुभवगोचर है, यह ही सम्यग्दृष्टी का चिह्न है॥

आगैं कहै हैं जो अैसैं न होय अर परद्रव्यनि तैं आशक्तारूप रागी होय, अर सम्यग्दृष्टीपणां का अभिमान करै तो काहे का सम्यग्दृष्टी, वृथा सम्यग्दृष्टीपणां का अभिमान करै है॥ अैसैं काव्य मैं कहैं हैं॥ छ॥

॥ मन्दाक्रान्ता ॥

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं, जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना, रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरतां, ते यतोऽद्यापि पापा,
आत्माऽनात्माऽवगमविरहात्, सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः॥ ५॥

॥ अर्थ ॥ जे परद्रव्य कै विषै राग द्वेष मोह भाव करि तौ संयुक्त हैं अर आप कूं अैसैं मानैं हैं जो मैं सम्यग्दृष्टी हौं, मेरै कदाचित् कर्म का वंध नाही होय है, शास्त्र मैं सम्यग्दृष्टी कै वंध नाही कह्या है, अैसैं मानि करि उत्तान कहिये गर्वसहित ऊँचा कीया है अर हर्ष करि उत्पुलक कहिये रोमांचरूप भया है मुख जिनिका, अैसैं हैं, ते महाव्रतादि आचरण करौ तथा समिति कहिये वचन विहार आहार

भावार्थ – जब स्वयं को तो ज्ञायकभावस्वरूप जानता है और कर्मों के उदयजन्य भावों को आकुलतामय दुःखरूप जानता है; तब ज्ञानरूपता और परभावों से विरागता होती ही होती है – यह प्रगट अनुभवगोचर है और यही सम्यग्दृष्टि का चिह्न है।

अब कहते हैं कि यदि ऐसे (चिह्नवाला) नहीं होता अर्थात् परद्रव्यों से आसक्तारूप रागी होता है और सम्यग्दृष्टि होने का अभिमान करता है तो वह कैसा सम्यग्दृष्टि? – वह तो सम्यग्दृष्टि होने का व्यर्थ ही अभिमान करता है – ऐसा कलशरूप काव्य में कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

'मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, हूँ बन्ध से विरहित सदा'।
– यह मानकर अभिमान में, पुलकित वदन मस्तक उठा॥
जो समिति आलम्बें, महाव्रत आचरें, पर पापमय।
दिग्मूढ़ जीवों का अरे!, जीवन नहीं अध्यात्ममय॥ १३७॥

अर्थ – जो परद्रव्यों के प्रति राग-द्वेष-मोहभाव से तो संयुक्त है और स्वयं को ऐसा मानता है कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी भी कर्म का बन्ध नहीं होता क्योंकि शास्त्र में कहा है कि सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं होता है – ऐसा मान कर **उत्तान** अर्थात् गर्व से ऊँचे मस्तकवाले और हर्ष

की क्रिया विषै यत्न तैं प्रवर्तनां, तिसकी परता कहिये उत्कृष्टता, ताकूं भी आलंवन करो, ते अैसैं प्रवर्तते भी पापी मिथ्यादृष्टी ही हैं, जातैं आत्मा का, अनात्मा का ज्ञान तैं रहित हैं, तातैं सम्यक्त्व तैं रीते हैं, तिनिकै सम्यक्त्व नाही है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जो आप कूं सम्यग्दृष्टी मानैं अर परद्रव्य तैं राग होय तौ ताकै सम्यक्त्व काहे का। व्रत समिति पालै, तौऊ आपा पर का ज्ञान विना पापी ही हैं अर आपकै वंध न होनां मानि स्वच्छंद प्रवर्त्तै तौ काहे का सम्यग्दृष्टी, जातैं चारित्रमोह का राग तैं वंध तौ यथाख्यातचारित्र जेतै न होय, तेतै होय ही है सो जेतै राग रहै, तेतै सम्यग्दृष्टी अपनीं निंदा गर्हा करता ही रहै है।

ज्ञान होनें मात्र तैं तौ वंध तैं छूटनां नाही, ज्ञान भयें पीछैं तिस ही मैं लीनरूप शुद्धोपयोगस्वरूप चारित्र तैं वंध कटै है। तातैं राग छतैं वंध न होनां मानि स्वच्छंद होनां तौ मिथ्यादृष्टी ही है॥

इहां कोई पूछै, व्रत समिति तौ शुभकार्य है, तिनिकूं पालतैं पापी क्यों कहे।

ताका समाधान जो पाप, सिद्धांत मैं मिथ्यात्व ही कूं कह्या है, जहां तांई मिथ्यात्व रहै, तहां तांई शुभ तथा अशुभ सर्व ही क्रिया कूं अध्यात्म विषै परमार्थ करि पाप ही कहिये अर व्यवहारनय की प्रधानता मैं व्यवहारी जीवनि कूं अशुभ छुडाय शुभ मैं लगावनें कूं कथंचित् पुण्य भी कहिये हैं, स्याद्वाद मत विषै विरोध नाही॥

से **उत्पुलक** अर्थात् रोमाञ्चित मुखवाले जीव, भले ही महाव्रत आदि का आचरण करते हों तथा समिति अर्थात् वचन, विहार, आहार आदि की क्रियाओं में यत्नपूर्वक प्रवर्तन करने की उत्कृष्टता का भी अवलम्बन लेते हों तो भी वे पापी मिथ्यादृष्टि ही हैं क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित हैं; इसलिए सम्यक्त्व से रहित हैं अर्थात् उनको सम्यक्त्व नहीं है।

भावार्थ – जो स्वयं को सम्यग्दृष्टि मानते हों, [लेकिन यदि] उन्हें परद्रव्यों से राग हो तो **उन्हें सम्यक्त्व कैसा?** अरे! व्रत-समिति पालने पर भी यदि आपा-पर का ज्ञान नहीं है तो पापी ही हैं तथा स्वयं को बन्ध न होना मान कर, स्वच्छन्द प्रवर्तनेवाले भी **सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं?** क्योंकि चारित्रमोह के राग से बन्ध तो जब तक यथाख्यातचारित्र नहीं हो जाता, तब तक होता ही है; अत: जब तक राग रहता है, तब तक सम्यग्दृष्टि अपनी निन्दा-गर्हा करता ही रहता है।

ज्ञान होनेमात्र से बन्ध से छूटना नहीं होता, ज्ञान होने के बाद उसी में लीनतारूप शुद्धोपयोगस्वरूप चारित्र से बन्ध कटता है; अत: राग होते हुए भी बन्ध का अभाव मान कर स्वच्छन्द होना तो मिथ्यादृष्टिपना ही है।

यहाँ कोई पूछता है कि व्रत-समितियाँ तो शुभकर्म हैं, फिर उन्हें पालनेवाले को पापी क्यों कहते हो?

उसका समाधान – सिद्धान्त में तो मिथ्यात्व ही को पाप कहा है। जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक शुभ और अशुभ सर्व ही क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थ से पाप ही कहते हैं। लेकिन व्यवहारनय की प्रधानता में व्यवहारी जीवों को अशुभ छुड़ा कर, शुभ में लगाने के लिए उन्हें

वहुरि कोई पूछै, परद्रव्य सूं राग रहै जेतै मिथ्यादृष्टी कहे सो यामैं समझे नहीं, अविरतसम्यग्दृष्टी आदि कै चारित्रमोह का उदय तैं रागादिभाव होय है, ताकै सम्यक्त्व कैसैं है॥

ताका समाधान जो इहां मिथ्यात्वसहित अनंतानुवंधी का राग प्रधान करि कह्या है, जातैं आपा पर का ज्ञान श्रद्धान विनां परद्रव्य तथा तिसके निमित्त तैं भये भाव, तिनि विषै आत्मवुद्धि होय तथा प्रीति अप्रीति होय, तव जानिये, याकै भेदज्ञान भया नाही।

जो मुनिपद लेकरि व्रत समिति भी पालै है, तहां परजीवनि की रक्षा तथा शरीर संवंधी यत्न तैं प्रवर्तनां, अपनें शुभभाव होनां इत्यादि परद्रव्य संवंधी भावनि करि अपनें मोक्ष होनां मानैं अर परजीवनि का घात होनां, अयत्नाचार प्रवर्तनां, अपनां अशुभभाव होनां, इत्यादि परद्रव्यनि की क्रिया ही तैं अपनें वंध मानैं, तेतै जानिये याकै आपा पर का ज्ञान नाही भया। वंध मोक्ष तौ अपनां ही भावनि तैं था, परद्रव्य तौ निमित्तमात्र था, यामैं विपर्यय मान्यां।

तातैं अैसैं परद्रव्य ही तैं भला वुरा मानि राग द्वेष करै, जेतै सम्यग्दृष्टी नाही है।

अर जेतै चारित्रमोह संवंधी रागादिक रहैं हैं, तिनिकूं तथा तिनिका प्रेर्‍या परद्रव्य संवंधी शुभाशुभ क्रिया मैं प्रवर्त्तै है, तिस प्रवृत्ति कूं अैसैं मानैं जो यह कर्म का जोर है, यातैं निवृत्त भयें मेरा भला

कथञ्चित् पुण्य भी कह दिया जाता है; इस प्रकार स्याद्वाद मत में विरोध नहीं है।

पुनः कोई पूछता है कि जब तक परद्रव्य से राग रहता है, तब तक जीव को मिथ्यादृष्टि कहा है, इससे हमें यह नहीं समझ में आया कि अविरत सम्यग्दृष्टि को भी तो चारित्रमोह के उदय से रागादिभाव होते हैं, फिर उनके सम्यक्त्व किस प्रकार है?

उसका समाधान – यहाँ मिथ्यात्वसहित अनन्तानुबन्धी के राग को प्रधान करके कथन किया है क्योंकि जब तक स्व-पर के ज्ञान-श्रद्धान बिना, परद्रव्यों और उनके निमित्त से हुए भावों में आत्मबुद्धि होती है, प्रीति-अप्रीति होती है; तब तक ऐसा जानना चाहिए कि इसको भेदज्ञान नहीं हुआ है।

यदि कोई जीव मुनिपद धारण कर, व्रत-समिति भी पालता है; वहाँ पर-जीवों की रक्षा करना, शारीरिक यत्नाचार से प्रवर्तना, स्वयं को शुभभाव होना इत्यादि परद्रव्य से सम्बन्धित भावों से अपना मोक्ष होना मानता है तथा परजीवों का घात होना, अयत्नाचार से प्रवर्तना, स्वयं को अशुभभाव होना इत्यादि परद्रव्यों की क्रियाओं ही से अपने को बन्ध होना मानता है तो ऐसा जानना चाहिए कि इसको अभी आपा-पर का ज्ञान नहीं हुआ है क्योंकि बन्ध-मोक्ष तो अपने भावों से होता है; परद्रव्य तो निमित्तमात्र होता है, लेकिन इसने अन्यथा माना है।

इस प्रकार परद्रव्यों ही से भला-बुरा मान कर, जब तक राग-द्वेष करता है, तब तक वह सम्यग्दृष्टि नहीं है।

तथा, [सम्यग्दृष्टि को] जब तक चारित्रमोह से सम्बन्धित रागादि रहते हैं, तब तक उनके द्वारा

है, तिनिकूं रोगवत् जानै है। पीडा न सही जाय, तव तिनिका इलाज करनें रूप प्रवर्त्तै है। तौऊ तिनि तै याकै राग न कहिये। रोग मानें, तिनितैं काहे का राग। तिसका मेटनें ही का उपाय करै सो मेटनां भी अपनें ही ज्ञानपरिणामरूप परिणमनें तैं मानैं।

अैसैं परमार्थ अध्यात्मदृष्टि करि इहां व्याख्यान जाननां।

मिथ्यात्व विनां चारित्रमोह संवंधी उदय का परिणाम कूं इहां राग न कह्या है, जातैं सम्यग्दृष्टी कै ज्ञान वैराग्य शक्ति अवश्य होनां कह्या है। तहां मिथ्यात्वसहित ही राग कूं राग कहै है सो सम्यग्दृष्टी कै है नाही अर मिथ्यात्वसहित राग होय सो सम्यग्दृष्टी नाही। अैसा विशेष कूं सम्यग्दृष्टी ही जानैं है।

मिथ्यादृष्टी का अध्यात्मशास्त्र मैं प्रथम तौ प्रवेश नाही अर जो प्रवेश करै तौ विपर्यय समझै है, व्यवहार कूं सर्वथा छोडि भ्रष्ट होय है अथवा निश्चय कूं नीकै नाही जानि, व्यवहार ही तैं मोक्ष मानैं है, परमार्थतत्त्व विषै मूढ है। तातैं यथार्थ स्याद्वाद न्याय करि सत्यार्थ समझैं, सम्यक्त्व की प्राप्ति होय है॥ छ॥

आगैं पूछै है कि सम्यग्दृष्टी रागी कैसैं न होय है॥ ताका उत्तर कहै है॥

परमाणुमित्तयं पि हु, रायादीणं तु विज्जए जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि॥ ९॥

प्रेरित होकर परद्रव्यों से सम्बन्धित शुभाशुभ क्रियाओं में वह प्रवर्तता भी है, परन्तु वह उन प्रवृत्तियों को कर्म का जोर मान कर, उनसे निवृत्त होने में ही अपना भला मानता है, उन्हें रोगवत् जानता है। यद्यपि जब उनकी पीड़ा सहना सम्भव नहीं होता तो उनके इलाज करनेरूप प्रवर्तता है, तथापि उनसे इसको राग नहीं है क्योंकि जब सम्यग्दृष्टि उन्हें रोग मानता है तो उनसे उसे राग कैसे हो सकता है? वह तो उन्हें मिटाने का ही उपाय करता है और उन्हें मिटाना भी अपने ही ज्ञानपरिणामरूप परिणमन करने से मानता है।

इस प्रकार परमार्थभूत अध्यात्मदृष्टि से यहाँ व्याख्यान किया गया है – ऐसा जानना।

यहाँ मिथ्यात्वरहित चारित्रमोह से सम्बन्धित उदय के परिणाम को राग नहीं कहा है क्योंकि सम्यग्दृष्टि को ज्ञान-वैराग्य की शक्ति अवश्य होती ही है; अतः मिथ्यात्वसहित राग को ही राग कहते हैं, वह सम्यग्दृष्टि को है नहीं क्योंकि यदि मिथ्यात्वसहित राग हो तो वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है – ऐसे विशेष (अन्तर) को सम्यग्दृष्टि ही जानता है।

मिथ्यादृष्टियों को प्रथम तो अध्यात्मशास्त्र में प्रवेश ही नहीं है और यदि वह प्रवेश करता भी है तो अन्यथा समझता है, वह या तो व्यवहार को सर्वथा छोड़ कर, भ्रष्ट होता है या फिर निश्चय को भली प्रकार नहीं जान कर, व्यवहार ही से मोक्ष होना मानता है, वह परमार्थतत्त्व के विषय में मूढ़ है; अतः यथार्थ स्याद्वाद के न्याय से सत्यार्थ समझने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

अप्पाणमयाणंतो, अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होइ सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो॥ १०॥

॥ युग्मं॥

परमाणुमात्रमपि खलु, रागादीनां तु विद्यते यस्य।
नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोऽपि॥ छ॥
आत्मानमजानन्नाऽनात्मानं चापि सोऽजानन्।
कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ निश्चय करि जिस जीव कै रागादिक का परमाणुमात्र कहिये लेशमात्र अंशमात्र भी वर्तै है सो जीव सर्व आगम का धारी होय, सर्व शास्त्र पढ्या होय तौऊ आत्मा कूं नाही जानैं है॥ छ॥

वहुरि आत्मा कूं नाही जानता संता अनात्मा जो पर, ताकूं भी नाही जानैं है॥ वहुरि आत्मा अनात्मा कूं नाही जानता संता जीव अजीव पदार्थ कूं भी नाही जानैं है। वहुरि जो जीव अजीव कूं नाही जानैं सो सम्यग्दृष्टी कैसैं होय॥ छ॥

अब पूछते हैं कि रागी जीव, सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता है? – उसका उत्तर कहते हैं –

परमाणुमित्तयं पि य, रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि॥ २०१॥
अप्पाणमयाणंतो, अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी, जीवाजीवे अयाणंतो॥ २०२॥

अणुमात्र भी रागादि का, सद्भाव है जिस जीव को।
वह सर्व आगमधर भले हो, जानता नहिं आत्म को॥ २०१॥
नहिं जानता जो आत्म को, अनात्म भी नहिं जानता।
वह कैसे सम्यग्दृष्टि हो, जो जीव-अजीव नहिं जानता॥ २०२॥

अर्थ – निश्चय से जिस जीव को **परमाणुमात्र** अर्थात् लेशमात्र या अंशमात्र भी रागादि विद्यमान है, वह जीव यदि सर्व आगम का धारी हो अर्थात् सर्व शास्त्रों को पढ़ा हो तो भी आत्मा को नहीं जानता है॥ २०१॥

आत्मा को नहीं जानता हुआ वह, अनात्मा अर्थात् पर को भी नहीं जानता है; आत्मा-अनात्मा को नहीं जानता हुआ वह, जीव-अजीव पदार्थों को भी नहीं जानता है; फिर जो जीव-अजीव को नहीं

॥ टीका ॥ जिस जीव कै अज्ञानमयी जे रागादिक भाव, तिनिका लेशमात्र का भी सद्भाव है॥ सो जीव श्रुतकेवली सारिषा भी होय तौऊ ज्ञानमयी भाव का अभाव तैं आत्मा कूं नाही जानैं है॥ वहुरि जो अपनें आत्मा कूं नाही जानैं है सो अनात्मा कूं भी नाही जानैं है॥ जातैं अपनां स्वरूप अर पर का स्वरूप का सत्व अर असत्व, दोऊ एक ही वस्तु का निश्चय मैं आय जाय हैं॥

तातैं अैसा है जो आत्मा कूं अर अनात्मा कूं, दोऊ कूं नाही जानैं है सो जीव अजीव वस्तु कूं ही नाही जानैं है॥ वहुरि जो जीव अजीव कूं नाही जानैं है॥ सो सम्यग्दृष्टी नाही है॥ तातैं रागी है सो ज्ञान का अभाव तैं सम्यग्दृष्टी नाही है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ इहां रागी कहनें करि अज्ञानमयी राग द्वेष मोह भाव लीये। तहां अज्ञानमयी कहनें करि मिथ्यात्व अनंतानुवंधी तैं भये रागादिक लेनें॥ मिथ्यात्व विनां चारित्रमोह का उदय का राग न लेनां, जातैं अविरतसम्यग्दृष्टी आदि कै चारित्रमोह का उदय संवंधी राग है सो ज्ञानसहित है, ताकूं रोगवत् जानैं है, तिस राग सूं याकै राग नाही है। कर्म उदय तैं रोग भया है, ताकूं मेट्या चाहै है॥

वहुरि राग का लेशमात्र भी का अभाव कह्या सो ज्ञानी कै अशुभराग तौ अत्यंत गौण है॥ वहुरि शुभराग होय है सो सर्व शास्त्र पढि जाय, मुनि होय, व्यवहारचारित्र भी पालै, अर तिस शुभराग कूं भला जाणि लेशमात्र भी तिस राग सूं राग करै तौ जानिये, यानैं अपनां आत्मा का परमार्थस्वरूप जाण्यां नाही, कर्म उदयजनित भाव कूं भला जान्यां, तिसतैं अपनें मोक्ष होनां मान्यां, अैसैं मानतैं अज्ञानी ही

जानता है, वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?॥ २०२॥

टीका – जिस जीव को अज्ञानमयी रागादिभावों का लेशमात्र भी सद्भाव है, वह जीव श्रुतकेवली जैसा भी हो तो भी ज्ञानमयी भाव का अभाव होने से आत्मा को नहीं जानता है। जो अपनी आत्मा को नहीं जानता है, वह अनात्मा को भी नहीं जानता है क्योंकि अपने स्वरूप का सत्त्व और पर के स्वरूप का असत्त्व, दोनों एक ही वस्तु का निश्चय करने में आ जाते हैं।

इसलिए जो आत्मा और अनात्मा दोनों को नहीं जानता है, वह जीव-अजीव पदार्थों को ही नहीं जानता है तथा जो जीव-अजीव को नहीं जानता, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है; अतः रागी, ज्ञान का अभाव होने से सम्यग्दृष्टि नहीं है।

भावार्थ – यहाँ 'रागी' कह कर, अज्ञानमयी राग-द्वेष-मोहभाव ग्रहण किये हैं; अतः वहाँ अज्ञानमयी कहने से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी से होनेवाले रागादि समझना चाहिए। मिथ्यात्व से रहित, चारित्रमोह के उदय से होनेवाला राग नहीं समझना चाहिए क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि को चारित्रमोह के उदय से सम्बन्धित राग ज्ञानसहित है, वह उस राग को रोगवत् जानता है, **उस राग से उसे राग नहीं होता है;** कर्मोदय से रोग हुआ है, उसे मिटाना चाहता है।

यहाँ, सम्यग्दृष्टि को राग के लेशमात्र का भी अभाव कहा है, वहाँ ज्ञानी को अशुभराग तो अत्यन्त गौण है। यद्यपि शुभराग होता है तथापि यदि कोई सर्व शास्त्रों को पढ़ जाए, मुनि हो जाए, व्यवहारचारित्र भी पालता हो, लेकिन यदि तत्सम्बन्धी राग को भला जान कर, **लेशमात्र भी उस राग**

है, अपनां पर का परमार्थरूप कूं न जान्यां, तव जानिये, जीव अजीव पदार्थ का भी परमार्थरूप न जान्यां, तव जो जीव अजीव कूं ही न जान्यां, तव काहे का सम्यग्दृष्टी, अैसैं जाननां॥ छ॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है, तामैं जे रागी प्राणी, अनादि तैं रागादिक कूं अपनां पद जानैं हैं, तिनिकूं उपदेश करै है॥

॥ मन्दाक्रान्ता॥

आसंसारात्प्रतिपदममी, रागिणो नित्यमत्ताः,
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं, तद्विबुध्यध्वमन्धाः॥
एतैतेतः पदमिदमिदं, यत्र चैतन्यधातुः,
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति॥ ६॥

॥ अर्थ॥ संसारी भव्य प्राणी कूं श्रीगुरु संवोधै है जो हे आंधे प्राणी हौ, ए रागी पुरुष हैं, ते अनादि संसार तैं लगाय जिस पद विषै सूते हैं, निद्रा मैं मग्न हैं, तिस पद कूं तुम अपद जाणूं, अपद जाणूं, यह तुमारा ठिकाणां नाही। इहां दोय वार कहने तैं अतिकरुणांभाव सूचै है॥

फेरि कहै है जो तुमारा ठिकाणां यह है, यह है, जहां चैतन्यधातु शुद्ध है, शुद्ध है। अपनें

से राग करे तो जानना चाहिए कि इस जीव ने अपने आत्मा का परमार्थस्वरूप जाना नहीं है और कर्मोदयजनित भाव को ही भला जाना है, उससे ही अपना मोक्ष होना माना है – ऐसा मानने से वह अज्ञानी ही है क्योंकि उसने अपना और पर का परमार्थस्वरूप नहीं जाना है; इसका अर्थ है कि जीव-अजीव पदार्थ का भी परमार्थस्वरूप नहीं जाना है और जिसने जीव-अजीव को ही नहीं जाना, वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? – ऐसा जानना।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं; उसमें जो रागी प्राणी, अनादि से रागादि को अपना पद जानते हैं, उन्हें उपदेश देते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

अपदपद में मत्त नित, अन्धे जगत के प्राणियों!।
यह पद तुम्हारा पद नहीं, निज जानकर क्यों सो रहे॥
जागो! इधर आओ! रहो! नित मगन परमानन्द में।
हो परमपदमय तुम स्वयं, तुम हो स्वयं चैतन्यमय॥ १३८॥

अर्थ – संसारी भव्य प्राणियों को श्रीगुरु सम्बोधन करते हैं कि हे अन्धे प्राणियों! रागी पुरुष, अनादि संसार से लगा कर, अब तक जिस पद में सो रहे हैं, निद्रामग्न हैं; उस पद को तुम अपद जानो! अपद जानो!! यह तुम्हारा रहने का स्थान नहीं है। यहाँ 'अपद' शब्द दो बार कहने से आचार्यदेव का अत्यन्त करुणाभाव सूचित होता है।

स्वाभाविक रस कैं समूह तैं स्थायीभावपणां कूं प्राप्त है॥ इहां दोय शुद्धपद है सो द्रव्य अर भाव दोऊ की शुद्धता कै अर्थि है। सर्व अन्य द्रव्यनि तैं न्यारा सो तौ द्रव्यशुद्धता है अर परनिमित्त तैं भये अपनें विभाव तिनितैं रहित भावशुद्ध कहिये॥ सो इतः कहिये इस तरफ आवो, इस तरफ आवो, इहां निवास करौ॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ ए प्राणी अनादि संसार तैं लगाय रागादिक कूं भला जाणि, तिनि ही कूं अपनां स्वभाव मानि, तिनि विषै निश्चिंत तिष्ट[१] सोवैं हैं, तिनिकूं श्रीगुरु दयाल होय संवोधै है, जगावै है, सावधान करै है जो हे आंधे प्राणी हौ, तुम जिस पद विषै सोवो हौ सो तुमारा पद नाही है, तुमारा पद तौ चैतन्यस्वरूपमय है, तिसकूं प्राप्त होहु॥ अैसैं सावधान करै है॥

जैसैं कोई महंत पुरुष मद पीय करि मलिन जायगां सूता होय, ताकूं कोई हितू आय जगावै कहै, तेरी जायगां तौ सुवर्णमयी धातु की अतिदृढ़ शुद्ध सुवर्ण तैं रची अर वाह्यक जोडा करि रहित शुद्ध करी, अैसी है सो हम वतावैं हैं, तहां आव, तहां शयनादि करि आनंदरूप होहु।

तैसैं इहां भी श्रीगुरु उपदेश करि सावधान कीया है जो वाह्य तौ अन्य द्रव्यनि का मिलाप नाही अर अंतरंग विकार नाही, अैसा शुद्ध चैतन्यरूप अपनां भाव का आश्रय करौ॥ दोय दोय वार कहनें करि अतिकरुणां अनुराग सूचै है॥ छ॥

आगे कहते हैं कि तुम्हारे रहने का स्थान यह है, यह है; जहाँ चैतन्यधातु शुद्ध है, शुद्ध है; वह अपने स्वाभाविक रस के समूह से स्थायीभावपने को प्राप्त है। यहाँ 'शुद्ध' शब्द का दो बार प्रयोग, द्रव्य और भाव, दोनों की शुद्धता बताने के लिए है। **सर्व अन्य द्रव्यों से भिन्नत्व तो द्रव्यशुद्धता है और परनिमित्त से हुए अपने विभावों से रहितपना भावशुद्धता है;** अतः इतः अर्थात् इस ओर आओ! इस ओर आओ!! यहाँ निवास करो!!!

भावार्थ – अनादि संसार से यह प्राणी रागादि को भला जान कर, उन्हें ही अपना स्वभाव मान कर, उन्हीं में निश्चिन्त रह कर, सो रहे हैं; उन्हें श्रीगुरु दयालु होकर सम्बोधित करते हैं, जगाते हैं, सावधान करते हैं कि हे अन्धे प्राणियों! तुम जिस पद में सो रहे हो, वह तुम्हारा पद नहीं है; तुम्हारा पद तो चैतन्यस्वरूपमय है, उसे प्राप्त करो। इस प्रकार सावधान करते हैं।

जिस प्रकार कोई महन्त पुरुष, शराब पीकर मलिन स्थान में पड़ा हो, उसे कोई हितैषी आकर जगाये और कहे कि तेरा स्थान तो स्वर्णमयी धातु अर्थात् अतिदृढ़ शुद्ध स्वर्ण से रचित है और बाहर में अन्य पदार्थों की मिलावट से रहित शुद्ध है; उसे हम बताते हैं, तुम वहाँ आओ और शयन आदि करके आनन्द से रहो।

उसी प्रकार यहाँ भी श्रीगुरु, संसारी जीवों को उपदेश देकर सावधान करते हैं कि जिसमें बाहर से तो अन्य द्रव्यों का मिलाप नहीं है और अन्तरङ्ग में विकार नहीं है – ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप अपने भाव का आश्रय करो। एक ही बात को दो-दो बार कहने से श्रीगुरु का अतिकरुणामय अनुराग

---

१. *तिष्टैं* - 'अ' प्रति पाठ

आगैं पूछै है जो हे श्रीगुरो, तुम वतावो सो पद कहा है॥ ताका उत्तर कहै है॥

आदम्मि दव्वभावे, अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।
थिरमेगमिमं भावं, उवलब्भंतं सहावेण॥ ११॥

आत्मनि द्रव्यभावानपदानि मुक्त्वा गृहाण तथा नियतम्।
स्थिरमेकमिमं भावमुपलभ्यमानं स्वभावेन॥ छ॥

॥ अर्थ॥ आत्मा विषै वहुत भाव हैं, तिनिमैं जे परनिमित्त तैं भये, ते आत्मा के भाव नाही, ते अपद हैं, तिनिकूं द्रव्यरूप अर भावरूप कूं सर्व ही कूं छोडि करि, जो निश्चित स्थिर एक अपनें स्वभाव ही करि ग्रहण होता यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर चैतन्यमात्र भाव है सो अपनां पद है, ताहि भो भव्य, तू जैसा का तैसा ग्रहण करि॥ छ॥

॥ टीका॥ निश्चय करि इस भगवान् आत्मा विषै द्रव्य भाव स्वरूप वहुत भाव दीषैं हैं, तिनिमैं जे केई तिस आत्मा के स्वभावरहित हैं, ते अनियत कहिये अनिश्चित अवस्थारूप हैं, अनेक हैं, क्षणिक हैं, व्यभिचारी हैं, अैसे भाव हैं, ते सर्व ही आप अस्थायी हैं, ठहरनें का जिनका स्वभाव

सूचित होता है।

अब, कोई प्रश्न करता है कि हे श्रीगुरु! जैसा आपने बताया, वैसा पद कौनसा है? - उसका उत्तर कहते हैं —

आदम्हि[1] दव्वभावे, अपदे[2] मोत्तूण गिण्ह तह[3] णियदं।
थिरमेगमिमं भावं, उवलब्भंतं सहावेण॥ २०३॥

जीव में अपदभूत द्रव्य-भाव, छोड़, ग्रह तू यथार्थ से।
थिर नियत एक ही भाव यह, उपलभ्य जो हि स्वभाव से॥ २०३॥

अर्थ – आत्मा के बहुत भावों में परनिमित्त से होनेवाले भाव, आत्मा के भाव नहीं हैं, वे अपद हैं। उनमें द्रव्यरूप और भावरूप, सभी [विभावों] को छोड़ कर निश्चित, स्थिर, एक, अपने स्वभाव ही से ग्रहण होनेवाला, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर, चैतन्यमात्र भाव ही अपना पद है; उसे हे भव्य! तू जैसा है, वैसा ग्रहण कर॥ २०३॥

टीका – निश्चय से इस भगवान आत्मा में द्रव्य-भावस्वरूप बहुत से भाव दीखते हैं, उनमें जो भाव, आत्मा के स्वभावरहित हैं; वे अनियत अर्थात् अनिश्चित अवस्थारूप हैं, अनेक हैं, क्षणिक हैं और व्यभिचारी भाव हैं – ऐसे वे सभी भाव, स्वयं ही अस्थिर हैं अर्थात् उनका स्वभाव स्थिर

---

१. *आदह्मि* - तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन पाठ
२-३. *अधिरे/तव* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

नाही, तातैं तिष्ठनेंवाला जो आत्मा, ताके तिष्ठनें का ठिकाणां, स्थान होनें कूं योग्य नाही, तातैं ते अपदभूत हैं॥

वहुरि जो भाव आत्मस्वभाव करि तौ ग्रहण मैं आवै है। वहुरि नियतावस्थ[१] है, सदा निश्चित रहै है। वहुरि एक है। वहुरि नित्य है। वहुरि अव्यभिचारी है। अैसा एक चैतन्यमात्र ज्ञानभाव है सो आप स्थायी भावस्वरूप है ही, सदा विद्यमान पाइए है, सो तिष्ठनेंवाला जो आत्मा, ताका तिष्ठनें का स्थान होनें कूं योग्य है, तातैं यह भाव पदभूत है॥

तातैं सर्व ही जे अस्थायीभाव, तिनिकूं छोडि करि, स्थायीभावभूत परमार्थ रसपणां करि स्वाद मैं आवता यह ज्ञान है सो ही एक आस्वादनें योग्य है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ पूर्वैं वर्णादिक गुणस्थानांत भाव कहे थे, ते तौ सर्व ही आत्मा विषै अनियत अनेक क्षणिक व्यभिचारी, अैसे भाव हैं ते आत्मा के पद नाही। वहुरि यह स्वसंवेदनस्वरूप ज्ञान है सो नियत है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है, स्थायीभाव है सो आत्मा का पद है सो ज्ञानीनि करि यह ही एक स्वाद लेनें योग्य है॥ छ॥

अव, इस अर्थ का कलशरूप श्लोक कहै है॥

॥ अनुष्टुभ्॥

एकमेव हि तत्स्वाद्यं, विपदामपदं पदं।
अपदान्येव भासन्ते, पदान्यन्यानि यत्पुरः॥ ७॥

रहने का नहीं है; इसलिए [वे सभी भाव] स्थिर रहनेवाले आत्मा के रहने योग्य स्थान नहीं हैं, अतः अपदभूत हैं।

तथा, जो भाव आत्मस्वभावरूप तो गृहीत होता है, नियतावस्थ है अर्थात् सदा निश्चित रहता है, एक है, नित्य है और अव्यभिचारी है – ऐसा एक चैतन्यमात्र ज्ञानभाव स्वयं स्थायी भावस्वरूप है, सदा विद्यमान रहता है; इसलिए वह स्थिर रहनेवाले आत्मा के लिए रहने योग्य है, अतः यह भाव पदभूत है।

इस प्रकार अस्थायी भावों को छोड़ कर, स्थायीभावरूप पारमार्थिक रसपने से स्वाद में आता हुआ यह ज्ञान ही, एक आस्वादन करने योग्य है।

भावार्थ – पहले [गाथा ५५ से ६० तक में] वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव कहे थे, वे सभी [भाव] तो आत्मा में अनियत, अनेक, क्षणिक और व्यभिचारी भाव हैं; वे आत्मा के पद नहीं हैं और यह स्वसंवेदनस्वरूप ज्ञान ही नियत, एक, नित्य, अव्यभिचारी और स्थायी भाव है; अतः यह ही आत्मा का पद है और ज्ञानियों के द्वारा यह ही एक अनुभव करने योग्य है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप श्लोक कहते हैं —

---

१. *नियतावस्था* – 'ब' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ सो ही एक पद आस्वादनें योग्य है।

कैसा है॥ विपत् जे आपदा, तिनिका पद नाही है, जिस पद मैं किछू भी आपदा प्रवेश नाही करै है॥ जाके आगैं अन्य सर्व ही पद हैं, ते अपद प्रतिभासैं हैं॥

॥ भावार्थ ॥ एक ज्ञान ही आत्मा का पद है, यामैं किछू भी आपदा नाही, याकै आगैं अन्य सर्व ही पद आपदास्वरूप आकुलतामयी अपद भासैं हैं॥ छ॥

फेरि कहै है जो आत्मा, ज्ञान का अनुभव करै है, तव अैसैं करै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

एक[१]ज्ञायकभावनिर्भरमहा-स्वादं समासादयन्,
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः, स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्माऽत्मानुभवाऽनुभावविवशो, भ्रश्यद्विशेषोदयं,
सामान्यं कलयन्[२] किलैष सकलं, ज्ञानं नयत्येकताम्॥ ८॥

॥ अर्थ ॥ यह आत्मा है सो ज्ञान के विशेषनि का उदय कूं गौण करता संता सामान्य ज्ञानमात्र

॥ हरिगीतिका ॥

अरे! जिसके सामने हों, सभी पद भासित अपद।
सब आपदाओं से रहित, आराध्य है वह ज्ञानपद॥ १३९॥

अर्थ – वह एक पद ही अनुभव करने योग्य है।

कैसा है वह पद? – जो विपत्ति अर्थात् आपदाओं का पद नहीं है, जिस पद में किसी भी प्रकार की आपदा प्रवेश नहीं करती है तथा जिसके सामने अन्य सभी पद, अपद प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ – एक ज्ञान ही आत्मा का पद है क्योंकि इसमें कुछ भी आपदा नहीं है; इसके सामने अन्य सभी पद आपदास्वरूप आकुलतामयी अपद भासित होते हैं।

अब, पुनः कहते हैं कि जब आत्मा, ज्ञान का अनुभव करता है, तब ऐसा करता है —

॥ हरिगीतिका ॥

इस ज्ञान के आस्वाद में ही, नित रमे जो आतमा।
अरु द्वन्द्वमय आस्वाद में, असमर्थ है जो आतमा॥
आत्मानुभव के स्वाद में ही, मगन है जो आतमा।
सामान्यमय एकत्व को, धारण करे वह आतमा॥ १४०॥

अर्थ – यह आत्मा, ज्ञान में उदित हुए विशेषों को गौण करता हुआ, सामान्य ज्ञानमात्र का

---

१. - २. *एकं / कलयत्* - अगास प्रकाशन पाठ

कूं अभ्यास करता संता समस्त ज्ञान कूं एक भाव कूं प्राप्त करै है॥

कैसा भया संता। सो कहै है॥ एक ज्ञायकमात्र भाव करि भर्‍या, जो ज्ञान का महास्वाद, ताकूं लेता संता है।

वहुरि कैसा है। द्वंद्वमयी जो वर्णादिक, रागादिक तथा क्षायोपशमरूप ज्ञान के भेदरूप स्वाद, ताहि करनें कूं, लेनें कूं असमर्थ है, ज्ञान ही मैं एकाग्र होय, तव दूजा स्वाद नाही आवै॥

वहुरि कैसा है। अपनीं जो वस्तु की वृत्ति ताहि जानता है, आस्वाद करता है। जातैं कैसा है आत्मा का जो अनुभव, आस्वाद। ताके प्रभाव करि विवश है, तिस ही स्वाद कै आधीन है, तहां तैं चिगनें कूं असमर्थ है। अद्वितीय स्वाद लेता वाहरि काहे कूं आवै॥

॥ भावार्थ॥ इस एकस्वरूप ज्ञान के रसीले स्वाद आगैं अन्य रस फीके हैं अर भेदभाव सव मिटि जाय हैं। ज्ञान के विशेष ज्ञेय के निमित्त तैं है सो जव ज्ञानसामान्य का स्वाद ले, तव सर्व ज्ञान के भेद भी गौण होय जाय हैं, एक ज्ञान ही ज्ञेयरूप होय है।

इहां कोई पूछै, छद्मस्थ कै पूर्णरूप केवलज्ञान का स्वाद कैसैं आवै, ताका उत्तर तौ पूर्वैं कथन शुद्धनय का कीया, तहां ही भया जो शुद्धनय, आत्मा का शुद्ध पूर्णरूप जनावै है, सो इस नय कै द्वारै पूर्णरूप केवलज्ञान का परोक्ष स्वाद आवै है, अैसैं जाननां॥ छ॥

अभ्यास करता हुआ, समस्त ज्ञान को एक भावरूप प्राप्त करता है।

कैसा होता हुआ, प्राप्त करता है? – एक ज्ञायकमात्र भाव से भरे हुए ज्ञान के महास्वाद को लेता हुआ, प्राप्त करता है।

और कैसा है? – जो द्वन्द्वमय वर्णादि, रागादि और क्षयोपशमादि ज्ञान के भेदरूप स्वाद को ग्रहण करने में असमर्थ है क्योंकि ज्ञान ही में एकाग्र होने पर, अन्य का स्वाद नहीं आता है।

और कैसा है? – अपनी वस्तु की वृत्ति को जानता है, अनुभव (आस्वाद) करता है।

क्योंकि कैसा है वह? – आत्मा के अनुभव या आस्वाद के प्रभाव से विवश होकर, उसी अनुभव (स्वाद) के आधीन है; वहाँ से च्युत होने में असमर्थ है। [तात्पर्य यह है कि] अद्वितीय अनुभव लेता हुआ, वह बाहर क्यों आए?

भावार्थ – इस एकस्वरूप ज्ञान के रसीले स्वाद के सामने, अन्य रस फीके पड़ जाते हैं और सब भेदभाव मिट जाते हैं क्योंकि ज्ञान के विशेष या भेद, ज्ञेयों के निमित्त से हैं; अतः ज्ञानी, जब ज्ञानसामान्य का स्वाद लेता है, तब ज्ञान के सर्व भेद गौण हो जाते हैं और एक ज्ञान ही ज्ञेयरूप हो जाता है।

यहाँ कोई पूछता है कि छद्मस्थ को पूर्णरूप केवलज्ञान का स्वाद कैसे आता है? – इसका उत्तर तो पूर्वकथित शुद्धनय के कथन से ही हो जाता है कि शुद्धनय, आत्मा का शुद्ध पूर्णस्वरूप बताता है; अतः इस नय के द्वारा पूर्णस्वरूप केवलज्ञान का परोक्ष स्वाद आता है – ऐसा जानना चाहिए।

आगैं इस ही अर्थरूप गाथा कहै है जो कर्म के क्षयोपशम के निमित्त तैं ज्ञान मैं भेद है, जब ज्ञानस्वरूप विचारिये, तब ज्ञान एक ही है॥ छ॥

आभिणिसुदोधिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।
सो एसो परमट्ठो, जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि॥ १२॥

आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च तद्भवत्येकमेव पदम्।
स एष परमार्थो, यं लब्ध्वा निर्वृतिं याति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ आभिनिबोधिक कहिये मतिज्ञान अर श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञान, ए ज्ञान के भेद हैं, ते एक ज्ञान ही पद कूं प्राप्त है, सर्व ही एक ज्ञान नाम हैं॥ सो यह परमार्थ है, शुद्धनय का विषयस्वरूप ज्ञानसामान्य है तथा यह ही शुद्धनय है, जिसकूं पाय करि आत्मा निर्वाण पद कूं प्राप्त होय है॥ छ॥

॥ टीका॥ निश्चय करि आत्मा है सो[१] परमपदार्थ है सो आत्मा पूर्वोक्त ज्ञान है। बहुरि आत्मा है सो एक ही पदार्थ है, तातैं ज्ञान भी एक ही पद कूं प्राप्त है॥ बहुरि जो यह ज्ञान नाम एक पद है सो परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है॥ बहुरि मतिज्ञान आदि ज्ञान के भेद हैं, ते तिस ज्ञान नामा एक पद कूं भेदरूप नाही करैं हैं, ज्ञानरूप के भेद नाही करैं हैं।

अब, इसी अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं कि यद्यपि कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से ज्ञान में भेद होते हैं, तथापि ज्ञानस्वरूप का विचार करने पर ज्ञान एक ही है —

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।
सो एसो परमट्ठो, जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि॥ २०४॥

मति श्रुत अवधि मनः केवल, सभी एक ही पद जु हैं।
वह ज्ञानपद परमार्थ है, पाकर जिसे मुक्ति लहें॥ २०४॥

अर्थ – आभिनिबोधिक अर्थात् मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान – ये ज्ञान के भेद हैं, वे एक ज्ञानपद को ही प्राप्त हैं अर्थात् सर्व ही का एक ज्ञान नाम है; अतः यह परमार्थ अर्थात् शुद्धनय के विषयस्वरूप ज्ञानसामान्य है तथा यही वह शुद्धनय है, जिसे प्राप्त करके आत्मा, निर्वाण पद को प्राप्त होता है॥ २०४॥

टीका – निश्चय से आत्मा ही परम पदार्थ है और यह आत्मा ही पूर्वकथित ज्ञान है तथा आत्मा एक ही पदार्थ है, इसलिए ज्ञान भी एक ही पद को प्राप्त है। यह ज्ञान नामक एक 'पद' परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है। मतिज्ञान आदि ज्ञान के भेद, इस 'ज्ञान' नामक एक पद को

---

१. है – 'अ' प्रति पाठ

तौ ए कहा करैं हैं, इस एक ज्ञान नामा पद ही कूं वृद्धिरूप प्रगट करि प्रकाशैं हैं॥ सो ही कहै है॥

जैसैं इस लोक मैं वादले करि संकोचरूप आच्छादित जो सूर्य, ताकै तिस वादले के विघटनें कै अनुसार करि प्रगटपणां होय है, तिसकै प्रगट होनें के प्रकाश के हीनाधिक के भेद हैं, ते तिसके प्रकाशरूप सामान्यस्वभाव कूं भेदै नाही हैं।

तैसैं कर्म के पटल का उदय करि सकुच्या, आच्छादित जो आत्मा, ताकै तिस कर्म के विघटन जो क्षयोपशम, ताके अनुसार करि प्रगटपणां कूं प्राप्त होता कै ज्ञान के हीनाधिक के भेद हैं, ते तिस आत्मा के सामान्य ज्ञानस्वभाव कूं नाही भेदैं हैं॥

तौ कहा करैं हैं, उलटा प्रकाशरूप प्रगट ही करैं हैं॥ तातैं दूरि भये हैं समस्त भेद जामैं, अैसा आत्मा का स्वभावभूत जो ज्ञान, तिस ही कूं एक कूं आलंवन करनां॥ तिस ज्ञान के आलंवन ही तैं निजपद की प्राप्ति होय है॥ वहुरि तिस ही तैं भ्रांति का नाश होय है॥ वहुरि तिस ही तैं आत्मा का लाभ होय है॥ अनात्मा का परिहार की सिद्धि होय है॥ अैसैं होतैं कर्म का उदय की मूर्च्छा नाही होय है। राग द्वेष मोह नाही उपजै है। राग द्वेष मोह विनां फेरि कर्म का आश्रव नाही होय है। आश्रव न होय, तव फेरि कर्म नाही वंधै है॥ पूर्वैं वांधे थे जे कर्म, ते भोगे हुए निर्जरा कूं प्राप्त होय हैं। समस्त कर्म का अभाव होय करि साक्षात् मोक्ष होय है॥ अैसा ज्ञान के आलंवन का

भेदरूप नहीं करते अर्थात् ज्ञानस्वरूप के भेद नहीं करते हैं।

तो ये क्या करते हैं? – वे इस एक 'ज्ञान' नामक पद ही को वर्द्धमान करके प्रगट प्रकाशित करते हैं, इसे ही दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं —

जैसे, इस लोक में बादलों के पटल से आच्छादित सूर्य, उन बादलों के विघटन से प्रगट होता है, उसकी प्रगटता के अनुसार प्रकाश के हीन-अधिकरूप भेद होते हैं परन्तु वे भेद, उसके प्रकाशरूप सामान्यस्वभाव को भेदते नहीं हैं।

उसी प्रकार कर्म-पटल के उदय से सङ्कुचित अर्थात् आच्छादित आत्मा, उस कर्म के विघटन अर्थात् क्षयोपशम के अनुसार प्रगट होनेवाले ज्ञान में हीन-अधिकरूप भेद होते हैं, वे उस आत्मा के सामान्य ज्ञानस्वभाव को भेदते नहीं हैं।

तो क्या करते हैं? – प्रकाशरूप ही प्रगट करते हैं; अत: जिसमें समस्त भेद दूर हो गए हैं – ऐसे आत्मा के स्वभावभूत एक ज्ञान ही का अवलम्बन करना क्योंकि उस ज्ञान के अवलम्बन ही से निजपद की प्राप्ति होती है, इसी से भ्रान्ति का नाश होता है; इसी से आत्मा का लाभ होता है और अनात्मा या परद्रव्य के परिहार की सिद्धि होती है – ऐसा होने पर न तो कर्म के उदय से होनेवाली मूर्च्छा होती है और न राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होते हैं; राग-द्वेष-मोह के अभाव में पुन: कर्म का आस्रव नहीं होता है और आस्रव के नहीं होने पर पुन: कर्म का बन्ध नहीं होता है और पूर्वबद्ध कर्म, भोगने पर निर्जरा को प्राप्त होते हैं तथा समस्त कर्मों का अभाव होकर साक्षात् मोक्ष होता है – ऐसा यह

माहात्म्य है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञान मैं कर्म के क्षयोपशम कै अनुसार भेद भये हैं, ते किछू ज्ञानसामान्य कूं तौ अज्ञानरूप नाही करै है, उलटा ज्ञान कूं प्रगट ही करैं हैं, तातैं भेदनि कूं गौण करि एक ज्ञानसामान्य का आलंवन ले, आत्मा कूं ध्यावणां, यातैं सर्व सिद्धि होय है॥ छ॥

अव, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

अच्छाऽच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः, संवेदनव्यक्तयो,
निष्पीताखिलभावमण्डलरस-प्राग्भारमत्ता इव॥
यस्याऽभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्,
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः॥ ९॥

॥ अर्थ॥ जिस आत्मा की जो ए संवेदन की व्यक्ति कहिये अनुभव मैं आवते ज्ञान के भेद हैं, ते निर्मल तैं निर्मल आपैं आपि उछलैं हैं, प्रगट अनुभव मैं आवैं हैं।

कैसी है ते। निष्पीत कहिये पीया[१] जो समस्त पदार्थनि के समूहरूप रस, ताका प्राग्भार कहिये

ज्ञान के अवलम्बन का माहात्म्य है।

भावार्थ – यद्यपि ज्ञान में कर्म के क्षयोपशम के अनुसार भेद होते हैं परन्तु वे ज्ञानसामान्य को तो अज्ञानरूप करते नहीं हैं, वरन् ज्ञान को प्रगट ही करते हैं; इसलिए भेद को गौण करके, एक ज्ञानसामान्य का अवलम्बन लेकर, आत्मा का ध्यान करना चाहिए क्योंकि इससे सर्व सिद्धि होती है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

सब भाव पी संवेदनाएँ, मत्त होकर स्वयं ही।
हों उछलती जिस भाव में, अद्भुतनिधि वह आत्मा॥
भगवान वह चैतन्य-रत्नाकर सदा ही एक है।
फिर भी अनेकाकार होकर, स्वयं में ही उछलता॥ १४१॥

अर्थ – जिस आत्मा की जो ये संवेदन की व्यक्तियाँ अर्थात् अनुभव में आनेवाले ज्ञान के भेद हैं, वे अत्यन्त निर्मलरूप में अपने आप उछलते हैं अर्थात् प्रगट अनुभव में आते हैं।

कैसी हैं वे संवेदन की व्यक्तियाँ? – निष्पीत अर्थात् जो समस्त पदार्थसमूहरूपी रस को

---

१. *पीये* – 'ब' प्रति पाठ

वहुत भार, ता करि मानूं मानी ही है॥

सो यह भगवान् चैतन्यरूप रत्नाकर समुद्र सो ऊठती[२] जे लहरि, तिनि करि आप अभिन्न है रस जाका, अैसा एक है तौऊ अनेकरूप होता दोलायमान प्रवर्तै है।

कैसा है। अद्भुत है निधि जाकै॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जैसैं समुद्र है सो वहुत रत्ननि करि भर्या होय है सो एक जल करि भर्या है तौऊ तामैं निर्मल छोटी वडी अनेक लहरि उठैं हैं, ते सर्व एक जलरूप ही हैं॥

तैसैं यह आत्मा ज्ञानसमुद्र है सो एक ही है, यामैं अनेक गुण हैं अर कर्म के निमित्त तैं ज्ञान के अनेक भेद आपै आप व्यक्तिरूप होय प्रगट होय हैं, ते व्यक्ति एक ज्ञानरूप ही जाननीं, खंडखंडरूप नाही अनुभव करनीं॥ छ॥

अव, और विशेष करि कहै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरै-र्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः,
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपो-भारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं, संवेद्यमानं स्वयं,
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि, प्राप्तुं क्षमन्ते न हि॥ १०॥

पीकर, उसके **प्राग्भार** अर्थात् अत्यधिक भार से मानो मदमस्त (मत्त या मानी) ही हैं।

इस प्रकार यह चैतन्यरूपी भगवान रत्नाकर समुद्र, स्वयं में उठती हुई लहरों से स्वयं अभिन्न रसवाला है – ऐसा एक है तो भी अनेकरूप होता हुआ दोलायमान (झूलता हुआ) प्रवर्तता है।

वह कैसा है? – जिसके पास अद्भुत निधि है।

भावार्थ – जिस प्रकार बहुत रत्नों का भण्डार समुद्र, एक जल से ही भरा होता है तो भी उसमें अनेक छोटी-बड़ी निर्मल लहरें उठती हैं लेकिन वे सब एक जलरूप ही हैं।

उसी प्रकार अनेक गुणों का भण्डार यह आत्मा, ज्ञानसमुद्र एक ही है तो भी उसमें कर्म के निमित्त से ज्ञान के अनेक भेद अपने आप व्यक्तरूप होकर प्रगट होते हैं; उन व्यक्तियों (पर्यायों) को एक ज्ञानरूप ही जानना चाहिए, उन्हें खण्ड-खण्डरूप अनुभव नहीं करना चाहिए।

अब, पुनः विशेषरूप से कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

पञ्चाग्नि तप या महाव्रत, कुछ भी करो सिद्धि नहीं।
जाने बिना निज आतमा, जिनवर कहें सब व्यर्थ हैं॥

---

२. *उठती* – 'ब' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ केई तौ कठिन दुख करि करे जाय, अैसे मोक्ष तैं परान्मुख कर्म, तिनि करि स्वयमेव जिन आज्ञा विना क्लेश करो अर केई पर कहिए मोक्ष कै सन्मुख कथंचित् जिन आज्ञा मैं कहे, अैसे महाव्रत तथा तप के भार करि वहुत काल पर्यंत भग्न भये, पीडित भये, कर्मनि करि क्लेश करो, तिनि कर्मनि तैं तौ मोक्ष होय नाही ॥ जातैं यह ज्ञान है सो साक्षात् मोक्षस्वरूप है अर निरामय पद है, जामैं किछू रोगादिक का क्लेश नाही है अर आप ही करि आप वेदनें योग्य है ॥

सो अैसा ज्ञान तौ ज्ञानगुण विना कोई ही प्रकार के कष्ट करि पावनें कूं समर्थ न हूजिये है ॥

॥ भावार्थ ॥ ज्ञान है सो साक्षात् मोक्ष है सो ज्ञान ही तैं पाइए है, अन्य किछू क्रिया कर्मकांड तैं न पाइए है ॥ छ ॥

आगैं, इस अर्थरूप उपदेश करै हैं ॥ छ ॥

णाणगुणेण विहीणा, एयं तु पयं बहू वि ण लहंति।
तं गिण्ह णियदमेदं, जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥ १३ ॥

मोक्षमय जो ज्ञानपद वह, ज्ञान से ही प्राप्त हो।
निज ज्ञानगुण के बिना उसको, कोई पा सकता नहीं ॥ १४२ ॥

अर्थ – कोई जीव, कठिन दु:खों से किये जानेवाले, मोक्ष से पराङ्मुख कर्मों को स्वयं ही जिन-आज्ञा के बिना क्लेशपूर्वक करें तो करो और अन्य कोई जीव, पर अर्थात् मोक्ष के सन्मुख कथञ्चित् जिन-आज्ञा में कथित महाव्रत और तप के भार से चिरकालपर्यन्त भग्न अर्थात् पीड़ित होकर कर्मों के क्लेश को करें तो करो; परन्तु उन कर्मों से तो मोक्ष होता नहीं क्योंकि यह ज्ञान ही साक्षात् मोक्षस्वरूप और निरामय पद है, जिसमें रोग आदि कुछ भी क्लेश नहीं है और स्वयं के द्वारा ही स्वयं अनुभव करने योग्य है।

इस प्रकार यह ज्ञान को तो ज्ञानगुण के बिना, अन्य किसी भी प्रकार के कष्ट करके, प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुआ जा सकता है।

भावार्थ – ज्ञान ही साक्षात् मोक्ष है, वह ज्ञान ही से प्राप्त होता है; अन्य किसी भी प्रकार के कर्मकाण्ड से प्राप्त नहीं होता है।

अब, इसी बात का उपदेश देते हैं —

णाणगुणेण विहीणा, एदं तु पदं बहू वि ण लहंते।
तं गिण्ह णियदमेदं[1], जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥ २०५ ॥

---

१. *सुपदमेदं* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

ज्ञानगुणेन विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभन्ते।
तद्गृहाण नियतमेतद् यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ हे भव्य, जो तू कर्म का सामस्त्यपणैं[१] मोक्ष कीया चाहै है॥ तौ तिस ज्ञान कूं नियम करि निश्चित ग्रहण करि, जातैं ज्ञानगुण करि जे रहित हैं, ते वहुत भी हैं, वहुत प्रकार कर्म करैं हैं, तौऊ इस ज्ञानपद कूं नाही प्राप्त होय हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं समस्त ही कर्म करि[२], कर्म कै विषै ज्ञान का प्रकाशनां नाही है, तातैं ज्ञान का उपलंभ कहिये पावनां सो कर्म करि नाही ही है॥ केवल एक ज्ञान ही करि ज्ञान कै विषै ज्ञान का प्रकाशनां है, तातैं ज्ञान ही करि ज्ञान का पावनां हो है, तातैं वहुत भी प्राणी ज्ञान करि शून्य हैं, ते वहुत प्रकार कर्म करि यह ज्ञान का पद नाही पावैं हैं। वहुरि इस पद कूं नाही पावते संते कर्मनि करि नाही छूटैं हैं॥

तातैं जो कर्म के मोक्ष करनें का अर्थी है, ता करि केवल एक ज्ञान ही का अवलंवन करि निश्चित इस ही एक पद कूं प्राप्त होनां॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञान ही तैं मोक्ष है, कर्म तैं नाही है, तातैं मोक्षार्थी कूं ज्ञान ही का ध्यान करनां॥ यह उपदेश है॥ छ॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

रे! ज्ञानगुण से रहित बहुजन, पद नहीं यह पा सकें।
तू कर ग्रहण पद नियत यह, यदि कर्म-मोक्षेच्छा तुझे॥ २०५॥

अर्थ – हे भव्य! यदि तू कर्मों से सम्पूर्णरूप से मुक्ति चाहता है तो इस ज्ञान को नियमपूर्वक निश्चित ग्रहण कर क्योंकि ज्ञानगुण के बिना बहुत से लोग बहुत प्रकार के कर्म करके भी, उस ज्ञानपद को नहीं पाते हैं॥ २०५॥

टीका – चूँकि समस्त ही कर्मों के द्वारा, कर्मों में ज्ञान का प्रकाशन नहीं होता है; इसलिए ज्ञान का उपलम्भ अर्थात् प्राप्त होना, कर्म से नहीं होता है। केवल एक ज्ञान ही के द्वारा ज्ञान में ज्ञान का प्रकाशन होता है और ज्ञान ही के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है; अतः ज्ञान से शून्य बहुत से प्राणी बहुत प्रकार के कर्म करके भी इस ज्ञानपद को प्राप्त नहीं कर पाते हैं और इस पद को नहीं प्राप्त करते हुए वे, कर्मों से भी नहीं छूटते हैं।

इसलिए जो कर्म से मोक्ष का इच्छुक है, उसे केवल एक ज्ञान ही का अवलम्बन लेकर, नियम से इस एक ज्ञानपद को ही प्राप्त होना चाहिए।

भावार्थ – ज्ञान से ही मोक्ष है, कर्म से नहीं; इसलिए मोक्षार्थी को ज्ञान ही का ध्यान करना चाहिए – यह उपदेश है।

---

१. *समस्तपणैं* – 'ब' प्रति पाठ २. *समस्त ही* – 'ब' प्रति पाठ

॥ द्रुतविलम्बित ॥

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं, सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्, कलयितुं यततां सकलं[१] जगत्॥ ११॥

॥ अर्थ॥ अहो भव्य जीवो, यह ज्ञानमयी पद है सो कर्म करि तौ दुष्प्राप्य[२] है॥ वहुरि स्वाभाविक ज्ञान की कला करि सुलभ है, यह प्रगट करि निश्चय करि जानूं॥ तातैं अपनें निजज्ञान की कला के वल तैं इस ज्ञान कूं अभ्यास करनें कूं समस्त जगत्, अभ्यास का यत्न करो॥

॥ भावार्थ॥ सकल कर्म कूं छुडाय ज्ञान का अभ्यास करनें का उपदेश कीया है॥ वहुरि ज्ञान की कला कहनें करि अैसा सूचै है जो जेतै पूर्णकला प्रगट न होय, तेतै ज्ञान है सो हीन कलास्वरूप है, मतिज्ञानादिरूप है। तिस ज्ञान की कला के अभ्यास तैं पूर्णकला जो केवलज्ञान संपूर्णकला सो प्रगट होय है॥ छ॥

आगैं फेरि इस ही उपदेश कूं प्रगट विशेष करि कहै है॥ छ॥

एदम्हि रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होदि तित्तो, होहदि तुह उत्तमं सोक्खं॥ १४॥

अब, इस अर्थ को कलशरूप काव्य द्वारा कहते हैं —

॥ दोहा॥

क्रियाकाण्ड से ना मिले, यह आतम अभिराम।
ज्ञानकला से सहज ही, सुलभ आतमाराम॥
अतः जगत् के प्राणियों!, छोड़ जगत की आस।
ज्ञानकला का ही अरे!, करो नित्य अभ्यास॥ १४३॥

अर्थ – हे भव्यजीवों! यह ज्ञानमयी पद कर्म से तो दुष्प्राप्य है परन्तु स्वाभाविक ज्ञान की कला से सुलभ है – ऐसा प्रगटरूप से, निश्चय से जानो; इसलिए समस्त जगत्, निजज्ञान की कला के बल से इस ज्ञान का अभ्यास करने का प्रयत्न करो।

भावार्थ – यहाँ समस्त कर्म को छुड़ा कर, ज्ञान का अभ्यास करने का उपदेश दिया गया है तथा 'ज्ञान की कला' कहने से ऐसा सूचित होता है कि जब तक पूर्णज्ञान की कला प्रगट न हो, तब तक ज्ञान हीन (अपूर्ण) कलास्वरूप है, मतिज्ञानादिरूप है; उस ज्ञान की कला के अभ्यास से पूर्णकला अर्थात् केवलज्ञानस्वरूप सम्पूर्ण कला प्रगट होती है।

अब, पुनः इसी उपदेश को विशेषरूप से स्पष्ट कहते हैं —

---

१. *सततं* – अगास एवं सोनगढ़ प्रकाशन पाठ २. *दुःप्राप्य* – 'ब' प्रति पाठ ३. *तो होहदि* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

एतस्मिन् रतो नित्यं, सन्तुष्टो भव नित्यमेतस्मिन्।
एतेन भव तृप्तो, भविष्यति तवोत्तमं सौख्यम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ भो भव्य प्राणी, तू इस ज्ञान विषै नित्य सदाकाल रत होहु, रुचिरूप लीन होहु॥ वहुरि इस ही विषै नित्य संतुष्ट होहु॥ अन्य किछू कल्याणकारी है नाही। वहुरि इस ही विषै तृप्त होहु॥ अन्य किछू चाहि रहै नाही, अैसा अनुभव करि॥ अैसैं कीये तैरै उत्तम सुख होयगा॥ छ॥

॥ टीका॥ हे भव्य, एतावन्मात्र ही सत्य परमार्थस्वरूप आत्मा है, जेता यह ज्ञान है, अैसैं निश्चय करिकैं ज्ञानमात्र ही आत्मा विषै निरंतर रति प्रीति रुचि कूं प्राप्त होहु॥

वहुरि एतावन्मात्र ही सत्यार्थ कल्याण है, जेता यह ज्ञान है, अैसैं निश्चय करिकैं ज्ञानमात्र ही आत्मा करि नित्य ही संतोष कूं प्राप्त होहु॥

वहुरि एतावन्मात्र ही सत्यार्थ अनुभवन करनें योग्य है, जेता यह ज्ञान है, अैसैं निश्चय करिकैं ज्ञानमात्र ही आत्मा करि नित्य ही तृप्ति कूं प्राप्त होहु॥

अैसैं नित्य ही आत्मा विषै रत, आत्मा विषै संतुष्ट, आत्मा विषै तृप्त जो तू, ताकै अैसैं निरंतर

एदम्हि रदो णिच्चं, संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो, होहदि तुह[1] उत्तमं सोक्खं॥ २०६॥

इसमें सदा रतिवन्त बन, इसमें सदा सन्तुष्ट रे!।
इससे ही बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे॥ २०६॥

अर्थ – हे भव्य प्राणी! तू इस ज्ञान में **नित्य** अर्थात् सदाकाल रत हो, रुचिपूर्वक लीन हो; इसी में नित्य सन्तुष्ट हो [क्योंकि] अन्य कुछ भी कल्याणकारी नहीं है; इसी में तृप्त हो; अन्य कुछ भी चाह (इच्छा) नहीं रहे – ऐसा अनुभव कर। इस प्रकार अनुभव करने पर तुझे उत्तम सुख होगा॥ २०६॥

टीका – हे भव्य! इतना ही सत्य अर्थात् परमार्थस्वरूप आत्मा है, जितना यह ज्ञान है – ऐसा निश्चय करके, ज्ञानमात्र ही आत्मा में निरन्तर रति, प्रीति या रुचि को प्राप्त हो।

इतना मात्र ही वास्तविक कल्याण है, जितना यह ज्ञान है – ऐसा निश्चय करके, ज्ञानमात्र ही आत्मा में नित्य सन्तोष को प्राप्त हो।

तथा इतना मात्र ही वास्तविक अनुभव करने योग्य है, जितना यह ज्ञान है – ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र ही आत्मा में नित्य ही तृप्ति को प्राप्त हो।

इस प्रकार नित्य ही आत्मा में रत, आत्मा में सन्तुष्ट और आत्मा में तृप्त होने पर तथा निरन्तर

---

१. *तो होहदि* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

होनें तैं लगता ही वचन कै अगोचर उत्तम सुख होयगा।

तिस सुख कूं तिस ही काल स्वयमेव तू ही देषैगा। अन्य कूं मति पूछै, यह सुख आप कै अनुभवगोचर ही है, पर कूं काहे कूं पूछै॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञानमात्र आत्मा विषै लीन होनां, याही तैं संतुष्ट रहनां, याही तैं तृप्त होनां, यह परमध्यान है, याही तैं वर्तमान आनंदरूप होय है अर लगता ही संपूर्ण ज्ञानानंदस्वरूप केवलज्ञान की प्राप्ति होय है॥ इस सुख कूं अैसैं करनेंवाला ही जानैं है॥ अन्य का यामैं प्रवेश नाही॥ छ॥

अव, इसकी महिमा कूं अगिले कथन की सूचनिकारूप[१] कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ उपजाति॥

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवः, चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते, ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण॥ १२॥

॥ अर्थ॥ जातैं यह चैतन्यमात्र ही है चिन्तामणि जाकै, अैसा ज्ञानी है सो स्वयमेव आप देव है।

इसी प्रकार करने से, तुझे तुरन्त ही वचन से अगोचर (वचनातीत) उत्तम सुख होगा।

उस सुख को उसी काल तू स्वयं ही देखेगा (अनुभव करेगा); अन्य से मत पूछ, क्योंकि यह सुख स्वयं ही के द्वारा अनुभवगोचर है; अतः अन्य से क्यों पूछना?

भावार्थ – ज्ञानमात्र आत्मा में लीन होना, इसी से सन्तुष्ट रहना, इसी से तृप्त होना – यह परमध्यान है; इसी से वर्तमानकाल आनन्दरूप होता है और साथ ही अल्पकाल में सम्पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप केवलज्ञान की प्राप्ति होती है – उसे प्राप्त करनेवाले ही इस सुख (आनन्द) को जानता है, अन्य का इसमें प्रवेश नहीं है।

अब, इसकी महिमा करनेवाला एवं आगामी कथन की सूचना बतानेवाला कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ दोहा॥

अचिन्त्यशक्ति धारक है, चिन्तामणि चैतन्य।
सिद्धारथ यह आतमा, ही है कोइ न अन्य॥
सभी प्रयोजन सिद्ध हैं, फिर क्यों पर की आश।
ज्ञानी जाने यह रहस, करे न पर की आश॥ १४४॥

अर्थ – चूंकि यह ज्ञानी ही चैतन्यमात्र चिन्तामणि का धारक है; अतः स्वयं ही देव है।

---

१. *सूचनारूप* – 'ब' प्रति पाठ

कैसा है। अचिंत्य कहिये काहू के चितवन मैं न आवै, अैसी है शक्ति जामैं॥ सो अैसा ज्ञानी सर्व प्रयोजन जातैं सिद्ध है, अैसे स्वरूप भया अन्य के परिग्रह करि कहा करै, किछू ही करनां नाही॥

॥ भावार्थ॥ यह ज्ञानमूर्ति आत्मा अनंत शक्ति का धारक वांछित कार्य की सिद्धि करनेंवाला आप ही देव है। तातैं सर्व प्रयोजन के सिद्धपणां करि ज्ञानी कै अन्य परिग्रह के सेवन करि कहा साध्य है, यह निश्चयनय का उपदेश जानूं॥ छ॥

आगैं पूछै है जो ज्ञानी पर कूं काहे तैं नाही परिग्रहण करै है, ताका उत्तर कहै है॥ छ॥

को णाम भणिज्ज बुहो, परदव्वं मम इमं हवइ दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णिययं वियाणंतो॥ १५॥

को नाम भणेद् बुधः, परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यम्।
आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी पंडित है सो अैसा कोंन है जो यह परद्रव्य है सो मेरा द्रव्य है, अैसैं कहै, ज्ञानी तौ न कहै। कैसा है ज्ञानी पंडित॥ अपनां आत्मा ही कूं नियम करि अपनां परिग्रह जानता

कैसा है वह? – अचिन्त्य अर्थात् किसी के चिन्तवन में न आ सके – ऐसी शक्तिवाला है। जिससे सर्व प्रयोजन सिद्ध हैं – ऐसे स्वरूप होने से ज्ञानी को, अन्य के परिग्रह से क्या प्रयोजन है अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

भावार्थ – यह ज्ञानमूर्ति आत्मा, अनन्त शक्ति का धारक, वाञ्छित कार्यों की सिद्धि करनेवाला स्वयं ही देव है; अतः ज्ञान से सर्व प्रयोजनों की सिद्धि हो जाने से ज्ञानी को अन्य परिग्रह के सेवन से क्या लाभ है? – ऐसा निश्चयनय का उपदेश जानो।

अब, शिष्य पूछता है कि ज्ञानी पर का परिग्रहण क्यों नहीं करता है? – उसका उत्तर कहते हैं —

को णाम भणिज्ज बुहो, परदव्वं मम इमं[1] हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिगहं[2] तु णियदं वियाणंतो॥ २०७॥

'परद्रव्य, यह मुझ द्रव्य', यों तो कौन ज्ञानीजन कहे।
निज आत्म को निज का परिग्रह, जानता जो नियम से॥ २०७॥

अर्थ – ऐसा कौन ज्ञानी पण्डित होगा? जो यह कहेगा कि 'परद्रव्य, मेरा द्रव्य है' क्योंकि ज्ञानी तो ऐसा कहते नहीं हैं। **कैसे हैं ज्ञानी पण्डित?** – जो अपनी आत्मा को ही नियम से अपना

---

१. *इदं* – तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
२. *परिग्गहं* – तात्पर्यवृत्ति एवं अगास प्रकाशन

संता प्रवर्त्तै है॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं जो ज्ञानी है सो नियम करि अैसैं जानैं है॥ जो जाका स्वभाव है सो ही ताका स्वै है, धन है, द्रव्य है॥ वहुरि तिस ही स्वभावरूप द्रव्य का वह स्वामी है।

अैसैं सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि करि अवलंवनें तैं आत्मा का परिग्रह अपनां आत्मस्वभाव ही है, अैसैं जानैं है॥ तातैं परद्रव्य कूं अैसा जानैं है जो यह मेरा स्वै नाही, मैं याका स्वामी नाही॥ यातैं परद्रव्य कूं अपनां परिग्रह नाही करै है॥

तातैं मैं भी ज्ञानी हौं सो परद्रव्य कूं नाही ग्रहण करौं हौं॥

॥ भावार्थ॥ लोक मैं यह रीति है जो समझदार स्याणां मनुष[१] है सो पर की वस्तु कूं अपनीं नाही जानैं, ताकूं ग्रहण करै नाही।

तैसैं ही परमार्थ ज्ञानी अपनां स्वभाव ही कूं अपनां धन जानैं, पर का भाव कूं अपनां जानैं नाही, ताकूं ग्रहण न करै है॥ अैसैं ज्ञानी है सो पर का ग्रहण सेवन नाही करै है॥ छ॥

आगैं, इस ही अर्थ कूं युक्ति करि दृढ़ करै है॥

मज्झं परिग्गहो जइ, तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा, तम्हा ण परिग्गहो मज्झ॥ १६॥

परिग्रह जानते हुए प्रवर्तते हैं॥ २०७॥

टीका – चूँकि ज्ञानी तो नियम से ऐसा जानता है कि जो जिसका स्वभाव है, वही उसका 'स्व' है, धन है, द्रव्य है और उसी स्वभावरूप द्रव्य का वह 'स्वामी' है।

इस प्रकार सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि से अवलम्बन करने पर, आत्मा का परिग्रह अपना आत्मस्वभाव ही है – ऐसा जानता हुआ ज्ञानी, परद्रव्य को ऐसा जानता है कि 'यह मेरा स्व नहीं है और मैं इसका स्वामी नहीं हूँ'; अतः वह परद्रव्य को अपना परिग्रह नहीं बनाता है।

इस प्रकार वह विचारता है कि मैं भी ज्ञानी हूँ; अतः मैं परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता हूँ।

भावार्थ – लोक में यह रीति है कि समझदार बुद्धिमान मनुष्य, अन्य की वस्तु को न तो अपनी जानता है और न ही उसे ग्रहण करता है।

उसी प्रकार परमार्थ ज्ञानी भी अपने स्वभाव ही को अपना धन जानता है; पर के भाव को अपना नहीं जानता है, उसे ग्रहण नहीं करता है। इस प्रकार ज्ञानी, पर का ग्रहण अर्थात् सेवन नहीं करता है।

अब, इसी अर्थ को युक्तिपूर्वक दृढ़ करते हैं —

---

१. *मिनष*- 'अ' प्रति पाठ

मम परिग्रहो यदि, ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयम्।
ज्ञातैवाऽहं यस्मात्, तस्मान्न परिग्रहो मम॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी अैसैं जानै है जो मेरै परद्रव्य परिग्रह होय तौ मैं भी अजीवपणां कूं प्राप्त होय जाऊं॥ जातैं मैं तौ ज्ञाता ही हौं, तातैं मेरै किछू परिग्रह नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जो अजीव परद्रव्य कूं मैं परिग्रहण करौं तो अजीव मेरा अवश्य स्वै होय। वहुरि मैं भी उस अजीव का अवश्य स्वामी ठहरौं, जातैं यह न्याय है जो अजीव का स्वामी निश्चय करि होय सो अजीव ही होय, अैसैं मेरै अजीवपणां अवश्य आय पडै है॥ तातैं मेरा तौ एक ज्ञायकभाव ही है सो मेरा जो स्वै है, तिस ही का मैं स्वामी हौं, तातैं मेरै अजीवपणां मति होहु॥ मैं तौ ज्ञाता ही हौंगा, परद्रव्य कूं नाही ग्रहण करूंगा, मेरै यह निश्चय है॥

॥ भावार्थ॥ निश्चयनय करि यह सिद्धांत है जो जीव का तौ भाव जीव ही है, तिनि ही करि जीव कै स्वस्वामिसंवंध है॥ वहुरि अजीव का भाव अजीव ही है, तिनि ही करि अजीव कै स्वस्वामिसंवंध है॥ सो जीव कै अजीव का परिग्रह मानिये तौ जीव, अजीवता कों प्राप्त होय, तातैं जीव कै अजीव का परमार्थ तैं परिग्रह माननां मिथ्यावुद्धि है॥ तातैं ज्ञानी कै यह मिथ्यावुद्धि होय नाही, ज्ञानी तौ अैसैं

मज्झं परिग्गहो जदि, तदो अहमजीवदं[1] तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा, तम्हा ण परिग्गहो मज्झ[2]॥ २०८॥

परिग्रह कभी मेरा बने, तो मैं अजीव बनूँ अरे!।
मैं नियम से ज्ञाता हूँ इससे, नहिं परिग्रह मुझ बने॥ २०८॥

अर्थ – ज्ञानी ऐसा जानता है कि यदि परद्रव्य का परिग्रह मेरा हो तो मैं भी अजीवपने को प्राप्त हो जाऊँ; क्योंकि मैं तो ज्ञाता ही हूँ; अत: कुछ भी परिग्रह मेरा नहीं है॥ २०८॥

टीका – यदि मैं अजीवस्वरूप परद्रव्य का परिग्रहण करूँ तो अजीव अवश्य मेरा 'स्व' हो और मैं भी अवश्य ही उस अजीव का 'स्वामी' ठहरूँ क्योंकि यह न्याय है कि निश्चय से 'जो अजीव का स्वामी होता है, वह अजीव ही होता है' – इस न्याय से मेरा अजीव होना अवश्यम्भावी हो जाता है; अत: मेरा 'स्व' तो मेरा एक ज्ञायकभाव ही है और उसी का मैं 'स्वामी' हूँ, इसलिए मुझे अजीवपना नहीं चाहिए; मैं तो बस ज्ञाता ही रहूँगा, परद्रव्य को ग्रहण नहीं करूँगा – यह मेरा निश्चय है।

भावार्थ – निश्चयनय से यह सिद्धान्त है कि जीव के भाव तो जीव ही हैं और उनके साथ ही जीव का स्व-स्वामी सम्बन्ध है और अजीव के भाव, अजीव ही हैं और उनके साथ ही अजीव का स्व-स्वामी सम्बन्ध है। इसलिए जीव के साथ अजीव का परिग्रह मानने पर तो जीव, अजीवपने

---

१. *अहमजीविदं* - तात्पर्यवृत्ति पाठ। २. *मज्झं* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ।

मानै है जो परद्रव्य मेरै परिग्रह नाही, मैं तो ज्ञाता हौं॥ छ॥

आगैं कहै है जो अैसैं मानते ज्ञानी कै परद्रव्य के विगडनें सुधरनें विषै समता है॥

छिज्जदु वा भिज्जदु वा, णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु, तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ॥ १७॥

छिद्यतां वा भिद्यतां वा, नीयतां वाऽथवा यातु विप्रलयम्।
यस्मात्तस्माद् गच्छतु, तथापि खलु न परिग्रहो मम॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी अैसैं विचारै जो परद्रव्य है, सो छिदि जावो अथवा भिदि जावो अथवा कोई ले जावो वा नष्ट हो जावो, विनशि जावो अथवा जिस तिस कारण तैं जावो तौऊ निश्चय करि मैरै परद्रव्य परिग्रह नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ परद्रव्य छिदो वा भिदो वा कोई ल्यो वा प्रलय हो जावो, जिस तिस कारण तैं जावो, तौऊ मैं परद्रव्य परिग्रहण नाही करौं हौं॥ जातैं परद्रव्य मेरा स्वै नाही, मैं परद्रव्य का स्वामी नाही॥ परद्रव्य ही परद्रव्य का स्वै है, परद्रव्य ही परद्रव्य का स्वामी है। मैं ही मेरा स्वै हौं, मैं ही मेरा स्वामी हौं, अैसैं जानूं हौं॥ छ॥

को प्राप्त होता है; अत: परमार्थ से जीव के साथ अजीव का परिग्रह मानना मिथ्याबुद्धि है, जो ज्ञानी को होती नहीं है; अत: ज्ञानी तो ऐसा मानता है कि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है, मैं तो बस ज्ञाता हूँ।

अब कहते हैं कि ऐसा मानते हुए ज्ञानी को परद्रव्य के बिगड़ने-सुधरने पर समता रहती है —

छिज्जदु वा भिज्जदु वा, णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु, तह वि हु[1] ण परिग्गहो मज्झ[2]॥ २०९॥

छेदाय या भेदाय, या ले जाय या फिर नष्ट हो।
या अन्य कहीं पर जाय, वह परिग्रह नहीं मेरा अरे!॥ २०९॥

अर्थ – ज्ञानी ऐसा विचारता है कि चाहे परद्रव्य छिद जाए अथवा भिद जाए अथवा कोई उसे ले जाए अथवा नष्ट हो जाए, विनश जाए अथवा अन्य किसी कारण से कहीं भी चला जाए क्योंकि निश्चय से मुझे परद्रव्य का परिग्रह नहीं है॥ २०९॥

टीका – परद्रव्य छिदे अथवा भिदे अथवा कोई उसे ले जाए अथवा वह नष्ट हो जाए अथवा वह अन्य किसी कारण से कहीं चला जाए तो भी ''मैं परद्रव्य का परिग्रहण नहीं करता हूँ क्योंकि परद्रव्य मेरा 'स्व' नहीं है और मैं परद्रव्य का 'स्वामी' नहीं हूँ; परद्रव्य ही परद्रव्य का 'स्व' है और

---

१. *तहावि* – तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ। २. *मज्झं* – कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ।

॥ भावार्थ ॥ ज्ञानी कै परद्रव्य का विगडनें सुधरनें का हर्ष विषाद नाही है॥ छ॥

अव, इस अर्थ का कलशरूप तथा अगिले कथन की सूचनिकारूप काव्य कहै है॥

॥ वसन्ततिलका ॥

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव,
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम्॥
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्-
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः॥ १३॥

॥ अर्थ ॥ या प्रकार परिग्रह कूं सामान्य करि समस्त ही कूं छोडि करि, अव आप अर पर का अविवेक का कारण अज्ञान कों छोडनें का है मन जाका, अैसा जो यह ज्ञानी सो तिस परिग्रह कूं विशेष करि न्यारा न्यारा परिहार करनें कूं फेरि प्रवर्त्तै है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ जातैं स्व पर का एकरूप जाननें का कारण अज्ञान है, ताही तैं परद्रव्य का परिग्रहण है।

सो[१] पहली गाथा मैं तौ परिग्रह का सामान्य करि त्याग करनां कह्या। अव आगैं,

---

परद्रव्य ही परद्रव्य का स्वामी है; मैं ही मेरा 'स्व' हूँ और मैं ही मेरा 'स्वामी' हूँ'' – ऐसा मैं जानता हूँ।

भावार्थ – ज्ञानी को परद्रव्य के सुधरने-बिगड़ने में हर्ष-विषाद नहीं है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप और अगली गाथा का सूचनिकारूप काव्य कहते हैं —

॥ सोरठा ॥

स्व-पर का अविवेक, होय एक अज्ञान से।
अज्ञान छोड़ने को, परिग्रह त्यागें भाव से॥
सकल परिग्रह-त्याग, इस प्रकार सामान्य से।
विविध वस्तु परित्याग, अब आगे विस्तार से॥ १४५॥

अर्थ – इस प्रकार समस्त ही परिग्रह को सामान्यरूप से छोड़ कर, अब स्व-पर के अविवेक के कारण अज्ञान को छोड़ने का इच्छुक वह ज्ञानी, उस परिग्रह को विशेषरूप से अलग-अलग परिहार करने के लिए पुनः प्रवृत्त होता है।

भावार्थ – चूँकि स्व-पर को एकरूप जानने का हेतु अज्ञान है और उसी कारण परद्रव्य का परिग्रह ग्रहण किया जाता है।

---

१. *तातैं ज्ञानी कैं* - 'ब' प्रति पाठ

अज्ञान के छोडनें कूं विशेष करि न्यारा न्यारा नाम लेकरि त्याग करनां कहै है॥ छ॥

अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स, जाणगो तेण सो होइ॥ १८॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो, भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मम्।
अपरिग्रहस्तु धर्मस्य, ज्ञायकस्तेन स भवति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी है सो परिग्रहरहित है, जातैं अनिच्छ कहिये परिग्रह की इच्छारहित है॥ अैसा कह्या है॥ तातैं धर्म कूं नाही इच्छै है, तातैं धर्म का अपरिग्रही है, तिस धर्म का ज्ञानी ज्ञायक ही है॥ छ॥

॥ टीका॥ इच्छा है सो परिग्रह है॥ जाकै इच्छा नाही, ताकै परिग्रह नाही॥ वहुरि इच्छा है सो अज्ञानमयी भाव है। अज्ञानमयी भाव है सो ज्ञानी कै नाही है, ज्ञानी कै तौ ज्ञानमयी ही भाव है॥ तातैं ज्ञानी है सो अज्ञानमयी भाव जो इच्छा, ताका अभाव तैं धर्म कूं नाही इच्छै है॥

तिस कारण करि ज्ञानी कै धर्मपरिग्रह नाही है॥ ज्ञानमयी जो एक ज्ञायकभाव, ताका सद्भाव तैं धर्म का केवल ज्ञाता ही यह ज्ञानी है॥ छ॥

पूर्वोक्त गाथाओं में तो परिग्रह का सामान्यरूप से त्याग करना कहा है। अब, आगामी गाथाओं में अज्ञान को छुड़ाने के लिए अलग-अलग नाम लेकर विशेषरूप से त्याग कराते हैं —

अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णेच्छदे[1] धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स, जाणगो तेण सो होदि॥ २१०॥

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पुण्य इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रही पुण्य का, वह पुण्य का ज्ञायक रहे॥ २१०॥

अर्थ – ज्ञानी, परिग्रह से रहित है क्योंकि उसे अनिच्छुक अर्थात् परिग्रह की इच्छा से रहित कहा है; अत: वह धर्म को नहीं चाहता है, इसलिए धर्म का अपरिग्रही है। ज्ञानी, उस धर्म का ज्ञायक ही है॥ २१०॥[2]

टीका – इच्छा परिग्रह है। जिसको इच्छा नहीं है, उसको परिग्रह नहीं है। इच्छा, अज्ञानमयी भाव है। अज्ञानमयी भाव, ज्ञानी को होता नहीं हैं, ज्ञानी को तो ज्ञानमयी भाव ही होता है; अत: ज्ञानी, अज्ञानमयी भाव या इच्छा के अभाव के कारण धर्म को नहीं चाहता है।

इस कारण ज्ञानी को धर्म का परिग्रह नहीं है। ज्ञानी तो ज्ञानमयी एक ज्ञायकभाव का सद्भाव

---

१. *णिच्छदे* – तात्पर्यवृत्ति एवं 'अ' 'ब' प्रति पाठ

२. यहाँ 'धर्म' से तात्पर्य व्यवहारधर्मरूप या शुभरागरूप पुण्यपरिणामों से है। निश्चयनय से तो ज्ञानी को मोक्ष की भी इच्छा नहीं होती, अत: उस अपेक्षा शुद्धोपयोगरूप धर्मपरिणामों का भी ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार 'अधर्म' का तात्पर्य समझना चाहिए।

आगैं, अैसैं ही ज्ञानी कै अधर्मपरिग्रह नाही है, अैसैं कहै है॥ छ॥

अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णिच्छदि अहम्मं।
अपरिग्गहो अहम्मस्स, जाणगो तेण सो होदि॥ १९॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो, भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्मम्।
अपरिग्रहोऽधर्मस्य, ज्ञायकस्तेन स भवति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी इच्छारहित है, यातैं परिग्रहरहित कह्या है॥ याही तैं ज्ञानी है सो अधर्म कूं नाही इच्छै है, तातैं अधर्म का परिग्रह याकै नाही है। तिस कारण करि सो ज्ञानी तिस अधर्म का ज्ञायक ही है॥ छ॥

॥ टीका॥ इच्छा है सो परिग्रह है॥ जाकै इच्छा नाही, ताकै परिग्रह नाही॥ वहुरि इच्छा है सो अज्ञानमयी भाव है॥ अज्ञानमयी भाव ज्ञानी कै नाही है॥ ज्ञानी कै तौ ज्ञानमयी ही भाव है॥ तातैं ज्ञानी अज्ञानमयी भाव जो इच्छा, ताके अभाव तैं अधर्म कूं नाही इच्छै है।

तातैं ज्ञानी कै अधर्म का परिग्रह नाही है॥ ज्ञानमयी जो एक ज्ञायकभाव, ताके सद्भाव तैं यह ज्ञानी अधर्म का केवल ज्ञायक ही है॥ छ॥

होने से, धर्म का केवल ज्ञाता ही है।

अब कहते हैं कि इसी प्रकार ज्ञानी को अधर्म का भी परिग्रह नहीं है —

अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णेच्छदि अधम्मं।
अपरिग्गहो अधम्मस्स, जाणगो तेण सो होदि॥ २११॥

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पाप इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रही पाप का, वह पाप का ज्ञायक रहे॥ २११॥

अर्थ – ज्ञानी इच्छारहित है क्योंकि उसे परिग्रहरहित कहा है; अत: ज्ञानी, अधर्म को नहीं चाहता है, इसलिए उसको अधर्म का परिग्रह नहीं है। इस कारण ज्ञानी, उस अधर्म का ज्ञायक ही है॥ २११॥

टीका – इच्छा परिग्रह है। जिसको इच्छा नहीं है, उसको परिग्रह नहीं है। इच्छा, अज्ञानमयी भाव है। ज्ञानी को अज्ञानमयी भाव नहीं होता है, ज्ञानी को तो ज्ञानमयी भाव ही होता है; अत: ज्ञानी, अज्ञानमयी भाव या इच्छा के अभाव के कारण अधर्म को नहीं चाहता है।

इस कारण ज्ञानी को अधर्म का परिग्रह नहीं है। ज्ञानी तो ज्ञानमयी एक ज्ञायकभाव का सद्भाव होने से, अधर्म का केवल ज्ञायक ही है।

ऐसैं ही गाथा मैं अधर्मपद है, ताके पद पलटनें करि अर अधर्म की जायगां राग द्वेष मोह, क्रोध मान माया लोभ, कर्म नोकर्म, मन वचन काय, श्रोत्र चक्षु घ्राण रसन स्पर्शन, ए सोलह पद धरि सोलह गाथासूत्र करि व्याख्यान करनां॥ इस ही उपदेश करि अन्य भी विचारनें॥

आगैं, ज्ञानी कै आहार करनां भी परिग्रह नाही है, यह कहै है॥

अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णिच्छदे असणं।
अपरिग्गहो दु असणस्स, जाणगो दु तेण सो होदि॥ २०॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो, भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यशनम्।
अपरिग्रहस्त्वशनस्य, ज्ञायकस्तेन स भवति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ इच्छारहित होय सो परिग्रहरहित है॥ ऐसैं कह्या है॥ वहुरि ज्ञानी है सो अशन कहिये भोजन, ताकूं नाही इच्छै है, तातैं ज्ञानी कै अशन का परिग्रह नाही है, तिस कारण करि ज्ञानी अशन का ज्ञायक ही है॥

॥ टीका॥ इच्छा है सो परिग्रह है सो जाकै इच्छा नाही, ताकै परिग्रह नाही॥ वहुरि इच्छा है सो अज्ञानमयी भाव है सो ज्ञानी कै अज्ञानमयी भाव नाही है॥ जातैं ज्ञानी कै तौ ज्ञानमयी ही भाव

इसी प्रकार गाथा में समागत अधर्मपद को बदल कर, उसके स्थान पर राग, द्वेष, मोह; क्रोध, मान, माया, लोभ; कर्म, नोकर्म; मन, वचन, काय; श्रोत्र, चक्षु, घ्राण रसना और स्पर्श, ये सोलह पद रख कर, सोलह गाथासूत्र बना कर व्याख्यान करना चाहिए। इसी उपदेश के माध्यम से अन्य का भी विचार करना चाहिए।

अब कहते हैं कि ज्ञानी को आहार करनेरूप परिग्रह भी नहीं है —

अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णेच्छदे असणं[1]।
अपरिग्गहो दु असणस्स, जाणगो तेण हो होदि॥ २१२॥

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं अशन इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रही अशन का, वह अशन का ज्ञायक रहे॥ २१२॥

अर्थ – जो इच्छारहित होता है, वह परिग्रहरहित है। ज्ञानी, अशन अर्थात् भोजन को नहीं चाहता है; अत: ज्ञानी को अशन का परिग्रह नहीं है। इस कारण ज्ञानी, अशन का ज्ञायक ही है॥ २१२॥

टीका – इच्छा परिग्रह है; अत: जिसको इच्छा नहीं है, उसको परिग्रह नहीं है। इच्छा

---

१. *भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी* – तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

है॥ तातैं ज्ञानी है सो अज्ञानमयी भाव जो इच्छा, ताके अभाव तैं अशन कूं नाही इच्छै है॥

तिस कारण करि ज्ञानी कै अशन का परिग्रह नाही है॥ ज्ञानमयी जो एक ज्ञायकभाव, ताके सद्भाव तैं यह ज्ञानी केवल अशन का ज्ञायक ही है॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञानी कै आहार की भी इच्छा नाही है, तातैं ज्ञानी कै आहार करनां भी परिग्रह नाही है॥

इहां प्रश्न॥ जो आहार तौ मुनि भी करैं हैं, ताकी इच्छा है कि नाही, विना इच्छा आहार कैसैं करै॥

ताका समाधान॥ जो असातावेदनीयकर्म के उदय तैं तौ जठराग्निरूप क्षुधा उपजै है॥ अर वीर्यांतराय के उदय करि ताकी वेदना सही नाही जाय है अर चारित्रमोह के उदय करि ग्रहण की इच्छा उपजै है सो इस इच्छा कूं कर्म का उदय का कार्य जानै हैं, तिस इच्छा कूं रोगवत् जाणि मेट्या चाहै है।

इच्छा तैं अनुरागरूप इच्छा नाही है, अैसी इच्छा नाही है जो मैरै यह इच्छा सदा रहो, तातैं अज्ञानमयी इच्छा का अभाव है। परजन्य इच्छा का स्वामित्वपणां[१] ज्ञानी कै नाही है, तातैं इच्छा का भी ज्ञानी ज्ञायक ही है, अैसा शुद्धनय कूं प्रधान करि कथन जाननां॥ छ॥

अज्ञानमयी भाव है। ज्ञानी को अज्ञानमयी भाव होता नहीं है, ज्ञानी को तो ज्ञानमयी भाव ही होता है; अत: ज्ञानी, अज्ञानमयी भाव या इच्छा के अभाव के कारण अशन (भोजन) को नहीं चाहता है

इस कारण ज्ञानी को अशन का परिग्रह नहीं है। ज्ञानी तो ज्ञानमयी एक ज्ञायकभाव का सद्भाव होने से, अशन का केवल ज्ञायक ही है।

भावार्थ – ज्ञानी को आहार की भी इच्छा नहीं है; अत: ज्ञानी को आहार करनेरूप भी परिग्रह नहीं है।

यहाँ प्रश्न है कि आहार तो मुनि भी करते हैं; अत: उनको उसकी इच्छा है या नहीं? क्योंकि बिना इच्छा के वे आहार कैसे कर सकते हैं?

उसका समाधान – यद्यपि असातावेदनीयकर्म के उदय से जठराग्निरूप क्षुधा उत्पन्न होती है, वीर्यान्तरायकर्म के उदय के कारण उस क्षुधा की वेदना सही नहीं जाती है और चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से आहार-ग्रहण की इच्छा उत्पन्न होती है; तथापि वे मुनि, उस इच्छा को कर्म के उदय का कार्य जानते हैं, उसे रोगवत् जान कर मिटाना चाहते हैं।

मुनिराज को इच्छा से अनुरागरूप इच्छा नहीं है अर्थात् **उन्हें ऐसी इच्छा नहीं है कि मुझे यह इच्छा सदा बनी रहे;** अत: मुनिराज को अज्ञानमयी इच्छा का अभाव है। ज्ञानी [मुनि] को परजन्य (कर्मजन्य) इच्छा का स्वामित्व नहीं है; इसलिए ज्ञानी इच्छा का भी ज्ञायक ही है। यह कथन

---

१. *स्वामिपणां* - 'ब' प्रति पाठ

आगैं, पान का भी परिग्रह, ज्ञानी कै नाही है, अैसैं कहै है॥

अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स, जाणगो तेण सो होदि॥ २१॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो, भणितो ज्ञानी च नेच्छति पानम्।
अपरिग्रहस्तु पानस्य, ज्ञायकस्तेन स भवति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ इच्छारहित है सो परिग्रहरहित कह्या है॥ वहुरि ज्ञानी है सो पान कहिये जल आदिक[१] पीवनां, ताकूं इच्छै नाही है॥ तातैं पान का परिग्रह ज्ञानी कै नाही है॥ तिस कारण करि ज्ञानी, पान का ज्ञायक ही है॥ छ॥

॥ टीका॥ इच्छा है सो परिग्रह है॥ जाकै इच्छा नाही, ताकै परिग्रह भी नाही॥ वहुरि इच्छा है सो अज्ञानमयी भाव है॥ सो ज्ञानी कै अज्ञानमयी भाव नाही है॥ ज्ञानी कै तौ ज्ञानमयी ही भाव है॥ तातैं ज्ञानी अज्ञानमयी भाव जो इच्छा, ताके अभाव तैं पान कूं नाही इच्छै है॥

तिस कारण करि ज्ञानी कै पान का परिग्रह नाही है॥ ज्ञानमयी जो एक ज्ञायकभाव, ताके सद्भाव तैं यह ज्ञानी पान का केवल ज्ञायक ही है॥ छ॥

शुद्धनय की प्रधानता से जानना चाहिए।

अब कहते हैं कि ज्ञानी को पान (पीने योग्य पदार्थ) का भी परिग्रह नहीं है —

अपरिग्गहो अणिच्छो, भणिदो णाणी य णेच्छदि पाणं[२]।
अपरिग्गहो दु पाणस्स, जाणगो तेण सो होदि॥ २१३॥

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पान इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रही पान का, वह पान का ज्ञायक रहे॥ २१३॥

अर्थ – जो इच्छारहित है, वह परिग्रहरहित कहा है। ज्ञानी, पान अर्थात् जल आदि को पीना नहीं चाहता है; अत: ज्ञानी को पान का परिग्रह नहीं है। इस कारण ज्ञानी, पान का भी ज्ञायक ही है॥ २१३॥

टीका – इच्छा परिग्रह है। जिसके इच्छा नहीं है, उसको परिग्रह भी नहीं है। इच्छा, अज्ञानमयी भाव है। ज्ञानी को अज्ञानमयी भाव होता नहीं है, ज्ञानी को तो ज्ञानमयी भाव ही होता है; अत: ज्ञानी, अज्ञानमयी भाव के अभाव में पान को नहीं चाहता है।

इस कारण ज्ञानी को पान का परिग्रह नहीं है। ज्ञानी तो ज्ञानमयी एक ज्ञायकभाव के सद्भाव

---

१. *आदि का* – 'अ' प्रति पाठ

२. *भणिदो पाणं च णिच्छदे णाणी* – तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

॥ भावार्थ ॥ आहारवत् जाननां ॥ छ ॥

आगैं कहैं है जो अैसैं ही अन्य जे अनेक प्रकार परजन्य भाव, तिनिकूं ज्ञानी नाही इच्छै है ॥

एमादिए दु विविधे, सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो, णिरालंबो दु सव्वत्थ॥ २२॥

एवमादिकांस्तु विविधान्, सर्वान् भावांश्च नेच्छति ज्ञानी।
ज्ञायकभावो नियतो, निरालम्बस्तु सर्वत्र॥ छ॥

॥ अर्थ ॥ इस प्रकार कूं आदि लेकरि अनेक प्रकार के जे सर्वभाव, तिनिकूं ज्ञानी नाही इच्छै है ॥ जातैं नियम करि आप ज्ञायकभाव है ॥ तातैं सर्व विषै निरालंव है ॥ छ ॥

॥ टीका ॥ याही पूर्वोक्त प्रकार कूं आदि लेकरि अन्य भी वहुत प्रकार परद्रव्य के जे स्वभाव हैं, तिनि सर्व ही कूं ज्ञानी नाही इच्छै है ॥

तिस कारण करि ज्ञानी कै सर्व ही परद्रव्य के भावनि का परिग्रह नाही है। अैसैं ज्ञानी कै अत्यंत

से, पान का केवल ज्ञायक ही है।

भावार्थ – पूर्वोक्त आहार-परिग्रह की तरह ही, पान-परिग्रह के विषय में भी जानना चाहिए।

अब कहते हैं कि इसी प्रकार, अन्य अनेक प्रकार के परजन्य (कर्मजन्य) भावों को भी ज्ञानी नहीं चाहता है —

एमादिए[1] दु विविहे, सव्वे भावे य णेच्छदे[2] णाणी।
जाणगभावो णियदो, णीरालंबो दु सव्वत्थ॥ २१४॥

इन आदि विध-विध भाव बहु, ज्ञानी न इच्छे सर्व को।
सर्वत्र आलम्बनरहित बस!, नियत ज्ञायकभाव वो॥ २१४॥

अर्थ – इस प्रकार पूर्वोक्त प्रकारों से लेकर, [अन्य] अनेक प्रकार के सर्व भावों को ज्ञानी नहीं चाहता है क्योंकि वह तो नियम से स्वयं ज्ञायकभाव है, अत: ज्ञानी सर्व विषयों के प्रति निरालम्ब है॥ २१४॥

टीका – इन पूर्वोक्त प्रकारों से लेकर अन्य भी बहुत प्रकार के जो परद्रव्यों के स्वभाव हैं, उन सभी को ज्ञानी नहीं चाहता है।

---

१. *इच्चादिए* - तात्पर्यवृत्ति पाठ २. *णिच्छदे* - तात्पर्यवृत्ति एवं 'अ' 'ब' प्रति पाठ

निःपरिग्रहपणां सिद्ध भया॥

अव या प्रकार यह ज्ञानी समस्त अन्य भावनि का परिग्रह करि शून्यपणां तैं वम्या है, उगल्या है समस्त अज्ञान जानैं, अैसा भया संता सर्वत्र अति निरालंवनस्वरूप होय करि न्यारा ही एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव भया संता, साक्षात् विज्ञानघन आत्मा कूं अनुभवै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ पूर्वोक्त प्रकार आदि लेकरि सर्व ही अन्य भावनि का ज्ञानी कै परिग्रह नाही है, जातैं सर्व ही परभावनि कूं हेय जानें, तव तिनिकी प्राप्ति की इच्छा नाही, उदय आये कूं अनाशक्त भया भोगवै है। संसार देह भोगनि सूं रागरूप इच्छा विना परिग्रह का अभाव कह्या है॥ छ॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ स्वागता॥

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात्, ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः।
तद्भवत्वथ च रागवियोगात्, नूनमेति न परिग्रहभावम्॥ १४॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी कै जो पूर्वैं वंधे अपनें कर्म के विपाक कहिये उदय तैं उपभोग होय है सो होहु, परंतु राग के वियोग तैं निश्चय तैं सो उपभोग, परिग्रहभाव कूं नाही प्राप्त होय है॥ छ॥

इस कारण ज्ञानी को सर्व ही परद्रव्य के भावों का परिग्रह नहीं है। इस तरह ज्ञानी का अत्यन्त निष्परिग्रहत्व सिद्ध हुआ।

अब, इस प्रकार यह ज्ञानी, समस्त अन्य भावों के परिग्रह से शून्यपने के कारण समस्त अज्ञान का वमन करके, सर्वत्र अति निरालम्बनस्वरूप होकर, परद्रव्यों से भिन्न एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभाव होता हुआ, साक्षात् विज्ञानघन आत्मा का अनुभव करता है।

भावार्थ – पूर्वोक्त प्रकारों से लेकर सर्व ही अन्य भावों का ज्ञानी को परिग्रह नहीं है क्योंकि वह सर्व ही परभावों को हेय जानता है; अतः उसे उन्हें प्राप्त करने की इच्छा नहीं है। वह तो उदय में आये हुए भावों को अनासक्त होकर भोगता है; उसे संसार, देह और भोगों से रागरूप इच्छा के अभाव में परिग्रह का भी अभाव कहा है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ दोहा॥

पूर्व कर्म के उदय से, ज्ञानी के जो भोग।
परिग्रहत्व पावे नहीं, क्योंकि रागवियोग॥ १४६॥

अर्थ – ज्ञानी को जो पूर्वबद्ध, अपने कर्म के विपाक अर्थात् उदय के कारण उपभोग होता है, वह भले ही होवे परन्तु राग के वियोग के कारण निश्चय से वह उपभोग, परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता है।

॥ भावार्थ॥ पूर्व वांधे कर्म का उदय आवै, तव उपभोग सामग्री प्राप्त होय, ताकूं अज्ञानमयी रागभाव करि भोगवै, तव तौ सो परिग्रहभाव कूं प्राप्त होय सो ज्ञानी कै अज्ञानमयी रागभाव नाही है। उदय आया है, ताकूं भोगवै है। यह जानैं है जो पूर्वैं वांध्या था सो उदय आय गया, पिंड छूट्या, आगामी नाही वांछूं हौं।

अैसैं तिनिसूं रागरूप इच्छा नाही, तव ते परिग्रह भी नाही॥ छ॥

आगैं, ज्ञानी कै तीन कालगत परिग्रह नाही है॥ अैसैं कहै है॥

उप्पण्णोदयभोगो, वियोगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागयस्स य, उदयस्स ण कुव्वए णाणी॥ २३॥

उत्पन्नोदयभोगो, वियोगबुद्ध्या तस्य स नित्यम्।
काङ्क्षामनागतस्य, चोदयस्य न करोति ज्ञानी॥ छ॥

॥ अर्थ॥ उत्पन्न भया वर्त्तमान काल का उदय का भोग सो तौ तिस ज्ञानी कै निरंतर वियोग की वुद्धि करि वर्त्तै है, तातैं परिग्रह नाही है॥ वहुरि अनागत जो आगामी काल, तिस विषै उदय होयगा, ताकी ज्ञानी वांछा नाही करै है, तातैं परिग्रह नाही है॥ वहुरि अतीत काल का वीति ही गया सो यह

भावार्थ – [यदि जीव] पूर्वबद्ध कर्मों के उदय में प्राप्त उपभोग सामग्री को अज्ञानमयी रागभाव से भोगता है, तब तो वह परिग्रहभाव को प्राप्त होता है लेकिन ज्ञानी को तो अज्ञानमयी रागभाव नहीं है। वह जो उदय आया है, उसे भोगता है। ज्ञानी यह जानता है कि पूर्व में जो (कर्म) बाँधे थे, वे उदय में आ गये, अब उनसे सम्बन्ध छूट गया; अत: अब भविष्य में उन्हें नहीं चाहता हूँ।

इस प्रकार ज्ञानी को उनसे रागरूप इच्छा नहीं है, अत: वे परिग्रह भी नहीं हैं।

अब कहते हैं कि ज्ञानी को त्रिकाल-सम्बन्धी परिग्रह नहीं है —

उप्पण्णोदयभोगो[1], वियोगबुद्धीए[2] तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्स य, उदयस्स ण कुव्वदे णाणी॥ २१५॥

उदयगत उपभोग में, जु वियोगबुद्धि ज्ञानि के।
अरु भावि कर्मविपाक की, कांक्षा नहीं ज्ञानी करे॥ २१५॥

अर्थ – ज्ञानी को, वर्तमान काल में उत्पन्न हुआ उदय का भोग, निरन्तर वियोगबुद्धिपूर्वक रहता है; अत: उसका परिग्रह, उसे नहीं है। वह अनागत अर्थात् आगामी (भविष्य) काल के उदय

---

१. *उप्पण्णोदयभोगे* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

२. *वियोगबुद्धी य* - तात्पर्यवृत्ति पाठ / *वियोगबुद्धिए* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ / *विओगबुद्धीए* - अगास प्रकाशन पाठ

विना कह्या सामर्थ्य तैं ही जाणिये, याकै परिग्रह नाही॥ गये की वांछा ज्ञानी कै कैसैं होय॥ छ॥

॥ टीका॥ कर्म का उदय का उपभोगनां तीन प्रकार है॥ अतीत काल का[१], प्रत्युत्पन्न कहिये वर्त्तमान काल का, अनागत कहिये आगामी काल का॥ अैसैं॥

तहां अतीत काल का तौ वीति ही गया सो, गया सो गया, यातैं ज्ञानी कै परिग्रहभाव कूं नाही धारै है॥

वहुरि अनागत जो आगामी काल मैं आवैगा, सो ताकी वांछा करै, तव परिग्रहभाव कूं धारै सो ज्ञानी कै आगामी वांछा नाही, तातैं परिग्रहभाव कूं नाही धारै है। जिस कर्म कूं ज्ञानी अपनां अहित जान्यां, ताके उदय के भोग की आगामी वांछा काहे कूं करै॥

वहुरि प्रत्युत्पन्न कहिये वर्त्तमान का उपभोग है सो रागवुद्धि करि प्रवर्त्तमान होय तौ परिग्रहभाव कूं धारै सो ज्ञानी कै वर्त्तमान का उपभोग रागवुद्धि करि प्रवर्त्तमान नाही देषिये है॥ जातैं ज्ञानी कै अज्ञानमयी भाव जो रागवुद्धि, ताका अभाव है॥

वहुरि केवल वियोगवुद्धि ही करि प्रवर्तमान होय सो निश्चय करि परिग्रह नाही है, जातैं ज्ञानी कै यह वुद्धि है जो जाका संयोग भया, ताका वियोग अवश्य होयगा, तातैं विनाशीक तैं प्रीति न करनीं॥

की वाञ्छा भी नहीं करता है; अत: उसका परिग्रह भी उसे नहीं होता है। तथा अतीत काल तो बीत ही गया है, अत: यह तो बिना कहे सामर्थ्य से ही स्वयं समझ लेना चाहिए कि उसका भी उसे परिग्रह नहीं है, क्योंकि बीते हुए भोग की वाञ्छा, **ज्ञानी को कैसे हो सकती है?॥ २१५॥**

टीका – कर्म के उदय का उपभोग, तीन प्रकार का होता है – अतीत काल का, प्रत्युत्पन्न अर्थात् वर्तमान काल का और अनागत अर्थात् आगामी काल का।

वहाँ, अतीत काल का उपभोग तो बीत ही गया, वह गया सो गया; इसलिए वह [उपभोग] ज्ञानी के परिग्रहभाव को धारण नहीं करता है।

अनागत अर्थात् आगामी काल में जो उपभोग आएगा, उसकी यदि वाञ्छा की जाती है तो वह परिग्रहभाव को धारण करता है परन्तु ज्ञानी को आगामी उपभोग की वाञ्छा नहीं है; अत: वह भी उसके परिग्रहभाव को धारण नहीं करता है क्योंकि जिस कर्म को ज्ञानी ने अपने लिए अहितरूप जाना है, उसके आगामी **उदय के भोग की वाञ्छा वह क्यों करेगा?**

तथा, यदि कोई प्रत्युत्पन्न अर्थात् वर्तमान के उपभोग में रागबुद्धिपूर्वक प्रवर्तमान हो तो परिग्रहभाव का धारण हो परन्तु ज्ञानी को वर्तमान का उपभोग तो रागबुद्धिपूर्वक होता हुआ देखा नहीं जाता है, क्योंकि ज्ञानी को अज्ञानमयी भावरूप रागबुद्धि का अभाव है।

यदि वह [ज्ञानी] केवल वियोगबुद्धि ही से प्रवर्तमान होता है तो निश्चय से उसका परिग्रह उसे नहीं है क्योंकि ज्ञानी को ऐसी बुद्धि है कि 'जिसका संयोग हुआ है, उसका वियोग अवश्य होगा;'

---

१. *का अर* – 'ब' प्रति पाठ

तातैं वर्तमान कर्म का उदय का उपभोग है सो ज्ञानी कै परिग्रह नाही है॥

वहुरि अनागत आगामी कर्म का उदय कूं नाही वांछता जो ज्ञानी, ताकै सो अनागत उपभोग परिग्रह नाही है, जातैं ज्ञानी कै अज्ञानमयी भावरूप जो वांछा, ताका अभाव है, तातैं अनागत भी कर्म का उदय का उपभोग, ज्ञानी कै परिग्रह नाही होय॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ अतीत तौ गया ही, अनागत की वांछा नाही, वर्त्तमान का विषै राग नाही। हेय जानैं, ता विषैं राग कैसैं होय। तातैं ज्ञानी कै तीनूं ही काल संवंधी कर्म का उदय का भोगनां परिग्रह नाही।

वर्त्तमान के कारन मिलावै है सो पीडा न सही जाय, ताका इलाज रोगवत् करै है, यह निवलाई का दोष है॥ छ॥

आगैं पूछै है, अनागत काल का कर्म का उदय कूं ज्ञानी काहे तैं नाही वांछै है, ताका उत्तर कहै है॥

जो वेददि वेदिज्जदि, समए समए विणस्सदे उभयं।
तं जाणगो दु णाणी, उभयं पि ण कंखइ कयावि॥ २४॥

इसलिए विनाशीक से प्रीति नहीं करना। अत: वर्तमान कर्म के उदय का उपभोग, ज्ञानी के लिए परिग्रह नहीं है।

तथा, अनागत अर्थात् आगामी कर्म के उदय को नहीं चाहनेवाले ज्ञानी को, वह आगामी उपभोग, परिग्रह नहीं है क्योंकि ज्ञानी को अज्ञानमयी भावरूप इच्छा का अभाव है; अत: अनागत कर्म के उदय का उपभोग ज्ञानी को परिग्रहरूप नहीं होता है।

भावार्थ – अतीत तो बीत ही गया है, अनागत की इच्छा नहीं है और वर्तमान के विषय में राग नहीं है। **जिसे हेय जाने, उसके विषय में राग कैसे हो?** अत: ज्ञानी के लिए तीनों ही काल सम्बन्धी कर्म के उदय का भोगना, परिग्रह नहीं है।

वर्तमान में ज्ञानी, जो उपभोग के कारण मिलाता है, उसका कारण यह है कि पीड़ा सही नहीं जाती है तो उसका रोग के समान इलाज करता है – यह उसकी निर्बलता का दोष है।

अब पूछते हैं कि अनागत काल के कर्म के उदय को ज्ञानी क्यों नहीं चाहता है? – उसका उत्तर देते हैं —

जो वेददि वेदिज्जदि, समए समए[1] विणस्सदे उहयं[2]।
तं जाणगो दु णाणी, उभयं पि ण कंखदि कयावि॥ २१६॥

---

१. *समये समये* – कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

१. *उहयं* – तात्पर्यवृत्ति, अगास एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

यो वेदयते वेद्यते, समये समये विनश्यत्युभयम्।
तज्ज्ञायकस्तु ज्ञानी, उभयमपि न काङ्क्षति कदाचित्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो अनुभव करनेंवाला भाव सो वेदकभाव कहिये॥ वहुरि जो अनुभवन करनें योग्य भाव सो वेद्यभाव कहिये। सो अैसैं वेदक अर वेद्य, ए दोय भाव आत्मा कै होय हैं सो अनुक्रम करि होय हैं, एक काल होय नाही॥ सो दोऊ ही समय समय विषै विनशि जाय है॥ अर आत्मा दोऊ भावनि विषै नित्य है॥ तातैं ज्ञानी आत्मा दोऊ भावनि का ज्ञायक है, जाननेंवाला ही है। इनि दोऊ ही भावनि कूं ज्ञानी कदाचित् भी नाही वांछै है॥ छ॥

॥ टीका॥ ज्ञानी है सो तौ अपनां स्वभावभाव कै ध्रुवपणां है, तातैं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञानस्वरूप नित्य है॥ वहुरि जो वेदनां करनेंवाला अर वेदनें योग्य, अैसैं दोय वेदक अर वेद्यभाव हैं, ते उपजनां अर विनशनांरूप हैं॥ जातैं विभावभाव हैं, तिनिकै क्षणिकपणां[१] है, तातैं दोऊ भाव विनाशीक क्षणिक[२] हैं॥

तहां विचारिये है जो वेदकभाव है सो आगामी वांछा मैं लेनें योग्य वेद्यभाव, ताकूं अनुभवन करै। यहु जेतै उपजै तेतै वेद्यभाव नष्ट होय जाय, विनशि जाय, ताकूं विनाश होतैं वेदकभाव है सो कोंन कूं वेदै, अनुभवन करै॥

रे! वेद्य-वेदक भाव दोनों, समय-समय विनष्ट हैं।
ज्ञानी रहे ज्ञायक, कदापि न उभय की कांक्षा करे॥ २१६॥

अर्थ – जो अनुभव करनेवाला भाव है, उसको **वेदकभाव** कहते हैं और जो अनुभव करने योग्य भाव है, उसे **वेद्यभाव** कहते हैं। इस प्रकार वेदक और वेद्य – ये दोनों भाव, आत्मा में अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं; एक काल में नहीं होते। ये दोनों ही भाव, समय-समय में विनष्ट हो जाते हैं लेकिन आत्मा इन दोनों भावों के बीच में नित्य है; इसलिए ज्ञानी आत्मा, दोनों प्रकार के भावों का ज्ञायक है अर्थात् जाननेवाला ही है; अत: ज्ञानी इन दोनों ही भावों की कभी भी इच्छा नहीं करता है॥ २१६॥

टीका – ज्ञानी तो, अपने स्वभावभाव का ध्रुवपना होने से, [अपनी आत्मा का] टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञानस्वरूप नित्य [अनुभव करता] है तथा वेदन करनेवाला अर्थात् वेदकभाव और वेदने योग्य अर्थात् वेद्यभाव, दोनों उत्पत्ति और विनाशरूप होने से विभावभाव हैं, उनका क्षणिकपना है; अत: दोनों भाव विनाशीक हैं, क्षणिक हैं।

वहाँ विचार करते हैं कि वेदकभाव, आगामी वाञ्छा में लेने योग्य वेद्यभाव का अनुभव करनेवाला वह वेदकभाव, जब तक उत्पन्न होगा, तब तक वेद्यभाव नष्ट हो जाएगा, विनश जाएगा; अत: उसके विनाश होने पर वेदकभाव किसका वेदन करेगा, किसका अनुभव करेगा?

१-२. *क्षणकपणां/क्षणिक* – 'अ' प्रति पाठ

वहुरि जो इहां अैसैं कहिये जो वांछा मैं आवता जो वेद्यभाव, ताकै पीछैं होगा जो अन्य वेद्यभाव, ताकूं वेदै है। तौ तिसके होनें कै पहलैं ही सो वेदकभाव विनशि जाय, तव तिस वेद्यभाव कूं कोंन वेदै॥

वहुरि फेरि कहै जो वेदकभाव कै पीछैं होगा जो अन्य वेदकभाव सो तिस वेद्यभाव कूं वेदैगा॥ तौ तिस वेदकभाव होनें के पहलैं सो वेद्यभाव विनशि जाय, तव सो वेदकभाव कोंनसे वेद्यभाव कूं वेदै।

अैसैं कांक्षमाण भाव जो वेदनें की वांछा मैं आवता भाव, ताकै अनवस्था है, कहूं ठहरनां नाही॥ तिस अनवस्था कूं जानता संता ज्ञानी किछू भी नाही वांछै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ वेदकभाव तौ वेदनेंवाला अर वेद्यभाव जाकूं वेदिये सो, इनि दोऊ कै कालभेद है। जव वेदकभाव होय, तव वेद्यभाव होय नाही अर वेद्यभाव होय, तव वेदकभाव होय नाही।

अैसैं होतैं वेदकभाव आवै, तव वेद्यभाव विनशि जाय, तव वेदकभाव कोंन कूं वेदै अर वेद्यभाव आवै, तव वेदकभाव विनशि जाय, तव वेदकभाव विना वेद्य कूं कोंन वेदै।

तातैं ज्ञानी, दोऊ कूं विनाशीक जाणि, आप जाननेंवाला ही रहै है॥

इहां प्रश्न जो आत्मा तौ नित्य है सो दोऊ भावनि कूं वेदनेंवाला क्यों न कहौ।

यदि यहाँ ऐसा कहा जाता है कि वेदकभाव, वाञ्छित वेद्यभाव के बाद होनेवाले अन्य वेद्यभाव का वेदन करे तो उस अन्य वेद्यभाव के होने के पहले वह वेदकभाव नष्ट हो जाएगा तब उस अन्य वेद्यभाव का वेदन कौन करेगा?

यदि फिर यह कहा जाता है कि उस वेदकभाव के बाद होनेवाला अन्य वेदकभाव, उस दूसरे वेद्यभाव का वेदन करेगा, तो उस दूसरे वेदकभाव के होने के पहले वह वेद्यभाव नष्ट हो जाएगा, तब वह वेदकभाव कौनसे वेद्यभाव का वेदन करेगा।

इस प्रकार कांक्षमाण भाव अर्थात् वेदने की वाञ्छा में आनेवाले भावों में अनवस्था है अर्थात् कहीं स्थिरता नहीं है; इसलिए इस अनवस्था को जानता हुआ ज्ञानी, कुछ भी वाञ्छा नहीं करता है।

भावार्थ – वेदकभाव अर्थात् वेदनेवाला भाव और वेद्यभाव अर्थात् जिसका वेदन करते हैं, वह भाव - इन दोनों में कालभेद है क्योंकि जब वेदकभाव होता है, तब वेद्यभाव नहीं होता और जब वेद्यभाव होता है, तब वेदकभाव नहीं होता।

इसी प्रकार जब वेदकभाव आता है, तब वेद्यभाव नष्ट हो जाता है, तब वेदकभाव किसका वेदन करे? और जब वेद्यभाव आता है, तब वेदकभाव नष्ट हो जाता है, तब वेदकभाव के बिना वेद्यभाव का कौन वेदन करे?

अत: ज्ञानी, दोनों को विनाशीक जान कर, स्वयं जाननेवाला ही रहता है।

यहाँ प्रश्न है कि आत्मा तो नित्य है, उसे दोनों भावों को वेदनेवाला क्यों नहीं कहते?

ताका समाधान जो वेद्यवेदकभाव तो विभाव है, आत्मा का स्वभाव तौ है नाही सो जाकी वांछा करी, अैसा वेद्यभाव, जेतै वेदकभाव आया, तेतै नष्ट होय गया। अैसैं वांछित भोग तौ भया ही नाही, तातैं ज्ञानी निःफल वांछा काहे कूं करै। मनोवांछित होय नाही, तव वांछा करनां, अज्ञान है॥ छ॥

अव इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ स्वागता॥

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्, वेद्यते न खलु काङ्क्षितमेव।
तेन काङ्क्षति न किञ्चन विद्वान्, सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति॥ १५॥

॥ अर्थ॥ वेद्यवेदकभाव हैं, ते कर्म के निमित्त तैं होय हैं, तातैं ते स्वभाव नाही, विभाव हैं। वहुरि चलायमान हैं, समय समय विनशैं हैं, तातैं वांछित भाव कूं नाही वेदिये है। तिस कारण करि विद्वान् ज्ञानी है सो किछू भी आगामी भोग नाही वांछै है॥ सर्व ही तैं अतिविरक्तभाव वैराग्य भाव कूं प्राप्त है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ अनुभवगोचर जे वेद्यवेदक विभाव, तिनि ही कै कालभेद है, तातैं मिलाप नाही, विधि मिलै नांही। तव आगामी वहुत काल संवंधी की वांछा, ज्ञानी काहे कूं करै॥ छ॥

उसका समाधान यह है कि वेद्य-वेदकभाव तो विभाव हैं, आत्मा के स्वभाव तो हैं नहीं; अतः वाञ्छित वेद्यभाव तो वेदकभाव के आने से पहले ही नष्ट हो जाता है? इसलिए इच्छित भोग तो होता ही नहीं; अतः **ज्ञानी, निष्फल इच्छा क्यों करे?** यदि मनोवाञ्छित [का वेदन] होता नहीं तो वाञ्छा करना अज्ञान है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

हम जिन्हें चाहें अरे! उनका, भोग हो सकता नहीं।
क्योंकि पल-पल प्रलय पावें, वेद्य-वेदकभाव सब॥
बस! इसलिए सबके प्रति, अति ही विरक्त रहें सदा।
चाहें न कुछ भी जगत् में, निजतत्त्वविद् विद्वानजन॥ १४७॥

अर्थ — वेद्य-वेदकभाव, कर्म के निमित्त से होने के कारण स्वभाव नहीं हैं, विभाव हैं, चलायमान हैं अर्थात् प्रतिसमय नष्ट हो जाते हैं; अतः ज्ञानी, वाञ्छित भाव का वेदन नहीं करते हैं। इसलिए ज्ञानी, विद्वान् आगामी भोग की कुछ भी वाञ्छा नहीं करते हैं। इस प्रकार ज्ञानी तो सर्व ही से अतिविरक्त वैराग्यभाव को प्राप्त है।

भावार्थ — अनुभवगोचर वेद्य-वेदक विभावों में कालभेद होने से उनका मिलाप नहीं होता

आगैं, अैसैं सर्व ही उपभोग तैं ज्ञानी कै वैराग्य है, सो ही कहै है॥

बंधुवभोगणिमित्ते, अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसारदेहविसएसु, णेव उप्पज्जए राओ ॥ २५॥

बन्धोपभोगनिमित्तेषु, अध्यवसानोदयेषु ज्ञानिनः।
संसारदेहविषयेषु, नैवोत्पद्यते रागः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ वंध के अर उपभोग के निमित्त जे अध्यवसान के उदय, ते संसारविषय अर देहविषय हैं, तिनि विषै ज्ञानी कै राग नाही उपजै है॥ छ॥

॥ टीका॥ इस लोक विषै निश्चय करि जे अध्यवसान के उदय हैं, ते केतेएक तौ संसारविषय हैं॥ वहुरि केतेएक शरीरविषय हैं॥ तहां जेते संसारविषय हैं, तेते तौ वंध के निमित्त हैं॥ वहुरि जेते शरीरविषय हैं, तेते उपभोग के निमित्त हैं॥

तहां जेते वंध के निमित्त हैं, तेते तौ राग द्वेष मोह आदिक हैं॥ वहुरि जेते उपभोग के निमित्त हैं, तेते सुख दुःख आदिक हैं॥

है, उनकी विधि नहीं मिलती है; इसलिए आगामी बहुत काल सम्बन्धी भोगों की वाञ्छा ज्ञानी क्यों करें?

अब कहते हैं कि ज्ञानी को ऐसे सर्व ही प्रकार के उपभोग के प्रति वैराग्य वर्तता है —

बंधुवभोगणिमित्ते, अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसारदेहविसएसु[1], णेव उप्पज्जदे रागो॥ २१७॥

संसार-तन सम्बन्ध में, बन्धोपभोग निमित्त जो।
उन सर्व अध्यवसान उदय में, राग होय न ज्ञानि को॥ २१७॥

अर्थ – बन्ध और उपभोग के निमित्त अध्यवसान के उदय हैं, वे संसारविषयक और देहविषयक हैं; अतः उनमें ज्ञानी को राग उत्पन्न नहीं होता है॥ २१७॥

टीका – इस लोक में निश्चय से जो अध्यवसान के उदय हैं, उनमें से कितने ही तो संसार से सम्बन्धित हैं और कितने ही शरीर से सम्बन्धित हैं। वहाँ जो संसार से सम्बन्धित हैं, वे तो बन्ध के निमित्त हैं और जो शरीर से सम्बन्धित हैं, वे उपभोग के निमित्त हैं।

वहाँ जितने अध्यवसान, बन्ध के निमित्त हैं, उतने तो राग-द्वेष-मोह आदि हैं और जितने अध्यवसान, उपभोग के निमित्त हैं, उतने सुख-दुःख आदि हैं।

---

१. *संसारदेहविसयेसु* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

अब कहै है जो इनि सर्व ही विषै ज्ञानी कै राग नाही है॥ जातैं अध्यवसान है सो नाना द्रव्य का स्वभाव है, तिसपणां करि तिस ज्ञानी कै एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव कै तिनिका प्रतिषेध है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ संसार देह भोग संबंधी राग द्वेष मोह, सुख दुःख आदिक अध्यवसान के उदय हैं, ते नाना द्रव्य जे पुद्गलद्रव्य तथा जीवद्रव्य, अैसैं संयोगरूप भये तिनिके स्वभाव हैं अर ज्ञानी का एक ज्ञायकस्वभाव है, तातैं ज्ञानी कै तिनि का प्रतिषेध है, तातैं ज्ञानी कै तिनि विषै राग प्रीति नाही है।

परद्रव्य परभाव संसार मैं भ्रमण के कारण हैं, तिनितैं प्रीति करै तौ ज्ञानी काहे का॥ छ॥

इस अर्थ का कलशरूप तथा अगिले कथन की सूचनिका का काव्य है॥

॥ स्वागता॥

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं, कर्म रागरसरिक्ततयैति।
रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे, स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह॥ १६॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी कै रागरूपी रस करि भी रिक्त है, रहित है, तिसपणां करि कर्म है सो ज्ञानी कै परिग्रहभाव[१] कूं नाही प्राप्त होय हैं॥ जैसैं लोद फिटकडी करि कसायला न कीया जो वस्त्र, ता

अब, यहाँ कहते हैं कि इन सबके प्रति ज्ञानी को राग नहीं है। अध्यवसान, नाना (संयोगरूप) द्रव्यों का स्वभाव है; इसलिए उस ज्ञानी के एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव में उनका निषेध है।

भावार्थ – संसार-देह-भोगसम्बन्धी राग-द्वेष-मोह, सुख-दुःख आदि अध्यवसान के उदय हैं, वे नाना द्रव्य अर्थात् पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य के संयोगरूप होने से उनके स्वभाव हैं और ज्ञानी का एक ज्ञायकस्वभाव है, इसलिए ज्ञानी में उनका प्रतिषेध (निषेध) है; ज्ञानी को उनके प्रति राग या प्रीति नहीं है।

परद्रव्य अर्थात् परभाव, संसार में भ्रमण के कारण हैं, उनसे [यदि ज्ञानी] प्रीति करे **तो वह ज्ञानी कैसा?**

अब, इस अर्थ का और आगे के कथन का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

जब तक कषायित ना करें, सर्वाङ्ग फिटकरि आदि से।
तब तलक सूती वस्त्र पर, सर्वाङ्ग रङ्ग चढ़ता नहीं॥
बस! उस तरह ही रागरस से, रिक्त सम्यग्ज्ञानिजन।
सब कर्म करते पर परिग्रह, भाव को ना प्राप्त हों॥ १४८॥

अर्थ – ज्ञानी, रागरूपी रस से शून्य है, रहित है; इसलिए कर्म, ज्ञानी के परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होते हैं। जैसे, कोई वस्त्र, लोद और फिटकरी से कषायला न किया हो तो उसमें रङ्ग का संयोग,

---

१. *सो परिग्रहभाव* - 'ब' प्रति पाठ

विषै रंग का लगना है सो अंगीकार न भया संता वाह्य ही लोटै है, वस्त्र मांही प्रवेश नाही करै है॥

॥ भावार्थ॥ जैसैं लोद फिटकडी लगायें विना वस्त्र कै रंग चढै नाही, तैसैं ज्ञानी कै रागभाव विना कर्म का उदय का भोगनां हैं सो परिग्रहपणां कूं नाही प्राप्त होय है॥ छ॥

फेरि कहै है।

॥ स्वागता॥

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्, सर्वरागरसवर्जनशीलः।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः, कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न॥ १७॥

॥ अर्थ॥ जातैं ज्ञानवान है सो अपनें निजरस ही तैं सर्व राग रस करि वर्जित स्वभाव है॥ तातैं कर्म कै मध्य पड्या है, तौऊ समस्त कर्म करि नाही लिपै है॥

आगैं, इस ही अर्थ का व्याख्यान गाथा मैं करै है॥ छ॥

णाणी रागप्पजहो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पइ रजएण दु, कद्दममज्झे जहा कणयं॥ २६॥

अङ्गीकार न होने से वह वस्त्र के बाहर ही लोटता है, वस्त्र में प्रवेश नहीं करता है।

भावार्थ – जिस प्रकार लोद और फिटकरी लगाये बिना वस्त्र पर रङ्ग चढ़ता नहीं है; उसी प्रकार ज्ञानी को रागभाव के बिना कर्म के उदय का भोग, परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता है।

पुनः कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

रागरस से रहित ज्ञानी, जीव इस भूलोक में।
कर्मस्थ हों पर कर्मरज से, लिप्त होते हैं नहीं॥ १४९॥

अर्थ – चूँकि जो ज्ञानवान् (ज्ञानी) है, वह अपने निजरस ही से सर्व राग-रस से विरुद्ध स्वभाववाला है; अतः कर्म के मध्य पड़ा होने पर भी वह समस्त कर्मों से लिप्त नहीं होता है [अर्थात् वह किसी भी कर्म से लिप्त नहीं होता है]।

अब, इसी अर्थ का व्याख्यान गाथाओं द्वारा करते हैं —

णाणी रागप्पजहो, सव्वदव्वेसु[1] कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु, कद्दममज्झे जहा कणयं॥ २१८॥

---

१. *हि सव्वदव्वेसु* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

अण्णाणी पुण रत्तो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु, कद्दममज्झे जहा लोहं॥ २७॥

॥ युगलं॥

ज्ञानी रागप्रहायः, सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
नो लिप्यते रजसा तु, कर्दममध्ये यथा कनकम्॥ छ॥
अज्ञानी पुनः रक्तः, सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
लिप्यते कर्मरजसा तु, कर्दममध्ये यथा लोहम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो ज्ञानी है सो सर्व द्रव्यनि विषै राग का छोडनेंवाला है॥ सो कर्म कै मध्यगत होय रह्या है, तौऊ कर्मरूपी रज करि नाही लिपै है॥ जैसें कद्दम कहिये कीच, तामैं पड्या सुवर्ण कै काई न लागै तैसैं॥ छ॥

वहुरि अज्ञानी है सो सर्व द्रव्यनि विषै रक्त है, रागी है, तातैं कर्म कै मध्यगत भया संता कर्मरज करि लिपै है॥ जैसैं कद्दम कीच मैं पड्या लोह कै काई लागै तैसैं॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसें निश्चय करि सुवर्ण है सो कद्दम कै वीचि पड्या है, तौऊ कद्दम करि लिपै नाही, सोनां कै काई लागै नाही॥ जातैं सुवर्ण का स्वभाव कद्दम का लेप न लागनें स्वरूप ही है।

अण्णाणी पुण रत्तो, सव्वदव्वेसु[२] कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु, कद्दममज्झे जहा लोहं॥ २१९॥

हो द्रव्य सब में रागवर्जक, ज्ञानि कर्मों मध्य में।
वह कर्मरज से लिप्त नहिं, ज्यों कनक कर्दम-मध्य में॥ २१८॥

पर द्रव्य सब में रागशील, अज्ञानि कर्मों मध्य में।
वह कर्मरज से लिप्त हो, ज्यों लोह कर्दम-मध्य में॥ २१९॥

अर्थ – ज्ञानी, सर्व द्रव्यों के प्रति राग को छोड़नेवाला है; वह कर्म के मध्य रहने पर भी कर्मरूपी रज से लिप्त नहीं होता है। जैसे, कर्दम अर्थात् कीचड़ में पड़े स्वर्ण में काई (जंग) नहीं लगती है॥ २१८॥

तथा अज्ञानी, सर्व परद्रव्यों में रत है, रागी है, अतः कर्म के मध्य रहता हुआ कर्मरज में लिप्त होता है। जैसे, कर्दम अर्थात् कीचड़ में पड़े लोहे में काई (जंग) लगती है॥ २१९॥

टीका – जिस प्रकार निश्चय से स्वर्ण, कीचड़ के बीच पड़ा हो तो भी कीचड़ से लिप्त नहीं

---

२. *हि सव्वदव्वेसु* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

तैसैं प्रगटपणैं ज्ञानी कर्म कै वीचि पड्या है, तौऊ कर्म करि लिपै नाही, जातैं ज्ञानी सर्व परद्रव्यगत राग का त्याग का स्वभावपणां कूं होतैं संतैं कर्म का लेपरूप स्वभाव नाही है॥

वहुरि जैसैं लोह है सो कर्दम मध्य पड्या हूवा कर्दम करि लिपै है, जातैं लोह का स्वभाव कर्दम तैं लिपनें ही रूप है॥

तैसैं प्रगटपणैं अज्ञानी है सो कर्म कै वीचि पड्या संता कर्म करि लिपै है॥ जातैं अज्ञानी सर्व परद्रव्य विषैं कीया जो राग, ताका उपादान स्वभाव होतैं संतैं तिस कर्म तैं लिपनें का स्वभावस्वरूप है॥

॥ भावार्थ॥ जैसैं कादा में पड्या सुवर्ण कै काई न लागै अर लोह कै कोई लागै।

तैसैं ज्ञानी कर्म कैं मध्यगत है, तौऊ कर्म तैं न वंधै अर अज्ञानी कर्म तैं वंधै॥ यह ज्ञान अज्ञान का माहात्म्य है॥ छ॥

अव, इस अर्थ का तथा अगिले कथन की सूचनिका का कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो, यस्य स्वभावो हि यः,
कर्तुं नैष कथञ्चनापि हि परै-रन्यादृशः शक्यते।

होता है अर्थात् सोने में काई नहीं लगती है क्योंकि स्वर्ण का स्वभाव कीचड़ से लिप्त होने का नहीं है।

उसी प्रकार प्रगटरूप से ज्ञानी, कर्मों के बीच पड़ा है तो भी कर्मों से लिप्त नहीं होता क्योंकि ज्ञानी, सर्व परद्रव्य के प्रति राग के त्यागरूप स्वभाववाला होता हुआ, कर्म से लिप्त होनेरूप स्वभाववाला नहीं है।

जिस प्रकार लोहा, कीचड़ के बीच पड़ा हुआ कीचड़ से लिप्त हो जाता है क्योंकि लोहे का स्वभाव कीचड़ से लिप्त होनेरूप ही है।

उसी प्रकार प्रगटरूप से अज्ञानी कर्मों के बीच पड़ा हुआ कर्मों से लिप्त होता है क्योंकि अज्ञानी सर्व, परद्रव्यों से राग करने के उपादान स्वभाववाला होने से, उन कर्मों से लिप्त होने के स्वभाववाला है।

भावार्थ – जिस प्रकार कीचड़ में पड़े स्वर्ण पर काई (जंग) नहीं लगती है और लोहे पर काई (जंग) लगती है।

उसी प्रकार ज्ञानी, कर्म के मध्य है तो भी कर्मों से बँधता नहीं है और अज्ञानी, कर्मों से बँधता है — यह ज्ञान और अज्ञान की महिमा है।

अब, इस अर्थ का एवं आगामी कथन की सूचना देनेवाला कलशरूप काव्य कहते हैं —

अज्ञानं न कदाचनाऽपि हि भवेज्ज्ञानं भवत्सन्ततं,
ज्ञानिन् भुङ्क्ष्व पराऽपराधजनितो, नास्तीह बन्धस्तव॥ १८॥

॥ अर्थ॥ जिस वस्तु का जैसा इस लोक मैं जो स्वभाव है, ताका तैसा ही स्वाधीनपणैं है॥ यह निश्चय है॥ सो तिस स्वभाव कूं अन्य कोऊ अन्य सारिषा कीया चाहै तौ कदाचित् हू अन्य सारिषा करि शकै नाही।

इस न्याय तैं ज्ञान है सो निरन्तर ज्ञानस्वरूप ही होय है, ज्ञान का अज्ञान कदाचित् भी न होय है, यह निश्चय है॥ तातैं हे ज्ञानी, तू कर्म के उदयजनित उपभोग कूं भोगि। तैरै पर कै अपराध करि उपज्या, अैसा इस लोक मैं वंध नाही है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ वस्तुस्वभाव कूं कोऊ पलटावनें कूं समर्थ नाही, तातैं ज्ञान भयें पीछैं, ताकूं अज्ञान करनें कूं कोई समर्थ नाही, यह निश्चयनय है। तातैं ज्ञानी कूं कह्या है जो तैरै पर के कीये अपराध तैं तौ वंध नाही है, तू उपभोग कूं भोगि, उपभोगनि के भोगनें की शंका मति करै। शंका करैगा तौ परद्रव्य तैं वुरा होनां माननें का प्रसंग आवैगा॥

अैसैं परद्रव्य तैं अपनां बुरा होनां माननें की शंका मेटी है। अैसा मति जानूं जो भोग भोगनें

॥ हरिगीतिका ॥

स्वयं ही हों परिणमित, स्वाधीन हैं सब वस्तुएँ।
अर अन्य के द्वारा कभी वे, नहीं बदली जा सकें॥
ज्यों परजनित अपराध से, बँधते नहीं जन जगत् में।
त्यों भोग भोगें किन्तु ज्ञानी-जन कभी बँधते नहीं॥ १५०॥

अर्थ – इस लोक में जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है, उसका [वह स्वभाव] वैसा ही स्वाधीनरूप से है – यह निश्चय है; अत: उस स्वभाव को अन्य कोई, दूसरे के स्वभाव जैसा करना चाहे तो वह कभी भी अन्य के समान नहीं कर सकता।

इस न्याय से ज्ञान निरन्तर ज्ञानस्वरूप ही रहता है; कभी भी वह ज्ञान, अज्ञानरूप नहीं होता है – यह निश्चय है; इसलिए हे ज्ञानी! तू कर्म के उदयजनित उपभोग को भोग, तुझे इस लोक में अन्य के अपराध से उत्पन्न बन्ध नहीं है।

भावार्थ – निश्चयनय से वस्तुस्वभाव को बदलने में कोई समर्थ नहीं है; अत: ज्ञान हो जाने के बाद उसे अज्ञानरूप करने में कोई भी समर्थ नहीं है। इसलिए यहाँ ज्ञानी को कहा है कि तुझे अन्य के द्वारा किये अपराध से तो बन्ध नहीं होता; अत: तू उपभोग को भोग, उपभोगों को भोगने में शङ्का मत कर। यदि तू शङ्का करेगा तो 'परद्रव्य के कारण बुरा होना' – ऐसा मानने का प्रसङ्ग आएगा।

इस प्रकार 'परद्रव्य से अपना बुरा होना' मानने की शङ्का का निवारण किया है। इससे ऐसा

की प्रेरणा करि स्वच्छन्द कीया है, स्वेच्छाचारी होनां तौ अज्ञानभाव है सो आगैं कहैंगे॥ छ॥

आगैं, इस ही अर्थ कूं दृष्टांत करि दृढ करै है॥

भुंजंतस्स वि विविहे, सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
संखस्स सेयभावो, ण वि सक्कइ किण्हगो काउं॥ २८॥
तह णाणिस्स वि विविहे, सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुंजंतस्स वि णाणं, ण सक्कमण्णाणदं णेदुं॥ २९॥
जइया स एव संखो, सेयसहावं तयं[१] पजहिऊण।
गच्छिज्ज किण्हभावं, तइया सुक्कत्तणं पजहे॥ ३०॥
तह णाणी वि हु जइया, णाणसहावं तयं पजहिऊण।
अण्णाणेण परिणदो, तइया अण्णाणदं गच्छे॥ ३१॥

॥ चतुष्कलं॥

नहीं जानना कि भोग, भोगने की प्रेरणा देकर स्वच्छन्द किया है क्योंकि स्वेच्छाचारी होना तो अज्ञानभाव है – ऐसा आगे कहेंगे।

अब, इसी अर्थ को दृष्टान्त के द्वारा दृढ़ करते हैं —

भुंजंतस्स वि विविहे, सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
संखस्स सेदभावो, ण वि सक्कदि किण्हगो कादुं॥ २२०॥
तह णाणिस्स वि विविहे, सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुंजंतस्स वि णाणं, ण सक्कमण्णाणदं णेदुं॥ २२१॥
जइया स एव संखो, सेदसहावं सयं[१] पजहिदूण।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे॥ २२२॥
तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं सयं[१] पजहिदूण।
अण्णाणेण णरिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे॥ २२३॥

---

१. *सयं* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

भुञ्जानस्याऽपि विविधानि, सचित्ताऽचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि।
शंखस्य श्वेतभावो, नाऽपि शक्यते कृष्णकः कर्त्तुम्॥ छ॥
तथा ज्ञानिनोऽपि विविधानि, सचित्ताऽचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि।
भुञ्जानस्याऽपि ज्ञानं, न शक्यमज्ञानतां नेतुम्॥ छ॥
यदा स एव शङ्खः, श्वेतस्वभावत्वं[१] प्रहाय।
गच्छेत् कृष्णभावं, तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात्॥ छ॥
तथा ज्ञान्यपि खलु यदा, ज्ञानस्वभावत्वं[२] प्रहाय।
अज्ञानेन परिणतस्तदाऽज्ञानतां गच्छेत्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं शंख का श्वेतस्वभाव है सो शंख सचित्त अचित्त मिश्रित, अनेक प्रकार द्रव्यनि कूं भक्षण करै है, तौऊ ताका श्वेतभाव कृष्ण करनें कूं समर्थ नाही हूजिये है॥ छ॥

तैसैं ज्ञानी भी अनेक प्रकार के सचित्त अचित्त मिश्र द्रव्यनि कूं भोगवै है, तौऊ ताका ज्ञान अज्ञानपणां कूं प्राप्त करनें कूं न समर्थ हूजिये है॥ छ॥

वहुरि जैसैं, सो ही शंख, जिस काल अपनें तिस श्वेतभाव कूं छोडि, कृष्णभाव कूं प्राप्त होय,

---

ज्यों शंख विविध सचित्त, मिश्र, अचित्त वस्तु भोगते।
पर शंख के शुक्लत्व को नहिं, कृष्ण कोई कर सके॥ २२०॥
त्यों ज्ञानी भी मिश्रित, सचित्त, अचित्त वस्तु भोगते।
पर ज्ञान ज्ञानी का नहीं, अज्ञान कोई कर सके॥ २२१॥
जब वह स्वयं ही शंख तज कर, स्वीय श्वेतस्वभाव को।
पावे स्वयं कृष्णत्व तब ही, छोड़ता शुक्लत्व को॥ २२२॥
त्यों ज्ञानी भी जब ही स्वयं, छोड़ निज ज्ञानस्वभाव को।
अज्ञानभावों परिणमे, अज्ञानता को प्राप्त हो॥ २२३॥

अर्थ – जिस प्रकार श्वेतस्वभावी शंख, अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों का भक्षण करता है तो भी उसके श्वेतभाव को काला करने में कोई समर्थ नहीं होता है॥ २२०॥

उसी प्रकार ज्ञानी भी, अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों को भोगता है तो भी उसका ज्ञान, अज्ञानपने को प्राप्त कराने में कोई समर्थ नहीं होता है॥ २२१॥

जिस प्रकार वही शंख, जिस समय अपने उस श्वेतस्वभाव को [स्वयमेव] छोड़ कर,

---

१. – २. *श्वेतस्वभावं तकं* – अगास, अहिंसामन्दिर एवं सोनगढ़ प्रकाशन पाठ / *श्वेतस्वभावत्वं* – तात्पर्यवृत्ति टीका पाठ

तव शुक्लपणां कूं छोडै॥ छ॥

तैसैं ज्ञानी भी अपनां तिस ज्ञानस्वभाव कूं जिस काल छोडि, अज्ञान करि परिणमैं, तिस काल अज्ञानता कूं प्राप्त होय॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं शंख परद्रव्य कूं भक्षण करता रहै है, ताका श्वेतभाव कूं पर करि कृष्णभावस्वरूप करनें कूं समर्थ न हूजिये है॥ जातैं पर कै परभावस्वरूप करनें का निमित्तपणां की अप्राप्ति है॥

तैसैं परद्रव्य कूं भोगवता जो ज्ञानी, ताका ज्ञान कूं अज्ञानतास्वरूप करनें कूं निश्चय करि पर करि नाही समर्थ हूजिये है॥ जातैं पर कै परभावस्वरूप करनें का निमित्तपणां की अप्राप्ति है॥ तातैं ज्ञानी कै पर के कीये अपराध के निमित्त तैं वंध नाही है॥

वहुरि जिस काल सो ही शंख परद्रव्य कूं भोगता संता होहु अथवा न भोगता संता होहु॥ अपनां श्वेतभाव कूं छोडि आप ही कृष्णभावरूप परिणमैं, तिस काल तिस शंख का श्वेतभाव अपनां ही कीया कृष्णभावस्वरूप होय॥

तैसैं ही सो ही ज्ञानी परद्रव्य कूं भोगता संता होहु तथा न भोगता संता होहु। जिस काल अपनां ज्ञान कूं छोडि स्वयमेव आप ही अज्ञान करि परिणमैं, तिस काल याका ज्ञान अपनां ही कीया निश्चय करि अज्ञानरूप होय है॥ तातैं ज्ञानी कै पर का कीया वंध नाही, आप ही अज्ञानी होय, तव अपनां अपराध के निमित्त तैं वंध होय है॥ छ॥

कृष्णभाव को प्राप्त होता है, तब शुक्लत्व को छोड़ देता है॥ २२२॥

उसी प्रकार ज्ञानी भी जिस काल अपने उस ज्ञानस्वभाव को [स्वयमेव] छोड़ कर, अज्ञानरूप परिणमन करता है, उस काल अज्ञानता को प्राप्त होता है॥ २२३॥

टीका – जिस प्रकार शंख, परद्रव्य का भक्षण करता रहता है लेकिन उसके श्वेतभाव को कोई परद्रव्य, कृष्णभावस्वरूप करने में समर्थ नहीं होता है क्योंकि परद्रव्य के द्वारा अन्य को परभावस्वरूप करने का निमित्तपना नहीं है।

उसी प्रकार परद्रव्य को भोगते हुए ज्ञानी को अज्ञानस्वरूप करने में निश्चय से कोई परद्रव्य समर्थ नहीं है क्योंकि परद्रव्य के द्वारा अन्य को परभावस्वरूप करने का निमित्तपना नहीं है; इसलिए ज्ञानी को परद्रव्य के द्वारा किये अपराध के निमित्त से बन्ध नहीं होता है।

लेकिन जब वही शंख, परद्रव्य को भोग रहा हो अथवा नहीं भोग रहा हो, यदि वह अपने श्वेतभाव को छोड़ कर, स्वयं ही कृष्णभावरूप परिणमता है; तब उस शंख का श्वेतभाव, स्वयं ही कृष्णभावस्वरूप होता है।

उसी प्रकार वही ज्ञानी, परद्रव्य को भोग रहा हो अथवा नहीं भोग रहा हो, जब वह अपने ज्ञान को छोड़ कर, स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमन करता है, तब उसका ज्ञान, स्वयं ही अपने द्वारा निश्चय से अज्ञानरूप होता है; इसलिए ज्ञानी को पर के द्वारा किया हुआ बन्ध नहीं होता है, बल्कि जब वह

॥ भावार्थ ॥ जैसैं शंख श्वेत है सो पर के भक्षणें तैं तौ काला होय नाही। जव आप ही कालिमारूप परिणमैं, तव काला होय।

तैसैं ही ज्ञानी उपभोग करता तौ अज्ञानी होय नाही। जव आप ही अज्ञानरूप परिणमै, तव अज्ञानी होय, तव वंध करै है॥ छ॥

याका कलशरूप काव्य है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं, किञ्चित्तथाप्युच्यते,
भुङ्क्षे हन्त न जातु मे यदि परं, दुर्भुक्त एवासि भोः।
बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत्, किं कामचारोऽस्ति ते,
ज्ञानं सन् वस बन्धमेष्यपरथा, स्वस्याऽपराधाद्ध्रुवम्॥ १९॥

॥ अर्थ ॥ ज्ञानी कूं संवोधै है जो हे ज्ञानी, तोकूं कर्म कदाचित् किछू भी करनां योग्य नाही है॥ तौऊ तू कहै जो परद्रव्य मेरा तौ कदाचित् भी नाही है अर मैं भोगऊं हौं तौ आचार्य कहै है, यह बड़ा खेद है। जो तेरा नाही, ताकूं तू भोगवै है, अैसैं तौ तू दुर्भुक्त है, षोटी खानेंवाला है॥

रे भाई, जो तू कहै परद्रव्य के उपभोग तैं वंध न होय है, अैसैं कह्या है, तातैं भोगऊं हौं तौ तहां

स्वयं ही अज्ञानी होता है तो उसे अपने अपराध के निमित्त से बन्ध होता है।

भावार्थ – जिस प्रकार श्वेत शंख, पर के भक्षण से तो काला होता नहीं है, जब वह स्वयं ही कालिमारूप परिणमता है, तब काला होता है।

उसी प्रकार ज्ञानी, उपभोग करता हुआ तो अज्ञानी होता नहीं, जब स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमन करता है, तब अज्ञानी होता है और तब ही बन्ध करता है।

अब, इसका कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

कर्म करना ज्ञानियों को, उचित हो सकता नहीं।
फिर भी भोगासक्त जो, दुर्भुक्त ही वह जानिए॥
हो भोगने से बन्ध ना, पर भोगने के भाव से।
तो बन्ध है बस! इसलिए, निज आतमा में रत रहो॥ १५१॥

अर्थ – यहाँ ज्ञानी को सम्बोधन करते हैं कि हे ज्ञानी! तुझे कभी भी कुछ भी कर्म करना योग्य नहीं है। फिर भी यदि तू कहता है कि 'यद्यपि परद्रव्य मेरा तो कभी भी नहीं है, तथापि मैं उसे भोगता हूँ' तो आचार्य कहते हैं कि 'यह बड़े खेद की बात है कि जो तेरा नहीं है, उसे तू भोगता है' – इस प्रकार तू दुर्भुक्त है अर्थात् झूठा (खोटा) खानेवाला है।

तैरै कहा कामचार है, भोगनें की इच्छा है॥

तू ज्ञानरूप हूवा संता अपनें स्वरूप मैं निवास करै तो वंध नाही है अर भोगनें की इच्छा करैगा तौ तू आप अपराधी भया, तव अपनें अपराध तैं नियम करि वंध कूं प्राप्त होयगा॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञानी कूं कर्म तौ करनां ही उचित नाही है अर जो परद्रव्य जानि करि भी ताकूं भोगवै तो यह तौ योग्य नाही, परद्रव्य का भोगनेंवाला कूं तौ लोक मैं चोर अन्यायी कहैं हैं॥ वहुरि उपभोग तैं वंध न कह्या है सो तौ ज्ञानी, विना इच्छा पर की वरजोरी तैं उदय आया कूं भोगवै, ताकै वंध न कह्या है अर जो आप इच्छा करि भोगवैगा तो आप अपराधी भया, तव वंध क्यों न होयगा॥ छ॥

आगैं, फेरि इस ही अर्थ दृढ करनें कूं काव्य है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्, कर्मैव नो[१] योजयेत्,
कुर्वाणं फललिप्सुरेव हि फलं, प्राप्नोति यत्कर्मणः।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो, नो बध्यते कर्मणा,
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरि-त्यागैकशीलो मुनिः॥ २०॥

हे भाई! यदि तू कहता है कि 'परद्रव्य के उपभोग से बन्ध नहीं होता है' – ऐसा [शास्त्र में] कहा गया है, इसलिए 'मैं भोगता हूँ' तो [हम पूछते हैं कि] **वहाँ तुझे क्या विषयाभिलाषा या भोगने की इच्छा है?** —

अथवा यदि तू ज्ञानरूप होता हुआ अपने स्वरूप में निवास करता है तो तुझे बन्ध नहीं है लेकिन यदि तुझे भोगने की इच्छा है तो तू स्वयं अपराधी हुआ, तब तू अपने अपराध के कारण नियम से बन्ध को प्राप्त होगा।

भावार्थ – ज्ञानी को कर्म तो करना ही उचित नहीं है और यदि उसे परद्रव्य जान कर भी भोगता है तो यह भी उचित नहीं है। परद्रव्य के भोगनेवाले को तो लोक में चोर या अन्यायी कहते हैं। तथा जो उपभोग से बन्ध नहीं होना कहा है, वह तो यदि ज्ञानी, बिना इच्छा के पर (कर्म आदि) की बलजबरी से उदयागत कर्म को भोगता है तो उसे बन्ध नहीं कहा है, लेकिन यदि स्वयं इच्छा करके भोगेगा तो स्वयं अपराधी हुआ, **तब बन्ध क्यों नहीं होगा?** [अर्थात् अवश्य होगा]।

अब, पुनः इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

'तू भोग मुझको', ना कहे, यह कर्म निज करतार को।
फलाभिलाषी जीव ही नित, कर्मफल को भोगता॥

---

१. *ना* – 'अ' 'ब' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ निश्चय करि यह जानूं जो कर्म है सो अपनें करनेंवाले कर्त्ता कूं अपनां फल करि वरजोरी तैं तौ नाही जोडै है, सो मेरा फल कूं तू भोगि॥ जो कर्म कूं करता संता तिसका फल का इच्छक हूवा करै है सो ही तिस कर्म का फल पावै है॥ तातैं ज्ञानरूप हूवा संता कर्म विषै दूरि भया है, राग की रचना जाकै, अैसा मुनि है सो कर्म कूं करता संता भी कर्म करि नाही वंधै है।

जातैं कैसा है यह मुनि। तिस कर्म के फल का परित्यागरूप ही है एक स्वभाव जाका।

॥ भावार्थ ॥ कर्म तौ कर्त्ता कूं जवरी तैं अपनां फल तैं जोडै नाही अर जो कर्म कूं करता संता, ताका फल की इच्छा करै सो ही ताका फल पावै है॥ तातैं जो ज्ञानी ज्ञानरूप हूवा प्रवर्तै अर कर्म के करनें विषै राग न करै अर तिसके फल की आगामी इच्छा न करै सो मुनि कर्म करि वंधै नाही है॥ छ॥

आगैं, इस अर्थ कूं दृष्टांत करि दृढ करै है॥

पुरिसो जह को वि इहं[१], वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं।
तो सो वि देइ राया, विविहे भोए[२] सुहुप्पाए॥ ३२॥

फलाभिलाषा-विरत मुनिजन, ज्ञानमय वर्तन करें।
सब कर्म करते हुए भी, वे कर्मबन्धन ना करें॥ १५२॥

अर्थ – निश्चय से यह जानना चाहिए कि कर्म, अपने करनेवाले कर्ता को, अपने फल से बलपूर्वक तो जोड़ता नहीं है कि 'मेरे फल को तू भोग'। जो कर्म को करता हुआ उसके फल का इच्छुक होता है, वही उस कर्म का फल पाता है; अत: जो मुनि ज्ञानरूप होता हुआ कर्म के प्रति होनेवाली राग की रचना दूर करता है, वह कर्म को करता हुआ भी कर्म से बँधता नहीं है।

कैसा है वह मुनि? – उस कर्म के फल के परित्यागरूप ही जिसका एक स्वभाव है।

भावार्थ – कर्म तो कर्ता को बलपूर्वक अपने फल से जोड़ता नहीं है परन्तु जो कर्म को करता हुआ उसके फल की इच्छा करता है, वही उसके फल को प्राप्त करता है; अत: जो ज्ञानी ज्ञानरूप होकर प्रवर्तित होता है, कर्म करने में राग नहीं करता है और उसके आगामी फल की इच्छा नहीं करता है, वह मुनि कर्म से बँधता नहीं है।

अब, इस अर्थ को दृष्टान्तपूर्वक दृढ़ करते हैं —

पुरिसो जह को वि इहं, वित्तिणिमित्तं तु सेवदे रायं।
तो सो वि देदि राया, विविहे भोगे सुहुप्पाए[३]॥ २२४॥

---

१. *इह* – अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ
२. *भोगे* – 'अ' 'ब' प्रति पाठ
३. *सुहुप्पादे* – कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

एमेव जीवपुरिसो, कम्मरयं सेवए सुहणिमित्तं।
तो सो वि देइ कम्मो, विविहे भोए सुहुप्पाए॥ ३३॥
जह पुण सो च्चिय पुरिसो, वित्तिणिमित्तं ण सेवए रायं।
तो सो ण देइ राया, विविहे भोए सुहुप्पाए॥ ३४॥
एमेव सम्मदिट्ठी, विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं।
तो सो ण देइ कम्मो, विविहे भोए सुहुप्पाए॥ ३५॥

॥ चतुष्कलं॥

पुरुषो यथा कोऽपीह, वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानम्।
तत्सोऽपि ददाति राजा, विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्॥ छ॥
एवमेव जीवपुरुषः, कर्मरजः सेवते सुखनिमित्तम्।
तत्तदपि ददाति कर्म, विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्॥ छ॥
यथा पुनः स एव पुरुषो, वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानम्।
तत्सोऽपि न ददाति राजा, विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्॥ छ॥

एमेव जीवपुरिसो, कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सो वि देदि कम्मो, विविहे भोगे सुहुप्पाए[1]॥ २२५॥
जह पुण सो च्चिय पुरिसो, वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देदि राया, विविहे भोगे सुहुप्पाए[2]॥ २२६॥
एमेव सम्मदिट्ठी, विसयत्थं सेवदे ण कम्मरयं।
तो सो ण देदि कम्मो, विविहे भोगे सुहुप्पाए[3]॥ २२७॥

ज्यों जगत् में इक पुरुष, वृत्ति-निमित्त सेवे भूप को।
तो भूप भी सुखजनक विध-विध, भोग देवे पुरुष को॥ २२४॥
त्यों जीव भी रज-कर्म का, सुख के लिए सेवन करे।
तो कर्म भी सुखजनक विध-विध, भोग देवे जीव को॥ २२५॥

१-३. *सुहुप्पादे* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ।

एवमेव सम्यग्दृष्टिः, विषयार्थं सेवते न कर्मरजः।
तत्तन्न ददाति कर्म, विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसें इस लोक मैं कोई पुरुष, आजीविका निमित्त राजा कूं सेवै। तौ सो राजा भी ताकूं सुख के उपजावनहारे अनेक प्रकार के भोगनि कूं दे है॥ छ॥

अैसें ही जीव नामा पुरुष, सुख के निमित्त कर्मरूप रज कूं सेवै। तौ सो कर्म भी ताकूं सुख के उपजावनहारे अनेक प्रकार के भोग दे है॥ छ।

वहुरि जैसैं सो ही पुरुष, आजीविका निमित्त राजा कूं न सेवै॥ तौ सो राजा भी ताकूं सुख के उपजावनहारे अनेक प्रकार के भोग नाही दे है॥ छ॥

अैसैं ही सम्यग्दृष्टी है सो कर्मरूप रज कूं विषयनि कै अर्थि नाही सेवै है॥ तौ सो कर्म भी ताकूं सुख के उपजावनहारे नाना प्रकार के भोग नाही दे है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं कोई पुरुष, फल के अर्थि राजा कूं सेवै है॥ तातैं सो राजा, ताकूं फल दे है॥ तैसैं जीव है सो फल कै अर्थि कर्म कूं सेवै है॥ तातैं सो कर्म, ताकूं फल दे है॥

वहुरि जैसैं सो ही पुरुष, फल कै अर्थि राजा कूं नाही सेवै है॥ तातैं सो राजा, ताकूं फल नाही

जब नर वही निजवृत्ति हित, भूप को सेवे नहीं।
तो भूप भी सुखजनक विध-विध, भोग को देवे नहीं॥ २२६॥
सद्दृष्टि भी त्यों विषय हेतु, कर्मरज सेवे नहीं।
तो कर्म भी सुखजनक विध-विध, भोग को देता नहीं॥ २२७॥

अर्थ – जिस प्रकार इस लोक में कोई पुरुष, आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है तो वह राजा भी उसे सुख उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकार के भोग देता है॥ २२४॥

इसी प्रकार जीव नामक पुरुष, सुख के लिए कर्मरूपी रज की सेवा करता है तो वह कर्म भी उसे सुख उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकार के भोग देता है॥ २२५॥

तथा, जिस प्रकार वही पुरुष, आजीविका के लिए राजा की सेवा नहीं करता है तो वह राजा भी उसे सुख को उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकार के भोग नहीं देता है॥ २२६॥

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि, विषयों के लिए कर्मरूपी रज का सेवन नहीं करता है तो वह कर्म भी उसे सुख को उत्पन्न करनेवाले नाना प्रकार के भोग नहीं देता है॥ २२७॥

टीका – जिस प्रकार कोई पुरुष, फल के लिए राजा की सेवा करता है तो उससे वह राजा, उसे फल देता है; उसी प्रकार जीव, फल के लिए कर्म की सेवा करता है तो उससे वह कर्म, उसे फल देता है।

तथा, जिस प्रकार वही पुरुष, फल के लिए राजा की सेवा नहीं करता है तो उससे वह राजा,

दे है॥ तैसें सम्यग्दृष्टी फल कै अर्थि कर्म कूं नाही सेवै है॥ तातैं सो कर्म, ताकूं फल नाही दे है॥ अैसा तात्पर्य है॥

॥ भावार्थ॥ फल की वांछा करि कर्म करै, ताका फल पावै॥ वांछा विना कर्म करै, ताका फल न पावै॥ छ॥

अव, इहां आशंका उपजै है जो फल की वांछा विना कर्म काहे कूं करै, अैसी आशंका दूरि करनें कूं काव्य कहै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते, नेति प्रतीमो वयं,
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरम-ज्ञानस्वभावे स्थितो,
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते, कर्मेति जानाति कः॥ २१॥

॥ अर्थ॥ जानैं कर्म का फल तौ छोड्या अर कर्म कूं करै है, यह तौ हम नाही प्रतीतिरूप करैं हैं॥ परंतु यामैं किछू विशेष है॥ जो या ज्ञानी कै भी कोई कारण तैं किछू सो कर्म, याके वश विनां आय पडै है॥ ताकूं आय पडतैं संतैं भी यह ज्ञानी, निश्चल परम ज्ञानस्वभाव कै विषै तिष्ठ्या किछू कर्म करै है कि नाही करै है, यह कौंन जानैं॥

उसे फल नहीं देता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि, फल के लिए कर्म की सेवा नहीं करता है तो उससे वह कर्म, उसे फल नहीं देता है - ऐसा तात्पर्य है।

भावार्थ – यदि कोई व्यक्ति, फल की वाञ्छापूर्वक कर्म करता है तो वह उसका फल प्राप्त करता है। यदि वह वाञ्छा के बिना कर्म करता है तो वह उसका फल प्राप्त नहीं करता है।

अब, यहाँ आशङ्का उत्पन्न होती है कि फल की वाञ्छा के बिना, वह कर्म क्यों करता है? – ऐसी आशङ्का दूर करने के लिए काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

जिसे फल की चाह ना, वह करे – यह जँचता नहीं।
यदि विवशता वश आ पड़े तो, बात ही कुछ और है॥
अकम्प ज्ञानस्वभाव में थिर, रहें जो वे ज्ञानिजन।
कर्म करते या नहीं – यह कौन जाने विज्ञजन॥ १५३॥

अर्थ – जिसने कर्म का फल तो छोड़ दिया हो और कर्म करता हो, इसकी प्रतीति तो हम नहीं करते परन्तु इसमें इतना विशेष है कि इस ज्ञानी को भी किसी कारण से कुछ कर्म, इसके वश बिना ही आ जाते हैं, उनके आने पर भी यह ज्ञानी, निश्चल परम ज्ञानस्वभाव में स्थित रह कर, कुछ कर्म करता है या नहीं – **यह कौन जाने?**

॥ भावार्थ ॥ ज्ञानी कै परवश तैं कर्म आय पडै है, ता विषै भी ज्ञानी ज्ञान तैं चलायमान न होय है। तहां यह ज्ञानी है सो न जानिये कर्म करै है कि नाही करै है।

यह कोंन जानैं। ज्ञानी की ज्ञानी ही जानैं, अज्ञानी का ज्ञानी के परिणाम कूं जाननें कूं वल नाही। इहां अैसा जाननां जो ज्ञानी कहने तैं अविरत सम्यक्दृष्टी तैं लगाय उपरि के सर्व ही ज्ञानी हैं, तहां अविरत सम्यग्दृष्टी तथा देशविरत तथा आहार विहार करते मुनि, तिनिकै वाह्य क्रियाकर्म प्रवर्त्तै है, तौऊ अंतरंग मिथ्यात्व के अभाव तैं तथा यथासंभव कषाय के अभाव तैं उज्ज्वल[१] हैं। तातैं तिनिकी उजलाई कूं ते ही जानैं हैं। मिथ्यादृष्टी तिनिकी उजलाई कूं जानैं नाही। मिथ्यादृष्टी तौ वहिरात्मा है, वाह्य ही तैं भला वुरा मानैं है। अंतरात्मा की गति मिथ्यादृष्टी कहा जानैं॥ छ॥

आगैं, इस ही अर्थ के समर्थनरूप कहै है जो ज्ञानी कै निःशंकित नामा गुण होय है, ताकी सूचनिकारूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥[२]

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं, कर्तुं क्षमन्ते परं,
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया, शङ्का विहाय स्वयं,
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं, बोधाच्च्यवन्ते न हि॥ २२॥

भावार्थ – यद्यपि ज्ञानी को परवशता से कर्म आ जाते हैं तथापि वह ज्ञानी, ज्ञान से चलायमान नहीं होता है। वहाँ यह ज्ञानी कर्म करता है या नहीं, हम नहीं जानते।

तो यह कौन जानता है? – ज्ञानी की ज्ञानी ही जानें; अज्ञानी में ज्ञानी के परिणामों को जानने की शक्ति नहीं है। यहाँ, ऐसा जानना चाहिए कि ज्ञानी कहने से अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर ऊपर के (गुणस्थानवाले) सभी ज्ञानी आ जाते हैं। वहाँ, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और आहार-विहार करते हुए मुनियों के बाह्य क्रियाकर्म होते हैं, फिर भी वे अन्तरङ्ग में मिथ्यात्व और यथासम्भव कषाय के अभाव के कारण उज्ज्वल हैं; अतः उनकी उज्ज्वलता को वे ही जानते हैं, मिथ्यादृष्टि, उनकी उज्ज्वलता को नहीं जानते हैं क्योंकि मिथ्यादृष्टि तो बहिरात्मा है, वह बाह्य [क्रियाकलाप] ही से भला-बुरा मानते हैं। अन्तरात्मा [सम्यग्दृष्टि] की गति (परिणति) को मिथ्यादृष्टि [बहिरात्मा] कैसे जान सकता है?

अब, इसी अर्थ के समर्थन में कहते हैं कि ज्ञानी के निःशङ्कित नाम का गुण होता है, उसकी सूचनारूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

वज्र का हो पात जो, त्रैलोक्य को विह्वल करे।
फिर भी अरे! अतिसाहसी, सद्दृष्टिजन निश्चल रहें॥

---

१. *उज्जल* - 'ब' प्रति पाठ

२. आगे, कलश २३-२८ का ॥ शार्दूलविक्रीडित॥ छन्द है।

॥ अर्थ ॥ यह सांहस केवल एक सम्यग्दृष्टी हैं, ते ही करनें कूं समर्थ हैं ॥ जो भय करि चलायमान भया जो तीन लोक का जन, तिनिनैं छोड्या है अपनां मार्ग जा करि, अैसा वज्रपात पडतैं संतैं भी अपनें ज्ञान तैं नाही चलायमान होय हैं ॥

कैसे हैं सम्यग्दृष्टी। स्वभाव ही करि निर्भयपणां तैं सर्व ही शंका छोडि करि, अपनां आत्मा कूं अैसा जानैं हैं जो नाही वाध्या जाय है ज्ञानरूप शरीर जाका, अैसा आप ही करि जानते संते प्रवर्त्तैं हैं ॥

॥ भावार्थ ॥ सम्यग्दृष्टी, निःशंकित गुणसहित होय है ॥ सो अैसा वज्रपात पडै जो जाके भय करि तीन लोक के जन मार्ग छोडि दे, तौऊ सम्यग्दृष्टी, अपनां स्वरूप कूं निर्वाध ज्ञानशरीरमात्र मानता[१] ज्ञान तैं चलायमान न होय हैं, अैसी शंका नाही ल्यावैं हैं जो इस वज्रपात तैं मेरा विनाश होयगा, पर्याय विनशै तौ याका विनाशीक स्वभाव ही है ॥ छ ॥

आगैं, इस अर्थ कूं गाथा करि कहै है ॥ छ ॥

सम्मादिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥ ३६ ॥

निश्चल रहें निर्भय रहें, निःशङ्क निज में ही रहें।
निःसर्ग ही निजबोधवपु, निजबोध से अच्युत रहें ॥ १५४ ॥

अर्थ – ऐसा साहस, केवल एक सम्यग्दृष्टि ही करने में समर्थ हैं क्योंकि जिसके भय से तीन लोक के जीव विचलित होकर अपना मार्ग छोड़ देते हैं – ऐसा वज्रपात होने पर भी, वे अपने ज्ञान से चलायमान नहीं होते हैं।

कैसे हैं सम्यग्दृष्टि? – स्वभाव से ही निर्भयपने के कारण सर्व ही शङ्काओं को छोड़ कर, अपनी आत्मा को ऐसा जानते हैं कि वह किसी से मारा नहीं जा सके – ऐसे ज्ञानरूप शरीरवाला है, इस प्रकार [आत्मा को] स्वयं ही से जानते हुए प्रवर्तते हैं।

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि, निःशङ्कित गुणसहित होता है, इसलिए भले ही ऐसा वज्रपात हो कि जिसके भय से तीन लोक के जीव मार्ग छोड़ दें तो भी सम्यग्दृष्टि, अपने स्वरूप को निर्बाध ज्ञानशरीरमात्र मानता हुआ, ज्ञान से चलायमान नहीं होता है अर्थात् वह ऐसी शङ्का मन में नहीं लाता है कि इस वज्रपात से मेरा विनाश हो जाएगा। यद्यपि पर्याय का विनाश होता है, तथापि उसका तो विनाशीक स्वभाव ही है।

अब, इस अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं —

सम्मादिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तयभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥ २२८ ॥

---

१. *मानते* – 'अ' प्रति पाठ

सम्यग्दृष्टयो जीवा, निश्शङ्का[१] भवन्ति निर्भयास्तेन।
सप्तभयविप्रमुक्ता, यस्मात्तस्मात्तु निश्शङ्काः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ सम्यग्दृष्टी जीव हैं, ते निश्शंक[२] होय हैं, तिस कारण करि निर्भय होय हैं॥ जातैं सप्त भय करि रहित होय हैं, तातैं निश्शंक[३] होय हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ जा कारण करि सम्यग्दृष्टी हैं, ते नित्य ही समस्त कर्म के फल की अभिलाषा तैं रहित भये संते, कर्म की अपेक्षा तैं सर्वथा रहितपणां करि वर्तैं हैं॥ ता कारण करि निश्चय तैं अत्यंत निश्शंक[४] दारुण उत्कट तीव्र निश्चयरूप दृढ आशयरूप भये संते अत्यंत निर्भय हैं। ऐसैं संभावना कीजिये हैं॥ छ॥

अब, सप्त भय के कलशरूप काव्य कहै है॥ तहां इसलोक का अर परलोक का, ए दोय भय हैं, ताकी एक काव्य है॥

लोकः शाश्वत एक एष सकल-व्यक्तो विविक्तात्मनः,
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं, यल्लोकयत्येकक:[५]।

सद्दृष्टि जीव निःशङ्क होते, इसी से निर्भय रहें।
हैं सप्त भय से मुक्त वे, इसलिए वे निःशङ्क हैं॥ २२८॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टि जीव, निःशङ्क होते हैं, उस कारण निर्भय होते हैं और क्योंकि सप्त भय से रहित होते हैं, इसलिए निःशङ्क होते हैं॥ २२८॥

टीका – जिस कारण सम्यग्दृष्टि, सदैव समस्त कर्मों के फल की अभिलाषा से रहित होते हुए, कर्मों की अपेक्षा से सर्वथा रहित होकर प्रवर्तते हैं, उस कारण निश्चय से अत्यन्त निःशङ्क, दारुण, उत्कृष्ट तीव्र निश्चयरूप अर्थात् दृढ़ आशयरूप होते हुए अत्यन्त निर्भय होते हैं। इस प्रकार सम्भावना करते हैं [विचार करते हैं]।

अब, सप्त भय के कलशरूप काव्य कहते हैं, उनमें से इहलोक और परलोक – इन दो भयों का एक काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

इहलोक अरु परलोक से, मेरा न कुछ सम्बन्ध है।
अरु भिन्न पर से एक यह, चिल्लोक ही मम लोक है॥
जब जानते यह ज्ञानिजन, तब होंय क्यों भयभीत वे?।
वे तो सतत निःशङ्क हो, निजज्ञान का अनुभव करें॥ १५५॥

---

१. *निःशंका* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ २-४. *निस्संक* - 'अ' प्रति पाठ
५. *यं लोकयत्येकक:* - 'अ' 'ब' प्रति, अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ

लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो,
निश्शङ्कः[१] सततं स्वयं स सहजं, ज्ञानं सदा विन्दति॥ २३॥

॥ अर्थ॥ यह भिन्न आत्मा का चैतन्यस्वरूप लोक है, सो शाश्वता है, एक है, सकल जीवनि कै प्रगट है, जाकूं यह ज्ञानी आत्मा ही स्वयमेव एकाकी केवल अवलोकन करै है।

तहां ज्ञानी, अैसा विचारै है जो यह चैतन्यलोक है सो तेरा है। वहुरि तिसतैं अन्य लोक है सो परलोक है, तेरा नाही। अैसें विचारता ज्ञानी कै तिस इसलोक अर परलोक का भय काहे तैं होय, नाही होय, तातैं सो ज्ञानी है सो निश्शंक[२] भया संता निरंतर आप कूं स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप अनुभवै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जो इस भव मैं लोकनि का डर होय जो यह लोक मेरा न जानिये कहा विगाड करैगा सो अैसा तो इहलोक का भय है। वहुरि परभव में न जानिये कहा होगा, अैसैं भय रहै सो परलोक का भय है। सो ज्ञानी अैसैं जानै है जो मेरा लोक तौ चैतन्यस्वरूपमात्र एक नित्य है, यह सर्व कै प्रगट है। वहुरि इस लोक सिवाय है सो परलोक है, सो मेरा लोक तौ काहू का विगाड्या विगडै नाही। अैसैं विचारता ज्ञानी आपा कूं स्वाभाविक ज्ञानरूप अनुभवै, ताकै इसलोक परलोक का भय काहे तैं होय, कदाचित् न होय॥ छ॥

अव, वेदना का भय का काव्य है॥

एषैकैव हि वेदना यदचलं, ज्ञानं स्वयं वेद्यते,
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदाऽनाकुलैः।

अर्थ – यह भिन्न आत्मा का चैतन्यस्वरूप लोक है; वह शाश्वत है, एक है और सब जीवों में प्रगट है; जिसको केवल यह ज्ञानी आत्मा ही, स्वयं अकेला अवलोकन करता है।

वहाँ ज्ञानी आत्मा, ऐसा विचार करता है कि यह चैतन्यलोक ही तेरा [लोक] है, इससे अन्य लोक परलोक है, तेरा नहीं है; इस प्रकार विचार करते हुए ज्ञानी को **इसलोक और परलोक का भय क्यों हो?** अर्थात् नहीं होता है; अतः वह ज्ञानी निःशङ्क होता हुआ, निरन्तर अपने को स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप अनुभव करता है।

भावार्थ – इस भव में लोगों का डर होता है कि 'यह लोक, न जाने मेरा क्या बिगाड़ करेगा?' – ऐसा तो इहलोक का भय है और 'परभव में न जाने क्या होगा?' – ऐसा परलोक का भय है; अतः ज्ञानी ऐसा जानता है कि मेरा लोक तो एक चैतन्यस्वरूपमात्र नित्य है, यह सबको प्रगट है, इस लोक के अलावा परलोक है; अतः मेरा लोक तो किसी के बिगाड़ने से बिगड़ता नहीं है – ऐसा विचार करता हुआ ज्ञानी, अपने को स्वाभाविक ज्ञानरूप अनुभव करता है; इसलिए उसको **इसलोक और परलोक का भय कैसे हो सकता है?** अर्थात् कभी भी नहीं होता है।

अब, वेदनाभय का काव्य कहते हैं —

---

१. *निःशंकः* – 'अ' 'ब' प्रति पाठ / *निश्शंक* – अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ २. *निस्संक* – 'अ' प्रति पाठ

नैवाऽन्याऽगतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं, ज्ञानं सदा विन्दति॥ २४॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी पुरुषनि कै याही एक वेदनां है जो निराकुल होय करि अपनां एक ज्ञानस्वरूप कूं, आप अपनां ज्ञानभाव ही तैं वेदनें योग्य अर आप ही वेदनेंवाला, अैसैं अभेदस्वरूप वेद्यवेदकभाव के वल तैं, निरंतर निश्चल वेदिये है, अनुभवन कीजिये है॥ वहुरि ज्ञानी कै अन्य तैं आई, अैसी वेदनां ही नाही है, तातैं तिसकै तिस वेदनां का भय काहे तैं होय, नाही होय॥ यातैं ज्ञानी निःशंक भया संता, अपनां स्वाभाविक ज्ञानभाव कूं सदा निरंतर अनुभवै है॥

॥ भावार्थ॥ वेदना नाम सुखदुःख का भोगनें का है सो ज्ञानी कै एक अपनां ज्ञानमात्र स्वरूप का भोगनां है। यह अन्य करि आई कूं वेदना ही नाही जानैं है, तातैं अन्यागत वेदना का भय नाही है, तातैं सदा निर्भय भया ज्ञान का अनुभवन करै है॥ छ॥

अव, अरक्षा का भय का काव्य है॥

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं, व्यक्तेति वस्तुस्थितिः,
ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्याऽपरैः।

॥ हरिगीतिका ॥

बस! एक ज्ञान अभेद में ही, वेद्य-वेदकभाव हो।
अतएव ज्ञानी नित्य ही, निजज्ञान का अनुभव करें॥
अन्य वेदना कोई नहीं, तब होंय क्यों भयभीत वे?।
वे तो सतत निःशङ्क हो, निजज्ञान का अनुभव करें॥ १५६॥

अर्थ – ज्ञानी पुरुषों को यही एक वेदना रहती है कि वे निराकुल होकर अपने एक ज्ञानस्वरूप को, अपने ज्ञानभाव ही से स्वयं वेदने योग्य और स्वयं ही वेदन करनेवाला – ऐसे अभेदस्वरूप वेद्य-वेदकभाव के बल से, [अपने को] निरन्तर निश्चल वेदते हैं, अनुभवन करते हैं। ज्ञानी को अन्य किसी प्रकार की कोई वेदना ही नहीं है; अतः **उसको उस वेदना का भय क्यों हो?** अर्थात् नहीं होता है; इसलिए ज्ञानी निःशङ्क होता हुआ, अपने स्वाभाविक ज्ञानभाव का निरन्तर अनुभव करता है।

भावार्थ – वेदना, सुख-दुःख के भोगने का नाम है और ज्ञानी, केवल एक अपने ज्ञानमात्रस्वरूप को भोगता है, वह अन्य के द्वारा होनेवाली वेदना को वेदना ही नहीं जानता है; अतः उसे अन्य के द्वारा होनेवाली वेदना का भय नहीं है; इसलिए ज्ञानी सदा निर्भय रहता हुआ ज्ञान का अनुभवन करता है।

अब, अरक्षाभय का काव्य कहते हैं —

अस्याऽत्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं, ज्ञानं सदा विन्दति॥ २५॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी अैसा विचारै है जो सत्स्वरूप वस्तु है सो नाश कूं प्राप्त नाही होय है, यह नियम तैं वस्तु की मर्यादा है॥ वहुरि ज्ञान है सो आप सत्स्वरूप वस्तु है, ताका निश्चय करि अन्य करि कहा राष्या, तातैं तिस ज्ञान कै अरक्षा करनें स्वरूप किछू भी नाही है। तातैं तिस अरक्षा का भय ज्ञानी कै काहे तैं होय, नाही होय है। ज्ञानी तौ अपनां स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप कूं निःशंक भया संता सदा आप अनुभवै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञानी, अैसैं जानैं है सो सत्तारूप वस्तु का कदाचित् नाश नाही अर ज्ञान आप सत्तास्वरूप है सो याकै किछू अैसा नाही है, जाकी रक्षा कीयें रहैं, नातरि नष्ट होय जाय। तातैं ज्ञानी कै अरक्षा का भय नाही, निःशंक भया ज्ञान कूं अनुभवै है॥ छ॥

अव, अगुप्तिभय का काव्य है॥ छ॥

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा, गुप्तिः स्वरूपे न यत्,
शक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं, ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्याऽगुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं, ज्ञानं सदा विन्दति॥ २६॥

॥ हरिगीतिका॥

निज आत्मा सत् और सत् का, नाश हो सकता नहीं।
है सदा रक्षित सत्, अरक्षाभाव हो सकता नहीं॥
जब जानते यह ज्ञानिजन, तब होंय क्यों भयभीत वे?।
वे तो सतत निःशङ्क हो, निजज्ञान का अनुभव करें॥ १५७॥

अर्थ – ज्ञानी, ऐसा विचार करता है कि सत्स्वरूप वस्तु तो कभी नाश को प्राप्त होती नहीं है – यह नियम से वस्तु की मर्यादा है। ज्ञान, स्वयं सत्स्वरूप वस्तु है, उसकी निश्चय से अन्य के द्वारा रक्षा की आवश्यकता क्या है? अर्थात् उस ज्ञान की असुरक्षा का कारण कोई भी नहीं है; अतः **ज्ञानी को अरक्षा का भय किसलिए हो?** अर्थात् नहीं होता। ज्ञानी तो सदा निःशङ्क होता हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप को स्वयं अनुभव करता है।

भावार्थ – ज्ञानी, ऐसा जानता है कि सत्तास्वरूप वस्तु का कभी भी नाश नहीं होता है और ज्ञान स्वयं सत्तास्वरूप है; अतः इसमें रक्षा करने योग्य ऐसा कुछ भी नहीं है कि जो रक्षा करने पर तो रहे और रक्षा न करने पर नष्ट हो जाए; इसलिए ज्ञानी को अरक्षा का भय नहीं होता है, वह तो निःशङ्क होकर ज्ञान का अनुभव करता है।

॥ अर्थ ॥ ज्ञानी विचारै है जो वस्तु का निजरूप[१] है सो ही परमगुप्ति है सो ता विषै पर है सो कोई भी प्रवेश करनें कूं समर्थ नाही[२] है। वहुरि ज्ञान है सो पुरुष का अकृत्रिम स्वरूप है[३], यातैं याकै अगुप्ति किछू भी नाही है॥ तातैं तिस अगुप्ति का भय ज्ञानी कै नाही है॥ याही तैं ज्ञानी निःशंक भया संता, निरंतर आप स्वाभाविक अपनां ज्ञानभाव कूं सदा अनुभवै है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ गुप्ति नाम जामैं काहू का प्रवेश नाही, अैसा गढ दुर्गादिक का है। तहां यह प्राणी निर्भय होय वसै। अैसा गुप्त प्रदेश न होय, चौडै होय, ताकूं अगुप्ति कहिये। तहां वैठे प्राणी कै भय उपजै।

तहां ज्ञानी अैसा जानैं है जो वस्तु का निजस्वरूप है, तामैं परमार्थ करि दूजे वस्तु का प्रवेश नाही, यह ही परमगुप्ति है। सो पुरुष का स्वरूप ज्ञान है, तामैं काहू का प्रवेश नाही, तातैं ज्ञानी कै काहे तैं भय होय, ज्ञानी अपनां स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप कूं निःशंक भया संता, निरंतर अनुभवै है॥ छ॥

अव मरणभय का काव्य है॥

अब, अगुप्तिभय का काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

कोई किसी का कुछ करे – यह बात सम्भव है नहीं।
सब हैं सुरक्षित स्वयं में, अगुप्ति का भय है नहीं॥
जब जानते यह ज्ञानिजन, तब होंय क्यों भयभीत वे?।
वे तो सतत निःशङ्क हो, निजज्ञान का अनुभव करें॥ १५८॥

अर्थ – ज्ञानी विचार करता है कि वस्तु का निजरूप ही परमगुप्ति है, उसमें अन्य कोई भी प्रवेश करने में समर्थ नहीं है। ज्ञान, पुरुष का अकृत्रिम स्वरूप है; अतः इसमें अगुप्ति कुछ नहीं होती है, इसलिए इस अगुप्ति का भय ज्ञानी को नहीं है। इसी कारण ज्ञानी सदा निःशङ्क होता हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञानभाव का निरन्तर स्वयं अनुभव करता है।

भावार्थ – जिसमें किसी अन्य का प्रवेश न हो सके – ऐसे गढ़, दुर्ग आदि का नाम **गुप्ति** (गुप्त स्थान) है, ताकि उसमें प्राणी निर्भय होकर निवास कर सके। जहाँ ऐसा गुप्त प्रदेश न हो अर्थात् खुला हो, उसको अगुप्ति कहा जाता है – ऐसे स्थान पर बैठे अर्थात् रहनेवाले प्राणियों को अगुप्ति का भय उत्पन्न हो सकता है।

वहाँ ज्ञानी, ऐसा जानता है कि परमार्थ से वस्तु के निजस्वरूप में दूसरी वस्तु का प्रवेश सम्भव नहीं है, यही परमगुप्ति है। पुरुष (आत्मा) का स्वरूप ज्ञान है, उसमें किसी का भी प्रवेश सम्भव नहीं है; अतः **ज्ञानी को किससे भय हो?** अर्थात् ज्ञानी को भय नहीं होता। ज्ञानी तो निःशङ्क होता हुआ, अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप का निरन्तर अनुभव करता है।

१-३. वस्तु निजरूप/असमर्थ/पुरुष का स्वरूप है सो अकर्त्रिम है - 'अ' प्रति पाठ

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं, प्राणाः किलाऽस्याऽत्मनो,
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया, नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्याऽतो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं, ज्ञानं सदा विन्दति॥ छ॥ २७॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी विचारै है जो प्राणनि का उच्छेद होनां, तिसकूं मरण कहैं हैं सो आत्मा कै ज्ञान है सो निश्चय करि प्राण है सो ज्ञान है सो स्वयमेव शाश्वता है, यातैं याका कदाचित् भी उच्छेद नाही होय है॥ यातैं तिस आत्मा कै मरण किछू भी नाही है सो ज्ञानी कै अैसे विचारतैं तिस मरण का भय काहे तैं होय॥ तातैं सो ज्ञानी निःशंक भया संता, निरंतर अपनां स्वाभाविक ज्ञानभाव कूं आप सदा अनुभवै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ इंद्रियादिक प्राण विनशै, ताकूं लोक मरण कहैं हैं सो आत्मा कै इंद्रियादिक प्राण परमार्थस्वरूप नाही, निश्चय करि ज्ञान प्राण है सो अविनाशी है, ताका विनाश नाही। तातैं आत्मा कै मरण नाही, यातैं ज्ञानी कै मरण का भय नाही, यातैं ज्ञानी अपनां ज्ञानस्वरूप कूं निःशंक भया संता, निरंतर आप अनुभवै है॥ छ॥

अब, आकस्मिकभय का काव्य है॥

अब, मरणभय का काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

मृत्यु कहे सारा जगत, बस! प्राण के उच्छेद को।
ज्ञान ही है प्राण मम, उसका नहीं उच्छेद हो॥
तब मरणभय हो किस तरह, हों ज्ञानिजन भयभीत क्यों?।
वे तो सतत निःशङ्क हो, निजज्ञान का अनुभव करें॥ १५९॥

अर्थ – ज्ञानी विचार करता है कि प्राणों के उच्छेद होने को **मरण** कहते हैं, परन्तु निश्चय से आत्मा का ज्ञान ही प्राण है और वह स्वयमेव शाश्वत है; अतः उसका कभी उच्छेद नहीं होता है। इस कारण इस आत्मा का मरण कुछ भी नहीं है; अतः ऐसे विचार करनेवाले **ज्ञानी को उस मरण का भय क्यों हो?** इसलिए वह ज्ञानी, सदा निःशङ्क होता हुआ, निरन्तर अपने स्वाभाविक ज्ञानभाव का सदा स्वयं अनुभव करता है।

भावार्थ – इन्द्रिय आदि के विनाश होने को लोक में मरण कहते हैं, लेकिन परमार्थ से आत्मा के इन्द्रिय आदि प्राण नहीं हैं। निश्चय से ज्ञान ही प्राण है, वह अविनाशी है, उसका विनाश नहीं होता है; इसलिए आत्मा का मरण नहीं है। इस कारण ज्ञानी को मरण का भय नहीं है; अतः ज्ञानी निःशङ्क होता हुआ अपने ज्ञानस्वरूप का निरन्तर स्वयं अनुभव करता है।

अब, आकस्मिकभय का काव्य कहते हैं —

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं, सिद्धं किलैतत्स्वतो,
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।
तन्नाऽकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं, ज्ञानं सदा विन्दति॥ २८॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी विचारै है जो ज्ञान है सो एक है, अनादि है, अनंत है, अचल है सो यह आप ही तैं सिद्ध है। सो जेतै है तेतै सदा सो ही है, या विषै दूजे का उदय नाही है॥ तातैं या विषै अकस्मात् नवा किछू उपजै, अैसा किछू भी नाही है। अैसे विचारतैं तिस अकस्मात् होनें का भय काहे तैं होय, नाही होय है। यातैं सो ज्ञानी निःशंक भया संता, निरंतर अपनां स्वाभाविक ज्ञानस्वभाव कूं सदा अनुभवै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जो कवहू अनुभव मैं न आया, अैसा किछू अकस्मात् प्रगट हूवा भयानक पदार्थ, ता करि प्राणी कै भय उपजै सो आकस्मिक भय है। सो आत्मा कै ज्ञान है सो अविनाशी अनादि अनंत अचल एक है सो या विषै दूजे का प्रवेश नाही, नवीन अकस्मात् किछू होय नाही सो अैसा ज्ञानी आप कूं जानैं, ताकै अकस्मात् भय काहे तैं होय, तातैं ज्ञानी अपनां ज्ञानभाव कूं निःशंक निरंतर अनुभवै है॥ छ॥

अैसैं सप्त भय ज्ञानी कै नाही हैं॥

॥ हरिगीतिका॥

इसमें अचानक कुछ नहीं, यह ज्ञान निश्चल एक है।
यह है सदा ही एक-सा, एवं अनादि-अनन्त है॥
जब जानते यह ज्ञानिजन, तब होंय क्यों भयभीत वे?।
वे तो सतत निःशङ्क हो, निजज्ञान का अनुभव करें॥ १६०॥

अर्थ – ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि यह ज्ञान एक है, अनादि है, अनन्त है, अचल है, और यह स्वयं ही से सिद्ध है। वह जब तक है, तब तक सदा वह ही है, इसमें दूसरे का उदय नहीं है; इसलिए इसमें अकस्मात् नया कुछ उत्पन्न हो – ऐसा कुछ भी नहीं है। ऐसा विचारने पर **उसे अकस्मात् कुछ होने का भय क्यों हो?** अर्थात् नहीं होता है; इसलिए वह ज्ञानी, निःशङ्क होता हुआ, निरन्तर अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वभाव का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ – जो कभी अनुभव में नहीं आया – ऐसे कुछ अकस्मात् प्रगट होनेवाले भयानक पदार्थों से प्राणियों को भय उत्पन्न होता है, वह आकस्मिकभय है, लेकिन आत्मा का ज्ञान अविनाशी, अनादि, अनन्त, अचल और एक है, इसमें दूसरे का प्रवेश नहीं है। इस कारण उसमें नवीन अकस्मात् कुछ होता नहीं है – ऐसा ज्ञानी अपने को जानता है; अतः **उसको आकस्मिकभय किसलिए हो?** अर्थात् नहीं होता है, इसलिए ज्ञानी अपने ज्ञानभाव को निःशङ्क निरन्तर अनुभव करता है।

इहां प्रश्न॥ जो अविरत सम्यग्दृष्टी आदिक कूं भी ज्ञानी कहे हैं अर तिनिकै भयप्रकृति का उदय है, ताके निमित्त तैं भय भी देषिये है सो ज्ञानी निर्भय कैसैं है॥

ताका समाधान॥ जो भयप्रकृति के उदय के निमित्त तैं भय उपजै है, ताकी पीडा न सही जाय है, जातैं अंतराय के प्रवल उदय तैं निवल है, तातैं तिस भय का इलाज भी करै है परंतु ऐसा भय नाही, जा करि स्वरूप का ज्ञान श्रद्धान तैं चिगि जाय॥ वहुरि भय उपजै है सो मोहकर्म की भय नामा प्रकृति का उदय का दोष है, ताका आप स्वामी होय कर्त्ता न वणैं है, ज्ञाता ही है॥ छ॥

आगैं कहैं हैं, सम्यग्दृष्टी कै निश्शंकित आदि चिह्न हैं, ते कर्म की निर्जरा करैं हैं, शंकादिक करि कीया वंध नाही होय है॥ ताकी सूचनिका का काव्य है।

॥ मन्दाक्रान्ता॥

टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचित-ज्ञानसर्वस्वभाजः,
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं, घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्धः,
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो, निश्चितं निर्जरैव॥ २९॥

॥ अर्थ॥ जातैं सम्यग्दृष्टी कै निःशंकित आदि चिह्न हैं, ते समस्त कर्म कूं हणैं हैं, निर्जरा करै

इस प्रकार ज्ञानी को सप्त भय नहीं होते हैं।

यहाँ प्रश्न है कि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि को भी ज्ञानी कहते हैं, परन्तु उनको भयप्रकृति के उदय के निमित्त से भय भी देखा जाता है तो फिर ज्ञानी को निर्भय कैसे कहा है?

इसका **समाधान** यह है कि ज्ञानी को भयप्रकृति के उदय के निमित्त से भय उत्पन्न होता है, उनसे उसकी पीड़ा सही नहीं जाती है क्योंकि अन्तरायकर्म के प्रबल उदय के कारण वे निर्बल हैं, इसलिए उस भय का इलाज भी करते हैं परन्तु उन्हें ऐसा भय नहीं होता है, जिससे वे स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान से डिग जाएँ। उन्हें जो भय उत्पन्न होता है, वह मोहनीयकर्म की भय नामक प्रकृति के उदय का दोष है; अतः वे स्वयं स्वामी होकर उसके कर्ता नहीं बनते हैं, ज्ञाता ही रहते हैं।

अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के निःशङ्कित आदि चिह्न (भाव), कर्मों की निर्जरा करते हैं, इसलिए उन्हें शङ्कादि कृत बन्ध नहीं होता है, इसकी सूचना का काव्य कहते हैं —

॥ दोहा॥

टङ्कोत्कीर्ण स्वरस भरे, सुदृष्टि भोगें ज्ञान।
निःशङ्कितादि चिह्न से, कर्मों का अवसान॥
नित निःशङ्क सद्दृष्टि को, कर्मबन्ध नहिं होय।
पूर्वोदय को भोगते, सतत निर्जरा होय॥ १६१॥

हैं॥ तातैं फेरि भी इसके उदय होतैं, नवीन कर्म का किंचिन्मात्र भी वंध नाही होय है॥ तिस कर्म का पहलैं वंध भया था, ताके उदय कूं भोगवता संता कै ताकी नियम करि निर्जरा ही होय है॥

कैसा है सम्यग्दृष्टी, टङ्कोत्कीर्णवत् एकस्वभावरूप जो अपनां निजरस, तिस करि परिपूर्ण भया जो ज्ञान, ताका सर्वस्व का भोगनहारा है, आस्वादक है॥

॥ भावार्थ॥ सम्यग्दृष्टी, पहलैं भयादि प्रकृति वांधी थी, ताका उदय कूं भोगवै है, तौऊ ताकै निःशंकित आदि गुण प्रवर्त्तैं हैं, ते पूर्वकर्म की निर्जरा करैं हैं अर शंकादिक करि कीया वंध नाही होय है॥ छ॥

अव, इस कथन कूं गाथा मैं कहै है, तहां प्रथम ही निःशंकित अंग की गाथा॥

जो चत्तारि वि पाए, छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे।
सो णिस्संको चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥ ३७॥

यश्चतुरोऽपि पादान्, छिनत्ति तान् कर्मबंधमोहकरान्।
स निःशङ्कश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः॥ छ॥

अर्थ – चूँकि सम्यग्दृष्टि के निःशङ्कित आदि चिह्न (भाव), समस्त कर्मों का घात करते हैं, निर्जरा करते हैं; इसलिए पुनः इनका उदय आने पर, नवीन कर्म का किञ्चित्मात्र भी बन्ध नहीं होता है। उन कर्मों का पहले बन्ध किया था; उनके उदय को भोगते हुए उनकी नियम से निर्जरा ही होती है।

कैसे हैं सम्यग्दृष्टि? – टङ्कोत्कीर्ण के समान एकस्वभावरूप अपने निजरस से परिपूर्ण हुए ज्ञान के सर्वस्व को भोगनेवाले हैं, आस्वादन करनेवाले हैं।

भावार्थ – यद्यपि सम्यग्दृष्टि ने पूर्व में जो भय आदि प्रकृतियाँ बाँधी थीं, उनके उदय को वह भोगता है तो भी उसके निःशङ्कित आदि गुण प्रवर्तते हैं, वे पूर्वोपार्जित कर्म की निर्जरा करते हैं और उसे शङ्कादिकृत बन्ध नहीं होता है।

अब, इस कथन को गाथाओं के द्वारा कहते हैं, वहाँ सबसे पहले निःशङ्कित अंग अथवा निःशङ्कितगुण की गाथा कहते हैं —

जो चत्तारि वि पाए, छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे[1]।
सो णिस्संको चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ २२९॥

जो कर्म-बन्धन मोह-कर्ता, चार प्रत्यय छेदता।
चिन्मूर्ति वह शङ्कारहित, सम्यक्त्वदृष्टि जानना॥ २२९॥

---

१. *कम्ममोहवाधकरे* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

॥ अर्थ ॥ जो आत्मा, कर्म कै वंध का कारण जो मोह, ताके करनेंवाले मिथ्यात्व आदि भावरूप च्यारि पाये, तिनिकूं निःशंक भया संता काटै है सो आत्मा निःशंक सम्यग्दृष्टी जाननां ॥

॥ टीका ॥ जातैं सम्यग्दृष्टी है सो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयी है, तिस भाव करि कर्मवंध की कारण शंका के करनेंवाले, अैसे मिथ्यात्व अविरति कषाय योग, ए च्यारि भाव, तिनिका याकै अभाव है, तातैं निःशंक है ॥ तातैं याकै शंका करि कीया हूवा वंध नाही है।

तौ कहा है, निर्जरा ही है ॥

॥ भावार्थ ॥ सम्यग्दृष्टी कै कर्म उदय आवै है, ताका आप स्वामिपणां का अभाव तैं कर्त्ता न होय है, तातैं भयप्रकृति का उदय आवतैं भी शंका के अभाव तैं स्वरूप तैं च्युत नाही होय है, निःशंक है, तातैं याकै शंकाकृत वंध नाही होय है, कर्म रस दे षिरि जाय है ॥ छ ॥

आगैं, निःकांक्षितगुण की गाथा है ॥

जो दु ण करेदि कंक्खं, कम्मफलेसु तध सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ ३८ ॥

यस्तु न करोति कांक्षां, कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु।
स निष्कांक्षश्चेतयिता, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ छ ॥

अर्थ – जो कर्मबन्ध के कारण मोह को करनेवाले मिथ्यात्व आदि भावरूप चार प्रत्ययों को निःशङ्क होता हुआ काटता है; वह आत्मा, **निःशङ्क सम्यग्दृष्टि** जानना चाहिए ॥ २२९ ॥

टीका – चूँकि सम्यग्दृष्टि, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयी है, उस भाव के कारण कर्मबन्ध की हेतुभूत शङ्का को उत्पन्न करनेवाले मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – इन चार भावों का उसको अभाव है, इसलिए वह **निःशङ्क** हैं; अतः इसको शङ्का से होनेवाला बन्ध नहीं है।

तो क्या है? – निर्जरा ही है।

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि को कर्म का उदय आता है, उसके स्वामित्व का अभाव होने से वह स्वयं कर्ता नहीं होता है; इसलिए भयप्रकृति का उदय आने पर भी शङ्का का अभाव होने से स्वरूप से च्युत नहीं होता है, निःशङ्क ही रहता है; अतः उसको शङ्काकृत बन्ध नहीं होता है बल्कि कर्म, रस देकर खिर जाता है।

अब, निःकांक्षितगुण की गाथा कहते हैं —

जो दु ण करेदि कंखं, कम्मफलेसु तह[1] सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३० ॥

---

१. *कम्मफले तह य* – तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

॥ अर्थ ॥ जो आत्मा, कर्म के फलनि विषै तथा सर्व धर्मनि विषै वांछा नाही करै है ॥ सो चेतयिता आत्मा निःकांक्ष सम्यग्दृष्टी जाननां ॥ छ ॥

॥ टीका ॥ जातैं सम्यग्दृष्टी है सो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयीपणां करि सर्व ही कर्म के फलनि विषै तथा सर्व ही वस्तु के धर्मनि विषै वांछा के अभाव तैं निःकांक्ष है, निर्वांछीक है, तातैं याकै कांक्षा करि कीया हूवा वंध नाही है।

तौ कहा है, निर्जरा ही है ॥ छ ॥

॥ भावार्थ ॥ सम्यग्दृष्टी कै कर्म का फल कै विषै तथा सर्व धर्म कहिये काच कंचनपणां आदि तथा निंदा प्रशंसा आदि के वचनरूप पुद्गल के परिणमन इत्यादि अथवा सर्व धर्म कहिये अन्य मतीनि करि मानें अनेक प्रकार सर्वथा एकांतरूप व्यवहारधर्म के भेद, तिनि विषै वांछा नाही है, तातैं वांछा करि होता जो वंध सो याकै नाही है।

वर्त्तमान की पीडा नहीं सही जाय, ताके मेटनें के इलाज की वांछा चारित्रमोह के उदय तैं होय है[१], ताका आप कर्त्ता न होय है, कर्म का उदय जाणि, ताका ज्ञाता है, तातैं वांछा करि कीया वंध नाही है ॥ छ ॥

आगैं, निर्विचिकित्सागुण की गाथा है ॥ छ ॥

जो कर्मफल अरु सर्व धर्मों, की न कांक्षा धारता।
चिन्मूर्ति वह कांक्षारहित, सम्यक्त्वदृष्टि जानना ॥ २३० ॥

अर्थ – जो आत्मा, कर्मों के फलों के प्रति और सर्व धर्मों के प्रति वाञ्छा नहीं करता है; वह चेतयिता आत्मा, **निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि** जानना चाहिए ॥ २३० ॥

टीका – चूँकि सम्यग्दृष्टि, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सर्व ही कर्मों के फलों के प्रति और सर्व ही वस्तु के धर्मों के प्रति वाञ्छा का अभाव होने से **निःकांक्ष** है, निर्वाञ्छक है; अतः इसको कांक्षा से होनेवाला बन्ध नहीं है।

तो क्या है? – निर्जरा ही है।

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि को कर्म के फल के प्रति तथा सर्व धर्म अर्थात् काँच-कञ्चन आदि और निन्दा-प्रशंसा आदि वचनरूप पुद्गल के परिणमन आदि **अथवा** सर्व धर्म अर्थात् अन्य मतावलम्बियों द्वारा माने गये अनेक प्रकार के सर्वथा एकान्तरूप व्यवहारधर्म के भेदों के प्रति वाञ्छा नहीं है; अतः उसे वाञ्छा के कारण होनेवाला बन्ध भी नहीं है।

जब वर्तमान की पीड़ा सही नहीं जाती है तो उसे मिटाने के लिए इलाज की वाञ्छा, चारित्रमोह के उदय से होती है, उसका वह स्वयं कर्ता नहीं होता है, कर्म का उदय जान कर, उसका ज्ञाता ही रहता है; अतः ज्ञानी के वाञ्छाकृत होनेवाला बन्ध नहीं है।

---

१. *तैं है यहु* - 'ब' प्रति पाठ

जो ण करेदि दुगंछं[१], चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिंछो, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥ ३९॥

यो न करोति जुगुप्सां, चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणाम्।
स खलु निर्विचिकित्सः, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो जीव, सर्व ही वस्तु के धर्मनि की जुगुप्सा कहिये ग्लानि, ताहि न करै है, सो निश्चय करि आत्मा, निर्विचिकित्स कहिए विचिकित्सा करि दोषरहित सम्यग्दृष्टी जाननां॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं सम्यग्दृष्टी है सो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयीपणां करि सर्व ही वस्तुधर्मनि विषै जुगुप्सा के अभाव तैं निर्विचिकित्स है, ग्लानितारहित है, तातैं याकै विचिकित्सा करि कीया बंध नाही होय है।

तौ कहा है, निर्जरा ही होय है[२]॥

॥ भावार्थ॥ सम्यग्दृष्टी, वस्तु के धर्म जे क्षुधा तृषा, शीत उष्ण आदि भाव तथा विष्ठा[३] आदि

अब, निर्विचिकित्सागुण की गाथा कहते हैं —

जो ण करेदि दुगुंछं, चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो[४], सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ २३१॥

सब वस्तुधर्म विषैं जुगुप्साभाव जो नहिं धारता।
चिन्मूर्ति निर्विचिकित्स वह, सद्दृष्टि निश्चय जानना॥ २३१॥

अर्थ – जो जीव, सर्व ही वस्तु के धर्मों के प्रति जुगुप्सा अर्थात् ग्लानि नहीं करता है; उस आत्मा को निश्चय से **निर्विचिकित्स सम्यग्दृष्टि** सहित अर्थात् विचिकित्सादोष से रहित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए॥ २३१॥

टीका – चूँकि सम्यग्दृष्टि टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सर्व ही वस्तु के धर्मों के प्रति जुगुप्सा का अभाव होने से **निर्विचिकित्स** अर्थात् ग्लानिरहित है; इसलिए इसको विचिकित्सा से होनेवाला बन्ध नहीं है।

तो क्या है? – निर्जरा ही है।

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि, वस्तु के धर्म – क्षुधा-तृषा, शीत-उष्ण आदि भाव तथा विष्ठा आदि मलिन द्रव्यों में ग्लानि नहीं करता है। यद्यपि उसे जुगुप्सा नामक कर्म-प्रकृति का उदय आता है परन्तु

---

१. *जुगुप्यं* - अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ २. *निर्जरा होय है* - 'ब' प्रति पाठ ३. *भिष्टा* - 'अ' प्रति पाठ
४. *णिव्विदिगिंछो* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ।

मलिन द्रव्य, तिनिकै विषै ग्लानि नाही करै है। जुगुप्सा नामा कर्म की प्रकृति का उदय आवै, ताका आप कर्त्ता न होय है, तातैं जुगुप्सा करि कीया याकै वंध नाही है। प्रकृति रस दे षिरि जाय है, तातैं निर्जरा ही है॥ छ॥

आगैं, अमूढदृष्टि अंग की गाथा है॥

जो हवइ असंमूढो, चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥ ४०॥

यो भवत्यसम्मूढश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिः सर्वभावेषु।
स खलु अमूढदृष्टिः, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो जीव, सर्व भावनि विषै असंमूढ कहिये मूढ नाही होय, यथार्थ वस्तु कूं जानैं है सो सम्यग्दृष्टी चेतयिता निश्चय करि अमूढदृष्टि जाननां॥

॥ टीका॥ जातैं जो निश्चय करि सम्यग्दृष्टी है सो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयीपणां करि सर्व भावनि विषै मोह के अभाव तैं अमूढदृष्टि है, तातैं याकै मूढदृष्टि करि कीया हूवा वंध नाही है।

तौ कहा है, निर्जरा ही है॥

॥ भावार्थ॥ सम्यग्दृष्टी, सर्व पदार्थनि का स्वरूप यथार्थ जानैं है, तिनि परि राग द्वेष मोह के

उसका स्वयं कर्ता नहीं होता है; अतः जुगुप्साकृत होनेवाला बन्ध नहीं होता है। प्रकृति (कर्म), रस देकर खिर जाती है; अतः निर्जरा ही है।

अब, अमूढ़दृष्टिगुण की गाथा कहते हैं —

जो हवदि असम्मूढो, चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु[३]।
सो खलु अमूढदिट्ठी, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ २३२॥

सम्मूढ़ नहिं सब भाव में, जो सत्यदृष्टि धारता।
वह मूढ़दृष्टिविहीन सम्यग्दृष्टि निश्चय जानना॥ २३२॥

अर्थ – जो जीव, सर्व भावों के प्रति असम्मूढ़ अर्थात् मूढ़ नहीं होता है अर्थात् यथार्थ वस्तु को जानता है; उस सम्यग्दृष्टि चेतयिता आत्मा को निश्चय से **अमूढ़दृष्टि** जानना चाहिए॥ २३२॥

टीका – चूँकि सम्यग्दृष्टि, निश्चय से टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सर्व भावों के प्रति मोह का अभाव होने से **अमूढ़दृष्टि** है; अतः उसको मूढ़दृष्टि से होनेवाला बन्ध नहीं है।

तो क्या है? – निर्जरा ही है।

---

३. *सव्वेसु कम्मभावेसु* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

अभाव तैं अयथार्थ दृष्टि नाही पडै है अर चारित्रमोह के उदय तैं इष्ट अनिष्ट भाव उपजै, ताकूं उदय की वरजोरी जानि, तिनि भावनि का कर्त्ता न होय है। तातैं मूढदृष्टि करि कीया याकै वंध नाही है। प्रकृति रस दे षिरि जाय है सो निर्जरा ही है॥ छ॥

अव, उपगूहनगुण की गाथा है॥

जो सिद्धभत्तिजुत्तो, उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥ ४१॥

य: सिद्धभक्तियुक्त:, उपगूहनकस्तु[१] सर्वधर्माणाम्।
स उपगूहनकारी, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्य:॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो जीव, सिद्धनि की भक्ति करि संयुक्त होय अर अन्य वस्तु के सर्व धर्मनि का उपगूहक कहिये गोपनेंवाला होय सो उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टी जाननां॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं निश्चय करि सम्यग्दृष्टी है सो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावमयीपणां करि आत्मा की समस्त शक्ति का उपवृंहण कहिये वधावनें तैं उपवृंहक होय है, तातैं याकै जीव की शक्ति का दुर्वलपणां करि कीया वंध नाही है।

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि, सर्व पदार्थों का स्वरूप यथार्थ जानता है, उनके प्रति राग-द्वेष-मोह के अभाव के कारण अयथार्थ दृष्टि नहीं डालता है। लेकिन चारित्रमोह के उदय से इष्टानिष्टभाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें उदय की प्रबलता जान कर, उन भावों का कर्ता नहीं होता है; अत: उसको मूढ़दृष्टि से होनेवाला बन्ध नहीं है। प्रकृति (कर्म), रस देकर खिर जाती है; अत: निर्जरा ही है।

अब, उपगूहनगुण की गाथा कहते हैं —

जो सिद्धभत्तिजुत्तो, उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ २३३॥

जो सिद्धभक्ति सहित हैं, गोपन करें सब धर्म का।
चिन्मूर्ति उपगूहन करी, सम्यक्त्वदृष्टि जानना॥ २३३॥

अर्थ – जो जीव, सिद्धों की भक्ति से संयुक्त होता है और अन्य वस्तुओं के सर्व धर्मों का उपगूहक अर्थात् गोपनेवाला होता है; उसे उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए॥ २३३॥

टीका – चूँकि निश्चय से सम्यग्दृष्टि, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयता के द्वारा आत्मा की समस्त शक्तियों का उपवृंहण अर्थात् वृद्धि करने से उपवृंहक होता है; अत: उसको जीव की शक्ति

---

१. *उपगूहककस्तु* – 'अ' 'ब' प्रति पाठ

तौ कहा है, निर्जरा ही होय है॥

॥ भावार्थ॥ सम्यग्दृष्टी, उपगूहनगुण करि संयुक्त होय है सो उपगूहन नाम छिपावनें का है। सो निश्चयनय प्रधान करि अैसा कह्या जो अपनां उपयोग सिद्धभक्ति मैं लगावै अर सर्व धर्मनि का उपगूहक होय सो सिद्धभक्ति मैं उपयोग लगाया, तव अन्य धर्म परि दृष्टि ही न रही, तव सर्व ही छिपाये।

अर दूजा नाम उपवृंहण कह्या सो अपनां उपयोग सिद्धनि के स्वरूप मैं लगाया, तव अपनां आत्मा की सर्व शक्ति वधाई, आत्मा पुष्ट भया सो दुर्वलता करि वंध होय था सो न होय है, तव निर्जरा ही होय॥ वहुरि जेतै अंतराय का उदय है, तेतै निवलाई है परंतु याके अभिप्राय मैं निवलाई नाही है, कर्म के उदय कों जीतनें का अपनीं शक्तिसारू महान् उद्यम होय है॥ छ॥

आगैं, स्थितीकरणगुण की गाथा है॥ छ॥

उम्मग्गं गच्छंतं, सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥ ४२॥

की दुर्बलता से होनेवाला बन्ध नहीं है।

तो क्या है? – निर्जरा ही होती है।

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि, उपगूहनगुण से संयुक्त होता है और 'उपगूहन' नाम छिपाने को कहते हैं परन्तु यहाँ निश्चयनय की प्रधानता से ऐसा कहा है कि वह अपना उपयोग सिद्धभक्ति में लगाता है और सर्व धर्मों का उपगूहक होता है; अत: सिद्धभक्ति में उपयोग लगाने पर अन्य धर्मों पर दृष्टि ही नहीं रहती, इस प्रकार सबको छिपाया ही है।

इसका दूसरा नाम उपवृंहक भी कहा है अर्थात् अपना उपयोग सिद्धों के स्वरूप में लगाने पर, अपनी आत्मा की सर्व शक्तियाँ वृद्धिङ्गत हुई, आत्मा पुष्ट हुआ; अत: दुर्बलता से होनेवाला बन्ध नहीं होता है, बल्कि निर्जरा ही होती है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि को भी जब तक अन्तराय का उदय है, तब तक निर्बलता है परन्तु उसके अभिप्राय में निर्बलता नहीं है, बल्कि उसे कर्मों के उदय को जीतने का अपनी शक्ति के अनुसार महान उद्यम होता है।

अब, स्थितिकरणगुण की गाथा कहते हैं —

उम्मग्गं गच्छंतं, सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा[1]।
सो ठिदिकरणाजुत्तो[2], सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ २३४॥

उन्मार्ग जाते स्वात्म को भी, मार्ग में जो स्थापता।
चिन्मूर्ति वह स्थितिकरणयुत, सम्यत्वदृष्टि जानना॥ २३४॥

१-२. सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं / ठिदिकरणेण जुदो - पाठ:

उन्मार्गं गच्छन्तं, स्वकमपि मार्गे स्थापयति यश्चेतयिता।
स स्थितिकरणयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो जीव, अपनें आत्मा कूं भी उन्मार्ग चालते कूं मार्ग विषै स्थापन करै सो चेतयिता स्थितिकरणगुणयुक्त सम्यग्दृष्टी जाननां॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं सम्यग्दृष्टी है सो निश्चय करि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयी है, तातैं जो अपनां आत्मा, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप मोक्ष का मार्ग, तातैं छूटै तौ ताकूं तिस ही मार्ग विषै स्थापै सो स्थितिकारी है, तातैं मार्ग तैं छूटनें करि कीया वंध नाही होय है।

तौ कहा है, निर्जरा ही होय है॥

॥ भावार्थ॥ जो अपनां आत्मा अपनें स्वरूपरूप मोक्षमार्ग तैं चिगै, ताकूं तिस ही मार्ग विषै स्थापै सो स्थितिकरण गुणयुक्त है। ताकै मार्ग तैं छूटनें करि वंध होय सो वंध नाही होय। उदय आये कर्म रस दे करि षिरि जाय है, तातैं निर्जरा ही है॥ छ॥

आगैं, वात्सल्यगुण की गाथा है॥ छ॥

जो कुणदि वच्छलत्तं, तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छलभावजुदो, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥ ४३॥

अर्थ – जो जीव, उन्मार्ग में जाते हुए अपने आत्मा को भी मार्ग में स्थापित करता है; वह चेतयिता आत्मा, **स्थितिकरणगुणयुक्त सम्यग्दृष्टि** जानना चाहिए॥ २३४॥

टीका – चूँकि सम्यग्दृष्टि, निश्चय से टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयी है; अत: यदि अपनी आत्मा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग से छूट जाए तो वह उसे पुन: उसी मार्ग में स्थापित करता है, इसलिए वह स्थितिकारी अर्थात् **स्थितिकरणगुण** से युक्त है; अत: उसे मार्ग से छूटने के कारण होनेवाला बन्ध नहीं होता है।

तो क्या होता है? – निर्जरा ही होती है।

भावार्थ – यदि अपना आत्मा, अपने स्वभावरूपी मोक्षमार्ग से च्युत होता है तो उसे पुन: उसी मार्ग में स्थापित करनेवाला स्थितिकरणगुणयुक्त है; अत: उसे मार्ग से च्युत होने के कारण होनेवाला बन्ध नहीं होता, उदय में आये कर्म अपना रस देकर खिर जाते हैं; अत: निर्जरा ही है।

अब, वात्सल्यगुण की गाथा कहते हैं –

जो कुणदि वच्छलत्तं, तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्हि[1]।
सो वच्छलभावजुदो, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ २३५॥

---

१. *तिण्हे साधूण मोक्खमग्गम्मि* – तात्पर्यवृत्ति पाठ।

यः करोति वत्सलत्वं, त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गे।

स वत्सलभावयुतः[१], सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो जीव, तीन जे साधु कहिये सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र अथवा आचार्य उपाध्याय साधु पदसहित आत्मा, तिनिका रूप जो मोक्षमार्ग, ता विषै वात्सल्यभाव करै सो वच्छलभाव करि युक्त सम्यग्दृष्टी जाननां॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं निश्चय करि सम्यग्दृष्टी है सो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयीपणां करि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रनि कूं आप तैं अभेदबुद्धि करि[२] मोक्षमार्ग का वत्सल है, अतिप्रीतियुक्त है॥ तातैं याकै मार्ग की अप्राप्ति करि कीया कर्म का वंध नाही है।

तौ कहा है, निर्जरा ही है॥

॥ भावार्थ॥ वत्सलपणां नाम प्रीतिभाव का है। सो मोक्षमार्गरूप अपनां स्वरूप विषै अनुरागयुक्त होय, ताकै मार्ग की अप्राप्ति करि कीया कर्म का वंध नाही, कर्म रस दे करि षिरि जाय है, तातैं निर्जरा ही है॥ छ॥

आगैं, प्रभावनागुण की गाथा है॥ छ॥

विज्जारहमारूढो, मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।

सो जिणणाणपभावी, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥ ४४॥

जो मोक्षपथ में 'साधु'त्रय का, वत्सलत्व करे अहो!।

चिन्मूर्ति वह वात्सल्ययुत, सम्यक्त्वदृष्टि जानना॥ २३५॥

अर्थ – जो जीव, तीन प्रकार के साधु अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अथवा आचार्य-उपाध्याय-साधु – इन तीन पदसहित आत्माओं और उनस्वरूप मोक्षमार्ग में वात्सल्यभाव करता है; उसे **वात्सल्यभाव** से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

टीका – चूँकि निश्चय से सम्यग्दृष्टि टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण तथा अपने से अभेदबुद्धि के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का **वत्सल** है अर्थात् अति प्रीतियुक्त है; अतः इसको मार्ग की अप्राप्ति से होनेवाला कर्म का बन्ध नहीं है।

तो क्या है? – निर्जरा ही है।

भावार्थ – प्रीतिभाव को वात्सल्य कहते हैं; अतः जो मोक्षमार्गरूप अपने स्वरूप में अनुरागयुक्त होता है, उसे मार्ग की अप्राप्ति से होनेवाले कर्म का बन्ध नहीं होता है; कर्म रस देकर खिर जाते हैं, अतः निर्जरा ही है।

अब, प्रभावनागुण की गाथा कहते हैं —

---

१. *वच्छलभावयुतः* – 'अ' प्रति पाठः

२. *करि भले प्रकार देषनें तैं* – 'ब' प्रति पाठ

विद्यारथमारूढो, मनोरथपथेषु भ्रमति यश्चेतयिता।
स जिनज्ञानप्रभावी, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो जीव, विद्यारूप रथ विषै चढ्या मनरूप जो रथ चलनें का मार्ग, ता विषै भ्रमै है सो जिनेश्वर का ज्ञान का प्रभावना करनेंवाला सम्यग्दृष्टी जाननां॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं जो निश्चय करि सम्यग्दृष्टी है सो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयीपणां करि ज्ञान की समस्त शक्ति का फैलावनें करि प्रभाव के उपजावनें तैं प्रभावना करनेंवाला है॥ तातैं याकै ज्ञान की प्रभावना का अप्रकर्ष कहिये वधावनां नाही, ता करि कीया वंध नाही होय है।

तौ कहा है, निर्जरा ही है॥

॥ भावार्थ॥ प्रभावना नाम उद्योत करनां, प्रगट करनां इत्यादिक का है सो जो अपनां ज्ञान कूं निरंतर अभ्यास करि प्रगट करै, वधावै, ताकै प्रभावना अंग होय है। ताकै अप्रभावनाकृत कर्म का वंध नाही है, कर्म रस दे षिरि जाय है, तातैं निर्जरा ही है।

विज्जारहमारूढो, मणोरहपहेसु भमदि[1] जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३६॥

चिन्मूर्ति मन-रथ-पन्थ में, विद्या-रथारूढ़ घूमता।
जिनराज-ज्ञान प्रभाव कर, सम्यक्त्वदृष्टि जानना॥ २३६॥

अर्थ – जो जीव, विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ होकर, मनरूपी रथ के चलने के मार्ग में भ्रमण करता है; उसे जिनेश्वर के ज्ञान की **प्रभावना** करनेवाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए॥ २३६॥

टीका – चूँकि निश्चय से सम्यग्दृष्टि, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण ज्ञान की समस्त शक्ति को विस्तृत करके, जागृत करके, प्रभाव को उत्पन्न करने से **प्रभावना** करनेवाला है; इसलिए ज्ञानी को ज्ञान की प्रभावना के अप्रकर्ष अर्थात् वृद्धिङ्गत नहीं होने से होनेवाला बन्ध नहीं होता है।

तो क्या है? – निर्जरा ही है।

भावार्थ – प्रकाशित करना, प्रगट करना इत्यादि का नाम प्रभावना है; अतः जो जीव, अपने ज्ञान को निरन्तर अभ्यास के द्वारा प्रगट करता है, वृद्धि करता है; उसको **प्रभावना** अङ्ग होता है, उसे अप्रभावना से होनेवाला कर्म का बन्ध नहीं होता है और कर्म रस देकर खिर जाते हैं, अतः निर्जरा ही है।

इस गाथा में ऐसा कहा है कि जो जीव, विद्यारूपी रथ में आत्मा को स्थापित करके भ्रमण

---

१. *मणोरहएसु हणादि* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

इहां गाथा मैं अैसैं कह्या जो विद्यारूपी रथ विषै आत्मा कूं थापि भ्रमै सो ज्ञान का प्रभावनायुक्त सम्यग्दृष्टी है सो यह निश्चय प्रभावनां है। जैसैं, व्यवहार करि जिनविंव कूं रथ विषै थापि नगर वन आदि विषै भ्रमाय प्रभावना करै, तैसैं जाननां॥ छ॥

अैसैं सम्यग्दृष्टी ज्ञानी कै निःशंकित आदिक आठ गुण, कर्म की निर्जरा के कारण कहे, अैसैं ही और भी सम्यक्त्व के गुण, निर्जरा के कारण जाननें॥

वहुरि इहां निश्चयनय प्रधान कथन है, तातैं आत्मा ही के परिणाम निःशंकरूप आदिक करि कहे, ताका संक्षेप अैसा।

जो सम्यग्दृष्टी आत्मा अपनां ज्ञानश्रद्धान विषै निःशंक होय, भय के निमित्त तैं स्वरूप तैं चिगै नाही अथवा संदेहयुक्त न होय, ताकै निःशंकितगुण कहिए॥

वहुरि जो कर्म का फल की वांछा न करै तथा अन्यवस्तु के धर्मनि की वांछा न करै, ताकै निःकांक्षितगुण होय है॥

वहुरि जो वस्तु के धर्मनि विषै ग्लानि न करै, ताकै निर्विचिकित्सागुण होय है॥

वहुरि जो स्वरूप विषै मूढ न होय, यथार्थ जानैं, ताकै अमूढदृष्टिगुण होय है॥

वहुरि आत्मा कूं स्वरूप तैं चिगता कूं स्थापै, ताकै स्थितीकरणगुण होय है।

वहुरि जो आत्मा कूं शुद्धस्वरूप मैं लगावै, आत्मा की शक्ति वधावै, अन्य धर्मनि कूं गौण

करता है, वह ज्ञान की प्रभावना से युक्त सम्यग्दृष्टि है – यह निश्चय प्रभावना है। जिस प्रकार व्यवहार से जिनबिम्ब को रथ में स्थापित करके नगर, वन आदि में भ्रमण कराकर प्रभावना करते हैं; उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए।

इस प्रकार यहाँ सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के निःशङ्कित आदि आठ गुणों को कर्म की निर्जरा का कारण कहा है। इसी प्रकार और भी सम्यक्त्व के गुणों को निर्जरा का कारण जानना चाहिए।

यहाँ निश्चयनय की प्रधानता से कथन है, इसलिए आत्मा ही के परिणामों को निःशङ्कित आदि के रूप में कहा गया है, उसका संक्षेप इस प्रकार है —

१. जो सम्यग्दृष्टि आत्मा, अपने ज्ञान-श्रद्धान में निःशङ्क होता है, भय के निमित्त मिलने पर स्वरूप से डिगता नहीं है अथवा सन्देहयुक्त नहीं होता है; उसे **निःशङ्कितगुण** होता है।

२. जो कर्म के फल की और अन्य वस्तु के धर्मों की वाञ्छा नहीं करता है, उसे **निःकांक्षितगुण** होता है।

३. जो वस्तु के धर्मों में ग्लानि नहीं करता है, उसे **निर्विचिकित्सागुण** होता है।

४. जो स्वरूप के विषय में अज्ञानी नहीं होता है, यथार्थ जानता है, उसे **अमूढ़दृष्टिगुण** होता है।

५. जो स्वरूप से डिगते हुए आत्मा को स्थापित करता है, उसे **स्थितिकरणगुण** होता है।

करै, ताकै उपगूहनगुण होय है॥

वहुरि जो अपनां स्वरूप विषै विशेष अनुराग राषै, ताकै वात्सल्यगुण होय है॥

वहुरि जो आत्मा का ज्ञानगुण कूं प्रकाशरूप प्रगट करै, ताकै प्रभावनागुण होय है॥

सो ए सर्व ही गुण, इनिके प्रतिपक्षी दोषनि करि कर्म का वंध होय था, ताकूं न होनें दे हैं अर इनिकूं होतैं चारित्रमोह के उदयरूप शंकादि प्रवर्त्तै तौ तिनिकी निर्जरा ही होय है, वंध नाही है, जातैं वंध तौ मिथ्यात्वसहित ही प्रधानता करि कह्या है।

जो चारित्रमोह के उदय निमित्त तैं सम्यग्दृष्टी कै सिद्धांत में गुणस्थाननि की परिपाटी मैं वंध कह्या है सो वह भी वंध निर्जरारूप ही जाननां। जातैं सम्यग्दृष्टी कै जैसैं मिथ्यात्व के उदय मैं वांध्या कर्म क्षरै है, तैसैं ही नवीन वंध्या भी क्षरै है, याकै तिसका स्वामिपणां का अभाव है, तातैं आगामी वंधरूप नाही, निर्जरारूप ही है॥ छ॥

जैसैं कोई पुरुष पराया द्रव्य उधारा ल्यावै, तिसतैं आप कै ममत्ववुद्धि नाही, वर्तमान मैं तिस द्रव्य तैं किछू कार्य करि लेनां होय सो करि पैले कूं करार कै करार दे है। जेतै अपनें घर मैं भी पड्या रहै, तौ तिसतैं ममत्व नाही, तातैं तिस पुरुष कै तिस द्रव्य का वंधांन नाही है, पर कूं दीया वरावरि ही है॥

---

६. जो आत्मा को शुद्धस्वरूप में लगाता है, आत्मा की शक्ति बढ़ाता है, अन्य धर्मों को गौण करता है; उसे **उपगूहनगुण** होता है।

७. जो अपने स्वरूप में विशेष अनुराग रखता है, उसे **वात्सल्यगुण** होता है।

८. जो आत्मा के ज्ञानगुण को प्रकाशित कर प्रगट करता है, उसे **प्रभावनागुण** होता है।

उक्त सर्व ही गुण, इनके प्रतिपक्षी दोषों के कारण होनेवाले कर्मबन्ध को नहीं होने देते हैं, इसलिए इन गुणों के होने पर चारित्रमोह के उदय से जो शङ्कादि की प्रवृत्ति होती है; उनसे निर्जरा ही होती है, बन्ध नहीं होता है क्योंकि बन्ध तो मिथ्यात्वसहित होने पर ही प्रधानरूप से कहा है।

सिद्धान्तग्रन्थों में चारित्रमोह के उदय के निमित्त से सम्यग्दृष्टि को गुणस्थानों की परिपाटी में बन्ध कहा है परन्तु वह बन्ध भी निर्जरारूप ही जानना चाहिए क्योंकि सम्यग्दृष्टि को जैसे मिथ्यात्व के उदयकाल में बँधा हुआ कर्म झड़ता है; उसी प्रकार नवीन बँधा कर्म भी झड़ता है। सम्यग्दृष्टि को कर्मों के स्वामित्व का अभाव है; इसलिए वे कर्म, उसे आगामी बन्धरूप नहीं हैं, निर्जरारूप ही हैं।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति, दूसरे का द्रव्य उधार लेकर आए तो उससे उसे ममत्वबुद्धि नहीं होती है। वर्तमान में उस द्रव्य से कुछ कार्य कर लेना हो तो वह करके, उस द्रव्य के स्वामी को प्रतिज्ञा के अनुसार निश्चित समय पर वापस दे देता है। जब तक वह द्रव्य उसके घर में भी पड़ा रहता है, तब तक भी उसे उससे ममत्व नहीं होता है; अत: उस पुरुष को उस द्रव्य का बन्धन भी नहीं है, वह तो अन्य को वापस दे देने के समान ही है।

तैसैं ही ज्ञानी कर्मद्रव्य कूं जानैं है, तातैं ममत्व नाहीं है सो छता भी निर्जरा सारिषा ही है, अैसैं जाननां॥

वहुरि ए निःशंकित आदिक आठ गुण व्यवहारनय करि, व्यवहार मोक्षमार्ग परि लगाय लेणें।

तहां जिनवचन विषै संदेह नहीं, भय आयें व्यवहार दर्शन ज्ञान चारित्र तैं चिगनां नाही सो निःशंकितपणां है॥

वहुरि संसार देह भोग की वांछा करि तथा परमत की वांछा करि व्यवहार मोक्षमार्ग तैं चिगै नाही सो निःकांक्षितपणां है॥

वहुरि अपवित्र दुर्गंधादिक वस्तु के निमित्त तैं व्यवहार मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति मैं ग्लानि न करै सो निर्विचिकित्सा है॥

वहुरि देव शास्त्र गुरु, लोक की प्रवृत्ति, अन्य मतादिक, तत्त्वार्थ का स्वरूप विषै मूढता न राषै, यथार्थ जानि प्रवर्त्तै सो अमूढदृष्टि है॥

वहुरि धर्मात्मा मैं कर्म के उदय तैं दोष उपजै, ताकूं गौण करै अर व्यवहार मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति कूं वधावै सो उपगूहण तथा उपवृंहण है॥

उसी प्रकार ज्ञानी, कर्म-द्रव्य को पराया जानता है, इसलिए उसमें ममत्व नहीं करता है; अतः कर्म के विद्यमान होने पर भी वह निर्जरा के समान ही है – ऐसा जानना।

इसी प्रकार निःशङ्कित आदि आठ गुणों को व्यवहारनय की अपेक्षा से व्यवहार मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में भी लगा लेना चाहिए, समझ लेना चाहिए —

१. जिन-वचन में सन्देह नहीं करना तथा भय आने पर, व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र से नहीं छूटना, **निशङ्कितगुण** है।

२. संसार-देह-भोग की वाञ्छा और परमत की वाञ्छा करके, व्यवहार मोक्षमार्ग से नहीं हटना, **निःकाक्षित गुण** है।

३. अपवित्र, दुर्गन्धित आदि वस्तुओं के निमित्त से, व्यवहार मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति में ग्लानि नहीं करना, **निर्विचिकित्सागुण** है।

४. देव-शास्त्र-गुरु, लोक की प्रवृत्ति, अन्य मतादि, तत्त्वार्थ के स्वरूप आदि में मूढ़ता नहीं रखना, यथार्थ जान कर प्रवर्तना, **अमूढ़दृष्टिगुण** है।

५. धर्मात्मा में कर्म के उदय से उत्पन्न हुए दोषों को गौण करना और व्यवहार मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति को बढ़ाना, क्रमशः **उपगूहन और उपवृंहणगुण** हैं।

६. व्यवहार मोक्षमार्ग से डिगते हुए को स्थिर करना, **स्थितिकरणगुण** है।

७. व्यवहार मोक्षमार्ग में प्रवर्तनेवालों से विशेष अनुराग होना, **वात्सल्यगुण** है।

वहुरि व्यवहार मोक्षमार्ग तैं चिगते कूं थिरता करै सो स्थितीकरण है॥

वहुरि व्यवहार मोक्षमार्ग मैं प्रवर्त्तनेंवाले तैं विशेष अनुराग होय सो वात्सल्य है॥

वहुरि व्यवहार मोक्षमार्ग का अनेक उपाय करि उद्योत करै सो प्रभावना है॥

सो ए व्यवहारनय प्रधान करि कहे हैं॥ सो इहां निश्चय प्रधान कथन विषै इनिकी गौणता है, सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाणदृष्टि मैं दोऊ ही प्रधान हैं, स्याद्वादमत मैं किछू विरोध है नाही॥ छ॥

अव, निर्जरा अधिकार कूं पूर्ण कीया सो निर्जरा का स्वरूप यथार्थ जाननेंवाला अर कर्म का नवीन वंध रोकि, निर्जरा करनेंवाला जो सम्यग्दृष्टी, ताकी महिमा करै है॥

॥ मन्दाक्रान्ता॥

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः, सङ्गतोऽष्टाभिरङ्गैः,
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनय-न्निर्जरोज्जृंभणेन।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसा-दादिमध्यान्तमुक्तं,
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाऽभोगरङ्गं विगाह्य॥ ३०॥

॥ अर्थ॥ सम्यग्दृष्टी जीव है सो आप स्वयमेव अपनें निजरस मैं मस्त भया संता, आदि मध्य अंत करि रहित सर्वव्यापक एकप्रवाहरूप धारावाही ज्ञानरूप होय करि अर आकाश का मध्यरूप जो रंगभूमि अतिनिर्मल, ता विषै अवगाहन करि नृत्य करै है॥

---

८. व्यवहार मोक्षमार्ग को अनेक उपायों से प्रकाशित करना, **प्रभावनागुण** है।

यह सब कथन व्यवहारनय की प्रधानता से कहा है लेकिन यहाँ निश्चयनयप्रधान कथन में इनकी गौणता है। सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाणदृष्टि में दोनों ही प्रधान हैं; अतः स्याद्वाद मत में कुछ भी विरोध नहीं हैं।

इस प्रकार, यहाँ निर्जरा अधिकार पूर्ण हुआ; अब, निर्जरा का स्वरूप यथार्थ जाननेवाले, कर्म के नवीन बन्ध को रोकनेवाले एवं निर्जरा करनेवाले सम्यग्दृष्टि की महिमा करते हैं —

॥ दोहा॥

बन्ध न हो नव कर्म का, पूर्वबद्ध का नाश।
नृत्य करें अष्टांग में, सम्यग्ज्ञान प्रकाश॥
सम्यग्दृष्टि जीव तो, निजरस में ही मस्त।
आदि-अन्त से रहित है, ज्ञानस्वरूप प्रशस्त॥ १६२॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टि जीव, स्वयं अपने निजरस में मस्त होता हुआ, आदि-मध्य-अन्त से रहित सर्वव्यापक एकप्रवाहरूप धारावाहिक ज्ञानरूप होकर और विस्तृत आकाश के बीच अतिनिर्मल

कैसा है सम्यग्दृष्टी। नवीन वंध कूं तौ पूर्वोक्त प्रकार रोकता संता है॥ वहुरि पहली वांध्या था, ताकूं अपनें अष्ट अंगनि करि सहित भया संता, निर्जरा के प्रगट होनें करि नाश कूं प्राप्त करता संता है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ सम्यग्दृष्टी कै शंकादिक करि कीया नवीन वंध तौ होय नहीं अर आठ अंगनि करि सहित है, तातैं निर्जरा का उदय होनें करि पूर्ववंध का नाश होय है सो एक प्रवाहरूप ज्ञानरूप रस का आप पान करि, जैसैं कोई मद पीय करि मग्न भया नृत्य के अषाडे मैं नृत्य करै है, तैसैं निर्मल आकाशरूप रंगभूमि मैं नृत्य करै है।

इहां कोई कहै, सम्यग्दृष्टी कै निर्जरा होनां तौ कहते आये अर वंध होनां न कह्या सो गुणस्थाननि की परिपाटी मैं, सिद्धांत मैं अविरत सम्यग्दृष्टी तैं लगाय वंध कह्या है अर घातिकर्मनि का कार्य, आत्मा का गुण घात करनां है सो दर्शन ज्ञान सुख वीर्य, इनि गुणनि का घात भी विद्यमान है सो चारित्रमोह का उदय, नवीन वंध भी करै ही है अर मोह के उदय मैं भी वंध न मानिये तौ मिथ्यादृष्टी कै मिथ्यात्व अनंतानुवंधी का उदय होतैं भी वंध का न होनां क्यों न मानिये॥

ताका समाधान॥ जो वंध होनें मैं प्रधान मिथ्यात्व अनंतानुवंधी का उदय ही है॥ अर सम्यग्दृष्टी कै तिनिका उदय का अभाव है सो चारित्रमोह के उदय तैं यद्यपि सुखगुण का घात है अर अल्प स्थिति अनुभाग लीयें मिथ्यात्व अनंतानुवंधी विना तथा तिनि की लार की अन्य प्रकृति विना घातिकर्म की

रङ्गभूमि में अवगाहन करके नृत्य करता है।

कैसा है सम्यग्दृष्टि? – नवीन बन्ध को पूर्वोक्त प्रकार से रोकता हुआ तथा अपने आठ अङ्गों से सहित होता हुआ, निर्जरा प्रगट होने से, पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करता है।

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि को शङ्का आदि के कारण होनेवाला नवीन बन्ध तो होता नहीं है और आठ अङ्गों से सहित होने के कारण निर्जरा का उदय होने से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश होता है; इसलिए जैसे कोई पुरुष, मद्यपान करके मग्न होकर नृत्य के अखाड़े में नृत्य करता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि, एकप्रवाहरूप ज्ञानरस को पीकर निर्मल आकाशरूपी रङ्गभूमि में नृत्य करता है।

यहाँ कोई कहता है कि आप सम्यग्दृष्टि को निर्जरा का होना और बन्ध का नहीं होना कहते हो, परन्तु सिद्धान्तग्रन्थों के अनुसार गुणस्थानों की परिपाटी में अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर आगे भी बन्ध कहा है तथा घातिकर्मों का कार्य आत्मा के गुणों का घात करना है, इसलिए दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य आदि गुणों का घात भी होता है; अत: सम्यग्दृष्टि, चारित्रमोह के उदय में नवीन बन्ध भी करता है। यदि मोह के उदय में भी बन्ध न माना जाए तो फिर मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का उदय होते हुए भी बन्ध का नहीं होना क्यों न माना जाए?

इसका **समाधान** यह है कि बन्ध के होने में प्रधान हेतु तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का उदय ही है और सम्यग्दृष्टि को इनके उदय का अभाव है। यद्यपि चारित्रमोह के उदय से सुखगुण का घात होता है तथा मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी और इनके साथ की अन्य प्रकृतियों के बिना, घातिकर्म

प्रकृतिनि का तथा अघातिकर्म की प्रकृतिनि का वंध भी होय है, तौऊ जैसा मिथ्यात्व अनंतानुवंधी सहित होय, तैसा होय नाही।

अनंत संसार का कारण तौ मिथ्यात्व अनंतानुवंधी हैं, तिनिका[१] अभाव भयें पीछैं, तिनिका वंध होय नाही अर आत्मा ज्ञानी भया, तव अन्य वंध की कोंन गिणती करै। वृक्ष की जड कटें पीछैं, हरे पान रहनें का कहा अवधि, तातैं इस अध्यात्मशास्त्र विषै तो सामान्यपणैं ज्ञानी अज्ञानी होनें ही का प्रधान कथन है। ज्ञानी भयें पीछैं, किछू कर्म रहै हैं, ते सहज ही मिटते जायगें॥

जैसे कोई पुरुष दरिद्री था सो झूंफड़ी मैं वसै था, ताकूं भाग्य उदै करि वडा महल की धनसहित प्राप्ति भई, तामैं वहुत दिन का कजोडा भर्‌या था सो या पुरुष नैं आय प्रवेश कीया, तिस ही दिन तैं यह तौ महल का धणी संपदावान वणि गया। अव, कजोडा झाडनां है सो अनुक्रम तैं अपनां वल कै अनुसार झाडै है। जव सर्व झडि जायगा, उज्जल होय जायगा, तव परमानंद भोगैहीगा, अैसैं जाननां॥ छ॥

अैसै रंगभूमि मैं निर्जरा का प्रवेश भया था सो अपनां स्वरूप प्रगट दिषाय निकसि गया है[२]॥ छ॥

॥ सवइया तेईसा॥

सम्यकवंत महंत सदा, समभाव रहै दुख संकट आयें।
कर्म नवीन वंधै न तवैं, अर पूरव वंध झडै विन भायें॥

की प्रकृतियों तथा अघातिकर्म की प्रकृतियों का अल्प स्थिति-अनुभागसहित बन्ध भी होता है; तथापि मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी के साथ होनेवाले बन्ध जैसा नहीं होता है।

अनन्त संसार का कारण तो मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी हैं, इसलिए उनका अभाव हो जाने के बाद उनका बन्ध तो होता ही नहीं है तथा आत्मा ज्ञानी हो गया है तो **अन्य बन्ध की गिनती ही कौन करे? वृक्ष की जड़ कट जाने के बाद हरे पत्ते कितने समय तक रहेंगे?** इसलिए इस अध्यात्मशास्त्र में सामान्यरूप से ज्ञानी-अज्ञानी होने का ही प्रधानरूप से कथन है। ज्ञानी हो जाने के बाद भी कुछ कर्म रहते हैं, परन्तु वे सहज ही [क्रम से] नष्ट होते जाएँगे।

जिस प्रकार कोई दरिद्र पुरुष, झोपड़ी में रहता था। उसे भाग्योदय से धन-सम्पन्न विशाल महल की प्राप्ति होती है, परन्तु उसमें बहुत दिनों का कूड़ा-कचरा भरा है। वह पुरुष, जिस दिन महल में आकर प्रवेश करता है, उसी दिन से वह तो महल का मालिक और सम्पदावान बन जाता है। अब तो उसे मात्र कूड़ा झाड़ना ही शेष रह गया है, उसे वह अनुक्रम से अपने बल के अनुसार झाड़ता रहता है। जब उसका सारा कचरा झड़ जाएगा, उज्ज्वल हो जाएगा; तब वह परमानन्द को भोगेगा ही – ऐसा जानना।

इस प्रकार रङ्गभूमि में निर्जरातत्त्व का प्रवेश हुआ था, वह अपना स्वरूप दिखा कर चला गया।

---

१. ताका - 'अ' प्रति पाठ २. *निकशि गया* - 'ब' प्रति पाठ

पूरण अंग सुदर्शनरूप, धरै निति ज्ञान वढै निज पायें।
यों सिवमारग[१] साधि निरंतर, आनंदरूप निजातम थायें॥ १॥

इहां ताईं गाथा तौ २३६ भई अर कलसा १६२ भये॥ छ॥[२]

ऐसैं समयसार नाम ग्रंथ की आत्मख्याति नामा टीका की वचनिका विषै[३] छठा निर्जरा अधिकार पूर्ण भया॥ छ॥॥ श्री॥[४]

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

॥ सवैया तेईसा॥

सम्यक्वन्त महन्त सदा, समभाव रहै दुःख सङ्कट आये।
कर्म नवीन बँधै न तबै, अर पूरव बन्ध झड़े बिन भाये॥
पूरण अङ्ग सुदर्शनरूप, धरै नित ज्ञान बढ़ै निज पाये।
यों शिवमारग साधि निरन्तर, आनन्दरूप निजातम थाये॥

[अर्थ – महिमावन्त सम्यग्दृष्टि सदा दुःख-सङ्कट आने पर समभाव से रहता है, तब नवीन कर्मों का बन्ध उसे नहीं होता और पूर्वबद्ध कर्म बिना उदय में आये अथवा बिना भोगे झड़ जाते हैं, निर्जरित हो जाते हैं। वह सभी अङ्गों को पूर्ण धारण करनेवाले सम्यग्दर्शन का धारक होता है, उसके ज्ञान में निरन्तर वृद्धि होती है और वह अपनी आत्मा का अनुभव करता है। इस प्रकार वह मोक्षमार्ग को साध कर, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप निजात्मा बन जाता है।]

यहाँ तक गाथा तो २३६ हुई और कलश १६२ हुए।[५]

इस प्रकार [आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव प्रणीत] समयसार नामक ग्रन्थ की [आचार्यश्री अमृतचन्द्रदेव विरचित] आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका की [पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ाकृत] श्रीसमयसार वचनिका में छठवाँ 'निर्जरा अधिकार' पूर्ण होता है।[६]

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

---

१. *शिवमारग* – 'ब' प्रति पाठ
२. व ४-६. यहाँ, सम्पादन एवं एकरूपता की दृष्टि से अनुच्छेदों को आगे-पीछे किया है।
३. *टीका विषै* – 'अ' प्रति पाठ

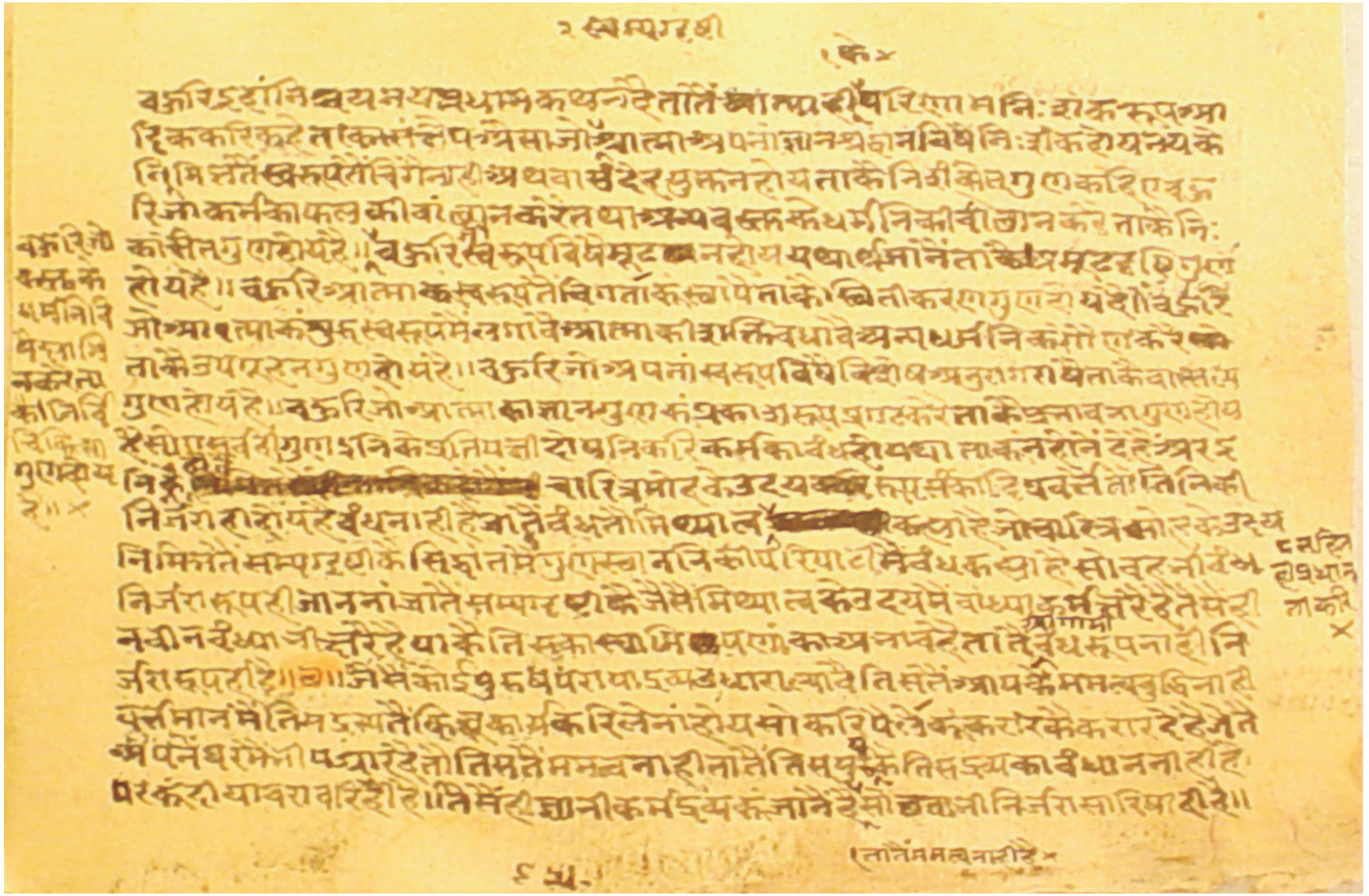

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १५४ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर निर्जरा अधिकार की गाथा ४४ (२३६) के भावार्थ के अन्तर्गत सम्यग्दृष्टि के निश्चयनय प्रधान आठ गुणों की चर्चा करते हुए लिखा है – **'इहां निश्चयनय प्रधान कथन है, तातैं आत्मा ही के परिणाम निःशंकरूप आदिक करि कहे।'**

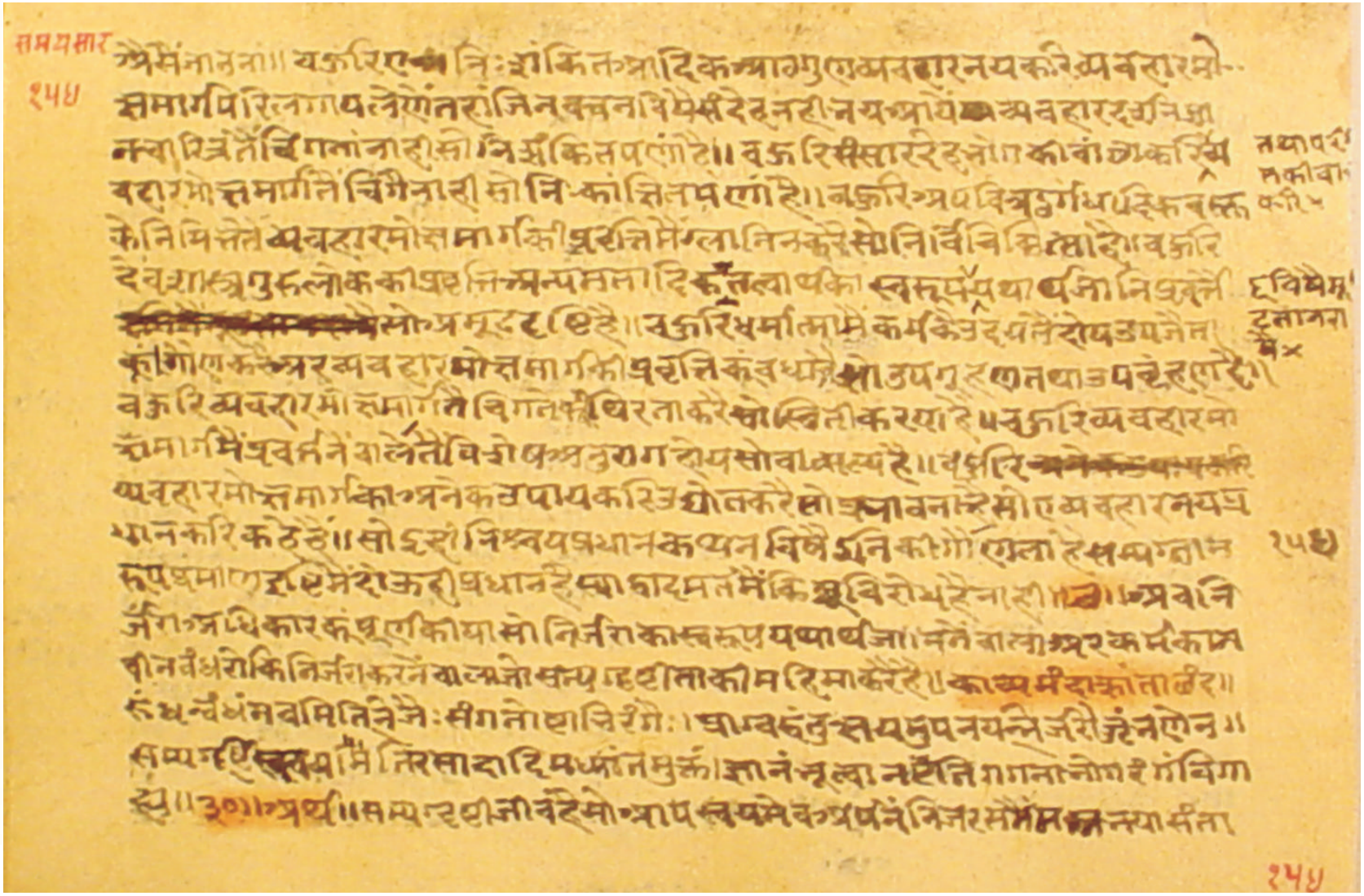

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १५४ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर निर्जरा अधिकार के अन्तर्गत पहली पंक्ति में ही सम्यग्दृष्टि के व्यवहारनय प्रधान आठ अङ्गों (गुणों) का कथन करते हुए लिखा है – '**वहुरि ए निःशंकित आदिक आठ गुण व्यवहारनय करि, व्यवहार मोक्षमार्ग परि लगाय लेणें।**'

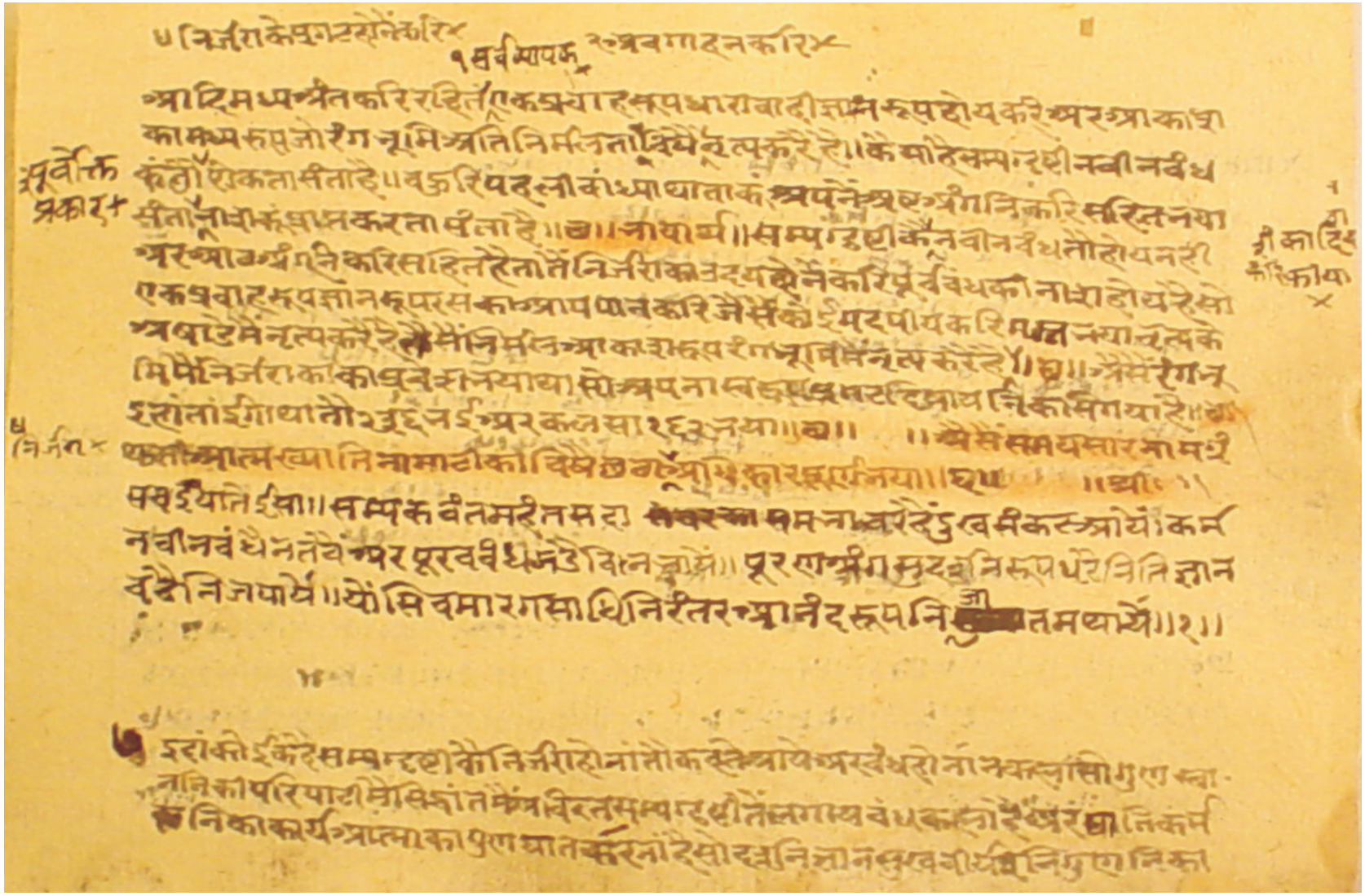

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १५५ का अगला भाग है। यह निर्जरा अधिकार का अन्तिम पृष्ठ है। वचनिकाकार ने अन्त में मङ्गलसूचक 'सवैया तेईसा' छन्द में लिखा है – **'सम्यकवंत महंत सदा, समभाव रहै दुख संकट आयें। कर्म नवीन वंधै न तवैं, अर पूरव वंध झडै विन भायें॥'**

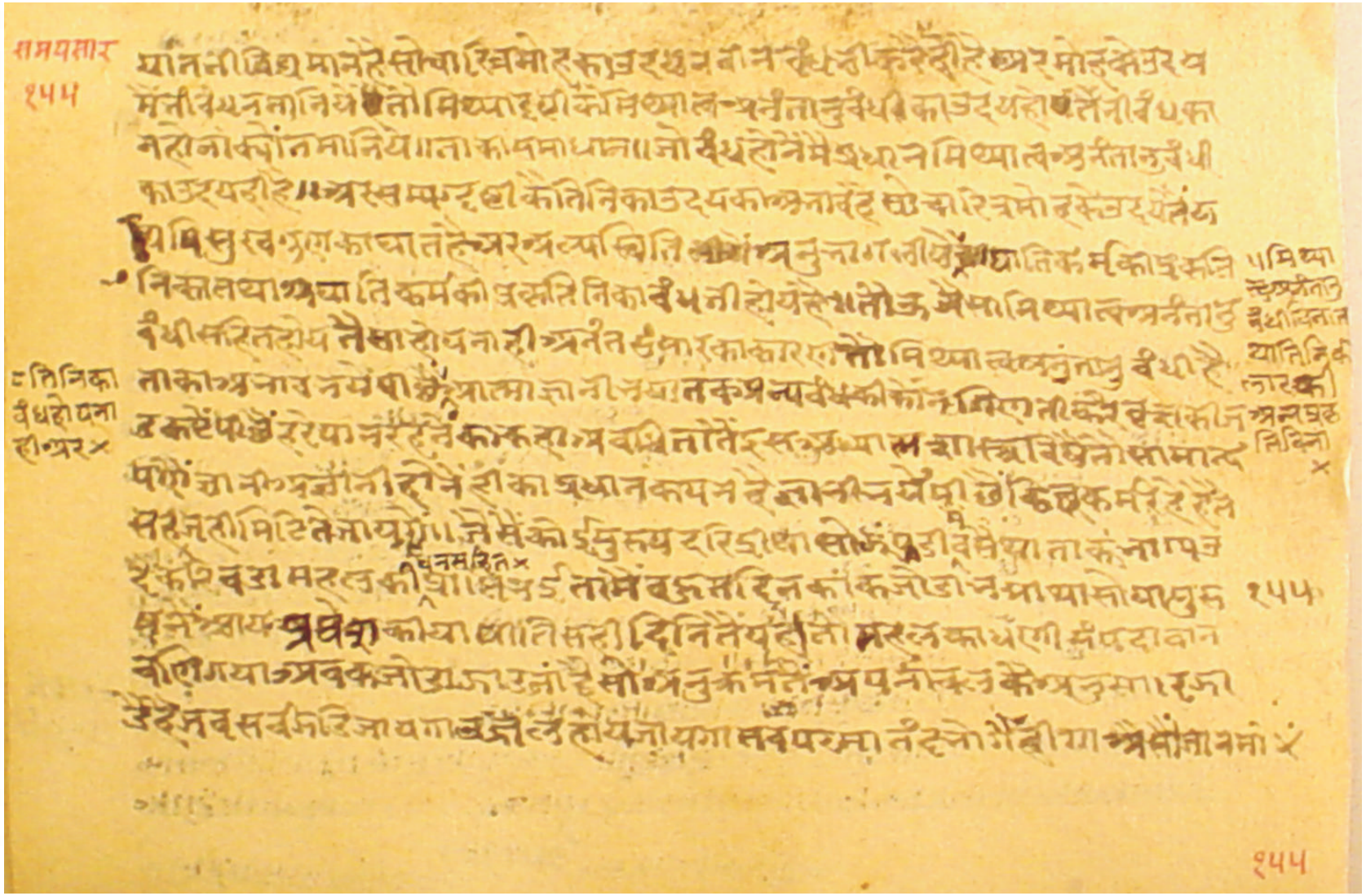

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १५५ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर निर्जरा अधिकार के समापन के बाद ऊपर से सातवीं पंक्ति में लिखा है – **'अनंत संसार का कारण तौ मिथ्यात्व अनंतानुवंधी हैं, तिनिका अभाव भयें पीछैं, तिनिका वंध होय नाही अर आत्मा ज्ञानी भया, तव अन्य वंध की कोंन गिणती करै।'**

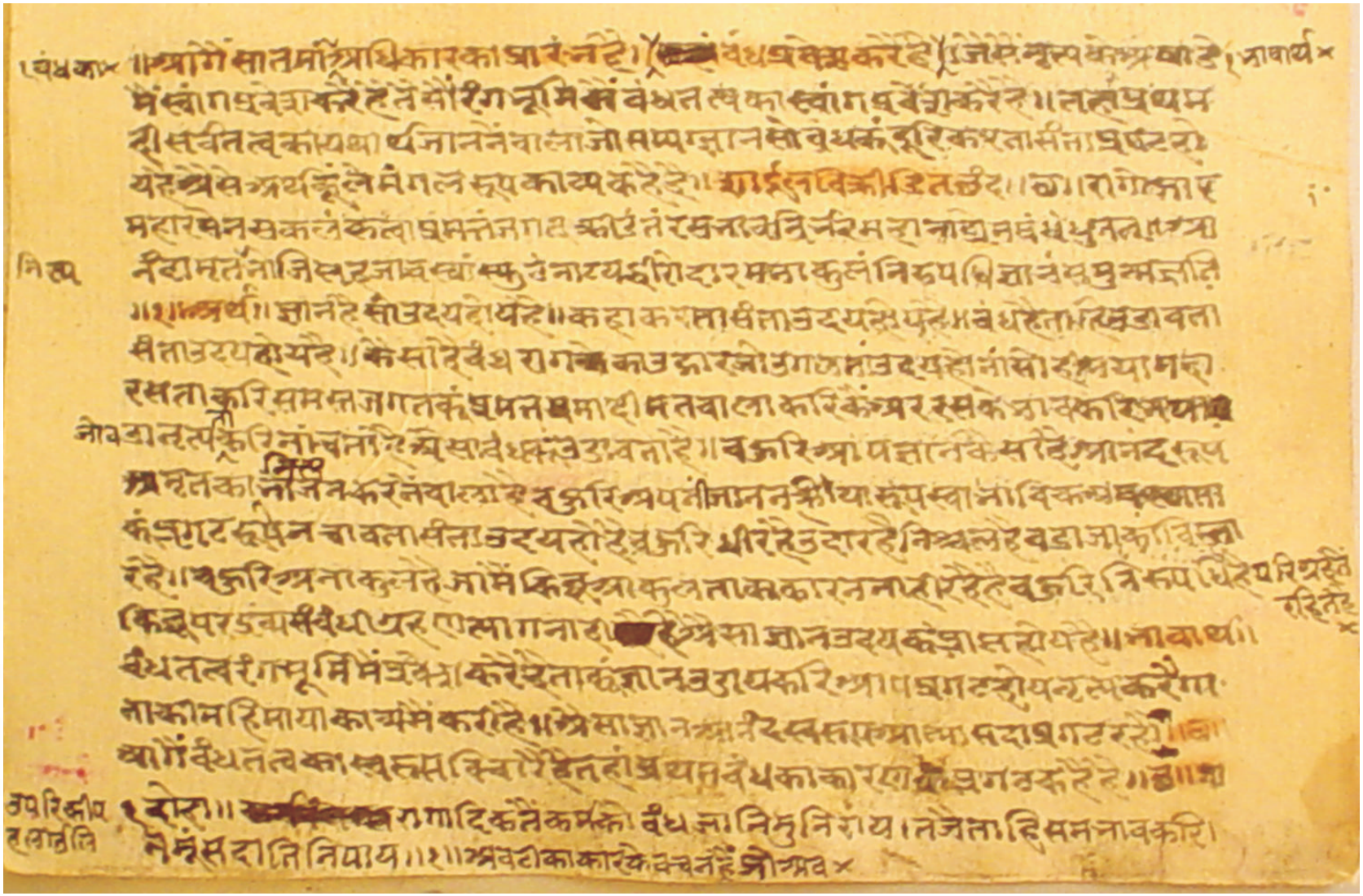

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १५६ का अगला भाग है। यहाँ सातवाँ बन्ध अधिकार प्रारम्भ होता है – **'आगैं, सातमां वंध का अधिकार का प्रारंभ है॥ ॥ दोहा ॥ रागादिक तैं कर्म को, वंध जानि मुनिराय। तजैं तिनहि समभाव करि, नमूं सदा तिनि पाय॥'**

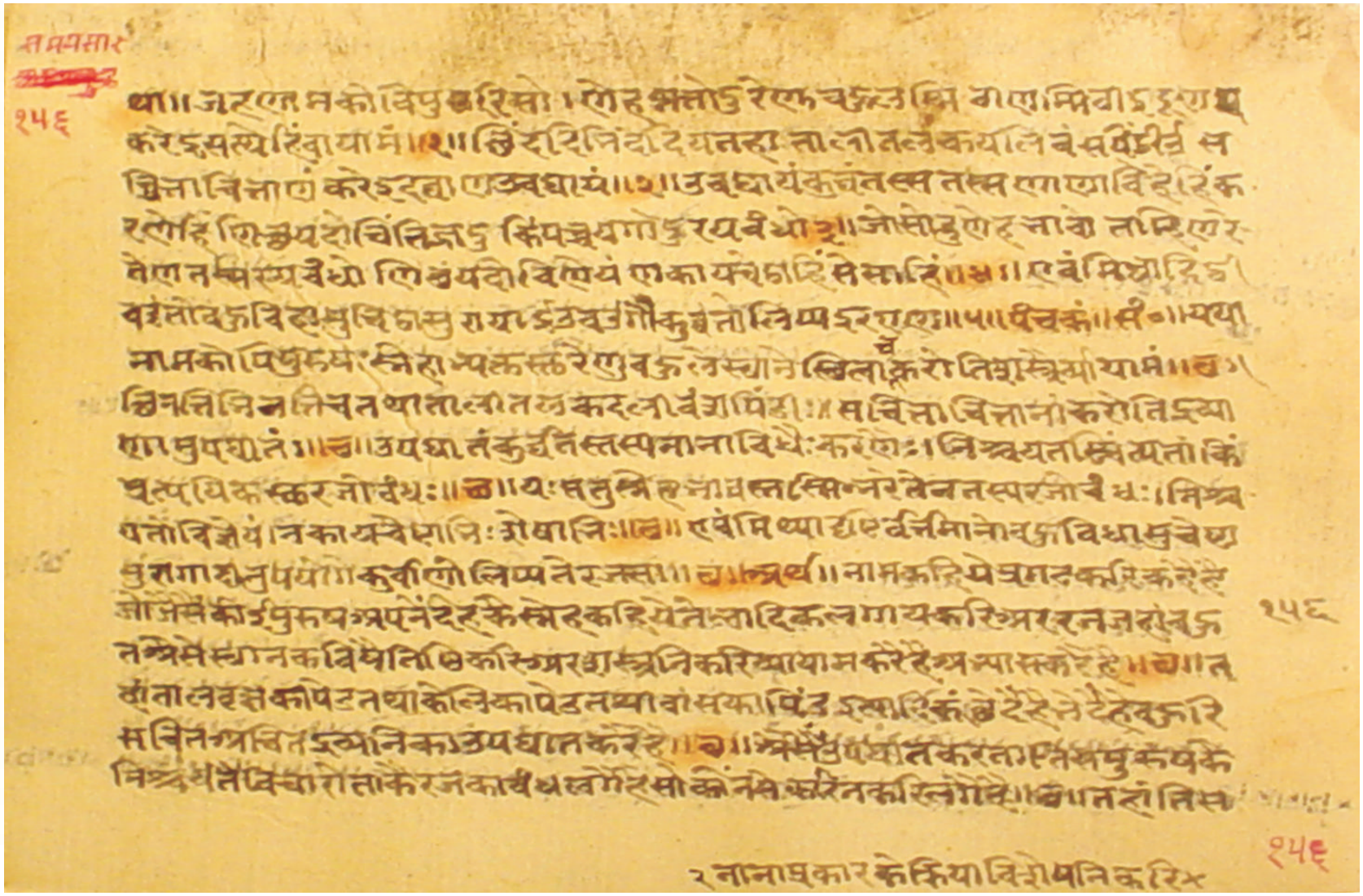

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १५६ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर बन्ध अधिकार की प्रारम्भिक पाँच गाथाओं का प्रकरण है, इनमें बन्ध के कारणों की चर्चा करनेवाली गाथा, ऊपर से चौथी पंक्ति में लिखी है – '**जो सो दु णेहभावो, तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।**

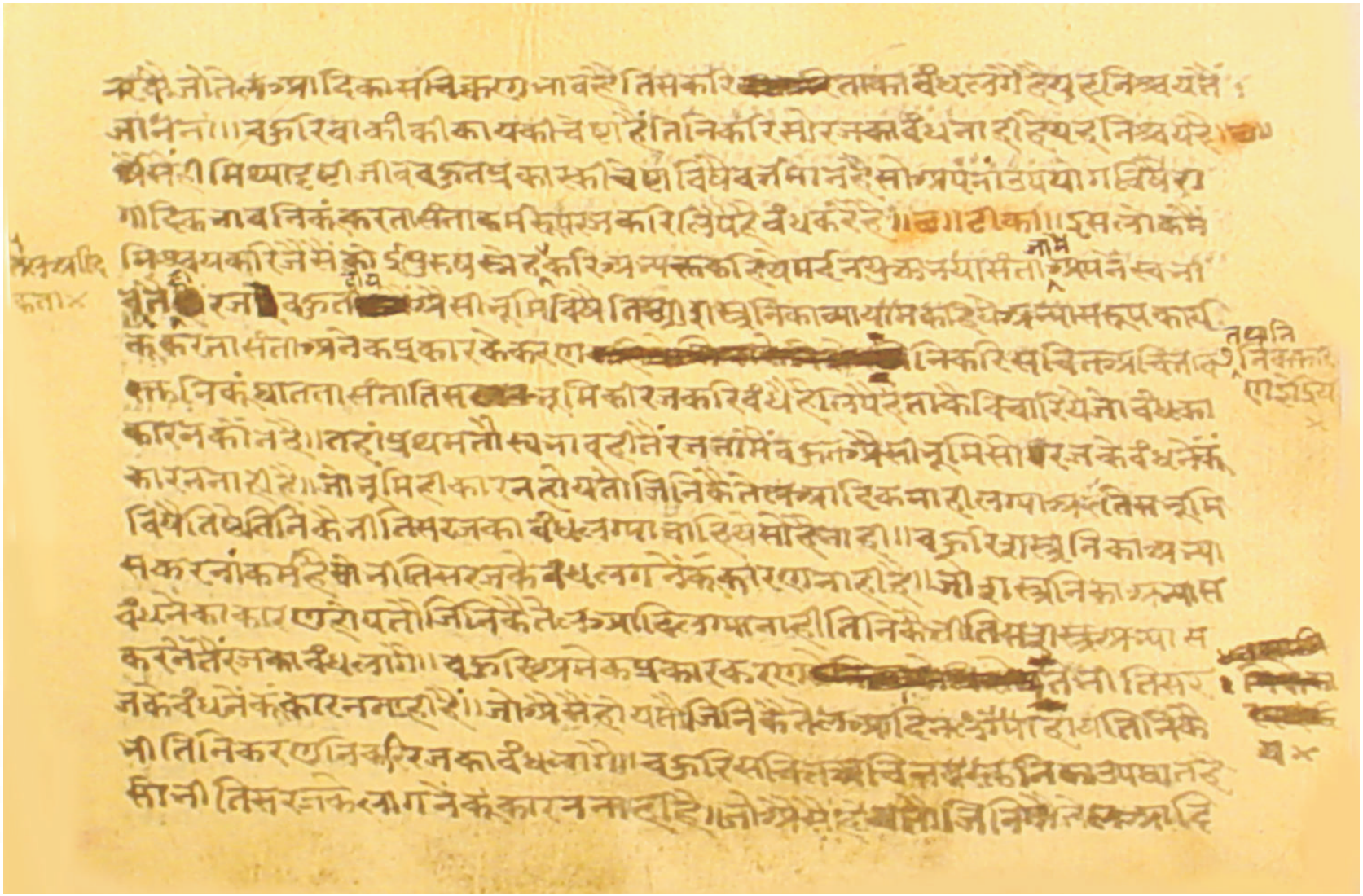

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १५७ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर पूर्वोक्त चौथी गाथा का अर्थ लिखा है – **'तहां तिस नर कै जो तेल आदि का सचिक्कणभाव है, तिस करि ताका वंध लगै है, यह निश्चय तैं जाननां ॥ वहुरि वाकी की काय की चेष्टा**

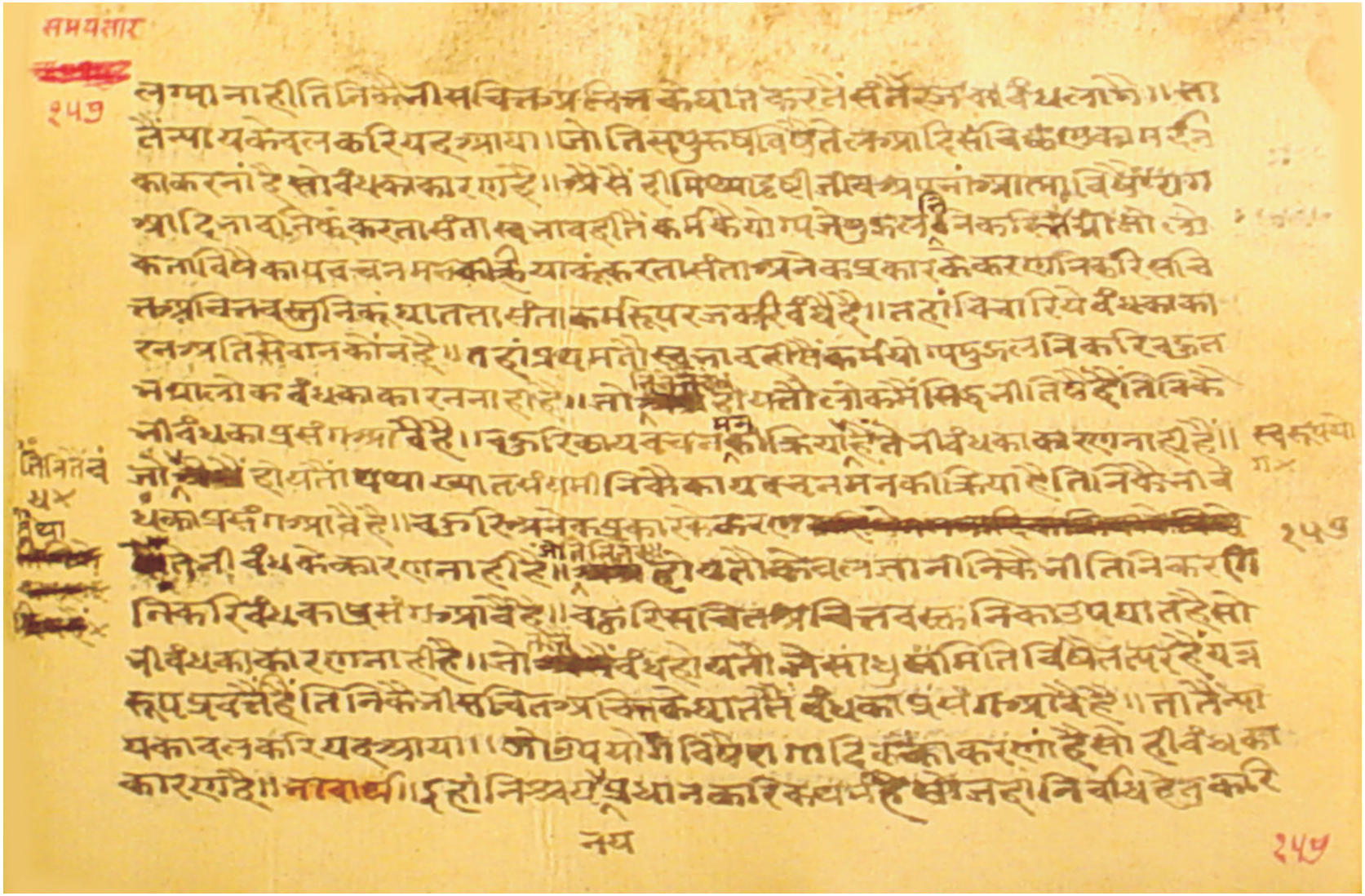

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १५७ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर बन्ध अधिकार की प्रारम्भिक पाँच गाथाओं की ही टीका के अन्त में नीचे से तीसरी पंक्ति में लिखा है – **'तातैं न्याय का वल करि ही यह आया॥ जो उपयोग विषै रागादिक का**

७

॥ बन्ध अधिकार ॥

आगैं, सातमां वंध का अधिकार का प्रारंभ है॥

॥ दोहा ॥

रागादिक तैं कर्म को, वंध जानि मुनिराय।
तजैं तिनहि[१] समभाव करि, नमूं सदा तिनि पाय॥ १॥

अव टीकाकार के वचन हैं जो अव वंध प्रवेश करै है॥

॥ भावार्थ॥ जैसैं नृत्य के अषाडे मैं स्वांग प्रवेश करै है, तैसैं रंगभूमि मैं वंधतत्व का स्वांग प्रवेश करै है॥

तहां प्रथम ही सर्व तत्व का यथार्थ जाननेंवाला जो सम्यग्ज्ञान सो वंध कूं दूरि करता संता प्रगट होय है, अैसे अर्थ कूं ले मंगलरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

रागोद्गारमहारसेन सकलं, कृत्वा प्रमत्तं जगत्,
क्रीडन्तं रसभावनिर्भरमहा-नाट्येन बन्धं धुनत्॥

अब, सातवाँ बन्ध अधिकार, प्रारम्भ होता है —

रागादिक से कर्म का, बन्ध जान मुनिराय।
तजें उन्हें समभाव से, नमूँ सदा तिनि पाय॥

[**अर्थ** – मुनिराज, रागादि से कर्म का बन्ध जान कर, उन्हें समभावपूर्वक त्याग देते हैं – ऐसे मुनिराजों के चरणों में मैं सदा नमन करता हूँ।]

यहाँ, टीकाकार कहते हैं कि अब बन्ध प्रवेश करता है।

भावार्थ – जैसे, [लोक में] नृत्य के अखाड़े (रङ्गभूमि) में स्वाँग प्रवेश करता है, वैसे ही यहाँ [आध्यात्मिक] रङ्गभूमि में बन्धतत्त्व का स्वाँग प्रवेश करता है।

वहाँ प्रथम ही, सर्व तत्त्वों को यथार्थ जाननेवाला सम्यग्ज्ञान, बन्ध को दूर करता हुआ प्रगट होता है – ऐसे अर्थ को लेकर मङ्गलरूप काव्य कहते हैं —

आनन्दाऽमृतनित्यभोजि सहजाऽवस्थां स्फुटं नाटयत्-
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि-ज्ञानं समुन्मज्जति॥ १॥

॥ अर्थ॥ ज्ञान है सो उदय होय है॥

कहा करता संता उदय होय है॥ वंध है, ताहि उडावता संता उदय होय है॥

कैसा है वंध। राग का उद्गार जो उगलनां, उदय होनां, सो ही भया महारस, ता करि समस्त जगत कूं प्रमत्त प्रमादी मतवाला करिकैं अर रस के भाव करि भर्या जो वडा नृत्य, ता करि नांचता है, अैसा वंध कूं उडावता है॥

वहुरि आप ज्ञान कैसा है। आनंदरूप अमृत का नित्य भोजन करनेंवाला है। वहुरि अपनीं जाननक्रियारूप स्वाभाविक अवस्था, ताकूं प्रगटरूप नचावता संता उदय हो है॥ वहुरि धीर है, उदार है, निश्चल है, वडा जाका विस्तार है॥ वहुरि अनाकुल है, जामैं किछू आकुलता का कारन नाही रहै है। वहुरि निरुपधि है, परिग्रह तैं रहित है, किछू परद्रव्यसंवंधी ग्रहण त्याग नाही है। अैसा ज्ञान उदय कूं प्राप्त होय है॥

॥ भावार्थ॥ वंधतत्व रंगभूमि मैं प्रवेश करै है, ताकूं ज्ञान उडाय करि आप प्रगट होय नृत्य करैगा, ताकी महिमा या काव्य मैं प्रगट करी है॥ अैसा ज्ञान आनंदस्वरूप आत्मा सदा प्रगट रहौ॥ छ॥

॥ हरिगीतिका॥

मदमत्त हो मदमोह में, इस बन्ध ने नर्तन किया।
रस-राग के उद्गार से, सब जगत् को पागल किया॥
उदार अरु आनन्दभोजी, धीर निरुपधि ज्ञान ने।
अति ही अनाकुलभाव से, उस बन्ध का मर्दन किया॥ १६३॥

अर्थ – ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) उदित होता है।

क्या करता हुआ ज्ञान उदित होता है? – बन्ध को उड़ाता हुआ उदित होता है।

कैसा है बन्ध? – जो राग के उद्गार अर्थात् उसके उगलने अथवा उसके उदित होनेरूप महारस से समस्त जगत् को प्रमत्त, प्रमादी या मतवाला बना कर [अनेक] रस के भाव से भरा हुआ महानृत्य करके नाचता है – ऐसे बन्ध को उड़ानेवाला [ज्ञान] है।

स्वयं ज्ञान कैसा है? – वह आनन्दरूप अमृत का नित्य भोजन करनेवाला है, वह अपनी जाननक्रियारूप स्वाभाविक अवस्था को प्रगटरूप से नचाता हुआ उदित होता है। वह **धीर** है, **उदार** है, निश्चल है और महान विस्तारवाला है। वह **अनाकुल** है, उसमें आकुलता का कोई कारण नहीं है। **निरुपधि** है अर्थात् परिग्रह से रहित है, उसमें परद्रव्यसम्बन्धी कुछ भी ग्रहण-त्याग नहीं है – ऐसा **ज्ञान,** उदय को प्राप्त होता है।

आगैं, वंधतत्व का स्वरूप विचारै है, तहां प्रथम वंध का कारण कूं प्रगट कहै है।

जह णाम को वि पुरिसो, णेहब्भत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य, करेइ सत्थेहिं वायामं॥ १॥
छिंददि भिंददि य तहा, तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं, करेइ दव्वाणमुवघायं॥ २॥
उवघायं कुव्वंतस्स, तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्ज दु, किं पच्चयगो दु रयबंधो॥ ३॥
जो सो दु णेहभावो, तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं, ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं॥ ४॥
एवं मिच्छादिट्ठी, वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु।
रायाई उवओगे, कुव्वंतो लिप्पइ रएण॥ ५॥

॥ पंचकं ॥

भावार्थ – बन्धतत्त्व रङ्गभूमि में प्रवेश करता है, उसे उड़ा कर ज्ञान स्वयं प्रगट होकर नृत्य करेगा; उसकी महिमा इस काव्य में व्यक्त की है कि ऐसा ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा सदा प्रगट रहे।

अब, बन्धतत्त्व का स्वरूप विचारते हैं, वहाँ पहले बन्ध के कारण को प्रगट करते हैं —

जह णाम को वि पुरिसो[1], णेहब्भत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य, करेदि सत्थेहिं वायामं॥ २३७॥
छिंददि भिंददि य तहा, तालीतलकदलिंवसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं, करेदि दव्वाणमुवघादं॥ २३८॥
उवघादं कुव्वंतस्स, तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु, किं पच्चयगो दु रयबंधो॥ २३९॥
जो सो दु णेहभावो, तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं, ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं॥ २४०॥

---

१. *पुरुसो* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

यथा नाम कोऽपि पुरुषः, स्नेहाऽभ्यक्तस्तु रेणुबहुले।
स्थाने स्थित्वा च, करोति शस्त्रैर्व्यायामम्॥ छ॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा, तालीतलकदलीवंशपिण्डीः।
सचित्ताचित्तानां, करोति द्रव्याणामुपघातम्॥ छ॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः।
निश्चयतश्चिन्त्यतां खलु[१], किं प्रत्ययिकस्तु रजोबन्धः॥ छ॥
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबन्धः।
निश्चयतो विज्ञेयं, न कायचेष्टाभिः शेषाभिः॥ छ॥
एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्तमानो बहुविधासु चेष्टासु।
रागादीनुपयोगे, कुर्वाणो लिप्यते रजसा॥ छ॥

॥ अर्थ ॥ नाम कहिये प्रगट करि कहै है जो जैसैं कोई पुरुष, अपनें देह कै स्नेह कहिये तेलादिक

एवं मिच्छादिट्ठी, वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु[२]।
रागादी उवओगे, कुव्वंतो लिप्पदि रएण[३]॥ २४१॥

जिस भाँति कोई पुरुष मर्दन, आप करके तेल का।
व्यायाम करता शस्त्र से, बहु रज भरे स्थानक खड़ा॥ २३७॥
अरु ताड़ केला बाँस आदि, छिन्न-भिन्न बहुत करे।
उपघात आप सचित्त और, अचित्त द्रव्यों का करे॥ २३८॥
बहु भाँति के करणादि से, उपघात करते उसी को।
निश्चयपने चिन्तन करो, रजबन्ध है किस कारणे?॥ २३९॥
यों जानना निश्चयपनें, चिकनाई जो उस नर विषैं।
रजबन्ध-कारण वही है, नहिं कायचेष्टा आदि हैं॥ २४०॥
इस भाँति मिथ्यादृष्टि जो, चेष्टा विविध में वर्तता।
उपयोग में रागादि करता, कर्मरज वह बाँधता॥ २४१॥

अर्थ – नाम[४] अर्थात् [उदाहरण से] स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार कोई पुरुष,

---

१. *खलु* – 'अ' 'ब' प्रति एवं अगास प्रकाशन में पाठ नहीं
२. *चेट्ठासु* – तात्पर्यवृत्ति पाठ
३. *रयेण* – तात्पर्यवृत्ति, अगास एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

लगाय करि अर रज जहां वहुत, अैसे स्थानक विषै तिष्ठि[१] करि अर शस्त्रनि करि व्यायाम करै है, अभ्यास करै है॥ छ॥

तहां तालवृक्ष का पेड तथा केलि का पेड तथा वांस[२] का पिंड इत्यादि कूं छेदै है, भेदै है। वहुरि सचित अचित द्रव्यनि का उपघात करै है॥ छ॥

अैसैं नाना प्रकार के क्रियाविशेषनि[३] करि उपघात करता तिस पुरुष कै निश्चय तैं विचारो, ताकै रज का वंध लगै है सो कोंनसे कारन करि लगै है॥ छ॥

तहां तिस नर कै जो तेल आदि का सचिक्कणभाव है, तिस करि ताका वंध लगै है, यह निश्चय तैं जाननां॥ वहुरि वाकी की काय की चेष्टा हैं, तिनि करि सो रज का वंध नाही है, यह निश्चय है॥ छ॥

अैसैं ही मिथ्यादृष्टी जीव वहुत प्रकार की चेष्टा विषै वर्त्तमान है सो अपनां उपयोग विषै रागादिक भावनि कूं करता संता कर्मरूप रज करि लिपै है, वंध करै है॥ छ॥

॥ टीका॥ इस लोक मैं निश्चय करि जैसैं कोई पुरुष स्नेह तेल आदिक, ता करि अभ्यक्त कहिये मर्दनयुक्त भया संता, जामैं अपनें स्वभाव तैं ही रज वहुत होय, अैसी भूमि विषै तिष्ठ्या शस्त्रनि का व्यायाम कहिये अभ्याससरूप कार्य कूं करता संता, अनेक प्रकार के करणनि करि सचित अचित वस्तुनि कूं घातता संता, तिस भूमि की रज करि वंधै है, लिपै है।

अपने शरीर पर स्नेह अर्थात् तेल आदि लगा कर, जहाँ रज या धूल बहुत हो – ऐसे स्थान पर स्थित होकर, शस्त्रों से व्यायाम करता है, अभ्यास करता है॥ २३७॥

वहाँ तालवृक्ष, केले का पेड़, बाँसों का समूह इत्यादि का छेदन-भेदन करता है और अनेक सचित्त-अचित्त द्रव्यों का उपघात करता है॥ २३८॥

इस प्रकार नाना प्रकार की विशेष क्रियाओं या करणों के द्वारा उपघात करते हुए निश्चय से विचार करना चाहिए कि उस पुरुष को रज का बन्ध किस कारण से होता है?॥ २३९॥

वहाँ, उस पुरुष में जो तेल आदि की चिकनाईवाला भाव है, उससे उस रज का बन्ध होता है – यह निश्चय से जानना चाहिए; अत: उसे अन्य काय की चेष्टाओं से रज का बन्ध नहीं होता है – यह निश्चय है॥ २४०॥

इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव, अनेक प्रकार की चेष्टाओं में वर्तमान है, वह अपने उपयोग में रागादि भावों को करता हुआ कर्मरूपी रज से लिप्त होता है, बन्ध करता है॥ २४१॥

टीका – इस लोक में निश्चय से जिस प्रकार कोई पुरुष चिकने तेल आदि से **अभ्यक्त** अर्थात् मर्दनयुक्त होकर, जहाँ अपने स्वभाव से ही बहुत धूल भरी है – ऐसी भूमि में स्थित होता हुआ, शस्त्रों से व्यायाम अर्थात् अभ्याससरूप कार्य को करता हुआ और अनेक प्रकार के करणों से सचित्त-अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ; उस भूमि की रज से बँधता है, लिप्त होता है।

---

१. *तिष्टि* - 'ब' प्रति पाठ २. *वांश* - 'ब' प्रति पाठ ३. *करणानि* - 'ब' प्रति पाठ

ताकै विचारिये जो वंध का कारन कोंन[१] है॥

तहां प्रथम तौ स्वभाव ही तैं रज जामैं वहुत, अैसी भूमि सो रज के वंधनें कूं कारन नाही है॥ जो भूमि ही कारन होय तौ जिनि कै तेल आदिक नाही लग्या अर तिस भूमि विषै तिष्ठे, तिनिकै भी तिस रज का वंध लग्या चाहिये सो है नाही॥ वहुरि शस्त्रनि का अभ्यास करनां कर्म है सो भी तिस रज के वंध लगनें कूं कारण नाही है॥ जो शस्त्रनि का अभ्यास वंधनें का कारण होय तौ जिनिकै तेल आदि लग्या नाही, तिनिकै भी तिस शस्त्र अभ्यास करने तैं रज का वंध लागै॥ वहुरि अनेक प्रकार करण, ते भी तिस रज के वंधनें कूं कारन नाही हैं॥ जो अैसैं होय तौ जिनिकै तेल आदि न लग्या होय, तिनिकै भी तिनि करणनि करि रज का वंध लागै॥ वहुरि सचित्त अचित्त वस्तुनि का उपघात है सो भी तिस रज के लागनें कूं कारन नाही है॥ जो अैसैं होय तौ जिनिकै तेल आदि लग्या नाही, तिनिकै भी सचित्त अचित्त के घात करतैं संतें रज का वंध लागै॥

तातैं न्याय के वल करि ही यह आया॥ जो तिस पुरुष विषै तेल आदि सचिक्कण का मर्दन का करनां है सो वंध का कारण है॥

अैसैं ही मिथ्यादृष्टी जीव, अपनां आत्मा विषै राग आदि भावनि कूं करता संता स्वभाव ही तैं कर्म कै योग्य जे पुद्गल, तिनि करि भर्‌या जो लोक, ता विषै काय वचन मन की क्रिया कूं करता संता अनेक प्रकार के करणनि करि सचित्त अचित्त वस्तुनि कूं घातता संता कर्मरूप रज करि वंधै है॥

यहाँ विचार कीजिए कि रजबन्ध का कारण कौन है?

वहाँ प्रथम तो, स्वभाव ही से रजबहुल भूमि, रज के बन्ध में कारण नहीं है। यदि भूमि ही कारण हो तो जिनको तेल आदि नहीं लगा है और जो उस भूमि में स्थित हैं, उनको भी उस रज का बन्ध होना चाहिए, परन्तु ऐसा है नहीं। बहुत शस्त्रों का अभ्यास करना आदि कार्य भी, उस रज के बन्ध में कारण नहीं हैं। यदि शस्त्रों का अभ्यास बन्ध का कारण हो तो जिनको तेल आदि नहीं लगा है, उनको भी उस शस्त्र-अभ्यास से रजबन्ध होना चाहिए। अनेक प्रकार के करण या साधन भी उस रज के बन्ध में कारण नहीं हैं। यदि ऐसा हो तो जिनको तेल आदि नहीं लगा है, उनको भी उन करणों से रज का बन्ध होना चाहिए। तथा, सचित्त-अचित्त वस्तुओं का घात भी उस रज के बन्ध में कारण नहीं है। यदि ऐसा हो तो जिनको तेल आदि नहीं लगा है, उनको भी सचित्त-अचित्त वस्तुओं का घात करते हुए रज का बन्ध होना चाहिए।

अत: न्याय-बल से यह सिद्ध होता है कि उस पुरुष में जो तेल आदि की चिकनाई का मर्दन करना है, वही बन्ध का कारण है।

इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अपने आत्मा में रागादि भावों को करता हुआ, स्वभाव ही से कर्म के योग्य पुद्गलों से भरे हुए इस लोक में मन-वचन-काय की क्रियाओं को करता हुआ और अनेक प्रकार के करणों से सचित्त-अचित्त वस्तुओं को घातता हुआ; कर्मरूपी रज से बँधता है।

---

१. *इनिमैं कोंन* - 'ब' प्रति पाठ

तहां विचारिये, वंध का कारन अतिशयवान[१] कोंन है॥

तहां प्रथम तौ स्वभाव ही तैं कर्मयोग्य पुद्गलनि करि वहुत भर्‍या लोक, वंध का कारन नाही है॥ जो तिनितैं वंध होय तौ लोक मैं सिद्ध भी तिष्ठै हैं, तिनिकै भी वंध का प्रसंग आवै है॥ वहुरि काय वचन मन की क्रियास्वरूप योग हैं, ते भी वंध का कारण नाही हैं॥ जो तिनितैं वंध होय तौ यथाख्यातसंयमीनि कै काय वचन मन की क्रिया हैं, तिनिकै भी वंध का प्रसंग आवै है॥ वहुरि अनेक प्रकार के करण हैं, ते भी वंध के कारण नाही हैं॥ जो तिनितैं वंध होय तौ केवलज्ञानीनि कै भी तिनि करणनि करि वंध का प्रसंग आवै है॥ वहुरि सचित्त अचित्त वस्तुनि का उपघात है सो भी वंध का कारण नाही है॥ जो तातैं वंध होय तौ जे साधु, समिति विषै तत्पर हैं, यत्नरूप प्रवर्त्तैं हैं, तिनिकै भी सचित्त अचित्त के घात तैं वंध का प्रसंग आवै है॥

तातैं न्याय का वल करि ही यह आया॥ जो उपयोग विषै रागादिक का करणां है सो ही वंध का कारण है॥

॥ भावार्थ॥ इहां निश्चयनय प्रधान करि कथन है सो जहां निर्बाध हेतु करि सिद्ध होय सो ही निश्चय सो वंध का कारण विचार्‍या सो निर्वाध यह ही सिद्ध भया जो मिथ्यादृष्टी पुरुष राग द्वेष मोह भावनि कूं अपनें उपयोग विषै करै है सो ए रागादिक ही वंध के कारण हैं अर अन्य जो कर्मयोग्य पुद्गलनि तैं भर्‍या लोक तथा मन वचन काय के योग तथा अनेक करण तथा चेतन अचेतन का घात, ए वंध के कारण नाही हैं॥

यहाँ विचार करना चाहिए कि बन्ध का अतिशयवान् या असली कारण कौन है?

वहाँ प्रथम तो, स्वभाव ही से कर्मयोग्य पुद्गलों (कार्मणवर्गणा) से पूर्ण भरा हुआ लोक, बन्ध का कारण नहीं है। यदि उनसे (कार्मणवर्गणा से) बन्ध हो तो लोक में सिद्ध भी रहते हैं, उनको भी बन्ध का प्रसङ्ग आता है। मन-वचन-काय की क्रियास्वरूप योग भी बन्ध के कारण नहीं हैं। यदि उनसे बन्ध हो तो यथाख्यातचारित्र के धारक संयमियों को भी मन-वचन-काय की क्रिया है, उनको भी बन्ध का प्रसङ्ग आता है। अनेक प्रकार के करण (बाह्य उपकरण या संयोग) भी बन्ध के कारण नहीं हैं। यदि उनसे बन्ध हो तो केवलज्ञानी को भी उन करणों (अष्ट प्रातिहार्य आदि उपकरणों) से बन्ध का प्रसङ्ग आता है। सचित्त-अचित्त वस्तुओं का उपघात भी बन्ध का कारण नहीं है। यदि उनसे बन्ध हो तो जो साधु, समितियों को पालने में तत्पर हैं, यत्नाचाररूप प्रवर्तते हैं; उनको भी सचित्त-अचित्त वस्तुओं के घात से बन्ध का प्रसङ्ग आता है।

अत: न्याय-बल से यह सिद्ध होता है कि उपयोग में रागादि का करना ही बन्ध का कारण है।

भावार्थ – यहाँ निश्चयनय की प्रधानता से कथन है। जो निर्बाध हेतु से सिद्ध हो, वही निश्चय है; अत: बन्ध का कारण विचार करने पर यही निर्बाधरूप से सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि पुरुष, जिन राग-द्वेष-मोहभावों को अपने उपयोग में लाता है, वे रागादि ही बन्ध के कारण हैं और अन्य जो कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा लोक अथवा मन-वचन-काय के योग अथवा अनेक प्रकार के

---

१. *अतिसैवान* - 'अ' प्रति पाठ

जो इनितैं वंध होय तौ सिद्धनि कै तथा यथाख्यातचारित्रवाले कै तथा केवलज्ञानीनि कै तथा समितिरूप प्रवर्त्तते मुनिनि कै वंध का प्रसंग आवै है अर तिनिकै वंध है नाही, तातैं यह हेतु मैं व्यभिचार भया, तातैं वंध के कारण रागादिक ही हैं, यह निश्चय है।

इहां समितिरूप प्रवर्त्तनेंवाले मुनि का नाम तौ लीया अर अविरत देशविरत का नाम न लीया, सो इनिकै वाह्य समितिरूप प्रवृत्ति नाही, तातैं चारित्रमोह संवंधी राग तैं किंचित् वंध होय है, तातैं सर्वथा वंध के अभाव की अपेक्षा मैं इनिका नाम न लीया, अंतरंग अपेक्षा ए भी निरवंध ही जाननें॥ छ॥

आगैं, इस अर्थ के कलशरूप काव्य है॥ छ॥

॥ पृथ्वी ॥

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा,
न नैककरणानि वा, न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।
यदैक्यमुपयोगभूः, समुपयाति रागादिभिः,
स एव किल केवलं, भवति बन्धहेतुर्नृणाम्॥ २॥

॥ अर्थ॥ कर्मवंध का करनेंवाला, कर्मयोग्य पुद्गलनि करि वहुत भर्या जो जगत् कहिये लोक सो कारण नाही है॥ वहुरि चलनेंस्वरूप जे काय वचन मन की क्रिया कर्मरूप योग, ते भी कारण

करण अथवा चेतन-अचेतन का घात आदि बन्ध के कारण नहीं हैं।

यदि इनसे (उक्त हेतुओं) बन्ध हो तो सिद्धों, यथाख्यातचारित्र के धारकों, केवलज्ञानियों और समितिपूर्वक प्रवर्तनेवाले मुनियों को भी बन्ध का प्रसङ्ग आता है, परन्तु उनको तो बन्ध है नहीं; अत: उक्त हेतुओं में व्यभिचारदोष आता है। इस प्रकार बन्ध के कारण रागादि ही हैं – यह निश्चय है।

यहाँ समितिरूप प्रवर्तनेवाले मुनियों का नाम तो लिया है, लेकिन अविरत-देशविरत का नाम नहीं लिया है क्योंकि इनकी बाह्य समितिरूप प्रवृत्ति नहीं है, चारित्रमोहसम्बन्धी राग होने के कारण इन्हें किञ्चित् बन्ध होता है; अत: सर्वथा बन्ध के अभाव की अपेक्षा होने से यहाँ इनका नाम नहीं लिया है, लेकिन अन्तरङ्ग की अपेक्षा से इन्हें भी निर्बन्ध ही जानना चाहिए।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

कर्म की ये वर्गणाएँ, बन्ध की कारण नहीं।
अत्यन्त चञ्चल योग भी हैं, बन्ध के कारण नहीं॥
करण कारण हैं नहीं, चिद्-अचिद् हिंसा भी नहीं।
बस! बन्ध के कारण कहे, अज्ञानमय रागादि ही॥ १६४॥

अर्थ – कर्मबन्ध का करनेवाला या [कारण कौन है -] कर्मयोग्य पुद्गलों से ठसाठस भरा

नाही हैं॥ वहुरि अनेक रीति के करण, ते भी कारण नाही हैं॥ वहुरि चेतन अचेतन का वध कहिये घात सो भी कारण नाही है।

तौ कहा है॥ जो उपयोगभू कहिये आत्मा, सो रागादिकनि करि सहित एकता का भाव कूं प्राप्त होय है सो ही एक पुरुषनि कै वंध का कारण है॥

॥ भावार्थ॥ इहां निश्चयनय करि एक रागादिक ही कूं वंध का कारण कह्या है॥ छ॥

आगैं, सम्यग्दृष्टी उपयोग विषै रागादिक कूं नाही करै है, उपयोग कै अर रागादिक कै भेद जानि रागादिक का स्वामी नाही होय है, तातैं ताकै पूर्वोक्त चेष्टा तैं वंध नाही होय है, अैसैं कहै है॥

जह पुण सो चेव णरो, णेहे सव्वम्हि अवणिए संते।
रेणुबहुलम्मि ठाणे, करेइ सत्थेहिं वायामं॥ ६॥
छिंददि भिंददि य तहा, तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं, करेइ दव्वाणमुवघायं॥ ७॥
उवघायं कुव्वंतस्स, तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्ज दु, किंपच्चयगो ण रयबंधो॥ ८॥

हुआ जगत् अर्थात् लोक, वह कारण नहीं है; चलनस्वरूप [अर्थात् कम्पनस्वरूप] कर्मरूप योग अर्थात् मन-वचन-काय की क्रिया भी कारण नहीं है; अनेक प्रकार के करण (बाह्य उपकरण या संयोग) भी कारण नहीं हैं और चेतन-अचेतन का वध अर्थात् घात भी कारण नहीं है।

तो कर्मबन्ध का कारण कौन है? – उपयोगभू (उपयोग की भूमि) अर्थात् आत्मा, जिन रागादि के साथ एकत्वभाव को प्राप्त होता है, वे रागादि ही केवल पुरुषों (अर्थात् जीवों) को बन्ध के कारण हैं।

भावार्थ – यहाँ निश्चयनय से एक रागादि ही को बन्ध का कारण कहा है।

अब, सम्यग्दृष्टि उपयोग में रागादि नहीं करता है, वह उपयोग और रागादि का भेद जानकर रागादि का स्वामी नहीं होता है; अतः उसे पूर्वोक्त चेष्टाओं से बन्ध नहीं है, ऐसा कहते हैं —

जह पुण सो चेव णरो, णेहे सव्वम्हि अवणिदे संते।
रेणुबहुलम्मि ठाणे, करेदि सत्थेहिं वायामं॥ २४२॥
छिंददि भिंददि य तहा, तालीतलकदलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं, करेदि दव्वाणमुवघादं॥ २४३॥

जो सो अणेहभाओ, तम्हि णरे तेण तस्सरयबंधो[१]।
णिच्छयदो विण्णेयं, ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं॥ ९॥
एवं सम्मादिट्ठी, वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवओगे, रागाइ ण लिप्पइ रएण॥ १०॥

॥ पंचकं ॥

यथा पुनः स चैव नरः, स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति।
रेणुबहुले स्थाने, करोति शस्त्रैर्व्यायामम्॥ छ॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा, तालीतलकदलीवंशपिण्डीः।
सचित्ताऽचित्तानां, करोति द्रव्याणामुपघातम्॥ छ॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः।
निश्चयतो विज्ञेयं, किं प्रत्ययिको न रजोबन्धः॥ छ॥

उवघादं कुव्वंतस्स, तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु, किं पच्चयगो ण रयबंधो॥ २४४॥
जो सो अणेहभावो, तम्हि णरे तेण तस्सऽरयबंधो।[२]
णिच्छयदो विण्णेयं, ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं॥ २४५॥
एवं सम्मादिट्ठी, वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवओगे, रागादी ण लिप्पदि रएण॥ २४६॥

जिस भाँति फिर वह ही पुरुष, उस तेल सबको दूर कर।
व्यायाम करता शस्त्र से, बहु रज भरे स्थानक ठहर॥ २४२॥
अरु ताड़ केला बाँस आदि, छिन्न-भिन्न बहुत करे।
उपघात आप सचित्त और, अचित्त द्रव्यों का करे॥ २४३॥

---

१. *तस्सऽरयबंधो* - सोलापुर, अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ

२. पूर्व प्रकाशित प्रतियों में *'जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो'* - यह पाठ सोनगढ़ एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन में है, परन्तु पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा की मूलप्रति एवं द्वितीय हस्तलिखित प्रति में उक्त पाठ ही मिलता है, सोलापुर, अगास एवं अहिंसा मन्दिर, दिल्ली से प्रकाशित प्रतियों में भी यही पाठ मिलता है तथा सम्यग्दृष्टि का प्रकरण होने से यही पाठ उचित भी है।

यः सोऽस्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्याऽरजोवंधः।
निश्चयतो विज्ञेयं, न कायचेष्टाभिः शेषाभिः॥ छ॥
एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो बहुविधेषु योगेषु।
अकुर्वन्नुपयोगे, रागादीन्न लिप्यते रजसा॥ छ॥

॥ अर्थ॥ वहुरि सो ही नर जैसैं तिस स्नेह तैलादिक सर्व कूं दूरि कीये संतैं वहुत रज के स्थान विषै शस्त्रनि का अभ्यास करै है॥ छ॥

वहुरि तैसैं ही तालवृक्ष के तल कूं तथा केलि कूं तथा वांस का विडा कूं छेदै है, भेदै है, सचित्त अचित्त द्रव्यनि का उपघात करै है॥ छ॥

तहां उपघात करते कै, ताकै नाना प्रकार करणनि करि करता कै निश्चय तैं जाननां जो रज का वंधनां कोंन कारण तैं नाही होय है॥ छ॥

तिस नर कै जो सचिक्कणता सूं रहितपणां है॥ सो ही 'निश्चय तैं बाकी की काय संबंधी अन्य चेष्टा विनां'[१], रज का नाही वंधनें का कारण है॥ छ॥

अैसैं ही सम्यग्दृष्टी वहुत प्रकार योगनि विषै वर्त्तमान है सो उपयोग विषै रागादिक कूं नाही

बहु भाँति के करणादि से, उपघात करते उसी को।
निश्चयपने चिन्तन करो, रजबन्ध नहिं किन कारणों?॥ २४४॥
यों जानना निश्चयपने, चिकनाई नहिं जो नर विषैं।
रजबन्ध-कारण नहीं है, नहिं कायचेष्टा आदि हैं॥ २४५॥
इस भाँति सम्यग्दृष्टि जो, विविध योगों वर्तता।
उपयोग में रागादि नहिं, नहिं कर्मरज वह बाँधता॥ २४६॥

अर्थ – जिस प्रकार वही पुरुष, उस स्नेह अर्थात् तेल आदि सर्व को दूर करता हुआ, बहुत धूल भरे स्थान पर शस्त्रों का अभ्यास करता है॥ २४२॥

उसी प्रकार वह पुरुष, तालवृक्ष के नीचे की भूमि, केले के वृक्ष और बाँस के समूह को छेदता है, भेदता है; सचित्त-अचित्त द्रव्यों का उपघात करता है॥ २४३॥

वहाँ उपघात करते हुए और नाना प्रकार के करणों का प्रयोग करते हुए, निश्चय से विचार करना चाहिए कि उसे रज का बन्ध किस कारण से नहीं होता है?॥ २४४॥

उस पुरुष में जो चिकनाई से रहितपना है, वह शेष काय सम्बन्धी अन्य चेष्टाओं के बिना ही निश्चय से रज के नहीं बँधने का कारण है॥ २४५॥

---

१. *निश्चय तैं काय विनां चेष्टा विनां* – 'अ' प्रति पाठ

करता संता वर्त्तै है, यातैं कर्मरज करि नाही लिपै है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं सो ही पुरुष, स्नेह कहिये तैलादिक की चिकणाई सर्व ही दूरि कीयें संतैं, स्वभाव ही तैं जामैं रज की वहुलता, अैसी तिस ही भूमि विषै, तिनि ही शस्त्रनि का अभ्यास कूं करता संता, तिनि ही अनेक प्रकार के करणनि करि, तिनि ही सचित्त अचित्त वस्तुनि कूं हणता, घात करता संता रज करि नाही वंधै है। जातैं याकै वंध का हेतु जो सचिक्कणपणां, ताका मर्दन का अभाव है॥ तैसैं ही सम्यग्दृष्टी पुरुष है सो आत्मा विषै रागादिक कूं नाही करता संता, स्वभाव ही तैं कर्मयोग्य पुद्गलनि करि भर्या, अैसा तिस ही लोक विषै, तिस ही काय वचन मन की क्रिया कूं करता संता, तिनि ही अनेक प्रकार के करणनि करि, तिनि ही सचित्त अचित्त वस्तुनि का घात करता संता, कर्मरूप रज करि नाही वंधै है॥ जातैं याकै वंध का कारण जो राग का योग, ताका अभाव है॥

॥ भावार्थ॥ सम्यग्दृष्टी कै पूर्वोक्त सर्व संवंध होतैं भी राग का संवंध का अभाव है, तातैं कर्मवंध नाही होय है। याका समर्थन पूर्वैं कह ही आये हैं॥ छ॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

लोकः कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्-
तान्यस्मिन् करणानि सन्तु चिदचिद्, व्यापादनं चाऽस्तु तत्॥

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव, बहुत प्रकार के योगों में वर्तमान है परन्तु वह उपयोग में रागादि को नहीं करता हुआ कर्मरज से लिप्त नहीं होता है॥ २४६॥

टीका – जिस प्रकार वही पुरुष, स्नेह अर्थात् तेल आदि की सम्पूर्ण चिकनाई को दूर करता हुआ, स्वभाव ही से बहुत रजवाली उसी भूमि में, उन्हीं शस्त्रों का अभ्यास करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकार के करणों से, उन्हीं सचित्त-अचित्त वस्तुओं को हनता या घात करता हुआ भी रज से नहीं बँधता है क्योंकि इसको बन्ध की कारणभूत चिकनाई के मर्दन का अभाव है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष, आत्मा में रागादि को नहीं करता हुआ, स्वभाव ही से कर्मयोग्य पुद्गलों से भरे हुए उसी लोक में, उन्हीं मन-वचन-काय की क्रियाओं को करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकार के करणों से, उन्हीं सचित्त-अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ भी कर्मरूपी रज से नही बँधता है क्योंकि इसको बन्ध के कारणभूत राग के योग (सम्बन्ध) का अभाव है।

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि को पूर्वोक्त सर्व सम्बन्धों के होते हुए भी राग के सम्बन्ध का अभाव है; अतः उसे कर्मबन्ध नहीं होता है। इस विषय के समर्थन में पहले भी कहा जा चुका है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

भले ही सब कर्म-पुद्गल, से भरा यह लोक हो।
भले ही मन-वचन-तन, परिस्पन्दमय यह योग हो॥

रागादीनुपयोगभूमिमनयन्[१], ज्ञानं भवन्[२] केवलं,
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो, सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम्[३]॥ ३॥

॥ अर्थ॥ तिस कारण तैं सो कर्मनि करि भर्‌या पूर्वोक्त लोक है सो होहु। बहुरि सो मन वचन काय के चलनस्वरूप कर्मरूप योग है सो होहु। बहुरि ते पूर्वोक्त करण होहु। बहुरि सो पूर्वोक्त चैतन्य अचैतन्य का व्यापादन कहिये घात करनां होऊ॥ यह सम्यग्दृष्टी है सो रागादिक कूं उपयोगभूमि मैं नाही प्राप्त करता संता अर केवल एक ज्ञानरूप होता संता, तिनि पूर्वोक्त कोई ही कारण तैं वंध कूं प्राप्त नाही होय है, यह निश्चल सम्यग्दृष्टी है। अहो, देषो, यह सम्यग्दर्शन की अद्भुत महिमा है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ इहां सम्यग्दृष्टी का अद्भुत माहात्म्य कह्या है अर लोक योग करण, चैतन्य अचैतन्य का घात, ए वंध के कारण न कहे हैं। तहां अैसा मति जानूं जो परजीव की हिंसा तैं वंध न कह्या, तातैं स्वछंद होय हिंसा करनां। इहां अवुद्धिपूर्वक कदाचित् परजीव का घात भी होय, तातैं वंध न होय है अर जहां वुद्धिपूर्वक जीव मारनें के भाव हौंहिगे, तहां तौ अपनें उपयोग मैं रागादिक का सद्भाव आवैगा, तहां हिंसा तैं वंध होयहीगा। जहां जीव कूं जिवावनें का अभिप्राय होय, ताकूं भी निश्चयनय मैं मिथ्यात्व कहैं हैं तौ मारनें का अभिप्राय मिथ्यात्व क्यों न होगा, तातैं कथन कूं नयविभाग करि यथार्थ समझि श्रद्धान करनां, सर्वथा एकांत तो मिथ्यात्व है॥ छ॥

चिद्-अचिद् का घात एवं, करण का उपभोग हो।
फिर भी नहीं रागादि-विरहित, ज्ञानियों को बन्ध हो॥ १६५॥

अर्थ – उपर्युक्त कारणों से कर्मों (कार्मणवर्गणा) से भरा हुआ लोक है तो भले रहे; मन-वचन-काय के कम्पनस्वरूप क्रियारूप योग हैं तो भले रहें; पूर्वोक्त करण (अर्थात् शरीर, इन्द्रिय आदि बाह्य उपकरण) भी हैं तो भले रहें और चेतन-अचेतन का व्यापादन अर्थात् घात करना भी है तो भले रहे; लेकिन यह सम्यग्दृष्टि, रागादि को उपयोगभूमि में नहीं लाता हुआ और केवल एक ज्ञानस्वरूप होता हुआ, पूर्वोक्त किसी भी कारण से बन्ध को प्राप्त नहीं होता है – यह निश्चल सम्यग्दृष्टि है। अहो, देखो! यह सम्यग्दर्शन की अद्‌भुत महिमा है।

भावार्थ – यहाँ सम्यग्दृष्टि (अथवा सम्यग्दर्शन) का अद्‌भुत माहात्म्य बताया है। लोक, योग, करण और चेतन-अचेतन का घात, इनको बन्ध का कारण नहीं कहा है। वहाँ ऐसा नहीं जानना कि 'परजीवों की हिंसा से बन्ध नहीं कहा है', इसलिए स्वच्छन्द होकर हिंसा करना चाहिए। यहाँ तात्पर्य यह है कि अबुद्धिपूर्वक कदाचित् परजीवों का घात हो भी जाए तो उससे बन्ध नहीं होता, परन्तु जहाँ बुद्धिपूर्वक जीवों को मारने के भाव होंगे, वहाँ तो अपने उपयोग में रागादि का सद्‌भाव होगा ही, तब वहाँ हिंसाभाव से बन्ध होगा ही। जहाँ जीव को बचाने के अभिप्राय को भी निश्चयनय से मिथ्यात्व कहा है तो मारने का अभिप्राय मिथ्यात्व क्यों नहीं होगा? अतः कथन को नय-विभाग से यथार्थ समझ कर, श्रद्धान करना चाहिए, सर्वथा एकान्त मानना तो मिथ्यात्व है।

---

१. 'मनयन्' - ऐसा भी पाठ। २. 'भवन्' - ऐसा भी पाठ है। ३. 'ध्रुवम्' - ऐसा भी पाठ।

अव, इस अर्थ कूं दृढ करनें कूं व्यवहारनय की प्रवृत्ति करावनें कूं काव्य कहै है॥ छ॥

॥ पृथ्वी॥

तथापि न निरर्गलं, चरितुमिष्यते ज्ञानिनां,
तदायतनमेव सा, किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकामकृतकर्म तत्, मतमकारणं ज्ञानिनां,
द्वयं न हि विरुध्यते, किमु करोति जानाति च॥ ४॥

॥ अर्थ॥ तथापि कहिये लोक आदि कारणनि तैं वंध कह्या नाही अर रागादिक ही तैं वंध कह्या, तौऊ ज्ञानीनि कूं निरर्गल कहिये मर्यादरहित स्वछंद प्रवर्तनां योग्य न कह्या है, जातैं निरर्गल प्रवर्तनां है सो वंध का ही ठिकानां है॥ ज्ञानीनि कै विनां वांछा कर्म कार्य होय है सो वंध का कारण न कह्या है, जातैं जानैं भी है अर कर्म कूं करै भी है, यह दोऊ क्रिया कहा विरोधरूप नाही है। करनां अर जाननां तौ निश्चय तैं विरोधरूप ही है॥

॥ भावार्थ॥ पहली काव्य मैं लोक आदि वंध के कारन न कहे, तहां अैसैं मति जानियो जो वाह्य व्यवहारप्रवृत्ति, वंध के कारणनि मैं सर्वथा ही निषेधी है॥ जो ज्ञानीनि कै अवुद्धिपूर्वक वांछा विना प्रवृत्ति होय है, तामैं वंध न कह्या है॥ तातैं ज्ञानीनि कूं स्वछंद प्रवर्त्तनां तो न कह्या है॥ वेमर्याद प्रवर्त्तनां तौ वंध का ही ठिकानां है॥ जाननें मैं अर करनें मैं तो विरोध है। ज्ञाता रहैगा तौ वंध न होगा,

---

अब, इस अर्थ को दृढ़ करने और व्यवहारनय की प्रवृत्ति कराने के लिए काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

तो भी निरर्गल प्रवर्तन, तो ज्ञानियों को वर्ज्य है।
क्योंकि निरर्गल प्रवर्तन, तो बन्ध का स्थान है॥
वाञ्छारहित जो प्रवर्तन, वह बन्ध-विरहित जानिए।
जानना करना परस्पर, विरोधी ही मानिए॥ १६६॥

अर्थ – तथापि अर्थात् लोक आदि कारणों से भले ही बन्ध नहीं कहा और केवल रागादि ही से बन्ध कहा है तो भी ज्ञानियों को निरर्गल अर्थात् मर्यादारहित स्वच्छन्द प्रवर्तना योग्य नहीं है क्योंकि निरर्गल प्रवर्तना तो बन्ध का ही स्थान है। ज्ञानियों को वाञ्छारहित कर्म या कार्य होता है; अत: उसे बन्ध का कारण नहीं बतलाया है क्योंकि वह जानता भी है और कर्म करता भी है, ये **दोनों क्रियाएँ क्या विरोधरूप नहीं हैं?** – करना और जानना तो निश्चय से विरोधरूप ही हैं।

भावार्थ – पूर्ववर्ती काव्य में, लोक आदि को बन्ध का कारण नहीं कहा है; अत: ऐसा नहीं समझना कि बाह्य व्यवहारप्रवृत्तियों का बन्ध के कारणों में सर्वथा ही निषेध किया है। ज्ञानियों की अबुद्धिपूर्वक वाञ्छारहित प्रवृत्ति होती है, अत: उनसे बन्ध नहीं कहा है लेकिन ज्ञानियों को स्वच्छन्द प्रवर्तन करने के लिए तो नहीं कहा है। अमर्यादित प्रवर्तन करना तो बन्ध का ही स्थान है। जानने

कर्त्ता होगा तौ वंध होयहीगा॥ छ॥

अव कहैं हैं, जो जानैं है सो करै नाही है अर जो करै है सो जानैं नाही है। जो करै है सो कर्म का राग है अर राग है सो अज्ञान है अर अज्ञान है सो वंध का कारण है, अैसैं काव्य मैं कहै है॥ छ॥

॥ वसन्ततिलका॥

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु,
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-
र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः॥५॥

॥ अर्थ॥ जो जानैं है सो करै नाहीं है॥ वहुरि जो करै है सो जानैं नाही है॥ वहुरि जो करै है सो निश्चय तैं यह कर्मराग है॥ वहुरि जो राग है, ताकूं मुनि हैं, ते अज्ञानमयी अध्यवसाय कहै हैं॥ सो यह मिथ्यादृष्टी कै होय है सो नियम तैं वंध का कारण है॥ छ॥

अव, मिथ्यादृष्टी का आशय कूं गाथा मैं प्रगट करि कहै है॥ छ॥

जो मण्णदि हिंसामि य, हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो॥ ११॥

और करने में तो विरोध है; ज्ञाता रहेगा तो बन्ध नहीं होगा और कर्ता होगा तो बन्ध होगा ही।

अब कहते हैं कि जो जानता है, वह करता नहीं है और जो करता है, वह जानता नहीं है। क्योंकि जो करता है, वह कर्म का राग है; जो राग है, वह अज्ञान है और जो अज्ञान है, वह बन्ध का कारण है – ऐसा काव्य के द्वारा कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

जो ज्ञानीजन हैं जानते, वे कभी भी करते नहीं।
करना है तो बस! राग ही, जो करें वे जानें नहीं॥
अज्ञानमय यह राग तो है, भाव अध्यवसान ही।
बस! बन्धकारण कहे ये, अज्ञानियों के भाव ही॥ १६७॥

अर्थ – जो जानता है, वह करता नहीं है और जो करता है, वह जानता नहीं है क्योंकि जो करता है, वह उसका निश्चय से यह कर्म के प्रति राग है। उस राग को मुनिजन, अज्ञानमयी अध्यवसाय कहते हैं। यह अध्यवसाय मिथ्यादृष्टि को होता है और यह नियम से बन्ध का कारण है।

अब, मिथ्यादृष्टि के आशय को गाथा द्वारा प्रगट करते हैं —

यो मन्यते हिनस्मि च, हिंस्ये च परैः सत्त्वैः।
स मूढोऽज्ञानी, ज्ञान्यतस्तु विपरीतः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो पुरुष अैसैं मानैं है, मैं परजीव कूं हणूं हौं, मारूं हौं॥ वहुरि परजीवनि करि मैं हण्यां जाऊं हौं, पर मोकूं मारै हैं सो पुरुष मूढ है, मोही है, अज्ञानी है। वहुरि ज्ञानी यातैं विपरीत है, अैसैं नाही मानैं है॥

॥ टीका॥ परजीवनि कूं मैं हणूं हौं॥ वहुरि परजीवनि करि मैं हण्यां जाऊं हौं। अैसा अध्यवसाय कहिये निश्चयरूप जाकै आशय है सो निश्चय तैं अज्ञान है, सो अैसा अध्वसाय जाकै होय सो अज्ञानी है, इस अज्ञानीपणां तैं मिथ्यादृष्टी है॥ वहुरि जाकै अैसा आशयरूप अज्ञान नाही है सो ज्ञानीपणां तैं सम्यग्दृष्टी है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जाकै अैसा आशय है जो परजीव कूं मैं मारूं हौं अर पर मेरे तांई मारै हैं सो अैसा आशय अज्ञान है, तातैं सो अज्ञानी मिथ्यादृष्टी है॥ अर जाकै यह आशय नाही सो ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टी है। इहां अैसा जाननां जो निश्चयनय करि कर्त्ता का स्वरूप यह है जो आप स्वाधीन जिस भावरूप परिणमै, ताकूं तिस भाव का कर्त्ता कहिये सो परमार्थ करि कोऊ काहू कै मरण करै नाही है। जो पर करि पर का मरण मानै है सो अज्ञानी है॥ निमित्तनैमित्तिकभाव तैं कर्त्ता कहनां व्यवहारनय

जो मण्णदि हिंसामि य, हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढ़ो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो॥ २४७॥

जो मानता – 'मैं मारता हूँ, मुझे मारें अन्यजन'।
वह मूढ़ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि॥ २४७॥

अर्थ – जो पुरुष, ऐसा मानता है कि 'मैं, परजीवों को मारता हूँ अथवा उनका घात करता हूँ और परजीवों के द्वारा मैं मारा जाता हूँ अथवा परजीव, मुझे मारते हैं'; वह पुरुष मूढ़ है, मोही है, अज्ञानी है तथा इससे विपरीत ज्ञानी हैं, [क्योंकि वे] ऐसा नहीं मानते हैं॥ २४७॥

टीका – 'मैं, परजीवों को मारता हूँ और परजीवों के द्वारा मैं मारा जाता हूँ' – ऐसा जिसका अध्यवसाय अर्थात् निश्चयात्मक आशय है, वह वास्तव में अज्ञान है और ऐसा अध्यवसाय, जिसको होता है, वह अज्ञानी है। इस अज्ञानता के कारण, वह मिथ्यादृष्टि है तथा जिसको ऐसा आशयरूप अज्ञान नहीं होता है, वह ज्ञानी होने से सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ – 'मैं, परजीवों को मारता हूँ और परजीव, मुझे मारते हैं' – ऐसा आशय अज्ञान है। जिसको ऐसा आशय है, वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है तथा जिसको ऐसा आशय नहीं है, वह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है। यहाँ ऐसा जानना कि निश्चयनय से कर्ता का स्वरूप ऐसा है कि जो स्वयं स्वाधीन होकर जिस भावरूप परिणमता है, उसे उस भाव का कर्ता कहा जाता है। परमार्थ से तो कोई किसी का घात करता नहीं है। जो पर के द्वारा [दूसरे] पर का मरण मानता है, वह अज्ञानी है। निमित्त-

का वचन है सो यथार्थ माननां सम्यक्ज्ञान है॥ छ॥

आगैं पूछै है, यह अध्यवसाय अज्ञान कैसैं है॥ ताका उत्तररूप गाथा कहै है॥ छ॥

आउक्खएण मरणं, जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं, कह ते मरणं कयं तेसिं॥ १२॥
आउक्खएण मरणं, जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरंति तुमं, कह ते मरणं कयं तेहिं॥ १३॥

॥ युगलं॥

आयुःक्षयेन मरणं, जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम्।
आयुर्न हरसि त्वं, कथं त्वया मरणं कृतं तेषाम्॥ छ॥
आयुःक्षयेन मरणं, जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम्।
आयुर्न हरन्ति तव, कथं ते मरणं कृतं तैः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जीवनि कै मरण है सो आयुकर्म के क्षय तैं होय है, यह जिनेश्वरदेव नैं कह्या है॥ सो हे भाई, तू मानैं है जो मैं परजीव कूं मारौं हौं सो यह अज्ञान है, जातैं तू परजीव का आयुकर्म

नैमित्तिकभाव से कर्ता कहना, व्यवहारनय का वचन है; अतः यथार्थ मानना, सम्यग्ज्ञान है।

अब पूछते हैं कि यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है? – उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं –

आउक्खयेण मरणं, जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि[1] तुमं, कह ते मरणं कदं तेसिं॥ २४८॥
आउक्खयेण मरणं, जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरंति तुहं, कह ते मरणं कदं तेहिं॥ २४९॥

है आयुक्षय से मरण जीव का, यही जिनवर ने कहा।
तू आयु तो हरता नहीं, तूने मरण कैसे किया?॥ २४८॥
है आयुक्षय से मरण जीव का, यही जिनवर ने कहा।
वे आयु तुझ हरते नहीं, तो मरण तुझ कैसे किया?॥ २४९॥

अर्थ – जीवों का मरण, आयुकर्म के क्षय से होता है – यह जिनेश्वरदेव ने कहा है; अतः

---

१. *हरसि* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

हरै नाही है, तातैं तिनिकै मरण कूं तैनैं कैसैं कीया॥ छ॥

वहुरि जीवनि कै मरण आयुकर्म के क्षय करि होय है, अैसैं जिनेश्वरदेव नैं कह्या है॥ अर हे भाई, तू अैसैं मानैं है जो मैं परजीव करि मारया जाऊं हौं सो यह तेरै अज्ञान है, जातैं परजीव तेरा आयुकर्म हरैं नाही, तातैं तिनिनैं तेरा मरण कैसैं कीया॥ छ॥

॥ टीका॥ निश्चय करि जीवनि कै मरण है सो अपनें आयुकर्म के क्षय ही करि होय है, जो आयु का क्षय न होय तौ तिस कै मरण करनें कूं कोऊ समर्थ न होय॥ वहुरि अपनां आयुकर्म अन्य कै अन्य करि हरनें का असमर्थपणां है॥ आयुकर्म तौ अपनां उपभोग ही करि क्षयरूप होय है, तातैं अन्य है सो अन्य कै मरण काहू प्रकार भी करै नाही है॥ तातैं जो अैसा मानैं है, अभिप्राय करै है जो मैं परजीव कूं हणूं हौं तथा परजीव मोकूं हणैं है सो यह अध्यवसाय निश्चय करि अज्ञान है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जो जीव कै मान्य होय अर तिस मान्यरूप कार्य न होय सो ही अज्ञान, सो मरण आप कै पर का कीया होय नाही, पर कै आप का कीया होय नाही अर यह प्राणी मानैं सो ही अज्ञान है, यह निश्चयनय प्रधान कथन है॥ वहुरि परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव करि पर्याय का उत्पाद व्यय होय, ताकूं जन्म मरण कहिये है। तहां जाके निमित्त तैं होय, ताकूं अैसैं कहिये जो यानैं याकूं मारया सो यह कहनां व्यवहार है सो इहां अैसा मति जानूं जो व्यवहार का सर्वथा निषेध है॥ जे निश्चय कूं

हे भाई! तेरा यह मानना कि 'मैं परजीव को मारता हूँ', यह अज्ञान है क्योंकि तू, परजीव के आयुकर्म को हरता नहीं है तो फिर तूने उनका मरण कैसे किया?॥ २४८॥

तथा जीवों का मरण, आयुकर्म के क्षय से होता है – यह जिनेश्वरदेव ने कहा है; अत: हे भाई! तू जो ऐसा मानता है कि 'मैं परजीवों के द्वारा मारा जाता हूँ', यह तेरा अज्ञान है क्योंकि परजीव, तेरा आयुकर्म हरता नहीं है तो फिर उन्होंने तेरा मरण कैसे किया?॥ २४९॥

टीका – निश्चय से जीवों का मरण अपने-अपने आयुकर्म के क्षय ही से होता है। यदि आयु का क्षय न हो तो उसका मरण करने में कोई समर्थ नहीं होता। [किसी] अन्य को अपना आयुकर्म, [किसी दूसरे] अन्य के द्वारा हरने की असमर्थता है क्योंकि आयुकर्म तो अपने उपभोग के द्वारा ही क्षय होता है; अत: [कोई] अन्य का मरण, किसी प्रकार से भी [दूसरा कोई] अन्य नहीं कर सकता है; इसलिए जो ऐसा मानता है या अभिप्राय करता है कि 'मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं' – यह अध्यवसाय, निश्चितरूप से अज्ञान है।

भावार्थ – 'जो जीव की मान्यता हो और उस मान्यता के अनुसार कार्य न होता हो' तो वही अज्ञान है। मेरा मरण दूसरे के द्वारा होता नहीं और दूसरे का मरण मेरे द्वारा होता नहीं; फिर भी यह प्राणी [विपरीत] मानता है, वही अज्ञान है – यह निश्चयनय प्रधान कथन है। चूँकि परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव से पर्याय के उत्पाद-व्यय को जन्म-मरण कहा जाता है। वहाँ जिसके निमित्त से कार्य होता है, उसे ऐसा कहा जाता है कि इसने इसको मारा परन्तु यह कहना व्यवहार है। यहाँ ऐसा नहीं जानना कि व्यवहार का सर्वथा निषेध किया है। जो निश्चय को नहीं जानते हैं, उनका अज्ञान मिटाने

न जानैं, तिनिका अज्ञान मेटनें कूं कह्या है, याकूं जानें पीछै, दोऊ नय कै अविरोध जानि, यथायोग्य नय माननां॥ छ॥

फेरि पूछै है जो मरण के अध्यवसाय कूं तौ अज्ञान कह्या सो जान्यां अर तिस मरण का प्रतिपक्षी जो जीवनें का अध्यवसाय, ताकी कहा वार्त्ता है॥ अैसैं पूछै उत्तर कहै है॥

जो मण्णदि जीवेमि य, जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो॥ १४॥

यो मन्यते जीवयामि च, जीव्ये च परैः सत्त्वैः।
स मूढोऽज्ञानी, ज्ञान्यतस्तु विपरीतः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो जीव अैसैं मानैं है जो मैं परजीवनि कूं जिवावूं हौं, वहुरि परजीव मोकूं जीवावैं हैं सो मूढ है, मोही है, अज्ञानी है॥ वहुरि ज्ञानी यातैं विपरीत है, अैसैं नाहीं मानैं, यातैं उलटा मानैं है॥ छ॥

॥ टीका॥ परजीवनि कूं मैं जिवावूं हौं॥ वहुरि परजीव मैरे तांई जिवावैं हैं, अैसा अध्यवसाय कहिये निश्चयरूप आशय है सो निश्चय करि अज्ञान है सो यह जाकै होय सो जीव अज्ञानीपणां तैं मिथ्यादृष्टी है॥ वहुरि जाकै यह अध्यवसाय नाही है सो जीव ज्ञानीपणां तैं सम्यग्दृष्टी है॥ छ॥

[अर्थात् निश्चय का ज्ञान कराने] के लिए ऐसा कहा है; इसे जानने के बाद, दोनों नयों का अविरोध जान कर, नयों का स्वरूप यथायोग्य मानना चाहिए।

अब, पुनः पूछते हैं कि यहाँ जो मरण के अध्यवसाय को अज्ञान कहा, उसे जाना, परन्तु उस मरण के प्रतिपक्षी जीवन का अध्यवसाय क्या है? – ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं —

जो मण्णदि जीवेमि य, जीविज्जामि[1] य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढ़ो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो॥ २५०॥

जो मानता – 'मैं पर बचाऊँ, मुझको बचाते अन्यजन'।
वह मूढ़ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानिजन॥ २५०॥

अर्थ – जो जीव ऐसा मानता है कि 'मैं, परजीवों को जीवन देता हूँ और परजीव, मुझे जीवन देते हैं'; वे मूढ़ हैं, मोही हैं, अज्ञानी हैं लेकिन इनसे विपरीत ज्ञानी हैं क्योंकि वे ऐसा नहीं मानते, इनसे उल्टा मानते हैं॥ २५०॥

टीका – 'मैं, परजीवों को जीवन देता हूँ और परजीव, मुझे जीवन देते हैं' – ऐसा अध्यवसाय अर्थात् निश्चयरूप आशय निश्चय से अज्ञान है; अतः यह जिसे होता है, वह जीव, अपनी अज्ञानता के कारण मिथ्यादृष्टि है और जिसे यह अध्यवसाय नहीं होता है, वह जीव, ज्ञानी होने से सम्यग्दृष्टि है।

---

१. *जीविस्सामि* – कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

॥ भावार्थ ॥ जो अैसैं मानैं है जो मोकूं पर जिवावै हैं अर मैं पर कूं जिवावूं हौं सो यह अज्ञान है, जाकै यह अज्ञान है सो मिथ्यादृष्टी है, जाकै यह अज्ञान नाही सो सम्यग्दृष्टी है॥ छ॥

आगैं पूछै है जो यह जिवावनें का अध्यवसाय अज्ञान कैसैं है, ताका उत्तर कहै है॥ छ॥

आऊदएण जीवदि, जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं, कहं तए जीवियं कयं तेसिं॥ १५॥
आऊदएण जीवदि, जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण दिंति तुहं, कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं॥ १६॥

॥ युगलं॥

आयुरुदयेन जीवति, जीव एवं भणन्ति सर्वज्ञाः।
आयुश्च न ददासि त्वं, कथं त्वया जीवितं कृतं तेषाम्॥ छ॥
आयुरुदयेन जीवति, जीव एवं भणन्ति सर्वज्ञाः।
आयुश्च न ददाति तव[१], कथं नु ते जीवितं कृतं तैः॥ छ॥

भावार्थ – 'पर, मुझे जिलाते हैं और मैं, पर को जिलाता हूँ' – ऐसा मानना अज्ञान है। जिसे यह अज्ञान है, वह मिथ्यादृष्टि है और जिसे यह अज्ञान नहीं है, वह सम्यग्दृष्टि है।

अब पूछते हैं कि यह जीवित करने का अध्यवसाय अज्ञान कैसे है? उसका उत्तर कहते हैं —

आऊदयेण[२] जीवदि, जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं, कहं तए जीविदं कदं तेसिं॥ २५१॥
आऊदयेण[३] जीवदि, जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण दिंति तुहं, कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं॥ २५२॥

जीतव्य, जीव का आयुदय से, यही जिनवर ने कहा।
तुम आयु तो देते नहीं, तुमने जीवन कैसे किया?॥ २५१॥
जीतव्य, जीव का आयुदय से, यही जिनवर ने कहा।
वे आयु तुझ देते नहीं, फिर तुझ जीवन कैसे किया?॥ २५२॥

अर्थ – जीव, अपनी आयु के उदय से जीता है – ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है; इसलिए हे

---

१. *तुभ्यं* - अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ
२-३. *आउउदयेण* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

॥ अर्थ ॥ जीव है सो अपनीं आयु के उदय करि जीवै है, अैसैं सर्वज्ञदेव कहै है॥ तहां हे भाई, परजीव कूं तू आयुकर्म नाही दे है तौ तैंनैं तिनि परजीवनि का जीवित कैसैं कीया॥ छ॥

वहुरि जीव है सो अपनां आयुकर्म के उदय तैं जीवै है, अैसैं सर्वज्ञदेव कहै है॥ तहां हे भाई, परजीव तोकूं आयुकर्म नाही दे हैं, तौ तिनिनैं तेरा जीवित कैसैं कीया॥ छ॥

॥ टीका ॥ जीवनि कै जीवित है सो अपनां आयुकर्म के उदय ही करि है। जो आयु का उदय का अभाव होय तौ तिस जीवित का होनें का अशक्यपणां है॥ वहुरि अपनां आयुकर्म अन्य कै अन्य करि देनें का असमर्थपणां है॥ तिस आयुकर्म का अपनें परिणाम ही करि उपजायवापणां है॥ तातैं अन्य है सो अन्य कै जीवित कूं कोई प्रकार भी नाही करै है॥ यातैं पर कूं मैं जिवावूं हौं तथा पर मोकूं जिवावैं हैं, अैसा अध्यवसाय है सो निश्चय करि अज्ञान है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ पूर्वैं मरण के अध्यवसाय मैं कह्या सो ही जाननां॥ छ॥

आगैं कहै है जो दुःख सुख करनें का अध्यवसाय की भी याही गति है॥

जो अप्पणा दु मण्णदि, दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो[१] दु विवरीदो॥ १७॥

य आत्मना तु मन्यते, दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति।
स मूढोऽज्ञानी, ज्ञान्यतस्तु विपरीतः॥ छ॥

भाई! तू परजीवों को आयुकर्म तो देता नहीं है तो फिर तूने उन्हें जीवित कैसे किया?॥ २५१॥

तथा जीव, अपने आयुकर्म के उदय से जीता है – ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है; इसलिए हे भाई! परजीव, तुझे आयुकर्म तो देते नहीं हैं तो फिर उन्होंने तुझे जीवित कैसे किया?॥ २५२॥

टीका – जीवों का जीवन, अपने आयुकर्म के उदय ही से है। यदि आयुकर्म के उदय का अभाव हो तो उसका जीवित रहना, शक्य नहीं है। अन्य को अपना आयुकर्म, [दूसरे] अन्य के द्वारा देने में असमर्थता है क्योंकि अपना आयुकर्म, अपने परिणामों ही से उपार्जित होता है; अतः कोई भी किसी अन्य के जीवन को किसी भी प्रकार से नहीं कर सकता है, इसलिए 'मैं, अन्य को जिलाता हूँ और अन्य, मुझे जिलाते हैं' – ऐसा अध्यवसाय निश्चितरूप से अज्ञान है।

भावार्थ – पूर्व में (गाथा २४८-२४९ के भावार्थ में) मरण के अध्यवसाय में जिस प्रकार कहा है, उसी प्रकार यहाँ [जीवन के अध्यवसाय में] जानना चाहिए।

अब कहते हैं कि [पर को] दुःखी-सुखी करने के अध्यवसाय की भी यही स्थिति है –

जो अप्पणा दु मण्णदि, दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो॥ २५३॥

---

१. *एदो* – 'अ' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ जो जीव ऐसैं मानैं है जो मैं परजीवनि कूं आप करि दुखी सुखी करौं हौं॥ सो जीव मूढ है, मोही है, अज्ञानी है। वहुरि ज्ञानी है सो यातैं विपरीत है, यातैं उलटा मानैं है॥ छ॥

॥ टीका ॥ परजीवनि कूं मैं दुःखी करौं हौं, वहुरि सुखी करौं हौं॥ वहुरि परजीव मोकूं सुखी दुखी करै हैं, ऐसा अध्यवसाय है सो निश्चय करि अज्ञान है॥ सो यह अज्ञान जाकै है सो अज्ञानी है, तातैं सो मिथ्यादृष्टी है॥ वहुरि जाकै यह अज्ञान नाही है सो ज्ञानीपणां तैं सम्यग्दृष्टी है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ जाकै ऐसी मान्य है जो मैं परजीव कूं दुखी सुखी करौं हौं अर मोकूं परजीव दुखी सुखी करै हैं सो यह माननां अज्ञान है॥ जाकै यह है सो अज्ञानी है, जाकै यह नाही सो ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टी है॥ छ॥

आगैं पूछै है, यह अध्यवसाय अज्ञान कैसैं है॥ ताका उत्तर कहै हैं॥ छ॥

कम्मोदएण जीवा, दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं, दुक्खिदसुहिदा कहं कया ते॥ १८॥

जो स्वयं से माने 'दुःखी-सुखी, मैं करूँ परजीव को'।
वह मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानी हैं॥ २५३॥

अर्थ – जो जीव ऐसा मानता है कि 'मैं, परजीवों को स्वयं दुःखी-सुखी करता हूँ'; वे मूढ़ हैं, मोही हैं, अज्ञानी हैं और इनसे विपरीत ज्ञानी हैं क्योंकि वे उनसे विपरीत मानते हैं॥ २५३॥

टीका – 'मैं, परजीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ और परजीव, मुझे दुःखी-सुखी करते हैं' – ऐसा अध्यवसाय, निश्चय से अज्ञान है। यह अज्ञान जिसको है, वह अज्ञानी है; अतः वह मिथ्यादृष्टि है लेकिन जिसको यह अज्ञान नहीं है, वह ज्ञानी होने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ – जिसकी ऐसी मान्यता है कि 'मैं परजीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दुःखी-सुखी करते हैं', उनकी यह मान्यता अज्ञान है। जिसको यह अज्ञान है, वह अज्ञानी है और जिसको यह अज्ञान नहीं है; वह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है।

अब पूछते हैं कि यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है? – उसका उत्तर देते हैं –

कम्मोदएण जीवा, दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।[१]
कम्मं च ण देसि तुमं, दुक्खिदसुहिदा कहं कदा ते॥ २५४॥
कम्मोदएण जीवा, दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।[२]
कम्मं च ण देसि तुमं, कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं॥ २५५॥[३]

१-२. *कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता* – तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ

३. तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन में उक्त गाथाएँ आगे-पीछे हैं।

कम्मोदएण जीवा, दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं, कदोसि कह दुक्खिदो तेहिं॥ १९॥
कम्मोदएण जीवा, दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं, कह सो सुहिदो कदो तेहिं॥ २०॥

॥ त्रिकलं॥

कर्मोदयेन जीवा, दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे।
कर्म च न ददासि त्वं, दुःखितसुखिताः कथं कृतास्ते॥ छ॥
कर्मोदयेन जीवा, दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे।
कर्म च न ददति तव, कृतोऽसि कथं दुःखितस्तैः॥ छ॥
कर्मोदयेन जीवा, दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे।
कर्म च न ददति तव, कथं त्वं[१] सुखितः कृतस्तैः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जीव हैं, ते सर्व ही अपनें कर्म के उदय करि दुःखी सुखी होय हैं॥ जो अैसैं है तौ हे भाई, तिनि जीवनि कूं कर्म तौ तू नाही दे है तौ तैं दुःखी सुखी कैसैं कीये॥ छ॥

वहुरि जीव हैं, ते सर्व ही अपनें कर्म के उदय करि दुःखी सुखी होय हैं॥ जो अैसैं है तौ हे भाई, ते जीव तोकूं कर्म तौ दे नही, तिननैं तोकूं दुःखी कैसैं कीया॥ छ॥

कम्मोदएण जीवा, दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं, कह तं सुहिदो कदो तेहिं॥ २५६॥[२]

जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुःखित और सुखी बनें।
तू कर्म तो देता नहीं, कैसे तू दुःखित-सुखी करे?॥ २५४॥
जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुःखित और सुखी बनें।
वे, कर्म तुझ देते नहीं, तो दुःखित तुझ कैसे करें?॥ २५५॥
जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुःखित और सुखी बनें।
वे, कर्म तुझ देते नहीं, तो सुखित तुझ कैसे करें?॥ २५६॥

अर्थ – सभी जीव, अपने-अपने कर्म के उदय से दुःखी-सुखी होते हैं। यदि ऐसा है तो हे भाई! तू, उन जीवों को कर्म तो देता नहीं है, **तो तूने, उन्हें सुखी-दुःखी कैसे किया?**॥ २५४॥

---

१. *त्वं* - 'अ' 'ब' में पाठ नहीं। २. तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन में उक्त गाथाएँ आगे-पीछे हैं।

वहुरि जीव हैं, ते सर्व ही अपनें कर्म के उदय करि दुःखी सुखी होय हैं॥ जो हे भाई, अैसैं है तौ ते जीव, कर्म तौ तोकूं दे नही तौ तोकूं तिनिनैं सुखी कैसें कीया॥ छ॥

॥ टीका॥ सुख दुःख हैं, ते प्रथम ही जीवनि कै अपनें कर्म के उदय ही करि होय हैं॥ जातैं कर्म के उदय के अभाव होतैं तिनि सुख दुःखनि का उदय होनें का असमर्थपणां है॥ वहुरि अपनां कर्म है सो अन्य कूं अन्य करि देनें कूं असमर्थपणां है॥ तिस कर्म कै अपनां परिणाम ही करि उपजवापणां है॥ तातैं अन्य कै अन्य है सो सुख दुःख काहू प्रकार भी नाही करै है॥ यातैं जाकै अैसा अध्यवसाय है जो मैं परजीवनि कूं सुखी दुःखी करौं हौं। वहुरि परजीवनि करि मैं सुखी दुःखी कीया॥ सो यह अध्यवसाय निश्चय करि अज्ञान है॥

॥ भावार्थ॥ जैसा आशय होय, तैसा कार्य न होय सो अैसा आशय अज्ञान है॥ सो सर्व जीव अपनें अपनें कर्म के उदय करि सुखी दुःखी होय हैं सो अैसैं मानैं जो मैं पर कूं सुखी दुःखी करौं हौं अर मोकूं पर सुखी दुःखी करैं हैं सो यह माननां निश्चयनय करि अज्ञान है अर निमित्तनैमित्तिकभाव है, ताकै आश्रय सुख दुःख करनेंवाला कहनां सो व्यवहार है सो निश्चय की दृष्टि मैं गौण है॥ छ॥

अव, इस अर्थ का कलशरूप काव्य है॥

॥ वसन्ततिलका॥

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्॥

सभी जीव, अपने-अपने कर्म के उदय से दुःखी-सुखी होते हैं। यदि ऐसा है तो हे भाई! अन्य जीव, तुझे कर्म तो देते नहीं **तो फिर उन्होंने, तुझे दुःखी कैसे किया?**॥ २५५॥

सभी जीव, अपने-अपने कर्म के उदय से दुःखी-सुखी होते हैं। यदि ऐसा है तो हे भाई! अन्य जीव, तुझे कर्म तो देते नहीं हैं **तो फिर उन्होंने, तुझे सुखी कैसे किया?**॥ २५६॥

टीका – प्रथम तो, जीवों को सुख-दुःख, अपने-अपने कर्म के उदय से ही होते हैं क्योंकि कर्म के उदय का अभाव होने पर सुख-दुःख के उत्पन्न होने की असमर्थता है; इसी प्रकार [किसी] अन्य को अपना कर्म, [किसी दूसरे] अन्य के द्वारा दिये जाने की असमर्थता है क्योंकि वह कर्म, अपने-अपने परिणामों से ही उत्पन्न होता है; अतः एक को दूसरा किसी भी प्रकार सुखी-दुःखी नहीं करता है। इस कारण जिसको ऐसा अध्यवसाय है कि 'मैं, परजीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ अथवा परजीवों के द्वारा मैं सुखी-दुःखी होता हूँ' तो उसका यह अध्यवसाय, निश्चय से अज्ञान है।

भावार्थ – 'जैसा आशय हो, वैसा कार्य न हो' तो वह आशय अज्ञान कहलाता है। सर्व जीव, अपने-अपने कर्म के उदय से सुखी-दुःखी होते हैं लेकिन जो ऐसा मानता है कि 'मैं, पर को सुखी-दुःखी करता हूँ और पर, मुझे सुखी-दुःखी करते हैं'; अतः उनका यह मानना निश्चयनय से अज्ञान है तथा निमित्त-नैमित्तिकभाव के आश्रय से अन्य को सुख-दुःख देनेवाला कहना, व्यवहार है परन्तु वह निश्चय की दृष्टि में गौण है।

अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य,
कुर्यात्पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम्॥ ६॥

॥ अर्थ॥ इस लोक मैं जीवनि कै मरण जीवित, दुःख सुख हैं, ते सर्व ही सदाकाल नियम तैं अपनें अपनें कर्म के उदय तैं होय हैं॥ वहुरि जो परपुरुष है सो पर कै मरण जीवित, दुःख सुख करै है, यह माननां है सो अज्ञान है॥ छ॥

फेरि, इस ही अर्थ कूं दृढ करते संते, अगिले कथन की सूचनिकारूप काव्य कहै है॥

॥ वसन्ततिलका॥

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य,
पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन, चिकीर्षवस्ते,
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति॥ ७॥

॥ अर्थ॥ यह पूर्वोक्त माननां अज्ञान है, ताहि प्राप्त होय करि जे पुरुष, पर तैं पर कै मरण

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

जीवन-मरण अरु दुःख-सुख, सब प्राणियों के सदा ही।
अपने करम के उदय के, अनुसार ही हों नियम से॥
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुःख-सुख।
विविध भूलों से भरी, यह मान्यता अज्ञान है॥ १६८॥

अर्थ – इस लोक में जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख [आदि] सब ही सदाकाल नियम से अपने-अपने कर्मों के उदय से होते हैं; अतः अन्य पुरुष [किसी दूसरे] अन्य को जीवन-मरण, सुख-दुःख देता है – ऐसा मानना, अज्ञान है।

पुनः, इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए अगले कथन की सूचनारूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

करे कोई किसी के, जीवन-मरण अर दुःख-सुख।
मानते हैं जो पुरुष, अज्ञानमय इस बात को॥
कर्त्तृत्व-रस से लबालब हैं, अहंकारी वे पुरुष।
भव-भव भ्रमें मिथ्यामती, अरु आत्मघाती वे पुरुष॥ १६९॥

अर्थ – यह पूर्वोक्त मान्यता अज्ञान है क्योंकि उसे स्वीकार करके जो पुरुष, अन्य के द्वारा

जीवित, दुःख सुख होनां देषै हैं, मानैं हैं॥ ते पुरुष मैं इनि कर्मनि कूं करौं हौं, अैसा अहंकाररूप रस करि कर्मनि कूं करनें के इच्छक हैं, कर्म करनें की, मारनें, जिवावनें की, सुखी दुःखी करनें की वांछा करैं हैं, ते नियम करि मिथ्यादृष्टी हैं। आप ही करि अपनां घात जिनिकै पाइये, अैसै हैं॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जे पर कूं मारनें जिवावनें का तथा सुख दुःख करनें का अभिप्राय करैं हैं, ते मिथ्यादृष्टी हैं अर अपनां स्वरूप तैं च्युत भये रागी द्वेषी मोही होय, आप ही करि आपका घात करैं हैं, तातैं हिंसक हैं॥ छ॥

आगैं, इस अर्थ कूं गाथा मैं कहै है॥

जो मरइ जो य दुहिदो, जायदि कम्मोदएण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे, दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा॥ २१॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो, सो वि य कम्मोदएण चेव खलु।
तम्हा ण मारिदो णो, दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा॥ २२॥

॥ युगलं॥

[दूसरे] अन्य का मरण-जीवन, दुःख-सुख [आदि] होना देखते हैं, मानते हैं; वे पुरुष 'मैं, इन कर्मों को करता हूँ' – ऐसे अहङ्काररूप रस के कारण कर्मों को करने के इच्छुक हैं तथा कर्मों को करने, [परजीवों को] मारने, जीवित करने, सुखी-दुःखी करने [आदि] की वाञ्छा करते हैं; वे नियम से मिथ्यादृष्टि हैं, स्वयं ही के द्वारा स्वयं का घात करनेवाले हैं।

भावार्थ – जो पर को मारने, जीवित करने और सुख-दुःख करने का अभिप्राय करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं; वे अपने स्वरूप से च्युत होते हुए रागी-द्वेषी-मोही होकर, स्वयं ही के द्वारा स्वयं का घात करते हैं; अतः हिंसक हैं।

अब, इसी अर्थ को गाथा में कहते हैं –

जो मरदि जो य दुहिदो, जायदि कम्मोदएण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे, दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा॥ २५७॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो, सो वि य कम्मोदएण चेव खलु[1]।
तम्हा ण मारिदो णो, दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा॥ २५८॥

मरता, दुःखी होता जु जीव सब, कर्म उदयों से बनें।
'मुझसे मरा अरु दुःखि हुआ', क्या मत न तुझ मिथ्या अरे!॥ २५७॥

---

१. *खलु जीवा* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

यो म्रियते यश्च दुःखितो, जायते कर्मोदयेन स सर्वः।
तस्मात्तु मारितस्ते, दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या॥ छ॥
यो न म्रियते न च दुःखितः, सोऽपि च कर्मोदयेन चैव खलु।
तस्मान्न मारितो नो, दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो मरै है, बहुरि दुःखी होय है॥ सो सर्व कर्म के उदय करि होय है॥ तातैं तैंरै मैं मार्‌या, मैं दुःखी कीया, अैसा अभिप्राय है सो मिथ्या नाही है कहा। मिथ्या ही है॥

बहुरि जो मरै नाही है, बहुरि दुःखी नाही होय है सो भी कर्म के उदय ही करि होय है॥ तातैं तैंरै यह अभिप्राय है जो मैं मार्‌या नाही अर दुःखी न कीया सो यह भी अभिप्राय कहा मिथ्या नाही है, मिथ्या ही है॥ छ॥

॥ टीका॥ निश्चय करि मरै है तथा जीवै है॥ अथवा दुःखी होय है तथा सुखी होय है॥ सो अपनें कर्म के उदय ही करि होय है। तिस कर्म के उदय के अभाव होतैं, तिस जीव कै तैसैं मरण जीवन, सुख दुःख होनें का असमर्थपणां है॥ तातैं मैं यह मार्‌या, यह मैं जिवाया, यह मैं दुःखी कीया, यह मैं सुखी कीया, अैसैं मानता संता जीव मिथ्यादृष्टी है॥

॥ भावार्थ॥ कोऊ काहू का मार्‌या मरै नाही, जिवाया जीवै नाही, सुखी दुःखी कीया सुखी दुःखी होय नाही। यातैं मारनें जिवावनें आदि का अभिप्राय करै सो तौ मिथ्यादृष्टी ही होय, यह निश्चयनय का वचन है, इहां व्यवहारनय गौण है॥ छ॥

याका कलशरूप श्लोक है।

अरु नहिं मरें, नहिं दुःखि बनें, वे कर्म उदयों से बनें।
'मैंने न मारा, दुःखि किया', क्या मत न तुझ मिथ्या अरे!॥ २५८॥

अर्थ – जो मरता है अथवा दुःखी होता है, वह सब कर्म के उदय से होता है; अतः 'तुझे मैंने मारा, मैंने दुःखी किया', **ऐसा अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है?** – मिथ्या ही है॥ २५७॥

जो मरता नहीं अथवा दुःखी नहीं होता, वह भी कर्म के उदय ही से होता है; अतः 'मैंने मारा या दुःखी नहीं किया', **ऐसा अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है?** – मिथ्या ही है।

टीका – जो भी मरता है, जीता है अथवा दुःखी-सुखी होता है, वह निश्चय से अपने कर्म के उदय ही से होता है; उस कर्म के उदय का अभाव होने पर उस जीव को उस प्रकार के मरण-जीवन, सुख-दुःख होने की असमर्थता है; इसलिए 'मैंने इसे मारा, मैंने इसे जीवित किया; मैंने इसे दुःखी किया, मैंने इसे सुखी किया' – ऐसा मानता हुआ जीव मिथ्यादृष्टि है।

भावार्थ – कोई किसी के मारने पर मरता नहीं है, जीवित करने पर जीवित नहीं होता है; सुखी-दुःखी करने पर सुखी-दुःखी नहीं होता है; अतः जो मारने, जीवित करने आदि का अभिप्राय करता है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही होता है – यह निश्चयनय का कथन है, यहाँ व्यवहारनय गौण है।

॥ अनुष्टुभ्॥

मिथ्यादृष्टेः स एवाऽस्य, बन्धहेतुर्विपर्ययात्।
य एवाऽध्यवसायोऽय-मज्ञानाऽत्माऽस्य दृश्यते॥ ८॥

॥ अर्थ॥ मिथ्यादृष्टी कै जो यह अध्यवसाय है सो अज्ञानस्वरूप प्रत्यक्ष दीषै है सो ही यह अभिप्राय मिथ्या विपर्ययस्वरूप है, तातैं वंध का कारण है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ झूठा अभिप्राय सो ही मिथ्यात्व सो ही वंध का कारण, अैसैं जाननां॥

आगैं, यह ही अध्यवसाय वंध का कारण है, अैसैं गाथा मैं कहै है॥ छ॥

एसा दु जा मई ते, दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
एसा दे मूढमई, सुहासुहं बंधए कम्मं॥ २३॥

एषा तु या मतिस्ते, दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति।
एषा ते मूढमतिः, शुभाशुभं बध्नाति कर्म॥ छ॥

॥ अर्थ॥ हे आत्मन्, तेरी जो यह वुद्धि है जो मैं जीवनि कूं दुःखी सुखी करूं हौं सो यह तेरी मूढवुद्धि है, मोहस्वरूप है, सो यह ही वुद्धि, शुभ अशुभ कर्मनि कूं वांधै है॥ छ॥

इसका कलशरूप श्लोक कहते हैं —

॥ दोहा॥

विविध कर्म-बन्धन करें, जो मिथ्याऽध्यवसाय।
मिथ्यामति निशदिन करे, वे मिथ्याऽध्यवसाय॥ १७०॥

अर्थ – मिथ्यादृष्टि का यह अध्यवसाय, प्रत्यक्ष ही अज्ञानस्वरूप दीखता है; उसका यही अध्यवसाय या अभिप्राय मिथ्या है, विपर्ययस्वरूप है; अतः बन्ध का कारण है।

भावार्थ – झूठा अभिप्राय ही मिथ्यात्व है, वही बन्ध का कारण है – ऐसा जानना चाहिए।

अब, यही अध्यवसाय बन्ध का कारण है, यह गाथा में कहते हैं —

एसा दु जा मदी दे, दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते ति।
एसा दे मूढमदी, सुहासुहं बंधदे कम्मं॥ २५९॥

ये बुद्धि तेरी 'दुःखित और, सुखी करूँ हूँ जीव को'।
यह मूढमति तेरी अरे!, शुभ-अशुभ बाँधे कर्म को॥ २५९॥

अर्थ – हे आत्मन् ! तेरी यह बुद्धि है कि 'मैं, जीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ', यह तेरी मूढ़बुद्धि है, मोहस्वरूप है; तेरी यही बुद्धि शुभ-अशुभ कर्मों को बाँधती है॥ २५९॥

॥ टीका ॥ परजीवनि कूं मैं हणूं हौं, दुःखी करूं हौं, सुखी करूं हौं ॥ ऐसा जो यह अज्ञानमयी अध्यवसाय है सो यह मिथ्यादृष्टी कै होय है सो ही स्वयं रागादिरूपपणां तैं तिसकै शुभाशुभ वंध का कारण है ॥ छ ॥

॥ भावार्थ ॥ मिथ्या अध्यवसाय, वंध का कारण है ॥ छ ॥

आगैं मिथ्याध्यवसाय कूं वंध का कारणपणां करि नियमरूप कहै है ॥ छ ॥

दुक्खिदसुहिदे सत्ते, करेमि जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा, पुण्णस्स व बंधगं होदि॥ २४॥
मारेमि जिवावेमि य, सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा, पुण्णस्स व बंधगं होदि॥ २५॥

॥ युग्मं ॥

दुःखितसुखितान् सत्त्वान्, करोमि यदेवमध्यवसितं ते।
तत्पापबन्धकं वा, पुण्यस्य वा बन्धकं भवति॥ छ॥
मारयामि जीवयामि च, सत्त्वान् यदेवमध्यवसितं ते।
तत्पापबन्धकं वा, पुण्यस्य वा बन्धकं भवति॥ छ॥

टीका – 'मैं, अन्य जीवों को मारता हूँ, [जीवित करता हूँ], दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ' – ऐसा यह अज्ञानमयी अध्यवसाय मिथ्यादृष्टि जीव को होता है। वह [अध्यवसाय] ही स्वयं रागादिस्वरूप होने के कारण, उस [मिथ्यादृष्टि] को शुभाशुभ बन्ध का कारण है।

भावार्थ – मिथ्या अध्यवसाय, बन्ध का कारण है।

अब, मिथ्या अध्यवसाय को बन्ध का कारण निश्चित करते हैं —

दुक्खिदसुहिदे सत्ते, करेमि जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा, पुण्णस्स व बंधगं होदि॥ २६०॥
मारिमि जीवावेमि य, सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा, पुण्णस्स व बंधगं होदि॥ २६१॥

करता तू अध्यवसान, 'दुःखित-सुखी करूँ हूँ जीव को'।
वह बाँधता है पाप को या, बाँधता है पुण्य को॥ २६०॥
करता तू अध्यवसान, 'मैं मारूँ-जिवाऊँ जीव को'।
वह बाँधता है पाप को या, बाँधता है पुण्य को॥ २६१॥

॥ अर्थ ॥ हे आत्मन्, तेरा यह अध्यवसित है, अभिप्राय है जो मैं जीवनि कूं दुखी सुखी करूं हौं॥ सो ही यह अभिप्राय पाप का वंधक है तथा पुण्य का वंधक है॥ छ॥

वहुरि मैं जीवनि कूं मारूं हौं अथवा जिवावूं हौं, जो तेरा यह अध्यवसित है, अभिप्राय है सो भी पाप का वंधक है तथा पुण्य का वंधक है॥ छ॥

॥ टीका॥ जो यह मिथ्यादृष्टी कै अज्ञान तैं जाका जन्म भया, अैसा रागमयी अध्यवसाय है सो ही यह वंध का कारण है, अैसैं अवधारण करणां, नियम जाननां। वहुरि वंध कै पुण्यपापपणां करि दोयपणां है सो याके दोयपणें तैं कारण का भेद नाही हेरणां जो पुण्यवंध का कारण तौ अन्य है अर पापवंध का कारण किछू और है॥ एक ही इस अध्यवसाय करि दुःखी करूं हौं, मारूं हौं अैसा तथा सुखी करूं हौं, जिवावूं हौं, अैसा दोय प्रकार शुभ अशुभ अहंकार रस करि भर्‌यापणां करि पुण्य पाप दोऊहीनि का वंध का कारणपणां का अवरोध है, एक ही है अध्यवसाय करि पुण्य पाप दोऊ का वंध है॥

॥ भावार्थ॥ यह अज्ञानमयी अध्यवसाय ही वंध का कारण है। तहां शुभ अध्यवसाय तौ जिवावनां, सुखी करनां, अैसा है। वहुरि मारनां, दुःखी करनां, यह अशुभ अध्यवसाय है। सो अहंकाररूप मिथ्याभाव दोऊ ही मैं है, तातैं अैसा न जाननां जो शुभ का कारण तौ और है अर अशुभ का कारण और है॥ अज्ञानमयीपणां करि दोऊ अध्यवसाय एक ही है॥ छ॥

आगैं कहै हैं जो अैसैं होतैं अध्यवसाय ही वंध का कारण होतैं, जो यह हिंसा का अध्यवसाय है सो ही हिंसा है, यह आया॥

अर्थ – हे आत्मन्! तेरा यह अध्यवसित अर्थात् अध्यवसान या अभिप्राय है कि 'मैं जीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ', तेरा यही अभिप्राय, पाप और पुण्य का बन्ध करनेवाला है॥ २६०॥

'मैं जीवों को मारता हूँ अथवा बचाता हूँ' – ऐसा जो तेरा अध्यवसित अर्थात् अध्यवसान या अभिप्राय है, वह भी पाप और पुण्य का बन्ध करनेवाला है॥ २६१॥

टीका – जो यह मिथ्यादृष्टि के अज्ञान से जन्मा रागमयी अध्यवसाय है, वही बन्ध का कारण है – ऐसा अवधारण करना चाहिए, नियम जानना चाहिए। बन्ध के पुण्य-पाप के रूप में दो प्रकार हैं परन्तु इन दो प्रकारों के होने में कारणों की भिन्नता नहीं ढूँढ़ना चाहिए कि पुण्यबन्ध का कारण तो कुछ और है और पापबन्ध का कारण कुछ और है क्योंकि इस एक ही अध्यवसाय के द्वारा 'मैं अन्य को सुखी करता हूँ या बचाता हूँ तथा मैं दुःखी करता हूँ या मारता हूँ' – ऐसे दो प्रकार के शुभ -अशुभरूप अहङ्काररस से भरे हुए होने से पुण्य-पाप, दोनों ही प्रकार के बन्ध के कारणों में अविरोध है अर्थात् एक ही अध्यवसाय से पुण्य-पाप, दोनों का बन्ध होता है।

भावार्थ – यह अज्ञानमयी अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है। वहाँ बचाना, सुखी करना आदि तो शुभ अध्यवसाय हैं और मारना, दुःखी करना आदि अशुभ अध्यवसाय हैं; चूँकि अहङ्काररूप मिथ्याभाव दोनों ही में है; अतः यह नहीं जानना कि शुभ का कारण तो अन्य है और अशुभ का कारण अन्य है क्योंकि अज्ञानमयी होने के कारण दोनों अध्यवसाय एक ही हैं।

अज्झवसिदेण बंधो, सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्छयणयस्स॥ २६॥

अध्यवसितेन बन्धः, सत्त्वान् मारयतु मा वा मारयतु[१]।
एष बन्धसमासो, जीवानां निश्चयनयस्य॥ छ॥

॥ अर्थ॥ निश्चयनय का यह पक्ष है जो जीवनि कूं मारो अथवा मति मारो, यह जीवनि कै कर्मवंध है सो अध्यवसाय ही करि है, यह ही वंध का संक्षेप है॥ छ॥

॥ टीका॥ परजीवनि कै प्राणनि का वियोग है सो अपनां कर्म का उदय का विचित्रपणां का वश करि है सो कदाचित् होहु अथवा कदाचित् मति होहु॥ जो यह मैं हणूं हौं, अैसा अहंकार करि भर्‌या हिंसा कै विषै अध्यवसाय है, अभिप्राय है॥ सो ही निश्चय तैं तिस अभिप्रायवाले पुरुष कै वंध का कारण है॥ जातैं निश्चयनय की पक्ष मैं पर का भाव, जो प्राणनि का वियोग करणां सो पर कै करणें का असमर्थपणां है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ निश्चयनय करि पर का प्राणनि का वियोग करणां, पर का कीया होय नाही, ताके कर्म के उदय की विचित्रता करि कदाचित् होय है, कदाचित् नाही होय है, तातैं जो अैसा मानै

अब कहते हैं कि ऐसा होने पर अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है तो यह हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है – यह सिद्ध होता है [वही कहते हैं] —

अज्झवसिदेण बंधो, सत्ते मारेहि मा व मारेहि।
एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्छयणयस्स॥ २६२॥

मारो, न मारो जीव को, है बन्ध अध्यवसान से।
यह आतमा के बन्ध का, संक्षेप निश्चयनय विषैं॥ २६२॥

अर्थ – निश्चयनय का यह मन्तव्य है कि जीवों को मारो अथवा मत मारो, जीवों को अध्यवसाय ही से कर्मबन्ध होता है; यही बन्ध का संक्षेप है॥ २६२॥

टीका – अन्य जीवों के प्राणों का वियोग, उनके अपने-अपने कर्मों के उदय की विचित्रता के अनुसार होता है; अतः वह कदाचित् हो भी अथवा न भी हो, परन्तु जो यह 'मैं मारता हूँ' – ऐसे अहंकार से भरा हुआ हिंसा के प्रति अध्यवसाय या अभिप्राय है, वही निश्चय से ऐसे अभिप्रायवाले पुरुष को बन्ध का कारण है क्योंकि निश्चयनय से [किसी] अन्य का भाव अर्थात् अन्य के प्राणों का वियोग करने में [दूसरे किसी] अन्य की असमर्थता है।

भावार्थ – निश्चयनय से [किसी] अन्य के प्राणों का वियोग, [दूसरे किसी] अन्य के करने

---

१. *मारय मा वा मारय* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

है, अहंकार करै है जो मैं परजीव कूं मारूं हौं सो यह अहंकाररूप अध्यवसाय है सो अज्ञानमयी है सो यह ही हिंसा है, अपनां विशुद्ध चैतन्यप्राण का घात है अर यह ही वंध का कारण है, यह निश्चयनय का मत है। इहां व्यवहार कूं गौण करि कह्या जाननां सो कथंचित् जाननां, सर्वथा एकांतपक्ष है सो मिथ्यात्व है॥ छ॥

आगैं, यह हिंसा का अध्यवसाय कह्या, तैसैं ही तिस ही कूं अन्य कार्यनि विषै भी पाप पुण्य का वंध का कारणपणां करि प्रत्यक्ष दिषावै है॥ छ॥

एवमलिए अदत्ते, अबंभचारे परिग्गहे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं, जं तेण दु बज्झए पावं॥ २७॥
तध वि य सच्चे दत्ते, बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं, जं तेण दु बज्झए पुण्णं॥ २८॥

॥ युगलं॥

एवमलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव।
क्रियतेऽध्यवसानं, यत्तेन तु बध्यते पापम्॥ छ॥

से होता नहीं है क्योंकि वह उसके कर्म के उदय की विचित्रता के कारण कदाचित् हो या कदाचित् नहीं हो; इसलिए जो ऐसा मानता है या अहंकार करता है कि 'मैं परजीवों को मारता हूँ' तो ऐसा अहङ्काररूप अध्यवसाय अज्ञानमयी है, यही हिंसा है, अपने शुद्ध चैतन्यप्राणों का घात है; यही बन्ध का कारण है – यह निश्चयनय का मत है। यहाँ व्यवहारनय को गौण करके कथन किया है – ऐसा जानना, लेकिन उसे कथञ्चित् ही जानना क्योंकि सर्वथा एकान्तपक्ष मिथ्यात्व है।

अब, जिस प्रकार यह हिंसा का अध्यवसाय कहा; उसी प्रकार अन्य कार्यों में भी अध्यवसाय को ही पाप-पुण्य के बन्ध का कारण प्रत्यक्ष दिखाते हैं —

एवमलिए अदत्ते, अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं, जं तेण दु बज्झदे पावं॥ २६३॥
तह वि य सच्चे दत्ते, बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं, जं तेण दु बज्झदे पुण्णं॥ २६४॥

यों झूठ माहिं, अदत्त में, अब्रह्म अरु परिग्रह विषैं।
जो होय अध्यवसान, उससे पाप-बन्धन होय है॥ २६३॥

तथापि च सत्ये दत्ते, ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव।
क्रियतेऽध्यवसानं, यत्तेन तु बध्यते पुण्यम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ एवं कहिये पूर्वैं हिंसा का अध्यवसान कह्या, तैसैं ही अलीक कहिये असत्य, अदत्त कहिये चोरी आदि करि विना दिया परधन का लेनां, अब्रह्मचर्य कहिये स्त्री का संसर्ग, परिग्रह कहिये धनधान्यादिक, इनि विषैं जो अध्यवसान कीजिये, तिस करि तौ पाप का वंध होय है॥ छ॥

वहुरि तैसैं ही सत्य विषै, दीया लेनें विषै, ब्रह्मचर्य विषै, अपरिग्रह विषै जो अध्यवसान कीजिये, तिस करि पुण्य का वंध होय है॥ छ॥

॥ टीका॥ एवं कहिये पूर्वोक्त प्रकार यह अज्ञान तैं जो जैसैं हिंसा विषै अध्यवसाय करिये, तैसै ही असत्य अदत्त अब्रह्म परिग्रह, इनि विषै जो अध्यवसाय कीजिये सो सर्व ही केवल एक पापवंध ही का कारण है॥ वहुरि जो अहिंसा विषै जैसैं कीजिये, तैसैं ही सत्य दत्त ब्रह्मचर्य अपरिग्रह, इनि विषैं भी अध्यवसाय कीजिये सो सर्व ही केवल एक पुण्यवंध ही का कारण है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जैसैं हिंसा विषै अध्यवसाय पापवंध का कारण कह्या, तैसैं असत्य अदत्त अब्रह्म परिग्रह विषै अध्यवसाय, पापवंध का कारण है॥ वहुरि जैसैं अहिंसा विषै अध्यवसाय पुण्य का कारण है, तैसैं सत्य दत्त ब्रह्मचर्य अपरिग्रहपणां विषै पुण्यवंध का कारण है॥ अैसैं पांच पाप का अभिप्राय

इस भाँति सत्य रु दत्त में, त्यों ब्रह्म अप्परिग्रह विषैं।
जो होय अध्यवसान, उससे पुण्य-बन्धन होय है॥ २६४॥

अर्थ – एवं अर्थात् पूर्व में जिस प्रकार हिंसा का अध्यवसान कहा; उसी प्रकार **अलीक** अर्थात् असत्य, **अदत्त** अर्थात् चोरी आदि करके बिना दिये परधन को ले लेना, **अब्रह्मचर्य** अर्थात् स्त्री का संसर्ग और **परिग्रह** अर्थात् धन-धान्य आदि [का संग्रह]; इन सबमें जो अध्यवसान किया जाता है, उससे तो पाप का बन्ध होता है॥ २६३॥

तथा उसी प्रकार सत्य, दिया हुआ लेने में (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में जो अध्यवसान किया जाता है, उससे पुण्य का बन्ध होता है॥ २६४॥

टीका – एवं अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से इस अज्ञान के कारण जिस प्रकार हिंसा के सम्बन्ध में अध्यवसाय किया जाता है; उसी प्रकार असत्य, अदत्त, अब्रह्म और परिग्रह के सम्बन्ध में जो अध्यवसाय किया जाता है; वह सर्व ही केवल एक पापबन्ध ही का कारण है तथा जिस प्रकार अहिंसा के सम्बन्ध में अध्यवसाय किया जाता है; उसी प्रकार सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सम्बन्ध में भी जो अध्यवसाय किया जाता है; वह सर्व ही केवल एक पुण्यबन्ध ही का कारण है।

भावार्थ – जैसे हिंसा में अध्यवसाय, पापबन्ध का कारण कहा है; वैसे असत्य, अदत्त (चोरी), अब्रह्म और परिग्रह में अध्यवसाय, पापबन्ध का कारण है तथा जैसे अहिंसा में अध्यवसाय, पुण्यबन्ध का कारण है; उसी प्रकार सत्य, दत्त (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में अध्यवसाय, पुण्यबन्ध का कारण है। इस प्रकार पाँच पापों का अभिप्राय तो पापबन्ध करता है तथा एकदेश और

तौ पापवंध करै है अर पांच व्रत, एकदेश सर्वदेश विषै अभिप्राय है सो पुण्यवंध करै है॥ छ॥

आगैं कहै है जो वाह्य वस्तु है सो दूसरा वंध का कारण है नाही। कोई जानैंगा कि जैसैं अध्यवसान वंध का कारण है, तैसैं वाह्यवस्तु है सो भी दूसरा वंध का कारण है सो अैसैं नाही है, एक अध्यवसाय ही वंध का कारण है॥ छ॥

वत्थुं पडुच्च तं पुण[१], अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोसि॥ २९॥

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवानां।
न च वस्तुतस्तु बन्धोऽध्यवसानेन बन्धोऽस्ति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जीवनि कै अध्यवसान होय है सो वस्तु कूं प्रतीत्य करि अवलंव्य करि होय है॥ वहुरि वस्तु तैं वंध नाही है॥ अध्यवसान ही करि वंध है॥ छ॥

॥ टीका॥ अध्यवसान है सो ही वंध का कारण है॥ वहुरि वाह्य वस्तु है सो वंध का कारण नाही है॥ जातैं वंध का कारण जो अध्यवसान, ताका कारणपणां करि ही वाह्य वस्तु कै चरितार्थपणां है। वाह्य वस्तु तौ अध्यवसान ही का कारण है, वंध का कारण नाही॥

सर्वदेश, पाँच व्रतों का अभिप्राय, पुण्यबन्ध करता है।

अब कहते हैं कि बाह्य वस्तु, बन्ध का दूसरा कारण नहीं है। कोई ऐसा जानेगा कि जिस प्रकार अध्यवसान, बन्ध का कारण है, उसी प्रकार बाह्य वस्तु भी बन्ध का दूसरा कारण है, परन्तु ऐसा है नहीं; एक अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है, [यह कहते हैं] —

वत्थुं पडुच्च जं पुण, अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण हि वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधो त्ति[२]॥ २६५॥

जो होंय अध्यवसान जीव के, वस्तु-आश्रित वे बनें।
पर वस्तु से नहिं बन्ध, अध्यवसान से ही बन्ध है॥ २६५॥

अर्थ – जीवों में अध्यवसान, वस्तु को लक्ष्य करके अर्थात् अवलम्बन करके होता है परन्तु वस्तु के कारण बन्ध नहीं है; अध्यवसान ही के कारण बन्ध है॥ २६५॥

टीका – अध्यवसान ही बन्ध का कारण है; बाह्य वस्तु, बन्ध का कारण नहीं है क्योंकि बन्ध का कारण जो अध्यवसान है, उसका कारण होने में ही बाह्य वस्तु का चरितार्थपना है। बाह्य वस्तु तो अध्यवसान ही का कारण है, बन्ध का कारण नहीं है।

---

१. *पुणु* - 'ब' प्रति पाठ
२. *बंधोत्थि* - तात्पर्यवृत्ति, अगास एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ

तहां पूछै है जो वाह्य वस्तु वंध का कारण नाही तौ ताका निषेध कोंन अर्थि कीजिये है जो वाह्य वस्तु का प्रसंग मति करो, त्याग करो॥

ताका समाधान करै है जो अध्यवसान का प्रतिषेध कै अर्थि वाह्य वस्तु का प्रतिषेध है, त्याग कराइए है॥ जातैं वाह्य वस्तु है सो अध्यवसान का आश्रयभूत है॥ वाह्य वस्तु का आश्रय विनां अध्यवसान अपनां स्वरूप कूं नाही पावै है, नाही उपजै है॥ जो वाह्य वस्तु का आश्रय न ले करि भी अध्यवसान उपजै तौ, जैसैं सुभट की माता का पुत्र जो सुभट, ताका सद्भाव होतैं, तिसका आश्रय ले करि काहू कै अध्यवसान होय है जो सुभट की माता का पुत्र कूं मैं हणूं हौं, तैसैं ही वांझ का पुत्र का सद्भाव न होतैं भी तिसकैं आश्रय भी मैं वंध्यासुत कूं मारूं हौं, अैसा अध्यवसान उपजै सो तौ नाही उपजै है सो अैसैं बिना आश्रय अध्यवसान उपजै नाही, वंध्या का पुत्र ही नाही तौ मारनें का अध्यवसाय कैसैं उपजै।

तातैं यह नियम है जो वाह्य वस्तु विनां, निराश्रय अध्यवसान उपजै नाही॥ याही तैं अध्यवसान का आश्रयभूत जो वाह्य वस्तु, ताका अत्यंत प्रतिषेध है॥ जातैं हेतु जो कारण, ताका प्रतिषेध करि ही हेतुमान जो कार्य, ताका प्रतिषेध है, यह न्याय है॥ वाह्य वस्तु अध्यवसान का हेतु है, तातैं ताका प्रतिषेध करि अध्यवसान का प्रतिषेध होय है॥

वहुरि वाह्य वस्तु कै वंध का हेतु जो अध्यवसान, ताका हेतुपणां होतैं भी वाह्य वस्तु तो वंध का हेतु नाही है, यामैं व्यभिचार है॥ जातैं कोई मुनींद्र ईर्यासमितिरूप प्रवर्त्तै है, ताके चरण करि हण्यां

यहाँ **प्रश्न** होता है – यदि बाह्य वस्तु, बन्ध का कारण नहीं है तो उसका निषेध किसलिए किया जाता है कि बाह्य वस्तु का प्रसङ्ग मत करो, उसका त्याग करो?

उसका **समाधान** करते हैं कि अध्यवसान का निषेध करने के लिए ही बाह्य वस्तु का निषेध किया जाता है, उसका त्याग कराया जाता है क्योंकि बाह्य वस्तु अध्यवसान की आश्रयभूत है। बाह्य वस्तु के आश्रय बिना अध्यवसान, अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता है अर्थात् उत्पन्न नहीं होता है। यदि बाह्य वस्तु का आश्रय लिए बिना भी अध्यवसान उत्पन्न हो जाए तो जिस प्रकार सुभट पुत्र की माता के सुभट पुत्र का सद्भाव होने से उसका आश्रय लेकर किसी को अध्यवसान होता है कि 'मैं सुभट की माता के पुत्र को मारता हूँ'; उसी प्रकार बन्ध्या के पुत्र का सद्भाव नहीं होने पर भी क्या उसके आश्रय से भी 'मैं बन्ध्या के पुत्र को मारता हूँ' – ऐसा अध्यवसान उत्पन्न होता है अर्थात् वह उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार बिना आश्रय के अध्यवसान उत्पन्न नहीं होता। जब बन्ध्या का पुत्र ही नहीं है तो उसे मारने का अध्यवसाय भी कैसे उत्पन्न हो?

अत: यह नियम है कि बाह्य वस्तु के बिना अर्थात् आश्रय के बिना अध्यवसान उत्पन्न नहीं होता है; इसलिए अध्यवसान की आश्रयभूत बाह्य वस्तु का भी अत्यन्त निषेध है क्योंकि हेतु अर्थात् कारण के निषेध से ही हेतुमान अर्थात् कार्य का निषेध होता है, यह न्याय है। बाह्य वस्तु अध्यवसान का हेतु है; अत: उसके निषेध से अध्यवसान का भी निषेध हो जाता है।

बाह्य वस्तु में, बन्ध के कारण अध्यवसान का कारणपना होने पर भी बाह्य वस्तु तो बन्ध का कारण नहीं है। ऐसा मानने में व्यभिचारदोष आता है क्योंकि जैसे कोई मुनिराज, ईर्यासमितिपूर्वक

गया जो काल का प्रेर्‍या, अतिवेग करि शीघ्र आय पड्या कोई उडता जीव, ताके मरनें तैं मुनींद्र कूं हिंसा न लागै, तैसैं अन्य वस्तु भी वंध के कारण मानैं ते अवंध के भी कारण हैं, तातैं वाह्य वस्तु कै वंध का कारणपणां माननें विषै अनैकांतिक हेत्वाभासपणां है, व्यभिचार आवै है। यातैं निश्चय करि वाह्य वस्तु कै वंध का कारणपणां निर्वाध सिद्ध होय नाही॥ यातैं जीव कै वाह्य वस्तु अतद्भावरूप है सो वंध का कारण नाही, तद्भावरूप अध्यवसान ही वंध का कारण है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ वंध का कारण निश्चयनय करि अध्यवसान ही है अर वाह्य वस्तु है सो अध्यवसान का आलंवन है। तिनिकूं आलंव्य करि अध्यवसान उपजै है, तातैं अध्यवसान का कारण कहिये है। विना वाह्य वस्तु, निराश्रय अध्यवसान उपजै नाही, याही तैं वाह्य वस्तु का त्याग कराया है॥ अर वंध का कारण वाह्य वस्तु कूं कहिये तौ यामैं व्यभिचार आवै है। जो कोई जायगां कारण दीषै अर कोई जायगां न दीषै, ताकूं व्यभिचार कहिये।

जैसैं कोई मुनि, ईर्यासमिति तैं यत्न तैं गमन करै था अर ताके पगतलैं[१] कोई उडता जीव आय पड्या मरि गया तौ ताकी हिंसा मुनि कूं न लागै। सो इहां वाह्यदृष्टि करि देषिये तौ हिंसा भई परंतु मुनि कै हिंसा का अध्यवसान नाही, तातैं वंध का कारण नाही, तैसैं अन्य वाह्यवस्तु जाननां अर वाह्यवस्तु विनां, निराश्रय अध्यवसान न होय, तातैं ताका निषेध है ही॥ छ॥

प्रवर्तन कर रहे हों, कोई उड़ता हुआ जीव, काल के द्वारा प्रेरित होकर अतिवेग से शीघ्र उनके चरणों के नीचे आकर मर जाए तो उसके मरने से मुनिराज को हिंसा नहीं लगती है; उसी प्रकार अन्य वस्तु को बन्ध का कारण मानने पर, वे तो अबन्ध का भी कारण हैं; इसलिए बाह्य वस्तु में बन्ध का कारणपना मानने में अनैकान्तिक हेत्वाभास है, व्यभिचारदोष है; अत: निश्चय से बाह्य वस्तु में बन्ध का कारणपना निर्बाध सिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार जीव में बाह्य वस्तु अतद्भावरूप है, वह बन्ध का कारण नहीं है; जीव में तद्भावरूप रहनेवाला अध्यवसान ही बन्ध का कारण है।

भावार्थ – निश्चयनय से बन्ध का कारण अध्यवसान ही है और बाह्य वस्तु, अध्यवसान का अवलम्बन है क्योंकि उनका अवलम्बन लेकर अध्यवसान उत्पन्न होता है; अत: उन्हें अध्यवसान का कारण कहा जाता है। बिना बाह्य वस्तु के अर्थात् उनके आश्रय के बिना अध्यवसान उत्पन्न नहीं होता; इसीलिए बाह्य वस्तु का त्याग कराया है। यदि बाह्य वस्तु को बन्ध का कारण कहा जाए तो उसमें व्यभिचारदोष आता है। जब किसी स्थान पर कारण दीखता है और किसी स्थान पर कारण नहीं दीखता है, उसे व्यभिचारदोष कहते हैं।

जैसे कोई मुनि, ईर्यासमितिपूर्वक यत्न से गमन कर रहे हों और उनके पाँव के नीचे कोई उड़ता हुआ जीव आकर गिर जाए और मर जाए, तो उसकी हिंसा मुनिराज को नहीं लगती। यदि यहाँ बाह्य दृष्टि से देखा जाए तो हिंसा हुई है परन्तु मुनिराज को हिंसा का अध्यवसान नहीं है; इसलिए बन्ध का कारण नहीं है। इसी प्रकार अन्य बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए, लेकिन बाह्य वस्तु के बिना अर्थात् आश्रय के बिना अध्यवसान होता नहीं है; इसलिए उनका निषेध है ही।

---

१. *पादतलैं* – 'ब' प्रति पाठ

आगैं कहै हैं जो या प्रकार वंध का कारणपणां करि निश्चय कीया जो अध्यवसान, ताकै अपनीं अर्थक्रिया का करनेंवालापणां नाही है, तातैं याकै मिथ्यापणां है। जाकै अर्थक्रियाकारीपणां नाही सो ही मिथ्या, जो कीया चाहै अर चाहै सो होय नाही सो चाहि करनां झूठा है, अैसैं दिषावै है॥

दुक्खिदसुहिदे जीवे, करेमि बंधामि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमई, णिरत्थया सा हु दे मिच्छा॥ ३०॥

दुःखितसुखितान् जीवान्, करोमि बन्धयामि तथा विमोचयामि।
या एषा मूढमतिः, निरर्थिका सा खलु भवति मिथ्या॥ छ॥

॥ अर्थ॥ हे भाई, तैरै अैसी वुद्धि है जो मैं जीवनि कूं दुःखी सुखी करूं हूं॥ तथा वंधावूं हौं, छुडावूं हौं॥ सो यह वुद्धि मूढमति है, मोहस्वरूप है, निरर्थक है। जाका विषय सत्यार्थ नाही, तातैं निश्चय करि मिथ्या है॥ छ॥

॥ टीका॥ परजीवनि कूं दुःखी करूं हौं, सुखी करूं हौं इत्यादि तथा वंधाऊं हौं, छुडाऊं हौं इत्यादि जो यह अध्यवसान है सो सर्व ही मिथ्या है, जातैं परभाव का पर विषै व्यापार न होनेंपणां करि स्वार्थक्रियाकारीपणां का अभाव है। परभाव पर विषै प्रवेश करै नाही, तातैं जैसैं कोई कहै, मैं

अब, कहते हैं कि इस प्रकार बन्ध के कारणपने से निश्चित किये गए अध्यवसान, अपनी अर्थक्रिया करनेवाले नहीं हैं; अतः उनका मिथ्यापना है। जिनमें अर्थक्रियाकारित्व नहीं होता, वे ही मिथ्या हैं क्योंकि वे जो करना चाहते हैं या अन्य जो कुछ चाहते हैं, वह होता नहीं हैं; अतः ऐसी चाह करना व्यर्थ है – ऐसा दिखाते हैं —

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमदी[२], णिरत्थया सा हु दे मिच्छा॥ २६६॥

करता दुःखी-सुखी जीव को, अरु बद्ध-मुक्त करूँ अरे!।
यह मूढमति तुझ है निरर्थक, अतः मिथ्या है अरे!॥ २६६॥

अर्थ – हे भाई! यदि तेरी ऐसी बुद्धि है कि मैं जीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ तथा बाँधता-छुड़ाता हूँ तो यह तेरी बुद्धि मूढ़मति है, मोहस्वरूप है और निरर्थक है। जिसका विषय सत्यार्थ नहीं है, वह निश्चय से मिथ्या है॥ २६६॥

टीका – 'मैं, अन्य जीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ' आदि तथा मैं बाँधता-छुड़ाता हूँ' आदि सभी अध्यवसान मिथ्या हैं क्योंकि परभाव का [दूसरे] पर में व्यापार नहीं होने के कारण

---

१. *तुज्झ मदी* – तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ

आकाश का फूल चूंटूं हौं, अैसा अध्यवसान करै सो झूठा होय, तैसैं मिथ्यारूप है, सो केवल आप कै अनर्थ ही कै अर्थि है, पर कै किछू भी करनेंवाला नाही है॥

॥ भावार्थ॥ जाका विषय नाही सो निरर्थक है, सो पर कूं दुःखी सुखी आदि करनें की बुद्धि करै सो पर याका कीया दुःखी सुखी होय नाही, तव बुद्धि निरर्थक भई सो यह बुद्धि मिथ्या है॥ छ॥

आगैं फेरि पूछै है जो यह अध्यवसान अपनीं अर्थक्रिया का करनेंवाला कैसैं नाही॥ ताका उत्तर कहै है॥

अज्झवसाणणिमित्तं, जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे, ठिदा य ता किं करेसि तुमं॥ ३१॥

अध्यवसाननिमित्तं, जीवा बध्यन्ते कर्मणा यदि हि।
मुच्यन्ते मोक्षमार्गे, स्थिताश्च तत्किं करोसि त्वम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ हे भाई, जो जीव हैं, ते अध्यवसान है निमित्त जिनिकूं अैसैं, कर्म करि वंधैं हैं॥ वहुरि मोक्षमार्ग विषै तिष्ठ्या कर्म करि छूटै हैं। जो अैसैं है तौ तू कहा करैगा, तेरा तौ वांधनें छोडनें का

'स्वार्थक्रियाकारीपने का अभाव'[१] है। परभाव, [दूसरे] पर में प्रवेश नहीं करता है; अतः जैसे कोई कहता है कि 'मैं आकाश के फूलों को तोड़ता हूँ' और यदि वह ऐसा अध्यवसान भी करता है तो वह झूठा होने से मिथ्यारूप है; वह केवल स्वयं के ही अनर्थ के लिए है, अन्य का कुछ भी करनेवाला नहीं है।

भावार्थ – जिसका विषय नहीं होता है, वह निरर्थक है। यह जीव, पर को दुःखी-सुखी आदि करने की बुद्धि करता है परन्तु इसके करने से कोई दुःखी-सुखी होता नहीं है; अतः यह बुद्धि निरर्थक है, इसीलिए मिथ्या है।

अब, पुनः प्रश्न है कि यह अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया का करनेवाला कैसे नहीं है? - उसका उत्तर देते हैं —

अज्झवसाणणिमित्तं, जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे, ठिदा य ता किं करेसि तुमं[२]॥ २६७॥

सब जीव अध्यवसान-कारण, कर्म से बँधते जहाँ।
अरु मोक्षमग-थित जीव छूटें, तू ही क्या करता भला॥ २६७॥

अर्थ – हे भाई! यह जीव, अध्यवसान के निमित्त से [स्वयं] कर्मों से बँधता है और

---

१. यह जीव, जब जैसा स्वयं करने का भाव करता है, यदि तब वैसा नहीं होता तो वहाँ *'स्वार्थक्रियाकारीपने का अभाव'* कहा जाता है।

२. *य ते किं करोसि तुमं* - तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ

अभिप्राय विफल गया॥

॥ टीका॥ हे भाई, तैरै यह वुद्धि है जो मैं प्रगटपणैं वंधाऊं हौं, छुडाऊं हौं, अैसा अध्यवसान है, ताकी अर्थक्रिया जीवनि का वांधनां छोडनां है॥ सो जीव तौ इस अध्यवसाय का सद्भाव होतैं भी अपनां सराग वीतराग परिणाम के अभाव तैं न वंधैं हैं, न छूटै हैं॥ वहुरि अपनां सराग वीतराग परिणाम के सद्भाव तैं तिस तेरे अध्यवसाय के अभाव होतैं भी वंधैं हैं तथा छूटैं हैं॥ तातैं पर विषै तौ यह अकिंचित्कर है, किछू भी करनेंवाला नाही॥ तातैं यह अध्यवसान स्वार्थक्रियाकारी नाही है, तातैं मिथ्या ही है, अैसा भाव है॥

॥ भावार्थ॥ जो हेतु किछू भी न करै, ताकूं अकिंचित्कर कहिये है सो यह वांधनें छोडनें का अध्यवसान नैं पर विषै किछू भी न कीया, जातैं याकै नाही होतैं तौ जीव अपनें सराग वीतराग परिणाम करि वंध मोक्ष कूं प्राप्त होय। वहुरि याकै होतैं भी जीव अपनें सराग वीतराग परिणाम के अभाव होतैं वंध मोक्ष कूं नाही प्राप्त होय, तातैं अध्यवसान पर विषै अकिंचित्कर है, तातैं स्वार्थक्रियाकारी नाही, मिथ्या है॥ छ॥

अव, इस अर्थ का कलशरूप काव्य है तथा अगिले कथन की सूचनिकारूप है।

॥ अनुष्टुभ्॥

अनेनाऽध्यवसायेन, निःफलेन विमोहितः।
तत्किञ्चनाऽपि नैवाऽस्ति, नाऽत्मात्मानं करोति यत्॥ ९॥

मोक्षमार्ग में स्थित होने पर [स्वयं] कर्मों से छूटता है। यदि ऐसा है तो तू [उनका] क्या करेगा? क्योंकि तेरा तो [उन्हें] बाँधने और छोड़ने का अभिप्राय विफल हो गया॥ २६७॥

टीका – हे भाई! तेरी यह बुद्धि है कि 'मैं [परजीवों को] वास्तव में बाँधता हूँ या छुड़ाता हूँ' – ऐसा [तेरा] अध्यवसान है, उसकी अर्थक्रिया उन जीवों को बाँधना या छोड़ना है। वे जीव, तेरे इस अध्यवसान का सद्भाव होने पर भी अपने सराग-वीतराग परिणामों के अभाव में [क्रमशः] न बँधते हैं और न छूटते हैं और अपने सराग-वीतराग परिणामों के सद्भाव में उस तेरे अध्यवसान का अभाव होने पर भी [क्रमशः] बँधते हैं और छूटते हैं; अतः यह [अध्यवसान] पर में तो अकिञ्चित्कर है, कुछ भी करनेवाला नहीं है। इस प्रकार यह अध्यवसान स्वार्थक्रियाकारी नहीं है, अतः मिथ्या ही है – ऐसा [यथार्थ] भाव है।

भावार्थ – जो हेतु कुछ भी नहीं करता है, उसे **अकिञ्चित्कर** कहते हैं। यहाँ बाँधने-छोड़ने के अध्यवसान ने पर में तो कुछ भी नहीं किया क्योंकि इस अध्यवसान के नहीं होने पर भी जीव, अपने सराग-वीतराग परिणामों से बन्ध-मोक्ष को प्राप्त होता है और इस अध्यवसान के होने पर भी जीव, अपने सराग-वीतराग परिणामों का अभाव होने पर बन्ध-मोक्ष को प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार अध्यवसान, पर में अकिञ्चित्कर है; इसलिए स्वार्थक्रियाकारी नहीं है, मिथ्या है।

अब, इस अर्थ और अगले कथन का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ अर्थ ॥ आत्मा है सो इस निःफल निरर्थक अध्यवसाय करि मोह्या हूवा आप कूं अनेकरूप करै है सो अैसा पदार्थ कोई जगत मैं नाही है, जिसरूप आप कूं नाही करै, सर्व ही रूप करै है।

॥ भावार्थ ॥ यह आत्मा मिथ्या अभिप्राय करि भूल्या हूवा, चतुर्गति संसार मैं जेती अवस्था है, जेते पदार्थ हैं, तिनि सर्व स्वरूप आप कूं भया मानैं है, अपनां शुद्धस्वरूप कूं नाही पहिचानै है ॥ छ ॥

आगैं, इस अर्थ कूं प्रगटरूप गाथा मैं कहै है ॥

सव्वे करेइ जीवो, अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।
देवमणुए य सव्वे, पुण्णं पावं च णेयविहं ॥ ३२ ॥
धम्माहम्मं च तहा, जीवाजीवे अलोयलोयं च।
सव्वे करेइ जीवो, अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥ ३३ ॥

॥ युगलं ॥

सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यग्नैरयिकान्।
देवमनुजांश्च सर्वान्, पुण्यं पापं च नैकविधम् ॥ छ ॥

॥ दोहा ॥

निष्फल अध्यवसान से, मोहित हो यह जीव।
सर्वरूप निज को करे, जाने सब निजरूप ॥ १७१ ॥

अर्थ – आत्मा, इस निष्फल निरर्थक अध्यवसाय से मोहित होता हुआ, स्वयं को अनेकरूप करता है। जगत् में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसरूप वह स्वयं को नहीं करता है; सभी रूप करता है।

भावार्थ – यह आत्मा, मिथ्या अभिप्राय से भूल कर, चतुर्गति संसार में जितनी अवस्थाएँ हैं, जितने पदार्थ हैं; उन सबके स्वरूप स्वयं को मानता है, अपने शुद्धस्वरूप को नहीं पहचानता है।

अब, इसी अर्थ को गाथा द्वारा प्रगट करते हैं —

सव्वे करेदि जीवो, अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।
देवमणुए य सव्वे, पुण्णं पावं च णेयविहं ॥ २६८ ॥
धम्माधम्मं च तहा, जीवाजीवे अलोगलोगं च।
सव्वे करेदि जीवो, अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥ २६९ ॥

तिर्यञ्च नारक देव मानव, पुण्य-पाप अनेक जो।
उन सर्वरूप करे जु निज को, जीव अध्यवसान से ॥ २६८ ॥

धर्माधर्मं च तथा, जीवाजीवावलोकलोकं च।
सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेनात्मानम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जीव है सो अध्यवसान करि आप कै तिर्यंच नारक देव मनुष्य, ए सर्व ही पर्याय हैं, तिनिकूं करै है॥ वहुरि पुण्य पाप है, तिनि सर्व ही कूं अनेक प्रकार आप कै करै है॥ छ॥

वहुरि धर्म अधर्म तथा जीव अजीव तथा लोक अलोक, इनि सर्व ही कूं इस अध्यवसान करि आपरूप करै है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं यह आत्मा पूर्वोक्त क्रिया है गर्भ कहिये मध्य जाकै, ऐसी हिंसा का अध्यवसान करि आप कूं हिंसक करै है॥ वहुरि अहिंसा का अध्यवसान करि अहिंसक करै है॥ वहुरि अन्य अध्यवसान करि अन्य वहुत प्रकार करै है॥

तैसैं ही विपच्यमान कहिये उदय मैं आया जो नारक का अध्यवसान, ता करि आप कूं नारकी करै है॥ वहुरि उदय आया जो तिर्यंच का अध्यवसान, ता करि आप कूं तिर्यंच करै है॥ वहुरि उदय आया जो मानुष का अध्यवसान, ता करि आप कूं मनुष्य करै है॥ वहुरि उदय आया जो देव का अध्यवसान, ता करि आप कूं देव करै है॥ वहुरि उदय आया जो सुख आदि पुण्य का अध्यवसान, ता करि पुण्यरूप आप कूं करै है॥ वहुरि उदय आया जो दुःख आदि पाप का अध्यवसान, ता करि आप कूं पापरूप करै है॥

तैसैं ही जाननें में आया जो धर्म, ताका अध्यवसान ता करि आप कूं धर्मरूप करै है॥ वहुरि

अरु त्यों हि धर्म-अधर्म, जीव-अजीव, लोक-अलोक जे।
उन सर्वरूप करे जु निज को, जीव अध्यवसान से॥ २६९॥

अर्थ – जीव, अध्यवसान के कारण तिर्यञ्च, नारक, देव और मनुष्य – इन सभी पर्यायों तथा अनेक प्रकार के पुण्य-पाप, सभी को अपना करता (मानता) है।

इसी प्रकार धर्म-अधर्म, जीव-अजीव और लोक-अलोक – इन सभी को इस अध्यवसान के कारण अपना करता (मानता) है॥ २६९॥

टीका – जिस प्रकार यह आत्मा, जिसके गर्भ अर्थात् मध्य में पूर्वोक्त [दूसरे को मारने आदि की] क्रियाएँ हैं – ऐसे हिंसा के अध्यवसान से स्वयं को हिंसक मानता है, अहिंसा के अध्यवसान से स्वयं को अहिंसक मानता है तथा अन्य अध्यवसान से स्वयं को अन्य बहुत प्रकार मानता है।

उसी प्रकार **विपच्यमान** अर्थात् उदय में आए नरक के अध्यवसान से स्वयं को नारकी करता है, उदय में आए तिर्यञ्च के अध्यवसान से स्वयं को तिर्यञ्च करता है। उदय में आए मनुष्य के अध्यवसान से स्वयं को मनुष्य करता है। उदय में आए देव के अध्यवसान से स्वयं को देव करता है। उदय में आए सुख आदि पुण्य के अध्यवसान से स्वयं को पुण्यरूप करता है। उदय में आए दुःख आदि पाप के अध्यवसान से स्वयं को पापरूप करता है।

जाण्यां हूवा अधर्म का अध्यवसान[१] करि आप कूं अधर्मरूप करै है॥ वहुरि जाण्यां हूवा अन्य जीव का अवध्यसान करि आप कूं अन्य जीवरूप करै है॥ वहुरि जाण्यां हूवा पुद्गल का अध्यवसान करि आप कूं पुद्गल करै है॥ वहुरि जाण्यां हूवा लोकाकाश का अध्यवसान करि आप कूं लोकाकाश करै है॥ वहुरि जाण्यां हूवा अलोकाकाश का अध्यवसान करि आप कूं अलोकाकाश करै है॥

अैसैं सर्व स्वरूप आप कूं अध्यवसान करि करै है॥

॥ भावार्थ॥ यहु अध्यवसान अज्ञानरूप है, तातैं अपनां परमार्थरूप नाही जानता आत्मा आपा कूं अनेक अवस्थारूप करै है, तिनि विषै आपा मान्य प्रवर्त्तै है॥ छ॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है तथा अगिले कथन की सूचनिका है॥

॥ इन्द्रवज्रा॥

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष, नास्तीह येषां यतयस्त एव॥ १०॥

॥ अर्थ॥ यह आत्मा समस्त द्रव्यनि तैं भिन्न है, तौऊ जिस अध्यवसाय के प्रभाव तैं आप कूं समस्त स्वरूप करै है। सो यह अध्यवसाय कैसा है। मोह है एक कंद जाका। सो यह अध्यवसाय जिनिकै

उसी प्रकार जानने में आए धर्म के अध्यवसान से स्वयं को धर्मरूप करता है। जानने में आए अधर्म के अध्यवसान से स्वयं को अधर्मरूप करता है। जानने में आए अन्य जीव के अध्यवसान से स्वयं को अन्य जीवरूप करता है। जानने में आए लोकाकाश के अध्यवसान से स्वयं को लोकाकाशरूप करता है और जानने में आए अलोकाकाश के अध्यवसान से स्वयं को अलोकाकाशरूप करता है।

इस प्रकार अध्यवसानों से अपने को सर्व-स्वरूप करता है।

भावार्थ – यह अध्यवसान अज्ञानरूप है; इसलिए जीव, अपने परमार्थस्वरूप को नहीं जानते हुए आत्मा को अनेक अवस्थारूप करता है, उनमें अपनापन मान कर प्रवर्तता है।

अब, इस अर्थ और अगले कथन का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं –

॥ रोला॥

यद्यपि चेतन पूर्ण विश्व से भिन्न सदा है,
फिर भी निज को करे विश्वमय जिसके कारण।
मोहमूल यह अध्यवसाय ही जिसके न हो,
परमप्रतापी दृष्टिवन्त वे ही मुनिवर हैं॥ १७२॥

अर्थ – यह आत्मा समस्त द्रव्यों से भिन्न है, फिर भी इन अध्यवसायों के प्रभाव से स्वयं को समस्त स्वरूप करता है। **यह अध्यवसाय कैसा है?** – मोह का एक कन्द (गाँठ) है। ऐसा यह

---

१. *अध्यवसाय* – 'अ' 'ब' प्रति पाठ

नाही है, ते यती हैं, मुनि हैं॥ छ॥

आगैं कहै है, यह अध्यवसाय जिनिकै नाही, ते मुनि, कर्म तैं नाही लिपैं हैं॥ छ॥

एदाणि णत्थि जेसिं, अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व, कम्मेण मुणी ण लिप्पंति॥ ३४॥

एतानि न सन्ति येषा-मध्यवसानान्येवमादीनि।
तेऽशुभेन शुभेन वा, कर्मणा मुनयो न लिप्यन्ते॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ए पूर्वोक्त अध्यवसान जिनिकै नाही हैं तथा या प्रकार के अन्य भी अध्यवसान जिनिकै नाही हैं, ते मुनिराज अशुभ तथा शुभकर्म करि नाही लिपैं हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ ए पूर्वोक्त अध्यवसान हैं, ते तीन प्रकार हैं, अज्ञान अदर्शन अचारित्र अैसैं॥ ते समस्त ही शुभ अशुभ कर्मबंध के निमित्त हैं, जातैं ए आप स्वयं अज्ञानादिरूप हैं॥

कैसैं है। सो कहिए है॥ जो यह मैं परजीव कूं हणूं हौं इत्यादिक अध्यवसान है सो अज्ञानादिरूप है। जातैं आत्मा तौ ज्ञायक है, तिसपणां करि ज्ञप्तिक्रिया मात्र ही है, जातैं सत्‌रूप है, द्रव्यदृष्टि करि अहेतुक काहू तैं उपज्या नाही, अैसी नित्यरूप ज्ञप्ति कहिये जाननेंमात्र ही है एक क्रिया जाकै अैसा है। वहुरि हननां घातनां आदि क्रिया हैं, ते राग द्वेष का उदयमयी हैं।

अध्यवसाय जिनको नहीं है, वे यति हैं, मुनि हैं।

अब कहते हैं कि यह अध्यवसाय जिनको नहीं है; वे मुनि कर्म से लिप्त नहीं होते हैं —

एदाणि णत्थि जेसिं, अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण य, कम्मेण मुणी ण लिप्पंति॥ २७०॥

इन आदि अध्यवसान विध-विध, वर्तते जिनको नहीं।
शुभ-अशुभ कर्म अनेक से, मुनिराज वे नहिं लिप्त हों॥ २७०॥

अर्थ – ये पूर्वोक्त अध्यवसान, जिनके नहीं हैं तथा इसी प्रकार के अन्य भी अध्यवसान, जिनके नहीं हैं; वे मुनिराज, अशुभ और शुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते हैं॥ २७०॥

टीका – पूर्वोक्त अध्यवसान तीन प्रकार के हैं – अज्ञान, अदर्शन और अचारित्र। ये सभी शुभ-अशुभ कर्मबन्ध में निमित्त हैं क्योंकि ये स्वयं अज्ञानादिरूप हैं।

वे कैसे हैं? – जैसे, 'यह मैं परजीवों को मारता हूँ' इत्यादि अध्यवसान अज्ञानादिरूप है क्योंकि आत्मा तो ज्ञायक है, उस कारण ज्ञप्ति-क्रिया मात्र ही है। वह सत्‌रूप द्रव्यदृष्टि से अहेतुक है अर्थात् किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है और जिसकी नित्यरूप ऐसी ज्ञप्ति अर्थात् जानना मात्र ही क्रिया है – ऐसा [आत्मा] है तथा मारना, घात करना आदि क्रियाएँ राग-द्वेष के उदयमयी हैं।

ऐसैं आत्मा कै अर घातनें आदि क्रिया कै विशेष न जाननें करि भिन्न आत्मा कूं जान्यां नाही, तातैं मैं परजीव कूं घातूं हौं, ऐसा अध्यवसान अज्ञान है॥ वहुरि ऐसैं ही भिन्न न्यारा आत्मा का न देषनां, श्रद्धान न होनां, तातैं अध्यवसान मिथ्यादर्शन है॥ वहुरि ऐसैं ही भिन्न न्यारा आत्मा का अनाचरण तैं अध्यवसान ही अचारित्र है॥

वहुरि यह धर्मद्रव्य है सो मो करि जानिये है, ऐसा अध्यवसाय है सो भी अज्ञानादिरूप ही है, जातैं आत्मा तौ ज्ञानमयी है, तिसपणां करि ज्ञानमात्र ही है, जातैं सत्रूप द्रव्यदृष्टि करि अहेतुक, जाका कारण कोऊ नाही, ऐसैं ज्ञानमात्र ही है एक रूप जाका, ऐसा है॥ वहुरि धर्मादिकरूप है, ते ज्ञेयमयी हैं।

ऐसैं ज्ञानज्ञेय का विशेष न जाननें करि भिन्न न्यारा आत्मा का अज्ञान तैं मैं धर्म कूं जानूं हौं, ऐसा भी अध्यवसान अज्ञानरूप है॥ वहुरि भिन्न आत्मा का न देषनें करि, श्रद्धान न होनें करि यह अध्यवसान मिथ्यादर्शन है॥ वहुरि भिन्न आत्मा का अनाचरण तैं यह अध्यवसान अचारित्र है॥

तातैं ए अध्यवसान हैं, ते समस्त ही वंध के निमित्त हैं॥ सो जिनिकै ए अध्यवसान विद्यमान नाही हैं, ते ही मुनि प्रधान हैं, तिनिकूं मुनिकुंजर कहिये, ते केई विरले हैं॥

ते कैसे हैं॥ सर्व अन्य द्रव्यभावनि तैं भिन्न आत्मा सत्तारूप द्रव्यदृष्टि करि काहू तैं उपज्या नाही, तातैं अहेतुक एक ज्ञायकभावस्वरूप अर सत्ता अहेतुक एक ज्ञानरूप, ऐसा आत्मा कूं जानते संते हैं। वहुरि तिस ही कूं सम्यक् प्रकार देषते श्रद्धान करते संते हैं। वहुरि तिस ही कूं आचरते संते हैं।

इस तरह आत्मा और घातने आदि क्रियाओं का अन्तर न जानने के कारण, भिन्न या पृथक् आत्मा को जाना नहीं, इसलिए 'मैं परजीव का घात करता हूँ' – ऐसा अध्यवसान, अज्ञान है। इसी प्रकार भिन्न या पृथक् आत्मा को नहीं देखना, उसका श्रद्धान नहीं होना – ऐसा अध्यवसान, मिथ्यादर्शन है। इसी प्रकार भिन्न या पृथक् आत्मा का अनाचरण होना – ऐसा अध्यवसान ही, अचारित्र है।

'यह धर्मद्रव्य, मेरे द्वारा जाना जाता है' – ऐसा अध्यवसान भी अज्ञानादिरूप ही है क्योंकि आत्मा तो ज्ञानमयी है, इस कारण ज्ञानमात्र ही है क्योंकि सत्रूप द्रव्यदृष्टि से अहेतुक अर्थात् जिसका कोई कारण नहीं है – ऐसा एक ज्ञानमात्र स्वरूपवाला है और धर्मादिरूप अन्य द्रव्य, ज्ञेयमयी हैं।

इस तरह ज्ञान-ज्ञेय में अन्तर न जानने के कारण, भिन्न अर्थात् पृथक् आत्मा के अज्ञान से 'मैं धर्म को जानता हूँ' – ऐसा भी अध्यवसान, अज्ञानरूप है। भिन्न अर्थात् पृथक् आत्मा को नहीं देखने के कारण, श्रद्धान नहीं होने के कारण यह अध्यवसान, मिथ्यादर्शन है तथा भिन्न अर्थात् पृथक् आत्मा का आचरण नहीं होने के कारण यह अध्यवसान, अचारित्र है।

इस प्रकार ये सर्व ही अध्यवसान, बन्ध के निमित्त हैं; अतः जिनमें ये अध्यवसान विद्यमान नहीं हैं, वे ही मुनियों में प्रधान हैं, उन्हें मुनिकुञ्जर कहा जाता है, वे कोई बिरले हैं।

वे मुनि कैसे हैं? – आत्मा, सर्व अन्य द्रव्य-भावों से भिन्न है, सत्तारूप द्रव्यदृष्टि से किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है; अतः अहेतुक एक ज्ञायकभावस्वरूप है और सत्ता से अहेतुक एक ज्ञानरूप है – ऐसे आत्मा को वे जाननेवाले हैं; उसी को सम्यक् प्रकार से देखनेवाले अर्थात् श्रद्धान करनेवाले हैं; उसी का आचरण करनेवाले हैं तथा जो निर्मल स्वच्छन्द स्वाधीन प्रवृत्तिरूप उदय को प्राप्त

वहुरि निर्मल स्वछंद स्वाधीन प्रवृत्तिरूप उदय कूं प्राप्त होता अमंद प्रकाशरूप है अंतरंग ज्योतिस्वरूप जिनिकै, अैसे हैं, तातैं अज्ञान आदि के अत्यंत अभाव तैं शुभ तथा अशुभकर्म करि ते नाही लिपैं हैं॥

॥ भावार्थ॥ यह अध्यवसान है सो मैं पर कूं हणूं हौं, अैसा है तथा मैं परद्रव्य कूं जानूं हौं, अैसा है, सो आत्मा कै अर रागादिक कै तथा आत्मा कै अर ज्ञेयरूप अन्य द्रव्य कै जेतै भेद न जानैं, तेतै प्रवर्त्तै है सो भेदज्ञान विनां मिथ्याज्ञानरूप है तथा मिथ्यादर्शनरूप है तथा मिथ्याचारित्ररूप है॥ अैसैं तीन प्रकार प्रवर्त्तै है सो जिनिकै नाही, ते मुनिकुंजर हैं। ते आत्मा कूं सम्यक् जानैं हैं, सम्यक् श्रद्धैं हैं, सम्यक् आचरै हैं, तातैं अज्ञान के अभाव तैं सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्ररूप भये संते कर्मनि तैं नाही लिपैं हैं॥

आगैं पूछै है कि अध्यवसान वारवार कहते आये सो यह अध्यवसान कहा है, याका रूप नींकैं समझे नाही॥ अैसैं पूछैं अध्यवसान का रूप प्रगट करि दिषावै है॥

बुद्धी ववसाओ वि य, अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं, चित्तं भावो य परिणामो॥ ३५॥

बुद्धिर्व्यवसायोऽपि, चाऽध्यवसानं मतिश्च विज्ञानम्।
एकार्थमेव सर्वं, चित्तं भावश्च परिणामः॥ छ॥

होनेवाले तीव्रप्रकाशरूप, अन्तरङ्ग ज्योतिस्वरूप हैं; अत: अज्ञान आदि का अत्यन्त अभाव होने से वे शुभ और अशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते हैं।

भावार्थ – यह अध्यवसान, 'मैं पर को मारता हूँ' तथा 'मैं परद्रव्य को जानता हूँ' – ऐसे प्रवर्तता है। जब तक यह जीव, आत्मा और रागादि तथा आत्मा और ज्ञेयरूप अन्य द्रव्यों का भेद नहीं जानता, तब तक यह अध्यवसान प्रवर्तता है। वह भेदज्ञान के अभाव में मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्ररूप तीन प्रकार से प्रवर्तता है। जिनके ये अध्यवसान नहीं हैं, वे मुनिकुञ्जर हैं। वे आत्मा को सम्यक् जानते हैं, उसका सम्यक् श्रद्धान करते हैं और सम्यक् आचरण करते हैं; अत: अज्ञान के अभाव से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होते हुए कर्मों से लिप्त नहीं होते हैं।

अब पूछते हैं कि यहाँ बार-बार अध्यवसान कहा गया है, लेकिन यह अध्यवसान क्या है? इसका स्वरूप भली प्रकार समझ में नहीं आया है? – ऐसा पूछने पर अध्यवसान का स्वरूप प्रगट करके दिखाते हैं —

बुद्धी ववसाओ वि य, अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं।
एक्कट्ठमेव सव्वं, चित्तं भावो य परिणामो॥ २७१॥

जो बुद्धि, मति, व्यवसाय, अध्यवसान अरु विज्ञान हैं।
परिणाम, चित्त रु भाव आदि, सर्व ये एकार्थ हैं॥ २७१॥

॥ अर्थ ॥ वुद्धि व्यवसाय वहुरि अध्यवसान वहुरि मति विज्ञान चित्त भाव वहुरि परिणाम, ए सर्व एकार्थ ही हैं, नामभेद है, इनिका अर्थ न्यारा नाही है॥ छ॥

॥ टीका ॥ आप का अर पर का, दोऊ का भेदज्ञान न होतैं संतैं जो जीव कै अध्यवसिति कहिये निश्चितमात्र होय सो अध्यवसान है। सो ही वोधनमात्रपणां तैं वुद्धि है॥ वहुरि सो ही व्यवसान कहिये निश्चयमात्रपणां तैं व्यवसाय है॥ सो ही जाननेंमात्रपणां तैं मति है॥ वहुरि सो ही विज्ञप्तिमात्रपणां तैं विज्ञान है॥ वहुरि सो ही चेतनमात्रपणां तैं चित्त है॥ वहुरि सो ही चेतन का भवनमात्रपणां तैं भाव है॥ वहुरि सो ही परिणमनमात्रपणां तैं परिणाम है॥ ए सर्व ही एकार्थ हैं॥

॥ भावार्थ ॥ ए वुद्धि आदि आठ नाम कहे, ते सर्व ही चेतन आत्मा के परिणाम हैं सो जेतै आपापर का भेदज्ञान न होय, तेतै पर विषै अर आप विषै एकपणां का निश्चयरूप वुद्धि आदिक होय हैं सो ही अध्यवसान नाम है॥ छ॥

आगैं, अगिले कथन की सूचनिका के अर्थरूप काव्य कहै है जो अध्यवसान त्यागनें योग्य कह्या है सो तहां अैसी संभावना है जो व्यवहार का त्याग कराया है, निश्चयनय का ग्रहण कराया है, अैसा कहै है॥

अर्थ – बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम – ये सब एकार्थवाची हैं; नामभेद है परन्तु इनके भिन्न-भिन्न अर्थ नहीं हैं॥ २७१॥

टीका – स्व और पर का भेदज्ञान नहीं होने पर जीव को अध्यवसिति अर्थात् निश्चित मात्र होना, **अध्यवसान** है, वही बोधनमात्रपने से **बुद्धि** है वही व्यवसान अर्थात् निश्चय-मात्रपने से **व्यवसाय** है, वही जाननेमात्रपने से **मति** है, वही विज्ञप्तिमात्रपने से **विज्ञान** है, वही चेतनमात्रपने से चित्त है, वही चेतन के भवनमात्रपने से **भाव** है और वही परिणमनमात्रपने से **परिणाम** है – ये सभी एकार्थवाची हैं।

भावार्थ – ये बुद्धि आदि आठ नाम कहे हैं, वे सभी चेतन आत्मा के परिणाम हैं; अत: जब तक स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता, तब तक अपने और पर में एकत्व के निश्चयरूप बुद्धि आदि होते हैं, उनका ही नाम **अध्यवसान** है।

अब कहते हैं कि जहाँ अध्यवसान को त्यागने योग्य कहा है, वहाँ ऐसा आशय सूचित होता है कि व्यवहारनय का त्याग और निश्चयनय का ग्रहण कराया है – ऐसे आगामी कथन की सूचनिका के अर्थरूप काव्य कहते हैं —

॥ अडिल्ल ॥

सब ही अध्यवसान त्यागने योग्य हैं,
यह जो बात विशेष जिनेश्वर ने कही।
इसका तो स्पष्ट अर्थ यह जानिए,
अन्याश्रित व्यवहार त्यागने योग्य हैं।

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

सर्वत्राऽध्यवसानमेवमखिलं, त्याज्यं यदुक्तं जिनैः,
तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याऽश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी, निष्कम्पमाक्रम्य किं,
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे, बध्नन्ति सन्तो धृतिम्॥ ११॥

॥ अर्थ॥ सर्व ही वस्तुनि विषै जो समस्त अध्यवसान है सो जिनभगवान त्यागनें योग्य कह्या है सो आचार्य कहै है, हम अैसैं मानैं हैं जो पर कै आश्रय प्रवर्त्तता जो व्यवहार सो सर्व ही छुडाया है, तातैं हम उपदेश करैं हैं जो सत्पुरुष हैं, ते सम्यक् प्रकार एक निश्चय ही कूं निःकंप जैसैं होय तैसैं निश्चल अंगीकार करि कैं अर शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप अपनां महिमां आत्मस्वरूप, ता विषै थिरता क्यों नाही धारै हैं॥

॥ भावार्थ॥ जिनेश्वरदेव अन्य पदार्थनि विषै आत्मबुद्धिरूप अध्यवसान छुडाया है सो यह पराश्रित सर्व ही व्यवहार छुडाया है, अैसैं जानूं। तातैं शुद्ध ज्ञानस्वरूप अपनां आत्मा, ता विषै थिरता राषो, अैसा शुद्ध निश्चय का ग्रहण का उपदेश है॥ आचार्य आश्चर्य भी कीया है जो भगवान अध्यवसान कूं छुडाया तौ अब सत्पुरुष याकूं छोडि, अपनें स्वरूप विषै क्यों नाही तिष्ठै हैं, यह हमारै अचिरज है॥

आगै, इस अर्थ कूं गाथा मैं कहै है॥ छ॥

परमशुद्धनिश्चयनय का जो ज्ञेय है,
शुद्ध निजातमराम एक ही ध्येय है।
यदि ऐसी है बात तो मुनिजन क्यों नहीं,
शुद्धज्ञानघन आतम में निश्चल रहें॥ १७३॥

अर्थ – सभी वस्तुओं के प्रति जो सभी अध्यवसान हैं, उन्हें जिनदेव ने त्यागने योग्य कहा है; इससे आचार्य कहते हैं कि हम ऐसा मानते हैं कि [जिनदेव ने] पर के आश्रय से होनेवाले सभी व्यवहार को छुड़ाया है; अतः हम उपदेश देते हैं कि जो सत्पुरुष हैं, वे सम्यक् प्रकार एक निश्चय ही को जैसे बने वैसे निष्कम्प निश्चल अङ्गीकार करके शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप अपने महिमावन्त आत्मस्वरूप में स्थिरता क्यों धारण नहीं करते हैं?

भावार्थ – जिनेन्द्रदेव ने अन्य पदार्थों में आत्मबुद्धिरूप अध्यवसान को छुड़ाया है, इससे ऐसा समझना चाहिए कि उन्होंने सर्व ही पराश्रित व्यवहार को छुड़ाया है; इसलिए शुद्ध ज्ञानस्वरूप अपनी आत्मा में ही स्थिरता रखो, इस प्रकार शुद्धनिश्चय के ग्रहण का उपदेश दिया है। आचार्यदेव ने आश्चर्य भी व्यक्त किया है कि 'हमें अचरज है कि जब भगवान ने अध्यवसान को छुड़ाया है तो अब सत्पुरुष, इसे छोड़ कर अपने स्वरूप में क्यों नहीं ठहरते?'

अब, इस अर्थ को गाथा में कहते हैं —

एवं ववहारणओ, पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयासिदा पुण, मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥ ३६॥

एवं व्यवहारनयः, प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन।
निश्चयनयाश्रिताः पुनर्मुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ एवं कहिये पूर्वोक्त प्रकार अध्यवसानरूप व्यवहारनय है सो निश्चयनय करि प्रतिषेधरूप जानूं॥ जे मुनिराज, निश्चय के आश्रित हैं, ते निर्वाण कूं प्राप्त होय हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ इहां निश्चयनय है सो तौ आत्मा कूं आश्रित है॥ वहुरि पर कूं आश्रित है सो व्यवहारनय है॥ सो जैसैं पर कै आश्रित समस्त अध्यवसान पर कूं अर आप कूं एक माननां सो वंध का कारणपणां करि मोक्ष के इच्छक कूं छुडावता जो निश्चयनय, ता करि तैसैं ही निश्चय तैं व्यवहारनय ही प्रतिषेध्या है, छुडाया है॥ जातैं जैसैं अध्यवसान पराश्रित है, तैसैं व्यवहारनय भी पराश्रित है, यामैं विशेष नाही॥ जातैं अैसा सिद्ध होय है जो यह व्यवहारनय प्रतिषेधनें योग्य ही है, जातैं जे आत्माश्रित निश्चयनय कूं आश्रित पुरुष हैं, तिनिकै ही कर्म तैं छूटवापणां है। वहुरि पराश्रित जो व्यवहारनय, ताका[२] तौ एकांत करि कर्म तैं नाही छूटता जो अभव्य, ता करि भी आश्रीयमानपणां है।

॥ भावार्थ॥ आत्मा कै पर के निमित्त तैं अनेक भाव होय हैं, ते सर्व व्यवहारनय के विषय

एवं ववहारणओ, पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण।
णिच्छयणयासिदा पुण[१], मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥ २७२॥

व्यवहारनय इस रीति जान, निषिद्ध निश्चयनय विषें।
मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्ष की प्राप्ति करें॥ २७२॥

अर्थ – एवं अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से अध्यवसानरूप व्यवहारनय है, वह निश्चयनय के द्वारा निषेधरूप जानो। जो मुनिराज, निश्चयनय का आश्रय लेते हैं, वे निर्वाण को प्राप्त होते हैं॥ २७२॥

टीका – निश्चयनय तो आत्मा के आश्रित है और व्यवहारनय पर के आश्रित है। यहाँ पर के आश्रित समस्त अध्यवसान अर्थात् स्व और पर को एक मानना, उसे बन्ध का कारण बता कर, उस (अध्यवसान) से जैसे मोक्ष के इच्छुकों को निश्चयनय से छुड़ाया हैं; मानों वैसे ही निश्चयनय से वास्तव में व्यवहारनय का भी निषेध किया है, छुड़ाया है क्योंकि जैसे अध्यवसान पराश्रित है, वैसे ही व्यवहारनय भी पराश्रित है, इसमें अन्तर नहीं है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि व्यवहारनय, प्रतिषेध करने योग्य ही है क्योंकि जो आत्माश्रित निश्चयनय के आश्रित पुरुष हैं, उन्हीं का कर्म से छूटना सम्भव है तथा पराश्रित व्यवहारनय का आश्रय तो एकान्ततः कर्मों से नहीं छूटनेवाले अभव्य के द्वारा भी किया जाता है।

भावार्थ – आत्मा में पर-निमित्त से अनेक भाव होते हैं, वे सभी व्यवहारनय के विषय हैं;

---

१. *णिच्छयणयसल्लीणा* - तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ
२. *ताकै* - 'ब' प्रति पाठ

हैं, तातैं व्यवहारनय तौ पराश्रित है अर जो एक अपनां स्वाभाविकभाव है सो निश्चयनय का विषय है, तातैं निश्चयनय आत्माश्रित है॥ सो अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है, तातैं अध्यवसान का त्याग सो व्यवहारनय का ही त्याग है सो निश्चयनय कूं प्रधान करि व्यवहारनय का त्याग का उपदेश है, जातैं जे निश्चय के आश्रय प्रवर्त्तैं हैं, ते तौ कर्म तैं छूटैं हैं अर जे एकांत करि व्यवहारनय ही कै आश्रय प्रवर्त्तैं हैं, ते कर्म तैं नाही छूटैं हैं। व्यवहारनय कूं तौ अभव्य भी आलंवि प्रवर्त्तै है, ते कर्म तैं कबहू नाही छूटै हैं॥ छ॥

आगैं पूछै है जो अभव्य करि भी व्यवहारनय कैसैं आश्रय कीजिये है॥ अैसैं पूछें, उत्तर कहै है॥ छ॥

वदसमिदीगुत्तीओ, सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभविओ, अण्णाणी मिच्छदिट्ठीओ॥ ३७॥

व्रतसमितिगुप्तयः शीलतपो जिनवरैः प्रज्ञप्तम्।
कुर्वन्नप्यभव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु॥ छ॥

॥ अर्थ॥ व्रत समिति गुप्ति शील तप, जिनेश्वरदेव कहे हैं, तिनिकूं करता संता भी अभव्यजीव है सो अज्ञानी मिथ्यादृष्टी ही है॥ छ॥

इसलिए व्यवहारनय तो पराश्रित है तथा जो अपना एक स्वाभाविक भाव है, वह निश्चयनय का विषय है; इसलिए निश्चयनय आत्माश्रित है। इस प्रकार अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है, इसलिए अध्यवसान का त्याग भी व्यवहारनय का ही त्याग है; अतः निश्चयनय को प्रधान करके व्यवहारनय के त्याग का उपदेश दिया है क्योंकि जो निश्चय का आश्रय लेकर प्रवर्तते हैं, वे तो कर्मों से छूटते हैं और जो एकान्तरूप से व्यवहारनय का आश्रय लेकर प्रवर्तते हैं, वे कर्मों से नहीं छूटते हैं। व्यवहारनय का अवलम्बन तो अभव्य भी लेता है परन्तु वे कर्मों से कभी नहीं छूटते हैं।

अब, कोई पूछता है कि अभव्य के द्वारा व्यवहारनय का आश्रय कैसे किया जाता है? - ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं —

वदसमिदीगुत्तीओ, सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो, अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु[१]॥ २७३॥

जिनवरप्ररूपित व्रत समिति, गुप्ति अरु तप शील को।
करता हुआ भी अभव्य तो, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है॥ २७३॥

अर्थ – जिनेश्वरदेव ने व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप आदि कहे हैं, उन्हें करता हुआ भी अभव्यजीव, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है॥ २७३॥

॥ टीका॥ शील तप करि परिपूर्ण तीन गुप्ति, पांच समिति करि संयुक्त अहिंसादिक पांच महाव्रतरूप, अैसा व्यवहारचारित्र कूं अभव्य भी करै है॥ तौऊ सो अभव्य चारित्र करि रहित ही है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टी ही है॥ जातैं निश्चयचारित्र का कारणस्वरूप जो ज्ञान श्रद्धान, ता करि ताकै शून्यपणां है॥

॥ भावार्थ॥ अभव्यजीव महाव्रत समिति गुप्तिरूप व्यवहारचारित्र पालै, तौऊ निश्चय सम्यग्ज्ञानश्रद्धान विना सो सम्यक्चारित्र नाम न पावै, तातैं सो अज्ञानी मिथ्यादृष्टी ही रहै है॥ छ॥

आगैं, शिष्य कहै है जो ताकै ग्यारह अंग का ज्ञान होय है, ताकूं अज्ञानी कैसै कह्या॥ ताका उत्तर कहै है॥

मोक्खं असद्दहंतो, अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं, असद्दहंतस्स णाणं तु॥ ३८॥

मोक्षमश्रद्दधानोऽभव्यसत्त्वस्तु योऽधीयीत।
पाठो न करोति गुण-मश्रद्दधानस्य ज्ञानं तु॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो अभव्यजीव है सो शास्त्र का पाठ पढै है परंतु मोक्षतत्व का श्रद्धान कूं नाही करता संता है, तातैं सो ज्ञान श्रद्धान नाही करता पुरुष कै गुण नाही करै है॥ छ॥

॥ टीका॥ अभव्यजीव है सो प्रथम तौ निश्चय करि मोक्ष कूं नाही श्रद्धान करै है, जातैं

टीका – शील, तप आदि से परिपूर्ण तीन गुप्ति और पाँच समिति से संयुक्त अहिंसा आदि पाँच महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र को अभव्य भी पालन करता है; फिर भी अभव्य, चारित्र से रहित ही है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि उसको निश्चयचारित्र के कारणस्वरूप ज्ञान-श्रद्धान का अभाव है।

भावार्थ – अभव्यजीव, महाव्रत-समिति-गुप्तिरूप व्यवहारचारित्र पालता है, फिर भी निश्चय सम्यग्ज्ञान-श्रद्धान के बिना, सम्यक्चारित्र नाम नहीं पाता है; अत: वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है।

अब, शिष्य कहता है कि जब उसे ग्यारह अङ्ग का ज्ञान होता है तो फिर उसे अज्ञानी क्यों कहा है? - उसका उत्तर देते हैं —

मोक्खं असद्दहंतो, अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं, असद्दहंतस्स णाणं तु॥ २७४॥

मोक्ष की श्रद्धाविहीन, अभव्य शास्त्रों को पढ़े।
पर ज्ञान की श्रद्धारहित को, पठन ये नहिं गुण करे॥ २७४॥

अर्थ – अभव्य जीव, शास्त्र का पाठ तो पढ़ता है परन्तु मोक्षतत्त्व का श्रद्धान नहीं करता है; अत: उस ज्ञान-श्रद्धान नहीं करनेवाले पुरुष को वह (शास्त्र-पाठ) गुण [लाभ, प्रभाव या असर] नहीं करता है।

टीका – अभव्यजीव, प्रथम तो निश्चय से मोक्ष का श्रद्धान नहीं करता है क्योंकि उसे शुद्ध

शुद्धज्ञानमयी जो आत्मा, ताका ज्ञान करि अभव्य कै शून्यपणां है, अभव्य कै शुद्धात्मा का ज्ञान होय नाही॥ तातैं अभव्य ज्ञान कूं भी नाही श्रद्धानरूप करै है॥ वहुरि ज्ञान कूं नाही श्रद्धान करता अभव्य है सो आचारांग कूं आदि ले करि ग्यारह अंगरूप श्रुत कूं पढता संता भी शास्त्र का पढनें का जो गुण है, ताका अभाव तैं ज्ञानी नाही होय है॥

शास्त्र पढनें का यह गुण है जो भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमयी आत्मा का ज्ञान होय सो तिस भिन्न वस्तुभूत ज्ञान कूं नाही श्रद्धान करता जो अभव्य, ताकै शास्त्र के पढनें करि आत्मज्ञान करनें कूं नाही समर्थ हूजिये है॥ तातैं ताकै शास्त्र पढनें का सो भिन्न आत्मा का जाननां गुण है सो नाही है, तातैं सांचे ज्ञान श्रद्धान के अभाव तैं सो अभव्य अज्ञानी ही है, यह नियम है॥

॥ भावार्थ॥ अभव्यजीव ग्यारह अंग पढै, तौऊ ताकै शुद्ध आत्मा का ज्ञान श्रद्धान न होय, तातैं ताकै शास्त्र पढनां गुण न कीया, तातैं सो अज्ञानी ही है॥ छ॥

आगैं, शिष्य फेरि कहै है, तिस अभव्य कै धर्म का तौ श्रद्धान होय है सो कैसैं निषेधिये, ताका उत्तर कहे हैं॥

सद्दहदि य पत्तियदि य, रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं, ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं॥ ३९॥

श्रद्दधाति च प्रत्येति च, रोचयति च तथा पुनश्च स्पृशति।
धर्मं भोगनिमित्तं, न तु स कर्मक्षयनिमित्तम्॥ छ॥

ज्ञानमयी आत्मा के ज्ञान का अभाव होने से शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं होता है; इसलिए वह अभव्य, ज्ञान को भी श्रद्धानरूप नहीं करता है, इस कारण वह आचाराङ्ग से लेकर ग्यारह अङ्गरूप श्रुत को पढ़ लेने पर भी शास्त्र पढ़ने के गुण का अभाव होने से, ज्ञानी नहीं होता है।

शास्त्र पढ़ने का गुण यह है कि भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमयी आत्मा का ज्ञान हो; अतः उस भिन्न वस्तुभूत ज्ञान को श्रद्धानरूप नहीं करता हुआ अभव्य, शास्त्र को पढ़ कर भी आत्मज्ञान करने में समर्थ नहीं होता है। इस प्रकार उसे भिन्न आत्मा को जाननेरूप शास्त्र पढ़ने का गुण नहीं है; अतः सच्चे ज्ञान-श्रद्धान का अभाव होने से वह अभव्य, अज्ञानी ही है – यह नियम है।

भावार्थ – अभव्य जीव, ग्यारह अङ्ग पढ़ता है तो भी उसको शुद्ध आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता है, इसलिए उसको शास्त्र पढ़ने का गुण प्राप्त नहीं हुआ; अतः वह अज्ञानी ही है।

अब, शिष्य पुनः कहता है कि उस अभव्य को धर्म का तो श्रद्धान होता है, फिर उसका निषेध क्यों किया? - उसका उत्तर देते हैं —

सद्दहदि य पत्तेदि य, रोचेदि य तह पुणो य फासेदि[1]।
धम्मं भोगणिमित्तं, ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं॥ २७५॥

---

१. *पुणो वि फासेदि य* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

॥ अर्थ ॥ सो अभव्यजीव धर्म कूं श्रद्धान करै है, प्रतीति करै है, रोचै है तथा स्पर्शै है परंतु संसार के भोग के निमित्त धर्म है, ताकूं ही श्रद्धै है, ताही कूं प्रतीति करै है, ताही कूं रोचै हैं, ताही कूं स्पर्शै है अर 'कर्मक्षय का निमित्त धर्म है, ताकूं नाही श्रद्धै है, नाही प्रतीति करै है'[१], नाही रोचै है, नाही स्पर्शै है 'नाही आचरै है।'[२]

॥ टीका ॥ अभव्यजीव है सो नित्य ही कर्मफलचेतनारूप वस्तु कूं श्रद्धै है॥ वहुरि नित्य ज्ञानचेतनामात्र वस्तु कूं नाही श्रद्धै है॥ जातैं अभव्यजीव नित्य ही आपापर का भेदविज्ञान कै योग्य नाही है॥ तातैं सो अभव्य ज्ञानमात्र भूतार्थ सत्यार्थ धर्म, जो कर्मक्षय का निमित्त है, ताकूं नाही श्रद्धै है अर शुभकर्ममात्र असत्यार्थ धर्म है सो भोग का निमित्त है, ताकूं श्रद्धै है॥ तातैं ही यहु अभव्य अभूतार्थ धर्म का श्रद्धान प्रतीति रोचनां स्पर्शनां, इनि करि उपरिले ग्रैवेयक[३] तांई के भोग मात्रनि कूं पावै है वहुरि कर्म तैं कदाचित् भी नाही छूटै है॥ तातैं याकै भूतार्थ सत्यार्थ धर्म का श्रद्धान का अभाव तैं सांचा श्रद्धान भी नाही है॥ अैसैं होतैं निश्चयनय कै व्यवहारनय का प्रतिषेध युक्त ही है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ अभव्यजीव कर्मफलचेतना कूं जानैं है अर ज्ञानचेतना कूं जानैं नाही, जातैं याकै भेदज्ञान होनें की योग्यता नाही है, तातैं शुद्ध आत्मीक धर्म का श्रद्धान याकै नाही अर शुभकर्म ही कूं धर्म श्रद्धै है, ताका फल ग्रैवेयक[४] तांई के भोग पावै है अर कर्म का क्षय नाही होय है, तातैं याकै

वह धर्म को श्रद्धे, प्रतीति, रुचि अरु स्पर्शन करे।
पर भोग हेतु धर्म है, नहिं कर्मक्षय के हेतु है॥ २७५॥

अर्थ – अभव्यजीव, धर्म का श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, रुचि करता है और स्पर्श करता है परन्तु वह संसार के भोगों में निमित्तभूत धर्म का ही श्रद्धान करता है, उसी की प्रतीति करता है, रुचि करता है, स्पर्श करता है तथा कर्मक्षय के निमित्तभूत धर्म का श्रद्धान नहीं करता है, प्रतीति नहीं करता है, रुचि नहीं करता है, स्पर्श नहीं करता है उसका आचरण नहीं करता है॥ २७५॥

टीका – अभव्यजीव, नित्य ही कर्मफलचेतनारूप वस्तु का श्रद्धान करता है और नित्य ज्ञानचेतना मात्र वस्तु का श्रद्धान नहीं करता है क्योंकि अभव्यजीव, नित्य ही स्व-पर भेदविज्ञान के योग्य नहीं है; अत: वह अभव्य, कर्मक्षय के निमित्तभूत ज्ञानमात्र भूतार्थ या सत्यार्थ धर्म का श्रद्धान नहीं करता है, मात्र भोग के निमित्तभूत शुभकर्मस्वरूप असत्यार्थ धर्म का श्रद्धान करता है। इसी कारण यह अभव्य, अभूतार्थ धर्म के श्रद्धान, प्रतीति, रुचि, स्पर्श आदि के फलस्वरूप अन्तिम ग्रैवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त करता है परन्तु कर्म से कभी भी नहीं छूटता है। इस प्रकार इसको भूतार्थ या सत्यार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से सच्चा श्रद्धान भी नहीं है; अत: निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय का प्रतिषेध युक्त ही है।

भावार्थ – अभव्यजीव, कर्मफल चेतना को तो जानता है परन्तु ज्ञानचेतना को नहीं जानता है क्योंकि उसमें भेदज्ञान होने की योग्यता नहीं है; इसलिए उसको शुद्ध आत्मधर्म का श्रद्धान नहीं है तथा शुभकर्म ही को धर्म मानता है, उसके फल में ग्रैवेयक तक के भोग पाता है परन्तु उससे कर्म

---

१. 'अ' प्रति में दो बार पाठ २. 'ब' प्रति में पाठ नहीं ३-४. *ग्रीवेयक* - 'अ' प्रति पाठ

सत्यार्थ धर्म का भी श्रद्धान न कहिये॥ अर याही तैं निश्चयनय कै व्यवहारनय का निषेध है।

इहां एता और जाननां जो यह हेतुवादरूप अनुभवप्रधान ग्रंथ है, तातैं भव्य अभव्य का, अनुभव की अपेक्षा निर्णय है॥ अर यह ही अहेतुवाद आगम तैं मिलाइए, तव अभव्य कै सूक्ष्म केवलीगम्य, अैसा ही व्यवहारनय की पक्ष का आशय रहि जाय है सो छद्मस्थ के अनुभवगोचर नाही भी होय है परंतु सर्वज्ञदेव जानैं है, तातैं केवल व्यवहार की पक्ष तैं सर्वथा एकांतरूप मिथ्यात्व रहै, तातैं अभव्य कै यह आशय सर्वथा न मिटै, तातैं अभव्य ही है॥ छ॥

आगैं पूछै है जो निश्चयनय तौ व्यवहार का प्रतिषेधक कह्या अर निश्चय कै व्यवहारनय प्रतिषेधनें योग्य कह्या सो ए दोऊ ही कैसें हैं॥ अैसैं पूछें निश्चय व्यवहार का स्वरूप प्रगट कहै है॥

आयारादी णाणं, जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवणिकं च तहा, भणइ चरित्तं तु ववहारो॥ ४०॥
आदा खु मज्झ णाणं, आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं, आदा मे संवरो जोगो॥ ४१॥
॥ युग्मं॥

का क्षय नहीं होता है; इसलिए इसको सत्यार्थ धर्म का श्रद्धान नहीं कहते हैं। इसी कारण निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय का निषेध किया गया है।

यहाँ इतना और जानना कि यह हेतुवादरूप अनुभवप्रधान ग्रन्थ है, इसलिए अनुभव की अपेक्षा भव्य-अभव्य का निर्णय किया है। यदि इसे ही अहेतुवादरूप आगम से मिलाकर विचार करें तो अभव्य को सूक्ष्म या केवलीगम्य व्यवहारनय के पक्ष का आशय रह जाता है, जो छद्मस्थ को अनुभवगोचर नहीं होता है परन्तु सर्वज्ञदेव जानते हैं; अतः अभव्य को केवल व्यवहार के पक्ष से सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यात्व रहता है, उसे यह आशय सर्वथा नहीं मिटता है; इसलिए वह अभव्य ही रहता है।

अब पूछते हैं कि निश्चयनय को तो व्यवहारनय का प्रतिषेधक कहा है और व्यवहारनय को निश्चयनय के द्वारा प्रतिषेध्य कहा है; अतः इन दोनों का स्वरूप कैसा है? — ऐसा पूछने पर निश्चय-व्यवहारनय का स्वरूप प्रगट करके बतलाते हैं —

आयारादी णाणं, जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवणिकं च तहा[१], भणदि चरित्तं तु ववहारो॥ २७६॥
आदा खु मज्झ णाणं[२], आदा मे दसणं[३] चरित्तं[४] च।
आदा पच्चक्खाणं[५], आदा मे संवरो[६] जोगो[७]॥ २७७॥

---

१. *छडजीवाणं रक्खा* - तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ
२-७. *णाणे/दंसणे/चरित्ते/पच्चक्खाणे/संवरे/जोगे* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

आचारादिर्ज्ञानं, जीवादिर्दर्शनं च विज्ञेयम्।
षड्जीवनिकां च तथा[१], भणति चरित्रं तु व्यवहारः॥ छ॥
आत्मा खलु मम ज्ञान-मात्मा मे दर्शनं चरित्रं च।
आत्मा प्रत्याख्यान-मात्मा मे संवरो योगः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ आचारांग आदि[२] शास्त्र है सो तौ ज्ञान है॥ वहुरि जीवादि तत्व है सो दर्शन है। वहुरि छह काय के जीवनि की रक्षा है सो चारित्र है। अैसैं तौ व्यवहारनय कहै है॥ छ॥

वहुरि निश्चय करि मैंरै आत्मा ही ज्ञान है, वहुरि मेंरै आत्मा ही दर्शन है, वहुरि मेंरै आत्मा ही चारित्र है॥ वहुरि मैंरै आत्मा ही प्रत्याख्यान है। वहुरि मैंरै आत्मा ही संवर है॥ वहुरि मैंरै आत्मा ही योग है, समाधि है, ध्यान है। अैसैं निश्चयनय कहै है॥ छ॥

॥ टीका॥ आचारांग कूं आदि ले करि शब्दश्रुत है सो ज्ञान है, जातैं यह ज्ञान का आश्रय है॥ वहुरि जीव कूं आदि ले करि नव पदार्थ हैं, ते दर्शन हैं, जातैं ए दर्शन के आश्रय हैं॥ वहुरि छह जीवनिकाय[३] है सो चारित्र है, जातैं यह चारित्र का आश्रय है॥ अैसैं तौ व्यवहारनय के वचन हैं॥

'आचार' आदिक ज्ञान है, 'जीवादि' दर्शन जानना।
'षट्जीवकाय' चरित्र है – यह कथन नय व्यवहार का॥ २७६॥
मुझ 'आत्म' निश्चय ज्ञान है, मुझ 'आत्म' दर्शन-चरित है।
मुझ 'आत्म' प्रत्याख्यान अरु, मुझ 'आत्म' संवर-योग है॥ २७७॥

अर्थ – आचाराङ्ग आदि शास्त्र तो ज्ञान है; जीवादि तत्त्व, दर्शन है और छह काय के जीवों की रक्षा, चारित्र है – ऐसा तो व्यवहारनय कहता है॥ २७६॥

निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन है, मेरा आत्मा ही चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही संवर है, मेरा आत्मा ही योग है, [मेरा आत्मा ही] समाधि है, [मेरा आत्मा ही] ध्यान है – ऐसा निश्चयनय कहता है॥ २७७॥

टीका – आचाराङ्ग आदि शब्दश्रुत, ज्ञान है क्योंकि यह ज्ञान का आश्रय है; जीव आदि नव पदार्थ, दर्शन हैं क्योंकि ये दर्शन के आश्रय हैं तथा छहकाय के जीव चारित्र हैं क्योंकि यह चारित्र का आश्रय है – ऐसे तो व्यवहारनय के वचन हैं।

शुद्ध आत्मा ही ज्ञान है क्योंकि ज्ञान का आश्रय आत्मा ही है; शुद्ध आत्मा ही दर्शन है क्योंकि दर्शन का आश्रय आत्मा ही है तथा शुद्ध आत्मा ही चारित्र है क्योंकि चारित्र का आश्रय आत्मा ही है – ऐसे निश्चयनय के वचन हैं।

---

१. *षट्जीवनिकायरक्षा* – तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ
२. *आचार आदि अंग* – 'अ' प्रति में पाठ
३. *जीवनि की रक्षा* – 'ब' प्रति पाठ

वहुरि शुद्ध आत्मा है सो ज्ञान है, जातैं ज्ञान का आश्रय आत्मा ही है॥ वहुरि शुद्ध आत्मा है सो ही दर्शन है, जातैं दर्शन का आश्रय आत्मा ही है॥ वहुरि शुद्ध आत्मा है सो ही चारित्र है, जातैं चारित्र का आश्रय आत्मा ही है॥ अैसैं निश्चयनय के वचन हैं॥

तहां आचारांग आदिक कै ज्ञान आदिक का आश्रयपणां का अनैकांतिकपणां है, व्यभिचार है। आचारांग आदिक तौ होय अर ज्ञान आदिक नाही भी होय, तातैं व्यवहारनय प्रतिषेध करनें योग्य है॥ वहुरि निश्चयनय है सो शुद्ध आत्मा कै ज्ञानादिक का आश्रयपणां कै ऐकांतिकपणां है, जहां शुद्ध आत्मा है, तहां ही ज्ञान दर्शन चारित्र हैं, तातैं तिस व्यवहारनय का प्रतिषेध करनेंवाला है॥ सो ही हेतु करि कहै है॥

आचारादि शब्दश्रुत है सो एकांत करि ज्ञान का आश्रय नाही है, जातैं आचारांग आदि का अभव्य जीव कै सद्भाव होतैं भी शुद्ध आत्मा का अभाव करि ज्ञान का अभाव है॥ वहुरि जीव आदि नव पदार्थ हैं, ते दर्शन का आश्रय नाही हैं, जातैं अभव्य कै तिनिका सद्भाव होतैं भी शुद्धात्मा का अभाव करि दर्शन का अभाव है॥ वहुरि छह जीवनिकाय है सो चारित्र का आश्रय नाही है, जातैं तिनिका सद्भाव होतैं भी अभव्य कै शुद्धात्मा का अभाव करि चारित्र का अभाव है॥

वहुरि शुद्ध आत्मा है सो ही ज्ञान का आश्रय है, जातैं आचारांगादि शब्दश्रुत का सद्भाव होतैं तथा असद्भाव होतैं भी शुद्धात्मा का सद्भाव ही करि ज्ञान का सद्भाव है॥ शुद्ध आत्मा है सो ही दर्शन का आश्रय है, जातैं जीव आदि पदार्थनि का सद्भाव होतैं तथा असद्भाव होतैं भी शुद्धात्मा का सद्भाव ही करि दर्शन का सद्भाव है॥ वहुरि शुद्ध आत्मा ही चारित्र का आश्रय है, जातैं षट् जीवनिकाय का सद्भाव होतैं तथा असद्भाव होतैं भी शुद्धात्मा का सद्भाव ही करि चारित्र का सद्भाव है॥ छ॥

वहाँ आचाराङ्ग आदि के साथ ज्ञान आदि का आश्रय होने में अनैकान्तिकपना है अर्थात् व्यभिचार [दोष] है क्योंकि आचाराङ्ग आदि तो हों, परन्तु ज्ञान आदि नहीं भी हों; इसलिए व्यवहारनय प्रतिषेध करने योग्य है। लेकिन निश्चयनय से शुद्ध आत्मा के साथ ज्ञानादि का आश्रय होने में ऐकान्तिकपना है क्योंकि जहाँ शुद्ध आत्मा है, वहाँ ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र हैं; इसलिए निश्चयनय, उस व्यवहारनय का प्रतिषेध करनेवाला है। इसी कथन को हेतु के द्वारा स्पष्ट करते हैं —

आचाराङ्ग आदि शब्दश्रुत, एकान्त से ज्ञान का आश्रय नहीं हैं क्योंकि आचाराङ्ग आदि का अभव्यजीव में सद्भाव होने पर भी शुद्ध आत्मा का अभाव होने से ज्ञान का अभाव है; इसी प्रकार जीव आदि नव पदार्थ, दर्शन के आश्रय नहीं हैं क्योंकि अभव्य में इनका सद्भाव होने पर भी शुद्धात्मा का अभाव होने से दर्शन का अभाव है तथा इसी प्रकार छह जीव-निकाय, चारित्र का आश्रय नहीं हैं क्योंकि इनका सद्भाव होने पर भी अभव्य में शुद्धात्मा का अभाव होने से चारित्र का अभाव है।

इसलिए शुद्धात्मा ही ज्ञान का आश्रय है क्योंकि आचाराङ्ग आदि शब्दश्रुत का सद्भाव या असद्भाव होने पर भी, शुद्धात्मा का सद्भाव ही होने से ज्ञान का सद्भाव है; शुद्ध आत्मा ही दर्शन का आश्रय है क्योंकि जीव आदि पदार्थों का सद्भाव या असद्भाव होने पर भी, शुद्धात्मा का सद्भाव ही होने से दर्शन का सद्भाव है; शुद्धात्मा ही चारित्र का आश्रय है क्योंकि षट् जीवनिकाय का सद्भाव या असद्भाव होने पर भी, शुद्धात्मा का सद्भाव ही होने से चारित्र का सद्भाव है।

॥ भावार्थ ॥ आचारांगादि शब्दश्रुत का जाननां तथा जीवादि पदार्थ का जाननां तथा छह काय के जीवनि की रक्षा, इनिकै होतैं भी अभव्य कै ज्ञान दर्शन चारित्र न होय है, तातैं व्यवहारनय तौ प्रतिषेध्य है॥ वहुरि शुद्धात्मा के होतैं ज्ञान दर्शन चारित्र होय ही हैं, तातैं निश्चयनय याका प्रतिषेधक है॥ तातैं शुद्धनय उपादेय कह्या है॥ छ॥

आगैं, अगिले कथन की सूचनिका का काव्य कहै है॥

॥ उपजाति ॥

रागादयो बन्धनिदानमुक्ता-स्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्त-मिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः॥ १२॥

॥ अर्थ ॥ इहां, शिष्य फेरि पूछै है जो रागादिक हैं, ते तौ वंध के कारण कहे॥ वहुरि ते शुद्ध चैतन्यमात्र मह जो आत्मा, तातैं अतिरिक्त कहिये भिन्न कहे, न्यारे कहे॥ तहां तिनिके होनें मैं आत्मा निमित्त है कि पर कोई निमित्त है।

ऐसैं प्रेरे हुये आचार्य, फेरि आगानैं याका उत्तर दृष्टांतपूर्वक कहै है॥ छ॥

जह फलिहमणी सुद्धो, ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु, सो रत्तादीहिं दव्वेहिं॥ ४२॥

भावार्थ – आचाराङ्ग आदि शब्दश्रुत का ज्ञान, जीवादि पदार्थों का श्रद्धान और छह काय के जीवों की रक्षा – इनके होते हुए भी अभव्य को ज्ञान-दर्शन-चारित्र नहीं होते हैं; इसलिए व्यवहारनय तो प्रतिषेध्य है तथा शुद्धात्मा के [प्राप्त] होने पर ज्ञान-दर्शन-चारित्र होते ही हैं; इसलिए निश्चयनय प्रतिषेधक है। इस तरह शुद्धनय को उपादेय कहा है।

अब, आगामी कथन की सूचनारूप काव्य कहते हैं —

॥ सोरठा ॥

कहे जिनागम माँहि, शुद्धातम से भिन्न जो।
रागादिक परिणाम, कर्मबन्ध के हेतु वे॥
यहाँ प्रश्न अब एक, उन रागादिक भाव का।
यह आतम या अन्य, कौन हेतु है अब कहें॥ १७४॥

अर्थ – यहाँ शिष्य, पुनः प्रश्न करता है कि रागादि को तो बन्ध का कारण कहा और उन्हें शुद्ध चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा से अतिरिक्त अर्थात् भिन्न कहा है, न्यारा कहा है; वहाँ रागादि के होने में आत्मा निमित्त है या अन्य कोई निमित्त है?

इस प्रकार प्रेरित करने पर, अब आचार्य, इसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं —

एवं णाणी सुद्धो, ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु, सो रागादीहिं दोसेहिं॥ ४३॥

॥ युग्मं॥

यथा स्फटिकमणिः शुद्धो, न स्वयं परिणमते रागाद्यैः।
रज्यतेऽन्यैस्तु, स[१] रक्तादिभिर्द्रव्यैः॥ छ॥
एवं ज्ञानी शुद्धो, न स्वयं परिणमते रागाद्यैः।
रज्यतेऽन्यैस्तु, स रागादिभिर्दोषैः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं स्फटिकमणि आप शुद्ध है सो रागादि कहिये ललाई आदि रंगरूप आप ही तौ नाही परिणमै है॥ अन्य लाल काला आदि द्रव्यनि करि ललाई आदि रंगरूप परिणमै है॥ छ॥

तैसैं ही याही प्रकार ज्ञानी है सो आप शुद्ध है॥ सो रागादि भावनि करि आप ही तौ नाही परिणमै है॥ अन्य जे रागादि दोष, तिनि करि रागादिरूप कीजिये है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं निश्चय करि केवल एकला स्फटिक पाषाण है सो आप परिणाम स्वभावरूप

जह फलिहमणी सुद्धो[२], ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु, सो रत्तादीहिं दव्वेहिं॥ २७८॥
एवं णाणी सुद्धो, ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
रागिज्जदि अण्णेहिं दु, सो रागादीहिं दोसेहिं॥ २७९॥

ज्यों स्फटिकमणि है शुद्ध, आप न रक्तरूप जु परिणमे।
पर अन्य रक्त पदार्थ से, रक्तादिरूप जु परिणमे॥ २७८॥
त्यों ज्ञानी भी है शुद्ध, आप न रागरूप जु परिणमे।
पर अन्य जो रागादि दूषण, उनसे वह रागी बने॥ २७९॥

अर्थ – जिस प्रकार स्फटिकमणि स्वयं शुद्ध है, वह रागादि अर्थात् लालिमा आदि रङ्गरूप स्वयं ही तो परिणमित नहीं होता है बल्कि अन्य लाल, काले आदि द्रव्यों के कारण लालिमा आदि रङ्गरूप परिणमित होता है॥ २७८॥

उसी प्रकार ज्ञानी स्वयं शुद्ध है, वह रागादि भावों से स्वयं ही तो परिणमित नहीं होता है बल्कि अन्य रागादि दोषों के कारण रागादिरूप किया जाता है॥ २७९॥

टीका – जिस प्रकार वास्तव में केवल अकेला स्फटिक-पाषाण, स्वयं परिणामस्वभाववाला

---

१. *स* - 'ब' प्रति में पाठ नहीं
२. *फलिहमणि विसुद्धो* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

होतैं संतैं भी अपनां शुद्ध स्वभावपणां करि तौ रागादि निमित्तपणां का अभाव तैं रागादि करि आप नाही परिणमै है॥ आप ही आप कै रागादि परिणाम होनें का निमित्त नाही है॥ वहुरि परद्रव्य, स्वयं रागादि भाव कूं प्राप्त होवापणां करि स्फटिक कै रागादि निमित्तभूत है, ता करि शुद्धस्वभाव तैं च्युत होता संता ही रागादिक करि परिणमिए हैं।

तैसैं केवल एकला आत्मा है सो परिणामस्वभावरूप होतैं संतैं भी आपकै शुद्ध स्वभावपणां करि रागादि निमित्तपणां का अभाव तैं आप ही रागादि भावनि करि नाही परिणमै है॥ आपकै आप ही रागादि परिणाम का निमित्त नाही है, परद्रव्य स्वयं रागादि भाव कूं प्राप्त होवापणां करि आत्मा कै रागादिक का निमित्तभूत है, ता करि शुद्धस्वभाव तैं च्युत होता संता ही रागादिक करि परिणमिए है॥ अैसा ही वस्तु का स्वभाव है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ आत्मा एकाकी तौ शुद्ध ही है परंतु परिणामस्वभाव है। जैसा पर का निमित्त मिलै, तैसा परिणमै भी है, तातैं रागादिकरूप परिणमै है सो परद्रव्य का निमित्त करि परिणमै है॥ तहां स्फटिक मणि का दृष्टांत है जो स्फटिकमणि आप तौ केवल एकाकार शुद्ध ही है परंतु परद्रव्य का ललाई आदि का डंक लागै, तव ललाई आदिरूप परिणमै है सो यह वस्तु ही का स्वभाव है। इहां किछू अन्य तर्क नाही है॥ छ॥

अव, इस अर्थ का कलशरूप श्लोक है॥ छ॥

॥ उपजाति॥

न जातु रागादिनिमित्तभाव-मात्माऽत्मनो याति यथाऽर्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव, वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्॥ १३॥

होने पर भी, अपने शुद्धस्वभावत्व के कारण, रागादि (रङ्गादि) के निमित्तों का अभाव होने से स्वयं रागादिरूप परिणमित नहीं होता है क्योंकि स्वयं ही स्वयं के रागादिरूप परिणमित होने में निमित्त नहीं होता है। परद्रव्य में स्वयं रागादि भाव को प्राप्त होने के कारण, वे स्फटिक के रागादिरूप होने में निमित्तभूत हैं, उनके कारण वह स्फटिक, शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ ही रागादिरूप परिणमित होता है।

उसी प्रकार केवल या अकेला आत्मा, परिणामस्वभाववाला होने पर भी, अपने शुद्धस्वभावत्व के कारण, रागादि के निमित्तों का अभाव होने से स्वयं ही रागादि भावोंरूप परिणमित नहीं होता है क्योंकि स्वयं ही स्वयं के रागादिरूप परिणमित होने में निमित्त नहीं होता है। परद्रव्य में स्वयं रागादि भाव को प्राप्त होने के कारण, वे आत्मा के रागादिरूप होने में निमित्तभूत हैं, उनके कारण वह आत्मा, शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ ही रागादिरूप परिणमित होता है – ऐसा ही वस्तुस्वभाव है।

भावार्थ – आत्मा, अकेला तो शुद्ध ही है परन्तु परिणामस्वभावी है। जैसा पर का निमित्त मिलता है, वैसा परिणमित भी होता है; इसलिए जब रागादिरूप परिणमित होता है, तब वह परद्रव्य के निमित्त से परिणमित होता है। वहाँ स्फटिकमणि का दृष्टान्त है कि स्फटिकमणि, स्वयं तो केवल एकाकार शुद्ध ही है परन्तु जब परद्रव्य की ललाई आदि का डंक लगता है, तब ललाई आदिरूप से परिणमता है – ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है, यहाँ कोई अन्य तर्क नहीं है।

॥ अर्थ ॥ आत्मा है सो आपकै रागादिक का निमित्तभाव कूं कदाचित् न प्राप्त होय है, तिस आत्मा विषै रागादिक का निमित्त परद्रव्य का संग ही है। इहां सूर्यकांतमणि का दृष्टांत है। जैसैं सूर्यकांतमणि आप ही तौ अग्निरूप नाही परिणमै है, तिस विषै सूर्य का बिंब अग्निरूप होनें कूं निमित्त है, तैसैं जाननां॥ यह वस्तु का स्वभाव उदय कूं प्राप्त है॥ काहू का कीया नाही है॥ छ॥

आगैं कहै है जो अैसा वस्तु का स्वभाव कूं जानता संता ज्ञानी, रागादिक आप कै नाही करै है, अैसा सूचनिका का श्लोक है॥ छ॥

॥ अनुष्टुभ्॥

इति वस्तुस्वभावं स्वं, ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नाऽत्मनः कुर्यात्, नाऽतो भवति कारकः॥ १४॥

॥ अर्थ ॥ अैसैं अपनें वस्तुस्वभाव कूं ज्ञानी है सो जानैं है॥ तिस कारण करि सो ज्ञानी रागादिक कूं आप कै नाही करै है, तातैं रागादिक का कारक नाही है॥ छ॥

आगैं, अैसैं ही गाथा मैं कहै है॥ छ॥

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ सोरठा॥

अग्निरूप ना होय, सूर्यकान्तमणि सूर्य बिन।
रागरूप ना होय, यह आतम परसङ्ग बिन॥ १७५॥

अर्थ – आत्मा, स्वयं रागादि के निमित्तभाव को कभी भी प्राप्त नहीं होता है, उस आत्मा में रागादि का निमित्त, परद्रव्य का सङ्ग ही है। यहाँ सूर्यकान्तमणि का दृष्टान्त है – जिस प्रकार सूर्यकान्तमणि स्वयं ही तो अग्निरूप परिणमता नहीं है बल्कि उसे अग्निरूप होने में सूर्य का बिम्ब निमित्त होता है; उसी प्रकार यहाँ जानना चाहिए। यह वस्तु का स्वभाव, उदय को प्राप्त है, किसी का किया हुआ नहीं है।

अब कहते हैं कि ऐसे वस्तु के स्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी, स्वयं रागादि नहीं करता - ऐसा सूचनिका का श्लोक कहते हैं —

॥ दोहा॥

ऐसे वस्तुस्वभाव को, जाने ज्ञानी सदीव।
अपनापन ना राग में, अतः अकारक जीव॥ १७६॥

अर्थ – इस प्रकार अपने वस्तुस्वभाव को ज्ञानी जानता है; उस कारण वह ज्ञानी रागादि को स्वयं नहीं करता है, इसलिए वह रागादि का कारक नहीं है।

अब, ऐसा ही गाथा में कहते हैं —

ण य रागदोसमोहं, कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण, कारको तेसिं भावाणं॥ ४४॥

न च रागद्वेषमोहं, करोति ज्ञानी कषायभावं वा।
स्वयमात्मनो न स तेन, कारकस्तेषां भावानाम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी है सो आप ही आप कै राग द्वेष मोह तथा कषायभाव नाही करै है॥ तिस कारण करि सो ज्ञानी तिनि भावनि का कारक कहिए करनेंवाला कर्त्ता नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसा कह्या, तैसा वस्तु का स्वभाव जानता संता ज्ञानी है सो अपनां शुद्धस्वभाव तैं नाही छूटै है॥ तातैं राग द्वेष मोह आदि भावनि करि आपै आप न परिणमै है अर पर करि भी नाही परिणमै है॥ तातैं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप ज्ञानी, राग द्वेष मोह आदि भावनि का अकर्त्ता ही है, अैसा नियम है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञानी भया, तव वस्तु का अैसा स्वभाव जान्यां जो आप तौ आत्मा शुद्ध है, द्रव्यदृष्टि करि अपरिणमनस्वरूप है, पर्यायदृष्टि करि परद्रव्य के निमित्त तैं रागादिरूप परिणमै है सो अव आप ज्ञानी तिनि भावनि का कर्त्ता न होय है, उदय आवै, तिनिका ज्ञाता ही है॥ छ॥

आगैं कहै है, अज्ञानी, अैसा वस्तु का स्वभाव नाही जानैं है, तातैं रागादिक भावनि का कर्त्ता हो है॥ याकी सूचनिका का श्लोक है॥ छ॥

ण वि रागदोसमोहं, कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं॥ २८०॥

जो राग-द्वेष-विमोह या, कषायभाव जु निजविषें।
ज्ञानी स्वयं करता नहीं, इससे न तत्कारक बने॥ २८०॥

अर्थ – ज्ञानी, स्वयं ही स्वयं में राग-द्वेष-मोह और कषायभावों को नहीं करता है; इसलिए वह ज्ञानी, उन भावों का कारक अर्थात् करनेवाला कर्ता नहीं है॥ २८०॥

टीका – जैसा वस्तुस्वभाव कहा है, वैसा जानता हुआ ज्ञानी, अपने शुद्धस्वभाव से छूटता नहीं है; इसलिए राग-द्वेष-मोहादि भावरूप न तो स्वयं परिणमता है और न पर के द्वारा परिणमता है; अत: टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप ज्ञानी, राग-द्वेष-मोहादि भावों का अकर्ता ही है, यह नियम है।

भावार्थ – ज्ञानी होने पर वस्तु का ऐसा स्वभाव जाना कि आत्मा स्वयं तो शुद्ध है, द्रव्यदृष्टि से अपरिणमनस्वरूप है परन्तु पर्यायदृष्टि से परद्रव्य के निमित्त से रागादिरूप परिणमता है; अत: ज्ञानी, अब स्वयं उन भावों का कर्ता नहीं होता है; जो उदय में आते हैं, उनका ज्ञाता ही है।

॥ अनुष्टुभ् ॥

इति वस्तुस्वभावं स्वं, नाऽज्ञानी वेत्ति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्या-दतो भवति कारकः॥ १५॥

॥ अर्थ ॥ अज्ञानी है सो अैसा अपनां वस्तुस्वभाव कूं नाही जानै है॥ तिस कारण करि सो अज्ञानी, रागादि भावनि कूं आप कै करै है, यातैं तिनिका कारक होय है॥ छ॥

अब, इस अर्थ की गाथा कहै है॥

रायम्हि य दोसम्हि य, कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो, रायाई बंधदि पुणो वि॥ ४५॥

रागे च द्वेषे च, कषायकर्मसु चैव ये भावाः।
तैस्तु परिणममानो, रागादीन् बध्नाति पुनरपि॥ छ॥

॥ अर्थ ॥ राग वहुरि द्वेष वहुरि कषायकर्म, इनिकूं होतै संतै जे भाव होय हैं, तिनि करि परिणमता संता अज्ञानी रागादिक कूं फेरि फेरि वांधै है॥ छ॥

अब कहते हैं कि अज्ञानी, ऐसा वस्तु का स्वभाव नहीं जानता है; इसलिए रागादि भावों का कर्ता होता है, इसकी सूचनारूप श्लोक कहते हैं —

॥ दोहा ॥

ऐसे वस्तुस्वभाव को, ना जाने अल्पज्ञ।
धरे एकता राग में, नहीं अकारक अज्ञ॥ १७७॥

अर्थ – अज्ञानी, ऐसे अपने वस्तुस्वभाव को नहीं जानता है, इसलिए वह अज्ञानी, रागादि भावों को अपना मानता है; अतः उनका कारक अर्थात् कर्ता होता है।

अब, इस अर्थ की गाथा कहते हैं —

रागम्हि[1] य दोसम्हि[2] य, कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो[3], रागादी बंधदि पुणो वि॥ २८१॥

पर राग-द्वेष-कषायकर्म, निमित्त होवें भाव जो।
उन-रूप जो जीव परिणमे, फिर बाँधता रागादि को॥ २८१॥

अर्थ – राग-द्वेष आदि कषाय-कर्मों के होने पर जो भाव होते हैं, उनरूप परिणमन करता हुआ अज्ञानी, रागादि को पुनः पुनः बाँधता है॥ २८१॥

१-३. *रागह्मि / दोसह्मि / परिणममाणो* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

॥ टीका ॥ जैसा कह्या, तैसा वस्तु का स्वभाव कूं नाही जानता संता अज्ञानी है सो अपनां शुद्धस्वभाव तैं अनादि संसार तैं लगाय च्युत ही है, छूटि रह्या है। तातैं कर्म के उदय करि भये जे राग द्वेष मोहादिक भाव, तिनि करि परिणमता संता अज्ञानी राग द्वेष मोह आदि भावनि का कर्त्ता होता संता कर्मनि करि वंधै ही है॥ अैसा नियम है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ अज्ञानी, वस्तु का स्वभाव तौ यथार्थ जानैं नाही अर कर्म का उदय करि जैसा भाव होय, तिसकूं आपा जानि परिणमैं, तव तिनिका कर्त्ता भया संता आगामी फेरि फेरि कर्म वांधै है, यह नियम है॥ छ॥

आगैं कहै है जो इस हेतु तैं यह ठहरी, ताकी गाथा [कहै है॥ छ॥]

रायम्हि य दोसम्हि य, कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो, रायादी बंधदे चेदा॥ ४६॥

रागे च द्वेषे च, कषायकर्मसु चैव ये भावाः।
तैस्तु परिणममानो, रागादीन् बध्नाति चेतयिता॥ छ॥

॥ अर्थ ॥ राग वहुरि द्वेष वहुरि कषायकर्म, इनिकूं होतैं संतै जे भाव होय, तिनि करि परिणमता संता आत्मा रागादिकनि कूं वांधै है॥ छ॥

टीका – जैसा वस्तु का स्वभाव कहा है, वैसा नहीं जानता हुआ अज्ञानी, अपने शुद्धस्वभाव से अनादि संसार से लेकर अब तक च्युत ही है, छूट रहा है; अतः कर्म के उदय के कारण हुए राग-द्वेष-मोह आदि भावोंरूप परिणमन करता हुआ अज्ञानी, राग-द्वेष-मोह आदि भावों का कर्ता होता हुआ, कर्मों से बँधता ही है – ऐसा नियम है।

भावार्थ – अज्ञानी, वस्तु का स्वभाव तो यथार्थ जानता नहीं है और कर्म के उदय से जैसा भाव होता है, उसे अपना जान कर परिणमता है; तब वह उन भावों का कर्ता होता हुआ, पुनः पुनः नवीन कर्म बाँधता है – यह नियम है।

अब कहते हैं कि इस हेतु यह सिद्ध हुआ, उसको गाथा में कहते हैं –

रागम्हि य दोसम्हि य, कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो, रागादी बंधदे चेदा॥ २८२॥[१]

यों राग-द्वेष-कषायकर्म, निमित्त होवें भाव जो।
उन-रूप आत्मा परिणमें, वह बाँधता रागादि को॥ २८२॥

---

१. गाथा २८१ और गाथा २८२ लगभग समान हैं, मात्र चतुर्थ चरण में किञ्चित् अन्तर है। आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के अन्तर को स्पष्ट किया है कि प्रथम गाथा में 'अहं रागादि' अर्थात् 'मैं रागादि हूँ' – ऐसी अभेदनय से प्रतीति को तथा द्वितीय गाथा में 'मदीयो रागः' अर्थात् 'रागादि मेरे हैं' – ऐसी प्रतीति को विषय बनाया है।

॥ टीका ॥ निश्चय करि जे ए अज्ञानी कै पुद्गलकर्म हैं निमित्त जिनिकूं, अैसे राग द्वेष मोह आदि परिणाम हैं, ते ही फेरि राग द्वेष मोह आदि परिणाम कूं निमित्त जो पुद्गलकर्म, ताके वंध के कारण होय हैं ॥ छ ॥

॥ भावार्थ ॥ अज्ञानी कै कर्म के निमित्त तैं राग द्वेष मोह आदिक परिणाम होय हैं, ते फेरि आगामी कर्मवंध के कारण होय हैं ॥ छ ॥

आगैं फेरि पूछै है, अैसैं है जो अज्ञानी कै रागादिक फेरि कर्मवंध के कारण हैं तौ आत्मा रागादिक का अकारक ही है, अैसैं कैसैं कह्या है ॥ ताका समाधान करै है ॥

अपडिक्कमणं दुविहं, अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं ।
एएणुवएसेणं, अकारओ वण्णिओ चेया ॥ ४७ ॥
अपडिक्कमणं दुविहं, दव्वे भावे तहा अपच्चक्खाणं ।
एएणुवएसेणं, अकारओ वण्णिओ चेया ॥ ४८ ॥
जावं अपडिक्कमणं, अपच्चक्खाणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वइ आया तावं, कत्ता सो होइ णायव्वो ॥ ४९ ॥

॥ त्रिकलं ॥

अर्थ – राग-द्वेष आदि कषाय-कर्मों के होने पर जो भाव होते हैं, उनरूप परिणमन करता हुआ आत्मा, पुनः उन रागादि [में निमित्तभूत पुद्गलकर्मों] को बाँधता है ॥ २८२ ॥

टीका – निश्चय से इस अज्ञानी को, पुद्गलकर्म के निमित्त से होनेवाले राग-द्वेष-मोहादि परिणाम ही, पुनः राग-द्वेष-मोहादि परिणामों के होने में निमित्तभूत पुद्गल कर्म-बन्ध के कारण होते हैं।

भावार्थ – अज्ञानी को कर्म के निमित्त से राग-द्वेष-मोह आदि परिणाम होते हैं, वे पुनः नवीन कर्मबन्ध के कारण होते हैं।

अब, पुनः पूछते हैं कि यदि ऐसा है कि अज्ञानी के रागादि पुनः कर्मबन्ध के कारण हैं तो आत्मा, रागादि का अकारक ही है, ऐसा कैसे कहा है? – इसका समाधान करते हैं —

अप्पडिकमणं दुविहं, अपच्चखाणं तहेव विण्णेयं।
एदेणुवदेसेण दु[1], अकारगो वण्णिदो चेदा ॥ २८३ ॥
अप्पडिकमणं दुविहं, दव्वे भावे अपच्चखाणं पि।
एदेणुवदेसेण दु[2], अकारगो वण्णिदो चेदा ॥ २८४ ॥

१-२. *य* - अगास एवं सोनगढ़ प्रकाशन पाठ

अप्रतिक्रमणं द्विविध-मप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयम्।
एतेनोपदेशेन चाऽकारको वर्णितश्चेतयिता॥ छ॥
अप्रतिक्रमणं द्विविधं, द्रव्ये भावे तथाऽप्रत्याख्यानम्।
एतेनोपदेशेन चाऽकारको वर्णितश्चेतयिता॥ छ॥
यावदप्रतिक्रमण-मप्रत्याख्यानं च द्रव्यभावयोः।
करोत्यात्मा तावत्, कर्ता स भवति ज्ञातव्यः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ अप्रतिक्रमण दोय प्रकार जाननां॥ तैसैं ही अप्रत्याख्यान दोय प्रकार जाननां॥ इस उपदेश करि चेतयिता आत्मा अकारक कह्या है॥ छ॥

सो अप्रतिक्रमण दोय प्रकार, एक तौ द्रव्य विषै, एक भाव विषै। बहुरि तैसैं ही अप्रत्याख्यान दोय प्रकार, एक द्रव्य विषै, एक भाव विषै॥ इस उपदेश करि चेतयिता आत्मा अकारक कह्या है॥ छ॥

जेतै आत्मा, द्रव्य विषै अर भाव विषै, अप्रतिक्रमण अर अप्रत्याख्यान करै है॥ तेतै सो आत्मा कर्त्ता होय है, यह जाननां॥ छ॥

जाव अप्पडिकमणं, अपच्चखाणं[1] च दव्वभावाणं।
कुव्वदि आदा तावं[2], कत्ता सो होदि णादव्वो॥ २८५॥

अप्रतिकमण दो भाँति, अप्रत्याख्यान भी दो भाँति है।
जीव को अकारक है कहा, इस रीति के उपदेश से॥ २८३॥
अप्रतिकमण दो - द्रव्य-भाव जु, त्योंहि अप्रत्याख्यान है।
जीव को अकारक है कहा, इस रीति के उपदेश से॥ २८३॥
अप्रतिकमण अरु त्योंहि अप्रत्याख्यान, द्रव्य रु भाव का।
जब तक करे है आतमा, कर्ता बने है जानना॥ २८५॥

अर्थ – अप्रतिक्रमण दो प्रकार का जानना चाहिए; उसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का जानना चाहिए। इस उपदेश के द्वारा चेतयिता आत्मा, अकारक कहा गया है॥ २८३॥

वह अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है – एक तो द्रव्यरूप और दूसरा भावरूप। इसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है – एक द्रव्यरूप और दूसरा भावरूप। इस उपदेश के द्वारा चेतयिता आत्मा, अकारक कहा गया है॥ २८४॥

जब तक आत्मा, द्रव्यरूप और भावरूप, अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है; तब तक वह कर्ता होता है, यह जानना चाहिए॥ २८५॥

१-२. *जाव ण पच्चक्खाणं अप्पडिकमणं / तावदु* – तात्पर्यवृत्ति, सोलापुर एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

॥ टीका ॥ आत्मा है सो आप ही करि रागादि भावनि का अकारक ही है, जातैं आप ही कारक होय तौ अप्रतिक्रमण अर अप्रत्याख्यान, इनिका द्रव्य भाव करि दोय प्रकार का उपदेश की अप्राप्ति आवै है॥ जो निश्चय करि अप्रतिक्रमण अर अप्रत्याख्यान का दोय प्रकार भेद का उपदेश है सो यह उपदेश, द्रव्य कै अर भाव कै निमित्तनैमित्तिकभाव कूं विस्तारता संता, आत्मा कै अकर्त्तापणां कूं जनावै है, तातैं यह ठहरया जो परद्रव्य तौ निमित्त है अर नैमित्तिक आत्मा कै रागादिक भाव हैं॥

जो अैसैं न मानिये तौ द्रव्य अप्रतिक्रमण अर द्रव्य अप्रत्याख्यान, इनिकै कर्त्तापणां का निमित्तपणां का उपदेश है सो अनर्थक ही होय॥ अर इस उपदेश कै अनर्थकपणां होतैं संतैं एक आत्मा ही कै रागादि भाव का निमित्तपणां की प्राप्ति होतैं सदा नित्य कर्त्तापणां का प्रसंग आवै, तातैं मोक्ष का अभाव ठहरै॥ तातैं आत्मा कै रागादि भावनि का निमित्त परद्रव्य ही होहु॥

तैसैं होतैं आत्मा रागादि भावनि का अकारक ही है, यह सिद्ध भया॥ तौऊ जैतै रागादिक का निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नाही करै, तेतैं नैमित्तिकभूत रागादि भावनि का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान न होय॥ वहुरि जेतै इनि भावनि का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान न होय, तेतै रागादि भावनि का कर्त्ता ही है॥ वहुरि जिस काल रागादि भावनि का निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान करै है॥ तिस ही काल नैमित्तिकभूत रागादि भावनि का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान होय है॥ वहुरि जिस काल इनि भावनि का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान भया, तिस काल साक्षात् अकर्त्ता ही है॥

॥ भावार्थ ॥ प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान का द्रव्य भाव के भेद करि दोय प्रकार का उपदेश है सो

टीका – आत्मा, स्वयं ही रागादि भावों का अकारक है क्योंकि यदि वह स्वयं ही उनका कारक हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान, इनके द्रव्य और भाव की अपेक्षा दो प्रकार के उपदेश की अप्राप्ति का प्रसङ्ग आता है परन्तु अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के दो प्रकारों का उपदेश निश्चितरूप से द्रव्य और भाव का निमित्त-नैमित्तिकभाव प्रगट करता हुआ, आत्मा का अकर्तापना दर्शाता है; इससे यह सिद्ध होता है कि परद्रव्य तो निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं।

यदि ऐसा न माना जाए तो द्रव्य-अप्रतिक्रमण और द्रव्य-अप्रत्याख्यान के निमित्तकर्ता होने का उपदेश निरर्थक सिद्ध होगा और इस उपदेश के निरर्थक सिद्ध होने पर, एक आत्मा ही को रागादि भावों के निमित्तपने की प्राप्ति होने पर, नित्यकर्तृत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होता है, जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होता है; अत: आत्मा के रागादि भावों का निमित्त, परद्रव्य ही होवे।

ऐसा होने पर आत्मा, रागादि भावों का अकारक ही सिद्ध हुआ, फिर भी जब तक [यह जीव,] रागादि भावों के निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान नहीं करता, तब तक नैमित्तिकभूत रागादि भावों का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान नहीं होता और जब तक इन भावों का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान नहीं होता, तब तक आत्मा रागादि भावों का कर्ता ही है तथा जिस समय रागादि भावों के निमित्तभूत परद्रव्यों का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान करता है, उसी समय नैमित्तिकभूत रागादि भावों का भी प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाता है और उस समय वह साक्षात् अकर्ता ही है।

भावार्थ – प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का उपदेश है।

इहां शुद्धनयप्रधान कथन है, तातैं निषेधप्रधान करि वर्णन है।

तहां अप्रतिक्रमण अप्रत्याख्यान अैसा कह्या है सो अतीत काल मैं परद्रव्य का ग्रहण कीया, ताकूं अव भला जाणैं, ताका संस्कार रहै, ममत्व रहै सो तौ द्रव्य अप्रतिक्रमण है अर तिस परद्रव्य के ग्रहण के निमित्त तैं रागादिक भाव भये थे, तिनिकूं वर्त्तमान मैं भला जाणै, तिनिसूं ममत्व संस्कार रहै सो भाव अप्रतिक्रमण है॥ वहुरि आगामी काल मैं परद्रव्य की वांछा करि ममत्व राषै सो द्रव्य अप्रत्याख्यान है। वहुरि तिनिके निमित्त तैं आगामी काल मैं रागादि भाव होंयगे, तिनिकी वांछा राषै, ममत्व राषै सो भाव अप्रत्याख्यान है।

सो यह द्रव्य अप्रतिक्रमण, भाव अप्रतिक्रमण वहुरि द्रव्य अप्रत्याख्यान, भाव अप्रत्याख्यान, अैसैं दोय प्रकार का उपदेश है। सो द्रव्य भाव कै निमित्तनैमित्तिकभाव कूं जणावै है, परद्रव्य तौ निमित्त है अर नैमित्तिक रागादिक भाव हैं॥ सो जेतै निमित्तभूत परद्रव्य का अप्रतिक्रमण अप्रत्याख्यान, या आत्मा कै है, तेतै तौ रागादि भावनि का अप्रतिक्रमण अप्रत्याख्यान है अर जेतै रागादि भावनि का अप्रतिक्रमण अप्रत्याख्यान है, तेतै रागादिक भावनि का कर्त्ता ही है॥ अर जिस काल निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान करै, तिस काल नैमित्तिक रागादि भावनि का भी प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान होय। वहुरि रागादि भावनि का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान होय, तव साक्षात् अकर्त्ता ही है॥ अैसैं आत्मा, स्वयमेव तौ रागादि भावनि का अकर्त्ता ही है, यह परद्रव्य का निमित्त कहनें तैं जानिए है॥ छ॥

यहाँ [इस ग्रन्थ में] शुद्धनय की प्रधानता से कथन है; अत: निषेध की प्रधानता से वर्णन है।

अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का अर्थ यह है कि जो अतीत काल में परद्रव्यों का ग्रहण किया था, उन्हें वर्तमान में भला जाने, उनका संस्कार रहे, ममत्व रहे, वह तो **द्रव्य-अप्रतिक्रमण** है और उन परद्रव्यों के ग्रहण के निमित्त से जो रागादि भाव हुए थे, उन्हें वर्तमान में भला जाने, उनसे ममत्व या संस्कार रहे, वह **भाव-अप्रतिक्रमण** है तथा आगामी काल में परद्रव्यों की वाञ्छा करके उनसे ममत्व रखे, वह **द्रव्य-अप्रत्याख्यान** है और उनके निमित्त से आगामी काल में जो रागादि भाव होंगे, उनकी वाञ्छा रखे, ममत्व रखे वह **भाव-अप्रत्याख्यान** है।

यह द्रव्य-अप्रतिक्रमण और भाव-अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य-अप्रत्याख्यान और भाव-अप्रत्याख्यानरूप दो-दो प्रकार का उपदेश है। यह द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमित्तिकभाव को बतलाता है। परद्रव्य तो निमित्त है और रागादि भाव नैमित्तिक हैं। जब तक इस आत्मा के निमित्तभूत परद्रव्य का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान है, तब तक उसे रागादि भावों का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान भी है और जब तक रागादिभावों का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान है, तब तक रागादि भावों का कर्ता ही है। तथा, जिस समय यह निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करता है, उस समय नैमित्तिक रागादि भावों का भी प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान हो जाता है और रागादि भावों को प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान हो जाने पर, वह साक्षात् अकर्ता ही है। इस प्रकार आत्मा स्वयमेव तो रागादि भावों का अकर्ता ही है – यह परद्रव्य को निमित्त कहने से जाना जाता है।

अब, द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमित्तिकभाव का उदाहरण, गाथा में कहते हैं —

आगैं, द्रव्य कै अर भाव कै निमित्तनैमित्तिकभाव का उदाहरण यह है, सो गाथा मैं कहै है॥

आधाकम्माईया, पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वइ णाणी, परदव्वगुणा उ जे णिच्चं॥ ५०॥
आधाकम्मं उद्देसियं, च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह ते मम होइ कयं, जं णिच्चमचेयणं उत्तं॥ ५१॥

॥ युग्मं॥

अधःकर्माद्याः, पुद्गलद्रव्यस्य य इमे दोषाः।
कथं तान् करोति ज्ञानी, परद्रव्यगुणास्तु ये नित्यम्॥ छ॥
अधःकर्मोद्देशिकं, च पुद्गलमयमिदं द्रव्यम्।
कथं तन्मम भवति कृतं, यन्नित्यमचेतनमुक्तम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ अधःकर्म कूं आदि ले करि जे ए पुद्गलद्रव्य के दोष हैं॥ तिनिकूं ज्ञानी कैसैं करै, जातैं ये नित्य ही सदा पुद्गलद्रव्य के गुण हैं॥ छ॥

वहुरि यह अधःकर्म अर उद्देशिक है सो पुद्गलमयी द्रव्य है॥ ज्ञानी यह जानैं हैं जो यह मेरा कीया

आधाकम्मादीया, पोग्गलदव्वस्स[1] जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वदि णाणी, परदव्वगुणा दु जे णिच्चं॥ २८६॥
आधाकम्मं उद्देसियं, च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होदि कदं, जं णिच्चमचेदणं वुत्तं॥ २८७॥

हैं अधःकर्मादिक जो पुद्गलद्रव्य के ही दोष ये।
कैसे करे 'ज्ञानी' सदा, परद्रव्य के जो गुण ही हैं?॥ २८६॥
उद्देशिक अरु अधःकर्मी, पौद्गलिक यह द्रव्य जो।
'मेरे किये वे होंय कैसे?' सदा अचेतनरूप जो॥ २८७॥

अर्थ – अधःकर्म आदि जो पुद्गलद्रव्य के दोष हैं, उनको **ज्ञानी कैसे कर सकता है?** क्योंकि ये नित्य ही पुद्गलद्रव्य के गुण हैं॥ २८६॥

---

१. *पुग्गलदव्वस्स* – अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ

कैसैं होय॥ जो सदा अचेतन कह्या है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं अध:कर्म करि निपज्या, वहुरि उद्देश करि निपज्या जो आहार आदिक पुद्गलद्रव्य सो भावनि कूं निमित्तभूत है। जैसा भक्षण करै तैसा भाव होय सो अैसैं द्रव्य कूं अप्रत्याख्यानरूप करता, त्याग न करता जो मुनि सो तिस द्रव्य के नैमित्तिकभूत जे भाव, ते वंध के साधक हैं, तिनिकूं भी त्याग न करै है॥ तैसैं ही समस्त परद्रव्य कूं जो त्यागै नाही है सो तिसके निमित्त तैं होते भावनि कूं भी नाही त्यागै है॥

वहुरि जैसैं अध:कर्म आदिक पुद्गलद्रव्यनि कूं आत्मा नाही करै है, जातैं ए पर पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं, तिसपणां कूं होतैं आत्मा के कार्यपणां का इनिकै अभाव है॥ तातैं ज्ञानी अैसैं जानैं जो अध:कर्म उद्देशिक पुद्गलद्रव्य हैं, ते मेरे कार्य नाही हैं, जातैं ए नित्य ही अचेतनपणां के होतैं मेरे कार्यपणां का इनिकै अभाव है॥ अैसैं तत्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्य कूं त्याग करता संता मुनि, वंध का साधक जो नैमित्तिकभूत भाव, ताकूं भी त्यागै है॥ तैसैं ही समस्त परद्रव्य कूं त्याग करता संता तिस परद्रव्य के निमित्त तैं होते भावनि कूं भी त्यागै है॥ अैसैं द्रव्य भाव कै निमित्तनैमित्तिकभाव है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ यह द्रव्य कै अर भाव कै निमित्तनैमित्तिकपणां, उदाहरण करि दृढ कीया है॥ जैसैं लौकिकजन कहै है जो जैसा दाणां षाय, तैसी वुद्धि उपजै, तैसैं इहां शास्त्र मैं उदाहरण है। जो

इस अध:कर्म और उद्देशिक, पुद्गलमयी द्रव्य को ज्ञानी ऐसे जानता है कि यह मेरे द्वारा किये गए **कैसे हो सकते हैं?** क्योंकि इन्हें सदा अचेतन कहा गया है॥ २८७॥

टीका – जैसे, अध:कर्म और उद्देश से उत्पन्न आहार आदि पुद्गलद्रव्य, [जीवों के] भावों में निमित्तभूत हैं। यह जैसा आहार भक्षण करता है, वैसा भाव होता है; अत: ऐसे द्रव्य को अप्रत्याख्यानरूप करता हुआ अर्थात् त्याग न करता हुआ मुनि, उस द्रव्य के नैमित्तिकभूत बन्धसाधक भावों का भी त्याग नहीं करता है; इसी प्रकार समस्त परद्रव्यों को जो त्यागता नहीं है, वह उनके निमित्त से होनेवाले भावों को भी नहीं त्यागता है।

जैसे, अध:कर्म आदि पुद्गलद्रव्यों को आत्मा नहीं करता है क्योंकि वे अन्य पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं, इस कारण उनमें आत्मा के कार्यपने का अभाव है; इसलिए ज्ञानी ऐसा जानता है कि अध:कर्म और उद्देशिक पुद्गलद्रव्य, मेरे कार्य नहीं है क्योंकि वे नित्य ही अचेतन होने से उनमें मेरे कार्यपने का अभाव है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्यों का त्याग करनेवाला मुनि, बन्ध के साधक नैमित्तिकभूत भावों का भी त्याग करता है; उसी प्रकार समस्त परद्रव्यों को त्याग करता हुआ वह, उस परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले भावों का भी त्याग करता है। इस तरह द्रव्य और भाव में निमित्त-नैमित्तिकभाव है।

भावार्थ – यहाँ द्रव्य और भाव में निमित्त-नैमित्तिकपना उदाहरण से पुष्ट किया है। जिस प्रकार लौकिकजन कहते हैं कि 'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन', उसी प्रकार यहाँ शास्त्र में उदाहरण

पापकर्म करि आहार निपजै, ताकूं अध:कर्म निष्पन्न कहिए तथा सो आहार जिसकै निमित्त निपजै, ताकूं उद्देशिक कहिये है॥ सो अैसा आहार जो पुरुष ले, ताके तैसे ही भाव होय। अैसैं द्रव्य भाव कै निमित्तनैमित्तिकभाव है, तैसैं ही समस्त द्रव्यनि कै निमित्तनैमित्तिकभाव जाननां॥ अैसैं होतैं जो परद्रव्य कूं ग्रहण करै है, ताकै रागादि भाव भी होय हैं, तिनिका कर्त्ता भी होय है, तव कर्म का वंध भी करै है॥ वहुरि जव ज्ञानी होय है, तव काहू के ग्रहण करनें का राग नाही, तव रागादिरूप परिणमन भी नाही, तव आगामी वंध भी नाही, अैसैं ज्ञानी, परद्रव्य का कर्त्ता नाही है॥ छ॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहि परद्रव्य के त्यागनें का उपदेश करै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल पर-द्रव्यं समग्रं बलात्,
तन्मूलां[१] बहुभावसन्ततिमिमा-मुद्धर्त्तुकामः समम्।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्, पूर्णैकसंविद्युतं,
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवा-नात्मात्मनि स्फूर्जति॥ १६॥

दिया है जो पापकर्म से उत्पन्न आहार होता है, उसे **अध:कर्म-निष्पन्न** कहते हैं तथा वह आहार, जिसके निमित्त बनाया जाता है, उसे **उद्देशिक** कहते हैं। ऐसा आहार जो पुरुष लेता है, उसे वैसे ही भाव होते हैं। इस प्रकार द्रव्य और भाव में निमित्त-नैमित्तिकभाव सम्बन्ध होता है, इसी प्रकार समस्त द्रव्यों में निमित्त-नैमित्तिकभाव जानना चाहिए। अत: जो परद्रव्य को ग्रहण करता है, उसके रागादि भाव भी होते हैं, उनका कर्ता भी वह होता है, कर्म का बन्ध भी करता है परन्तु जब वह ज्ञानी होता है, तब कुछ भी ग्रहण करने का राग नहीं होता, रागादिरूप परिणमन भी नहीं होता और नवीन बन्ध भी नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानी, परद्रव्य का कर्ता नहीं है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कह कर परद्रव्य को त्यागने का उपदेश देते हैं —

॥ सवैया इकतीसा॥

परद्रव्य हैं निमित्त, परभाव नैमित्तिक;
नैमित्तिकभावों से कषायवान् हो रहा।
भावी कर्म-बन्धन हो, इन कषायभावों से;
बन्धन में आतमा, विलीयमान हो रहा॥
इस प्रकार जान, परभावों की सन्तति को;
जड़ से उखाड़, स्फुरायमान हो रहा।
आनन्दकन्द निज, आतम के वेदन में;
निज भगवान, शोभायमान हो रहा॥ १७८॥

---

१. *तन्मूलं* - अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ

॥ अर्थ ॥ जो पुरुष अैसैं परद्रव्य कै अर अपनें भाव कै निमित्तनैमित्तिकपणां विचारि करि, तिस परद्रव्य समस्त कूं अपनां वल पराक्रम उद्यम करि त्याग करिकैं अर सो परद्रव्य है मूल जाका, अैसी वहुत भावनि की संतति परिपाटी कूं दूरि युगपत् उडावनें कूं चाहता संता, अतिशय करि वहता प्रवाहरूप धारावाही पूर्ण एक संवेदन, तिस करि युक्त जो अपनां आत्मा, ताहि प्राप्त होय है॥ जिस कारण करि उन्मूलित कीये हैं, मूल तैं उपाडे हैं कर्म के वंधन जानैं, अैसा भगवान यह आत्मा, आप ही विषै स्फुरायमान प्रगट होय है॥

॥ भावार्थ ॥ परद्रव्य कै अर अपनां भाव कै निमित्तनैमित्तिकभाव जानि, समस्त परद्रव्य कूं त्यागै, तव समस्त रागादि भावनि की संतति कटि जाय, तव आत्मा अपनां ही अनुभव करता संता कर्म के वंधन कूं काटि, आप ही विषै प्रकाशरूप होय प्रगटै है, तातैं अपना हित चाहैं हैं, ते अैसैं करौ॥ छ॥

अव, वंध अधिकार पूर्ण कीया, ताके अंत मंगलरूप ज्ञान की महिमा का अर्थरूप कलश काव्य कहै है॥

॥ मन्दाक्रान्ता ॥

रागादीनामुदयमदयं, दारयत् कारणानां,
कार्यं बन्धं विविधमधुना, सद्य एव प्रणुद्य।

अर्थ – इस प्रकार जो पुरुष, परद्रव्य और अपने भावों में निमित्त-नैमित्तिकपने का विचार करके, उन समस्त परद्रव्यों को अपने बल, पराक्रम और उद्यम से त्याग करके, परद्रव्यमूलक बहुत भावों की सन्तति अर्थात् परिपाटी को एक साथ दूर उड़ाने का इच्छुक होकर, तीव्रता से बहते हुए धारावाही प्रवाहरूप पूर्ण एक संवेदन से युक्त अपने आत्मा को प्राप्त होता है, जिससे कर्म-बन्धन को उन्मूलित करनेवाला अर्थात् मूल से उखाड़नेवाला भगवान आत्मा, स्वयं ही स्फुरायमान प्रगट होता है।

भावार्थ – जब आत्मा, परद्रव्य और अपने भावों में निमित्त-नैमित्तिकभाव को जान कर, समस्त परद्रव्यों को त्याग देता है, तब समस्त रागादि भावों की सन्तति कट जाती है; तब आत्मा अपना ही अनुभव करता हुआ, कर्म के बन्धन को काट कर, स्वयं ही प्रकाशरूप होकर प्रगट होता है। इस प्रकार जो अपना हित चाहते हैं, वे ऐसा ही करें।

अब, बन्ध अधिकार पूर्ण करते हुए, उसके अन्त में ज्ञान की महिमा का सूचक माङ्गलिक कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ सवैया इकतीसा ॥

बन्ध के जो मूल, उन रागादिक भावों को;
जड़ से उखाड़ने, उदीयमान हो रही।
जिसके उदय से, चिन्मय लोक की;
यह कर्म-कालिमा, विलीयमान हो रही॥

ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं, साधु सन्नद्धमेतत्,
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः, कोऽपि नास्याऽवृणोति॥ १७॥

॥ अर्थ॥ यह ज्ञानज्योति है सो क्षेप्या है दूरि कीया है अज्ञानरूप अंधकार जानैं सो तैसैं सम्यक् प्रकार सज्या, जैसैं याका प्रसर कहिये फैलनां अवर कोई आवरै नाही।

सो यह अैसा पहलैं कहा करिकै सज्या सो कहै है॥ पहलैं तो वंध के कारण जे रागादिक भाव, तिनिका उदय कूं जैसैं निर्दयी काहूं कूं विदारै, तैसैं तिनिकूं विदारता संता प्रगट्या, पीछै जव कारण दूरि भये, तव तिनिका कार्य जो कर्म का ज्ञानावरण आदि अनेक प्रकार वंध, ताकूं अव तत्काल ही दूरि करिकैं अर सज्या है॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञान प्रगट होय है, जव रागादिक न रहैं, तिनिका कार्य वंध न रहै, तव फेरि याकूं आवरणेंवाला कोई न रहै, सदाकाल प्रकाशरूप रहै॥ छ॥

अैसैं रंगभूमि मैं वंध का स्वांग प्रवेश कीया था सो ज्ञानज्योति प्रगट भया, तव वंध स्वांग दूरि करि निकसि गया॥ छ॥

॥ सवइया तेईसा॥

ज्यों नर कोय परै रज माहि, सचिक्कण अंग लगै वह गाढैं।
त्यों मतिहीन जु राग विरोध, लीयें विचरैं तव वंधन वाढ़ैं॥

जिसके उदय को, कोई ना रोक सके;
अद्भूत शौर्य से, विकासमान हो रही।
कमर कसे हुए, धीर-वीर-गम्भीर;
ऐसी दिव्य ज्योति, प्रकाशमान हो रही॥ १७९॥

अर्थ – इस ज्ञानज्योति ने अज्ञानरूप अन्धकार को फेंक दिया है अर्थात् दूर किया है और जो सम्यक् प्रकार से सजी है कि इसके प्रसार अर्थात् फैलाव को कोई अन्य नहीं रोक सकता है।

यह ज्ञानज्योति पहले क्या करके सजी है? – सर्व प्रथम, बन्ध के कारणभूत रागादि भावों के उदय को निर्दयतापूर्वक नष्ट करती हुई प्रगट हुई है। तत्पश्चात् कारण के दूर होने पर, उनके कार्यभूत ज्ञानावरण आदि अनेक प्रकार के कर्मों के बन्ध को अब तत्काल ही दूर करके तैयार हुई है।

भावार्थ – जब रागादि नहीं रहते हैं और न उनका कार्य बन्ध ही रहता है; तब ज्ञान प्रगट होता है और तब इसको आवरण करनेवाला कोई नहीं रहता है; वह सदाकाल प्रकाशरूप ही रहता है।

इस प्रकार रङ्गभूमि में बन्ध के स्वाङ्ग ने प्रवेश किया था, ज्ञानज्योति के प्रगट होने पर बन्ध, अपना स्वाङ्ग दूर करके बाहर निकल गया।

---

१. *राग-विरोध* - राग-द्वेष

पाय समै उपदेश यथारथ, राग विरोध तजै निज चाढैं।
नाहि वंधै तव कर्मसमूह जु, आप गहै परभावनि काढैं॥ १॥ छ॥

इहां तांई गाथा २८७ भई, कलशा १७९ भये॥ छ॥[१]

ऐसैं समयसार नाम ग्रंथ की आत्मख्याति नामा 'टीका की वचनिका विषै'[२] **बंध नामा सातमां अधिकार पूर्ण भया॥ छ॥**[३]

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

॥ सवैया इकतीसा॥

ज्यों नर कोय परे रज माहिं, सचिक्कण अंग लगे वह गाढ़े।
त्यों मतिहीन जु राग-विरोध[१], लिये विचरे तब बन्धन बाढ़े॥
पाय समय उपदेश यथारथ, राग-विरोध तजै निज चाढ़ै,
नाहिं बँधे तब कर्मसमूह जु, आप गहे परभावनि काढ़ै॥

[अर्थ – जैसे कोई व्यक्ति, अपने शरीर पर चिकनाई लगा कर मिट्टी से लिपटता है; उसी प्रकार मतिहीन व्यक्ति राग-द्वेषसहित विचरण करके कर्मों से बँधता है। जब समय पाकर, यथार्थ उपदेश को ग्रहण करके, राग-द्वेष का त्याग कर, निजात्मा में आरूढ़ होता है; तब कर्मसमूह से नहीं बँधता और निजस्वरूप को धारण करके परभावों से रहित हो जाता है।]

यहाँ तक २८७ गाथाएँ हुईं और १७९ कलश हुए।[४]

इस प्रकार [आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव प्रणीत] श्रीसमयसार नामक ग्रन्थ की [आचार्यश्री अमृतचन्द्रदेव विरचित] श्री आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका की [पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ाकृत] श्रीसमयसार वचनिका में सातवाँ 'बन्ध अधिकार' पूर्ण होता है।

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

१, ३, ४ व ५. यहाँ सम्पादन एवं एकरूपता की दृष्टि से अनुच्छेदों को आगे-पीछे किया है। २. *टीका विषैं* – 'अ' प्रति पाठ

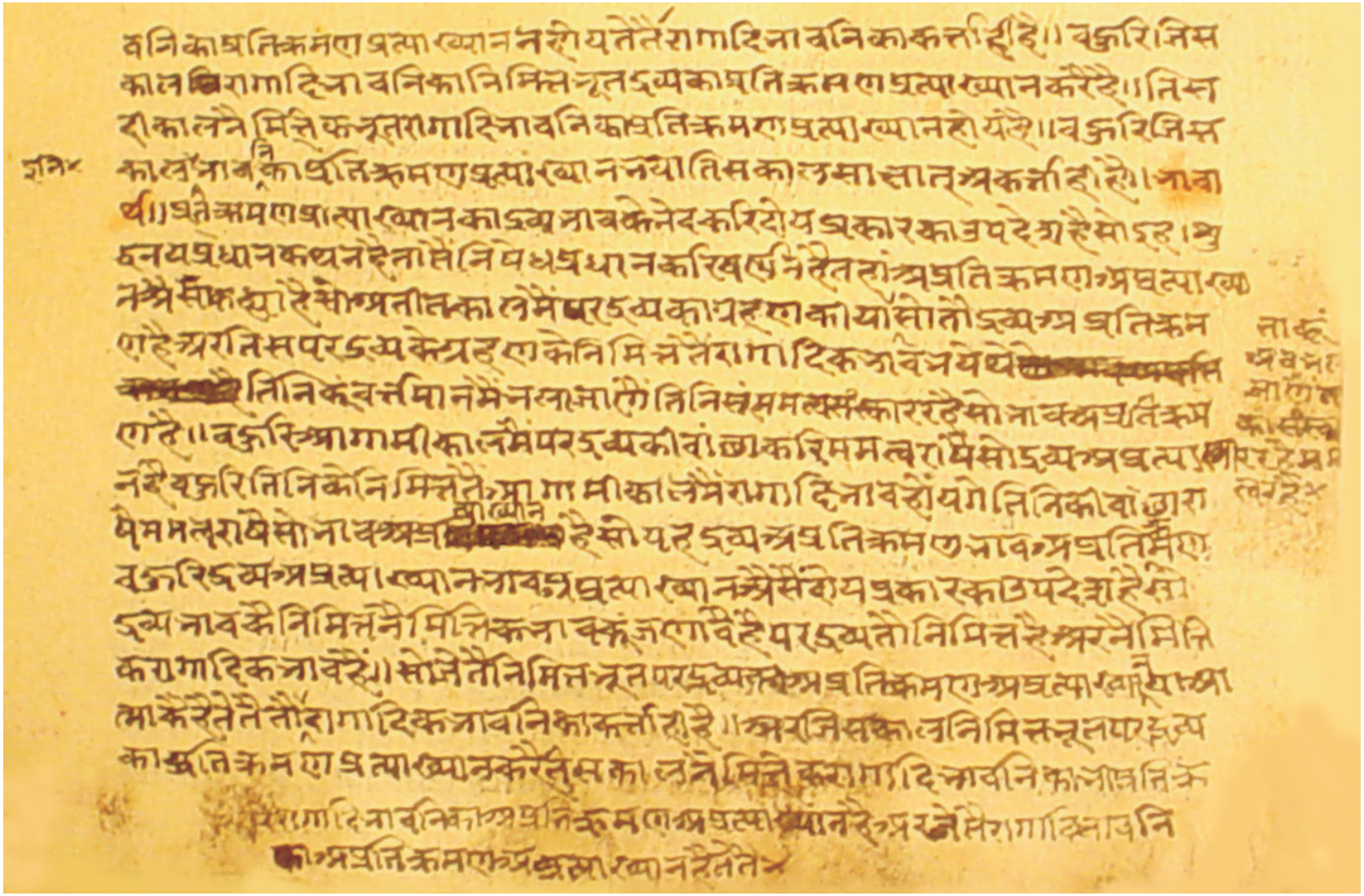

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १७७ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर बन्ध अधिकार की गाथा ४७-४९ (२८३-२८५) की टीका में प्रथम पंक्ति से ही लिखा है – **'वहुरि जिस काल रागादि भावनि का निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान करै है॥ तिस ही काल नैमित्तिकभूत रागादि भावनि का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान होय है॥'**

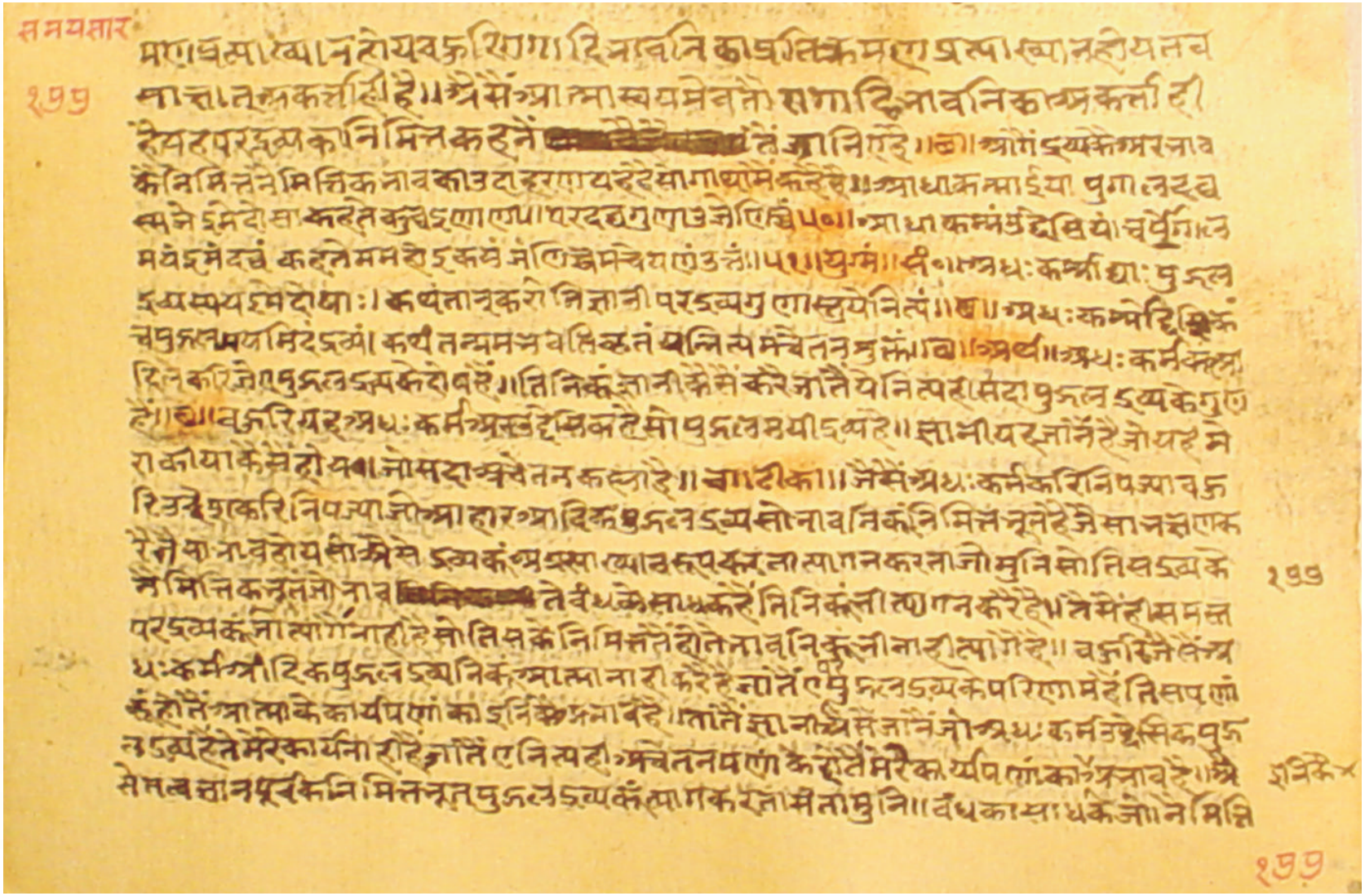

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १७७ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर बन्ध अधिकार की अन्तिम गाथा ५०-५१ (२८६-२८७) का प्रकरण है। इसमें नीचे की पंक्ति में लिखा है - '**अैसैं तत्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्य कूं त्याग करता संता मुनि,**

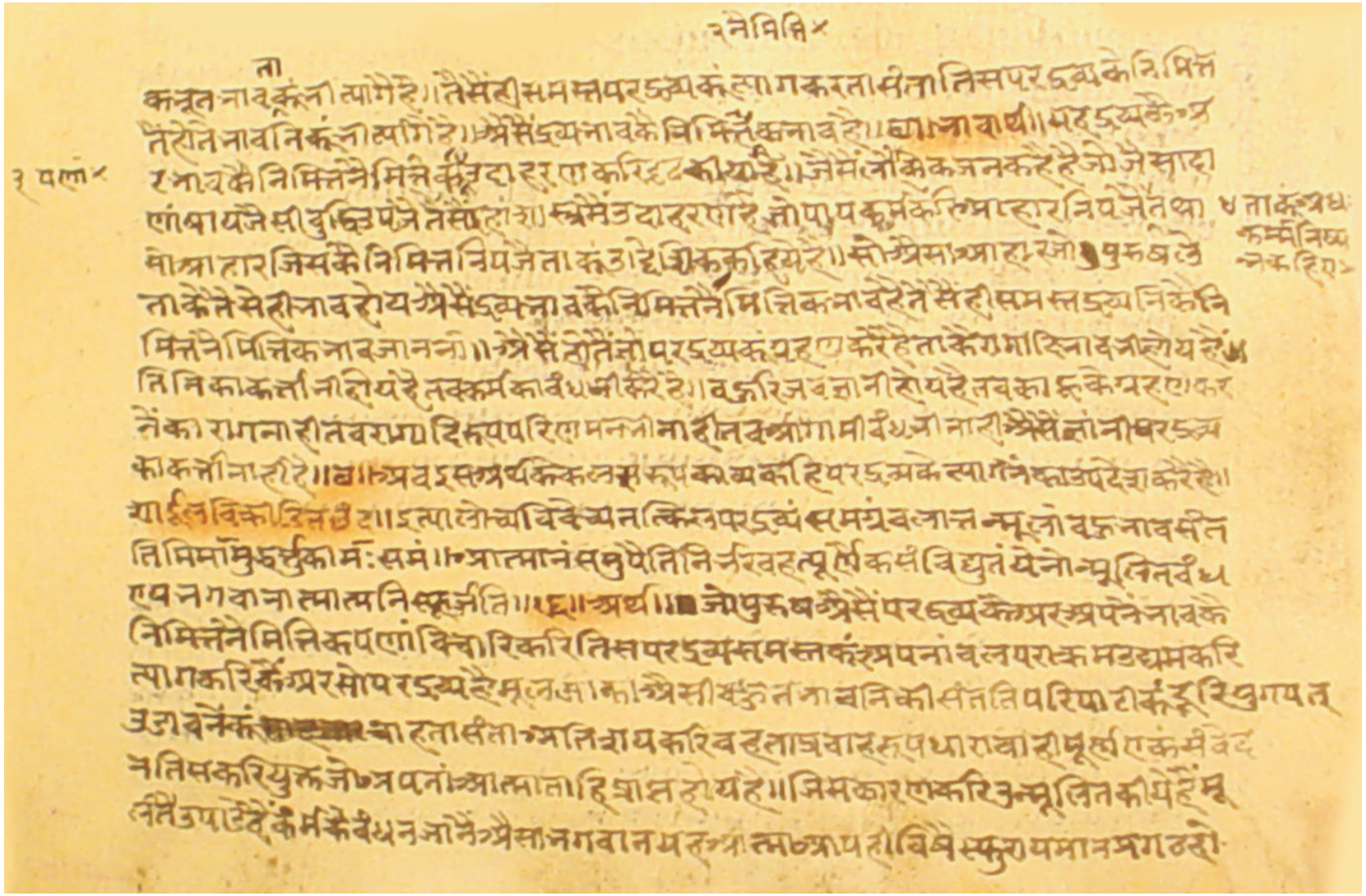

पृष्ठ-परिचय – यह पत्र क्रमाङ्क १७८ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर बन्ध अधिकार के अन्त में कलश १६ (१७८) में ऊपर से आठवीं पंक्ति में लिखा है – **'वहुरि जव ज्ञानी होय है, तव काहू के ग्रहण करनें का राग नाही, तव रागादिरूप परिणमन भी नाही, तव आगामी वंध भी नाही।'**

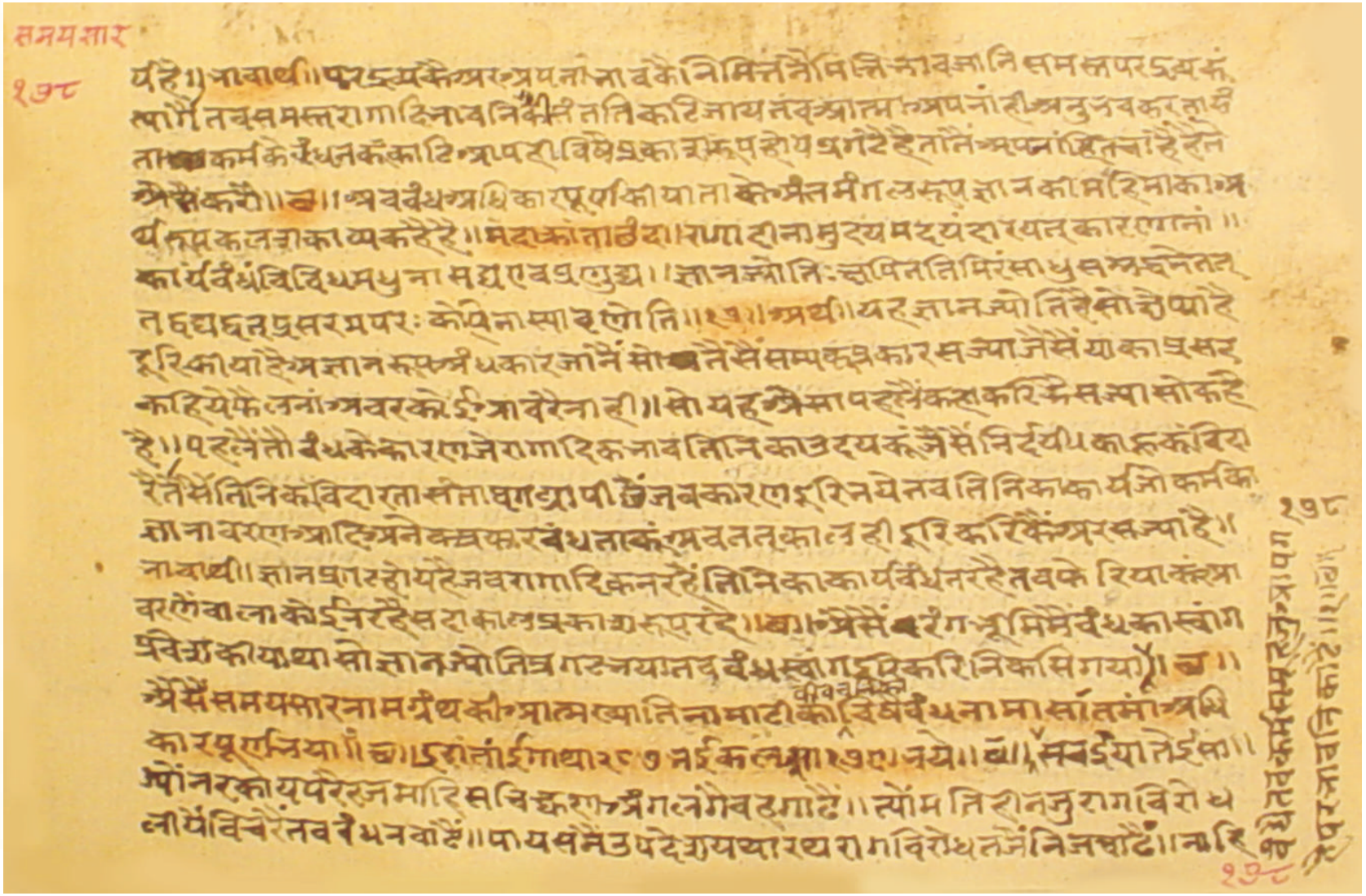

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १७८ का पिछला भाग है। यहाँ बन्ध अधिकार पूर्ण होता है। इस पृष्ठ पर नीचे 'सवैया तेईसा' छन्द में लिखा है – **'पाय समै उपदेश यथारथ, राग विरोध तजै निज चाढैं। नाहि वंधै तव कर्मसमूह जु, आप गहै परभावनि काढैं ॥ १ ॥ छ ॥'**

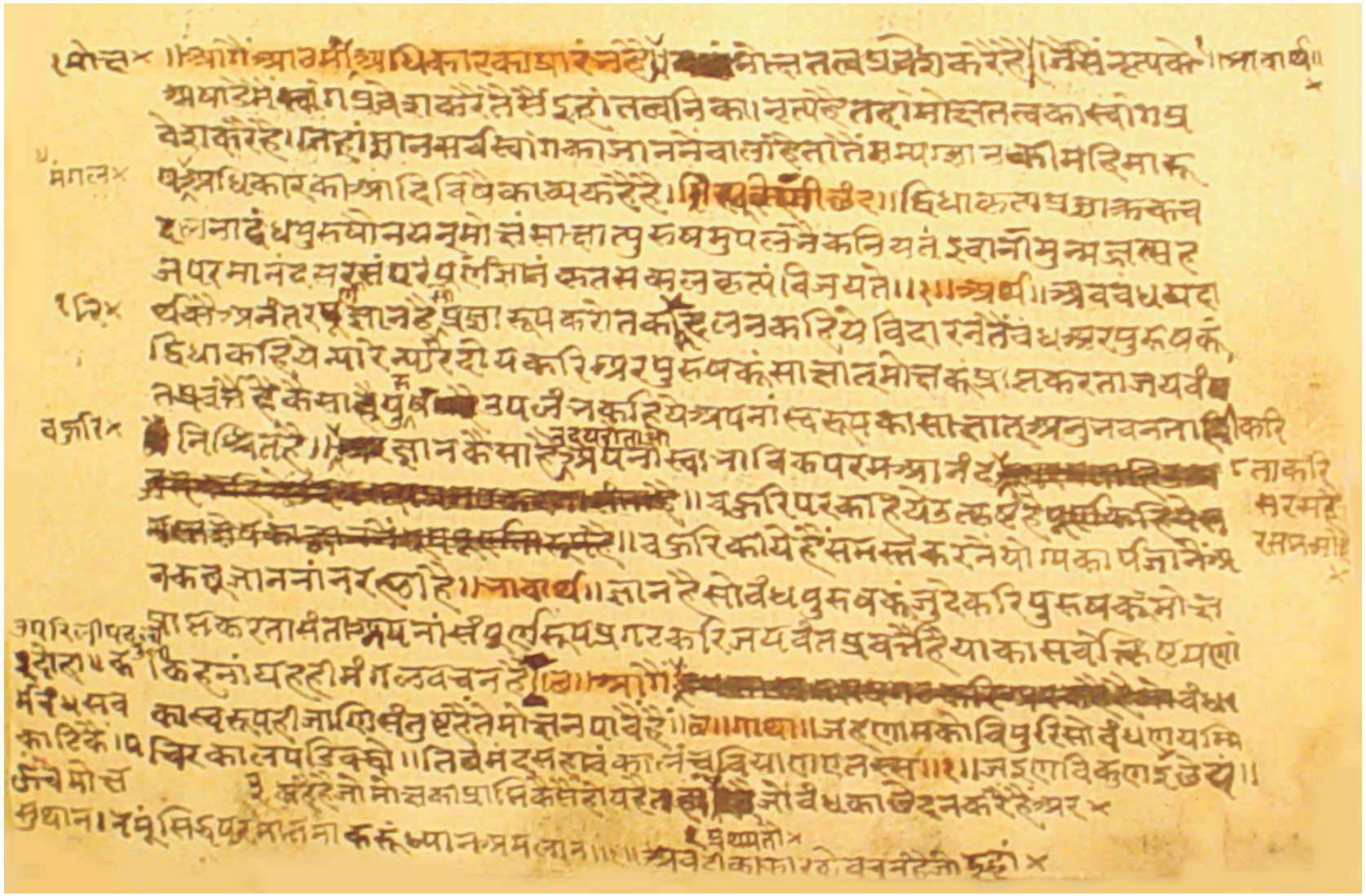

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १७९ का अगला भाग है। यहाँ से आठवाँ मोक्ष अधिकार प्रारम्भ होता है। इसमें मङ्गलसूचक 'दोहा' लिखा है – '**आगैं आठमां मोक्ष अधिकार का प्रारंभ है॥** ॥दोहा॥ **कर्मवंध सव काटि कैं, पहुंचे मोक्ष सुथान। नमूं सिद्ध**

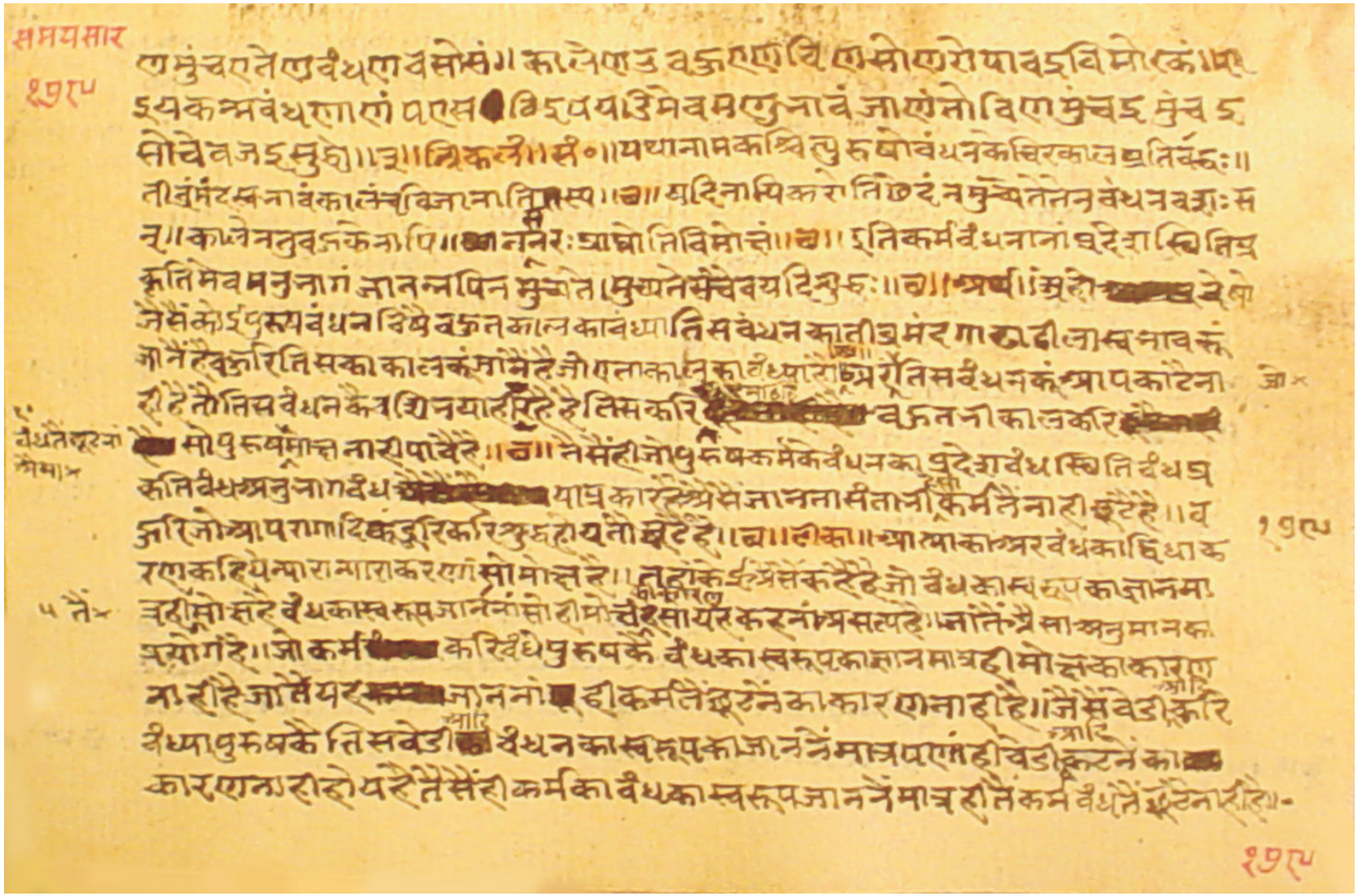

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १७९ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर मोक्ष अधिकार की प्रारम्भिक तीन गाथाओं में नीचे से नौवीं पंक्ति में लिखा है – **'तैसैं ही जो पुरुष, कर्म के वंधन का प्रदेशवंध स्थितिवंध प्रकृतिवंध अनुभागवंध, या प्रकार है, अैसैं जानता**

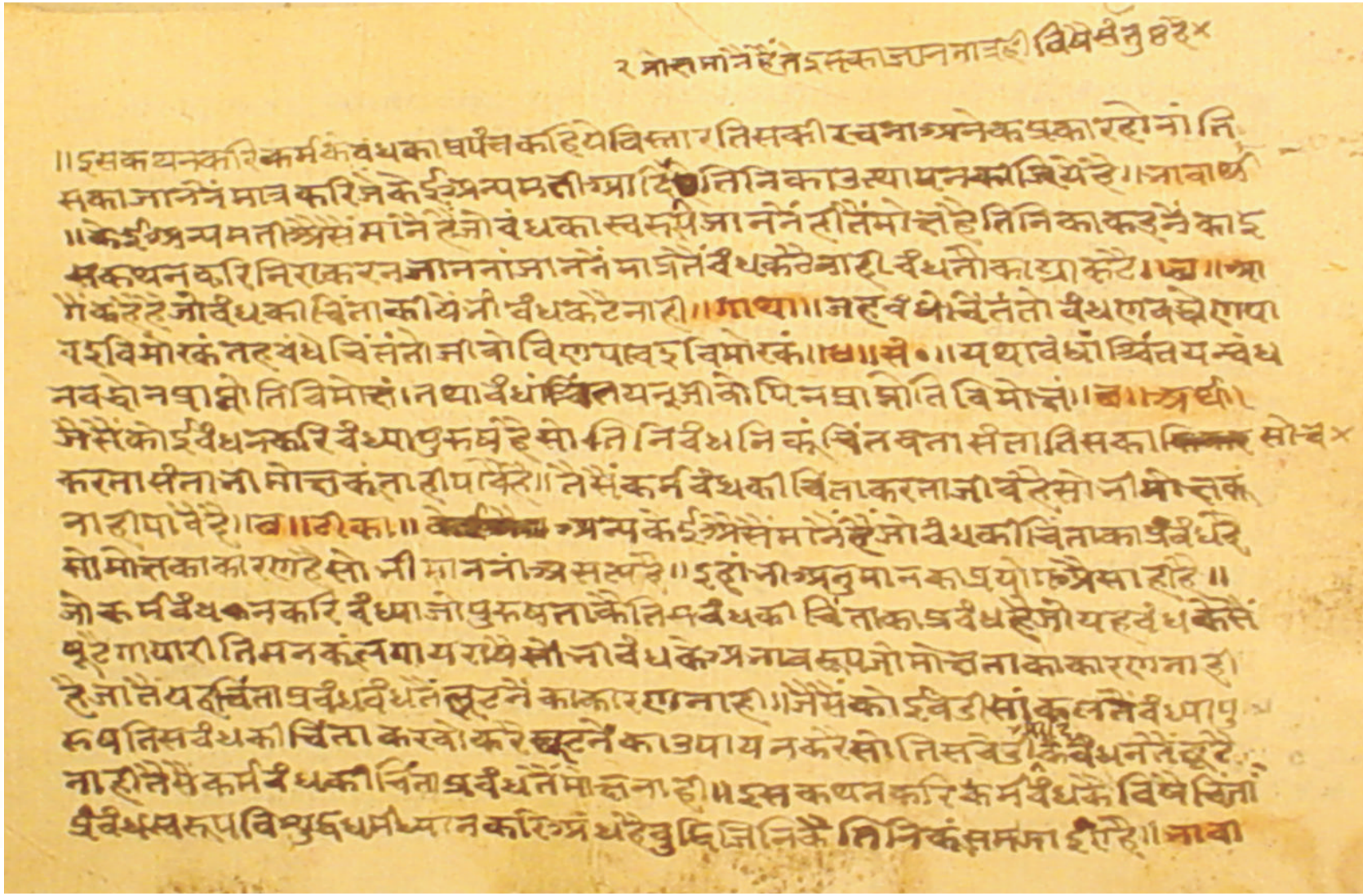

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १८० का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर इस अधिकार की चौथी गाथा में नीचे से दूसरी पंक्ति में लिखा है – **'कर्मवंध की चिंताप्रवंध तैं मोक्ष नाही॥ इस कथन करि कर्मवंध कै विषै चिंताप्रवंधस्वरूप विशुद्ध धर्मध्यान करि अंध है वुद्धि जिनिकी, तिनिकूं समझाइए हैं॥'**

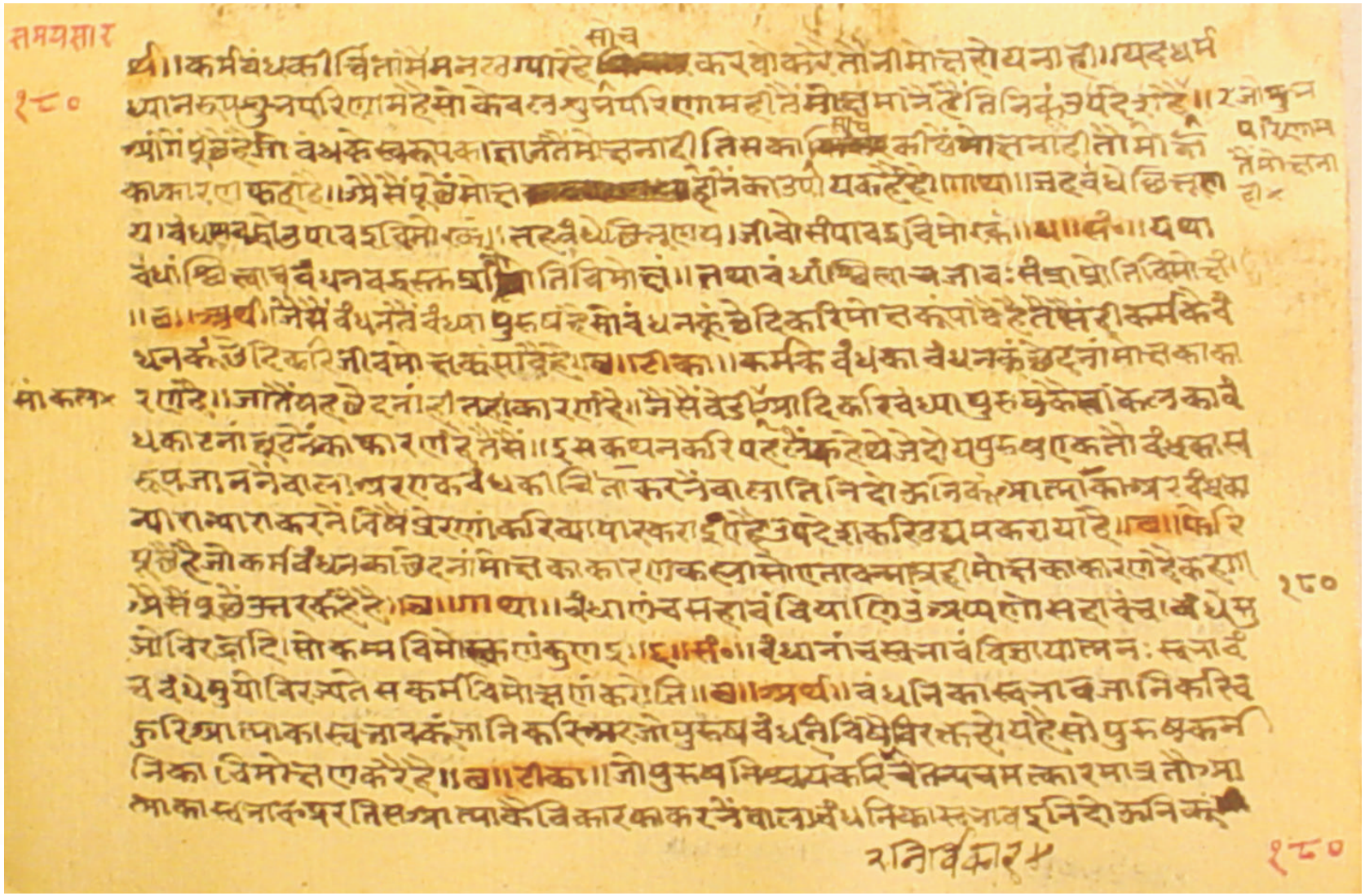

समयसार

१८०

थी॥ कर्मबंधकी चिंतामें मन लग्यारहै [redacted] करवो करै तौ नी मोक्ष होय नाही॥ यद धर्म
ध्यानरूप शुभपरिणाम है सो केवल शुभपरिणाम ही तैं मोक्ष मानै हैं तिनिकूं उपदेश है॥ २ जो शुभ
अंगिं पूछै है जो बंधके स्वरूपका ज्ञान तैं मोक्ष नाही तिसका [redacted] कीयें मोक्ष नाही तौ मोक्ष
का कारण कहा है॥ ऐसें पूछें मोक्ष [redacted] होनेका उपाय कहै है॥ गाथा॥ जद बंधे छित्तूण
य बंधणबद्धो उपावइ विमोक्खं॥ तह बंधे छित्तूणय जीवो सं पावइ विमोक्खं॥ ध॥ सं॥ यथा
बंधांश्छित्वा च बंधनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षं॥ तथा बंधांश्छित्वा च जीवः संप्राप्नोति विमोक्षं
॥ छ॥ अर्थ॥ जैसें बंधनतैं बंध्या पुरुष है सो बंधनकूं छेदि करि मोक्षकूं पावै है तैसें ही कर्मके बं
धनकूं छेदि करि जीव मोक्षकूं पावै है॥ छ॥ टीका॥ कर्मके बंधका बंधनकूं छेदनां मोक्षका का
रण है॥ जातैं यह छेदनां ही तहां कारण है॥ जैसें बेडी आदि करि बंध्या पुरुषके सांकलका बं
धकाटनां छूटनेंका कारण है तैसें॥ इस कथन करि पहलें कहे थे जे दोय पुरुष एक तौ बंधका स्व
रूप जाननेंवाला अर एक बंधकी चिंता करनेंवाला तिनि दोऊनिकूं आत्माका अर बंधका
न्यारा न्यारा करनें विषें प्रेरणा करि व्यापार कराई है उपदेश करि उद्यम कराया है॥ छ॥ फिरि
पूछै है जो कर्मबंधनका छेदनां मोक्षका कारण कह्या सो एतावन्मात्र ही मोक्षका कारण है कह्या
ऐसें पूछें उत्तर कहै है॥ छ॥ गाथा॥ बंधाणं च सहावं वियाणिउं अप्पणो सहावं च बंधेसु
जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणइ॥ ध॥ सं॥ बंधानां च स्वभावं विज्ञायात्मनः स्वभावं
च बंधेषु यो विरज्यते स कर्मविमोक्षणं करोति॥ छ॥ अर्थ॥ बंधनिका स्वभाव जानि करि बि
हुरि आत्माका स्वभावकूं जानि करि अर जो पुरुष बंधनि विषें विरक्त होय है सो पुरुष कर्म
निका विमोक्षण करै है॥ छ॥ टीका॥ जो पुरुष निश्चय करि चैतन्यचमत्कारमात्र तौ आ
त्माका स्वभाव अर तिस आत्माके विकारका करनेंवाला बंधनिका स्वभाव इनि दोऊनिकूं

२ निर्विकार ४

१८०

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १८० का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर मोक्ष अधिकार की गाथा ५ (२९२) के पूर्व दूसरी पंक्ति में ही शुभभाव से मोक्ष होने का निषेध करते हुए लिखा है – **'सो केवल शुभपरिणाम ही तैं मोक्ष मानैं हैं, तिनिकूं उपदेश है जो शुभपरिणाम तैं मोक्ष नाही॥'**

८

॥ मोक्ष अधिकार ॥

॥ आगैं, आठमां मोक्ष अधिकार का प्रारंभ है ॥

॥ दोहा ॥

कर्मवंध सव काटि कैं, पहुंचे मोक्ष सुथान।
नमूं सिद्ध परमातमा, करूं ध्यान अमलान॥ १ ॥

अव टीकाकार के वचन हैं जो इहां मोक्षतत्त्व प्रवेश करै है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ जैसैं नृत्य के अषाडे मैं स्वांग प्रवेश करै, तैसैं इहां तत्त्वनि का नृत्य है, तहाँ मोक्षतत्त्व का स्वांग प्रवेश करै है॥

तहां ज्ञान सर्व स्वांग का जाननेंवाला है, तातैं सम्यग्ज्ञान की महिमारूप मंगल, अधिकार की आदि विषै काव्य कहै है॥

अब, आठवाँ मोक्ष अधिकार, प्रारम्भ होता है —

कर्मबन्ध सब काट कर, पहुँचे मोक्ष सुथान।
नमूँ सिद्ध परमातमा, करूँ ध्यान अम्लान॥

[**अर्थ** – जो सर्व प्रकार के कर्मबन्ध को काट कर, मोक्ष जैसे उत्तम स्थान को प्राप्त कर चुके हैं; उन सिद्ध परमात्मा को मैं नमन करता हूँ और उनके समान उत्कृष्ट निर्मल ध्यान को धारण करता हूँ।]

अब, टीकाकार के वचन हैं कि यहाँ मोक्षतत्त्व प्रवेश करता है।

भावार्थ – जैसे, नृत्य के अखाड़े में स्वाँग प्रवेश करता है; उसी प्रकार यहाँ तत्त्वों के नृत्य [नाटक] में मोक्षतत्त्व का स्वाँग प्रवेश करता है।

वहाँ ज्ञान, सर्व स्वाँग को जाननेवाला है, इसलिए अधिकार के प्रारम्भ में सम्यग्ज्ञान की महिमारूप मङ्गल काव्य कहते हैं —

॥ शिखरिणी ॥

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ,
नयन् मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम्।
इदानीमुन्मज्जत् सहजपरमानन्दसरसं,
परं पूर्णज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते॥ १॥

॥ अर्थ॥ अव वंधपदार्थ कै अनंतर पूर्णज्ञान है सो प्रज्ञारूप करोत करि दलन कहिये विदारन तैं वंध अर पुरुष कूं द्विधा कहिये न्यारे न्यारे दोय करि अर पुरुष कूं साक्षात् मोक्ष कूं प्राप्त करता जयवंत प्रवर्त्तै है।

कैसा है पुरुष। उपलंभ कहिये अपनां स्वरूप का साक्षात् अनुभवन, ताही करि निश्चित है॥

वहुरि ज्ञान कैसा है। उदय होता जो अपनां स्वाभाविक परम आनंद, ता करि सरस है, रस भर्‌या है॥ वहुरि पर कहिये उत्कृष्ट है॥ वहुरि कीये हैं समस्त करनें योग्य कार्य जानैं, अव कछू जाननां न रह्या है।

॥ भावार्थ॥ ज्ञान है सो वंध पुरुष कूं जुदे करि, पुरुष कूं मोक्ष प्राप्त करता संता, अपनां संपूर्णरूप प्रगट करि जयवंत प्रवर्त्तै है, याका सर्वोत्कृष्टपणां कहनां, यह ही मंगल वचन है॥ छ॥

॥ हरिगीतिका ॥

निज आत्मा अरु बन्ध को, कर पृथक् प्रज्ञा-छैनी से।
सद्ज्ञानमय निज आत्म को, कर सरस परमानन्द से॥
उत्कृष्ट है कृतकृत्य है, परिपूर्णता को प्राप्त है।
प्रगटित हुई वह ज्ञानज्योति, जो स्वयं में व्याप्त है॥ १८०॥

अर्थ – बन्धपदार्थ का वर्णन करने के पश्चात्, अब प्रज्ञारूपी करवत के द्वारा **दलन** अर्थात् विदीर्ण करके बन्ध और पुरुष को द्विधा अर्थात् अलग-अलग करके, साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करता हुआ पूर्ण ज्ञान, जयवन्त प्रवर्तता है

कैसा है पुरुष? – उपलम्भ अर्थात् अपने स्वरूप के साक्षात् अनुभव के द्वारा जो निश्चित है, नियत है।

कैसा है ज्ञान? – उदित हुए अपने स्वाभाविक परमानन्द से जो सरस है, रस से भरपूर है। पर अर्थात् उत्कृष्ट है और जिसने समस्त करने योग्य कार्य कर लिये हैं, जिसे अब कुछ भी जानना शेष नहीं रहा है।

भावार्थ – जो ज्ञान है, वह बन्ध और पुरुष को अलग करके, पुरुष को मोक्ष प्राप्त कराता हुआ, अपना सम्पूर्ण स्वरूप प्रगट करके जयवन्त प्रवर्तता है। यहाँ, इसका सर्वोत्कृष्टपना कहना ही

आगैं कहै है जो मोक्ष की प्राप्ति कैसैं होय है। तहां प्रथम तौ, जो वंध का छेद न करैं हैं अर वंध का स्वरूप ही जाणि संतुष्ट हैं, ते मोक्ष न पावै हैं॥ छ॥

जह णाम को वि पुरिसो, बंधणयम्मि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंदसहावं, कालं च वियाणए तस्स॥ १॥
जइ ण वि कुणइच्छेयं, ण मुच्चए[१] तेण बंधणवसो सं।
कालेण उ बहुएण वि, ण सो णरो पावइ विमोक्खं॥ २॥
इय कम्मबंधणाणं, पएसठिइपयडिमेवमणुभावं।
जाणंतो वि ण मुच्चइ, मुच्चइ[२] सो चेव जइ सुद्धो॥ ३॥

॥ त्रिकलं॥

यथा नाम कश्चित्पुरुषो, बन्धनके चिरकालप्रतिबद्धः।
तीव्रं मन्दस्वभावं, कालं च विजानाति तस्य॥ छ॥

मङ्गल वचन (माङ्गलिक या मङ्गलाचरण) है।

अब, मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है? – यह कहते हैं। वहाँ, सबसे पहले कहते हैं कि जो बन्ध का छेदन तो करते नहीं हैं और बन्ध के स्वरूप को ही जान कर सन्तुष्ट हैं, वे मोक्ष को प्राप्त नहीं होते हैं —

जह णाम को वि पुरिसो, बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंद सहावं, कालं च वियाणदे तस्स॥ २८८॥
जइ ण वि कुणदिच्छेदं, ण मुच्चदे तेण बंधणवसो सं।
कालेण उ बहुगेण वि, ण सो णरो पावदि विमोक्खं॥ २८९॥
इय कम्मबंधणाणं, पदेसठिदिपयडिमेवमणुभागं[३]।
जाणंतो वि ण मुच्चदि, मुच्चदि सो चेव जदि सुद्धो[४]॥ २९०॥

१-२. *मुंचए / मुंचदि, मुंचदि* - 'अ' प्रति एवं तात्पर्यवृत्ति पाठ

३. *पदेसपयडिट्ठिदीय अणुभागं* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्दभारती एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ

४. *मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो* - तात्पर्यवृत्ति, कुन्दकुन्द भारती एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ एवं
मुंचदि सव्वे जदि स बंधे - तात्पर्यवृत्ति में पाठान्तर का उल्लेख

यदि नाऽपि करोति छेदं, न मुच्यते तेन बन्धनवशः सन्।
कालेन तु बहुकेनाऽपि, न स नरः प्राप्नोति विमोक्षम्॥ छ॥
इति कर्मबन्धनानां, प्रदेशस्थितिप्रकृतिमेवमनुभागम्।
जानन्नपि न मुच्यते, मुच्यते स चैव यदि शुद्धः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ अहो देषो, जैसैं कोई पुरुष, वंधन विषै वहुत काल का वंध्या, तिस वंधन का तीव्र मंद, गाढा ढीला स्वभाव कूं जानैं है। वहुरि तिस का काल कूं जानैं है जो एता काल का वंध्या है॥ छ॥

अर जो तिस वंधन कूं आप काटै नाही है तौ तिस वंधन कै वशि भया ही रहै है, तिस करि छूटै नाही है। वहुत भी काल करि सो पुरुष वंध तैं छूटनां, अैसा मोक्ष नाही पावै है॥ छ॥

तैसैं ही जो पुरुष, कर्म के वंधन का प्रदेशवंध स्थितिवंध प्रकृतिवंध अनुभागवंध, या प्रकार है, अैसैं जानता संता 'है सो भी'[१] कर्म तैं नाही छूटै है॥ वहुरि जो आप रागादि कूं दूरि करि शुद्ध होय तौ छूटै है॥ छ॥

॥ टीका॥ आत्मा का अर वंध का द्विधाकरण कहिये न्यारा न्यारा करणां सो मोक्ष है॥ तहां

ज्यों पुरुष कोई बन्धनों में, बद्ध है चिरकाल का।
वह तीव्र-मन्द स्वभाव त्यों ही, काल जाने बन्ध का॥ २८८॥
पर जो करे नहिं छेद तो, छूटे न, बन्धनवश रहे।
अरु काल बहुत ही जाय तो भी, मुक्त वह नर नहिं बने॥ २८९॥
त्यों कर्म-बन्धन के प्रकृति, प्रदेश स्थिति अनुभाग को।
जाने भले छूटे न जीव, जो शुद्ध वह ही मुक्त हो॥ २९०॥

अर्थ – अहो देखो! जिस प्रकार कोई पुरुष, बहुत काल से बन्धन में बँधा हुआ, उस बन्धन के तीव्र-मन्द या प्रगाढ़-शिथिल स्वभाव को जानता है और उसके काल को जानता है कि इतने काल से वह बन्धन में बँधा है॥ २८८॥

लेकिन यदि वह उस बन्धन को स्वयं काटे नहीं तो उस बन्धन के वश बना ही रहता है; उससे छूटता नहीं है और इस तरह बहुत काल तक भी वह पुरुष, बन्ध से छूटनेरूप मोक्ष को प्राप्त नहीं करता है॥ २८९॥

उसी प्रकार कोई पुरुष, कर्मबन्ध के प्रदेशबन्ध, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध – इन चार भेदों को जानता हुआ भी कर्म से नहीं छूटता है। यदि वह स्वयं रागादि को दूर करके शुद्ध होता है तो छूट जाता है॥ २९०॥

टीका – आत्मा और बन्ध का द्विधाकरण अर्थात् उनको अलग-अलग करना ही मोक्ष है। कोई

---

१. *भी है सो* - 'अ' प्रति पाठ

केई अैसैं कहै है जो वंध का स्वरूप का ज्ञानमात्र ही तैं मोक्ष है, वंध का स्वरूप जाननां सो ही मोक्ष का कारण है सो यह कहनां असत्य है॥ जातैं अैसा अनुमान का प्रयोग है जो कर्म करि वंधे पुरुष कै वंध का स्वरूप का ज्ञानमात्र ही मोक्ष का कारण नाही है, जातैं यह जाननां ही कर्म तैं छूटनें का कारण नाही है॥ जैसैं वेडी आदि करि वंध्या पुरुष कै तिस वेडी आदि वंधन का स्वरूप का जाननें मात्रपणां ही वेडी आदि कटनें का कारण नाही होय है, तैसैं ही कर्म का वंध का स्वरूप जाननें मात्र ही तैं कर्मवंध तैं छूटै नाही है॥

इस कथन करि कर्म के वंध का प्रपंच कहिये विस्तार तिसकी रचना अनेक प्रकार होनां, तिसका जाननें मात्र करि जे केई अन्यमती आदि मोक्ष मानै हैं, ते इसका ज्ञानमात्र ही विषै संतुष्ट हैं, तिनिका उत्थापन कीजिये है॥

॥ भावार्थ॥ केई अन्यमती अैसैं मानैं हैं जो वंध का स्वरूप जाननें ही तैं मोक्ष है, तिनिका कहनें का इस कथन करि निराकरन जाननां, जाननें मात्र तैं वंध कटै नाही, वंध तौ काट्या कटै॥ छ॥

आगैं कहै है जो वंध की चिंता कीयें भी वंध कटै नाही॥

जह बंधे चिंतंतो, बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो, जीवो वि ण पावइ विमोक्खं॥ ४॥

ऐसा कहते हैं कि बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र करने से ही मोक्ष होता है अर्थात् बन्ध का स्वरूप जानना ही मोक्ष का कारण है परन्तु यह कहना असत्य है क्योंकि वहाँ ऐसा अनुमान का प्रयोग होता है कि ''कर्म से बँधे हुए पुरुष को बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र ही मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि यह जानना ही कर्म से छूटने का कारण नहीं है। जिस प्रकार बेड़ी आदि से बँधे हुए पुरुष को उस बेड़ी आदि बन्धन के स्वरूप का जानना मात्र ही बेड़ी आदि कटने का कारण नहीं है; उसी प्रकार कर्म के बन्ध के स्वरूप को जानने मात्र से ही कर्म-बन्धन से छुटकारा नहीं होता है।''

इस कथन से जो कोई अन्य मतावलम्बी आदि, कर्म-बन्ध का प्रपञ्च अर्थात् उसका विस्तार, उसकी रचना अनेक प्रकार से होना आदि के जानने मात्र से मोक्ष का होना मानते हैं और वे इसके ज्ञानमात्र ही में सन्तुष्ट होते हैं, अत: यहाँ उनका उत्थापन (खण्डन) किया जाता है।

भावार्थ – कुछ अन्य मतावलम्बी ऐसा मानते हैं कि बन्ध के स्वरूप को जानने से ही मोक्ष होता है, उनका इस कथन के द्वारा निराकरण जानना चाहिए क्योंकि जानने मात्र से बन्ध नहीं कटता; बन्ध तो उसे काटने से कटता है।

अब कहते हैं कि बन्ध की चिन्ता करने से भी बन्ध नहीं कटता है —

जह बंधे चिंतंतो, बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो, जीवो वि ण पावदि विमोक्खं॥ २९१॥

यथा बन्धांश्चिन्तयन् बन्धनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षम्।
तथा बन्धांश्चिन्तयन्, जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं कोई वंधन करि वंध्या पुरुष है सो तिनि वंधनि कूं चिंतवता संता, तिस का सोच[१] करता संता भी मोक्ष कूं नाही पावै है॥ तैसैं कर्मवंध की चिंता करता जीव है सो भी मोक्ष कूं नाही पावै है॥ छ॥

॥ टीका॥ अन्य केई अैसैं मानैं हैं जो वंध की चिंता का प्रवंध है सो मोक्ष का कारण है सो भी माननां असत्य है॥ इहां भी अनुमान का प्रयोग अैसा ही है जो कर्मवंधन करि वंध्या जो पुरुष, ताकै तिस वंध की चिंता का प्रवंध है जो यह वंध कैसैं छूटैगा, या रीति मन कूं लगाय राषै सो भी वंध के अभावरूप जो मोक्ष, ताका कारण नाही है, जातैं यह चिंताप्रवंध, वंध तैं छूटनें का कारण नाही॥ जैसैं कोई वेडी सांकल तैं वंध्या पुरुष, तिस वंध की चिंता करवो करै, छूटनें का उपाय न करै सो तिस वेडी आदि के वंधन तैं छूटै नाही। तैसैं कर्मवंध की चिंताप्रवंध तैं मोक्ष नाही॥

इस कथन करि कर्मवंध कै विषै चिंताप्रवंधस्वरूप विशुद्ध धर्मध्यान करि अंध है वुद्धि जिनिकी, तिनिकूं समझाइए हैं॥

॥ भावार्थ॥ कर्मवंध की चिंता मैं मन लग्या रहै, सोच[२] करवो करै तौ भी मोक्ष होय नाही॥

ज्यों बन्धनों से बद्ध नर, नहिं बन्ध-चिन्ता से छुटे।
त्यों जीव भी इस बन्ध की, चिन्ता करे से नहिं छुटे॥ २९१॥

अर्थ – जिस प्रकार कोई बन्धन से बँधा पुरुष, उन बन्धनों का चिन्तन करता हुआ, उसका विचार करता हुआ, मोक्ष को प्राप्त नहीं होता है; उसी प्रकार कर्मबन्ध की चिन्ता करता हुआ जीव भी, मोक्ष को प्राप्त नहीं होता है॥ २९१॥

टीका – कुछ अन्य व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि बन्ध-चिन्ता का प्रबन्ध (निरन्तरता) ही मोक्ष का कारण है परन्तु यह मानना भी असत्य है क्योंकि यहाँ भी अनुमान का प्रयोग ऐसा ही है कि ''कर्म-बन्धन से बँधे हुए पुरुष को उस बन्ध की निरन्तर चिन्ता रहती है कि यह बन्ध कैसे छूटेगा? इस प्रकार वह मन को उसी में लगाए रखता है तो वह चिन्ता भी बन्धन के अभावरूप मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि यह चिन्ता की निरन्तरता बन्ध से छूटने का कारण नहीं है। जिस प्रकार कोई बेड़ी अर्थात् साँकल से बँधा हुआ पुरुष, उस बन्ध की चिन्ता करता रहे और उससे छूटने का उपाय न करे तो भी वह उस बेड़ी आदि के बन्धन से छूटता नहीं है; इसी प्रकार कर्म-बन्ध की निरन्तर चिन्ता से मोक्ष नहीं होता है।''

इस कथन से कर्मबन्ध के विषय में चिन्ता की निरन्तरतास्वरूप विशुद्ध धर्मध्यान के कारण जिनकी बुद्धि अन्ध है, उन्हें समझाया है।

१-२. *शोच* - 'ब' प्रति पाठ

यह धर्मध्यानरूप शुभपरिणाम है सो केवल शुभपरिणाम ही तैं मोक्ष मानैं हैं, तिनिकूं उपदेश है जो शुभपरिणाम तैं मोक्ष नाही॥

आगैं पूछै है जो वंध के स्वरूप का ज्ञान तैं मोक्ष नाही, तिसका सोच[१] कीयें मोक्ष नाही तौ मोक्ष का कारण कहा है॥ अैसैं पूछें मोक्ष होनें का उपाय कहै है॥

जह बंधे छित्तूण य, बंधणबद्धो उ पावइ विमोक्खं।
तह बंधे छित्तूण य, जीवो संपावइ विमोक्खं॥ ५॥

यथा बन्धांश्छित्वा च, बन्धनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षम्।
तथा बन्धांश्छित्वा च, जीवः सम्प्राप्नोति विमोक्षम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं वंधन तैं वंध्या पुरुष है सो वंधन कूं छेदि करि मोक्ष कूं पावै है, तैसैं ही कर्म के वंधन कूं छेदि करि जीव मोक्ष कूं पावै है॥ छ॥

॥ टीका॥ कर्म के वंध का वंधन कूं छेदनां, मोक्ष का कारण है॥ जातैं यह छेदनां ही तहां कारण है॥ जैसैं वेडी सांकल आदि करि वंध्या पुरुष कै सांकल का वंध काटनां, छूटनें का कारण है तैसैं॥ इस कथन करि पहलैं कहे थे जे दोय पुरुष, एक तौ वंध का स्वरूप जाननेंवाला अर एक

भावार्थ – यदि कोई कर्मबन्ध की चिन्ता में मन लगाये रहे, [निरन्तर] सोच-विचार करता रहे तो भी उसे मोक्ष नहीं होता है क्योंकि यह तो धर्मध्यानरूप शुभपरिणाम है; अतः जो केवल शुभपरिणाम ही से मोक्ष मानते हैं, उनको यह उपदेश है कि शुभपरिणाम से मोक्ष नहीं होता है।

अब पूछते हैं कि यदि बन्ध के स्वरूप का ज्ञान करने से, उसका विचार करने से भी मोक्ष नहीं होता है तो मोक्ष का कारण क्या है? - ऐसा पूछने पर मोक्ष का उपाय बताते हैं —

जह बंधे छेत्तूण[२] य, बंधणबद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे छेत्तूण[३] य, जीवो संपावदि विमोक्खं॥ २९२॥

जो बन्धनों से बद्ध वह नर, बन्ध-छेदन से छुटे।
त्यों जीव भी इन बन्धनों का, छेद कर मुक्ति वरे॥ २९२॥

अर्थ – जिस प्रकार बन्धन में बँधा हुआ पुरुष, बन्धन को छेद कर मोक्ष को प्राप्त करता है; उसी प्रकार कर्म-बन्ध को छेद कर जीव, मोक्ष को प्राप्त करता है॥ २९२॥

टीका – कर्म-बन्ध के बन्धन को छेदना, मोक्ष का कारण है क्योंकि यह छेदना ही वहाँ कारण है; जैसे, बेड़ी या साँकल आदि से बँधे पुरुष को साँकल का बन्धन काटना ही छूटने का कारण है।

---

१. *शोच* - 'ब' प्रति पाठ

२-३. *मुत्तूण* - तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ

वंध की चिंता करनेंवाला, तिनि दोऊनि कूं आत्मा का अर वंध का न्यारा न्यारा करनें विषैं प्रेरणा करि व्यापार कराइए है, उपदेश करि उद्यम कराया है॥ छ॥

फेरि पूछै है जो कर्मवंधन का छेदनां, मोक्ष का कारण कह्या सो एतावान्मात्र ही मोक्ष का कारण है कहा॥ अैसैं पूछें उत्तर कहै है॥

बंधाणं च सहावं, वियाणिउं अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि, सो कम्मविमोक्खणं कुणइ॥ ६॥

बन्धानां च स्वभावं, विज्ञायाऽत्मनः स्वभावं च।
बन्धेषु यो विरज्यते, स कर्मविमोक्षणं करोति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ वंधनि का स्वभाव जानि करि वहुरि आत्मा का स्वभाव कूं जानि करि अर जो पुरुष वंधनि विषै विरक्त होय है सो पुरुष कर्मनि का विमोक्षण करै है॥ छ॥

॥ टीका॥ जो पुरुष निश्चय करि निर्विकार चैतन्यचमत्कार मात्र तौ आत्मा का स्वभाव अर तिस आत्मा कै विकार का करनेंवाला वंधनि का स्वभाव, इनि दोऊनि कूं विशेष करि जानि करि अर तिनि वंधनि तैं विरक्त होय है सो ही पुरुष समस्त कर्म का मोक्ष कूं करै है॥

इस कथन से पूर्व कथित दो प्रकार के पुरुष – एक तो बन्ध के स्वरूप को जाननेवाला और दूसरा बन्ध की चिन्ता करनेवाला – इन दोनों को आत्मा और बन्ध को अलग-अलग करने की प्रेरणा देकर व्यापार कराया है अर्थात् उपदेश देकर उद्यम कराया है।

अब, पुनः प्रश्न है कि कर्म-बन्धन के छेदने को मोक्ष का कारण कहा है तो क्या मात्र इतना ही मोक्ष का कारण है? – ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं —

बंधाणं च सहावं, वियाणिदुं अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि[1], सो कम्मविमोक्खणं कुणदि॥ २९३॥

रे! जान कर बन्धन-स्वभाव, स्वभाव जान जु आत्म का।
जो बन्ध से ही विरक्त होवें, कर्म-मोक्ष करें अहा॥ २९३॥

अर्थ – जो पुरुष, बन्ध का स्वभाव और आत्मा का स्वभाव, दोनों को जान कर, बन्धन से विरक्त होते हैं; वे पुरुष, कर्मों का क्षय करते हैं॥ २९३॥

टीका – जो पुरुष, निश्चय से निर्विकार चैतन्य-चमत्कार मात्र आत्मा के स्वभाव और उस आत्मा में विकार को करनेवाले बन्धन के स्वभाव, दोनों को भलीभाँति जान कर, उस बन्ध से विरक्त

---

१. *ण रज्जदि* – तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ

इस कथन करि आत्मा का अर वंध का न्यारा न्यारा द्विधा करणें कै मोक्ष का कारणपणां का नियम कीया है॥ दोऊ का न्यारा न्यारा करणां ही मोक्ष का कारण नियम करि है, अैसैं नियम करि कह्या है॥ छ॥

आगैं फेरि पूछै है जो आत्मा अर वंध, ए दोऊ किस करि द्विधा कहिये न्यारे कीजिये॥ अैसैं पूछें उत्तर कहै है॥

जीवो बंधो य तहा, छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण उ, छिण्णा णाणत्तमावण्णा॥ ७॥

जीवो बन्धश्च तथा, छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम्।
प्रज्ञाछेदनकेन तु, छिन्नौ नानात्वमापन्नौ॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जीव अर वंध, दोऊ अपनें अपनें निश्चित स्वलक्षणनि करि वुद्धिरूपी छैंनी करि तैसैं छेदिये, जैसैं छेदे हुये, नानापणां कूं प्राप्त होय जाय, न्यारे न्यारे होय जाय॥ छ॥

॥ टीका॥ आत्मा अर वंध का द्विधाकरण कहिये न्यारा न्यारा करनां नामा जो कार्य, ता विषै

होता है, वही पुरुष समस्त कर्मों का मोक्ष करता है।

इस कथन से आत्मा और बन्ध, दोनों को अलग-अलग करने से, मोक्ष होने के कारणपने का नियम कहा है अर्थात् दोनों को अलग-अलग करना ही नियम से मोक्ष का कारण है – ऐसा नियम बताया गया है।

अब, पुनः पूछते हैं कि आत्मा और बन्ध, इन दोनों को दो भागों में अर्थात् अलग-अलग किस प्रकार किया जाता है? - ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं —

जीवो बंधो य तहा, छिज्जंति सलक्खणेहिं णियदेहिं[1]।
पण्णाछेदणएण दु, छिण्णा णाणत्तमावण्णा॥ २९४॥

छेदन करो जीव-बन्ध का तुम, नियत निज-निज चिह्न से।
अरु प्रज्ञा-छैनी से छेदते, दोनों पृथक् हो जाय हैं॥ २९४॥

अर्थ – जीव और बन्ध, दोनों को अपने-अपने निश्चित स्वलक्षणों से प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा उस प्रकार छेदते हैं, जिस प्रकार छेदने पर वे दोनों नानापने को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् अलग-अलग हो जाते हैं॥ २९४॥

टीका – आत्मा और बन्ध को दो भागों में विभाजित करने अर्थात् अलग-अलग करने के

---

१. *णियदेहिं* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

करनेंवाला जो कर्त्ता आत्मा, ताकै करण का विचार कीजिये, तव निश्चयनय थकी आप तैं न्यारा करण नामा कारक का तौ असंभव है। तातैं भगवती कहिये ज्ञानस्वरूप जो प्रज्ञा वुद्धि सो ही छेदनस्वरूप करण है, तिस प्रज्ञा ही करि ते दोऊ आत्मा अर वंध छेदे हुये नानापणां कूं अवश्य प्राप्त होय हैं, अवश्य न्यारे न्यारे होय जाय हैं॥ तातैं प्रज्ञा ही करि आत्मा अर वंध का न्यारा न्यारा करनां है॥

इहां प्रश्न है जो आत्मा अर वंध, ए दोऊ तौ चेत्यचेतकभाव करि अत्यंत प्रत्यासत्ति कहिये निकटता करि एकसे होय रहे हैं॥ आत्मा तौ चेतक है अर वंध चेत्य है सो दोऊ एकरूप भये अनुभव मैं आवैं हैं॥ सो भेदविज्ञान के अभाव तैं एक चेतक की ज्यों व्यवहार मैं प्रवर्त्तते देषिये हैं, ते प्रज्ञा करि कैसैं छेदनें कूं समर्थ हूजिये॥

ताका समाधान आचार्य करै है जो हम अैसैं जानैं हैं॥ आत्मा अर वंध का निश्चित स्वलक्षण की सूक्ष्म जो अंतःसंधि कहिये अंतरंग की मिली हुई संधि, ता विषै इस प्रज्ञाछैंनी कूं सावधान होय करि पटकनें तैं दोऊ न्यारे न्यारे होय जाय हैं॥

तहां आत्मा का तो निजलक्षण निश्चय करि समस्त अन्य द्रव्यनि तैं असाधारणपणां तैं[१], अन्य मैं न पाइए, अैसा चैतन्य है॥ सो यह चैतन्य स्वलक्षण है सो प्रवर्त्तता संता जिस जिस पर्याय कूं व्याप्य करि प्रवर्त्तै है, वहुरि निवृत्त होता[२] संता जिस जिस पर्याय कूं ग्रहण करि निवृत्त होय है सो सो समस्त

कार्य में करनेवाला कर्ता, आत्मा है। यदि उस कार्य के करण का विचार किया जाए तो निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा से भिन्न करण नामक कारक तो असम्भव है; इसलिए भगवती अर्थात् ज्ञानस्वरूप प्रज्ञा या बुद्धि ही छेदनस्वरूप करण है, उस प्रज्ञा ही से छेदे हुए, वे दोनों अर्थात् आत्मा और बन्ध भिन्नपने को अवश्य प्राप्त होते हैं, अर्थात् अवश्य पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। इस प्रकार प्रज्ञा ही से आत्मा और बन्ध को अलग-अलग करना होता है।

यहाँ **प्रश्न** है कि आत्मा और बन्ध, ये दोनों तो चेत्य-चेतकभाव के कारण अत्यन्त घनिष्ठता अर्थात् निकटता होने से एक समान हो रहे हैं। आत्मा तो चेतक है और बन्ध चेत्य है; अतः ये दोनों एकरूप हुए के समान अनुभव में आते हैं। भेदविज्ञान के अभाव के कारण, उन्हें व्यवहार में एक चेतक की तरह प्रवर्तते देखा जाता है, **उन्हें प्रज्ञा से कैसे छेदा जा सकता है?**

आचार्यदेव उसका **समाधान** करते हैं कि हम ऐसा जानते हैं। आत्मा और बन्ध के निश्चित स्वलक्षण की सूक्ष्म अन्तःसन्धि अर्थात् अन्तरङ्ग की मिली हुई सन्धि में इस प्रज्ञाछैनी को सावधान होकर डालने से दोनों अलग-अलग हो जाते हैं।

वहाँ, निश्चय से आत्मा का तो निजलक्षण, समस्त अन्य द्रव्यों से असाधारण अर्थात् जो अन्य में नहीं पाया जाता - ऐसा चैतन्य है। यह चैतन्य-स्वलक्षण, प्रवर्तमान होता हुआ, जिस-जिस पर्याय में व्याप्य होकर प्रवर्तता है और निवृत्त होता हुआ जिस-जिस पर्याय को ग्रहण करके निवृत्त होता है, उन-उन **समस्त सहवर्ती (सहप्रवृत्त) और क्रमवर्ती (क्रमप्रवृत्त) पर्यायों का समूह आत्मा है** — ऐसा

---

१. *तैं जो* - 'ब' प्रति पाठ

२. *निवृत्तता* - 'ब' प्रति पाठ

सहवर्ती अर क्रमवर्ती पर्यायनि का समूह सो आत्मा है, अैसा लषनें योग्य है।

यह लक्षण समस्त गुण पर्यायनि मैं व्यापक है सो सर्व ही गुण पर्याय का समुदाय आत्मा है, अैसा इस लक्षण 'तैं लक्ष्य है॥'[१] जातैं आत्मा तिस ही एक लक्षणस्वरूप है।[२] वहुरि चैतन्य कै समस्त सहवर्ती अर क्रमवर्ती जे अनंत पर्याय, तिनितैं अविनाभावीपणां है, तातैं चिन्मात्र ही आत्मा है, अैसा निश्चय करनां, अैसा दूसरा व्याख्यान है॥

वहुरि वंध का स्वलक्षण आत्मद्रव्य तैं असाधारण रागादिक हैं, जातैं रागादिक हैं, ते आत्मद्रव्य तैं साधारणपणां कूं धारते नाही प्रतिभासैं हैं, इनिकै सदा ही चैतन्यचमत्कार तैं भिन्नपणां करि प्रतिभासमानपणां है। वहुरि जेता कछु समस्त अपनें पर्यायनि मैं व्यापनेंस्वरूप चैतन्य प्रतिभासै है, तेते ही रागादिक नाही प्रतिभासैं हैं॥ रागादिक विना भी चैतन्य का आत्मलाभ कहिये स्वरूप पावनां संभवै है॥

वहुरि जो रागादिक का चैतन्य करि सहित ही उपजनां दीषै है सो यह चेत्यचेतकभाव कहिये ज्ञेयज्ञायकभाव, ताकी अत्यंत प्रत्यासत्ति कहिये अतिनिकटता तैं दीषै है, एकद्रव्यपणां तैं नाही है॥ तहां चेत्यमान कहिये ज्ञेयरूप ज्ञान मैं आवते जे रागादिक, ते आत्मा कै चेतकता कहिये ज्ञायकपणां ही कूं विस्तारैं है वहुरि रागादिकपणां कूं नाही विस्तारैं हैं॥ जैसैं दीपक कै घटादिक प्रकाशनें योग्य होते, प्रदीपकपणां ही कूं विस्तारै हैं वहुरि घटादिकपणां कों नाही विस्तारैं हैं, तैसैं जाननां॥

देखना चाहिए।

यह लक्षण (चैतन्य) समस्त गुण एवं पर्यायों में व्यापक है; अत: **सर्व ही गुण एवं पर्यायों का समुदाय आत्मा है** – ऐसा इस लक्षण का लक्ष्य है क्योंकि आत्मा, इस एक लक्षणस्वरूप ही है तथा **चैतन्य का समस्त सहवर्ती और क्रमवर्ती अनन्त पर्यायों के साथ अविनाभावीपना है,** इसलिए चिन्मात्र ही आत्मा है – ऐसा निश्चय करना चाहिए। यह दूसरा व्याख्यान है।

तथा बन्ध का स्वलक्षण तो आत्मद्रव्य से असाधारण रागादि हैं क्योंकि रागादि आत्मद्रव्य के साथ साधारणपने को धारण करते हुए प्रतिभासित नहीं होते हैं; इनका सदा ही चैतन्य-चमत्कार से भिन्नपने प्रतिभासमानपना है। जितना कुछ अपनी समस्त पर्यायों में व्याप्त होता हुआ चैतन्य प्रतिभासित होता है, उतने रागादिक प्रतिभासित नहीं होते हैं। रागादि के बिना भी चैतन्य का आत्मलाभ अर्थात् उसके स्वरूप की प्राप्ति सम्भव है।

जो रागादि का चैतन्य के साथ ही उत्पन्न होना दीखता है, वह इस चेत्य-चेतकभाव अर्थात् ज्ञेय-ज्ञायकभाव की अत्यन्त घनिष्ठता अर्थात् अतिनिकटता के कारण दिखता है; एकद्रव्यपना होने के कारण नहीं। चेत्यमान अर्थात् ज्ञेयरूप से ज्ञान में आनेवाले रागादि तो आत्मा की चेतकता अर्थात् ज्ञायकता को ही प्रगट करते हैं; रागादिपने को नहीं। जिस प्रकार दीपक का घटादि को प्रकाशित करना, दीपक के प्रदीपकत्व को ही प्रगट करता है, घटादिपने का नहीं; उसी प्रकार यहाँ जानना चाहिए।

---

१. *तैं जानना* - 'ब' प्रति पाठ

२. *तैं लक्ष्य है* - 'ब' प्रति पाठ

वहुरि अैसैं होतैं भी आत्मा अर वंध दोऊ कै अत्यंत प्रत्यासत्ति, निकटता करि भेद की संभावना का अभाव है, भेद दीषै नाही है, तातैं इस अज्ञानी कै अनादिकाल तैं एकपणां का व्यामोह है, भ्रम है सो अैसा व्यामोह प्रज्ञा ही करि छेद्या ही जाय है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ आत्मा अर वंध, दोऊ कूं लक्षणभेद करि पहिचानि वुद्धिरूपी छैंनी करि काटि[१] न्यारे न्यारे करनें, जातैं आत्मा तौ अमूर्त्तीक अर वंध सूक्ष्म पुद्गल परमाणूनि का स्कंध, यातैं दोऊ ही न्यारे छद्मस्थ के ज्ञान मैं आवैं नाही, एक स्कंध दीषै, याही तैं अनादि अज्ञान है सो श्रीगुरुनि का उपदेश पाय, इनिका लक्षण न्यारा न्यारा ही अनुभव करि जाननां जो चैतन्यमात्र तौ आत्मा का लक्षण है अर रागादिक वंध का लक्षण है, ते भी ज्ञेयज्ञायकभाव की अतिनिकटता करि एकसे होय रहे दीषै हैं।

सो तीक्ष्ण वुद्धिरूपी छैंनी, इनिकूं भेदि 'न्यारे न्यारे'[२] करनें का शस्त्र है, ताकूं इनिकी सूक्ष्म संधि कूं हेरि सावधान निःप्रमाद होय पटकणीं, तिसकूं पडतैं ही दोऊ न्यारे न्यारे दीषनें लगैं, तव आत्मा कूं ज्ञानभाव मैं ही राषणां अर वंध कूं अज्ञानभाव में राषणां, अैसैं दोऊ कूं भिन्न करनां॥ छ॥

अव, इस अर्थ कै कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ स्रग्धरा॥

प्रज्ञाछेत्री शितेयं[३], कथमपि निपुणैः, पातिता सावधानैः,
सूक्ष्मेऽन्तःसन्धिबन्धे, निपतति रभसा-दात्मकर्मोभयस्य।

लेकिन ऐसा होने पर भी आत्मा और बन्ध, इन दोनों की अत्यन्त घनिष्ठता अर्थात् निकटता के कारण दोनों में भेद की सम्भावना का अभाव है अर्थात् भेद दिखता नहीं है, क्योंकि इस अज्ञानी को अनादिकाल से उन दोनों में एकत्व का व्यामोह है, भ्रम है – यह व्यामोह, प्रज्ञा ही के द्वारा अवश्य छेदा जाता है।

भावार्थ – आत्मा और बन्ध, दोनों को लक्षण-भेद से पहचान कर, बुद्धिरूपी छैनी से काट कर, अलग-अलग करना चाहिए क्योंकि आत्मा तो अमूर्तिक है और बन्ध, सूक्ष्म पुद्गलपरमाणुओं का स्कन्ध है; अतः दोनों ही अलग-अलग छद्मस्थ के ज्ञान में आते नहीं हैं, एक स्कन्धरूप ही दीखते हैं; इसीलिए अनादि का अज्ञान है। श्रीगुरु का उपदेश पाकर, इनके लक्षणों को अलग-अलग ही अनुभव करके, यह जानना चाहिए कि चैतन्यमात्र तो आत्मा का लक्षण है और रागादि, बन्ध का लक्षण है; वे ज्ञेय-ज्ञायकभाव की अतिनिकटता के कारण एक समान होते हुए दिखाई देते हैं।

यहाँ, तीक्ष्ण बुद्धिरूपी छैनी इनको भेद करके अलग-अलग करने का शस्त्र है, उसे इनकी सूक्ष्म [अन्तः] सन्धि को अच्छी तरह खोज कर, [उसके बीच में] सावधानीपूर्वक प्रमादरहित होकर पटकना चाहिए, उसके गिरते ही दोनों अलग-अलग दिखाई देने लगते हैं; तब आत्मा को तो ज्ञानभाव में ही और बन्ध को अज्ञानभाव में [अलग-अलग] रखना। इस प्रकार दोनों को भिन्न करना।

---

१. *छेदि* - 'ब' प्रति पाठ २. *न्यारे* - 'अ' प्रति पाठ ३. *सितेयं* - 'ब' प्रति पाठः

आत्मानं मग्नमन्तः, स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे,
बन्धं चाऽज्ञानभावे, नियमितमभितः, कुर्वती भिन्नभिन्नौ॥ २॥

॥ अर्थ॥ आत्मा अर वंध का भिन्न करनें कूं यह प्रज्ञा है सो तीक्ष्ण छैंनी है सो जे प्रवीण पुरुष हैं, ते सावधान प्रमादरहित भये संते, आत्मा अर कर्म, इनि दोऊनि का सूक्ष्म जो अंतः कहिये मांहिला संधि का वंधाण, ता विषै याकूं कोई प्रकार यत्न करि अैसैं पटकै है सो यह वुद्धिरूपी छैंनी तहां पडी हुई शीघ्र ही सामस्त्यपणैं[१] भिन्न भिन्न करती पडै है।

सो आत्मा कूं तौ अंतरंग विषै स्थिर अर विशद लसत् कहिये स्पष्ट प्रकाशरूप दैदीप्यमान है धाम कहिये तेज जाका, अैसा जो चैतन्य का पूर प्रवाह, ता विषै मग्न करती संती पडै है॥ वहुरि वंध कूं अज्ञानभाव विषै निश्चल नियम तैं करती संती पडै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ इहां, आत्मा अर वंध का भिन्न भिन्न करणां नामां कार्य है, ताका कर्त्ता आत्मा है अर करण विना कर्त्ता काहे करि कार्य करै, तातैं करण चाहिये अर निश्चयनय करि कर्त्ता तैं भिन्न करण होय नाही, तातैं आत्मा तैं अभिन्न यह वुद्धि, इस कार्य विषै करण है।

सो आत्मा कै अनादि वंध, ज्ञानावरणादि कर्म हैं, तिनिका कार्य भावकर्म तौ रागादिक हैं अर

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

सूक्ष्म अन्तःसन्धि में, अति तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनी को।
अति निपुणता से डाल कर, अति निपुणजन ने बन्ध को॥
अतिभिन्न करके आतमा से, आतमा में जम गए।
वे ही विवेकी धन्य हैं, जो भव-जलधि से तिर गए॥ १८१॥

अर्थ – आत्मा और बन्ध को अलग-अलग करने के लिए यह प्रज्ञा ही तीक्ष्ण छैनी है; अतः प्रवीण पुरुष सावधानी से प्रमादरहित होते हुए आत्मा और कर्म, इन दोनों की सूक्ष्म अन्तः अर्थात् अन्तरङ्ग सन्धि के सन्धि-स्थल में किसी प्रकार से यत्न करके इस प्रकार डालते हैं कि जिससे यह बुद्धिरूपी छैनी वहाँ पड़ते ही अर्थात् शीघ्र ही उन्हें सर्व प्रकार से भिन्न-भिन्न कर देती है।

वह (प्रज्ञाछैनी), आत्मा को तो जिसका धाम अर्थात् तेज अन्तरङ्ग में स्थिर और विशद लसत् अर्थात् स्पष्ट प्रकाशरूप दैदीप्यमान है। ऐसे चैतन्य के प्रबल प्रवाह में मग्न करती हुई और बन्ध को नियमपूर्वक अज्ञानभाव में निश्चल करती हुई [उनके मध्य में] गिरती है।

भावार्थ – यहाँ आत्मा और बन्ध, इन दोनों को भिन्न-भिन्न करना – यह कार्य है, उसका कर्ता आत्मा है परन्तु **करण के बिना कर्ता किसके द्वारा कार्य करे?** अतः करण भी होना चाहिए तथा निश्चयनय की अपेक्षा विचार करें तो कर्ता से भिन्न करण होता नहीं है; अतः आत्मा से अभिन्न यह बुद्धि (प्रज्ञा) ही इस कार्य में करण है।

---

१. *समस्तपणैः* – 'ब' प्रति पाठः

नोकर्म शरीरादिक हैं सो वुद्धि करि आत्मा कूं शरीर तैं तथा ज्ञानावरणादिकद्रव्यकर्म तैं तथा रागादिक भावकर्म तैं भिन्न, एक चैतन्यभावमात्र अनुभव करि ज्ञान ही मैं लीन राषणां, यह ही भिन्न करणां है, याही तैं सर्व कर्म का नाश होय, सिद्धपद कूं प्राप्त होय हैं, अैसैं जाननां॥ छ॥

आगैं फेरि पूछै है जो आत्मा अर वंध कूं द्विधा करि अर कहा करनां॥ अैसैं पूछें उत्तर कहै है॥

जीवो बंधो य तहा, छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधो छेएयव्वो, सुद्धो अप्पा य घित्तव्वो॥ ८॥

जीवो बन्धश्च तथा, छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम्।
बन्धश्छेत्तव्यः, शुद्ध आत्मा च गृहीतव्यः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जीव अर वंध, ए दोऊ अपनें अपनें निश्चित निज लक्षणनि करि जैसैं[१] भिन्न कीजिये, तैसैं[२] ही वंध तौ छेदि भिन्न करनां अर शुद्ध आत्मा कूं ग्रहण करनां॥ छ॥

॥ टीका॥ आत्मा अर वंध, दोऊ प्रथम तौ अपनां अपनां निश्चित निजलक्षण है, ताका विज्ञान

आत्मा में अनादि से बन्धस्वरूप ज्ञानावरण आदि कर्म हैं, उनका कार्य भावकर्मरूप तो रागादि हैं और नोकर्मरूप शरीरादि हैं; अतः बुद्धि (प्रज्ञा) के द्वारा आत्मा को शरीर [आदि नोकर्म], ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म और रागादि भावकर्म से भिन्न एक चैतन्यभावमात्र अनुभव करके ज्ञान में ही लीन रखना, यही [आत्मा और बन्ध को] भिन्न करना है। इसी से सम्पूर्ण कर्मों का नाश होकर, सिद्धपद की प्राप्ति होती है – ऐसा जानना।

अब, पुनः पूछते हैं कि आत्मा और बन्ध को अलग-अलग करके क्या करना? – ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं —

जीवो बंधो य तहा, छिज्जंति सलक्खणेहिं णियदेहिं[३]।
बंधो छेदेदव्वो, सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो॥ २९५॥

जीव-बन्ध का छेद हो, ज्यों नियत निज-निज चिह्न से।
त्यों छोड़ना इस बन्ध को, शुद्ध ग्रहण करना जीव को॥ २९५॥

अर्थ – जीव और बन्ध, इन दोनों को अपने-अपने निश्चित निज लक्षणों के द्वारा जिस प्रकार भिन्न करते हैं, उसी प्रकार बन्ध को तो छेद कर अलग करना चाहिए और शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना चाहिए॥ २९५॥

१-२. तैसैं / जैसैं - 'ब' प्रति पाठ

३. णियदेहिं - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

करि सर्व प्रकार ही भिन्न करनें, ता पीछैं रागादिक है लक्षण जाका, अैसा समस्त ही वंध कूं तौ छोडणां अर उपयोग है लक्षण जाका, अैसा शुद्ध आत्मा एकला ही ग्रहण करनां॥ यह ही निश्चय करि आत्मा अर वंध का द्विधाकरण का प्रयोजन है जो वंध का त्याग करि शुद्ध आत्मा का ग्रहण करनां॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ शिष्य पूछ्या था जो आत्मा अर वंध कूं द्विधा करि कहा करनां, ताका यह उत्तर दीया जो वंध का तौ त्याग करनां अर शुद्धात्मा का ग्रहण करनां॥ छ॥

आगैं पूछै है, आत्मा अर वंध कूं प्रज्ञा करि तौ भिन्न कीये अर आत्मा कूं ग्रहण काहे करि कीजिये, ताका प्रश्नोत्तर की गाथा कहै है॥ छ॥

कह सो घिप्पइ अप्पा, पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।
जह पण्णाइ विहत्तो, तह पण्णाएव घित्तव्वो॥ ९॥

कथं स गृह्यते आत्मा, प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा।
यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ शिष्य पूछै है, सो यह शुद्ध आत्मा काहे करि ग्रहण कीजिए॥ आचार्य उत्तर कहै

टीका – प्रथम तो, आत्मा और बन्ध, दोनों को अपने-अपने निश्चित निज लक्षणों के विशेष ज्ञान द्वारा सर्व प्रकार से ही भिन्न करना। उसके बाद रागादि लक्षणवाले समस्त ही बन्ध को तो छोड़ना और उपयोग लक्षणवाले अकेले शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना - यही निश्चय से आत्मा और बन्ध के द्विधाकरण का प्रयोजन है कि बन्ध का त्याग करके, शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना।

भावार्थ – यहाँ शिष्य ने पूछा था कि **आत्मा और बन्ध को अलग-अलग करके क्या करें?** तो उसका यह **उत्तर** दिया है कि बन्ध का तो त्याग करना और शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना।

अब, शिष्य पूछता है कि आत्मा और बन्ध को तो प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया, परन्तु आत्मा को ग्रहण किसके द्वारा करें? – उसके प्रश्नोत्तर की गाथा कहते हैं —

कह सो घिप्पदि अप्पा, पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाइ[1] विभत्तो, तह पण्णाएव घेत्तव्वो॥ २९६॥

यह जीव कैसे ग्रहण हो? – जीव का ग्रहण प्रज्ञा ही से।
ज्यों अलग प्रज्ञा से किया, त्यों ग्रहण भी प्रज्ञा ही से॥ २९६॥

अर्थ – शिष्य पूछता है कि इस **शुद्ध आत्मा का ग्रहण किसके द्वारा करें?** – उसका **उत्तर,** आचार्य देते हैं कि प्रज्ञा ही से इस शुद्ध आत्मा का ग्रहण करो। जिस प्रकार पहले प्रज्ञा से भिन्न किया

---

१. *पण्णाए* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

है॥ प्रज्ञा ही करि यह शुद्ध आत्मा ग्रहण कीजिए॥ जैसैं पहलैं प्रज्ञा करि भिन्न कीया, तैसैं प्रज्ञा ही करि ग्रहण करनां॥ छ॥

॥ टीका॥ शिष्य का प्रश्न जो यह शुद्ध आत्मा काहे करि ग्रहण करनां॥ गुरु उत्तर कहै है जो यह शुद्ध आत्मा प्रज्ञा ही करि ग्रहण करनां॥ आप स्वयं शुद्ध आत्मा कूं ग्रहण करता जो शुद्ध आत्मा, ताकै पहलैं भिन्न करता कै प्रज्ञा ही एक करण था, तैसैं ही ग्रहण करता कै भी सो ही प्रज्ञा एक करण है, भिन्न करण नाही॥ यातैं जैसैं पहलैं प्रज्ञा करि भिन्न कीया था, तैसैं प्रज्ञा ही करि ग्रहण करनां॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ भिन्न करनें मैं अर ग्रहण करनें मैं न्यारा करण नाही है, तातैं प्रज्ञा ही करि तौ भिन्न कीया अर प्रज्ञा ही करि ग्रहण करनां॥ छ॥

आगैं फेरि पूछै है जो यह आत्मा प्रज्ञा करि कोंन प्रकार ग्रहण करनां, ताका उत्तर कहै है॥

पण्णाए घित्तव्वो, जो चेया सो अहं तु णिच्छयओ।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परे त्ति णायव्वा॥ १०॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो, यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावाः, ते मम परा इति ज्ञातव्याः॥ छ॥

था, उसी प्रकार प्रज्ञा ही से उसको ग्रहण करना॥ २९६॥

टीका – यहाँ शिष्य का प्रश्न है कि **इस शुद्ध आत्मा का किसके द्वारा ग्रहण करना चाहिए?** तो उसका **उत्तर,** गुरु देते हैं कि इस शुद्ध आत्मा को प्रज्ञा ही से ग्रहण करना, क्योंकि जिस प्रकार स्वयं शुद्ध आत्मा को ग्रहण करते हुए, शुद्ध आत्मा के ग्रहण से पहले, भिन्न करनेवाले के लिए प्रज्ञा ही एक करण था; उसी प्रकार ग्रहण करनेवाले के लिए भी वही प्रज्ञा ही एक करण है, कोई दूसरा भिन्न करण नहीं है। अतः जिस प्रकार पहले प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया था, उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करना।

भावार्थ – भिन्न करने और ग्रहण करने में अलग-अलग करण नहीं हैं; इसलिए प्रज्ञा ही के द्वारा भिन्न किया था और प्रज्ञा ही के द्वारा उसे ग्रहण करना।

अब, शिष्य पुनः पूछता है कि इस आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा कैसे ग्रहण करना चाहिए? – उसका उत्तर देते हैं —

पण्णाए घेत्तव्वो, जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परे त्ति णादव्वा॥ २९७॥

॥ अर्थ ॥ जो चेतयिता कहिये चेतनस्वरूप आत्मा है सो निश्चय तैं मैं हौं, ऐसैं प्रज्ञा करि ग्रहण करनें योग्य है॥ अवशेष जे भाव हैं, ते मेरै पर हैं, इस प्रकार आत्मा कूं ग्रहण करनां जाननां॥ छ॥

॥ टीका॥ निश्चय करि जो नियत स्वलक्षण कहिये निश्चित निजलक्षण कूं अवलंवन करनेंवाली प्रज्ञा है, तिस करि चैतन्यस्वरूप आत्मा कूं भिन्न कीया था सो ही यह मैं हौं॥ वहुरि जे ए अवशेष अन्य अपनें स्वलक्षण करि लषनें योग्य व्यवहाररूप होते भाव हैं, ते सर्व ही चेतयिता आत्मा का व्यापक जो चेतकपणां, ताका व्याप्यपणां मैं नाही आवते भाव हैं, ते मोतैं अत्यंत भिन्न हैं, तातैं मैं ही, मुझ ही करि, मेरै ही अर्थि, मुझ ही तैं, मो विषै ही, मो ही कूं ग्रहण करौं हौं॥ वहुरि प्रगट ग्रहण करौं हौं सो आत्मा कै चेतना ही है एक क्रिया जाकै, तिसपणां करि चेतूं ही हौं, चेतता संता ही चेतूं हौं, चेतता संता ही करि चेतूं हौं, चेतता संता ही कै अर्थि चेतूं हौं, चेतता संता ही तैं चेतूं हौं, चेतता संता ही विषै चेतूं हौं॥ चेतता संता ही कूं चेतूं हौं॥ अथवा न चेतूं हौं, न चेतता संता चेतूं हौं, न चेतता संता करि चेतूं हौं, न चेतता संता कै अर्थि चेतूं हौं, न चेतता संता तैं चेतूं हौं, न चेतता संता विषै चेतूं हौं, न चेतता संता कूं चेतूं हौं॥

तौ कहा हौं॥ सर्व विशुद्ध चैतन्यमात्र भाव हौं॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जिस प्रज्ञा करि आत्मा कूं वंध तैं भिन्न कीया था, तिस ही करि यह चैतन्यस्वरूप

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, जो चेतक है सो मैं ही हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, वे मेरे को पर ही जानना॥ २९७॥

अर्थ – जो चेतयिता अर्थात् चेतनस्वरूप आत्मा है, वह निश्चय से मैं हूँ – ऐसा प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करना योग्य है और अवशेष जो भाव हैं, वे मेरे लिए पर हैं; इस प्रकार आत्मा को ग्रहण करना जानना चाहिए॥ २९७॥

टीका – निश्चय से नियत स्वलक्षण अर्थात् निश्चित निज लक्षण का अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया गया 'चैतन्यस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ' और अवशेष अन्य अपने स्वलक्षणों से दिखाई देने योग्य व्यवहाररूप होनेवाले सर्व ही भाव, चेतयिता आत्मा के व्यापक चेतकपने के व्याप्यपने में नहीं आनेवाले भाव हैं; अत: वे मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं; इसलिए ''मैं ही, मुझ ही से, मेरे ही लिए, मुझ ही में से, मेरे में ही, मुझ ही को ग्रहण करता हूँ, प्रगटरूप से ग्रहण करता हूँ क्योंकि इस आत्मा की चेतना ही एक क्रिया है, उससे ही मैं चेतता हूँ, चेतता हुआ ही चेतता हूँ, चेतते हुए ही से चेतता हूँ, चेतते हुए ही के लिए चेतता हूँ, चेतते हुए ही में से चेतता हूँ, चेतते हुए ही में चेतता हूँ, चेतता हुए ही को चेतता हूँ। **अथवा** न चेतता हूँ, न चेतता हुए चेतता हूँ, न चेतते हुए से चेतता हूँ, न चेतते हुए के लिए चेतता हूँ, न चेतते हुए में से चेतता हूँ, न चेतते हुए में चेतता हूँ, न चेतते हुए को चेतता हूँ।''

तो कैसा हूँ? – 'सर्व विशुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ।'

भावार्थ – जिस प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को बन्ध से भिन्न किया था, उसी के द्वारा यह

आत्मा मैं हौं, अन्य अवशेष भाव हैं, ते मोतैं न्यारे पर हैं, अैसैं ग्रहण करनां सो अभिन्न षट्कारक लगावणें मैं, मो कूं, मो ही करि, मैरे ही अर्थि, मो तैं, मो विषै ग्रहण करूं हौं।

सो यह ग्रहण करणां कहा है। चेतन की चित्स्वरूप क्रिया ही है, ता करि चेतूं हौं, जानूं हौं, अनुभऊं हौं, अैसैं लगाय, फेरि इनि कारकनि के भेद का भी निषेध कीया जो मैं शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हौं सो एक अभेद हौं। द्रव्यदृष्टि करि कर्त्ता कर्म आदि षट्कारक का भी भेद मो विषै नाही है, तातैं नाहीं चेतूं हौं, इत्यादि लगावणां। अैसैं वुद्धि करि ग्रहण करनां॥ छ॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

भित्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते,
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा, शुद्धश्चिदेवाऽस्म्यहम्॥
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा, धर्मा गुणा वा यदि,
भिद्यन्तां न भिदाऽस्ति काचन विभौ, भावे विशुद्धे चिति॥ ३॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी कहै है जो भेदनें कूं, न्यारे करनें कूं समर्थ हूजिये, तिस सर्व कूं निजलक्षण

चैतन्यस्वरूप आत्मा मैं हूँ, अन्य अवशेष भाव मुझसे भिन्न पर हैं; इस प्रकार ग्रहण करना। यहाँ अभिन्न षट्कारक लगाने पर 'मैं, मुझको, मेरे ही द्वारा, मेरे ही लिए, मुझ ही में से और मुझ ही में ग्रहण करता हूँ' – [ऐसा लगाना चाहिए]।

यह ग्रहण करना क्या है? – यह चेतन की चित्स्वरूप क्रिया ही है, उसके द्वारा मैं चेतता हूँ, जानता हूँ, अनुभव करता हूँ; इस प्रकार लगा कर, पश्चात् इन कारकों के भेदों का भी निषेध किया है कि 'मैं शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ, एक अभेद हूँ, द्रव्यदृष्टि से कर्ता-कर्म आदि षट्कारकों का भी भेद मुझमें नहीं है।' इसी प्रकार 'नहीं चेतता हूँ', इत्यादि में भी लगाना चाहिए। इस प्रकार बुद्धि के द्वारा आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

स्वलक्षणों के प्रबल बल से, भेद कर परभाव को।
चिद्लक्षणों से ग्रहण कर, चैतन्यमय निजभाव को॥
यदि भेद को भी प्राप्त हो, गुण धर्म कारक आदि से।
तो भले हो पर मैं तो केवल, शुद्ध चिन्मयमात्र हूँ॥ १८२॥

अर्थ – ज्ञानी कहते हैं कि जिनको स्वलक्षणों के द्वारा भेदना अर्थात् अलग करना सम्भव है, उन सबको भेद कर, मैं चैतन्य चिह्न से चिह्नित, विभागरहित महिमावाला शुद्ध चैतन्य ही हूँ। उसमें

के वल तैं भेदि करि अर मैं चैतन्य चिह्न करि चिह्नित विभागरहित है महिमा जाकी, अैसा शुद्ध चैतन्य ही हौं॥ वहुरि जो कर्त्ता कर्म करण संप्रदान अपादान अधिकरण, ए षट्कारक अर सत्त्व असत्त्व, नित्यत्व अनित्यत्व, एकत्व अनेकत्व आदिक धर्म अर ज्ञान दर्शन आदिक गुण, ए भेदरूप हैं तौ भेदरूप होहु। विशुद्ध समस्त विभावनि तैं रहित एक अर विभु कहिए सर्व गुण पर्यायनि मैं व्यापक, अैसा चैतन्यभाव विषै तौ किछू भेद है नाही॥

॥ भावार्थ॥ जो इस चैतन्यभाव तैं अन्य अपनें स्वलक्षण करि भेदे गए, ते तौ भेदरूप कीये अर कारकभेद अर धर्मभेद अर गुणभेद, यह भेद है तौ होहु, शुद्ध चैतन्यमात्र विषै तौ किछू भेद है नाही, शुद्धनय करि आत्मा कूं अैसा अभेदरूप ग्रहण करनां॥ छ॥

आगैं कहै है जो शुद्ध चैतन्यमात्र तौ ग्रहण कराया तथा सामान्यचेतना है सो दर्शनज्ञान-सामान्यमयी है, तातैं अनुभव मैं दर्शनज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव अैसैं करनां॥

पण्णाए घित्तव्वो, जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयओ।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परे त्ति णायव्वा॥ ११॥
पण्णाए घित्तव्वो, जो णादा सो अहं तु णिच्छयओ।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परे त्ति णायव्वा॥ १२॥

॥ युग्मं॥

कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण – ये षट्कारक; सत्त्व-असत्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व आदि धर्म और ज्ञान, दर्शन आदि गुण – भेदरूप हैं तो भले भेदरूप रहें परन्तु समस्त विभावों से रहित विशुद्ध, एक और विभु अर्थात् सर्व गुण-पर्यायों में व्यापक – ऐसे चैतन्यभाव में तो कुछ भी भेद है नहीं।'

भावार्थ – इस चैतन्यभाव से अन्य, अपने स्वलक्षणों से जो भिन्न किये गए [स्पष्ट भिन्न पदार्थ] को तो भिन्न किया तथा कारकभेद, धर्मभेद एवं गुणभेद आदि भेद हैं तो भले रहें लेकिन शुद्ध चैतन्यमात्र में तो कुछ भी भेद नहीं है; शुद्धनय से आत्मा को ऐसा ही अभेदरूप ग्रहण करना।

अब कहते हैं कि यद्यपि यहाँ शुद्ध चैतन्यमात्र का ग्रहण कराया गया है किन्तु सामान्यचेतना तो दर्शन-ज्ञानसामान्यमयी है, इसलिए अनुभव में दर्शन-ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव इस प्रकार करना —

पण्णाए घेत्तव्वो, जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परे त्ति णादव्वा॥ २९८॥
पण्णाए घेत्तव्वो, जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ परे त्ति णादव्वा॥ २९९॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो, यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावाः, ते मम परा इति ज्ञातव्याः॥ छ॥
प्रज्ञया गृहीतव्यो, यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावाः, ते मम परा इति ज्ञातव्याः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ प्रज्ञा करि अैसैं ग्रहण करणां जो दृष्टा कहिये देषनेंवाला हौं सो तौ निश्चय तैं मैं हौं, अवशेष जे भाव हैं ते मैरे पर हैं, अैसैं जाननां॥ छ॥

वहुरि प्रज्ञा ही करि ग्रहण करनां जो ज्ञाता कहिये जाननेंवाला हौं सो तौ निश्चय तैं मैं हौं, अवशेष जे भाव हैं ते मैरे पर हैं, अैसैं जाननां॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं चेतना कै दर्शन ज्ञान के भेद का उल्लंघनां नाही है, तातैं चेतकपणां की ज्यौं दर्शकपणां अर ज्ञातापणां आत्मा का निजलक्षण ही है॥

तातैं अैसैं अनुभवन करणां॥ जो मैं देषनेंवाला आत्मा कूं ग्रहण करौं हौं, जो निश्चय तैं ग्रहण करूं हौं सो देषूं ही हौं, देषता संता ही देषूं हौं, देषता करि ही देषूं हौं, देषता कै अर्थि ही देषूं हौं, देषता तैं ही देषूं हौं, देषते विषै ही देषूं हौं, देषते कूं ही देषूं हौं॥ अथवा न देषूं हौं, न देषता संता देषूं हौं, न देषते करि देषूं हौं, न देषते कै अर्थि देषूं हौं, न देषते तैं देषूं हौं, न देषते विषै देषूं हौं, न देषते कूं देषूं हौं।

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, जो द्रष्टा है सो मैं ही हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं मेरे को पर ही जानना॥ २९८॥
कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, जो ज्ञाता है सो मैं ही हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे को पर ही जानना॥ २९९॥

अर्थ – प्रज्ञा के द्वारा इस प्रकार ग्रहण करना कि 'जो द्रष्टा अर्थात् देखनेवाला है, वह तो निश्चय से मैं हूँ और अवशेष जो भाव हैं, वे मेरे को पर हैं'; इस प्रकार जानना॥ २९८॥

प्रज्ञा ही के द्वारा ग्रहण करना कि 'जो ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला है, वह तो निश्चय से मैं हूँ और जो अवशेष भाव हैं, वे मेरे लिए पर हैं'; इस प्रकार जानना चाहिए॥ २९९॥

टीका – चूंकि चेतना में दर्शन और ज्ञान के भेद का उल्लङ्घन नहीं है, इसलिए चेतकपने के समान द्रष्टापना और ज्ञातापना, दोनों आत्मा के ही स्वलक्षण हैं।

अतः ऐसा अनुभव करना कि ''मैं देखनेवाले आत्मा को ग्रहण करता हूँ। निश्चय से जो ग्रहण करता हूँ; वह देखता ही हूँ, देखता हुआ ही देखता हूँ, देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ, देखते हुए के लिए ही देखता हूँ, देखते हुए में से ही देखता हूँ, देखते हुए में ही देखता हूँ, देखते हुए को ही देखता हूँ **अथवा** न देखता हूँ, न देखता हुआ देखता हूँ, न देखते हुए के द्वारा देखता हूँ, न देखते

तौ कहा हौं॥ सर्व विशुद्ध एक दर्शनमात्र भाव मैं हौं॥

अैसैं तौ दर्शन परि कर्त्ता कर्म करण संप्रदान अपादान अधिकरण लगाय, फेरि तिनिका निषेध करि अर एक दर्शनमात्र भावस्वरूप आत्मा कूं अनुभवनरूप करणां।

वहुरि तैसैं ही ज्ञान परि लगावनां जो जाननेंवाला ज्ञाता आत्मा कूं मैं ग्रहण करौं हौं, जो ग्रहण करौं हौं सो निश्चय तैं जानूं ही हौं, जानता संता ही जानूं हौं, जानता करि ही जानूं हौं, जानता कै अर्थि ही जानूं हौं, जानता तैं ही जानूं हौं, जानता विषै ही जानूं हौं, जानता कूं ही जानूं हौं। अथवा न जानूं हौं, न जानता संता जानूं हौं, न जानता करि जानूं हौं, न जानता कै अर्थि जानूं हौं, न जानता तैं जानूं हौं, न जानता विषै जानूं हौं, न जानता कूं जानूं हौं।

तौ कहा हौं॥ सर्वविशुद्ध एक जाननक्रिया मात्र भाव मैं हौं॥

अैसैं ज्ञान परि षट्कारक भेदरूप लगाय, फेरि अभेदरूप करनें कूं कारकभेद का निषेध करि एक ज्ञानमात्र आप का अनुभवन करनां॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ पहलैं तौ सामान्यचेतना का अनुभवन कराया सो आत्मा कूं प्रज्ञा करि ग्रहण करनां, पहलैं कह्या था सो चेतनां का अनुभवन करनां ही, ग्रहण करनां है, किछू अन्य वस्तु का ग्रहण करनां

हुए के लिए देखता हूँ, न देखते हुए में से देखता हूँ, न देखते हुए में देखता हूँ, न देखते हुए को देखता हूँ।

तो मैं कैसा हूँ? – सर्व विशुद्ध एक दर्शनमात्र भाव मैं हूँ।

इस प्रकार 'दर्शन' पर कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण को लगा कर, फिर उनका निषेध करके एक दर्शनमात्र भावस्वरूप आत्मा का अनुभव करना।

उसी प्रकार ज्ञान पर घटित करना चाहिए कि मैं जाननेवाले ज्ञाता आत्मा को ग्रहण करता हूँ। जो निश्चय से ग्रहण करता हूँ; वह जानता ही हूँ, जानता हुआ ही जानता हूँ, जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ, जानते हुए के लिए ही जानता हूँ, जानते हुए में से ही जानता हूँ, जानते हुए में ही जानता हूँ, जानते हुए को ही जानता हूँ, अथवा न जानता हूँ, न जानता हुआ जानता हूँ, न जानते हुए के द्वारा जानता हूँ, न जानते हुए के लिए जानता हूँ, न जानते हुए में से जानता हूँ, न जानते हुए में जानता हूँ, न जानते हुए को जानता हूँ।

तो मैं कैसा हूँ? – सर्व विशुद्ध एक जाननक्रियामात्र भाव मैं हूँ।

इस प्रकार 'ज्ञान' पर षट्कारक के भेद लगा कर, पश्चात् अभेदरूप करने के लिए कारकभेदों का निषेध करके, एक ज्ञानमात्र अपना अनुभवन करना।

भावार्थ – पहले [गाथा २९७ में] तो सामान्यचेतना का अनुभवन कराया था, वहाँ यह कहा था कि आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करना; चेतना का अनुभवन करना ही उसका ग्रहण करना है; किसी अन्य वस्तु को ग्रहण करना नहीं है। यहाँ अनुभवन करना (कर्म), अनुभवन करनेवाला

नाही है॥ वहुरि अनुभवन करनां, अनुभवन करनेंवाला, अनुभव जा करि कीजिये इत्यादि षट्कारक भेदरूप कहि करि अभेद विवक्षा मैं कारकभेद का निषेध कीया, एक शुद्ध चेतनामात्र ही कह्या था अर अव इहां चेतनासामान्य है सो दर्शन ज्ञान विशेष कूं नाही उल्लंघि वर्तै है। तातैं दृष्टा अर ज्ञाता का अनुभवन कराया, तहां भी षट्कारकरूप भेद अनुभव करि पीछैं अभेद अनुभवन अपेक्षा कारकभेद दूरि करि दृष्टाज्ञातामात्र का अनुभवन कराया है॥ छ॥

[॥ टीका॥[१]] इहां शिष्य पूछै है जो चेतना, दर्शन ज्ञान भेद कूं कैसैं नाही उल्लंघै है, जा करि चेतयिता आत्मा, दृष्टा ज्ञाता होय॥

ताका उत्तर कहै है॥ प्रथम तौ चेतना है सो प्रतिभासरूप है॥ सो अैसी चेतना है सो दोयरूपपणां कूं नाही उल्लंघि वर्त्तै है॥ जातैं सर्व ही वस्तु का सामान्य विशेषरूप स्वरूप है सो चेतना भी वस्तु है सो सामान्य विशेषरूप कूं कैसैं उल्लंघै॥ सो ताके दोयरूप हैं, ते दर्शन ज्ञान हैं, तातैं सो चेतनां तिनि दर्शन ज्ञान, दोऊनि कूं नाही उल्लंघै है॥ वहुरि जो इनि दोयरूप कूं उल्लंघै तौ सामान्य विशेषरूप का उल्लंघवापणां तैं चेतना ही न होय है॥ तिस चेतना के अभाव तैं दोय दोष आवै॥ एक तौ अपनें गुण का उच्छेद होनें तैं चेतन कै अचेतनपणां की प्राप्ति आवै॥ अर दूसरा व्यापक जो चेतना, ताका अभाव होतैं, व्याप्य जो चेतन आत्मा, ताका अभाव होय है॥ तातैं तिनि दोषनि के भय तैं चेतना, दर्शनज्ञानस्वरूप ही अंगीकार करनीं॥ छ॥

(कर्ता), जिसके द्वारा अनुभव किया जाए (करण), इत्यादि प्रकार से षट्कारकों के भेद बता कर, पश्चात् अभेद विवक्षा में कारकभेदों का निषेध करके, एक शुद्ध चेतनामात्र ही कहा था। अब यहाँ कहा है कि चेतनासामान्य, दर्शन-ज्ञानरूप विशेषों का उल्लङ्घन नहीं करती है; अत: द्रष्टा और ज्ञाता का अनुभवन कराया है। यहाँ भी षट्कारकरूप भेदों का अनुभव कराने के बाद अभेद अनुभवन की अपेक्षा कारकभेदों को दूर करके द्रष्टा-ज्ञातामात्र का अनुभव कराया है।

[टीका][२] – यहाँ शिष्य का **प्रश्न** है कि चेतना, दर्शन-ज्ञानरूप भेदों का उल्लङ्घन कैसे नहीं करती है, जिससे चेतयिता आत्मा द्रष्टा-ज्ञाता होता है?

उसका **उत्तर** देते हैं – प्रथम तो चेतना प्रतिभासरूप है, यह चेतना द्विरूपता का उल्लङ्घन नहीं करती है क्योंकि सभी वस्तुओं का स्वरूप सामान्य-विशेषात्मक है, यह चेतना भी वस्तु है, इसलिए वह सामान्य-विशेषस्वरूप का उल्लङ्घन कैसे कर सकती है? उसके दो रूप दर्शन और ज्ञान हैं, इसलिए यह चेतना इन दर्शन और ज्ञान, दोनों का उल्लङ्घन नहीं करती है। यदि वह इन दो रूपों का उल्लङ्घन करे तो सामान्य-विशेषस्वरूप का उल्लङ्घन होने से वह चेतना ही नहीं रहती है। इस चेतना के अभाव होने पर दो दोष आते हैं – एक तो, अपने गुण का उच्छेद होने से चेतन के अचेतनपने का प्रसङ्ग आता है और दूसरे, व्यापक चेतना का अभाव होने पर, व्याप्य चेतन आत्मा का भी अभाव होता है; इसलिए इन दोषों के भय से चेतना को दर्शन-ज्ञानस्वरूप ही अङ्गीकार करना।

१-२. यह शीर्षक 'अ' 'ब' प्रति में नहीं।

अव इस अर्थ के कलशरूप काव्य है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

अद्वैताऽपि हि चेतना जगति चेद्, दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्,
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्, साऽस्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति, व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चाऽन्तमुपैति तेन नियतं, दृग्ज्ञप्तिरूपाऽस्तु[१] चित्॥ ४॥

॥ अर्थ॥ जगत विषै निश्चय करि चेतना अद्वैत है तौऊ जो दर्शन ज्ञानरूप कूं छोडै तौ सामान्य विशेषरूप के अभाव तैं, सो चेतनां अपनां अस्तिपनां ही कूं छोडै॥ वहुरि जव चेतनां अपनां अस्तित्व कूं छोडै, तव चेतन कै जडता होय है। वहुरि व्याप्य जो आत्मा सो व्यापक जो चेतनां, तिस विनां अंत कूं प्राप्त होय, आत्मा का नाश होय। तातैं नियम तैं चेतनां है सो दर्शनज्ञानस्वरूप ही होहु॥

॥ भावार्थ॥ वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेष रूप है सो चेतनां भी वस्तु है सो दर्शन ज्ञान

अब, इस अर्थ के कलशरूप काव्य हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

है यद्यपि अद्वैत ही यह, चेतना इस जगत् में।
किन्तु फिर भी ज्ञान-दर्शन, भेद से दो रूप है॥
यह चेतना दर्शन सदा, सामान्य अवलोकन करे।
पर ज्ञान जाने सब विशेषों को, तदपि निज में रहे॥
अस्तित्व ही ना रहे इनके, बिना चेतन द्रव्य का।
चेतना के बिना चेतन, द्रव्य का अस्तित्व क्या?॥
चेतन नहीं बिन चेतना, चेतन बिना ना चेतना।
बस! इसलिए हे आत्मन्! इनमें सदा ही चेतना॥ १८३॥

अर्थ – निश्चय से जगत् में चेतना, अद्वैत होने पर भी यदि वह अपने दर्शन-ज्ञानरूप को छोड़ दे तो सामान्य-विशेषरूप का अभाव होने से वह चेतना, अपने अस्तित्व को ही छोड़ देगी और जब चेतना, अपने अस्तित्व को छोड़ देगी, तब चेतन, जड़ हो जाएगा तथा व्याप्य आत्मा, व्यापक चेतना के बिना अन्त को प्राप्त हो जाएगा अर्थात् आत्मा का नाश हो जाएगा; इसलिए चेतना नियम से दर्शन-ज्ञानस्वरूप ही होवे।

भावार्थ – वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेषात्मक है। यह चेतना भी वस्तु है, यदि वह दर्शन-

---

१. *दृग्ज्ञप्तिरूपास्ति* - अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन

विशेष कूं छोडै तौ वस्तुपणां का नाश होय, तव चेतना का अभाव होतैं, कै तौ चेतन कै जडपणां आवै, कै चेतनां आत्मा की सर्व अवस्था मैं पावै, तातैं व्यापक है अर आत्मा चेतना ही है, तातैं चेतना कै व्याप्य है सो व्यापक के अभाव तैं व्याप्य जो चेतन आत्मा, ताका अभाव होय है॥ तातैं चेतना दर्शनं ज्ञान स्वरूप ही माननीं।

इहां, तात्पर्य अैसा जो सांख्यमती आदि केई सामान्यचेतना ही कूं मानि एकांत कहैं हैं, तिनिकै निषेध करनें कूं वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेष स्वरूप है सो चेतना कूं सामान्य विशेष स्वरूप अंगीकार करनीं, अैसा जनाया है॥ छ॥

आगैं कहै है, चेतना का तौ चिन्मयी एक भाव है अर अन्य परभाव हैं सो चिन्मयी भाव तौ उपादेय है अर परभाव हेय हैं॥ सो यह सूचनिका अगिले कथन की है, ताका श्लोक है॥ छ॥

॥ इन्द्रवज्रा॥

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो, भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो, भावाः परे सर्वत एव हेयाः॥५॥

॥ अर्थ॥ चैतन्य का तौ एक चिन्मयी ही भाव है॥ अर अन्यभाव हैं, ते प्रगटपणैं पर के भाव हैं॥ तातैं एक चिन्मयी भाव है सो ही ग्रहण करनें योग्य है॥ वहुरि जे परभाव हैं, ते सर्व ही त्यागनें योग्य हैं॥ छ॥

ज्ञान विशेष को छोड़ दे तो उसके वस्तुपने का नाश हो जाए, तब चेतना का अभाव होने पर चेतन को जड़पना प्राप्त होगा। **अथवा** यह चेतना, आत्मा की सर्व अवस्थाओं में पाई जाती है; अतः वह व्यापक है और आत्मा चेतनामय ही है, अतः उस चेतना का व्याप्य है; इसलिए व्यापक चेतना का अभाव होने पर व्याप्य चेतन आत्मा का भी अभाव हो जाता है। इस प्रकार चेतना को दर्शन-ज्ञानस्वरूप ही मानना।

यहाँ, तात्पर्य यह है कि सांख्यमती आदि कुछ मतवाले सामान्यचेतना ही को मान कर एकान्त कहते हैं, उनका निषेध करने के लिए वस्तु का स्वरूप, सामान्य-विशेष स्वरूप है; अतः चेतना को भी सामान्य-विशेषस्वरूप ही अङ्गीकार करना – ऐसा कहा है।

अब कहते हैं कि चेतना का तो चिन्मयी एक भाव है और अन्य सब परभाव हैं; अतः चिन्मयी भाव तो उपादेय है और परभाव हेय हैं – यह आगामी गाथा में कहा है, उसकी सूचनारूप श्लोक कहते हैं —

॥ दोहा॥

चिन्मय चेतनभाव है, पर हैं पर के भाव।
उपादेय चिद्भाव है, हेय सभी परभाव॥ १८४॥

अब, इसका उपदेश की गाथा कहै है॥ छ॥

को णाम भणिज्ज बुहो, णाउं सव्वे पराइए भावे।
मज्झमिणं ति य वयणं, जाणंतो अप्पयं सुद्धं॥ १३॥

को नाम भणेद् बुधः[१], ज्ञात्वा सर्वान् परकीयान् भावान्।
ममेदमिति च[२] वचनं, जानन्नात्मानं शुद्धम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी है सो अपनां स्वरूप कूं जानि करि अर सर्व ही पर के भावनि कूं जानि करि अर ए मेरे हैं, अैसा वचन कोंन कहै, ज्ञानी पंडित तौ नाही कहै॥

कैसा है ज्ञानी। अपनां शुद्ध आत्मा कूं जानता संता है॥ छ॥

॥ टीका॥ जो पुरुष, आत्मा अर पर का निश्चित स्वलक्षण के विभाग विषै पडनेंवाली जो प्रज्ञा, ता करि ज्ञानी होय है॥ सो पुरुष निश्चय करि एक चैतन्यमात्र अपनां भाव, ताकूं तौ अपनां जानैं है। वहुरि वाकी के सर्व ही भावनि कूं पर के जानैं है॥ अैसैं जानता संता पर के भावनि कूं ए मेरे हैं, अैसैं कैसैं कहै, ज्ञानी तौ नाही कहै॥ जातैं पर कै अर आप कै निश्चय करि स्वस्वामीपणां

अर्थ – चैतन्य का तो एक चिन्मयी ही भाव है और जो अन्य भाव हैं, वे प्रगटरूप से पर के भाव हैं; अतः एक चिन्मयी भाव ही ग्रहण करने योग्य है और जो परभाव हैं, वे सर्व ही त्यागने योग्य हैं।

अब, इस उपदेश की गाथा कहते हैं —

को णाम भणिज्ज[३] बुहो, णादुं सव्वे पराइए[४] भावे।
मज्झमिणं ति य वयणं, जाणंतो अप्पयं सुद्धं॥ ३००॥

सब भाव जो परकीय जाने, शुद्ध जाने आत्म को।
तब कौन ज्ञानी 'मेरा है यह', यों वचन बोले क्यों अहो?॥ ३००॥

अर्थ – ज्ञानी, अपने स्वरूप को जान कर और सर्व ही पर के भावों को जान कर, 'ये मेरे हैं' – ऐसा वचन कैसे कहेगा? अर्थात् ज्ञानी पण्डित तो नहीं कहेगा। **कैसा है ज्ञानी?** – अपने शुद्ध आत्मा को जानता हुआ [स्थित] है॥ ३००॥

टीका – जो पुरुष, आत्मा और पर के निश्चित स्वलक्षणों के द्वारा [दोनों के] विभाग के बीच में गिरनेवाली प्रज्ञा के कारण ज्ञानी हुआ है, वह पुरुष, निश्चय से एक चैतन्यमात्र अपने भाव को तो अपना जानता है और शेष सभी भावों को पर के जानता है – ऐसा जानता हुआ वह, पर के भावों को 'ये मेरे हैं' – **ऐसा कैसे कह सकता है?** – ज्ञानी तो नहीं कह सकता क्योंकि निश्चय से पर

---

१. *बुधो* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ
२. *च* - 'अ' 'ब' प्रति में पाठ नहीं
३. *भणेज्ज* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
४. *परोदये* - तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ

का संवंध का असंभव है॥ यातैं सर्वथा चिद्भाव ही एक ग्रहण करनें योग्य है, अवशेष सर्व ही भाव त्यागनें योग्य है॥ अैसा सिद्धांत है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ लोक मैं भी यह न्याय है जो सुवुद्धि न्यायवान होय सो पर के धनादिक कूं अपनां न कहै। तैसैं ही सम्यक्ज्ञानी है सो समस्त ही परद्रव्य कूं अपणांवै नाही॥ अपनां निजभाव ही कूं अपनां जानि ग्रहण करै है॥ छ॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितै-र्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां,
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं, ज्योतिः[१] सदैवाऽस्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा, भावाः[२] पृथग्लक्षणाः,
तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम पर-द्रव्यं समग्रा अपि॥ ६॥

॥ अर्थ॥ उज्जल है, उत्कट है चित्त का चरित्र जिनिका, अैसे मोक्ष के अर्थी पुरुष हैं, ते यह सिद्धांत सेवन करौ जो मैं तौ शुद्ध चैतन्यमयी एक परमज्योति ही सदा ही हौं॥ अर ए जे अनेक प्रकार के भिन्नलक्षणस्वरूप भाव हैं, ते मैं नाही हौं, जातैं ते समग्र कहिये सारे ही मेरे परद्रव्य हैं॥

और स्व के बीच स्व-स्वामिपने का सम्बन्ध असम्भव है; इसलिए सर्वथा चिद्भाव ही एक ग्रहण करने योग्य है और अवशेष सभी भाव त्यागने योग्य हैं - यह सिद्धान्त है।

भावार्थ – लोक में भी यह न्याय है कि जो सुबुद्धि न्यायवान होता है, वह पर के धन आदि को अपना नहीं कहता है; उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी, समस्त ही परद्रव्य को अपनाता नहीं है, अपने निजभाव ही को अपना जान कर ग्रहण करता है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

मैं तो सदा ही शुद्ध परमानन्द चिन्मय ज्योति हूँ।
सिद्धान्त यह सेवन करें, सब ही मुमुक्षु भव्यजन!॥
जो विविध परभाव मुझमें, दिखें वे मुझसे पृथक्।
वे मैं नहीं हूँ क्योंकि वे, मेरे लिए परद्रव्य हैं॥ १८५॥

अर्थ – जिनके चित्त का चरित्र उज्ज्वल है, उत्कृष्ट है – ऐसे मोक्ष के अर्थी पुरुष, इस सिद्धान्त का सेवन करो कि ''मैं तो सदा ही शुद्ध चैतन्यमयी एक परमज्योति ही हूँ और ये अनेक प्रकार के भिन्नलक्षणस्वरूप भाव, मैं नहीं हूँ क्योंकि वे समग्र अर्थात् सभी मेरे लिए परद्रव्य हैं।''

---

१. *परमज्योतिः* - 'ब' प्रति पाठ २. *भावा* - अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ

॥ भावार्थ॥ सुगम है॥ छ॥

आगैं कहै है जो परद्रव्य कूं ग्रहण करै है[१] सो अपराधवान है, वंध मैं पडै है अर जो निजद्रव्य मैं संतुष्ट है सो निरपराध है, वंधै नाही है। अैसी सूचनिका अगिले कथन की, का श्लोक है॥ छ॥

॥ अनुष्टुभ्॥

परद्रव्यग्रहं कुर्वन्, वध्यते चाऽपराधवान्[२]।
बध्येताऽनपराधो न, स्वद्रव्ये संवृतो यतिः॥ ७॥

॥ अर्थ॥ जो परद्रव्य कूं ग्रहण करता संता है सो तौ अपराधवान् है सो वंध मैं पडै है॥ वहुरि अपनें ही द्रव्य विषै संवररूप है, संतुष्ट है, परद्रव्य कूं नाही ग्रहण करै है सो यतीश्वर अपराधरहित है सो वंधै नाही है॥ छ॥

आगैं, इस कथन कूं दृष्टांतपूर्वक गाथा मैं कहै है॥ छ॥

थेयाई अवराहे, जो कुव्वइ सो उ संकिओ भमइ।
मा बज्झेजं केण वि, चोरो त्ति जणम्हि वियरंतो॥ १४॥

भावार्थ – सरल है।

अब कहते हैं कि जो परद्रव्य को ग्रहण करता है, वह अपराधी है, बँधता है और जो निजद्रव्य में सन्तुष्ट है, वह निरपराध है, बँधता नहीं है – ऐसी अगले कथन की सूचना का श्लोक करते हैं —

॥ दोहा॥

परग्राही अपराधिजन, बाँधे कर्म सदीव।
स्व में ही संवृत्त जो, वह ना बँधे कदीव॥ १८६॥

अर्थ – जो परद्रव्य को ग्रहण कर रहा है, वह तो अपराधी है, बन्धन में पड़ता है और जो अपने ही द्रव्य में संवररूप अर्थात् सन्तुष्ट है, परद्रव्य का ग्रहण नहीं करता है; वह यतीश्वर अपराधरहित है, बँधता नहीं है।

अब, इस कथन को दृष्टान्तपूर्वक गाथा में कहते हैं —

थेयादी[३] अवराहे, जो कुव्वदि सो दु संकिदो भमइ[४]।
मा बज्झेज्जं[५] केण वि, चोरो त्ति जणम्हि वियरंतो[६]॥ ३०१॥

---

१. *करहै* – 'अ' प्रति पाठ
२. *बध्येतैवाऽपराधवान्* – सोनगढ़, अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ
३. *व ६. तेयादी / विवरंतो* – तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ
४-५. *सो ससंकिदो होदि / बज्झेहं* – तात्पर्यवृत्ति, सोलापुर एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

जो ण कुणइ अवराहे, सो णीसंको उ जणवए भमइ।
ण वि तस्स बज्झिउं जे, चिंता उप्पज्जइ कयाइ॥ १५॥
एवम्हि सावराहो, बज्झामि अहं तु संकिओ चेया।
जइ पुण णिरावराहो, णिस्संकोहं ण बज्झामि॥ १६॥

॥ त्रिकलं॥

स्तेयादीनपराधान्, करोति यः स तु शङ्कितो भ्रमति।
मा बध्ये केनाऽपि, चौर इति जने विचरन्॥ छ॥
यो न करोत्यपराधान्, स निश्शङ्कस्तु जनपदे भ्रमति।
नाऽपि तस्य बद्धुं, यच्चिन्तोत्पद्यते कदाचित्॥ छ॥

जो ण कुणदि अवराहे, सो णिस्संको दु जणवदि[1] भमदि।
ण वि तस्स बज्झिदुं जे, चिंता उप्पज्जदि कयावि॥ ३०२॥
एवम्हि[2] सावराहो, बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा।
जइ पुण णिरावराहो, णिस्संकोहं ण बज्झामि॥ ३०३॥

अपराध चौर्यादिक करे, जो पुरुष वह शङ्कित फिरे।
लोक में फिरते मुझे कोई, चोर जान न बाँध लें॥ ३०१॥
अपराध जो करता नहीं, निःशङ्क फिरे लोक विषैं।
'बँध जाऊँगा' – ऐसी कभी, चिन्ता न उसको होय है॥ ३०२॥
त्यों आत्मा अपराधी भी, 'मैं बँधूँगा' यों सशङ्क है।
पर निरपराधी आत्मा, 'नहिं बँधूँगा' यो निःशङ्क है॥ ३०३॥

अर्थ – जो पुरुष, चोरी आदि अपराधों को करता है, वह ऐसे शङ्कित होकर घूमता है कि 'यह चोर है' – ऐसा जान कर मुझे कोई बाँध न ले; इस प्रकार वह लोक में शङ्कासहित भ्रमण करता है॥ ३०१॥

लेकिन जो पुरुष, कुछ भी अपराध नहीं करता है, वह लोक में निशङ्क घूमता है, उसे बँधने की चिन्ता कभी भी उत्पन्न नहीं होती है॥ ३०२॥

१-२. जणवदे / एवं हि - तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ

एवमस्मि साऽपराधो, वध्येऽहं तु शङ्कितश्चेतयिता।
यदि पुनर्निरपराधो, निश्शङ्कोऽहं न बध्ये॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो पुरुष, चोरी आदि अपराधनि कूं करै है॥ सो अैसैं शंकासहित हूवा भ्रमै है जो यह चौर है, अैसैं जानि मोंकू कोई मति वांधि ल्यो॥ अैसी शंकासहित लोक कै विषै विचरै है॥ छ॥

वहुरि जो किछू अपराध नाही करै है सो पुरुष देश विषै निशंक भ्रमै है॥ ताकै वंधनें कूं चिंता कदाचित् नाही उपजै है॥ छ॥

अैसैं मैं जो अपराधसहित हौं तौ मेरै शंका है जो मैं वंधूंगा[१]॥ अैसी शंकायुक्त आत्मा होय है॥ वहुरि जो मैं निरपराध हौं तौ निशंक हौं, न वंधूंगा॥ अैसैं ज्ञानी विचारै है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं या लोक विषै जो पुरुष, परद्रव्य का ग्रहण है लक्षण जाका, अैसा अपराध कूं करै है॥ तिस ही कै वंध की शंका[२] संभवै है॥ वहुरि जो अपराध नाही करै है, ताकै सो शंका न संभवै है॥ तैसैं ही आत्मा भी जो अशुद्ध हूवा संता परद्रव्य का ग्रहण है लक्षण जाका, अैसा अपराध कूं करै है॥ तिस ही कै वंध की शंका संभवै है॥ वहुरि जो आत्मा शुद्ध भया संता, तिस अपराध कूं नाही करै है॥ ताकै सो शंका न संभवै है॥ यह नियम है॥ यातैं सर्वथा सर्व परद्रव्य के भाव का परिहार करि शुद्ध आत्मा ग्रहण करनां, तैसैं कीयें ही निरपराधपणां है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ चोरी आदि अपराध करै तौ वंधनें की शंका होय, निरपराध कै शंका काहे कूं होय, तैसैं ही आत्मा, परद्रव्य का ग्रहणरूप अपराध करै तौ वंध की शंका होय ही॥ आप कूं शुद्ध अनुभवै, पर कूं नाही ग्रहै तौ वंध की शंका काहे कूं होय॥ तातैं परद्रव्य कूं छोडि शुद्ध आत्मा का

इसी प्रकार यदि मैं अपराधसहित हूँ तो मुझे शङ्का होती है कि 'मैं बँधूँगा', ऐसे आत्मा शङ्कायुक्त होता है; लेकिन यदि मैं निरपराध हूँ तो निशङ्क रहता हूँ, कि 'नहीं बँधूँगा।' इस प्रकार ज्ञानी विचारते हैं॥ ३०३॥

टीका – जिस प्रकार इस लोक में जो पुरुष, 'परद्रव्य का ग्रहण' – ऐसे लक्षणवाला अपराध करता है, उसी को बँधने की शङ्का होती है लेकिन जो अपराध नहीं करता है, उसे ऐसी शङ्का नहीं होती है; उसी प्रकार जो आत्मा अशुद्ध होकर 'परद्रव्य का ग्रहण' – ऐसे लक्षणवाला अपराध करता है, उसी को बँधने की शङ्का होती है लेकिन जो आत्मा शुद्ध होता हुआ उस अपराध को नहीं करता है, उसे ऐसी शङ्का नहीं होती है – यह नियम है; इसलिए सर्वथा सर्व परद्रव्य के भावों का परिहार करके शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना – ऐसा करने में ही निरपराधपना है।

भावार्थ – जिस प्रकार कोई चोरी आदि अपराध करता है तो उसे बँधने की शङ्का होती है, **निरपराध को शङ्का क्यों हो?**; उसी प्रकार आत्मा, परद्रव्य के ग्रहणरूप अपराध करे तो उसे बँधने की शङ्का होती ही है। यदि अपने को शुद्ध अनुभव करे, पर को ग्रहण नहीं करे **तो बँधने की शङ्का क्यों हो?** इसलिए परद्रव्य को छोड़ कर शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना, तभी निरपराधपना होता है।

---

१. *बंधूं* – 'ब' प्रति पाठ २. *संका* – 'ब' प्रति पाठ

ग्रहण करनां, तव निरपराध होय है॥ छ॥

आगैं पूछै है जो यह अपराध कहा है॥ ताका उत्तर, अपराध का स्वरूप कहै है॥ छ॥

संसिद्धिराधसिद्धं, साधियमाराधियं च एयट्ठं।
अवगयराधो जो खलु, चेया सो होइ अवराधो॥ १७॥
जो पुण णिरावराधो, चेया णिस्संकिओ उ सो होइ।
आराहणाए णिच्चं, वट्टेइ अहं ति जाणंतो॥ १८॥

॥ युग्मं॥

संसिद्धिराधसिद्धं, साधितमाराधितं चैकार्थम्।
अपगतराधो यः खलु, चेतयिता स भवत्यपराधः॥ छ॥
यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निःशङ्कितस्तु[१] स भवति।
आराधनया नित्यं, वर्ततेऽहमिति जानन्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ संसिद्धि राध सिद्ध साधित आराधित, ए शब्द एकार्थ हैं॥ तातैं जो चेतयिता आत्मा,

---

अब पूछते हैं कि यह अपराध क्या है? – उसके उत्तर में अपराध का स्वरूप कहते हैं –

संसिद्धिराधसिद्धं[२], साधिदमाराधिदं च एयट्ठं[३]।
अवगदराधो जो खलु, चेदा सो होदि अवराधो॥ ३०४॥
जो पुण णिरावराधो, चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि।
आराहणाइ णिच्चं, वट्टेइ अहं ति जाणंतो॥ ३०५॥

संसिद्धि सिद्धि जु राध, अरु साधित अराधित एक है।
बस! राध से जो रहित है, वह आतमा अपराध है॥ ३०४॥
अरु आतमा जो निरपराधी, होय वह निःशङ्क तो।
वर्ते सदा आराधना से, जानता 'मैं' आत्म को॥ ३०५॥

अर्थ – संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित, आराधित – ये सभी शब्द एकार्थवाची हैं; इसलिए जो

---

१. *निःशंकस्तु* - 'अ' प्रति पाठ
२. *संसिद्धिराधसिद्धी* - तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ
३. *वट्टदि अहमिदि वियाणंतो* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

अपगतराध कहिये राध सूं रहित होय सो आत्मा अपराध है॥ छ॥

वहुरि जो आत्मा, अपराध नाही, निरपराध है सो निःशंक है, शंकारहित[१] है। आप कूं मैं हौं अैसैं जानता संता आराधना करि वर्तै है॥ छ॥

॥ टीका॥ परद्रव्य का परिहार करिकैं जो शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन सो राध कहिये॥ तहां जिस चेतयिता आत्मा कै राध कहिये शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन, अपगत कहिये दूरिवर्त्ती होय सो आत्मा अपराध है॥ अथवा याका दूसरा समासविग्रह अैसा, जिस भाव का राध दूरवर्त्ती होय, तिस भाव कूं अपराध कहिये। सो तिस अपराध करि जो आत्मा वर्त्तै सो आत्मा सापराध है॥ सो अैसा आत्मा, परद्रव्य के ग्रहण का सद्भाव तैं शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव तैं ताकै वंध की शंका का संभव होतैं, आप स्वयं अशुद्धपणां तैं अनाराधक ही है, आराधना करनेंवाला नाही है॥

वहुरि जो आत्मा, अपराधरहित निरपराध है॥ सो समस्त परद्रव्य परिग्रह का परिहार करिकैं शुद्ध आत्मा की सिद्धि के सद्भाव तैं, ताकै वंध की शंका का असंभव कूं होतैं संता[२] अैसैं निश्चय करता वर्त्तै जो मैं, उपयोग ही है एक लक्षण जाका, अैसा एक शुद्ध आत्मा ही हौं सो आत्मा नित्य ही शुद्ध आत्मा की सिद्धि है लक्षण जाका, अैसी आराधना करि वर्त्तमान होय है, तातैं आराधक ही है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ संसिद्धि राध सिद्ध साधित आराधित, इनि शव्दनि का अर्थ एक ही है सो इहां

चेतयिता आत्मा, अपगतराध अर्थात् राध से रहित होता है, वह आत्मा, अपराध है॥ ३०४॥

लेकिन जो आत्मा अपराध नहीं है, निरपराध है; वह निःशङ्क है, शङ्कारहित है। स्वयं को 'मैं [आत्मा] हूँ' – ऐसा जानता हुआ आराधनासहित [सदा] वर्तता है।

टीका – परद्रव्य का परिहार करके जो शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन, उसे **राध** कहते हैं। वहाँ जिस चेतयिता आत्मा के राध अर्थात् शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन, अपगत अर्थात् दूर हो गया है, वह आत्मा **अपराध** है अथवा इसका दूसरा समास-विग्रह इस प्रकार है – जिस भाव से राध दूर हो गया है, उस भाव को **अपराध** कहते है; अतः उस अपराधसहित जो आत्मा रहती है, वह आत्मा **सापराध** है – ऐसा आत्मा, परद्रव्य के ग्रहण का सद्भाव होने से शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव के कारण, बन्ध की शङ्का सम्भवित होने से, स्वयं अपनी अशुद्धता के कारण अनाराधक ही है अर्थात् आराधना करनेवाला नहीं है।

जो आत्मा, अपराधरहित निरपराध है, वह समस्त परद्रव्य के परिग्रह का परिहार करके शुद्ध आत्मा की सिद्धि के सद्भाव से बन्ध की शङ्का नहीं होने से ऐसा निश्चय करता हुआ वर्तता है कि 'मैं एक उपयोग लक्षणवाला शुद्ध आत्मा ही हूँ।' इस प्रकार वह आत्मा, नित्य ही शुद्ध आत्मा की सिद्धि लक्षणवाली आराधनासहित वर्तता है, इसलिए आराधक ही है।

भावार्थ – संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित, आराधित - इन शब्दों का अर्थ एक ही है। यहाँ, राध

---

१. *संकारहित* - 'अ' प्रति पाठ

२. *संता* - 'ब' प्रति में पाठ नहीं

राध नाम शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन का है सो जाकै यह नाही सो आत्मा सापराध है अर यह जाकै होय सो निरपराध है॥ सो सापराध है, ताकै वंध की शंका संभवै है, तातैं अनाराधक है अर निरपराध है सो निशंक भया अपनें उपयोग मैं लीन होय, तव वंध की शंका नाही अर सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतप का एकभावरूप निश्चय आराधनां का आराधक ही है॥ छ॥

अव, इस अर्थ का कलशरूप काव्य है॥

॥ मालिनी॥

अनवरतमनन्तै-र्वध्यते साऽपराधः,
स्पृशति निरपराधो, बन्धनं नैव जातु॥
नियतमयमशुद्धं, स्वं भजन् साऽपराधो,
भवति निरपराधः, साधु शुद्धात्मसेवी॥ ८॥

॥ अर्थ॥ जो आत्मा सापराध है सो तौ निरंतर अनंत पुद्गल परमाणुरूप कर्मनि करि वंधै है॥ वहुरि जो निरपराध है सो वंधन कूं कदाचित् नाही स्पर्शै है॥ वहुरि यह सापराध आत्मा है सो तौ अपनें आत्मा कूं नियम करि अशुद्ध ही सेवता सापराध ही होय है॥ वहुरि जो निरपराध है सो भलै प्रकार शुद्ध आत्मा का सेवनेंवाला होय है॥ छ॥

[॥ पुनः टीका॥] आगैं, व्यवहारनय का आलंवी तर्क करै है जो इस शुद्ध आत्मा का सेवन

का अर्थ शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन है; अतः यह जिसके नहीं है, वह आत्मा **सापराध** है और यह जिसके हो, वह **निरपराध** है। जो सापराध है, उसको शङ्का होती है, इसलिए वह अनाराधक है और जो निरपराध है, वह निशङ्क होकर जब अपने उपयोग में लीन होता है तो उसे बन्ध की शङ्का नहीं होती है और वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप की एकभावरूप निश्चय आराधना का आराधक ही है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ दोहा॥

परग्राही अपराधिजन, बाँधे कर्म सदीव।
स्व में ही संवृत्त जो, वह ना बँधे कदीव॥ १८६॥

अर्थ – जो आत्मा सापराध है, वह तो निरन्तर अनन्त पुद्गल परमाणुरूप कर्मों से बँधता है और जो निरपराध है, वह बन्धन को कभी भी स्पर्श नहीं करता है। जो सापराध आत्मा है, वह तो अपने आत्मा को नियम से अशुद्ध ही सेवन करता हुआ, सापराध ही होता है और जो निरपराध आत्मा है, वह सम्यक् प्रकार से शुद्ध आत्मा का सेवन करनेवाला होता है।

[पुनः टीका] – अब, व्यवहारनय का अवलम्बी तर्क करता है कि इस शुद्ध आत्मा के

का प्रयास कहिये खेद, ता करि कहा है॥ जातैं प्रतिक्रमण आदि प्रायश्चित्त है, ता करि ही आत्मा निरपराध होय है॥ जातैं सापराध कै तौ अप्रतिक्रमणादि हैं सो अपराध के दूरि करनेंवाले नाही है, तातैं तिनिकूं विषकुंभ कहै हैं॥ वहुरि निरपराध कै प्रतिक्रमणादिक हैं, ते तिस अपराध के दूरि करनेंवाले हैं, तातैं तिनिकूं अमृतकुंभ कहे हैं॥

सो ही व्यवहार का कहनेंवाला आचारसूत्र विषै कह्या है॥ उक्तं च गाथा॥

अपडिक्कमणमपडिसरणं, अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य विसकुंभो॥ १॥
पडिकमणं पडिसरणं, परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही, अट्ठविहो अमयकुंभो दु॥ २॥

॥ इनिका अर्थ॥ अप्रतिक्रमण अप्रतिशरण अपरिहार अधारणा अनिवृत्ति अनिंदा अगर्हा अशुद्धि, ऐसैं आठ प्रकार करिकै, लगे दोष का प्रायश्चित्त न करणां[१] सो तौ विषकुंभ है, जहर का भर्या घडा है॥

वहुरि प्रतिक्रमण प्रतिशरण परिहार धारणा निवृत्ति निंदा गर्हा शुद्धि, ऐसैं आठ प्रकार करि लगे

सेवन का प्रयास अर्थात् खेद करने से क्या लाभ है? क्योंकि प्रतिक्रमण आदि प्रायश्चित से ही आत्मा निरपराध होता है, सापराध के अप्रतिक्रमण आदि तो अपराध को दूर करनेवाले नहीं है; अत: उन्हें विषकुम्भ कहा है तथा निरपराध के जो प्रतिक्रमण आदि होते हैं, वे उस अपराध को दूर करनेवाले हैं; अत: उन्हें अमृतकुम्भ कहा है।

यही, व्यवहार का कथन करनेवाले आचारसूत्र की गाथाओं में भी कहा है —

॥ हरिगीतिका॥

अनप्रतिक्रमण, अनप्रतिसरण, अनपरिहरण अनधारणा।
अनिवृत्ति अनगर्हा अनिन्दा, अशुद्धि – ये विषकुम्भ है॥ १॥
प्रतिक्रमण अरु प्रतिसरण त्यों, परिहरण निवृत्ति धारणा।
अरु शुद्धि निन्दा गर्हणा – ये अष्ट अमृतकुम्भ हैं॥ २॥

इनका अर्थ – अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि – इन आठ प्रकारों से, लगे दोषों का प्रायश्चित्त नहीं करना, वह तो **विषकुम्भ** है अर्थात् जहर से भरा घड़ा है॥ १॥

तथा प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि – इन आठ प्रकारों से, लगे दोषों का प्रायश्चित्त करना, वह **अमृतकुम्भ** है॥ २॥

---

१. *करणां* – 'ब' प्रति पाठ

दोष का प्रायश्चित्त करणां सो अमृतकुंभ है॥

ऐसैं व्यवहारनय के पक्षी नैं तर्क कीया, ताका समाधान आचार्य निश्चयनय कूं प्रधान करि कहै है॥ छ॥

पडिकमणं पडिसरणं, परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही, अट्ठविहो होइ विसकुंभो॥ १९॥
अप्पडिक्मणमपडिसरणं[१] अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही[२] अमयकुंभो॥ २०॥

॥ युग्मं॥

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं, परिहारो धारणा निवृत्तिश्च।
निन्दा गर्हा शुद्धिरष्टविधो भवति विषकुम्भः॥ छ॥
अप्रतिक्रमणमप्रतिसरण[३] मपरिहारोऽधारणा चैव।
अनिवृत्तिश्चाऽनिन्दाऽगर्हाऽशुद्धिरमृतकुम्भः ॥ छ॥

इस प्रकार व्यवहारनय के पक्षपाती ने तर्क किया, उसके समाधान हेतु आचार्य, निश्चयनय को प्रधान करके कहते हैं —

पडिकमणं पडिसरणं, परिहारो[४] धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा[५] सोही, अट्ठविहो होदि विसकुंभो॥ ३०६॥
अप्पडिकमणं अप्पडिसरणं, अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोही[६] अमयकुंभो॥ ३०७॥

प्रतिक्रमण अरु प्रतिसरण त्यों, परिहरण निवृत्ति धारणा।
अरु शुद्धि निन्दा गर्हणा ये, अष्टविध विषकुम्भ हैं॥ ३०६॥
अनप्रतिक्रमण अनप्रतिसरण, अनपरिहरण अनधारणा।
अनिवृत्ति अनगर्हा अनिन्दा, अशुद्धि अमृतकुम्भ हैं॥ ३०७॥

---

१. *अपडिकममपडिसरणं* - 'ब' प्रति पाठ
२. *गरहा असोही* - 'अ' प्रति पाठ
३. *अप्रतिक्रमोऽप्रतिसरण* - 'ब' प्रति पाठ
४-५. *पडिहरणं / गरुहा* - तात्पर्यवृत्ति, सोलापुर एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन
६. *अणिंदाऽगरहाऽसोही* - अगास, अहिंसा मन्दिर एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ

॥ अर्थ ॥ प्रतिक्रमण प्रतिसरण परिहार धारणा, वहुरि निवृत्ति निंदा गर्हा शुद्धि, अैसैं आठ प्रकार तौ विषकुंभ है॥ जातैं यामैं कर्त्तापणां की वुद्धि संभवै है अर कर्त्तापणां है सो वंध का कारण है॥ छ॥

वहुरि अप्रतिक्रमण प्रतिसरण अपरिहार अधारणा, वहुरि अनिवृत्ति अनिंदा अगर्हा अशुद्धि, अैसैं आठ प्रकार अमृतकुंभ है॥ जातैं इहां कर्त्तापणां का निषेध है, किछू ही न करनां, तातैं वंध तैं रहित है॥ छ॥

॥ टीका ॥ जो प्रथम, अज्ञानीजन तैं साधारण अप्रतिक्रमणादिक है सो तौ शुद्धात्मा का सिद्धि का अभाव स्वभावरूप है, तातैं स्वयमेव 'अपराधपणां तैं विषकुंभ'[१] ही है, तातैं ताके विचार करि तौ कहा, वह तौ पहलैं ही त्यागनें योग्य है॥ वहुरि जो द्रव्यप्रतिक्रमणादिक है सो सर्व 'अपराधरूप विष के दोष कूं'[२] अनुक्रम करि काटनें[३] विषै समर्थपणां करि अमृतकुंभ भी व्यवहार आचारसूत्र मैं कह्या है, तौऊ प्रतिक्रमण अप्रतिक्रमण आदि दोऊ तैं विलक्षण, अैसी अप्रतिक्रमण आदि स्वरूप तीसरी भूमि कूं नाही देषनेंवाले पुरुष कै दोष का काटनां जो अपनां कार्य, ताके करनें विषै असमर्थपणां करि विपक्ष जो वंध, ताका कार्य करणेंवालापणां तैं प्रतिक्रमणादिक है सो विषकुंभ ही है॥

वहुरि अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि है सो आप स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप है, तिसपणां

अर्थ – प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि – यह आठ प्रकार का तो **विषकुम्भ** है क्योंकि इनमें कर्तापने की बुद्धि होती है और कर्तापना, वह बन्ध का कारण है।

तथा अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि – यह आठ प्रकार का **अमृतकुम्भ** है क्योंकि यहाँ कर्तापने का निषेध है अर्थात् कुछ भी नहीं करना; अत: यह बन्ध से रहित है।

टीका – प्रथम तो अज्ञानीजनों को जो साधारण अप्रतिक्रमण आदि होते हैं, वे शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभावरूप स्वभाववाले हैं, अत: स्वयं ही अपराधरूप होने से विषकुम्भ ही हैं; इसलिए **उनका विचार करने से तो क्या लाभ है?** – वे तो पहले ही त्यागने योग्य हैं तथा जो द्रव्यप्रतिक्रमण आदि हैं, वे सब अपराधरूप विष के दोष को अनुक्रम से काटने में समर्थ होने से व्यवहार आचारसूत्र में अमृतकुम्भ भी कहे गए हैं; फिर भी प्रतिक्रमण, अप्रतिक्रमण आदि दोनों से विलक्षण ऐसी अप्रतिक्रमण आदिस्वरूप तीसरी भूमिका को न देखनेवाले पुरुष को, दोषों के काटनेरूप अपने कार्य को करने में असमर्थ होने से, विपक्ष अर्थात् बन्ध का कार्य करनेवाले होने से [व्यवहार या द्रव्य] प्रतिक्रमण आदि भी विषकुम्भ ही हैं।

यहाँ जो अप्रतिक्रमण आदिरूप तीसरी भूमिका है, वह स्वयं ही शुद्ध आत्मा की सिद्धिरूप है अर्थात् सर्व अपराधरूप विष के दोषों को सम्पूर्णत: नष्ट करनेवाली है, अत: वह स्वयं साक्षात्

---

१. *अपराध दोषरूप* – 'ब' प्रति पाठ
२. *अपराधरूपपणां तैं विष के* – 'ब' प्रति पाठ
३. *मेटनैं* – 'ब' प्रति पाठ

करि सर्व अपराधरूप विष के दोष, तिनिकी सर्व की काटनेंवाली[१] है, तातैं साक्षात् आप स्वयं अमृतकुंभ है॥ सो ऐसैं होती या भूमि व्यवहार करिकैं द्रव्यप्रतिक्रमणादिक कै भी अमृतकुंभपणां कूं साधै है॥ तिस तीसरी भूमि ही करि चेतयिता आत्मा निरपराध होय है, इस तीसरी भूमिका का अभाव होतैं द्रव्यप्रतिक्रमणादिक है सो भी अपराध ही है, यातैं यह ठहरी जो अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि ही करि निरपराधपणां है॥ ताकी प्राप्ति कै अर्थि ही यह द्रव्यप्रतिक्रमणादिक है॥ तातैं ऐसैं मति मानूं जो निश्चयनय का शास्त्र है सो द्रव्यप्रतिक्रमणादिक कूं छुडावै है॥

तौ कहा कहै है॥ द्रव्यप्रतिक्रमणादिक ही करि आत्मा वंध तैं नाही छूटै है॥ इस सिवाय अन्य भी प्रतिक्रमण अप्रतिक्रमण आदि कै अगोचर, अप्रतिक्रमणादिरूप शुद्धात्मा की सिद्धि है लक्षण जाका अर करनां जाका कठिन[२], ऐसा किछू करावै है॥ सो इहां ही आगैं कहसी, ताकी गाथा॥

कम्मं जं पुव्वकयं, सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥ १॥[३]

इत्यादिक निश्चयप्रतिक्रमणादि का स्वरूप आगैं कहसी, तहां इस गाथा का भी अर्थ लिषियेगा॥ छ॥

अमृतकुम्भ है; इस प्रकार उत्पन्न हुई यह भूमिका व्यवहार से द्रव्यप्रतिक्रमण आदि के भी अमृतकुम्भपने को साधती है, इस तीसरी भूमिका से ही चेतयिता आत्मा निरपराध होता है। इस तीसरी भूमिका का अभाव होने पर द्रव्यप्रतिक्रमण आदि भी अपराध ही हैं। अत: यह सिद्ध हुआ कि अप्रतिक्रमण आदिरूप तीसरी भूमिका ही से निरपराधपना होता है, उसकी प्राप्ति के लिए ही यह द्रव्यप्रतिक्रमण आदि हैं। इसलिए ऐसा मत मानो कि निश्चयनय के शास्त्र, द्रव्यप्रतिक्रमण आदि को छुड़ाते हैं।

तो वे क्या कहते हैं? – द्रव्यप्रतिक्रमण आदि [मात्र] ही से आत्मा, बन्ध से नहीं छूटता है; इसके अतिरिक्त अन्य भी प्रतिक्रमण अप्रतिक्रमण आदि से अगोचर, अप्रतिक्रमण आदिरूप शुद्ध आत्मा की सिद्धि लक्षणवाले और कठिनाई से प्राप्त होनेवाले, ऐसे कुछ कार्य कराते हैं; उसे इसी ग्रन्थ में आगे कहेंगे, उसकी गाथा (पद्यानुवाद) निम्न प्रकार है —

॥ हरिगीतिका॥

शुभ और अशुभ अनेकविध के कर्म पूरव जो किये।
उनसे निवर्ते आत्म जो, वह आतमा प्रतिक्रमण है॥[४]

[**अर्थ** – अनेक प्रकार के विस्तारवाले पूर्वकृत शुभाशुभकर्मों से जो अपने को दूर रखता है, वह आत्मा **प्रतिक्रमण** है।]

इत्यादि (गाथा ३८३-३८६) द्वारा निश्चय प्रतिक्रमण आदि का स्वरूप आगे कहेंगे, वहाँ इस

---

१. *मेटनेंवाली* – 'ब' प्रति पाठ
२. *अतिकठिन* – 'ब' प्रति पाठ
३. समयसार, गाथा ३८३
४. समयसार गाथा ३८३ का पद्यानुवाद

॥ भावार्थ ॥ व्यवहारनय कै आलंवी कही जो लगे दोष का प्रतिक्रमणादि करि ही आत्मा शुद्ध होय है तौ पहलैं ही शुद्ध आत्मा का आलंवन का खेद करि कहा है, शुद्ध भयें पीछैं ताका आलंवन होय, पहलैं ही तौ आलंवन का खेद निःफल है॥ ताकूं आचार्य समझावै है जो द्रव्यप्रतिक्रमणादिक हैं, ते 'दोष का काटनेंवाला'[१] है, परंतु शुद्ध आत्मा का स्वरूप प्रतिक्रमणादि रहित है, ताका आलंवन[२] विनां तौ द्रव्यप्रतिक्रमणादि हैं, ते दोषस्वरूप ही हैं, दोष कूं काटनें[३] कूं समर्थ नाही, जातैं निश्चय की सापेक्षसहित तौ व्यवहारनय, मोक्षमार्ग मैं है अर केवल व्यवहार ही का पक्ष तौ मोक्षमार्ग मैं नाही, वंध ही का मार्ग है। तातैं अैसैं कह्या है जो अज्ञानी कै जे अप्रतिक्रमणादिक हैं, ते तौ विषकुंभ हैं ही, तिनिकी तौ कहा कथा परंतु जे व्यवहारचारित्र मैं प्रतिक्रमणादिक कहे हैं ते भी निश्चयनय करि विषकुंभ ही हैं, जातैं आत्मा तौ प्रतिक्रमणादिक करि रहित शुद्ध अप्रतिक्रमण आदिक स्वरूप है, अैसैं जाननां॥ छ॥

अव, इस कथन के कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

अतो हताः प्रमादिनो, गताः सुखासीनतां,
प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालम्बनम्[४]।

गाथा का अर्थ भी विस्तार से लिखेंगे।

भावार्थ – व्यवहारनय के अवलम्बी ने (गाथा की उत्थानिका में पहले) कहा था कि ''लगे हुए दोषों से, प्रतिक्रमण आदि करके ही आत्मा शुद्ध होता है तो फिर पहले से ही शुद्ध आत्मा के अवलम्बन का खेद करने से क्या प्रयोजन है? शुद्ध होने के बाद उसका अवलम्बन [स्वयमेव] होता है, इसलिए पहले ही से अवलम्बन का खेद करना, निष्फल है।''

उसे आचार्य समझाते हैं कि द्रव्यप्रतिक्रमण आदि तो दोषों को मिटानेवाले हैं परन्तु शुद्ध आत्मा का स्वरूप प्रतिक्रमणरहित है; उसके अवलम्बन बिना तो द्रव्यप्रतिक्रमण आदि भी दोषस्वरूप ही हैं, वे दोषों को मिटाने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि निश्चय की अपेक्षासहित व्यवहारनय तो मोक्षमार्ग में होता है; केवल व्यवहार ही का पक्ष तो मोक्षमार्ग में नहीं है, वह तो बन्ध ही का मार्ग है। इसीलिए ऐसा कहा है कि अज्ञानी के अप्रतिक्रमण आदि तो विषकुम्भ हैं ही, उनकी तो क्या कथा कहें, बल्कि जो व्यवहारचारित्र में प्रतिक्रमण आदि कहे हैं, वे भी निश्चयनय से विषकुम्भ ही हैं क्योंकि आत्मा तो प्रतिक्रमण आदि से रहित शुद्ध अप्रतिक्रमण आदिस्वरूप है – ऐसा जानना।

अब, इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

अरे! मुक्ति के मार्ग में, चापल्य अरु परमाद को।
है नहीं कोई जगह कोई, और आलम्बन नहीं॥

---

१. *दोष के मेटनेंवाले* – 'ब' प्रति पाठ
२. *आलंव* – 'ब' प्रति पाठ
३. *मेटनें* – 'ब' प्रति पाठ
४. *चापलमुन्मीलितमालम्बनम्* – 'अ' 'ब' प्रति पाठ

आत्मन्येवाऽलानितं च चित्त-
माऽसम्पूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥ ९ ॥[१]

॥ अर्थ ॥ इस कथन तैं सुख करि वैठनेंपणां कूं प्राप्त भये अैसे प्रमादी जीवनि कूं तौ ताडै हैं, जे निश्चयनय का आश्रय ले प्रमादी होय प्रवर्त्तै, तिनिकूं ताडि करि उद्यम लगाये हैं ॥ वहुरि चपलपणां का प्रलय कीया है, जे स्वछंद वर्त्तै, तिनिका स्वछंदपणां मेट्या है ॥ वहुरि आलंवन कूं उपाड्या है, जे व्यवहार की पक्ष करि परद्रव्य का तथा द्रव्यप्रतिक्रमणादि का आलंवन ले संतुष्ट होय हैं, तिनिका आलंवन छुडाया है। वहुरि चित्त कूं आत्मा ही विषै आलानित कीया है, थांभ्या है, व्यवहार के आलंवन मैं अनेक प्रवृत्ति मैं चित्त भ्रमै था सो शुद्ध आत्मा ही विषै लगाया है ॥ जहां तांई संपूर्ण विज्ञानघन आत्मा की प्राप्ति न होय, तहां तांई चैतन्यमात्र आत्मा विषै चित्त लग्या रहै, अैसैं थांभ्या है ॥ अैसैं जाननां ॥ छ ॥

अव कहै है जो इहां निश्चयनय करि प्रतिक्रमणादिक कूं तौ विषकुंभ कह्या अर अप्रतिक्रमणादि कूं अमृतकुंभ कह्या, ताकूं कोई उलटी समझि प्रतिक्रमणादिक कूं छोडि प्रमादी होय, ताकूं समझावनें कूं कलशरूप काव्य कहै है ॥

॥ वसन्ततिलका ॥

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं,
तत्राऽप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।

बस! इसलिए ही जब तलक, आनन्दघन निज आतमा।
प्राप्त न हो तब तलक तुम, नित्य ध्यावो आतमा॥ १८८॥

अर्थ – इस कथन से सुख से बैठे हुए प्रमादीजनों को ताड़ना दी है अर्थात् जो निश्चयनय का आश्रय लेकर, प्रमादी होते हुए प्रवर्तन कर रहे हैं, उन्हें ताड़ना देकर उद्यम में लगाया है; चपलता का नाश किया है अर्थात् जो स्वच्छन्द होकर प्रवर्तन कर रहे हैं, उनकी स्वच्छन्दता मिटाई है; आलम्बन को उखाड़ा है अर्थात् जो व्यवहार का पक्ष लेकर, परद्रव्यों और द्रव्यप्रतिक्रमण आदि का अवलम्बन लेकर सन्तुष्ट हो रहे हैं, उनका अवलम्बन छुड़ाया है; चित्त को आत्मा ही में स्तम्भित किया है, रोका है अर्थात् व्यवहार के अवलम्बन के समय, चित्त अनेक प्रवृत्तियों में भ्रमण करता था, उसे शुद्ध आत्मा ही में लगाया है तथा जब तक सम्पूर्ण विज्ञानघन आत्मा की प्राप्ति नहीं हो जाती है, तब तक चैतन्यमात्र आत्मा में चित्त लगा रहे, इस तरह चित्त को स्थिर किया है – ऐसा जानना।

अब कहते हैं कि यहाँ निश्चयनय से प्रतिक्रमण आदि को तो विषकुम्भ कहा है और अप्रतिक्रमण आदि को अमृतकुम्भ कहा है परन्तु कोई विपरीत समझ कर प्रतिक्रमण आदि को छोड़ कर प्रमादी जो जाए तो उसे समझाने के लिए कलशरूप काव्य कहते हैं —

---

१. इस छन्द का नाम भाषा टीका में नहीं लिखा है क्योंकि इसके चार चरणों में मात्राओं और वर्णों की संख्या सुनिश्चित नहीं है, अत: छन्द का निर्धारण करना मुश्किल हो रहा है।

तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः,
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः[१]॥ १०॥

॥ अर्थ॥ अहो भाई, जहां प्रतिक्रमण ही कूं विष कह्या, तहां अप्रतिक्रमण काहे तैं अमृत होय॥ तातैं यह जन नीचैं नीचैं पडता संता प्रमादरूप क्यों होय हैं, निःप्रमादी भया संता ऊंचा ऊंचा क्यों नाही चढै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ आचार्य कहै है जो अज्ञान अवस्था मैं जो अप्रतिक्रमणादिक था, ताकी तौ कथा ही कहा। इहां तौ निश्चयनय कूं प्रधान करि अर द्रव्यप्रतिक्रमणादिक शुभ प्रवृत्तिरूप थे, तिनिकी पक्ष छुडावनें कूं, तिनिकूं तौ विषकुंभ कहे हैं, जातैं ए कर्मवंध के ही कारण हैं। वहुरि अप्रतिक्रमण प्रतिक्रमण तैं रहित तीसरी भूमि शुद्ध आत्मस्वरूप है सो प्रतिक्रमणादि तैं रहित है। तातैं तहां के अप्रतिक्रमणादिक कूं अमृतकुंभ कह्या है, तिस भूमि विषै चढावनें कूं उपदेश कीया है॥

सो प्रतिक्रमणादिक कूं विषकुंभ कहे सुणि करि जो प्रमादी होय है, ताकूं कहै है, यह जन नींचा नींचा क्यौं पडै है॥ तीसरी भूमि मैं ऊंचा ऊंचा क्यौं नाही चढै है। जहां प्रतिक्रमण कूं विषकुंभ

॥ रोला॥

प्रतिक्रमण भी अरे! जहाँ विष-जहर कहा हो,
अमृत कैसे कहें वहाँ अप्रतिक्रमण को?
अरे! प्रमादी लोग अधोऽधः क्यों जाते हैं?,
इस प्रमाद को त्याग ऊर्ध्व में क्यों नहिं जाते?॥ १८९॥

अर्थ – अरे भाई! जहाँ प्रतिक्रमण ही को विषकुम्भ कहा है, वहाँ अप्रतिक्रमण कैसे अमृत हो सकता है? फिर भी यह जीव नीचे की ओर गिरता हुआ प्रमादी क्यों हो रहा है? निष्प्रमादी होता हुआ ऊपर की ओर क्यों नहीं चढ़ता है?

भावार्थ – आचार्य कहते हैं कि अज्ञान अवस्था में जो अप्रतिक्रमण आदि थे, **उनकी तो कथा ही क्या कहें?** यहाँ तो निश्चयनय को प्रधान करके, जो द्रव्यप्रतिक्रमण आदि शुभप्रवृतिरूप थे, उनका भी पक्ष छुड़ाने के लिए, उन्हें भी विषकुम्भ कहा है क्योंकि वे कर्मबन्ध के ही कारण हैं तथा अप्रतिक्रमण-प्रतिक्रमण से रहित तीसरी भूमिका, शुद्ध आत्मस्वरूप है, वह प्रतिक्रमण आदि से रहित है; अतः उन अप्रतिक्रमण आदि को अमृतकुम्भ कहा है, उस भूमिका में चढ़ाने के लिए उपदेश दिया है।

यहाँ प्रतिक्रमण आदि को विषकुम्भ कहा है – ऐसा सुन कर जो प्रमादी होते हैं, उन्हें कहते हैं कि **यह जीव नीचे-नीचे क्यों गिरता है? तीसरी भूमिका में ऊँचा-ऊँचा क्यों नहीं चढ़ता?** जहाँ प्रतिक्रमण को विषकुम्भ कहा, वहाँ तो उसके निषेधरूप अप्रतिक्रमण ही अमृतकुम्भ होगा; अतः यहाँ

---

१. *निःप्रमादः* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

कह्या, तहां तौ तिसका निषेधरूप अप्रतिकमण ही अमृतकुंभ होयगा सो यह अप्रतिक्रमणादिक अज्ञानी कै होय सो न जाननां, तीसरी भूमिका शुद्ध आत्मामयी जाननीं॥ छ॥

आगैं, इस अर्थ कूं दृढ़ करते संते काव्य कहैं हैं॥

॥ पृथ्वी॥

प्रमादकलितः कथं, भवति शुद्धभावोऽलसः,
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः॥
अतः स्वरसनिर्भरे, नियमितः स्वभावे भवन्,
मुनिः परमशुद्धतां, व्रजति मुच्यते वाऽचिरात्[१]॥ ११॥

॥ अर्थ॥ जातैं कषाय का भर कहिये भार, ताका गौरव कहिये भारयापणां, तातैं अलसता कहिये आलस्यपणां, ताकूं प्रमाद कहिये है सो अैसैं प्रमाद करि युक्त अलस[२] भाव होय सो शुद्धभाव कैसैं होय॥ यातैं आत्मीक रस करि भर्या स्वभाव विषै निश्चल होता संता मुनि है सो परमशुद्धता कूं प्राप्त होय है। वहुरि शीघ्र ही, थोरे ही काल मैं कर्मवंध तैं छूटै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ प्रमाद तौ कषाय का गौरव तैं होय है सो प्रमादी कै शुद्धभाव होय नाही। जो मुनि, उद्यम करि स्वभाव मैं प्रवर्त्तै है सो शुद्ध होय करि मोक्ष कूं प्राप्त होय है॥ छ॥

जो अज्ञानी के अप्रतिक्रमण आदि होते हैं, उन्हें न समझ कर शुद्ध आत्मामयी तीसरी भूमिका जानना।

अब, इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

कषायभाव से आलस करना ही प्रमाद है,
यह प्रमाद का भाव शुद्ध कैसे हो सकता?।
निजरस से परिपूर्ण भाव में अचल रहें जो,
अल्पकाल में वे मुनिवर ही बन्धमुक्त हों॥ १९०॥

अर्थ – कषाय के भर अर्थात् भार के गौरव अर्थात् भारीपन से उत्पन्न होनेवाले अलसता अर्थात् आलस्य को प्रमाद कहा जाता है – ऐसे प्रमाद से युक्त आलस्य का भाव, **शुद्धभाव कैसे हो सकता है?** इसलिए आत्मिकरस से परिपूर्ण स्वभाव में निश्चल रहता हुआ मुनि ही, परमशुद्धता को प्राप्त होता है और शीघ्र अल्पकाल में ही वह कर्मबन्ध से छूट जाता है।

भावार्थ – प्रमाद तो कषाय के भारीपन से होता है – ऐसे प्रमादी को शुद्धभाव नहीं होता है। जो मुनि उद्यमपूर्वक स्वभाव में प्रवर्तता है, वह शुद्ध होकर मोक्ष को प्राप्त होता है।

अब, मुक्त होने के अनुक्रम-सूचक काव्य को कहते हैं और मोक्ष अधिकार को पूर्ण करते हैं —

---

१. *चाचिरात्* - अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ। २. *अलसता* - 'अ' प्रति पाठ

अब, मुक्त होनें का अनुक्रम के अर्थरूप काव्य कहै है अर मोक्ष का अधिकार पूरण करै है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल पर-द्रव्यं समग्रं स्वयं,
स्वद्रव्ये[१] रतिमेति यः स नियतं, सर्वाऽपराधच्युतः॥
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः, स्वज्योतिरच्छोच्छलत्,
चैतन्याऽमृतपूरपूर्णमहिमा, शुद्धो भवन् मुच्यते॥ १२॥

॥ अर्थ॥ जो पुरुष, निश्चय करि अशुद्धता का करनेंवाला जो परद्रव्य, ताकूं सर्व कूं छोडि करि अर आप अपनें निजद्रव्य विषै रति कूं प्राप्त होय है, लीन होय है। सो पुरुष, नियम तैं सर्व अपराध तैं रहित भया संता, वंध का नाश कूं प्राप्त होय करि नित्य उदयरूप भया संता, अपनां स्वरूप का प्रकाशरूप ज्योति करि निर्मल उछलता जो चैतन्यरूप अमृत का प्रवाह, ता करि पूर्ण है महिमा जाकी, अैसा शुद्ध होता संता कर्मनि तैं छूटै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ पहलैं समस्त परद्रव्य का त्याग करि, अपनां निजद्रव्य आत्मस्वरूप विषै लीन होय है, सो सर्व रागादिक अपराध तैं रहित होय, आगामी वंध का नाश करै है अर नित्य उदयरूप केवलज्ञान कूं पाय शुद्ध होय, सर्व कर्म का नाश करि मोक्ष कूं प्राप्त होय है, यह मोक्ष होनें का अनुक्रम है॥ छ॥

अरे! अशुद्धता करनेवाले परद्रव्यों को,
अरे! दूर से त्याग स्वयं में लीन रहें जो।
अपराधों से दूर बन्ध का नाश करें वे,
शुद्धभाव को प्राप्त मुक्त हो जाते हैं वे॥ १९१॥

अर्थ – जो पुरुष, निश्चय से अशुद्धता को करनेवाले समस्त परद्रव्यों को छोड़ कर, स्वयं निजद्रव्य में रति को प्राप्त होता है, लीन होता है; वह पुरुष नियम से सर्व अपराधों से रहित होता हुआ, बन्ध के नाश को प्राप्त होकर, नित्य उदयरूप होता हुआ, अपने स्वरूप के प्रकाशरूप ज्योति के द्वारा निर्मल उछलते चैतन्यरूप अमृत के प्रवाह से पूर्ण महिमावान् शुद्ध होता हुआ, कर्मों से छूटता है।

भावार्थ – जो पुरुष, पहले समस्त परद्रव्यों का त्याग कर, निजद्रव्य अर्थात् आत्मस्वरूप में लीन होता है, वह सर्व रागादि अपराध से रहित होकर आगामी बन्ध का नाश करता है और नित्य उदयरूप केवलज्ञान को पाकर, शुद्ध होकर, सर्व कर्मों का नाश कर, मोक्ष को प्राप्त होता है – यही मोक्ष होने का अनुक्रम है।

---

१. *स्व द्रव्ये* - अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ

ऐसैं, मोक्ष का अधिकार पूर्ण भया, ताकै अंत मंगलरूप ज्ञान की महिमा का कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ मन्दाक्रान्ता॥

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं, मोक्षमक्षय्यमेतत्,
नित्योद्योतस्फुटितसहजाऽवस्थमेकान्तशुद्धम्।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरं,
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले[१], स्वस्य लीनं महिम्नि॥ १३॥

॥ अर्थ॥ यह ज्ञान है सो पूर्ण भया संता दैदीप्यमान प्रगट भया॥

कहा करता संता प्रगट भया॥ कर्म का वंध था, ताके छेद तैं अविनाशी अतुल जो मोक्ष, ताकूं प्राप्त होता संता॥

वहुरि कैसा प्रगट भया॥ नित्य है उद्योत प्रकाश जाका, ऐसी प्रफुल्लित भई है स्वाभाविक अवस्था जाकी॥

इस प्रकार मोक्ष अधिकार पूर्ण हुआ, उसके अन्त में मङ्गलरूप ज्ञान की महिमा करनेवाला कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

बन्ध-छेद से मुक्त हुआ यह शुद्ध आतमा,
निजरस से गम्भीर धीर परिपूर्ण ज्ञानमय।
उदित हुआ है अपनी महिमा में महिमामय,
अचल अनाकुल अज अखण्ड यह ज्ञान-दिवाकर॥ १९२॥

अर्थ – यह ज्ञान, पूर्ण होता हुआ दैदीप्यमान प्रगट हुआ है।

क्या करता हुआ प्रगट हुआ है? – कर्म के बन्धन को छेदने से, प्रगट अविनाशी अतुल मोक्ष को प्राप्त हुआ है।

कैसा प्रगट हुआ है? – नित्य उद्योतरूप प्रकाशवाली जिसकी स्वाभाविक अवस्था प्रफुल्लित हुई है।

और कैसा प्रगट हुआ है? – एकान्त शुद्ध अर्थात् उसमें कर्म का (रञ्चमात्र भी) मैल नहीं रहा है। अत्यन्त शुद्ध होकर प्रगट हुआ है।

और कैसा प्रगट हुआ है? — एक अपने ज्ञानमात्र आकार के निजरस के भार से अत्यन्त गम्भीर और धीर है अर्थात् जिसकी थाह नहीं है और जिसमें कुछ आकुलता नहीं है।

---

१. *ज्वलितमशने* - अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ

वहुरि कैसा प्रगट भया। एकांत शुद्ध कहिये ताकै कर्म का मैल न रह्या, अत्यंत शुद्ध भया प्रगट भया॥

वहुरि कैसा प्रगट भया॥ एक जो अपनां ज्ञानमात्र आकार, ताका निजरस का भार तैं अत्यंत गंभीर है अर धीर है, जाका थाह नाही अर जामैं किछू आकुलता नाही॥

वहुरि प्रगट होय करि कहा कीया॥ अचल जो कोई प्रकार चलै नाही, अैसी आपकी महिमा, ता विषै लीन भया॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ यह ज्ञान प्रगट भया सो कर्म का नाश करि मोक्षरूप होता अपनीं स्वाभाविक अवस्थारूप अत्यंत शुद्ध समस्त ज्ञेयाकार कूं गौण करि, ज्ञान का प्रकाश जाका थाह नाही, जामैं आकुलता नाही, अैसा प्रगट दैदीप्यमान होय करि, अपनीं महिमा विषै लीन भया॥ छ॥

अैसैं रंगभूमि विषै मोक्षतत्व का स्वांग आया था सो ज्ञान प्रगट भया मोक्ष का स्वांग निसरि गया॥ छ॥

॥ सवैया तेईसा॥

ज्यों नर कोय परयो दृढवंधन, वंधस्वरूप लषै दुखकारी।
चिंत करै निति केम कटै यह, तौऊ छिदै नहि नैंक टिकारी॥
छेदन कूं गहि आयुध धाय, चलाय निशंक करै दुय धारी।
यों वुध वुद्धि धसाय दुधा करि, कर्म रु आतम आप गहारी॥ १॥

और प्रगट होकर उसने क्या किया? — अचल अर्थात् जो किसी प्रकार भी चलायमान नहीं होता – ऐसी अपनी महिमा में लीन हुआ है।

भावार्थ – यह जो ज्ञान प्रगट हुआ है; वह कर्म का नाश कर, मोक्षरूप होता हुआ, अपनी स्वाभाविक अत्यन्त शुद्ध अवस्थारूप, समस्त ज्ञेयाकारों को गौण कर, जिसकी थाह नहीं – ऐसे ज्ञान के प्रकाशरूप होकर और जिसमें आकुलता नहीं है – ऐसा प्रगट दैदीप्यमान होकर, अपनी महिमा में लीन होता है।

इस प्रकार रङ्गभूमि में मोक्षतत्त्व का स्वाङ्ग आया था; जब ज्ञान प्रगट हुआ, तब वह मोक्ष का स्वाङ्ग बाहर निकल गया।

॥ सवैया तेईसा॥

ज्यों नर कोय पड़्यो दृढ़-बन्धन, बन्धस्वरूप लखै दुःखकारी।
चिन्त करै नित केम कटे यह, तो भी छिदे नहिं नैक टिकारी॥
छेदन को गहि आयुध धाय, चलाय निःशङ्क करे दुय धारी।
यों बुध बुद्धि घुसाय दुधा करि, कर्म रु आतम आप गहारी॥ १॥

इहां तांई गाथा ३०७ भई, कलसा १९२ भये॥[१]

ऐसैं इस समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति नामा 'टीका की वचनिका विषै'[२] **आठमां मोक्ष नामा अधिकार पूर्ण भया॥ ८॥ छ॥**[३]

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

[**अर्थ** – जैसे, कोई व्यक्ति दृढ़ बन्धन में पड़ा हुआ, बन्ध के स्वरूप को दुःखकारी जान कर, नित्य चिन्तन किया करता है कि यह बन्धन कैसे कटे? तो भी उसका बन्धन किञ्चित्मात्र भी नष्ट नहीं होता। लेकिन जब वह पुरुष, बन्धन को छेदने के लिए अस्त्र-शस्त्र लेकर, उसे निःशङ्क होकर चलाता है तो वह बन्धन और अपने को अलग-अलग कर देता है। इसी प्रकार ज्ञानी, बुद्धिरूपी अस्त्र-शस्त्र लेकर, उसे कर्म और आत्मा के बीच में घुसा कर उन्हें अलग-अलग कर देता है और अपनी आत्मा को ग्रहण कर लेता है।]

यहाँ तक गाथाएँ ३०७ और कलश १९२ हुए।[४]

इस प्रकार [आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेवप्रणीत] श्री समयसार ग्रन्थ की [आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेवविरचित] आत्मख्याति नामक [संस्कृत] टीका की [पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ा कृत] श्री समयसार वचनिका में आठवाँ मोक्ष अधिकार पूर्ण होता है।[५]

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

१,३, ४ व ५. यहाँ सम्पादन एवं एकरूपता की दृष्टि से अनुच्छेदों को आगे-पीछे किया गया है।

२. *टीका विषै* - 'अ' प्रति में पाठ

मोक्ष अधिकार परिशिष्टः

समयसार के मोक्ष अधिकार के समापन पर

श्री जयसेनाचार्य द्वारा रचित 'तात्पर्यवृत्ति टीका' में समागत विशेष व्याख्यान

परमपारिणामिकभाव का स्वरूप

(निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः)

समयसार की आचार्यश्री जयसेन द्वारा विरचित 'तात्पर्यवृत्ति' नामक संस्कृत टीका में मोक्ष अधिकार अथवा इसकी चूलिका के समाप्त होने के उपरान्त आचार्यदेव ने **'किञ्च विशेषः'** लिख कर, एक विशेष प्रकरण लिखा है। यद्यपि यह प्रकरण वहाँ समयसार की सुप्रसिद्ध गाथा ३२० के बाद आया है क्योंकि उनके अनुसार मोक्ष अधिकार इस गाथा के बाद ही पूर्ण होता है; अतः यहाँ आत्मकल्याण में अत्यन्त उपयोगी जान कर, मोक्ष अधिकार के बाद यह प्रकरण दिया जा रहा है।

– सम्पादक

किञ्च विशेषः।

औपशमिकादिपञ्चभावानां मध्ये केन भावेन मोक्षो भवतीति विचार्यते।

तत्रौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकौदयिकभावचतुष्टयं पर्यायरूपं भवति, शुद्धपरिणामिकस्तु द्रव्यरूप इति। तच्च परस्परसापेक्षं द्रव्यपर्यायद्वयमात्मपदार्थो भण्यते।

तत्र तावज्जीवत्वभव्यत्वाऽभव्यत्वत्रिविधपारिणामिकभावमध्ये शुद्धजीवत्वं शक्तिलक्षणं यत्पारिणामिकत्वं तच्छुद्धद्रव्यार्थिकनयाऽश्रितत्वान्निरावरणं शुद्धपारिणामिकभावसंज्ञं, तत्तु बन्धमोक्षपर्यायपरिणतिरहितम्।

अब यहाँ कुछ विशेष विचार करते हैं —

शङ्का – औपशमिकादि पाँच भावों में से किस भाव से मोक्ष होता है?

समाधान – इन पाँच भावों में औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक – ये चार भाव तो पर्यायरूप हैं और शुद्धपारिणामिकभाव द्रव्यरूप है। इस प्रकार परस्परसापेक्ष द्रव्य-पर्यायमय आत्मपदार्थ है।

वहाँ जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व – इन तीन पारिणामिकभावों में **'शुद्धजीवत्वशक्ति' लक्षणवाला जो पारिणामिकभाव है, वह शुद्धद्रव्यार्थिकनय के आश्रित होने से निरावरण है, उसकी 'शुद्धपारिणामिकभाव' संज्ञा है और वह बन्ध-मोक्षपर्यायरूप परिणति से रहित है।**

यत्पुनर्दशप्राणरूपं जीवत्वं भव्याऽभव्यत्वद्वयं च तत्पर्यायार्थिकनयाऽश्रितत्वादशुद्धपारिणामिकभावसंज्ञमिति।

कथमशुद्धमिति चेत्।

संसारिणां शुद्धनयेन, सिद्धानां तु सर्वथैव दशप्राणरूपजीवत्वभव्याऽभव्यत्वद्वयाऽभावादिति।

तस्य त्रयस्य मध्ये भव्यत्वलक्षणपारिणामिकस्य तु यथासम्भवं सम्यक्त्वादिजीवगुणघातकं देशघातिसर्वघातिसंज्ञं मोहादिकर्मसामान्यं, पर्यायार्थिकनयेन प्रच्छादकं भवति इति विज्ञेयम्।

तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति, तदाऽयं जीवः सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानाऽनुचरणपर्यायेण परिणमति।

तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माऽभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते। स च पर्यायः शुद्धपारिणामिकभावलक्षणशुद्धात्मद्रव्यात्कथञ्चिद्भिन्नः।

कस्मात्?

भावनारूपत्वात्। शुद्धपारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति।

जो दशप्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व हैं, वे ये पर्यायार्थिकनय के आश्रित हैं; अतः उनकी 'अशुद्धपारिणामिकभाव' संज्ञा है।

शङ्का – ये तीनों भाव अशुद्ध कैसे हैं?

समाधान – संसारी जीवों में शुद्धनय से और सिद्ध जीवों में सर्वथा ही दशप्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व का अभाव होने से वे तीनों भाव अशुद्ध हैं।

उन तीनों में भव्यत्वलक्षण पारिणामिकभाव के प्रच्छादक तो यथासम्भव सम्यक्त्वादि जीवगुणों के घातक देशघाति और सर्वघाति नाम के मोहादि कर्मसामान्य पर्यायार्थिकनय से होते हैं – ऐसा जानना।

वहाँ, जब कालादिलब्धि के वश से भव्यत्वशक्ति व्यक्त होती है; तब यह जीव सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणवाले निजपरमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप पर्याय से परिणमित होता है।

तथा, उस परिणमन को आगमभाषा में औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभाव और क्षायिकभावरूप 'भावत्रय' कहते हैं एवं उसे ही अध्यात्मभाषा में शुद्धात्माभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायवाची नामों से अभिहित किया जाता है, लेकिन वह पर्याय, शुद्धपारिणामिकभावलक्षणवाले शुद्धात्मद्रव्य से कथञ्चित् भिन्न है।

शङ्का – वह (शुद्धोपयोग आदिरूप) पर्याय, शुद्धात्मद्रव्य से कथञ्चित् भिन्न क्यों है?

समाधान – वह पर्याय, भावनारूप होने से कथञ्चित् भिन्न है क्योंकि शुद्धपारिणामिकभाव, भावनारूप नहीं होता है।

यद्येकान्तेनाऽशुद्धपारिणामिकादभिन्नो भवति, तदाऽस्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति, शुद्धपारिणामिकभावस्याऽपि विनाशः प्राप्नोति; न च तथा।

ततः स्थितम् – शुद्धपारिणामिकभावविषये या भावना, तद्रूपं यदौपशमिकाऽदिभावत्रयं तत्समस्तरागादिरहितत्वेन शुद्धोपादानकारणत्वान्मोक्षकारणं भवति, न च शुद्धपारिणामिकः। यस्तु शक्तिरूपो मोक्षः, स शुद्धपारिणामिके पूर्वमेव तिष्ठति। अयं तु व्यक्तिरूपमोक्षविचारो वर्तते।

तथा चोक्तं सिद्धान्ते —

'निष्क्रियः शुद्धपरिणामिकः'

'निष्क्रिय' इति कोऽर्थः?

बन्धकारणभूता या क्रिया रागादिपरिणतिः, तद्रूपो न भवति। मोक्षकारणभूता च क्रिया शुद्धभावनापरिणतिस्तद्रूपश्च न भवति।

ततो ज्ञायते – शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति, ध्यानरूपो न भवति।

यदि एकान्त से [शुद्धपारिणामिकभाव], अशुद्धपारिणामिकभाव से अभिन्न होता है तो मोक्ष की कारणभूत भावना [एकदेश शुद्धोपयोगादि] का मोक्ष-अवस्था में विनाश होने पर, शुद्धपारिणामिकभाव के भी विनाश का प्रसङ्ग प्राप्त होता है, परन्तु ऐसा है नहीं।

इससे यह सिद्ध होता है – शुद्धपारिणामिकभाव के प्रति जो भावना (अर्थात् जिस भावना में शुद्धपारिणामिकभाव भाया जाता है; वह भावना) होती है, या उस भावनारूप औपशमिकादि तीनों भाव, समस्त रागादिभावों से रहित होने के कारण शुद्ध-उपादानकारण होने से मोक्ष के कारण होते हैं, लेकिन **शुद्धपारिणामिकभाव, मोक्ष का कारण नहीं है।**

जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो शुद्धपारिणामिकभाव में पहले से ही विद्यमान है, जबकि यहाँ तो व्यक्तरूप (पर्यायरूप) मोक्ष का विचार किया जा रहा है।

सिद्धान्त में भी ऐसा कहा है —

'निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः'

अर्थात् **शुद्धपारिणामिकभाव निष्क्रिय है।**

शङ्का – यहाँ 'निष्क्रिय' शब्द से क्या तात्पर्य है?

समाधान – तात्पर्य यह है कि शुद्धपारिणामिकभाव, बन्ध की कारणभूत रागादिपरिणतिरूप क्रिया से तद्रूप नहीं होता तथा मोक्ष की कारणभूत शुद्धभावनापरिणतिरूप क्रिया से भी तद्रूप या तन्मय नहीं होता है।

इससे यह ज्ञात होता है – **शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप होता है, ध्यानरूप नहीं होता।**

कस्मात्?

ध्यानस्य विनश्वरत्वात्।

तथा योगीन्द्रदेवैरप्युक्तम् –

ण वि उपज्जइ ण वि मरइ, बंधु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थे जोइया, जिणवरु एउं भणेइ॥ १॥[१]

किञ्च विवक्षितैकदेशशुद्धनयाऽश्रितेयं भावना, निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणभेदक्षायोपशमिकज्ञानत्वेन यद्यप्येकदेशव्यक्तिरूपा भवति, तथापि ध्याता पुरुषः यदेव सकलनिरावरणमखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयमविनश्वरं शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणं निजपरमात्मद्रव्यं तदेवाऽहमिति भावयति, न च खण्डज्ञानरूपमिति भावार्थः।

इदं तु व्याख्यानं परस्परसापेक्षाऽगमाऽध्यात्मनयद्वयाऽभिप्रायस्याऽविरोधेनैव कथितं सिद्ध्यतीति ज्ञातव्यं विवेकिभिः।

शङ्का – ऐसा क्यों है?

समाधान – ऐसा इसलिए है क्योंकि ध्यान विनश्वर होता है।

योगीन्द्रदेव ने भी कहा है —

''हे योगि! ना उत्पन्न हो, मरता नहीं है आतमा।
परमार्थ से ना बन्ध ना ही, मोक्ष करता जिन कहा॥[२]

[**अर्थात्** हे योगी! परमार्थदृष्टि से तो यह जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है और न बन्ध-मोक्ष को करता है – ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा हैं।'']

विशेष बात यह है कि यद्यपि विवक्षित-एकदेशशुद्धनय (एकदेशशुद्धनिश्चयनय) के आश्रित यह भावना, निर्विकार-स्वसंवेदनलक्षणवाले क्षयोपशमज्ञानरूप होने से, एकदेशव्यक्तिरूप होती है; तथापि ध्यातापुरुष, यही भावना करता है कि **जो सकल निरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्षप्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्धपारिणामिकभावस्वरूप परमभावलक्षणवाला निजपरमात्मद्रव्य है; वही मैं हूँ, खण्डज्ञानरूप मैं नहीं हूँ** – ऐसा भावार्थ है।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण व्याख्यान, आगम और अध्यात्म – दोनों प्रकार के नयों के परस्पर-सापेक्ष अभिप्राय के अविरोधपूर्वक सिद्ध होता है – ऐसा विवेकियों को समझना चाहिए।[३] ●

---

१. परमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ६८

२. हिन्दी पद्यानुवाद, परमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ६८, प्रकाशक - श्री वीतराग साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, कोलकाता

३. इस हिन्दी अनुवाद में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित ज्ञायकभावप्रबोधिनी, हिन्दी टीका, पृष्ठ ४३८-४३९ एवं सोलापुर से प्रकाशित तात्पर्यवृत्ति टीकासहित समयसार, पृष्ठ ३२२-३२५ का विशेष सहयोग लिया गया है।

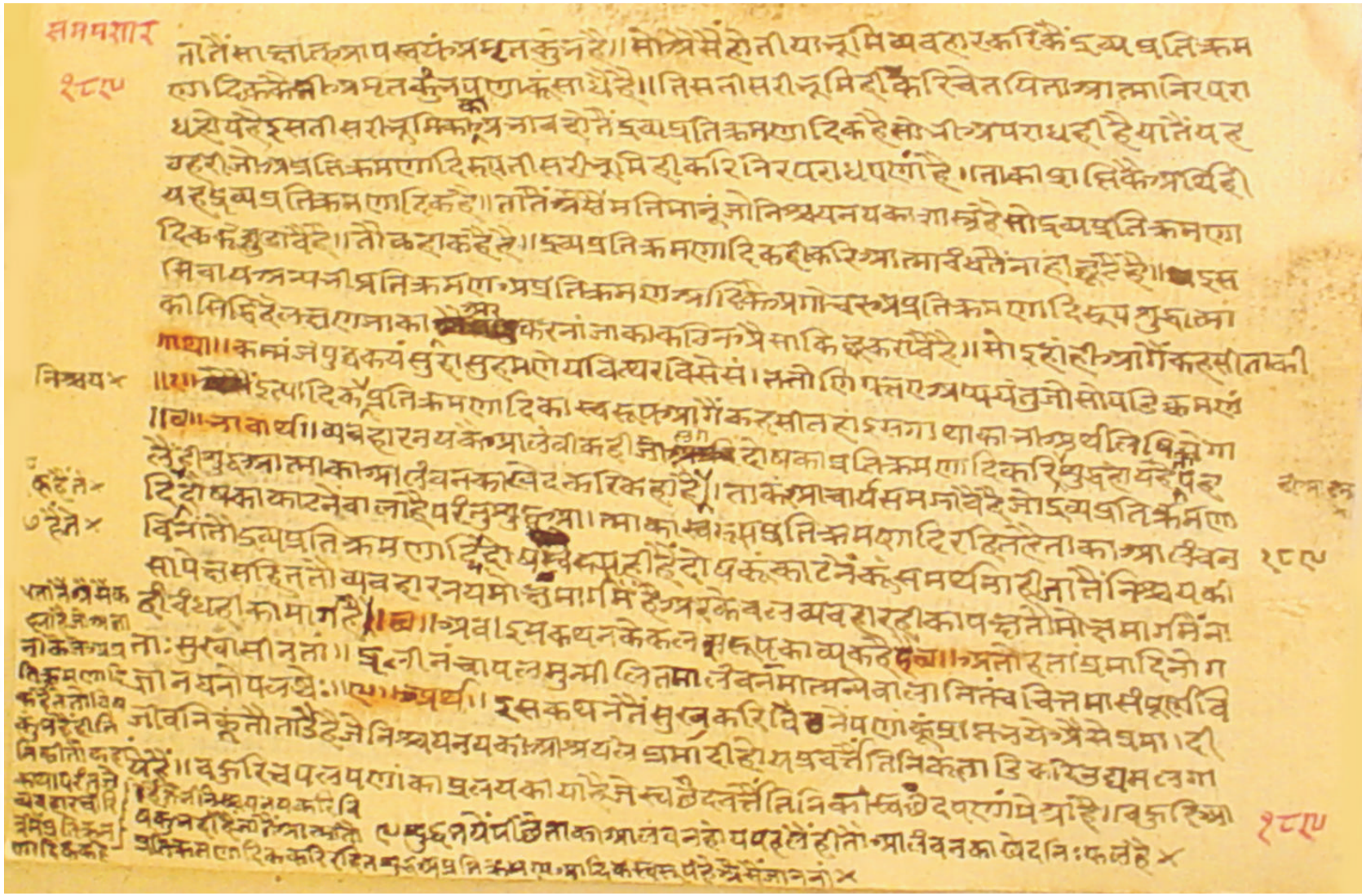

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १८९ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर मोक्ष अधिकार की अन्तिम गाथा १९-२० (३०६-३०७) की टीका में प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण से भिन्न तीसरी भूमिका के सम्बन्ध में लिखा है - **'तिस तीसरी भूमि ही करि चेतयिता आत्मा निरपराध होय है, इस तीसरी भूमिका का अभाव होतैं द्रव्यप्रतिक्रमणादिक है सो भी अपराध ही है।'**

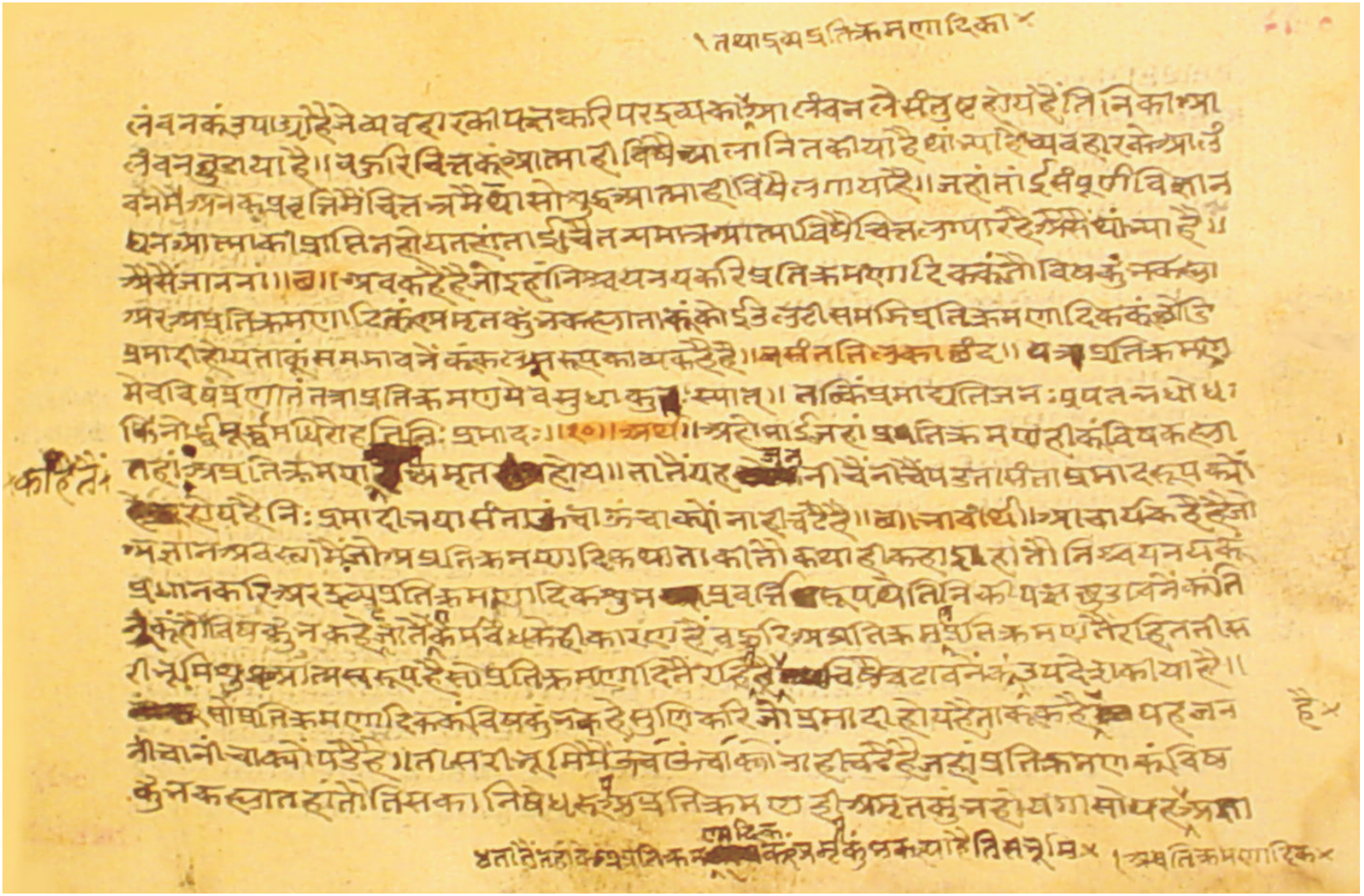

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १९० का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर मोक्ष अधिकार के कलश १० (१८९) में ऊपर से नौवीं पंक्ति में लिखा है – **'जहां प्रतिक्रमण ही कूं विष कह्या, तहां अप्रतिक्रमण काहे तैं अमृत होय॥ तातैं यह जन नीचैं नीचैं पडता संता**

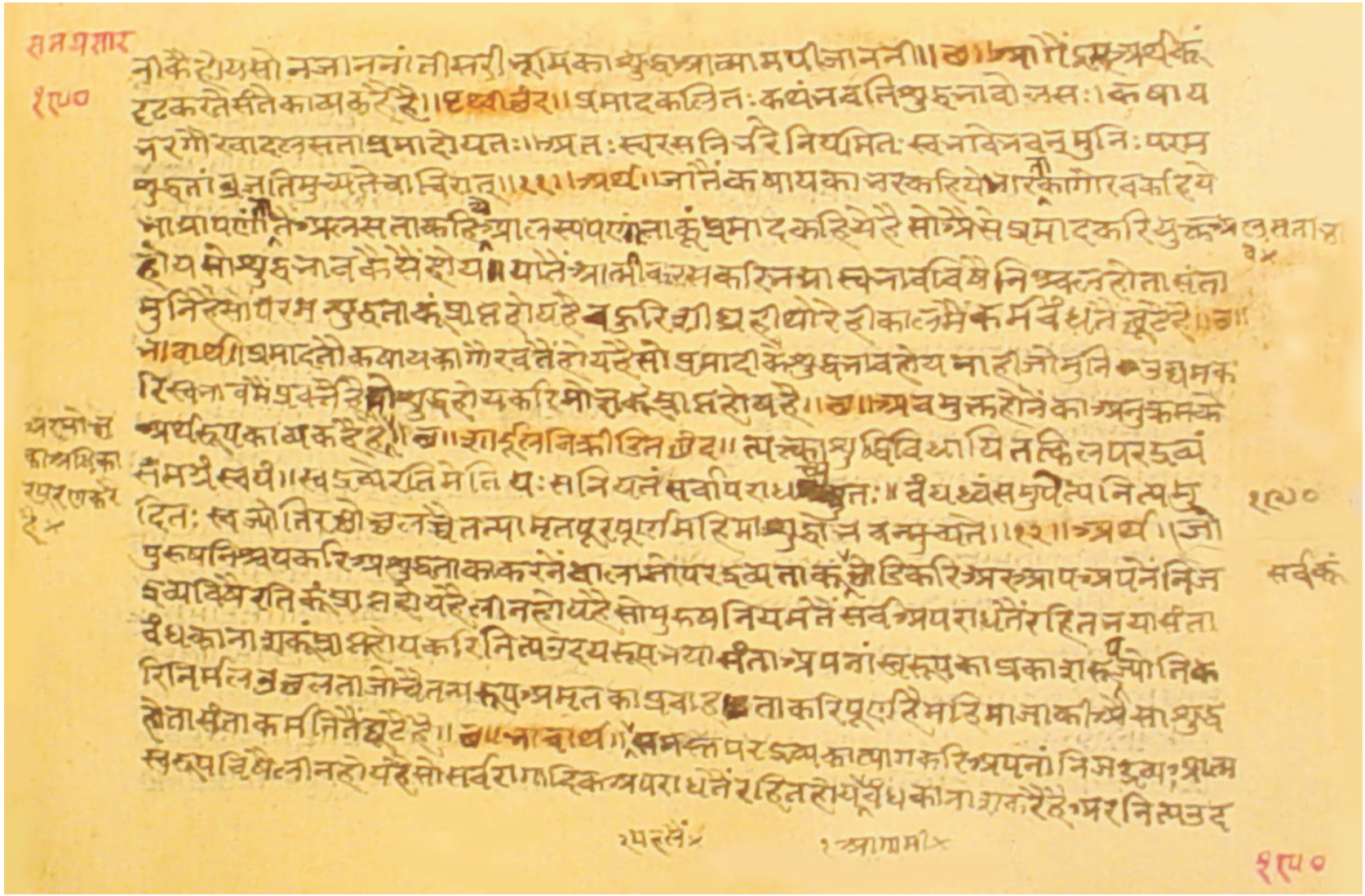

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १९० का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर मोक्ष अधिकार के अन्तिम कलश ११-१२ (१९०-१९१) में ऊपर से आठवीं पंक्ति में प्रमादी होने का निषेध करते हुए लिखा है - ' ॥ भावार्थ ॥ **प्रमाद तौ कषाय का गौरव (तीव्रता) तैं होय है सो प्रमादी कै शुद्धभाव होय नाही। जो मुनि, उद्यम करि स्वभाव मैं प्रवर्त्तै है सो शुद्ध होय करि मोक्ष कूं प्राप्त होय है ॥ छ ॥**'

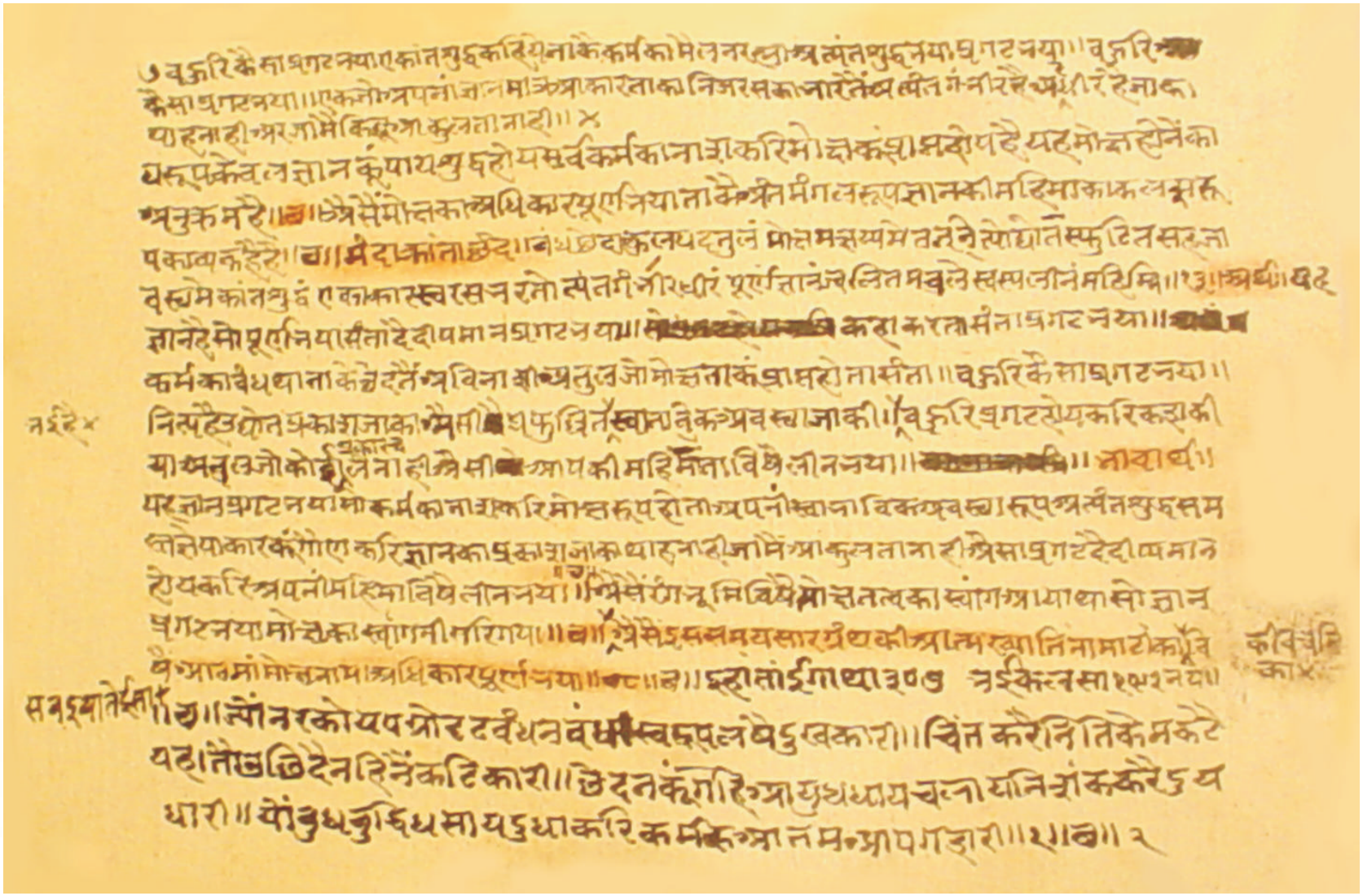

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १९१ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर नीचे से छठी पंक्ति में मोक्ष को स्वाङ्ग बताते हुए मोक्ष अधिकार का समापन किया है – **'ऐसैं रंगभूमि विषै मोक्षतत्व का स्वांग आया था सो ज्ञान प्रगट भया मोक्ष का स्वांग निसरि गया ॥'**

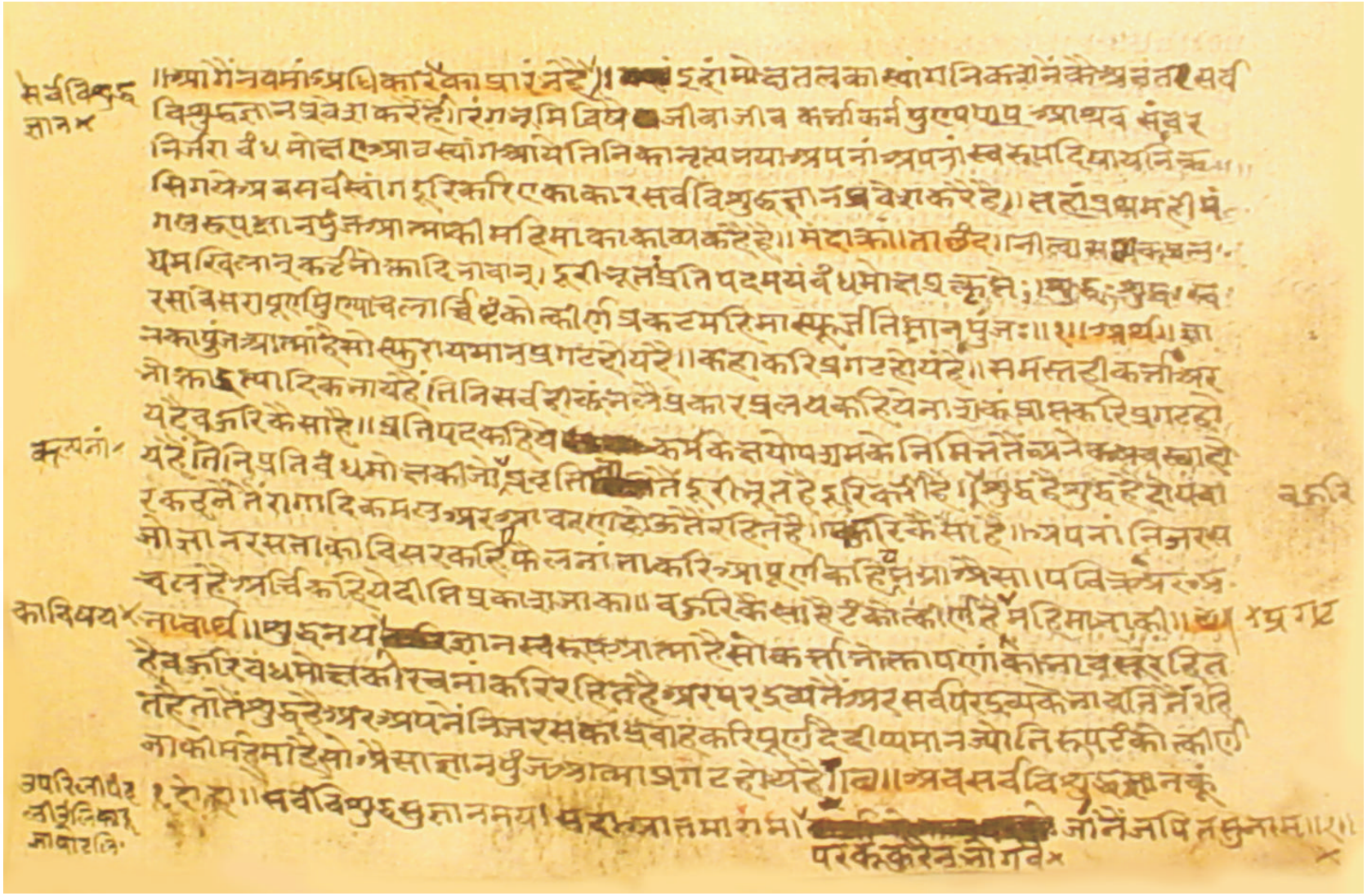

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १९२ का अगला भाग है। यहाँ से नौवाँ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार का प्रारम्भ होता है। सर्व प्रथम मङ्गलसूचक 'दोहा' लिखा है – **'सर्वविशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आतमाराम। पर कूं करै न भोगवै, जानैं जपि तसु नाम॥ १॥'**

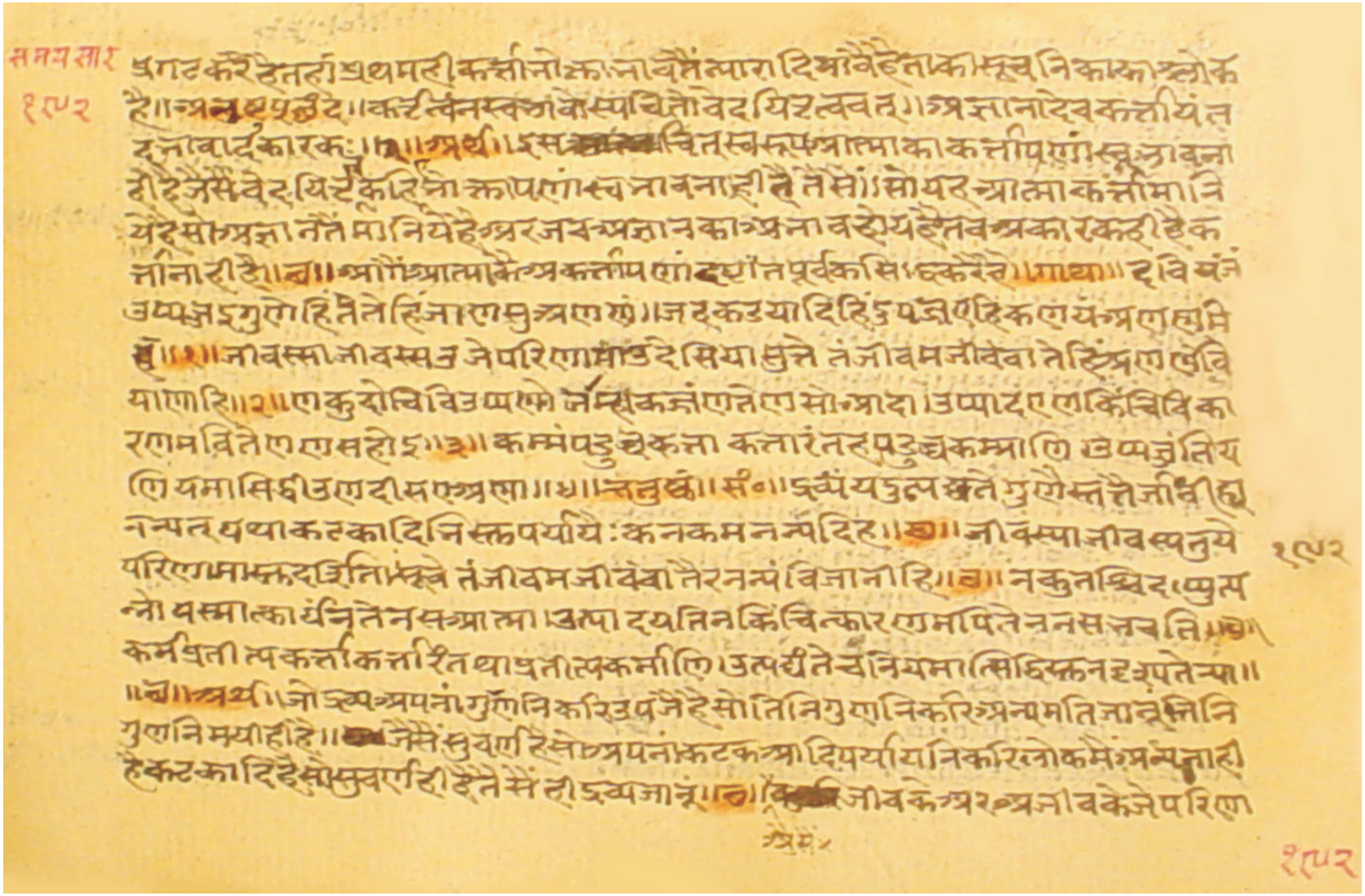

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १९२ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर नौवें सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के कलश २ (१९४) का अर्थ बताते हुए ऊपर से तीसरी पंक्ति में लिखा है – **'इस चित्स्वरूप आत्मा का कर्त्तापणां स्वभाव नाही है। जैसैं वेदयितृत्व कहिए**

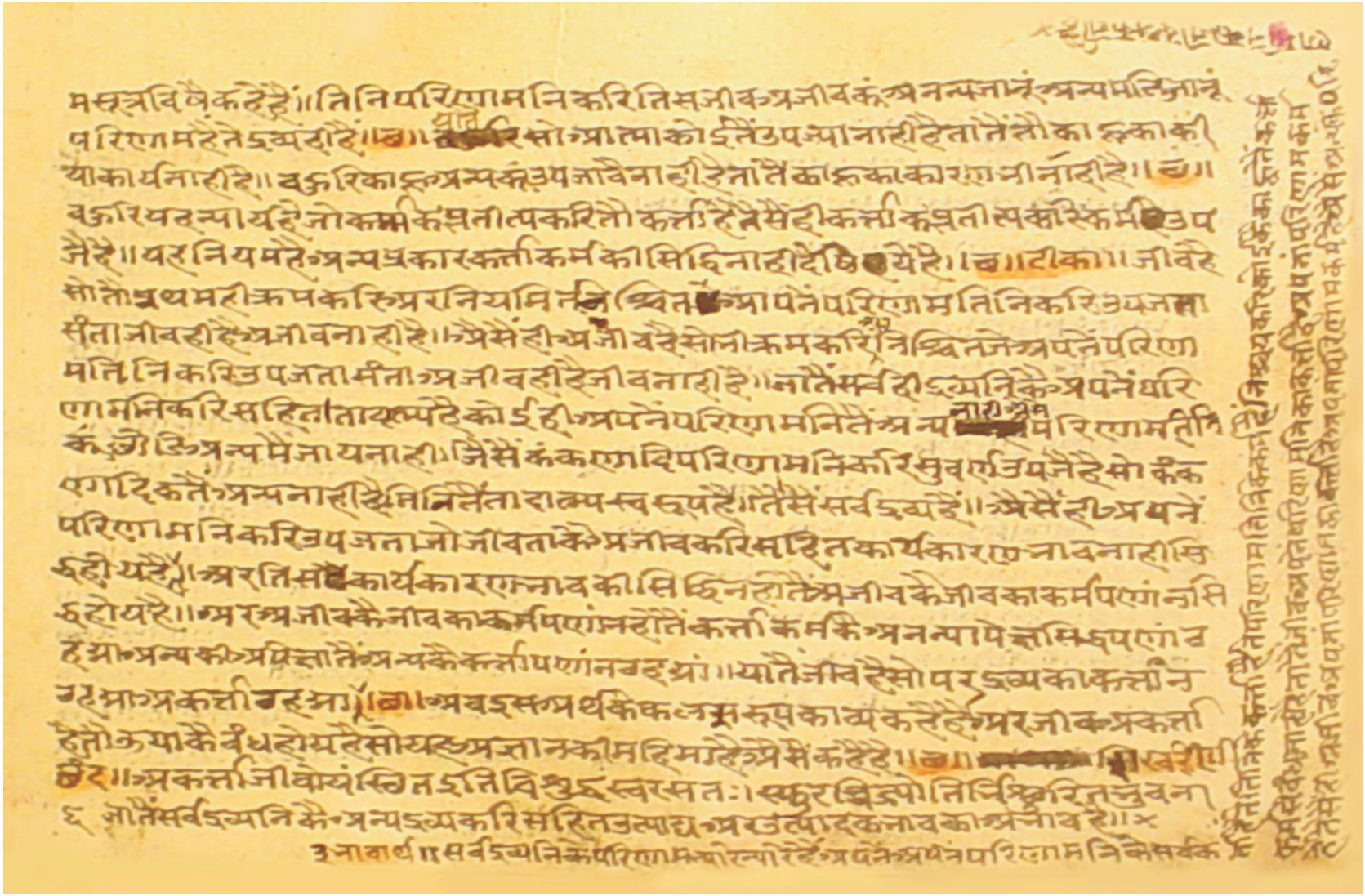

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र १९३ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर 'क्रमबद्धपर्याय' के समर्थन में ऊपर से पाँचवीं पंक्ति में लिखा है – **'जीव है सो तौ प्रथम ही क्रम करि अर नियमित निश्चित अपनें परिणाम, तिनि करि उपजता संता जीव ही है, अजीव नाही है॥ अैसैं ही अजीव है सो भी क्रम करि अर निश्चित जे अपने परिणाम, तिनि करि उपजता संता अजीव ही है, जीव नाही है॥'**

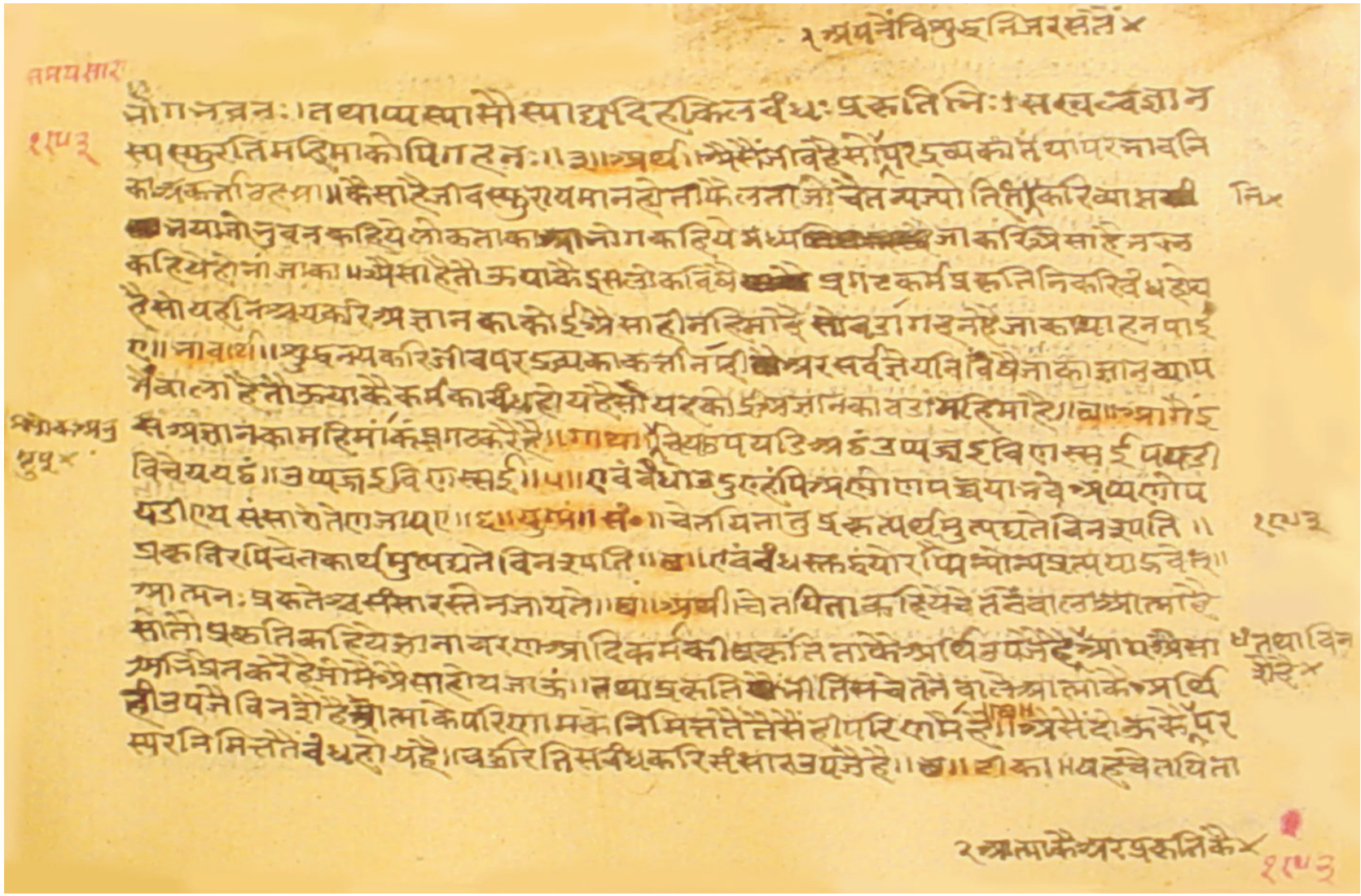

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क १९३ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के कलश ३ (१९५) के भावार्थ में ऊपर से सातवीं पंक्ति में व्यंग्यात्मक शैली में लिखा है – **'शुद्धनय करि जीव, परद्रव्य का कर्त्ता नाही अर सर्व ज्ञेयनि विषै जाका ज्ञान व्यापनेंवाला है, तौऊ याकै कर्म का वंध होय है सो यह कोई अज्ञान का बडा महिमा है ॥ छ ॥'**

९

॥ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार ॥

आगैं, नवमां अधिकार सर्वविशुद्धज्ञान का प्रारंभ है॥

॥ दोहा ॥

सर्वविशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आतमाराम।
पर कूं करै न भोगवै, जानैं[१] जपि तसु नाम॥ १॥

इहां, मोक्षतत्व का स्वांग निकशनें कै अनंतर सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करै है॥ रंगभूमि विषै जीवाजीव कर्त्ताकर्म पुण्यपाप आश्रव संवर निर्जरा बंध मोक्ष, ए आठ स्वांग आये, तिनिका नृत्य भया। अपनां अपनां स्वरूप दिषाय निकसि गये। अब सर्व स्वांग दूरि करि एकाकार सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करै है॥ तहां, प्रथम ही मंगलरूप ज्ञानपुंज आत्मा की महिमा का काव्य कहै है॥

॥ मन्दाक्रान्ता ॥

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान्, कर्तृभोक्त्रादिभावान्,
दूरीभूतः प्रतिपदमयं, बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः।

अब, नौवाँ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार, प्रारम्भ होता है —

सर्वविशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आतमाराम।
पर को करे न भोगवे, जानें जपि तसु नाम॥

[अर्थ — आत्माराम, सदाकाल सर्वविशुद्धज्ञानमय है, जो पर को न करता है, न भोगता है, मात्र जानता है; अतः उसके नाम को जपना चाहिए अर्थात् उसका निरन्तर स्मरण करना चाहिए।]

अब, यहाँ मोक्षतत्त्व का स्वाङ्ग, निकल जाने के बाद सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है। रङ्गभूमि में जीवाजीव, कर्ताकर्म, पुण्यपाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष — ये आठ स्वाङ्ग आए, उनका नृत्य हुआ और वे अपना-अपना स्वरूप दिखा कर निकल गए। अब, सर्व स्वाङ्गों को दूर करके एकाकार सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है। वहाँ, प्रथम ही मङ्गलरूप ज्ञानपुञ्ज आत्मा की महिमा का सूचक काव्य कहते हैं —

---

१. *जातैं* - 'ब' प्रति पाठ

शुद्धः शुद्धः स्वरसविसराऽपूर्णपुण्याऽचलाऽर्चि-
ष्टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा, स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः ॥ १ ॥

॥ अर्थ ॥ ज्ञान का पुंज आत्मा है सो स्फुरायमान प्रगट होय है ॥

कहा करि प्रगट होय है ॥ समस्त ही कर्ता अर भोक्ता इत्यादिक भाव हैं, तिनि सर्व ही कूं भलै प्रकार, प्रलय कहिये नाश कूं प्राप्त करि प्रगट होय हैं।

वहुरि कैसा है ॥ प्रतिपद कहिये कर्म के क्षयोपशम के निमित्त तैं अनेक अवस्था होय हैं, तिनि प्रति वंध मोक्ष की जो कल्पनां प्रवृत्ति, तातैं दूरीभूत है, दूरिवर्त्ती है ॥ वहुरि शुद्ध है, शुद्ध है, दोय वार कहनें तैं रागादिक मल अर आवरण दोऊ तैं रहित है ॥

वहुरि कैसा है ॥ अपनां निजरस जो ज्ञानरस, ताका विसर कहिए फैलनां, ता करि आपूर्ण कहिये भर्या, अैसा पवित्र अर अचल है अर्चि कहिये दीप्ति प्रकाश जाका ॥

वहुरि कैसा है। टंकोत्कीर्ण है प्रगट महिमा जाकी ॥ छ ॥

॥ भावार्थ ॥ शुद्धनय का विषय ज्ञानस्वरूप आत्मा है सो कर्त्ताभोक्तापणां का भाव सूं रहित है। वहुरि वंध मोक्ष की रचना करि रहित है अर परद्रव्य तैं अर सर्व परद्रव्य के भावनि तैं रहित है, तातैं शुद्ध है अर अपनें निजरस का प्रवाह करि पूर्ण दैदीप्यमान ज्योतिरूप टंकोत्कीर्ण जाकी महिमा

॥ रोला ॥

जिसने कर्तृ-भोक्तृभाव सब नष्ट कर दिए,
बन्ध-मोक्ष की रचना से जो सदा दूर है।
है अपार महिमा जिसकी टङ्कोत्कीर्ण जो,
ज्ञानपुञ्ज वह शुद्धातम शोभायमान है ॥ १९३ ॥

अर्थ – ज्ञान का पुञ्ज आत्मा, स्फुरायमान प्रगट होता है।

क्या करके प्रगट होता है? – समस्त ही कर्ता और भोक्ता इत्यादि सर्व भावों को अच्छी तरह, प्रलय अर्थात् नाश को प्राप्त करके प्रगट होता है।

और कैसा है? – प्रतिपद अर्थात् कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से अनेक अवस्थाएँ होती हैं, उन प्रत्येक बन्ध-मोक्ष की कल्पनाओं अर्थात् प्रवृत्ति से दूरीभूत अर्थात् दूरवर्ती है। शुद्ध है, शुद्ध है – ऐसा दो बार कहने का तात्पर्य रागादि मल और आवरण, दोनों से रहित है।

और कैसा है? – जिसका अपने निजरस अर्थात् ज्ञानरस के विसर अर्थात् फैलाव से आपूर्ण अर्थात् भरा हुआ, ऐसा पवित्र और अचल, अर्चि अर्थात् दीप्ति या प्रकाश है।

और कैसा है? – जिसकी महिमा प्रकट टङ्कोत्कीर्ण है।

भावार्थ – शुद्धनय का विषय ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वह कर्ता-भोक्तापने के भाव से रहित है, बन्ध-मोक्ष की रचना से रहित है, समस्त परद्रव्यों और उनके भावों से रहित है; अतः शुद्ध है तथा

है सो अैसा ज्ञानपुंज आत्मा प्रगट होय है॥ छ॥

अव सर्वविशुद्धज्ञान कूं प्रगट करै है। तहां, प्रथम ही कर्त्ताभोक्ताभाव तैं न्यारा दिषावै है, ताकी सूचनिका का श्लोक है॥

॥ अनुष्टुभ्॥

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य, चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्ताऽयं, तदभावादकारकः॥ २॥

॥ अर्थ॥ इस चित्स्वरूप आत्मा का कर्त्तापणां स्वभाव नाही है। जैसैं वेदयितृत्व कहिए भोक्तापणां स्वभाव नाही है तैसैं॥ सो यह आत्मा कर्त्ता मानिये है सो अज्ञान तैं मानिये है अर जव अज्ञान का अभाव होय है, तव अकारक ही है, कर्त्ता नाही है॥ छ॥

आगैं, आत्मा कै अकर्त्तापणां दृष्टांतपूर्वक सिद्ध करै है॥

दवियं जं उप्पज्जइ, गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु, पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह॥ १॥
जीवस्साजीवस्स उ, जे परिणामा उ देसिया सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा, तेहिं अणण्णं वियाणाहि॥ २॥

जिसकी महिमा अपने निजरस के प्रवाह से पूर्ण दैदीप्यमान ज्योतिरूप टङ्कोत्कीर्ण है – ऐसा वह ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है।

अब, सर्वविशुद्धज्ञान को प्रगट करते हैं। वहाँ, सबसे पहले उसे कर्ता-भोक्ताभाव से भिन्न दर्शाते हुए उसकी सूचना का श्लोक कहते हैं —

॥ दोहा॥

जैसे भोक्तृस्वभाव नहीं, वैसे कर्तृस्वभाव।
कर्तापन अज्ञान से, ज्ञान अकारकभाव॥ १९४॥

अर्थ – जिस प्रकार इस चित्स्वरूप आत्मा का वेदयितृत्व अर्थात् भोक्तापना, स्वभाव नहीं है; उसी प्रकार कर्तापना, स्वभाव नहीं है; अतः इस आत्मा को जो कर्ता मानता है, वह अज्ञान के कारण ही मानता है, लेकिन जब अज्ञान का अभाव हो जाता है, तब अकारक ही है, कर्ता नहीं है।

अब, आत्मा का अकर्तापना दृष्टान्तपूर्वक सिद्ध करते हैं —

दवियं जं उप्पज्जदि, गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु, पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह[1]॥ ३०८॥

---

१. *य पजएहि कणयमणण्णमिह* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

ण कुदोचि वि उप्पण्णो, जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादए ण किंचि वि, कारणमवि तेण ण स होइ॥ ३॥
कम्मं पडुच्च कत्ता, कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा, सिद्धी उ ण दीसए अण्णा॥ ४॥

॥ चतुष्कं॥

द्रव्यं यदुत्पद्यते, गुणैस्तत्तैर्जानीह्यनन्यत्।
यथा कटकादिभिस्तु, पर्यायैः कनकमनन्यदिह॥ छ॥
जीवस्याऽजीवस्य तु, ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे।
तं जीवमजीवं वा तैरनन्यं विजानीहि॥ छ॥
न कुतश्चिदप्युत्पन्नो, यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा।
उत्पादयति न किञ्चिदपि, कारणमपि तेन न स भवति॥ छ॥

जीवस्साजीवस्स दु[1], जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा, तेहिमणण्णं वियाणाहि॥ ३०९॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो, जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि, कारणमवि तेण ण सो होदि॥ ३१०॥
कम्मं पडुच्च कत्ता, कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंते[2] णियमा, सिद्धी दु ण दिस्सदे[3] अण्णा॥ ३११॥

जो द्रव्य उपजे जिन गुणों से, जान उनसे अनन्य वो।
है जगत् में कटकादि पर्यायों से स्वर्ण अनन्य ज्यों॥ ३०८॥
जीव-अजीव के परिणाम जो, शास्त्रों विषैं जिनवर कहे।
वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणाम से॥ ३०९॥
उपजै न आत्मा किसी से, इससे न आत्मा कार्य है।
उपजावता नहिं किसी को, इससे न कारण भी बने॥ ३१०॥

---

१. *य* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
२-३. *उप्पज्जंते/दिस्सदे* - तात्पर्यवृत्ति, सोलापुर एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

कर्म प्रतीत्य कर्ता, कर्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि।
उत्पद्यन्ते च नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यतेऽन्या॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो द्रव्य अपनां गुणनि करि उपजै है सो तिनि गुणनि करि अन्य मति जानूं, तिनि गुणनिमयी ही है॥ जैसैं सुवर्ण है सो अपनां कटक आदि पर्यायनि करि लोक मैं अन्य नाही है, कटकादि है सो सुवर्ण ही है, तैसैं ही द्रव्य जानूं॥ छ॥

अैसैं जीव के अर अजीव के जे परिणाम सूत्र विषै कहे हैं॥ तिनि परिणामनि करि तिस जीव अजीव कूं अनन्य जानूं, अन्य मति जानूं। परिणाम हैं ते द्रव्य ही हैं॥ छ॥

यातैं सो आत्मा कोई तैं उपज्या नाही है, तातैं तौ काहू का कीया कार्य नाही है॥ वहुरि काहू अन्य कूं उपजावै नाही है, तातैं काहू का कारण भी नाही है॥ छ॥

वहुरि यह न्याय है जो कर्म कूं प्रतीत्य करि तौ कर्त्ता है, तैसैं ही कर्त्ता कूं प्रतीत्य करि कर्म उपजै है॥ यह नियम है। अन्य प्रकार कर्त्ताकर्म की सिद्धि नाही देषिये है॥ छ॥

॥ टीका॥ जीव है सो तौ प्रथम ही क्रम करि अर नियमित निश्चित अपनें परिणाम, तिनि करि उपजता संता जीव ही है, अजीव नाही है॥ अैसैं ही अजीव है सो भी क्रम करि अर निश्चित जे अपनें परिणाम, तिनि करि उपजता संता अजीव ही है, जीव नाही है॥ जातैं सर्व ही द्रव्यनि कै अपनें परिणामनि करि सहित तादात्म्य है, कोई ही अपनें परिणामनि तैं अन्य नाही, अैसैं परिणाम तिनिकूं छोडि अन्य मैं जाय नाही॥

रे! कर्म-आश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतार के।
आश्रित हुए उपजे नियम से, अन्य नहिं सिद्धि दिखे॥ ३११॥

अर्थ – जो द्रव्य, अपने निज गुणों से उत्पन्न होता है, उसे उन गुणों से अन्य मत जानो क्योंकि वह द्रव्य, उन गुणों से अनन्य ही है। जिस प्रकार लोक में स्वर्ण अपनी कटक आदि पर्यायों से अन्य नहीं है, कटक आदि पर्यायें स्वर्ण ही हैं; उसी प्रकार द्रव्य जानो॥ ३०८॥

इसी प्रकार जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्र में कहे हैं, उन परिणामों से उस जीव-अजीव को अनन्य जानो; अन्य मत जानो। जो परिणाम हैं, वे द्रव्य ही हैं॥ ३०९॥

चूँकि यह आत्मा किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है; अत: किसी का किया कार्य नहीं है और किसी अन्य द्रव्य को उत्पन्न नहीं करता है; अत: किसी का कारण भी नहीं है॥ ३१०॥

यह न्याय है कि कर्म का आश्रय लेकर तो कर्ता होता है, वैसे ही कर्ता का आश्रय लेकर कर्म उत्पन्न होता है। यह नियम है और अन्य प्रकार से कर्ता-कर्म की सिद्धि नहीं देखी जाती है॥ ३११॥

टीका – प्रथम तो जीव क्रमवर्ती और नियमित या निश्चित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है; इसी प्रकार अजीव भी क्रमवर्ती और निश्चित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं है क्योंकि सर्व ही द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है, कोई भी अपने परिणामों से भिन्न नहीं है; अत: कोई भी अपने परिणामों को छोड़ कर

जैसैं कंकणादि परिणामनि करि सुवर्ण उपजै है सो कंकणादिक तैं अन्य नाही है, तिनितैं तादात्म्यस्वरूप है॥ तैसैं सर्व द्रव्य हैं॥ अैसैं ही अपनें परिणामनि करि उपजता जो जीव, ताकै अजीव करि सहित कार्यकारणभाव नाही सिद्ध होय है॥ जातैं सर्व द्रव्यनि कै अन्य द्रव्य करि सहित उत्पाद्य अर उत्पादक भाव का अभाव है॥ अर तिस कार्यकारणभाव की सिद्धि न होतैं अजीव कै जीव का कर्मपणां न सिद्ध होय है॥ अर अजीव कै जीव का कर्मपणां न होतैं कर्त्ताकर्म के अनन्यापेक्ष सिद्धपणां 'ठहरया, अन्य की अपेक्षा 'तैं अन्य कै कर्त्तापणां'[१] न ठहरया॥ यातैं जीव है सो परद्रव्य का कर्त्ता न ठहरया, अकर्त्ता ठहरया॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ सर्व द्रव्यनि के परिणाम न्यारे न्यारे हैं, अपनें अपनें परिणामनि के सर्व कर्त्ता हैं। ते तिनिके कर्त्ता हैं, ते परिणाम तिनिके कर्म हैं। निश्चय करि कोई कै काहू तैं कर्त्ताकर्म संबंध नाही है। तातैं जीव अपनें परिणामनि का कर्त्ता है, अपनां परिणाम कर्म है। तैसैं ही अजीव अपनां परिणाम का कर्त्ता है, अपनां परिणाम कर्म है। अैसैं अन्य के परिणामनि का जीव अकर्त्ता है॥ छ॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है अर जीव अकर्त्ता है, तौऊ याकै वंध होय है सो यह अज्ञान की महिमा है, अैसैं कहै है॥ छ॥

॥ शिखरिणी॥

अकर्त्ता जीवोऽयं, स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः,
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाऽभोगभवनः ।

अन्य में नहीं जाता है।

जैसे, कंगन आदि परिणामों से उत्पन्न होनेवाला स्वर्ण, कंगन आदि से अन्य नहीं है; उनसे तादात्म्यस्वरूप है, उसी प्रकार सर्व द्रव्य हैं। इसी प्रकार अपने परिणामों से उत्पन्न होनेवाले जीव का अजीव के साथ कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होता है क्योंकि सभी द्रव्यों का अन्य द्रव्यों के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव है; अत: उस कार्य-कारणभाव की सिद्धि नहीं होने से न तो अजीव में जीव का कर्मपना सिद्ध होता है और न अजीव में जीव का कर्मपना होने से कर्ता-कर्म में अनन्यपना सिद्ध होता है; अन्य की अपेक्षा से अन्य का कर्तापना सिद्ध नहीं होता है; अत: जीव, परद्रव्य का अकर्ता ही सिद्ध होता है, कर्ता नहीं।

भावार्थ – सर्व द्रव्यों के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं, सब द्रव्य अपने-अपने परिणामों के कर्ता हैं। वे द्रव्य, उनके कर्ता हैं और वे परिणाम, उन द्रव्यों के कर्म हैं। निश्चय से किसी द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य से कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है; अत: जिस प्रकार जीव, अपने परिणामों का कर्ता है और उसके अपने परिणाम ही कर्म हैं; उसी प्रकार अजीव भी अपने परिणामों का कर्ता है और उसके अपने परिणाम ही कर्म हैं। इस प्रकार जीव, अन्य द्रव्य के परिणामों का अकर्ता है।

अब, इस अर्थ के कलशरूप काव्य में ऐसा कहते हैं कि यह जीव अकर्ता है तो भी इसको बन्ध होता है, यह अज्ञान की महिमा है —

---

१. *'तैं जीव कै अजीव का कर्त्तापणां'* - 'ब' प्रति पाठ

तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः,
स खल्वज्ञानस्य, स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः॥ ३॥

॥ अर्थ॥ ऐसैं जीव है सो अपनें 'विशुद्ध निजरस तैं'[१] परद्रव्य का तथा परभावनि का अकर्त्ता ठहरया॥

कैसा है जीव। स्फुरायमान होता, फैलता जो चैतन्य ज्योति, तिनि करि व्याप्त भया जो भुवन कहिये लोक, ताका आभोग[२] कहिये मध्य जा करि ऐसा है, भवन कहिये होनां जाका॥ ऐसा है तौऊ याकै इस लोक विषै, प्रगट कर्मप्रकृतिनि करि वंध होय है सो यह निश्चय करि अज्ञान का कोई ऐसा ही महिमा है सो वडा गहन है, जाका थाह न पाइए॥

॥ भावार्थ॥ शुद्धनय करि जीव परद्रव्य का कर्त्ता नाही अर सर्व ज्ञेयनि विषै जाका ज्ञान व्यापनेंवाला है, तौऊ याकै कर्म का वंध होय है सो यह कोई अज्ञान का वडा महिमा है॥ छ॥

आगैं, इस अज्ञान का महिमा कूं प्रगट करै है॥

॥ गाथा अनुष्टुभ्॥

चेया उ पयडिअट्ठं, उप्पज्जइ विणस्सई।
पयडी वि चेययट्ठं, उप्पज्जइ विणस्सई॥ ५॥

॥ रोला॥

निजरस से सुविशुद्ध जीव शोभायमान है,
झलके लोकालोक ज्योति स्फुरायमान है।
अहो! अकर्ता आतम फिर भी बन्ध हो रहा,
यह अपार महिमा जानो अज्ञानभाव की॥ १९५॥

अर्थ – इस प्रकार यह जीव, विशुद्ध निजरस से परद्रव्य और परभावों का अकर्ता सिद्ध होता है।

कैसा है जीव? – जिसका स्वभाव, स्फुरायमान होती हुई अर्थात् फैलती हुई चैतन्य-ज्योति से व्याप्त होकर भुवन अर्थात् लोक के आभोग[३] अर्थात् मध्य में, भवन अर्थात् होना है। ऐसा होने पर भी इस लोक में इस जीव का कर्मप्रकृतियों के साथ प्रगट बन्ध होता है – यह निश्चितरूप से कोई अज्ञान की महिमा है, जो बड़ी गहन है और जिसकी थाह पाना, सम्भव नहीं है।

भावार्थ – शुद्धनय से यह जीव, परद्रव्य का कर्ता नहीं है और इसका ज्ञान भी सर्व ज्ञेयों में व्यापक है, फिर भी इस जीव को कर्म का बन्ध होता है – यह अज्ञान की कोई विशेष महिमा है।

अब, इस अज्ञान की महिमा को प्रगट करते हैं —

---

१. *निजरस तैं विशुद्ध है यातैं* - 'ब' प्रति पाठ २-३. *आभोग* - घेरा, परिधि, विस्तार (आप्टे कृत संस्कृत-हिन्दी कोश)

एवं बंधो उ दुण्हं पि, अण्णोण्णपच्चया भवे।
अप्पणो पयडीए य, संसारो तेण जायए॥ ६॥

॥ युग्मं॥

चेतयिता तु प्रकृत्यर्थ-मुत्पद्यते विनश्यति।
प्रकृतिरपि चेतकार्थ-मुत्पद्यते विनश्यति॥ छ॥
एवं बन्धस्तु द्वयोरप्यन्योन्यप्रत्ययाद्भवेत्।
आत्मनः प्रकृतेश्च, संसारस्तेन जायते॥ छ॥

॥ अर्थ॥ चेतयिता कहिये चेतनेंवाला आत्मा है सो तौ प्रकृति कहिये ज्ञानावरण आदि कर्म की प्रकृति, ताकै अर्थि[१] उपजै है तथा विनशै है। 'आप अैसा अभिप्रेत करै है जो मैं अैसा होय जाऊं॥'[२] तथा प्रकृति भी तिस चेतनेंवाले आत्मा कै 'अर्थि ही'[३] उपजै विनशै है, आत्मा के परिणाम के निमित्त तैं तैसैं ही परिणमै है॥ छ॥

अैसैं दोऊ कै, आत्मा कै अर प्रकृति कै परस्पर निमित्त तैं वंध होय है॥ वहुरि तिस वंध करि संसार उपजै है॥ छ॥

चेदा दु पयडियट्ठं[४], उप्पज्जदि विणस्सदि।
पयडी वि चेदयट्ठं, उप्पज्जदि विणस्सदि॥ ३१२॥
एवं बंधो य दोण्हं पि, अण्णोण्णपच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य, संसारो तेण जायदे॥ ३१३॥

यह जीव, प्रकृति के निमित्त से, उपजता-नशता अरे!।
अरु प्रकृति का जीव के निमित्त, विनाश अरु उत्पाद है॥ ३१२॥
अन्योन्य के यों निमित्त से, बन्ध दोनों का बने।
इस जीव-प्रकृति उभय का, संसार इससे होय है॥ ३१३॥

अर्थ – चेतयिता अर्थात् चेतनेवाला आत्मा तो प्रकृति अर्थात् ज्ञानावरण आदि कर्म की प्रकृतियों के निमित्त से उपजता है और विनशता है अर्थात् आत्मा स्वयं ऐसा अभिप्राय करता है कि 'मैं ऐसा हो जाऊँ।' इसी प्रकार प्रकृति भी इस चेतनेवाले आत्मा के निमित्त से उपजती और विनशती है अर्थात् आत्मा के परिणामों के निमित्त से [प्रकृति भी] उसी प्रकार परिणमती है॥ ३१२॥

इस प्रकार दोनों के अर्थात् आत्मा और प्रकृति के परस्पर निमित्त से बन्ध होता है, उस बन्ध

---

१ व ३. *निमित्त तैं* - 'ब' प्रति पाठ
२. 'ब' प्रति में पाठ नहीं
४. *पयडियट्ठं* - सोलापुर प्रकाशन पाठ / *पयडीयट्ठं* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

॥ टीका ॥ यह चेतयिता आत्मा है सो अनादि संसार तैं लगाय अर आपका अर वंध का न्यारा न्यारा लक्षण का भेदज्ञान न होनें करि, पर कै अर आत्मा कै एकपणां का निश्चित अभिप्राय के करनें तैं, परद्रव्य का कर्त्ता भया संता, प्रकृति जो ज्ञानावरण आदि कर्म की प्रकृति, ताकै निमित्त[१] उपजना विनशनां करै है 'जो मैं अैसा विनश्य करि उपजूं ॥'[२] वहुरि प्रकृति भी आत्मा कै निमित्त[३] उत्पत्ति विनाश कूं प्राप्त होय है, आत्मा के परिणाम कै अनुसार परिणमै है ॥

अैसैं इनि आत्मा कै अर प्रकृति कै दोऊनि कै परमार्थ तैं कर्त्ताकर्मपणां का भाव का अभाव होतैं भी परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव करि दोऊ ही कै वंध देषिये है ॥ वहुरि तिस वंध तैं संसार है, ताही तैं दोऊ कै कर्त्ताकर्म का व्यवहार प्रवर्त्तै है ॥ छ ॥

॥ भावार्थ ॥ आत्मा कै अर प्रकृति कै परमार्थ तैं कर्त्ताकर्मपणां का अभाव है, तौऊ परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव तैं कर्त्ताकर्म का भाव है, तातैं वंध है, वंध तैं संसार है, अैसा व्यवहार है ॥ छ ॥

आगैं कहै है कि जेतै आत्मा प्रकृति कै निमित्त उपजनां विनसनां[४] न छोडै, तेतै अज्ञानी मिथ्यादृष्टी असंयत है ॥

॥ गाथा-अनुष्टुभ् ॥

जा एस पयडीअट्ठं, चेया णेय विमुंचए।
अयाणओ भवे ताव, मिच्छाइट्ठी असंजओ ॥ ७ ॥

के कारण ही संसार उत्पन्न होता है ॥ ३१३ ॥

टीका – यह चेतयिता आत्मा, अनादि संसार से लेकर, अपने और बन्ध के भिन्न-भिन्न लक्षणों का भेदज्ञान न होने से, पर और आत्मा के एकपने के निश्चित अभिप्राय को करने के कारण, परद्रव्य का कर्ता होता हुआ, प्रकृति अर्थात् ज्ञानावरण आदि कर्म की प्रकृतियों के निमित्त से उपजना और विनशना करता है कि 'मैं ऐसा नष्ट होकर उत्पन्न होऊँ'। इसी प्रकार प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होती है अर्थात् आत्मा के परिणामों के अनुसार परिणमती है।

इस प्रकार परमार्थ से आत्मा और प्रकृति, दोनों में कर्ता-कर्मपने का अभाव होने पर भी परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव से दोनों ही का बन्ध देखा जाता है और उस बन्ध से संसार है; इसीलिए दोनों में कर्ता-कर्म का व्यवहार प्रवर्तता है।

भावार्थ – परमार्थ से आत्मा और प्रकृति में कर्ता-कर्मपने का अभाव है, फिर भी परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव से कर्ता-कर्म का भाव है, उससे बन्ध है और उस बन्ध से संसार है – ऐसा व्यवहार है।

अब कहते हैं कि जब तक आत्मा, प्रकृति के निमित्त से उपजना-विनशना नहीं छोड़ता है, तब तक अज्ञानी मिथ्यादृष्टि असंयत है —

जा एस पयडीयट्ठं, चेदगो णेव विमुंचदि।
अयाणगो हवे ताव, मिच्छादिट्ठी असंजदो ॥ ३१४ ॥

---

१ व ३. *निमित्त तैं* - 'ब' प्रति पाठ २. 'ब' प्रति में पाठ नहीं ४. *विनशनां* - 'ब' प्रति पाठ

जया विमुंचए चेया, कम्मफलमणंतयं।
तया विमुत्तो हवइ, जाणओ पासओ मुणी॥ ८॥

॥ युगलं॥

यावदेष प्रकृत्यर्थं, चेतयिता नैव विमुञ्चते।
अज्ञायको भवेत्तावत्, मिथ्यादृष्टिरसंयतः॥ छ॥
यदा विमुञ्चति चेतयिता, कर्मफलमनन्तकं।
तदा विमुक्तो भवति, ज्ञायको दर्शको मुनिः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ यह आत्मा चेतयिता, जेतै प्रकृति कै निमित्त[१] उपजनां विनशनां न छोडै, तेतै अज्ञायक भया संता मिथ्यादृष्टी असंयमी होय है॥ छ॥

वहुरि जिस काल आत्मा अनंत जो कर्म का फल, ताकूं छोडै है॥ तिस काल वंध सूं रहित विमुक्त होय, ज्ञायक दर्शक कहिये ज्ञाता दृष्टा मुनि संयमी होय है॥ छ॥

॥ टीका॥ जेतै यह चेतयिता आत्मा, अपनां अर प्रकृति का न्यारा न्यारा स्वभावरूप लक्षण का भेदज्ञान का अभाव तैं आप कै वंध का निमित्त जो प्रकृति का स्वभाव, ताहि न छोडै है, तेतै अपनां अर पर का एकपणां का ज्ञान करि अज्ञायक होय है। वहुरि अपनां पर का एकपणां का दर्शन

जदा विमुंचदे चेदा, कम्मफलमणंतयं।
तदा विमुत्तो हवदि, जाणगो पस्सगो मुणी॥ ३१५॥

उत्पाद-व्यय प्रकृति-निमित्तक, जब हि तक नहीं परितजे।
अज्ञानी मिथ्यात्वी असंयत, तब हि तक वह जीव रहे॥ ३१४॥
यह आतमा जब ही करम का, फल अनन्ता परितजे।
ज्ञायक तथा दर्शक तथा मुनि, वही कर्म-विमुक्त है॥ ३१५॥

अर्थ – यह चेतयिता आत्मा, जब तक प्रकृति के निमित्त से उपजना और विनशना नहीं छोड़ता है, तब तक अज्ञायक होता हुआ, मिथ्यादृष्टि असंयमी रहता है॥ ३१४॥

तथा जिस समय यह आत्मा, कर्म के अनन्त फल को छोड़ता है, उस समय बन्ध से रहित अर्थात् विमुक्त होकर, ज्ञायक-दर्शक अर्थात् ज्ञाता-द्रष्टा, मुनि या संयमी होता है॥ ३१५॥

टीका – जब तक यह चेतयिता आत्मा, स्वयं और प्रकृति के भिन्न-भिन्न स्वभावरूप लक्षणों का भेदविज्ञान नहीं होने से स्वयं के बन्ध में निमित्तभूत प्रकृति के स्वभाव को नहीं छोड़ता है; तब

---

१. *निमित्त तैं* - 'ब' प्रति पाठ

श्रद्धान करि मिथ्यादृष्टी होय है॥ वहुरि अपनीं अर पर की एकपणां की परिणति करि असंयत होय है॥ वहुरि तेतै ही पर का अर आत्मा का एकपणां का अध्यास करणें तैं कर्त्ता होय है॥

वहुरि जिस काल यह ही आत्मा, आप का अर प्रकृति का न्यारा न्यारा स्वलक्षण का निर्णयरूप ज्ञान तैं आप कै वंध का निमित्त जो प्रकृति का स्वभाव, ताहि छोडै है॥ तिस काल अपनां अर पर का विभाग का ज्ञान करि ज्ञायक होय है॥ वहुरि अपनां अर पर का विभाग का दर्शन श्रद्धान करि दर्शक होय है॥ वहुरि अपनां अर पर का विभाग की परिणति करि संयत होय है॥ तिस ही काल पर का अर आप का एकपणां का अध्यास नाही करणें तैं अकर्त्ता होय है॥

॥ भावार्थ॥ यह आत्मा, जेतै अपनां अर पर का निजलक्षण नाही जानैं, तेतै भेदज्ञान का अभाव तैं कर्मप्रकृति का उदय कूं अपनां जानि परिणमै है, तेतै मिथ्यादृष्टी अज्ञानी असंयमी होय, कर्त्ता होय, कर्म का वंध करै है॥ अर भेदज्ञान होय, तव ताका कर्त्ता न वणैं है, तव कर्म का वंध न करै है, ज्ञाता दृष्टा हूवा परिणमै है॥ छ॥

ऐसैं ही, भोक्तापणां आत्मा का स्वभाव नाही है, ऐसैं कहै है, ताकी सूचनिका का श्लोक [कहै है]॥

॥ अनुष्टुभ्॥

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य, स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञानादेव भोक्ताऽयं, तदभावादवेदकः॥ ४॥

तक अपने और पर के एकपने के ज्ञान से अज्ञायक (अज्ञानी) होता है, अपने और पर के एकपने के दर्शन अर्थात् श्रद्धान से मिथ्यादृष्टि होता है, अपनी और पर के एकपने की परिणति से असंयत होता है तथा तब तक ही पर और आत्मा के एकपने का अध्यास (भ्रम) करने से कर्ता होता है।

जिस समय यही आत्मा, स्वयं और प्रकृति के भिन्न-भिन्न स्वलक्षणों के निर्णयरूप ज्ञान (भेदज्ञान) से, स्वयं के बन्ध के निमित्तभूत प्रकृति के स्वभाव को छोड़ देता है; उस समय अपने और पर के भिन्नपने के ज्ञान से ज्ञायक (ज्ञानी) होता है, अपने और पर के भिन्नपने के दर्शन अर्थात् श्रद्धान से दर्शक (सम्यग्दृष्टि) होता है, अपनी और पर के भिन्नपने की परिणति से संयत होता है तथा उसी समय अपने और पर के एकपने का अध्यास (भ्रम) नहीं करने से अकर्ता होता है।

भावार्थ – जब तक यह आत्मा, अपने और पर के निजलक्षण को नहीं जानता है, तब तक भेदज्ञान का अभाव होने से कर्मप्रकृतियों के उदय को अपना जान कर परिणमता है; तब तक मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और असंयमी होता हुआ, कर्ता होकर कर्म का बन्ध करता है और भेदज्ञान हो जाने पर उसका कर्ता नहीं बनता है, तब कर्म का बन्ध भी नहीं करता है; बस, ज्ञाता-द्रष्टा होकर परिणमता है।

इसी प्रकार भोक्तापना, आत्मा का स्वभाव नहीं है, उसकी सूचना का श्लोक कहते हैं —

॥ अर्थ ॥ इस आत्मा का कर्त्तास्वभाव जैसैं नाही है, तैसैं ही भोक्तापणां भी स्वभाव नाही है॥ यह अज्ञान ही तैं भोक्ता होय है॥ वहुरि जव अज्ञान का अभाव होय है, तव अवेदक है, भोक्ता नाही है॥ छ॥

आगैं, इस अर्थ कूं गाथा मैं कहै है॥ छ॥

अण्णाणी कम्मफलं, पयडिसहावट्ठिओ उ वेदेइ।
णाणी पुण कम्मफलं, जाणइ उइयं ण वेदेइ॥ ९॥

अज्ञानी कर्मफलं, प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते।
ज्ञानी पुनः कर्मफलं, जानात्युदितं न वेदयते॥ छ॥

॥ अर्थ ॥ अज्ञानी है सो तौ कर्म का फल कूं प्रकृति के स्वभाव विषै तिष्ठ्या हूवा वेदै है, भोगवै है॥ वहुरि ज्ञानी है सो उदय आया कर्म का फल कूं जानैं है अर वेदै नाही है, भोगवै नाही है॥ छ॥

॥ टीका ॥ अज्ञानी है सो निश्चय करि शुद्ध आत्मा का ज्ञान का अभाव तैं अपनां अर पर का एकपणां का ज्ञान करि, वहुरि अपनां अर पर का एकपणां का दर्शन श्रद्धान करि, वहुरि अपनीं

॥ दोहा॥

जैसे कर्तृस्वभाव नहीं, वैसे भोक्तृस्वभाव।
भोक्तापन अज्ञान से, ज्ञान अभोक्ताभाव॥ १९६॥

अर्थ – जिस प्रकार इस आत्मा का कर्तापना, स्वभाव नहीं है, उसी प्रकार भोक्तापना भी इसका स्वभाव नहीं है। यह जीव, अज्ञान ही से भोक्ता होता है और जब अज्ञान का अभाव होता है; तब अवेदक होता है, भोक्ता नहीं होता।

अब, इस अर्थ को गाथा में कहते हैं —

अण्णाणी कम्मफलं, पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि।
णाणी पुण कम्मफलं, जाणदि उदिदं ण वेदेदि॥ ३१६॥

अज्ञानी स्थित प्रकृति-स्वभाव जो, कर्मफल को वेदता।
अरु ज्ञानी तो जाने उदयगत, कर्मफल नहिं भोगता॥ ३१६॥

अर्थ – अज्ञानी तो कर्म के फल को प्रकृति के स्वभाव में स्थित होकर वेदता है, भोगता है तथा ज्ञानी उदय में आये हुए कर्म के फल को जानता है; वेदता नहीं है, भोगता नहीं है॥ ३१६॥

टीका – अज्ञानी, निश्चय से शुद्ध आत्मा के ज्ञान का अभाव होने के कारण, अपने और पर के एकपने का ज्ञान कर, अपने और पर के एकपने का दर्शन अर्थात् श्रद्धान कर तथा अपनी और

अर पर की एकपणां की परिणति करि, प्रकृति के स्वभाव विषै तिष्ठै है, तातैं प्रकृति के स्वभाव कूं अहंबुद्धिपणां करि, आप अनुभवता संता कर्म के फल कूं वेदै है, भोगवै है॥

वहुरि ज्ञानी है सो शुद्ध आत्मा के ज्ञान के सद्भाव तैं अपनां अर पर का विभाग का ज्ञान करि, वहुरि अपनां अर[१] पर का विभाग का दर्शन श्रद्धान करि, वहुरि अपनीं अर[२] पर की विभागरूप परिणति करि, प्रकृति के स्वभाव तैं अपसृत भया है, दूरिवर्त्ती भया है॥ अर अपनां शुद्ध आत्मा का स्वभाव कूं एक ही कूं अहंबुद्धिपणां करि आप अनुभवै है॥ सो अैसैं अनुभवन करता संता उदय आया जो कर्म का फल सो ज्ञेयमात्रपणां तैं, ताकूं जानैं ही है। वहुरि ताकूं अहंपणां करि अनुभवन करनें का असमर्थपणां तैं वेदै नाही है, भोगवै नाही है॥

॥ भावार्थ॥ अज्ञानी कै तौ शुद्ध आत्मा का ज्ञान नाही, तातैं जैसा कर्म उदय आवै, तिस ही कूं आपा जानि भोगवै है॥ वहुरि ज्ञानी कै शुद्ध आत्मा का ज्ञान भया, यातैं प्रकृति का उदय आवै, ताकूं अपनां स्वभाव जानैं नाही, ताका ज्ञाता ही रहै, भोक्ता नाही होय है॥ छ॥

अव, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो, नित्यं भवेद्वेदको,
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो, नो जातुचिद्वेदकः।

पर के एकपने की परिणति कर प्रकृति के स्वभाव में स्थित होता है; अतः प्रकृति के स्वभाव को अहंबुद्धिपने से आपरूप अनुभव करता हुआ कर्म के फल को वेदता है, भोगता है।

लेकिन ज्ञानी, शुद्ध आत्मा के ज्ञान का सद्भाव होने के कारण, अपने और पर के भिन्नपने का ज्ञान कर, अपने और पर के भिन्नपने का दर्शन अर्थात् श्रद्धान कर तथा अपने और पर के भिन्नपने की परिणति करके प्रकृति के स्वभाव से अपसृत अर्थात् दूरवर्ती होता है; अतः अपने शुद्ध आत्मा के स्वभाव को अर्थात् उस एक ही को अहंबुद्धिपने से आपरूप अनुभव करता है। इस प्रकार अनुभवन करता हुआ वह [ज्ञानी] उदय में आए कर्म के फल को ज्ञेयमात्रपने से जानता ही है तथा उसे अहंपने से अनुभवन करने की असमर्थता से वेदता नहीं है, भोगता नहीं है।

भावार्थ – अज्ञानी को तो शुद्ध आत्मा का ज्ञान है नहीं; अतः जैसा कर्म का उदय आता है, उसी को अपना जान कर भोगता है किन्तु ज्ञानी को शुद्ध आत्मा का ज्ञान हुआ है; इसलिए जो प्रकृति का उदय आता है, उसे अपना स्वभाव नहीं जानता है; उसका ज्ञाता ही रहता है, भोक्ता नहीं होता है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं –

॥ रोला॥

प्रकृतिस्वभावरत अज्ञानी हैं सदा भोगते,
प्रकृतिस्वभाव से विरत ज्ञानिजन कभी न भोगें।

१-२. *अर* - 'ब' प्रति में पाठ नहीं

इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणै-रज्ञानिता त्यज्यतां,
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितै-रासेव्यतां ज्ञानिता॥ ५॥

॥ अर्थ॥ अज्ञानीजन है सो तौ प्रकृतिस्वभाव विषै रागी है, लीन है, ताही कूं अपनां स्वभाव जानैं है, तातैं सदाकाल ताका वेदक है, भोक्ता है॥ वहुरि ज्ञानी है सो प्रकृतिस्वभाव विषै विरागी है, विरक्त है, ताकूं पर का स्वभाव जानैं है, तातैं कदाचित् भी वेदक नाही है, भोक्ता नाही है॥

सो आचार्य उपदेश करै है जो जे निपुण प्रवीण पुरुष हैं, ते ज्ञानीपणां का अर अज्ञानीपणां का अैसा नियम निरूपण करि विचारि करि अज्ञानीपणां कूं तौ छोडौ॥ अर शुद्ध आत्मामयी जो एक मह तेज प्रताप, ता विषै निश्चल होय करि ज्ञानीपणां कूं सेवन करौ॥ छ॥

आगैं, अज्ञानी है सो वेदक ही है, भोक्ता ही है, अैसा नियम कहै है॥ छ॥

ण मुयइ[१] पयडिमभव्वो, सुट्ठु वि अज्झायऊण सत्थाणि।
गुडदुद्धं पि पिबंता, ण पण्णया णिव्विसा होंति॥ १०॥

न मुञ्चति प्रकृतिमभव्यः, सुष्ठ्वप्यधीत्य शास्त्राणि।
गुडदुग्धमपि पिबन्तो, न पन्नगा निर्विषा भवन्ति॥ छ॥

निपुणजनों ! निजशुद्धातममय ज्ञानभाव को,
अपनाओ तुम सदा त्याग अज्ञानभाव को॥ १९७॥

अर्थ – अज्ञानीजन तो प्रकृति के स्वभाव में रागी हैं, लीन हैं और उसी को अपना स्वभाव जानते हैं; अतः सदाकाल उसके वेदक हैं, भोक्ता हैं लेकिन ज्ञानी, प्रकृति के स्वभाव में विरागी हैं, विरक्त हैं, उसे पर का स्वभाव जानते हैं; अतः कदाचित् भी वेदक नहीं हैं, भोक्ता नहीं हैं।

अतः यहाँ, आचार्य उपदेश देते हैं कि जो निपुण अर्थात् प्रवीण पुरुष हैं, वे ज्ञानीपने और अज्ञानीपने के ऐसे नियमरूप निरूपण को विचार कर अज्ञानीपने को छोड़ो और शुद्ध एक आत्ममयी मह, तेज या प्रताप में निश्चल होकर ज्ञानीपने का सेवन करो।

अब, अज्ञानी वेदक ही है, भोक्ता ही है, ऐसा नियम कहते हैं —

ण मुयदि पयडिमभव्वो, सुट्ठु वि अज्झाइदूण सत्थाणि।
गुडदुद्धं पि पिबंता, ण पण्णया णिव्विसा होंति॥ ३१७॥

सद्रीति पढ़ कर शास्त्र भी, प्रकृति अभव्य नहीं तजे।
ज्यों दूध-गुड़ पीता हुआ भी, सर्प नहिं निर्विष बने॥ ३१७॥

---

१. *मुणइ* – 'अ' 'ब' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ अभव्य है सो प्रकृति कहिये कर्म का उदयस्वभाव है, ताहि न छोडै है॥ जो भलै प्रकार अभ्यास करि शास्त्रनि कूं पढै है, तौऊ प्रकृति वदलै नाही है॥ जैसैं सर्प्प है सो गुड अर दूध कूं पीवता संता भी निर्विष नाही होय है॥ छ॥

॥ टीका ॥ जैसैं इस लोक विषै सर्प है सो अपना विषभाव, ताहि आपै आप भी नाही छोडै है॥ वहुरि विषभाव के मेटनें कूं समर्थ जैसा मिश्रीसहित दूध के पीवनें तैं भी नाही छोडै है॥ तैसैं प्रगटपणैं अभव्य है सो प्रकृति का स्वभाव कूं स्वयमेव भी नाही छोडै है॥ वहुरि प्रकृतिस्वभाव के छुडावनें कूं समर्थ जो द्रव्यश्रुत शास्त्र का ज्ञान, तातैं भी नाही छोडै है॥ जातैं याकै नित्य ही भावश्रुतज्ञान स्वरूप जो शुद्धात्मज्ञान, ताका अभाव करि अज्ञानीपणां है। यातैं अैसा नियम कीजिये है जो अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव विषै तिष्ठवापणां तैं वेदक ही है, कर्म का भोक्ता ही है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ अज्ञानी कर्म का फल का भोक्ता ही है, यह नियम कह्या। तहां अभव्य का उदाहरण युक्त है, जाका अैसा स्वयमेव स्वभाव है जो वाह्य कारण मिलें भी कर्म के उदय का भोगनें का स्वभाव नाही वदलै है॥ तातैं अज्ञानी कै भोक्तापणां का नियम वणैं है॥ छ॥

आगैं कहै है, जो ज्ञानी कर्मफल का अवेदक ही है, अैसा नियम कीजिये है॥ छ॥

णिव्वेयसमावण्णो, णाणी कम्मप्फलं वियाणेई।
महुरं कडुयं बहुविहं, अवेयओ तेण सो होइ॥ ११॥

अर्थ – अभव्य जीव, प्रकृति अर्थात् कर्म के उदयस्वभाव को नहीं छोड़ता है। यद्यपि वह अच्छी तरह अभ्यास करके शास्त्रों को पढ़ता है तो भी उसका स्वभाव नहीं बदलता है। जैसे, गुड़ और दूध को पीता हुआ भी सर्प, निर्विष नहीं होता है॥ ३१७॥

टीका – जिस प्रकार इस लोक में सर्प, अपने विषभाव को अपने आप भी नहीं छोड़ता है और विषभाव को मिटाने में समर्थ मिश्रीसहित दूध को पीकर भी नहीं छोड़ता है; उसी प्रकार प्रगटरूप से अभव्य, प्रकृति के स्वभाव को स्वयमेव भी नहीं छोड़ता है और प्रकृति के स्वभाव को छुड़ाने में समर्थ द्रव्यश्रुत अर्थात् शास्त्र का ज्ञान करके भी नहीं छोड़ता है क्योंकि उसको नित्य ही भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान का अभाव होने से अज्ञानीपना है; इसीलिए ऐसा नियम है कि अज्ञानी, प्रकृति के स्वभाव में स्थित होने से वेदक ही है, कर्म का भोक्ता ही है।

भावार्थ – यहाँ अज्ञानी, कर्म के फल का भोक्ता ही है – यह नियम बताया है; उसको समझने के लिए अभव्य का उदाहरण उचित है अर्थात् जिसका स्वयमेव ऐसा स्वभाव है कि वह बाह्य कारण मिलने पर भी कर्म के उदय को भोगने का स्वभाव नहीं बदलता है; इसलिए अज्ञानी को भोक्तापने का नियम बनता है।

अब कहते हैं कि ज्ञानी कर्मफल का अवेदक ही है - ऐसा नियम बताते हैं —

निर्वेदसमापन्नो, ज्ञानी कर्मफलं विजानाति।
मधुरं कटुकं[१] बहुविधमवेदकस्तेन स भवति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी है सो निर्वेद कहिये वैराग्य, ताकूं प्राप्त है सो कर्म के फल कूं जानै है, जो मधुर कहिये मींठा है तथा कटुक कहिये कडवा है, अैसैं अनेक प्रकार है, ताकूं जानैं है, तातैं अवेदक है, भोक्ता नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ ज्ञानी है सो दूरि भया है भेद जामैं, अैसा जो अभेदरूप भावश्रुतज्ञान सो है स्वरूप जाका, अैसा जो शुद्धात्मा, ताका ज्ञान का सद्भाव करि, पर तैं अत्यंत विरक्त है। तातैं अैसा ज्ञानी, प्रकृतिस्वभाव जो कर्म का उदय का स्वभाव, ताहि स्वयमेव छोडै है, तिसरूप नाही परिणमै है॥ तातैं मींठा कडवा जो सुख दुःखरूप कर्म का फल उदय आया, ताकूं केवल जानैं ही है। जातैं ज्ञानी कै ज्ञातापणां स्वभाव है, तातैं कर्त्ता नाही वणैं है, भोक्ता नाही वणैं है॥ ज्ञान होतैं संतैं परद्रव्य का अहंवुद्धि करि अनुभवनें का अयोग्यपणां है, तातैं वेदै नाही है, भोक्ता नाही होय है॥ यातैं ज्ञानी प्रकृतिस्वभाव तैं विरक्त है, तिसपणां करि अवेदक ही है, भोक्ता नाही है॥

॥ भावार्थ॥ जो जातैं विरक्त होय, ताकूं अपनें वश तौ भोगवै नाही अर परवश तैं भोगवै तौ ताकूं परमार्थ करि भोक्ता न कहिये, इस न्याय तैं ज्ञानी प्रकृतिस्वभाव, जो कर्म का उदय, ताकूं अपनां

णिव्वेदसमावण्णो, णाणी कम्मप्फलं वियाणादि।
महुरं कडुयं बहुविहमवेदगो तेण सो होदि॥ ३१८॥

वैराग्य-प्राप्त जु ज्ञानिजन है, कर्मफल को जानता।
कड़वे-मधुर बहुभाँति को, इससे अवेदक है अहा॥ ३१८॥

अर्थ – ज्ञानी, निर्वेद अर्थात् वैराग्य को प्राप्त है, इसलिए वह कर्म के फल को जानता है कि वह मधुर अर्थात् मीठा और कटुक अर्थात् कड़वा – ऐसे अनेक प्रकार [के स्वादवाला] है, उसे [वह ज्ञानी] जानता है; अतः अवेदक है, भोक्ता नहीं है॥ ३१८॥

टीका – ज्ञानी, जिसमें [समस्त] भेद दूर हुए हैं, ऐसा अभेदरूप भावश्रुतज्ञान जिसका स्वरूप है – ऐसे शुद्धात्मज्ञान के सद्भाव के कारण पर से अत्यन्त विरक्त हैं; अतः ज्ञानी, प्रकृति के स्वभाव अर्थात् कर्मोदय के स्वभाव को स्वयमेव छोड़ते हैं, उसरूप परिणमते नहीं हैं; इसलिए मीठे-कड़वे अर्थात् सुख-दुःखरूप कर्म के फल अर्थात् उदय को केवल जानते ही हैं क्योंकि ज्ञानी का स्वभाव, ज्ञातापना है; अतः वे कर्ता नहीं बनते, भोक्ता भी नहीं बनते। ज्ञान होते हुए परद्रव्य को अहंबुद्धिपूर्वक अनुभव करने की अयोग्यता होती है; अतः वे उसे वेदन नहीं करते हैं, भोक्ता नहीं होते हैं। इस प्रकार ज्ञानी, प्रकृति के स्वभाव से विरक्त होने के कारण अवेदक ही हैं, भोक्ता नहीं हैं।

भावार्थ – जो जिससे विरक्त होता है, उसे अपने स्ववश से तो भोगता नहीं है; यदि परवश

---

१. *मधुरकटुकं* - 'ब' प्रति पाठ

जानैं नाही, तातैं विरक्त है सो स्वयमेव तौ भोगवै ही नाही अर उदय की वरजोरी तैं परवश हूवा अपनीं निवलाई तैं भोगवै तौ ताकूं परमार्थ करि भोक्ता न कहिये। व्यवहार करि भोक्ता कहिये, ताका इहां शुद्धनय तैं अधिकार नाही॥ छ॥

अव, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ वसन्ततिलका ॥

ज्ञानी करोति न, न वेदयते च कर्म,
जानाति केवलमयं, किल तत्स्वभावम्।
जानन् परं करण-वेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः, स हि मुक्त एव॥ ६॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी है सो कर्म कूं स्वतंत्र होय करै नाही है, तैसैं ही वेदै नाही है, केवल तिस कर्म का स्वभाव कूं जानैं ही है॥ अैसैं केवल जानता संता करनें का अर वेदनें का अभाव तैं शुद्धस्वभाव कै विषै निश्चित है सो निश्चय करि मुक्त ही है, कर्मनि तैं छूट्या ही कहिये॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञानी कर्म का स्वाधीनपणें कर्त्ता भोक्ता नाही, केवल ज्ञाता ही है, तातैं शुद्धस्वभावरूप भया मुक्त ही है। जो कर्म उदय आवै भी है तौ ज्ञानी का कहा करै, जेतै निवलाई

से भोगना पड़े तो उसे परमार्थ से भोक्ता नहीं कहते हैं – इस न्याय से ज्ञानी, प्रकृति के स्वभाव अर्थात् कर्म के उदय को अपना जानता नहीं है, उससे विरक्त है; अतः स्वयमेव तो भोगता ही नहीं है तथा यदि उदय की बलवत्ता से परवश हुआ अपनी निर्बलता के कारण भोगता भी है तो उसे परमार्थ से भोक्ता नहीं कहते हैं। यद्यपि व्यवहार से [ज्ञानी को भी] भोक्ता कहा जाता है, परन्तु उसका यहाँ शुद्धनय [के कथन] में प्रसङ्ग नहीं है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ सोरठा ॥

निश्चल शुद्धस्वभाव, ज्ञानी करे न भोगवे।
जाने कर्मस्वभाव, इस कारण वह मुक्त है॥ १९८॥

अर्थ – ज्ञानी, कर्म को स्वतन्त्र होकर करता नहीं है और वेदता भी नहीं है, केवल उस कर्म के स्वभाव को जानता ही है। इस प्रकार केवल जानता हुआ, वह करने और वेदने के अभाव के कारण शुद्धस्वभाव में निश्चल स्थित है; अतः निश्चय से ज्ञानी, मुक्त ही है अर्थात् उसे कर्मों से छूटा हुआ ही कहते हैं।

भावार्थ – ज्ञानी, कर्म का स्वाधीनपने कर्ता-भोक्ता नहीं है, केवल ज्ञाता ही है; अतः शुद्धस्वभावरूप होता हुआ मुक्त ही है। यदि कर्म का उदय आता भी है तो **वह ज्ञानी का क्या कर**

रहै, तेतै कर्म जोर चलावौ, सवलाई क्रम तैं वधाय कर्म का निर्मूल नाश करैहीगा॥ छ॥

आगैं, इस ही अर्थ कूं फेरि दृढ करै है॥

ण वि कुव्वइ ण वि वेयइ, णाणी कम्माइं[१] बहुपयाराइं।
जाणइ पुण कम्मफलं, बंधं पुण्णं च पावं च॥ १२॥

नापि करोति नापि वेदयते, ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि।
जानाति पुनः कर्मफलं, बन्धं पुण्यं च पापं च॥ छ॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानी है सो वहुत प्रकार के कर्मनि कूं करै नाही है, वेदै नाही है॥ वहुरि कर्म के वंध कूं, वहुरि कर्म के फल कूं, पुण्य कूं, पाप कूं जानैं है॥ छ॥

॥ टीका॥ ज्ञानी है सो कर्मचेतना करि शून्य है, वहुरि कर्मफलचेतना करि शून्य है॥ तिसपणां करि स्वयं स्वतंत्र होय कर्त्ता नाही होय है, वहुरि स्वयं वेदक भी न होय है। तातैं कर्म कूं करै नाही है, वेदै नाही है॥

तौ कहा है॥ ज्ञानी ज्ञानचेतनामयी है, तिसपणां करि केवल ज्ञाता ही है, तिसपणां तैं कर्म का

सकता है? – जब तक निर्बलता है, तब तक भले ही कर्म का जोर चले, लेकिन वह क्रम से अपना आत्मबल बढ़ा कर कर्म का समूल नाश करेगा ही करेगा।

अब, इसी अर्थ को पुनः दृढ़ करते हैं –

ण वि कुव्वदि ण वि वेददि, णाणी कम्माइ बहुप्पयाराइं।
जाणदि पुण कम्मफलं, बंधं पुण्णं च पावं च॥ ३१९॥

करता नहीं, नहिं वेदता, ज्ञानी करम बहुभाँति को।
बस! जानता यह बन्ध त्यों ही, कर्मफल शुभ-अशुभ को॥ ३१९॥

अर्थ – ज्ञानी, बहुत प्रकार के कर्मों को न तो करता है, न भोगता है, किन्तु कर्मबन्ध, कर्मफल, पुण्य एवं पाप को जानता ही है॥ ३१९॥

टीका – ज्ञानी, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से शून्य है, इस कारण वह स्वयं स्वतन्त्र होकर कर्ता नहीं होता है और स्वयं भोक्ता भी नहीं होता है, अतः वह कर्म को करता भी नहीं है, भोगता भी नहीं है।

तो क्या है? – ज्ञानी तो ज्ञानचेतनामयी है, अतः केवल ज्ञाता ही है, इसलिए कर्म के बन्ध और कर्म के शुभ-अशुभफल को केवल जानता ही है।

---

१. **कम्माइ** - 'ब' प्रति पाठ

वंध, वहुरि कर्म का शुभ तथा अशुभफल, ताकूं केवल जानैं ही है॥ छ॥

आगैं पूछै है जो यह जाननां कैसैं है, काहे तैं है॥ ताका उत्तर दृष्टांतपूर्वक कहै है॥ छ॥

दिट्ठी जहेह[१] णाणं, अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणइ य बंधमोक्खं, कम्मुदयं णिज्जरं चेव॥ १३॥

दृष्टिर्यथैव ज्ञान-मकारकं तथा अवेदकं चैव।
जानाति च बन्धमोक्षं, कर्मोदयं निर्जरा चैव॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं दृष्टि कहिये नेत्र है सो देषनें योग्य पदार्थ कूं देषै है, तिनिका कर्त्ता भोक्ता नाही है॥ तैसैं ही ज्ञान है सो वंध मोक्ष, कर्म का उदय निर्जरा इनिकूं जानैं ही है, करनेंवाला भोगनेंवाला नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जैसैं इस लोक मैं दृष्टि कहिये नेत्र है सो दृश्य कहिये देषनें योग्य पदार्थ, तिनितैं अत्यंत भिन्नपणां तैं तिनिके करनें कूं अर वेदनें कूं असमर्थ है॥ तिसपणां करि दृश्य पदार्थ कूं करै नाही है, वेदै नाही है॥

'जो अैंसैं न होय तौ अग्नि कूं प्रज्वलित करनेंवाला की ज्यों अर लोह का पिंड अग्नि तैं प्रज्वलित

अब पूछते हैं कि ज्ञानी का यह जानना कैसे होता है? और क्यों होता है? – इसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक देते हैं —

दिट्ठी जहेव णाणं, अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणदि य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव॥ ३२०॥

ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान, नहिं कारक, नहीं वेदक अहो!।
जाने हि कर्मोदय रु निरजरा, बन्ध त्यों ही मोक्ष को ॥ ३२०॥

अर्थ – जिस प्रकार दृष्टि अर्थात् नेत्र, देखने योग्य पदार्थ को देखते हैं, उनके कर्ता-भोक्ता नहीं हैं; उसी प्रकार ज्ञान भी बन्ध-मोक्ष, कर्म के उदय, निर्जरा आदि को जानता ही है, उनका करनेवाला और भोगनेवाला नहीं है॥ ३२०॥

टीका – जिस प्रकार इस लोक में दृष्टि अर्थात् नेत्र, दृश्य अर्थात् देखने योग्य पदार्थों से अत्यन्त भिन्नता के कारण उनको करने और भोगने में असमर्थ हैं, इस कारण वे दृश्य पदार्थ को करते नहीं हैं, भोगते नहीं हैं।

यदि ऐसा न हो तो अग्नि को देखने से दृष्टि में भी अग्नि को प्रज्वलित करनेवाले [पदार्थ] के समान कर्तापना और जैसे लोहे का पिण्ड, अग्नि से प्रज्वलित होकर तप्तायमान होता है उसके

---

१. *जहेय* - ब प्रति पाठ; *सयंपि / स्वयंपि* - तात्पर्यवृत्ति टीका पाठ

तप्तायमान होय है ताकी ज्यों, अग्नि के देषनें तैं नेत्र कै कर्त्ता भोक्तापणां अवश्य आवै।'[१]

[अथवा 'जो अैसैं न होय तौ अग्नि का देषनें तैं अग्नि कूं प्रज्वलित करनेंवाला [पुरुष] अवश्य दाझै। जैसैं लोह का पिंड अग्नि तैं प्रज्वलित तप्तायमान होय है, तैसैं देषनेंवाला भी होय जाय सो अैसैं है नाही॥''][२]

तौ कहा है॥ दृष्टि का केवल दर्शनमात्र स्वभाव है, तातैं तिस दृश्य कूं केवल देषै ही है, तैसैं ही ज्ञान है सो भी आप दृष्टिवत् ही है, तातैं कर्म तैं अत्यंत भिन्नपणां तैं निश्चय तैं तिस कर्म का करनां अर भोगनां विषै असमर्थ है॥ तिसपणां तैं कर्म कूं करै नाही है, भोगवै नाही है।

तौ कहा है॥ केवल ज्ञानमात्र स्वभावपणां तैं कर्म के वंध कूं तथा मोक्ष कूं तथा कर्म के उदय कूं तथा कर्म की निर्जरा कूं केवल[३] जानै ही है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञान का स्वभाव नेत्र की ज्यौं दूरि तैं जाननें का है, तातैं करनां भोगनां, ज्ञान कै नाही, जो करनां भोगनां मानै है सो अज्ञान है॥ छ॥

इहां कोई पूछै जो अैसा तौ केवलज्ञान है अर जव तांई मोहकर्म का उदय है, तव तांई तौ सुख दुःख रागादिरूप परिणमै ही है अर [जहां तांई][४] दर्शनावरण ज्ञानावरण वीर्यांतराय का उदय है, तहां तांई अदर्शन अज्ञान असमर्थपणां होय ही है॥ केवलज्ञान पहलैं ज्ञाता दृष्टा कैसैं कहिये॥

समान भोक्तापना अवश्य आए।

[अथवा यदि ऐसा न हो तो अग्नि को देखने से अग्नि को प्रज्वलित करनेवाला [मनुष्य] स्वयं अवश्य जल जाए। जैसे, लोहे का पिण्ड, अग्नि से प्रज्वलित और तप्तायमान होता है, उसी प्रकार उसे देखनेवाला भी हो जाए, परन्तु ऐसा तो है नहीं।]

तो कैसा है? – दृष्टि का केवल दर्शनमात्र स्वभाव है, इसलिए वह दृश्य को केवल देखती ही है; उसी प्रकार ज्ञान भी स्वयं दृष्टि की तरह ही है; इसलिए कर्म से अत्यन्त भिन्नपने के कारण वह निश्चय से कर्म को करने और भोगने में असमर्थ है; इस कारण ज्ञान, कर्म को करता नहीं है, भोगता नहीं है।

तो कैसा है? – केवल ज्ञानमात्र स्वभावपने के कारण कर्म के बन्ध-मोक्ष, कर्म के उदय और कर्म की निर्जरा को जानता ही है।

भावार्थ – ज्ञान का स्वभाव, नेत्र की ही तरह दूर से जानने का है; अतः ज्ञान में करना-भोगना है ही नहीं, लेकिन जो करना-भोगना मानता है, वह अज्ञान है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है – ऐसा ज्ञान तो केवलज्ञान है। जब तक मोहकर्म का उदय है, तब तक तो यह जीव सुख-दुःख-रागादिरूप परिणमता ही है और जब तक दर्शनावरण, ज्ञानावरण, वीर्यान्तराय का उदय है; तब तक अदर्शन, अज्ञान, असमर्थपना होता ही है तो केवलज्ञान से पहले ज्ञाता-द्रष्टा

---

१. 'ब' प्रति पाठ
२. 'अ' प्रति पाठ
३. *केवल* - 'अ' प्रति में पाठ नहीं
४. 'अ' 'ब' प्रति में पाठ नहीं

ताका समाधान जो पहलैं तौ कहते ही आवै हैं, जो स्वतंत्र होय करै भोगवै, ताकूं परमार्थ मैं कर्त्ता भोक्ता कहिये है सो जव मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञान का अभाव भया, तव परद्रव्य का स्वामित्वपणां का अभाव भया, तव आप ज्ञानी भया, स्वतंत्रपणैं तौ काहू का कर्त्ता भोक्ता होय नाही अर आपकी निवलाई करि, कर्म उदय की वरजोरी करि जो कार्य होय है, ताकूं परमार्थदृष्टि मैं कर्त्ता भोक्ता न कहिये है अर तिसके निमित्त तैं कछू नवीन कर्मरज लागै भी है तौ ताकूं इहां वंध मैं न गिणिये है। जो संसार है सो तौ मिथ्यात्व तैं है, मिथ्यात्व गयें पीछैं संसार का अभाव ही है, समुद्र मैं वूंद की कहा गणती।

वहुरि एता और जाननां जो केवलज्ञानी तौ साक्षात् शुद्धात्म[१] स्वरूपरूप है ही अर श्रुतज्ञानी भी शुद्धनय के अवलंवन तैं आत्मा कूं तैसा ही अनुभवै है, प्रत्यक्ष परोक्ष का ही भेद है सो याकै ज्ञान श्रद्धान की अपेक्षा तौ ज्ञाता दृष्टापणां ही है। वहुरि चारित्र की अपेक्षा प्रतिपक्षी कर्म का जेता उदय है, तेता घात है सो याकै नाश करनें का उद्यम है। जव कर्म का अभाव होसी, तव साक्षात् यथाख्यातचारित्र होसी, तव केवलज्ञान की प्राप्ति होसी॥ छ॥

वहुरि सम्यग्दृष्टी कूं ज्ञानी कहिये है सो मिथ्यात्व के अभाव ही की अपेक्षा कहिये है। जो अपेक्षा न लीजिये तौ ज्ञानसामान्य करि तौ सर्व ही जीव ज्ञानी हैं। वहुरि विशेष अपेक्षा ही लीजिये तौ जहां तांई किंचित्मात्र भी अज्ञान रहै, तेतै[२] ज्ञानी न कह्या जाय। जैसैं सिद्धांत मैं भाव लगाये हैं, तहां केवलज्ञान

कैसे कहा जा सकता है?

उसका समाधान – पहले से ही कहते आ रहे हैं कि यदि स्वतन्त्र होकर करे और भोगे तो उसे परमार्थ में कर्ता-भोक्ता कहा जाता है, लेकिन जब मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञान का अभाव हो जाता है, तब परद्रव्य के स्वामित्व का भी अभाव हो जाता है, तब स्वयं ज्ञानी होने पर स्वतन्त्ररूप से तो किसी का कर्ता-भोक्ता होता नहीं है और स्वयं की निर्बलता में कर्मोदय की बलवत्ता से जो कार्य होता है, उसे परमार्थदृष्टि में कर्ता-भोक्ता नहीं कहा जाता है और उसके निमित्त से [ज्ञानी को] कुछ नवीन कर्मरज लगती भी है तो उसे यहाँ बन्ध में नहीं गिनते हैं क्योंकि संसार तो मिथ्यात्व से है; मिथ्यात्व जाने के बाद संसार का अभाव होता ही है, समुद्र में बूँद की क्या गिनती? [अर्थात् उसका कोई महत्त्व नहीं है।]

यहाँ इतना और जानना कि केवलज्ञानी तो साक्षात् शुद्धात्मस्वरूप है ही और श्रुतज्ञानी भी शुद्धनय के अवलम्बन से आत्मा को वैसा ही अनुभव करता है, केवल प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही भेद है; अतः उसके ज्ञान-श्रद्धान की अपेक्षा तो ज्ञाता-द्रष्टापना ही है लेकिन चारित्र की अपेक्षा प्रतिपक्षी कर्म का जितना उदय है, उतना ही घात है परन्तु उसके भी नाश करने का उद्यम है; जब उस कर्म का अभाव होगा, तब साक्षात् यथाख्यातचारित्र होगा, तभी केवलज्ञान की प्राप्ति होगी।

जो सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा जाता है, वह मिथ्यात्व के अभाव ही की अपेक्षा कहा जाता है। यदि यह अपेक्षा न मानी जाए तो ज्ञानसामान्य से तो सभी जीव ज्ञानी हैं और यदि विशेष अपेक्षा से देखें तो जब तक किञ्चित्मात्र भी अज्ञान रहता है, तब तक ज्ञानी नहीं कहा जाता है। जिस प्रकार

---

१. *शुद्धात्मा* - 'ब' प्रति पाठ २. *जेतैं* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

न उपजै, तेतै वारमां गुणस्थान तांई अज्ञानभाव लगाया है॥ तातैं इहां ज्ञानी अज्ञानी कहनां, सम्यक्त्व मिथ्यात्व ही की अपेक्षा जाननां॥ छ॥

आगैं, जे सर्वथा एकांत के आशय तैं आत्मा कूं कर्त्ता ही मानै हैं, तिनिकूं निषेधै है, ताकी सूचनिका का श्लोक है॥

॥ अनुष्टुभ्॥

ये तु कर्तारमात्मानं, पश्यन्ति तमसा ततः।
सामान्यजनवत्तेषां, न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम्॥ ७॥

॥ अर्थ॥ ये पुरुष, अज्ञान अंधकार करि आच्छादे हुए आत्मा कूं कर्त्ता ही मानैं हैं, ते मोक्ष कूं चाहते है, तौऊ तिनिकै सामान्यजन लौकिकजन की ज्यौं मोक्ष नाही होय है॥ छ॥

अब, इस अर्थ कूं गाथा करि कहै है।

लोयस्स कुणइ विण्हू[१], सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाणं पि य अप्पा, जइ कुव्वइ छव्विहे काए॥ १४॥[२]

सिद्धान्त ग्रन्थों के अनुसार औदयिकभावों के वर्णन में जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव बताया है; अतः यहाँ ज्ञानी-अज्ञानी कहना सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ही की अपेक्षा जानना।

अब, जो सर्वथा एकान्त के आशय से आत्मा को कर्ता ही मानते हैं, उनका निषेध करते हैं, उसकी सूचना बतानेवाला काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

निज आतमा ही करे सब कुछ मानते अज्ञान से।
हों यद्यपि वे मुमुक्षु पर, रहित आतमज्ञान से॥
अध्ययन करें चारित्र पालें, और भक्ति करें पर।
लौकिकजनों वत् उन्हें भी तो, मुक्ति की प्राप्ति न हो॥ १९९॥

अर्थ – जो पुरुष, अज्ञान अन्धकार से आच्छादित होकर आत्मा को कर्ता ही मानते हैं, वे मोक्ष को चाहते हैं, फिर भी उन्हें सामान्य लौकिकजनों की तरह मोक्ष नहीं होता है।

अब, इस अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं —

लोगस्स कुणदि विण्हू, सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाणं पि य अप्पा, जदि कुव्वदि छव्विहे काए[४]॥ ३२१॥

---

१. विण्हु - 'अ' प्रति पाठ २. मूल 'अ' प्रति में भूलवश गाथा क्रमांक १३ दो बार आने से आगे भी गाथा क्रमांक में अन्तर आया है, जबकि हस्तलिखित 'ब' प्रति में क्रमांक बाद में सुधारा गया है। *३. काये* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

लोयसमणाणमेयं, सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसेसो।
लोयस्स कुणइ विण्हू[1], समणाण वि अप्पओ कुणइ॥ १५॥
एवं ण को वि मोक्खो, दीसइ लोयसमणाण दोण्हं पि।
णिच्चं कुव्वंताणं, सदेवमणुयासुरे लोए॥ १६॥

॥ त्रिकलं॥

लोकस्य करोति विष्णुः, सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान्।
श्रमणानामपि चाऽत्मा, यदि करोति षड्विधान् कायान्॥ छ॥
लोकश्रमणानामेकः, सिद्धान्तो यदि न दृश्यते विशेषः।
लोकस्य करोति विष्णुः, श्रमणानामप्यात्मा करोति॥ छ॥
एवं न कोऽपि मोक्षो, दृश्यते लोकश्रमणानां द्वयेषामपि।
नित्यं कुर्वतां, सदेवमनुजाऽसुरान् लोकान्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ देव नारक तिर्यंच मनुष्य प्राणी हैं, तिनिकूं लोक कै तौ विष्णु करै है, अैसी मान्य

लोगसमणाणमेयं, सिद्धंतं जदि ण दीसदि विसेसो।[2]
लोगस्स कुणदि विण्हू, समणाणं अप्पओ कुणदि॥ ३२२॥
एवं ण को वि मोक्खो, दिस्सदि[3] लोगसमणाणं दोण्हं पि।
णिच्चं कुव्वंताणं, सदेवमणुयासुरे लोगे॥ ३२३॥

ज्यों लोक माने 'देव नारक आदि जीव विष्णु करे'।
त्यों श्रमण भी माने यदि, षट्काय को आत्मा करे॥ ३२१॥
तो लोक-मुनि सिद्धान्त एक हि, भेद इसमें नहिं दिखे।
विष्णु करे ज्यों लोकमत में, श्रमणमत आत्मा करे॥ ३२२॥
इस भाँति लोक–मुनि उभय का, मोक्ष कोई नहिं दिखे।
जो देव मानव असुर के, त्रय लोक को नित्य ही करे॥ ३२३॥

अर्थ – लौकिकजन ऐसा मानते हैं कि देव, नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि प्राणियों को

---

१. *विण्हु* - 'अ' प्रति पाठ
२. *लोगसमणाणमेवं, सिद्धंतं पडि ण दिस्सदि विसेसो* - तात्पर्यवृत्ति पाठ
३. *दिस्सदि* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

है। वहुरि श्रमण जे जती तिनिकै भी अैसी मान्य होय जो षट्काय के जीवनि कूं आत्मा करै है॥ छ॥

तौ लोक कै अर श्रमणनि कै दोऊनि कै एक सिद्धांत ठहरया, किछू विशेष न देषिये है, जातैं लोक कै विष्णु करै है, श्रमणनि कै आत्मा करै है, अैसैं दोऊ कर्त्ता की मानि में समान भये॥ छ॥

अैसैं लोक कै अर श्रमणनि कै दोऊनि कै कोई भी मोक्ष नाही देषिये है॥ जातैं देव मनुष्य असुर सहित लोकनि कूं, जीवनि कूं नित्य दोऊ करते संते प्रवर्तैं हैं, तिनिकै काहे का मोक्ष होय॥ छ॥

॥ टीका॥ ये पुरुष आत्मा कूं कर्त्ता ही मानैं हैं, ते लोकोत्तरिक हैं, लोक तैं दूरिवर्त्ती वाह्य भये हैं, तौऊ लौकिकपणां कूं नाही उलंघि वर्तैं हैं॥ जातैं लौकिककजननि कै तौ परमात्मा विष्णु, सुर नारक आदि कार्यनि कूं करै है॥ वहुरि ते लोकवाह्य भये अैसे मुनि, तिनिकै अपनां आत्मा, तिनि सुर नारक आदि कूं करै है॥ अैसैं अपसिद्धांत कहिये अन्यथा माननें का दोऊ कै समानपणां है॥ तातैं ते आत्मा कूं नित्य कर्त्तापणां के मानने तैं लौकिककजन की ज्यों लोकोत्तरिक मुनि हैं, तौऊ लौकिककजन ही हैं, तिनिकै मोक्ष नाही होय है॥

॥ भावार्थ॥ जे आत्मा कूं कर्त्ता मानैं हैं, ते मुनि भये होय, तौऊ लौकिककजन सारिषे ही हैं, जातैं लोक ईश्वर कूं कर्त्ता मानैं हैं, तिनि मुनिनि नैं आप कूं कर्त्ता मान्यां॥ अैसैं दोऊ कै मानि समान भई, तातैं ज्यों लौकिककजन कै मोक्ष नहीं, तैसैं तिनि मुनिनि कै मोक्ष नहीं। कर्त्ता होगा सो कार्यरूप

विष्णु करता है और यदि श्रमण या यतियों की भी ऐसी मान्यता हो कि षट्काय के जीवों को आत्मा करता है॥ ३२१॥

तो फिर लौकिकजनों और श्रमणों, दोनों का एक ही सिद्धान्त (मत) ठहरता है, कुछ अन्तर नहीं दिखाई देता है क्योंकि जैसे लोक में विष्णु करता है, वैसे ही श्रमणों में आत्मा करता है; इस प्रकार दोनों ही कर्तापने की मान्यता में समान हुए॥ ३२२॥

इस कारण लौकिकजनों और श्रमणों, दोनों में से किसी को भी मोक्ष नहीं होता है क्योंकि देव, मनुष्य, असुरसहित लोक के जीवों को दोनों ही नित्य करते हुए प्रवर्तते हैं, उनको कैसे मोक्ष होगा?॥ ३२३॥

टीका – जो पुरुष, आत्मा को ही कर्ता मानते हैं, वे लोकोत्तर अर्थात् लोक से दूरवर्ती या बाह्य हो गये हैं तो भी लौकिकता का उल्लङ्घन नहीं कर रहे हैं क्योंकि जिस प्रकार लौकिकजनों में तो परमात्मा विष्णु, सुर-नारक आदि कार्यों को करता है; उसी प्रकार लोकबाह्य मुनियों के मत में भी अपनी आत्मा, उन सुर- नारक आदि कार्यों को करती है; इस प्रकार अपसिद्धान्त अर्थात् अन्यथा माननें में दोनों समान हैं, अत: आत्मा को नित्यकर्तापना मानने से लोकोत्तर मुनि भी लौकिकजनों की तरह ही हैं, लौकिकजन ही हैं; उन्हें भी मोक्ष नहीं होता है।

भावार्थ – जो आत्मा को कर्ता मानते हैं, वे भले ही मुनि हो गये हों तो भी लौकिकजनों जैसे ही हैं क्योंकि लोक, ईश्वर को कर्ता मानता है, उन मुनियों ने स्वयं को कर्ता माना, इस प्रकार दोनों की मान्यता समान हुई; अत: जैसे लौकिकजनों को मोक्ष नहीं होता, वैसे ही उन मुनियों को भी मोक्ष नहीं होता। जो कर्ता होगा, वह कार्यरूप फल को भोगेगा ही भोगेगा और जो फल भोगेगा, उसे मोक्ष कैसे होगा?

फल कूं भोगवैहीगा, जो फल भोगवैगा ताकै काहे का मोक्ष॥ छ॥

आगैं कहै है जो परद्रव्य कै अर आत्मा कै किछू भी संवंध नाही है, तातैं कर्त्ताकर्मसंवंध भी नाही है, अैसैं श्लोक मैं कहै है॥

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः, परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाऽभावे तत्कर्तृता कुतः॥ ८॥

॥ अर्थ॥ परद्रव्य कै अर आत्मतत्व कै सर्व ही संवंध नाहीं हैं॥ अैसैं कर्त्ताकर्मपणां का संवंध का अभाव कूं होतैं परद्रव्य का कर्त्तापणां काहे तैं होय॥

॥ भावार्थ॥ परद्रव्य कै अर आत्मा कै किछू भी संवंध नाही, तव कर्त्ताकर्मसंवंध काहे कूं होय। अैसैं होतैं कर्त्तापणां काहे कूं होय॥ छ॥

आगैं, व्यवहारनय के वचन करि कहिये है जो परद्रव्य मेरा है सो जे व्यवहार ही कूं निश्चय मानैं हैं, ते अज्ञान तैं मानैं हैं॥ याकूं दृष्टांतपूर्वक कहै है॥ छ॥

ववहारभासिएण उ, परदव्वं मम भणंति अविदियत्था।
जाणंति णिच्छयेण उ, ण य मह परमाणुमित्तमवि किंचि॥ १७॥

अब कहते हैं कि परद्रव्य और आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; इसलिए कर्ता-कर्मसम्बन्ध भी नहीं है – ऐसा श्लोक में कहते हैं —

॥ दोहा॥

जब कोई सम्बन्ध ना, पर अरु आतम माहिं।
तब कर्ता परद्रव्य का, किसविधि आत्म कहाहिं॥ २००॥

अर्थ – जब परद्रव्य और आत्मतत्त्व में कुछ भी सम्बन्ध नहीं है तो उनमें कर्ता-कर्मपने के सम्बन्ध का भी अभाव होने पर परद्रव्य का कर्तापना कहाँ से हो सकता है?

भावार्थ – परद्रव्य और आत्मा में कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, तब **कर्ता-कर्मसम्बन्ध भी कैसे हो सकता है?** – ऐसा होने पर कर्तापना कैसे हो सकता है?

अब, व्यवहारनय के वचन के द्वारा यह कहा जाता है कि परद्रव्य मेरा है परन्तु जो व्यवहार को ही निश्चय मानते हैं, वे अज्ञान से मानते हैं; इसे दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं —

ववहारभासिदेण दु, परदव्वं मम भणंति अविदिदत्था[1]।
जाणंति णिच्छयेण दु, ण य इह परमाणुमित्त मम[2] किंचि॥ ३२४॥

---

१. *विदिदत्था* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ २. *ण य इह परमाणुमेत्तमवि* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

जह को वि णरो जंपइ, अम्हं गामविसयणयररट्ठं।
ण य होंति जस्स ताणि उ, भणइ य मोहेण सो अप्पा॥ १८॥
एमेव मिच्छदिट्ठी, णाणी णीसंसयं हवइ एसो।
जो परदव्वं मम इदि, जाणंतो अप्पयं कुणइ॥ १९॥
तम्हा ण मे त्ति णिच्चा, दोण्ह वि एयाण कत्तिववसायं।
परदव्वे जाणंतो, जाणेज्जो[१] दिट्ठिरहियाणं॥ २०॥

॥ चतुष्कं॥

व्यवहारभाषितेन तु, परद्रव्यं मम भणन्त्यविदितार्थाः।
जानन्ति निश्चयेन तु, न च मम परमाणुमात्रमपि किञ्चित्॥ छ॥
यथा कोऽपि नरो जल्पत्यस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्।
न च भवन्ति तस्य तानि तु, भणति च मोहेन स आत्मा॥ छ॥
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निःसंशयं भवत्येषः।
यः परद्रव्यं ममेति, जानन्नात्मानं करोति॥ छ॥

जह को वि णरो जंपदि, अम्हाणं गामविसयपुररट्ठं।[२]
ण य होंति तस्स ताणि दु, भणदि य मोहेण सो अप्पा॥ ३२५॥
एमेव मिच्छदिट्ठी[३], णाणी णिस्संसयं हवदि एसो।
जो परदव्वं मम इदि, जाणंतो अप्पयं कुणदि॥ ३२६॥
तम्हा ण मे त्ति णच्चा, दोण्हं[३] एदाण कत्तिववसाओ।
परदव्वे जाणंतो, जाणिज्जो दिट्ठिरहिदाणं॥ ३२७॥

व्यवहारमूढ़ अतत्त्वविद्, परद्रव्य को मेरा कहे।
'अणुमात्र भी मेरा न' ज्ञानी, जानता निश्चय विषै॥ ३२४॥
ज्यों पुरुष कोई कहे 'हमारा, ग्राम पुर अरु देश है'।
पर वे नहीं उसके अरे!, जीव मोह से अपना कहे॥ ३२५॥

---

१. *जाणेजो* - 'ब' प्रति पाठ / *जाणेज्जा* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
२. *गामविसयपुररट्ठं* - तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ
३. *मिच्छादिट्ठी* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
४. *दुह्मं* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

तस्मान्न मे इति ज्ञात्वा, द्वयेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायम्।
परद्रव्ये जानन्, जानीयाद्दृष्टिरहितानाम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ अविदितार्थ कहिये नाही जान्या है पदार्थ का स्वरूप ज्यां, ते पुरुष व्यवहार के कहे वचन ले करि कहैं हैं जो परद्रव्य मेरा है॥ वहुरि जे निश्चय करि पदार्थ का स्वरूप जानैं हैं, ते कहैं हैं जो परद्रव्य परमाणुमात्र भी किछू मेरा नाही है॥ छ॥

व्यवहार का कहनां अैसा है, जैसैं कोई पुरुष कहै मेरा ग्राम है, मेरा देश है, मेरा नगर है, मेरा राज का देश है॥ तहां निश्चय विचारिये तौ ते ग्राम आदिक ताके नाही हैं, वह आत्मा मोह करि मेरा मेरा कहै है॥ छ॥

अैसैं ही जो ज्ञानी होय करि भी जो परद्रव्य कूं परद्रव्य जानता संता भी कहै है जो परद्रव्य मेरा है, अैसैं आप कूं परद्रव्यमयी करै है सो निःसंदेह मिथ्यादृष्टी होय है॥ छ॥

तातैं ज्ञानी है सो परद्रव्य मेरा नाही है, अैसैं जानि करि अर जो परद्रव्य विषै लौकिकजन कै अर मुनिनि कै जो कर्त्तापणां का व्यापार होय तौ अैसैं जानैं है जो ए सम्यग्दर्शन करि रहित हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ जे व्यवहार ही विषै विमूढ हैं, ते ही अज्ञानी हैं, ते ही यह परद्रव्य मेरा है, अैसैं देषै हैं, कहैं हैं॥ वहुरि ज्ञानी हैं, ते निश्चयनय करि प्रतिवुद्ध भये हैं, ते परद्रव्य कूं कणिकामात्र कूं भी

इस रीति से जो ज्ञानी भी, 'मुझ' जानता परद्रव्य को।
वह अवश्य मिथ्यात्वी बने!, निजरूप करता अन्य को॥ ३२६॥
इससे 'न मेरा' जान जीव, लोक एवं श्रमण की।
कर्तृत्व बुद्धि जानता, जाने सुदृष्टि रहित की॥ ३२७॥

अर्थ – अविदितार्थ अर्थात् जिन्होंने पदार्थ का स्वरूप नहीं जाना, वे पुरुष व्यवहार में कहे वचन के आधार पर कहते हैं कि 'परद्रव्य मेरा है' लेकिन जो निश्चय से पदार्थ का स्वरूप जानते हैं, वे कहते हैं कि 'परमाणुमात्र भी परद्रव्य, मेरा कुछ नहीं है॥ ३२४॥'

व्यवहार का कथन ऐसा है, जैसे कोई पुरुष यह कहे – 'मेरा ग्राम है, मेरा देश है, मेरा नगर है, मेरे राज्य का देश है।' वहाँ निश्चय से विचार करने पर तो वे ग्राम आदि उसके नहीं है, वह आत्मा मोह से मेरा-मेरा कहता है॥ ३२५॥

इसी प्रकार जो ज्ञानी होकर भी परद्रव्य को परद्रव्य जानता हुआ भी कहता है कि 'परद्रव्य मेरा है', और इस प्रकार स्वयं को परद्रव्यमय करता है, वह निःसन्देह मिथ्यादृष्टि होता है॥ ३२६॥

अतः ज्ञानी, 'परद्रव्य मेरा नहीं है' – ऐसा जान कर, परद्रव्यों के प्रति लौकिकजनों और मुनियों के कर्तापने का व्यवहार देख कर, यह जान लेते हैं कि वे सम्यग्दर्शन से रहित हैं॥ ३२७॥

टीका – जो व्यवहार ही में मूढ़ हैं, वे ही अज्ञानी हैं, वे ही 'यह परद्रव्य मेरा है'; इस प्रकार देखते हैं और कहते हैं परन्तु जो ज्ञानी हैं, वे निश्चयनय से प्रतिबुद्ध हुए है; अतः वे परद्रव्य की

यह मेरा है, ऐसैं नाही देषैं हैं॥ तातैं जैसैं या लोक मैं कोई व्यवहार विषै विमूढ, पर के ग्राम मैं वसनेंवाला कहै, मेरा यह ग्राम है, ऐसैं देषता संता मिथ्यादृष्टी कहिये। तैसैं जो ज्ञानी भी कोई प्रकार व्यवहार विषै विमूढ होय करि यह परद्रव्य मेरा है, ऐसैं देषै तौ तिस काल सो भी परद्रव्य कूं आप करता संता मिथ्यादृष्टी ही होय॥ यातैं जो तत्व कूं जानता पुरुष है सो सर्व ही परद्रव्य मेरा नाही है, ऐसैं जानि करि अर लौकिकजन अर श्रमणजन, इनि दोऊनि कै भी जो यह परद्रव्य विषै कर्त्तापणां का निश्चय है तौ सो तिनिकै सम्यग्दर्शन का रहितपणां ही तैं होय है, ऐसैं निश्चित जानैं है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञानी भी होय अर फेरि व्यवहार करि मोही होय परद्रव्य कूं अपणावै तौ लौकिकजन होऊ तथा मुनि होऊ, दोऊ कै परद्रव्य का कर्त्तापणां आवै, तव मिथ्यादृष्टी होय है, ऐसैं ज्ञानी जानैं है॥ छ॥

अव, इस ही अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ वसन्ततिलका॥

एकस्य वस्तुन इहाऽन्यतरेण सार्द्धं,
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः॥
तत्कर्तृकर्मघटनाऽस्ति न वस्तुभेदे,
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम्॥ ९॥

॥ अर्थ॥ जा कारण तैं एक वस्तु कै अन्य वस्तु करि सहित इस लोक मैं संवंध है सो समस्त

कणिकामात्र को भी 'यह मेरा है' इस प्रकार नहीं देखते हैं। जैसे, इस लोक में कोई व्यवहार में मूढ़, दूसरे के ग्राम में रहनेवाला कहे कि 'यह ग्राम मेरा है' तो इस प्रकार देखनेवाला वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है। इसी प्रकार यदि ज्ञानी भी किसी प्रकार व्यवहार में मूढ़ होकर 'यह परद्रव्य मेरा है' इस प्रकार देखता है तो उस समय वह भी परद्रव्य को अपना करता हुआ मिथ्यादृष्टि ही होता है; इसलिए तत्त्व को जाननेवाले पुरुष, 'सर्व ही परद्रव्य मेरा नहीं है' – ऐसा जान कर, लौकिकजन और श्रमणजन, इन दोनों का परद्रव्य में कर्तापने का निश्चय, सम्यग्दर्शन से रहित होने पर ही होता है – ऐसा निश्चित जानते हैं।

भावार्थ – ज्ञानी होकर भी यदि पुनः व्यवहार में मोही होते हुए परद्रव्य को अपनाते हैं तो वे चाहे लौकिकजन हों या मुनि हों, दोनों में परद्रव्य का कर्तापना आता है; तब वे मिथ्यादृष्टि होते हैं – ऐसा ज्ञानी जानता है।

अब, इसी अर्थ के कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

जब कोई सम्बन्ध नहीं है दो द्रव्यों में,
तब फिर कर्ताकर्मभाव भी कैसे होगा?।

ही निषेध्या है॥ तातैं जहां वस्तुभेद है, तहां कर्त्ताकर्म की प्रवृत्ति ही नाही है॥ तातैं लौकिकजन भी अर मुनिजन भी वस्तु का तत्व कहिये यथार्थस्वरूप अैसा ही देषो जो कोई काहू का कर्त्ता नाही, परद्रव्य पर का अकर्त्ता ही श्रद्धा मैं ल्यावो॥ छ॥

आगैं कहै है जो पुरुष अैसा वस्तुस्वभाव का नियम नाही जानैं हैं, ते अज्ञानी भये कर्म कूं करै हैं, ते भावकर्म के कर्त्ता होय हैं, अैसैं अपने भावकर्म का कर्त्ता अज्ञान तैं चेतन ही है॥ ताकी सूचनिका का काव्य है॥

॥ वसन्ततिलका॥

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम-
मज्ञानमग्नमहसो वत ते वराकाः।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः॥ १०॥

॥ अर्थ॥ जे पुरुष, वस्तु का स्वभाव का पूर्वोक्त नियम कूं नाही जानैं हैं, तिनिका आचार्य खेद करि कहै है। अहो, अज्ञान विषै मग्न भया है मह कहिये पुरुषार्थ पराक्रमरूप तेज जिनिका, ते

इसीलिए तो मैं कहता हूँ , निज को जानो,
सदा अकर्ता अरे जगत्जन ! अरे मुनीजन !॥ २०१॥

अर्थ – चूँकि इस लोक में एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ समस्त सम्बन्ध ही का निषेध किया गया है; अतः जहाँ वस्तुभेद है, वहाँ कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति ही नहीं है। इसलिए लौकिकजन भी और मुनिजन भी, वस्तु का तत्त्व अर्थात् यथार्थस्वरूप ऐसा ही देखो कि कोई किसी का कर्ता नहीं है; अन्य द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य का अकर्ता ही श्रद्धा में लाओ।

अब कहते हैं कि जो पुरुष, ऐसे वस्तुस्वभाव के नियम को नहीं जानते हैं, वे अज्ञानी होकर कर्म को करते हैं, वे भावकर्म के कर्ता होते हैं; इस प्रकार अपने भावकर्म का कर्ता अज्ञान से चेतन ही है, इसकी सूचना का काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

इस स्वभाव के सहज नियम जो नहीं जानते,
अरे! बिचारे वे तो डूबे भवसागर में।
विविध कर्म को करते हैं बस! इसीलिए वे,
भावकर्म के कर्ता होते अन्य कोई ना॥ २०२॥

अर्थ – जो पुरुष, वस्तु के स्वभाव के पूर्वोक्त नियम को नहीं जानते हैं; उन्हें आचार्य खेदपूर्वक कहते हैं कि अहो! जिनका मह अर्थात् पुरुषार्थ या पराक्रमरूप तेज, अज्ञान में डूब गया

वराक कहिये रांक भये संते कर्म कूं करैं हैं, ज्ञान तैं छूटि गये हैं॥ तातैं इस रीति करि भावकर्म का आप चेतन ही कर्त्ता होय है, अन्य नाही है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टी है सो वस्तु का स्वरूप का नियम तौ जानैं नाही अर परद्रव्य का कर्त्ता वणैं, तव आप अज्ञानरूप परिणमै, तव अपनां भावकर्म का कर्त्ता अज्ञानी ही है, अन्य नाही है॥ छ॥

आगैं, इस कथन कूं युक्ति करि साधै हैं॥

मिच्छत्तं जइ पयडी, मिच्छादिट्ठी करेइ अप्पाणं।
तम्हा अचेयणा ते, पयडी णणु कारगो पत्तो॥ २१॥
अहवा एसो जीवो, पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं।
तम्हा पुग्गलदव्वं, मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो॥ २२॥
अह जीवो पयडी तह, पोग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तम्हा दोहिं कयं तं, दोण्णि वि भुंजंति तस्स फलं॥ २३॥

है, वे वराक अर्थात् रंक होते हुए कर्म को करते हैं, लेकिन ज्ञान से छूट गये हैं; इसलिए इस रीति से भावकर्म का कर्ता स्वयं चेतन ही होता है, अन्य नहीं।

भावार्थ – अज्ञानी मिथ्यादृष्टि, वस्तु के स्वभाव के नियम को तो जानते नहीं हैं और परद्रव्य के कर्ता बन कर, स्वयं अज्ञानरूप परिणमते हैं; अत: अपने भावकर्म के कर्ता अज्ञानी ही हैं, अन्य नहीं हैं।

अब, इस कथन को युक्तिपूर्वक सिद्ध करते हैं —

मिच्छत्तं[1] जदि पयडी, मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तम्हा अचेदणा दे, पयडी णणु कारगो पत्तो[2]॥ ३२८॥
अहवा एसो जीवो, पोग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं।
तम्हा पोग्गलदव्वं, मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो॥ ३२९॥
अह जीवो पयडी तह, पोग्गलदव्वं[3] कुणंति मिच्छत्तं।
तम्हा दोहिं[2] कदं तं, दोण्णि वि भुंजंति तस्स फलं॥ ३३०॥

---

१. *मिच्छत्ता* – तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ २. *कारगा पत्ता* – कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
३-४. *विय पुग्गलदव्वं / दोवि* – तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ

अह ण पयडी ण जीवो, पोग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तम्हा पुग्गलदव्वं, मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा॥ २४॥

॥ चतुष्कं॥

मिथ्यात्वं यदि प्रकृति-र्मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानम्।
तस्मादचेतना ते, प्रकृतिर्नन्नु कारकः प्राप्तः॥ छ॥
अथवैष जीवः, पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वम्।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं, मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः॥ छ॥
अथ जीवः प्रकृतिस्तथा, पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वम्।
तस्माद्द्वाभ्यां कृतं तत्, द्वावपि भुञ्जाते तस्य फलम्॥ छ॥
अथ न प्रकृतिर्न जीवः, पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वम्।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं, मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जीव कै मिथ्यात्वभाव होय है, ताकूं विचारै है जो निश्चय करि यह कौंन करै है॥ तहां जो मिथ्यात्व नामा मोहकर्म की प्रकृति पुद्गलद्रव्य है, सो यह प्रकृति आत्मा कूं मिथ्यादृष्टी करै है। अैसैं मानिये तौ सांख्यमती कूं कहै है, प्रकृति तौ तेरे मत मैं अचेतन है सो अहो सांख्यमती,

---

अह ण पयडी ण जीवो, पोग्गलदव्वं[1] करेदि मिच्छत्तं।
तम्हा पोग्गलदव्वं, मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा॥ ३३१॥

मिथ्यात्व प्रकृति ही अगर, मिथ्यात्वी जो जीव को करे।
तो फिर अचेतन प्रकृति ही, कारक बने तुझ मत विषे!॥ ३२८॥
अथवा करे जो जीव, पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व को।
तो तो बने मिथ्यात्वी पुद्गल, आत्मा फिर नहिं बने॥ ३२९॥
जो जीव अरु प्रकृति करे, मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्य को।
तो उभयकृत जो होय तत्फल, भोग भी हो उभय को॥ ३३०॥
जो प्रकृति नहिं, नहिं जीव करे, मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्य को।
पुद्गलदरव मिथ्यात्व अकृत, क्या न यह मिथ्या कहो?॥ ३३१॥

अर्थ – जीव में मिथ्यात्वभाव होता है, उसका विचार करते हैं कि निश्चय से इसे कौन करता है? यदि पुद्गलद्रव्य की मिथ्यात्व नामक मोहकर्म की प्रकृति आत्मा को मिथ्यादृष्टि करती है तो

---

१. *पुग्गलदव्वं* - तात्पर्यवृत्ति पाठ।

अचेतनप्रकृति जीव कै मिथ्यात्वभाव का करनेंवाला ठहरया, सो यह वणैं नाही॥ छ॥

अथवा अैसैं मानिये जो यह जीव है सो पुद्गलद्रव्य कै मिथ्यात्व कूं करै है॥ तौ अैसैं मानैं पुद्गलद्रव्य ही मिथ्यादृष्टी ठहरै, जीव मिथ्यादृष्टी न ठहरै सो यह भी वणैं नाही॥ छ॥

अथवा अैसैं मानिये जो जीव अर प्रकृति, ए दोऊ पुद्गलद्रव्य कै मिथ्यात्व कूं करै है॥ तौ दोऊ करि कीया ताका फल दोऊ ही भोगवै, अैसैं ठहरै सो यह भी वणैं नाही॥ छ॥

अथवा अैसैं मानिये जो पुद्गलद्रव्य नामा मिथ्यात्व कूं प्रकृति भी न करै है अर जीव भी न करै है॥ 'तौ पुद्गलद्रव्य ही मिथ्यात्व है सो अैसैं मानना कहा मिथ्या झूठा तौ नाही है॥'[१] तातैं यह सिद्ध होय है जो मिथ्यात्व नामा जीव का भावकर्म, ताका कर्त्ता तौ अज्ञानी जीव है अर याके निमित्त तैं पुद्गलद्रव्य मैं मिथ्यात्व कर्म की शक्ति निपजै है॥ छ॥

॥ टीका॥ मिथ्यात्व आदि भावकर्म है, ताका कर्त्ता जीव ही है॥ जातैं तिसकूं अचेतन जो प्रकृति, ताका कार्य मानिये तौ तिस भावकर्म कै भी अचेतनपणां का प्रसंग आवै है। वहुरि मिथ्यात्व आदि भावकर्म का कर्त्ता, जीव आपकै ही आप है॥

जो जीव करि पुद्गलद्रव्य कै मिथ्यात्व आदि भावकर्म कीये मानिये तौ भावकर्म चेतन है सो

ऐसा माननेवाले सांख्यमती से कहते हैं कि प्रकृति तो तुम्हारे मत में अचेतन है, तब हे सांख्यमती! अचेतनप्रकृति, जीव के मिथ्यात्वभाव को करनेवाली सिद्ध हुई, परन्तु यह सम्भव नहीं है॥ ३२८॥

यदि ऐसा माना जाए कि यह जीव, पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व को करता है तो ऐसा मानने पर पुद्गलद्रव्य ही मिथ्यादृष्टि सिद्ध होता है, जीव मिथ्यादृष्टि सिद्ध नहीं होता है, परन्तु यह भी सम्भव नहीं है॥ ३२९॥

यदि ऐसा माना जाए कि जीव और प्रकृति, दोनों पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व को करते हैं तो दोनों के द्वारा किया हुआ होने से, उसके फल को भी दोनों भोगते है – यह सिद्ध होता है, परन्तु यह भी सम्भव नहीं है॥ ३३०॥

अथवा ऐसा माना जाए कि पुद्गलद्रव्यात्मक मिथ्यात्व को प्रकृति भी नहीं करती है और जीव भी नहीं करता है तो क्या पुद्गलद्रव्यात्मक मिथ्यात्व को मानना, मिथ्या अर्थात् झूठा सिद्ध नहीं होता है? अत: यह सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व नामक जीव के भावकर्म का कर्ता तो अज्ञानी जीव है और उसके निमित्त से पुद्गलद्रव्य में मिथ्यात्वकर्म की शक्ति उत्पन्न होती है॥ ३३१॥

टीका – मिथ्यात्व आदि भावकर्म का कर्ता जीव ही है क्योंकि यदि उसे अचेतनप्रकृति का कार्य माना जाए तो उस भावकर्म के भी अचेतनपने का प्रसङ्ग आता है; अत: अपने मिथ्यात्व आदि भावकर्म का कर्ता, स्वयं जीव ही है।

यदि जीव के द्वारा पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व आदि भावकर्मों को किया हुआ माना जाए तो

---

१. *'तौ पुद्गलद्रव्य मिथ्यात्व है सो मिथ्या झूठा भी तौ नाही है'* – 'अ' प्रति पाठ

पुद्गलद्रव्य कै चेतनपणां का प्रसंग आवै है॥

वहुरि जीव अर प्रकृति, दोऊ ही मिथ्यात्व आदि भावकर्म के कर्त्ता नाही हैं॥ जातैं प्रकृति अचेतन है, ताकै भी जीव की ज्यों ताका फल भोगनें का प्रसंग आवै है॥

वहुरि जीव अर प्रकृति, दोऊ ही मिथ्यात्व आदि भावकर्म के अकर्त्ता नाही, जातैं पुद्गलद्रव्य कै अपनें स्वभाव ही तैं मिथ्यात्व आदि भाव का प्रसंग आवै है॥

तातैं मिथ्यात्व आदि भावकर्म का जीव कर्त्ता है अर अपनें भावकर्म है सो अपना कार्य है, यह सिद्ध भया॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ भावकर्म का कर्त्ता जीव ही सिद्ध कीया सो इहां अैसा जाननां जो परमार्थ तैं अन्यद्रव्य, अन्यद्रव्य का भाव का कर्त्ता नाही है। तातैं जे चेतन के भाव हैं, तिनिका चेतन ही कर्त्ता होय सो यह जीव[१] अज्ञान तैं मिथ्यात्व आदि भावरूप परिणमैं[२] हैं, ते परिणाम चेतन हैं, जड नाही हैं। शुद्धनय करि तिनिकूं चिदाभास भी कहैं हैं। तातैं चेतन कर्म का कर्त्ता चेतन ही होय, यह परमार्थ है॥

तहां अभेददृष्टि मैं तौ शुद्ध चेतनामात्र जीव है अर कर्म के निमित्त तैं परिणमै, तव तिनि परिणामनि करि युक्त होय, तव परिणाम परिणामी की भेददृष्टि मैं अपनें अज्ञानभाव परिणाम हैं, तिनि का कर्त्ता जीव ही है॥ अर अभेददृष्टि मैं कर्त्ताकर्मभाव ही नाही है, शुद्धचेतना मात्र जीववस्तु है॥ या प्रकार

भावकर्म, चेतन होने से पुद्गलद्रव्य के भी चेतन होने का प्रसङ्ग आता है।

जीव और प्रकृति, दोनों मिल कर भी मिथ्यात्व आदि भावकर्म के कर्ता नहीं हैं क्योंकि प्रकृति तो अचेतन है; अत: उसको भी जीव की तरह उसका फल भोगने का प्रसङ्ग आता है।

इसी प्रकार जीव और प्रकृति, दोनों मिल कर, मिथ्यात्व आदि भावकर्म के अकर्ता भी नहीं हैं क्योंकि इससे पुद्गलद्रव्य के अपने स्वभाव ही से मिथ्यात्व आदि भाव होने का प्रसङ्ग आता है।

अत: मिथ्यात्व आदि भावकर्म का कर्ता जीव है और अपने भावकर्म अपने ही कार्य हैं – यह सिद्ध होता है।

भावार्थ – यहाँ, भावकर्म का कर्ता जीव ही को सिद्ध किया है, उसका अर्थ ऐसा जानना चाहिए कि परमार्थ से अन्य द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य के भाव का कर्ता नहीं है; अत: चेतन के भावों का कर्ता चेतन ही होता है। यह जीव, अज्ञान से मिथ्यात्व आदि भावरूप परिणमित होता है, वे परिणाम चेतन हैं, जड़ नहीं हैं; शुद्धनय में उन्हें चिदाभास भी कहते हैं; अत: चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही होता है – यह परमार्थ है।

वहाँ, अभेददृष्टि में तो शुद्धचेतनामात्र जीव है और जब वह कर्म के निमित्त से परिणमता है, तब उन परिणामों से युक्त होता है; तब परिणाम-परिणामी की भेददृष्टि में अपने अज्ञानभावरूप परिणाम हैं, उनका कर्ता जीव ही है तथा अभेददृष्टि में तो कर्ता-कर्मभाव ही नहीं है; शुद्धचेतनामात्र

---

१. *जीव कै* - 'ब' प्रति पाठ

२. *परिणाम* - 'ब' प्रति पाठ

यथार्थ समझनां जो चेतनकर्म का कर्त्ता चेतन ही है॥ छ॥

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्-भावानुषङ्गात्कृतिः।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो,
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं, ज्ञाता न यत्पुद्गलः॥ ११॥

॥ अर्थ॥ कर्म है सो कार्य है, तातैं विना कीया होय नाही॥ वहुरि सो कर्म जीव का अर प्रकृति का, दोऊ का कीया नाही, जातैं प्रकृति तौ अज्ञ है, जड है, ताकै अपनें कार्य का फल का भोगनें का प्रसंग आवै है। वहुरि एक प्रकृति की ही कृति कहिये कार्य नाही है, जातैं प्रकृति तौ अचेतन है अर भावकर्म चेतन है॥ तातैं इस भावकर्म का कर्त्ता जीव ही है, यह जीव ही का कर्म है, जातैं चेतन कै अनुग कहिए चेतन तैं अन्वयरूप हैं, चेतन के परिणाम हैं॥ अर पुद्गल है सो ज्ञाता नाही है, तातैं पुद्गल के नाही हैं॥ छ॥

जीववस्तु है। इस प्रकार यथार्थ समझना कि चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

अरे! कार्य बिना कर्ता के हो नहीं सकता,
भावकर्म भी एक कार्य है सब जग जाने।
और पौद्गलिक प्रकृति सदा ही रही अचेतन,
वह कैसे कर सकती चेतन भावकर्म को?॥
प्रकृति-जीव दोनों ही मिल कर उसे करें यदि,
तो फिर दोनों मिल कर ही फल क्यों ना भोगें?।
भावकर्म तो चेतन का ही करे अनुसरण,
इस कारण यह जीव कहा है उनका कर्ता॥ २०३॥

अर्थ – कर्म (भावकर्म) कार्य है, अतः बिना किये नहीं होता। यह कर्म, जीव और प्रकृति, दोनों का किया हुआ भी नहीं है क्योंकि प्रकृति तो अज्ञ है, जड़ है; उस पर भी अपने द्वारा किये कार्य के फल भोगने का प्रसङ्ग आता है तथा एक प्रकृति की ही कृति अर्थात् कार्य भी नहीं है क्योंकि प्रकृति तो अचेतन है और भावकर्म चेतन हैं; अतः इस भावकर्म का कर्ता जीव ही है, यह जीव ही का कार्य है क्योंकि ये चेतन के अनुग अर्थात चेतन के अन्वयरूप हैं, चेतन के परिणाम हैं और

॥ भावार्थ॥ चेतनकर्म, चेतन ही कै होय, पुद्गल जड है, ताके चेतनकर्म कैसैं होय॥ छ॥

आगैं, जे केई भावकर्म का भी कर्त्ता, कर्म ही कूं मानैं हैं, तिनिकूं समझावनें कूं स्याद्वाद करि वस्तु की मर्यादा कहै हैं, ताकी सूचनिका का काव्य है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृहतकैः, क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां,
कर्तात्मैष कथञ्चिदित्यचलिता, कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता॥
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां, बोधस्य संशुद्धये,
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया, वस्तुस्थितिः स्तूयते॥ १२॥

॥ अर्थ॥ केई आत्मा के घातक सर्वथा एकांतवादी, तिनिनैं कर्म ही कूं कर्त्ता विचारि, अर आत्मा कै कर्त्तापणां दूरि करि अर यह आत्मा कथंचित् कर्त्ता है, अैसैं कहनेंवाली निर्बाध श्रुति कहिये जिनेश्वर की वाणी है, ताकूं कोप उपजाया॥

पुद्गल, ज्ञाता नहीं है; अतः भावकर्म, पुद्गल का नहीं है।

भावार्थ – चेतन का कर्म, चेतन ही में होता है क्योंकि पुद्गल जड़ है; **उसका कर्म चेतन कैसे हो सकता है?**

अब, जो कोई जीव, भावकर्म का कर्ता, कर्म को ही मानते हैं, उन्हें समझाने के लिए स्याद्वाद के द्वारा वस्तु की मर्यादा बताते हैं, उसकी सूचना का काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

कोई कर्ता मान कर्म को भावकर्म का,
आतम का कर्तृत्व उड़ा कर अरे! सर्वथा।
और कथञ्चित् कर्ता आतम कहनेवाली,
स्याद्वादमय जिनवाणी को कोपित करते॥
उन्हीं मोह-मोहित मतिवाले अल्पज्ञों के,
सम्बोधन के लिए सहेतुक स्याद्वादमय।
वस्तु का स्वरूप समझाते अरे भव्यजन!,
अब आगे की गाथाओं में कुन्दकुन्द मुनि॥ २०४॥

अर्थ – अनेक जीव, आत्मा के घातक सर्वथा एकान्तवादी हैं, उन्होंने कर्म ही को कर्ता विचार कर और आत्मा का कर्तापना दूर कर, 'यह आत्मा कथञ्चित् कर्ता है' – ऐसा कहनेवाली निर्बाध श्रुति अर्थात् जिनेश्वर की वाणी का विरोध किया है।

अैसे सर्वथा एकांतवादी हैं, ते कैसे हैं। उद्धत उत्कट तीव्र उदय भया जो मोह मिथ्यात्व, ता करि मुद्रित भई है वुद्धि जिनकी, तिनिका वोध कहिये ज्ञान, ताकी सम्यक् प्रकार शुद्धि कै अर्थि वस्तु की मर्यादा कहिये है॥

कैसी कहिये है॥ स्याद्वाद के प्रतिवंध कहिये प्रवंध, ता करि पाई है विजय कहिये निर्वाध सिद्धि जानैं॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ केई वादी सर्वथा एकांत करि कर्म का कर्त्ता, कर्म ही कूं कहैं हैं अर आत्मा कूं अकर्त्ता ही कहैं हैं, ते आत्मा का स्वरूप के घातक हैं अर जिनवाणी है सो स्याद्वाद करि वस्तु कूं निर्वाध साधै है सो वाणी आत्मा कूं कथंचित् कर्त्ता कहै है सो तिनि सर्वथा एकांतीनि परि वाणी का कोप है, तिनिकी वुद्धि मिथ्यात्व करि मुदि रही है, तिनिके मिथ्यात्व के दूरि करने कूं आचार्य कहै है, स्याद्वाद करि जैसैं वस्तु सिद्धि होय है, तैसैं कहिये है॥ छ॥

कम्मेहिं दु अण्णाणी, किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं सुवाविज्जइ, जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं॥ २५॥
कम्मेहिं सुहाविज्जइ, दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं य मिच्छत्तं, णिज्जइ णिज्जइ असंजमं चेव॥ २६॥

ऐसे सर्वथा एकान्तवादी कैसे हैं? – उद्धत अर्थात् उत्कट या तीव्र उदित हुए मोह या मिथ्यात्व से जिनकी बुद्धि ग्रसित हो गई है; अत: उनके बोध अर्थात् ज्ञान की सम्यक् प्रकार से शुद्धि के लिए वस्तु की मर्यादा का कथन करते हैं।

कैसे कथन करते हैं? – स्याद्वाद के प्रतिबन्ध अर्थात् प्रबन्ध के कारण जिसने विजय अर्थात् निर्बाध सिद्धि प्राप्त की है।

भावार्थ – अनेक वादीजन सर्वथा एकान्त से कर्म का कर्ता, कर्म ही को कहते हैं और आत्मा को अकर्ता ही कहते हैं, वे आत्मा के स्वरूप के घातक हैं परन्तु जिनवाणी, स्याद्वाद के द्वारा वस्तु की निर्बाध सिद्धि करती है; वह वाणी, आत्मा को कथञ्चित् कर्ता कहती है। इस प्रकार वह उन सर्वथा एकान्तवादियों का विरोध करती है, जिनकी बुद्धि मिथ्यात्व से ग्रसित हो रही है; उनके मिथ्यात्व को दूर करने के लिए आचार्य, स्याद्वाद के द्वारा वस्तु की जिस प्रकार सिद्धि होती है, उस प्रकार कहते हैं।

[अब, इस विषय को गाथाओं द्वारा कहते हैं —]

कम्मेहि दु अण्णाणी, किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहि सुवाविज्जदि, जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं॥ ३३२॥

कम्मेहिं भमाडिज्जइ, उड्ढमहो चावि तिरियलोयं च।
कम्मेहिं चेव किज्जइ, सुहासुहं जित्तियं किंचि॥ २७॥
जम्हा कम्मं कुव्वइ, कम्मं देइ[१] हरत्ति जं किंचि।
तम्हा उ सव्व जीवा, अकारया होंति आवण्णा॥ २८॥
पुरिसित्थियाहिलासी, इत्थी कम्मं च पुरिसमहिलसइ।
एसा आयरियपरंपरागया एरिसी दु सुई॥ २९॥
तम्हा ण को वि जीवो, अवंभचारी उ अम्हमुवएसे।
जम्हा कम्मं चेव हि, कम्मं अहिलसइ इदि भणियं॥ ३०॥
जम्हा घाएइ परं, परेण घाइज्जए य सा पयडी।
एएणत्थेणं किर, भण्णइ परघायणामित्ति॥ ३१॥

कम्मेहि सुहाविज्जदि, दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहि य मिच्छत्तं, णिज्जदि णिज्जदि असंजमं चेव[२]॥ ३३३॥
कम्मेहि भमाडिज्जदि, उड्ढमहं चावि तिरियलोयं च।
कम्मेहि चेव किज्जदि, सुहासुहं जेत्तियं किंचि॥ ३३४॥
जम्हा कम्मं कुव्वदि, कम्मं देदि हरदि त्ति जं किंचि।
तम्हा उ सव्व जीवा[३] अकारगा होंति आवण्णा॥ ३३५॥
पुरिसित्थियाहिलासी, इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसदि।
एसा आयरियपरंपरागदा एरिसी दु सुदी॥ ३३६॥
तम्हा ण को वि जीवो, अबंभचारी दु अम्ह उवदेसे[४]।
जम्हा कम्मं चेव हि, कम्मं अहिलसदि इदि[५] भणिदं॥ ३३७॥

---

१. *देई* - 'ब' प्रति, सोलापुर एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ
२. *णिज्जदि य असंजमं चेव* - कुन्दकुन्दभारती प्रकाशन पाठ
३. *तम्हा सव्वे जीवा* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
४. *तुम्हमुवदेसे* - कुन्दकुन्दभारती एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ
५. *जं* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

तम्हा ण को वि जीवो, वघायओ अत्थि अम्ह उवएसे।
जम्हा कम्मं चेव हि, कम्मं घाएदि इदि भणियं॥ ३२॥
एवं संखुवएसं, जे उ परूविंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वइ, अप्पा य अकारया सव्वे॥ ३३॥
अहवा मण्णसि मज्झं, अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणइ।
एसो मिच्छसहावो, तुम्हं एयं मुणंतस्स॥ ३४॥
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि।
ण वि सो सक्कइ तत्तो, हीणो अहिओ य काउं जे॥ ३५॥
जीवस्स जीवरूवं, वित्थरओ जाण लोयमित्तं खु।
तत्तो सो किं हीणो, अहिओ य कहं कुणइ दव्वं॥ ३६॥

जम्हा घादेदि परं, परेण घादिज्जदे य सा पयडी।
एदेणत्थेण दु[1] किर भण्णदि परघादणामेत्ति॥ ३३८॥
तम्हा ण को वि जीवो, वघादगो[2] अत्थि अम्ह[3] उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि, कम्मं घादेदि इदि भणिदं॥ ३३९॥
एवं संखुवदेसं, जे दु परूविंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वदि, अप्पा य अकारगा सव्वे॥ ३४०॥
अहवा मण्णसि मज्झं, अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि।
एसो मिच्छसहावो, तुम्हं एयं मुणंतस्स[4]॥ ३४१॥
अप्पा णिच्चासंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि।
ण वि सो सक्कदि तत्तो, हीणो अहियो य कादुं जे॥ ३४२॥

१-४. *एदेणत्थेण दु / चघादगो / तुम्ह / एवं भणंतस्स* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

अह जाणओ उ भावो, णाणसहावेण अच्छिइत्ति मयं।
तम्हा ण वि अप्पा, अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ॥ ३७॥

॥ त्रयोदशकं ॥

कर्मभिस्त्वज्ञानी, क्रियते ज्ञानी तथैव[१] कर्मभिः।
कर्मभिः स्वाप्यते, जागर्यते तथैव कर्मभिः॥ छ॥
कर्मभिः सुखी क्रियते, दुःखी क्रियते तथैव[२] कर्मभिः।
कर्मभिश्च मिथ्यात्वं, नीयते नीयतेऽसंयमं चैव॥ छ॥
कर्मभिर्भ्राम्यते, ऊर्ध्वमधश्चाऽपि तिर्यग्लोकं च।
कर्मभिश्चैव क्रियते, शुभाऽशुभं यावद्यत्किञ्चित्[३]॥ छ॥
यस्मात्कर्म करोति, कर्म ददाति हरतीति यत्किञ्चित्।
तस्मात्तु सर्वजीवा, अकारका भवन्त्यापन्नाः॥ छ॥

जीवस्स जीवरूवं, वित्थरदो जाण लोगमेत्तं खु[४]।
तत्तो सो किं हीणो, अहियो य कहं कुणदि दव्वं[५]॥ ३४३॥
अह जाणगो दु भावो, णाणसहावेण अत्थि देदि मदं।
तम्हा ण वि अप्पा, अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि॥ ३४४॥

[पूर्वपक्ष]

कर्म हि करें अज्ञानी त्यों ही, ज्ञानि भी कर्म हि करें।
कर्म हि सुलाते जीव को, त्यों कर्म ही जाग्रत करें॥ ३३२॥
अरु कर्म ही करते सुखी, कर्म हि दुःखी जीव को करें।
कर्म हि करें मिथ्यात्वी त्यों ही, असंयमी कर्म हि करें॥ ३३३॥
कर्म हि भ्रमावे ऊर्ध्वलोक रु अधः अरु तिर्यक् विषैं।
अरु जो भी कुछ शुभ या अशुभ, उन सर्व को कर्म हि करें॥ ३३४॥
करता करम देता करम, हरता करम, सब कुछ करे।
इस हेतु से यह है सुनिश्चित, जीव अकारक सर्व है॥ ३३५॥

१-२. *तथैव च* - 'अ' प्रति पाठ ३. *यावत्किंचित्* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ ४. *लोगमित्तं हि* - तात्पर्यवृत्ति, कुन्दकुन्द भारती एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ। ५. *अहिओ व कदं भणसि दव्वं* - तात्पर्यवृत्ति, सोलापुर एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

पुरुषः स्त्र्यभिलाषी, स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति।
एषाऽचार्यपरम्पराऽगतेदृशी तु श्रुतिः॥ छ॥
तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी त्वस्माकमुपदेशे।
यस्मात्कर्म चैव हि, कर्माऽभिलषतीति भणितम्॥ छ॥
यस्माद्धन्ति परं, परेण हन्यते च सा प्रकृतिः।
एतेनाऽर्थेन किल, भण्यते परघातनामेति॥ छ॥
तस्मान्न कोऽपि जीव, उपघातकोऽस्त्यस्माकमुपदेशे।
यस्मात्कर्म चैव हि, कर्म हन्तीति भणितम्॥ छ॥
एवं सांख्योपदेशं, ये तु प्ररूपयन्तीदृशं श्रमणाः।
तेषां प्रकृतिः करोत्याऽत्मानश्चाऽकारकाः सर्वे॥ छ॥
अथवा मन्यसे ममाऽत्माऽत्मानमात्मनः करोति।
एष मिथ्यास्वभावस्तवैतज्ज्ञानतः॥ छ॥

'पुंवेद इच्छे नारी को, स्त्रीवेद इच्छे पुरुष को।
ऐसी श्रुती आचार्यदेव, परम्परा अवतीर्ण है॥ ३३६॥
इस रीत 'कर्म हि कर्म को इच्छे' – कहा है शास्त्र में।
अब्रह्मचारी नहीं कोई, जीव हम उपदेश में॥ ३३७॥
अरु जो हने पर को, हनन हो पर से, वही प्रकृति है।
इस अर्थ में परघात नामक, कर्म का निर्देश है॥ ३३८॥
इसी रीत 'कर्म हि कर्म को हनता' – कहा है शास्त्र में।
इससे न कोई जीव है, हिंसक जु हम उपदेश में॥ ३३९॥

[उत्तरपक्ष]

यों सांख्य का उपदेश ऐसा, जो श्रमण वर्णन करें।
उस मत में सब प्रकृति करे, जीव तो अकारक सर्व है॥ ३४०॥
अथवा तू मानें 'आतमा मेरे स्व-आत्मा को करे'।
तो ये जो तुझ मन्तव्य भी, मिथ्या स्वभाव हि तुझ अरे!॥ ३४१॥

आत्मा नित्योऽसंख्येयप्रदेशो दर्शितस्तु समये।
नाऽपि स शक्यते ततो, हीनोऽधिकश्च कर्तुं यत्॥ छ॥
जीवस्य जीवरूपं, विस्तरतो जानीहि लोकमात्रं खलु।
ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यम्॥ छ॥
अथ ज्ञायकस्तु भावो, ज्ञानस्वभावेन तिष्ठतीति मतम्।
तस्मान्नाऽप्याऽत्माऽत्मानं तु स्वयमात्मनः करोति॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जीव है सो कर्मनि करि अज्ञानी कीजिये है॥ वहुरि तैसें ही कर्मनि करि ज्ञानी कीजिये है॥ कर्मनि करि सुवाणिये है॥ तैसैं ही कर्मनि करि जगाइए है॥ छ॥

कर्मनि करि सुखी कीजिये है॥ वहुरि तैसें ही कर्मनि करि दुःखी कीजिये है॥ कर्मनि करि मिथ्यात्व प्राप्त कीजिये है॥ वहुरि कर्मनि करि असंयम प्राप्त कीजिये है॥ छ॥

कर्मनि करि ऊर्द्धलोक मैं तथा अधोलोक मैं तथा तिर्यंचलोक मैं भ्रमाइए है॥ जो किछु शुभ अशुभ है सो कर्मनि ही करि कीजिये है॥ छ॥

जातैं कर्म करै है, कर्म दे है, कर्म हरि ले है, जो किछू करै है सो कर्म ही करै है॥ तातैं सर्व जीव हैं, ते अकारक प्राप्त भये, जीव कर्त्ता नाही॥ छ॥

जीव नित्य है त्यों है असंख्यप्रदेशि दर्शित समय में।
उससे न उसको हीन त्यों हि, न अधिक कोई कर सके॥ ३४२॥
विस्तार से जीवरुप जीव का, लोकमात्र प्रमाण है।
क्या उससे हीन रु अधिक बनता, द्रव्य को कैसे करे॥ ३४३॥
माने तू 'ज्ञायकभाव तो, ज्ञानस्वभाव स्थित रहे'।
तो यों भी यह आत्मा, स्वयं निज आतमा को नहिं करे॥ ३४४॥

अर्थ – [पूर्वपक्ष] – जीव, कर्मों से अज्ञानी किया जाता है, वैसे ही कर्मों से ज्ञानी किया जाता है; कर्मों से सुलाया जाता है, वैसे ही कर्मों से जगाया जाता है॥ ३३२॥

[जीव,] कर्मों से सुखी किया जाता है, वैसे ही कर्मों से दुःखी किया जाता है; कर्मों से मिथ्यात्व प्राप्त करता है, कर्मों से असंयम प्राप्त करता है॥ ३३३॥

[जीव,] कर्मों के कारण ही ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक में भ्रमण करता है तथा जो कुछ भी शुभ-अशुभ है, वह कर्मों से ही किया जाता है॥ ३३४॥

अतः कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हरता है; जो कुछ भी करता है, वह कर्म ही करता है; इसलिए सर्व जीव अकारक सिद्ध होते हैं, जीव कर्ता नहीं है॥ ३३५॥

वहुरि यह आचार्यनि की परंपरा करि चली आई श्रुति है सो भी कहै है जो पुरुषवेद कर्म है सो तौ स्त्री का अभिलाषी है, वहुरि स्त्रीवेद नामा कर्म है सो पुरुष कूं अभिलाषै है, चाहै है॥ छ॥

तातैं कोई भी जीव अब्रह्मचारी नाही॥ हमारा उपदेश विषै ऐसैं है॥ जातैं कर्म है सो ही कर्म कूं अभिलाषै है, चाहै है॥ ऐसैं कह्या है॥ छ॥

जातैं 'पर कूं हणैं है, पर करि हणिये है'[१] सो भी प्रकृति ही है॥ तिस ही अर्थ करि प्रगट करि कहिये है जो यह परघात नामा प्रकृति है॥ छ॥

तातैं हमारा उपदेश विषै कोई भी जीव उपघात करनेंवाला नाही है॥ जातैं कर्म है सो ही कर्म कूं घातै है, ऐसैं कह्या है॥ छ॥

ऐसैं जे केई श्रमण जती, ऐसा सांख्यमत का उपदेश कूं प्ररूपैं हैं॥ तिनिकै प्रकृति ही करै है, आत्मा हैं ते सर्व ही अकारक हैं॥ ऐसा आया॥ छ॥

अथवा आचार्य कहै है जो आत्मा कै कर्त्तापणां की पक्ष साधनें कूं तू ऐसैं मानैंगा जो मेरै आत्मा है सो आप कै आप कूं करै है, ऐसैं कर्त्तापणां की पक्ष भी मानूं हौं तौ तेरा ऐसैं जानने का यह मिथ्यास्वभाव है॥ छ॥

जातैं आत्मा, नित्य असंख्यातप्रदेशी, सिद्धांत विषै कह्या है, तिसतैं हीन अधिक करनें कूं समर्थ

आचार्यों की परम्परा से चली आ रही श्रुति (आगम-परम्परा) भी यह कहती है कि जो पुरुषवेद नामक कर्म है, वह तो स्त्री का अभिलाषी है और जो स्त्रीवेद नामक कर्म है, वह पुरुष का अभिलाषी है, उसे चाहता है॥ ३३६॥

अत: कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं है – ऐसा हमारे उपदेश में कहा है, क्योंकि कर्म ही कर्म की अभिलाषा करता है, चाहता है॥ ३३७॥

जो दूसरे को मारता है और दूसरे के द्वारा मारा जाता है, वह भी प्रकृति ही है; इसीलिए यह स्पष्ट कहते हैं कि यह परघात नामक प्रकृति है॥ ३३८॥

अत: हमारे उपदेश के अनुसार कोई भी जीव उपघात करनेवाला नहीं है क्योंकि कर्म ही कर्म का घात करता है – ऐसा कहा है॥ ३३९॥

[उत्तर पक्ष] – इस प्रकार जो कोई श्रमण अर्थात् यति (साधु) सांख्यमत के ऐसे उपदेश को प्ररूपित करते हैं, उनके अनुसार भी प्रकृति ही सब कुछ करती है और आत्माएँ सर्व ही अकारक हैं – ऐसा सिद्ध होता है॥ ३४०॥

अथवा आचार्य कहते हैं कि यदि वे श्रमण या यति, आत्मा में कर्तापने के पक्ष को साधने के लिए ऐसा मानते हैं कि मेरा आत्मा, स्वयं ही स्वयं को करता है, इस प्रकार हम कर्तापने का पक्ष भी मानते हैं तो तुम्हारा इस प्रकार जानने का भी मिथ्यास्वभाव (अभिप्राय) है॥ ३४१॥

---

१. पर करि पर हणिये है - 'अ' प्रति पाठ

नाही हूजिये है॥ छ॥

जीव का जीवरूप विस्तार अपेक्षा निश्चय करि लोकमात्र जानूं॥ सो अैसा जीवद्रव्य तिस परिणाम तैं हीन तथा अधिक कैसैं करै है॥ छ॥

वहुरि अैसैं मानिये जो ज्ञायकभाव है सो ज्ञानस्वभाव करि तिष्ठै है॥ तौ ताही हेतु तैं अैसैं आया जो आत्मा, आप कै आप कूं स्वयमेव नाही करै है॥

तातैं कर्त्तापणां साधनें कूं विवक्षा पलटि करि पक्ष कह्या सो वण्यां नाही, तातैं कर्म का कर्त्ता, कर्म ही कूं मानें तौ स्याद्वाद तैं विरोध ही आवैगा, तातैं कथंचित् अज्ञान अवस्था मैं अपनें अज्ञानभावरूप कर्म का कर्त्ता मानें स्याद्वाद तैं विरोध नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ तहां, पूर्वपक्ष अैसा है जो कर्म ही आत्मा कूं अज्ञानी करै है, जातैं ज्ञानावरणकर्म का उदय विना तिस अज्ञान की अप्राप्ति है॥ वहुरि कर्म ही आत्मा कूं ज्ञानी करै है, जातैं ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम विना ज्ञान की अप्राप्ति है॥

वहुरि कर्म ही आत्मा कूं सुवाणै है, जातैं निद्रा नामा कर्म का उदय विना निद्रा की अप्राप्ति है॥ वहुरि कर्म ही आत्मा कूं जगावै है, जातैं निद्रा नामा कर्म के क्षयोपशम विना जागनें की अप्राप्ति है॥

वहुरि कर्म ही आत्मा कूं सुखी करै है, जातैं सातावेदनीय नामा कर्म के उदय विना सुख की

सिद्धान्त में आत्मा को नित्य असंख्यातप्रदेशी कहा है, उससे हीन या अधिक करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता है॥ ३४२॥

निश्चय से जीव का जीवरूप से विस्तार तो लोक प्रमाण जानो; अतः ऐसा जीवद्रव्य, उस परिणाम से हीन और अधिक कैसे कर सकता है?॥ ३४३॥

यदि ऐसा माना जाए कि ज्ञायकभाव, ज्ञानस्वभावरूप स्थित रहता है तो इसी हेतु से ऐसा सिद्ध होता है कि आत्मा, अपने आपको स्वयं ही नहीं करता है॥ ३४४॥

इस प्रकार कर्तापना साधने के लिए (पूर्वपक्ष ने) विवक्षा को पलट कर जो पक्ष कहा है, वह सिद्ध नहीं होता है; अतः कर्म का कर्ता, कर्म ही को मानने पर तो स्याद्वाद के साथ विरोध आता है; इसलिए कथञ्चित् अज्ञान अवस्था में अज्ञानभावरूप कर्म का कर्ता, आत्मा को मानने पर स्याद्वाद के साथ विरोध नहीं आता है।

टीका – [पूर्वपक्ष] – वहाँ, पूर्वपक्ष ऐसा है कि कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करता है क्योंकि ज्ञानावरणकर्म के उदय के बिना उस अज्ञान की अप्राप्ति है। कर्म ही आत्मा को ज्ञानी करता है क्योंकि ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम के बिना ज्ञान की अप्राप्ति है।

कर्म ही आत्मा को सुलाता है क्योंकि निद्रा नामक कर्म के उदय के बिना निद्रा की अप्राप्ति है। कर्म ही आत्मा को जगाता है क्योंकि निद्रा नामक कर्म के क्षयोपशम के बिना जागने की अप्राप्ति है।

कर्म ही आत्मा को सुखी करता है क्योंकि सातावेदनीय नामक कर्म के उदय के बिना सुख

अप्राप्ति है॥ वहुरि कर्म ही आत्मा कूं दुःखी करै है, जातैं असातावेदनीय नामा कर्म कै उदय विना दुःख की अप्राप्ति है॥

वहुरि कर्म ही आत्मा कूं मिथ्यादृष्टी करै है, जातैं मिथ्यात्वकर्म का उदय विनां मिथ्यादृष्टि की अप्राप्ति है॥ वहुरि कर्म ही आत्मा कूं असंयमी करै है, जातैं चारित्रमोह नामा कर्म के उदय विना असंयम की अप्राप्ति है॥

वहुरि कर्म ही आत्मा कूं ऊर्द्धलोक अधोलोक तिर्यंचलोक मैं भ्रमावै है, जातैं आनुपूर्वी नामा कर्म का उदय विना भ्रमण की अप्राप्ति है॥

वहुरि और भी जो क्यों जेता शुभ अशुभ है सो तेता सर्व ही कर्म ही करै है, जातैं प्रशस्त अप्रशस्त राग नामा कर्म के उदय विनां तिनि शुभाशुभ की अप्राप्ति है॥

जातैं या प्रकार समस्त ही कूं कर्म स्वतंत्र होय करै है, कर्म ही दे है, कर्म ही हरि ले है॥ तातैं हम ऐसा निश्चय करैं हैं जो सर्व ही जीव हैं, ते नित्य ही सदा ही एकांत करि अकर्त्ता ही हैं॥

वहुरि विशेष कहै है जो श्रुति कहिये वाणी शास्त्र भी इस ही अर्थ कूं कहै है जो पुरुषवेद नामा कर्म है सो तौ स्त्री कूं अभिलाषै है, चाहै है॥ वहुरि स्त्रीवेद नामा कर्म है सो पुरुष कूं अभिलाषै है, चाहै है॥

अैसैं वाक्य करि कर्म कै ही कर्म का अभिलाष का कर्त्तापणां का समर्थन करि जीव कै

की अप्राप्ति है। कर्म ही आत्मा को दुःखी करता हैं क्योंकि असातावेदनीय नामक कर्म के उदय के बिना दुःख की अप्राप्ति है।

कर्म ही आत्मा को मिथ्यादृष्टि करता है क्योंकि मिथ्यात्वकर्म (दर्शनमोह) के उदय के बिना मिथ्यादर्शन की अप्राप्ति है। कर्म ही आत्मा को असंयमी करता है क्योंकि चारित्रमोह नामक कर्म के उदय के बिना असंयम की अप्राप्ति है।

कर्म ही आत्मा को ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक (मध्यलोक) में भ्रमण कराता है क्योंकि आनुपूर्वी नामक कर्म के उदय के बिना भ्रमण की अप्राप्ति है।

और भी जो कुछ जितने शुभ-अशुभभाव हैं, वे उतने सभी भाव, कर्म ही करता है क्योंकि प्रशस्त और अप्रशस्तराग नामक कर्म के उदय के बिना शुभाशुभभाव की अप्राप्ति है।

चूँकि इस प्रकार समस्त ही कार्यों को कर्म स्वतन्त्र होकर करते हैं, कर्म ही देते हैं, कर्म ही नाश करते हैं; इसलिए हम ऐसा निश्चय करते हैं कि सभी जीव नित्य ही, सदा ही एकान्त से अकर्ता ही हैं।

और भी विशेष कहते हैं कि श्रुति अर्थात् जिनवाणी या शास्त्र भी इसी अर्थ को कहते हैं कि पुरुषवेद नामक कर्म तो स्त्री की अभिलाषा करता है, उसे चाहता है और स्त्रीवेद नामक कर्म, पुरुष की अभिलाषा करता है, उसे चाहता है।

ऐसे वचनों से कर्म में ही कर्म की अभिलाषा के कर्तापने का समर्थन करके, जीव के अब्रह्मचारीपने के कर्तापने का प्रतिषेध करके भी, कर्म ही का कर्तापना सिद्ध होता है और जीव

अव्रह्मचारीपणां का कर्त्तापणां का प्रतिषेध तैं भी कर्म ही कै कर्त्तापणां आया, जीव अकर्त्ता ही सिद्ध भया॥

वहुरि तैसैं ही जो पर कूं हणैं है, वहुरि जो पर करि हणिये है सो परघात नामा कर्म है, अैसे वचन करि कर्म ही कै कर्म का घात का कर्त्तापणां का समर्थन करि जीव कै घात का कर्त्तापणां का प्रतिषेध तैं सर्वथा जीव कै अकर्त्तापणां जनाया है॥

या प्रकार अैसा सांख्य का मत केई श्रमणाभास कहिये यती नाही अर यती[१] से कहावैं, ते अपनीं वुद्धि के अपराध करि सूत्र के अर्थ कूं अैसैं विपरीत जानते संते सूत्र का अर्थ प्ररूपण करैं हैं॥ अैसा पूर्वपक्ष है॥

अब आचार्य कहै है, जे अैसैं पक्ष करैं हैं, तिनिकै एकांत करि प्रकृति कै कर्त्तापणां माननें करि सर्व ही जीवनि कै एकांत करि अकर्त्तापणां की प्राप्ति आवनें तैं जीव कर्त्ता है, अैसी जो श्रुति कहिये भगवंत की वाणी, ताका कोप आवै है सो दूरि करनें कूं योग्य न होहै॥

वहुरि वाणी के कोप दूरि करनें कूं जो अैसैं कहैं जो कर्म है सो तौ आत्मा कै अज्ञानादि सर्व पर्यायरूप भाव हैं, तिनिकूं करै है। वहुरि आत्मा है सो एक अपनें आत्मा ही कूं द्रव्यरूप करै है॥ तातैं जीव कर्त्ता है, अैसा श्रुति कहिये वाणी का वचन मानिये है, तातैं वाणी का कोप नाही होय है, अैसा अभिप्राय करै तौ सो यह अभिप्राय मिथ्या है॥ जातैं जीव है सो प्रथम तौ द्रव्यरूप करि नित्य

अकर्ता ही सिद्ध होता है।

उसी प्रकार जो पर को मारता है और पर के द्वारा मारा जाता है, वह परघात नामक कर्म है – ऐसे कथन से कर्म ही में कर्म के घात के कर्तापने का समर्थन करके, जीव में घात के कर्तापने का प्रतिषेध करके, जीव में सर्वथा अकर्तापना बताया है।

इस प्रकार ऐसे सांख्यमत को अनेक श्रमणाभास अर्थात् जो यति नहीं हैं परन्तु यति कहलाते हैं वे, अपनी बुद्धि के अपराध से सूत्र के अर्थ को विपरीत समझते हुए सूत्र का [विपरीत] अर्थ प्ररूपित करते हैं – ऐसा **पूर्वपक्ष** है।

[उत्तरपक्ष] – अब, आचार्य [उत्तर देते हुए] कहते हैं कि जो ऐसे पक्ष को ग्रहण करते हैं, उनके द्वारा एकान्त से प्रकृति का कर्तापना मानने से सर्व ही जीवों के एकान्त से अकर्तापने की सिद्धि होती है, जिससे 'जीव कर्ता है' – ऐसी जो श्रुति अर्थात् भगवान की वाणी का कोप (विरोध) आता है, वह [एकान्ती] उसे दूर करने में समर्थ नहीं है।

तथा वाणी के कोप (विरोध) को शान्त करने के लिए यदि वे ऐसा कहते हैं कि कर्म तो आत्मा के अज्ञानादि सर्व पर्यायरूप भावों को करते हैं और आत्मा, एक अपनी आत्मा ही को द्रव्यरूप करता है; अत: 'जीव कर्ता है' – ऐसी श्रुति अर्थात् जिनवाणी के वचन को हम भी मानते हैं, इसलिए वाणी का कोप (विरोध) नहीं होता है तो यह अभिप्राय भी मिथ्या है क्योंकि प्रथम तो जीव,

---

१. *जती* – 'अ' प्रति पाठ

है, असंख्यातप्रदेशी है, लोकपरिमाण है॥ तहां नित्य कै कार्यपणां वणैं नाही, जातैं कृतक कहिये कर्त्तृम वस्तु कै अर नित्यपणां कै परस्पर एकपणां का विरोध है, 'नित्य कर्त्तृम'[१] होय नाही॥

वहुरि एक आत्मा अवस्थित असंख्यातप्रदेशी है, ताकै जैसैं पुद्गल के स्कंध मैं परमाणु आय वैठैं हैं अर निकसि जाय हैं, ताकै कार्यपणां वणैं है, तैसैं याकै कार्यपणां नाही वणैं है, जातैं प्रदेशनि का आवनां अर निकसि जानां होय तौ अवस्थित असंख्यातप्रदेशरूप एकपणां का व्याघात होय॥

वहुरि सकल लोकरूपी घरमात्र विस्तार परिमाण निश्चित अपनां समस्तपणां का संग्रहरूप आत्मा कै प्रदेशनि का संकोचनां अर फैलनां, तिस द्वार करि भी ताकै कार्यपणां वणैं नाही, जातैं प्रदेशनि संकोचनां अर फैलनां, इनि दोऊनि कै भी सूके आले चामड़ा की ज्यों नियमरूप अपनां जो प्रदेशन का विस्तार है, तातैं ताका हीनाधिक करनें का असमर्थपनां है॥

वहुरि जो अैसी अभिप्राय मैं वासनां होय, जो वस्तु का स्वभाव का सर्वथा मेटनें का असमर्थपणां है॥ तातैं ज्ञायकभाव है सो तौ ज्ञानस्वभाव ही करि सदाकाल ही तिष्ठै है॥ सो तैसैं तिष्ठता आत्मा मिथ्यात्व आदि भावनि का कर्त्ता न होय है, जातैं ज्ञायकपणां कै अर कर्त्तापणां कै अत्यंत विरुद्धपणां है॥ अर मिथ्यात्व आदि भाव हैं, ते होय ही हैं, तातैं तिनिका कर्त्ता, कर्म ही है॥ अैसैं प्ररूपणां कीजिये है, तहां आचार्य कहै है, अैसी वासनां का उघडनां है सो ही पहलैं तैं कह्या था जो आत्मा, आत्मा

द्रव्यरूप से नित्य, असंख्यातप्रदेशी और लोकप्रमाण है। वहाँ नित्य में कार्यपना सम्भव नहीं है क्योंकि कृतक अर्थात् कृत्रिम वस्तु और नित्यता को एक मानने में परस्पर विरोध है, [क्योंकि] कृत्रिम वस्तु नित्य नहीं होती है।

एक आत्मा अवस्थित असंख्यातप्रदेशी है। जैसे, पुद्गल के स्कन्ध में परमाणु आ जाते हैं और निकल जाते हैं; इसलिए उनमें कार्यपना बनता है परन्तु ऐसा कार्यपना आत्मा में सम्भव नहीं है क्योंकि प्रदेशों का आना और निकल जाना हो तो अवस्थित असंख्यातप्रदेशरूप एकपने का व्याघात होता है।

सकल लोकरूपी घरमात्र के विस्तार परिमाण से निश्चित अपने समस्तपने के संग्रहरूप आत्मा के प्रदेशों के सङ्कोच और फैलाव के द्वारा भी उसमें कार्यपना सम्भव नहीं है क्योंकि प्रदेशों का सङ्कोच और विस्तार, इन दोनों में भी सूखे-गीले चमड़े की तरह नियमरूप अपने प्रदेशों का ही विस्तार है, अतः उसके [प्रदेशों के] हीन या अधिक करने में असमर्थपना है।

इसी प्रकार यदि [पूर्वपक्ष के] अभिप्राय में ऐसी वासना हो कि वस्तु के स्वभाव का सर्वथा उल्लङ्घन करना सम्भव नहीं है; अतः ज्ञायकभाव, ज्ञानस्वभाव ही से सदाकाल स्थित रहता है; इस प्रकार से स्थित रहता हुआ आत्मा, मिथ्यात्व आदि भावों का कर्ता नहीं हो सकता है क्योंकि ज्ञायकपने और कर्तापने में अत्यन्त विरुद्धपना है और मिथ्यात्व आदि भाव तो होते ही हैं; अतः उनके कर्ता, कर्म ही हैं – ऐसी वे प्ररूपणा करते हैं। वहाँ [समाधान करते हुए] आचार्य कहते हैं कि ऐसी वासना को प्रगट करके पहले ही कहा था कि 'आत्मा, आत्मा को करता है; अतः आत्मा कर्ता है;'

---

१. *कर्त्तृम नित्य* - 'अ' प्रति पाठ

कूं करै है, तातैं कर्त्ता है, तिस माननें कूं अतिशय करि हणैं है, घातै है, जातैं सदाकाल ज्ञायक मान्यां, तव आत्मा अकर्त्ता ही भया॥

तातैं हम कहै हैं, अैसा अनुमान करनां॥ जो ज्ञायकभाव कै सामान्य अपेक्षा करि ज्ञानस्वभावरूप अवस्थितपणां होतैं भी कर्म तैं उपजे जे मिथ्यात्व आदि भाव, तिनिका ज्ञान कै समय विषै अनादि ही तैं ज्ञेय का अर ज्ञान का भेदविज्ञान का शून्यपणां तैं पर कूं आत्मा जानता संता कै विशेष अपेक्षा करि अज्ञानस्वरूप जो ज्ञान का परिणाम, ताके करणें तैं कर्त्तापणां है, यह अनुमान करनें योग्य है॥ छ॥

तौ कहां तांई करणां। जेतै जिस काल तैं ज्ञेय, ज्ञान का भेदविज्ञान का पूर्णपणां तैं आत्मा ही कूं आत्मा जानता कै विशेष अपेक्षा करि भी ज्ञानरूप[१] ही ज्ञानपरिणाम करि परिणमता संता कै केवल ज्ञातापणां तैं साक्षात् अकर्त्तापणां होय, तेतै कर्त्तापणां का अनुमान करणां॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ केई जैन के मुनि भी स्याद्वाद वाणी मैं नीकां न समझि करि सर्वथा एकांत का अभिप्राय करैं तथा विवक्षा पलटि करि कहैं जो आत्मा तौ भावकर्म का अकर्त्ता ही है, कर्मप्रकृति का उदय है सो ही भावकर्म कूं करै है। अज्ञान ज्ञान, सोवनां जागनां, सुख दुःख, मिथ्यात्व, असंयम, च्यारि गति मैं भ्रमण, जो किछू शुभ अशुभ जेतेक भाव हैं, ते सर्व कर्म करै हैं। जीव तो अकर्त्ता है। अैसैं ही शास्त्र का अर्थ करै जो वेद का उदय तैं स्त्री पुरुष का विकार होय है, वहुरि उपघात[२]

इस मान्यता का भी पूर्णरूप से खण्डन होता है, घात होता है क्योंकि आत्मा को सदा काल ज्ञायक माना तो आत्मा अकर्ता ही सिद्ध हुआ।

इसलिए हम [आचार्य] कहते हैं, वैसा अनुमान करना चाहिए – ''ज्ञायकभाव का सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभावरूप से अवस्थितपना होने पर भी कर्म से उत्पन्न हुए जो मिथ्यात्व आदि भाव हैं, उनका ज्ञान होने के समय, अनादि ही से ज्ञेय और ज्ञान में भेदविज्ञान के अभाव के कारण, पर को आत्मा जानते हुए, विशेष अपेक्षा से अज्ञानस्वरूप ज्ञान का परिणाम करने से कर्तापना है'' – ऐसा अनुमान करने योग्य है।

ऐसा [कर्तापने का अनुमान] कब तक करना? – जब तक अर्थात् जिस काल तक ज्ञेय-ज्ञान के भेदविज्ञान की पूर्णता से आत्मा ही को आत्मा जानते हुए, विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ही ज्ञानपरिणाम से परिणमते हुए केवल ज्ञातापने के कारण साक्षात् अकर्तापना हो जाता है, तब तक [आत्मा के] कर्तापने का अनुमान करना।

भावार्थ – अनेक जैन मुनि भी स्याद्वादरूप वाणी को भली प्रकार न समझ कर, सर्वथा एकान्त का अभिप्राय करते हैं और विवक्षा को पलट कर कहते हैं कि आत्मा तो भावकर्म का अकर्ता ही है। कर्मप्रकृतियों का उदय ही भावकर्म को करता है। अज्ञान-ज्ञान, सोना-जागना, सुख-दुःख, मिथ्यात्व, असंयम और चारों गतियों में भ्रमण आदि जो कुछ शुभ-अशुभरूप जितने भी भाव होते हैं, उन सबको कर्म करता है; जीव तो अकर्ता है। ऐसे ही शास्त्रों का अर्थ करते हुए [वे जैनमतावलम्बी] कहते हैं कि वेद के उदय से स्त्री-पुरुष सम्बन्धी विकार होता है, उपघात[२]-परघात प्रकृतियों के उदय से परस्पर घात प्रवर्तता है।

---

१. *ज्ञानरूप करि* – 'अ' प्रति पाठ

२-३. *अपघात* – 'अ' 'ब' प्रति पाठ

परघात प्रकृति के उदय तैं परस्पर घात प्रवर्त्तै है॥

अैसा एकांत करि जैसैं सांख्यमती सर्व प्रकृति का कार्य मानैं है, पुरुष कूं अकर्त्ता मानैं हैं, तैसैं वुद्धि के दोष करि जैनी मुनिनि कै भी माननां आया॥ तव जैनवाणी स्याद्वाद है, तातैं सर्वथा एकांत माननेंवाले परि वाणी का कोप अवश्य होयगा॥ वहुरि वाणी के कोप के भय तैं विवक्षा पलटि करि कहै जो आत्मा अपनां आत्मा का कर्त्ता है, तातैं भावकर्म का कर्त्ता तौ कर्म ही है अर अपनां कर्त्ता आत्मा है। अैसैं कथंचित् कर्त्ता आत्मा कूं कहतैं वाणी का कोप न होयगा तौ यह कहनां तौ मिथ्या है। आत्मा द्रव्य करि नित्य है, लोकपरिमाण असंख्यातप्रदेशी है सो यामैं तौ किछू नवीन करनें कूं है नाही, जाकूं करै अर भावकर्मरूप पर्याय हैं, तिनिका कर्त्ता, कर्म वतावै तौ आत्मा तौ अकर्त्ता ही रह्या, तव वाणी का कोप कैसैं मिट्या॥

तातैं आत्मा कै कर्त्तापणां अर अकर्त्तापणां की विवक्षा यथार्थ मानैं ही स्याद्वाद माननां सांचा होय है सो अैसै है जो आत्मा ज्ञायकस्वभाव तौ सामान्य अपेक्षा करि है ही, परंतु ज्ञानविशेष की अपेक्षा आपा पर का भेदविज्ञान विना, पर कूं आत्मा जानैं है सो इस अज्ञानरूप अपनां भाव का कर्त्ता है॥ अर जव तिस ज्ञानविशेष की अपेक्षा करि आपा पर का भेदविज्ञान होय, तिस ही काल तैं लगाय भेदविज्ञान की पूर्णता भयें आप कूं आप जानै, ज्ञानपरिणाम करि परिणमै, तव केवल ज्ञाता भया साक्षात् अकर्त्ता होय है॥ अैसैं माननां सत्यार्थ स्याद्वाद का प्ररूपण है॥ छ॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥

इस प्रकार एकान्त करके, जिस प्रकार सांख्यमती सब कुछ प्रकृति का कार्य मानते हैं, पुरुष को अकर्ता मानते हैं; उसी प्रकार बुद्धि के दोष से जैन मुनियों का भी मानना होता है, परन्तु जैनवाणी तो स्याद्वादरूप है; अत: सर्वथा एकान्त माननेवाले पर वाणी का कोप अवश्य होता है। यदि वाणी के कोप के भय से विवक्षा को पलट कर कहते हैं कि 'आत्मा, अपनी आत्मा का कर्ता है; अत: भावकर्म का कर्ता तो कर्म ही है और अपना कर्ता आत्मा है', इस प्रकार आत्मा को कथञ्चित् कर्ता कहने से वाणी का कोप नहीं होता है तो यह कहना भी मिथ्या है। आत्मा द्रव्यदृष्टि से नित्य, लोकप्रमाण और असंख्यातप्रदेशी है; अत: इसमें तो कुछ नया करने को है ही नहीं, जिसे कर सकें और भावकर्मरूप पर्यायों का कर्ता, कर्म को बताने पर आत्मा तो अकर्ता ही रहा, तब वाणी का कोप कैसे मिट सकता है?

इसलिए आत्मा में कर्तापना और अकर्तापना की विवक्षा यथार्थ मानने पर ही स्याद्वाद का मानना सच्चा होता है। वह इस प्रकार है – आत्मा, सामान्य अपेक्षा से ज्ञायकस्वभाव तो है ही, परन्तु ज्ञानविशेष की अपेक्षा स्व-पर भेदविज्ञान के अभाव में पर को आत्मा जानता है; अत: इस अज्ञानरूप अपने भाव का कर्ता है और जब उस ज्ञानविशेष की अपेक्षा से स्व-पर का भेदविज्ञान हो जाता है, उस काल से लेकर, भेदविज्ञान की पूर्णता होने पर, स्वयं को स्वयं जानता है, ज्ञानपरिणाम से परिणमता है, तब केवल ज्ञाता होता है, साक्षात् अकर्ता होता है – ऐसा मानना ही सत्यार्थ स्याद्वाद की प्ररूपणा है।

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं, सांख्या इवाऽप्याऽर्हताः,
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा, भेदाऽवबोधादधः।
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं, प्रत्यक्षमेनं स्वयं,
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं, ज्ञातारमेकं परम्॥ १३॥

॥ अर्थ॥ आर्हता: कहिये अर्हत्[१] के मत के जैनीजन हैं, ते आत्मा कूं अकर्त्ता सांख्यमतीनि की ज्यों मति मानूं, तिस आत्मा कूं भेदविज्ञान भयें पहलैं कर्त्ता मानूं अर भेदज्ञान भयें ताकै उपरि उद्धत ज्ञानमंदिर विषै निश्चित नियमरूप कर्त्तापणां करि रहित निश्चल एक ज्ञाता ही आपै आप प्रत्यक्ष देषो॥

॥ भावार्थ॥ सांख्यमती पुरुष कूं सर्वथा एकांत करि अकर्त्ता शुद्ध उदासीन चैतन्यमात्र मानैं हैं सो अैसैं माननें तैं पुरुष कै संसार का अभाव आवै है अर प्रकृति कै संसार मानैं तौ प्रकृति तौ जड है, ताकै सुख दुख आदि का संवेदन नाही, ताकै काहे का संसार इत्यादि दोष आवै है, यातैं सर्वथा एकांत, वस्तु का स्वरूप नाही, तातैं ते सांख्यमती मिथ्यादृष्टी हैं, तैसैं जैनी भी मानैं तौ मिथ्यादृष्टी होय हैं।

तातैं आचार्य उपदेश करै है जो सांख्यमतीनि की ज्यों जैनी आत्मा कूं सर्वथा अकर्त्ता मति मानूं।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला ॥

अरे! जैन होकर भी सांख्यों के समान ही,
इस आतम को सदा अकर्ता तुम मत जानो।
भेदज्ञान के पूर्व राग का कर्ता आतम,
भेदज्ञान होने पर सदा अकर्ता जानो॥ २०५॥

अर्थ – आर्हता: अर्थात् जो अरहन्त को माननेवाले जैनीजन हैं, वे आत्मा को सांख्यमतियों की भाँति अकर्ता मत मानो; इस आत्मा को भेदविज्ञान होने से पहले कर्ता मानो और भेदज्ञान होने के बाद उद्धत ज्ञानमन्दिर में निश्चित नियमरूप कर्तापने से रहित, निश्चल स्वयं प्रत्यक्ष एक ज्ञाता ही देखो!

भावार्थ – सांख्यमती, पुरुष को सर्वथा एकान्त से अकर्ता, शुद्ध, उदासीन, चैतन्यमात्र मानते हैं – ऐसा मानने पर पुरुष को संसार का अभाव सिद्ध होता है और प्रकृति को संसार मानने पर प्रकृति तो जड़ है, उसे सुख-दु:ख आदि का संवेदन नहीं है; अत: उसे संसार कैसे होगा? इत्यादि दोष आते हैं क्योंकि वस्तु का स्वरूप सर्वथा एकान्त नहीं है; अत: वे सांख्यमती मिथ्यादृष्टि हैं – ऐसा ही यदि जैनी भी मानेंगे तो वे भी मिथ्यादृष्टि होंगे।

यहाँ आचार्य उपदेश देते हैं कि हे जैनों! तुम सांख्यमतियों की तरह आत्मा को सर्वथा अकर्ता

---

१. *अर्हंत* - 'अ' प्रति पाठ

जहां तांई आपा पर का भेदविज्ञान न होय, तहां तांई तौ रागादिक अपनें चेतनरूप भावकर्मनि का कर्त्ता मानूं अर भेदविज्ञान भयें पीछैं शुद्ध विज्ञानघन समस्त कर्त्तापणां के भाव करि रहित एक ज्ञाता ही मानूं।

अैसैं एक ही आत्मा कै विषै कर्त्ता अकर्त्ता, दोऊ भाव विवक्षा के वश तैं सिद्ध होय है, यह स्याद्वादमत जैनीनि का है अर वस्तुस्वभाव अैसा ही है, कल्पनां नाही है। अैसैं मानें पुरुष कै संसार मोक्ष आदि की सिद्धि है, सर्वथा एकांत माननें विषै सर्व निश्चय व्यवहार का लोप होय है, अैसैं जाननां॥ छ॥

आगैं, वौद्धमती क्षणिकवादी हैं, ते अैसैं मानैं हैं जो कर्त्ता तौ अन्य है अर भोक्ता अन्य है, तिनिकै सर्वथा एकांत माननें मैं दूषण दिषावै है अर स्याद्वाद करि जैसैं वस्तुस्वरूप, कर्त्ता भोक्तापणां है, तैसैं दिषावै है। तहां प्रथम ही ताकी सूचनिका का काव्य है॥ छ॥

॥ मालिनी॥

क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वाऽत्मतत्त्वं,
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम्॥
अपहरति विमोहं तस्य नित्याऽमृतौघैः,
स्वयमयमभिषिञ्चंश्चिच्चमत्कार एव॥ १४॥

मत मानो। जहाँ तक स्व-पर का भेदविज्ञान न हो, वहाँ तक तो अपने चैतन्यरूप रागादि भावकर्मों का कर्ता मानो और भेदविज्ञान हो जाने के बाद शुद्ध, विज्ञानघन, समस्त कर्तापने के भाव से रहित, एक ज्ञाता ही मानो

इस प्रकार एक आत्मा में ही कर्ता-अकर्तापने के दोनों भाव विवक्षाओं के वश से सिद्ध होते हैं। यह स्याद्वादमत जैनियों का है और वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है – ऐसा मानने पर पुरुष (आत्मा) को संसार और मोक्ष, दोनों की सिद्धि होती है; सर्वथा एकान्त मानने पर सब निश्चय-व्यवहार का लोप हो जाता है – ऐसा जानना।

अब, क्षणिकवादी बौद्धमती ऐसा मानते हैं कि कर्ता तो अन्य है और भोक्ता अन्य है, उनके इस सर्वथा एकान्त मानने में दूषण दिखाते हैं और स्याद्वाद के अनुसार जिस प्रकार वस्तुस्वरूप में कर्ता-भोक्तापना है, वह बताते हैं। यहाँ, पहले उसकी सूचनिका का काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

जो कर्ता वह नहीं भोगता इस जगती में,
ऐसा कहते कोई आतम क्षणिक मानकर।
नित्यरूप चित्-चमत्कार से स्वयं आतमा,
मानो उनका मोह निवारण स्वयं कर रहा॥ २०६॥

॥ अर्थ ॥ एकः कहिये वौद्धमती क्षणिकवादी है सो आतमतत्व कूं क्षणिक कल्पि करि अर अपनां मन विषै कर्त्ता अर भोक्ता विषै भेद मानैं है, करै है। करै और है, भोगवै और है, अैसैं मानैं है॥ ताका विमोह कहिये अज्ञान कूं यह चैतन्यचमत्कार है सो ही आप दूरि करै है।

कहा करता संता॥ नित्यरूप अमृत का ओघनि करि सींचता संता॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ क्षणिकवादी कर्त्ता भोक्ता विषै भेद मानैं है, पहलै क्षण था सो दूजै क्षण नाहीं, अैसैं मानैं हैं सो आचार्य कहै है जो हम ताकूं कहा समझावैं, यह चैतन्य ही ताका अज्ञान दूरि करैगा, जो अनुभवगोचर नित्यरूप है। पहलै क्षण आप है सो ही दूजे क्षण मैं कहै है, मैं पहलै था सो ही हौं॥ अैसा स्मरणपूर्वक प्रत्यभिज्ञान, ताकी नित्यता दिषावै है॥ छ॥

इहां वौद्धमती कहै, जो पहलै क्षण था सो ही मैं दूजै क्षण हौं, यह माननां तौ अनादि अविद्या तैं भ्रम है, यह मिटै तव तत्व सिद्ध होय, समस्त क्लेश मिटै॥

ताकूं कहिये जो हे वौद्ध, तैं प्रत्यभिज्ञान कूं भ्रम वताया तौ जो अनुभवगोचर है सो भ्रम ठहरया तौ तेरा माननां क्षणिक है सो भी अनुभवगोचर है सो यह भी भ्रम ही ठहरया, जातैं अनुभव अपेक्षा दोऊ ही समान हैं, तातैं सर्वथा एकांत माननां तौ दोऊ ही भ्रम है, वस्तुस्वरूप नाही। हम कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक वस्तुस्वरूप कहैं हैं सो सत्यार्थ है॥ छ॥

आगैं, अैसैं ही क्षणिक माननेंवाले कूं युक्ति करि निषेधै है।

अर्थ – एकः अर्थात् क्षणिकवादी बौद्धमती, आत्मतत्त्व को क्षणिक कल्पित करके अपने मन में कर्ता और भोक्तापने में भेद मानते हैं, भेद करते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि कर्ता, कोई और है और भोक्ता, कोई और है। उनके विमोह अर्थात् अज्ञान को यह चैतन्य-चमत्कार ही स्वयं दूर करता है।

क्या करता हुआ? – नित्यरूप अमृत के समूह से सींचता हुआ दूर करता है।

भावार्थ – क्षणिकवादी, कर्ता और भोक्ता में भेद मानते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि जो पहले क्षण में था, वह दूसरे क्षण में नहीं है। यहाँ, आचार्य कहते हैं कि **हम उनको क्या समझाएँ?** – यह नित्यरूप अनुभवगोचर चैतन्य ही उनके अज्ञान को दूर करेगा। जो पहले क्षण में स्वयं है, वही दूसरे क्षण में कहता है कि 'जो मैं पहले था, वही [मैं अब] हूँ;' इस प्रकार स्मरणपूर्वक प्रत्यभिज्ञान उसकी नित्यता दिखाता है।

यहाँ, बौद्धमती कहता है कि 'जो पहले क्षण में था, वही मैं दूसरे क्षण में हूँ' – यह मानना तो अनादि अविद्या के कारण भ्रम है, इसके मिटने पर ही तत्त्व की सिद्धि होगी और समस्त क्लेश मिटेगा।

उससे [आचार्य] कहते हैं कि हे बौद्ध! तुमने प्रत्यभिज्ञान को भ्रम बताया तो जो अनुभवगोचर है, वह भ्रम सिद्ध हुआ, तो फिर तेरा जो क्षणिक मानना है, वह भी अनुभवगोचर है; अतः वह भी भ्रम ही सिद्ध हुआ क्योंकि अनुभव की अपेक्षा दोनों ही समान हैं; अतः (नित्य या अनित्य का) सर्वथा एकान्त मानना, दोनों ही भ्रम हैं, वस्तुस्वरूप नहीं है; इसलिए हम कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक वस्तुस्वरूप को कहते हैं, वही सत्यार्थ है।

॥ अनुष्टुभ्॥

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाशकल्पनात्।
अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्य, इत्येकान्तश्चकास्तु मा॥ १५॥

॥ अर्थ॥ वृत्यंश कहिये क्षण क्षण प्रति अवस्थाभेद हैं, तिनिकूं वृत्यंश कहिये हैं,[१] तिनिकै अत्यंत कहिये सर्वथा भेद न्यारे न्यारे वस्तु माननें तैं वृत्तिमत् कहिये जामैं अवस्था पाइये, अैसा आश्रयरूप वृत्तिमान् वस्तु, ताका नाश की कल्पनां तैं अैसैं मानैं है जो करै और है अर भौगवै और है।

सो आचार्य कहै है जो अैसा एकांत मति शोभौ[२]॥ जहां अवस्थावान् पदार्थ का नाश भया, तहां अवस्था कोंन कै आश्रय होय, अैसैं दोऊ का नाश आवै है, तव शून्य का प्रसंग होय है॥

अव, अनेकांत कूं प्रगट करि इस क्षणिकवाद कूं स्पष्ट करि निषेधै है॥

केहिंचि दु पज्जएहिं, विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि, सो वा अण्णो व णेयंतो॥ ३८॥

अब, ऐसे ही क्षणिक माननेवाले का युक्ति के द्वारा निषेध करते हैं —

॥ सोरठा॥

वृत्तिमान हो नष्ट, वृत्त्यंशों के भेद से।
कर्ता-भोक्ता भिन्न, नहिं मानो एकान्त से॥ २०७॥

अर्थ – वृत्यंश अर्थात् क्षण-क्षण प्रति अवस्था के भेद को वृत्यंश कहते हैं, उनके अत्यन्त अर्थात् सर्वथा, भेद अर्थात् भिन्न-भिन्न वस्तु मानने से वृत्तिमत् अर्थात् जिसमें अवस्थाएँ पाई जाती हैं – ऐसी आश्रयभूत वृत्तिमान वस्तु, उसके नाश की कल्पना करके वे ऐसा मानते हैं कि करता कोई अन्य है और भोगता कोई अन्य है।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि ऐसा एकान्त प्रकाशित नहीं होता क्योंकि जहाँ अवस्थावान् पदार्थ का नाश हुआ, वहाँ अवस्था किसके आश्रय से रहे? – इस प्रकार दोनों का नाश होने से शून्य का प्रसङ्ग आता है।

अब, अनेकान्त को प्रगट करके इस क्षणिकवाद का स्पष्ट निषेध करते हैं —

केहिचि दु पज्जयेहिं, विणस्सदे णेव केहिचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि, सो वा अण्णो व[३] णेयंतो॥ ३४५॥
केहिचि दु पज्जएहिं, विणस्सदे णेव केहिचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा वेददि, सो वा अण्णो व[४] णेयंतो॥ ३४६॥

१-२. *कहिए / प्रकाशो* - 'ब' प्रति पाठ ३-४. *वा* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

केहिंचि दु पज्जएहिं, विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा वेददि, सो वा अण्णो व णेयंतो॥ ३९॥
जो चेव कुणइ सो चिय[१], ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णायव्वो, मिच्छादिट्ठी अणारिहदो॥ ४०॥
अण्णो करेइ अण्णो, परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णायव्वो, मिच्छादिट्ठी अणारिहदो॥ ४१॥

॥ चतुष्कं॥

कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः।
यस्मात्तस्मात्करोति, स वा अन्यो[२] वा नैकान्तः॥ छ॥
कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः।
यस्मात्तस्माद्वेदयते, स वा[३] अन्यो वा नैकान्तः॥ छ॥
यश्चैव करोति स चैव[४], न वेदयते यस्यैष सिद्धान्तः।
सो जीवो ज्ञातव्यो, मिथ्यादृष्टिरनार्हतः॥ छ॥

जो चेव कुणदि सो चिय, वेदगो जस्स एस सिद्धंतो[५]।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो॥ ३४७॥
अण्णो करेदि अण्णो, परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो, मिच्छादिट्ठी अणारिहदो॥ ३४८॥

पर्याय कुछ से नष्ट जीव, कुछ से न जीव विनष्ट है।
इससे करे है वही या, कोई अन्य, नहिं एकान्त है॥ ३४५॥
पर्याय कुछ से नष्ट जीव, कुछ से न जीव विनष्ट है।
यों जीव वेदे वही, या कोई अन्य, नहिं एकान्त है॥ ३४६॥
जीव जो करे, वह भोगता नहिं, जिसका यह सिद्धान्त है।
अर्हन्त के मत का नहीं, वह जीव मिथ्यादृष्टि है॥ ३४७॥

---

१. *सौच्चिय* - 'ब' प्रति पाठ २-३. *स चान्यो* - 'ब' प्रति पाठ ४. *स एव* - 'ब' प्रति पाठ

५. यह तात्पर्यवृत्ति, सोलापुर एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन में पाठ है। (यह पाठ उचित प्रतीत होता है, अन्यथा गाथा ३४७-३४८ में अन्तर ही नहीं रह जाता है, क्योंकि दोनों गाथाओं का भाव समान हो जाता है।)

अन्यः करोत्यन्यः परिभुङ्क्ते यस्यैष सिद्धान्तः।
सो जीवो ज्ञातव्यो, मिथ्यादृष्टिरनार्हतः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जातैं जीव नाम पदार्थ है सो केई पर्यायनि करि तौ विनशै है॥ वहुरि केई पर्यायनि करि नाही विनशै है॥ तातैं सो ही जीव कर्त्ता हो है अथवा सो ही कर्त्ता न हो है, अन्य कर्त्ता होहै॥ अैसैं स्याद्वाद है, एकांत नाही है॥ छ॥

वहुरि जातैं जीव है सो केई पर्यायनि करि विनशै है॥ वहुरि केई पर्यायनि करि नाही विनशै है॥ तातैं सो ही जीव भोगवै है, भोक्ता हो है अथवा सो ही भोक्ता न हो है, अन्य भोगवै है॥ अैसैं स्याद्वाद है, एकांत नाही है॥ छ॥

वहुरि जाकै अैसा सिद्धांत है, मत है जो, जो जीव करै है सो नाही भोगवै है, अन्य ही भोगवै है॥ सो जीव मिथ्यादृष्टी जाननां, अर्हत्[१] का मत का नाही है॥ छ॥

वहुरि जाकै अैसा सिद्धांत है जो अन्य करै है अर भोगवै अन्य है॥ सो जीव मिथ्यादृष्टी जाननां, अरहंत का मत का नाही है॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं जीव है सो समय समय प्रति संभवता अगुरुलघुगुण का परिणाम, तिसके द्वार करि तौ क्षणिक है॥ वहुरि अचलित चैतन्य का अन्वयरूप गुण के द्वार करि नित्य है॥ तिसपणां तैं केई पर्यायनि करि तौ विनशै है॥ वहुरि केई पर्यायनि करि नाही विनशै है॥ अैसैं दोय स्वभावरूप

जीव अन्य कर्ता, अन्य भोक्ता, जिसका यह सिद्धान्त है।
अर्हन्त के मत का नहीं, वह जीव मिथ्यादृष्टि है॥ ३४८॥

अर्थ – जीव नामक पदार्थ, अनेक पर्यायों की अपेक्षा तो नष्ट है और अनेक पर्यायों की अपेक्षा नष्ट नहीं होता है; अतः वही जीव, कर्ता होता है अथवा वही कर्ता नहीं होता है, अन्य कर्ता होता है; इस प्रकार स्याद्वाद है, एकान्त नहीं है॥ ३४५॥

अथवा जीव, अनेक पर्यायों की अपेक्षा नष्ट होता है और अनेक पर्यायों की अपेक्षा नष्ट नहीं होता; अतः वही जीव भोगता है अर्थात् भोक्ता होता है अथवा वही भोक्ता नहीं होता है, अन्य भोगता है; इस प्रकार स्याद्वाद है, एकान्त नहीं है॥ ३४६॥

जिसका ऐसा [सर्वथा एकान्तरूप] सिद्धान्त है, मत है कि जो जीव कर्ता है, वह भोगता नहीं है, अन्य ही भोगता है; उस जीव को मिथ्यादृष्टि जानना, वह अरहन्त के मत का नहीं है॥ ३४७॥

अथवा जिसका ऐसा [सर्वथा] सिद्धान्त है कि अन्य करता है और अन्य भोगता है; उस जीव को भी मिथ्यादृष्टि जानना, वह भी अरहन्त के मत का नहीं है॥ ३४८॥

टीका – जीव, अगुरुलघुगुण के समय-समयवर्ती होनेवाले परिणामों की दृष्टि से तो क्षणिक है और अचलित चैतन्य के अन्वयरूप गुणों की दृष्टि से नित्य है, इस कारण वह अनेक पर्यायों से तो नष्ट होता है और अनेक पर्यायों से नष्ट नहीं होता है। इस प्रकार दो स्वरूपवाला जीव का स्वभाव

---

१. *अर्हंत* - 'ब' प्रति पाठ

जीव का स्वभाव है॥ तातैं जो ही करै है सो ही भोगवै है अथवा सो ही नाही भोगवै है, अन्य भोगवै है॥ अथवा सो ही भोगवै है सो ही करै है अथवा 'अन्य करै है, अन्य भोगवै है॥ स्याद्वाद है, एकांत नाही है॥'[१]

अैसैं अनेकांत होतैं भी जो अैसैं मानैं है जो जिस क्षण कै विषै वर्त्तमान है, ताही कै परमार्थरूप सत्व करि वस्तुपणां है, अैसैं वस्तु का अंश विषै वस्तुपणां का निश्चय करि अर शुद्धनय के लोभ तैं ऋजुसूत्रनय के एकांत विषै तिष्ठि करि॥ अर जो ही करै है सो ही न भोगवै है, अन्य करै है अर अन्य भोगवै है, अैसैं देषै है, श्रद्धान करै है सो जीव मिथ्यादृष्टी ही जाननां॥ जातैं वृत्ति अंश जे पर्यायरूप अवस्था, तिनिकै क्षणिकपणां होतैं भी वृत्तिमान् जो चैतन्यचमत्कार टंकोत्कीर्ण नित्यस्वरूप का अंतरंग विषै प्रतिभासमानपणां है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ वस्तु का स्वरूप जिनवाणी मैं द्रव्यपर्यायस्वरूप कह्या है सो पर्याय अपेक्षा तौ वस्तु क्षणिक है, वहुरि द्रव्य अपेक्षा नित्य है, अैसैं अनेकांत स्याद्वाद तैं सिद्ध होय है॥ सो जीव नामां वस्तु भी अैसैं ही द्रव्यपर्यायस्वरूप है॥ सो पर्याय अपेक्षा करि देषिये, तव तौ कार्य कूं करै तौ और पर्याय है अर भोगवै और पर्याय है, अैसा सिद्ध होय है॥

जैसैं मनुष्यपर्याय मैं शुभाशुभकर्म कीये, ताका फल देवपर्याय भोगया॥ वहुरि द्रव्यदृष्टि करि देषिये, तव जो करै है सो ही भोगवै, अैसा सिद्ध होय है॥ जैसैं मनुष्यपर्याय मैं जीवद्रव्य था, तिसनैं शुभाशुभकर्म कीये थे अर सो ही जीव देवपर्याय[२] मैं गया, तहां तिस ही जीव नैं अपनां कीया का फल भोगया॥

है; अत: जो भी करता है, वही भोगता है **अथवा** वही नहीं भोगता है, अन्य भोगता है **अथवा** वही भोगता है, जो करता है **अथवा** अन्य करता है, अन्य भोगता है – ऐसा स्याद्वाद है, एकान्त नहीं है।

इस प्रकार अनेकान्त के होते हुए भी जो ऐसा मानते हैं कि जिस क्षण में वस्तु वर्तमान है, उसी का परमार्थरूप सत्त्व होने से वस्तुपना है; अत: वस्तु के अंश में वस्तुत्व का निश्चय करके शुद्धनय के लोभ से ऋजुसूत्रनय के एकान्त में स्थित होकर 'जो भी करता है, वही नहीं भोगता है; अन्य करता है, अन्य भोगता है' – ऐसा जो देखता है, श्रद्धान करता है, उस जीव को मिथ्यादृष्टि ही जानना, क्योंकि वृत्यंश अर्थात् पर्यायरूप अवस्था में क्षणिकता होने पर भी वृत्तिमान् अर्थात् नित्यस्वरूप टङ्कोत्कीर्ण चैतन्य-चमत्कार का अन्तरङ्ग में प्रतिभासमानपना है।

भावार्थ – जिनवाणी में वस्तु का स्वरूप द्रव्य-पर्यायात्मक कहा है। पर्याय की अपेक्षा तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्य की अपेक्षा नित्य है – ऐसा अनेकान्त, स्याद्वाद से सिद्ध होता है; अत: यह जीव नामक वस्तु भी इसी प्रकार द्रव्य-पर्यायस्वरूप है। यदि उसे पर्याय की अपेक्षा से देखा जाए तो कार्य को करती तो कोई अन्य पर्याय है और भोगती कोई अन्य पर्याय है – ऐसा सिद्ध होता है।

जैसे, मनुष्यपर्याय में शुभाशुभकर्म करने पर, उसका फल देवपर्याय में भोगा – इसे द्रव्यदृष्टि से देखने पर 'जो करता है, वही भोगता है' – ऐसा सिद्ध होता है। वहाँ, मनुष्यपर्याय में जो जीवद्रव्य था, उसने शुभाशुभ कर्म किये थे; वही जीव, देवपर्याय में गया, वहाँ उसी जीव ने अपने किये कर्मों

---

१. *अन्य करै है, एकांत नाही है* - 'ब' प्रति पाठ

२. *देवादिपर्याय* - 'ब' प्रति पाठ

सो अैसैं वस्तु का स्वरूप अनेकांतरूप सिद्ध होतैं भी जो शुद्धनय में तौ समझे नाही अर शुद्धनय के लोभ तैं वस्तु का पर्याय, वर्त्तमानकाल मैं एक अंश था, ताही कूं वस्तु मानि ऋजुसूत्रनय का विषय का एकांत पकडि अर अैसैं मानै है, जो करै है सो भोगवै नाही, अन्य भोगवै है अर भोगवै है सो करै नाही, अन्य करै है सो मिथ्यादृष्टी है, अरहंत का मत का नाही। जातैं पर्याय कै क्षणिकपणां होतैं भी द्रव्यरूप चैतन्यचमत्कार तौ अनुभवगोचर नित्य है।

जैसैं प्रत्यभिज्ञान करि अैसैं जानैं जो वालक अवस्था मैं मैं था सो ही अव तरुण अवस्था मैं तथा वृद्ध अवस्था मैं हौं। अैसैं जो अनुभवगोचर स्वसंवेदन मैं आवै अर जिनवाणी अैसें ही गावै, ताकूं न मानैं सो ही मिथ्यादृष्टि कहावै, अैसैं जाननां॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरति-व्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः,
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां, तत्राऽपि मत्वा परैः।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः, शुद्धर्जुसूत्रे रतै-
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो, निःसूत्रमुक्तेक्षुभिः॥ १६॥

॥ अर्थ॥ आत्मा कूं सामस्त्यपणैं[१] शुद्ध कै इच्छक जे पृथुक कहिये वौद्धमती, तिनिनैं तिस

का फल भोगा।

इस प्रकार वस्तु का स्वरूप अनेकान्तरूप सिद्ध होने पर भी जो शुद्धनय को तो समझे नहीं और शुद्धनय के लोभ से वर्तमानकाल में वस्तु के पर्यायरूप अंश को ही वस्तु मान कर, ऋजुसूत्रनय के विषय का एकान्त पकड़ कर ऐसा मानते हैं कि 'जो करता है, वह भोगता नहीं है, अन्य भोगता है और जो भोगता है, वह करता नहीं है, अन्य करता है'; वे मिथ्यादृष्टि हैं, अरिहन्त के मत के नहीं हैं क्योंकि पर्याय का क्षणिकपना होने पर भी द्रव्यरूप चैतन्यचमत्कार तो अनुभवगोचर नित्य है।

जैसे, प्रत्यभिज्ञान ऐसा जानता है कि जो बालक अवस्था में मैं था, वही अब तरुण अवस्था और वृद्धावस्था में मैं हूँ – ऐसा अनुभवगोचर स्वसंवेदन में आता है और जिनवाणी भी ऐसा ही कहती है; जो उसे नहीं मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं – ऐसा जानना।

अब, इस अर्थ के कलशरूप काव्य को कहते हैं –

॥ रोला ॥

यह आतम है क्षणिक क्योंकि यह परमशुद्ध है,
जहाँ काल की भी उपाधि की नहीं अशुद्धि।
इसी धारणा से छूटा है नित्य आतमा,
ज्यों डोरा बिन मुक्तामणि से हार न बनता॥ २०८॥

आत्मा विषै काल के उपाधि के वल तैं अधिक अशुद्धता मानि करि, अतिव्याप्ति पाय करि अर शुद्धऋजुसूत्रनय के प्रेरे हुये चैतन्य कूं क्षणिक कल्प्य करि 'तिनि आंधेनि नैं'[२] आत्मा कूं छोड्या, जातैं आत्मा तो द्रव्यपर्यायस्वरूप था सो सर्वथा क्षणिकपर्यायस्वरूप मानि छोडि दीया, तिनिकै आत्मा की प्राप्ति न भई॥

इहां हार का दृष्टांत है, जैसैं मोतीनि का हार नामा वस्तु है, तामैं सूत्र विषै मोती पोये हैं, ते भिन्न भिन्न दीषैं हैं सो जे हार नामा वस्तु कूं सूत्रसहित मोती पोये नाही देषै हैं अर मोतीनि ही कूं न्यारे न्यारे देषि ग्रहण करैं हैं, तिनिकै हार की प्राप्ति नाही होय है, तैसैं ही जे आत्मा का एक नित्य चैतन्यभाव कूं नाही ग्रहण करैं हैं अर समय समय वर्त्ती[३] परिणामरूप उपयोग की प्रवृत्ति कूं देषि तिसकूं सदा नित्य मानें[४] काल की उपाधि तैं अशुद्धता मानि अैसैं जानैं है जो नित्य मानें काल की उपाधि लागै तव आत्मा कै अशुद्धपणां आवै, तव अतिव्याप्ति दूषण लागै सो इस दूषण के भय तैं ऋजुसूत्रनय का विषय जो शुद्ध वर्तमान समयमात्र क्षणिकपणां, तिसमात्र मानि आत्मा कूं छोडि दीया॥

॥ भावार्थ॥ वौद्धमती आत्मा कूं सामस्त्यपणैं[५] शुद्ध माननें का इच्छक होय अर विचारी जो आत्मा कूं नित्य मानिये तौ नित्य मैं तौ काल की अपेक्षा आवै, तातैं उपाधि लागै, तव वड़ी अशुद्धता आवै, तव अतिव्याप्ति दूषण लागै, इस भय तैं शुद्ध ऋजुसूत्रनय का विषय वर्त्तमान समयमात्र था,

---

अर्थ – आत्मा को सम्पूर्णरूप से शुद्ध मानने के इच्छुक पृथुक अर्थात् बौद्धमतियों ने इस आत्मा में काल की उपाधि के कारण अधिक अशुद्धता मान कर, अतिव्याप्ति को प्राप्त करके और शुद्धऋजुसूत्रनय से प्रेरित होकर, चैतन्य को क्षणिक कल्पित करके उन अन्धों ने आत्मा को छोड़ दिया है क्योंकि आत्मा तो द्रव्य-पर्यायस्वरूप सदा है, परन्तु उन्होंने सर्वथा क्षणिकपर्यायस्वरूप मान कर आत्मा को छोड़ दिया है; अत: उनको आत्मा की प्राप्ति नहीं हुई है।

यहाँ हार का दृष्टान्त है – जैसे, मोतियों का हार नामक एक वस्तु है, उसमें धागे में मोती पिरोये हैं, वे भिन्न-भिन्न दिखते हैं; अत: जो हार नामक वस्तु को मोती पिरोये धागेसहित नहीं देखते हैं और मोतियों ही को अलग-अलग देख कर ग्रहण करते हैं, उन्हें हार की प्राप्ति नहीं होती है। इसी प्रकार जो आत्मा के एक नित्य चैतन्यभाव को ग्रहण नहीं करते हैं और समय-समयवर्ती परिणामरूप उपयोग की प्रवृत्ति को देखते है; आत्मा को सदा नित्य मानने पर काल की उपाधि होने से अशुद्धता मान कर वे ऐसा जानते हैं कि नित्य मानने पर काल की उपाधि लगती है, उससे आत्मा को अशुद्धता आती है, उससे अतिव्याप्ति दूषण लगता है; अत: इस दूषण के भय से ऋजुसूत्रनय का विषय शुद्ध वर्तमान समयमात्र क्षणिकपना ही मान कर, वे आत्मा को छोड़ देते हैं।

भावार्थ – बौद्धमतानुयायी, आत्मा को सम्पूर्णरूप से शुद्ध मानने के इच्छुक होकर विचार करते हैं कि आत्मा को नित्य मानने पर, नित्य में तो काल की अपेक्षा आती है, उससे उपाधि लगती है, तब बड़ी अशुद्धता आती है और अतिव्याप्ति दूषण लगता है; अत: इस भय से वे शुद्धऋजुसूत्रनय के विषयभूत वर्तमान समयमात्र क्षणिक आत्मा को मानते हैं, जबकि आत्मा नित्यानित्यात्मक द्रव्य-

---

१. *समस्तपणैं* - 'ब' प्रति पाठ
२. *आंधेनि तै तिनिनैं* - 'ब' प्रति पाठ
३. *वर्तता* - 'ब' प्रति पाठ
४. *मानि* - 'ब' प्रति पाठ
५. *समस्तपणैं* - 'ब' प्रति पाठ

तिसमात्र क्षणिक आत्मा कूं मान्या, तव आत्मा नित्यानित्यस्वरूप द्रव्यपर्यायस्वरूप था, तिसका ग्रहण ताकै न भया, केवल पर्यायमात्र विषै आत्मा की कल्पनां भई सो सत्यार्थ आत्मा नाही, अैसैं जाननां ॥ छ ॥

अव फेरि, इस ही अर्थ के समर्थनरूप वस्तु का अनुभवन करने कूं काव्य कहै है ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो, भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा,
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा, वस्त्वेव सञ्चिन्त्यताम्।
प्रोता सूत्र इवाऽत्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचित्,
चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्येव नः ॥ १७ ॥

॥ अर्थ ॥ कर्त्ता कै अर भोक्ता कै युक्ति के वश तैं भेद होहु अथवा अभेद होहु, अथवा कर्त्ता भोक्ता दोऊ ही मति होहु, वस्तु ही का चिंतवन[१] करो ॥ जातैं सूत्र विषै निपुण जे चतुर पुरुष तिनिकरि सूत्र विषै पोई हुई मणिनि की माला[२] जैसैं भेदी न जाय, तैसैं आत्मा विषै पोई हुई चैतन्यरूप चिंतामणि की माला है सो कहूं ही कोई करि भेदनें कूं समर्थ न हूजिये। अैसी यह आत्मारूपी माला सामस्त्यपणैं[३] एक हमारै प्रकाशरूप प्रगट है ॥

॥ भावार्थ ॥ वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक अनंतधर्मा है, ता विषै विवक्षा के वश तैं कर्त्ता भोक्तापणां

पर्यायस्वरूप है, उसका ग्रहण उन्हें नहीं होता है, केवल पर्यायमात्र में आत्मा की कल्पना होती है परन्तु वह सत्यार्थ आत्मा नहीं है – ऐसा जानना।

अब, पुनः इसी अर्थ के समर्थनरूप वस्तु का अनुभवन करने के लिए काव्य कहते हैं —

॥ रोला ॥

कर्ता-भोक्ता में अभेद हो युक्तिवश से,
भले भेद हो अथवा दोनों ही ना हों।
ज्यों मणियों की माला भेदी नहीं जा सके,
त्यों अभेद चेतन का अनुभव हमें सदा हो ॥ २०९ ॥

अर्थ – कर्ता और भोक्ता में युक्ति के वश से भेद हो अथवा अभेद हो अथवा कर्ता-भोक्ता दोनों ही न हों, मात्र वस्तु ही का चिन्तन करो क्योंकि जिस प्रकार सूत्र में निपुण चतुर पुरुषों के द्वारा पिरोई हुई मोतियों की माला भेदी नहीं जाती है; उसी प्रकार आत्मा में पिरोई हुई चैतन्यरूप चिन्तामणि की माला को कहीं भी कोई भी भेदने में समर्थ नहीं होता है – ऐसी यह एक आत्मारूपी माला सम्पूर्णरूप से हमारे प्रकाशरूप प्रगट है।

भावार्थ – वस्तु, द्रव्य-पर्यायात्मक अनन्त धर्मोंवाली है, उसमें विवक्षा के वश से कर्ता-

---

१. *चितवन* - 'ब' प्रति पाठ २. मूल, 'अ' प्रति के पृष्ठ २०७ में यहाँ तक ५ पंक्ति लिखी हैं, उसके बाद पूरा पृष्ठ खाली है। जबकि प्रतिलिपि में इसके बाद कोई जगह खाली नहीं है

का भेद भी है अर भेद नाही भी है अर कर्त्ता भोक्ता भी काहे कूं कहणां, केवल शुद्ध वस्तुमात्र का असाधारणधर्म कै द्वारै अनुभवन करनां।

अैसैं आत्मा नामा वस्तु सो असाधारण चैतन्यमात्र भाव कै द्वारै अनुभवन करतैं चैतन्य के परिणमनरूप पर्याय के भेदनि की अपेक्षा कर्त्ता भोक्ता का भेद है, चिन्मात्र द्रव्य अपेक्षा भेद नाही है, अैसैं भेद अभेद होहु॥ तथा चिन्मात्र अनुभवन मैं काहे कूं भेद अभेद कहनां, कर्त्ता भोक्ता ही न कहनां, वस्तुमात्र अनुभव करनां।

जैसैं मणिनि की माला मैं सूत्र मोतीनि का विवक्षा तैं भेद है, माला मात्र ग्रहण करनें मैं भेदाभेद का विकल्प नाही, तैसैं आत्मा विषै चैतन्य के द्रव्यपर्याय अपेक्षा भेदाभेद है, तौऊ आत्मवस्तुमात्र अनुभव करतैं विकल्प नाही सो आचार्य कहै है॥ अैसा निर्विकल्प आत्मा का अनुभव हमारै प्रकाशरूप है॥ अैसैं जैनीनि कै वचन हैं॥ छ॥

आगैं, इस कथन कूं दृष्टांत करि स्पष्ट करै है, ताकी सूचनिका कूं नयविभाग का काव्य कहै है॥

॥ रथोद्धता ॥

व्यावहारिकदृशैव केवलं, कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते, कर्तृ कर्म च सदैकमीक्ष्यते[१]॥ १८॥

भोक्तापने का भेद भी है, भेद नहीं भी है और उसे कर्ता-भोक्ता भी क्यों कहना? केवल शुद्ध वस्तुमात्र का, असाधारण धर्म के द्वारा अनुभवन करना।

इस प्रकार आत्मा नामक वस्तु में असाधारण चैतन्यमात्र भाव के द्वारा अनुभवन करते समय चैतन्य के परिणमनरूप पर्याय के भेदों की अपेक्षा कर्ता-भोक्ता का भेद है परन्तु चिन्मात्र द्रव्य अपेक्षा भेद नहीं है, इस प्रकार भेद-अभेद होता है तथा चिन्मात्र अनुभवन में भेद-अभेद क्यों कहना? – कर्ता-भोक्ता भी नहीं कहना, वस्तुमात्र अनुभवन करना।

जिस प्रकार मणियों की माला में धागे और मोतियों का विवक्षा से भेद होता है, मात्र माला ग्रहण करने पर भेदाभेद का विकल्प नहीं होता है; उसी प्रकार आत्मा में चैतन्य के द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा भेद-अभेद होता है तो भी आत्मवस्तुमात्र अनुभव करते हुए विकल्प नहीं हैं; अतः यहाँ आचार्य कहते हैं - ऐसे निर्विकल्प आत्मा का अनुभव हमें प्रकाशरूप है। इस प्रकार जैनियों के वचन हैं।

अब, इस कथन को दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट करते हैं, उसकी सूचनिका के लिए नयविभाग का काव्य कहते हैं —

॥ दोहा ॥

अरे! मात्र व्यवहार से, कर्म अरु कर्ता भिन्न।
निश्चयनय से देखिए, दोनों सदा अभिन्न॥ २१०॥

---

१. *मिष्यते* - प्रकाशित प्रतियों में पाठ

॥ अर्थ ॥ व्यवहार की दृष्टि मैं तौ केवल कर्त्ता अर कर्म भिन्न दीषैं हैं॥ अर जव निश्चय करि देषिये, वस्तु कूं विचारिये, तव कर्त्ता अर कर्म सदाकाल एक ही देषिये हैं।

॥ भावार्थ ॥ व्यवहारनय तौ पर्यायाश्रित है सो यामैं तौ भेद ही दीषैं। वहुरि शुद्धनिश्चयनय है सो द्रव्याश्रित है, तामैं अभेद ही दीषै॥ तातैं व्यवहार मैं तौ कर्त्ता कर्म का भेद है, निश्चय मैं अभेद है॥ छ॥

आगैं, इस कथन कूं दृष्टांत करि गाथा मैं कहै है॥ छ॥

जह सिप्पिओ उ कम्मं, कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो वि य कम्मं, कुव्वइ ण य तम्मओ होइ॥ ४२॥
जह सिप्पिओ उ करणेहिं, कुव्वइ ण सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणेहिं, कुव्वइ ण य तम्मओ होइ॥ ४३॥
जह सिप्पिओ उ[१] करणाणि, गिण्हइ ण य[२] सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो करणाणि उ, गिण्हइ ण य तम्मओ होइ॥ ४४॥

अर्थ – व्यवहार की दृष्टि में ही केवल कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न दीखते हैं परन्तु जब निश्चय से देखते हैं अर्थात् वस्तु का विचार करते हैं, तब कर्ता और कर्म सदाकाल एक ही दीखते हैं।

भावार्थ – व्यवहारनय तो पर्यायाश्रित है; अतः इसमें तो भेद ही दीखते हैं परन्तु शुद्धनिश्चयनय द्रव्याश्रित है, उसमें अभेद ही दीखता है; अतः व्यवहार में तो कर्ता-कर्म का भेद है परन्तु निश्चय में अभेद है।

अब, इस कथन को दृष्टान्त के साथ गाथाओं में कहते हैं —

जह सिप्पिओ दु कम्मं, कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो वि य कम्मं, कुव्वदि ण य तम्मओ होदि॥ ३४९॥
जह सिप्पिओ दु करणेहिं, कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणेहिं, कुव्वदि ण य तम्मओ होदि॥ ३५०॥
जह सिप्पिओ दु करणाणि, गिण्हदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणाणि दु, गिण्हदि ण य तम्मओ होदि॥ ३५१॥

---

१. उ - 'ब' प्रति पाठ नहीं
२. य - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

जह सिप्पिओ उ[1] कम्मफलं, भुंजइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो कम्मफलं, भुंजइ ण य तम्मओ होइ॥ ४५॥
एवं ववहारस्स उ, वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं, परिणामकयं तु जं होइ॥ ४६॥
जह सिप्पिओ उ चेट्ठं, कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से।
तह जीवो वि य कम्मं, कुव्वइ हवइ य अणण्णो से॥ ४७॥
जह चिट्ठं कुव्वंतो, उ सिप्पिओ णिच्चदुक्खिओ होइ।
तत्तो सिया अणण्णो, तह चिट्ठंतो दुही जीवो॥ ४८॥

॥ सप्तकं ॥

यथा शिल्पिकस्तु कर्म, करोति न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवोऽपि च कर्म, करोति न च तन्मयो भवति॥ छ॥

जह सिप्पिओ दु कम्मफलं, भुंजदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो कम्मफलं, भुंजदि ण य तम्मओ होदि॥ ३५२॥
एवं ववहारस्स दु, वत्तव्वं दंसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं, परिणामकदं तु जं होदि[2]॥ ३५३॥
जह सिप्पिओ दु चेट्ठं, कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो सो।
तह जीवो वि य कम्मं, कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो॥ ३५४॥
जह चेट्ठं कुव्वंतो, दु सिप्पिओ णिच्चदुक्खिदो होदि।
तत्तो सेय अणण्णो, तह चेट्ठंतो दुही जीवो॥ ३५५॥

ज्यों शिल्पि कर्म करे परन्तु, वह नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव कर्म करे, परन्तु, वह नहीं तन्मय बने॥ ३४९॥
ज्यों शिल्पि करणों से करे, पर वह नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करणों से करे, पर वह नहीं तन्मय बने॥ ३५०॥

---

१. उ - 'ब' प्रति में पाठ नहीं

२. *हवदि* - तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ

यथा शिल्पिकस्तु करणैः, करोति न स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः करणैः, करोति न च तन्मयो भवति॥ छ॥
यथा शिल्पिकस्तु करणानि, गृह्णाति न च[१] स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः करणानि तु[२], गृह्णाति न च तन्मयो भवति॥ छ॥
यथा शिल्पिकः तु[३] कर्मफलं, भुङ्क्ते न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः कर्मफलं, भुङ्क्ते न च तन्मयो भवति॥ छ॥
एवं व्यवहारस्य तु, वक्तव्यं दर्शनं समासेन।
शृणु निश्चयस्य वचनं, परिणामकृतं तु यद्भवति॥ छ॥
यथा शिल्पिकस्तु चेष्टां, करोति भवति च तथाऽनन्यस्तस्याः।
तथा जीवोऽपि च कर्म, करोति भवति चाऽनन्यस्तस्मात्॥ छ॥
यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु, शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति।
तस्माच्च स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दुःखी जीवः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जैसैं शिल्पिक कहिये सुनार आदि कारीगर है सो आभूषणादिक कर्म कूं करै है॥ सो तिस आभूषणादिक तैं तन्मय नाही होय है॥ तैसैं जीव भी पुद्गलकर्म कूं करै है, तथापि तातैं तन्मय

ज्यों शिल्पि करण ग्रहे परन्तु, वह नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करणों को ग्रहे, पर वह नहीं तन्मय बने॥ ३५१॥
ज्यों शिल्पी भोगे कर्मफल, पर वह नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव भोगे कर्मफल, पर वह नहीं तन्मय बने॥ ३५२॥
इस भाँति मत व्यवहार का, संक्षेप से वक्तव्य है।
सुन लो वचन परमार्थ का, परिणाम-विषयक जो ही है॥ ३५३॥
ज्यों शिल्पि जो चेष्टा करे, उससे ही शिल्पि अनन्य है।
त्यों जीव कर्म करे अरु, उससे ही जीव अनन्य है॥ ३५४॥
चेष्टित हुआ शिल्पी निरन्तर, दुःखित जैसे होय है।
उस दुःख से शिल्पी अनन्य, त्यों चेष्टमान जीव दुःखी है॥ ३५५॥

अर्थ – जिस प्रकार शिल्पी अर्थात् सुनार आदि कारीगर, आभूषण आदि कर्म (कार्य) को करते हैं परन्तु वे उन आभूषण आदि से तन्मय नहीं होते हैं; उसी प्रकार जीव भी पुद्गलकर्म को

---

१. च - 'अ' 'ब' प्रति में पाठ नहीं २. च - 'अ' 'ब' प्रति पाठ ३. तु - 'अ' 'ब' प्रति में पाठ नहीं

नाही होय है॥ छ॥

वहुरि जैसैं शिल्पिक, हथोड़ा आदि करणनि तैं कर्म कूं करै है, तथापि तिनितैं तन्मय नाही होय है॥ तैसैं जीव भी मन वचन काय आदि करणनि तैं कर्म कूं करै है, तथापि तिनितैं तन्मय नाही होय है॥ छ॥

वहुरि जैसैं शिल्पिक, करणनि कूं ग्रहण करै है, तथापि तिनितैं तन्मय नाही होय है॥ तैसैं जीव भी मन वचन कायरूप करणनि कूं ग्रहण करै है, तथापि तिनितैं तन्मय नाही होय है॥ छ॥

वहुरि जैसैं शिल्पिक, आभूषणादि कर्म के फल कूं भोगवै है, तथापि तातैं तन्मय नाही होय है॥ तैसैं जीव भी सुख दुःख आदि कर्म के फल कूं भोगवै है, तथापि तिनितैं तन्मय नाही होय है॥ छ॥

या प्रकार व्यवहार का दर्शन कहिये मत, सो संक्षेप करि कहनें योग्य है॥ अर निश्चय के वचन हैं सो अपनें परिणाम करि कीये होय हैं, सो कहिये हैं सो सुणूं॥ छ॥

जैसा शिल्पिक है सो अपनें परिणामरूप चेष्टास्वरूप कर्म कूं करै है॥ सो शिल्पी, तिस चेष्टा तैं न्यारा नाही है, तन्मय है॥ तैसैं जीव भी अपनें परिणामरूप चेष्टास्वरूप कर्म कूं करै है सो तिस चेष्टा तैं न्यारा नाही है, तन्मय है॥ छ॥

वहुरि जैसैं शिल्पी चेष्टा करता संता[१] निरंतर दुःखी होय है, तिस दुःख तैं न्यारा नाही है, तातैं तन्मय है॥ तैसैं जीव भी चेष्टा करता संता दुःखी होय है॥ छ॥

करता है तथापि वह उससे तन्मय नहीं होता है॥ ३४९॥

जिस प्रकार शिल्पी, हथौड़ा आदि करणों से कर्म को करता है तथापि वह उन (करणों) से तन्मय नहीं होता है; उसी प्रकार जीव भी मन-वचन-काय आदि करणों से कर्म को करता है तथापि वह उनसे तन्मय नहीं होता है॥ ३५०॥

जिस प्रकार शिल्पी, करणों को ग्रहण करता है तथापि वह उनसे तन्मय नहीं होता है; उसी प्रकार जीव भी मन-वचन-कायरूप करणों को ग्रहण करता है तथापि वह उनसे तन्मय नहीं होता है॥ ३५१॥

जिस प्रकार शिल्पी, आभूषण आदि कर्म के फल को भोगता है तथापि वह उससे तन्मय नहीं होता है; उसी प्रकार जीव भी सुख-दुःख आदि कर्म के फल को भोगता है तथापि वह उनसे तन्मय नहीं होता है॥ ३५२॥

इस प्रकार व्यवहार का दर्शन अर्थात् मत, संक्षेप में कथन करने योग्य है तथा जो निश्चय के वचन हैं, वे अपने परिणामों की अपेक्षा होते हैं, उन्हें कहते हैं सो सुनो॥ ३५३॥

जिस प्रकार शिल्पी अपने परिणामरूप चेष्टास्वरूप कर्म को करता है, वह शिल्पी उस चेष्टा से अलग नहीं है, तन्मय है; उसी प्रकार जीव भी अपने परिणामरूप चेष्टास्वरूप कर्म को करता है, वह भी उस चेष्टा से अलग नहीं है, तन्मय है॥ ३५४॥

जिस प्रकार शिल्पी चेष्टा करता हुआ निरन्तर दुःखी होता है, वह उस दुःख से अलग नहीं

---

१. *करतो संतो* - 'अ' प्रति पाठ

॥ टीका॥ जैसैं निश्चय करि शिल्पी सुवर्णकारादिक है सो कुंडल आदि परद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्म कूं करै है॥ हथोडा आदि परद्रव्य के परिणामस्वरूप करण, तिनिकरि करै है॥ हथोडा आदि परद्रव्य के परिणामस्वरूप करण, तिनिकूं ग्रहण करै है। वहुरि कुंडलादि कर्म का फल ग्राम धन आदि परद्रव्य के परिणामस्वरूप कूं पावै है॥ तिनिकूं भोगवै है, तथापि ते सर्व ही भिन्न भिन्न द्रव्य हैं सो तिसतैं अन्य हैं, तातैं तिनितैं तन्मय नाही होय है॥ तातैं तहां निमित्तनैमित्तिक भावमात्र करि ही तिनिकै कर्त्ताकर्मपणां[१] का अर भोक्ताभोग्यपणां का व्यवहार है॥

तैसैं आत्मा भी पुण्य पाप आदि पुद्गलद्रव्यस्वरूप कर्म कूं करै है, वहुरि काय वचन मन, पुद्गलद्रव्यस्वरूप करणनि करि कर्म कूं करै है॥ वहुरि काय वचन मन, पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप करणनि कूं ग्रहण करै है॥ वहुरि सुख दुःख आदि पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप पुण्य पाप आदि कर्म का फल कूं भोगवै है॥ सो भिन्नद्रव्यपणां तैं तिनितैं अन्य होतैं संतैं तिनि तैं तन्मय नाही होय है, तातैं निमित्तनैमित्तिक भावमात्र करि ही तहां कर्त्ताकर्मपणां, भोक्ताभोग्यपणां का व्यवहार है॥

वहुरि जैसैं सो ही शिल्पी करनें का इच्छक भया संता अपनां हस्तादि की चेष्टारूप अपनां परिणामस्वरूप कर्म कूं करै है॥ वहुरि दुःखस्वरूप अपनां परिणामरूप चेष्टामयी कर्म के फल कूं भोगवै है॥ तिनि परिणामनि कूं अपनां एक ही द्रव्यपणां करि अनन्य होतैं संतैं तिनितैं तन्मय होय है॥ तातैं तिनि विषै परिणामपरिणामीभाव करि कर्त्ताकर्मपणां का अर भोक्ताभोग्यपणां का निश्चय है॥

है, उससे तन्मय है; उसी प्रकार जीव भी चेष्टा करता हुआ दुःखी होता है॥ ३५५॥

टीका – वास्तव में जिस प्रकार शिल्पी स्वर्णकार आदि, कुण्डल आदि परद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्म को करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्य के परिणामस्वरूप करणों के द्वारा करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्य के परिणामस्वरूप करणों को ग्रहण करता है और कुण्डल आदि कर्म के फल ग्राम, धन आदि परद्रव्य के परिणामस्वरूप फल को प्राप्त करता है, उन्हें भोगता है लेकिन वे सभी भिन्न-भिन्न द्रव्य होने से उनसे शिल्पी अन्य है, इसलिए वह उनसे तन्मय नहीं होता है; अतः वहाँ निमित्त-नैमित्तिक भावमात्र से ही उनमें कर्ता-कर्मपने और भोक्ता-भोग्यपने का व्यवहार होता है।

उसी प्रकार आत्मा भी पुण्य-पाप आदि पुद्गलद्रव्यस्वरूप कर्म को करता है, काय-वचन-मनरूप पुद्गलद्रव्यस्वरूप करणों से कर्म को करता है, काय-वचन-मनरूप पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप करणों को ग्रहण करता है और सुख-दुःख आदि पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप पुण्य-पाप आदि कर्म के फल को भोगता है, लेकिन भिन्न-भिन्न द्रव्य होने से उनसे आत्मा अन्य है, इसलिए वह उनसे तन्मय नहीं होता है; अतः वहाँ निमित्त-नैमित्तिक भावमात्र से ही कर्ता-कर्मपने और भोक्ता-भोग्यपने का व्यवहार होता है।

जिस प्रकार वही शिल्पी करने का इच्छुक होता हुआ, अपने हाथ आदि की चेष्टारूप अपने परिणामस्वरूप कर्म को करता है और दुःखस्वरूप अपने परिणामरूप चेष्टामयी कर्म के फल को भोगता है; तब उन परिणामों से अपने एक ही द्रव्यपने से अनन्य होता हुआ उनसे तन्मय होता है,

---

१. *कर्ताकर्म* - 'अ' प्रति पाठ

तैसैं आत्मा भी करनें का इच्छक भया संता अपनी उपयोग की तथा प्रदेशनि की चेष्टारूप अपनें परिणामस्वरूप कर्म कूं करै है अर दुःख है लक्षण जाका, अैसा अपनें परिणामरूप चेष्टारूप कर्म का फल कूं भोगवै है, तिनि परिणामनि कै अपनां एक ही द्रव्यपणां करि अन्यपणां न होतैं संतैं तिनितैं तन्मय होय है, तातैं तिनि परिणामनि विषै परिणामपरिणामीभाव करि कर्त्ताकर्मपणां का अर भोक्ताभोग्यपणां का निश्चय है॥ छ॥

॥ नर्दटक ॥[१]

ननु परिणाम एव किल, कर्म विनिश्चयतः,
स भवति नाऽपरस्य, परिणामिनः एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्य-मिह कर्म न चैकतया,
स्थितिरिह वस्तुनो, भवतु कर्तृ तदेव ततः॥ १॥[२]

॥ अर्थ॥ ननु कहिये अहो मुनि हौ, तुम यह निश्चय करो जो यह प्रगटपणैं परिणाम है सो तौ निश्चय तैं कर्म है॥ बहुरि सो परिणाम अपनां आश्रय जो परिणामी द्रव्य, ताही का होय है, अन्य का नाही होय है, जातैं परिणाम हैं, ते अपनें अपनें द्रव्य के आश्रय हैं, अन्य के परिणाम का अन्य

अतः उनमें परिणाम-परिणामीभाव के कारण कर्ता-कर्मपने और भोक्ता-भोग्यपने का निश्चय होता है।

उसी प्रकार आत्मा भी करने का इच्छुक होता हुआ, अपने उपयोग तथा प्रदेशों की चेष्टारूप अपने परिणामस्वरूप कर्म को करता है और दुःख लक्षणवाले अपने परिणामरूप चेष्टामयी कर्म के फल को भोगता है; तब उन परिणामों से अपने एक ही द्रव्यपने से अन्यत्व नहीं होते हुए उनसे तन्मय होता है, अतः उन परिणामों में परिणाम-परिणामीभाव के कारण कर्ता-कर्मपने और भोक्ता-भोग्यपने का निश्चय होता है।

॥ दोहा ॥

अरे! कभी होता नहीं, कर्ता के बिन कर्म।
निश्चय से परिणाम ही, परिणामी का कर्म॥
सदा बदलता ही रहे, यह परिणामी द्रव्य।
एकरूप रहती नहीं, वस्तु की थिति नित्य॥ २११॥

अर्थ – ननु अर्थात् अहो मुनियों! तुम यह निश्चय करो कि यह प्रगटरूप परिणाम तो निश्चय से कर्म है और वह परिणाम, अपने आश्रयभूत परिणामी द्रव्य का ही होता है; अन्य का नहीं होता है क्योंकि परिणाम अपने-अपने द्रव्य के आश्रय होते हैं, किसी के परिणाम का कोई अन्य आश्रय नहीं होता है। कर्म, कर्ता के बिना नहीं होता है और वस्तु, द्रव्य-पर्यायस्वरूप है; अतः उसकी एक अवस्थारूप

---

१. 'अ' 'ब' प्रति एवं अन्य प्रकाशित प्रतियों में छन्द का नाम नहीं दिया गया है, अतः यहाँ सोनगढ़ प्रकाशन एवं छन्द शास्त्र से मिलान करके यह नाम दिया है।

२. 'अ' 'ब' प्रति में इस छन्द को नया क्रमाङ्क '१' दिया गया है, जबकि प्रकाशित प्रतियों में इसे क्रमिकरूप से क्रमाङ्क २११ दिया है, यही कारण है कि 'अ' 'ब' प्रति में श्लोकों की कुल संख्या सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में ८४ की जगह ८३ एवं सम्पूर्ण ग्रन्थ में २७८ की जगह २७७ रह गयी है।

आश्रय होय नाही॥ वहुरि जो कर्म है सो कर्त्ता विना होय नाही॥ वहुरि वस्तु है सो द्रव्यपर्यायस्वरूप है, तातैं ताकी एक अवस्थारूप कूटस्थ स्थिति होय नाही, सर्वथा नित्यपणां वाधासहित है, तातैं अपनां परिणामरूप कर्म का आप ही कर्त्ता है, यह निश्चय सिद्धांत है॥ छ॥

अव, इस ही अर्थ के समर्थन कूं कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ पृथ्वी॥

बहिर्लुठति यद्यपि, स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं,
तथाऽप्यपरवस्तुनो, विशति नाऽन्यवस्त्वन्तरम्।
स्वभावनियतं यतः, सकलमेव वस्त्विष्यते,
स्वभावचलनाऽकुलः, किमिह मोहितः क्लिश्यते॥ १९॥

॥ अर्थ॥ यद्यपि वस्तु है सो आप प्रकाशरूप अनंतशक्तिस्वरूप है, तथापि अन्य वस्तु है सो अन्य वस्तु विषै प्रवेश नाही करै है, वाहरि ही लोटै है, जातैं समस्त ही वस्तु अपनें अपनें स्वभाव विषै नियमरूप हैं, अैसा मानिये है॥ सो आचार्य कहै है जो अैसैं होतैं भी यह जीव, अपनें स्वभाव तैं चलायमान होय, आकुल व्याकुल हूवा मोही भया संता क्यों क्लेशरूप होय है॥

॥ भावार्थ॥ वस्तुस्वभाव तौ नियमरूप अैसा जो काहू वस्तु मैं कोई मिलै नाही अर यह प्राणी अपनें स्वभाव सूं चलायमान होय व्याकुल होय, क्लेशरूप होय है सो यह वड़ा अज्ञान है॥ छ।

कूटस्थ स्थिति नहीं होती क्योंकि सर्वथा नित्यपना बाधासहित है; अतः अपने परिणामरूप कर्म का स्वयं ही कर्ता होता है – यह निश्चयनय का सिद्धान्त है।

अब, इसी अर्थ का समर्थन करने के लिए कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

यद्यपि आतमराम शक्तियों से है शोभित,
और लोटता बाहर-बाहर परद्रव्यों के।
पर प्रवेश पा नहीं सकेगा उन द्रव्यों में,
फिर भी आकुल-व्याकुल होकर क्लेश पा रहा॥ २१२॥

अर्थ – यद्यपि वस्तु स्वयं प्रकाशरूप अनन्त शक्तिस्वरूप है तथापि एक वस्तु, अन्य वस्तु में प्रवेश नहीं करती है, बल्कि बाहर ही लोटती रहती है क्योंकि समस्त ही वस्तुएँ अपने-अपने स्वभाव में नियमरूप हैं – ऐसा माना जाता है; अतः आचार्य कहते हैं कि ऐसा होते हुए भी यह जीव, अपने स्वभाव से चलायमान होकर, आकुल-व्याकुल होकर, **मोही होता हुआ क्यों क्लेशरूप होता है?**

भावार्थ – वस्तु का स्वभाव तो नियमरूप ऐसा है कि किसी भी वस्तु में कोई अन्य वस्तु मिलती नहीं है; फिर भी यह प्राणी, अपने स्वभाव से चलायमान होकर, व्याकुल होकर क्लेशरूप

फेरि, इस ही अर्थ कूं दृढ करनें कूं कहै है।

॥ रथोद्धता ॥

वस्तु चैकमिह नाऽन्यवस्तुनो, येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।
निश्चयोयमपरोऽपरस्य कः, किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि॥ २०॥

॥ अर्थ॥ जातैं या लोक विषै एक वस्तु है सो अन्य वस्तु का नाही है, तिस ही कारण करि वस्तु है सो वस्तु है॥ अैसैं न होय तो वस्तु कै वस्तुपणां न ठहरै, यह निश्चय है॥ अैसैं होतैं अन्य वस्तु है सो अन्य वस्तु कै वाहरि लोटै है, तौऊ ताका कहा करै, किछू भी न करि सकै है॥

॥ भावार्थ॥ वस्तु का स्वभाव तौ अैसा है जो अन्य कोई वस्तु पलटाय न सकै, तव अन्य कै अन्य कहा कीया, किछू भी न कीया॥ जैसैं चेतन वस्तु कै एकक्षेत्र अवगाहरूप पुद्गल तिष्ठै है, तौऊ चेतन का जड करि आपरूप तौ परिणमाय सक्या नाहीं, तव चेतन का कहा कीया, किछू भी न कीया॥ यह निश्चयनय का मत है॥

वहुरि निमित्तनैमित्तिकभाव करि अन्यवस्तु कै परिणाम होय है सो भी तिस वस्तु ही का है, अन्य का कहनां सो व्यवहार है, सो ही कहै है॥

होता है – यह बड़ा अज्ञान है।

पुनः, इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए कहते हैं —

॥ रोला ॥

एक वस्तु हो नहीं कभी भी अन्य वस्तु की,
वस्तु वस्तु की ही है – ऐसा निश्चित जानो।
ऐसा है तो अन्य वस्तु यदि बाहर लोटे,
तो फिर वह क्या कर सकती है अन्य वस्तु का॥ २१३॥

अर्थ – चूँकि इस लोक में एक वस्तु, अन्य वस्तु की नहीं है, इसी कारण से जो वस्तु है, वह वस्तु ही है। यदि ऐसा न हो तो वस्तु का वस्तुपना स्थिर नहीं होता है – यह निश्चय है। यही कारण है कि एक वस्तु, दूसरी वस्तु के बाहर लोटती है; अतः **उसका क्या कर सकती है?** – कुछ भी नहीं कर सकती है।

भावार्थ – वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है कि जिसे अन्य कोई वस्तु पलट नहीं सकती है, तब अन्य का अन्य ने क्या किया? – कुछ भी नहीं किया। जिस प्रकार चेतन वस्तु के एकक्षेत्रावगाह में पुद्गल स्थित रहता है तो भी चेतन को जड़ ने अपनेरूप तो परिणमन कराया नहीं, तब **उसने चेतन का क्या किया?** – कुछ भी नहीं किया। यह निश्चयनय का मत है।

यद्यपि निमित्त-नैमित्तिकभाव से [एक वस्तु के द्वारा] अन्य वस्तु के परिणाम होते हैं, परन्तु वे भी उस वस्तु ही के हैं, अन्य के कहना व्यवहार है; यही कहते हैं —

॥ रथोद्धता ॥

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः, किञ्चनाऽपि परिणामिनः स्वयम्।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं, नाऽन्यदस्ति किमपीह निश्चयात्॥ २१॥

॥ अर्थ ॥ जो कोई वस्तु, अन्य वस्तु कै किछू करै है, अैसा कहिये है सो वस्तु आप परिणामी है, अवस्था तैं अन्य अवस्थारूप होनां, वस्तु का पर्यायस्वभाव है, याही तैं परिणामी कहिये है॥ सो अैसे परिणामी वस्तु कै अन्य के निमित्त तैं परिणाम भया, ताकूं कहै यह अन्य नैं कीया सो यह व्यवहारनय की दृष्टि करि कहिये है। वहुरि निश्चय तैं तौ अन्य किछू कीया है नाही। परिणाम भया सो आप ही का भया, अन्य नैं तौ तामैं किछू भी ल्याय धर्‌या नाही, अैसैं जाननां॥ छ॥

आगैं, इस निश्चयव्यवहारनय के कथन कूं दृष्टांत करि स्पष्ट कहै है॥

जह सेडिया दु ण परस्स, सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स, जाणओ जाणओ सो दु॥ ४९॥

॥ रोला ॥

स्वयं परिणमित एक वस्तु यदि परवस्तु का,
कुछ करती है – ऐसा जो माना जाता है।
वह केवल व्यवहारकथन है निश्चय से तो,
एक-दूसरे का कुछ करना शक्य नहीं है॥ २१४॥

अर्थ – एक वस्तु, अन्य वस्तु का कुछ करती है – ऐसा कहा जाता है, परन्तु वस्तु तो स्वयं परिणामी है; एक अवस्था से अन्य अवस्थारूप होना वस्तु का पर्यायस्वभाव है, इसीलिए उसे परिणामी कहा जाता है। जब ऐसी परिणामी वस्तु में अन्य के निमित्त से परिणाम होते हैं, तब यह कहा जाता है कि यह अन्य ने किया, परन्तु यह व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है, निश्चय से तो अन्य ने कुछ किया ही नहीं है। परिणाम हुआ, वह स्वयं ही का हुआ है; अन्य ने तो उसमें कुछ भी लाकर रखा नहीं है – ऐसा जानना।

अब, इस निश्चय-व्यवहारनय के कथन को दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं —

जह सेडिया दु ण परस्स, सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह जाणगो दु ण परस्स, जाणगो जाणगो सो दु॥ ३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स, सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह पासगो दु ण परस्स, पस्सगो पस्सगो[1] सो दु॥ ३५७॥

---

१. *पस्सगो पस्सगो* – कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ / **पासगो पासगो** – सोनगढ़ प्रकाशन पाठ

जह सेडिया दु ण परस्स, सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह पासओ दु ण परस्स, पासओ पासओ सो दु॥ ५०॥
जह सेडिया दु ण परस्स, सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह संजओ दु ण परस्स, संजओ संजओ सो दु॥ ५१॥
जह सेडिया दु ण परस्स, सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह दंसणं दु ण परस्स, दंसणं दंसणं तं तु॥ ५२॥
एवं तु णिच्छयणयस्स, भासियं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य, वत्तव्वं से समासेण॥ ५३॥
जह परदव्वं सेडदि हु, सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणइ, णाया वि सएण भावेण॥ ५४॥
जह परदव्वं सेडदि हु, सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सइ, जीवो वि सएण भावेण॥ ५५॥

जह सेडिया दु ण परस्स, सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह संजदो दु ण परस्स, संजदो संजदो सो दु॥ ३५८॥
जह सेडिया दु ण परस्स, सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह दसणं दु ण परस्स, दंसणं दसणं तं तु॥ ३५९॥
एवं तु णिच्छयणयस्स, भासिदं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य, वत्तव्वं से समासेण॥ ३६०॥
जह परदव्वं सेडदि, हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणदि, णादा वि सएण भावेण॥ ३६१॥
जह परदव्वं सेडदि, हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सदि, जीवो वि सएण भावेण॥ ३६२॥

जह परदव्वं सेडइ हु, सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहइ, णाया वि सएण भावेण॥ ५६॥
जह परदव्वं सेडइ हु, सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहइ, सम्मदिट्ठी सहावेण॥ ५७॥
एवं ववहारस्स उ, विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिओ अण्णेसु वि, पज्जएसु एमेव णायव्वो॥ ५८॥

॥ दशकं ॥

यथा सेटिका तु न परस्य, सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा ज्ञायकस्तु न परस्य, ज्ञायको ज्ञायकः स तु॥ छ॥
यथा सेटिका तु न परस्य, सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा दर्शकस्तु न परस्य, दर्शको दर्शकः स तु॥ छ॥
यथा सेटिका तु न परस्य, सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा संयतस्तु न परस्य, संयतः संयतः स तु॥ छ॥

जह परदव्वं सेडदि, हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहदि, णादा वि सएण भावेण॥ ३६३॥
जह परदव्वं सेडदि, हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहदि, सम्मादिट्ठी[1] सहावेण॥ ३६४॥
एवं[1] ववहारस्स दु, विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिदो अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो॥ ३६५॥

ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
ज्ञायक नहीं त्यों अन्य का, ज्ञायक अहो ज्ञायक तथा॥ ३५६॥
ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
दर्शक नहीं त्यों अन्य का, दर्शक अहो दर्शक तथा॥ ३५७॥
ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
संयत नहीं त्यों अन्य का, संयत अहो संयत तथा॥ ३५८॥

---

१. *समादिट्ठी* - 'अ' प्रति पाठ

यथा सेटिका तु न परस्य, सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा दर्शनं तु न परस्य, दर्शनं दर्शनं तत्तु॥ छ॥
एवं तु निश्चयनयस्य, भाषितं ज्ञानदर्शनचरित्रे।
शृणु व्यवहारनयस्य च, वक्तव्यं तस्य समासेन॥ छ॥
यथा परद्रव्यं सेटयति, सेटिकाऽत्मनः स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं जानाति, ज्ञाताऽपि स्वकेन भावेन॥ छ॥
यथा परद्रव्यं सेटयति, सेटिकाऽत्मनः स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं पश्यति, जीवोऽपि[१] स्वकेन भावेन॥ छ॥
यथा परद्रव्यं सेटयति, सेटिकाऽत्मनः स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं विजहति, ज्ञाताऽपि स्वकेन भावेन॥ छ॥
यथा परद्रव्यं सेटयति, सेटिकाऽत्मनः स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं श्रद्धते, सम्यग्दृष्टिः स्वभावेन[२]॥ छ॥
एवं व्यवहारस्य तु, विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे।
भणितोऽन्येष्वपि, पर्यायेषु एवमेव[३] ज्ञातव्यः॥ छ॥

ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
दर्शन नहीं त्यों अन्य का, दर्शन अहो दर्शन तथा॥ ३५९॥
यों ज्ञान-दर्शन-चरित विषयक, कथन नय परमार्थ का।
सुन लो वचन संक्षेप से, इस विषय में व्यवहार का॥ ३६०॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
ज्ञाता भी त्यों ही जानता, परद्रव्य को निजभाव से॥ ३६१॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
आत्मा भी त्यों ही देखता, परद्रव्य को निजभाव से॥ ३६२॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
ज्ञाता भी त्यों ही त्यागता, परद्रव्य को निजभाव से॥ ३६३॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
सुदृष्टि त्यों ही श्रद्धता, परद्रव्य को निजभाव से॥ ३६४॥

---

१. *ज्ञातापि* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ
२. *ज्ञातापि स्वकेन भावेन* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ
३. *पर्यायेष्वेमेव* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ जैसैं सेटिका कहिये सुपेदी करनें की कली तथा खडी पांडु आदि[१] द्रव्य है, सो पर जो भींति आदि, ताकी सुपेद करनेंवाली है, यातैं सेटिका नाही है। सेटिका है सो आप ही सेटिका है॥ तैसैं ज्ञायक कहिये जाननेंवाला है सो परद्रव्य का जाननेंवाला है, यातैं ज्ञायक नाही है, आप ही ज्ञायक है॥ छ॥

वहुरि जैसैं सेटिका है सो पर की सेटिका नाही है सो आप ही सेटिका है॥ तैसैं दर्शक कहिये देषनेंवाला है सो पर का देषनेंवाला है, यातैं देषनेंवाला नाही है। आप ही देषनेंवाला है॥ छ॥

वहुरि जैसैं सेटिका है सो पर की सेटिका नाही है, आप ही सेटिका है॥ तैसैं संयत है सो पर कों त्यागैं हैं, यातैं संयत नाही है। आप ही संयत है॥ छ॥

वहुरि जैसैं सेटिका है सो पर की नाही है, सेटिका आप ही सेटिका है॥ तैसैं दर्शन कहिये श्रद्धान है सो पर का श्रद्धान तैं श्रद्धान नाही है। आप ही श्रद्धान है॥ छ॥

अैसैं दर्शन ज्ञान चारित्र विषै निश्चयनय का भाषित है, कह्या वचन है॥ वहुरि तिस व्यवहार का वक्तव्य है सो संक्षेप करि कहिये है, सो सुणूं॥ छ॥

जैसैं सेटिका, अपनें स्वभाव करि परद्रव्य जो भींति आदि तिनिकूं सुपेद करै है॥ तैसैं ज्ञाता कहिये जाननेंवाला है सो परद्रव्य कूं अपनां स्वभाव करि जानैं है॥ छ॥

यों ज्ञान-दर्शन-चरित में, निर्णय कहा व्यवहार का।
अरु अन्य पर्यय विषय में भी, इस प्रकार ही जानना॥ ३६५॥

अर्थ – जिस प्रकार सेटिका अर्थात् सफेदी करनेवाली कलई अर्थात् खड़ी या पाण्डु आदि द्रव्य, किसी पर (अन्य) दीवार आदि को सफेद करनेवाली है, इसलिए कलई नहीं है, कलई तो स्वयं ही कलई है; उसी प्रकार ज्ञायक अर्थात् जाननेवाला, परद्रव्य को जाननेवाला है इसलिए ज्ञायक नहीं है, वह तो स्वयं ही ज्ञायक है॥ ३५६॥

जिस प्रकार कलई, किसी पर की कलई नहीं है, वह तो स्वयं ही कलई है; उसी प्रकार दर्शक अर्थात् देखनेवाला, पर को देखनेवाला है इसलिए देखनेवाला नहीं है, वह तो स्वयं ही देखनेवाला है॥ ३५७॥

जिस प्रकार कलई, किसी पर की कलई नहीं है, वह तो स्वयं ही कलई है; उसी प्रकार संयत, पर को त्यागता है इसलिए संयत नहीं है; वह तो स्वयं ही संयत है॥ ३५८॥

जिस प्रकार कलई, किसी पर की कलई नहीं है, वह तो स्वयं ही कलई है; उसी प्रकार दर्शन अर्थात् श्रद्धान, पर के श्रद्धान के कारण श्रद्धान नहीं हैं, वह तो स्वयं ही श्रद्धान है॥ ३५९॥

इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विषय में निश्चयनय का भाषित अर्थात् उसका कहा गया वचन है और अब व्यवहार का कथन संक्षेप में कहते हैं, उसे सुनो॥ ३६०॥

जिस प्रकार कलई, अपने स्वभाव से परद्रव्य अर्थात् दीवार आदि को सफेद करती है; उसी

---

१. अैसा - 'ब' प्रति पाठ

वहुरि जैसैं सेटिका, अपनें स्वभाव करि परद्रव्य कूं सुपेद करै है, तैसैं ज्ञाता है सो अपनें स्वभाव करि परद्रव्य कूं देषै है॥ छ॥

वहुरि जैसैं सेटिका है सो अपनें स्वभाव करि परद्रव्य कूं सुपेद करै है, तैसैं ज्ञाता भी अपनें स्वभाव करि परद्रव्य कूं त्यागै है॥ छ॥

वहुरि जैसैं सेटिका है सो परद्रव्य कूं अपनें स्वभाव करि सुपेद करै है॥ तैसैं ज्ञाता भी अपनें स्वभाव करि परद्रव्य कूं श्रद्धै है॥ छ॥

अैसैं जो ज्ञान दर्शन चारित्र विषै व्यवहार का विशेष करि निश्चय कह्या है सो ही अन्य पर्यायनि विषै भी अैसैं ही जाननां॥ छ॥

॥ टीका॥ प्रथम ही दृष्टांत कहै है॥ इस लोक विषै सेटिका है सो श्वेतगुण करि भरया द्रव्य है, ताकूं लोक कली षडी पांडू इत्यादि कहैं हैं॥ ताकै व्यवहार करि श्वेत करनें योग्य मंदिर कुटी भींति आदि परद्रव्य हैं॥

अव इहां सेटिका कै अर परद्रव्य कै, दोऊ कै परमार्थ करि संवंध कहा है सो विचारिये है॥

श्वेत करनें योग्य कुटी आदि परद्रव्य है, ताकी श्वेत करनेंवाली सेटिका किछू है कि नाही है॥

जो अैसैं मानिये जो सेटिका कुट्यादि परद्रव्य की है तो अैसा न्याय है जो जाका जो होय सो

प्रकार ज्ञाता अर्थात् जाननेवाला भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को जानता है॥ ३६१॥

जिस प्रकार कलई, अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है; उसी प्रकार ज्ञाता (जीव) भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को देखता है॥ ३६२॥

जिस प्रकार कलई, अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है; उसी प्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को त्यागता है॥ ३६३॥

जिस प्रकार कलई, परद्रव्य को अपने स्वभाव से सफेद करती है; उसी प्रकार ज्ञाता (सम्यग्दृष्टि) भी अपने स्वभाव से परद्रव्य का श्रद्धान करता है॥ ३६४॥

इस प्रकार जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र के विषय में, व्यवहारनय का विशेषरूप से, निर्णय (निश्चय) कहा है, वही अन्य पर्यायों के विषय में भी जानना चाहिए॥ ३६५॥

टीका – प्रथम ही दृष्टान्त कहते हैं – इस लोक में सेटिका (श्वेतिका), श्वेतगुण से भरा द्रव्य है, जिसे लोग कलई, खड़ी, पाण्डु आदि नाम से कहते हैं; व्यवहारनय से उसके द्वारा श्वेत करने योग्य मन्दिर, घर, दीवार आदि परद्रव्य हैं।

अब यहाँ, कलई और परद्रव्य (घर, दीवार आदि), दोनों में परमार्थ से क्या सम्बन्ध है? – इसका विचार करते हैं —

[प्रश्न] – श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत करने योग्य घर, दीवार आदि परद्रव्य की कुछ है या नहीं?

तिसस्वरूप ही होय। जैसैं आत्मा का ज्ञान होता संता आत्मा ही स्वरूप है॥

अैसा परमार्थरूप तत्वसंवंध जीवता विद्यमान होतैं, सेटिका कुटी आदि की होती संती कुटी आदि का स्वरूप होय, तिसतैं न्यारा द्रव्य न होय॥ अैसैं होतैं संतै सेटिका का निजद्रव्य का तौ उच्छेद होय, अभाव होय, कुटी आदिक ही एक द्रव्य ठहरै॥ सो दूसरा द्रव्य का उच्छेद नाही युक्त है, जातैं द्रव्य का अन्य द्रव्य होनां तौ पहलैं ही प्रतिषेधरूप कहि आये हैं, अन्य द्रव्य का पलटि करि अन्य द्रव्य होय नाही॥ तातैं यह निश्चय भया जो सेटिका कुटी आदि परद्रव्य की नाही है॥

इहां पूछे है जो सेटिका कुटी आदि की नाही है तौ कोंन की सेटिका है॥

ताका उत्तर जो सेटिका, सेटिका ही की है॥

तहां फेरि पूछै है जो वह अन्य सेटिका कोंनसी है, जिस सेटिका की यह सेटिका है॥

ताका उत्तर जो सेटिका तैं अन्य दूजी सेटिका तौ नाही है॥

तौ कहा है॥

'सेटिका कै स्वै स्वामी अंश हैं, ते अन्य हैं, यह अन्यपणां है॥'[१]

तहां कहै है जो इहां निश्चयनय कै विषै स्व स्वामि अंश का व्यवहार करि कहा साध्य है।

[उत्तर] – यदि ऐसा माना जाता है कि कलई, घर, दीवार आदि परद्रव्य की है तो यह न्याय है कि 'जिसका जो होता है, वह उसस्वरूप ही होता है'; जैसे ज्ञान, आत्मा का होता हुआ आत्मस्वरूप ही है।

ऐसा परमार्थरूप तात्विक सम्बन्ध, जीवित या विद्यमान होने पर कलई; घर, दीवार आदि की होती हुई घर, दीवार आदि के स्वरूप सिद्ध होती है; उससे भिन्न द्रव्य सिद्ध नहीं होती। ऐसा होने पर कलई के निजद्रव्य का तो उच्छेद होता है, अभाव होता है; घर, दीवार आदिरूप ही एक द्रव्य ठहरता है परन्तु दूसरे द्रव्य का उच्छेद तो युक्त नहीं है क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप होने का तो पहले ही निषेध कह आए हैं कि एक द्रव्य पलट कर अन्य द्रव्य नहीं होता है; अत: यह निश्चित है कि कलई; घर, दीवार आदि परद्रव्य की नहीं है।

यहाँ **प्रश्न** – कलई; घर, दीवार आदि की नहीं है तो कलई किसकी है?

उसका **उत्तर** – कलई, कलई की ही है।

पुनः प्रश्न – वह दूसरी कलई कौनसी है, जिस कलई की यह कलई है?

उसका **उत्तर** – कलई से अन्य दूसरी कलई तो नहीं है।

[पुनः **प्रश्न**] – तो फिर कैसा है?

[उसका **उत्तर**] – कलई के स्व-स्वामी अंश ही अन्य हैं, उनका ही अन्यपना है।

---

१. *'सेटिका कै स्वै स्वामी भाव है सो ये अंश हैं, तिनिकै अन्यपणां है'* - 'ब' प्रति पाठ /
'सेटिका कै अनेक अंश हैं, ते तौ सेटिका कै स्वै हैं अर सेटिका तिनि अंशरूप स्वै का स्वामी है॥ अैसैं अंश अंशी के भेद करि स्व स्वामी भाव है, सो यह अन्यपणां है' - मूल 'अ' प्रति का कटा हुआ अंश

किछू भी नाही॥

तौ यह ठहरी जो सेटिका, अन्य काहू की भी नाही, सेटिका है सो सेटिका ही है॥ अैसा निश्चय है॥

सो जैसैं यह दृष्टांत है, तैसैं ही यह दार्ष्टांतिक अर्थ है॥

तहां इस लोक विषै प्रथम तौ चेतयिता कहिये चेतनेंवाला आत्मा है सो ज्ञानगुण करि भर्‌या है स्वभाव जाका, अैसा द्रव्य है॥ ताकै व्यवहार करि ज्ञेय कहिये जाननें योग्य पुद्गल आदिक परद्रव्य हैं॥

सो इहां तिस आत्मा का अर पुद्गल आदि परद्रव्य, दोऊ का परमार्थ तत्वरूप संबंध विचारिये है॥

जो पुद्गल आदि परद्रव्य (ज्ञेय) हैं, तिनिका चेतयिता (ज्ञायक) आत्मा है कि नाही है॥

तहां जो अैसैं मानिये, चेतयिता आत्मा पुद्गल आदि परद्रव्य का है तौ यह न्याय है, जाका जो होय सो वह सो ही है, अन्य नाही है॥ जैसैं आत्मा का ज्ञान होता संता आत्मा ही है, ज्ञान कछू न्यारा द्रव्य नाही है॥

अैसा तत्व परमार्थरूप संबंध कूं जीवता विद्यमान होतैं, आत्मा पुद्गलादि का होता संता, पुद्गलादिक ही होय, अैसैं होतैं आत्मा का स्वद्रव्य का उच्छेद होय, अभाव होय, पुद्गलद्रव्य ही ठहरै, आत्मा न्यारा द्रव्य न ठहरै सो अैसैं होय नाही, द्रव्य का उच्छेद होय नाही, जातैं अन्य द्रव्य का पलटि

[पुनः **प्रश्न**] – यहाँ निश्चयनय के विषय में स्व-स्वामी अंश के व्यवहार से क्या साध्य है?

[उसका **उत्तर**] – कुछ भी नहीं।

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि कलई, अन्य किसी की भी नहीं है; कलई है, कलई ही है – यह **निश्चय** है।

जिस प्रकार यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार यह दार्ष्टान्त या सिद्धान्त है —

इस लोक में प्रथम तो चेतयिता अर्थात् चेतनेवाला आत्मा, ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है; व्यवहारनय से उसके द्वारा ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पुद्गल आदि, परद्रव्य हैं।

अब यहाँ, उस आत्मा और पुद्गलादि परद्रव्य, दोनों के परमार्थभूत तात्विक सम्बन्ध का विचार करते हैं —

ज्ञायक चेतयिता आत्मा, ज्ञेयभूत पुद्गल आदि परद्रव्य का है या नहीं?

वहाँ यदि ऐसा माना जाता है कि चेतयिता आत्मा, पुद्गल आदि परद्रव्य का है तो यह न्याय है कि 'जिसका जो होता है, वह वही होता है, अन्य नहीं'; जैसे ज्ञान, आत्मा का होता हुआ आत्मा ही है, ज्ञान कोई अन्य द्रव्य नहीं है।

ऐसा परमार्थभूत तात्त्विक सम्बन्ध जीवित या विद्यमान होने पर [चेतयिता] आत्मा; पुद्गल आदि का होता हुआ, पुद्गल आदि ही हो जाता है – ऐसा होने पर आत्मा के स्वद्रव्य का उच्छेद होता है, अभाव होता है, [केवल] पुद्गलद्रव्य ही सिद्ध होता है; आत्मा, अलग द्रव्य सिद्ध नहीं होता

करि, अन्य होनें का प्रतिषेध तौ पहलैं ही कहि आये हैं, तातैं चेतयिता आत्मा, पुद्गलादिक परद्रव्य का नाही होय है॥

तहां पूछै है जो चेतयिता आत्मा पुद्गलादि परद्रव्य का नाही है तो कोंनका है॥

ताका उत्तर जो चेतयिता ही का चेतयिता है॥

तहां फेरि पूछै है जो वह दूसरा चेतयिता कोंनसा है, जाका यह चेतयिता है॥

ताका उत्तर जो चेतयिता तैं अन्य दूजा चेतयिता तौ नाही है॥

तौ कहा है॥

तहां कहै है जो स्वै स्वामि अंश हैं, 'ते अन्य हैं॥'[१]

तहां कहे है, इहां निश्चयनय विषै स्वै स्वामि अंश का व्यवहार करि कहा साध्य है।

किछू भी नाही॥

तातैं यह ठहरी जो ज्ञायक है सो निश्चय करि अन्य काहू का नाही है, ज्ञायक है सो ज्ञायक ही है, अैसा निश्चय है॥ छ॥

अब, जैसैं ज्ञायक दृष्टांत दार्ष्टांत करि कह्या, तैसैं ही दर्शक कूं कहै है॥

है परन्तु ऐसा होता नहीं है अर्थात् द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं है क्योंकि एक द्रव्य पलट कर दूसरे द्रव्यरूप होने का निषेध तो पहले ही कह आये हैं; अत: चेतयिता आत्मा, पुद्गल आदि परद्रव्यों का नहीं है।

यहाँ **प्रश्न** – चेतयिता आत्मा, पुद्गल आदि परद्रव्य का नहीं है तो किसका है?

उसका **उत्तर** – चेतयिता, चेतयिता का ही है।

पुन: **प्रश्न** – वह दूसरा चेतयिता कौनसा है, जिसका यह चेतयिता है?

उसका **उत्तर** – चेतयिता से अन्य दूसरा चेतयिता तो नहीं है।

[पुन: **प्रश्न**] – तो फिर कैसा है?

[उसका **उत्तर**] – [चेतयिता आत्मा के] स्व-स्वामी अंश ही अन्य हैं।

[पुन: **प्रश्न**] – यहाँ निश्चयनय के विषय में स्व-स्वामी अंश के व्यवहार से क्या साध्य है?

[उसका **उत्तर**] – कुछ भी नहीं।

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि निश्चय से ज्ञायक अन्य किसी का नहीं है; ज्ञायक है, वह ज्ञायक ही है – यह **निश्चय** है।

अब, जिस प्रकार यहाँ दृष्टान्त-दार्ष्टान्त के द्वारा ज्ञायक का कथन किया; उसी प्रकार दर्शक का कथन करते हैं —

---

१. *'ते अन्य अन्य कहिये है'* - 'ब' प्रति में पाठ।

तहां सेटिका है सो प्रथम तौ श्वेतगुण करि भर्‍या है स्वभाव जाका, अैसा द्रव्य है। ताकै व्यवहार करि श्वेत करनें योग्य कुटी आदि परद्रव्य है॥

सो सेटिका अर कुटी आदि परद्रव्य का, इहां दोऊ का परमार्थ तत्वरूप संवंध विचारिये है।

जो श्वेत करनें योग्य कुटी आदि परद्रव्य का श्वेत करनेंवाली सेटिका है कि नाही है॥ तहां जो सेटिका कुट्यादिक की है, अैसैं मानिये तौ यह न्याय है जो जाका जो होय सो वह ही है, अन्य नाही॥ जैसैं आत्मा का ज्ञान होता संता आत्मा ही है।

अैसा परमार्थरूप संवंध कूं जीवता विद्यमान होतैं, सेटिका कुटी आदि की होती संती कुटी आदिक ही होय। अैसैं होतैं सेटिका का स्वद्रव्य का उच्छेद होय॥ सो द्रव्य का उच्छेद होय नाही, जातैं द्रव्य का अन्य द्रव्य पलटि करि होनें का पहलैं ही निषेध करि आये हैं॥ तातैं सेटिका कुटी आदिक की नाही है॥

इहां पूछै है जो सेटिका कुट्यादि की नाही है तौ कोंनकी है॥

ताका उत्तर जो सेटिका सेटिका ही की है॥

फेरि पूछै है, वह दूजी सेटिका कोंनसी है, जाकी यह सेटिका है॥

ताका उत्तर जो अन्य दूजी सेटिका तौ नाही है, जाकी यह सेटिका होय॥

तौ कहा है॥

प्रथम तो कलई श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है, व्यवहारनय से उसके द्वारा श्वेत करने योग्य घर, दीवार आदि परद्रव्य हैं।

अब, यहाँ कलई और घर आदि परद्रव्य, दोनों के परमार्थभूत तात्विक सम्बन्ध का विचार करते हैं —

[**प्रश्न**] — श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत करने योग्य घर आदि परद्रव्यों की है या नहीं?

[**उत्तर**] — वहाँ यदि कलई, घर, दीवार आदि की है - ऐसा माना जाता है तो यह न्याय है कि 'जिसका जो होता है, वह वही है, अन्य नहीं'; जैसे ज्ञान, आत्मा का होता हुआ आत्मा ही है।

ऐसा परमार्थरूप सम्बन्ध, या जीवित विद्यमान होने पर कलई, घर, दीवार आदि की होती हुई घर, दीवार आदि के स्वरूप ही सिद्ध होती है। ऐसा होने पर कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद होता है परन्तु द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं है क्योंकि एक द्रव्य का पलट कर, दूसरे द्रव्यरूप होने का पहले ही निषेध कर आए हैं; अतः यह निश्चित है कलई, घर, दीवार आदि की नहीं है।

यहाँ **प्रश्न** — कलई; घर, दीवार आदि की नहीं है तो किसकी है?

उसका **उत्तर** — कलई, कलई की ही है।

पुनः **प्रश्न** — वह दूसरी कलई कौनसी है, जिसकी यह कलई है?

उसका **उत्तर** — अन्य दूसरी कलई तो नहीं है, जिसकी यह कलई है।

स्वै स्वामि अंश ही अन्य हैं।

तहां कहै है, इहां निश्चयनय विषै स्वै स्वामि अंश के व्यवहार करि कहा साध्य है॥

किछू भी नाही॥

तौ यह ठहरी जो सेटिका काहू की भी नाही॥ सेटिका है सो सेटिका ही है॥ अैसा निश्चय है॥

जैसैं यह दृष्टांत है, तैसैं यह दार्ष्टांतिक अर्थ है॥

जो इहां चेतयिता आत्मा, प्रथम ही दर्शनगुण करि भर्या है स्वभाव जाका, अैसा द्रव्य है॥ ताकै व्यवहार करि देषनें योग्य पुद्गल आदि परद्रव्य हैं॥

अव इहां दोऊ का परमार्थभूत तत्वरूप संवंध विचारिये है।

जो पुद्गल आदि परद्रव्य (दृश्य) है, ताका चेतयिता (दर्शक) है कि नाही है॥

जो चेतयिता पुद्गलद्रव्यादि का है, अैसैं मानिये तौ यह न्याय है, जो[१] जाका होय सो वह सो ही है, अन्य नाही है॥ जैसैं आत्मा का ज्ञान होता संता आत्मा ही है, ज्ञान न्यारा द्रव्य नाही है॥

अैसा तत्वसंवंध कूं जीवता विद्यमान होतैं चेतयिता पुद्गलद्रव्य आदि का होता संता पुद्गल आदिक ही होय, न्यारा द्रव्य न होय॥ अैसैं होतैं चेतयिता का स्वद्रव्य का उच्छेद होय, नाश होय॥ सो द्रव्य

[पुनः **प्रश्न**] – तो फिर कैसा है?

[उसका **उत्तर**] – [कलई के] स्व-स्वामी अंश ही अन्य हैं।

[पुनः **प्रश्न**] – यहाँ निश्चयनय के विषय में स्व-स्वामी अंश के व्यवहार से क्या साध्य है?

[उसका **उत्तर**] – कुछ भी नहीं।

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि कलई, अन्य किसी की भी नहीं है; कलई, कलई ही है – यह **निश्चय** है।

जिस प्रकार यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार यह दार्ष्टान्तिक (सैद्धान्तिक) अर्थ है –

इस लोक में प्रथम तो चेतयिता आत्मा, दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। व्यवहारनय से उसके द्वारा देखने योग्य पुद्गल आदि परद्रव्य हैं।

अब यहाँ, दोनों के परमार्थभूत तात्त्विक सम्बन्ध का विचार करते हैं –

[प्रश्न] – चेतयिता (दर्शक) पुद्गल आदि परद्रव्य (दृश्य) है या नहीं?

[उत्तर] – चेतयिता, पुद्गल आदि परद्रव्यों का (दर्शक) है – ऐसा यदि माना जाता है तो यह न्याय है कि 'जिसका जो होता है, वह वही है, अन्य नहीं है'; जैसे ज्ञान, आत्मा का होता हुआ आत्मा ही है, ज्ञान कोई अन्य द्रव्य नहीं है।

ऐसा [परमार्थभूत] तात्त्विक सम्बन्ध, जीवित या विद्यमान होने पर चेतयिता (दर्शक), पुद्गलद्रव्य

---

१. *जो जो* - 'अ' प्रति पाठ

का उच्छेद होय नाहीं, जातैं अन्य द्रव्य का पलटि करि अन्य द्रव्य होनें का पहलैं ही निषेध कहि आये हैं॥ तातैं यह ठहरी जो चेतयिता पुद्गलद्रव्य आदि का नाही है॥

तहां पूछै है जो चेतयिता पुद्गलद्रव्यादिक का नाही तौ कोंनका है॥

ताका उत्तर जो चेतयिता का ही चेतयिता है॥

फेरि पूछै है वह दूजा चेतयिता कोंनसा है, जाका यह चेतयिता होय है॥

ताका उत्तर जो चेतयिता तैं अन्य तौ चेतयिता नाही है॥

तौ कहा है॥

स्वै स्वामि अंश ही अन्य हैं।

तहां कहै है, इहां निश्चयनय विषै स्वै स्वामि अंश का व्यवहार करि कहा साध्य है॥

किछू भी नाही॥

तौ यह ठहरी जो चेतयिता कोई का भी दर्शक नाही॥ दर्शक है सो दर्शक ही है॥ यह निश्चय है॥ छ॥

अब तैसैं ही चारित्र कूं कहै है॥

तहां जैसैं सेटिका है सो प्रथम ही श्वेतगुण करि भर्या है स्वभाव जाका, अैसा द्रव्य है॥ ताकै

आदि का होता हुआ पुद्गलादि ही हो जाता है; भिन्न द्रव्य नहीं रहता है – ऐसा होने पर चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद होता है, नाश होता है, लेकिन द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं है क्योंकि एक द्रव्य पलट कर दूसरे द्रव्यरूप होने का निषेध पहले ही कह आए हैं; अत: यह निश्चित हुआ कि चेतयिता, पुद्गलद्रव्य आदि का नहीं है।

यहाँ **प्रश्न** – चेतयिता, पुद्गलद्रव्य आदि का नहीं है तो किसका है?

उसका **उत्तर** – चेतयिता, चेतयिता का ही है।

पुन: **प्रश्न** – वह दूसरा चेतयिता कौनसा है, जिसका यह चेतयिता है?

उसका **उत्तर** – चेतयिता से अन्य दूसरा चेतयिता तो नहीं है।

[पुन: **प्रश्न**] – तो फिर कैसा है?

[उसका **उत्तर**] – स्व-स्वामी अंश ही अन्य हैं।

[पुन: **प्रश्न**] – यहाँ निश्चयनय के विषय में स्व-स्वामी अंश के व्यवहार से क्या साध्य है?

[उसका **उत्तर**] – कुछ भी साध्य नहीं है।

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि चेतयिता [अन्य] किसी का भी दर्शक नहीं है; दर्शक तो दर्शक ही है – यह **निश्चय** है।

अब, इसी प्रकार चारित्र का कथन करते हैं –

व्यवहार करि श्वेत करनें योग्य कुटी आदि परद्रव्य हैं॥

अव इहां दोऊ कै परमार्थ करि संवंध विचारिये है।

श्वेत करनें योग्य कुटी आदि परद्रव्य हैं, ताकी श्वेत करनेंवाली सेटिका है कि नाही है॥

तहां जो सेटिका कुटी आदि की है, अैसैं मानिये तौ यह न्याय है, जो जाका होय सो वह सो ही है, अन्य नाही है। जैसैं आत्मा का ज्ञान होता संता आत्मा ही है, अन्य न्यारा द्रव्य नाही है॥

अैसा परमार्थरूप तत्वसंवंध कूं जीवता विद्यमान होतैं सेटिका कुटी आदि की होती संती कुटी आदि ही होय, अैसैं होतैं सेटिका का स्वद्रव्य का उच्छेद होय॥ सो द्रव्य का उच्छेद होय नाही॥ जातैं अन्य द्रव्य का पलटि करि अन्य द्रव्य होनें का पहलैं प्रतिषेध करि आये हैं॥ तातैं सेटिका, कुट्यादिक की नाही है॥

तहां पूछै है जो सेटिका कुट्यादि की नाही है तौ कोंनकी है॥

ताका उत्तर, सेटिका ही की सेटिका है॥

फेरि पूछै है, वह दूजी सेटिका कोंनसी है, जाकी यह सेटिका है॥

ताका उत्तर जो इस सेटिका तैं अन्य सेटिका तौ नाही है॥

तौ कहा है॥

प्रथम ही कलई श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। व्यवहारनय से उसके द्वारा श्वेत करने योग्य घर, दीवार आदि परद्रव्य हैं।

अब, यहाँ दोनों के परमार्थभूत सम्बन्ध का विचार करते हैं —

[प्रश्न] — श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत करने योग्य घर, दीवार आदि परद्रव्य की है या नहीं है?

[उत्तर] — वहाँ, यदि कलई, घर दीवार आदि की है — ऐसा माना जाता है तो यह न्याय है कि 'जिसका जो होता है, वह वही है, अन्य नहीं'; जैसे ज्ञान, आत्मा का होता हुआ आत्मा ही है, अन्य भिन्न द्रव्य नहीं हैं।

ऐसा परमार्थभूत तात्त्विक सम्बन्ध, जीवित या विद्यमान होने पर कलई, घर आदि की होती हुई, घर आदि के स्वरूप ही सिद्ध होती है। ऐसा होने पर कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद होता है परन्तु द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं है क्योंकि एक द्रव्य का पलट कर दूसरे द्रव्यरूप होने का पहले ही निषेध कर आए हैं; अत: यह निश्चित है कि कलई, घर दीवार आदि की नहीं है।

यहाँ **प्रश्न** — कलई, घर आदि की नहीं है तो किसकी है?

उसका **उत्तर** — कलई, कलई की ही है।

पुन: **प्रश्न** — वह दूसरी कलई कौनसी है, जिसकी यह कलई है?

उसका **उत्तर** — इस कलई से अन्य दूसरी कलई तो है नहीं।

स्वै स्वामि अंश हैं, ते ही अन्य हैं॥

तहां कहै है, स्व स्वामि अंश करि निश्चयनय विषै कहा साध्य है।

किछू भी नाही॥

तौ यह ठहरी जो सेटिका अन्य काहू की भी नाही है, सेटिका है सो सेटिका ही है॥ अैसा निश्चय है॥

जैसैं यह दृष्टांत है, तैसैं दार्ष्टांतिक अर्थ है॥

जो चेतयिता आत्मा है, सो प्रथम ही ज्ञान दर्शन गुण करि भर्‌या पर का त्यागरूप है स्वभाव जाका, अैसा द्रव्य है॥ ताकै व्यवहार करि त्यागनें योग्य पुद्गल आदि परद्रव्य हैं॥

अव इहां दोऊ कै परमार्थ तत्वरूप संवंध विचारिये है।

त्यागनें योग्य जो पुद्गल आदि परद्रव्य, ताका त्यागनेंवाला चेतयिता है कि नाही है॥

जो चेतयिता पुद्गल आदि परद्रव्य का है, अैसैं मानिये तौ यह न्याय है, जो जाका जो होय सो वह सो ही है। जैसैं आत्मा का ज्ञान होता संता आत्मा ही है, अन्य न्यारा द्रव्य नाही॥

अैसा तत्वसंवंध जीवता विद्यमान होतैं चेतयिता पुद्गल आदि का होता संता पुद्गलादिक ही होय। अैसैं होतैं चेतयिता का स्वद्रव्य का उच्छेद होय॥ सो द्रव्य का उच्छेद होय नाही, जातैं अन्यद्रव्य

[पुनः **प्रश्न**] – तो फिर कैसा है?

[उसका **उत्तर**] – स्व-स्वामी अंश ही अन्य हैं।

[पुनः **प्रश्न**] – स्व-स्वामी अंश के व्यवहार से निश्चयनय के विषय में क्या साध्य है?

[उसका **उत्तर**] – कुछ भी नहीं।

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि कलई, अन्य किसी की भी नहीं है; कलई, कलई ही है – ऐसा **निश्चय** है।

जिस प्रकार यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार दार्ष्टान्तिक (सैद्धान्तिक) अर्थ है —

प्रथम ही चेतयिता आत्मा, ज्ञान-दर्शनगुण से परिपूर्ण पर के त्यागरूप स्वभाववाला द्रव्य है। व्यवहार से उसके द्वारा त्याग करने योग्य पुद्गल आदि परद्रव्य हैं।

अब, यहाँ दोनों के परमार्थभूत तात्त्विक सम्बन्ध का विचार करते हैं —

[प्रश्न] – त्याग करनेवाला चेतयिता, त्याग करने योग्य पुद्गल आदि परद्रव्य का है या नहीं?

[उत्तर] – चेतयिता, पुद्गल आदि परद्रव्य का है – ऐसा यदि माना जाता है तो यह न्याय है कि 'जिसका जो होता है, वह वही है'; जैसे ज्ञान, आत्मा का होता हुआ आत्मा ही है, वह कोई अन्य भिन्न द्रव्य नहीं है।

ऐसा [परमार्थभूत] तात्त्विक सम्बन्ध, जीवित या विद्यमान होने पर चेतयिता, पुद्गल आदि का होता हुआ पुद्गल आदि ही हो जाता है – ऐसा होने पर चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद होता है

का पलटि करि अन्य द्रव्य होनें का प्रतिषेध पहलैं ही करि आये हैं॥ तातैं चेतयिता पुद्गलादिक का न होय है॥

इहां पूछै है जो चेतयिता पुद्गल आदि का नाही है, तौ कोंनका चेतयिता है॥

ताका उत्तर जो चेतयिता का ही चेतयिता है॥

तहां फेरि पूछै है, वह दूजा चेतयिता कोंनसा है, जाका यह चेतयिता है॥

ताका उत्तर जो चेतयिता तैं अन्य चेतयिता तौ नाही है॥

तौ कहा है॥

स्वै स्वामि अंश ही अन्य हैं॥

तहां कहै है, इहां निश्चयनय विषै स्वै स्वामि अंश का व्यवहार करि कहा साध्य है॥

किछू भी नाही॥

तौ यह ठहरी॥ जो त्यागनेंवाला अपोहक है सो काहू का भी अपोहक नाही, अपोहक है सो अपोहक ही है॥ अैसा निश्चय है॥ छ॥

अव व्यवहार कूं कहै है॥

जैसैं सो ही सेटिका श्वेतगुण करि भरया है स्वभाव जाका सो आप कुटी आदि परद्रव्य के स्वभाव करि न परिणमती संती वहुरि कुट्यादिक परद्रव्य कूं आपके स्वभाव करि नाही परिणमावती

लेकिन द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं है क्योंकि एक द्रव्य पलट कर दूसरे द्रव्यरूप होने का निषेध पहले ही कर आए हैं; अतः चेतयिता, पुद्गलादि का नहीं है।

यहाँ **प्रश्न** – चेतयिता, पुद्गल आदि का नहीं है तो किसका है?

उसका **उत्तर** – चेतयिता, चेतयिता का ही है।

पुनः **प्रश्न** – वह दूसरा चेतयिता कौनसा है, जिसका यह चेतयिता है?

उत्तर – चेतयिता से अन्य, दूसरा चेतयिता तो है नहीं।

[पुनः **प्रश्न**] – तो फिर कौन है?

[उसका **उत्तर**] – स्व-स्वामी अंश ही अन्य हैं।

[पुनः **प्रश्न**] – यहाँ निश्चयनय के विषय में स्व-स्वामी अंश के व्यवहार से क्या साध्य है?

[उसका **उत्तर**] – कुछ भी नहीं।

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि त्यागनेवाला अपोहक, अन्य किसी का भी अपोहक नहीं है; अपोहक, अपोहक ही है – यह **निश्चय** है।

अब, व्यवहार का कथन करते हैं [वहाँ, सर्व प्रथम ज्ञानगुण का व्यवहार बताते हैं] —

जिस प्रकार वही श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली कलई; स्वयं घर, दीवार आदि परद्रव्य के

संती, कुट्यादि परद्रव्य है निमित्त जाकूं, अैसा अपनां श्वेतगुण करि भर्‍या स्वभाव का परिणाम करि उपजती संती कुट्यादि परद्रव्य कूं आपके स्वभाव करि सुपेद करै है।

कैसा है परद्रव्य॥ सेटिका है निमित्त जाकूं अैसा अपनां स्वभाव का परिणाम करि उपजता संता है, ताकूं श्वेत करै है॥ अैसा व्यवहार कीजिये है॥

तैसैं चेतयिता आत्मा भी ज्ञानगुण करि भर्‍या है स्वभाव जाका, अैसा है॥ सो स्वयं आप तौ पुद्गल आदि परद्रव्य के स्वभाव करि न परिणमता संता है॥ अर पुद्गल आदि परद्रव्य कूं आपके स्वभाव करि नाही परिणमावता संता है॥ वहुरि पुद्गल आदि परद्रव्य है निमित्त जाकूं, अैसा अपनां ज्ञानगुण करि भर्‍या स्वभाव, ताका परिणाम करि उपजता संता है सो पुद्गलादि परद्रव्य, चेतयिता जाकूं निमित्त अैसा अपनां स्वभाव का परिणाम करि उपजता संता है, ताकूं अपनें[१] स्वभाव करि जानैं है, अैसा व्यवहार कीजिये है॥ अैसैं तौ ज्ञान का व्यवहार है।

वहुरि दर्शनगुण का व्यवहार कहै है॥

जैसैं सो ही सेटिका श्वेतगुण करि भर्‍या है स्वभाव जाका, अैसी है॥ सो आप स्वयं कुट्यादि परद्रव्य के स्वभाव करि तौ न परिणमती संती है॥ अर कुट्यादि परद्रव्य कूं अपनें स्वभाव करि नाही परिणमावती संती है॥ अर कुट्यादि परद्रव्य है निमित्त जाकूं, अैसा श्वेतगुण करि भर्‍या अपनां स्वभाव, ताका परिणाम करि उपजती संती है॥ सो कुट्यादिक परद्रव्य, सेटिका है निमित्त जाकूं अैसा

स्वभावरूप परिणमित नहीं होती है और घर, दीवार आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमाती नहीं है; फिर भी घर, दीवार आदि परद्रव्य हैं निमित्त जिसमें, ऐसे अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होती हुई घर, दीवार आदि परद्रव्यों को अपने स्वभाव से सफेद करती है।

कैसा है परद्रव्य? – कलई, जिसमें निमित्त है, ऐसे अपने स्वभाव के परिणाम से जो उत्पन्न हुआ है, उसे श्वेत करती है – ऐसा व्यवहार है।

उसी प्रकार चेतयिता आत्मा भी ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला है। वह स्वयमेव तो पुद्गल आदि परद्रव्य के स्वभावरूप तो परिणमता नहीं है और पुद्गल आदि परद्रव्यों को भी अपने स्वभावरूप परिणमाता नहीं है लेकिन चेतयिता आत्मा, पुद्गल आदि परद्रव्य हैं निमित्त जिसमें, ऐसे अपने ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होता है और पुद्गल आदि परद्रव्य भी, चेतयिता है निमित्त जिसमें, ऐसे अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होता है, उसे अपने स्वभाव से जानता है – ऐसा व्यवहार अर्थात् ज्ञान का व्यवहार है।

अब, दर्शनगुण का व्यवहार बताते हैं —

जिस प्रकार वही श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली कलई; स्वयं घर, दीवार आदि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित नहीं होती है और घर, दीवार आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमाती नहीं है; फिर भी घर, दीवार आदि परद्रव्य हैं निमित्त जिसमें, ऐसे श्वेतगुण से परिपूर्ण अपने स्वभाव

---

१. *आपनें* – 'अ' प्रति पाठ।

अपनां स्वभाव का परिणाम करि उपजता संता है, ताकूं अपनें स्वभाव करि सुपेद करै है, अैसा व्यवहार कीजिये है॥

तैसैं चेतयिता है सो दर्शनगुण करि भर्‌या है स्वभाव जाका, अैसा है। सो स्वयं आप तौ पुद्गलादि परद्रव्य का स्वभाव करि न परिणमता संता है॥ वहुरि पुद्गल आदि परद्रव्य कूं अपनें स्वभाव करि नाही परिणमावता संता है॥ अर पुद्गल आदि परद्रव्य हैं निमित्त जाकूं, अैसा अपनां दर्शनगुण करि भर्‌या स्वभाव का परिणाम, ता करि उपजता संता है सो पुद्गल आदि परद्रव्य कूं, चेतयिता है निमित्त जाकूं, अैसा अपनां स्वभाव का परिणाम करि उपजता संता कूं अपनां स्वभाव करि देषै है, अैसा व्यवहार कीजिये है॥ अैसैं दर्शनगुण का व्यवहार है॥ छ॥

अर चारित्र का व्यवहार कहै है॥

जैसैं सो ही सेटिका श्वेतगुण करि भर्‌या है स्वभाव जाका, अैसी है॥ सो आप स्वयं कुट्यादि परद्रव्य के स्वभाव करि न परिणमती संती है॥ वहुरि कुट्यादि परद्रव्य कूं अपनें स्वभाव करि नाही परिणमावती संती है॥ अर कुट्यादि परद्रव्य हैं निमित्त जाकूं, अैसा श्वेतगुण करि भर्‌या अपनां स्वभाव, ताका परिणाम करि उपजती संती है सो कुट्यादि परद्रव्य कूं, सेटिका है निमित्त जाकूं, अैसा अपनां स्वभाव का परिणाम करि उपजता कूं, सेटिका अपनें स्वभाव करि श्वेत करै है, अैसा व्यवहार कीजिये है॥

तैसैं चेतयिता आत्मा भी ज्ञानदर्शनगुण करि भर्‌या, पर के अपोहन कहिये त्याग, तिसरूप स्वभाव

के परिणाम से उत्पन्न होती है, वह कलई; घर, दीवार आदि परद्रव्यों को, कलई है निमित्त जिसमें, ऐसे अपने स्वभाव के परिणाम से जो उत्पन्न होते हैं, उन्हें अपने स्वभाव से सफेद करती है – ऐसा व्यवहार है।

उसी प्रकार चेतयिता आत्मा भी दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला है। वह स्वयमेव तो पुद्गल आदि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमता नहीं है और पुद्गल आदि परद्रव्यों को भी अपने स्वभावरूप परिणमाता नहीं है लेकिन चेतयिता आत्मा, पुद्गल आदि परद्रव्य हैं निमित्त जिसमें, ऐसे अपने दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होता है और पुद्गल आदि परद्रव्य भी, चेतयिता है निमित्त जिसमें, ऐसे अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होता है, उसे स्वयं अपने स्वभाव से देखता है – ऐसा व्यवहार अर्थात् दर्शनगुण का व्यवहार है।

अब, चारित्र [गुण] का व्यवहार बताते हैं —

जिस प्रकार वही श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली कलई; स्वयं घर, दीवार आदि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित नहीं होती है और घर, दीवार आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमाती नहीं है; फिर भी घर, दीवार आदि परद्रव्य हैं निमित्त जिसमें, ऐसे श्वेतगुण से परिपूर्ण अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होती है, वह कलई; घर, दीवार आदि परद्रव्यों को, कलई है निमित्त जिसमें, ऐसे अपने स्वभाव के परिणाम से जो उत्पन्न हैं, उन्हें अपने स्वयं के स्वभाव से सफेद करती है – ऐसा व्यवहार है।

है सो स्वयं आप पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभाव करि न परिणमता संता है॥ वहुरि पुद्गलादि परद्रव्य कूं अपनें स्वभाव करि नाही परिणमावता संता है॥ अर पुद्गल आदि परद्रव्य है निमित्त जाकूं, अैसा अपनां ज्ञानदर्शनगुण करि भरया पर के त्याग करनेंरूप स्वभाव के परिणाम करि उपजता संता है सो चेतयिता है निमित्त जाकूं, अैसा अपनां स्वभाव का परिणाम करि उपजता जो पुद्गलादि परद्रव्य, ताकूं अपनें स्वभाव करि त्यागै है॥ अैसा व्यवहार कीजिये है॥

अैसैं यह आत्मा कै ज्ञान दर्शन चारित्र, तेई भये पर्याय तिनिका निश्चयव्यवहार का प्रकार है॥ छ॥ अैसैं ही अन्य भी जे केई पर्याय हैं, तिनि सर्व ही पर्यायनि का निश्चयव्यवहार जाननां॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ आत्मा का शुद्धनय करि एक चेतनामात्र स्वभाव है, ताके परिणाम देषनां, जाननां, श्रद्धनां, परद्रव्य तैं निवृत्त होनां है। तहां निश्चयनय करि विचारिये, तव आत्मा परद्रव्य का ज्ञायक न कहिये, दर्शक न कहिये, श्रद्धान करनेंवाला न कहिये, त्याग करनेंवाला न कहिये, जातैं परद्रव्य कै अर आत्मा कै निश्चय करि किछू भी संवंध नाही है।

जो ज्ञाता, दृष्टा, श्रद्धान करनेंवाला, त्याग करनेंवाला, ए सर्व भाव हैं सो आप ही है। भाव भावी का भेद करि कहनां सो भी व्यवहार है॥ अर परद्रव्य का ज्ञाता, दृष्टा, श्रद्धान करनेंवाला, त्याग करनेंवाला कहिये है सो भी व्यवहारनय करि कहिये है, जातैं परद्रव्य कै अर आत्मा कै निमित्तनैमित्तिकभाव है सो पर के निमित्त तैं किछू भाव भये देषि व्यवहारीजन कहै है जो परद्रव्य कूं जानैं हैं, परद्रव्य कूं देषै है, परद्रव्य का श्रद्धान करै है, परद्रव्य कूं त्यागै है, अैसैं निश्चयव्यवहार

उसी प्रकार चेतायिता आत्मा भी ज्ञान-दर्शनगुण से परिपूर्ण पर के अपोहन अर्थात् त्यागरूप स्वभाववाला है। वह स्वयमेव पुद्गल आदि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमता नहीं है और पुद्गल आदि परद्रव्यों को भी अपने स्वभावरूप परिणमाता नहीं है लेकिन चेतयिता आत्मा, पुद्गल आदि परद्रव्य हैं निमित्त जिसमें, ऐसे अपने ज्ञान-दर्शनगुण से परिपूर्ण, पर के त्याग करनेरूप स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होता है और पुद्गल आदि परद्रव्य भी, चेतयिता है निमित्त जिसमें, ऐसे अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न अपने स्वभाव से त्यागता है — ऐसा चारित्र का व्यवहार हैं।

इस प्रकार इस आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप पर्यायों के निश्चय-व्यवहार का प्रकार है। इसी प्रकार अन्य जो भी अनेक पर्यायें हैं, उन सभी पर्यायों का निश्चय-व्यवहार जानना।

भावार्थ — शुद्धनय से आत्मा का एक चेतनामात्र स्वभाव है; उसके परिणाम देखना, जानना, श्रद्धान करना, परद्रव्य से निवृत्त होना हैं। जब निश्चयनय से विचार करते हैं तो आत्मा परद्रव्य का ज्ञायक नहीं कहा जाता, दर्शक नहीं कहा जाता, श्रद्धान करनेवाला नहीं कहा जाता, त्याग करनेवाला नहीं कहा जाता क्योंकि परद्रव्य और आत्मा में निश्चय से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

ज्ञाता, द्रष्टा, श्रद्धान करनेवाला, त्याग करनेवाला आदि सर्व भावरूप आत्मा स्वयं ही है। भाव-भाववान् का भेद करके कथन करना भी व्यवहार है। आत्मा को परद्रव्य का ज्ञाता, द्रष्टा, श्रद्धान करनेवाला, त्याग करनेवाला आदि कहते हैं, वह भी व्यवहार से ही कहते हैं क्योंकि परद्रव्य और आत्मा में निमित्त-नैमित्तिकभाव है; अत: पर के निमित्त से होते हुए कुछ भावों को देख कर व्यवहारीजन

का प्रकार जानि यथावत् श्रद्धान करनां॥ छ॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

शुद्धद्रव्यनिरूपणाऽर्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो,
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि, द्रव्याऽन्तरं जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं, शुद्धस्वभावोदयः,
किं द्रव्याऽन्तरचुम्बनाऽकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः॥ २२॥

॥ अर्थ॥ आचार्य कहै है जो शुद्धनय के निरूपण विषै लगाई है वुद्धि जानै, वहुरि तत्व कूं अनुभवता है, अैसा पुरुष कै एक द्रव्य विषै प्राप्त भया अन्य द्रव्य किछू भी कदाचित् न प्रतिभासै है॥ वहुरि ज्ञान है सो अन्य ज्ञेयपदार्थ कूं जानैं है सो यह ज्ञान के शुद्धस्वभाव का उदय है सो यह जन लोक हैं, ते अन्य द्रव्य के ग्रहण विषै आकुल है वुद्धि जिनिकी, अैसैं भये संते शुद्धस्वरूप तैं क्यौं चिगैं हैं॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ शुद्धनय की दृष्टि करि तत्व का स्वरूप विचारतैं, अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य विषै प्रवेश नाही दीषै है अर ज्ञान विषै अन्य द्रव्य प्रतिभासै है सो यह ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है, किछू ज्ञान तिनिकूं ग्रहण न कीये हैं॥ अर यह लोक अन्य द्रव्य का ज्ञान विषै प्रतिभास देषि अर अपनें

कहते हैं कि आत्मा, परद्रव्य को जानता है, परद्रव्य को देखता है, परद्रव्य का श्रद्धान करता है, परद्रव्य को त्यागता है – ऐसा निश्चय-व्यवहार का स्वरूप जान कर यथावत् श्रद्धान करना।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

एक द्रव्य में अन्य द्रव्य रहता हो – ऐसा,
भासित कभी नहीं होता है ज्ञानिजनों को।
शुद्धभाव का उदय ज्ञेय का ज्ञान न जाने,
फिर भी क्यों अज्ञानीजन आकुल होते हैं॥ २१५॥

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि शुद्धद्रव्य के निरूपण में जिसने बुद्धि को लगाया है और जो तत्त्व का अनुभव करता है – ऐसे पुरुष को, एक द्रव्य में प्राप्त हुआ अन्य द्रव्य कुछ भी कभी भी प्रतिभासित नहीं होता है। ज्ञान, अन्य ज्ञेय पदार्थों को जानता है – यह ज्ञान के शुद्धस्वभाव का उदय है, फिर भी लौकिकजनों की बुद्धि, अन्य द्रव्य के ग्रहण में व्याकुल होकर, शुद्धस्वभाव से च्युत क्यों होती है?

भावार्थ – शुद्धनय की दृष्टि से तत्त्व के स्वरूप का विचार करने पर, एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का प्रवेश दिखाई नहीं देता है। ज्ञान में जो अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं, यह ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है; ज्ञान ने उनका कुछ भी ग्रहण नहीं किया है। यह लोक, ज्ञान में अन्य द्रव्य का प्रतिभास

ज्ञानस्वरूप तैं छूटि अर ज्ञेय के ग्रहण करनें की बुद्धि करै है सो यह अज्ञान है॥ ताकी आचार्य ने करुणां करि कह्या है जो ए लोक, तत्व तैं क्यों चिगै है॥ छ॥

फेरि, इस ही अर्थ कूं दृढ़ करै है॥ छ॥

॥ मन्दाक्रान्ता ॥

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा, तस्य किं स्यात् स्वभावः।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं, नैव तस्याऽस्ति भूमि-
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा, ज्ञेयमस्याऽस्ति नैव॥ २३॥

॥ अर्थ॥ जिस द्रव्य का जो निजभाव होय सो स्वभाव है सो आत्मा का ज्ञानचेतना स्वभाव है, ताकै शुद्धद्रव्य जो शुद्ध आत्मा, ताका निजरस ज्ञानचेतना है, ताके होनें तैं अन्य वाकी जो द्रव्य है सो कहा होय, किछू भी न होय॥[१] अथवा अन्य द्रव्य कै यहू स्वभाव कहा होय, किछू भी न होय।[२] जैसैं ज्योत्स्ना जो चांदणी, ताका रूप पृथ्वी कूं उज्जल करै है तौ कहा पृथिवी चांदणी की होय जाय, किछू भी न होय, तैसैं ज्ञान है सो ज्ञेयपदार्थ कूं सदाकाल जानैं है तौ ज्ञेय ज्ञान का किछू कहा होय जाय, किछू भी नाही है॥

देख कर, अपने ज्ञानस्वरूप से च्युत होकर, ज्ञेय को ग्रहण करने की बुद्धि करता है – यह अज्ञान है। यहाँ आचार्यदेव, उन जीवों पर करुणा करके कहते हैं कि **यह लोक, तत्त्व से च्युत क्यों होता है?**

पुनः इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं —

॥ रोला ॥

शुद्धद्रव्य का निजरसरूप परिणमन होता,
वह पररूप या पर उसरूप नहीं हो सकते।
अरे! चाँदनी की ज्यों भूमि नहीं हो सकती,
त्यों ही कभी नहीं हो सकते ज्ञेय ज्ञान के॥ २१६॥

अर्थ – जिस द्रव्य का जो निजभाव होता है, वह उसका स्वभाव है। आत्मा का ज्ञानचेतनास्वभाव है अर्थात् शुद्धद्रव्यस्वरूप शुद्ध आत्मा का निजरस, ज्ञानचेतना है – ऐसा होने से **शेष अन्य द्रव्य उसके कैसे हो सकते हैं?** – किञ्चित् भी नहीं हो सकते। **अथवा अन्य द्रव्य का यह स्वभाव कैसे हो सकता है?** – किञ्चित् भी नहीं हो सकता है। जिस प्रकार ज्योत्स्ना अर्थात् चाँदनी की आभा, पृथ्वी को उज्ज्वल करती है तो **क्या पृथ्वी, चाँदनी की हो जाती है?** – किञ्चित् भी नहीं होती है; उसी प्रकार ज्ञान, ज्ञेयपदार्थों को सदाकाल जानता है तो **क्या ज्ञेय ज्ञान के कुछ हो जाते हैं?** – किञ्चित् भी नहीं होते हैं।

---

१. व २. *परमार्थ करि संबंध नाही* - 'ब' प्रति में यहाँ अतिरिक्त पाठ

॥ भावार्थ॥ शुद्धनय की दृष्टि करि देषिये, तव कोई द्रव्य का स्वभाव काहू अन्य द्रव्यरूप होय नाही॥ जैसैं चांदणी पृथिवी कूं उज्जल करै है, परंतु चांदणी की पृथ्वी किछू होय नाही है। तैसैं ज्ञान ज्ञेय कूं जानैं है परन्तु ज्ञान का ज्ञेय किछू होय नाही है॥ आत्मा का ज्ञानस्वभाव है सो याकी स्वच्छता मैं ज्ञेय स्वयमेव झलकै है, तौऊ ज्ञान मैं तिनि ज्ञेयनि का प्रवेश नाही है॥ छ॥

अव कहै है जो ज्ञान मैं राग द्वेष का उदय कहां तांई है॥ ताका काव्य [कहै है]।

॥ मन्दाक्रान्ता॥

रागद्वेषद्वयमुदयते, तावदेतन्न यावत्,
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुन-र्बोध्यतां याति बोध्यम्।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं, न्यक्कृताऽज्ञानभावं,
भावाभावौ भवति तिरयन्, येन पूर्णस्वभावः॥ २४॥

॥ अर्थ॥ यहु ज्ञान, जेतै ज्ञानरूप न होय है अर वोध्य कहिये ज्ञेय, सो ज्ञेयभाव कूं प्राप्त न होय है, तेतै राग द्वेष दोऊ उदय होय हैं॥ तातैं यह ज्ञान है सो ज्ञानरूप होहु।

कैसा होहु। दूरि कीया है अज्ञानभाव जानैं, अैसा होहु। तिस कारण करि भाव अभाव ज्ञान मैं होय है, तिनिकूं दूरि करता संता पूर्णस्वभाव होय॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जेतै ज्ञान ज्ञानरूप न होय, ज्ञेय ज्ञेयरूप न होय, तेतै राग द्वेष उपजै है। तातैं यह

भावार्थ – शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाए तो किसी द्रव्य का स्वभाव किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता है। जिस प्रकार चाँदनी, पृथ्वी को उज्ज्वल करती है परन्तु पृथ्वी, चाँदनी की किञ्चित् भी नहीं होती है; उसी प्रकार ज्ञान, ज्ञेयों को जानता है परन्तु ज्ञेय, ज्ञान के किञ्चित् भी नहीं होते हैं। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है; अतः इसकी स्वच्छता में ज्ञेय स्वयमेव झलकते हैं तो भी ज्ञान में उन ज्ञेयों का प्रवेश नहीं है।

अब, ज्ञान में राग-द्वेष की उत्पत्ति कब तक होती है?, इसका काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

तब तक राग-द्वेष होते हैं जब तक भाई!,
ज्ञान-ज्ञेय का भेद, ज्ञान में उदित नहीं हो।
ज्ञान-ज्ञेय का भेद समझ कर राग-द्वेष को,
मिटा पूर्णतः पूर्ण ज्ञानमय तुम हो जाओ॥ २१७॥

अर्थ – जब तक यह ज्ञान, ज्ञानरूप नहीं होता और बोध्य अर्थात् ज्ञेय, ज्ञेयपने को प्राप्त नहीं होता, तब तक राग और द्वेष, दोनों की उत्पत्ति होती है; अतः यह ज्ञान, ज्ञानपने को प्राप्त हो जाए।

कैसा हो जाए? – जिसने अज्ञानभाव दूर किया है – ऐसा हो जाए क्योंकि अज्ञान के कारण ही ज्ञान में भाव-अभाव (इष्ट-अनिष्टभाव) होते हैं, उनको दूर करता हुआ पूर्णस्वभाव प्रगट होता है।

ज्ञान, अज्ञानभाव कूं दूरि करि ज्ञानरूप होहु। जिस कारण तैं ज्ञान मैं भाव अर अभाव, ए दोय अवस्था होय है सो तौ मिटि जाय अर ज्ञान पूर्णस्वभाव कूं प्राप्त होय जाय॥ यह प्रार्थनां है॥ छ॥

आगैं कहै हैं कि राग द्वेष मोह तैं दर्शन ज्ञान चारित्र का घात होय है सो दर्शन ज्ञान चारित्र पुद्गलद्रव्य मैं तौ है नाही, आत्मा ही मैं दर्शन ज्ञान चारित्र हैं अर आत्मा ही मैं अज्ञान तैं राग द्वेष मोह हैं सो अज्ञान तैं अपनां ही घात होय है, अैसा निर्णय करै है॥

दंसणणाणचरित्तं, किंचि वि णत्थि दु अचेयणे विसए।
तम्हा किं घादयदे, चेदइदा तेसु विसएसु॥ ५९॥
दंसणणाणचरित्तं, किंचि वि णत्थि दु अचेयणे कम्मे।
तम्हा किं घादयदे, चेदइदा तम्मि कम्मम्मि॥ ६०॥
दंसणणाणचरित्तं, किंचि वि णत्थि दु अचेयणे काए।
तम्हा किं घादयदे, चेदइदा तेसु काएसु॥ ६१॥
णाणस्स दंसणस्स य, भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स।
ण वि तहिं पुग्गलदव्वस्स, को वि घाओ उ णिद्दिट्ठो॥ ६२॥

भावार्थ – जब तक ज्ञान, ज्ञानरूप नहीं होता और ज्ञेय, ज्ञेयरूप नहीं होता; तब तक राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं; अत: यह ज्ञान, अज्ञानभाव को दूर करके ज्ञानरूप हो जाए। जिसके कारण ज्ञान में भाव और अभाव – ये दो अवस्थाएँ होती हैं, वे तो मिट जाएँ और ज्ञान पूर्णस्वभाव को प्राप्त हो जाए – यह प्रार्थना है।

अब कहते हैं कि राग-द्वेष-मोह से दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होता है तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्र, पुद्गलद्रव्य में तो हैं नहीं; आत्मा ही में दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं और आत्मा ही में अज्ञान से राग-द्वेष-मोह हैं; अत: अज्ञान से अपना ही घात होता है – ऐसा निर्णय करते हैं —

दंसणणाणचरित्तं, किंचि वि णत्थि दु अचेदणे विसए।
तम्हा किं घादयदे, चेदयिदा तेसु विसएसु॥ ३६६॥
दंसणणाणचरित्तं, किंचि वि णत्थि दु अचेदणे कम्मे।
तम्हा किं घादयदे, चेदयिदा तम्हि कम्मम्हि॥ ३६७॥
दंसणणाणचरित्तं, किंचि वि णत्थि दु अचेदणे काये।
तम्हा किं घादयदे, चेदयिदा तेसु कायेसु॥ ३६८॥

जीवस्स जे गुणा केई, णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्माइट्ठिस्स, णत्थि रागो उ विसएसु॥ ६३॥
रागो दोसो मोहो, जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा।
एएण कारणेण उ, सद्दादिसु णत्थि रागादी॥ ६४॥

॥ षट्कं॥

दर्शनज्ञानचारित्रं, किञ्चिदपि नास्ति त्वचेतने विषये।
तस्मात्किं हन्ति, चेतयिता तेषु विषयेषु॥ छ॥
दर्शनज्ञानचारित्रं, किञ्चिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि।
तस्मात्किं हन्ति, चेतयिता तत्र कर्मणि॥ छ॥
दर्शनज्ञानचारित्रं, किञ्चिदपि नास्ति त्वचेतने काये।
तस्मात्किं हन्ति, चेतयिता तेषु कायेषु॥ छ॥
ज्ञानस्य दर्शनस्य च, भणितो घातस्तथा चारित्रस्य।
नाऽपि तत्र पुद्गलद्रव्यस्य, कोऽपि घातस्तु निर्दिष्टः॥ छ॥

णाणस्स दंसणस्स य, भणिदो घादो तहा चरित्तस्स।
ण वि तम्हि को वि पोग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो॥ ३६९॥[1]
जीवस्स जे गुणा केई, णत्थि ते खलु[2] परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्मादिट्ठिस्स, णत्थि रागो दु विसयेसु[3]॥ ३७०॥
रागो दोसो मोहो, जीवस्स दु जे[4] अणण्णपरिणामा।
एदेण कारणेण दु, सद्दादिसु णत्थि रागादी॥ ३७१॥

चारित्र-दर्शन-ज्ञान किञ्चित्, नहिं अचेतन विषय में।
इस हेतु से यह आत्मा, क्या हन सके उन विषय में?॥ ३६६॥
चारित्र-दर्शन-ज्ञान किञ्चित्, नहिं अचेतन कर्म में।
इस हेतु से यह आत्मा, क्या हन सके उन कर्म में?॥ ३६७॥
चारित्र-दर्शन-ज्ञान किञ्चित्, नहिं अचेतन काय में।
इस हेतु से यह आत्मा, क्या हन सके उस काय में?॥ ३६८॥

---

१. तात्पर्यवृत्ति, सोलापुर प्रकाशन एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
२-४. *ते खलु / विसयेसु / दु जे* - तात्पर्यवृत्ति, सोलापुर प्रकाशन एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

जीवस्य ये गुणाः केचिन्न सन्ति खलु ते परेषु द्रव्येषु।
तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु॥ छ॥
रागो द्वेषो मोहो, जीवस्यैव चाऽनन्यपरिणामाः।
एतेन कारणेन तु, शब्दादिषु न सन्ति रागादयः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ दर्शन ज्ञान चारित्र है सो अचेतन जे विषय, तिनि विषै किछू भी नाही है॥ तातैं तिनि विषयनि विषै चेतयिता आत्मा कहा घातै, घातनें कूं किछू भी नाही॥ छ॥

वहुरि दर्शन ज्ञान चारित्र है सो अचेतन जो कर्म, ता विषै किछू भी नाही है॥ तातैं तिस कर्म विषै चेतयिता आत्मा कहा घातै, किछू भी घातनें कू नाही॥ छ॥

दर्शन ज्ञान चारित्र है, सो अचेतन जो काय, ता विषै किछू भी नाही है॥ तातैं तिनि कायनि विषै चेतयिता आत्मा कहा घातै, किछू भी घातने कूं नाही॥ छ॥

वहुरि घात है सो ज्ञान का तथा दर्शन का तथा चारित्र का कह्या है॥ तहां पुद्गलद्रव्य का किछू घात नाही कह्या है॥ छ॥

वहुरि जे केई जीव के गुण हैं, ते परद्रव्यनि विषै नाही है॥ तातैं सम्यग्दृष्टी कै विषयनि विषै राग नाही है॥ छ॥

है ज्ञान का, श्रद्धान का, उपघात चारित का कहा।
वहाँ और कुछ भी नहिं कहा, उपघात पुद्गलद्रव्य का॥ ३६९॥
जो जीव के गुण हैं नियत, वे कोई नहिं परद्रव्य में।
इस हेतु से सद्दृष्टि जीव को, राग नहिं है विषय में॥ ३७०॥
अरु राग-द्वेष-विमोह तो, जीव के अनन्य परिणाम हैं।
इस हेतु से शब्दादि विषयों, में नहीं रागादि हैं॥ ३७१॥

अर्थ – दर्शन-ज्ञान-चारित्र, अचेतन विषयों में किञ्चित् भी नहीं हैं; इसलिए उन विषयों का चेतयिता आत्मा, **कैसे घात कर सकता है?** – कुछ भी घात नहीं कर सकता॥ ३६६॥

दर्शन-ज्ञान-चारित्र, अचेतन कर्मों में किञ्चित् भी नहीं हैं; अतः उन कर्मों का चेतयिता आत्मा, **कैसे घात कर सकता है?** – अर्थात् कुछ भी घात नहीं कर सकता॥ ३६७॥

दर्शन-ज्ञान-चारित्र, अचेतन शरीर में किञ्चित् भी नहीं हैं; अतः उन शरीरों का चेतयिता आत्मा, **कैसे घात कर सकता है?** – अर्थात् कुछ भी घात नहीं कर सकता॥ ३६८॥

जहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र का घात कहा है, वहाँ पुद्गलद्रव्य का कुछ भी घात नहीं कहा है॥ ३६९॥

जो जीव के अनेक गुण हैं, वे परद्रव्य में नहीं हैं; अतः सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग नहीं है॥ ३७०॥

राग द्वेष मोह हैं, ते जीव ही का अनन्य एकरूप अभेदरूप परिणाम है॥ इस कारण करि रागादिक हैं, ते शब्दादि विषै नाही हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ निश्चय करि जो जा विषै होय सो तिसके घात होतैं हण्या ही जाय है॥ जैसैं दीपक विषै प्रकाश है सो दीपक का घात होतैं प्रकाश भी हणिये ही है॥ वहुरि जा विषै जो होय सो ताके घात होतैं हणिये ही है॥ जैसैं प्रकाश का घात होतैं प्रदीप भी हणिये ही है॥

वहुरि जो जा विषै न होय सो ताके घात होतैं नाही हणिये है॥ जैसैं घट का घात होतैं घट का प्रदीपक है सो नाही हणिये है॥ वहुरि जा विषै जो न होय सो ताके घात होतैं नाही हणिये है॥ जैसैं घडे में प्रदीप का घात होतैं घट नाही हणिये है॥

इस न्याय तैं कहै है जो आत्मा के धर्म, दर्शन ज्ञान चारित्र हैं, ते पुद्गलद्रव्य के घात होतैं भी नाही घाते जाय हैं॥ वहुरि दर्शन ज्ञान चारित्र का घात होतैं भी पुद्गलद्रव्य घात्या न जाय है॥ अैसैं दर्शन ज्ञान चारित्र हैं, ते पुद्गलद्रव्य विषै नाही हैं॥ यह आया॥ जो अैसैं न होय तौ दर्शन ज्ञान चारित्र का घात होतैं तौ पुद्गलद्रव्य का घात का दुर्निवारपणां होय, अवश्य घात होय॥ अर पुद्गलद्रव्य का घात होतैं दर्शन ज्ञान चारित्र का घात अवश्य होय॥

जातैं अैसैं है, तातैं आचार्य कहै है, जे जेते किछू जीवद्रव्य के गुण हैं, ते सर्व ही परद्रव्यनि विषै नाही हैं॥ अैसैं सम्यक् प्रकार हम देषैं है॥ अर जो अैसैं न होय तौ इहां भी जीव के गुण का

राग-द्वेष-मोह भी जीव ही के अनन्य एकरूप अभेद परिणाम हैं, इस कारण शब्द आदि में रागादि नहीं हैं॥ ३७१॥

टीका – निश्चय से जो जिसमें होता है, वह उसका घात होने पर नष्ट होता ही है। जैसे, दीपक में प्रकाश है; अत: दीपक का घात होने पर प्रकाश का भी घात होता है तथा जिसमें जो होता है, उसके घात होने पर वह भी नष्ट होता ही है; जैसे, प्रकाश का घात होने पर दीपक का भी घात होता ही है।

इसी प्रकार जो जिसमें नहीं होता है, वह उसके घात होने पर नष्ट नहीं होता है; जैसे, घट का घात होने पर उसके प्रकाशक दीपक का घात नहीं होता है। तथा जिसमें जो नहीं होता है, उसके घात होने पर वह भी नष्ट नहीं होता है; जैसे, घट के प्रकाशक दीपक का घात होने पर घट का घात नहीं होता है।

— इस न्याय से कहते हैं कि आत्मा के धर्म, दर्शन-ज्ञान-चारित्र, पुद्गलद्रव्य का घात होने पर नष्ट नहीं होते हैं और दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होने पर पुद्गलद्रव्य नहीं नष्ट होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र, पुद्गलद्रव्य में नहीं है। यदि ऐसा न हो तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का भी घात होना दुर्निवार है अर्थात् टाला नहीं जा सकेगा, अवश्य घात होगा और पुद्गलद्रव्य का घात होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का भी अवश्य घात होगा।

यदि इस प्रकार है तो आचार्य कहते हैं कि जितने भी जीवद्रव्य के गुण हैं, वे सभी परद्रव्यों में नहीं हैं – ऐसा हम सम्यक् प्रकार से देखते हैं और इस प्रकार यदि न हो तो यहाँ भी जीव के

घात होतैं पुद्गलद्रव्य का घात दुर्निवारपणां होय॥ अर पुद्गलद्रव्य का घात होतैं जीवगुण का घात का दुर्निवारपणां होय॥ सो अैसैं है नाही॥

अव विचारै है जो अैसैं है तौ सम्यग्दृष्टी कै विषयनि विषै राग कोंन हेतु तैं होय है॥

तहां कहै है, काहू ही हेतु तैं नाही होय है॥

तव पूछै है, राग के उपजनें की कोंनसी खानि है॥

तहां कहै है, राग द्वेष मोह हैं, ते जीव ही का अज्ञानमयी परिणाम हैं, यह अज्ञान ही रागादिक के उपजनें की खानि है॥ जातैं विषय हैं, ते परद्रव्य हैं, तिनि विषै रागादिक अज्ञानमयी परिणाम नाही हैं॥ वहुरि जव अज्ञान का अभाव होय, तव आत्मा सम्यग्दृष्टी होय, तव ता विषै रागादि न होय है॥ अैसैं तें रागादिक विषयनि विषै न होते संते अर सम्यग्दृष्टी कै न होते संते नाही ही हैं।

॥ भावार्थ॥ दर्शन ज्ञान चारित्र आदि जेते जीव के गुण हैं, ते अचेतन पुद्गलद्रव्य मैं नाही हैं, तातैं आत्मा कै अज्ञानमयी परिणाम तैं राग द्वेष मोह होय हैं, तिनि करि आप ही के दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुण घाते जाय हैं अर राग द्वेष मोह जीव ही के अस्तित्व मैं अज्ञान तैं उपजैं हैं। जव अज्ञान का अभाव होय, तव सम्यग्दृष्टी होय, तव नाही उपजैं हैं। अैसैं होतैं शुद्धद्रव्य की दृष्टि मैं पुद्गल विषै भी राग द्वेष मोह नाही, सम्यग्दृष्टी जीव विषै भी नाही। अैसैं दोऊ ही विषै न होते, ए नाही ही हैं अर पर्यायदृष्टि मैं जीव कै अज्ञान अवस्था मैं हैं, अैसा जाननां॥ छ॥

गुणों का घात होने पर, पुद्गलद्रव्य का घात दुर्निवार है, टाला नहीं जा सकेगा और पुद्गलद्रव्य का घात होने पर, जीव के गुणों का घात दुर्निवार है, टाला नहीं जा सकेगा; अत: ऐसा है नहीं।

अब विचारते हैं – **यदि ऐसा है तो फिर सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग क्यों होता है?**

वहाँ आचार्य कहते हैं – किसी भी कारण से नहीं होता है।

पुन: पूछते हैं – **राग के उत्पन्न होने की कौनसी खान है?**

वहाँ कहते हैं – राग-द्वेष-मोह, जीव ही के अज्ञानमयी परिणाम हैं। यह अज्ञान ही रागादि के उत्पन्न होने की खान है क्योंकि विषय (ज्ञेय) तो परद्रव्य हैं, उनमें रागादि अज्ञानमयी परिणाम नहीं हैं और जब अज्ञान का अभाव हो जाता है, तब आत्मा सम्यग्दृष्टि होता है, तब उसमें भी रागादि नहीं होते हैं। इस प्रकार रागादि, विषयों में नहीं होने से और सम्यग्दृष्टि को भी नहीं होने से, [वास्तव में] नहीं ही हैं।

भावार्थ – दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि जितने जीव के गुण हैं, वे अचेतन पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं; इसलिए आत्मा के अज्ञानमयी परिणामों से राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होते हैं और उनके द्वारा स्वयं ही के दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि गुण घाते जाते हैं और राग-द्वेष-मोह, जीव ही के अस्तित्व में अज्ञान से उत्पन्न होते हैं लेकिन जब अज्ञान का अभाव होता है, तब आत्मा सम्यग्दृष्टि होता है और तब वे उत्पन्न नहीं होते हैं। इस प्रकार शुद्धद्रव्य की दृष्टि से राग-द्वेष-मोह, पुद्गल में भी नहीं हैं और सम्यग्दृष्टि जीव में भी नहीं है; अत: दोनों में ही नहीं होने से, ये नहीं ही हैं, तथा पर्यायदृष्टि से जीव की अज्ञान अवस्था में हैं – ऐसा जानना।

अव, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहै हैं॥ छ॥

॥ मन्दाक्रान्ता॥

रागद्वेषाविह हि भवति, ज्ञानमज्ञानभावात्,
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा, दृश्यमानौ न किञ्चित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु[१] ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटं तौ,
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाऽचलाऽर्चिः॥ २५॥

॥ अर्थ॥ इस आत्मा विषै ज्ञान है सो ही अज्ञानभाव तैं राग द्वेषरूप परिणमै है॥ वहुरि ते रागादिक वस्तुपणां विषै स्थापी दृष्टि करि देषै हुये किछू भी नाही हैं, द्रव्यरूप न्यारे वस्तु नाही हैं। तातैं आचार्य प्रेरणा करै है, सो सम्यग्दृष्टी पुरुष हैं सो तत्वदृष्टि करि तिनि कूं प्रगट देषि अर क्षेपो, नाश करो। ज्यौं स्वाभाविक ज्ञानज्योति पूर्ण है प्रकाशरूप अचल दीप्ति जाकी, अैसा देदीप्यमान प्रकाशै॥

॥ भावार्थ॥ राग द्वेष न्यारा ही तौ द्रव्य नाही, जीव कै अज्ञानभाव तैं होय हैं, तातैं सम्यग्दृष्टी होय तत्वदृष्टि करि देषो, ए किछू भी वस्तु नाही, अैसे देषें, घातिकर्म का नाश होय, केवलज्ञान उपजै है॥ छ॥

आगैं कहै है जो अन्य द्रव्य करि अन्य द्रव्य कै गुण नाही उपजाइए है॥ ताकी सूचनिका का काव्य है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

यही ज्ञान अज्ञानभाव से राग-द्वेषमय,
हो जाता पर तत्त्वदृष्टि से वस्तु नहीं ये।
तत्त्वदृष्टि के बल से क्षय कर इन भावों को,
हो जाती है अचल सहज यह ज्योति प्रकाशित॥ २१८॥

अर्थ – इस आत्मा में ज्ञान ही अज्ञानभाव से राग-द्वेषरूप परिणमता है, परन्तु वस्तुपने में स्थापित दृष्टि से देखने पर, वे रागादि कुछ भी नहीं हैं अर्थात् द्रव्यरूप भिन्न वस्तु नहीं हैं; अतः आचार्यदेव प्रेरणा करते हैं कि सम्यग्दृष्टि पुरुष, तत्त्वदृष्टि से उन्हें स्पष्टतया देखो और क्षय करो, नाश करो; जिससे पूर्ण प्रकाशरूप अचल दीप्तिवाली, स्वभाविक ज्ञानज्योति दैदीप्यमान होकर प्रकाशित हो।

भावार्थ – राग-द्वेष कोई भिन्न ही द्रव्य तो है नहीं, जीव के अज्ञानभाव से होते हैं; अतः सम्यग्दृष्टि होकर तत्त्वदृष्टि से उन्हें देखो कि ये कोई भी वस्तु नहीं हैं। इस प्रकार देखने पर घातिकर्मों का नाश होकर केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

अब, एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य के गुणों को उत्पन्न नहीं करता है, उसकी सूचनिका का काव्य कहते हैं —

---

१. *क्षिपयतु* - 'ब' प्रति पाठ।

॥ शालिनी ॥

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या, नाऽन्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनाऽपि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति, व्यक्ताऽत्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात्॥ २६॥

॥ अर्थ॥ राग द्वेष का उपजावनेंवाला तत्वदृष्टि करि देषिये, तव अन्य द्रव्य किछू भी नाही दीषै है, चेतन ही के परिणाम हैं, जातैं यह न्याय है जो सर्व द्रव्यनि की उत्पत्ति है सो अपने ही निजस्वभाव विषै, अंतरंग विषै अत्यंत प्रगटरूप सोभै है। अन्य द्रव्य विषै अन्य के गुण पर्यायनि की उत्पत्ति नाही है॥ छ॥

अव, इस अर्थ कूं गाथा मैं कहै है॥ छ॥

अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरइ गुणुप्पाओ।
तम्हा उ सव्वदव्वा, उप्पज्जंते सहावेण॥ ६५॥

अन्यद्रव्येणाऽन्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणोत्पादः।
तस्मात्तु सर्वद्रव्याण्युत्पद्यन्ते स्वभावेन॥ छ॥

॥ अर्थ॥ अन्य द्रव्य करि अन्य द्रव्य कै गुण का उत्पाद नाही कीजिये है, तातैं यह सिद्धांत

॥ रोला ॥

तत्त्वदृष्टि से राग-द्वेष भावों का भाई!,
कर्ता-धर्ता कोई अन्य नहीं हो सकता।
क्योंकि है अत्यन्त प्रगट यह बात जगत् में,
द्रव्यों का उत्पाद स्वयं से ही होता है॥ २१९॥

अर्थ – तत्त्वदृष्टि से देखने पर राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला, कोई भी अन्य द्रव्य दिखाई नहीं देता है, वे चेतन ही के परिणाम हैं क्योंकि यह न्याय है कि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने ही अन्तरङ्ग निजस्वभाव में अत्यन्त प्रगट शोभित होती है। एक द्रव्य में अन्य द्रव्य के गुण व पर्यायों की उत्पत्ति नहीं होती है।

अब, इस अर्थ को गाथा में कहते हैं —

अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरए गुणुप्पाओ।
तम्हा दु सव्वदव्वा, उप्पज्जंते सहावेण॥ ३७२॥
यह द्रव्य दूसरे द्रव्य में, उत्पाद नहिं गुण का करे।
इस हेतु से सब ही दरब, उत्पन्न आप स्वभाव से॥ ३७२॥

अर्थ – अन्य द्रव्य के द्वारा [दूसरे] अन्य द्रव्य के गुणों को उत्पन्न नहीं किया जाता है क्योंकि

है जो सर्व ही द्रव्य अपनें अपनें स्वभाव करि उपजै हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ जीवद्रव्य कै परद्रव्य है सो रागादिक उपजावै है, अैसी आशंका न करणीं॥ जातैं अन्य द्रव्य करि अन्य द्रव्य कै गुण का उत्पाद करणें का अयोग है॥ सर्व द्रव्य विषै स्वभाव ही करि उत्पाद है॥ सो ही दृष्टांत करि दिषाइए है॥

मृत्तिका है सो कुंभभाव करि उपजती संती कहा कुंभकार के स्वभाव करि उपजै है कि मृत्तिका स्वभाव करि, अैसे दोय पक्ष पूछी। तहां जो कहिये कुंभकार के स्वभाव करि उपजै है तौ कुंभ के करणें का अहंकार करि भर्‌या जो पुरुष, ता करि आश्रयरूप, अर व्यापाररूप है हस्त जामैं, अैसा पुरुष का शरीर, ताकै आकार कुंभ भया चाहिये, कुंभकार का शरीर कै आकार घट वण्यां चाहिये सो अैसैं है नाही॥ जातैं अन्य द्रव्य का स्वभाव करि अन्य द्रव्य का परिणाम का उपजनां न देषिये है॥ तातैं जो अैसैं है तौ मृत्तिका कुंभकार के स्वभाव करि तौ नाही उपजै है॥

तौ कैसैं उपजै है। मृत्तिका स्वभाव ही करि उपजै है॥ जातैं अपनें स्वभाव ही करि द्रव्य का परिणाम का उत्पाद देषिये है॥ अैसैं होतैं मृत्तिका का स्वभाव के नाही उल्लंघनें तैं कुंभकार है सो कुंभ का उत्पादक कहिये उपजावनहारा नाही है॥ मृत्तिका ही कुंभकार के स्वभाव कूं नाही स्पर्शती संती अपना ही स्वभाव करि कुंभभाव करि उपजै है॥ अैसैं ही सर्व ही द्रव्य हैं, ते अपनें परिणामरूप

यह सिद्धान्त है कि सभी द्रव्य, अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं॥ ३७२॥

टीका – जीवद्रव्य में अन्य द्रव्य रागादि उत्पन्न कराते हैं – ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिए क्योंकि अन्य द्रव्य, [दूसरे] अन्य द्रव्य के गुणों को उत्पन्न करने के अयोग्य है। सभी द्रव्यों में स्वभाव ही से उत्पाद है, यही दृष्टान्त के द्वारा दिखाते हैं –

जैसे, कुम्भपने से उत्पन्न होती हुई मिट्टी, कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न होती है या मिट्टी के स्वभाव से? – ऐसे दो पक्ष पूछने पर यदि कहा जाए कि कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न होती है तो कुम्भ बनाने के अहङ्कार से भरे पुरुष के आश्रयरूप और हाथों के व्यापाररूप उस पुरुष के शरीर के आकाररूप, कुम्भ को होना चाहिए था अर्थात् कुम्भकार के शरीर के आकाररूप कुम्भ बनना चाहिए, किन्तु ऐसा तो है नहीं क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभाव से [दूसरे] अन्य द्रव्य के परिणाम का उत्पाद नहीं देखा जाता है। इस प्रकार मिट्टी, कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती है।

तो कैसे उत्पन्न होती है? – मिट्टी अपने स्वभाव ही से उत्पन्न होती है क्योंकि अपने स्वभाव ही से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखा जाता है; अत: मिट्टी के द्वारा अपने स्वभाव का उल्लङ्घन नहीं करने से, कुम्भकार, कुम्भ का उत्पादक अर्थात् उत्पन्न करनेवाला नहीं है; मिट्टी ही कुम्भकार के स्वभाव को स्पर्श किए बिना अपने ही स्वभाव से कुम्भपने से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार सभी द्रव्य अपने परिणामरूप पर्याय से उत्पन्न होते हैं।

वे क्या निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं? अथवा अपने ही स्वभाव से उत्पन्न होते हैं? – ऐसे दो पक्ष पूछने पर यदि कहा जाए कि निमित्तभूत अन्य द्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं तो उसका परिणाम निमित्तभूत अन्य द्रव्य के आकार होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभाव से अन्य द्रव्य के परिणाम का उत्पाद होता नहीं देखा जाता है। इस

पर्याय करि उपजते संते हैं।

ते कहा निमित्तभूत जे अन्य द्रव्य, तिनिके स्वभाव करि उपजै हैं कि अपनें स्वभाव ही करि उपजैं हैं॥ अैसैं दोय पक्ष पूछी॥ तहां जो कहिये, निमित्तभूत अन्य द्रव्य के स्वभाव करि उपजैं हैं तौ निमित्तभूत परद्रव्य कै आकार तिसका परिणाम होय॥ सो अैसैं होय नाही॥ जातैं अन्य द्रव्य का स्वभाव करि अन्य द्रव्य का परिणाम का उपजनें का अदर्शन है, नाही देषिये है॥ तातैं जो अैसैं है तौ सर्व ही द्रव्य हैं, ते निमित्तभूत जो परद्रव्य ताका स्वभाव करि नाही उपजैं हैं॥

तौ कैसैं उपजैं हैं॥ अपनें स्वभाव ही करि उपजै हैं, जातैं अपनें स्वभाव ही करि सर्व द्रव्य का परिणाम का उत्पाद देषिये है॥ अैसैं होतैं सर्व ही द्रव्यनि कै निमित्तभूत जे अन्य द्रव्य, ते अन्य द्रव्य के परिणाम के उपजावनहारे नाही हैं॥ सर्व ही द्रव्य हैं, ते निमित्तभूत जे अन्य द्रव्य, तिनिके स्वभाव कूं नाही स्पर्शते संते अपनें स्वभाव करि अपनें परिणामभाव करि उपजैं हैं॥

या कारण तैं आचार्य कहै है जो परद्रव्य है सो जीव कै रागादिक का उपजावनहारा नाही देषैं हैं, जा परि हम कोप करैं॥

॥ भावार्थ॥ आत्मा कै रागादिक उपजैं हैं, ते अपनें ही अशुद्धपरिणाम हैं। निश्चयनय करि विचारिये, तव इनिका उपजावनहारा अन्य द्रव्य नाही है। अन्य द्रव्य इनिका निमित्तमात्र है॥ जातैं अन्य द्रव्य कै अन्य द्रव्य, गुण पर्याय उपजावै नाही, यह नियम है। तातैं जे अैसैं मानैं हैं जो मेरै रागादिक, परद्रव्य ही उपजावै हैं, अैसा एकांत करैं हैं, ते नयविभाग मैं समझे नाही, मिथ्यादृष्टी हैं॥ ए रागादिक जीव के सत्व मैं उपजैं हैं, परद्रव्य निमित्तमात्र हैं, अैसैं माननां सम्यग्ज्ञान है। तातैं आचार्य अैसैं कह्या है, हम राग द्वेष की उत्पत्ति मैं अन्य द्रव्य परि काहे कूं कोप करैं, राग द्वेष का उपजनां आप ही का अपराध है॥ छ॥

प्रकार सभी द्रव्य निमित्तभूत परद्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न नहीं हैं।

तो कैसे उत्पन्न होते हैं? – सभी द्रव्य, अपने स्वभाव ही से उत्पन्न होते हैं क्योंकि अपने स्वभाव ही से सर्व द्रव्यों के परिणाम का उत्पाद देखा जाता है; अतः सभी द्रव्यों में, निमित्तभूत अन्य द्रव्य, [दूसरे] अन्य द्रव्यों के परिणाम को उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं। सभी द्रव्य, निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव को स्पर्श किये बिना, अपने स्वभाव से अपने परिणामों या भावों को उत्पन्न करते हैं।

इस कारण से आचार्यदेव कहते हैं कि हम, परद्रव्यों को जीव में रागादि को उत्पन्न करनेवाला नहीं देखते हैं, जिस पर हम क्रोध करें।

भावार्थ – आत्मा में रागादि उत्पन्न होते हैं, वे अपने ही अशुद्धपरिणाम हैं। निश्चयनय से विचार करें तो इनको उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य नहीं है; अन्य द्रव्य इनमें निमित्तमात्र है क्योंकि अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्य के गुण व पर्यायों को उत्पन्न नहीं करता है – यह नियम है। इसलिए जो ऐसा मानते हैं कि परद्रव्य ही मुझे राग-द्वेष उत्पन्न करते हैं, वे एकान्त करते हैं, नय-विभाग नहीं समझते हैं; अतः मिथ्यादृष्टि हैं तथा रागादि, जीव के सत्त्व में उत्पन्न होते हैं, परद्रव्य तो निमित्तमात्र हैं – ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है; इसलिए आचार्यदेव ने ऐसा कहा है कि **हम राग-द्वेष की उत्पत्ति में अन्य द्रव्यों पर क्रोध क्यों करें?** – राग-द्वेष का उत्पन्न होना, स्वयं ही का अपराध है।

अब, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ मालिनी॥

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः,
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः॥ २७॥

॥ अर्थ॥ जो इस आत्मा विषै राग द्वेष दोष की उत्पत्ति है॥ तहां परद्रव्य कूं किछू भी दूषण नाही है। तिस आत्मा विषै यह अज्ञान आप अपराधी फैलै है॥ यह कथन प्रगट होहु॥ अर यह अज्ञान है सो अस्त होहु, जातैं मैं तो ज्ञानस्वरूप हौं, अैसैं माननां सम्यग्ज्ञान है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ अज्ञानी जीव, राग द्वेष की उत्पत्ति परद्रव्य तैं मानि परद्रव्य तैं कोप करै है जो मेरै परद्रव्य राग द्वेष उपजावै है, ताकूं दूरि करूं। ताकों समझावनें कूं कहै है जो राग द्वेष की उत्पत्ति अज्ञान तैं आप ही कै विषै होय है, ते आप ही के अशुद्धपरिणाम हैं सो यह अज्ञान तौ नाश कूं प्राप्त होहु अर सम्यग्ज्ञान प्रगट होहु। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, अैसा अनुभव करो। राग द्वेष के उपजनें मैं परद्रव्य कूं उपजावनहारा मानि, तिस परि कोप मति करौ, अैसा उपदेश है॥ छ॥

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

राग-द्वेष पैदा होते हैं इस आतम में,
उसमें परद्रव्यों का कोई दोष नहीं है।
यह अज्ञानी अपराधी है इनका कर्ता,
यह अबोध हो नष्ट कि मैं तो स्वयं ज्ञान हूँ॥ २२०॥

अर्थ – इस आत्मा में जो राग-द्वेषादि दोषों की उत्पत्ति होती है, उसमें परद्रव्यों का कुछ भी दोष नहीं है; उस आत्मा में यह अज्ञान ही स्वयं अपराधी होकर फैलता है। [अर्थात् अज्ञान से उन रागादि की उत्पत्ति होती है।] जब आत्मा को इस बात का पता चलता है तो उसका अज्ञान अस्त हो जाता है क्योंकि 'मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ' – ऐसा मानना ही सम्यग्ज्ञान है।

भावार्थ – अज्ञानी जीव, राग-द्वेष की उत्पत्ति परद्रव्य से मान कर, परद्रव्य के प्रति कोप करता है 'परद्रव्य, मुझे राग-द्वेष उत्पन्न कराते हैं; अतः मैं उनको दूर करूँ'; उन अज्ञानियों को समझाने के लिए कहते हैं कि राग-द्वेष की उत्पत्ति अज्ञान से स्वयं ही में होती है, वे स्वयं ही के अशुद्ध परिणाम हैं; अतः [ऐसा समझने से] अज्ञान तो नाश को प्राप्त होता है और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है; इसलिए 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है' – ऐसा अनुभव करो। राग-द्वेष के उत्पन्न होने में परद्रव्य को उत्पन्न करनेवाला मान कर, उस पर क्रोध मत करो – यह उपदेश है।

अब, इस ही अर्थ कूं दृढ़ करनें कूं अर अगिले कथन की सूचनिकारूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ रथोद्धता ॥

रागजन्मनि निमित्ततां पर-द्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं, शुद्धबोधविधुराऽन्धबुद्धयः॥ २८॥

॥ अर्थ॥ जे पुरुष राग की उत्पत्ति विषै परद्रव्य ही का निमित्तपणां मानैं हैं, अपनां किछू भी हेतु न मानैं हैं, ते मोहरूप नदी कै पार नाही उतरैं हैं, जातैं शुद्धनय का विषयभूत जो आत्मा का स्वरूप, ताका ज्ञान करि रहित अंध है बुद्धि जिनिकी, ते अैसे हैं॥

॥ भावार्थ॥ शुद्धनय का विषय आत्मा अनंत शक्ति कूं लीयें चैतन्यचमत्कारमात्र नित्य अभेद एक है, तामें यह स्वच्छता है जो जैसा निमित्त मिलै, तैसैं आप परिणमै है। अैसा नाही जो पैला परिणमावै तैसैं परिणमै है, अपनां किछू पुरुषार्थ नाही है। सो अैसे आत्मा का स्वरूप का जिनिकूं ज्ञान नाही है, ते अैसैं मानैं हैं जो आत्मा कूं परद्रव्य परिणमावै है, तैसैं परिणमै है। ते अैसैं माननेंवाले, मोह की वाहिनी जो सेनां अथवा नदी, राग द्वेषादि परिणाम, तिनितैं पार नाही होय हैं, तिनिके राग द्वेष नाही मिटैं हैं, जातैं अपनां पुरुषार्थ तिनिके होनें मैं होय तो मेटनें में भी होय अर पर ही के कीये होय तौ पैला कीया ही करै, अपनां मेटनां काहे का। तातैं अपनां कीया होय, अपनां मेट्या मिटै, अैसैं कथंचित्

अब, इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए और आगामी कथन की सूचनिकारूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला ॥

अरे! राग की उत्पत्ति में परद्रव्यों को,
एकमात्र कारण बतलाते जो अज्ञानी।
शुद्धबोध से विरहित वे अन्धेजन जग में,
अरे! कभी भी मोहनदी से पार न होंगे॥ २२१॥

अर्थ – जो पुरुष, राग की उत्पत्ति में परद्रव्य ही का निमित्तपना (कारणपना) मानते हैं; अपना कुछ भी कारणपना नहीं मानते हैं, वे मोहरूपी नदी के पार नहीं उतरते हैं क्योंकि वे शुद्धनय के विषयभूत आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित अन्धबुद्धिवाले हैं।

भावार्थ – शुद्धनय का विषयभूत आत्मा, अनन्त शक्तियों को धारण करके चैतन्य-चमत्कारमात्र, नित्य, अभेद, एक है; उसमें ऐसी स्वच्छता है कि जैसा निमित्त मिले, वैसा स्वयं परिणमन करता है; ऐसा नहीं है कि जैसा अन्य परिणमाता है, वैसा परिणमन करता है। और अपना कुछ भी पुरुषार्थ नहीं है। आत्मा के ऐसे स्वरूप का जिनको ज्ञान नहीं है, वे ऐसा मानते हैं कि आत्मा को जैसा परद्रव्य परिणमाता है, वैसा वह परिणमता है – ऐसा माननेवाले, मोहरूपी वाहिनी अर्थात् सेना अथवा नदी अर्थात् राग-द्वेष आदि परिणामों से पार नहीं होते हैं, उनके राग-द्वेष नहीं मिटते हैं क्योंकि यदि अपना पुरुषार्थ उनके होने में होता है तो उनके मेटने में भी होना चाहिए और यदि अन्य के द्वारा ही किये

माननां सम्यग्ज्ञान है॥ छ॥

आगैं, इस कथन कूं प्रगट करै है जो स्पर्श रस गंध वर्ण शब्दरूप पुद्गल परिणमै है, ते इंद्रियनि करि आत्मा के जाननें मैं आवैं हैं, तथापि ते जड हैं, आत्मा कूं किछू कहैं नाही हैं जो हम कूं ग्रहण करौ, आत्मा ही अज्ञानी होय, तिनिकूं भले बुरे मानि, रागी द्वेषी होय है, अैसैं गाथा मैं कहै है॥ छ॥

णिंदियसंथुय[१]वयणाणि, पोग्गला परिणमंति बहुयाणि।
ताणि सुणिऊण रूसइ, तूसइ य पुणो अहं भणिओ॥ ६६॥
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणयं तस्स जइ गुणो अण्णो।
तम्हा ण तुमं भणिओ, किंचि वि किं रूससि अबुद्धो॥ ६७॥
असुहो सुहो व सद्दो, ण तं भणइ सुणसु मं ति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, सोयविसयमागयं सद्दं॥ ६८॥
असुहं सुहं व रूवं, ण तं भणइ पिच्छ मं ति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, चक्खुविसयमागयं रूवं॥ ६९॥

गए हों तो अन्य करता ही रहेगा, **फिर अपने द्वारा मेटना कैसे होगा?** अत: अपने द्वारा करने से होता है और अपने द्वारा मेटने से मिटता है – ऐसा कथञ्चित् मानना, सम्यग्ज्ञान है।

अब, इस कथन को प्रगट करते हैं कि स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दरूप जो पुद्गल परिणमते हैं, वे [यद्यपि] इन्द्रियों के द्वारा जानने में आते हैं तथापि वे जड़ हैं; वे आत्मा को तो कुछ कहते नहीं हैं कि हमें ग्रहण करो। आत्मा ही अज्ञानी होकर उन्हें भला-बुरा मान कर रागी-द्वेषी होता है, ऐसा गाथाओं में कहते हैं —

णिंदिदसंथुदवयणाणि, पोग्गला परिणमंति बहुगाणि।
ताणि सुणिदूण रुसदि, तूसदि य पुणो अहं भणिदो॥ ३७३॥
पोग्गलदव्वं[२] सद्दत्तपरिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो।
तम्हा ण तुमं भणिदो, किंचि वि किं रुससि अबुद्धो[३]॥ ३७४॥
असुहो सुहो व सद्दो, ण तं भणदि सुणसु मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं, सोदविसयमागदं सद्दं॥ ३७५॥

---

१. *संथुइ* - 'अ' प्रति पाठ
२. *पुग्गलदव्वं* - तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ
३. *रुससे अबुहो* - तात्पर्यवृत्ति एवं सोलापुर प्रकाशन पाठ

असुहो सुहो व गंधो, ण तं भणइ जिग्घ मं ति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, घाणविसयमागयं गंधं॥ ७०॥
असुहो व[१] सुहो व रसो, ण तं भणइ रसय मं ति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, रसणविसयमागयं तु रसं॥ ७१॥
असुहो सुहो व फासो, ण तं भणइ फुससु मं ति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, कायविसयमागयं फासं॥ ७२॥
असुहो व[२] सुहो व गुणो, ण तं भणइ बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, बुद्धिविसयमागयं तु गुणं॥ ७३॥
असुहं सुहं च दव्वं, ण तं भणइ बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं, बुद्धिविसयमागयं दव्वं॥ ७४॥

असुहं सुहं व रूवं, ण तं भणदि पेच्छ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं, चक्खुविसयमागदं रूवं॥ ३७६॥
असुहो सुहो व गंधो, ण तं भणदि जिग्घ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं, घाणविसयमागदं गंधं॥ ३७७॥
असुहो सुहो व रसो, ण तं भणदि रसय मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं, रसणविसयमागदं तु रसं॥ ३७८॥
असुहो सुहो व फासो, ण तं भणदि फुससु[३] मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं, कायविसयमागदं फासं॥ ३७९॥
असुहो सुहो व गुणो, ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं, बुद्धिविसयमागदं तु गुणं॥ ३८०॥
असुहं सुहं व दव्वं, ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं, बुद्धिविसयमागदं दव्वं॥ ३८१॥

---

१. *व* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ
२. *व* - 'ब' प्रति पाठ
३. *फास* - कुन्दकुन्दभारती प्रकाशन पाठ

एयं तु जाणिऊण य, उवसमं णेव गच्छइ मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य, सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो॥ ७५॥

॥ दशकं ॥

निन्दितसंस्तुतवचनानि, पुद्गलाः परिणमन्ति बहुकानि।
तानि श्रुत्वा रुष्यति, तुष्यति च पुनरहं भणितः॥ छ॥
पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः।
तस्मान्न त्वं भणितः, किञ्चिदपि किं रुष्यस्यबुद्धः॥ छ॥
अशुभः शुभो वा शब्दो, न त्वां भणति शृणु मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं, श्रोत्रविषयमागतं शब्दम्॥ छ॥
अशुभं शुभं वा रूपं, न त्वां भणति पश्य मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं, चक्षुर्विषयमागतं रूपम्॥ छ॥
अशुभः शुभो वा गन्धो, न त्वां भणति जिघ्र मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं, घ्राणविषयमागतं गन्धम्॥ छ॥
अशुभो वा[१] शुभो वा रसो, न त्वां भणति रसय मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं, रसनविषयमागतं तु रसम्॥ छ॥

एवं तु जाणिदूणं[२] उवसमं णेव गच्छदे मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य, सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो॥ ३८२॥

पुद्गलदरब बहुभाँति, निन्दा-स्तुतिवचनरूप परिणमे।
सुन कर उन्हें 'मुझसे कहा', गिन रोष-तोष यह जीव करे॥ ३७३॥
पुद्गलदरब शब्दत्वपरिणत, उसका गुण जो अन्य है।
तो नहिं कहा कुछ भी तुझे, हे अबुध! रोष तू क्यों करे॥ ३७४॥
शुभ या अशुभ जो शब्द वह, 'तू सुन मुझे' न तुझे कहें।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे, कर्णगोचर शब्द को॥ ३७५॥
शुभ या अशुभ जो रूप वह, 'तू देख मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे, चक्षुगोचर रूप को॥ ३७६॥
शुभ या अशुभ जो गन्ध वह, 'तू सूँघ मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे, घ्राणगोचर गन्ध को॥ ३७७॥

---

१. *वा* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ
२. *जाणिदव्वस्स* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

अशुभः शुभो वा स्पर्शो, न त्वां भणति स्पृश मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं, कायविषयमागतं स्पर्शम्॥ छ॥
अशुभो वा[१] शुभो वा गुणो, न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं, बुद्धिविषयमागतं तु गुणम्॥ छ॥
अशुभं शुभं वा द्रव्यं, न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं, बुद्धिविषयमागतं द्रव्यम्॥ छ॥
एतत्तु ज्ञात्वोपशमं, नैव गच्छति मूढः।
विनिर्ग्रहमनाः परस्य तु, स्वयं च बुद्धिं शिवामप्राप्तः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ निंदा के अर स्तुति के वचन हैं, ते वहुत प्रकार पुद्गल परिणमैं हैं॥ तिनिकूं सुणि करि यह अज्ञानी जीव अैसैं मानैं है जो मोकूं कह्या, अैसैं मानि रूषै है, रोस करै है तथा तोष करै है॥ छ॥

शव्दरूप परिणया पुद्गलद्रव्य है सो यह पुद्गलद्रव्य का गुण है, अन्य है, तातैं हे अज्ञानी जीव, तोकूं तौ किछू ही न कह्या, तू अज्ञानी भया काहे कूं रोस करै है॥ छ॥

अशुभ अथवा शुभ शव्द है सो तोकूं अैसैं नाही कहै है जो तू मोकूं सुणि॥ वहुरि श्रोत्र इंद्रिय

शुभ या अशुभ रस कोई भी, 'तू चाख मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे, रसनगोचर स्वाद को॥ ३७८॥
शुभ या अशुभ जो स्पर्श वह, 'तू स्पर्श मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे, कायगोचर स्पर्श को॥ ३७९॥
शुभ या अशुभ गुण कोइ भी, 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे, बुद्धिगोचर गुण अरे!॥ ३८०॥
शुभ या अशुभ जो द्रव्य वह, 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे, बुद्धिगोचर द्रव्य रे!॥ ३८१॥
यह जान कर भी मूढ़ जीव, पावे नहीं उपशम अरे!।
शिव-बुद्धि को पाया नहीं, वह पर-ग्रहण करना चहे॥ ३८२॥

अर्थ – निन्दा और स्तुति के वचनरूप पुद्गल, बहुत प्रकार से परिणमते हैं, उनको सुन कर यह अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि 'मुझसे कहा' – ऐसा मान कर वह रुष्ट होता है, क्रोध करता है और सन्तुष्ट होता है॥ ३७३॥

शब्दरूप से परिणमन करना, यह पुद्गलद्रव्य का गुण है, [वह तुझसे] अन्य है; अतः हे अज्ञानी जीव! [उन्होंने] तुझे तो कुछ कहा ही नहीं है, तू अज्ञानी होता क्यों हुआ रुष्ट होता है?॥ ३७४॥

---

१. *वा* – 'ब' प्रति पाठ

के विषय मैं आया जो शव्द, ताकूं ग्रहण करनें कूं अपनें स्वरूप कूं छोडि सो आत्मा भी नाही प्राप्त होय है॥ छ॥

वहुरि अशुभ अथवा शुभ रूप है सो तोकूं अैसैं नाही कहै है जो तू मोकूं देषि॥ वहुरि चक्षु इंद्रिय के विषय मैं आया जो रूप, ताकूं सो आत्मा भी ग्रहण करनें कूं अपनां प्रदेशनि कूं छोडि नाही प्राप्त होय है॥ छ॥

वहुरि अशुभ अथवा शुभ गंध है सो तोकूं अैसैं नाहीं कहै है जो तू मोकूं सूंघि॥ वहुरि घ्राण इंद्रिय का विषय मैं आया जो गंध, ताकूं सो आत्मा भी ग्रहण करनें कूं अपनां प्रदेश कूं छोडि नाही प्राप्त होय है॥ छ॥

वहुरि अशुभ वा शुभ रस है सो तोकूं अैसैं नाही कहै है जो तू मोकूं आस्वाद करि॥ वहुरि रसन इंद्रिय का विषय मैं आया जो रस, ताकूं सो आत्मा भी ग्रहण करनें कूं अपनां प्रदेश कूं छोडि नाही प्राप्त होय है॥ छ॥

वहुरि अशुभ वा शुभ स्पर्श है सो तोकूं अैसैं नाही कहै है जो तू मोकूं स्पर्शि॥ वहुरि स्पर्शन इंद्रिय के विषय मैं आया जो स्पर्श, ताकूं सो आत्मा भी ग्रहण करनें कूं अपनां प्रदेश कूं छोडि नाही प्राप्त होय है॥ छ॥

वहुरि अशुभ वा शुभ द्रव्य का गुण है सो तोकूं अैसैं नाही कहै है जो तू मोकूं जाणि॥ वहुरि वुद्धि के विषय मैं आया जो गुण, ताकूं सो आत्मा भी ग्रहण करनें कूं अपनां प्रदेश कूं छोडि नाही

अशुभ या शुभ 'शब्द' तुझे ऐसा नहीं कहते हैं कि 'तुम मुझे सुनो' और श्रोत्र-इन्द्रिय के विषयभूत इन शब्दों को ग्रहण करने के लिए यह आत्मा भी अपने स्वरूप [या प्रदेशों] को छोड़ कर [उन्हें] प्राप्त नहीं होता है॥ ३७५॥

अशुभ या शुभ 'रूप' तुझे ऐसा नहीं कहते हैं कि 'तुम मुझे देखो' और चक्षु-इन्द्रिय के विषयभूत इस रूप को ग्रहण करने के लिए यह आत्मा भी अपने प्रदेशों को छोड़ कर [उन्हें] प्राप्त नहीं होता है॥ ३७६॥

अशुभ या शुभ 'गन्ध' तुझे ऐसा नहीं कहते हैं कि 'तुम मुझे सूँघो' और घ्राण-इन्द्रिय के विषयभूत इस गन्ध को ग्रहण करने के लिए यह आत्मा भी अपने प्रदेशों को छोड़ कर [उन्हें] प्राप्त नहीं होती है॥ ३७७॥

अशुभ या शुभ 'रस' तुझे ऐसा नहीं कहते हैं कि 'तुम मेरा आस्वाद लो' और रसना-इन्द्रिय के विषयभूत इस रस को ग्रहण करने के लिए यह आत्मा भी अपने प्रदेशों को छोड़ कर [उन्हें] प्राप्त नहीं होता है॥ ३७८॥

अशुभ या शुभ 'स्पर्श' भी तुझे ऐसा नही कहते हैं कि 'तुम मेरा स्पर्श करो' और स्पर्शन-इन्द्रिय के विषयभूत इस स्पर्श को ग्रहण करने के लिए यह आत्मा भी अपने प्रदेशों को छोड़ कर [उन्हें] प्राप्त नहीं होता है॥ ३७९॥

अशुभ या शुभ '[अन्य] द्रव्य के गुण' तुझे ऐसा नहीं कहते हैं कि 'तुम मुझे जानो' और बुद्धि

प्राप्त होय है॥ छ॥

वहुरि अशुभ वा शुभ द्रव्य है सो तोकूं अैसैं नाही कहै है जो तू मोकूं जाणि॥ वहुरि वुद्धि के विषय मैं आया जो द्रव्य, ताकूं सो आत्मा भी ग्रहण करने कूं अपनां प्रदेश कूं छोडि नाही प्राप्त होय है॥ छ॥

यह मूढ जीव है सो अैसैं यहु जाणि करि, उपशमभाव कूं नाही प्राप्त होय है अर पर के ग्रहण करने कूं मन करै है॥ जातैं आप कल्याणरूप वुद्धि जो सम्यक्ज्ञान, ताकूं नाही प्राप्त भया है॥ छ॥

॥ टीका॥ तहां प्रथम दृष्टांत कहै है॥ जैसैं वाह्यपदार्थ घट पट आदिक हैं सो, जैसैं कोई देवदत्त नाम पुरुष, यज्ञदत्त नाम पुरुष कूं हाथ पकडि कहै, तैसैं दीपक कूं अपनें प्रकाशनें विषै नाही प्रेरणां करै है जो तू मोकूं प्रकाशि॥ वहुरि दीपक है सो भी अपनें स्थानक कूं छोडि, जैसैं चुंवकपाषाण कूं लोह की सूई अपना स्थानक कूं छोडि जाय लगै, तैसैं नाही जाय लगै है॥

तौ कहा है॥ वस्तु का स्वभाव कै पर करि उपजावनें कूं अशक्यपणां[१] है तथा पर कूं उपजावनें का असमर्थपणां है॥ वहुरि जैसै घट पटादिक समीप नाही होतैं दीपक प्रकाशरूप है, तैसैं ही तिनिकूं समीप होतैं भी अपना स्वरूप ही करि प्रकाशरूप है॥ वहुरि अपनां स्वरूप ही करि प्रकाशरूप होता दीपक कै वस्तुस्वभाव ही तैं विचित्र परिणति कूं प्राप्त होता जो मनोहर अमनोहर घट पट आदि पदार्थ सो किंचित्मात्र भी विक्रिया कै अर्थि नाही कल्पिये है॥

के विषयभूत इन गुणों को ग्रहण करने के लिए यह आत्मा भी अपने प्रदेशों को छोड़ कर [उन्हें] प्राप्त नहीं होता है॥ ३८०॥

अशुभ या शुभ '[अन्य] द्रव्य' तुझे ऐसा नहीं कहते हैं कि 'तुम मुझे जानो' और बुद्धि के विषयभूत इन द्रव्यों को ग्रहण करने के लिए यह आत्मा भी अपने प्रदेशों को छोड़ कर [उन्हें] प्राप्त नहीं होता है॥ ३८१॥

यह मूढ़ जीव, ऐसा जान कर भी उपशमभाव को प्राप्त नहीं होता है और पर को ग्रहण करने का मन बनाता है क्योंकि वह कल्याणरूप बुद्धि अर्थात् सम्यग्ज्ञान को प्राप्त नहीं हुआ है॥ ३८२॥

टीका – यहाँ प्रथम **दृष्टान्त** कहते हैं – जैसे, कोई देवदत्त नामक पुरुष, यज्ञदत्त नामक पुरुष को हाथ पकड़ कर कहता है; उस प्रकार घट-पट आदि बाह्यपदार्थ, स्वयं को प्रकाशित करने के लिए दीपक को प्रेरित नहीं करते हैं कि तुम मुझे प्रकाशित करो। तथा जैसे, चुम्बक-पत्थर से [आकर्षित] लोहे की सुई अपना स्थान छोड़ कर उससे चिपक जाती है; उसी प्रकार दीपक भी अपने स्थान को छोड़ कर, उन (घट-पटादि) के पास जाकर चिपक नहीं जाता है।

तो कैसा है? – वस्तुस्वभाव में पर के द्वारा उत्पन्न होने की अशक्यता है और पर को उत्पन्न करने की भी असमर्थता है। जैसे, घट-पट आदि के समीप नहीं होने पर भी दीपक प्रकाशरूप है; उसी प्रकार उनके समीप होने पर भी वह अपने स्वरूप ही से प्रकाशरूप है तथा अपने स्वरूप ही से प्रकाशरूप होते हुए दीपक में, वस्तुस्वभाव ही से विचित्र परिणति को प्राप्त होनेवाले मनोहर या अमनोहर घट-पट आदि बाह्य पदार्थ, किञ्चित्मात्र भी विक्रिया (विकृति, विकार या परिणमन)

---

१. *असक्यपणां* - 'अ' प्रति पाठ।

तैसैं ही दार्ष्टांत है जो वाह्यपदार्थ शव्द रूप गंध रस स्पर्श गुण द्रव्य हैं ते, जैसैं देवदत्त नाम पुरुष यज्ञदत्त नाम पुरुष कूं हाथ पकडि कहै, तैसैं नाही कहै हैं, मोकूं सुणि, मोकूं देषि, मोकूं सूंघि, मोकूं आस्वादि, मोकूं स्पर्शि, मोकूं जाणि, अैसैं अपनें ज्ञान करि आत्मा कूं नाही प्रेरैं हैं॥ वहुरि आत्मा है सो भी जैसैं चुंवकपाषाण करि षैंची लोह की सूई, पाषाण कै जाय लगै है, तैसैं अपनें स्थानक प्रदेशनि तैं छूटि, तिनिकूं जाननें कूं नाही जाय है॥

तौ कहा है॥ वस्तु का स्वभाव कै पर करि उपजावनें का अशक्यपणां[१] है तथा पर कूं उपजावनें का असमर्थपणां है॥ वहुरि जैसैं शव्दादिक कूं समीप नाही होतैं तिनिकूं आत्मा, अपनें स्वरूप ही करि जानैं है॥ तैसैं ही तिनिकूं समीप होतैं भी अपनें स्वरूप ही करि तिनिकूं जानैं है॥ वहुरि अपनें स्वरूप ही करि शव्दादिक कूं जानता आत्मा कै ते शव्द आदिक, वस्तुस्वभाव ही तैं विचित्र परिणति कूं प्राप्त होते मनोहर तथा अमनोहर वाह्यपदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया कै अर्थि नाही कल्पिये हैं॥

अैसैं आत्मा है सो दीपक की ज्यौं परद्रव्य प्रति नित्य ही उदासीन है, अैसी ही वस्तु की मर्यादा है॥ तौऊ जो राग द्वेष उपजै है सो अज्ञान है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ आत्मा, शव्द कूं सुणि करि, रूप कूं देषि करि, गंध कूं सूंघि करि, रस कूं आस्वादि करि, स्पर्श कूं स्पर्शि करि, गुण द्रव्य कूं जाणि करि, भला वुरा मानि करि, राग द्वेष उपजावै है सो

उत्पन्न करते हुए नहीं जाने जाते हैं।

इसी प्रकार **दार्ष्टान्त** है – जैसे, देवदत्त नामक पुरुष, यज्ञदत्त नामक पुरुष को हाथ पकड़ कर कहता है; उस प्रकार शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, गुण, द्रव्य आदि बाह्यपदार्थ, आत्मा को अपना ज्ञान करने के लिए प्रेरित नहीं करते हैं कि मुझे सुनो, मुझे देखो, मुझे सूँघो, मुझे चखो, मुझे स्पर्श करो, मुझे जानो आदि। तथा जैसे, चुम्बक-पत्थर से खींची हुई लोहे की सुई [अपना स्थान छोड़ कर] चुम्बकपाषाण से चिपक जाती है; उस प्रकार आत्मा भी अपना स्थान अर्थात् अपने प्रदेशों को छोड़ कर, उनको जानने को नहीं जाता है।

तो कैसा है? वस्तुस्वभाव में पर के द्वारा उत्पन्न होने की अशक्यता है और पर को उत्पन्न करने की भी असमर्थता है। जैसे, शब्द आदि के समीप नहीं होने पर भी, उनको आत्मा, अपने स्वरूप से ही जानता है; उसी प्रकार उनके समीप होने पर भी, वह अपने स्वरूप ही से उनको जानता है तथा अपने स्वरूप ही से शब्द आदि को जानते हुए आत्मा में वे शब्द आदि, वस्तुस्वभाव ही से विचित्र परिणति को प्राप्त होनेवाले मनोहर या अमनोहर बाह्यपदार्थ, किञ्चित्मात्र भी विक्रिया (विकृति, विकार या परिणमन) उत्पन्न करते हुए नहीं जाने जाते हैं।

इस प्रकार आत्मा, दीपक के समान परद्रव्यों के प्रति नित्य ही उदासीन है। ऐसी ही वस्तु की मर्यादा है, फिर भी जो राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, वह अज्ञान है।

भावार्थ – यदि आत्मा, शब्द को सुन कर, रूप को देख कर, गन्ध को सूँघ कर, रस को आस्वाद कर, स्पर्श को स्पर्श कर, [बाह्य] गुण-द्रव्य को जान कर, उन्हें भला-बुरा मान कर, राग-

---

१. *असक्यपणां* - 'अ' प्रति पाठ

यह अज्ञान है॥ जातैं ते शव्दादिक तौ जड पुद्गलद्रव्य के गुण हैं सो आत्मा कूं कछू कहै नाही जो हम कूं ग्रहण करौ अर आत्मा भी अपनां प्रदेशनि कूं छोडि, तिनिकूं ग्रहण करनें कूं तिनि विषै जाय नाही है। जैसैं तिनिकूं समीप नाही होतैं जानै है, तैसैं ही समीप होतैं जानैं है, आत्मा कै विकार कै अर्थि किंचित्मात्र भी नाही है। जैसैं दीपक, घट पटादिक कूं प्रकाशै है, तैसैं आत्मा तिनिकूं जानैं है॥ अैसा वस्तु का स्वभाव है, तौऊ आत्मा राग द्वेष उपजावै है सो यह अज्ञान ही है॥ छ॥

अव, इस ही अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

पूर्णैकाऽच्युतशुद्धबोधमहिमा, बोद्धा[१] न बोध्यादयं,
यायात् कामपि विक्रियां तत इतो, दीपः प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थितिबोधबन्ध्यधिषणा, एते किमज्ञानिनो,
रागद्वेषमयी भवन्ति सहजां, मुञ्चन्त्युदासीनताम्॥ २९॥

॥ अर्थ॥ यह वोद्धा कहिये ज्ञानी है सो पूर्ण अर एक जो च्युत नाही होय अर शुद्ध विकार तैं रहित अैसा जो ज्ञान, तिसस्वरूप है महिमा जाकी अैसा है सो अैसा ज्ञानी वोध्य कहिये ज्ञेयपदार्थ तिनितैं किछू भी विक्रिया कूं नाही प्राप्त होय है॥ जैसैं दीपक है सो प्रकाशनें योग्य घट पट आदि पदार्थ हैं, तिनितैं विक्रिया कूं प्राप्त नाही होय है, तैसैं॥ सो अैसैं वस्तु की मर्यादा का ज्ञान करि रहित

द्वेष उत्पन्न करता है तो यह अज्ञान है क्योंकि ये शब्द आदि तो जड़-पुद्गल के गुण हैं; वे आत्मा को तो कुछ कहते नहीं हैं कि हमको ग्रहण करो और आत्मा भी अपने प्रदेशों को छोड़ कर, उनको ग्रहण करने के लिए उनके पास जाता नहीं है। जिस प्रकार उनको समीप न होने पर जानता है, उसी प्रकार समीप होने पर जानता है; वे आत्मा में किञ्चित्मात्र भी विकार के कारण नहीं होते हैं। जैसे, दीपक, घट-पट आदि को प्रकाशित करता है; उसी प्रकार आत्मा, उन्हें जानता है – ऐसा वस्तु का स्वभाव है फिर भी आत्मा, राग-द्वेष उत्पन्न करता है – यह अज्ञान ही है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला ॥

जैसे दीपक दीप्त वस्तुओं से अप्रभावित,
वैसे ही ज्ञायक ज्ञेयों से विकृत ना हो।
फिर भी अज्ञानीजन क्यों असहज होते हैं,
ना जाने क्यों व्याकुल हो विचलित होते हैं॥ २२२॥

अर्थ – यह बोद्धा अर्थात् ज्ञानी (ज्ञायक आत्मा), पूर्ण एक अच्युत और विकाररहित शुद्ध – ऐसे ज्ञानस्वरूप महिमावान् है। जैसे, दीपक प्रकाशित होने योग्य घट-पट आदि पदार्थों से कुछ भी विक्रिया (विकृति, विकार या परिणमन) को प्राप्त नहीं होता है; वैसे ही ज्ञानी बोध्य अर्थात्

---

१. ***बोध*** - अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ / ***बोधो*** - सोनगढ़ प्रकाशन पाठ

है धिषणा कहिये वुद्धि जिनिकी, अैसै भये संते ए अज्ञानी जीव, अपनी स्वाभाविक उदासीनता कूं क्यों छोडै हैं अर राग द्वेषमयी क्यों होय हैं॥ अैसा आचार्य नैं शोच किया है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय कूं जाननें ही का है। जैसैं दीपक का स्वभाव घट पटादिक कूं प्रकाशनें का है॥ यह वस्तुस्वभाव है। ज्ञेय कूं जाननेंमात्र तैं ज्ञान मैं विकार नाही होय है अर ज्ञेय कूं जानि करि भला वुरा मानि आत्मा रागी द्वेषी विकारी होय है सो यह अज्ञान है। सो आचार्य शोच कीया है जो वस्तु का स्वभाव तौ अैसैं, अर यह आत्मा अज्ञानी होय करि राग द्वेषरूप क्यों परिणमै है, अपनीं स्वाभाविक उदासीनता अवस्थारूप क्यों रहै नाही॥ सो यह आचार्य का शोच युक्त है, जातैं जेतैं शुभराग है, तेतैं प्राणीनि कूं अज्ञान तैं दुखी देषि करुणा उपजै, तब शोच होय है॥ छ॥

अव, अगिले कथन की सूचनिकारूप काव्य कहै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो, नित्यं स्वभावस्पृशः,
पूर्वाऽगामिसमस्तकर्मविकला, भिन्नास्तदात्वोदयात्।
दूराऽरूढचरित्रवैभवबलात्, चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं,
विन्दन्ति स्वरसाऽभिषिक्तभुवनां, ज्ञानस्य सञ्चेतनाम्॥ ३०॥

ज्ञेयपदार्थों से कुछ भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार वस्तु की मर्यादा के ज्ञान से रहित धिषणा अर्थात् बुद्धिवाले होते हुए, वे अज्ञानी जीव, अपनी स्वाभाविक उदासीनता (वीतरागस्वरूप) को क्यों छोड़ते हैं और राग-द्वेषमय क्यों होते हैं? इस तरह आचार्य ने खेद प्रगट किया है।

भावार्थ – जैसे, दीपक का स्वभाव, घट-पट आदि को प्रकाशित करने का है; वैसे ज्ञान का स्वभाव, ज्ञेयों को जानने ही का है – यह वस्तुस्वभाव है। ज्ञेयों को जाननेमात्र से ज्ञान में विकार नहीं होता है, फिर भी ज्ञेय को जान कर, भला-बुरा मान कर, आत्मा, रागी-द्वेषी विकारी होता है – यह अज्ञान है।

यहाँ आचार्य ने खेद व्यक्त किया है कि वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है परन्तु यह आत्मा, अज्ञानी होकर राग-द्वेषरूप क्यों परिणमता है? अपनी स्वाभाविक उदासीन अवस्थारूप क्यों नहीं रहता है? आचार्य का यह खेद उचित ही है क्योंकि जब तक [आचार्यों को] शुभ राग है, तब तक प्राणियों को अज्ञान के कारण दु:खी देख कर, करुणा उत्पन्न होती है, तब खेद होता ही है।

अब, आगामी कथन की सूचनिकारूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

राग-द्वेष से रहित भूत-भावी कर्मों से,
मुक्त स्वयं को वे नित ही अनुभव करते हैं।
और स्वयं में रत रह ज्ञानमयी चेतनता,
को धारण कर निज में नित्य मगन रहते हैं॥ २२३॥

॥ अर्थ ॥ ज्ञानी हैं ते कैसे हैं। राग द्वेष जे विभाव तिनि करि रहित है मह कहिये तेज जिनिका॥

वहुरि कैसै हैं। नित्य ही अपनां चैतन्यचमत्कारमात्र स्वभाव है, ताकूं स्पर्शनेंवाले हैं॥

वहुरि कैसे हैं। 'पूर्वैं कीये कर्म अर आगामि होंयगे जे कर्म, तिनि समस्तनि तैं रहित हैं॥'[१]

वहुरि कैसे हैं। तदात्व कहिये वर्तमानकाल मैं आवै जो कर्म का उदय, तातैं भिन्न हैं॥

अैसैं ज्ञानी हैं, ते अतिशय करि अंगीकार किया जो चारित्र, ताका जो विभव समस्त परद्रव्य का त्याग, ताके वल तैं ज्ञान की सम्यक् प्रकार चेतनां, ताकूं अनुभवैं हैं॥

कैसी है ज्ञानचेतना। चंचत् कहिये चिमकती जागती जो चैतन्यरूप ज्योति, तिसमयी है॥

वहुरि कैसी है। अपनां ज्ञानरूप रस ता करि सींच्या है भुवन कहिये तीन लोक जिहिं॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ जिनिका राग द्वेष गया अर अपनें चैतन्यस्वभाव का अंगीकार भया अर अतीत अनागत वर्तमान कर्म का ममत्व गया, अैसे ज्ञानी सर्व परद्रव्य तैं न्यारे होय चारित्र कूं अंगीकार करैं हैं, ताके वल तैं कर्मचेतना अर कर्मफलचेतना तैं न्यारी जो अपनीं चैतन्य के परिणमनस्वरूप ज्ञानचेतनां, ताकूं अनुभवन करैं हैं॥

इहां तात्पर्य यह जाननां जो पहलैं तौ कर्मचेतना अर कर्मफलचेतना तैं भिन्न अपनीं ज्ञानचेतना का स्वरूप, आगम अनुमान स्वसंवेदन प्रमाण तैं जानैं अर ताका श्रद्धान प्रतीति दृढ करै सो यह तौ अविरत देशविरत प्रमत्त अवस्था मैं भी होय है॥ वहुरि जव अप्रमत्त अवस्था होय है, तव अपनां स्वरूप

अर्थ – ज्ञानी कैसे हैं? – जिनका मह अर्थात् तेज, राग-द्वेष आदि विभावों से रहित है।

और कैसे हैं? – नित्य ही अपने चैतन्य-चमत्कारमात्र स्वभाव को स्पर्श करनेवाले हैं।

और कैसे हैं? – पूर्व में किये कर्मों और आगामी होनेवाले कर्मों, उन समस्त से रहित हैं।

और कैसे हैं? – तदात्व अर्थात् वर्तमानकाल में आनेवाले कर्मों के उदय से भिन्न हैं।

इस प्रकार ज्ञानी, अतिशयतापूर्वक अङ्गीकार किए गये चारित्र के वैभव अर्थात् समस्त परद्रव्य के त्याग के बल से ज्ञानचेतना का सम्यक् प्रकार से अनुभव करते हैं।

कैसी है ज्ञानचेतना? – चञ्चत् अर्थात् चमकती हुई, जागती हुई चैतन्यरूप ज्योतिमयी है।

और कैसी है? – जिसने अपने ज्ञानरूप रस से भुवन अर्थात् तीन लोक को सींचा है।

भावार्थ – जिनका राग-द्वेष दूर हो गया है, जिन्होंने अपने चैतन्यस्वभाव का अङ्गीकार किया है और जिनका अतीत-अनागत-वर्तमानकाल के कर्मों के प्रति ममत्व दूर हो गया है – ऐसे ज्ञानी, सर्व परद्रव्यों से भिन्न होकर चारित्र को अङ्गीकार करते हैं एवं उसके बल से कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न अपने चैतन्य के परिणमनस्वरूप ज्ञानचेतना का अनुभव करते हैं।

यहाँ ऐसा तात्पर्य जानना कि पहले तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न, अपनी ज्ञानचेतना का स्वरूप; आगम, अनुमान व स्वसंवेदनप्रमाण से जानना और उसका दृढ़ श्रद्धान अर्थात् प्रतीति करना;

---

१. *पूर्वैं कीये जे समस्त कर्म अर आगामि होंयगे जे समस्त कर्म, तिनितैं रहित हैं* - 'ब' प्रति पाठ

ही का ध्यान करै है, तव ज्ञानचेतना का जैसा श्रद्धान कीया, तिस विषै लीन होय है, तव श्रेणी चढि केवलज्ञान उपजाय साक्षात् ज्ञानचेतनारूप होय है॥ ऐसैं जाननां॥ छ॥

अव, इस अर्थ कूं गाथा मैं कहै हैं॥ तहां अतीत कर्म तैं ममत्व छोडै सो प्रतिक्रमण है॥ आगामी न करनें की प्रतिज्ञा करै सो प्रत्याख्यान है॥ वर्त्तमान कर्म उदय आया, ताका ममत्व छोडै सो आलोचना है॥ ऐसैं चारित्र का विधान है, ताकूं कहै है॥ छ॥

कम्मं जं पुव्वकयं, सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥ ७६॥
कम्मं जं सुहमसुहं, जम्हि य भावम्मि बज्झइ[१] भविस्सं।
तत्तो णियत्तए जो, सो पच्चक्खाणं हवइ चेया॥ ७७॥
जं सुहमसुहमुदिण्णं, संपदि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जं चेयइ, सो खलु आलोयणं चेया॥ ७८॥

इतना तो अविरत, देशविरत, प्रमत्त अवस्था में भी होता है परन्तु जब अप्रमत्त अवस्था होती है, तब अपने स्वरूप ही का ध्यान करता है; तब ज्ञानचेतना का जैसा श्रद्धान किया था, उसी में लीन होता है; फिर श्रेणी चढ़ कर केवलज्ञान उत्पन्न करके साक्षात् ज्ञानचेतनारूप होता है – ऐसा जानना।

अब, इस अर्थ को गाथा में कहते हैं कि अतीत कर्म से ममत्व छोड़ना, प्रतिक्रमण है; आगामी कर्मों को न करने की प्रतिज्ञा करना, प्रत्याख्यान है और वर्तमान में उदय में आये कर्म का ममत्व छोड़ना, आलोचना है; इस प्रकार चारित्र के विधान को कहते हैं –

कम्मं जं पुव्वकयं, सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥ ३८३॥[२]
कम्मं जं सुहमसुहं, जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं।
तत्तो णियत्तदे जो, सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा॥ ३८४॥
जं सुहमसुहमुदिण्णं, संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेददि, सो खलु आलोयणं चेदा॥ ३८५॥
णिच्चं पच्चक्खाणं, कुव्वदि णिच्चं पि जो दु[३] पडिक्कमदि।
णिच्चं आलोचेयदि[४], सो दु चरित्तं हवदि चेदा॥ ३८६॥

---

१. *बज्झए* – 'अ' प्रति पाठ
२. इस गाथा का गाथा ३०६-३०७ की टीका में उल्लेख है
३. दु – कुन्दकुन्दभारती में पाठ नहीं
४. *आलोचेदिय* – तात्पर्यवृत्ति पाठ

णिच्चं पच्चक्खाणं, कुव्वइ णिच्चं पडिक्कमदि जो य।
णिच्चं आलोचेयइ, सो हु चरित्तं हवइ चेया॥ ७९॥

॥ चतुष्कं ॥

कर्म यत्पूर्वकृतं, शुभाऽशुभमनेकविस्तरविशेषम्।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणम्॥ छ॥
कर्म यच्छुभमशुभं, यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत्।
तस्मान्निवर्तते यः, स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता॥ छ॥
यच्छुभमशुभमुदीर्णं, सम्प्रति चाऽनेकविस्तरविशेषम्।
तं दोषं यश्चेतयते, स खल्वाऽलोचनं चेतयिता॥ छ॥
नित्यं प्रत्याख्यानं, करोति नित्यं प्रतिक्रामति यश्च।
नित्यमालोचयति, स खलु चरित्रं भवति चेतयिता॥ छ॥

॥ अर्थ॥ पूर्वैं अतीत काल मैं कीये जे शुभ अशुभ ज्ञानावरण आदि अनेक प्रकार का विस्तार विशेषरूप कर्म, तिनितैं जो चेतयिता आत्मा अपनें आत्मा कूं निवर्त्तन करै, छुडावै सो आत्मा प्रतिक्रमणस्वरूप है॥ छ॥

वहुरि जो आगामी काल मैं कर्म शुभ तथा अशुभ, जिस भाव के होतैं वंधैं हैं, तिस अपनें भाव तैं जो चेतयिता निवर्त्ति[१] होय छूटै, सो आत्मा प्रत्याख्यानस्वरूप है॥ छ॥

शुभ और अशुभ अनेकविध के, कर्म पूरव जो किये।
उनसे निवर्ते आत्म जो, वह आतमा प्रतिक्रमण है॥ ३८३॥
शुभ अरु अशुभ भावी करम का, बन्ध हो जिन भाव में।
उनसे निवर्तन जो करे, वह आतमा प्रत्याख्यान है॥ ३८४॥
शुभ और अशुभ अनेकविध हैं, उदित जो इस काल में।
उन दोष को जो चेतता, आलोचना वह जीव है॥ ३८५॥
प्रत्याख्यान नित्य करे अरु, प्रतिक्रमण जो नित्य ही करे।
नित्य ही करे आलोचना, वह आत्मा चारित्र है॥ ३८६॥

अर्थ – पूर्व अतीत काल में किये जो शुभ-अशुभ ज्ञानावरण आदि अनेक प्रकार के विस्तार-विशेषरूप कर्मों से जो चेतयिता आत्मा, अपनी आत्मा को निवर्तित करता है, छुड़ाता है; वह आत्मा प्रतिक्रमणस्वरूप है॥ ३८३॥

आगामी काल में जो शुभ-अशुभकर्म, जिन भावों के होने पर बँधे हैं; उन अपने भावों से जो

---

१. *निव्रत्त* - 'ब' प्रति पाठ

वहुरि जो वर्त्तमान काल मैं शुभ तथा अशुभकर्म, अनेक प्रकार ज्ञानावरण आदि विस्तारूप विशेषनि कूं लीयें उदय आया, ताकूं दोष कूं जो चेतयिता चेतरूप भया चेतै, वेदै, अनभवै, तिसका स्वामित्वपणां कर्त्तापणां छोडै सो आत्मा आलोचनास्वरूप है॥ छ॥

अैसैं जो आत्मा नित्य प्रत्याख्यान करै है॥ नित्य प्रतिक्रमण करै है॥ नित्य आलोचना करै है॥ सो चेतयिता चारित्रस्वरूप है॥ छ॥

॥ टीका॥ जो आत्मा, पुद्गलकर्म के उदय तैं भये भावनि तैं अपनें आत्मा कूं निवर्त्तन करै, छुडावै सो आत्मा तिस भाव कूं कारणभूत जो पूर्वैं अतीत काल मैं कीये कर्म कूं प्रतिक्रमणरूप करता संता आप ही प्रतिक्रमणस्वरूप होय है॥ वहुरि सो ही आत्मा पूर्वकर्म का कार्यभूत जो आगामी वंधैगा कर्म, ताकूं प्रत्याख्यानरूप करता, त्यागता संता आप ही प्रत्याख्यानस्वरूप होय है॥ वहुरि सो ही आत्मा वर्त्तमान जो कर्म का उदय, तातैं आप कूं अत्यंत भेद करि अनुभवन करता संता प्रवर्त्तै सो आप ही आलोचनास्वरूप होय है॥

अैसैं यह आत्मा नित्य प्रतिक्रमण करता संता, नित्य प्रत्याख्यान करता संता, नित्य आलोचना करता संता, पूर्व कर्म के कार्यरूप अर उत्तर आगामी कर्म के कारणरूप जे भाव, तिनितैं अत्यंत निवृत्तिस्वरूप भया संता अर वर्त्तमान जो कर्म का उदय, तातैं आप कूं अत्यंत भेद करि पावता संता अपनां जो ज्ञानस्वभाव, तिस ही विषै निरंतर प्रवर्त्तनें तैं आप ही चारित्रस्वरूप होय है॥ वहुरि अैसैं

चेतयिता आत्मा निवृत्त होता है, छूटता है; वह आत्मा प्रत्याख्यानस्वरूप है॥ ३८४॥

जो वर्तमान काल में शुभ-अशुभ कर्म, अनेक प्रकार के ज्ञानावरण आदि विस्तारूप विशेषों को लेकर उदय में आते हैं, उनके दोषों को जो चेतयिता आत्मा, जागृत होकर चेतता है, वेदता है, अनुभव करता है, उसका स्वामीपना और कर्तापना छोड़ता है; वह आत्मा आलोचनास्वरूप है॥ ३८५॥

इस प्रकार जो आत्मा नित्य प्रत्याख्यान करता है, नित्य प्रतिक्रमण करता है और नित्य आलोचना करता है; वह चेतयिता आत्मा चारित्रस्वरूप है॥ ३८६॥

टीका – जो आत्मा, पुद्गलकर्म के उदय से हुए भावों से अपनी आत्मा को निवर्तित करता है, छुड़ाता है; वह आत्मा, उन भावों के कारणभूत पूर्व अतीत काल में किये कर्मों को प्रतिक्रमणरूप करता हुआ, स्वयं ही प्रतिक्रमणस्वरूप होता है; वही आत्मा, पूर्व कर्मों के कार्यभूत आगामी बँधनेवाले कर्मों को प्रत्याख्यानरूप करता हुआ, त्यागता हुआ, स्वयं ही प्रत्याख्यानस्वरूप होता है और वही आत्मा, वर्तमान कर्मों के उदय से अपने को अत्यन्त भिन्नरूप अनुभव करता हुआ प्रवर्तता है, वह स्वयं ही आलोचनास्वरूप होता है।

इस प्रकार यह आत्मा नित्य प्रतिक्रमण करता हुआ, नित्य प्रत्याख्यान करता हुआ और नित्य आलोचना करता हुआ, पूर्वकर्म के कार्यरूप और उत्तर भाविकर्म के कारणरूप भावों से अत्यन्त निवृत्तस्वरूप होता हुआ और वर्तमान कर्म के उदय से अपने को अत्यन्त भिन्न प्राप्त करता हुआ, अपने ज्ञानस्वभाव में ही निरन्तर प्रवर्तन करने से स्वयं ही चारित्रस्वरूप होता है। इस तरह चारित्रस्वरूप

चारित्ररूप होता संता आप कूं ज्ञानमात्र चेतने तैं, अनुभवने तैं आप ही ज्ञानचेतनास्वरूप होय है॥ अैसा भाव है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ इहां निश्चयचारित्र प्रधान करि कथन है, तहां चारित्र मैं प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचना का विधान है॥ तहां लग्या दोष तैं आत्मा कूं निवर्त्तन करणां सो तो प्रतिक्रमण है अर आगामी दोष लगावणें का त्याग करनां सो प्रत्याख्यान है अर वर्त्तमान दोष तैं आत्मा कूं न्यारा करणां सो आलोचना है॥

सो निश्चय विचारिये, तव तीनूं काल संवंधी कर्मनि तैं आत्मा कूं भिन्न जाननां श्रद्धनां अनुभवनां, अैसैं कीये आत्मा ही प्रतिक्रमण है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही आलोचना है। तीनां स्वरूप निरंतर आत्मा का अनुभवन सो ही चारित्र है अर निश्चयचारित्र है सो ही ज्ञानचेतनां का अनुभवन है, इस ही अनुभवन तैं साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप केवलज्ञानमय आत्मा प्रगट होय है॥ छ॥

अव आगैं, ज्ञानचेतनां अर अज्ञानचेतनां जो कर्मचेतनां अर कर्मफलचेतनां, ताका स्वरूप प्रगट करै है, ताकी सूचनिका का काव्य कहै है॥

॥ उपजाति॥

ज्ञानस्य सञ्चेतनयैव नित्यं, प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसञ्चेतनया तु धावन्, बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः॥ २२॥

होता हुआ स्वयं को ज्ञानमात्र चेतने से, अनुभव करने से, स्वयं ही ज्ञानचेतनास्वरूप होता है – ऐसा भाव है।

भावार्थ – यहाँ निश्चयचारित्र की प्रधानता से कथन है। वहाँ चारित्र में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का विधान होता है। वहाँ पहले लगे हुए दोषों से आत्मा का निवर्तन करना तो प्रतिक्रमण है; आगामी दोषों को लगाने का त्याग करना, प्रत्याख्यान है एवं वर्तमान दोषों से आत्मा को अलग करना, आलोचना है।

यहाँ निश्चय से विचार करने पर तीनों काल सम्बन्धी कर्मों से आत्मा को भिन्न जानना, श्रद्धान करना, अनुभव करना – ऐसा करता हुआ, आत्मा ही प्रतिक्रमण है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही आलोचना है। इस प्रकार तीनों स्वरूप आत्मा का निरन्तर अनुभवन ही चारित्र है, निश्चयचारित्र है, वही ज्ञानचेतना का अनुभवन है। इसी अनुभवन से साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप केवलज्ञानमय आत्मा प्रगट होता है।

अब आगे, ज्ञानचेतना और अज्ञानचेतना अर्थात् कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का स्वरूप प्रगट करते हैं, उसकी सूचनिका का काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

ज्ञानचेतना शुद्धज्ञान को करे प्रकाशित,
शुद्धज्ञान को रोके नित अज्ञानचेतना।

॥ अर्थ ॥ ज्ञान की संचेतना करि ही ज्ञान है सो अत्यंत शुद्ध निरंतर प्रकाशै है॥ वहुरि अज्ञान की चेतना करि वंध है सो दोडता संता ज्ञान की शुद्धता कूं रोकै है, न होनें दे है॥

॥ भावार्थ ॥ संचेतना कहिये जो जहां जिस तैं एकाग्र होय, तिस ही वोर अनुभवनरूप स्वाद लीया करै सो तिसस्वरूप चेतना कहिये, सो जब ज्ञान ही तैं एकाग्र उपयुक्त होय, तिस ही वोर चेत राषै सो तो ज्ञानचेतना है सो यातैं तौ ज्ञान अत्यंत शुद्ध होय प्रकाशै है, केवलज्ञान उपजि आवै है, तव संपूर्ण ज्ञानचेतना नाम पावै है॥ वहुरि अज्ञान जो कर्म अर कर्म का फलरूप उपयोग कूं करनां सो तिस ही वोर एकाग्र होय अनुभव करनां सो अज्ञानचेतना है सो यातैं कर्म का वंध होय है सो ज्ञान की शुद्धता कूं रोकै है॥ छ॥

अव, इस कथन कूं गाथा करि कहै है॥ छ॥

वेदंतो कम्मफलं, अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधइ, बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं॥ ८०॥
वेदंतो कम्मफलं, मए कयं मुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधइ, बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं॥ ८१॥

और बन्ध की कर्ता यह अज्ञानचेतना,
यही जान चेतो आतम नित ज्ञानचेतना॥ २२४॥

अर्थ – ज्ञान की सञ्चेतना से ही ज्ञान अत्यन्त शुद्ध होकर निरन्तर प्रकाशित होता है और अज्ञान की सञ्चेतना से बन्ध दौड़ता हुआ ज्ञान की शुद्धता को रोकता है, नहीं होने देता है।

भावार्थ – सञ्चेतना अर्थात् जो चेतना, जहाँ जिसके प्रति एकाग्र होकर उसी का अनुभवनरूप स्वाद लेती है, वह चेतना उसस्वरूप कहलाती है; अतः जब वह चेतना, ज्ञान ही के प्रति एकाग्र उपयुक्त होकर उसी का ध्यान करती है तो वह ज्ञानचेतना है; इससे ज्ञान अत्यन्त शुद्ध होकर प्रकाशित होता है, केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब 'सम्पूर्ण ज्ञानचेतना' नाम प्राप्त होता है तथा अज्ञानरूप अर्थात् कर्म और कर्म के फलरूप उपयोग को करना और उसी का एकाग्र होकर अनुभव करना, वह अज्ञानचेतना है; इससे कर्म का बन्ध होता है, अतः ज्ञान की शुद्धता को रोकता है।

अब, इस कथन को गाथा द्वारा कहते हैं —

वेदंतो कम्मफलं, अप्पाणं कुणदि जो दु[1] कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि, बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं॥ ३८७॥
वेदंतो कम्मफलं, मए कदं मुणदि जो दु[2] कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि, बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं॥ ३८८॥

---

१ व २. *जो दु कुणदि / जो दु मुणदि* - कुन्दकुन्दभारती प्रकाशन पाठ

वेदंतो कम्मफलं, सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणो वि बंधइ, बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं॥ ८२॥

॥ त्रिकलं॥

वेदयमानः कर्मफल-मात्मानं करोति यस्तु कर्मफलम्।
स तत्पुनरपि बध्नाति, बीजं दुःखस्याऽष्टविधम्॥ छ॥
वेदयमानः कर्मफलं, मया कृतं जानाति यस्तु कर्मफलम्।
स तत्पुनरपि बध्नाति, बीजं दुःखस्याऽष्टविधम्॥ छ॥
वेदयमानः कर्मफलं, सुखितो दुःखितश्च भवति यश्चेतयिता।
स तत्पुनरपि बध्नाति, बीजं दुःखस्याऽष्टविधम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो आत्मा, कर्म का फल कूं वेदता संता कर्मफल कूं आपरूप ही करै, मानैं सो फेरि भी दुःख का वीज ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार का कर्म कूं वांधै है॥ छ॥

वहुरि कर्म का फल कूं वेदता संता तिस कर्मफल कूं अैसैं जानैं है, यह मैं कीया है सो फेरि भी दुःख का वीज आठ प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्म कूं वांधै है॥ छ॥

वहुरि कर्म का फल कूं वेदता संता आत्मा है सो सुखी दुःखी होय है सो चेतयिता फेरि भी

वेदंतो कम्मफलं, सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणो वि बंधदि, बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं॥ ३८९॥

जो कर्मफल को वेदता जीव, कर्मफल निजरूप करे।
वह पुनः बाँधे अष्टविध के, कर्म को, दुःखबीज को॥ ३८७॥
जो कर्मफल को वेदता, जाने 'करमफल मैं किया'।
वह पुनः बाँधे अष्टविध के, कर्म को, दुःखबीज को॥ ३८८॥
जो कर्मफल को वेदता, वह जीव सुखी-दुःखी होय है।
वह पुनः बाँधे अष्टविध के, कर्म को, दुःखबीज को॥ ३८९॥

अर्थ – जो आत्मा, कर्म के फल को वेदता हुआ कर्मफल को निजरूप ही करता है, मानता है; वह पुनः पुनः दुःख के बीजभूत आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों को बाँधता है॥ ३८७॥

[जो आत्मा], कर्म के फल को वेदता हुआ, उस कर्मफल को ऐसा जानता है कि 'यह मैंने किया'; वह भी पुनः दुःख के बीजभूत आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों को बाँधता है॥ ३८८॥

जो आत्मा, कर्म के फल को वेदता हुआ सुखी-दुःखी होता है, वह चेतयिता भी पुनः दुःख

दुःख का वीज ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार कर्म, ताकूं वांधै है॥ छ॥

॥ टीका॥ ज्ञान तैं अन्य जो अन्य भाव, ता विषै अैसैं चेतै, अनुभवै, मानैं जो यह मैं हौं, सो अज्ञानचेतनां है॥ सो दोय प्रकार है॥ कर्मचेतनां कर्मफलचेतनां॥ तहां ज्ञान सिवाय अन्य भावनि विषै अैसैं चेतै, अनुभवै, मानैं जो याकूं मैं करूं हौं सो तौ कर्मचेतनां है॥ वहुरि ज्ञान सिवाय अन्य भावनि विषै अैसैं चेतै, अनुभवै, मानैं जो याकूं मैं वेदौं हौं, भोगऊं हौं सो कर्मफलचेतनां है॥

सो यह दोऊ ही प्रकार की अज्ञानचेतनां है सो संसार का वीज है॥ जातैं संसार का वीज अष्ट प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्म है, ताका यह अज्ञानचेतनां वीज है॥ यातैं कर्म उपजै हैं, वंधै हैं, तातैं जो मोक्ष का अर्थी पुरुष है, ता करि अज्ञानचेतनां का नाश कै अर्थि समस्त कर्म की संन्यास भावनां कहिये पटकि देणें की भावनां, त्यागनें की भावनां कूं नचाय करि, नृत्य कराय करि अर फेरि समस्त कर्म के फल की संन्यास की भावना, त्याग की भावना कूं नचाय करि अर अपनां स्वभावभूत जो ज्ञानवती भगवती एक ज्ञानचेतनां, ताही कूं निरंतर नृत्य करावनें योग्य है॥

तहां, प्रथम ही सकल कर्म के संन्यास की भावनां कूं नृत्य करावै है। ताका कलशरूप काव्य है॥ छ॥

॥ आर्या॥

कृतकारिताऽनुमननै-स्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं, परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे॥ ३२॥

के बीजभूत आठ प्रकार के ज्ञानावरण आदि कर्मों को बाँधता है॥ ३८९॥

टीका – ज्ञान से भिन्न अन्य भावों में जो ऐसा चेतता है, अनुभव करता है, मानता है कि 'यह मैं हूँ,' वह अज्ञानचेतना है, वह दो प्रकार है – कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। वहाँ ज्ञान के अतिरिक्त अन्य भावों में जो ऐसा चेतता है, अनुभव करता है, मानता है कि 'मैं इनको करता हूँ', वह तो कर्मचेतना है और ज्ञान के अतिरिक्त अन्य भावों में जो ऐसा चेतता है, अनुभव करता है, मानता है कि 'मैं इनको वेदता हूँ, भोगता हूँ', वह कर्मफलचेतना है।

उक्त दोनों ही प्रकार की अज्ञानचेतनाएँ, संसार का बीज हैं क्योंकि संसार के बीज ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्म हैं और उनका बीज यह अज्ञानचेतना है, इससे कर्म उपजते हैं, बँधते हैं; इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुषों के द्वारा अज्ञानचेतना का नाश करने के लिए समस्त कर्मों के संन्यास की भावना अर्थात् उनको पछाड़ देने की भावना, त्याग देने की भावना को नचा कर अर्थात् नृत्य करा कर और उसके साथ समस्त कर्मफल के संन्यास की भावना, त्याग देने की भावना को नचा कर, अपने स्वभावभूत ज्ञानवती भगवती एक ज्ञानचेतना का ही निरन्तर नृत्य कराने योग्य है [अर्थात् ज्ञानचेतना का ही निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।]

यहाँ, पहले सकल कर्म के संन्यास की भावना को नचाते हैं, उसका कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ अर्थ ॥ अतीत अनागत वर्त्तमान काल संवंधी सर्व ही कर्म है, ताहि कृत कारित अनुमोदना अर मन वचन काय करि, परिहार करि, छोडि करि उत्कृष्ट निःकर्म अवस्था है, ताहि मैं अवलंवन करौं हौं। अैसैं सर्व कर्म का त्याग करनेंवाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करै॥ छ॥

अव, सर्व कर्म का त्याग करनें का कृत कारित अनुमोदना, मन वचन काय करि गुणचास भंग होय हैं॥ तहां अतीत काल संवंधी कर्म के त्याग करनें कूं प्रतिक्रमण कहिये, ताके प्रथम ही गुणचास भंग करि कहैं हैं। तहां टीका मैं संस्कृत पाठ अैसैं है॥ छ॥

यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतम्॥

॥ याका अर्थ ॥ प्रतिक्रमण करनेंवाला कहै है जो मैं दुःकृत कहिये पापकर्म, अतीत काल मैं कीया था अर अन्य कूं प्रेरि करि कराया था अर अन्य कूं करते कूं अनुमोद्या था, भला जाण्यां था मन करि वचन करि काय करि, सो मेरा पापकर्म मिथ्या होहु।

॥ भावार्थ ॥ पापकर्म कूं संसार का वीज जाणि हेयवुद्धि आई, तव ममत्व छोड्या, यह ही

॥ रोला ॥

भूत-भविष्यत्-वर्तमान के सभी कर्म कृत-,
कारित अरु अनुमोदनादि मैं सभी ओर से।
सबका कर परित्याग हृदय से वचन-काय से,
अवलम्बन लेता हूँ मैं निष्कर्मभाव का॥ २२५॥

अर्थ – अतीत-अनागत-वर्तमान, तीन काल-सम्बन्धी सभी कर्मों को कृत-कारित-अनुमोदना और मन-वचन-काय से परिहार कर अर्थात् छोड़ कर, उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्था का मैं अवलम्बन करता हूँ; इस प्रकार सर्व कर्मों का त्याग करनेवाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है।

अब, सर्व कर्म का त्याग करने के सम्बन्ध में कृत-कारित-अनुमोदना और मन-वचन-काय के माध्यम से उनचास [४९-४९] भङ्ग होते हैं। वहाँ अतीतकाल सम्बन्धी कर्म के त्याग करने को प्रतिक्रमण कहते हैं, यहाँ सबसे पहले उसके ही उनचास भङ्गों को कहते हैं। वहाँ संस्कृत टीका में ऐसा पाठ है —

यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं[१], मनसा च वाचा च कायेन चेति[२], तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति[३]।

अर्थ – प्रतिक्रमण करनेवाला कहता है कि 'मैंने जो दुष्कृत अर्थात् पापकर्म अतीतकाल में मन-वचन-काय से किया था, अन्य को प्रेरित करके कराया था और अन्य करते हुए की अनुमोदना की थी, भला जाना था; वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो।'

---

१ – ३. अगास, अहिंसा मन्दिर एवं सोनगढ़ प्रकाशन पाठ।

मिथ्या करनां। अैसैं यह एक भंग भया॥ सो याकी समस्या अैसी जो कृत कारित अनुमोदनां ए तीन हैं, ताका तौ तीन का अंक स्थापिये॥ वहुरि मन वचन काय ए भी तीन यामैं लागे, तातैं याका दूसरा तीया स्थापिये, तव तेतीस का अंक भया, सो इस भंग कूं तेतीस का है, अैसा नाम कहिये॥ १॥ ३३॥[१]

अैसैं ही टीका मैं अन्य भंगनि का संस्कृत पाठ है, तिनिकी वचनिका करि लिषिये है॥

जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं कीया अर अन्य कूं प्रेरणां करि कराया अर अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, मन करि वचन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ अैसैं दूसरा भंग है॥ इहां समस्या कृत कारित अनुमोदना का तौ तीया ही है अर मन अर वचन दोय ही लागे, काय न लागा, तातैं दोय का अंक थापिये, तव तीया अर दूवा, अैसैं वत्तीस का भंग नाम भया॥ २॥ ३२॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं कीया अर अन्य कूं प्रेरणा करि कराया अर अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, मन करि अर काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ अैसैं तीसरा भंग है॥ इहां कृत कारित अनुमोदना का तौ तीया ही भया अर मन करि अर काय करि अैसैं दोय लागे, तातैं तीया दूवा, अैसैं याका नाम वत्तीस का भंग भया॥ इहां वचन न लागा॥ ३॥ ३२॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं कीया अर अन्य कूं प्रेरणा करि कराया अर अन्य कूं

भावार्थ – पापकर्म को संसार का बीज जान कर, उसमें हेयबुद्धि हुई, तब ममत्व छोड़ा – यही मिथ्या करना है। – इस प्रकार यह पहला भङ्ग है। यहाँ गणित ऐसा है कि कृत-कारित-अनुमोदना – इन तीन के लिए तो तीन का अङ्क रखते हैं और मन-वचन-काय – इन तीन को लगाने के लिए दूसरा तीन का अङ्क रखते हैं – ऐसे तेतीस का अङ्क बनता है। इस प्रकार इस भङ्ग को **तेतीस का भङ्ग** कहते हैं॥ १-३३॥[२]

[इस तरह तेतीस का एक भङ्ग है।]

इसी प्रकार टीका में अन्य भङ्गों के संस्कृत पाठ हैं, यहाँ उनकी वचनिका करते हुए लिखते हैं –

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन और वचन से किया था, अन्य को प्रेरित करके कराया था और अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो।' – यह दूसरा भङ्ग है। यहाँ गणित की दृष्टि से कृत-कारित-अनुमोदना – इन तीन के लिए तो तीन का अङ्क है एवं मन और वचन दो ही लिये हैं, काय को नहीं लिया है, अतः दो का अङ्क रखा है; तब तीन और दो, इस प्रकार **बत्तीस का भङ्ग** होता है॥ २-३२॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन और काय से किया था, अन्य को प्रेरित करके कराया था और अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो।' – यह तीसरा भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना के लिए तो तीन का अङ्क ही है एवं मन और काय दो ही लिये है, वचन को नहीं लिया है; अतः तीन और दो, इस प्रकार **बत्तीस का भङ्ग** होता है॥ ३-३२॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में वचन और काय से किया था, अन्य को प्रेरणा देकर कराया

---

१ व २. यहाँ ॥ १॥ ३३॥ या ॥ १-३३॥ में पहली संख्या (१) भङ्ग के क्रम की है और दूसरी संख्या (३३) भङ्ग के गणित की है; इसी प्रकार आगे भी जानना।

करते कूं भी भला जाण्यां, वचन करि अर काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होऊ॥ अैसा चोथा भंग है॥ इहां कृत कारित अनुमोदना का तौ तीया ही है अर वचन अर काय दोय लागे, मन न लाग्या, तातैं दूवा भया, तातैं याकूं भी वत्तीस का भंग कहिये॥ ४॥ ३२॥

इहां तांई वत्तीस के तीन भंग भये॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं कीया अर अन्य कूं प्रेरणा करि कराया अर अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, मन ही करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होऊ॥ अैसैं पांचवां भंग भया॥ इहां कृत कारित अनुमोदना का तौ तीया ही है अर एक मन ही लागा, ताका एका भया, वचन काय न लागा, तातैं याका नाम इकतीस का भंग कह्या॥ ५॥ ३१॥

वहुरि जो मैं अतीत काल मैं पापकर्म कीया अर अन्य कूं प्रेरणा करि कराया अर अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, वचन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ अैसैं छठा भंग भया॥ इहां कृत कारित अनुमोदना का तौ तीया ही है अर वचन ही एक लागा, मन काय न लागा, तातैं तीया एका, अैसैं इकतीस का भंग नाम भया॥ ६॥ ३१॥

वहुरि जो मैं पापकर्म, अतीत काल मैं कीया अर अन्य कूं प्रेरि करि कराया अर अन्य करते कूं भला जाण्यां, काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ अैसैं यह सातवां भंग भया॥ इहां कृत कारित अनुमोदना का तौ तीया ही है अर काय ही लागा, मन वचन न लागा, तातैं तीया एका, अैसैं इकतीस का भंग नाम पाया॥ ७॥ ३१॥

था और अन्य करते हुए को भला जाना था; वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो।' – यह चौथा भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना के लिए तो तीन का अङ्क ही है एवं वचन और काय दो लगाये हैं; मन को नहीं लिया है; अतः दो का अङ्क रखा है, इस प्रकार **बत्तीस का भङ्ग** होता है॥ ४-३२॥

इस तरह बत्तीस के तीन भङ्ग हैं।

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन ही से किया था, अन्य को प्रेरित करके कराया था और अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो।' – यह पाँचवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना का तो तीन का अङ्क ही है एवं एक मन ही को लिया है, वचन और काय को नहीं लिया, अतः एक का अङ्क रखा है; इस प्रकार इसको **इकतीस का भङ्ग** कहा है॥ ५-३१॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में वचन से किया था, अन्य को प्रेरणा देकर कराया था और अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो।' – यह छठा भङ्ग है। यहाँ कृत कारित-अनुमोदना का तो तीन का अङ्क ही है एवं एक वचन ही को लिया है, मन और काय को नहीं लिया है, अतः एक का अङ्क रखा है; इस प्रकार तीन और एक होने से इकतीस का भङ्ग कहा है॥ ६-३१॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में काय से किया था, अन्य को प्रेरणा देकर कराया था और अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो।' – यह सातवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना का तो तीन का अङ्क ही है एवं एक काय ही को लिया है, मन और वचन को नहीं लिया है, अतः एक का अङ्क रखा है; इस प्रकार तीन और एक होने से **इकतीस का भङ्ग** कहा है॥ ७-३१॥

ऐसैं इकतीस के भी तीन ही भंग भये॥ छ॥

वहुरि जो मैं पापकर्म, अतीत काल मैं कीया अर जो अन्य कूं प्रेरि करि कराया, मन वचन काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ ऐसैं यह आठवां भंग भया॥ इहां कृत कारित, ए दोय ही लगाये अर मन वचन काय तीनूं लगाये, तातैं दूवा तीया, ऐसैं समस्या मैं तेईस का भंग नाम भया॥ ८॥ २३॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं कीया, अर अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, मन वचन काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ ऐसैं नोववां[१] भंग है॥ इहां कृत अनुमोदनां ए दोय ही लीये, अर मन वचन काय तीनूं ही लागे, तातैं दूवा तीया, ऐसैं तेईस की समस्या भई, तातैं तेईस का भंग नाम पाया॥ ९॥ २३॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं [अतीत काल मैं] अन्य कूं प्रेरि करि कराया अर अन्य करते कूं भला जाण्यां, मन वचन काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु। ऐसैं यह दसवां[२] भंग है॥ इहां कारित अनुमोदना दोय ही लीये, अर मन वचन काय, तीनूं ही लागे, तातैं तेईस की समस्या का भंग भया॥ १०॥ २३॥

ऐसे तेईस का भी तीन भंग भये॥ छ॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं कीया अर अन्य कूं प्रेरि करि कराया, मन वचन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ ऐसैं यह ग्यारवां भंग भया॥ यामैं कृत कारित दोय लीये, अर मन

इस तरह इकतीस के भी तीन भङ्ग हैं।

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन-वचन-काय से किया था और अन्य को प्रेरणा देकर कराया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो।' – यह आठवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित दो ही लिये हैं एवं मन-वचन-काय तीनों लगाये हैं; अतः दो और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेईस का भङ्ग** बनता है॥ ८-२३॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन-वचन-काय से किया था और अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह नवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना दो ही लिये हैं एवं मन-वचन-काय तीनों ही लगाये हैं; अतः दो और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेईस का भङ्ग** बनता है॥ ९-२३॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन-वचन-काय से अन्य को प्रेरित करके कराया था और अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह दसवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना दो ही लिये हैं एवं मन-वचन-काय तीनों ही लगाये हैं; अतः दो और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेईस का भङ्ग** बनता है॥ १०-२३॥

इस तरह तेईस के भी तीन ही भङ्ग हैं।

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन और वचन से किया था एवं अन्य को प्रेरित करके

---

१ व २. नोव का / दस का - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

वचन दोय लागे, तातैं दोय दोय अैसैं वाईस की समस्या तैं वाईस का भंग नाम कहिये॥ ११॥ २२॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं कीया अर अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, मन करि वचन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ अैसैं वारवां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना लीया, मन वचन लागा। तातैं वाईस की समस्या तैं वाईस का भंग कहिये॥ १२॥ २२॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं अन्य कूं प्रेरि कराया अर अन्य करते कूं भला जाण्यां, मन करि वचन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ अैसैं यह तेरवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदना दोय लीये, मन वचन ए दोय लागे। तातैं वाईस की समस्या तैं वाईस का भंग नाम पाया॥ १३॥ २२॥

वहुरि जो मैं अतीत काल मैं पापकर्म कीया अर अन्य कूं प्रेरि कराया, मन करि काय करि, सो मेरा पापकर्म मिथ्या होहु॥ यह चोदवां भंग भया॥ यामैं कृत कारित दोऊ लीये, मन काय दोय लागे। तातैं वाईस की समस्या तैं वाईस का भंग कहिये॥ १४॥ २२॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं कीया अतीत काल मैं अर करते कूं अन्य कूं भला जाण्यां, मन काय करि॥ अैसैं पंदरवां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना लीया, अर मन काय लागे। तातैं वाईस का भंग कहिये॥ १५॥ २२॥

कराया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह ग्यारहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित दो लिये हैं एवं मन और वचन दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ ११-२२॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन और वचन से किया था एवं अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह बारहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना दो लिये हैं एवं मन और वचन दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १२-२२॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन और वचन से अन्य को प्रेरित करके कराया था एवं अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' - यह तेरहवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना दो लिये हैं एवं मन और वचन दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १३-२२॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन और काय से किया था एवं अन्य को प्रेरित करके कराया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो।' – यह चौदहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित दो लिये हैं एवं मन और काय दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि में **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १४-२२॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन और काय से किया था और अन्य करते हुए को भला जाना था, वह पापकर्म मेरा मिथ्या हो' – यह पन्द्रहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना दो लिये हैं एवं मन और काय दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १५-२२॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं [अतीत काल मैं] अन्य कूं प्रेरि करि कराया अर अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, मन करि काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ ऐसैं सोलवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदना लीया, मन काय लागा। तातैं वाईस की समस्या तैं वाईस का भंग नाम है॥ १६॥ २२॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं कीया अर अन्य कूं प्रेरि करि कराया, वचन करि काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह सतरवां भंग है॥ यामैं कृत कारित लीया, वचन काय लागा। तातैं वाईस की समस्या तैं वाईस का भंग कहिये॥ १७॥ २२॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं कीया अर अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, वचन करि काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह अठारवां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना लीया, वचन काय लागे। तातैं वाईस की समस्या तैं वाईस का भंग कहिये॥ १८॥ २२॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं अन्य कूं प्रेरि करि कराया अर अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, वचन करि काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह उगणीसवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदना ए दोय लीये, अर वचन काय लागा। तातैं वाईस की समस्या तैं वाईस का भंग कहिये॥ १९॥ २२॥

ऐसे वाईस की समस्या के नव भंग भये।

वहुरि जो मैं पापकर्म, अतीत काल मैं कीया अर अन्य कूं प्रेरि करि कराया, एक मन ही करि,

---

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन और काय से अन्य को प्रेरित करके कराया था एवं अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह सोलहवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना दो लिये हैं एवं मन और काय दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १६-२२॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में वचन और काय से किया था एवं अन्य को प्रेरित करके कराया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह सत्रहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित दो लिये हैं एवं वचन और काय दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १७-२२॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में वचन और काय से किया था एवं अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह अठारहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना दो लिये हैं एवं वचन और काय दो लगाये हैं, अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १८-२२॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में वचन और काय से अन्य को प्रेरित करके कराया था एवं अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह उन्नीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना दो लिये हैं एवं वचन और काय दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १९-२२॥

इस तरह बाईस के नौ भङ्ग हैं।

सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह वीसवां भंग है॥ यामैं कृत कारित ए दोय लीया, अर एक मन ही लागा। तातैं दूवा एका तैं इकईस की समस्या तैं इकईस का भंग कहिये॥ २०॥ २१॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं कीया अर अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, मन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह इकईसवां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना ए दोय लीये, एक मन लागा। तातैं इकईस की समस्या तैं इकईस का भंग कहिये॥ २१॥ २१॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं अन्य कूं प्रेरि करि कराया अर अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, मन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह वाईसवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदना ए दोय लीये, अर एक मन लागा। तातैं इकईस की समस्या तैं इकईस का भंग नाम है॥ २२॥ २१॥

वहुरि जो मैं पापकर्म, अतीत काल मैं कीया अर अन्य कूं प्रेरि करि कराया, वचन करि, सो मेरा पापकर्म मिथ्या होहु॥ यह तेईसवां भंग है॥ यामैं कृत कारित ए दोय लीये, अर वचन ही लागा ताका एका। अैसैं इकईस की समस्या तैं इकईस का भंग कहिये॥ २३॥ २१॥

वहुरि जो मैं पापकर्म, अतीत काल मैं कीया अर अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, वचन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह चोईसवां[१] का भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना ए दोय लीये, अर

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में एक मन ही से किया था और अन्य को प्रेरित करके कराया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह बीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित दो लिये हैं एवं एक मन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २०-२१॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में एक मन ही से किया था और अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह इक्कीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना दो लिये हैं एवं एक मन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २१-२१॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में एक मन ही से अन्य को प्रेरित करके कराया था और अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह बाईसवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना दो लिये हैं एवं एक मन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २२-२१॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में एक वचन ही से किया था और अन्य को प्रेरित करके कराया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह तेईसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित दो लिये हैं एवं एक वचन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २३-२१॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में एक वचन ही से किया था, अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह चौबीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना दो लिये हैं एवं

---

१. *चोईस* - 'अ' प्रति में पाठ।

एक वचन ही लागा। तातैं इकईस की समस्या तैं इकईस का भंग कहिये॥ २४॥ २१॥

वहुरि जो मैं पापकर्म, अतीत काल मैं अन्य कूं प्रेरि करि कराया अर अन्य कूं करते कूं ते भला जाण्यां, वचन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह पचीसवां भंग भया॥ यामैं कारित अर अनुमोदना ए दोय लीये, अर एक वचन ही लागा। तातैं इकईस की समस्या तैं इकईस का भंग कहिये॥ २५॥ २१॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं कीया अर अन्य कूं प्रेरि करि कराया, काय करि, सो मेरा पापकर्म मिथ्या होहु॥ यह छवीसवां भंग है॥ यामैं कृत कारित दोय लीये अर एक काय लगाई। तातैं इकईस की समस्या तैं इकईस का भंग कहिये॥ २६॥ २१॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं कीया अर अन्य करते कूं भला जाण्यां, काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह सताईसवां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना दोय लीये, अर एक काय लागा। तातैं इकईस की समस्या तैं इकईस का भंग नाम कहिये॥ २७॥ २१॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं अन्य कूं प्रेरि करि कराया अर अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह अठाईसवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदना ए दोय ले, एक काय लगाया। तातैं इकईस की समस्या तैं इकईस का भंग नाम है॥ २८॥ २१॥

एक वचन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २४-२१॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में एक वचन ही से अन्य को प्रेरित करके कराया था और अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह पच्चीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना दो लिये हैं एवं एक वचन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २५-२१॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में एक काय से किया था, और अन्य को प्रेरित करके कराया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह छब्बीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित दो लिये हैं एवं एक काय लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २६-२१॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में एक काय से किया था और अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह सत्ताईसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना दो लिये हैं एवं एक काय लगाया है, अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २७-२१॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में एक काय से अन्य को प्रेरित करके कराया था और अन्य करते हुए को भला जाना, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह अट्ठाईसवाँ भङ्ग है यहाँ कारित और अनुमोदना दो लिये हैं एवं एक काय लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २८-२१॥

ऐसैं इकईस के नव भंग भये॥ छ॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं कीया, मन करि वचन करि काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह गुणतीसवां भंग है॥ यामैं कृत एक ही ले, मन वचन काय तीनूं लगाये। तातैं तेरा की समस्या तैं तेरा का भंग कहिये॥ २९॥ १३॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं अन्य कूं प्रेरि करि कराया, मन वचन काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह तीसवां का भंग है॥ यामैं कारित एक ले, मन वचन काय तीनूं लगाये। तातैं तेरा की समस्या तैं तेरा का भंग कहिये॥ ३०॥ १३॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, मन करि वचन करि काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह इकतीसवां भंग है॥ यामैं अनुमोदना एक ले, मन वचन काय, तीनूं लगाये। तातैं एका तीया, तेरा की समस्या तैं तेरा का भंग है॥ ३१॥ १३॥

ऐसैं तेरा की समस्या के तीन भंग भये॥ छ॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं कीया, मन करि वचन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह वतीसवां भंग है॥ यामैं कृत एक ले, मन वचन ए दोय लगाये। तातैं वारा की समस्या तैं वारा का भंग कहिये॥ ३२॥ १२॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं अन्य कूं प्रेरि करि कराया, मन करि वचन करि, सो

इस तरह इक्कीस के भी नौ भङ्ग हैं।

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन-वचन-काय से किया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह उनतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत ही लिया है एवं मन-वचन-काय तीनों लगाये हैं; अत: एक और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेरह का भङ्ग** बनता है॥ २९-१३॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन-वचन-काय से अन्य को प्रेरित करके कराया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह तीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित ही लिया है एवं मन-वचन-काय तीनों लगाये हैं; अत: एक और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेरह का भङ्ग** बनता है॥ ३०-१३॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन-वचन-काय से अन्य करते हुए को भला जाना था, वह पापकर्म मेरा मिथ्या हो' – यह इकतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना ही लिया है एवं मन-वचन-काय तीनों लगाये हैं; अत: एक और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेरह का भङ्ग** बनता है॥ ३१-१३॥

इस तरह तेरह के तीन भङ्ग हैं।

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन और वचन से मैंने किया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह बत्तीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत ही लिया है एवं मन और वचन दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३२-१२॥

पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह तेतीसवां भंग है॥ यामैं कारित एक ले, मन वचन ए दोय लगाये। तातैं एक दुवा, अैसैं वारह की समस्या तैं वारा का भंग कहिये॥ ३३॥ १२॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, मन करि वचन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह चोतीसवां भंग भया॥ यामैं अनुमोदना एक ले, मन वचन ए दोय लगाये। तातैं एका दूवा, अैसैं वारह का भंग कहिये॥ ३४॥ १२॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं कीया, मन करि काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह पैंतीसवां भंग है॥ यामैं कृत एक ले, मन अर काय, ए दोय लगाये। तातैं वारह की समस्या तैं वारा का भंग कहिये॥ ३५॥ १२॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं अन्य कूं प्रेरि करि कराया, मन करि काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह छतीसवां भंग है॥ यामैं कारित एक ले, मन अर काय ए दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या तैं वारह का भंग कहिये॥ ३६॥ १२॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, मन करि काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह सैंतीसवां भंग है॥ यामैं अनुमोदना एक ले, मन अर काय[१] दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या तैं वारह का भंग कहिये॥ ३७॥ १२॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन और वचन से अन्य को प्रेरित करके कराया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह तैंतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित ही लिया है एवं मन और वचन दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३३-१२॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन और वचन से अन्य करते हुए को भला जाना, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह चौंतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना ही लिया है एवं मन और वचन दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३४-१२॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन और काय से किया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह पैंतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत ही लिया है एवं मन और काय दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३५-१२॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन और काय से अन्य को प्रेरित कर कराया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह छत्तीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित ही लिया है एवं मन और काय दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३६-१२॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन और काय से अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह सैंतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना ही लिया है एवं मन और काय दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३७-१२॥

---

१. 'अ' प्रति में भूलवश 'काय' शब्द छूट गया है

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं कीया, वचन करि काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह अठतीसवां भंग है॥ यामैं कृत एक ले, वचन अर काय दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या तैं वारह का भंग कहिये॥ ३८॥ १२॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं अन्य कूं प्रेरि करि कराया वचन काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह गुणतालीसवां भंग है॥ यामैं कारित एक ले, वचन काय दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या तैं वारह का भंग कहिये॥ ३९॥ १२॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, वचन करि काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह चालीसवां भंग है॥ यामैं अनुमोदना एक ले, वचन अर काय ए दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या तैं वारह का भंग कहिये॥ ४०॥ १२॥

अैसैं वारह की समस्या के नव भंग भये॥ छ॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं कीया, मन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह इकतालीसवां भंग है॥ यामैं एक कृत ले, एक मन लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या तैं ग्यारह का भंग कहिये॥ ४१॥ ११॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं अन्य कूं प्रेरि करि कराया, मन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह वयालीसवां भंग है॥ यामैं एक कारित ले, एक मन लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या तैं ग्यारह का भंग कहिये॥ ४२॥ ११॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में वचन और काय से किया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह अड़तीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत ही लिया है एवं वचन और काय दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३८-१२॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में वचन और काय से अन्य को प्रेरित करके कराया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह उनचालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित ही लिया है एवं वचन और काय दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३९-१२॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में वचन और काय से, अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह चालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना ही लिया है एवं वचन और काय दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ४०-१२॥

इस तरह बारह के नौ भङ्ग हैं।

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन से किया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह इकतालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत ही लिया है एवं एक मन ही लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४१-११॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन से अन्य को प्रेरित करके कराया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह बयालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित ही लिया है एवं एक मन ही लगाया है;

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, मन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह तियालीसवां[१] भंग है॥ यामैं एक अनुमोदना ले, एक मन लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या तैं ग्यारह का भंग भया॥ ४३॥ ११॥

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं कीया, वचन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह चवालीसवां[२] भंग है॥ यामैं एक कृत ले, एक वचन लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या तैं ग्यारह का भंग कहिये॥ ४४॥ ११॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं अन्य कूं प्रेरि करि कराया, वचन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह पैंतालीसवां भंग है॥ यामैं कारित एक ले, एक वचन लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या तैं ग्यारह का भंग कहिये॥ ४५॥ ११॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, वचन करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह छियालीसवां भंग है॥ यामैं एक अनुमोदना ले, एक वचन लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या तैं ग्यारह का भंग कहिये॥ ४६॥ ११॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं कीया, काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह सैंतालीसवां भंग है॥ यामैं एक कृत ले, एक काय लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या तैं ग्यारह का भंग कहिये॥ ४७॥ ११॥

अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४२-११॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में मन से अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह तैंतालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना ही लिया है एवं एक मन ही लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४३-११॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में वचन से किया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह चवालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत ही लिया है एवं एक वचन ही लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४४-११॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में वचन से अन्य को प्रेरित करके कराया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह पैंतालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित ही लिया है एवं एक वचन ही लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४५-११॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में वचन से अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह छियालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना ही लिया है एवं एक वचन ही लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४६-११॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में काय से किया था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह सैंतालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत ही लिया है एवं एक काय ही लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४७-११॥

---

१. *तियालीस का* - 'अ' प्रति पाठ

२. *चवालीस का* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

वहुरि जो पापकर्म, मैं अतीत काल मैं अन्य कूं प्रेरि करि कराया, काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह अठतालीसवां भंग है॥ यामैं एक कारित ले, एक काय लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या तैं ग्यारह का भंग कहिये॥ ४८॥ ११॥

वहुरि जो पापकर्म, अतीत काल मैं मैं अन्य कूं करते कूं भला जाण्यां, काय करि, सो पापकर्म मेरा मिथ्या होहु॥ यह गुणचासवां भंग है॥ यामैं एक अनुमोदना ले, एक काय लगाया, तातैं एका एका, अैसैं ग्यारह की समस्या तैं ग्यारह का भंग कहिये॥ ४९॥ ११॥

अैसैं ग्यारह के नव भंग भये॥

अैसें ए गुणचास भंग हैं, तिनिमैं तेतीस की समस्या का एक (१), वत्तीस का तीन (३), इकतीस का तीन (३), तेईस का तीन (३), वाईस का नव (९), इकईस का नव (९), तेरा का तीन (३), वारह का नव (९), ग्यारह का नव (९), अैसैं सव मिलि गुणचास भये॥ ४९॥

इनि गुणचास भंगनि का संक्षेपपाठ[१] अैसैं जाननां॥

कृत कारित अनुमोदना, मन वचन काय करि (३३), ए तेतीस की समस्या का भंग॥ १॥

कृत कारित अनुमोदना, मन वचन करि (३२) कृत कारित अनुमोदना, मन काय करि (३२) कृत कारित अनुमोदना, वचन काय करि (३२), ए तीन वत्तीस की समस्या का॥ ३॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में काय से अन्य को प्रेरित करके कराया था, वह पापकर्म मेरा मिथ्या हो' – यह अड़तालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित ही लिया है एवं एक काय ही लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४८-११॥

'मैंने जो पापकर्म, अतीत काल में काय से अन्य करते हुए को भला जाना था, वह मेरा पापकर्म मिथ्या हो' – यह उनचासवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना ही लिया है एवं एक काय ही लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४९-११॥

इस तरह ग्यारह के नौ भङ्ग हैं।

- इस प्रकार प्रतिक्रमण के **उनचास भङ्ग** हैं, इनमें गणित की दृष्टि से तैंतीस का सूचक एक (१), बत्तीस के तीन (३), इकतीस के तीन (३), तेईस के तीन (३), बाईस के नौ (९), इक्कीस के नौ (९), तेरह के तीन (३), बारह के नौ (९) और ग्यारह के नौ (९) – ऐसे सब मिलाकर उनचास भङ्ग होते हैं।

इन उनचास भङ्गों का संक्षिप्त पाठ निम्न प्रकार जानना चाहिए —

कृत-कारित-अनुमोदना और मन-वचन-काय (३३), इनके द्वारा गणित की दृष्टि से तैंतीस का सूचक एक भङ्ग है॥ १॥

कृत-कारित-अनुमोदना और मन-वचन (३२), कृत-कारित-अनुमोदना और मन-काय (३२), कृत-कारित-अनुमोदना और वचन-काय (३२); इनके द्वारा बत्तीस के सूचक तीन भङ्ग हैं॥ ३॥

---

१. *संषेपपाठ* - 'अ' प्रति पाठ

कृत कारित अनुमोदना, मन करि (३१) कृत कारित अनुमोदना, वचन करि (३१) कृत कारित अनुमोदना, काय करि (३१), ए इकतीस की समस्या का तीन॥ ३॥

कृत कारित, मन वचन काय करि (२३) कृत अनुमोदना, मन वचन काय करि (२३) कारित अनुमोदना, मन वचन काय करि (२३), ए तेईस की समस्या का तीन॥ ३॥

कृत कारित, मन वचन करि (२२) कृत अनुमोदना, मन वचन करि (२२) कारित अनुमोदना, मन वचन करि (२२) कृत कारित मन काय करि (२२) कृत अनुमोदना, मन काय करि (२२) कारित अनुमोदना, मन काय करि (२२) कृत कारित, वचन काय करि (२२) कृत अनुमोदना, वचन काय करि (२२) कारित अनुमोदना, वचन काय करि (२२), ए नव वाईस की समस्या का॥ ९॥

कृत कारित, मन करि (२१) कृत अनुमोदना, मन करि (२१) कारित अनुमोदना, मन करि (२१) कृत कारित, वचन करि (२१) कृत अनुमोदना, वचन करि (२१) कारित अनुमोदना, वचन करि (२१) कृत कारित, काय करि (२१) कृत अनुमोदना, काय करि (२१) कारित अनुमोदना, काय करि (२१), ए नव इकईस की समस्या का है॥ ९॥

कृत, मन वचन काय करि (१३) कारित, मन वचन काय करि (१३) अनुमोदना, मन वचन काय करि (१३), ए तेरा की समस्या का तीन॥ ३॥

कृत, मन वचन करि (१२) कारित, मन वचन करि (१२) अनुमोदना, मन वचन करि (१२) कृत, मन काय करि (१२) कारित, मन काय करि (१२) अनुमोदना, मन काय करि (१२) कृत,

---

कृत-कारित-अनुमोदना और मन (३१),कृत-कारित-अनुमोदना और वचन (३१), कृत-कारित-अनुमोदना और काय (३१); इनके द्वारा इकतीस के सूचक तीन भङ्ग हैं॥ ३॥

कृत-कारित और मन-वचन-काय (२३), कृत-अनुमोदना और मन-वचन-काय (२३), कारित-अनुमोदना और मन-वचन-काय (२३); इनके द्वारा तेइस के सूचक तीन भङ्ग हैं॥ ३॥

कृत-कारित और मन-वचन (२२), कृत-अनुमोदना और मन-वचन (२२), कारित-अनुमोदना और मन-वचन (२२); कृत-कारित और मन-काय (२२), कृत-अनुमोदना और मन-काय (२२), कारित-अनुमोदना और मन-काय (२२); कृत-कारित और वचन-काय (२२), कृत-अनुमोदना और वचन-काय (२२), कारित-अनुमोदना और वचन-काय (२२); इनके द्वारा बाइस के सूचक नौ भङ्ग हैं॥ ९॥

कृत-कारित और मन (२१), कृत-अनुमोदना और मन (२१), कारित-अनुमोदना और मन (२१); कृत-कारित और वचन (२१), कृत-अनुमोदना और वचन (२१), कारित-अनुमोदना और वचन (२१); कृत-कारित और काय (२१), कृत-अनुमोदना और काय (२१), कारित-अनुमोदना और काय (२१); इनके द्वारा इक्कीस के सूचक नौ भङ्ग हैं॥ ९॥

कृत और मन-वचन-काय (१३), कारित और मन-वचन-काय (१३), अनुमोदना और मन-वचन-काय (१३); इनके द्वारा तेरह के सूचक तीन भङ्ग हैं॥ ३॥

कृत और मन-वचन (१२), कारित और मन-वचन (१२), अनुमोदना और मन-वचन (१२);

वचन काय करि (१२) कारित, वचन काय करि (१२) अनुमोदना, वचन काय करि (१२), ए नव वारा की समस्या का हैं॥ ९॥

कृत मन करि (११) कारित, मन करि (११) अनुमोदना, मन करि (११) कृत, वचन करि (११) कारित, वचन करि (११) अनुमोदना, वचन करि (११) कृत, काय करि (११) कारित, काय करि (११) अनुमोदना, काय करि (११), ए नव ग्यारा की समस्या का है॥ ९॥

अैसैं तेतीस का एक (१), वत्तीस का (३), इकतीस का (३), तेईस का (३), वाईस का (९), इकईस का (९), तेरा का (३), वारा का (९), ग्यारा का (९), सव मिलि गुणचास भये॥ ४९॥

अव, इस कथन का कलशरूप काव्य है, सो लिषिये है॥ छ॥

॥ आर्या॥

मोहाद्यदहमकार्षं, समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्याऽत्मनि, निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥ ३३॥

॥ अर्थ॥ जो मैं मोह तैं, अज्ञान तैं अतीत काल विषै कर्म कीये, तिनि समस्त ही कूं प्रतिक्रमणरूप करि अर समस्त कर्म तैं रहित चैतन्यस्वरूप जो आत्मा, ता विषै निरंतर आप ही करि वर्त्तौं हौं॥ अैसैं ज्ञानी अनुभव करै॥

कृत और मन-काय (१२), कारित और मन-काय (१२), अनुमोदना और मन-काय (१२); कृत और वचन-काय (१२), कारित और वचन-काय (१२), अनुमोदना और वचन-काय (१२); इनके द्वारा बारह के सूचक नौ भङ्ग हैं॥ ९॥

कृत और मन (११), कारित और मन (११), अनुमोदना और मन (११); कृत और वचन (११), कारित और वचन (११), अनुमोदना और वचन (११); कृत और काय (११), कारित और काय (११), अनुमोदना और काय (११); इनके द्वारा ग्यारह के सूचक नौ भङ्ग हैं॥ ९॥

अब, इस कथन का कलशरूप काव्य लिखते हैं —

॥ रोला॥

मोहभाव से भूतकाल में कर्म किये जो,
उन सबका ही प्रतिक्रमण करके अब मैं तो।
वर्त रहा हूँ अरे! निरन्तर स्वयं स्वयं के,
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में॥ २२६॥

अर्थ – ज्ञानी ऐसा अनुभव करता है कि मैंने मोह या अज्ञान के कारण अतीत काल में जो कर्म किये थे, उन सभी का प्रतिक्रमण करके एवं सर्व कर्मों से रहित चैतन्यस्वरूप आत्मा में स्वयं ही से निरन्तर वर्तता हूँ।

॥ भावार्थ ॥ अतीत काल मैं कीये कर्म को गुणचास भंगरूप मिथ्याकार प्रतिक्रमण करि ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा विषै लीन होय निरंतर अनुभव करै, ताका यह विधान है ॥ छ ॥ मिथ्या कहनें का प्रयोजन यहु जो जैसैं कोई पहलैं धन कमाय घर मैं धर्‍या था, पीछै तासूं ममत[१] छोड्या, तव ताका भोगनें का अभिप्राय नाही, कमाया था जैसा न कमाया। तैसैं कर्म वांध्या था, ताकूं अहित जानि ममत्व छोड्या, ताका फल मैं लीन न होयगा, तव वांध्या तैसा न वांध्या, मिथ्या ही है, अैसा जाननां ॥ छ ॥

अैसैं प्रतिक्रमणकल्प है ॥ छ ॥

अव आलोचनाकल्प है ॥ तहां संस्कृत टीका का पाठ अैसा ॥

न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति ॥

॥ याका अर्थ ॥ यामैं वर्तमान कर्त्तापणां का निषेध है ॥ जो मैं कर्म कूं न करौं हौं, न अन्य कूं प्रेरि कराऊं हौं, न अन्य कूं करता कूं भी भला जानूं हौं, मन करि वचन करि काय करि ॥ अैसैं प्रथम भंग है ॥ यामैं कृत कारित अनुमोदना इनि तीननि परि मन वचन काय लगाये, तातैं तीन तीन का आंक की समस्या तैं तेतीस का भंग कहिये ॥ १ ॥ ३३ ॥

अैसैं ही अन्य भंगनि का संस्कृत पाठ है, तिनि की वचनिका लिखिये है।

भावार्थ – अतीत काल में किये कर्मों का उनचास भङ्गों के रूप में मिथ्याकार (निषेध) करनेवाला प्रतिक्रमण करके, ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होकर, निरन्तर उसका अनुभव करता है, इसका यह विधान है। मिथ्या कहने का यह प्रयोजन है कि जैसे, किसी ने पहले धन कमा कर घर में रखा था, बाद में उससे ममत्व छोड़ा तो उसे भोगने का अभिप्राय नहीं रहा तो जो कमाया था, वह भी नहीं कमाने के समान ही है; उसी प्रकार पहले कर्म को बाँधा था, उसे अहितकारी जान कर उससे ममत्व छोड़ा, उसके फल में लीन नहीं होता है तो जो बाँधा था, वह भी नहीं बाँधने के समान है, मिथ्या ही है – ऐसा जानना।

इस प्रकार प्रतिक्रमणकल्प पूर्ण होता है।

अब, **आलोचनाकल्प** कहते हैं, वहाँ संस्कृत टीका में ऐसा पाठ है –

''न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।''

अर्थ – आलोचनाकल्प में वर्तमान कर्तापने का निषेध है। आलोचना करनेवाला कहता है कि 'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन-वचन-काय से न करता हूँ, न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ, न ही अन्य करते हुए को भला जानता हूँ' – यह पहला भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना – इन तीनों पर, मन-वचन-काय – ये तीनों लगाये है; अत: तीन और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तैंतीस का भङ्ग** बनता है ॥ १-३३ ॥

[इस तरह तेतीस का एक भङ्ग है।]

---

१. *ममत्व* - 'ब' प्रति पाठ

तहां वर्तमान कर्म कूं मैं न करौं हौ, न अन्य कूं प्रेरि करि कराऊं हौं, न अन्य कूं करतें कूं भला जाणूं हौं, मन करि वचन करि॥ ऐसा दूसरा भंग है॥ यामैं कृत कारित अनुमोदना इनि तीननि परि, मन वचन, ये दोय लगाये, तातैं तीया दूवा ऐसैं वत्तीस की समस्या का भंग कहिये॥ २॥ ३२॥

वहुरि वर्तमान कर्म कूं मैं नाही करौं हौं, अन्य कूं प्रेरि कराऊं नाही हौं, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूं हौं, मन करि काय करि॥ ऐसैं तीसरा भंग है॥ यामैं कृत कारित अनुमोदना परि, मन काय लगाये, तव वत्तीस की समस्या का भंग भया॥ ३॥ ३२॥

वहुरि वर्तमान कर्म कूं मैं नाही करौं हौं, अन्य कूं प्रेरि कराऊं नाहीं हौं, अन्य कूं करते कूं अनुमोदूं नाही हौं, भला न जाणूं हौं, वचन करि काय करि॥ ऐसैं चोथा भंग है॥ यामैं कृत कारित अनुमोदना इनि तीननि परि, वचन काय ए दोय लगाये, तव वत्तीस की समस्या का भंग भया॥ ४॥ ३२॥

ऐसैं वत्तीस की समस्या के तीन भंग भये।

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं करूं नाही हौं, अन्य कूं प्रेरि कराऊं नाही हौं, अन्य कूं करते कूं भला न जाणूं हौं, मन करि॥ ऐसैं पांचवां भंग है॥ यामैं कृत कारित अनुमोदना इनि तीननि परि, एक मन लागा, तातैं इकतीस की समस्या का भंग भया॥ ५॥ ३१॥

इसी प्रकार अन्य भङ्गों के संस्कृत पाठ हैं, यहाँ उनकी वचनिका लिखते हैं —

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन और वचन से न करता हूँ, न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ और न अन्य करते हुए को भला जानता हूँ' – यह दूसरा भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना – इन तीनों पर, मन और वचन – ये दोनों लगाये हैं; अत: तीन और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बत्तीस का भङ्ग** बनता है॥ २-३२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन और काय से न करता हूँ, न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ और न अन्य करते हुए को भला जानता हूँ' – यह तीसरा भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना – इन तीनों पर, मन और काय – ये दोनों लगाये हैं; अत: तीन और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बत्तीस का भङ्ग** बनता है॥ ३-३२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को वचन और काय से न करता हूँ, न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ और न अन्य करते हुए की अनुमोदना करता हूँ अर्थात् भला नहीं जानता हूँ' – यह चौथा भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना – इन तीनों पर, वचन और काय - ये दोनों लगाये हैं; अत: तीन और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बत्तीस का भङ्ग** बनता है॥ ४-३२॥

इस तरह बत्तीस के तीन भङ्ग हैं।

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन से न करता हूँ, न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ और न अन्य करते हुए को भला जानता हूँ' – यह पाँचवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना – इन तीनों पर, एक मन लगाया है; अत: तीन और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इकतीस का भङ्ग** बनता है॥ ५-३१॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं करूं नाही हौं, अन्य कूं प्रेरि कराऊं नाही हौं, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूं हौं, वचन करि॥ अैसैं छठा भंग है॥ यामैं कृत कारित अनुमोदना इनि तीननि परि, एक वचन लागा, तातैं इकतीस की समस्या का भंग कहिये॥ ६॥ ३१॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं करूं नाही हौं, अन्य कूं प्रेरि कराऊं नाही हौं, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूं हौं, काय करि॥ यह सातमां भंग है॥ यामैं कृत कारित अनुमोदना इनि तीननि परि, एक काय लागा, तातैं इकतीस की समस्या का भंग भया॥ ७॥ ३१॥

अैसैं इकतीस की समस्या के तीन भंग भये॥ छ॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं करूं नाही हौं, अन्य कूं प्रेरि कराऊं नाही हौं, मन करि वचन करि काय करि॥ यह आठवां भंग है॥ यामैं कृत कारित इनि दोय परि, मन वचन काय तीनूं लगाये, तातैं तेईस की समस्या का भंग कहिये॥ ८॥ २३॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं करूं नाही हौं, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूं हौं, मन करि वचन करि काय करि॥ यह नवमां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना इनि दोय परि, मन वचन काय तीनूं लगाये, तातैं तेईस की समस्या का भंग भया॥ ९॥ २३॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि करि कराऊं नाही हौं, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूं हौं, मन करि वचन करि काय करि॥ यह दशमां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदना इनि दोय परि,

---

'मैं वर्तमान काल के कर्म को वचन से न करता हूँ, न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ और न अन्य करते हुए को भला जानता हूँ' – यह छठा भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना – इन तीनों पर, एक वचन लगाया है; अत: तीन और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इकतीस का भङ्ग** बनता है॥ ६-३१॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को काय से न करता हूँ, न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ और न अन्य करते हुए को भला जानता हूँ' – यह सातवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना – इन तीनों पर, एक काय लगाया है; अत: तीन और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इकतीस का भङ्ग** बनता है॥ ७-३१॥

इस तरह इकतीस के तीन भङ्ग हैं।

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन-वचन-काय से न करता हूँ और न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ' – यह आठवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित – इन दो पर, मन-वचन-काय – ये तीनों लगाये हैं; अत: दो और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेईस का भङ्ग** बनता है॥ ८-२३॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन-वचन-काय से न करता हूँ और न अन्य करते हुए को भला जानता हूँ' – यह नवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना – इन दो पर, मन-वचन-काय – ये तीनों लगाये हैं; अत: दो और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेईस का भङ्ग** बनता है॥ ९-२३॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन-वचन-काय से न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ और न

मन वचन काय तीनूं लगाये, तातैं तेईस की समस्या का भंग भया॥ १०॥ २३॥

अैसैं तीन भंग तेईस की समस्या के भये॥ छ॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं करूं नाही हौं, अन्य कूं प्रेरि कराऊं नाही हौं, मन करि वचन करि॥ अैसैं ग्यारवां भंग है॥ यामैं कृत कारित इनि दोय परि, मन वचन ए दोय लगाये, तातैं वाईस की समस्या का भंग भया॥ ११॥ २२॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं करूं नाही हौं, अन्य करते कूं भला नाहीं जानूं हौं, मन करि वचन करि॥ यह वारवां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना इनि दोऊनि परि मन वचन ए दोय लगाये, तातैं वाईस की समस्या का भंग भया॥ १२॥ २२॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि नाही कराऊं हौं, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूं हौं, मन करि वचन करि॥ अैसैं तेरवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदना इनि दोय परि, मन वचन ए दोय लगाये, तातैं वाईस की समस्या का भंग भया॥ १३॥ २२॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं करूं नाही हौं, अन्य कूं प्रेरि कराऊं नाही हौं, मन करि काय करि॥ यह चौदवां भंग है॥ यामैं कृत कारित इनि दोय परि, मन काय ए दोय लगाये, तातैं वाईस की समस्या भई॥ १४॥ २२॥

अन्य करते को भला जानता हूँ' – यह दसवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना – इन दो पर, मन-वचन-काय – ये तीनों लगाये हैं; अत: दो और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेईस का भङ्ग** बनता है॥ १०-२३॥

इस तरह तेईस के तीन भङ्ग हैं।

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन और वचन से न करता हूँ और अन्य को प्रेरित कर कराता नहीं हूँ' – यह ग्यारहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित – इन दो पर, मन और वचन – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ ११-२२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन और वचन से न करता हूँ और न अन्य करते हुए को भला नहीं जानता हूँ' – यह बारहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना – इन दो पर, मन और वचन – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १२-२२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन और वचन से न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ और न अन्य करते हुए को भला जानता हूँ' – यह तेरहवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना – इन दो पर, मन और वचन – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १३-२२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन और काय से न करता हूँ और न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ' – यह चौदहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित – इन दो पर, मन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १४-२२॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं करूं नाही हौं, अन्य कूं करते कूं अनुमोदूं नाही हौं, मन करि काय करि॥ यह पंदरवां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदनां इनि दोय परि, मन काय ए दोय लगाये, तातैं वाईस की समस्या भई॥ १५॥ २२॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं अन्य कूं प्रेरि करि मैं कराऊं नाही हौं, अन्य कूं करते कूं अनुमोदूं नाही हौं, मन करि काय करि॥ यह सोलवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदनां इनि दोय परि, मन काय ए दोय लगाये, तातैं वाईस की समस्या भई॥ १६॥ २२॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं करूं नाही हौं, अन्य कूं प्रेरि कराऊं नाही हौं, वचन करि काय करि॥ यह सतरवां भंग है॥ यामैं कृत कारित इनि दोय परि, वचन काय ए दोय लगाये, तातैं वाईस की समस्या भई॥ १७॥ २२॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं नाही करूं हौं, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूं हौं, वचन करि काय करि॥ यह अठारवां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना इनि दोय परि, वचन काय ए दोय लगाये, तातैं वाईस की समस्या भई॥ १८॥ २२॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि कराऊं नाही हौं, अन्य कूं करते कूं अनुमोदूं नाही हौं, वचन करि काय करि॥ यह उगणीसवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदनां ये दोय ले इनि परि, वचन काय ए दोय लगाये, तातैं वाईस की समस्या भई॥ १९॥ २२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन और काय से न करता हूँ और न अन्य करते हुए की अनुमोदना करता हूँ' – यह पन्द्रहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना – इन दो पर, मन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १५-२२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन और काय से न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ और न अन्य करते हुए की अनुमोदना करता हूँ' – यह सोलहवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना – इन दो पर, मन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १६-२२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को वचन और काय से न करता हूँ और न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ' – यह सतरहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित – इन दो पर, वचन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १७-२२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को वचन और काय से न करता हूँ और न अन्य करते हुए को भला जानता हूँ' – यह अठारहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना – इन दो पर, वचन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १८-२२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को वचन और काय से न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ और न अन्य करते हुए की अनुमोदना करता हूँ' – यह उन्नीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना – इन दो पर, वचन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस**

ऐसे वाईस की समस्या के नव भंग भये॥ छ॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं करौं नाही हौं अन्य कूं प्रेरि कराऊं नाही हौं, मन करि॥ यह वीसवां भंग है॥ यामैं कृत कारित इनि दोय परि, एक मन लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २०॥ २१॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं नाही करूं हौं, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूं हौं, मन करि॥ यह इकईसवां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना इनि दोय परि, एक मन लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २१॥ २१॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं अन्य कूं प्रेरि मैं कराऊं नाही हौं, अन्य करते कूं भला नाही जानूं हौं, मन करि॥ यह वाईसवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदना इनि दोय परि, एक मन लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २२॥ २१॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं नाही करूं हौं। अन्य कूं प्रेरि कराऊं नाही हौं॥ वचन करि॥ यह तेईसवां भंग है॥ यामैं कृत कारित इनि दोय परि, एक वचन लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २३॥ २१॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं करूं नाही हौं, अन्य कूं करते कूं अनुमोदूं नाही हौं, वचन करि॥ ऐसैं चोईसवां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना इनि दोय परि, एक वचन लगाया, ऐसैं इकईस की समस्या भई॥ २४॥ २१॥

का भङ्ग बनता है॥ १९-२२॥

इस तरह बाईस के नौ भङ्ग हैं।

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन से न करता हूँ और न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ' – यह बीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित – इन दो पर एक मन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २०-२१॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन से न करता हूँ और न अन्य करते हुए को भला जानता हूँ' – यह इक्कीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित – इन दो पर, एक मन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २१-२१॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन से न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ और न अन्य करते हुए को भला जानता हूँ' – यह बाईसवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना – इन दो पर, एक मन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २२-२१॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को वचन से न करता हूँ और न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ' – यह तेईसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित – इन दो पर, एक वचन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २३-२१॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को वचन से न करता हूँ और न अन्य करते हुए की अनुमोदना करता हूँ' – यह चौबीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना – इन दो पर, एक वचन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २४-२१॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि कराऊं नाही हौं, अन्य कूं करते कूं अनुमोदूं नाही हौं, वचन करि ऐसैं पचीसवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदनां इनि दोय परि, एक वचन लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २५॥ २१॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं नाही करूं हौं, अन्य कूं प्रेरि कराऊं नाही हौं, काय करि॥ ऐसैं छवीसवां भंग है॥ यामैं कृत कारित इनि दोय परि, एक काय लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २६॥ २१॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं नाही करूं हौं, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूं हौं, काय करि॥ ऐसैं सताईसवां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना इनि दोय परि, एक काय लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २७॥ २१॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि कराऊं नाही हौं, अन्य कूं करते कूं अनुमोदूं नाही हौं, काय करि॥ ऐसैं अठाईसवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदना इनि दोय परि, एक काय लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २८॥ २१॥

ऐसैं इकईस के नव भंग भये॥ छ॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं नाही करौं हौं, मन करि वचन करि काय करि॥ ऐसैं गुणतीसवां भंग है॥ यामैं एक कृत परि, मन वचन काय तीनूं लगाये, तातैं तेरा की समस्या भई॥ २९॥ १३॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को वचन से न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ और न अन्य करते हुए की अनुमोदना करता हूँ' – यह पच्चीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना – इन दो पर, एक वचन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २५-२१॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को काय से न करता हूँ और न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ' – यह छब्बीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित – इन दो पर, एक काय लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २६-२१॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को काय से न करता हूँ और न अन्य करते हुए को भला जानता हूँ' – यह सत्ताईसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना – इन दो पर, एक काय लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २७-२१॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को काय से न अन्य को प्रेरित करके कराता हूँ और न अन्य करते हुए की अनुमोदना करता हूँ' – यह अट्ठाईसवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना – इन दो पर, एक काय लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २८-२१॥

इस तरह इक्कीस के नौ भङ्ग हैं।

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन-वचन-काय से करता नहीं हूँ' – यह उनतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत पर, मन-वचन-काय तीनों लगाया है; अत: एक और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेरह का भङ्ग** बनता है॥ २९-१३॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि कराऊं नाही हौं, मन वचन काय करि॥ अैसैं तीसवां भंग है॥ यामैं कारित एक परि, मन वचन काय तीनूं लगाये, तातैं तेरा की समस्या भई॥ ३०॥ १३॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं अन्य कूं करते कूं अनुमोदूं नाही हौं, मन करि वचन करि काय करि॥ अैसैं इकतीसवां भंग है॥ यामैं एक अनुमोदना परि, मन वचन काय तीनूं लगाये, तातैं तेरा की समस्या भई॥ ३१॥ १३॥

अैसैं तेरा की समस्या के तीन भंग भये॥ छ॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं नाही करूं हौं, मन करि वचन करि॥ अैसैं वतीसवां[१] का भंग है॥ यामैं एक कृत परि, मन वचन ए दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या भई॥ ३२॥ १२॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं अन्य कूं प्रेरि मैं नाही कराऊं हौं, मन करि वचन करि॥ अैसैं तेतीसवां भंग है॥ यामैं एक कारित परि, मन वचन दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या भई॥ ३३॥ १२॥

वहुरि वर्तमान कर्म कूं अन्य कूं करता कूं मैं भला नाही जानूं हौं, मन करि वचन करि॥ अैसैं चोतीसवां भंग है॥ यामैं एक अनुमोदना परि, मन वचन[२] ए दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या भई॥ ३४॥ १२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन-वचन-काय से अन्य को प्रेरित करके कराता नहीं हूँ' – यह तीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित पर, मन-वचन-काय तीनों लगाये हैं; अत: एक और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेरह का भङ्ग** बनता है॥ ३०-१३॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन-वचन-काय से अन्य करते हुए की अनुमोदना नहीं करता हूँ' – यह इकतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना पर, मन-वचन-काय तीनों लगाये हैं; अत: एक और तीन को अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेरह का भङ्ग** बनता है॥ ३१-१३॥

इस तरह तेरह के तीन भङ्ग हैं।

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन और वचन से करता नहीं हूँ' – यह बत्तीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत पर, मन और वचन दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३२-१२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन और वचन से अन्य को प्रेरित करके कराता नहीं हूँ' – यह तैंतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित पर, मन और वचन दो लगाये हैं; अत: एक और दो अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३३-१२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन और वचन से अन्य करते हुए को भला नहीं जानता हूँ' – यह चौंतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना, पर मन और वचन दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३४-१२॥

---

१. *वतीस* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

२. 'अ' प्रति में यहाँ *'मनवचनकाय'* - ऐसा पाठ गलती से लिखा है, जबकि 'ब' प्रति में भी लिख कर सुधारा गया है।

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं नाही करूं हौं, मन करि काय करि॥ अैसैं पैतीसवां भंग है॥ यामैं कृत एक परि, मन काय ए दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या भई॥ ३५॥ १२॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊं हौं, मन काय करि॥ अैसैं छतीसवां[१] भंग है॥ यामैं कारित एक परि मन काय ए दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या भई॥ ३६॥ १२॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूं हौं, मन करि काय करि॥ अैसैं सैंतीसवां भंग है॥ यामैं अनुमोदना एक परि, मन काय ए दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या भई॥ ३७॥ १२॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं नाही करूं हौं, वचन करि काय करि॥ अैसैं अठतीसवां भंग है॥ यामैं एक कृत परि, वचन काय लगाये, तातैं वारह की समस्या भई॥ ३८॥ १२॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊं हौं, वचन करि काय करि॥ अैसैं गुणतालीसवां भंग है॥ यामैं एक कारित परि, वचन काय ए दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या भई॥ ३९॥ १२॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूं हौं, वचन करि काय करि॥ अैसैं चालीसवां भंग है॥ यामैं एक अनुमोदना परि, वचन काय ए दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन और काय से करता नहीं हूँ' – यह पैंतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत पर, मन और काय दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३५-१२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन और काय से अन्य को प्रेरित करके कराता नहीं हूँ' – यह छत्तीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित पर, मन और काय तीनों लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३६-१२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन और काय से अन्य करते हुए को भला नहीं जानता हूँ' – यह सैंतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना पर, मन और काय दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३७-१२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को वचन और काय से करता नहीं हूँ' – यह अड़तीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत पर, वचन और काय दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३८-१२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को वचन और काय से अन्य को प्रेरित करके कराता नहीं हूँ' – यह उनचालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित पर, वचन और काय दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३९-१२॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को वचन और काय से अन्य करते हुए को भला नहीं जानता हूँ' –

---

१. *छत्तीस का* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

भई॥ ४०॥ १२॥

ऐसे नव भंग वारह के भये॥ छ॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं नाही करूं हौं, मन करि॥ ऐसैं इकतालीसवां भंग है॥ यामैं एक कृत परि, एक मन लागा, तातैं ग्यारह की समस्या भई॥ ४१॥ ११॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं अन्य कूं प्रेरि मैं नाही कराऊं हौं, मन करि॥ ऐसैं वयालीवां भंग है॥ यामैं कारित एक परि, एक मन लागा, तातैं ग्यारह की समस्या भई॥ ४२॥ ११॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूं हौं, मन करि॥ ऐसैं तियालीसवां भंग है॥ यामैं एक अनुमोदना परि, एक मन लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या भई॥ ४३॥ ११॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं नाही करूं हौं, वचन करि॥ ऐसैं चवालीसवां भंग है॥ यामैं एक कृत परि, वचन एक लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या भई॥ ४४॥ ११॥

वहुरि वर्तमान कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊं हौं, वचन करि॥ ऐसैं पैतालीसवां भंग है॥ यामैं एक कारित परि, एक वचन लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या भई॥ ४५॥ ११॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूं हौं, वचन करि॥ ऐसैं छियालीसवां

यह चालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना पर, वचन और काय दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ४०-१२॥

इस तरह बारह के नौ भङ्ग हैं।

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन से नहीं करता हूँ' – यह इकतालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत पर, एक मन लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४१-११॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन से अन्य को प्रेरित करके कराता नहीं हूँ' – यह बयालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित पर, एक मन लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४२-११॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को मन से अन्य करते हुए को भला नहीं जानता हूँ' – यह तियालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना पर, एक मन लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४३-११॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को वचन से करता नहीं हूँ' – यह चवालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत पर, एक वचन लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४४-११॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को वचन से अन्य को प्रेरित करके कराता नहीं हूँ' – यह पैंतालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित पर, एक वचन लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४५-११॥

भंग है॥ यामैं एक अनुमोदना परि, एक वचन लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या भई॥ ४६॥ ११॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं नाही करूं हौं, काय करि॥ अैसैं सैंतालीसवां भंग भया॥ यामैं एक कृत परि, एक काय लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या भई॥ ४७॥ ११॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि नाही कराऊं हौं, काय करि॥ अैसैं अठतालीसवां भंग है॥ यामैं एक कारित परि एक काय लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या भई॥ ४८॥ ११॥

वहुरि वर्त्तमान कर्म कूं मैं अन्य कूं करता कूं भला नाही जानूं हौं, काय करि॥ अैसैं गुणचासवां भंग है॥ यामैं एक अनुमोदना परि, एक काय लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या भई॥ ४९॥ ११॥

अैसैं ग्यारह की समस्या के नव भंग भये॥

अैसै आलोचनां के गुणचास भंग हैं॥ इनि मैं तेतीस की समस्या का एक (१), वतीस का तीन (३), इकतीस का तीन (३), तेईस का तीन (३), वाईस का नव (९), इकईस का नव (९), तेरा का तीन (३), वारा का नव (९), ग्यारा का नव (९), अैसैं सव मिलि गुणचास भये॥ छ॥

अव याके अर्थ के कलशरूप काव्य है॥ छ॥

॥ आर्या॥

मोहविलासविजृम्भित-मिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्याऽत्मनि, निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्त्ते॥ ३४॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को वचन से अन्य करते हुए को भला नहीं जानता हूँ' – यह छियालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना पर, एक वचन लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४६-११॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को काय से करता नहीं हूँ' – यह सैंतालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत पर, एक काय लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४७-११॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को काय से अन्य को प्रेरित करके कराता नहीं हूँ' – यह अड़तालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित पर, एक काय लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४८-११॥

'मैं वर्तमान काल के कर्म को काय से अन्य करते हुए को भला नहीं जानता हूँ' – यह उनचासवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना पर, एक काय लगाया है; अत: एक और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४९-११॥

इस तरह ग्यारह के नौ भङ्ग हैं।

इस प्रकार आलोचना के उनचास भङ्ग हैं; इनमें गणित की दृष्टि से तैंतीस का एक (१), बत्तीस के तीन (३), इकतीस के तीन (३), तेईस के तीन (३), बाईस के नौ (९), इक्कीस के नौ (९), तेरह के तीन (३), बारह के नौ (९), ग्यारह के नौ (९) – ऐसे सब मिलकर उनचास भङ्ग होते हैं।

॥ अर्थ ॥ निश्चयचारित्र कूं अंगीकार करनेंवाला कहै है जो मोह के विलास करि फैल्या यह उदय कूं प्राप्त होता जो वर्त्तमान कर्म, ताकूं समस्त कूं आलोचना मैं ले करि समस्त कर्म सूं रहित चैतन्यस्वरूप जो आत्मा, ता विषैं आप ही करि मैं निरंतर वर्त्तौं हौं॥

॥ भावार्थ ॥ वर्त्तमान काल मैं कर्म का उदय आवै, ताकूं ज्ञानी अैसैं विचारै है जो पूर्वैं वांध्या था, ताका यह कार्य है। मेरा तौ यह कार्य नाही, मैं याका कर्त्ता नाही, मैं तौ शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा हौं, ताकी दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति है। ता करि या उदय भये कर्म का देषनें जाननेंवाला हौं, मेरा स्वरूप ही मैं मैं वर्त्तौं हौं, अैसा अनुभवन करनां ही निश्चयचारित्र है॥ छ॥

अैसैं आलोचनाकल्प समाप्त कीया॥ छ॥

आगैं प्रत्याख्यानकल्प कहै है॥ तामैं टीका मैं संस्कृत पाठ अैसा है॥

न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति॥ १॥

॥ याका अर्थ ॥ प्रत्याख्यान करनेंवाला कहै है जो आगामी काल विषै कर्म कूं मैं नाही करूंगा,

---

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला ॥

मोहभाव से वर्तमान में कर्म किये जो,
उन सबका आलोचन करके ही अब मैं तो।
वर्त रहा हूँ अरे! निरन्तर स्वयं स्वयं के,
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में॥ २२७॥

अर्थ – निश्चयचारित्र को अङ्गीकार करनेवाला कहता है कि मोह के विलास से फैले हुए, उदय को प्राप्त समस्त वर्तमान काल के कर्म की आलोचना करके, मैं समस्त कर्मों से रहित चैतन्यस्वरूप आत्मा में स्वयं ही से निरन्तर वर्तता हूँ।

भावार्थ – वर्तमान काल में कर्म का उदय आता है, उसके सम्बन्ध में ज्ञानी ऐसे विचारता है कि मैंने पूर्व में जो कर्म बाँधे थे, उसका यह कार्य है; यह मेरा कार्य नहीं है, मैं इसका कर्ता नहीं हूँ; मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा हूँ, उसकी दर्शन-ज्ञानरूप प्रवृत्ति होती है, उसके द्वारा इस उदय में आनेवाले कर्म का मैं देखने-जाननेवाला हूँ, मैं मेरे स्वरूप में ही वर्तता हूँ – ऐसा अनुभव करना ही निश्चयचारित्र है।

इस प्रकार आलोचनाकल्प पूर्ण होता है।

अब, **प्रत्याख्यानकल्प** कहते हैं, वहाँ संस्कृत टीका में ऐसा पाठ है —

न करिष्यामि, न कारष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।

अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, मन करि वचन करि, काय करि॥ अैसैं प्रथम भंग है॥ यामैं कृत कारित अनुमोदना इनि तीननि परि, मन वचन काय ए तीनूं लगाये, तातैं तीया तीया तेतीस की समस्या का भंग भया॥ १॥ ३३॥

अैसैं ही अन्य भंगनि का टीका मैं संस्कृत पाठ है, तिनिकी वचनिका लिखिये है॥

आगामी काल के कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं प्रेरि नाही कराऊंगा, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, मन करि, वचन करि॥ अैसैं दूसरा भंग है॥ यामैं कृत कारित अनुमोदना इनि तीननि परि, मन वचन ए दोय लगाये, तातैं तीया दूवा अैसैं वतीस की समस्या का भंग भया॥ २॥ ३२॥

वहुरि आगामी काल के कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, अन्य कूं करते कूं भला भी नाही जानूंगा, मन करि काय करि॥ अैसैं तीसरा भंग है॥ यामैं कृत कारित अनुमोदना इनि तीननि परि, मन काय ए दोय लगाये, तातैं वतीस की समस्या भई॥ ३॥ ३२॥

वहुरि आगामी काल के कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, अन्य कूं करते कूं नाही अनुमोदूंगा, वचन करि काय करि॥ अैसैं चौथा भंग है॥ यामैं कृत कारित अनुमोदना इनि तीननि परि, वचन काय ए दोय लगाये, तातैं वतीस की समस्या भई॥ ४॥ ३२॥

अर्थ – प्रत्याख्यान करनेवाला कहता है कि 'मैं भविष्य काल में कर्म को मन-वचन-काय से नहीं करूँगा, अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह पहला भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना - इन तीनों पर, मन-वचन-काय – ये तीनों लगाये हैं; अत: तीन और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तैंतीस का भङ्ग** बनता है॥ १-३३॥

[इस तरह तेतीस का एक भङ्ग है।]

इसी प्रकार टीका में अन्य भङ्गों के संस्कृत पाठ हैं, यहाँ उनकी वचनिका लिखते हैं –

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन और वचन से नहीं करूँगा, अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह दूसरा भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना – इन तीन पर, मन और वचन – ये दो लगाये हैं; अत: तीन और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बत्तीस का भङ्ग** बनता है॥ २-३२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन और काय से नहीं करूँगा, अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह तीसरा भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना – इन तीन पर, मन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: तीन और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बत्तीस का भङ्ग** बनता है॥ ३-३२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को वचन और काय से नहीं करूँगा, अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह चौथा भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना – इन तीन पर, वचन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: तीन और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बत्तीस का भङ्ग** बनता है॥ ४-३२॥

ऐसे वतीस की समस्या के तीन भंग भये॥ छ॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं प्रेरि नाही कराऊंगा, अन्य कूं करते कूं भी भला न जाणूंगा, मन करि॥ ऐसैं पांचवां भंग है॥ यामैं कृत कारित अनुमोदना इनि तीननि परि, एक मन लगाया, तातैं इकतीस की समस्या भई॥ ५॥ ३१॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, वचन करि॥ ऐसैं छठा भंग है॥ यामैं कृत कारित अनुमोदना इनि तीननि परि, एक वचन लगाया, तातैं इकतीस की समस्या भई॥ ६॥ ३१॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं प्रेरि नाही कराऊंगा, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, काय करि॥ ऐसैं सातवां भंग है॥ यामैं कृत कारित अनुमोदना इनि तीननि परि, एक काय लगाया, तातैं इकतीस की समस्या भई॥ ७॥ ३१॥

ऐसैं इकतीस की समस्या के तीन भंग भये॥ छ॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, मन करि वचन करि काय करि॥ ऐसैं आठवां भंग है॥ यामैं कृत कारित इनि दोय परि, मन वचन काय तीनूं लगाये, तातैं तेईस की समस्या भई॥ ८॥ २३॥

इस तरह बत्तीस के तीन भङ्ग हैं।

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन से नहीं करूँगा, अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह पाँचवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना – इन तीन पर, एक मन लगाया है; अत: तीन और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इकतीस का भङ्ग** बनता है॥ ५-३१॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को वचन से नहीं करूँगा, अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह छठा भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना – इन तीन पर, एक वचन लगाया है; अत: तीन और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इकतीस का भङ्ग** बनता है॥ ६-३१॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को काय से नहीं करूँगा, अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह सातवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत-कारित-अनुमोदना – इन तीन पर, एक काय लगाया है; अत: तीन और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इकतीस का भङ्ग** बनता है॥ ७-३१॥

इस तरह इकतीस के तीन भङ्ग हैं।

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन-वचन-काय से नहीं करूँगा और अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा' – यह आठवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित – इन दो पर, मन-वचन-काय – ये तीनों लगाये हैं; अत: दो और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेईस का भङ्ग** बनता है॥ ८-२३॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, मन करि, वचन करि काय करि॥ अैसैं नवमां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना इनि दोय परि, मन वचन काय तीनूं लगाये, तातैं तेईस की समस्या भई॥ ९॥ २३॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, मन करि वचन करि काय करि॥ अैसैं दसवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदना इनि दोय परि, मन वचन काय तीनूं लगाये, तातैं तेईस की समस्या भई॥ १०॥ २३॥

अैसैं तेईस की समस्या के तीन भंग भये॥ छ॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं प्रेरि नाही कराऊंगा, मन करि वचन करि॥ अैसैं ग्यारवां भंग है॥ यामैं कृत कारित इनि दोय परि, मन वचन ए दोय लगाये, तातैं वाईस की समस्या भई॥ ११॥ २२॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य करते कूं भला नाही जानूंगा, मन करि वचन करि, अैसा वारवां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना इनि दोय परि, मन वचन ए दोय लगाये, तातैं वाईस की समस्या भई॥ १२॥ २२॥

वहुरि आगामी कर्म कूं अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, अन्य करते कूं भला नाही जानूंगा,

---

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन-वचन-काय से नहीं करूँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह नवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना – इन दो पर, मन-वचन-काय – ये तीनों लगाये हैं; अत: दो और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेईस का भङ्ग** बनता है॥ ९-२३॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन-वचन-काय से अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह दसवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना – इन दो पर, मन-वचन-काय – ये तीनों लगाये हैं; अत: दो और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेईस का भङ्ग** बनता है॥ १०-२३॥

इस तरह तेईस के तीन भङ्ग हैं।

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन और वचन से नहीं करूँगा और अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा' – यह ग्यारहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित - इन दो पर, मन और वचन - ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ ११-२२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन और वचन से नहीं करूँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह बारहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना - इन दो पर, मन और वचन – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १२-२२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन और वचन से अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह तेरहवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना – इन दो पर, मन

मन करि वचन करि॥ अैसैं तेरवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदना इनि दोय परि, मन वचन लगाये, तातैं वाईस की समस्या भई॥ १३॥ २२॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं प्रेरि नाही कराऊंगा, मन करि काय करि॥ अैसैं चौदवां भंग है॥ यामैं कृत कारित इनि दोय परि, मन अर काय ए दोय लगाये, तातैं वाईस की समस्या भई॥ १४॥ २२॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य करते कूं भला नाही जानूंगा, मन करि काय करि॥ अैसैं पंदरवां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना इनि दोय परि, मन काय ए दोय लगाये, तातैं वाईस की समस्या भई॥ १५॥ २२॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि नाही कराऊंगा, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, मन करि काय करि॥ अैसैं सोलवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदना इनि दोय परि, मन काय ए दोय लगाये, तातैं वाईस की समस्या भई॥ १६॥ २२॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, वचन करि काय करि, अैसैं सतरवां भंग है॥ यामैं कृत कारित इनि दोय परि, वचन काय लगाये, तातैं वाईस की समस्या भई॥ १७॥ २२॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, वचन करि

और वचन – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १३-२२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन और काय से नहीं करूँगा और अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा' – यह चौहदवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित – इन दो पर, मन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १४-२२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन और काय से नहीं करूँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह पन्द्रहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना – इन दो पर, मन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १५-२२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन और काय से अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह सोलहवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना – इन दो पर, मन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १६-२२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को वचन और काय से नहीं करूँगा और अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा' – यह सतरहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित – इन दो पर, वचन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १७-२२॥

काय करि॥ ऐसैं अठारवां भंग भया॥ यामैं कृत अनुमोदना इनि दोय परि, वचन काय लगाये, तातैं वाईस की समस्या भई॥ १८॥ २२॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, अन्य कूं करते कूं भला भी नाही जानूंगा, वचन करि काय करि॥ ऐसैं उगणीसवां भंग भया॥ यामैं कारित अनुमोदना इनि दोय परि, वचन काय ए दोय लगाये, तातैं वाईस की समस्या भयी॥ १९॥ २२॥

ऐसैं वाईस की समस्या के नव भंग भये॥ छ॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, मन करि॥ ऐसै वीसवां भंग है॥ यामैं कृत कारित इनि दोय परि, एक मन लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २०॥ २१॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, मन करि॥ ऐसैं इकईसवां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना इनि दोय परि, एक मन लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २१॥ २१॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही कराऊंगा, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, मन करि॥ ऐसैं वाईसवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदना इनि दोय परि, एक मन लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २२॥ २१॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को वचन और काय से नहीं करूँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह अठारहवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना – इन दो पर, वचन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १८-२२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को वचन और काय से अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा, अन्य करते को भला नहीं जानूँगा' – यह उन्नीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना – इन दो पर, वचन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: दो और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बाईस का भङ्ग** बनता है॥ १९-२२॥

इस तरह बाईस के नौ भङ्ग हैं।

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन से नहीं करूँगा और अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा' – यह बीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित – इन दो पर, एक मन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २०-२१॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन से नहीं करूँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह इक्कीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना – इन दो पर, एक मन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २१-२१॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन से अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह बाईसवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना – इन दो पर, एक मन लगाया

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, वचन करि॥ अैसैं तेईसवां भंग है॥ यामैं कृत कारित इनि दोय परि, एक वचन लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २३॥ २१॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, वचन करि॥ अैसैं चोईसवां भंग है॥ यामैं कृत अनुमोदना इनि दोयनि परि, एक वचन लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २४॥ २१॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, अन्य कूं करते कूं भला भी नाही जानूंगा, वचन करि॥ अैसैं पचीसवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदना इनि दोय परि, एक वचन लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २५॥ २१॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, काय करि॥ अैसैं छवीसवां भंग है॥ यामैं कृत कारित इनि दोऊ परि, एक काय लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २६॥ २१॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, अन्य करते कूं भला नाही जानूंगा, काय करि॥ अैसैं सताईसवां भंग भया॥ यामैं कृत अनुमोदना इनि दोय परि, एक काय लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २७॥ २१॥

है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २२-२१॥

''मैं भविष्य काल के कर्म को वचन से नहीं करूँगा और अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा' – यह तेईसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित – इन दो पर, एक वचन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २३-२१॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को वचन से नहीं करूँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह चौबीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना – इन दो पर, एक वचन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २४-२१॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को वचन से अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह पच्चीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना – इन दो पर, एक वचन लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २५-२१॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को काय से नहीं करूँगा और अन्य को प्रेरित कर नहीं कराऊँगा' – यह छब्बीसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और कारित – इन दो पर, एक काय लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २६-२१॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को काय से नहीं करूँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह सत्ताईसवाँ भङ्ग है। यहाँ कृत और अनुमोदना – इन दो पर, एक काय लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २७-२१॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि नाही कराऊंगा, अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, काय करि॥ अैसैं अठाईसवां भंग है॥ यामैं कारित अनुमोदना इनि दोय परि, एक काय लगाया, तातैं इकईस की समस्या भई॥ २८॥ २१॥

अैसे इकईस की समस्या के नव भंग भये॥ छ॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, मन करि वचन करि काय करि॥ अैसैं गुणतीसवां भंग है॥ यामैं कृत एक परि, मन वचन काय तीनूं लगाये, तातैं तेरा की समस्या भई॥ २९॥ १३॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, मन करि वचन करि काय करि॥ अैसैं तीसवां भंग है॥ यामैं एक कारित परि, मन वचन काय तीनूं लगाये, तातैं तेरा की समस्या भई॥ ३०॥ १३॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, मन करि वचन करि काय करि॥ अैसैं इकतीसवां भंग है॥ यामैं एक अनुमोदना परि, मन वचन काय तीनूं लगाये, तातैं तेरह की समस्या भई॥ ३१॥ १३॥

अैसैं तेरा की समस्या के तीन भये॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं न करूंगा, मन करि वचन करि॥ अैसैं वतीसवां भंग है॥ यामैं एक

'मैं भविष्य काल के कर्म को काय से अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा और अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह अट्ठाईसवाँ भङ्ग है। यहाँ कारित और अनुमोदना – इन दो पर, एक काय लगाया है; अत: दो और एक का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **इक्कीस का भङ्ग** बनता है॥ २८-२१॥

इस तरह इक्कीस के नौ भङ्ग हैं।

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन-वचन-काय से नहीं करूँगा' – यह उनतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत पर, मन-वचन-काय – ये तीनों लगाया हैं; अत: एक और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेरह का भङ्ग** बनता है॥ २९-१३॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन-वचन-काय से अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा' – यह तीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित पर, मन-वचन-काय – ये तीनों लगाये हैं; अत: एक और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेरह का भङ्ग** बनता है॥ ३०-१३॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन-वचन-काय से अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह इकतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना पर, मन-वचन-काय – ये तीनों लगाये हैं; अत: एक और तीन का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **तेरह का भङ्ग** बनता है॥ ३१-१३॥

इस तरह तेरह के तीन भङ्ग हैं।

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन और वचन से नहीं करूँगा' – यह बत्तीसवाँ भङ्ग है। यहाँ

कृत परि, मन वचन ए दोय लगाये, तातैं वारा की समस्या भई॥ ३२॥ १२॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, मन करि वचन करि॥ अैसैं तेतीसवां भंग है॥ यामैं एक कारित परि, मन वचन ए दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या भई॥ ३३॥ १२॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं करते कूं नाही अनुमोदूंगा, मन करि वचन करि॥ अैसैं चोतीसवां भंग है॥ यामैं एक अनुमोदना परि, मन वचन ए दोय लगाये, तातैं वारा की समस्या भई॥ ३४॥ १२॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, मन करि काय करि॥ अैसैं पैतीसवां भंग है॥ यामैं एक कृत परि, मन काय ए दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या भई॥ ३५॥ १२॥

वहुरि आगामी कर्म कूं अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, मन करि काय करि॥ अैसैं छतीसवां भंग है॥ यामैं एक कारित परि, मन काय ए दोय लगाया, तातैं वारह की समस्या भई॥ ३६॥ १२॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, मन करि काय करि॥ अैसैं सैतीसवां भंग है॥ यामैं एक अनुमोदना परि, मन काय ए दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या

एक कृत पर, मन और वचन – ये दो लगाये हैं; अतः एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३२-१२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन और वचन से अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा' – यह तैंतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित पर, मन और वचन – ये दो लगाये हैं; अतः एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३३-१२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन और वचन से अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह चौंतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना पर, मन और वचन – ये दो लगाये हैं; अतः एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३४-१२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन और काय से नहीं करूँगा' – यह पैंतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत पर, मन और काय – ये दो लगाये हैं; अतः एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३५-१२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन और काय से अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा' – यह छत्तीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित पर, मन और काय – ये दो लगाये हैं; अतः एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३६-१२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन और काय से अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह सैंतीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना पर, मन और काय – ये दो लगाये हैं; अतः एक और दो का

भई॥ ३७॥ १२॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं न करूंगा, वचन करि काय करि॥ अैसैं अठतीसवां भंग है॥ यामैं एक कृत परि, वचन काय ए दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या भई॥ ३८॥ १२॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि नाही कराऊंगा, वचन करि काय करि॥ अैसैं गुणतालीसवां भंग है॥ यामैं एक कारित परि, वचन काय ए दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या भई॥ ३९॥ १२॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, वचन करि काय करि॥ अैसैं चालीसवां भंग है॥ यामैं एक अनुमोदना परि, वचन काय ए दोय लगाये, तातैं वारह की समस्या भई॥ ४०॥ १२॥

अैसैं नव भंग वारह की समस्या के भये॥ छ॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, मन करि॥ अैसैं इकतालीसवां भंग है॥ यामैं एक कृत परि, एक मन लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या भई॥ ४१॥ ११॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं मैं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, मन करि॥ अैसैं वयालीसवां भंग है॥ यामैं एक कारित परि, एक मन लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या भई॥ ४२॥ ११॥

अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३७-१२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को वचन और काय से नहीं करूँगा' – यह अड़तीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत पर, वचन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३८-१२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को वचन और काय से अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा' – यह उनतालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित पर, वचन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ३९-१२॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को वचन और काय से अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह चालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना पर, वचन और काय – ये दो लगाये हैं; अत: एक और दो का अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **बारह का भङ्ग** बनता है॥ ४०-१२॥

इस तरह बारह के नौ भङ्ग हैं।

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन से नहीं करूँगा' – यह इकतालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत पर, एक मन लगाया है; अत: एक और एक अङ्क होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४१-११॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन से अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा' – यह बयालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित पर, एक मन लगाया है; अत: एक और एक अङ्क होने से गणित की दृष्टि

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, मन करि॥ अैसैं तियालीसवां[१] भंग है॥ यामैं एक अनुमोदना परि, एक मन लगाया, तातैं ग्यारा की समस्या भई॥ ४३॥ ११॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, वचन करि॥ अैसैं चवालीसवां भंग है॥ यामैं कृत एक परि एक वचन लगाया, तातैं ग्यारा की समस्या भई॥ ४४॥ ११॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, वचन करि॥ अैसैं पैंतालीसवां भंग है॥ यामैं एक कारित परि, एक वचन लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या भई॥ ४५॥ ११॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, वचन करि॥ अैसैं छियालीसवां भंग है॥ यामैं एक अनुमोदना परि, एक वचन लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या भई॥ ४६॥ ११॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं नाही करूंगा, काय करि॥ अैसैं सैंतालीसवां भंग है॥ यामैं एक कृत परि, एक काय लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या भई॥ ४७॥ ११॥

से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४२-११॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को मन से अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – ये तियालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना पर, एक मन लगाया है; अत: एक और एक अङ्ग होने से गणित की दृष्टि से ग्यारह का भङ्ग बनता है॥ ४३-११॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को वचन से नहीं करूँगा' – यह चवालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत पर, एक वचन लगाया है; अत: एक और एक अङ्ग होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४४-११॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को वचन से अन्य को प्रेरित करके नहीं कराऊँगा' – यह पैंतालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित पर, एक वचन लगाया है; अत: एक और एक अङ्ग होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४५-११॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को वचन से अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह छियालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना पर, एक वचन लगाया है; अत: एक और एक अङ्ग होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४६-११॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को काय से नहीं करूँगा' – यह सैंतालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कृत पर, एक काय लगाया है; अत: एक और एक अङ्ग होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४७-११॥

---

१. *तियालीस का* - 'अ' प्रति पाठ

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं प्रेरि करि नाही कराऊंगा, काय करि॥ अैसैं अठतालीसवां भंग है॥ यामैं कारित परि, एक काय लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या भई॥ ४८॥ ११॥

वहुरि आगामी कर्म कूं मैं अन्य कूं करते कूं भला नाही जानूंगा, काय करि॥ अैसैं गुणचासवां भंग है। यामैं एक अनुमोदनां परि, एक काय लगाया, तातैं ग्यारह की समस्या भई॥ ४९॥ ११॥

अैसैं ग्यारह की समस्या के नव भंग भये॥ छ॥

अैसैं गुणचास भंग प्रत्याख्यान के भये, तिनि मैं तेतीस की समस्या का एक (१), वतीस का तीन (३), इकतीस का तीन (३), तेईस का तीन (३), वाईस का नव (९), इकईस का नव (९), तेरा का तीन (३), वारा का नव (९), ग्यारा का नव (९), अैसैं सव मिलि गुणचास भये॥ छ॥

अव इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ आर्या॥

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसम्मोहः।
आत्मनि चैतन्याऽत्मनि, निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥ ३५॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को काय से अन्य को प्रेरित कर नहीं कराऊँगा' – यह अड़तालीसवाँ भङ्ग है। यहाँ एक कारित पर, एक काय लगाया है; अत: एक और एक अङ्ग होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४८-११॥

'मैं भविष्य काल के कर्म को काय से अन्य करते हुए को भला नहीं जानूँगा' – यह उनचासवाँ भङ्ग है। यहाँ एक अनुमोदना पर, एक काय लगाया है; अत: एक और एक अङ्ग होने से गणित की दृष्टि से **ग्यारह का भङ्ग** बनता है॥ ४९-११॥

इस तरह ग्यारह के नौ भङ्ग हैं।

इस प्रकार प्रत्याख्यान के कुल उनचास भङ्ग हैं; इनमें तैंतीस का एक (१), बत्तीस के तीन (३), इकतीस के तीन (३), तेईस के तीन (३), बाईस के नौ (९), इक्कीस के नौ (९), तेरह के तीन (३), बारह के नौ (९), ग्यारह के नौ (९) – ऐसे सब मिलकर उनचास भङ्ग होते हैं।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

नष्ट हो गया मोहभाव जिसका ऐसा मैं,
करके प्रत्याख्यान भाविकर्मों का अब तो।
वर्त रहा हूँ अरे! निरन्तर स्वयं स्वयं के,
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में॥ २२८॥

॥ अर्थ ॥ प्रत्याख्यान का करनेंवाला ज्ञानी कहै है जो आगामी समस्त कर्म कूं मैं प्रत्याख्यानरूप त्याग करि अर नष्ट भया है मोह जाका, अैसा भया संता कर्म सूं रहित चैतन्यस्वरूप जो आत्मा, ता विषै आप ही करि वर्त्तूं हौं॥

॥ भावार्थ ॥ निश्चयचारित्र मैं प्रत्याख्यान का विधान अैसा है जो समस्त आगामी कर्म सूं रहित अपनां शुद्धचैतन्य की प्रवृत्तिरूप जो शुद्धोपयोग, ता विषै वर्त्तनां है सो ज्ञानी आगामी समस्त कर्म का प्रत्याख्यान करि अपनां चैतन्यस्वरूप विषै वर्त्तै है॥ छ॥

इहां तात्पर्य अैसा जाननां जो व्यवहारचारित्र मैं तौ जो प्रतिज्ञा मैं दोष लागै, ताका प्रतिक्रमण आलोचना प्रत्याख्यान होय है अर इहां निश्चयचारित्र का प्रधानपणैं कथन है॥ सो शुद्धोपयोग सूं विपरीत समस्त ही कर्म आत्मा कै दोषस्वरूप हैं, तिनि सर्व ही कर्मचेतनास्वरूप परिणाम का ज्ञानी, तीन काल के कर्म का प्रतिक्रमण आलोचनां प्रत्याख्यान करि समस्त कर्मचेतना सूं न्यारा अपनां शुद्धोपयोगस्वरूप आत्मा का ज्ञान श्रद्धान करि अर तिस मैं थिर होनें का विधान करि निःप्रमाद दसा कूं प्राप्त होय, श्रेणी चढि केवलज्ञान उपजावनें कै सन्मुख होय है, यह ज्ञानी का कार्य है॥ छ॥

अैसैं प्रत्याख्यानकल्प समस्त कीया॥ छ॥

आगैं सकल कर्म का संन्यास कहिये क्षेपणां, पटकि देणां, ताकी भावनां कूं 'नृत्य

अर्थ – प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहता है कि मैं आगामी समस्त कर्मों का प्रत्याख्यानरूप त्याग करके, जिसका मोह नष्ट हो गया है – ऐसा होता हुआ, कर्म से रहित चैतन्यस्वरूप आत्मा में स्वयं ही के द्वारा निरन्तर वर्तता हूँ।

भावार्थ – निश्चयचारित्र में प्रत्याख्यान का विधान ऐसा है कि समस्त भविष्य काल के कर्मों से रहित अपने शुद्धचैतन्य की प्रवृत्तिरूप शुद्धोपयोग में रहना; अत: ज्ञानी, भविष्य काल के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके अपने चैतन्यस्वरूप में रहता है।

यहाँ तात्पर्य ऐसा जानना कि व्यवहारचारित्र में तो जो प्रतिज्ञा में दोष लगते हैं, उनका प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान होता है, परन्तु यहाँ निश्चयचारित्र की प्रधानता से कथन है; अत: यहाँ शुद्धोपयोग से विपरीत आत्मा के समस्त ही कर्म दोषस्वरूप हैं, ज्ञानी उन सर्व ही कर्मचेतनास्वरूप परिणामों का अर्थात् तीन काल के कर्मों का प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान कर, समस्त कर्मचेतना से भिन्न अपने शुद्धोपयोगस्वरूप आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान कर, उसमें स्थिर होने का विधान कर, निष्प्रमाद अवस्था को प्राप्त होकर, श्रेणी चढ़ कर, केवलज्ञान उत्पन्न करने के सन्मुख होता है – यह ज्ञानी का कार्य है।

इस प्रकार प्रत्याख्यानकल्प पूर्ण होता है।

अब, जो सकल कर्म के संन्यास अर्थात् उन्हें क्षेपने या फेंक देने की भावना को नचाया है,

कराया, ताकी पूर्णता का काव्य है'॥[१]

॥ उपजाति ॥

समस्तमित्येवमपास्य कर्म, त्रैकालिकं शुद्धनयाऽवलम्बी।
विलीनमोहो रहितं विकारै-श्चिन्मात्रमात्मानमथाऽवलम्बे॥ ३६॥

॥ अर्थ॥ शुद्धनय का अवलंवन करनेंवाला कहै है जो इति एवं कहिये पूर्वोक्त प्रकार तीन काल, अतीत वर्त्तमान भविष्यत् संवंधी कर्म कूं निराकरण करि छोडि करि अर शुद्धनय का अवलंवन करनेंवाला ज्ञानी मैं हौं सो विलय भया है मोह मिथ्यात्वकर्म जाका, अैसा भया संता, अव समस्त विकार तैं रहित चैतन्यमात्र आत्मा कूं अवलंवूं हौं॥ छ॥

अव सकल कर्मफल का संन्यास की भावना कूं नृत्य करावै हैं, ताका टीका मैं संस्कृतपाठ अैसैं है॥ तहां प्रथम तौ समुच्चय अर्थ का काव्य है॥

॥ आर्या ॥

विगलन्तु कर्मविषतरु-फलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव।
सञ्चेतयेऽहमचलं चैतन्याऽत्मानमात्मानम्॥ ३७॥

उसकी पूर्णता का काव्य कहते हैं —

॥ रोला ॥

तीन काल के सब कर्मों को छोड़ इस तरह,
परमशुद्धनिश्चयनय का अवलम्बन लेकर।
निर्मोही हो वर्त रहा हूँ स्वयं स्वयं के,
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में॥ २२९॥

अर्थ – शुद्धनय का अवलम्बन करनेवाला कहता है कि 'इति एवं' अर्थात् उपर्युक्त प्रकार से तीन काल – अतीत, वर्तमान और भविष्य काल से सम्बन्धित कर्मों का निराकरण कर अर्थात् छोड़ कर, शुद्धनय का अवलम्बन करनेवाला 'मैं ज्ञानी हूँ'; अत: जिसका मोह अर्थात् मिथ्यात्वकर्म विलय हो गया है – ऐसा होता हुआ, अब मैं समस्त कर्मों से रहित चैतन्यमात्र आत्मा का अवलम्बन करता हूँ।

अब, समस्त कर्मफल के संन्यास की भावना को नचाते हैं। टीका में उसका संस्कृत पाठ दिया है, उसके पूर्व समुच्चय अर्थ का काव्य कहते हैं —

॥ रोला ॥

कर्म-वृक्ष के विष-फल मेरे बिन भोगे ही,
खिर जायें बस! यही भावना भाता हूँ मैं।

---

१. नृत्य कराय कथन पूरण करनें का काव्य है - 'ब' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ सकल कर्मफल की संन्यासभावनां करनेंवाला कहै है जो कर्मरूपी विष का वृक्ष का फल हैं, ते मेरे भोगें विना ही षिरि जावो। मैं चैतन्यस्वरूप जो मेरा आत्मा, ताकूं निश्चल चेतूं हौं, अनुभवूं हौं॥

॥ भावार्थ ॥ ज्ञानी कहै है जो कर्म का फल उदय आवै है, ताकूं मैं ज्ञाता दृष्टा हूवा देषूं हौं॥ ताका फल का भोक्ता नाही वणूं हौं, तातैं मेरे भोगें विनां ही ते कर्म षिरि जावो। मैं मेरे चैतन्यस्वरूप आत्मा मैं लीन भया, तिनि का देषनें जाननेंवाला ही हौं॥ इहां इतनां विशेष और जाननां जो अविरतदशा मैं तथा देशविरत प्रमत्तसंयत दशा मैं तौ अैसा ज्ञान श्रद्धान ही प्रधान है अर जव अप्रमत्तदशा होय करि श्रेणी चढै है, तव यह अनुभव साक्षात् होय है॥ छ॥

अव सकल कर्मफल का संन्यासभावना का पाठ संस्कृत टीका मैं अैसैं है॥

नाऽहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्याऽत्मानमात्मानमेव सञ्चेतये॥ १॥

॥ याका अर्थ ॥ मैं ज्ञानी हौं सो मतिज्ञानावरणीय नामा कर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं संचेतूं हौं, एकाग्र अनुभऊं हौं।

इहां चेतनां, अनुभवनां, वेदनां, भोगनां, इनि का एक अर्थ जाननां अर सं उपसर्ग तैं एकाग्र अनुभवनां जाननां यहु सर्व पाठ मैं जाननां॥ १॥

क्योंकि मैं तो वर्त रहा हूँ स्वयं स्वयं के,
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में॥ २३०॥

अर्थ – सकल कर्मफल से संन्यास की भावना करनेवाला कहता है कि 'कर्मरूपी विषवृक्ष के फल मेरे भोगे बिना ही खिर जाओ। मैं चैतन्यस्वरूप अपने आत्मा को ही निश्चल होकर चेतता हूँ, अनुभव करता हूँ।'

भावार्थ – ज्ञानी कहता है कि 'कर्म के फल का जो उदय आता है, उसे मैं ज्ञाता-द्रष्टा होकर देखता हूँ, उस फल का भोक्ता नहीं बनता हूँ; अत: मेरे भोगे बिना ही वे कर्म खिर जायें। मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन होकर उनको देखने-जाननेवाला ही हूँ।' यहाँ इतना विशेष और जानना कि अविरतदशा और देशविरत-प्रमत्तसंयतदशा में तो ऐसे ज्ञान-श्रद्धान की ही प्रधानता है और जब अप्रमत्तदशा प्राप्त कर श्रेणी चढ़ते हैं, तब यह अनुभव साक्षात् होता है।

अब, टीका में सकल कर्मफल के संन्यास की भावना का ऐसा संस्कृत पाठ है —

नाऽहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।

अर्थ – मैं ज्ञानी हूँ; अत: मैं मति-ज्ञानावरणीय नामक कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ अर्थात् एकाग्र होकर अनुभव करता हूँ॥ १॥

यहाँ चेतना, अनुभवना, वेदना, भोगना – इन शब्दों का समान अर्थ जानना चाहिए और 'सं' उपसर्ग से 'एकाग्र अनुभवन करना' – ऐसा अर्थ जानना – ऐसा ही आगे सर्व पाठों में जानना।

ऐसैं ही अन्य एक सो सैंतालीस कर्म प्रकृतिनि के संस्कृत पाठ हैं, तिनि की वचनिका लिषिये है॥ छ॥

मैं श्रुतज्ञानावरणीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ २॥

मैं अवधिज्ञानावरणीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ३॥

मैं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ४॥

मैं केवलज्ञानावरणीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ५॥

मैं चक्षुदर्शनावरणीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ६॥

मैं अचक्षुदर्शनावरणीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ७॥

मैं अवधिदर्शनावरणीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ८॥

इसी प्रकार अन्य १४७ कर्मप्रकृतियों के संस्कृत पाठ हैं, उनकी वचनिका लिखते हैं —

मैं श्रुत-ज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ २॥

मैं अवधि-ज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ३॥

मैं मनःपर्यय-ज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ४॥

मैं केवल-ज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ५॥

मैं चक्षु-दर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ६॥

मैं अचक्षु-दर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ७॥

मैं अवधि-दर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ८॥

मैं केवलदर्शनावरणीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ९॥

मैं निद्रादर्शनावरणीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १०॥

मैं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभवूं हौं॥ ११॥

मैं प्रचलादर्शनावरणीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनभऊं हौं॥ १२॥

मैं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १३॥

मैं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १४॥

मैं सातावेदनीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १५॥

मैं असातावेदनीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १६॥

मैं केवल-दर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ९॥

मैं निद्रा-दर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १०॥

मैं निद्रानिद्रा-दर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ११॥

मैं प्रचला-दर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १२॥

मैं प्रचलाप्रचला-दर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १३॥

मैं स्त्यानगृद्धि-दर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १४॥

मैं साता-वेदनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १५॥

मैं असाता-वेदनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता

मैं सम्यक्त्वमोहनीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १७॥

मैं मिथ्यात्वमोहनीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १८॥

मैं सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १९॥

मैं अनंतानुवंधी[1]क्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ २०॥

मैं अप्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ २१॥

मैं प्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ २२॥

मैं संज्वलनक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ २३॥

हूँ॥ १६॥

मैं सम्यक्त्व-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १७॥

मैं मिथ्यात्व-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १८॥

मैं सम्यक्त्वमिथ्यात्व-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १९॥

मैं अनन्तानुबन्धीक्रोधकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ २०॥

मैं अप्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ २१॥

मैं प्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ २२॥

मैं सञ्ज्वलनक्रोधकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ २३॥

---

१. *अनंतानुबंधि* - 'अ' प्रति पाठ

मैं अनंतानुवंधीमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ २४॥

मैं अप्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ २५॥

मैं प्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ २६॥

मैं संज्वलनमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ २७॥

मैं अनंतानुवंधीमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ २८॥

मैं अप्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ २९॥

मैं प्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ३०॥

मैं संज्वलनमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही

मैं अनन्तानुबन्धीमानकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ २४॥

मैं अप्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ २५॥

मैं प्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ २६॥

मैं सञ्ज्वलनमानकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ २७॥

मैं अनन्तानुबन्धीमायाकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ २८॥

मैं अप्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ २९॥

मैं प्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ३०॥

मैं सञ्ज्वलनमायाकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही

कूं अनुभऊं हौं॥ ३१॥

मैं अनंतानुवंधीलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ३२॥

मैं अप्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ३३॥

मैं प्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ३४॥

मैं संज्वलनलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ३५॥

मैं हास्यनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ३६॥

मैं रतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ३७॥

मैं अरतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ३८॥

का अनुभव करता हूँ॥ ३१॥

मैं अनन्तानुबन्धीलोभकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ३२॥

मैं अप्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल का नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ३३॥

मैं प्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ३४॥

मैं सञ्ज्वलनलोभकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ३५॥

मैं हास्यनोकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ३६॥

मैं रतिनोकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ३७॥

मैं अरतिनोकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ३८॥

मैं शोकनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ३९॥

मैं भयनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ४०॥

मैं जुगुप्सानोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ४१॥

मैं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ४२॥

मैं पुरुषवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ४३॥

मैं नपुंसकवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ४४॥

मैं नारक आयुकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ४५॥

मैं तिर्यंच आयुकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ४६॥

मैं मानुष आयुकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ४७॥

मैं शोकनोकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ३९॥

मैं भयनोकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ४०॥

मैं जुगुप्सानोकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ४१॥

मैं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ४२॥

मैं पुरुषवेदनोकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ४३॥

मैं नपुंसकवेदनोकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ४४॥

मैं नरक-आयुकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ४५॥

मैं तिर्यञ्च-आयुकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ४६॥

मैं मनुष्य-आयुकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ४७॥

मैं देव आयुकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ४८॥

मैं नरकगतिनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ४९॥

मैं तिर्यंचगतिनामकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ५०॥

मैं मनुष्यगतिनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ५१॥

मैं देवगतिनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ५२॥

मैं एकेंद्रियजातिनामकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ५३॥

मैं द्वींद्रियजातिनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ५४॥

मैं त्रींद्रियजातिनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ५५॥

मैं चतुरिंद्रियजातिनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ५६॥

मैं देव-आयुकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ४८॥

मैं नरकगति-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ४९॥

मैं तिर्यञ्चगति-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ५०॥

मैं मनुष्यगति-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ५१॥

मैं देवगति-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ५२॥

मैं एकेन्द्रियजाति-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ५३॥

मैं द्वीन्द्रियजाति-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ५४॥

मैं त्रीन्द्रियजाति-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ५५॥

मैं चतुरिन्द्रियजाति-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ५६॥

मैं पंचेंद्रियजातिनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ५७॥

मैं औदारिकशरीरनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ५८॥

मैं वैक्रियिकशरीरनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ५९॥

मैं आहारकशरीरनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ६०॥

मैं तैजसशरीरनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ६१॥

मैं कार्मणशरीरनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ६२॥

मैं औदारिकशरीर[१]अंगोपांगनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ६३॥

मैं वैक्रियिकशरीरांगोपांगनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं

मैं पञ्चेन्द्रियजाति-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ५७॥

मैं औदारिकशरीर-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ५८॥

मैं वैक्रियिकशरीर-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ५९॥

मैं आहारकशरीर-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ६०॥

मैं तैजसशरीर-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ६१॥

मैं कार्मणशरीर-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ६२॥

मैं औदारिकशरीराङ्गोपाङ्ग-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ६३॥

---

१. *शरीर का* - 'अ' प्रति पाठ

अनुभऊं हौं॥ ६४॥

मैं आहारकशरीरांगोपांगनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ६५॥

मैं औदारिकशरीरवंधननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ६६॥

मैं वैक्रियकशरीरवंधननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ६७॥

मैं आहारकशरीरवंधननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ६८॥

मैं तैजसशरीरवंधननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ६९॥

मैं कार्मणशरीरवंधननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ७०॥

मैं औदारिकशरीरसंघातनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ७१॥

मैं वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्ग-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ६४॥

मैं आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ६५॥

मैं औदारिकशरीरबन्धन-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ६६॥

मैं वैक्रियिकशरीरबन्धन-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ६७॥

मैं आहारकशरीरबन्धन-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ६८॥

मैं तैजसशरीरबन्धन-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ६९॥

मैं कार्मणशरीरबन्धन-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ७०॥

मैं औदारिकशरीरसङ्घात-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का

मैं वैक्रियकशरीरसंघातनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ७२॥

मैं आहारकशरीरसंघातनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ७३॥

मैं तैजसशरीरसंघातनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ७४॥

मैं कार्मणशरीरसंघातनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ७५॥

मैं समचतुरस्रसंस्थाननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ७६॥

मैं न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थाननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ७७॥

मैं सातिकसंस्थाननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ७८॥

मैं कुब्जकसंस्थाननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं

अनुभव करता हूँ॥ ७१॥

मैं वैक्रियकशरीरसङ्घात-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ७२॥

मैं आहारकशरीरसङ्घात-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ७३॥

मैं तैजसशरीरसङ्घात-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ७४॥

मैं कार्मणशरीरसङ्घात-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ७५॥

मैं समचतुरस्रसंस्थान-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ७६॥

मैं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ७७॥

मैं स्वातिसंस्थान-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ७८॥

अनुभऊं हौं॥ ७९॥

मैं वामनसंस्थाननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ८०॥

मैं हुंडकसंस्थाननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ८१॥

मैं वज्रर्षभनाराचसंहनननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ८२॥

मैं वज्रनाराचसंहनननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ८३॥

मैं नाराचसंहनननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ८४॥

मैं अर्द्धनाराचसंहनननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ८५॥

मैं कीलिकासंहनननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ८६॥

मैं कुब्जकसंस्थान-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ७९॥

मैं वामनसंस्थान-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ८०॥

मैं हुण्डकसंस्थान-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ८१॥

मैं वज्रवृषभनाराचसंहनन-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ८२॥

मैं वज्रनाराचसंहनन-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ८३॥

मैं नाराचसंहनन-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ८४॥

मैं अर्द्धनाराचसंहनन-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ८५॥

मैं कीलिकासंहनन-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव

मैं असंप्राप्तासृपाटिका[१]संहनननामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ८७॥

मैं स्निग्धस्पर्शनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ८८॥

मैं रूक्षस्पर्शनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ८९॥

मैं शीतस्पर्शनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ९०॥

मैं उष्णस्पर्शनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ९१॥

मैं गुरुस्पर्शनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ९२॥

मैं लघुस्पर्शनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ९३॥

मैं मृदुस्पर्शनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ९४॥

करता हूँ॥ ८६॥

मैं असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ८७॥

मैं स्निग्धस्पर्श-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ८८॥

मैं रूक्षस्पर्श-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ८९॥

मैं शीतस्पर्श-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ९०॥

मैं उष्णस्पर्श-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ९१॥

मैं गुरुस्पर्श-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ९२॥

मैं लघुस्पर्श-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ९३॥

मैं मृदुस्पर्श-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ९४॥

---

१. *असंप्राप्तासृपाटिका* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

मैं कर्कशस्पर्शनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ९५॥

मैं मधुररसनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ९६॥

मैं आम्लरसनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ९७॥

मैं तिक्तरसनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ९८॥

मैं कटुकरसनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ९९॥

मैं कषायरसनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १००॥

मैं सुरभिगंधनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १०१॥

मैं असुरभिगंधनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १०२॥

मैं कर्कशस्पर्श[१]-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ९५॥

मैं मधुररस-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ९६॥

मैं आम्लरस-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ९७॥

मैं तिक्तरस-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ९८॥

मैं कटुकरस-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ९९॥

मैं कषायरस[२]-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १००॥

मैं सुरभिगन्ध-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १०१॥

मैं असुरभिगन्ध-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १०२॥

---

१. ***कर्कशस्पर्श*** - कठोरस्पर्श

२. ***कषायरस*** - कसैला या कसायला स्वाद

मैं शुक्लवर्णनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १०३॥

मैं रक्तवर्णनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १०४॥

मैं पीतवर्णनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १०५॥

मैं हरितवर्णनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १०६॥

मैं कृष्णवर्णनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १०७॥

मैं नरकगत्यानुपूर्वीनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १०८॥

मैं तिर्यंचगत्यानुपूर्वीनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १०९॥

मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं

मैं शुक्लवर्ण-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १०३॥

मैं रक्तवर्ण-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १०४॥

मैं पीतवर्ण-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १०५॥

मैं हरितवर्ण-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १०६॥

मैं कृष्णवर्ण-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १०७॥

मैं नरकगत्यानुपूर्वी-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १०८॥

मैं तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १०९॥

मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वी-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता

हौं॥ ११०॥

मैं देवगत्यानुपूर्वीनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १११॥

मैं निर्माणनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ११२॥

मैं अगुरुलघुनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ११३॥

मैं उपघातनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ११४॥

मैं परघातनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ११५॥

मैं आतपनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ११६॥

मैं उद्योतनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ११७॥

मैं उच्छ्वासनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ ११८॥

मैं प्रशस्तविहायोगतिनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं

हूँ॥ ११०॥

मैं देवगत्यानुपूर्वी-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १११॥

मैं निर्माण-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ११२॥

मैं अगुरुलघु-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ११३॥

मैं उपघात-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ११४॥

मैं परघात-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ११५॥

मैं आतप-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ११६॥

मैं उद्योत-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ११७॥

मैं उच्छ्वास-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ ११८॥

मैं प्रशस्तविहायोगति-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव

अनुभऊं हौं॥ ११९॥

मैं अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १२०॥

मैं साधारणशरीरनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १२१॥

मैं प्रत्येकशरीरनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १२२॥

मैं स्थावरनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १२३॥

मैं त्रसनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १२४॥

मैं सुभगनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १२५॥

मैं दुर्भगनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १२६॥

मैं सुस्वरनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १२७॥

मैं दुःस्वरनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १२८॥

करता हूँ॥ ११९॥

मैं अप्रशस्तविहायोगति-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १२०॥

मैं साधारणशरीर-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १२१॥

मैं प्रत्येकशरीर-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १२२॥

मैं स्थावर-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १२३॥

मैं त्रस-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १२४॥

मैं सुभग-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १२५॥

मैं दुर्भग-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १२६॥

मैं सुस्वर-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १२७॥

मैं दुःस्वर-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १२८॥

मैं शुभनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १२९॥

मैं अशुभनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १३०॥

मैं सूक्ष्म[शरीर]नामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १३१॥

मैं वादरशरीरनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १३२॥

मैं पर्याप्तनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १३३॥

मैं अपर्याप्तनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १३४॥

मैं स्थिरनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १३५॥

मैं अस्थिरनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १३६॥

मैं आदेयनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १३७॥

मैं अनादेयनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १३८॥

मैं शुभ-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १२९॥

मैं अशुभ-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १३०॥

मैं सूक्ष्मशरीर-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १३१॥

मैं बादरशरीर-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १३२॥

मैं पर्याप्त-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १३३॥

मैं अपर्याप्त-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १३४॥

मैं स्थिर-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १३५॥

मैं अस्थिर-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १३६॥

मैं आदेय-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १३७॥

मैं यश:कीर्त्तिनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १३९॥

मैं अयश:कीर्त्तिनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १४०॥

मैं तीर्थंकरनामकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १४१॥

मैं उच्चै:गोत्रकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १४२॥

मैं नीचवैर्गोत्रकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १४३॥

मैं दानांतरायकर्म का फल नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १४४॥

मैं लाभांतरायकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १४५॥

मैं भोगांतरायकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १४६॥

मैं उपभोगांतरायकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १४७॥

मैं अनादेय-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १३८॥

मैं यश:कीर्ति-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १३९॥

मैं अयश:कीर्ति-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १४०॥

मैं तीर्थङ्कर-नामकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १४१॥

मैं उच्च-गोत्रकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १४२॥

मैं नीच-गोत्रकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १४३॥

मैं दानान्तरायकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १४४॥

मैं लाभान्तरायकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १४५॥

मैं भोगान्तरायकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १४६॥

मैं उपभोगान्तरायकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १४७॥

मैं वीर्यांतरायकर्म का फल कूं नाही भोगऊं हौं, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही कूं अनुभऊं हौं॥ १४८॥

अैंसैं ज्ञानी सकल कर्म का फल[१] की संन्यास की भावना करै॥

इहां भावनां नाम फेरि फेरि चितवन करि उपयोग का अभ्यास करनें का है सो जव सम्यग्दृष्टी होय ज्ञानी होय है, तव ज्ञान श्रद्धान तौ भया ही जो मैं शुद्धनय करि समस्त कर्म तैं अर कर्म के फल तैं रहित हौं, परंतु पूर्वैं वांधे कर्म उदय आवैं, तामैं तिनि भावनि का कर्त्तापणां छोडि अर पूर्वैं तीन काल संवंधी गुणचास भंग करि कर्मचेतनां का त्याग की भावना करी॥ वहुरि यह सर्व कर्म के फल का भोगवनें का त्याग की भावना करी, एक चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का भोगवनां रह्या।

सो अविरत देशविरत प्रमत्त अवस्था मैं तौ ज्ञान श्रद्धान मैं निरंतर भावनां है ही॥ अर जव अप्रमत्तदशा होय, एकाग्रचित्त करि ध्यान करै, तव केवल चैतन्यमात्र आत्मा विषै उपयोग लगावै अर शुद्धोपयोगरूप होय, तव निश्चयचारित्ररूप शुद्धोपयोगभाव तैं श्रेणी चढि, केवलज्ञान उपजावै है।

तव इस भावनां का फल कर्मचेतनां अर कर्मफलचेतनां तैं रहित साक्षात् ज्ञानचेतनांरूप होनां है सो फेरि अनंतकाल ताईं ज्ञानचेतना ही रूप भया संता आत्मा परमानंद मैं मग्न रहै है॥ छ॥

अव, इस ही अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ वसन्ततिलका ॥

निःशेषकर्मफलसंन्यसनान्ममैवं,
सर्वक्रियाऽन्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः।

मैं वीर्यान्तरायकर्म के फल को नहीं भोगता हूँ; चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का अनुभव करता हूँ॥ १४८॥

इस प्रकार ज्ञानी सकल कर्मों के फल से संन्यास की भावना करता है।

यहाँ 'भावना' शब्द से तात्पर्य बार-बार सञ्चेतन करके उपयोग का अभ्यास करना है। जब जीव सम्यग्दृष्टि होकर ज्ञानी होता है, तब उसे ज्ञान-श्रद्धान तो होता ही है कि 'मैं शुद्धनय से समस्त कर्मों से और कर्म के फलों से रहित हूँ' परन्तु जब पूर्व में बाँधे हुए कर्म उदय में आते हैं, तब उनके निमित्त से उन भावों का कर्तृत्व छोड़ कर, पूर्वोक्त तीन काल सम्बन्धी उनचास [४९-४९] भङ्गों से कर्मचेतना के त्याग की भावना करता है। इसी प्रकार समस्त कर्मों के फल भोगने के त्याग की भावना करता है; वहाँ एक चैतन्यस्वरूप आत्मा ही का भोगना (अनुभवना) रहता है।

वहाँ अविरत, देशविरत और प्रमत्तदशा में तो ज्ञान-श्रद्धान में निरन्तर भावना है ही और जब अप्रमत्तदशापूर्वक एकाग्र-चित्त होकर ध्यान करता है, तब चैतन्यमात्र आत्मा में उपयोग लगाता है और शुद्धोपयोगरूप होता है, तब निश्चयचारित्ररूप शुद्धोपयोगभाव से श्रेणी चढ़ कर केवलज्ञान उत्पन्न करता है।

इस प्रकार इस भावना का फल, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से रहित साक्षात् ज्ञानचेतनारूप रहना है; उसके बाद अनन्त काल तक ज्ञानचेतनारूप ही रहता हुआ आत्मा परमानन्द में मग्न रहता है।

---

१. *कर्मफल* - 'ब' प्रति पाठ

चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं,
कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता॥ ३८॥

॥ अर्थ॥ सकल कर्म के फल का त्याग करि ज्ञानचेतनां की भावना करनेंवाला ज्ञानी कहै है जो एवं कहिये पूर्वोक्त प्रकार सकल कर्म का फल का संन्यास करने तैं मैं कैसा हौं। चैतन्य है लक्षण जाका अैसा आत्मतत्त्व, ताहि अतिशय करि भोगवता हौं अर इस सिवाय अन्य जो उपयोग की तथा वाह्य की क्रिया, ता विषै विहार कहिये प्रवर्तनां, तातैं रहित है वृत्ति जाकी, अैसा अचल हौं सो मेरै यह काल की आवली, प्रवाहरूप अनंत है सो इस ही भावनांरूप[1] जावो, उपयोग की प्रवृत्ति अन्य विषै मति जावो।

॥ भावार्थ॥ अैसैं भावना करनेंवाला ज्ञानी, अैसा तृप्त भया है जो भावनां करतैं मानूं साक्षात् केवली ही भया सो अैसा ही रहनां अनंतकाल चाहै है सो सत्य है, याही भावना तैं केवली होय है, केवलज्ञान उपजनें का परमार्थरूप उपाय यह ही है[2], वाह्य व्यवहारचारित्र है सो इस ही का साधनरूप है अर इस विनां व्यवहारचारित्र है सो शुभकर्म कूं वांधै है, मोक्ष का उपाय नाही है॥

फेरि काव्य है॥ छ॥

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

सब कर्मों के फल से संन्यासी होने से,
आतम के अतिरिक्त प्रवृत्ति से निवृत्त होकर।
चिद्लक्षण आतम को अतिशय भोग रहा हूँ,
यह प्रवृत्ति ही बनी रहे बस! अमित काल तक॥ २३१॥

अर्थ – सकल कर्मों के फल का त्याग करके, ज्ञानचेतना की भावना करनेवाला ज्ञानी कहता है कि 'एवं' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से सकल कर्मों के फल से संन्यास करके **मैं कैसा हूँ?** – ''मैं चैतन्यलक्षणवाले आत्मतत्त्व को अतिशयपूर्वक भोगता हूँ और इसके अलावा अन्य उपयोग एवं बाह्यक्रिया में विहार अर्थात् प्रवर्तन करने से रहित वृत्तिवाला अचल हूँ; अत: मेरी यह प्रवाहरूप से अनन्त काल की परम्परा, इसी भावनारूप व्यतीत हो अर्थात् मेरे उपयोग की प्रवृत्ति अन्यत्र कहीं नहीं जावे।''

भावार्थ – ऐसी भावना करनेवाला ज्ञानी ऐसा तृप्त हुआ कि भावना करते हुए, मानो साक्षात् केवली हो गया है और अनन्त काल ऐसे ही रहना चाहता है, यही सत्य है क्योंकि इसी भावना से केवली बनता है; केवलज्ञान उत्पन्न करने का परमार्थ उपाय भी यह ही है। बाह्य व्यवहारचारित्र भी केवल इसी के साधनरूप है और इसके बिना व्यवहारचारित्र शुभकर्म को बाँधता है, मोक्ष का उपाय नहीं है।

---

१. *इस ही कूं भोगनेंरूप* - 'ब' प्रति पाठ
२. *यह ही* - 'अ' प्रति पाठ

॥ वसन्ततिलका ॥

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां,
भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं,
निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः॥ ३९॥

॥ अर्थ॥ जो पुरुष पूर्वैं अज्ञानभाव करि कीये जे कर्म, तेई भये विष के वृक्ष, तिनिका फल उदय आया, ताकूं ताका स्वामी होय न भोगवैं हैं अर निश्चय करि अपनें आत्मस्वरूप ही तैं तृप्त हैं, अन्य किछू तृष्णा नाही करै है सो पुरुष वर्त्तमानकाल विषै तौ सुंदर रमनें योग्य अर आगामी काल विषै जाका फल सुंदर रमनें योग्य, अैसा कर्मनि तैं रहित स्वाधीन सुखमयी दशांतर कहिए[१] अैसी दशा संसार अवस्था मैं पूर्वैं कवहू न भई, अैसी अन्य स्वरूपदशा कूं प्राप्त होय है॥

॥ भावार्थ॥ इस ज्ञानचेतना की भावना का यहु फल है, याकै भाव तैं अत्यंत तृप्त रहै है, अन्य तृष्णा न रहै है अर आगामी केवलज्ञान उपजाय सर्व कर्मनि तैं रहित मोक्ष अवस्था कूं प्राप्त होय है॥ छ॥

अव उपदेश करै है जो अैसैं कर्मचेतनां अर कर्मफलचेतनां का त्याग की भावनां

पुनः काव्य कहते हैं —

॥ वसन्ततिलका ॥

रे! पूर्वभावकृत कर्म जहर-तरु के,
अज्ञानमय फल नहीं जो भोगते हैं।
अरु तृप्त हैं स्वयं में चिरकाल तक वे,
निष्कर्म सुखमय दशा को भोगते हैं॥ २३२॥

अर्थ – जो पुरुष, पूर्व में अज्ञानभाव से बाँधे गये कर्मरूपी विषवृक्ष के उदय में उत्पन्न होनेवाले फल का स्वामी होकर, उसे नहीं भोगता है और निश्चय से अपने आत्मस्वरूप ही में तृप्त रहता है, जो अन्य कुछ भी तृष्णा नहीं करता है; वह पुरुष, वर्तमान काल में सुन्दर रमने योग्य और भविष्य काल में भी जिसका फल सुन्दर रमने योग्य है, ऐसी कर्मों से रहित स्वाधीन सुखमयी दशान्तर अर्थात् संसार अवस्था में पूर्व में कभी नहीं हुई है – ऐसी पृथक् स्वरूपदशा को प्राप्त होता है।

भावार्थ – इस ज्ञानचेतना की भावना का यह फल है कि इस भावना के कारण ज्ञानी, अत्यन्त तृप्त रहता है, उसे अन्य कोई तृष्णा नहीं रहती है और शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न कर, सर्व कर्मों से रहित मोक्ष अवस्था को प्राप्त होता है।

अब, टीकाकार आचार्य उपदेश देते हैं कि इस प्रकार कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग

---

१. *कहि* – 'अ' प्रति पाठ

करि अज्ञानचेतना का अभाव कूं प्रगट नचाय, ज्ञानचेतना का स्वभाव कूं पूर्ण करि, ताकूं नचावते संते ज्ञानीजन हैं, ते सदाकाल आनंदरूप रहौ, इस अर्थ के कलशरूप काव्य है॥

॥ स्रग्धरा ॥

अत्यन्तं भावयित्वा, विरतिमविरतं, कर्मणस्तत्फलाच्च्व,
प्रस्पष्टं नाटयित्वा, प्रलयनमखिलाऽज्ञानसञ्चेतनायाः।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं, स्वरसपरिगतं, ज्ञानसञ्चेतनां स्वां,
सानन्दं नाटयन्तः, प्रशमरसमितः, सर्वकालं पिबन्तु॥ ४०॥

॥ अर्थ॥ ज्ञानीजन हैं, ते कर्म तैं अर कर्म के फल तैं अत्यंत विरक्तभावनां कूं निरंतर भाय करि, वहुरि समस्त अज्ञानचेतना का नाश कूं स्पष्ट प्रगटपणैं नृत्य कराय अर अपनां निजरस तैं पाया स्वभावरूप जो ज्ञानचेतना, ताकूं आनंदसहित जैसैं होय तैसैं पूर्ण करि नृत्य करावते संते इहां तैं आगैं प्रशमरस जो कर्म का अभावरूप आत्मीकरस अमृत, ताहि सदाकाल पीवो। यह ज्ञानीजननि कूं प्रेरणा है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ पहलैं तौ तीन काल संवंधी कर्म का कर्त्तापणांरूप कर्मचेतनां के गुणचास भंगरूप त्याग की भावना कराई॥ पीछैं एक सो अठतालीस कर्मप्रकृति का उदयरूप कर्म का फल का त्याग की भावना कराई। अैसैं अज्ञानचेतना का प्रलय कराय अर ज्ञानचेतना मैं प्रवर्तनें का उपदेश कीया

की भावना से, अज्ञानचेतना के अभाव को प्रगट नचा कर, ज्ञानचेतना के स्वभाव को पूर्ण करके, उसे नचाते हुए ज्ञानीजन सदाकाल आनन्दरूप रहें – इस अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ वसन्ततिलका ॥

रे! कर्म कर्मफल से संन्यास लेकर,
सद्ज्ञानचेतना को निज में नचाओ।
प्याला पियो नित प्रशमरस का निरन्तर,
सुख में रहो अभी से चिरकाल तक तुम॥ २३३॥

अर्थ – ज्ञानीजन, कर्म और कर्म के फल से अत्यन्त विरक्तता की भावना को निरन्तर भाते हुए एवं समस्त अज्ञानचेतना के नाश को स्पष्ट अर्थात् प्रगटरूप से नचा कर और अपने निजरस से प्राप्त स्वभावरूप ज्ञानचेतना को आनन्दसहित, जैसे बने वैसे पूर्ण कर, नृत्य कराते हुए, यहाँ से आगे प्रशमरस अर्थात् कर्म के अभावरूप आत्मीक रसमय अमृत को सदाकाल पीते रहो – यह ज्ञानीजनों के लिए प्रेरणा है।

भावार्थ – यहाँ पहले तीन काल से सम्बन्धित कर्म के कर्तृत्वरूप कर्मचेतना के त्याग की भावना उनचास-उनचास भङ्गों के माध्यम से कराई, उसके बाद एक सौ अड़तालीस कर्मप्रकृतियों के उदयरूप कर्मफल के त्याग की भावना कराई; इस प्रकार अज्ञानचेतना का प्रलय करा कर, ज्ञानचेतना

है। यह ज्ञानचेतना, सदा आनंदरूप अपनां स्वभाव का अनुभवरूप है, ताकूं ज्ञानीजन सदा भोगवो। यह श्रीगुरुनि का उपदेश है॥ छ॥

आगैं, यह सर्वविशुद्धज्ञान का अधिकार है सो ज्ञान कूं कर्त्ताभोक्तापणां तैं भिन्न दिषाया, अव अन्य द्रव्य अर अन्य द्रव्यनि के भावनि तैं ज्ञान कूं न्यारा दिषावै है॥ ताकी सूचनिका का काव्य है॥

॥ वंशस्थ॥

इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनात्, विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयात्, विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते॥ ४१॥

॥ अर्थ॥ इहां तैं आगैं इस ज्ञान के अधिकार विषै समस्त वस्तुनि तैं व्यतिरेक कहिये भिन्न का निश्चय तैं विवेचितं कहिये न्यारा कीया जो ज्ञान सो अवस्थान करै है, निश्चल तिष्ठै है॥

कैसा हूवा तिष्ठै है, पदार्थनि की जो प्रथनां कहिये फैलनां, ताका अवगुंठन कहिये ज्ञेयज्ञानसंवंध करि एक से दीषनां, तातैं भई जो अनेकरूप कृति कहिये कर्तृत्वभावरूप क्रिया, ता विनां एक ज्ञानक्रियामात्र सर्व आकुलता तैं रहित दैदीप्यमान होता तिष्ठै है॥

॥ भावार्थ॥ सर्ववस्तुनि तैं न्यारा ज्ञान कूं प्रगट दिषावै है॥

सो ही गाथा मैं कहै है॥ छ॥

में प्रवर्तने का उपदेश दिया है। यह ज्ञानचेतना सदाकाल आनन्दस्वरूप अपने स्वभाव के अनुभवरूप है, उस आनन्द को ज्ञानीजन सदा भोगो – यही श्रीगुरुओं का उपदेश है।

यह सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है; अतः पहले ज्ञान को कर्तृत्व-भोक्तृत्व से भिन्न दिखाया है। अब, ज्ञान को आगे की गाथाओं में अन्य द्रव्यों और अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्न दिखाते हैं; उसकी सूचनिका का काव्य कहते हैं —

॥ दोहा॥

अपने में ही मगन है, अचल अनाकुल ज्ञान।
यद्यपि जाने ज्ञेय को, तदपि भिन्न ही जान॥ २३४॥

अर्थ – अब, यहाँ से इस ज्ञान के अधिकार में समस्त वस्तुओं से व्यतिरेक अर्थात् भिन्नता के निश्चयपूर्वक, विवेचित अर्थात् भिन्न किया गया ज्ञान, अवस्थान करता है, निश्चल होकर स्थित होता है।

कैसा होता हुआ स्थित होता है? – पदार्थों की प्रथना अर्थात् विस्तार, उसके अवगुण्ठन अर्थात् ज्ञेय-ज्ञानसम्बन्ध के कारण एक-सा दिखाई देने से उत्पन्न हुई अनेकरूप कृति अर्थात् कर्तृत्वभावरूप क्रिया से रहित एक ज्ञानक्रियामात्र, सर्व आकुलता से रहित, दैदीप्यमान होता हुआ स्थित होता है।

भावार्थ – ज्ञान को सर्व वस्तुओं से भिन्न प्रगट दिखाते हैं।

अब, इसी अर्थ को गाथाओं में बताते हैं —

सत्थं णाणं ण हवइ, जम्हा सत्थं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं सत्थं जिणा विंति॥ ८३॥
सद्दो णाणं ण हवइ, जम्हा सद्दो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं सद्दं जिणा विंति॥ ८४॥
रूवं णाणं ण हवइ, जम्हा रूवं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं रूवं जिणा विंति॥ ८५॥
वण्णो णाणं ण हवइ, जम्हा वण्णो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं वण्णं जिणा विंति॥ ८६॥
गंधो णाणं ण हवइ, जम्हा गंधो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं गंधं जिणा विंति॥ ८७॥
ण रसो दु हवइ णाणं, जम्हा दु रसो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, रसं च अण्णं जिणा विंति॥ ८८॥

सत्थं णाणं ण हवदि, जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं सत्थं जिणा बेंति[1]॥ ३९०॥
सद्दो णाणं ण हवदि, जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं सद्दं जिणा बेंति॥ ३९१॥
रूवं णाणं ण हवदि, जम्हा रूवं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं रूवं जिणा बेंति॥ ३९२॥
वण्णो णाणं ण हवदि, जम्हा वण्णो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं वण्णं जिणा बेंति॥ ३९३॥
गंधो णाणं ण हवदि, जम्हा गंधो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं गंधं जिणा बेंति॥ ३९४॥

---

१. *विंति* - अहिंसामन्दिर, अगास; कुन्दकुन्द भारती, सोलापुर, कारंजा आदि प्रकाशन पाठ।

फासो ण हवइ णाणं, जम्हा फासो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं फासं जिणा विंति॥ ८९॥
कम्मं णाणं ण हवइ, जम्हा कम्मं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं कम्मं जिणा विंति॥ ९०॥
धम्मो णाणं ण हवइ, जम्हा धम्मो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं धम्मं जिणा विंति॥ ९१॥
णाणमधम्मो ण हवइ, जम्हाधम्मो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णमधम्मं जिणा विंति॥ ९२॥
कालो णाणं ण हवइ, जम्हा कालो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं कालं जिणा विंति॥ ९३॥

ण रसो दु हवदि णाणं, जम्हा दु रसो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, रसं च अण्णं जिणा बेंति॥ ३९५॥
फासो ण हवदि णाणं[1], जम्हा फासो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं फासं जिणा बेंति॥ ३९६॥
कम्मं णाणं ण हवदि, जम्हा कम्मं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं कम्मं जिणा बेंति॥ ३९७॥
धम्मो णाणं ण हवदि[2], जम्हा धम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं धम्मं जिणा बेंति॥ ३९८॥
णाणमधम्मो ण हवदि[3], जम्हाधम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णमधम्मं जिणा बेंति॥ ३९९॥

---

१. *णाणं ण हवदि* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
२. *'धम्मच्छिओ ण णाणं'* - इति तात्पर्यवृत्तौ पाठः - अगास प्रकाशन में टिप्पणी
३. *'ण हवदि णाणमधम्मच्छिओ'* - इति तात्पर्यवृत्तौ पाठः - अगास प्रकाशन में टिप्पणी

आयासं पि ण णाणं, जम्हायासं ण याणए किंचि।
तम्हायासं अण्णं, अण्णं णाणं जिणा विंति॥ ९४॥
णज्झवसाणं णाणं, अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।
तम्हा अण्णं णाणं, अज्झवसाणं तहा अण्णं॥ ९५॥
जम्हा जाणइ णिच्चं, तम्हा जीवो दु जाणओ णाणी।
णाणं च जाणयादो, अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं॥ ९६॥
णाणं सम्मादिट्ठं दु, संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा, पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा॥ ९७॥

॥ पंचदशकं ॥

शास्त्रं ज्ञानं न भवति, यस्माच्छास्त्रं न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना विन्दन्ति[१]॥ छ॥

कालो णाणं ण हवदि, जम्हा कालो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं कालं जिणा बेंति॥ ४००॥
आयासं पि ण णाणं, जम्हायासं ण याणदे किंचि।
तम्हायासं अण्णं, अण्णं णाणं जिणा बेंति॥ ४०१॥
णज्झवसाणं णाणं, अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।[२]
तम्हा अण्णं णाणं, अज्झवसाणं तहा अण्णं॥ ४०२॥
जम्हा जाणदि णिच्चं, तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी।
णाणं च जाणयादो, अव्वदिरित्तं मुणेदव्वं॥ ४०३॥
णाणं सम्मादिट्ठिं, दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगदं।
धम्माधम्मं च तहा, पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा॥ ४०४॥

---

१. *बुवन्ति* - सोनगढ़ प्रकाशन पाठ / *विदन्ति* - अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ
२. *'अज्झवसाणं णाणं, ण हवदि जह्मा अचेदणं णिच्चं'* - इति तात्पर्यवृत्तौ पाठः - अगास प्रकाशन में टिप्पणी

शब्दो ज्ञानं न भवति, यस्माच्छब्दो न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञान-मन्यच्छब्दं[१] जिना विन्दन्ति॥ छ॥
रूपं ज्ञानं न भवति, यस्माद्रूपं न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञान-मन्यद्रूपं जिना विन्दन्ति॥ छ॥
वर्णो ज्ञानं न भवति, यस्माद्वर्णो न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञान-मन्यं वर्णं जिना विन्दन्ति॥ छ॥
गन्धो ज्ञानं न भवति, यस्माद्गन्धो न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञान-मन्यं गन्धं जिना विन्दन्ति॥ छ॥
न रसस्तु भवति ज्ञानं, यस्मात्तु रसो न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानं, रसं चाऽन्यं जिना विन्दन्ति॥ छ॥
स्पर्शो न भवति ज्ञानं, यस्मात् स्पर्शो न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञान-मन्यं स्पर्शं जिना विन्दन्ति॥ छ॥

रे! शास्त्र है नहिं ज्ञान, क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य, रु शास्त्र अन्य – प्रभू कहें॥ ३९०॥
रे! शब्द है नहिं ज्ञान, क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य, रु शब्द अन्य – प्रभू कहें॥ ३९१॥
रे! रूप है नहिं ज्ञान, क्योंकि रूप कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य, रु रूप अन्य – प्रभू कहें॥ ३९२॥
रे! वर्ण है नहिं ज्ञान, क्योंकि वर्ण कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य, रु वर्ण अन्य – प्रभू कहें॥ ३९३॥
रे! गन्ध है नहिं ज्ञान, क्योंकि गन्ध कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य, रु गन्ध अन्य – प्रभू कहें॥ ३९४॥
रे! रस नहीं है ज्ञान, क्योंकि रस जु कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य, रु अन्य रस – जिनवर कहें॥ ३९५॥
रे! स्पर्श है नहिं ज्ञान, क्योंकि स्पर्श कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य, रु स्पर्श अन्य – प्रभू कहें॥ ३९६॥

---

१. *अन्यं शब्दं* - अगास एवं सोनगढ़ प्रकाशन पाठ

कर्म ज्ञानं न भवति, यस्मात् कर्म न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञान-मन्यत्कर्म जिना विन्दन्ति॥ छ॥
धर्मो ज्ञानं न भवति, यस्माद्धर्मो न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञान-मन्यं धर्मं जिना विन्दन्ति॥ छ॥
ज्ञानमधर्मो न भवति, यस्मादधर्मो न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञान-मन्यमधर्मं जिना विन्दन्ति॥ छ॥
कालो ज्ञानं न भवति, यस्मात्कालो न जानाति किञ्चित्।
तस्मादन्यज्ज्ञान-मन्यं कालं जिना विन्दन्ति॥ छ॥
आकाशमपि न ज्ञानं, यस्मादाकाशं न जानाति किञ्चित्।
तस्मादाकाशमन्य-दन्यज्ज्ञानं जिना विन्दन्ति॥ छ॥
नाऽध्यवसानं ज्ञान-मध्यवसानमचेतनं यस्मात्।
तस्मादन्यज्ज्ञान-मध्यवसानं तथाऽन्यत् ॥ छ॥

रे! कर्म है नहिं ज्ञान, क्योंकि कर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य, रु कर्म अन्य – जिनवर कहें॥ ३९७॥
रे! धर्म है नहिं ज्ञान, क्योंकि धर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य, रु धर्म अन्य – जिनवर कहें॥ ३९८॥
नहिं है अधर्म जु ज्ञान, क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य, अधर्म अन्य – जिनवर कहें॥ ३९९॥
रे! काल है नहिं ज्ञान, क्योंकि काल कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य, रु काल अन्य – प्रभू कहें॥ ४००॥
आकाश है नहिं ज्ञान, क्योंकि आकाश कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से आकाश अन्य, रु ज्ञान अन्य – प्रभू कहें॥ ४०१॥
रे! ज्ञान अध्यवसान नहिं, क्योंकि अचेतनरूप है।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य, रु अन्य अध्यवसान है॥ ४०२॥
रे! सर्वदा जाने हि इससे, जीव ज्ञायक ज्ञानी है।
अरु ज्ञान है ज्ञायक से अव्यतिरिक्त यों ज्ञातव्य है॥ ४०३॥

यस्माज्जानाति नित्यं, तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी[१]।
ज्ञानं च ज्ञायका-दव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यम्॥ छ॥
ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं, तु संयमं सूत्रमङ्गपूर्वगतम्।
धर्माधर्मं च तथा, प्रव्रज्यामभ्युपयान्ति[२] बुधाः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ शास्त्र है सो ज्ञान नाही है, जातैं शास्त्र किछू जानैं नाही है, जड है॥ तातैं ज्ञान अन्य है, शास्त्र अन्य है, अैसैं जिनभगवान हैं, ते जानैं हैं, कहैं हैं॥ छ॥

शव्द है सो ज्ञान नाही है, जातैं शव्द किछू जानैं नाही है। तातैं ज्ञान अन्य है, शव्द अन्य है, यह जिनेदव कहै है॥ छ॥

रूप है सो ज्ञान नाही है, जातैं रूप किछू जानैं नाही है। तातैं ज्ञान अन्य है, रूप अन्य है, यह जिनदेव कहै है॥ छ॥

वर्ण है सो ज्ञान नाही है, जातैं वर्ण किछू जानैं नाही है॥ तातैं ज्ञान अन्य है, वर्ण अन्य है, यह जिनदेव कहै है॥ छ॥

गंध है सो ज्ञान नाही है, जातैं गंध किछू जानैं नाही है। तातैं ज्ञान अन्य है, गंध अन्य है, यह जिनदेव कहै है॥ छ॥

वहुरि रस है सो ज्ञान नाही है, जातैं रस किछू जानैं नाही है॥ तातैं ज्ञान अन्य है, रस अन्य है,

---

सम्यक्त्व अरु संयम तथा, पूर्वाङ्गत सब सूत्र जो।
धर्माधरम दीक्षा सभी, बुध पुरुष मानें ज्ञान को॥ ४०४॥

अर्थ – शास्त्र, ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है; अत: ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है – ऐसा जिनेन्द्र भगवान जानते हैं और कहते हैं॥ ३९०॥

शब्द, ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ जानता नहीं है; अत: ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं॥ ३९१॥

रूप, ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप कुछ जानता नहीं है; अत: ज्ञान अन्य है और रूप अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं॥ ३९२॥

वर्ण, ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ जानता नहीं है; अत: ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं॥ ३९३॥

गन्ध, ज्ञान नहीं है क्योंकि गन्ध कुछ जानता नहीं है; अत: ज्ञान अन्य है और गन्ध अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं॥ ३९४॥

रस, ज्ञान नहीं है क्योंकि रस कुछ जानता नहीं है; अत: ज्ञान अन्य है और रस अन्य है – ऐसा

---

१. *ज्ञानं* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ
२. *प्रव्रज्यामभ्युपयान्ति* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

यह जिनदेव कहै है॥ छ॥

स्पर्श है सो ज्ञान नाही है, जातैं स्पर्श किछू जानैं नाही है॥ तातैं ज्ञान अन्य है, स्पर्श अन्य है, यह जिनदेव कहै है॥ छ॥

कर्म है सो ज्ञान नाही है, जातैं कर्म किछू जानैं नाही है। तातैं ज्ञान अन्य है, कर्म अन्य है, यह जिनदेव कहै है॥ छ॥

धर्म है सो ज्ञान नाही है, जातैं धर्म किछू जानैं नाही है। तातैं ज्ञान अन्य है, धर्म अन्य है, यह जिनदेव कहै है॥ छ॥

अधर्म है सो ज्ञान नाही है, जातैं अधर्म किछू जानैं नाही है॥ तातैं ज्ञान अन्य है, अधर्म अन्य है, यह जिनदेव कहै है॥ छ॥

काल है सो ज्ञान नाही है, जातैं काल किछू जानैं नाही है। तातैं ज्ञान अन्य है, काल अन्य है, यह जिनदेव कहै है॥ छ॥

आकाश भी ज्ञान नाही है, जातैं आकाश किछू जानैं नाही है॥ तातैं ज्ञान अन्य है, आकाश अन्य है, यह जिनदेव कहै है॥ छ॥

तैंसैं ही अध्यवसान है सो ज्ञान नाही है, जातैं अध्यवसान अचेतन है। तातैं ज्ञान अन्य है, अध्यवसान भी अन्य है॥ छ॥

जिनदेव कहते हैं॥ ३९५॥

स्पर्श, ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ जानता नहीं है; अत: ज्ञान अन्य है और स्पर्श अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं॥ ३९६॥

कर्म, ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ जानता नहीं है; अत: ज्ञान अन्य है और कर्म अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं॥ ३९७॥

धर्म (धर्मद्रव्य), ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म कुछ जानता नहीं है; अत: ज्ञान अन्य है और धर्म अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं॥ ३९८॥

अधर्म (अधर्मद्रव्य), ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म कुछ जानता नहीं है; अत: ज्ञान अन्य है और अधर्म अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं॥ ३९९॥

काल (कालद्रव्य), ज्ञान नहीं है क्योंकि काल कुछ जानता नहीं है; अत: ज्ञान अन्य है और काल अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं॥ ४००॥

आकाश (आकाशद्रव्य) भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश कुछ जानता नहीं है; अत: आकाश अन्य है और ज्ञान अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं॥ ४०१॥

इसी प्रकार अध्यवसान, ज्ञान नहीं हैं क्योंकि अध्यवसान अचेतन हैं; अत: ज्ञान अन्य है और अध्यवसान भी अन्य है॥ ४०२॥

वहुरि जीव है सो ज्ञायक है सो ही ज्ञान है, जातैं यह निरंतर जानैं है, ज्ञान है सो ज्ञायक तैं अभिन्न है, न्यारा नाही है॥ ऐसैं जाननां॥ छ॥

वहुरि ज्ञान है सो ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वगतसूत्र है॥ धर्म अधर्म भी ज्ञान ही है॥ वहुरि प्रव्रज्या दीक्षा है सो भी ज्ञान है। ज्ञानीजन हैं, ते ऐसैं अंगीकार करैं हैं, मानैं हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ श्रुत कहिये वचनात्मक द्रव्यश्रुत है सो ज्ञान नाही है, जातैं वचन है सो अचेतन है॥ तातैं ज्ञान कै अर श्रुत कै व्यतिरेक है, भेद है॥ वहुरि शव्द है सो ज्ञान नाही है, जातैं शव्द पुद्गलद्रव्य का पर्याय अचेतन है, तातैं ज्ञान कै अर शव्द कै व्यतिरेक है॥

वहुरि रूप है सो ज्ञान नाही है, जातैं रूप पुद्गल का गुण है, अचेतन है, तातैं रूप कै अर ज्ञान कै व्यतिरेक है॥ वहुरि वर्ण है सो ज्ञान नाही है, जातैं वर्ण पुद्गलद्रव्य का गुण है, अचेतन है, तातैं वर्ण कै अर ज्ञान कै व्यतिरेक है॥

वहुरि गंध है सो ज्ञान नाही है, जातैं गंध पुद्गलद्रव्य का गुण है, अचेतन है, तातैं गंध कै अर ज्ञान कै व्यतिरेक है॥ वहुरि रस है सो ज्ञान नाही है, जातैं रस पुद्गलद्रव्य का गुण है, अचेतन है, तातैं रस कै अर ज्ञान कै व्यतिरेक है॥ वहुरि स्पर्श है सो ज्ञान नाही है, जातैं स्पर्श पुद्गलद्रव्य का गुण है, अचेतन है, तातैं स्पर्श कै अर ज्ञान कै व्यतिरेक है॥

वहुरि कर्म है सो ज्ञान नाही है, जातैं कर्म अचेतन है, तातैं कर्म कै अर ज्ञान कै व्यतिरेक है॥

वहुरि धर्मद्रव्य है सो ज्ञान नाही है, जातैं अचेतन है, तातैं धर्मद्रव्य कै अर ज्ञान कै व्यतिरेक

वास्तव में जीव, ज्ञायक है, वही ज्ञान है क्योंकि यह निरन्तर जानता है; ज्ञान, ज्ञायक से अभिन्न है, अलग नहीं है – ऐसा जानना॥ ४०३॥

ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि (सम्यग्दर्शन) है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अङ्गपूर्वगत सूत्र है, धर्म-अधर्म (पुण्य-पापभाव) भी ज्ञान ही है एवं प्रव्रज्या अर्थात् दीक्षा भी ज्ञान है – ऐसा ज्ञानीजन अङ्गीकार करते हैं, मानते हैं॥ ४०४॥

टीका – श्रुत अर्थात् वचनात्मक द्रव्यश्रुत, ज्ञान नहीं है क्योंकि वचन अचेतन हैं; अत: ज्ञान और श्रुत में व्यतिरेक है, भिन्नता है। शब्द, ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द, पुद्गलद्रव्य की पर्याय है, अचेतन है; अत: ज्ञान और शब्द में भिन्नता है।

रूप, ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप, पुद्गल का गुण है, अचेतन है; अत: रूप और ज्ञान में भिन्नता है। वर्ण, ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण, पुद्गलद्रव्य का गुण है, अचेतन है; अत: वर्ण और ज्ञान में भिन्नता है। गन्ध, ज्ञान नहीं है क्योंकि गन्ध, पुद्गलद्रव्य का गुण है, अचेतन है; अत: गन्ध और ज्ञान में भिन्नता है। रस, ज्ञान नहीं है क्योंकि रस, पुद्गलद्रव्य का गुण है, अचेतन है; अत: रस और ज्ञान में भिन्नता है। स्पर्श, ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श, पुद्गलद्रव्य का गुण है, अचेतन है; अत: स्पर्श और ज्ञान में भिन्नता है।

कर्म, ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म, अचेतन है; अत: कर्म और ज्ञान में भिन्नता है।

है॥ वहुरि अधर्मद्रव्य है सो ज्ञान नाही है, जातैं अचेतन है, तातैं अधर्मद्रव्य कै अर ज्ञान कै व्यतिरेक है॥ वहुरि कालद्रव्य है सो ज्ञान नाही है, जातैं काल अचेतन है, तातैं काल कै अर ज्ञान कै व्यतिरेक है॥ वहुरि आकाशद्रव्य है सो ज्ञान नाही है, जातैं आकाश अचेतन है, तातैं ज्ञान कै अर आकाश कै व्यतिरेक है॥

वहुरि अध्यवसान है सो ज्ञान नाही है, जातैं कर्म के उदय की प्रवृत्तिरूप अध्यवसान है सो अचेतन है, तातैं ज्ञान कै अर अध्यवसान कै व्यतिरेक है॥

अैसैं या प्रकार तौ ज्ञान कै सर्व ही परद्रव्यनि करि सहित व्यतिरेक भिन्नपणां का निश्चय साध्या हूवा देषणां॥

अर अव कहै है जो जीव है सो ही एक ज्ञान है, जातैं जीव चेतन है, तातैं ज्ञान कै अर जीव कै अव्यतिरेक है, अभेद है॥ वहुरि जीव कै आपै आप ज्ञानपणां है, तातैं ज्ञान जीव कै व्यतिरेक भेद किछू ही आशंकारूप न करणूं॥

अैसैं होतैं ज्ञान है सो ही सम्यग्दृष्टि है॥ ज्ञान है सो ही संयम है॥ ज्ञान है सो ही अंगपूर्वगत सूत्र है॥ वहुरि धर्म अधर्म है सो भी ज्ञान ही है॥ वहुरि ज्ञान है सो प्रव्रज्या कहिये दीक्षा है, निश्चयचारित्र है॥

अैसैं जीव के पर्यायनि करि सहित भी अव्यतिरेक अभेद का निश्चय साध्या हूवा देषणां।

धर्मद्रव्य, ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है; अत: धर्मद्रव्य और ज्ञान में भिन्नता है। अधर्मद्रव्य, ज्ञान नहीं है क्योंकि वह अचेतन है; अत: अधर्मद्रव्य और ज्ञान में भिन्नता है। कालद्रव्य, ज्ञान नहीं है क्योंकि काल अचेतन है; अत: काल और ज्ञान में भिन्नता है। आकाशद्रव्य, ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश अचेतन है; अत: ज्ञान और आकाश में भिन्नता है।

अध्यवसान, ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म के उदय की प्रवृत्तिरूप अध्यवसान अचेतन है; अत: ज्ञान और अध्यवसान में भिन्नता है।

इस प्रकार निश्चय से तो ज्ञान का सर्व ही परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक अर्थात् भिन्नपना सिद्ध होता है – ऐसा देखना चाहिए।

अब कहते हैं कि जीव ही एक ज्ञान है क्योंकि जीव, चेतन है; अत: जीव और ज्ञान में अव्यतिरेक है, अभिन्नता है। जीव में स्वयं अपने आप ज्ञानपना है; इसलिए ज्ञान और जीव में कुछ भी व्यतिरेक या भेद की शङ्का नहीं करनी चाहिए।

ऐसा होने पर ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि (सम्यग्दर्शन) है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अङ्गपूर्वगत सूत्र है और धर्म-अधर्म (पुण्य-पापभाव) भी ज्ञान ही है और ज्ञान ही प्रव्रज्या अर्थात् दीक्षा है, निश्चयचारित्र है।

इस प्रकार जीव की पर्यायों के साथ भी ज्ञान का अव्यतिरेक या अभेद निश्चय से सिद्ध होता है – ऐसा जानना चाहिए।

अव कहै है जो ऐसैं सर्व परद्रव्यनि करि तौ व्यतिरेक करि वहुरि जीव के सर्व दर्शन कूं आदि लेकरि स्वभावनि करि अव्यतिरेक करि, तौ अतिव्याप्ति अर अव्याप्ति दूषण कूं दूरि करता संता अर अनादिकाल तैं विभ्रम अविद्या है मूल जाका, ऐसा धर्म अधर्म कहिये पुण्य पाप, शुभ अशुभरूप परसमय, ताकूं दूरि करि अर आप प्रव्रज्या जो निश्चयचारित्ररूप दीक्षा कूं पाय करि दर्शन ज्ञान चारित्र विषै स्थितिरूप जो स्वसमय, ताकूं व्याप्य[१] करि आत्मा ही विषै मोक्षमार्ग कूं परिणामरूप करि अर पाया है संपूर्ण विज्ञानघन स्वभाव जानैं अर हान उपादान कहिये त्याग ग्रहण करि रहित साक्षात् समयसारभूत परमार्थरूप शुद्ध एक ज्ञान अवस्थित भया देषणां, प्रत्यक्ष स्वसंवेदन करि अनुभवन करनां॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ सर्व परद्रव्यनि तैं तौ न्यारा अर अपनां पर्यायनि तैं अभेद, ऐसा ज्ञान एक दिषाया सो यातैं अतिव्याप्ति अर अव्याप्ति नामा लक्षण के दोष हैं, ते दूरि भये, जातैं आत्मा का लक्षण उपयोग है सो उपयोग मैं ज्ञान प्रधान है सो यह अन्य अचेतन द्रव्यनि मैं नाही, तातैं तौ अतिव्याप्तिस्वरूप नाही अर अपनीं अवस्था मैं सर्व मैं है, तातैं अव्याप्तिस्वरूप नाही॥

अर इहां ज्ञान कहने तैं आत्मा ही जाननां, जातैं अभेद विवक्षा मैं गुण गुणी कै अभेद है, तातैं विरोध नाही। इहां ज्ञान ही कूं प्रधान करि आत्मा का अधिकार है, याही लक्षण तैं सर्व द्रव्यनि तैं भिन्न अनुभवगोचर होय है।

अब कहते हैं कि इस प्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक होने से और जीव के सभी दर्शन आदि स्वभावों के साथ अव्यतिरेक होने से अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दूषण को दूर करता हुआ एवं अनादिकाल से विभ्रम या अविद्यामूलक धर्म-अधर्म अर्थात् पुण्य-पाप या शुभ-अशुभरूप परसमय को दूर करके, स्वयं प्रव्रज्या अर्थात् निश्चयचारित्ररूप दीक्षा को ग्रहण करके, दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थितिरूप स्वसमय से व्याप्त होकर अर्थात् उसे प्राप्त करके, आत्मा ही में मोक्षमार्ग को परिणमित करके, जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त कर लिया है तथा हान-उपादान अर्थात् त्याग-ग्रहण से रहित, साक्षात् समयसारभूत परमार्थरूप शुद्ध एक ज्ञान को अवस्थित हुआ देखना चाहिए अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से अनुभव करना।

भावार्थ – यहाँ सर्व परद्रव्यों से तो भिन्न और अपनी पर्यायों से अभिन्न – ऐसा एक ज्ञान दिखाया है, इससे लक्षण के अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नामक दोष दूर होते हैं क्योंकि आत्मा का लक्षण उपयोग है और उपयोग में ज्ञान प्रधान है; अत: यह ज्ञान, अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है, इसलिए अतिव्याप्तिस्वरूप नहीं है और अपनी सर्व अवस्थाओं में है, अत: अव्याप्तिस्वरूप नहीं है।

यहाँ ज्ञान कहने से आत्मा ही को जानना क्योंकि अभेद विवक्षा में गुण-गुणी का अभेद होता है; अत: कोई विरोध नहीं है। यहाँ ज्ञान ही की प्रधानता से आत्मा का अधिकार कहा है, इसी लक्षण से वह सर्व द्रव्यों से भिन्न अनुभवगोचर होता है।

---

१. संस्कृत टीका में *'अवाप्य'* शब्द आया है, उसका अर्थ 'प्राप्त करके' होता है।

यद्यपि आत्मा मैं अनंत धर्म हैं तथापि तिनि मैं केई तौ छद्मस्थ के अनुभवगोचर ही नाही, तिनिकूं कहें छद्मस्थज्ञानी, आत्मा कूं कैसैं पहिचानैं अर केई धर्म अनुभवगोचर हैं, तिनिमैं केई अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्वादिक हैं, ते अन्यद्रव्यनि तैं साधारण हैं, समान हैं, तिनिकूं कहें न्यारा आत्मा जान्यां जाय नाही॥ वहुरि केई परद्रव्य के निमित्त तैं भये, तिनिकूं कहें परमार्थभूत आत्मा का स्वरूप शुद्ध कैसैं जान्यां जाय।

तातैं ज्ञान ही कहें छद्मस्थज्ञानी, आत्मा कूं पहिचानैं। तातैं ज्ञान ही कूं आत्मा कहि करि अर इस ज्ञान मैं अनादि अज्ञान तैं शुभाशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति है, ताकूं दूरि करि अर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र विषै प्रवृत्तिरूप स्वसमयरूप परिणमनस्वरूप मोक्षमार्ग विषै आत्मा कूं परिणमाय अर संपूर्ण ज्ञान कूं प्राप्त होय, तव फेरि त्याग ग्रहण कूं किछू न रहै, अैसा साक्षात् समयसारस्वरूप पूर्णज्ञान परमार्थभूत शुद्ध ठहरै, ताकूं देषनां।

तहां देषनां तीन प्रकार जाननां।

एक तौ शुद्धनय का ज्ञान करि याका श्रद्धान करनां सो यह तौ अविरत आदि अवस्था मैं भी मिथ्यात्व के अभाव तैं होय है॥

वहुरि दूसरैं ज्ञान श्रद्धान भयें पीछैं वाह्य सर्व परिग्रह का त्याग करि याका अभ्यास करनां, उपयोग कूं ज्ञान ही विषै थांभनां सो जैसैं शुद्धनय करि अपनां स्वरूप कूं सिद्धसमान जान्यां, श्रद्धान कीया,

---

यद्यपि आत्मा में अनन्त धर्म हैं, तथापि उनमें से अनेक तो छद्मस्थ के अनुभवगोचर ही नहीं हैं; उनको लक्षण कहने पर छद्मस्थज्ञानी[१], आत्मा को कैसे पहचानें और अनेक धर्म अनुभवगोचर हैं परन्तु उनमें अनेक अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि अन्य द्रव्यों में साधारण हैं, समान हैं; उनको लक्षण कहने पर भी पृथक् आत्मा जाना नहीं जाता तथा अनेक धर्म, परद्रव्य के निमित्त से होते हैं; उनको लक्षण कहने पर **परमार्थभूत आत्मा का स्वरूप शुद्ध कैसे जाना जा सकता है?**

— इस प्रकार ज्ञान ही को कहने पर छद्मस्थज्ञानी, आत्मा को पहचानता है। इसलिए ज्ञान ही को आत्मा कह कर, इस ज्ञान में से अनादि अज्ञान के कारण शुभाशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति को दूर करके और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में प्रवृत्तिरूप अर्थात् स्वसमयरूप परिणमनस्वरूप मोक्षमार्ग में आत्मा को परिणमित करके सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त होता है, तब त्याग-ग्रहण करने के लिए कुछ भी नहीं रहता है – ऐसा साक्षात् समयसारस्वरूप पूर्णज्ञान परमार्थभूत शुद्ध सिद्ध होता है, उसे देखना।

वहाँ देखने के तीन प्रकार जानना —

पहले प्रकार में तो शुद्धनय का ज्ञान करके, इस ज्ञानस्वरूप आत्मा का श्रद्धान करना - यह देखना तो अविरति आदि अवस्था में भी मिथ्यात्व के अभाव से होता है।

दूसरे प्रकार में ज्ञान-श्रद्धान हो जाने के बाद समस्त बाह्य परिग्रह को त्याग कर, इस [ज्ञानस्वरूप आत्मा] का अभ्यास करना, उपयोग को ज्ञान ही में स्थिर करना। जैसे, शुद्धनय से अपना स्वरूप सिद्ध

---

१. *छद्मस्थज्ञानी* - क्षयोपशमज्ञानी।

तैसा ही ध्यान विषै ले एकाग्र चित्त कूं ठहरावनां, फेरि फेरि याही का अभ्यास करनां सो यह देषनां अप्रमत्तदशा मैं होय है सो जहां तांई अैसे अभ्यास तैं केवलज्ञान उपजै, तहां तांई यह अभ्यास निरंतर रहै, यह देषनें का दूसरा प्रकार है सो इहां तांई तौ पूर्णज्ञान का शुद्धनय कै आश्रय परोक्ष देषनां है।

वहुरि तीसरा यह है जो केवलज्ञान उपजै, तव साक्षात् देषनां होय है, तव सर्व विभावनि तैं रहित होय, सर्व का देषन जाननहारा ज्ञान होय है[१] सो यह पूर्णज्ञान का प्रत्यक्ष देषनां है।

सो यह ज्ञान है सो ही आत्मा है। अभेद विवक्षा मैं ज्ञान कहौ तथा आत्मा कहौ किछू विरोध न जाननां॥ छ॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं, विभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं, ज्ञानं तथाऽवस्थितम्।
मध्याऽद्यन्तविभागमुक्तसहज-स्फारप्रभाभासुरः,
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा, नित्योदितस्तिष्ठति॥ ४२॥

॥ अर्थ॥ यह ज्ञान है सो तैसैं अवस्थित भया है, जैसैं याकी महिमा निरंतर उदयरूप तिष्ठै,

---

भगवान के समान जाना, श्रद्धान किया; वैसे ही उसे ध्यान में लेकर चित्त को एकाग्र स्थिर करना, बार-बार इसी का अभ्यास करना – यह देखना तो अप्रमत्तदशा में होता है; अत: जब तक ऐसे अभ्यास से केवलज्ञान उत्पन्न हो, तब तक यह अभ्यास निरन्तर रहता है – यह देखने का दूसरा प्रकार है। इस तरह यहाँ तक तो पूर्णज्ञान का शुद्धनय के आश्रय से परोक्ष देखना है।

तीसरे प्रकार में जब केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब साक्षात् देखना होता है अर्थात् तब सर्व विभावों से रहित होकर ज्ञान, सम्पूर्ण का देखने-जाननेवाला होता है – यह पूर्णज्ञान का प्रत्यक्ष देखना है।

इस प्रकार यह ज्ञान है, वही आत्मा है। अभेद विवक्षा में ज्ञान कहो या आत्मा कहो, कुछ भी विरोध नहीं जानना।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

है अन्यद्रव्यों से पृथक्, विरहित ग्रहण अरु त्याग से।
यह ज्ञाननिधि निज में नियत, वस्तुत्व को धारण किये॥
है आदि-अन्त विभाग विरहित, स्फुरित है आनन्दघन।
हो सहज महिमा प्रभा-भास्वर, शुद्ध अनुपम ज्ञानघन॥ २३५॥

---

१. *ज्ञान है* - 'ब' प्रति पाठ

प्रतिपक्षी कर्म न रहै॥

कैसा अवस्थित भया है॥ अन्य जे परद्रव्य तिनितैं व्यतिरिक्त कहिये न्यारा अवस्थित भया है।

वहुरि कैसा है। आत्मनियतं कहिये आप ही विषै निश्चित है।

वहुरि कैसा है। पृथक् कहिये न्यारा ही वस्तुपणां कूं धारता संता है॥ वस्तु का स्वरूप सामान्यविशेषात्मक है सो ज्ञान भी सामान्यविशेषपणां कूं धार्‌या है॥

वहुरि कैसा है। आदानोज्झन कहिये ग्रहण त्याग, तिनि करि शून्य[१] है, रहित है। ज्ञान मैं किछू त्याग ग्रहण नाही है॥

वहुरि कैसा है। अमल कहिये रागादिक मल तैं रहित है॥ अैसा है॥

वहुरि याकी महिमा नित्य उदयरूप तिष्ठै सो कैसा है। मध्य अर आदि अर अंत, ए जे विभाग तिनि करि मुक्त कहिये रहित अर सहज कहिये स्वाभाविक अर स्फार कहिये फैल्या विस्तर्‌या जो प्रभा कहिये प्रकाश, ता करि दैदीप्यमान है॥ वहुरि शुद्धज्ञान का घन कहिये समूह है, अैसा जाका महिमा सदा उदयमान रहै, तैसैं अवस्थित भया है, ठहर्‌या है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञान का पूर्णरूप सर्व कूं जाननां है सो जव यह प्रगट होय है, तव इनि विशेषणनि सहित प्रगट होय है सो याका महिमा कूं कोई विगाडि सकै[२] नाही, सदा उदयमान रहै है॥ छ॥

अर्थ – यह ज्ञान, वैसे अवस्थित हुआ है, जैसे इसकी महिमा निरन्तर उदित रहे, प्रतिपक्षी कर्म नहीं रहे।

कैसा अवस्थित हुआ है? – अन्य अर्थात् परद्रव्यों से व्यतिरिक्त अर्थात् भिन्न अवस्थित हुआ है।

और कैसा है? – आत्मनियतं अर्थात् स्वयं ही में निश्चित है।

और कैसा है? – पृथक् अर्थात् भिन्न ही वस्तुत्व को धारण करता है। वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेषात्मक है, अत: ज्ञान भी सामान्य-विशेषपने का धारक है।

और कैसा है? – आदानोज्झन अर्थात् ग्रहण-त्याग, उससे शून्य है, रहित है; ज्ञान में ग्रहण-त्याग कुछ भी नहीं है।

और कैसा है? – अमल अर्थात् रागादि मल से रहित है – ऐसा है।

जिस ज्ञान की महिमा नित्य उदयरूप विद्यमान रहती है, वह ज्ञान कैसा है? – आदि-मध्य-अन्त के विभागों से मुक्त अर्थात् रहित, सहज अर्थात् स्वाभाविक, स्फार अर्थात् फैला हुआ या विस्तृत, प्रभा अर्थात् प्रकाश से दैदीप्यमान है एवं शुद्धज्ञान का घन अर्थात् समूह है – ऐसी जिसकी महिमा सदा उदित है; वैसे अवस्थित हुआ है, स्थिर हुआ है।

भावार्थ – ज्ञान का पूर्णस्वभाव, सर्व को जानना है; अत: जब यह प्रगट होता है, तब इन

---

१. *सून्य* - 'अ' प्रति पाठ २. *शकै* - 'ब' प्रति पाठ

अब कहै है, अैसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का धारणां सो ही कृतकृत्यपणां है॥

॥ उपजाति ॥

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्, तथाऽत्तमादेयमशेषतस्तत्।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः, पूर्णस्य सन्धारणमात्मनीह॥ ४३॥

॥ अर्थ॥ जो समेटी है सर्व शक्ति जानैं, अैसा जो पूर्णस्वरूप आत्मा, ताका आत्मा ही विषै धारण करणां सो ही जो उन्मोच्य कहिये छोड़नें योग्य था सो तौ सर्व उन्मुक्त कहिये छोड्या अर जो आदेय कहिये लेनें योग्य था सो समस्त लीया॥

॥ भावार्थ॥ जो पूर्ण ज्ञानस्वरूप सर्व शक्ति का समूहस्वरूप आत्मा, ताकूं धारणां सो ही त्यागनें योग्य तौ सर्व ही त्याग्या अर ग्रहण करनें योग्य था सो ग्रहण कीया। यह ही कृतकृत्यपणां है॥ छ॥

आगै कहै है जो अैसे ज्ञान कै देह भी नाही है॥ ताकी सूचनिका का श्लोक है॥

॥ अनुष्टुभ्[१] ॥

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम्।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शङ्क्यते॥ ४४॥

॥ अर्थ॥ एवं कहिये पूर्वोक्त प्रकार परद्रव्यनि तैं न्यारा ज्ञान अवस्थित भया ठहरया॥ सो अैसा

विशेषणों सहित प्रगट होता है; इसकी महिमा को कोई बिगाड़ नहीं सकता है, वह सदा उदित रहती है।

अब, कहते हैं कि ऐसे ज्ञान स्वरूप आत्मा को धारण करना ही कृतकृत्यपना है —

॥ हरिगीतिका ॥

जिनने समेटा स्वयं ही, सब शक्तियों को स्वयं में।
सब ओर से धारण किया है, स्वयं को ही स्वयं में॥
मानों उन्हीं ने त्यागने के, योग्य जो वह तज दिया।
अरु जो ग्रहण के योग्य वह सब, भी उन्हीं ने पा लिया॥ २३६॥

अर्थ – जिसने अपनी सर्व शक्तियों को समेट लिया है – ऐसे पूर्णस्वरूप आत्मा का आत्मा में धारण करना। तात्पर्य यह है कि जो उन्मोच्य अर्थात् छोड़ने योग्य था, उस सबको उन्मुक्त अर्थात् छोड़ दिया और जो आदेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य था, उस सबको ग्रहण कर लिया।

भावार्थ – पूर्ण ज्ञानस्वरूप और सर्व शक्तियों के समूहस्वरूप आत्मा को धारण करना ही कृतकृत्यपना है अर्थात् सर्व त्यागने योग्य को तो त्यागा और सर्व ग्रहण करने योग्य को ग्रहण किया – यही कृतकृत्यपना है।

अब कहते हैं कि इस तरह ज्ञान की देह भी नहीं है, उसकी सूचनिका का श्लोक कहते हैं —

---

१. 'अ' 'ब' प्रति में यह नामोल्लेख नहीं है, परन्तु 'अनुष्टुभ्' छन्द को ही 'श्लोक' कहते हैं – ऐसा जानना।

ज्ञान आहारक कहिये कर्म नोकर्मरूप आहार करनेंवाला कैसैं होय॥ अर जव आहारक नाही, तव याकै देह की शंका कैसैं करिये, नाही करिये॥ छ॥

अव, इस अर्थ कूं गाथा मैं कहे है॥

अत्ता जस्सामुत्तो, ण हु सो आहारओ हवइ एवं।
आहारो खलु मुत्तो, जम्हा सो पुग्गलमओ उ॥ ९८॥
ण वि सक्कइ घित्तुं जं, ण विमोत्तुं जं य जं परं दव्वं।
सो को वि य तस्स गुणो, पाउगिओ विस्ससो वा वि॥ ९९॥
तम्हा उ जो विसुद्धो, चेया सो णेव गिण्हए किंचि।
णेव विमुंचइ किंचि वि, जीवाजीवाण दव्वाणं॥ १००॥

॥ त्रिकलं॥

॥ सोरठा॥

ज्ञानस्वभावी जीव, परद्रव्यों से भिन्न ही।
कैसे कहें सदेह, जब आहारक ही नहीं॥ २३७॥

अर्थ – एवं अर्थात् पूर्वोक्त रीति से परद्रव्य से भिन्न ज्ञान, अवस्थित सिद्ध हुआ; **वह ज्ञान, आहारक अर्थात् कर्म-नोकर्मरूप आहार करनेवाला कैसे हो सकता है?** और जब वह आहारक ही नहीं है; **तब इसके देह होने की शङ्का कैसे की जा सकती है?** अर्थात् नहीं की जा सकती है।

अब, इसी अर्थ को गाथाओं में कहते हैं —

अत्ता जस्स अमुत्तो[1], ण हु सो आहारगो हवदि एवं।
आहारो खलु मुत्तो, जम्हा सो पोग्गलमओ दु॥ ४०५॥
ण वि सक्कदि घेत्तुं जं, ण विमोत्तुं जं च जं परदव्वं[2]।
सो को वि य तस्स गुणो, पाउगिओ विस्ससो वा वि[3]॥ ४०६॥
तम्हा दु जो विसुद्धो, चेदा सो णेव गेण्हदे किंचि।
णेव विमुंचदि किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं॥ ४०७॥

---

१. *जस्स अमुत्तो* - तात्पर्यवृत्ति पाठ
२. *ण मुञ्चिदुं चेव जं परं दव्वं* - तात्पर्यवृत्ति पाठ
३. *पाउग्गिय विस्ससो वापि* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

आत्मा यस्याऽमूर्तो, न खलु स आहारको भवत्येवम्।
आहारः खलु मूर्तो, यस्मात् स पुद्गलमयस्तु॥ छ॥
नापि शक्यते गृहीतुं, यन्न विमोक्तुं यच्च यत्परद्रव्यम्[१]।
स कोपि च तस्य गुणः, प्रायोगिको वैस्रसो वाऽपि॥ छ॥
तस्मात्तु यो विशुद्धश्चेतयिता स नैव गृह्णाति किञ्चित्।
नैव विमुञ्चति किञ्चिदपि, जीवाजीवयोर्द्रव्ययोः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ या प्रकार जाका आत्मा अमूर्त्तीक है सो निश्चय करि आहारक नाही है॥ जातैं आहार है सो मूर्त्तीक है सो आहार पुद्गलमयी है॥ छ॥

वहुरि जो परद्रव्य है सो ग्रहण करनें कूं नाही समर्थ हूजिये है अर छोड़नें कूं समर्थ न हूजिये है॥ सो कोई ऐसा ही आत्मा का गुण है, प्रायोगिक है तथा वैस्रसिक है॥ छ॥

तातैं जो विशुद्ध चेतयिता आत्मा है सो किछू ही परद्रव्य कूं जीव अजीव कूं नाही ग्रहण करै है। वहुरि किछू ही परद्रव्य कूं नाही छोडै है॥ छ॥

॥ टीका॥ इहां आत्मा कहने तैं ज्ञान का ग्रहण है, जातैं अभेद विवक्षा तैं लक्षण विषै ही लक्ष्य

यों आतमा जिसका अमूर्तिक, वह न आहारक बने।
पुद्गलमयी आहार यों, आहार तो मूर्तिक अरे!॥ ४०५॥
जो द्रव्य है पर, ग्रहण नहिं, नहिं त्याग उसका हो सके।
ऐसा ही उसका गुण कोई, प्रायोगि वा वैस्रसिक है॥ ४०६॥
इस हेतु से जो शुद्ध आत्मा, वह नहीं कुछ भी ग्रहे।
छोड़े नहीं कुछ भी अहो! परद्रव्य जीव अजीव में॥ ४०७॥

अर्थ – इस प्रकार जिसका आत्मा अमूर्तिक है, वह निश्चय से आहारक नहीं है क्योंकि आहार मूर्तिक होता है और वह आहार, पुद्गलमयी है॥ ४०५॥

इसी प्रकार वह आत्मा न तो परद्रव्य को ग्रहण करने में समर्थ होता है और न छोड़ने में ही समर्थ होता है क्योंकि आत्मा का कोई ऐसा ही प्रायोगिक तथा वैस्रसिक गुण है॥ ४०६॥

अत: विशुद्ध चेतयिता आत्मा, जीव-अजीवरूप परद्रव्य को कुछ भी ग्रहण नहीं करता है और कुछ भी छोड़ता नहीं है॥ ४०७॥

टीका – यहाँ 'आत्मा' शब्द से ज्ञान को ग्रहण किया गया है क्योंकि 'अभेदविवक्षा से लक्षण

---

१. *यत्परं द्रव्यम्* - अगास प्रकाशन पाठ

का व्यवहार है॥ इस न्याय तैं आत्मा कूं[१] ज्ञान ही कहते आवै हैं॥ तातैं टीकाकार कहै है[२] जो ज्ञान है सो परद्रव्य कूं किंचिन्मात्र भी नाही ग्रहण करै है॥ अर किंचिन्मात्र भी नाही छोडै है॥ जातैं प्रायोगिक गुण[३] कहिये परनिमित्त तैं भया जो गुण, ताकी सामर्थ्य तैं तथा वैस्रसिक कहिये स्वाभाविक गुण की सामर्थ्य तैं, दोऊ प्रकार तैं ज्ञान करि परद्रव्य का ग्रहण करनें का अर छोडनें का असमर्थपणां है॥ वहुरि अमूर्त्तीक आत्मद्रव्य जो ज्ञान, ताकै मूर्त्तीक पुद्गलद्रव्य आहार नाही है। अमूर्त्तीक कै मूर्त्तीक आहार होय नाही॥ तातैं ज्ञान आहारक नाही है॥ यातैं ज्ञान कै देह की शंका[४] न करणीं॥

॥ भावार्थ॥ ज्ञानस्वरूप आत्मा अमूर्त्तीक है अर आहार है सो कर्म नोकर्मरूप पुद्गलमयी मूर्त्तीक है, तातैं परमार्थ तैं आत्मा कै पुद्गलमयी आहार नाही है। वहुरि आत्मा का अैसा ही स्वभाव है सो परद्रव्य कूं तौ ग्रहण ही नाही करै है। स्वभावरूप परिणमूं तथा विभावरूप परिणमूं, अपनें ही परिणाम का ग्रहण त्याग है, परद्रव्य का तौ ग्रहण त्याग किछू भी नाही है॥ तातैं आत्मा कै पुद्गलमयी देह है, अैसी आशंका न करणीं॥ छ॥

आगैं कहै है जो इस ही हेतु तैं पुद्गलमयी देहस्वरूप जो लिंग है, वाह्य चिह्न है, भेष है सो मोक्ष का कारण नाही है॥ ताकी सूचनिका का श्लोक है॥ छ॥

॥ अनुष्टुभ्॥

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य, देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम्॥ ४५॥

में ही लक्ष्य का व्यवहार होता है' – इस न्याय से टीकाकार आत्मा को ज्ञान ही कहते आये हैं। इसी कारण यहाँ [टीकाकार आचार्य] टीका करते हुए कहते हैं कि ज्ञान, परद्रव्य को किञ्चित्मात्र भी ग्रहण नहीं करता है और किञ्चित्मात्र भी छोड़ता नहीं है क्योंकि प्रायोगिकगुण अर्थात् परनिमित्त से होनेवाले गुण की सामर्थ्य तथा वैस्रसिक अर्थात् स्वाभाविकगुण की सामर्थ्य, दोनों ही प्रकार से ज्ञान के द्वारा परद्रव्य को ग्रहण करने और छोड़ने की असमर्थता है। अमूर्तिक आत्मद्रव्य अर्थात् ज्ञान में मूर्तिक पुद्गलद्रव्य का आहार नहीं होता है क्योंकि अमूर्तिक के द्वारा मूर्तिक पुद्गलद्रव्य का आहार नहीं होता है; अत: ज्ञान आहारक नहीं है, इस कारण ज्ञान के देह होने की शङ्का नहीं करना।

भावार्थ – ज्ञानस्वरूप आत्मा, अमूर्तिक है और आहार, कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलमयी मूर्तिक है; अत: परमार्थ से आत्मा के पुद्गलमयी आहार नहीं होता है। आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है कि वह परद्रव्य को तो ग्रहण ही नहीं करता है। आत्मा, चाहे स्वभावरूप परिणमन करे अथवा विभावरूप परिणमन करे, उसे अपने ही परिणाम का ग्रहण-त्याग होता है, परद्रव्य का तो ग्रहण-त्याग कुछ भी नहीं होता है; अत: आत्मा की पुद्गलमयी देह है – ऐसी आशङ्का नहीं करनी।

---

१. *को* - 'अ' प्रति पाठ
२. *टीका करै है* - 'अ' प्रति पाठ
३. *प्रायोग गुण* - 'अ' प्रति पाठ
४. *संका* - 'अ' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ एवं कहिये पूर्वोक्त प्रकार करि शुद्धज्ञान कै देह ही नाही विद्यमान है॥ तातैं ज्ञाता कै देहमयी लिंग है, चिह्न है, भेष है सो मोक्ष का कारण नाही है॥ छ॥

अव, इस अर्थ कूं गाथा करि कहै है॥

पासंडीलिंगाणि व, गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तुं वदंति मूढा, लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति॥ १०१॥
ण दु होइ मोक्खमग्गो, लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुच्चित्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवंति॥ १०२॥

॥ युग्मं॥

पाषण्डिलिङ्गानि वा, गृहिलिङ्गानि वा बहुप्रकाराणि।
गृहीत्वा वदन्ति मूढा, लिङ्गमिदं मोक्षमार्ग[१] इति॥ छ॥

अब कहते हैं कि इसी हेतु से पुद्गलमयी देहस्वरूप लिङ्ग, बाह्य चिह्न या भेष, मोक्ष का कारण नहीं है, इसकी सूचनिका का श्लोक कहते हैं —

॥ सोरठा॥

शुद्धज्ञानमय जीव, की जब देह ही है नहीं।
तब फिर देही लिङ्ग, शिवमग कैसे हो सके?॥ २३८॥

अर्थ – एवं अर्थात् उपर्युक्त प्रकार से शुद्धज्ञान में देह ही विद्यमान नहीं है; अत: ज्ञाता को देहमय लिङ्ग, चिह्न, या भेष, मोक्ष के कारण नहीं हैं।

अब, इस अर्थ को गाथाओं में कहते हैं —

पासंडीलिंगाणि[२] य, गिहिलिंगाणि य बहुप्पयाराणि।
घेत्तुं वदंति मूढा, लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति॥ ४०८॥
ण दु होदि मोक्खमग्गो, लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवंते[३]॥ ४०९॥

मुनिलिङ्ग को अथवा गृहस्थीलिङ्ग को बहुभाँति के।
ग्रह कर कहत हैं मूढ़जन, 'यह लिङ्ग मुक्तिमार्ग है'॥ ४०८॥

---

१. *मोक्षमार्गा* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ २. *पासंडियलिंगाणि* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
३. *सेवंते* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

न तु भवति मोक्षमार्गो, लिङ्गं यद्देहनिर्ममा[१] अर्हन्तः।
लिङ्गं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते॥ छ॥

॥ अर्थ॥ पाषंडि[२]लिंग वहुरि गृहिलिंग अैसैं वहुत प्रकार लिंग हैं, तिनिकूं ग्रहण करि मूढ अज्ञानीजन अैसैं कहै हैं, यह लिंग है सो ही मोक्ष का मार्ग है॥ छ॥

आचार्य कहै है, लिंग मोक्ष का मार्ग नाही है॥ जातैं अर्हंतदेव हैं, ते देह कै विषै निर्ममत्व भये संते, लिंग कूं छोडि करि दर्शन ज्ञान चारित्र ही कूं सेवैं हैं॥ छ॥

॥ टीका॥ केईकजन अज्ञान करि द्रव्यलिंग ही कूं मोक्षमार्ग मानते संते, मोह करि द्रव्यलिंग ही कूं अंगीकार करैं हैं सो यह द्रव्यलिंग कूं मोक्षमार्ग माननां अनुपपन्न है। जातैं सर्व ही भगवान् अरहंतदेव हैं, तिनिकै शुद्ध ज्ञानमयीपणां कूं होतैं संतैं द्रव्यलिंग का आश्रयभूत जो शरीर, ताका ममकार का त्याग तैं तिस शरीर कै आश्रित जो द्रव्यलिंग, ताका त्याग करि अर दर्शन ज्ञान चारित्रनि कै मोक्षमार्गपणां करि सेवनां देषिये है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जो देहमयी द्रव्यलिंग ही मोक्ष का कारण होता तौ अरहंतादिक देह का ममत्व छोडि दर्शन ज्ञान चारित्र कूं काहे कूं सेवते, द्रव्यलिंग ही तैं मोक्ष कूं प्राप्त होते॥ तातैं यह निश्चय भया जो

वह लिङ्ग मुक्तिमार्ग नहिं, अर्हन्त निर्मम देह में।
बस! लिङ्ग तज कर, ज्ञान अरु चारित्र दर्शन सेवते॥ ४०९॥

अर्थ – पाखण्डि[३]लिङ्ग (मुनिलिङ्ग) और गृहस्थलिङ्ग, इस तरह बहुत प्रकार के लिङ्ग हैं, उनको ग्रहण करके मूढ़ अज्ञानीजन ऐसा कहते हैं कि 'यह लिङ्ग ही मोक्ष का मार्ग है'॥ ४०८॥

आचार्य कहते हैं कि लिङ्ग मोक्ष का मार्ग नहीं है क्योंकि अरहन्तदेव, देह के प्रति निर्ममत्व होते हुए लिङ्ग को छोड़ कर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही का सेवन करते हैं॥ ४०९॥

टीका – कितने ही लोग अज्ञान के कारण द्रव्यलिङ्ग ही को मोक्षमार्ग मानते हुए, मोह से द्रव्यलिङ्ग ही को अङ्गीकार करते हैं, लेकिन इस द्रव्यलिङ्ग को मोक्षमार्ग मानना अयुक्त है क्योंकि सभी भगवान अरहन्तदेवों का शुद्धज्ञानमयीपना होने से द्रव्यलिङ्ग के आश्रयभूत शरीर से ममत्व का त्याग होता है; इसलिए उस शरीर के आश्रित द्रव्यलिङ्ग के त्यागपूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मोक्षमार्गपने से सेवन देखा जाता है।

भावार्थ – यदि देहमयी द्रव्यलिङ्ग ही मोक्ष का कारण होता तो अरहन्त आदि, देह से ममत्व छोड़ कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन क्यों करते? – द्रव्यलिङ्ग ही से मोक्ष को प्राप्त हो जाते; अतः यह निश्चित होता है कि देहमयी द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है, परमार्थ से दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप आत्मा

---

१. *नैर्म्म्या* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

२-३. *पाखण्डी* - लोक में पाखण्डी का अर्थ, 'धूर्त व्यक्ति' किया जाता है, जबकि यहाँ आचार्यों ने पाखण्डी का अर्थ 'पापों का खण्डन करनेवाला' किया है; अतः यहाँ 'पाखण्डीलिङ्ग' से तात्पर्य बाह्य में सम्पूर्ण पापों का खण्डन करनेवाला **मुनिलिङ्ग** किया है।

देहमयी लिंग मोक्षमार्ग नाही है, परमार्थ करि दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है॥ छ॥

आगैं, यह साधै है जो दर्शन ज्ञान चारित्र ही मोक्षमार्ग है॥ छ॥

ण वि एस मोक्खमग्गो, पासंडीगिहिमयाणि[१] लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि, मोक्खमग्गं जिणा विंति॥ १०३॥

नाप्येष मोक्षमार्गः, पाषण्डिगृहिमयानि लिङ्गानि।
दर्शनज्ञानचारित्राणि, मोक्षमार्गं जिना विन्दन्ति[२]॥ छ॥

॥ अर्थ॥ पाषंडिलिंग अर गृहस्थलिंग, ये मोक्षमार्ग नाही हैं॥ दर्शन ज्ञान चारित्र हैं, ते मोक्षमार्ग हैं॥ अैसैं जिनदेव कहै है॥ छ॥

॥ टीका॥ निश्चय करि द्रव्यलिंग है सो मोक्ष का मार्ग नाही है॥ जातैं याकै शरीर कै आश्रितपणां होतैं संतैं यह परद्रव्य है॥ वहुरि दर्शन ज्ञान चारित्र हैं, ते ही मोक्ष का मार्ग है॥ जातैं इनिकै आत्मा कै आश्रितपणां होतैं संतैं निज आत्मद्रव्यपणां है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ मोक्ष है सो सर्व कर्म का अभावरूप आत्मा का परिणाम है सो याका कारण भी आत्मा का परिणाम ही चाहिये। तातैं दर्शन ज्ञान चारित्र हैं, ते आत्मा का परिणाम हैं, तातैं ते ही मोक्ष के मार्ग हैं, यह निश्चय करि कह्या। वहुरि लिंग है सो देहमयी है। देह है सो पुद्गलद्रव्यमयी है,

---

ही मोक्ष का मार्ग है।

अब, यह साधते हैं कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है —

ण वि एस मोक्खमग्गो, पासंडीगिहिमयाणि[१] लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा बेंति॥ ४१०॥

मुनिलिङ्ग और गृहीलिङ्ग – नहिं लिङ्ग मुक्तीमार्ग हैं।
चारित्र-दर्शन-ज्ञान को, बस! मोक्षमार्ग प्रभु कहें॥ ४१०॥

अर्थ – पाखण्डिलिङ्ग (मुनिलिङ्ग) और गृहस्थलिङ्ग – ये मोक्षमार्ग नहीं हैं; जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वे मोक्षमार्ग हैं – ऐसा जिनदेव कहते हैं॥ ४१०॥

टीका – निश्चय से द्रव्यलिङ्ग, मोक्ष का मार्ग नहीं है क्योंकि यह शरीर के आश्रित होने से परद्रव्य है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है क्योंकि इनमें आत्मा का आश्रितपना होने से निज आत्मद्रव्यपना है।

भावार्थ – मोक्ष, सम्पूर्ण कर्मों के अभावरूप आत्मा का परिणाम है; अतः इसका कारण भी आत्मा का परिणाम ही होना चाहिए। यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र, आत्मा के परिणाम हैं, इसलिए वे ही मोक्ष के मार्ग हैं – यह निश्चय से कहा है। लिङ्ग तो देहमयी है और देह, पुद्गलद्रव्यमयी है; अतः

---

१. *पासंडिय-गिहिमयाणि* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ / *पासंडिगिहमयाणि* - तात्पर्यवृत्ति पाठ

तातैं आत्मा कै देह मोक्ष का मार्ग नाही है। परमार्थ करि अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्य कै किछू करै नाही, यह नियम है॥ छ॥

आगैं कहै है जो जातैं अैसैं है द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नाही, तातैं अैसैं करणां, यह उपदेश करै है॥

तम्हा जहित्तु लिंगं[१], सागारअणागारएहिं वा गहिए।
दंसणणाणचरित्ते, अप्पाणं जुंज मोक्खपहे॥ १०४॥

तस्मात् जहित्वा[२] लिङ्गानि, सागारैरनागारकैर्वा गृहीतानि।
दर्शनज्ञानचारित्रे, आत्मानं युंक्ष्व मोक्षपथे॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जातैं द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नाही, तातैं सागार कहिये गृहस्थनि करि अर अनागार कहिये घर कूं त्यागि मुनि होय करि जे लिंग ग्रहे, तिनिकूं छोडि करि अपनें आत्मा कूं दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग विषै युक्त करौ, यह श्रीगुरुनि का उपदेश है॥ छ॥

॥ टीका॥ जातैं द्रव्यलिंग है सो मोक्ष का मार्ग नाही है, तातैं समस्त ही द्रव्यलिंग है, ताहि छोडि, ताका ममत्व छोडि करि[३] अर दर्शनज्ञानचारित्रनि विषै ही आत्मा कूं युक्त करनां, जातैं ए ही

आत्मा के देह, मोक्ष का मार्ग नहीं है। परमार्थ से एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ भी करता नहीं है – यह नियम है।

अब कहते हैं कि जब यह निश्चित होता है कि द्रव्यलिङ्ग, मोक्ष का मार्ग नहीं है तो ऐसा करना, इस प्रकार उपदेश देते हैं —

तम्हा जहित्तु लिंगे, सागारणगारिएहिं वा गहिदे।[४]
दंसणणाणचरित्ते, अप्पाणं जुंज मोक्खपहे॥ ४११॥

यों छोड़ कर सागार या, अनगार-धारित लिङ्ग को।
चारित्र-दर्शन-ज्ञान में तू, जोड़ रे! निज आत्म को॥ ४११॥

अर्थ – जबकि द्रव्यलिङ्ग, मोक्षमार्ग नहीं है, इसलिए सागार अर्थात् गृहस्थों ने और अनगार अर्थात् घर को त्याग कर मुनि बननेवालों ने जिन लिङ्गों को ग्रहण किया है, उन्हें छोड़ कर, वे अपनी आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग में युक्त करें – ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है॥ ४११॥

टीका – जबकि द्रव्यलिङ्ग, मोक्ष का मार्ग नहीं है; इसलिए समस्त ही द्रव्यलिङ्ग को छोड़ कर अर्थात् उसका ममत्व छोड़ कर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही आत्मा को युक्त करना क्योंकि यही मोक्ष

१-२. *तम्हा दु हित्तु लिंगे / तस्मात् तु हित्वा* - अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ
३. *ताका ममत्व छोडि करि* - 'ब' प्रति पाठ नहीं
४. तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती पाठ।

मोक्ष का मार्ग है॥ अैसा सूत्र का उपदेश है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ इहां द्रव्यलिंग कूं छुडाय दर्शन ज्ञान चारित्र विषै लागनें का वचन है सो यह सामान्य परमार्थ वचन है। कोई जानैंगा कि मुनि श्रावक के व्रत छुडावनें[१] का उपदेश है सो अैसैं नाही है॥ जे केवल द्रव्यलिंग ही कूं मोक्षमार्ग जानि भेष धारैं, तिनिकूं पक्ष छुडाई है जो भेषमात्र तैं मोक्ष नाही है। परमार्थरूप मोक्षमार्ग आत्मा के परिणाम दर्शन ज्ञान चारित्र हैं, ते ही हैं अर व्यवहार आचारसूत्र मैं कहे, तिस अनुसार मुनि श्रावक के वाह्य व्रत हैं, ते व्यवहार करि निश्चय मोक्षमार्ग के साधक हैं, तिनिकूं छुडावै नाही। अैसा कहै है जो तिनि का भी ममत्व छोडि, परमार्थ मोक्षमार्ग मैं लागैं मोक्ष होय है, केवल भेषमात्र तैं मोक्ष नाही है, अैसा जाननां॥ छ॥

आगैं, इस ही अर्थ कूं दृढ़ करै है, ताकी सूचनिका का श्लोक है॥

॥ अनुष्टुभ्॥

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयाऽत्मा तत्त्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो, मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा॥ ४६॥

॥ अर्थ॥ जातैं आत्मा का तत्त्व कहिये यथार्थरूप दर्शन ज्ञान चारित्र का त्रिकस्वरूप है, तातैं मोक्ष के इच्छक पुरुषनि करि एक ही यह मोक्षमार्ग सदा सेवनें योग्य है॥ छ॥

का मार्ग है – ऐसा सूत्र का उपदेश है।

भावार्थ – यहाँ द्रव्यलिङ्ग को छोड़ कर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र में प्रवृत्त होने का वचन (उपदेश) है – यह सामान्य परमार्थ वचन (उपदेश) है। यहाँ यदि कोई ऐसा समझेगा कि मुनि-श्रावक के व्रत छुड़ाने का उपदेश दिया है तो ऐसा नहीं है। जो केवल द्रव्यलिङ्ग ही को मोक्षमार्ग जान कर भेष [मात्र] धारण करते हैं, उनका पक्ष छुड़ाया है कि भेषमात्र से मोक्ष नहीं होता है। वास्तविक मोक्षमार्ग तो आत्मा के परिणाम दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही हैं और व्यवहार आचारसूत्र में कहे अनुसार मुनि-श्रावक के बाह्यव्रत, व्यवहार से निश्चय मोक्षमार्ग के साधक हैं, उन्हें छुड़ाया नहीं है बल्कि यहाँ ऐसा कहते हैं कि उनका भी ममत्व छोड़ कर, परमार्थ मोक्षमार्ग में लगने पर ही मोक्ष होता है; केवल भेषमात्र से मोक्ष नहीं होता है – ऐसा जानना।

अब, इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं, उसकी सूचनिका का श्लोक कहते हैं —

॥ दोहा॥

मोक्षमार्ग बस एक ही, रत्नत्रयमय होय।
अतः मुमुक्षु के लिए, वह ही सेवन योग्य॥ २३९॥

अर्थ – जबकि आत्मा का तत्त्व, यथार्थ दर्शन-ज्ञान-चारित्र – त्रयात्मक है; अतः मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को एक ही यह मोक्षमार्ग, सदा सेवन करने योग्य है।

---

१. *छुड़ानें* - 'ब' प्रति पाठ

अब, यह ही उपदेश गाथा करि कहै है॥ छ॥

मोक्खपहे अप्पाणं, ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं, मा विहरसु अण्णदव्वेसु॥ १०५॥

मोक्षपथे आत्मानं, स्थापय तमेव ध्याय तमेव चेतयस्व।
तत्रैव विहर नित्यं, मा विहार्षीरन्यद्रव्येषु॥ छ॥

॥ अर्थ॥ हे भव्य, तू मोक्षमार्ग कै विषै अपनें आत्मा कूं स्थापि, वहुरि तिस ही कूं ध्याय, वहुरि तिस ही कूं चेति, अनुभवगोचर करि, वहुरि तिस आत्मा ही कै विषै निरंतर विहार करि, अन्य द्रव्यनि विषै मति विहार करै॥ छ॥

॥ टीका॥ आचार्य उपदेश करै हैं जो हे भव्य, तू अनादि संसार तैं लगाय यह आत्मा अपनी वुद्धि के दोष करि परद्रव्य विषै राग द्वेषादि विषै नित्य ही निरंतर तिष्ठता संता प्रवर्त्तै है, तौऊ ताकूं अपनी वुद्धि ही के गुण करि तिनि परद्रव्यनि विषै राग द्वेष तैं छुडाय अर दर्शन ज्ञान चारित्र विषै निरंतर अति निश्चल स्थापन करि॥

तैसैं ही समस्त अन्य चिंता का निरोध करि अत्यंत एकाग्रचित्त होय दर्शन ज्ञान चारित्र ही कूं ध्याय, ध्यान करि॥

अब, इसी उपदेश को गाथा में कहते हैं —

मोक्खपहे अप्पाणं, ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय[1]।
तत्थेव विहर णिच्चं, मा विहरसु अण्णदव्वेसु॥ ४१२॥

तू स्थाप निज को मोक्षपथ में, ध्या अनुभव तू उसे।
उसमें ही नित्य विहार कर, न विहार कर परद्रव्य में॥ ४१२॥

अर्थ – हे भव्य! तू मोक्षमार्ग में अपनी आत्मा को स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी को चेत अर्थात् अनुभवगोचर कर, उस आत्मा ही में निरन्तर विहार कर; अन्य द्रव्यों में विहार मत कर॥ ४१२॥

टीका – आचार्य उपदेश देते हैं कि हे भव्य! यह आत्मा, अनादि संसार से अब तक अपनी बुद्धि के दोष से परद्रव्यों में अथवा राग-द्वेषादि में नित्य ही निरन्तर स्थित रहता हुआ प्रवर्त रहा है, अब तू स्वयं अपनी बुद्धि ही के गुण से उन परद्रव्यों में राग-द्वेषादि से अपनी आत्मा को छुड़ा कर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर अत्यन्त निश्चल स्थापित करो।

उसी प्रकार समस्त अन्य चिन्ताओं का निरोध करके, अत्यन्त एकाग्रचित्त होकर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही को ध्याओ, उसका ध्यान करो।

---

१. *ठवेहि चेदयहि झायहि तं चेय* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

तैसैं ही समस्त कर्म अर कर्म का फलरूप चेतना, ताका संन्यास करि त्याग करि अर शुद्ध ज्ञानचेतनामयी होय करि, दर्शन ज्ञान चारित्र ही कूं चेति, अनुभवन करि॥

तैसैं ही द्रव्य के स्वभाव के वश तैं क्षण क्षण प्रति उपजते उदय होते जे परिणाम, तिसपणां करि तन्मयी परिणाम होय करि दर्शन ज्ञान चारित्र ही विषै विहार करि॥

तैसैं ही तू एक ज्ञानरूप ही कूं निश्चलरूप अवलंबन करता संता ज्ञेयरूप करि ज्ञान कै उपाधिपणां करि सर्व तरफ तैं आय पडते जे सर्व ही परद्रव्य, तिनि विषै किंचित्मात्र भी विहार मति करै॥

॥ भावार्थ॥ परमार्थरूप आत्मा का परिणाम दर्शन ज्ञान चारित्र हैं, ते ही मोक्षमार्ग है। तिनि ही विषै आत्मा कूं स्थापनां, तिनि ही का ध्यान करनां, तिनि का अनुभव करनां, तिनि ही विषै प्रवर्त्तनां, अन्य द्रव्यनि विषै नाही प्रवर्त्तनां। यहु ही परमार्थ करि उपदेश है, केवल व्यवहार ही मैं मूढ न रहनां॥ छ॥

अब, इस ही अर्थ का कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

एको मोक्षपथो य एष नियतो, दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक[१]-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं, ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति, द्रव्याऽन्तराण्यस्पृशन्,
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरा-न्नित्योदयं विन्दति[२]॥ ४७॥

उसी प्रकार समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से संन्यास लेकर, उनका त्याग करके, शुद्ध ज्ञानचेतनामयी होकर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही को चेतो, उसका अनुभव करो।

उसी प्रकार द्रव्य-स्वभाव के वश से क्षण-क्षण में उत्पन्न होनेवाले परिणामों से तन्मयी परिणाम होकर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही में विहार करो।

उसी प्रकार तुम एक ज्ञानरूप ही को निश्चलरूप से अवलम्बन करते हुए, ज्ञेयरूप से ज्ञान में उपाधिपने के कारण सब ओर से आ जानेवाले, सभी परद्रव्यों में किञ्चित्मात्र भी विहार मत करो।

भावार्थ – परमार्थरूप आत्मा के परिणाम दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वे ही मोक्षमार्ग हैं, उन्हीं में आत्मा को स्थापित करना, उन्हीं का ध्यान करना, उन्हीं का अनुभव करना, उन्हीं में प्रवर्तना करना; अन्य द्रव्यों में प्रवर्तन नहीं करना – यही परमार्थ से उपदेश है, केवल व्यवहार ही में मूढ़ नहीं रहना।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

दृग्-ज्ञानमय वृत्यात्मक, यह एक ही है मोक्षपथ।
थित रहें अनुभव करें अरु, ध्यावें अहर्निश जो पुरुष॥

१-२. *वृत्तात्मक/विदन्ति* - अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ

॥ अर्थ ॥ जो दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप है, यह एक मोक्ष का मार्ग है॥ सो जो पुरुष तिस ही विषै स्थिति कूं प्राप्त होय है, तिष्ठै है। वहुरि जो तिस ही कूं निरंतर ध्यावै है। वहुरि जो तिस ही कूं चेतै है, अनुभवै है। वहुरि जो तिस ही विषै निरंतर विहार करै है, प्रवर्त्तै है। कैसा भया संता। अन्य द्रव्यनि कूं नाही स्पर्शता संता सो पुरुष थोरे ही काल मैं अवश्य समयसार जो परमात्मा का रूप, जाका नित्य उदय रहै, अैसा कूं अनुभवै है, पावै है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ निश्चय मोक्षमार्ग के सेवन तैं थोरे ही काल मैं मोक्ष की प्राप्ति होय है, यह नियम है॥ छ॥

आगैं कहै है जो द्रव्यलिंग ही कूं मोक्षमार्ग मानि, ता विषै ममत्वभाव राषैं हैं, ते मोक्ष नाही पावैं हैं॥ ताकी सूचनिका का काव्य है॥ छ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथ-प्रस्थापितेनाऽत्मना,
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां, तत्त्वाऽवबोधच्युताः।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलाऽलोक[१]स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं, नाऽद्यापि पश्यन्ति ते॥ ४८॥

जो अन्य को न छुएँ अरु, निज में विहार करें सतत।
वे पुरुष ही अतिशीघ्र, समयसार को पावें उदित॥ २४०॥

अर्थ – जो दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप है, यह एक मोक्ष का मार्ग है; अतः जो पुरुष, उस ही में स्थित होता है, ठहरता है; उसी को निरन्तर ध्याता है; उसी को चेतता है, अनुभव करता है; उसी में निरन्तर विहार करता है और प्रवर्तता है। **कैसा होता हुआ प्रवर्तता है?** – अन्य द्रव्यों को स्पर्श नहीं करता हुआ प्रवर्तता है; वह पुरुष, थोड़े ही काल में, जिसका नित्य उदय रहता है – ऐसे **समयसार** अर्थात् परमात्मस्वरूप को अवश्य अनुभवता है, पाता है।

भावार्थ – निश्चय मोक्षमार्ग का सेवन करने से अल्पकाल में ही मोक्ष की प्राप्ति होती है – यह नियम है।

अब कहते हैं कि जो द्रव्यलिङ्ग ही को मोक्षमार्ग मान कर, उसमें ममत्वभाव रखते हैं, वे मोक्ष नहीं पाते हैं, इसकी सूचनिका का काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

जो पुरुष तज पूर्वोक्त पथ, व्यवहार में वर्तन करें।
तिर जाएँगे यह मानकर, द्रव्यलिङ्ग में ममता धरें॥

---

१. *लोकं* - अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ

॥ अर्थ ॥ जे पुरुष, यहु पूर्वोक्त परमार्थस्वरूप मोक्षमार्ग कूं छोडि करि अर व्यवहारमार्ग विषै चलाया स्थाप्या जो अपनां आत्मा, ताही करि द्रव्यमयी जो यह वाह्य लिंग भेष, ता विषै ममता करैं हैं, जानैं हैं कि यह ही हम कूं मोक्ष प्राप्त करैगा, ते पुरुष तत्त्व के यथार्थज्ञान तैं रहित भये संते मुनिपद लीया है, तौऊ इस समयसार कूं नाही अवलोकन करैं हैं, नाही पावैं हैं।

कैसा है समयसार॥ नित्य है उदय जाका, कोई प्रतिपक्षी होय ताका उदय का विच्छेद न करि सकै है।

वहुरि कैसा है॥ अखंड है, जामैं अन्य ज्ञेय आदि के निमित्त तैं खंड नाही होय हैं॥

वहुरि कैसा है। एक है, पर्यायनि करि अनेक अवस्था होय हैं, तौऊ एकरूपपणां कूं नाही छोडै है॥

वहुरि कैसा है। अतुल कहिए जाकै वरावरि अन्य नाही, अैसा है आलोक कहिये प्रकाश जाका, सूर्यादिक का प्रकाश की ज्ञानप्रकाश कूं उपमा लागै नाही॥ वहुरि अपनें स्वभाव की जो प्रभा, ताका प्राग्भार है, जाका भार अन्य सहारि सकै नाही॥ वहुरि अमल है, रागादिक विकार मल करि रहित है, अैसा परमात्मा का रूप कूं द्रव्यलिंगी नाही पावै है॥ छ॥

अव इस अर्थ की गाथा कहै है॥ छ॥

वे नहीं देखें आतमा, निज अमल एक उद्योतमय।
शाश्वत अखण्ड अभेद चिन्मय अज अतुल आलोकमय॥ २४१॥

अर्थ – जिन पुरुषों ने यह पूर्वोक्त पारमार्थस्वरूप मोक्षमार्ग को छोड़ कर, व्यवहारमार्ग में अपनी आत्मा को लगाया है, स्थापित किया है और उसके कारण द्रव्यमयी बाह्यलिङ्ग (द्रव्यलिङ्ग) या भेष में ममत्व करते हैं तथा ऐसा जानते हैं कि यह ही हमें मोक्ष प्राप्त कराएगा तथा उन्होंने, यद्यपि मुनिपद ग्रहण किया है तो भी वे तत्त्व के यथार्थ ज्ञान से रहित होते हुए, इस **समयसार** को नहीं देखते हैं, नहीं पाते हैं।

कैसा है समयसार? – जिसका नित्य उदय है; कोई प्रतिपक्षी होकर उसके उदय का विच्छेदन नहीं कर सकता है।

और कैसा है? – अखण्ड है; अन्य ज्ञेय आदि के निमित्त से जिसके खण्ड नहीं होते हैं।

और कैसा है? – एक है; पर्यायों की अपेक्षा अनेक अवस्थाएँ होती हैं, फिर भी एकरूपपने को नहीं छोड़ता है।

और कैसा है? – अतुल अर्थात् जिसके समान कोई अन्य नहीं है – ऐसा जिसका आलोक अर्थात् प्रकाश है; जिस ज्ञान-प्रकाश की सूर्यादि के प्रकाश से उपमा नहीं दी जा सकती है। जो अपने स्वभाव की प्रभा से प्राग्भार है अर्थात् जिसके भार को अन्य कोई सहन नहीं कर सकता है तथा जो **अमल** है अर्थात् जो रागादि विकारमल से रहित है – ऐसे परमात्मा के रूप को द्रव्यलिङ्गी नहीं पाता है।

अब, इस अर्थ की गाथा कहते हैं —

पासंडीलिंगेसु व, गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं, तेहिं ण णायं समयसारं॥ १०६॥

पाषण्डिलिङ्गेषु वा, गृहिलिङ्गेषु वा बहुप्रकारेषु।
कुर्वन्ति ये ममतां, तैर्न ज्ञातः समयसारः॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जे पुरुष, पाषंडिलिंगनि विषै अथवा गृहस्थलिंगनि विषै, ए वहुत प्रकार हैं, तिनि विषै ममता करैं हैं जो हमारै यह ही मोक्ष के देनहारे हैं, तिनि पुरुषनि नैं समयसार कूं जान्यां नाही॥ छ॥

॥ टीका॥ जे पुरुष, निश्चय करि अैसैं मानैं हैं जो मैं श्रमण हौं, मुनि हौं अथवा श्रमण का उपासक हौं, सेवक हौं, श्रावक हौं, अैसैं द्रव्यलिंग विषै ममकार करि मिथ्या अहंकार करैं हैं॥ ते अनादि का प्रसिद्ध चल्या आया जो व्यवहार, ता विषै मूढ मोही भये संते प्रौढ कहिये वडा है भेदज्ञान जामैं, अैसा निश्चयनय कूं नाही प्राप्त भये संते परमार्थ करि सत्यार्थ जो भगवान् ज्ञानरूप समयसार, ताहि नाही देषैं हैं, नाही पावैं हैं॥

॥ भावार्थ॥ जे अनादिकाल का परद्रव्य के संयोग तैं भया जो व्यवहार, ताही विषै मूढ़ मोही हैं, ते अैसैं जानैं हैं जो यह वाह्य महाव्रतादिरूप भेष है सो ही हम कूं मोक्ष प्राप्त करैगा अर भेदज्ञान का जातैं जाननां होय, अैसा निश्चयनय कूं नाही जानैं हैं, तिनिकै सत्यार्थ परमात्मरूप शुद्ध ज्ञानमय

पासंडीलिंगेसु[1] व, गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं[2], तेहिं ण णादं समयसारं॥ ४१३॥

बहुभाँति के मुनिलिङ्ग जो, अथवा गृहस्थीलिङ्ग जो।
ममता करे उनमें, नहीं जाना 'समय के सार' को॥ ४१३॥

अर्थ – जो पुरुष, बहुत प्रकार के मुनिलिङ्गों अथवा गृहस्थलिङ्गों में ममता करते हैं कि हमें ये लिङ्ग ही मोक्ष को देनेवाले हैं, उन पुरुषों ने समयसार को नहीं जाना है॥ ४१३॥

टीका – जो पुरुष, निश्चय से ऐसा मानते हैं कि मैं श्रमण हूँ, मुनि हूँ अथवा श्रमणों का उपासक हूँ, सेवक हूँ, श्रावक हूँ; इस प्रकार द्रव्यलिङ्ग में ममकार करके मिथ्या अहङ्कार करते हैं, वे अनादि से प्रसिद्ध चले आ रहे व्यवहार में मूढ़ या मोही होते हुए, प्रौढ़ अर्थात् उत्कृष्ट भेदज्ञानवाले निश्चयनय को प्राप्त नहीं होते हुए, परमार्थतः सत्यार्थ ज्ञानस्वरूप भगवान समयसार को नहीं देखते हैं अर्थात् नहीं पाते हैं।

भावार्थ – अनादिकालीन परद्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुए व्यवहार में जो मूढ़ या मोही हैं, वे ऐसा जानते हैं कि 'यह बाह्य महाव्रतादिरूप वेष ही हमें मोक्ष प्राप्त कराएगा', परन्तु वे जिससे भेदज्ञान

---

१. *पासंडियलिंगेसु* – कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ
२. *ममत्तं* – अगास, अहिंसा मन्दिर एवं कुन्दकुन्दभारती प्रकाशन पाठ

समयसार की प्राप्ति नाही होय है॥

अब, इस ही अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥ छ॥

॥ वियोगिनी[१] ॥

व्यवहारविमूढदृष्टयः, परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः, कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम्[२]॥ ४९॥

॥ अर्थ॥ जे जन, व्यवहार ही विषै विमूढ मोही है बुद्धि जिनिकी, अैसे हैं, ते परमार्थ कूं नाही जानैं हैं॥ जैसैं लोक विषै जे तुस ही के ज्ञान विषै विमुग्धबुद्धीजन हैं, ते तुस ही कूं तंदुल जानैं हैं अर तंदुल कूं तंदुल नाही जानैं हैं॥

॥ भावार्थ॥ जे परमार्थ आत्मा का स्वरूप नाही जानैं हैं अर व्यवहार ही विषै मूढ़ होय रहे हैं॥ शरीरादि परद्रव्य ही कूं आपा जानै हैं, ते परमार्थ आत्मा कूं न[३] जानैं हैं। जैसैं तुष तंदुल का भेद तो जानैं नाही अर पराल कूं कूटैं, तिनिकै तंदुल की प्राप्ति नाही, तुस तंदुल का भेदज्ञान भयें तंदुल पावैं॥ छ॥

का जानना होता है – ऐसे निश्चयनय को नहीं जानते हैं; अत: उन्हें सत्यार्थ परमात्मरूप शुद्धज्ञानमय समयसार की प्राप्ति भी नहीं होती है।

अब, इसी अर्थ के कलशरूप काव्य को कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

तुष माहिं-मोहित जगत्जन, ज्यों एक तुष ही जानते।
वे मूढ़ तुष संग्रह करें, तन्दुल नहीं पहिचानते॥
व्यवहार-मोहित मूढ़ त्यों, व्यवहार को ही जानते।
आनन्दमय सद्ज्ञानमय, परमार्थ नहिं पहिचानते॥ २४२॥

अर्थ – जो पुरुष, व्यवहार ही में विमूढ़ या मोही बुद्धिवाले हैं, वे परमार्थ को नहीं जानते हैं; जैसे – लोक में जो तुष ही के ज्ञान में विमुग्ध बुद्धिवाले हैं, वे तुष (भूसी या छिलका) ही को तन्दुल जानते हैं और तन्दुल को तन्दुल नहीं जानते हैं।

भावार्थ – जो परमार्थ आत्मा का स्वरूप नहीं जानते हैं और व्यवहार ही में मूढ़ हो रहे हैं, शरीर आदि परद्रव्यों ही को आत्मा जानते हैं, वे परमार्थ आत्मा को नहीं जानते हैं; जैसे – कोई पुरुष, तुष और तन्दुल का भेद तो जाने नहीं और छिलके को ही कूटे तो उसे तन्दुल की प्राप्ति नहीं होती है अर्थात् तुष और तन्दुल का भेदज्ञान होने पर ही तन्दुल की प्राप्ति होती है।

---

१. इस छन्द के नाम का उल्लेख 'अ' 'ब' प्रति में नहीं है, सोनगढ़ प्रकाशन एवं संस्कृत छन्दशास्त्र के आधार पर यहाँ 'वियोगिनी' यह नाम दिया गया है। २. *तंदुलं* – 'अ' 'ब' प्रति पाठ ३. *नाही* – 'ब' प्रति पाठ

आगैं, इस ही अर्थ कूं दृढ करने कूं कहै है॥

॥ स्वागता ॥

द्रव्यलिङ्गममकारमीलितै-र्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलाऽन्यतो, ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः॥ ५०॥

॥ अर्थ॥ द्रव्यलिंग के ममकार करि मीलित हैं, मोही आंधे हैं, तिन करि समयसार है सो देषिये ही नाही है[१] जातैं इस लोक विषै द्रव्यलिंग है सो तौ अन्य द्रव्य तैं होय है अर यह ज्ञान है सो आप आत्मद्रव्य तैं ही होय है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जे द्रव्यलिंग ही कूं आपा मानैं हैं, ते आंधे हैं, तिनिकूं आपापर सूझ्या नाही।

आगैं कहै है जो व्यवहारनय तौ मुनि श्रावक के भेद करि, लिंग दोय प्रकार है, तिनि दोऊ कूं मोक्षमार्ग कहै है अर निश्चयनय काहू ही लिंग कूं मोक्षमार्ग न कहै है।

ववहारिओ पुण णओ, दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ, मोक्खपहे सव्वलिंगाणि॥ १०७॥

अब, इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

अन्य द्रव्यमय द्रव्यलिङ्ग है, उसको न जाने अज्ञजन।
बस! उसी में ममता धरें, द्रव्यलिङ्ग-मोहित अन्धजन॥
देखें नहीं जाने नहीं, सुखमय समय के सार को।
बस! इसलिए ही अज्ञजन, पाते नहीं भवपार को॥ २४३॥

अर्थ – जो द्रव्यलिङ्ग के ममकार से मीलित हैं अर्थात् मोही हैं, अन्धे हैं; उनको समयसार दिखाई नहीं देता है क्योंकि इस लोक में द्रव्यलिङ्ग तो अन्य द्रव्य से होता है और यह ज्ञान, स्वयं अपने आत्मद्रव्य से ही होता है।

भावार्थ – जो द्रव्यलिङ्ग ही को अपना मानते हैं, वे अन्धे हैं; उन्हें स्व-पर दिखाई नहीं देता है।

अब कहते हैं कि व्यवहारनय तो मुनि और श्रावक के भेद से दोनों प्रकार के लिङ्गों को मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय किसी भी लिङ्ग को मोक्षमार्ग नहीं कहता है —

ववहारिओ पुण णओ, दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छदि, मोक्खपहे[२] सव्वलिंगाणि॥ ४१४॥

---

१. *है ही नाहीं* - 'अ' प्रति पाठ

२. *दु णेच्छदि मुक्खपहे* - तात्पर्यवृत्ति एवं कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ

व्यावहारिकः पुनर्नयो, द्वे अपि लिङ्गे भणति मोक्षपथे।
निश्चयनयो नेच्छति, मोक्षपथे सर्वलिङ्गानि॥ छ॥

॥ अर्थ॥ व्यवहारनय है सो तौ मुनि श्रावक के भेद करि दोय प्रकार लिंग है, तिनि दोऊ ही कूं मोक्षमार्ग कहै है॥ वहुरि निश्चयनय है सो सर्व ही लिंग कूं मोक्षमार्ग विषै नाही इष्ट करै है॥ छ॥

॥ टीका॥ निश्चय करि श्रमण कहिये मुनि अर श्रमण के उपासक कहिये श्रावक, अैसैं दोय भेद करि लिंग दोय प्रकार है सो दोऊ ही लिंग मोक्षमार्ग है, अैसा प्ररूपणा का प्रकार है सो केवल व्यवहार ही है, परमार्थ नाही है॥ जातैं इस व्यवहारनय कै स्वयं अशुद्धद्रव्य का अनुभव स्वरूपपणां होतैं संतै परमार्थपणां का अभाव है॥

वहुरि जो श्रमण अर श्रमण का उपासक के भेद तैं दूरिवर्त्ती दर्शनज्ञानचारित्र की प्रवृत्तिमात्र निर्मलज्ञान ही एक है, अैसा निर्मल अनुभवन सो परमार्थ है सो ही मोक्षमार्ग है। जातैं अैसे ज्ञान ही कै स्वयं शुद्धद्रव्यरूप होनें का स्वरूपपणां होतैं संतैं परमार्थपणां है॥ तातैं जे पुरुष केवल व्यवहार ही कूं परमार्थ की वुद्धि[१] करि अनुभवैं हैं, ते समयसार कूं नाहीं चेतैं हैं, नाहीं अनुभवै हैं। वहुरि जे परमार्थ ही कूं परमार्थ की वुद्धि करि अनुभवैं[२], ते ही समयसार कूं अनुभवैं हैं।

॥ भावार्थ॥ व्यवहारनय का तौ विषय भेदरूप है सो अशुद्धद्रव्य है सो परमार्थ नाही अर

व्यवहारनय, इन लिङ्ग-द्वय को, मोक्ष के पथ में कहे।
निश्चय नहीं माने कभी, कोइ लिङ्ग मुक्ति-पन्थ में॥ ४१४॥

अर्थ – व्यवहारनय तो मुनि और श्रावक के भेद से, दोनों ही प्रकार के लिङ्ग को मोक्षमार्ग कहता है, जबकि निश्चयनय, सर्व ही लिङ्गों को मोक्षमार्ग में इष्ट नहीं मानता है॥ ४१४॥

टीका – वास्तव में श्रमण अर्थात् मुनि और श्रमण के उपासक अर्थात् श्रावक – ऐसे दो भेदों के कारण लिङ्ग दो प्रकार के हैं, अतः दोनों ही लिङ्ग मोक्षमार्ग हैं – ऐसी जो प्ररूपणा है; वह केवल व्यवहार ही है, परमार्थ नहीं क्योंकि इस व्यवहारनय में ही स्वयं अशुद्धद्रव्य का अनुभवस्वरूपपना होने से परमार्थपने का अभाव है।

श्रमण और श्रमण के उपासक के भेदों से अतिक्रान्त, दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्रवृत्तिमात्र निर्मलज्ञान ही एक है – ऐसा निर्मल अनुभव ही परमार्थ है, वही मोक्षमार्ग है क्योंकि ऐसे ज्ञान ही में स्वयं शुद्धद्रव्यरूप होने का स्वरूपपना होने से परमार्थपना है; अतः जो पुरुष, केवल व्यवहार ही को परमार्थ मान कर अनुभव करते हैं, वे समयसार को नहीं चेतते हैं, नहीं अनुभवते हैं और जो परमार्थ ही को परमार्थ मान कर अनुभव करते हैं, वे ही समयसार को चेतते हैं, अनुभवते हैं।

भावार्थ – व्यवहारनय का विषय तो भेदरूप है, अशुद्धद्रव्य है; अतः परमार्थ नहीं है और

---

१. *परमार्थबुद्धि* – 'ब' प्रति पाठ
२. *अनुभवैं हैं* – 'ब' प्रति पाठ

निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है सो परमार्थ है॥ सो जे व्यवहार ही कूं निश्चय मानि प्रवर्त्तैं हैं, तिनिकै समयसार की प्राप्ति नाही है अर जे परमार्थ कूं परमार्थ जानैं हैं, तिनिकै समयसार की प्राप्ति होय है, ते ही मोक्ष कूं पावै हैं॥ छ॥

आगैं कहै है जो वहुत कहनें करि पूरी पडो, एक परमार्थ ही का चितवन करनां॥

॥ मालिनी॥

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति॥ ५१॥

॥ अर्थ॥ आचार्य कहै है जो अति वहुत कहनें करि अर वहुत विकल्पनि करि तौ पूरी पडो, पूरी पडो। इस अध्यात्म ग्रंथ विषै यह परमार्थ है सो ही एक निरंतर अनुभवन करनां॥ जातैं निश्चय करि अपनें रस का फैलाव करि पूर्ण जो ज्ञान, ताका स्फुरायमान होनें मात्र जो समयसार परमात्मा, तिस सिवाय अन्य किछू भी सार नाही है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभवन करनां। निश्चय करि इस उपरांति किछू

निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है; अत: परमार्थ है। इसलिए जो व्यवहार ही को निश्चय मान कर प्रवर्तते हैं, उन्हें समयसार की प्राप्ति नहीं होती है और जो परमार्थ को परमार्थ जानते हैं, उनको समयसार की प्राप्ति होती है, वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

अब कहते हैं कि बहुत कहने से बस करो! एक परमार्थ ही का अनुभव करना —

॥ हरिगीतिका॥

क्या लाभ है ऐसे अनल्प, विकल्पों के जाल से।
बस! एक ही है बात यह, परमार्थ का अनुभव करो॥
क्योंकि निजरसभरित परमानन्द के आधार से।
कुछ भी नहीं है अधिक सुन लो, इस समय के सार से॥ २४४॥

अर्थ – आचार्य कहते हैं कि अति अर्थात् बहुत कहने से और बहुत विकल्पों (दुर्विकल्पों) से तो बस होओ, बस होओ। इस अध्यात्मग्रन्थ के अनुसार तो एक परमार्थ ही का निरन्तर अनुभव करना क्योंकि निश्चय से अपने रस के विस्तार से पूर्ण, ज्ञान के स्फुरायमान होनेमात्र समयसार परमात्मा के अलावा, अन्य कुछ भी सार नहीं है।

भावार्थ – पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करना; निश्चय से इसके अलावा कुछ भी सार

भी सार नाही है॥ छ॥

आगैं, इस समयसार ग्रंथ कूं पूर्ण करै है, ताकी सूचनिका का श्लोक है॥

॥ अनुष्टुभ्॥

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानघनमानन्द-मयमध्यक्षतां नयत्॥ ५२॥

॥ अर्थ॥ इदं कहिये यह समयप्राभृत है सो पूर्णता कूं प्राप्त होय है।

कैसा है। अक्षय कहिये जाका विनाश न होय, अैसा जगत कै 'अद्वितीय नेत्र'[१] समान है॥

जातैं, कहा करता है। विज्ञानघन जो शुद्ध परमात्मा समयसार आनंदमयी, ताकूं प्रत्यक्ष प्राप्त करता संता है॥

॥ भावार्थ॥ यह समयप्राभृत ग्रंथ है सो वचनरूप तथा ज्ञानरूप दोऊ ही प्रकार करि नेत्र समान है। जातैं जैसैं नेत्र, घट पटादिक कूं प्रत्यक्ष दिषावै है, तैसैं यह शुद्ध आत्मा का स्वरूप कूं प्रत्यक्ष अनुभवगोचर दिषावै है॥ छ॥

अव, याकूं आचार्य पूर्ण करै है सो याका महिमारूप पढनें का फल की गाथा कहै है॥

नहीं है।

अब, इस समयसार ग्रन्थ को पूर्ण करते हैं; उसकी सूचनिका का श्लोक कहते हैं —

॥ दोहा॥

ज्ञानानन्दस्वभाव को, करता हुआ प्रत्यक्ष।
अरे! पूर्ण अब हो रहा, यह अक्षय जगचक्षु॥ २४५॥

अर्थ – इदम् अर्थात् यह समयप्राभृत, अब पूर्णता को प्राप्त होता है।

कैसा है यह? – अक्षय अर्थात् जिसका विनाश नहीं होता – ऐसा जगत् के अद्वितीय नेत्र के समान है।

क्यों? यह क्या करता है? – आनन्दमयी विज्ञानघन शुद्ध परमात्मा समयसार को प्रत्यक्ष प्राप्त करता है।

भावार्थ – यह समयप्राभृत ग्रन्थ वचनरूप तथा ज्ञानरूप दोनों ही प्रकार से नेत्र के समान है क्योंकि जैसे – नेत्र, घट-पट आदि को प्रत्यक्ष दिखाता है; वैसे ही यह शुद्ध आत्मा के स्वरूप को प्रत्यक्ष अनुभवगोचर दिखाता है।

---

१. *नेत्र* - 'अ' प्रति पाठ

जो समयपाहुडमिणं, पठिऊणं अत्थतच्चओ णाउं।
अत्थे ठाही चेया, सो होही उत्तमं सोक्खं॥ १०८॥

यः समयप्राभृतमिदं, पठित्वा अर्थतत्त्वतो ज्ञात्वा।
अर्थे स्थास्यति चेतयिता, स भविष्यत्युत्तमं सौख्यम्॥ छ॥

॥ अर्थ॥ जो चेतयिता पुरुष भव्यजीव, इस समयप्राभृत कूं पढि करि अर अर्थ तैं अर तत्व तैं जानि करि अर याका अर्थ विषै तिष्ठैगा सो उत्तम सौख्यस्वरूप होयगा॥ छ॥

॥ टीका॥ जो चेतयिता भव्य पुरुष आत्मा, निश्चय करि इस शास्त्र कूं पढि करि अर समस्त पदार्थनि का प्रकाशनें विषै समर्थ, अैसा परमार्थभूत चैतन्य प्रकाशरूप आत्मा कूं निश्चय करता संता अर्थ तैं अर यथार्थ तत्त्व तैं जाणि अर याही का अर्थभूत जो भगवान एक पूर्ण विज्ञानघनस्वरूप परमब्रह्म, ता विषै सर्व प्रकार उद्यम आरंभ करिकैं अर तिष्ठैगा॥ सो पुरुष, उत्तम अनाकुलता है लक्षण जाका, अैसे सुखरूप स्वयमेव आप ही होयगा॥

कैसा है यह शास्त्र। समयसारभूत भगवान परमात्मा, समस्त का प्रकाशनेंवालापणां करि जाकूं

अब, आचार्य इस ग्रन्थ को पूर्ण करते हैं; अतः इसको पढ़ने के फल की महिमारूप गाथा कहते हैं —

जो समयपाहुडमिणं, पढिदूणं[1] अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही[2] चेदा, सो पावदि[3] उत्तमं सोक्खं॥ ४१५॥

यह समयप्राभृत पठन करके, जान अर्थ रु तत्त्व से।
अर्थ में जो ठहरता जीव, सौख्य उत्तम प्राप्त हो॥ ४१५॥

अर्थ – जो चेतयिता पुरुष (आत्मा) भव्य जीव, इस समयप्राभृत को पढ़ कर, अर्थ एवं तत्त्व से जान कर, इसके अर्थ में स्थित होगा, वह उत्तम सौख्यस्वरूप होगा॥ ४१५॥

टीका – जो चेतयिता आत्मा अर्थात् भव्य पुरुष, निश्चय से इस शास्त्र को पढ़ कर, समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ – ऐसे परमार्थभूत, चैतन्य-प्रकाशरूप आत्मा का निश्चय करता हुआ, अर्थ से और यथार्थ तत्त्व से जान कर, इसी के अर्थभूत एक पूर्ण विज्ञानघनस्वरूप भगवान परमब्रह्म में सर्व प्रकार से प्रयत्न प्रारम्भ करके स्थित होगा, वह पुरुष उत्तम अनाकुलता लक्षणवाले सुखस्वरूप स्वयं ही होगा।

कैसा है यह शास्त्र? – समयसारभूत भगवान परमात्मा, समस्त को प्रकाशित करनेवाला होने से

---

१. *पडिऊणं* - 'ब' प्रति पाठ / *पडिहूणं* - अगास प्रति में पाठ / *पठिदूण य* - तात्पर्यवृत्ति पाठ / *पढिदूण य* - कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन पाठ; २. *ठाहिदी* - तात्पर्यवृत्ति पाठ; ३. *पावदि* - तात्पर्यवृत्ति पाठ / होहिदि - कारंजा से प्रकाशित प्रति पाठ

विश्वसमय कहिये, ताके प्रकाशनें तैं आप स्वयं शव्दब्रह्म सारिषा है॥

वहुरि जिस सुख कूं प्राप्त होयगा सो सुख कैसा है। तत्काल उदयरूप प्रगट होता एक चैतन्यरस करि भर्‍या, अपनें स्वभाव विषै भलै प्रकार तिष्ठ्या, निराकुल आत्मरूपपणां करि परमानंद शव्द करि कहनें योग्य है।

॥ भावार्थ॥ इस शास्त्र का नाम समयप्राभृत है सो समय नाम पदार्थ का है, ताका कहनेंवाला है तथा समय नाम आत्मा है, ताका कहनेंवाला है सो आत्मा, समस्त पदार्थनि का प्रकाशनेंवाला है, ताकूं यह कहै है। सो समस्त पदार्थनि का कहनेंवाला होय, ताकूं शव्दब्रह्म कहिये सो अैसैं आत्मा कूं कहनें तैं इस शास्त्र कूं शव्दब्रह्म सारिषा कहिये। शव्दब्रह्म तौ द्वादशांग शास्त्र है, ताकी उपमा याकूं भी है॥

सो यह शव्दब्रह्म, परमब्रह्म जो शुद्ध परमात्मा, ताकूं साक्षात् दिषावै है॥ सो जो इस शास्त्र कूं पढि करि, याके यथार्थ अर्थ विषै ठहरैगा सो परमब्रह्म कूं पावैगा॥ याही तैं उत्तम सौख्य जाकूं परमानंद कहिये, अैसा स्वात्मीक स्वाधीन, जामैं वाधा नाही, विच्छेद नाही, अविनाशी, अैसा सुख पावैगा॥ याही तैं भव्यजीव अपनां कल्याण के अर्थी याकूं पढो, सुणूं, निरंतर याही का स्मरण ध्यान राषो, ज्यौं अविनाशी सुख की प्राप्ति होय॥ यह श्रीगुरुनि का उपदेश है॥ छ॥

अव, इस सर्वविशुद्धज्ञान का अधिकार की पूर्णता का कलशरूप श्लोक है॥

विश्वसमय (परमब्रह्म) कहलाता है एवं उसको प्रकाशित करने से यह समयसार शास्त्र स्वयं **शब्दब्रह्म** जैसा है।

वह भव्य पुरुष, जिस सुख को प्राप्त करेगा, वह कैसा है? – तत्काल साक्षात् प्रगट होनेवाले एक चैतन्यरस से भरा हुआ है, अपने स्वभाव में अच्छी तरह से स्थित है तथा निराकुल आत्मस्वरूपपने के कारण परमानन्द शब्द के द्वारा कहने योग्य है।

भावार्थ – इस शास्त्र का नाम समयप्राभृत है। समय अर्थात् पदार्थ को कहनेवाला है अथवा समय नाम आत्मा का है, उसे कहनेवाला है। आत्मा, समस्त पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला है और उसे यह कहता है। यहाँ जो समस्त पदार्थों को कहनेवाला होता है, उसे **शब्दब्रह्म** कहते हैं, इसी प्रकार आत्मा का कथन करने से इस शास्त्र को भी **शब्दब्रह्म** जैसा कहते हैं। **शब्दब्रह्म** तो द्वादशाङ्ग शास्त्र को कहते हैं, उसकी उपमा इसको भी दी जाती है।

इस प्रकार यह शब्दब्रह्म, **परमब्रह्म** अर्थात् शुद्ध परमात्मा को साक्षात् दिखाता है, इसलिए जो इस शास्त्र को पढ़ कर, इसके यथार्थ अर्थ में ठहरेगा, वह **परमब्रह्म** को प्राप्त होगा और इसी कारण उत्तम सौख्य अर्थात् परमानन्द को प्राप्त होगा। वह सुख स्वात्मोत्पन्न, स्वाधीन, बाधारहित, विच्छेदरहित और अविनाशी है; इसीलिए हे भव्य जीवों! अपने कल्याण के लिए इसे पढ़ो, सुनो, निरन्तर इसी का स्मरणपूर्वक ध्यान रखो, जिससे अविनाशी सुख की प्राप्ति हो – यह श्रीगुरुओं का उपदेश है।

अब, इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की पूर्णता का सूचक कलशरूप श्लोक कहते हैं —

॥ अनुष्टुभ्॥

इतीदमात्मनस्तत्त्वं, ज्ञानमात्रमवस्थितम्।
अखण्डमेकमचलं, स्वसंवेद्यमबाधितम्॥ ५३॥

॥ अर्थ॥ इति कहिये या प्रकार आत्मा का तत्त्व कहिये परमार्थभूत स्वरूप ज्ञानमात्र अवस्थित भया, निश्चित ठहरया। कैसा है ज्ञानमात्र तत्त्व। अखंड है, अनेक ज्ञेयाकार करि तथा प्रतिपक्षी कर्म करि खंड खंड दीषै है, तौऊ ज्ञानमात्र विषै खंड नाही है॥ वहुरि याही तैं एकरूप है॥ वहुरि अचल है। ज्ञानरूप तैं चल होय ज्ञेयरूप नाही है॥ वहुरि स्वसंवेद्य है। आप ही करि आप जाननें योग्य है॥ वहुरि अवाधित है। काहू षोटी युक्ति करि वाध्या नाही जाय है॥

॥ भावार्थ॥ इहां आत्मा का निजस्वरूप ज्ञान ही कह्या है, जातैं आत्मा मैं अनंत धर्म हैं, तिनिमैं केई तौ साधारण हैं, ते तौ अतिव्याप्तिरूप हैं, तिनितैं आत्मा पिछाण्यां जाय नाही। वहुरि केई पर्यायाश्रित हैं, कोई अवस्था मैं हैं, कोई मैं नाहीं हैं, ते अव्याप्तिरूप हैं, तिनितैं भी आत्मा पिछाण्यां जाय नाही।

वहुरि चेतनता है सो यद्यपि लक्षण है तथापि शक्तिमात्र है सो अदृष्ट है, तातैं ताकी व्यक्ति दर्शन ज्ञान हैं, तिनिमैं ज्ञान साकार है, प्रगट अनुभवगोचर है, तातैं याही कै द्वारै आत्मा पहिचान्या जाय है, तातैं यह ज्ञान ही कूं प्रधान करि आत्मतत्त्व कह्या है।

अैसा मति जानूं जो आत्मा कूं ज्ञानमात्र तत्त्व कह्या सो एता ही परमार्थ है, अन्य धर्म झूठे हैं,

---

॥ दोहा॥

इस प्रकार यह आतमा, अचल अबाधित एक।
ज्ञानमात्र निश्चित हुआ, अखण्ड स्वसंवेद्य॥ २४६॥

अर्थ – इति अर्थात् इस प्रकार आत्मा का तत्त्व अर्थात् परमार्थभूत स्वरूप, ज्ञानमात्र अवस्थित हुआ, निश्चित हुआ। **कैसा है ज्ञानमात्र तत्त्व? – अखण्ड** है; यद्यपि अनेक ज्ञेयाकारों के कारण और प्रतिपक्षी कर्म के कारण खण्ड-खण्डरूप दिखाई देता है, तथापि ज्ञानमात्र में खण्ड नहीं है और इसी कारण वह **एकरूप** है; **अचल** है अर्थात् ज्ञानरूप से चलित होकर ज्ञेयरूप नहीं होता; **स्वसंवेद्य** है अर्थात् स्वयं ही के द्वारा स्वयं जानने योग्य है तथा **अबाधित** है अर्थात् किसी खोटी युक्ति से बाधित नहीं होता है।

भावार्थ – यहाँ आत्मा का निजस्वरूप ज्ञान ही बताया है क्योंकि आत्मा में तो अनन्त धर्म हैं, उनमें से अनेक तो साधारण धर्म (सामान्य गुण) हैं; वे तो अतिव्याप्तिरूप हैं, उनसे आत्मा पहचाना नहीं जाता है एवं अनेक पर्यायाश्रित धर्म हैं; किसी अवस्था में होते हैं, किसी में नहीं होते हैं; वे अव्याप्तिरूप हैं, उनसे भी आत्मा नहीं पहचाना जाता है।

यद्यपि चेतनता लक्षण तो है तथापि वह शक्तिमात्र है, अत: अदृष्ट है परन्तु उसकी व्यक्तियाँ दर्शन और ज्ञान हैं; उनमें से ज्ञान साकार है, प्रगट अनुभवगोचर है, इसलिए इसी के द्वारा आत्मा पहचाना जाता है; अत: इस ज्ञान ही को प्रधानता से आत्मतत्त्व कहा है।

आत्मा मैं नाही, अैसा सर्वथा एकांत कीयें मिथ्यादृष्टि होय है, विज्ञानीद्वैतवादी वौद्ध का मत आवै है तथा वेदांत का मत आवै है सो अैसा एकांत वाधासहित है।

अैसा एकांत अभिप्राय करि मुनिव्रत भी पालै अर आत्मा का ज्ञानमात्र का ध्यान भी करै तौ मिथ्यादृष्टि कटै नाही, मंदकषायनि के वश तैं स्वर्ग पावै तौ पावो, मोक्ष का साधन तौ होय नाही॥ तातैं स्याद्वाद करि यथार्थ समझनां॥ छ॥

अैसैं इहां तांई गाथा का व्याख्यान अर तिस व्याख्यान के कलशरूप तथा सूचनिकारूप काव्य टीकाकार नैं कीये॥

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

यहाँ ऐसा नहीं जानना कि आत्मा को ज्ञानमात्र तत्त्व कहा है तो इतना ही परमार्थ है; अन्य धर्म झूठे हैं, आत्मा में नहीं है – ऐसा सर्वथा एकान्त करने से मिथ्यादृष्टिपना होता है, इससे विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध का और वेदान्त का मत आता है; अत: ऐसा एकान्त बाधासहित है।

यदि कोई ऐसे एकान्त का अभिप्राय करके मुनिव्रत भी पाले और आत्मा के ज्ञानमात्र तत्त्व का ध्यान भी करे तो भी मिथ्यादृष्टिपना (मिथ्यादर्शन) कटता नहीं है; मन्दकषाय के वश से स्वर्ग प्राप्त हो जाए तो भले ही हो जाए, लेकिन मोक्ष का साधन तो होता नहीं है; अत: स्याद्वाद के द्वारा यथार्थ समझना।

इस प्रकार यहाँ तक [४१५] गाथाओं का व्याख्यान और उस व्याख्यान के कलशरूप एवं सूचनिकारूप [२४६] काव्य टीकाकार ने बनाए हैं।

[इस प्रकार आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेवप्रणीत प्राकृत गाथाबद्ध श्री समयसार ग्रन्थ की आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेवविरचित श्री आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका की पण्डितप्रवर श्री जयचन्दजी छाबड़ाकृत श्री समयसार वचनिका में नौवाँ 'सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' में गाथाओं का व्याख्यान पूर्ण होता है।]

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

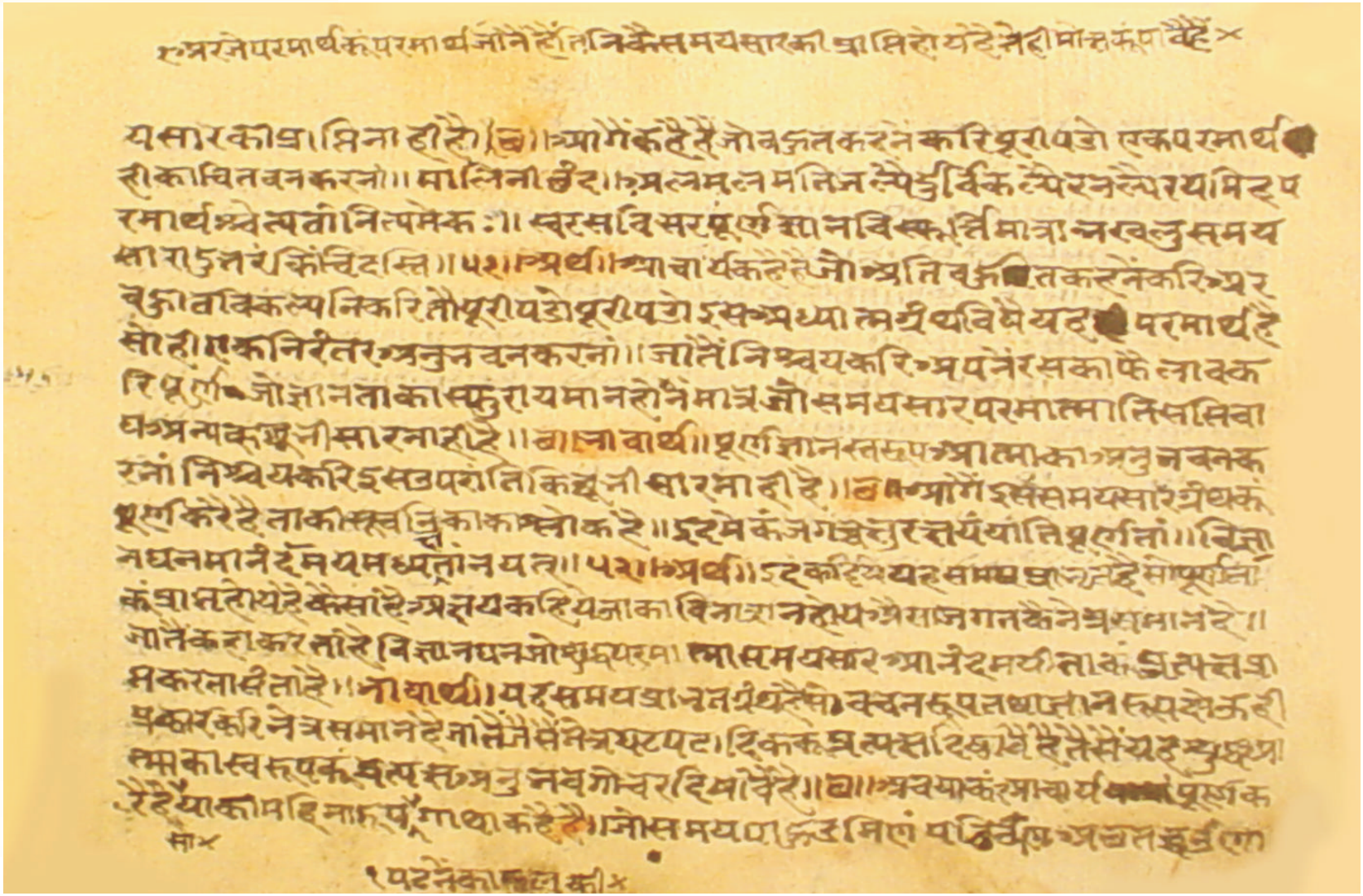

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क २५८ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर नीचे से आठवीं पंक्ति में सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के कलश ५२ (२४५) में इस समयसार शास्त्र को 'जगत् चक्षु' की उपमा दी गई है – '**इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्।**

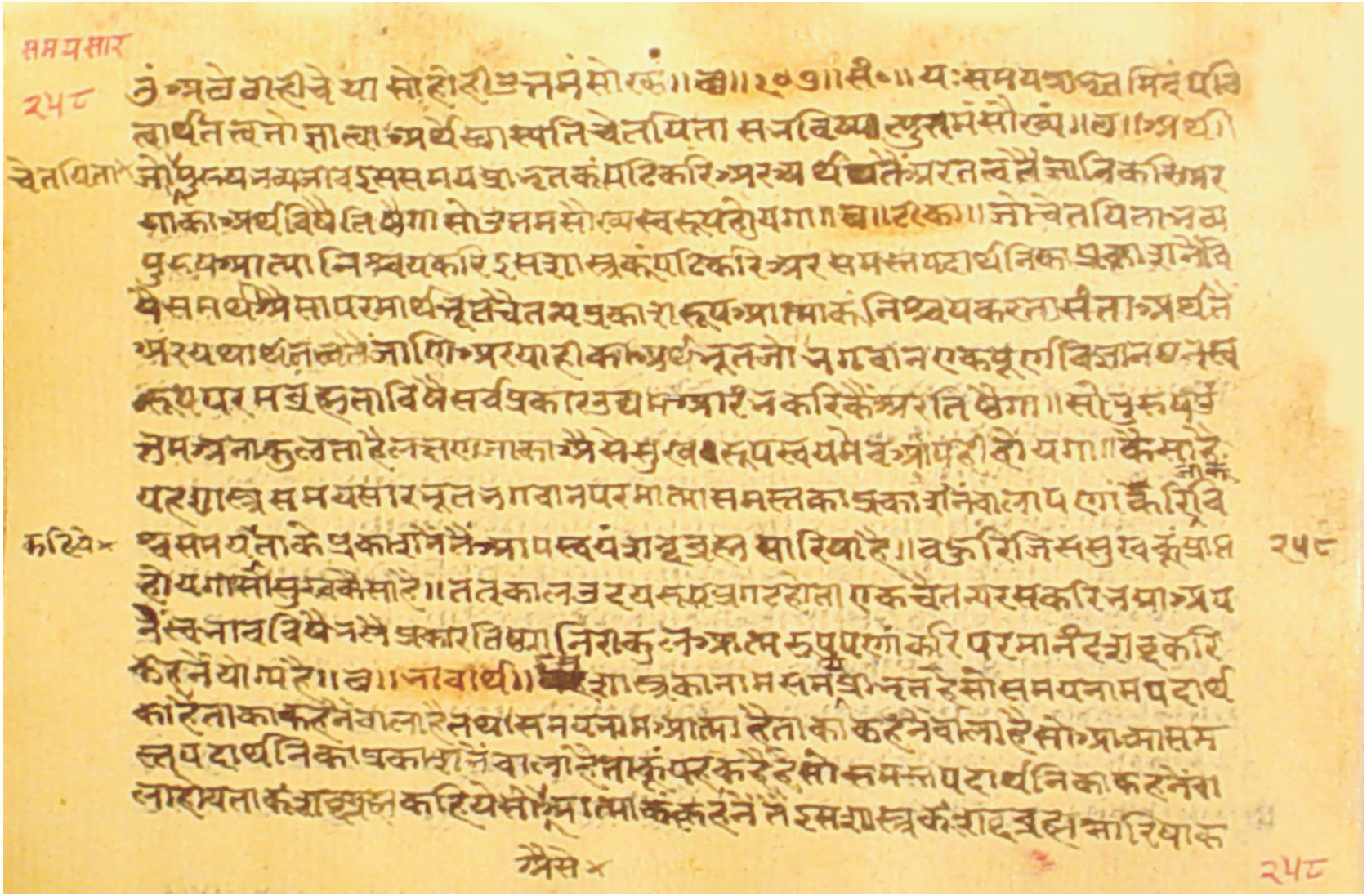

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क २५८ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की अन्तिम गाथा १०८ (४१५) का अर्थ लिखते हुए ऊपर से तीसरी पंक्ति में समयसार शास्त्र को पढ़ने की प्रेरणा दी है – **'जो चेतयिता पुरुष भव्यजीव, इस समयप्राभृत कूं पढि करि अर अर्थ तैं अर तत्व तैं जानि करि अर याका अर्थ विषै तिष्ठैगा सो उत्तम सौख्यस्वरूप होयगा ॥ छ ॥'**

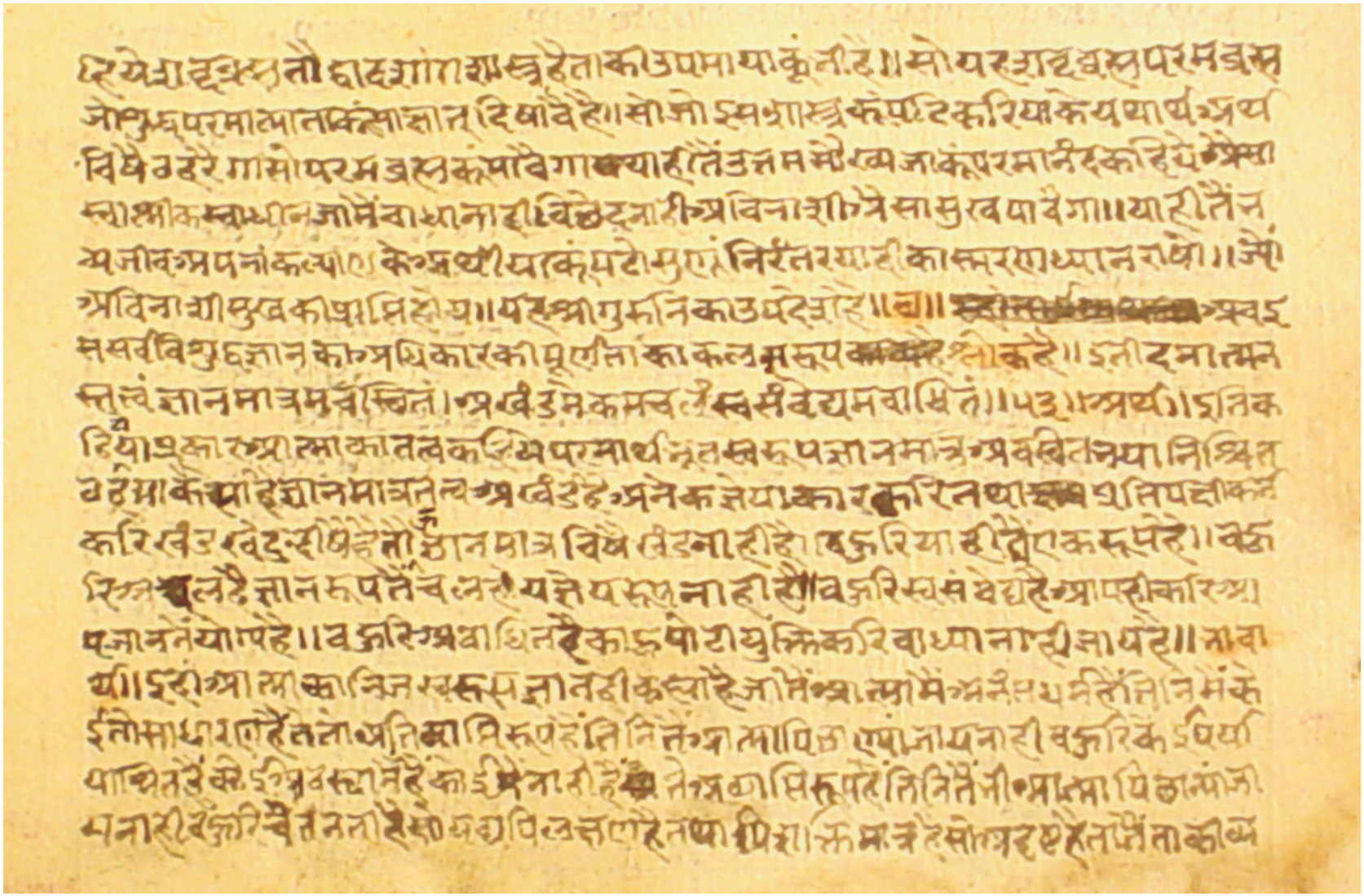

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र २५९ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर ऊपर से दूसरी पंक्ति में समयसारस्वरूप अपनी शुद्धात्मा में ठहरने की प्रेरणा दी है – **'सो जो इस शास्त्र कूं पढि करि, याके यथार्थ अर्थ विषै ठहरैगा सो परमब्रह्म कूं पावैगा॥ याही तैं उत्तम सौख्य जाकूं परमानंद कहिये, ऐसा स्वात्मीक स्वाधीन, जामैं वाधा नाही, विच्छेद नाही, अविनाशी, ऐसा सुख पावैगा॥'**

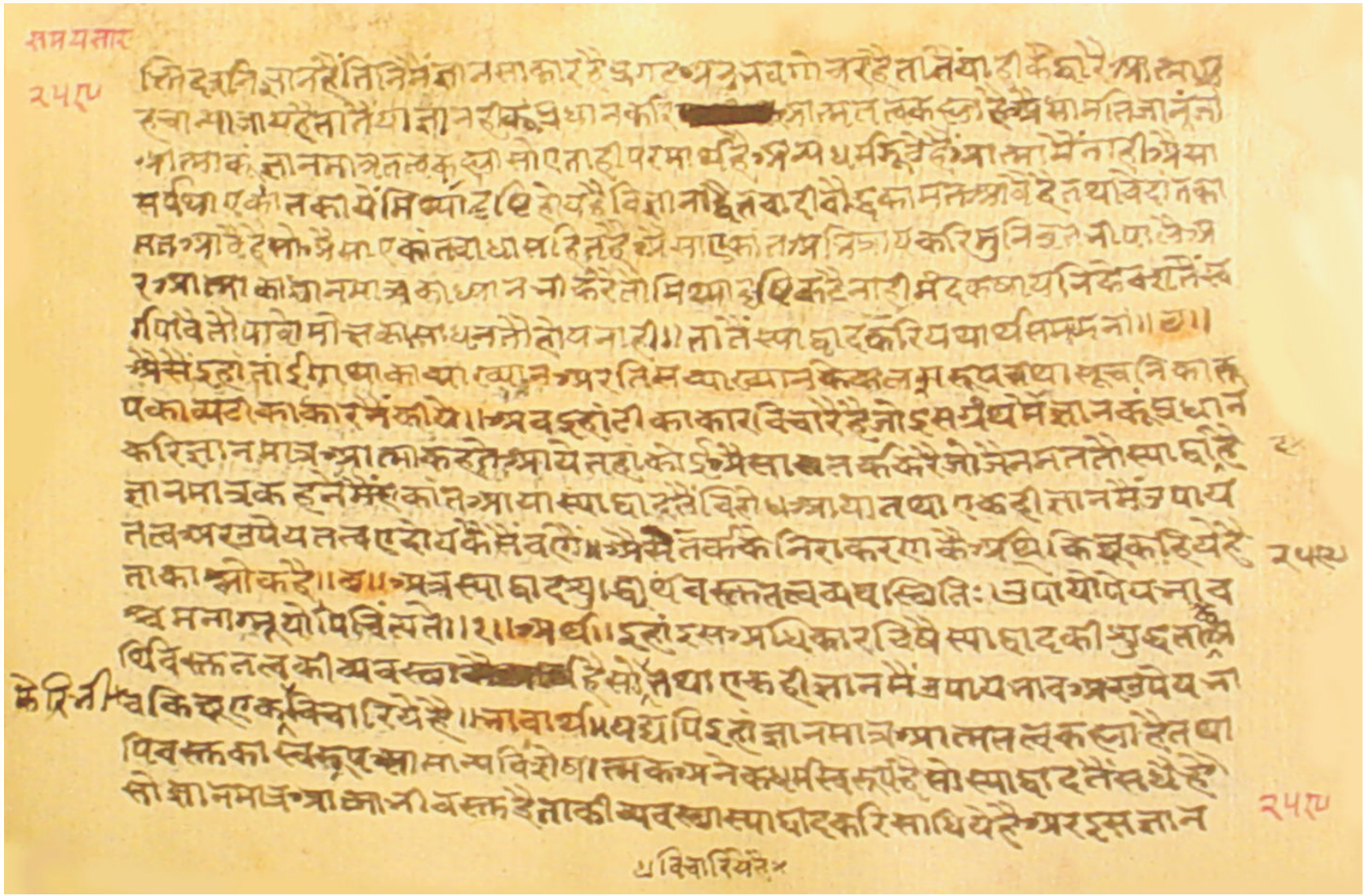

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क २५९ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ की ऊपर से नौवीं पंक्ति से सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के अन्तर्गत स्याद्वाद परिशिष्ट का प्रकरण प्रारम्भ होता है। समयसार की ४१५ गाथाओं का व्याख्यान यहीं तक है। आगे आचार्य अमृतचन्द्र ने परिशिष्ट के अन्तर्गत ३२ कलशों की रचना की है।

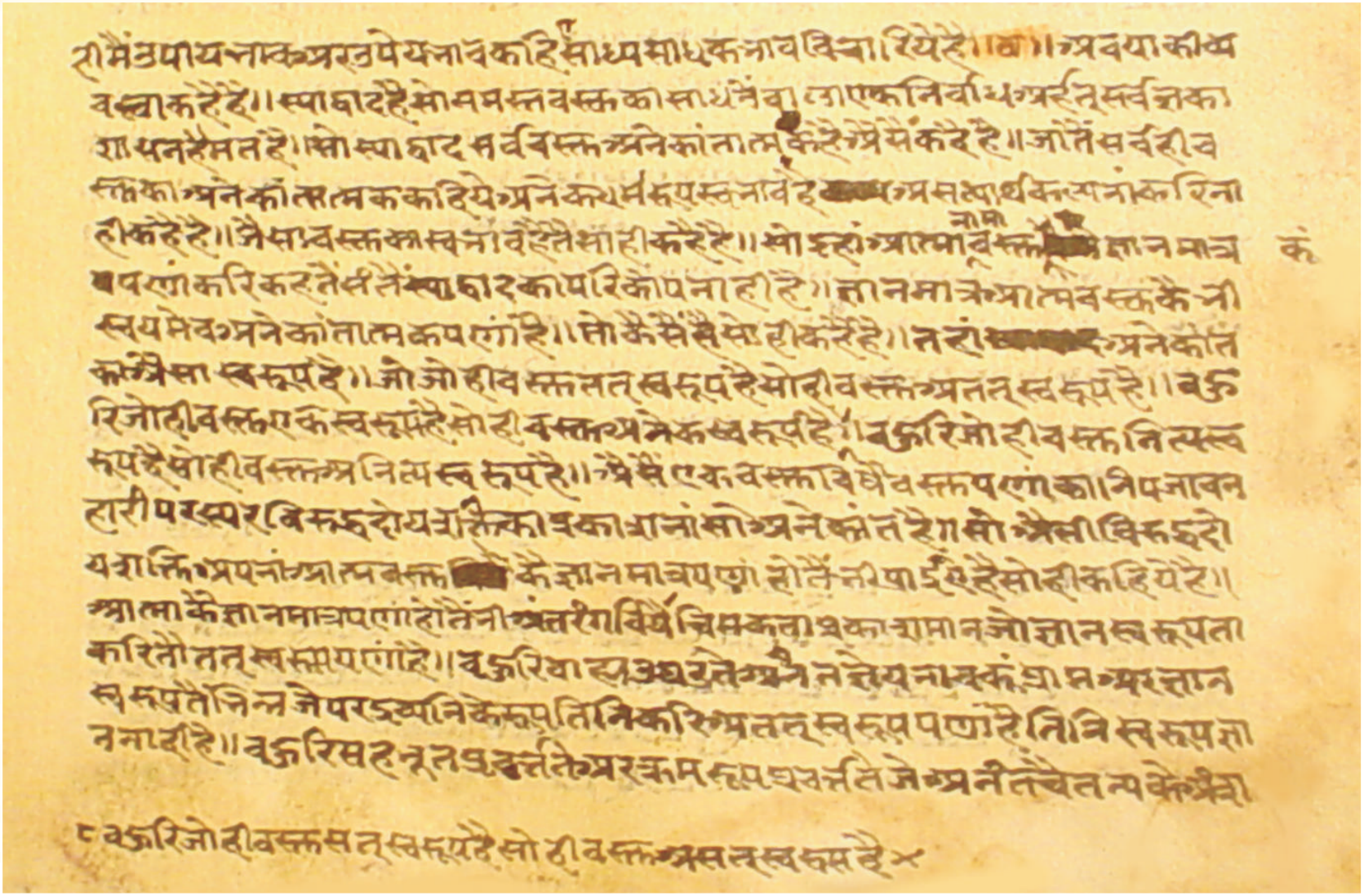

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क २६० का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर परिशिष्ट के अन्तर्गत 'अनेकान्त का स्वरूप', नीचे से सातवीं पंक्ति में इस प्रकार बताया है – **'ऐसैं एक वस्तु विषै वस्तुपणां की निपजावनहारी परस्पर विरुद्ध दोय शक्ति का प्रकाशनां सो अनेकांत है॥'**

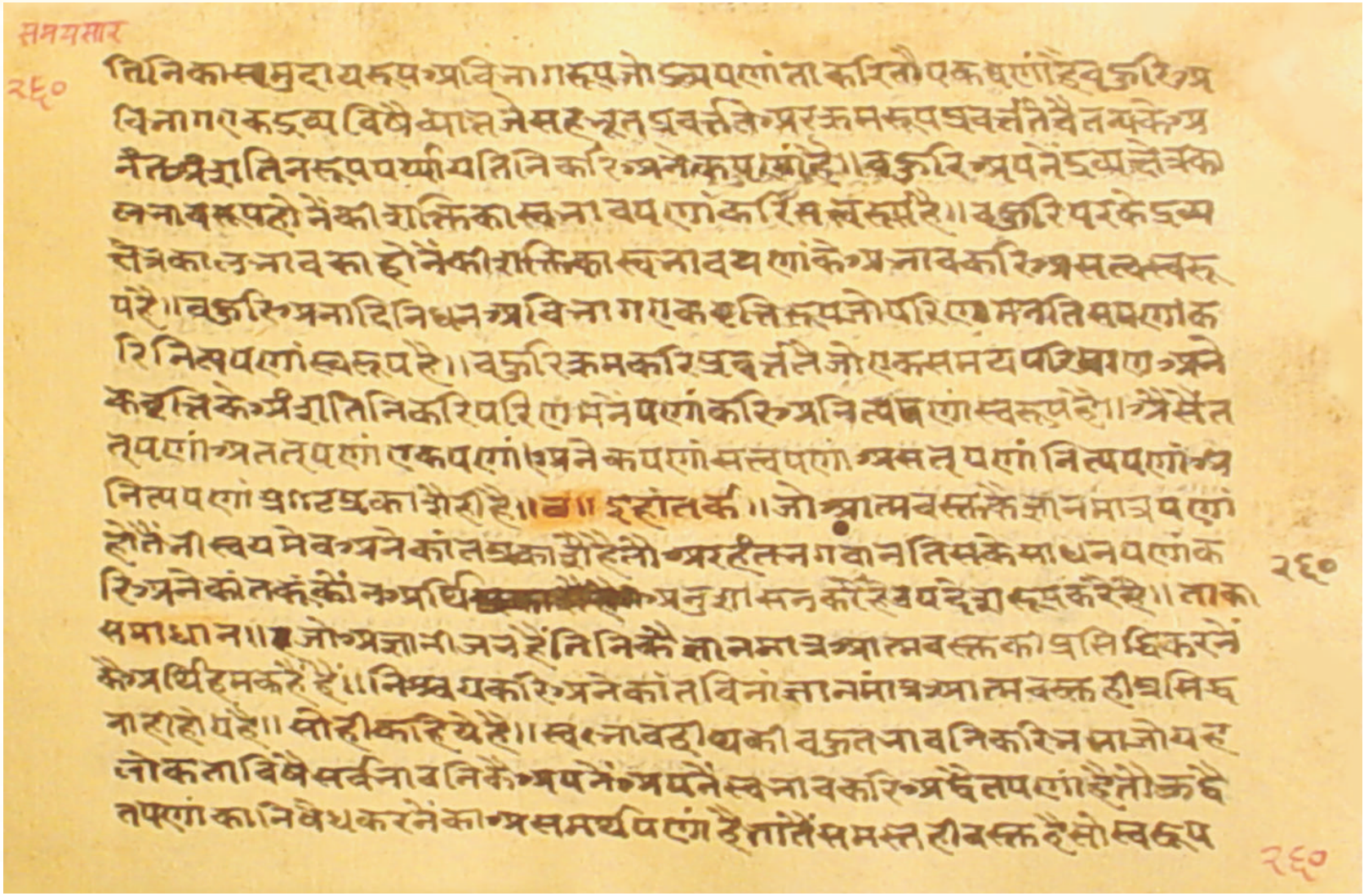
समयसार
२६०
२६०
२६०

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क २६० का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर स्याद्वाद परिशिष्ट के अन्तर्गत नित्यता-अनित्यता का स्वरूप स्पष्ट किया है – **'वहुरि अनादिनिधन अविभाग एक वृत्तिरूप जो परिणमन, तिसपणां करि नित्यपणांस्वरूप है। वहुरि क्रम करि प्रवर्त्तते जे एक समय परिमाण अनेक वृत्ति के अंश, तिनि करि परिणमनेंपणां करि अनित्यपणांस्वरूप है।'**

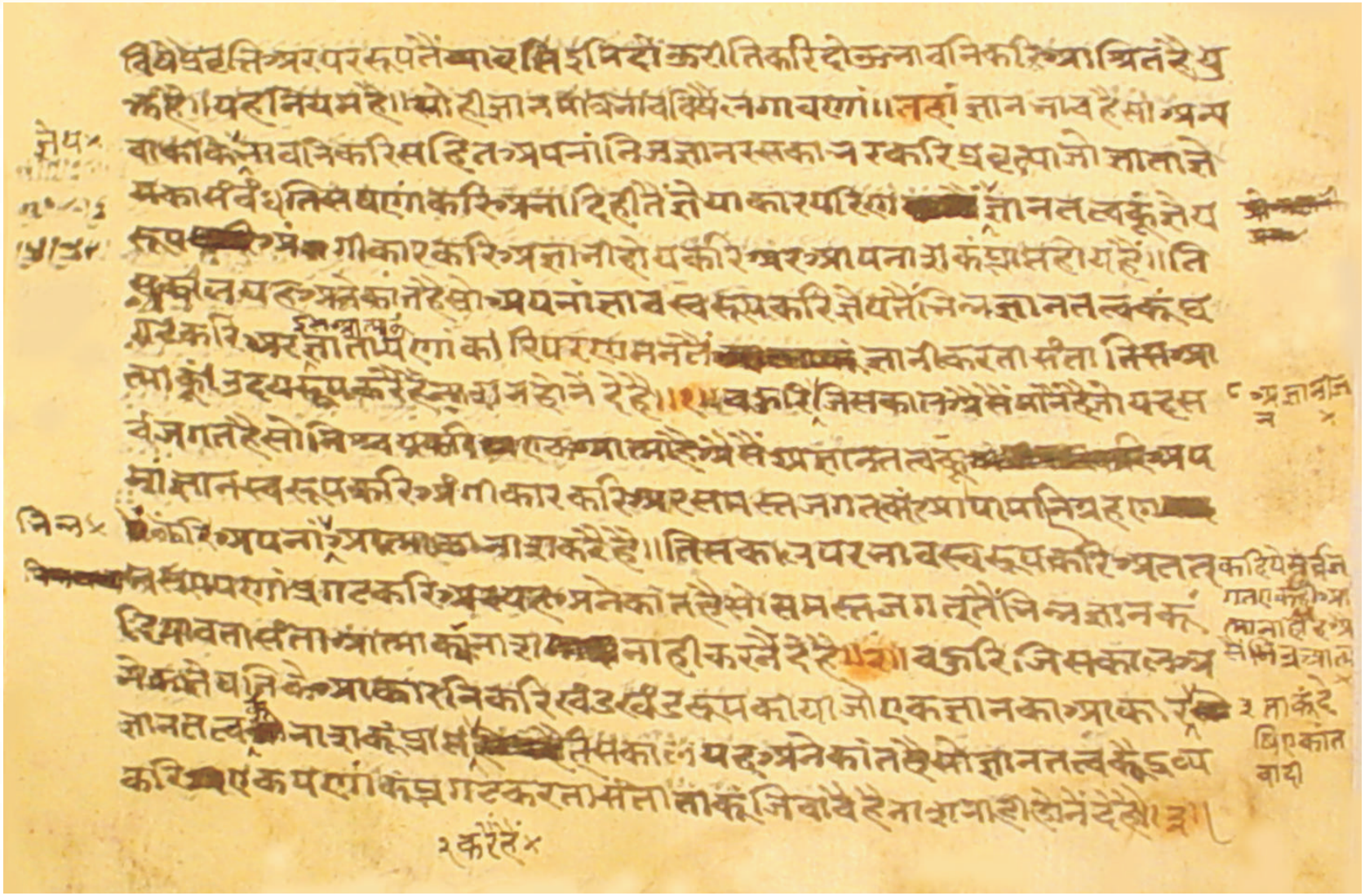

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क २६१ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर लिखा है – **'वहुरि जिस काल, अनेक ज्ञेयनि के आकारनि करि खंड खंडरूप कीया जो एक ज्ञान का आकार, ताकूं देषि एकांतवादी, ज्ञानतत्व कूं नाश कूं प्राप्त करै है॥ तिस काल यह अनेकांत है सो ज्ञानतत्व कै द्रव्य करि एकपणां कूं प्रगट करता संता ताकूं जिवावै है, नाश नाही होनें दे है॥ ३॥'**

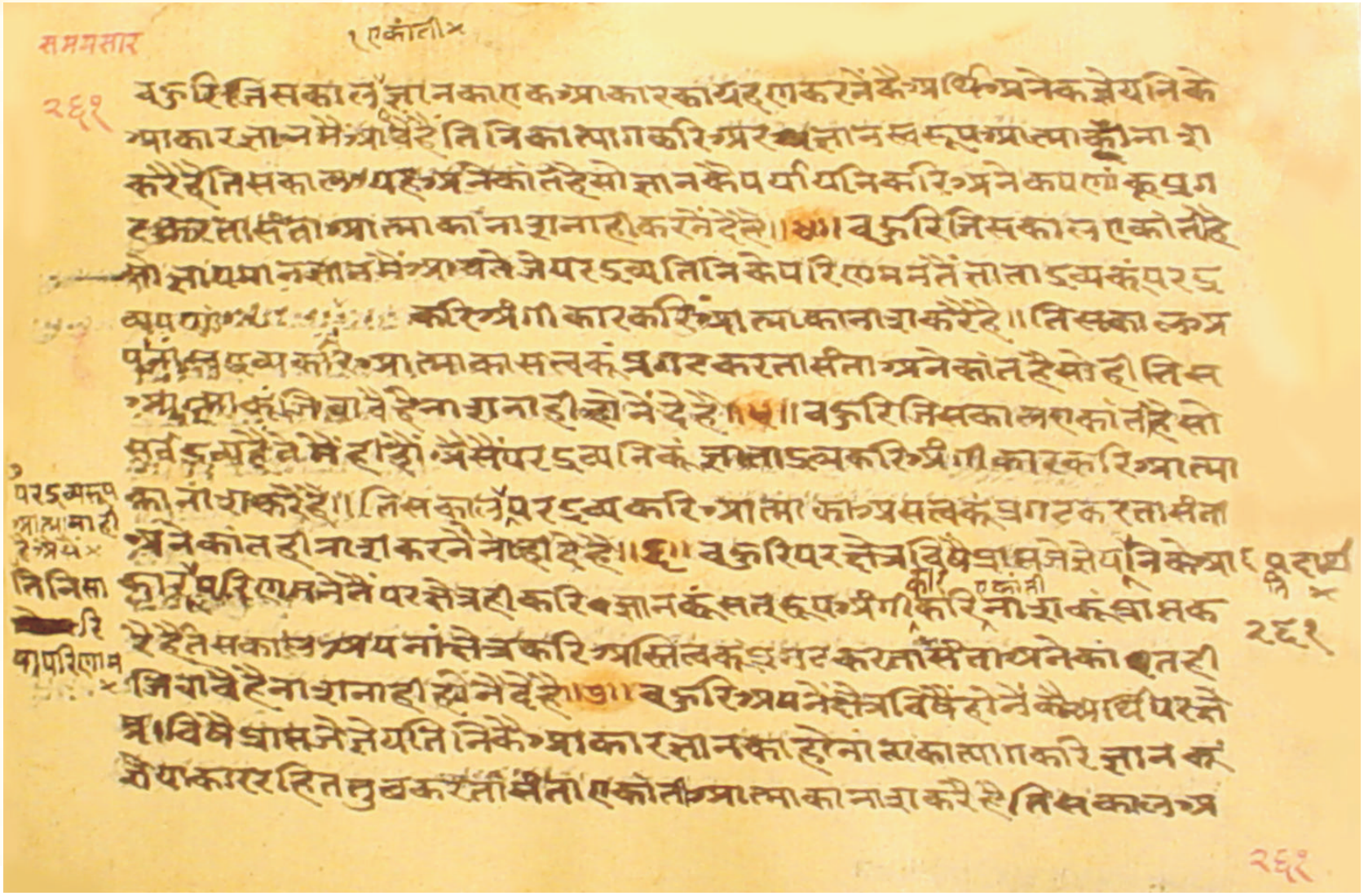

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र २६१ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर आठवीं पंक्ति में 'परद्रव्य से असत्पना' कहा है –'**वहुरि जिस काल एकांती है सो सर्व द्रव्य हैं, ते मैं ही हौं, ऐसैं परद्रव्यनि कूं ज्ञाताद्रव्य करि अंगीकार करि आत्मा का नाश करै है॥ तिस काल परद्रव्यरूप आत्मा नाही है, ऐसैं परद्रव्य करि आत्मा का असत्व कूं प्रगट करता संता अनेकांत ही नाश करनैं नाही दे है॥**'

॥ परिशिष्ट ॥

॥ स्याद्वाद अधिकार ॥[१]

अब, इहां टीकाकार विचारै है जो इस ग्रंथ मैं ज्ञान कूं प्रधान करि ज्ञानमात्र आत्मा कहते आये, तहां कोई अैसा तर्क करै जो जैनमत तौ स्याद्वाद है, ज्ञानमात्र कहने मैं एकांत आया, स्याद्वाद तैं विरोध आया तथा एक ही ज्ञान मैं उपायतत्त्व अर उपेयतत्त्व, ए दोय कैसैं वणैं। अैसैं तर्क के निराकरण कै अर्थि किछू कहिये है, ताका श्लोक है॥ छ॥

॥ श्लोक ॥

अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं[२] वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोपि चिन्त्यते॥ १॥

॥ अर्थ ॥ इहां इस अधिकार विषै स्याद्वाद की शुद्धता कै अर्थि वस्तुतत्त्व की व्यवस्था है सो

अब, यहाँ टीकाकार विचार करते हैं कि इस ग्रन्थ में ज्ञान को प्रधान करके आत्मा को ज्ञानमात्र कहते आये हैं, यहाँ कोई ऐसा तर्क करता है कि जैनमत तो स्याद्वादस्वरूप है; ज्ञानमात्र कहने से एकान्त होता है; अतः स्याद्वाद से विरोध आता है तथा एक ही ज्ञान में उपायतत्त्व और उपेयतत्त्व, ये दोनों कैसे हो सकते हैं? — ऐसे तर्क का निराकरण करने के लिए श्लोक में कुछ कहते हैं —

॥ कुण्डलिया ॥

यद्यपि सब कुछ आ गया, कुछ भी रहा न शेष।
फिर भी इस परिशिष्ट में, सहज प्रमेय-विशेष॥
सहज प्रमेय-विशेष, उपायोपेयभावमय,
ज्ञानमात्र शुद्धात्म, समझाते स्याद्वाद से।
परमव्यवस्था वस्तुतत्त्व की, प्रस्तुत करके,
परमज्ञानमय परमातम का, चिन्तन करते॥ २४७॥

---

१. आचार्य जयसेन ने भी तात्पर्यवृत्ति के अन्त में 'अनेकान्त-स्याद्वाद' से सम्बन्धित परिशिष्ट लिखा है, उसे उन्होंने परिशिष्ट के अन्त में '**स्याद्वाद अधिकार**' के नाम से उल्लिखित किया है। वचनिकाकार ने भी कलश २६५ के बाद इसे '**स्याद्वाद का अधिकार**' लिखा है; अतः यहाँ इस परिशिष्ट को '**स्याद्वाद अधिकार**' नाम दिया है।

२. *सिद्ध्यर्थं* - तात्पर्यवृत्ति पाठ। आचार्य जयसेन ने यह श्लोक, मात्र इतने परिवर्तन के साथ तात्पर्यवृत्ति में भी लिया है, लेकिन उन्होंने भी इस श्लोक की व्याख्या में पुनः 'शुद्ध्यर्थं' शब्द का उल्लेख किया है।

विचारिये है तथा एक ही ज्ञान मैं उपायभाव अर उपेयभाव, किछू एक फेरि भी विचारिये है॥

॥ भावार्थ॥ यद्यपि इहां ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व कह्या है, तथापि वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेषात्मक अनेक धर्मस्वरूप है सो स्याद्वाद तैं सधै है सो ज्ञानमात्र आत्मा भी वस्तु है, ताकी व्यवस्था स्याद्वाद करि साधिये है अर इस ज्ञान ही मैं उपायभाव अर उपेयभाव कहिये साध्यसाधकभाव विचारिये है॥ अब याकी व्यवस्था कहै है॥

स्याद्वाद है सो समस्त वस्तु का साधनेंवाला एक निर्बाध अर्हत् सर्वज्ञ का शासन है, मत है॥ सो स्याद्वाद, सर्व वस्तु अनेकांतात्मक है, अैसैं कहै है॥ जातैं सर्व ही वस्तु का अनेकांतात्मक कहिये अनेक धर्मरूप स्वभाव है, असत्यार्थ कल्पनां करि नाही कहै है॥ जैसा वस्तु का स्वभाव है, तैसा ही कहै है॥ सो इहां आत्मा नामा वस्तु कूं ज्ञानमात्रपणां करि कहतैं संतैं स्याद्वाद का परिकोप नाही है॥ ज्ञानमात्र आत्मवस्तु कै भी स्वयमेव अनेकांतात्मकपणां है॥ सो कैसैं है सो ही कहै है॥

तहां अनेकांत का अैसा स्वरूप है जो, जो ही वस्तु तत्स्वरूप है सो ही वस्तु अतत्स्वरूप है॥ वहुरि जो ही वस्तु एकस्वरूप है सो ही वस्तु अनेकस्वरूप है॥ वहुरि जो ही वस्तु सत्स्वरूप है सो ही वस्तु असत्स्वरूप है। वहुरि जो ही वस्तु नित्यस्वरूप है सो ही वस्तु अनित्यस्वरूप है॥ अैसैं एक वस्तु विषै वस्तुपणां की निपजावनहारी परस्पर विरुद्ध दोय शक्ति का प्रकाशनां सो अनेकांत है॥

सो अैसी विरुद्ध दोय शक्ति अपनां आत्मवस्तु कै ज्ञानमात्रपणां होतैं भी पाईए है सो ही कहिये है॥

अर्थ – यहाँ इस अधिकार में स्याद्वाद की शुद्धता के लिए वस्तुतत्त्व की व्यवस्था का विचार करते हैं तथा एक ही ज्ञान में उपायभाव और उपेयभाव भी पुन: थोड़ा-सा विचार करते हैं।

भावार्थ – यद्यपि यहाँ आत्मतत्त्व को ज्ञानमात्र कहा है, तथापि वस्तु का स्वरूप तो सामान्य-विशेषात्मक अनेक धर्मस्वरूप है, वह स्याद्वाद से सिद्ध होता है। ज्ञानमात्र आत्मा भी एक वस्तु है; अत: उसकी व्यवस्था स्याद्वाद से सिद्ध करते हैं और इस ज्ञान ही में उपायभाव और उपेयभाव अर्थात् साध्य-साधकभाव का विचार करते हैं। अब पहले, **उसकी (ज्ञानमात्र आत्मवस्तु) की व्यवस्था** कहते हैं –

''स्याद्वाद, समस्त वस्तुओं को साधनेवाला अरहन्त सर्वज्ञ का एक निर्बाध शासन है, मत है। वह स्याद्वाद, सर्व वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं – ऐसा कहता है क्योंकि सर्व ही वस्तुओं का अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक धर्मरूप स्वभाव हैं। वह असत्यार्थ कल्पना करके नहीं कहता है बल्कि जैसा वस्तु का स्वभाव है, वैसा ही कहता है; अत: यहाँ आत्मा नामक वस्तु को ज्ञानमात्र कहने पर स्याद्वाद का परिकोप अर्थात् विरोध नहीं आता है। ज्ञानमात्र आत्मवस्तु में भी स्वयमेव अनेकान्तात्मकता है।'' वह कैसे है? वही कहते हैं –

वहाँ, अनेकान्त का ऐसा स्वरूप है – ''**जो वस्तु तत्स्वरूप है, वही वस्तु अतत्स्वरूप है; जो वस्तु एकस्वरूप है, वही वस्तु अनेकस्वरूप है; जो वस्तु सत्स्वरूप है, वही वस्तु असत्स्वरूप है; जो वस्तु नित्यस्वरूप है, वही वस्तु अनित्यस्वरूप है। इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व को उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना ही अनेकान्त है।**''

ऐसी परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ, अपनी आत्मवस्तु में ज्ञानमात्रपना होने पर भी पाई जाती हैं, वही

आत्मा कै ज्ञानमात्रपणां होतैं भी अंतरंग विषै चिमकता प्रकाशमान जो ज्ञानस्वरूप, ता करि तौ तत्स्वरूपपणां है। वहुरि वाह्य उघडते अनंत ज्ञेयभाव कूं प्राप्त अर ज्ञानस्वरूप तैं भिन्न जे परद्रव्यनि के रूप, तिनि करि अतत्स्वरूपपणां है, तिनिस्वरूप ज्ञान नाही है॥

वहुरि सहभूत प्रवर्त्तते अर क्रमरूप प्रवर्त्तते जे अनंत चैतन्य के अंश, तिनिका समुदायरूप, अविभागरूप जो द्रव्यपणां ता करि तौ एकपणां है। वहुरि अविभाग एकद्रव्य विषै व्याप्त जे सहभूत प्रवर्त्तते अर क्रमरूप प्रवर्त्तते चैतन्य के अनंत अंश, तिनरूप पर्याय, तिनि करि अनेकपणां है॥

वहुरि अपनें द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप होनें की शक्ति का स्वभावपणां करि सत्त्वरूप है॥ वहुरि पर के द्रव्य क्षेत्र काल भाव का होनें की शक्ति का स्वभावपणां कै अभाव करि असत्त्वस्वरूप है॥

वहुरि अनादिनिधन अविभाग एक वृत्तिरूप जो परिणमन, तिसपणां करि नित्यपणांस्वरूप है। वहुरि क्रम करि प्रवर्त्तते जे एक समय परिमाण अनेक वृत्ति के अंश, तिनि करि परिणमनेंपणां करि अनित्यपणांस्वरूप है।

अैसैं तत्पणां अतत्पणां, एकपणां अनेकपणां, सत्पणां असत्पणां, नित्यपणां अनित्यपणां प्रगट प्रकाशै ही है॥ छ॥

इहां तर्क॥ आत्मवस्तु कै ज्ञानमात्रपणां होतैं भी स्वयमेव अनेकांत प्रकाशै है तौ अरहंत भगवान तिसके साधनपणां करि अनेकांत कूं कोंन अर्थि अनुशासन करैं हैं, उपदेशरूप करैं हैं॥

बताते हैं —

आत्मा में ज्ञानमात्रपना होने पर भी अन्तरङ्ग में चमकते हुए प्रकाशमान ज्ञानस्वरूप के द्वारा तो तत्स्वरूपपना है और बाह्य में दृष्टिगोचर होनेवाले अनन्त ज्ञेयभावों को प्राप्त और ज्ञानस्वरूप से भिन्न, ऐसे परद्रव्यों के स्वरूप के द्वारा अतत्स्वरूपपना है क्योंकि ज्ञान उन परद्रव्यस्वरूप नहीं है।

सह भूत और क्रमरूप प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य के अंशों (गुणों एवं पर्यायों) के अविभाज्य समुदायरूप द्रव्यपने के द्वारा की अपेक्षा तो एकपना है और अविभाजित एक द्रव्य में व्याप्त सहभूत और क्रमरूप प्रवर्तमान चैतन्य के अनन्त अंशरूप पर्यायों के द्वारा अनेकपना है।

अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप होने की शक्ति के स्वभावपने के द्वारा तो सत्त्वस्वरूप है और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप होने की शक्ति के स्वभावपने के अभाव के द्वारा असत्त्वस्वरूप है।

अनादिनिधन अविभाजित एक वृत्तिरूप परिणमनपने के द्वारा नित्यत्वस्वरूप है और क्रम से प्रवर्तमान एक समय की मर्यादावाले अनेक वृत्ति के अंशरूप परिणमनपने के द्वारा अनित्यत्वस्वरूप है।

इस प्रकार तत्पना-अतत्पना, एकपना-अनेकपना, सत्पना-असत्पना, नित्यपना-अनित्यपना, प्रगट प्रकाशित होता ही है।

यहाँ कोई **तर्क** करता है – यदि आत्मवस्तु में ज्ञानमात्रपना होने पर भी स्वयमेव अनेकान्त प्रकाशित होता है तो अरहन्त भगवान उसके साधन के रूप में अनेकान्त का कथन किसलिए करते हैं अर्थात् उसका उपदेश क्यों देते हैं?

ताका समाधान॥ जो अज्ञानीजन हैं, तिनिकै ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि करनें कै अर्थि हम कहैं हैं॥ निश्चय करि अनेकांत विनां ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही प्रसिद्ध नाही होय है॥ सो ही कहिये है॥

स्वभाव ही थकी वहुत भावनि करि भर्‍या जो यह लोक, ता विषै सर्वभावनि कै अपनें अपनें स्वभाव करि अद्वैतपणां है, तौऊ द्वैतपणां का निषेध करनें का असमर्थपणां है, तातैं समस्त ही वस्तु है सो स्वरूप विषै प्रवृत्ति अर पररूप तैं व्यावृत्ति, इनि दोऊ रीति करि दोऊ भावनि करि आश्रित है, युक्त है॥ यह नियम है॥ सो ही ज्ञानमात्र भाव विषै लगावणां।

तहां, [जिस काल] ज्ञानभाव है सो अन्य वाकी के ज्ञेयभावनि करि सहित अपनां निज ज्ञानरस का भर करि प्रवृत्या जो ज्ञाताज्ञेय का संवंध, तिसपणां करि अनादि ही तैं ज्ञेयाकार परिणमता दीषै है, तातैं जो अज्ञानीजन है सो ज्ञानतत्त्व कूं ज्ञेयरूप अंगीकार करि अज्ञानी होय करि अर आप नाश कूं प्राप्त होय है॥ तिस काल यह अनेकांत है सो अपनां ज्ञानस्वरूप करि ज्ञेय तैं भिन्न ज्ञानतत्त्व कूं प्रगट करि अर इस आत्मा कूं ज्ञातापणां करि परिणमन तैं ज्ञानी करता संता तिस आत्मा कूं उदयरूप करै है, नाश न होनें दे है॥ १॥

वहुरि अज्ञानीजन जिस काल, अैसैं मानैं है जो यह सर्व जगत् है सो निश्चय करि एक आत्मा है। अैसैं अज्ञानतत्त्व कूं अपनां ज्ञानस्वरूप करि अंगीकार करि अर समस्त जगत् कूं आपा मानि ग्रहण करि, अपनां भिन्न आत्मा का नाश करै है॥ तिस काल परभावस्वरूप करि अतत् कहिये सर्व जगत् एक ही आत्मा नाही है, अैसैं भिन्न आत्मस्वरूपपणां प्रगट करि अर यह अनेकांत है सो समस्त जगत्

उसका समाधान – अज्ञानियों को ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि करने के लिए हम कहते हैं। निश्चय से अनेकान्त के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि नहीं होती है। वही कहते हैं —

स्वभाव ही से बहुत भावों से भरे हुए इस लोक में, सर्व ही भावों का अपने-अपने स्वभाव से अद्वैतपना है तो भी द्वैत का निषेध करने की असमर्थता है; इसलिए समस्त ही वस्तुएँ, स्वरूप में प्रवृत्ति और पररूप से व्यावृत्ति, इन दोनों रीतियों से दोनों भावों के आश्रित हैं, युक्त हैं – यह नियम है; यही नियम ज्ञानमात्र भाव में लगाना चाहिए —

[१. तत्पना –] वहाँ, जब यह ज्ञानभाव, शेष अन्य ज्ञेयभावों के साथ, अपने निज ज्ञानरस के अतिशय से प्रवर्तित ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध के कारण, अनादि से ही ज्ञेयाकाररूप परिणमता हुआ दिखाई देता है, उससे अज्ञानीजन, ज्ञानतत्त्व को ज्ञेयरूप अङ्गीकार करके, अज्ञानी होकर स्वयं नाश को प्राप्त होते हैं; तब यह अनेकान्त ही, अपने ज्ञानस्वरूप के कारण ज्ञेय से भिन्न ज्ञानतत्त्व को प्रगट कर, इस आत्मा को ज्ञातापने के परिणमन से ज्ञानी करता हुआ, उस आत्मा का उदय करता है, नाश नहीं होने देता है॥ १॥

[२. अतत्पना –] जब अज्ञानीजन, ऐसा मानता है कि यह सर्व जगत् निश्चय से एक आत्मा है, ऐसे अज्ञानतत्त्व को अपने ज्ञानस्वरूपमय अङ्गीकार कर, समस्त जगत् को अपना मानकर ग्रहण करके, अपने भिन्न आत्मस्वरूप का नाश करता है; तब परभावस्वरूप से अतत् अर्थात् 'सर्व जगत् एक ही आत्मा नहीं है', ऐसे भिन्न आत्मस्वरूपपने को प्रगट करके यह अनेकान्त ही, समस्त जगत् से भिन्न

तैं भिन्न ज्ञान कूं दिषावता संता आत्मा का नाश नाही करनैं दे है॥ २॥

वहुरि जिस काल, अनेक ज्ञेयनि के आकारनि करि खंड खंडरूप कीया जो एक ज्ञान का आकार, ताकूं देषि एकांतवादी, ज्ञानतत्त्व कूं नाश कूं प्राप्त करै है॥ तिस काल यह अनेकांत है सो ज्ञानतत्व कै द्रव्य करि एकपणां कूं प्रगट करता संता ताकूं जिवावै है, नाश नाही होनें दे है॥ ३॥

वहुरि जिस काल एकांती, ज्ञान का एक आकार का ग्रहण करनें कै अर्थि, अनेक ज्ञेयनि के आकार ज्ञान मैं आवैं हैं, तिनि का त्याग करि अर ज्ञानस्वरूप आत्मा का नाश करै है॥ तिस काल यह अनेकांत है सो ज्ञान कै पर्यायनि करि अनेकपणां कूं प्रगट करता संता आत्मा का नाश नाही करनें दे है॥ ४॥

वहुरि जिस काल एकांती है सो ज्ञायमान, ज्ञान मैं आवते जे परद्रव्य, तिनिके परिणमन तैं ज्ञाताद्रव्य कूं परद्रव्यपणां करि अंगीकार करि आत्मा का नाश करै है॥ तिस काल अपनां स्वद्रव्य करि आत्मा का सत्व कूं प्रगट करता संता अनेकांत है सो ही तिस आत्मा कूं जिवावै है, नाश नाही होनें दे है॥ ५॥

वहुरि जिस काल एकांती है सो सर्व द्रव्य हैं, ते मैं ही हौं, अैसैं परद्रव्यनि कूं ज्ञाताद्रव्य करि अंगीकार करि आत्मा का नाश करै है॥ तिस काल परद्रव्यरूप आत्मा नाही है, अैसैं परद्रव्य करि आत्मा का असत्व कूं प्रगट करता संता अनेकांत ही नाश करनैं नाही दे है॥ ६॥

वहुरि [जिस काल] परक्षेत्र विषै प्राप्त जे ज्ञेयपदार्थ, तिनिके आकार, तिनि सारिषा परिणाम

ज्ञान को दिखाता हुआ, आत्मा का नाश नहीं करने देता है॥ २॥

[३. **एकपना –**] जब एकान्तवादी अनेक ज्ञेयों के आकारों के कारण खण्ड-खण्डरूप किये हुए एक ज्ञान के आकार को देख कर, ज्ञानतत्त्व का नाश करता है; तब यह अनेकान्त ही, ज्ञानतत्त्व का द्रव्यरूप से एकत्व प्रगट करता हुआ उसे जिलाता है, नाश नहीं होने देता है॥ ३॥

[४. **अनेकपना –**] जब एकान्तवादी, ज्ञान के एक आकार को ग्रहण करने के लिए, ज्ञान में आनेवाले अनेक ज्ञेयों के आकारों का त्याग करके ज्ञानस्वरूप आत्मा का नाश करता है; तब यह अनेकान्त ही, उस ज्ञान में पर्यायों से अनेकपना प्रगट करता हुआ, आत्मा का नाश नहीं होने देता है॥ ४॥

[५. **स्वद्रव्य से सत्पना –**] जब एकान्तवादी, ज्ञायमान अर्थात् ज्ञान में आनेवाले परद्रव्यों के परिणमन के कारण, ज्ञाताद्रव्य का परद्रव्यपना अङ्गीकार करके, आत्मा का नाश करता है; तब अपने स्वद्रव्य से आत्मा के सत्त्व को प्रगट करता हुआ, अनेकान्त ही, उस आत्मा को जिलाता है, नाश नहीं होने देता है॥ ५॥

[६. **परद्रव्य से असत्पना –**] जब एकान्तवादी, 'सर्व द्रव्य, मैं ही हूँ' – ऐसे परद्रव्यों को ज्ञाताद्रव्यरूप अङ्गीकार करके, आत्मा का नाश करता है; तब 'परद्रव्यरूप, आत्मा नहीं है', ऐसे परद्रव्यों से आत्मा के असत्त्व को प्रगट करता हुआ अनेकान्त ही, उसका नाश नहीं होने देता है॥ ६॥

[७. **स्वक्षेत्र से सत्पना –**] जब एकान्तवादी, परक्षेत्र में प्राप्त ज्ञेयपदार्थों के आकारों के समान ज्ञानपरिणामों के परिणमने से, परक्षेत्र ही के कारण, ज्ञान को सत्रूप अङ्गीकार करके, [आत्मा का] नाश

परिणमनें तैं परक्षेत्र ही करि ज्ञान कूं सत्‌रूप अंगीकार करि एकांती नाश कूं प्राप्त करै है॥ तिस काल अपनां क्षेत्र करि अस्तित्व कूं प्रगट करता संता अनेकांत ही जिवावै है, नाश नाही होनें दे है॥ ७॥

वहुरि [जिस काल] अपनें क्षेत्र विषैं होनें कै अर्थि परक्षेत्र विषै प्राप्त जे ज्ञेय, तिनिकै आकार ज्ञान का होनां, ताका त्याग करि, ज्ञान कूं ज्ञेयाकाररहित तुच्छ करता संता एकांती आत्मा का नाश करै है॥ तिस काल अनेकांत है सो ज्ञान कै अपनां क्षेत्र ही विषै, परक्षेत्र विषै प्राप्त जे ज्ञेय, तिनि के आकाररूप परिणमनें का स्वभावपणां है, अैसैं परक्षेत्र करि नास्तित्वपणां कूं प्रगट करता संता नाश करनें न दे है॥ ८॥

वहुरि जिस काल, पूर्वैं आलंवे जे ज्ञेयपदार्थ, तिनिका विनाश का काल विषै ज्ञान का भी असत्व कूं अंगीकार करि एकांती ज्ञान कूं नाश कूं प्राप्त करै है॥ तिस काल अपनां ज्ञान ही का काल करि अर ज्ञान का सत्व कूं प्रगट करता संता अनेकांत ही ज्ञान कूं जिवावै है, नाश होनें न दे है॥ ९॥

वहुरि जिस काल, अर्थ का आलंवन का काल ही विषै ज्ञान का सत्व कूं ग्रहण करि एकांती आत्मा का नाश करै है॥ तिस काल पर के काल करि असत्व कूं प्रगट करता संता अनेकांत ही नाश होनें न दे है॥ १०॥

वहुरि जिस काल ज्ञायमान, जाननें मैं आवता जो परभाव, ताके परिणमन कै आकार दीषता जो ज्ञायकभाव, ताकूं परभाव करि ग्रहण करि अर ज्ञानभाव कूं एकांती नाश कूं प्राप्त करै है॥ तिस

करता है; तब अपने क्षेत्र से अस्तित्व को प्रगट करता हुआ अनेकान्त ही, उसे जिलाता है, नाश नहीं होने देता है॥ ७॥

[८. परक्षेत्र से असत्पना –] जब एकान्तवादी अपने ही क्षेत्र में होने या रहने के लिए परक्षेत्र में प्राप्त ज्ञेयों के आकाररूप ज्ञान के होने का त्याग करके, ज्ञान को ज्ञेयाकारों से रहित अर्थात् तुच्छ करता हुआ आत्मा का नाश करता है; तब अनेकान्त ही, ज्ञान के अपने ही क्षेत्र का, परक्षेत्र में प्राप्त ज्ञेयों के आकाररूप परिणमन करने का स्वभावपना होने के कारण, परक्षेत्र से नास्तित्व को प्रगट करता हुआ, [आत्मा का] नाश नहीं होने देता है॥ ८॥

[९. स्वकाल से सत्पना –] जब एकान्तवादी, पूर्व में आलम्बन किये गए ज्ञेयपदार्थों के विनाश के काल में ज्ञान के भी असत्त्व को अङ्गीकार करके, ज्ञान का नाश करता है; तब अपने ज्ञान ही के काल (स्वकाल) से ज्ञान के सत्त्व को प्रगट करता हुआ, अनेकान्त ही, ज्ञान को जिलाता है, नाश नहीं होने देता है॥ ९॥

[१०. परकाल से असत्पना –] जब एकान्तवादी, अर्थ के आलम्बन के काल ही में ज्ञान के सत्त्व को ग्रहण करके आत्मा का नाश करता है; तब परकाल से असत्त्व को प्रगट करता हुआ, अनेकान्त ही, [ज्ञान का] नाश नहीं होने देता है॥ १०॥

[११. स्वभाव से सत्पना –] जब एकान्तवादी, ज्ञायमान अर्थात् जानने में आनेवाले परभावों के परिणमन के आकाररूप दिखाई देनेवाले ज्ञायकभाव को परभाव के रूप में ग्रहण करके, ज्ञानभाव का

काल स्वभाव करि ज्ञान का सत्व कूं प्रगट करता संता अनेकांत ही ज्ञान कूं जिवावै है, नाश होनें न दे है॥ ११॥

वहुरि जिस काल एकांती है सो अैसा मनावै है जो सर्व भाव हैं ते मैं हौ, अैसैं परभावनि कूं ज्ञायकपणां करि अंगीकार करि अर आत्मा का नाश करै है॥ तिस काल परभाव करि ज्ञान का असत्व कूं प्रगट करता संता अनेकांत है सो ही आत्मा का नाश होनें न दे है॥ १२॥

वहुरि जिस काल अनित्य जे ज्ञान के विशेष, तिनि करि खंडित भया जो नित्य ज्ञानसामान्य सो नाश कूं प्राप्त होय है अैसैं एकांत स्थापै॥ तिस काल ज्ञान का सामान्यरूप करि नित्यपणां कूं प्रगट करता संता अनेकांत है सो ही नाश करनें न दे है॥ १३॥

वहुरि जिस काल नित्य जो ज्ञानसामान्य, ताका ग्रहण करनें कै अर्थि अनित्य जे ज्ञान के विशेष, तिनिका त्याग करि एकांत है सो आत्मा कूं नाश कूं प्राप्त करै है॥ तिस काल ज्ञान के विशेषरूप करि अनित्यपणां कूं प्रगट करता संता अनेकांत है सो ही तिस आत्मा कूं जिवावै है, नाश होनें न दे है॥ १४॥

अैसैं चौदह भंग करि ज्ञानमात्र आत्मा कूं एकांत करि तौ आत्मा का अभाव होनां अर अनेकांत करि आत्मा का ठहरनां दिषाया। तहां तत् अतत्, एक अनेक, नित्य अनित्य, अैसैं तौ छह भंग भये अर सत्व असत्व के द्रव्य क्षेत्र काल भाव करि आठ भंग कीये, अैसैं चौदह भंग जाननें॥

अव इनिके कलशरूप चौदह काव्य हैं सो कहिये हैं॥ छ॥

नाश करता है; तब स्वभाव से ज्ञान के सत्त्व को प्रगट करता हुआ, अनेकान्त ही, ज्ञान को जिलाता है, नाश नहीं होने देता है॥ ११॥

[१२. परभाव से असत्पना –] जब एकान्तवादी, ऐसा मानता है कि 'सर्व भाव मैं ही हूँ', ऐसे वह परभावों को ज्ञायकरूप में अङ्गीकार करके आत्मा का नाश करता है; तब परभावों से ज्ञान का असत्त्व प्रगट करता हुआ अनेकान्त ही, आत्मा का नाश नहीं होने देता है॥ १२॥

[१३. नित्यपना –] जब एकान्तवादी, ऐसा एकान्त स्थापित करता है, मानता है; अनित्य ज्ञान के विशेषों से खण्डित होकर नित्य ज्ञानसामान्य, नाश को प्राप्त होता है, तब ज्ञान का सामान्यरूप से नित्यत्व प्रगट करता हुआ, अनेकान्त ही, [ज्ञान का] नाश नहीं होने देता है॥ १३॥

[१४. अनित्यपना –] जब एकान्तवादी, नित्य ज्ञानसामान्य का ग्रहण करने के लिए, अनित्य ज्ञान के विशेषों का त्याग करके एकान्तवादी, आत्मा का नाश करता है; तब ज्ञान के विशेषों से अनित्यता को प्रगट करके अनेकान्त ही, उस आत्मा को जिलाता है; नाश नहीं होने देता है॥ १४॥

इस प्रकार चौदह भङ्गों के माध्यम से ज्ञानमात्र आत्मा का एकान्त करने से आत्मा का अभाव होना और अनेकान्त करने से आत्मा का सद्भाव होना, दिखाया है। यहाँ तत्-अतत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य – ऐसे तो छह भङ्ग और सत्त्व-असत्त्व के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा आठ भङ्ग मिला कर, कुल चौदह भङ्ग जानना चाहिए।

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिज-प्रव्यक्तिरिक्तीभवद्-
विश्रान्तं पररूप एव परितो, ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति, स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति॥ १॥

॥ अर्थ॥ पशु कहिये अज्ञानी, तिर्यंच समान सर्वथा एकांती, ताका ज्ञान है सो वाह्य ज्ञेयपदार्थनि करि सामस्त्यपणें पीया गया, अैसा होता संता छोडी जो अपनीं व्यक्ति, तिनि करि रीता भया संता, सामस्त्यपणां[१] करि पररूप ही कै विषै विश्रांत भया रहि गया, अपनां रूप किछू भी न रह्या सो नष्ट भया॥ वहुरि स्याद्वादी का ज्ञान है सो जो अपनें स्वरूप तैं जो है सो तत्स्वरूप ही है, ज्ञानस्वरूप ही है, अैसैं तत्स्वरूप भया संता अतिशय करि प्रगट भया जो ज्ञान के समूहरूप स्वभाव, ताके भर तैं संपूर्ण उदयरूप प्रगट होय है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ कोई सर्वथा एकांती तौ ज्ञान कूं ज्ञेयाकारमात्र ही मानै है, ताकै तौ ज्ञान कूं ज्ञेय पीय गये, आप कछू न रह्या॥ वहुरि स्याद्वादी, ज्ञान अपनें स्वरूप करि ज्ञान ही है, ज्ञेयाकार भया तौऊ

अब, इनके कलशरूप चौदह काव्य कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

बाह्यार्थ ने ही पी लिया, निजव्यक्तता से रिक्त जो।
वह ज्ञान तो सम्पूर्णतः, पररूप में विश्रान्त है॥
पर से विमुख हो स्वोन्मुख, सद्ज्ञानियों का ज्ञान तो।
'स्वरूप से ही ज्ञान है' – इस मान्यता से पुष्ट है॥ २४८॥

अर्थ – पशु अर्थात् तिर्यञ्च के समान सर्वथा एकान्ती अज्ञानी का ज्ञान, बाह्य ज्ञेयपदार्थों के द्वारा सम्पूर्णरूप से पी लिया गया होने से, जिसने अपनी [स्वाभाविक] व्यक्तता को छोड़ दिया है, इस प्रकार रिक्त (खाली या शून्य) होता हुआ सम्पूर्णरूप से पररूप में ही विश्रान्त होकर रह जाता है, किञ्चित् भी अपने स्वरूप में नहीं रहता है अर्थात् नष्ट हो जाता है, लेकिन स्याद्वादी का ज्ञान, अपने स्वरूप से तत्स्वरूप ही है, ज्ञानस्वरूप ही है – ऐसे तत्स्वरूप रहता हुआ, अतिशयरूप से प्रगट हुए, ज्ञान के समूहरूप स्वभाव की सामर्थ्य से, सम्पूर्णतः उदयरूप प्रगट होता है।

भावार्थ – कोई सर्वथा एकान्ती तो ज्ञान को ज्ञेयाकारमात्र ही मानता है, उसके ज्ञान को तो [मानो] ज्ञेयपदार्थ ही पी गए हैं, स्वयं कुछ बचा ही नहीं है। लेकिन स्याद्वादी ऐसा मानता है कि ज्ञान, अपने स्वरूप से ज्ञान ही है अर्थात् वह ज्ञेयाकाररूप होता हुआ भी ज्ञानपने को नहीं छोड़ता है;

---

१. *समस्तपणें* - 'ब' प्रति पाठ

ज्ञानपणां कूं नाही छोडै है, अैसैं मानै है। तातैं तत्स्वरूप ज्ञान प्रगट प्रकाशमान है॥ छ॥

पुनः॥

॥ शार्दूलविक्रीड़ित॥

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं, दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया,
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव, स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति, स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं, तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत्॥ २॥

॥ अर्थ॥ पशुः कहिये अज्ञानी सर्वथा एकांतवादी है, सो समस्त ज्ञेयपदार्थ हैं सो ज्ञानमयी हैं, अैसैं विचारि करि, अर सकल जगत् कूं निजतत्व की आशा करि देषि, आप समस्त वस्तुमयी होय अर तिर्यंच की ज्यों स्वच्छंद चेष्टा करै है॥ वहुरि स्याद्वाद का देषनेंवाला है सो तिस ज्ञान का निजस्वरूप कूं अैसा देषै है जो अपनें ज्ञानस्वरूप तैं तत्स्वरूप है, सो जे ज्ञेयस्वरूप तिनितैं तत्स्वरूप नाही है, अैसैं समस्त वस्तु तैं भिन्न अर समस्त ज्ञेयवस्तुनि करि घड्या तौऊ समस्त ज्ञेयस्वरूप नाही, ज्ञेयाकाररूप भया तौऊ न्यारा, अैसा ज्ञान का स्वरूप अनुभवै है॥

॥ भावार्थ॥ जो वस्तु अपनां स्वरूप[१] तैं तत्स्वरूप है सो ही वस्तु पर का स्वरूप तैं अतत्स्वरूप

अतः तत्स्वरूप ज्ञान प्रगट प्रकाशमान है, [इस प्रकार यह **तत्स्वरूप** का भङ्ग है]।

पुनः कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

इस ज्ञान में जो झलकता, वह विश्व ही बस ज्ञान है।
अबुध ऐसा मान कर, स्वच्छन्द हो वर्तन करें॥
अरु विश्व को जो जान कर, भी विश्वमय होते नहीं।
वे स्याद्वादी जगत् में, निजतत्त्व का अनुभव करें॥ २४९॥

अर्थ – पशु अर्थात् अज्ञानी सर्वथा एकान्तवादी, 'समस्त ज्ञेयपदार्थ, ज्ञानमय हैं' – ऐसा मानकर सम्पूर्ण जगत् को निजतत्त्व की आशा (मान्यता) से देखता हुआ, स्वयं समस्त वस्तुमयी होकर, तिर्यञ्च की तरह स्वच्छन्द चेष्टा करता है। लेकिन स्याद्वाद को देखनेवाला, उस ज्ञान के निजस्वरूप को इस प्रकार देखता है कि वह ज्ञान, अपने ज्ञानस्वरूप की अपेक्षा तत्स्वरूप है और ज्ञेयस्वरूप की अपेक्षा तत्स्वरूप नहीं है; इस प्रकार ज्ञान, समस्त वस्तुओं से भिन्न है और समस्त ज्ञेयवस्तुओं से रचित होने पर भी समस्त ज्ञेयस्वरूप नहीं है अर्थात् वह ज्ञेयाकाररूप होने पर भी उनसे भिन्न है – ऐसे ज्ञान के स्वरूप को [स्याद्वादी] अनुभवता है।

---

१. *स्व* - 'ब' प्रति पाठ

है, अैसैं स्याद्वादी देषै है सो ज्ञान अपनां स्वरूप तैं तत्स्वरूप है। तैसैं ही परज्ञेयनि का आकाररूप भया है, तौऊ तिनितैं भिन्न है, तातैं अतत्स्वरूप है अर एकांतवादी समस्त वस्तुस्वरूप ज्ञान कूं मानि आपा कूं तिनि ज्ञेयमयी मानि अज्ञानी होय, पशु की ज्यों स्वच्छंद प्रवर्त्तै है॥ अैसैं अतत्स्वरूप का भंग है॥ छ॥

पुनः॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो, विष्वग्विचित्रोल्लसद्-
ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितः त्रुट्यन्पशुर्नश्यति।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया, भेदभ्रमं ध्वंसय-
न्नेकं ज्ञानमबाधिताऽनुभवनं, पश्यत्यनेकान्तवित्॥ ३॥

॥ अर्थ॥ पशु कहिये अज्ञानी सर्वथा एकांतवादी है सो ज्ञान का स्वभाव[१], वाह्य ज्ञेयपदार्थ का ग्रहणरूप है, ताके भर तैं समस्त अनेक उदय भये, प्रगट ज्ञान मैं आये जे ज्ञेयनि के आकार, तिनि करि खंड खंड विगडी है शक्ति जाकी, अैसा भया संता सामस्त्यपणैं करि तूटता खंड खंड होता आप नाश कूं प्राप्त होय है॥ वहुरि अनेकांत का जाननेंवाला है सो सदा उदयरूप जो ज्ञान का एकद्रव्यपणां,

---

भावार्थ – जो वस्तु अपने स्वरूप से तत्स्वरूप है, वही वस्तु पर के स्वरूप से अतत्स्वरूप है; इस प्रकार स्याद्वादी देखता है, अतः ज्ञान भी अपने स्वरूप से तत्स्वरूप है। यद्यपि वह ज्ञान, परज्ञेयों के आकाररूप हुआ है तथापि उनसे भिन्न है; अतः अतत्स्वरूप है। लेकिन एकान्तवादी, ज्ञान को समस्त वस्तुओं के स्वरूपवाला मान कर, स्वयं को उन ज्ञेयमयी मान कर, अज्ञानी होता हुआ, पशुओं की तरह स्वछन्द प्रवर्तता है; इस प्रकार यह **अतत्स्वरूप** का भङ्ग है।

पुनः कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

खण्ड-खण्ड होकर नष्ट होता, स्वयं अज्ञानी पशु॥
छिन्न-भिन्न हो चहुँ ओर से, बाह्यार्थ के परिग्रहण से।
एकत्व के परिज्ञान से, भ्रमभेद जो परित्याग दें।
वे स्याद्वादी जगत् में, एकत्व का अनुभव करें॥ २५०॥

अर्थ – पशु अर्थात् अज्ञानी सर्वथा एकान्तवादी, [ऐसा मानता है कि] ज्ञान का स्वभाव, बाह्य ज्ञेयपदार्थों को ग्रहण करने का है, उसके अतिशय से समस्त अनेक ज्ञेयों के आकार [ज्ञान में] उदित होते हैं अर्थात् प्रगटरूप से ज्ञान में आते हैं, जिससे ज्ञान की शक्ति खण्ड-खण्ड होकर बिगड़ जाती है; इस प्रकार वह सम्पूर्णरूप से टूटते हुए अर्थात् खण्ड-खण्ड होते हुए, स्वयं नाश को प्राप्त होता

---

१. *भाव* - 'ब' प्रति पाठ

तिस करि ज्ञेयनि के आकार होनें तैं भया जो सर्वथा भेद का भ्रम, ताहि दूरि करता संता निर्बाध अनुभवनस्वरूप ज्ञान कूं एक देषै है॥

॥ भावार्थ ॥ ज्ञान है सो ज्ञेयनि के आकार परिणमनें तैं अनेक दीषै है, ताकूं सर्वथा एकांतवादी अनेक खंडखंडरूप देषता संता ज्ञानमयी जो आपा, ताका नाश करै है॥ अर स्याद्वादी, ज्ञान कूं ज्ञेयाकार भया है, तौऊ सदा उदयरूप द्रव्यपणां करि एक देषै है॥ यह एकस्वरूप भंग है॥ छ॥

पुनः॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति, प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि, ज्ञानं पशुर्नेच्छति।
वैचित्र्येप्यविचित्रतामुपगतं, ज्ञानं स्वतः क्षालितं,
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन्, पश्यत्यनेकान्तवित्॥ ४॥

॥ अर्थ ॥ पशु अज्ञानी सर्वथा एकांतवादी है सो ज्ञेयनि के आकारनि करि कलंक करि अनेकाकाररूप मलिन जो चैतन्य, ता विषै एक चैतन्यमात्र आकार करनें की इच्छा करि, प्रक्षालन कहिये धोवनां कल्पता संता, ज्ञान अनेकाकार प्रगट है तौऊ ताकूं नाही मानैं है, एकाकार ही मानि

है। लेकिन अनेकान्त को जाननेवाला, सदा उदयरूप रहनेवाले ज्ञान के एकद्रव्यपने से अर्थात् उसका आश्रय लेकर ज्ञेयों के आकाररूप होने के कारण उत्पन्न सर्वथा भेद के भ्रम को दूर करता हुआ, निर्बाध अनुभव में आनेवाले ज्ञान को 'एक' देखता है।

भावार्थ – ज्ञान, ज्ञेयों के आकाररूप परिणमने के कारण अनेक दिखता है, उसे सर्वथा एकान्तवादी, अनेक खण्ड-खण्डरूप देखता हुआ, ज्ञानमयी आत्मा के स्वरूप का नाश करता है। लेकिन स्याद्वादी, ज्ञान को ज्ञेयाकाररूप होने पर भी सदा उदयरूप रहनेवाले द्रव्यपने के कारण एक देखता है; इस प्रकार यह **एकस्वरूप** का भङ्ग है।

पुनः कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

जो मैल ज्ञेयाकार का, धो डालने के भाव से।
स्वीकृत करें एकत्व को, एकान्त से वे नष्ट हों॥
अनेकत्व को जो जान कर भी, एकता छोड़े नहीं।
वे स्याद्वादी स्वतःक्षालित, तत्त्व का अनुभव करें॥ २५१॥

अर्थ – पशु अर्थात् अज्ञानी सर्वथा एकान्तवादी, ज्ञेयाकारों के कलङ्क से अनेकाकाररूप मलिन चैतन्य में, एक चैतन्यमात्र आकार को करने [या देखने] की इच्छा से, [ज्ञान का] प्रक्षालन अर्थात्

ज्ञान का अभाव करै है॥ वहुरि अनेकांत का जाननेंवाला है सो ज्ञेयाकार करि ज्ञान कै विचित्रपणां है तौऊ एकपणां कूं प्राप्त ज्ञान है सो आप स्वयमेव प्रक्षाल्या हूवा शुद्ध है, एकाकार है अर पर्यायनि करि ताकै अनेकता कूं अनुभवै है॥

॥ भावार्थ॥ एकांतवादी तौ ज्ञान विषै ज्ञेयाकार कूं मैल जाणि एकाकार करनें कूं ज्ञेयाकार कूं धोय दूरि करि, ज्ञान का नाश करै है॥ वहुरि अनेकांती, ज्ञान कूं स्वरूप करि स्वयमेव एकाकार मानैं है अर ज्ञान कै पर्यायनि करि अनेकाकारपणां मानैं है सो अैसैं वस्तुस्वभाव है सो सत्यार्थ है॥ अैसैं अनेकस्वरूप भंग है॥

पुनः॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपर-द्रव्यास्तितावञ्चितः,
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः, शून्यः पशुर्नश्यति।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं, सद्यः समुन्मज्जता,
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा, पूर्णो भवन् जीवति॥ ५॥

॥ अर्थ॥ पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो प्रत्यक्षप्रमाण करि आलिखित कहिये चितर्‍या हूवा

उसे धोने की कल्पना करता हुआ, यद्यपि अनेकाकार ज्ञान प्रगट है तथापि उसे नहीं मानता है, एकाकार को ही मान कर, ज्ञान का अभाव करता है। लेकिन अनेकान्त को जाननेवाला, यद्यपि ज्ञेयाकार के कारण ज्ञान में विचित्रता है तथापि एकत्व को प्राप्त होने से वह ज्ञान, स्वयं स्वयमेव धुला हुआ शुद्ध है, एकाकार है और वह पर्यायों से उसकी 'अनेकता' का अनुभव करता है।

भावार्थ – एकान्तवादी तो ज्ञान में ज्ञेयाकारों को मैल जानकर, [ज्ञान को] एकाकार करने के लिए ज्ञेयाकारों को धोकर, दूर कर ज्ञान का नाश करता है। लेकिन अनेकान्तवादी, ज्ञान को स्वरूप से स्वयमेव एकाकार मानता है एवं ज्ञान में पर्यायों से अनेकाकारपना भी मानता है – ऐसा वस्तुस्वभाव सत्यार्थ है; इस प्रकार यह **अनेकस्वरूप** का भङ्ग है।

पुनः कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

इन्द्रियों से जो दिखे – ऐसे तनादि पदार्थ में।
एकत्व कर हों नष्ट जन, निजद्रव्य को देखें नहीं॥
निजद्रव्य को जो देख कर, निजद्रव्य में ही रत रहें।
वे स्याद्वादी ज्ञान से, परिपूर्ण हो जीवित रहें॥ २५२॥

अर्थ – पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, प्रत्यक्ष-प्रमाण से आलिखित अर्थात् चित्र-विचित्र

दीषता स्फुट प्रगट स्थूल अर स्थिर कहिये निश्चल अैसा परद्रव्य कूं देषि, तिसका अस्तित्व करि ठिग्या हूवा अपनां निज आत्मद्रव्य का अस्तित्व नाहीं देषनें करि सामस्त्यपणैं सर्वथा शून्य होता आपा का नाश करै है॥ वहुरि स्याद्वादी है सो अपनां निजद्रव्य का अस्तित्वपणां[१] करि निपुण जैसैं होय, तैसैं निज आत्मद्रव्य का निरूपण करि तत्काल प्रगट होता जो विशुद्ध ज्ञानरूप तेज, ता करि पूर्ण होता संता जीवै है, नष्ट न होय है॥

॥ भावार्थ॥ एकांती वाह्य परद्रव्य कूं प्रत्यक्ष देषि ताही का अस्तित्व मान्यां अर अपनां आत्मद्रव्य इन्द्रियप्रत्यक्ष करि दीष्या नाही, ताकूं शून्य मानि आत्मा का नाश करै है॥ वहुरि स्याद्वादी ज्ञानरूप तेज करि अपनां आत्मद्रव्य का अस्तित्व नींकै[२] अवलोकन करि आप जीवै है, आपा का नाश नाही करै है, यह स्वद्रव्य अपेक्षा अस्तित्व का भंग है॥

पुनः॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं, दुर्वासनावासितः,
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल पर-द्रव्येषु विश्राम्यति।

दीखनेवाले, स्फुट अर्थात् प्रगट स्थूल और स्थिर अर्थात् निश्चल परद्रव्यों को देख कर, उनके अस्तित्व के कारण ठगाया हुआ, अपने निज आत्मद्रव्य के अस्तित्व को नहीं देखने के कारण, सम्पूर्णरूप से सर्वथा शून्य होता हुआ, अपनी आत्मा का नाश करता है। लेकिन स्याद्वादी, अपने निजद्रव्य के अस्तित्वपने में जैसे निपुण हों, वैसे निज आत्मद्रव्य का निरूपण कर, तत्काल प्रगट होनेवाले विशुद्ध ज्ञानरूप तेज से पूर्ण होता हुआ जीता है, नष्ट नहीं होता है।

भावार्थ – एकान्ती, बाह्य परद्रव्यों को प्रत्यक्ष देख कर, उनका ही अस्तित्व मानता है और अपना आत्मद्रव्य, इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं दीखता; अतः उसे शून्य मानकर, आत्मा का नाश करता है। लेकिन स्याद्वादी, ज्ञानरूप तेज से अपने आत्मद्रव्य के अस्तित्व को भलीभाँति अवलोकन करके स्वयं जीता है, अपनी आत्मा का नाश नहीं करता है; इस प्रकार यह **स्वद्रव्य की अपेक्षा अस्तित्व** का भङ्ग है।

पुनः कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

'सब द्रव्यमय निज आतमा', यह कुनय की दुर्वासना।
बस! रत रहें परद्रव्य में, स्वद्रव्य के भ्रमबोध से॥
परद्रव्य के नास्तित्व को, स्वीकार कर सब द्रव्य में।
निजज्ञान बल से स्याद्वादी, रत रहें निजद्रव्य में॥ २५३॥

अर्थ – पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, वह पुरुष अर्थात् आत्मा को सर्वद्रव्यमयी एक

---

१. *अस्तिपणां* - 'ब' प्रति पाठ २. *के* - 'ब' प्रति पाठ

स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु पर-द्रव्यात्मना नास्तितां,
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा, स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥ ६ ॥

॥ अर्थ ॥ पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो पुरुष जो आत्मा, ताकूं सर्वद्रव्यमयी एक कल्पि करि अर कुनय की वासनां करि वासित हूवा प्रगट परद्रव्य विषै स्वद्रव्य का भ्रम करि विश्राम करै है। वहुरि स्याद्वादी है सो समस्त ही वस्तु विषै परद्रव्यस्वरूप करि नास्तिता कूं जानता संता निर्मल है शुद्धज्ञान की महिमा जाकै, अैसा हूवा स्वद्रव्य ही कूं आश्रय करै है॥

॥ भावार्थ ॥ एकांतवादी तौ सर्वद्रव्यमयी एक आत्मा कूं मानि परद्रव्य अपेक्षा नास्तिता है, ताका लोप करै है अर स्याद्वादी समस्त विषै परद्रव्य अपेक्षा नास्तिता मानि अपनां निजद्रव्य मैं रमै है॥ यह परद्रव्य अपेक्षा नास्तिता का भंग है॥

पुनः ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

भिन्नक्षेत्रनिषण्ण[१]बोध्यनियत-व्यापारनिष्ठः सदा,
सीदत्येव वहिः पतन्तमभितः, पश्यन्पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः, स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियत-व्यापारशक्तिर्भवन् ॥ ७ ॥

॥ अर्थ ॥ पशु अज्ञानी एकांतवादी है, सो भिन्नक्षेत्र विषै तिष्ठ्या जे ज्ञेयपदार्थ, तिनि विषै

कल्पित करके, कुनय की वासना से वासित होकर, प्रगट परद्रव्य में स्वद्रव्य का भ्रम करके विश्राम करता है। लेकिन स्याद्वादी, समस्त ही वस्तुओं में परद्रव्यस्वरूप की अपेक्षा नास्ति जानता हुआ, निर्मल शुद्धज्ञान की महिमा भाता हुआ, स्वद्रव्य ही का आश्रय करता है।

भावार्थ – एकान्तवादी तो सर्वद्रव्यमयी एक आत्मा को मान कर, परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व का लोप करता है। लेकिन स्याद्वादी समस्त [द्रव्यों] में परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व मान कर, अपने निजद्रव्य में रमता है; इस प्रकार यह **परद्रव्य की अपेक्षा नास्तित्व** का भङ्ग है।

पुनः कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

परक्षेत्रव्यापी ज्ञेय-ज्ञायक, आतमा परक्षेत्रमय।
यह मान कर निजक्षेत्र का, अपलाप करते अज्ञजन॥
जो जान कर परक्षेत्र को, परक्षेत्रमय होते नहीं।
वे स्याद्वादी निजरसी, निजक्षेत्र में जीवित रहें॥ २५४॥

---

१. *निषन्न* – 'अ' 'ब' प्रति पाठ

ज्ञेयज्ञायक संबंधरूप निश्चित व्यापार देषि तिष्ठ्या[1] हूवा संता पुरुष कूं सामस्त्यपणैं वाह्य ज्ञेयनि विषै ही पडता संता कूं देषता संता, कष्ट ही कूं प्राप्त होय है॥ वहुरि स्याद्वाद का जाननेंवाला है सो अपनें क्षेत्र विषै अपनां अस्तिपणां करि रोक्या है अपनां रस[2] जानैं, अैसा भया संता आत्मा ही विषै आकाररूप भये जे ज्ञेय, तिनिका निश्चित व्यापार की शक्तिरूप होता संता, अपनें क्षेत्र ही विषै अस्तित्वरूप तिष्ठै है॥

॥ भावार्थ॥ एकांतवादी तौ भिन्नक्षेत्र विषै ज्ञेयपदार्थ तिष्ठैं है, तिनिके जाननें के व्यापाररूप होता पुरुष कों वाह्य पडता ही मानि नष्ट करै है॥ वहुरि स्याद्वादी, अपनां क्षेत्र विषै ही तिष्ठ्या पुरुष, अन्यक्षेत्र विषै तिष्ठते ज्ञेयनि कूं जानता संता, अपनें क्षेत्र ही विषै अस्तित्व कूं धारै है, अैसा मानता संता आत्मा ही विषै तिष्ठै है॥ यह स्वक्षेत्र विषै अस्तित्व का भंग है॥

पुनः॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपर-क्षेत्रस्थिताऽर्थोज्झनात्,
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि पर-क्षेत्रे विदन्नास्तितां,
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान्[3]॥ ८॥

अर्थ – पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, भिन्न क्षेत्र में स्थित ज्ञेय पदार्थों में ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्धरूप निश्चित व्यापार को देख कर, स्थित हुए पुरुष (आत्मा) को समस्तरूप से बाह्य पदार्थों में ही गिरता हुआ देख कर कष्ट ही को प्राप्त होता है। लेकिन स्याद्वाद को जाननेवाला, अपने क्षेत्र में अपने अस्तित्व से ही अपने रस को रोक कर, आत्मा ही में आकाररूप हुए ज्ञेयों [को जानने] के निश्चित व्यापार की शक्तिरूप होता हुआ, अपने ही क्षेत्र में अस्तित्वरूप से स्थित रहता है।

भावार्थ – एकान्तवादी तो भिन्न क्षेत्र में स्थित ज्ञेय पदार्थों को जानने के व्यापाररूप होते हुए पुरुष आत्मा को बाह्य में ही गिरता हुआ मान कर, आत्मा को नष्ट करता है। लेकिन स्याद्वादी, अपने क्षेत्र में ही स्थित आत्मा को अन्य क्षेत्र में स्थित ज्ञेयों को जानता हुआ भी अपने क्षेत्र में ही अस्तित्व को धारण करता है – ऐसा मानता हुआ आत्मा ही में स्थित रहता है; इस प्रकार यह **स्वक्षेत्र की अपेक्षा अस्तित्व** का भङ्ग है।

पुनः कहते हैं —

॥ हरिगीतिका॥

मैं तो रहूँ निजक्षेत्र में, इस भाव से परक्षेत्रगत।
जो ज्ञेय उनके साथ ज्ञायक-भाव भी परित्याग कर॥

---

१. *तिष्ठ्या-संता* – 'ब' प्रति पाठ २. *रभस* – 'ब' प्रति पाठ ३. *परात्* – 'अ' 'ब' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो अपनां क्षेत्र विषै तिष्ठनें कै अर्थि, न्यारे न्यारे परक्षेत्र विषै तिष्ठते ज्ञेयपदार्थ, तिनिके छोडनें तैं तुच्छ होय करि अपनें चैतन्य के ज्ञेयरूप आकारनि कूं परज्ञेय अर्थ की साथि वमता संता, जैसैं अर्थनि कूं छोडे, तैसैं चैतन्य के आकारनि कूं भी छोडे, तव आपा तुच्छ रह्या ॥ अैसैं आपका नाश करै है ॥ वहुरि स्याद्वादी अपनें क्षेत्र विषै वसता संता परक्षेत्र विषै अपनीं नास्तिता कूं जानता संता, यद्यपि परज्ञेयपदार्थनि कूं छोडै है, तौऊ अपनें चैतन्य के ज्ञेयरूप आकार भये, तिनिकूं पर तैं षैचनेंवाला होता तुच्छता कूं नाही अनुभवै है, नष्ट नाही होय है ॥

॥ भावार्थ ॥ एकांती तौ परक्षेत्र विषै तिष्ठते ज्ञेयपदार्थनि के आकार चैतन्य के आकार भये तिनिकूं जैसैं अर्थनि कूं छोडै है, तैसैं चैतन्य के आकारनि कूं भी छोडै है, अैसैं जानै है जो चैतन्य के आकारनि कूं अपनां करूंगा तौ अपनां क्षेत्र छूटि जायगा, तातैं आप चैतन्य के आकाररहित होय तुच्छ होय है, नष्ट होय है। वहुरि स्याद्वादी ज्ञेयपदार्थनि कूं छोडै है, तौऊ अपनें चैतन्य के आकारनि कूं नाहीं छोडै है। अपनें क्षेत्र विषै वसता, परक्षेत्र विषै अपनी नास्तिता कूं जानता, तुच्छ नाही होय है, नष्ट नाही होय है ॥ यह परक्षेत्र अपेक्षा नास्तिता का भंग है ॥

पुनः ॥

हों तुच्छता को प्राप्त शठ, पर ज्ञानिजन परक्षेत्रगत।
रे! छोड़ कर सब ज्ञेय वे, निजक्षेत्र को छोड़ें नहीं॥ २५५॥

अर्थ – पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, अपने क्षेत्र में स्थित रहने के लिए, परक्षेत्र में स्थित भिन्न-भिन्न ज्ञेय पदार्थों को छोड़ने के कारण तुच्छ होकर, अपने चैतन्य के ज्ञेयरूप आकारों को भी परज्ञेय पदार्थों के साथ वमन करता (छोड़ता) हुआ; जैसे, परपदार्थों को छोड़ता है, वैसे ही चैतन्य के आकारों को छोड़ता है; अत: आत्मा को तुच्छ करता हुआ अपना नाश करता है। लेकिन स्याद्वादी, अपने क्षेत्र में रहता हुआ, परक्षेत्र में अपने नास्तित्व को जानता हुआ, यद्यपि परज्ञेय पदार्थों को छोड़ता है, तथापि अपने चैतन्य के ज्ञेयरूप हुए आकारों को पर से खींचनेवाला होकर (स्वयं ज्ञेयाकाररूप होकर) तुच्छता का अनुभव नहीं करता है, नष्ट नहीं होता है।

भावार्थ – परक्षेत्र में स्थित ज्ञेय पदार्थों के आकाररूप चैतन्य के आकार होते हैं, वहाँ एकान्ती जैसे, परपदार्थों को छोड़ता है, वैसे चैतन्य के आकारों को भी छोड़ता है। वह ऐसा जानता है कि यदि चैतन्य में हुए आकारों (ज्ञेयाकारों) को अपनाऊँगा तो अपना क्षेत्र छूट जाएगा; अत: स्वयं चैतन्य के आकारों से रहित होकर तुच्छ होता है, नष्ट होता है। लेकिन स्याद्वादी, यद्यपि ज्ञेय पदार्थों को छोड़ता है, तथापि अपने चैतन्य के आकारों को नहीं छोड़ता है; वह अपने क्षेत्र में रहता हुआ, परक्षेत्र में अपने नास्तित्व को जानता हुआ, तुच्छ नहीं होता है, नष्ट नहीं होता है; इस प्रकार यह **परक्षेत्र की अपेक्षा नास्तित्व** का भङ्ग है।

पुनः कहते हैं —

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये, ज्ञानस्य नाशं विदन्,
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छः पशुः।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन्, स्याद्वादवेदी पुनः,
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि॥ ९॥

॥ अर्थ ॥ पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो पूर्वकाल मैं आलंवे जे ज्ञेयपदार्थ, तिनिका नाश होनें कै समय विषै, ज्ञान का भी नाश कूं जानता संता, किछू भी नाही जानता संता, तुच्छ भया नाश कूं प्राप्त होय है॥ वहुरि स्याद्वाद का वेदी है सो इस आत्मा का अपनें काल तैं अस्तित्व कूं जानता संता वाह्य वस्तु वारवार होय करि नष्ट होतैं संतैं भी आप पूर्ण ही तिष्ठै है॥

॥ भावार्थ ॥ पहलैं ज्ञेयपदार्थ जानें थे, उत्तरकाल मैं विनशि गये, तिनि कूं देषि एकांती अपनां ज्ञान का भी नाश मानि अज्ञानी हूवा आत्मा का नाश करै है॥ वहुरि स्याद्वादी ज्ञेयपदार्थनि कूं नष्ट होतैं भी अपनां अस्तित्व अपनां ही काल तैं मानता नष्ट न होय है॥ यह स्वकाल अपेक्षा अस्तित्व का भंग है॥ छ॥

पुनः ॥

॥ हरिगीतिका ॥

निजज्ञान के अज्ञान से, गत काल में जाने गये।
जो ज्ञेय उनके नाश से, निज नाश मानें अज्ञजन॥
नष्ट हों परज्ञेय पर, ज्ञायक सदा कायम रहे।
'निजकाल से अस्तित्व है' – यह जानते हैं विज्ञजन॥ २५६॥

अर्थ – पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, पूर्व काल में अवलम्बन किये गए ज्ञेय पदार्थों का नाश होने के समय, ज्ञान का भी नाश जानता हुआ, कुछ भी नहीं जानता हुआ, तुच्छ होकर नाश को प्राप्त होता है। लेकिन स्याद्वाद का ज्ञाता, इस आत्मा का अपने काल (स्वकाल) से अस्तित्व को जानता हुआ, बाह्य वस्तुएँ बार-बार होकर नष्ट होते हुए भी, स्वयं पूर्ण ही रहता है।

भावार्थ – पहले जिन ज्ञेय पदार्थों को जाना था, बाद में उनके विनष्ट हो जाने पर, उनको देख कर एकान्ती, अपने ज्ञान का भी नाश मान कर, अज्ञानी होता हुआ, आत्मा का नाश करता है। लेकिन स्याद्वादी, ज्ञेय पदार्थों के नष्ट हो जाने पर भी, अपना अस्तित्व अपने ही काल से मानता हुआ, नष्ट नहीं होता है; इस प्रकार यह **स्वकाल की अपेक्षा अस्तित्व** का भङ्ग है।

पुनः कहते हैं —

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

अर्थालम्बनकाल एव कलयन्, ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा, भ्राम्यन् पशुर्नश्यति।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन्, स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहज-ज्ञानैकपुञ्जीभवन्॥ १०॥

॥ अर्थ॥ पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो ज्ञेयपदार्थ के आलंवन कै काल ही ज्ञान का अस्तित्व जानता संता वाह्य ज्ञेय का आलंवन विषै चित्त कूं अनुरागसहित करि अर वाह्य भ्रमता संता नाश कूं प्राप्त होय है॥ वहुरि स्याद्वाद का वेदी है सो परकाल तैं अपनां आत्मा का नास्तित्व कूं जानता संता, आत्मा विषै उकीर्‍या जो नित्य स्वाभाविक एक ज्ञान का पुंज, तिस स्वरूप होता संता तिष्ठै है, नष्ट न हो है॥

॥ भावार्थ॥ एकांती तौ ज्ञेय के आलंवन कै काल ही ज्ञान का सत्त्व जानै है सो ज्ञेय के आलंवन विषै मन लगाय, वाह्य भ्रमता संता नष्ट होय है॥ वहुरि स्याद्वादी ज्ञेय के काल तैं अपनां अस्तित्व नाही जानैं है, अपनें ही काल तैं अपनां अस्तित्व जानैं है, तातैं ज्ञेय तैं न्यारा ही अपनां ज्ञान का पुंजरूप होता नष्ट न होय है॥ यह परकाल अपेक्षा नास्तित्व का भंग है॥ छ॥

पुनः॥

॥ हरिगीतिका ॥

अर्थावलम्बन–काल में ही, ज्ञान का अस्तित्व है।
यह मान कर परज्ञेयलोभी, लोक में आकुल रहें॥
परकाल से नास्तित्व लख कर, स्याद्वादी विज्ञजन।
ज्ञानमय आनन्दमय, निज आतमा में दृढ़ रहें॥ २५७॥

अर्थ – पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, ज्ञेय पदार्थों के अवलम्बन के काल में ही ज्ञान का अस्तित्व जानता हुआ, बाह्य ज्ञेयों के अवलम्बन में चित्त को अनुरागसहित बाह्य में भ्रमाता हुआ, नाश को प्राप्त होता है। लेकिन स्याद्वाद का ज्ञाता, परकाल से अपनी आत्मा के नास्तित्व को जानता हुआ, आत्मा में उत्कीर्ण हुए नित्य स्वाभाविक एक ज्ञान के पुञ्जस्वरूप होता हुआ, स्थित रहता है, नष्ट नहीं होता है।

भावार्थ – एकान्तवादी तो ज्ञेय के अवलम्बन के काल में ही ज्ञान का सत्त्व (अस्तित्व) जानता है; अत: ज्ञेयों के अवलम्बन में ही मन लगा कर, बाहर भ्रमता हुआ नष्ट होता है। लेकिन स्याद्वादी, परज्ञेय के काल (परकाल) से अपना अस्तित्व नहीं जानता है, अपने ही काल (स्वकाल) से अपना अस्तित्व जानता है; अत: ज्ञेयों से भिन्न ही अपने ज्ञान के पुञ्जरूप होता हुआ, नष्ट नहीं होता है; इस प्रकार यह **परकाल की अपेक्षा नास्तित्व** का भङ्ग है।

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु,
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतनः।
सर्वस्मिन्नियतस्वभावभवन-ज्ञानाद्विभक्तो भवन्,
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहज-स्पष्टीकृतप्रत्ययः॥ ११॥

॥ अर्थ ॥ पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो परभाव कूं ही अपनां भाव जाननें तैं वाह्यवस्तुनि विषै विश्राम करता संता अपनां स्वभाव की महिमा विषै एकांत करि निश्चेतन भया, जड होता संता आप नाश कूं प्राप्त होय है॥ वहुरि स्याद्वादी है सो सर्व ही वस्तुनि विषै अपनां निश्चित नियमरूप जो स्वभावभाव का भवनस्वरूप ज्ञान, तातैं सर्व तैं न्यारा होता संता सहजस्वभाव का स्पष्ट प्रत्यक्ष अनुभवरूप कीया है प्रत्यय कहिये प्रतीतिरूप जानपनां जानैं, अैसा भया नाश कूं प्राप्त नाही होय है॥

॥ भावार्थ ॥ एकांती तौ परभाव कूं निजभाव जानि वाह्य वस्तु ही विषै विश्राम करता संता आत्मा का नाश करै है। वहुरि स्याद्वादी अपनां ज्ञानभाव यद्यपि ज्ञेयाकार होय है, तथापि ज्ञान ही कूं अपनां भाव जानता संता आपा का नाश नाही करै है॥ यह अपनां भाव की अपेक्षा अस्तित्व का भंग है॥ छ॥

पुनः कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

परभाव से निजभाव का, अस्तित्व मानें अज्ञजन।
पर में रमें जग में भ्रमें, निज आतमा को भूल कर॥
पर भिन्न हों परभाव से, ज्ञानी रमें निजभाव में।
बस! इसलिए इस लोक में वे, सदा ही जीवित रहें॥ २५८॥

अर्थ – पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, परभाव को ही अपना भाव जानने के कारण, बाह्य वस्तुओं में ही विश्राम करता हुआ, अपने स्वभाव की महिमा [के सम्बन्ध] में एकान्त से निश्चेतन (अनभिज्ञ) होकर जड़ होता हुआ, नाश को प्राप्त होता है। लेकिन स्याद्वादी, सर्व ही वस्तुओं में अपने निश्चित नियमरूप स्वभाव-भाव के भवनस्वरूप ज्ञान के कारण, सर्व से भिन्न होता हुआ, सहजस्वभाव के स्पष्ट प्रत्यक्ष अनुभवरूप प्रत्यय अर्थात् प्रतीतिरूप जानपना प्राप्त करता हुआ, नाश को प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ – एकान्तवादी तो परभाव को निजभाव जान कर, बाह्य वस्तुओं ही में विश्राम करता हुआ, आत्मा का नाश करता है। लेकिन स्याद्वादी, अपने ज्ञानभाव को ज्ञेयाकाररूप होने पर भी ज्ञान ही को अपना भाव जानता हुआ, अपनी आत्मा का नाश नहीं करता है; इस प्रकार यह **स्वभाव की अपेक्षा अस्तित्व** का भङ्ग है।

पुनः ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं, शुद्धस्वभावच्युतः,
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः, स्वैरं पशुः क्रीडति।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति, स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढः परभावभावविरह-व्यालोकनिष्कम्पितः ॥ १२ ॥

॥ अर्थ ॥ पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो अपनें आत्मा विषै सर्व ज्ञेयपदार्थनि का होनां निश्चय करि अर शुद्ध ज्ञानस्वभाव तैं च्युत भया संता सर्व पदार्थनि विषै निशंक वर्जनारहित स्वेच्छाचारी भया क्रीडा करै है, अपनां भाव का लोप करै है ॥ वहुरि स्याद्वादी है सो अपनां ही भाव विषै सर्वथा आरूढ भया परभाव का अपनें भाव विषै अभाव का प्रगटपणां है, ता करि निश्चल भया शुद्ध ही सोभायमान है ॥

॥ भावार्थ ॥ एकांती तौ परभावनि कूं आपा जानि अपनें शुद्धस्वभाव सूं च्युत भया सर्वत्र निशंक स्वेच्छा तैं प्रवर्त्तै है। वहुरि स्याद्वादी परभावनि कूं जानैं है, तौऊ तिनितैं न्यारा अपनां आपा कूं शुद्ध ज्ञानस्वभाव संता सोभै है ॥ यह परभाव अपेक्षा नास्तित्व का भंग है ॥ छ ॥

पुनः कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

'सब ज्ञेय ही हैं आतमा' – यह मान कर स्वच्छन्द हों।
परभाव में ही नित रमें बस!, इसलिए ही नष्ट हों॥
पर स्याद्वादी तो सदा, आरूढ़ हैं निजभाव में।
विरहित सदा परभाव से, विलसें सदा निष्कम्प हो॥ २५९॥

अर्थ – पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, अपनी आत्मा में सर्व ज्ञेय पदार्थों के होने का निश्चय करके, शुद्ध ज्ञानस्वभाव से च्युत होता हुआ, सर्व पदार्थों में निःशङ्क बाधारहित स्वेच्छाचारी होकर क्रीड़ा करता है और अपने भाव का लोप करता है। लेकिन स्याद्वादी, अपने भाव में सर्वथा आरूढ़ होकर, परभाव का अपने भाव में स्पष्टतया अभाव होने के कारण निश्चल होता हुआ, शुद्ध ही शोभायमान होता है।

भावार्थ – एकान्तवादी तो परभावों को अपना जान कर, अपने शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ, सर्वत्र निःशङ्कतया स्वच्छन्द प्रवर्तता है। लेकिन स्याद्वादी, परभावों को जानता हुआ भी उनसे भिन्न अपने आत्मा को शुद्ध ज्ञानस्वभावरूप करता हुआ शोभित होता है; इस प्रकार यह **परभाव की अपेक्षा नास्तित्व** का भङ्ग है।

पुनः ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

प्रादुर्भावविराममुद्रितवहन्[१], ज्ञानांशनानात्मना,
निर्ज्ञानात् क्षणभङ्गसङ्गपतितः, प्रायः पशुर्नश्यति।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं,
टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिम-ज्ञानं भवन् जीवति॥ १३ ॥

॥ अर्थ ॥ पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो उत्पाद व्यय करि चिह्नित[२] प्राप्त होता जो ज्ञान, ताके अंशनि करि नानास्वरूप का निर्णय का ज्ञान तैं क्षणभंग का संग मैं पड्या वाहुल्यपणैं आपा का नाश करै है॥ वहुरि स्याद्वादी है सो चैतन्यस्वरूप करि चैतन्यवस्तु कूं नित्य उदयरूप अनुभवता संता टंकोत्कीर्ण घनस्वभाव है महिमा जाकी, अैसा ज्ञानरूप होता संता जीवै है, आपा का नाश नाही करै है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ एकांती तौ ज्ञेय के आकारवत् ज्ञान कूं उपजता विनशता देषि अर क्षणभंग की संगतिवत् आपा का नाश करै है॥ वहुरि स्याद्वादी है सो ज्ञान ज्ञेय की साथि उपजै विनशै है, तौऊ चैतन्यभाव का नित्य उदय अनुभवता संता ज्ञानी होता जीवै है, आपा का नाश नाही करै है॥ यह नित्यपणां का भंग है॥ छ॥

पुनः कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

उत्पाद-व्यय के रूप में, बहते हुए परिणाम लख।
क्षणभङ्ग के पड़ सङ्ग निज का, नाश करते अज्ञजन॥
चैतन्यमय निज आतमा, क्षणभङ्ग है पर नित्य भी।
– यह जानकर जीवित रहें, नित स्याद्वादी विज्ञजन॥ २६०॥

अर्थ – पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, उत्पाद-व्यय से चिह्नित अर्थात् लक्षित या प्राप्त होनेवाले ज्ञान के अंशों से नाना (अनेक) स्वरूप के निर्णयात्मक ज्ञान के द्वारा क्षणभङ्गुरता के साथ पड़ा हुआ, प्रायः अपनी आत्मा का नाश करता है। लेकिन स्याद्वादी, चैतन्यस्वरूप से चैतन्यवस्तु को नित्य उदयरूप अनुभव करता हुआ, जिसकी महिमा टङ्कोत्कीर्ण घनस्वभावमय है – ऐसे ज्ञानरूप होता हुआ जीता है, अपनी आत्मा का नाश नहीं करता है।

भावार्थ – एकान्ती तो ज्ञेयों के आकार के समान, ज्ञान को उपजता-विनशता देख कर, क्षणभङ्गुर की सङ्गति के समान, अपनी आत्मा का नाश करता है। लेकिन स्याद्वादी, ज्ञेयों के साथ ज्ञान को उपजता-विनशता हुआ देख कर भी चैतन्यभाव का नित्य उदय अनुभव करता हुआ, ज्ञानी होता

---

१. 'अ' 'ब' प्रति पाठ २. *लक्षित* - 'ब' प्रति पाठ

पुनः ॥

॥ शार्दूलविक्रीडित ॥

टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसरा-कारात्मतत्त्वाशया,
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणते-र्भिन्नं पशुः किञ्चन।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं,
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात्॥ १४॥

॥ अर्थ॥ पशु अज्ञानी एकांतवादी है सो टंकोत्कीर्ण निर्मल ज्ञान का फैलावरूप एक आकार जो आत्मतत्त्व, ताकी आशा करि अर आप विषै उछलती जो निर्मल चैतन्य की परिणति, तातैं न्यारा किछू आत्मा कूं चाहै है सो कछू है नाही॥ वहुरि स्याद्वादी है सो नित्य ज्ञान है सो अनित्यता कूं प्राप्त होतैं भी ज्ञान कूं उज्ज्वल दैदीप्यमान चैतन्यवस्तु की प्रवृत्ति के क्रम तैं ज्ञान कै अनित्यता कूं अनुभवता संता ज्ञान कूं अंगीकार करै है॥

॥ भावार्थ॥ एकांती तौ ज्ञान कूं एकाकार नित्य ग्रहण करनें की वांछा करि अर ज्ञानचैतन्य की परिणति उपजै विनशै है, तातैं भिन्न किछू मानैं है सो परिणाम सिवाय परिणामी किछू न्यारा ही है नाही॥ वहुरि स्याद्वादी है सो यद्यपि ज्ञान नित्य है, तौऊ चैतन्य की परिणति क्रम तैं उपजै विनशै

हुआ जीता है, अपनी आत्मा का नाश नहीं करता है; इस प्रकार यह **नित्यत्व** का भङ्ग है।

पुनः कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

है बोध जो टङ्कोत्कीर्ण, विशुद्ध उसकी आश से।
चिद्परिणति निर्मल उछलती, से सतत इनकार कर॥
अज्ञजन हों नष्ट किन्तु, स्याद्वादी विज्ञजन।
अनित्यता में व्याप्त होकर, नित्य का अनुभव करें॥ २६१॥

अर्थ – पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, टङ्कोत्कीर्ण निर्मल ज्ञान के फैलावरूप एकाकार आत्मतत्त्व की आशा करके, स्वयं में उछलती निर्मल चैतन्य की परिणति से कुछ भिन्न [सर्वथा नित्य] आत्मा को चाहता है, किन्तु ऐसा कुछ है नहीं। लेकिन स्याद्वादी, नित्य ज्ञान के अनित्यत्व को प्राप्त होने पर भी ज्ञान को उज्ज्वल दैदीप्यमान चैतन्यवस्तु की प्रवृत्ति के क्रम से, ज्ञान के अनित्यत्व का अनुभव करनेवाला अङ्गीकार करता है।

भावार्थ – एकान्तवादी तो ज्ञान को एकाकार नित्य ग्रहण करने की इच्छा से, ज्ञानचैतन्य की उपजती-विनशती परिणति से भिन्न कुछ [सर्वथा नित्य] मानता है, परन्तु परिणाम के अतिरिक्त परिणामी कुछ भिन्न ही है नहीं। लेकिन स्याद्वादी मानता है कि यद्यपि ज्ञान नित्य है, तथापि चैतन्य

है, ताके क्रम तैं ज्ञान कै अनित्यता मानैं है, वस्तुस्वभाव अैसा ही है॥ यह अनित्यपणां का भंग है॥ छ॥

अव कहै है जो अैसैं अनेकांत है सो जे अज्ञान करि मोही मूढ हैं, तिनिकूं आत्मतत्व कूं ज्ञानमात्र साधतां संतां स्वयमेव अनुभवन मैं आवै है॥

॥ अनुष्टुभ्॥

इत्यज्ञानविमूढानां, ज्ञानमात्रं प्रसाधयन्।
आत्मतत्त्वमनेकान्तः, स्वयमेवानुभूयते॥ १॥[१]

॥ अर्थ॥ अैसैं पूर्वोक्त प्रकार अनेकान्त है सो जे अज्ञान करि प्राणी मूढ भये हैं, तिनिकूं समझावनें कूं आत्मतत्व कूं ज्ञानमात्र साधता संता आपै आप अनुभवगोचर होय है॥

॥ भावार्थ॥ अनादिकाल के प्राणी स्वयमेव तथा एकांतवाद का उपदेश करि आत्मतत्त्व कूं ज्ञान का अनुभवन तैं अनेक प्रकार पक्षपात करि आत्मा का नाश करैं हैं, तिनिकूं समझावनें कूं आत्मा का स्वरूप ज्ञानमात्र ही कहि करि अर तिसकूं अनेकांतस्वरूप प्रगट करि स्याद्वाद तैं दिषाया है सो यह असत्कल्पना नाही है। ज्ञानमात्र वस्तु अनेक धर्मसहित आपै आप अनुभवगोचर प्रत्यक्ष प्रतिभास मैं आवै है सो प्रवीण, पुरुष अपनां आपा की तरफ देषि अनुभव करि देषो। ज्ञान तत्स्वरूप अतत्स्वरूप,

---

की परिणति क्रम से उपजती-विनशती है, उसके क्रम के कारण ज्ञान में अनित्यता भी है, ऐसा ही वस्तुस्वभाव है; इस प्रकार यह **अनित्यत्व** का भङ्ग है।

अब कहते हैं कि इस प्रकार वह अनेकान्त, अज्ञान से मोहित हुए मूढ़ [जीवों] के लिए आत्मतत्त्व को ज्ञानमात्र सिद्ध करता हुआ स्वयमेव अनुभव में आता है -

॥ दोहा॥

मूढ़जनों को इस तरह, ज्ञानमात्र समझाय।
अनेकान्त अनुभूति में, उतरा आतमराय॥ २६२॥

अर्थ – इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से अनेकान्त, अज्ञान के कारण मूढ़ हुए प्राणियों को समझाने के लिए, आत्मतत्त्व को ज्ञानमात्र सिद्ध करता हुआ, अपने आप अनुभवगोचर होता है।

भावार्थ – अनादिकाल से [अज्ञानी] प्राणी स्वयमेव अथवा एकान्तवाद का उपदेश सुन कर, आत्मतत्त्व को ज्ञान के अनुभवन के कारण अनेक प्रकार से पक्षपात उत्पन्न करके आत्मा का नाश करते हैं; उन्हें समझाने के लिए आत्मा का स्वरूप ज्ञानमात्र ही कह कर और उसे स्याद्वाद के द्वारा अनेकान्तस्वरूप प्रगट करके दिखाया है, यह कोई असत्कल्पना भी नहीं है। ज्ञानमात्र वस्तु अनेक धर्मसहित अपने आप अनुभवगोचर प्रत्यक्ष प्रतिभास (अनुभव) में आती है; अतः हे प्रवीण पुरुषों!

---

१. यहाँ एवं इसके बाद के छन्द में वचनिकाकार ने छन्द संख्या में परिवर्तन किया है, उसका विशेष कारण यही समझ में आता है कि अभी तक एकान्तवादियों का खण्डन करनेवाले १४ श्लोकों का प्रकरण था, अब अनेकान्त का मण्डन करनेवाला प्रकरण प्रारम्भ होता है, अतः नवीन छन्द संख्या शुरु की गई है।

एकस्वरूप अनेकस्वरूप, अपनें द्रव्य क्षेत्र काल भाव तैं सत्स्वरूप, पर के द्रव्य क्षेत्र काल भाव तैं असत्स्वरूप, नित्यस्वरूप अनित्यस्वरूप इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवगोचर करि अनेक धर्मस्वरूप प्रतीति मैं ल्यावो, यह ही सम्यक्ज्ञान है, सर्वथा एकांत मानें मिथ्याज्ञान है, अैसा जाननां॥ छ॥

अव अनेकांत की महिमा करै है॥

॥ अनुष्टुभ्॥

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या, स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।
अलङ्घ्यं शासनं जैनं, अनेकान्तो व्यवस्थितः॥ १॥

॥ अर्थ॥ या प्रकार तत्त्व कहिये वस्तु का यथार्थस्वरूप की व्यवस्थिति करि अपनें स्वरूप कूं आप ही स्थापन करता संता अनेकांत है सो व्यवस्थित भया, निश्चत ठहऱ्या॥ सो कैसा है यह, अलंघ्य कहिये काहू करि लंघ्या न जाय, जीत्या न जाय, अैसा जिनदेव का शासन है, मत है, आज्ञा है॥

॥ भावार्थ॥ यह अनेकांत है सो ही निर्वाध जिनमत है सो जैसैं वस्तु का स्वरूप है, तैसैं स्थापता आपै आप सिद्ध भया है। असत्कल्पनां करि वचनमात्र प्रलाप काहू नैं न कह्या है। निपुण पुरुष नीकैं विचारि प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण करि अनुभव करि देषो।

इहां कोई तर्क करै है जो आत्मा अनेकांतमयी है, अनंत धर्मा है, तौऊ ताका ज्ञानमात्रपणां

अपनी आत्मा की तरफ लक्ष्य करके अनुभव करके उसे देखो! तथा ज्ञान को तत्स्वरूप-अतत्स्वरूप, एकस्वरूप-अनेकस्वरूप, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत्स्वरूप, पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत्स्वरूप, नित्यस्वरूप-अनित्यस्वरूप इत्यादिरूप प्रत्यक्ष अनुभवगोचर करके अनेक धर्मस्वरूप प्रतीति में लाओ, यही सम्यग्ज्ञान है और सर्वथा एकान्त मानने से मिथ्याज्ञान होता है – ऐसा जानो।

अब, अनेकान्त की महिमा करते हैं —

॥ दोहा॥

'अनेकान्त' जिनदेव का, शासन रहा अलङ्घ्य।
वस्तु-व्यवस्था स्थाप कर, स्थापित स्वयं प्रसिद्ध॥ २६३॥

अर्थ – इस प्रकार तत्त्व अर्थात् वस्तु के यथार्थस्वरूप को व्यवस्थित करके, अपने स्वरूप को स्वयं ही स्थापित करता हुआ, 'अनेकान्त' व्यवस्थित हुआ, निश्चित हुआ। **कैसा है यह अनेकान्त?** – अलङ्घ्य अर्थात् किसी से लाँघा न जाए, किसी से जीता न जा सके – ऐसा जिनदेव का शासन है, मत है, आज्ञा है।

भावार्थ – यह अनेकान्त ही निर्बाध जिनमत है अर्थात् जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा स्थापित करता हुआ स्वयमेव सिद्ध हुआ है; असत्कल्पना करके किसी ने भी वचनमात्र प्रलाप नहीं किया है। हे निपुण पुरुषों! अच्छी तरह विचार करके, प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण से अनुभव करके उसे देखो!

यहाँ तर्क – आत्मा अनेकान्तमय है, अनन्त धर्मात्मक है, फिर भी उसका ज्ञानमात्रपने से नाम

करि नाम कोंन अर्थि कीया, ज्ञानमात्र कहनें मैं तौ अन्य धर्मनि का निषेध जान्यां जाय है॥

ताका समाधान॥ जो इहां लक्षण की प्रसिद्धि करि लक्ष्य की प्रसिद्धि कै अर्थि आत्मा का ज्ञानमात्रपणां करि नाम कीया है जो आत्मा ज्ञानमात्र है॥ सो ही कहै है॥ आत्मा का ज्ञानलक्षण है, जातैं तिस आत्मा का सो ज्ञान असाधारणगुण है, यहु ज्ञान काहू अन्य द्रव्य मैं पाइए नाही॥ तिस कारण करि इस ज्ञानलक्षण की प्रसिद्धि करि, अर तिस करि[१] लक्ष्य कहिये लषनें योग्य जो आत्मा ताकी प्रसिद्धि होय है, लक्षण होय सो जाकूं वाहुल्यपणैं करि सर्व जाणैं सो होय अर लक्ष्य होय सो जाकूं प्रसिद्ध न जाणिये सो होय, यातैं लक्षण कहे[२] लक्ष्य प्रसिद्ध होय है॥

इहां फेरि तर्क है जो इस लक्षण की प्रसिद्धि करि कहा साध्य है, लक्ष्य ही साधनें योग्य है॥ आत्मा ही कूं साधनां था॥

ताका समाधान जो अप्रसिद्ध है लक्षण जाकै, अैसा अज्ञानी पुरुष कै लक्ष्य की प्रसिद्धि नाही होय है। अज्ञानी कूं पहलैं लक्षण दिषाइए, तव लक्ष्य कूं ग्रहण करै॥ जातैं जाकै लक्षण प्रसिद्ध होय, ताही कै तिस लक्षणस्वरूप लक्ष्य की प्रसिद्धि होय है॥

फेरि पूछै है जो वह लक्ष्य न्यारा ही कहा है, जो ज्ञान की प्रसिद्धि करि तिसतैं न्यारा ही सिद्ध होय है॥

ताका उत्तर जो ज्ञान तैं न्यारा ही तौ लक्ष्य आत्मा नाही है॥ जातैं द्रव्यपणां करि ज्ञान कै अर

किसलिए किया जाता है? ज्ञानमात्र कहने से तो अन्य धर्मों का निषेध जाना जाता है।

उसका समाधान – यहाँ लक्षण की प्रसिद्धि करके, लक्ष्य की प्रसिद्धि करने के लिए आत्मा का ज्ञानमात्रपने से नाम किया जाता है कि 'आत्मा ज्ञानमात्र' है। वही कहते हैं – आत्मा का लक्षण ज्ञान है क्योंकि उस आत्मा का वह असाधारणगुण है। यह ज्ञान किसी भी अन्य द्रव्य में नहीं पाया जाता है; अत: इस 'ज्ञान' लक्षण की प्रसिद्धि कर, उसके द्वारा लक्ष्य अर्थात् देखने[-जानने] योग्य आत्मा की प्रसिद्धि होती है। 'लक्षण' वह होता है, जिसको प्राय: सब जानते हों और 'लक्ष्य' वह होता है, जो प्रसिद्धरूप से जाना जाता न हो; अत: 'लक्षण' कहने से 'लक्ष्य' प्रसिद्ध होता है।

यहाँ पुनः तर्क – इस लक्षण की प्रसिद्धि से क्या साध्य है? लक्ष्य ही साधने योग्य है, अत: आत्मा ही को साधना चाहिए।

समाधान – जिसको लक्षण अप्रसिद्ध है, ऐसे अज्ञानी पुरुष को लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं होती है। अज्ञानी को पहले लक्षण दिखाया जाता है, तब वह लक्ष्य को ग्रहण करता है क्योंकि जिसको लक्षण प्रसिद्ध होता है, उसी को लक्षणस्वरूप लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है।

पुनः प्रश्न – वह भिन्न लक्ष्य क्या है? जो ज्ञान की प्रसिद्धि के द्वारा उससे भिन्न ही सिद्ध होता है।

उसका उत्तर – ज्ञान से भिन्न आत्मा कोई लक्ष्य नहीं है क्योंकि द्रव्यपने से ज्ञान और आत्मा में भेद नहीं है अर्थात् अभेद ही है।

---

१. *ता करि* - 'ब' प्रति पाठ २. *कहतें* - 'ब' प्रति पाठ

आत्मा कै भेद नाही है, अभेद ही है॥

इहां फेरि पूछै है जो ज्ञान आत्मा अभेदरूप है तौ लक्ष्य लक्षण का भेद काहे करि कीया हूवा होय है॥

ताका उत्तर जो प्रसिद्ध करि प्रसाध्यमानपणां है, ता करि कीया भेद है॥ ज्ञान प्रसिद्ध है, जातैं ज्ञानमात्र कै स्वसंवेदन करि सिद्धपणां है, सर्व प्राणीनि कै स्वसंवेदनरूप अनुभव मैं आवै है॥ तिस प्रसिद्ध करि साध्या हूवा तिस ज्ञान तैं अविनाभावी जे अनंत धर्म, तिनि का समुदायरूप अभिन्न प्रदेशरूप मूर्त्ति आत्मा है, तातैं ज्ञानमात्र विषै अचलित निश्चल लगाई उकीरी जो दृष्टि, ता करि क्रमरूप अर अक्रम युगपत्‌रूप प्रवर्त्तता जो तिस ज्ञान तैं अविनाभूत अनंत धर्म का समूह, जेता जो कछू लषिये है तेता सो कछू समस्त ही एक निश्चय करि आत्मा है॥ इस ही प्रयोजन कै अर्थि इस अध्यात्म प्रकरण विषै इस आत्मा का ज्ञानमात्रपणां करि व्यपदेश कीया है, नाम कह्या है॥ छ॥

फेरि पूछै है जो क्रमरूप अर अक्रमरूप प्रवर्त्तै हैं अनंत धर्म जा विषै, अैसा आत्मा कै ज्ञानमात्रपणां कैसैं है॥

ताका समाधान जो परस्पर व्यतिरिक्त कहिये न्यारा न्यारा स्वरूप कूं धारैं जे अनंत धर्म, तिनिका समुदायरूप परिणई जो एक ज्ञप्ति कहिये ज्ञानक्रिया, तिस मात्र भावरूप करि आपै आप स्वयमेव होनें तैं आत्मा कै ज्ञानमात्रपणां है। आत्मा के जेते धर्म हैं, तेते सर्व ही ज्ञान के परिणमनरूप हैं। यद्यपि तिनिकै लक्षणभेद करि भेद है, तथापि प्रदेशभेद नाही है। तातैं एक असाधारणज्ञान कूं कहतैं सर्व

यहाँ पुनः – यदि ज्ञान और आत्मा अभेदरूप हैं तो लक्ष्य-लक्षण का भेद किसलिए किया गया है?

उसका उत्तर – प्रसिद्ध के द्वारा प्रसाध्यमानपना होता है, इस कारण यह भेद किया है। ज्ञान प्रसिद्ध है क्योंकि ज्ञानमात्र की स्वसंवेदन से सिद्धि है, [वह ज्ञान] सर्व प्राणियों को स्वसंवेदनरूप अनुभव में आता है। उस प्रसिद्ध [ज्ञान] से साधे हुए, उस ज्ञान के अविनाभावी अनन्त धर्मों के समूहरूप और अभिन्न प्रदेशरूप मूर्ति आत्मा है; इसलिए ज्ञानमात्र में अचलित अर्थात् निश्चल या उत्कीर्ण की गई दृष्टि के द्वारा क्रमरूप और अक्रमरूप से युगपत् प्रवर्तनेवाले उस ज्ञान से अविनाभूत अनन्त धर्मों का समूह, जितना जो कुछ देखा जाता है, उतना सब कुछ एक निश्चय से आत्मा है। इसी प्रयोजन के लिए इस अध्यात्म प्रकरण में इस आत्मा का ज्ञानमात्रपने से व्यपदेश किया है, उसका कथन किया है।

पुनः प्रश्न – जिसमें अनन्त धर्म क्रमरूप और अक्रमरूप होते हैं, ऐसे आत्मा का ज्ञानमात्रपना कैसे है?

उसका समाधान – परस्पर व्यतिरिक्त अर्थात् भिन्न-भिन्न स्वरूप को धारण करनेवाले अनन्त धर्मों के समुदायरूप से परिणत एक ज्ञप्ति अर्थात् ज्ञानक्रिया, उस मात्र भावरूप से अपने आप स्वयमेव होने से आत्मा का ज्ञानमात्रपना है। आत्मा के जितने भी धर्म हैं, उतने सभी ज्ञान के परिणमनस्वरूप हैं। यद्यपि उनमें लक्षणभेद होने से भेद है तथापि प्रदेशभेद नहीं है; अतः एक असाधारण ज्ञान को कहने पर, सभी धर्म उसमें आ जाते हैं; इसीलिए इस आत्मा के ज्ञानमात्र एक

यामैं आय गये॥ याही तैं इस आत्मा कै ज्ञानमात्र जो एक भाव, ताकै अंत:पातिनी कहिये याही मैं आय पडनेंवाली अनंत शक्ति उदय होय हैं, उघडैं हैं। तिनिकूं केईकनि कूं कहै है॥ तिनिका टीका मैं संस्कृत पाठ है, सो लिषि करि तिनिकी वचनिका लिषिये है॥ छ॥

• **आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्ति: ॥ १ ॥**

॥ याका अर्थ॥ प्रथम तौ जीवत्व नामा शक्ति है सो कैसी है। आत्मद्रव्य कूं कारणभूत जो चैतन्यमात्र भाव सो ही भया भावप्राण, ताका धारणां है लक्षण जाका, अैसी[१] है॥ छ॥

• **अजडत्वात्मिका[२] चितिशक्ति: ॥ २ ॥**

॥ अर्थ॥ यह दूजी चिति शक्ति है सो कैसी है॥ अजडपणां[३] कहिये जड नाही होय, अैसा चेतना जाका स्वरूप, अैसी है॥ छ॥

• **अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्ति:[४]॥ ३ ॥**

॥ अर्थ॥ यह तीसरी दर्शनक्रियारूप शक्ति है। कैसी है। अनाकार कहिये जामैं ज्ञेयरूप आकार का विशेष नाही, अैसा जो दर्शनोपयोग, सत्तामात्र पदार्थ सूं उपयुक्त होनां, तिसमयी है॥ छ॥

• **साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्ति: ॥ ४ ॥**

॥ अर्थ॥ यह चौथी ज्ञानशक्ति है॥ सो कैसी है। साकार कहिये ज्ञेयपदार्थ का आकाररूप विशेष तैं जुडनेंवाला, उपयुक्त होनेंवाला जो ज्ञान, तिसमयी है॥ छ॥

भाव की अन्त:पातिनी अर्थात् उसमें गर्भित होनेवाली अनन्त शक्तियाँ उदित होती हैं, प्रगट होती हैं; उनमें से कुछ शक्तियों को यहाँ कहते हैं। टीका में उन शक्तियों के संस्कृत पाठ हैं, उन्हें [भाषा टीका में] लिख कर उनकी वचनिका लिखते हैं —

१. **जीवत्वशक्ति** – सर्व प्रथम तो जीवत्व नामक शक्ति है। **वह कैसी है?** – आत्मद्रव्य को कारणभूत चैतन्यमात्र भाव ही भावप्राण है, उसका धारण करना जिसका लक्षण है – ऐसी **जीवत्वशक्ति** है॥ १॥

२. **चितिशक्ति** – यह दूसरी चितिशक्ति है। **वह कैसी है?** – अजड़पना अर्थात् जिससे जड़ नहीं होता, ऐसी चेतना जिसका स्वरूप है – ऐसी **चितिशक्ति** है॥ २॥

३. **दृशिशक्ति** – यह तीसरी दर्शनक्रियारूप शक्ति है। **वह कैसी है?** – अनाकार अर्थात् जिसमें ज्ञेयरूप आकारों का विशेष (भेद) नहीं होता है, ऐसा दर्शनोपयोग अर्थात् सत्तामात्र पदार्थ से उपयुक्त होना होता है, उसमयी **दृशिशक्ति** है॥ ३॥

४. **ज्ञानशक्ति** – यह चौथी ज्ञानशक्ति है। **वह कैसी है?** – साकार अर्थात् ज्ञेय पदार्थों के आकाररूप विशेषों से जुड़नेवाला या उपयुक्त होनेवाला ज्ञान होता है, उसमयी **ज्ञानशक्ति** है॥ ४॥

---

१. *अैसैं* - 'अ' प्रति पाठ २. *अजडात्मिका* - 'अ' प्रति पाठ ३. *अजड़* - 'अ' प्रति पाठ
४. *दृष्टिशक्ति:* - अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ

• **अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः ॥ ५ ॥**

॥ अर्थ ॥ यह पांचई सुखशक्ति है ॥ कैसी है। अनाकुलत्व कहिये आकुलता तैं रहितपणां है लक्षण जाका, अैसी है ॥ छ ॥

• **स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः ॥ ६ ॥**

॥ अर्थ ॥ यह छठी वीर्यशक्ति है ॥ कैसी है ॥ अपनां निज आत्मस्वरूप, ताका निर्वर्तन कहिये निपजावनां, रचनां, तिसकी सामर्थ्य तिसरूप है ॥ छ ॥

• **अखण्डितप्रतापस्वातन्त्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः ॥ ७ ॥**

॥ अर्थ ॥ यह सातई प्रभुत्वशक्ति है ॥ कैसी है ॥ जो काहू करि खंड्या न जाय, अैसा अखंडित है प्रताप जाका, अैसा जो स्वाधीनपणां, ता करि सोभनीकपणां है लक्षण जाका, अैसी है ॥ छ ॥

• **सर्वभावव्यापकैकभावरूपा विभुत्वशक्तिः ॥ ८ ॥**

॥ अर्थ ॥ यह आठमीं विभुत्व नामा शक्ति है ॥ कैसी है ॥ सर्व भावनि विषै व्यापक जो एक भाव, तिसरूप है। जाका ज्ञान एक भाव सर्वभावनि विषैं व्यापै है ॥ छ ॥

• **विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्तिः ॥ ९ ॥**

॥ अर्थ ॥ यह नवमीं सर्वदर्शित्व नामा शक्ति है ॥ कैसी है ॥ विश्व कहिये समस्त पदार्थनि का समूहरूप जो विश्व कहिये लोकालोक, ताका सामान्यभाव सत्तामात्र तिस के देषनेंरूप[१] परिणया है स्वरूप जाका, अैसा दर्शन कहिये देषनां तिसमयी है।

---

५. **सुखशक्ति** – यह पाँचवी सुखशक्ति है। **वह कैसी है?** – अनाकुलत्व अर्थात् आकुलता से रहितपना ही जिसका लक्षण है – ऐसी **सुखशक्ति** है ॥ ५ ॥

६. **वीर्यशक्ति** – यह छठी वीर्यशक्ति है। **वह कैसी है?** – अपने निज आत्मस्वरूप का निर्वर्तन अर्थात् उत्पन्न करना या उसकी रचना करना, उसके सामर्थ्यरूप **वीर्यशक्ति** है।

७. **प्रभुत्वशक्ति** – यह सातवीं प्रभुत्वशक्ति है। **वह कैसी है?** – जो किसी से खण्डित न किया जा सके अर्थात् जिसका प्रताप अखण्डित है, ऐसे स्वाधीनपने से शोभनीक होना, जिसका लक्षण है – ऐसी **प्रभुत्वशक्ति** है।

८. **विभुत्वशक्ति** – यह आठवीं विभुत्व नामक शक्ति है। **वह कैसी है?** – जो सर्व भावों में व्यापक एक भावरूप है [– ऐसी **विभुत्वशक्ति** है।] जैसे, उसका ज्ञानरूप एक भाव, सर्व भावों में व्यापक है।

९. **सर्वदर्शित्वशक्ति** – यह नवमी सर्वदर्शित्व नामक शक्ति है। **वह कैसी है?** – विश्व अर्थात् समस्त पदार्थों के समूहरूप विश्व अर्थात् लोकालोक के सत्तामात्र सामान्यभाव के देखनेरूप परिणमित हुआ है स्वरूप जिसका – ऐसी दर्शनमयी अर्थात् देखनेरूप [आत्मदर्शनमयी] **सर्वदर्शित्व** नामक शक्ति है।

---

१. *देषनरूप* – 'ब' प्रति पाठ

• **विश्वविश्वविशेषभावपरिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः ॥ १० ॥**

॥ अर्थ ॥ विश्व कहिये समस्त पदार्थनि का समूहरूप लोकालोक, तिनि कै समस्त जे विशेषभाव, आकारनि सहित भाव, तिनि के जाननेंरूप परिणया है स्वरूप जाका, अैसी ज्ञानमयी दशमीं सर्वज्ञत्व नाम शक्ति है ॥ छ ॥

• **नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकारमेचकोपयोगलक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः ॥ ११ ॥**

॥ अर्थ ॥ अमूर्त्तीक आत्मा का प्रदेशनि कै विषै प्रकाशमान जो लोकालोक का आकार करि, मेचक कहिये अनेक आकाररूप दीषता उपयोग सो है लक्षण जाका, अैसी स्वच्छत्व नामा ग्यारमीं शक्ति है ॥ जैसैं आरसा की स्वच्छता प्रकाशरूप घटपटादि जामैं प्रकाशैं, तैसैं स्वच्छता है ॥ छ ॥

• **स्वयंप्रकाशमानविशदस्वसंवित्तिमयी प्रकाशशक्तिः ॥ १२ ॥**

॥ अर्थ ॥ स्वयमेव आपै आप प्रकाशमान विशद स्पष्ट स्वसंवित्ति कहिये अपनां अनुभव, तिसमयी प्रकाश नामा शक्ति वारमीं है ॥ छ ॥

• **क्षेत्रकालानवच्छिन्नचिद्विलासात्मिकाऽसंकुचितविकाशत्वशक्तिः ॥ १३ ॥**

॥ अर्थ ॥ क्षेत्र काल करि अमर्यादरूप जो चैतन्य का विलास, तिसस्वरूप असंकुचितविकाशत्व नामा तेरमीं शक्ति है ॥ छ ॥

• **अन्याऽक्रियमाणाऽन्याऽकारकैकद्रव्यात्मिकाऽकार्यकारणत्वशक्तिः[१] ॥ १४ ॥**

॥ अर्थ ॥ अन्य करि न करणें योग्य अर अन्य का कारण नाही, अैसा एक द्रव्य, तिसस्वरूप अकार्यकारणत्व नामा चौदमीं शक्ति है ॥ छ ॥

---

१०. **सर्वज्ञत्वशक्ति** – विश्व अर्थात् समस्त पदार्थों के समूहरूप लोकालोक के समस्त विशेष भावों या विशेष आकारोंसहित भावों के जाननेरूप परिणमित हुआ है स्वरूप जिसका – ऐसी ज्ञानमयी [आत्मज्ञानमयी] दसवीं **सर्वज्ञत्व** नामक शक्ति है।

११. **स्वच्छत्वशक्ति** – जो अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान, लोकालोक के आकारों से मेचक अर्थात् अनेक आकाररूप दिखनेवाला उपयोग है लक्षण जिसका – ऐसी ग्यारहवीं **स्वच्छत्व** नामक शक्ति है। जैसे, दर्पण के स्वच्छतारूप प्रकाश में घट-पट आदि प्रकाशित होते हैं।

१२. **प्रकाशशक्ति** – स्वयमेव या अपने आप प्रकाशमान, विशद या स्पष्ट स्वसंवित्ति अर्थात् अपने अनुभवमयी, बारहवीं **प्रकाश** नामक शक्ति है।

१३. **असंकुचितविकाशत्वशक्ति** – क्षेत्र-काल से असीमित चैतन्य के विलासस्वरूप, तेरहवीं **असंकुचित-विकाशत्व** नामक शक्ति है।

१४. **अकार्यकारणत्वशक्ति** – अन्य के द्वारा नहीं करने योग्य और अन्य को अकारण – ऐसे

---

१. *अकार्यकारणशक्तिः* - 'अ' 'ब' प्रति एवं अगास प्रकाशन पाठ

• परात्मनिमित्तकज्ञेयज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभावरूपा परिणम्यपरिणामकत्व-शक्तिः[१] ॥ १५ ॥

॥ अर्थ ॥ पर अर आप है निमित्त जिनिकूं, अैसा ज्ञेयाकार अर ज्ञानाकार, तिनि का ग्रहण करनां अर ग्रहण करावनां, अैसा स्वभाव है रूप जाका, अैसी परिणम्य परिणामात्मक नामा पंदरमीं शक्ति है॥ ज्ञेयाकार अर ज्ञानाकार आप ही परिणमै है, यह शक्ति है॥ छ॥

• अन्यूनातिरिक्तस्वरूपनियतत्वरूपा त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिः ॥ १६ ॥

॥ अर्थ ॥ अन्यून कहिये घटनां नाहीं अर अतिरिक्त कहिये वधनां नाही, अैसैं स्वरूप विषै नियतत्व कहिये नियमरूप जैसा का तैसा रहनां, तिसरूप त्यागोपादानशून्यत्व नामा सोलमीं शक्ति है॥ छ॥

• षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणात्मिका अगुरु-लघुत्वशक्तिः ॥ १७ ॥

॥ अर्थ ॥ षट्स्थानपतित वृद्धिहानिरूप परिणया जो वस्तु का निजस्वरूप की प्रतिष्ठा कूं कारण, विशिष्ट अगुरुलघुत्व नामा गुण, तिसस्वरूप अगुरुलघुत्व नामा सतरमीं शक्ति है।

इस षट्स्थानपतित हानिवृद्धि का स्वरूप गोम्मटसार ग्रंथ तैं जाननां। यह ही अविभागप्रतिच्छेद की संख्यारूप जे षट्स्थान, तिनि करि वस्तुस्वभाव का घटनां वधनां, वस्तु के स्वरूप कूं ठहरने कूं कारण, अैसा ही कोई गुण है, ताकूं अगुरुलघुगुण कहिये है सो यह भी शक्ति आत्मा मैं है॥ छ॥

• क्रमाक्रमवृत्तवृत्तित्व[२] लक्षणोत्पादव्ययध्रुवत्वशक्तिः ॥ १८ ॥

एक द्रव्यस्वरूप, चौदहवीं **अकार्यकारणत्व** नामक शक्ति है।

१५. परिणम्यपरिणामकत्वशक्ति – पर और स्वयं के निमित्त से, ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार का, ग्रहण करना और ग्रहण कराना, ऐसा स्वभाव ही जिसका स्वरूप है – ऐसी पन्द्रहवीं **परिणम्य-परिणामकत्व** (परिणम्य-परिणामात्मक) नामक शक्ति है। अर्थात् [ज्ञान या आत्मा,] ज्ञेयाकार और ज्ञानाकाररूप स्वयं ही परिणमता है – ऐसी शक्ति है।

१६. त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति – अन्यून अर्थात् घटना नहीं और अतिरिक्त अर्थात् बढ़ना नहीं – ऐसे स्वरूप में नियतत्व अर्थात् नियमरूप, जैसा का तैसा रहना, उसरूप, सोलहवीं **त्यागोपादानशून्यत्व** नामक शक्ति है।

१७. अगुरुलघुत्वशक्ति – षट्स्थानपतित वृद्धि-हानिरूप परिणमित वस्तु के निजस्वरूप की प्रतिष्ठा में कारणभूत विशिष्ट गुणस्वरूप, सत्रहवीं **अगुरुलघुत्व** नामक शक्ति है।

इस षट्स्थानपतित हानि-वृद्धि का स्वरूप 'गोम्मटसार ग्रन्थ' से जानना चाहिए। अविभागी प्रतिच्छेदों की संख्यारूप षट्स्थानों में वस्तुस्वभाव का घटना-बढ़ना, वस्तु के स्वरूप को टिकाने में कारणभूत, ऐसा ही कोई गुण, अगुरुलघुगुण कहलाता है; अतः ऐसी भी शक्ति आत्मा में है।

---

१. *परिणम्यपरिणामात्मकशक्तिः* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

२. *क्रमाक्रमवृत्तिवृत्तित्व* - अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन पाठ / *क्रमाक्रमवृत्तिवृत्त* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

॥ अर्थ ॥ क्रमवृत्तिरूप पर्याय, अक्रमवृत्तिरूप गुण, तिनिका वर्त्तन सो है लक्षण जाका, ऐसी उत्पादव्ययध्रुवत्व नामा अठारमीं[१] शक्ति है। क्रमवर्त्ती पर्याय तौ उत्पादव्ययरूप होय हैं अर सहवर्त्ति गुण ध्रुवरूप रहै हैं॥ छ॥

• द्रव्यस्वभावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादाऽलिङ्गितसदृशविसदृशरूपैकाऽस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्तिः॥ १९॥

॥ अर्थ ॥ द्रव्य के स्वभावभूत ऐसे ध्रौव्य व्यय उत्पाद, तिनि करि आलिंगित, स्पर्शित जे समानरूप अर असमानरूप परिणाम, तिनिस्वरूप एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति उगणीसमीं है॥ छ॥

• कर्मबन्धव्यपगमव्यञ्जितसहजस्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिकाऽमूर्तत्वशक्तिः॥ २०॥

॥ अर्थ ॥ कर्मबंध का अभाव करि प्रगट व्यक्त भया जो स्वाभाविक स्पर्श रस गंध वर्ण करि शून्य रहित आत्मा का प्रदेश तिसस्वरूप अमूर्त्तत्व नामा शक्ति वीसमीं है॥ छ॥

• सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामकरणोपरमात्मिकाऽकर्तृत्वशक्तिः॥ २१॥

॥ अर्थ ॥ समस्त कर्म करि कीये ज्ञातापणां मात्र तैं अतिरिक्त कहिये न्यारे परिणाम, तिनिका करनें का उपरम कहिये अभाव, तिसस्वरूप अकर्तृत्वशक्ति इकईसमीं है। आत्मा ज्ञातापणां सिवाय कर्म करि कीये परिणाम का कर्त्ता नाही है, यह भी यामैं शक्ति है॥ छ॥

• सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिकाऽभोक्तृत्वशक्तिः॥ २२॥

॥ अर्थ ॥ सकल कर्मनि करि कीया अर ज्ञातापणां मात्र तैं अतिरिक्त, न्यारा जे परिणाम, तिनिका

---

१८. **उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति** – क्रमवृत्तिरूप पर्यायों और अक्रमवृत्तिरूप गुणों का वर्तन ही जिसका लक्षण है – ऐसी अठारहवीं **उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व** नामक शक्ति है। क्रमवर्ती पर्यायें तो उत्पाद-व्ययरूप होती हैं और सहवर्ती गुण ध्रुवरूप रहते हैं।

१९. **परिणामशक्ति** – द्रव्य के स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद से आलिङ्गित अर्थात् स्पर्शित, समानरूप और असमानरूप परिणामस्वरूप, एक अस्तित्वमात्रमयी, उन्नीसवीं **परिणामशक्ति** है।

२०. **अमूर्तत्वशक्ति** – कर्मबन्ध के अभाव से प्रगट अर्थात् व्यक्त हुए स्वाभाविक स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण से शून्य या रहित आत्मा के प्रदेशस्वरूप, बीसवीं **अमूर्तत्व** नामक शक्ति है।

२१. **अकर्तृत्वशक्ति** – समस्त कर्मों के द्वारा किये गए ज्ञातृत्वमात्र से अतिरिक्त अर्थात् भिन्न परिणामों को करने के उपरम अर्थात् अभावस्वरूप, इक्कीसवीं **अकर्तृत्वशक्ति** है। अर्थात् आत्मा, ज्ञातापने के अतिरिक्त, कर्मों के द्वारा किये गए परिणामों का कर्ता नहीं है – यह भी आत्मा में शक्ति है।

२२. **अभोक्तृत्वशक्ति** – समस्त कर्मों के द्वारा किये गए ज्ञातृत्वमात्र से अतिरिक्त अर्थात् भिन्न परिणामों के अनुभव अर्थात् भोगने के अभावस्वरूप, बाईसवीं **अभोक्तृत्व** नामक शक्ति है। अर्थात्

---

१. *अठारमीं* - 'ब' प्रति में पाठ नहीं

अनुभव कहिये भोगनां, तिसका अभावस्वरूप अभोक्तृत्व नामा वाईसमीं शक्ति है। आत्मा ज्ञातापणां सिवाय अन्य परिणाम कर्म के कीये हैं, तिनिका भोक्ता नाही है, यह भी यामैं शक्ति है॥ छ॥

• **सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पन्द्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः[१]॥ २३॥**

॥ अर्थ॥ समस्त कर्म का अभाव करि प्रवृर्त्या जो आत्मा का प्रदेश का नैष्पंद्य कहिये निश्चलपणां, तिसस्वरूप तेईसमी निःक्रियत्वशक्ति है॥ सकल कर्म का अभाव होय, तव प्रदेशनि का कंप मिटि जाय है, तातैं निःक्रियत्वशक्ति भी यामैं है॥ छ॥

• **आसंसारसंहरणविस्तरणलक्षणलक्षितकिञ्चिदूनचरमशरीरपरिमाणावस्थितलोकाकाशसम्मितात्मावयवत्वलक्षणा नियतप्रदेशत्वशक्तिः॥ २४॥**

॥ अर्थ॥ अनादि संसार तैं लगाय संकोचविस्तार करि चिह्नित अर किंचित् ऊन चरमशरीर परिमाण करि अवस्थित, अैसे दोऊ भाव कूं लीयें लोकाकाश परिमाणस्वरूप अवयवपणां है लक्षण जाका, अैसी नियतप्रदेशत्वशक्ति चोईशमीं है॥ आत्मा का लोकपरिमाण असंख्यातप्रदेश नियत है सो संसार अवस्था मैं तो संकुचै-विस्तरैं हैं अर मोक्ष अवस्था मैं चरमशरीर सूं किछू घाटि अवस्थित हैं, अैसी शक्ति है॥ छ॥

• **सर्वशरीरैकस्वरूपात्मिका स्वधर्मव्यापकत्वशक्तिः॥ २५॥**

॥ अर्थ॥ सर्व ही शरीरनि मैं एकस्वरूपरूप रहनां, यह स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति पचीसमीं है॥ शरीर के धर्मरूप न होनां, अपनें धर्मनि मैं व्यापनां, यह शक्ति है॥ छ॥

आत्मा, ज्ञातापने के अतिरिक्त कर्म के द्वारा किये गए अन्य परिणामों का भोक्ता नहीं है – यह भी आत्मा में शक्ति है।

२३. **निष्क्रियत्वशक्ति –** समस्त कर्मों के अभाव से प्रवर्तित आत्मा के प्रदेशों की निस्पन्दता अर्थात् निश्चलतास्वरूप, तेईसवीं निष्क्रियत्वशक्ति है। अर्थात् सकल कर्मों का अभाव होने पर [आत्मा के] प्रदेशों का कम्पन मिट जाता है; अतः [आत्मा में] निष्क्रियत्वशक्ति भी है।

२४. **नियतप्रदेशत्वशक्ति –** अनादि संसार से निरन्तर सङ्कोच-विस्तार लक्षण से चिह्नित और किञ्चित् न्यून चरमशरीर परिमाण में अवस्थित – ऐसे दोनों भावोंसहित लोकाकाश परिमाणस्वरूप अवयवपना है लक्षण जिसका, ऐसी चौबीसवीं **नियतप्रदेशत्वशक्ति** है। अर्थात् आत्मा के लोकपरिमाण असंख्यातप्रदेश नियत हैं, जो संसार-अवस्था में तो संकुचित और विस्तृत होते रहते हैं, लेकिन मोक्ष-अवस्था में चरमशरीर से कुछ कम अवस्थित रहते हैं – ऐसी शक्ति [आत्मा में] है।

२५. **स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति –** [आत्मा की] सभी शरीरों में एकस्वरूपात्मक रहनेरूप पच्चीसवीं **स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति** है। अर्थात् [आत्मा का] शरीर के धर्मरूप नहीं होना और अपने धर्मों में व्याप्त रहना – ऐसी शक्ति आत्मा में है।

---

१. *निःक्रियत्वशक्तिः* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

• **स्वपरसमानाऽसमानसमानासमानत्रिविधभावधारणात्मिका साधारणाऽसाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्तिः ॥ २६ ॥**

॥ अर्थ ॥ आप अर पर कै समानधर्म अर असमानधर्म अर समानासमानधर्म, अैसैं तीन प्रकार के भाव धारणस्वरूप, यह साधारणासाधारणसाधरणासाधारणधर्मत्व नामा शक्ति छवीसमीं है ॥ छ ॥

• **विलक्षणाऽनन्तस्वभावभावितैकभावलक्षणाऽनन्तधर्मत्वशक्तिः ॥ २७ ॥**

॥ अर्थ ॥ परस्पर भिन्न लक्षणस्वरूप जे अनंत स्वभाव, तिनि करि भावित, मिल्या हूवा जो एक भाव सो है लक्षण जाका, अैसी अनंतधर्मत्वशक्ति सताईसमीं है ॥ छ ॥

• **तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः ॥ २८ ॥**

॥ अर्थ ॥ तत्स्वरूप अर अतत्स्वरूप, तिनिमयीपणां है लक्षण जाका, अैसी विरुद्धधर्मत्व-शक्ति अठाईसमीं है ॥ छ ॥

• **तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः ॥ २९ ॥**

॥ अर्थ ॥ तत्स्वरूप होनां है स्वरूप जाका, अैसी तत्त्वशक्ति गुणतीसमीं है। जो वस्तु का स्वभाव, ताकूं तत्त्व कहिये सो तत्त्वशक्ति है ॥ छ ॥

• **अतद्रूपाऽभवनरूपाऽतत्त्वशक्तिः[१] ॥ ३० ॥**

॥ अर्थ ॥ अतत्स्वरूप न होनेंरूप अतत्त्वशक्ति तीसमीं है। जैसैं चेतन जडरूप न होय, यह शक्ति है ॥ छ ॥

• **अनेकपर्यायव्यापकैकद्रव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः ॥ ३१ ॥**

---

२६. **साधारणाऽसाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति** – अपने और पर के समानधर्म, असमानधर्म और समानासमानधर्म – ऐसे तीन प्रकार के भावों को धारण करने स्वरूप, छब्बीसवीं **साधारणाऽसाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्व** नामक शक्ति है।

२७. **अनन्तधर्मत्वशक्ति** – परस्पर भिन्न लक्षणस्वरूप अनन्त स्वभावों से भावित अर्थात् मिला हुआ एक भाव ही जिसका लक्षण है – ऐसी सत्ताईसवीं **अनन्तधर्मत्वशक्ति** है।

२८. **विरुद्धधर्मत्वशक्ति** – तत्स्वरूपमयी और अतत्स्वरूपमयी होना ही जिसका लक्षण है – ऐसी अट्ठाईसवीं **विरुद्धधर्मत्वशक्ति** है।

२९. **तत्त्वशक्ति** – तत्स्वरूप होना जिसका स्वरूप है – ऐसी उनतीसवीं **तत्त्वशक्ति** है। अर्थात् जो वस्तु का स्वभाव है, उसे तत्त्व कहते हैं, वही तत्त्वशक्ति है।

३०. **अतत्त्वशक्ति** – अतत्स्वरूप नहीं होनेरूप, तीसवीं **अतत्त्वशक्ति** है। जैसे, चेतन, जड़रूप नहीं होता है – यह शक्ति [आत्मा में] है।

---

१. 'अ' 'ब' प्रति, अगास एवं अहिंसा प्रकाशन पाठ / *अतद्रूपभवनरूपा अतत्त्वशक्तिः* - सोनगढ़ एवं जयपुर प्रकाशन पाठ

॥ अर्थ ॥ अनेक जे अपनां पर्याय, तिनि मैं व्यापक जो एक द्रव्य, तिसमयी स्वरूप एकत्वशक्ति इकतीशमीं है ॥ छ ॥

- **एकद्रव्यव्याप्यानेकपर्यायमयत्वरूपाऽनेकत्वशक्तिः ॥ ३२ ॥**

॥ अर्थ ॥ एक द्रव्य विषैं व्यापनें योग्य जे अनेक पर्याय, तिनिमयस्वरूप अनेकत्वशक्ति वतीशमीं है ॥ छ ॥

- **भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः ॥ ३३ ॥**

॥ अर्थ ॥ भूत कहिये भये विद्यमान परिणाम तैं अवस्थितस्वरूप सो भावशक्ति है, यह तेतीशमीं है ॥ छ ॥

- **शून्यावस्थत्वरूपाऽभावशक्तिः ॥ ३४ ॥**

॥ अर्थ ॥ जिस परिणाम का अभाव है, तिसका शून्यपणां तैं अवस्थितस्वरूप, सो अभावशक्ति है ॥ यह चोतीसमीं है ॥ छ ॥

- **भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः ॥ ३५ ॥**

॥ अर्थ ॥ वर्त्तमान होती जो पर्याय, ताका व्यय होनां, तिसरूप भावाभावशक्ति पैंतीसमीं है ॥ छ ॥

- **अभवत्पर्यायोदयरूपाऽभावभावशक्तिः ॥ ३६ ॥**

॥ अर्थ ॥ वर्त्तमान न होते पर्याय का उदय होनां, उत्पाद होनां, तिसरूप अभावभावशक्ति है ॥ छ ॥

- **भवत्पर्यायभवनरूपा भावभावशक्तिः ॥ ३७ ॥**

---

३१. **एकत्वशक्ति** – अपनी अनेक पर्यायों में व्यापक एक द्रव्यस्वरूपमयी, इकतीसवीं **एकत्वशक्ति** है।

३२. **अनेकत्वशक्ति** – एक द्रव्य में व्याप्त होने योग्य अनेक पर्यायस्वरूपमयी, बत्तीसवीं **अनेकत्वशक्ति** है।

३३. **भावशक्ति** – भूत अर्थात् उत्पन्न हुए विद्यमान परिणाम से अवस्थितस्वरूप, तेतीसवीं **भावशक्ति** है।

३४. **अभावशक्ति** – जिस परिणाम का अभाव है, उसके शून्यपने से अवस्थितस्वरूप, चौंतीसवीं **अभावशक्ति** है।

३५. **भावाभावशक्ति** – वर्तमान में हो रही पर्याय के व्यय होनेरूप, पैंतीसवीं **भावाभावशक्ति** है।

३६. **अभावभावशक्ति** – वर्तमान में नहीं हो रही पर्याय के उदय होनेरूप या उत्पाद होनेरूप, छत्तीसवीं **अभावभावशक्ति** है।

॥ अर्थ ॥ वर्तमानपर्याय का होनां, तिसरूप रहनां सो भावभावशक्ति है॥ छ॥

• **अभवत्पर्यायाभवनरूपाऽभावाभावशक्तिः ॥ ३८ ॥**

॥ अर्थ ॥ न होते पर्याय का नाही होनां, तिसरूप अभावाभावशक्ति है, यह अठतीसमीं है॥ छ॥

• **कारकानुगतक्रियानिष्क्रान्तभवनमात्रमयी भावशक्तिः ॥ ३९ ॥**

॥ अर्थ ॥ कारक जे कर्ता कर्म आदि तिनि विषै अनुगत जो क्रिया, तातैं रहित जो होनां मात्रमयी सो भावशक्ति गुणतालीसमीं है॥ छ॥

• **कारकानुगतभवत्तारूपभावमयी क्रियाशक्तिः ॥ ४० ॥**

॥ अर्थ ॥ कारक कै अनुगत अनुसार होनां, तिसरूप भावमयी क्रियाशक्ति चालीसमीं है॥ छ॥

• **प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः ॥ ४१ ॥**

॥ अर्थ ॥ पावनें मैं आवता, अैसा सिद्धरूप वण्यां वणाया जो भाव, तिसमयी कर्मशक्ति इकतालीसमीं है॥ छ॥

• **भवत्तारूपसिद्धरूपभावभावकत्वमयी कर्तृशक्तिः[१] ॥ ४२ ॥**

॥ अर्थ ॥ होवापणांरूप जो सिद्धरूप भाव, तिसके भावक कहिये होनेंवाला, तिसपणांमयी कर्तृत्वशक्ति वयालीसमीं है॥ छ॥

• **भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्तिः ॥ ४३ ॥**

॥ अर्थ ॥ होता जो भाव, तिसका होनां, तिस विषै अतिशयवान जो साधक, तिसपणांमयी

---

३७. **भावभावशक्ति** – वर्तमानपर्याय के होनेरूप या रहनेरूप, सैंतीसवीं **भावभावशक्ति** है।

३८. **अभावाभावशक्ति** – [वर्तमान में] नहीं हो रही पर्याय के नहीं होनेरूप, अड़तीसवीं **अभावाभावशक्ति** है।

३९. **भावशक्ति** – कारक अर्थात् कर्ता, कर्म आदि के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित होनेमात्रस्वरूप, उनचालीसवीं **भावशक्ति** है।

४०. **क्रियाशक्ति** – कारक के अनुगत या अनुसार [परिणमित] होनेरूप भावमयी, चालीसवीं **क्रियाशक्ति** है।

४१. **कर्मशक्ति** – प्राप्त होनेरूप सिद्धरूप अर्थात् बने-बनाए भावमयी, इकतालीसवीं **कर्मशक्ति** है।

४२. **कर्तृशक्ति** – जो होनेरूप सिद्धरूप भाव के भावक अर्थात् होनेवालेरूप, बयालीसवीं **कर्तृत्वशक्ति (कर्तृशक्ति)** है।

४३. **करणशक्ति** – होते हुए भाव के होने में अतिशयवान् साधकतमत्वमयी, तेतालीसवीं

---

१. *कर्तृत्वशक्तिः* - 'अ' 'ब' प्रति पाठ

करणशक्ति तियालीसमीं है॥ छ॥

• **स्वयं दीयमानभावोपेयत्वमयी सम्प्रदानशक्तिः॥ ४४॥**

॥ अर्थ॥ आप ही करि देनें मैं आवता जो भाव, ताके प्राप्त होनें योग्यपणां, पावनें योग्यपणांमयी संप्रदानशक्ति चवालीशमीं है॥ छ॥

• **उत्पादव्ययालिङ्गितभावापायनिरपायध्रुवत्वमयी अपादानशक्तिः॥ ४५॥**

॥ अर्थ॥ उत्पाद व्यय करि स्पर्शित जो भाव, ताका अपाय के होतैं निरपाय कहिये नष्ट न होनां, अैसा ध्रुवपणांमयी अपादानशक्ति पैतालीसमीं है॥ छ॥

• **भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्तिः॥ ४६॥**

॥ अर्थ॥ भाव्यमान कहिये भावनें मैं आवता जो भाव, तिसका आधारपणांमयी छियालीशमीं अधिकरणशक्ति है॥ छ॥

• **स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी सम्बन्धशक्तिः॥ ४७॥**

॥ अर्थ॥ अपनां भाव, तिस मात्र स्वस्वामीपणां, तिसमयी संवंधशक्ति सैंतालीसमीं है।

अपनां भावनि का स्वामी आप है, यह संवंध है॥ छ॥

अैसैं सैंतालीस शक्ति के नाम लीये॥ इनिकूं आदि लेकरि अनेक शक्ति करि युक्त आत्मा है॥ तौऊ ज्ञानमात्रपणां कूं नाही छोडै है॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥

करणशक्ति है।

४४. सम्प्रदानशक्ति – स्वयं ही के द्वारा दिए जानेवाले भाव को प्राप्त होने की योग्यतामयी अथवा पाने की योग्यतामयी चवालीसवीं **सम्प्रदानशक्ति** है।

४५. अपादानशक्ति – उत्पाद-व्यय से स्पर्शित भाव के अपाय या नष्ट होने पर भी निरपाय अर्थात् नष्ट नहीं होनेरूप, ध्रुवत्वमयी या ध्रौव्यमयी पैंतालीसवीं **अपादानशक्ति** है।

४६. अधिकरणशक्ति – भाव्यमान अर्थात् भावने में आनेवाले या होनेवाले भाव के आधारपनेमयी छियालीसवीं **अधिकरणशक्ति** है।

४७. सम्बन्धशक्ति – अपने भाव या स्वभावमात्र स्व-स्वामीपनेमयी, सैंतालीसवीं **अधिकरणशक्ति** है। अपने भावों का स्वामी स्वयं है – यह सम्बन्ध है।

इस प्रकार यहाँ सैंतालीस शक्तियों के नाम [एवं लक्षण] कहे गए हैं, इनके साथ-साथ अनेक शक्तियों से युक्त आत्मा है, फिर भी वह [अपने] ज्ञानमात्रपने को नहीं छोड़ता है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ वसन्ततिलका ॥

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि,
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं,
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु॥ २॥

॥ अर्थ ॥ इति कहिये ऐसैं, ए सैंतालीस शक्ति कही, तिनिकूं आदि लेकरि अनेक अपनीं शक्तिनि करि भलै प्रकार भया है, तौऊ जो भाव ज्ञानमात्रमयीपणां कूं नाही छोडै है सो चैतन्य आत्मा द्रव्यपर्यायमयी इस लोक मैं वस्तु है।

कैसा है। क्रमरूप अर अक्रमरूप विशेष वर्त्तनेंवाले जे विवर्त्त कहिये परिणमन के विकाररूप अवस्था, तिनि करि चित्र कहिये नाना प्रकार होय प्रवर्त्तै है॥ छ॥

॥ भावार्थ ॥ कोई जानैंगा कि ज्ञानमात्र कह्या सो आत्मा एकाकार एकस्वरूप ही है सो ऐसैं नाही है। वस्तु का स्वरूप द्रव्यपर्यायमयी है अर चैतन्य भी वस्तु है सो अनंत शक्ति करि भर्या है सो क्रमरूप अर अक्रमरूप अनेक परिणाम के विकारनि[१] का समूहरूप अनेकाकार होय है अर ज्ञान असाधारण भाव है, ताकूं नाही छोडै है। सर्व अवस्था परिणाम पर्याय हैं, ते ज्ञानमयी हैं॥ छ॥

॥ रोला ॥

इत्यादिक अनेक शक्ति से भरी हुई है,
फिर भी ज्ञानमात्रमयता को नहीं छोड़ती।
और क्रमाक्रमभावों से जो मेचक होकर,
द्रव्य और पर्यायमयी चिद्वस्तु लोक में॥ २६४॥

अर्थ – इति अर्थात् इस प्रकार यहाँ सैंतालीस शक्तियाँ कही हैं, उनके साथ-साथ अपनी अनेक शक्तियों से जो अच्छी तरह भरा हुआ है, फिर भी जो ज्ञानमात्रमयी भाव को नहीं छोड़ता – ऐसा चैतन्यस्वरूप आत्मा, इस लोक में द्रव्यपर्यायमयी वस्तु है।

वह कैसा है? — क्रमरूप और अक्रमरूप विशेषों में वर्तनेवाले विवर्त अर्थात् परिणमन की विकाररूप अवस्थाओं से चित्रित अर्थात् अनेक प्रकार का होकर प्रवर्तता है।

भावार्थ – कोई ऐसा समझेगा कि [आत्मा को] ज्ञानमात्र कहा है; अतः वह आत्मा एकाकार एकस्वरूप ही है तो ऐसा नहीं है। वस्तु का स्वरूप द्रव्य-पर्यायमयी है और चैतन्य वस्तु भी अनन्त शक्तियों से भरी हुई है। वह क्रमरूप और अक्रमरूप अनेक परिणामों के विकारों (विस्तार) के समूहरूप अनेकाकारमयी होती है, फिर भी वह ज्ञानरूप असाधारणभाव को नहीं छोड़ती है। [आत्मा की] सर्व अवस्थाएँ, परिणाम या पर्यायें ज्ञानमयी हैं।

---

१. 'अ' प्रति में विस्तार काट कर विकार किया गया लगता है।

अव इस अनेकस्वरूप वस्तु कूं जे जानैं हैं, श्रद्धैं हैं, अनुभवैं हैं, तिनिकी वडाई कै अर्थरूप काव्य कहै है॥

॥ वसन्ततिलका ॥

नैकान्तसङ्गतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो,
ज्ञानी भवन्ति जिननीतिमलङ्घयन्तः॥ ३॥

॥ अर्थ॥ वस्तु है सो स्वयमेव आपै आप अनेकांतात्मक है, अैसै वस्तुतत्त्व की व्यवस्था कूं अनेकांत विषै संगत कहिये प्राप्त करी जो दृष्टि, ता करि विलोकते देषते संते सत्पुरुष हैं, ते स्याद्वाद की अधिक शुद्धि कूं अंगीकार करिकैं अर ज्ञानी होय हैं।

कैसे भये संते। जिनेश्वरदेव का स्याद्वाद न्याय, ताकूं वादी उल्लंघन न करते हैं॥

॥ भावार्थ॥ जे सत्पुरुष अनेकांत कूं लगाई दृष्टि करि अैसैं अनेकांतरूप वस्तुतत्त्व की मर्यादा कूं देषते हैं, ते स्याद्वाद की शुद्धि कूं पाय करि ज्ञानी होय हैं अर जिनदेव के स्याद्वाद न्याय कूं नाही उल्लंघैं हैं॥ स्याद्वाद न्याय जैसैं वस्तु है, तैसैं कहै हैं, असत्कल्पनां नाही करै है॥ छ॥

अब, इस अनेकस्वरूप (अनेकान्तस्वरूप) वस्तु को जो जानते हैं, श्रद्धान करते हैं, अनुभव करते हैं; उनकी प्रशंसा करने के लिए काव्य कहते हैं —

॥ रोला ॥

अनेकान्त की दिव्यदृष्टि से स्वयं देखते,
वस्तुतत्त्व की यही व्यवस्था अरे सन्तजन!।
स्याद्वाद की अधिकाधिक शुद्धि को लख अरु,
नहीं लाँघते जिननीति को ज्ञानी होते॥ २६५॥

अर्थ – वस्तु स्वयमेव अपने आप अनेकान्तात्मक है – ऐसे वस्तुतत्त्व की व्यवस्था को, अनेकान्त में सुसङ्गत अर्थात् प्राप्त की हुई दृष्टि से, विलोकते या देखते हुए सत्पुरुष, स्याद्वाद की अधिक (विशेष) शुद्धि को अङ्गीकार करके ज्ञानी होते हैं।

कैसे होते हुए ज्ञानी होते हैं? – जिनेश्वरदेव के स्याद्वादरूपी न्याय का वादीजन उल्लङ्घन नहीं करते हुए [ज्ञानी होते] हैं।

भावार्थ – जो सत्पुरुष, अनेकान्त में लगाई हुई दृष्टि से अनेकान्तस्वरूप वस्तुतत्त्व की मर्यादा को देखते हैं, वे स्याद्वाद की शुद्धि को प्राप्त करके ज्ञानी होते हैं और जिनदेव के स्याद्वादरूपी न्याय का उल्लङ्घन नहीं करते हैं। यह स्याद्वाद-न्याय, जैसी वस्तु है वैसी ही कहता है, असत्कल्पना नहीं करता है।

ऐसैं स्याद्वाद का अधिकार पूर्ण कीया॥ छ॥

अब, ज्ञानमात्र भाव कै उपाय अर उपेय, ए दोऊ भाव विचारिये है।

जातैं उपाय तौ जा करि पावनें योग्य भाव पाइए सो है, ताकूं मोक्षमार्ग भी कहिये॥ बहुरि उपेयभाव जो पावनें योग्य, आदरनें योग्य भाव होय, ताकूं कहिये सो आत्मा का शुद्ध सर्व कर्मनि तैं रहित भाव है, ताकूं मोक्ष भी कहिये। सो यद्यपि ज्ञानमात्र भाव एक है तथापि अनेकांतस्वरूप है, तामैं स्याद्वाद तैं साध्या हूवा उपाय उपेय, ए दोऊ भाव एक ही मैं वणैं हैं॥ सो विचारिये है॥ छ॥

आत्मा जो वस्तु, ताकै ज्ञानमात्रपणां होतैं भी उपाय उपेय भाव विद्यमान है ही॥ जातैं ताकै एक कै भी स्वयमेव आपै आप साधक अर सिद्धि, इनि दोऊरूप परिणामीपणां है॥ आत्मा तौ परिणामी है अर साधकपणां अर सिद्धिपणां, ए दोऊ परिणाम हैं॥ तहां जो साधकरूप है सो तौ उपाय है॥ बहुरि जो सिद्धरूप है सो उपेय है॥

यातैं इस आत्मा कै अनादि तैं लगाय मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्रनि करि अपनां स्वरूप तैं च्युत होनें तैं संसार मैं भ्रमता कै भलै प्रकार निश्चल ग्रहण कीया जो व्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र, ताका पाक कहिये परिपाक, पचनां, ताका प्रकर्ष कहिये वधनें की परंपरा, ता करि अनुक्रम करि अपनां स्वरूप विषै आप कूं आरोपण करता कै[1] अंतर्मग्न जो निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का विशेष,

---

इस प्रकार **स्याद्वाद का अधिकार** पूर्ण होता है।

उपाय-उपेयभाव विचार[2]

अब, ज्ञानमात्र भाव के उपाय और उपेय, इन दोनों भावों का विचार करते हैं -

उपायभाव अर्थात् जिसके द्वारा प्राप्त करने योग्य भाव की प्राप्ति होती है, उसे **मोक्षमार्ग** भी कहते हैं और उपेयभाव अर्थात् प्राप्त करने योग्य या आदर करने योग्य भाव होता है, वह आत्मा का शुद्ध सर्व कर्मों से रहित भाव है, उसे **मोक्ष** भी कहते हैं। यद्यपि ज्ञानमात्र भाव एक है तथापि वह अनेकान्तस्वरूप है, उसमें स्याद्वाद से साधे गए उपाय और उपेय, ये दोनों भाव एक ही में बनते हैं; उसका विचार करते हैं —

आत्मवस्तु में ज्ञानमात्रपना होने पर भी उपाय-उपेयभाव विद्यमान है ही क्योंकि उस एक में ही स्वयमेव साधक और सिद्धि (सिद्ध) इन दोनोंरूप परिणामीपना है। आत्मा तो परिणामी है तथा साधकपना एवं सिद्धिपना (सिद्धपना), ये दोनों परिणाम हैं। वहाँ साधकरूप तो उपाय है और सिद्धरूप उपेय है।

इस प्रकार यह आत्मा, अनादि से ही मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र के कारण, अपने स्वरूप से च्युत होने के कारण, संसार में भ्रमते हुए, भली प्रकार निश्चलपने ग्रहण किये व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के पाक अर्थात् परिपाक या पचने के प्रकर्ष अर्थात् बढ़ने (वृद्धि) की परम्परा

---

१. *कै अर* - 'ब' प्रति पाठ

२. यहाँ स्याद्वाद अधिकार के अन्तर्गत 'उपाय-उपेयभाव' का विशेष प्रकरण है।

तिसपणां करि साधकरूप है॥

वहुरि तैसैं ही परम प्रकर्ष कहिये वधनां, ताकी मकरिका कहिये हद, ताकूं अधिरूढ कहिये प्राप्त भया जो रत्नत्रय, ताका अतिशय करि प्रवर्त्त्या जो समस्त कर्म का नाश, ता करि प्रज्वलित दैदीप्यमान अर अस्खलित कहिये फेरि चिगै नाही, अैसा निर्मल स्वभावभाव तिसपणां करि सिद्धरूप है। इनि साधक सिद्ध[१], दोऊ भावनि करि स्वयमेव आप परिणमता जो एक ज्ञानमात्र भाव सो ही उपाय उपेय भाव कूं साधै है॥

॥ भावार्थ॥ यह आत्मा, अनादिकाल तैं मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र तैं संसार मैं भ्रमै है सो जव व्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र कूं निश्चल अंगीकार करै, तव अनुक्रम तैं अपनां स्वरूप का अनुभवन की वृद्धि करता निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की पूर्णता कूं प्राप्त होय, तेतै तौ साधकरूप है॥ वहुरि निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की पूर्णता करि समस्त कर्म का नाश होय, तव साक्षात् मोक्ष होय सो सिद्धरूप भाव है॥ सो इनि दोऊ भावरूप ज्ञान ही का परिणाम है सो ही उपायोपेयभाव है॥ छ॥

अैसैं दोऊ ही भावनि विषै ज्ञानमात्र कै अनन्यपणां है, अन्यपणां नाही है, तिस करि नित्य निरंतर नाही चिगता जो एक वस्तु, ताका नि:कंप परिग्रहण तैं तिस ही काल मोक्ष के अर्थी पुरुषनि कै जो भूमिका अनादि संसार तैं लगाय कवहू जिनि नैं पाई नाही, अैसी भूमिका का लाभ, तिनिकूं या प्रकार

के द्वारा अनुक्रम से अपने स्वरूप में स्वयं को आरोपित करनेवाले जीव के अन्तर्मग्न (आत्मा में मग्न) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की विशेषता के कारण साधकपना है।

इसी तरह परम प्रकर्ष अर्थात् वृद्धिङ्गत होने की मकरिका अर्थात् हद या पराकाष्ठा पर आरूढ़ अर्थात् प्राप्त हुए रत्नत्रय की अतिशयता से प्रवर्तित, समस्त कर्मों के नाश से प्रज्ज्वलित दैदीप्यमान और अस्खलित अर्थात् फिर कभी विचलित नहीं होते – ऐसे निर्मल स्वभावभाव के कारण सिद्धपना है।

इन साधक और सिद्ध, दोनों भावों से स्वयमेव परिणमित होता हुआ, एक ज्ञानमात्र भाव ही उपाय-उपेयभाव को साधता है।

भावार्थ – यह आत्मा, अनादिकाल से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारण, संसार में भ्रमण कर रहा है; वह जब व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को निश्चलरूप से अङ्गीकार करता है, तब अनुक्रम से अपने स्वरूप के अनुभवन की वृद्धि करता हुआ, निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता को प्राप्त होने तक तो साधकरूपभाव है तथा निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता करके जब समस्त कर्मों का नाश हो जाता है, तब साक्षात् मोक्ष होता है, वह सिद्धरूप भाव है। इन दोनों भावरूप ज्ञान ही का परिणमन है, वही उपाय-उपेयभाव है।

इस प्रकार दोनों ही भावों में ज्ञानमात्र का अनन्यपना है, अन्यपना नहीं है; उसके द्वारा नित्य निरन्तर अविचलित एक वस्तु के निष्कम्प परिग्रहण से तत्काल मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को अनादि संसार

---

१. *सिद्धि* - 'अ' प्रति पाठ

होय है॥ तातैं ते सत्पुरुष तहां सदाकाल निश्चल भये संते आप ही तैं क्रमरूप अर अक्रमरूप प्रवर्त्ते जे अनेकांत कहिये अनेक धर्म, तिनिकी मूर्त्ति भये संते, साधकभाव तैं है संभव कहिये उत्पत्ति जाकी, अैसी परम प्रकर्ष की हदरूप जो सिद्धि, ताके भाव के भाजन होय है॥

वहुरि जे इस भूमि कूं नाही पावैं हैं।

कैसी है भूमि। अंतर्नीत कहिये जामैं गर्भित भये जे अनेक धर्म, अैसा जो ज्ञानमात्र एक भाव, तिसस्वरूप है॥

सो अैसी भूमि कूं जे नाही पावैं, ते नित्य अज्ञानी होते संते ज्ञानमात्र एक भाव कै अपनां स्वरूप करि नाही होनां अर पररूप करि होनां देषते संते, श्रद्धान करते संते, जानते संते, आचरते संते, मिथ्यादृष्टी भये संते, मिथ्याज्ञानी भये संते, मिथ्याचारित्री भये संते, अत्यंत उपायोपेयभाव तैं भ्रष्ट भये संते संसार मैं भ्रमैं ही हैं॥ छ॥

अव, इस अर्थ के कलशरूप काव्य कहै है॥

॥ वसन्ततिलका॥

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां,
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धाः,
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति॥ ४॥

से अब तक अप्राप्त भूमिका की प्राप्ति होती है; अतः वे सत्पुरुष उसमें ही सदाकाल निश्चल रहते हुए, स्वयं ही क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तित अनेकान्त अर्थात् अनन्त धर्मों की मूर्ति होते हुए, साधकभाव से ही सम्भव है उत्पत्ति जिसकी – ऐसी परम प्रकर्ष की पराकाष्ठारूप सिद्धि के भाव के योग्य होते हैं।

लेकिन जो इस भूमि को नहीं पाते हैं....।

कैसी है यह भूमि? – अन्तर्नीत अर्थात् जिसमें अनेक धर्म गर्भित हैं, ऐसे एक ज्ञानमात्र भावस्वरूप है।

....ऐसी भूमि को जो नहीं पाते हैं, वे नित्य अज्ञानी रहते हुए, ज्ञानमात्र एक भाव को अपने स्वरूप से नहीं होने और पररूप से होने को देखते हुए, उसी का श्रद्धान करते हुए, जानते हुए, आचरण करते हुए, मिथ्यादृष्टि होते हुए, मिथ्याज्ञानी होते हुए और मिथ्याचारित्री होते हुए, उपाय-उपेयभाव से अत्यन्त भ्रष्ट होते हुए, संसार में ही भ्रमण करते हैं।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

॥ वसन्ततिलका॥

रे! ज्ञानमात्र निजभाव अकम्पभूमि,
को प्राप्त करते जो अपनीतमोही।

॥ अर्थ ॥ ये भव्य पुरुष कोई प्रकार करि, कैसैं ही दूरि भया है मोह अज्ञान मिथ्यात्व जिनिका, अैसे हैं, ते ज्ञानमात्र निजभावमयी निश्चल भूमिका कूं आश्रय करैं हैं ॥ ते पुरुष साधकपणां कूं अंगीकार करि सिद्ध होय हैं ॥ वहुरि जे मूढ मोही अज्ञानी मिथ्यादृष्टी हैं, ते इस भूमि कूं न पाय अर संसार मैं भ्रमैं हैं।

॥ भावार्थ ॥ जे पुरुष गुरु के उपदेश तैं तथा स्वयमेव काललब्धि कूं पाय मिथ्यात्व सूं रहित होय हैं, ते ज्ञानमात्र अपनां स्वरूप कूं पाय साधक होय, सिद्ध होय हैं, अर ज्ञानमात्र आत्मा कूं नाही पावैं हैं, ते संसार मैं भ्रमैं हैं ॥ छ ॥

अव कहै है जो यह[१] भूमिका अैसैं पावै है ॥

॥ वसन्ततिलका ॥

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां,
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री-
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥ ५ ॥

॥ अर्थ ॥ जो पुरुष स्याद्वाद न्याय का प्रवीणपणां अर निश्चल व्रत समिति गुप्तिरूप संयम,

---

साधकपने को पा वे सिद्ध होते,
अरु अज्ञ बिन इसके परिभ्रमण करते ॥ २६६ ॥

अर्थ – जिन भव्य पुरुषों का, किसी भी प्रकार से अर्थात् कैसे भी मोह, अज्ञान और मिथ्यात्व दूर हो गया है; वे पुरुष **ज्ञानमात्र निजभावमयी अकम्प भूमिका** का आश्रय करते हैं और साधकपने को अङ्गीकार करके सिद्ध होते हैं। लेकिन जो मूढ़, मोही, अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि हैं; वे इस भूमिका को नहीं पाकर, संसार में भी भ्रमण करते हैं।

भावार्थ – जो पुरुष, गुरु के उपदेश से या स्वयमेव काललब्धि को पाकर, मिथ्यात्व से रहित होते हैं; वे ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को प्राप्त कर, साधक होकर सिद्ध हो जाते हैं और जो ज्ञानमात्र आत्मा को नहीं पाते हैं, वे संसार में ही भ्रमते हैं।

अब कहते हैं कि यह भूमिका ऐसे प्राप्त होती है —

॥ वसन्ततिलका ॥

स्याद्वादकौशल तथा संयम सुनिश्चल,
से ही सदा जो निज में जमे हैं।
वे ज्ञान एवं क्रिया की मित्रता से,
सत्पात्र हो पाते भूमिका को ॥ २६७ ॥

---

१. वह - 'ब' प्रति पाठ

इनि दोऊनि करि अपनें ज्ञानस्वरूप आत्मा विषै उपयोग लगावता संता आत्मा कूं निरंतर भावै है॥ सो ही पुरुष ज्ञाननय अर क्रियानय, इनि दोऊनि कै विषै परस्पर भया जो तीव्र मैत्रीभाव, तिसका पात्ररूप भया इस निजभावमयी भूमिका कूं पावै है॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ जो ज्ञाननय ही कूं ग्रहण करि क्रियानय कूं छोडै है सो प्रमादी स्वछंद भया इस भूमि कूं न पावै है॥ वहुरि जो क्रियानय ही कूं ग्रहण करि ज्ञाननय कूं नाही जानै है सो भी शुभकर्म मैं संतुष्ट भया, इस निःकर्म भूमि कूं नाही पावै है॥ वहुरि ज्ञान पाय निश्चल संयम कूं अंगीकार करै है, तिनिकै ज्ञाननय कै अर क्रियानय कै परस्पर अत्यंत मित्रता होय है, ते इस भूमि कूं पावैं हैं।

इनि दोऊ नयनि का ग्रहण त्याग का स्वरूप[१] वा फल पंचास्तिकाय ग्रंथ के अंत मैं कह्या है, तहां तैं जाननां॥ छ॥

अव कहै हैं, इस भूमि कूं पावै है सो ही आत्मा कूं पावै है॥

॥ वसन्ततिलका॥

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः,
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः।

अर्थ – जो पुरुष, स्याद्वाद-न्याय की प्रवीणता एवं निश्चल व्रत-समिति-गुप्तिरूप संयम, इन दोनों के साथ अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में उपयोग लगाते हुए निरन्तर आत्मा को भाते हैं; वे ही पुरुष, ज्ञाननय और क्रियानय, इन दोनों के विषय में परस्पर मैत्रीभाव के पात्र होकर, इस निजभावमयी भूमिका को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ – जो ज्ञाननय ही को ग्रहण करके क्रियानय को छोड़ते हैं, वे प्रमादी या स्वच्छन्द होकर इस भूमिका को नहीं पाते हैं और जो क्रियानय ही को ग्रहण करके ज्ञाननय को नहीं जानते हैं, वे भी शुभकर्म में सन्तुष्ट होकर इस निष्कर्म भूमिका को नहीं पाते हैं। लेकिन जो ज्ञान पाकर, निश्चल संयम को अङ्गीकार करते हैं, उनकी ज्ञाननय और क्रियानय में परस्पर मित्रता होती है; वे इस भूमि (ज्ञानमात्र निजभावमयी अकम्प भूमिका) को प्राप्त करते हैं।

इन दोनों नयों के ग्रहण-त्याग का स्वरूप और फल 'पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ' के अन्त में कहा है, वहाँ से जानना चाहिए।

अब कहते हैं कि जो इस भूमि को पाता है, वही आत्मा को पाता है —

॥ वसन्ततिलका॥

उदितप्रभा से जो सुप्रभात करता,
चित्पिण्ड जो है खिला निज-रमणता से।

---

१. *रूप* - 'ब' प्रति पाठ

आनन्दसुस्थितसदाऽस्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चाऽयमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥ ६ ॥

॥ अर्थ ॥ जो पुरुष, पूर्वोक्त प्रकार भूमि कूं पावै है, तिस ही पुरुष कै यह आत्मा उदय होय है ॥

कैसा है आत्मा। चैतन्य का जो पिंड, ताका निरर्गल विलास करनेंवाला जो विकाश प्रफुल्लित होनां, तिसरूप है हास कहिये फूलनां जाका ॥

वहुरि कैसा है। शुद्ध प्रकाश का भर कहिये समूह ता करि भस्या भला प्रभात सारिषा उदयरूप है ॥

वहुरि कैसा है ॥ आनंद करि भलै प्रकार तिष्ठ्या सदा नाही चिगता है एकरूप जाका, अैसा है ॥

वहुरि कैसा है। अचल है अर्चि कहिये ज्ञानरूप दीप्ति जाकी।

॥ भावार्थ ॥ इहां चित्पिंड इत्यादि विशेषण तैं तौ अनंतदर्शन का प्रगट होनां जनाया है। वहुरि कैसा है। शुद्ध प्रकास इत्यादि विशेषण तैं अनंतज्ञान का प्रगट होनां जनाया है अर आनंद सुस्थित इत्यादि विशेषण करि अनंतसुख का प्रगट होनां जनाया है अर अचलार्चि इस विशेषण करि अनंतवीर्य का प्रगट होनां जनाया है। पूर्वोक्त भूमि के आश्रय तैं अैसा आत्मा उदय हो है ॥ छ ॥

अव कहै है, अैसा ही आत्मस्वभाव हमारै प्रगट होऊ ॥ छ ॥

जो अस्खलित है आनन्दमय वह,
होता उदित अद्भुत अचल आतम ॥ २६८ ॥

अर्थ – जो पुरुष, पूर्वोक्त प्रकार की भूमि (ज्ञानमात्र निजभावमयी अकम्प भूमिका) को प्राप्त करता है; उसी पुरुष को यह आत्मा उदित होता है।

कैसा है आत्मा? – चैतन्य के पिण्ड के प्रचण्ड (निरर्गल) विलास के विकासस्वरूप प्रफुल्लित खिलनेवाला है।

और कैसा है? – शुद्ध प्रकाश के भर अर्थात् समूह से परिपूर्ण उत्कृष्ट प्रभात (सूर्योदय) के समान उदयरूप है।

और कैसा है? – आनन्द में अच्छी तरह स्थित रहता हुआ सदा अविचलित एकरूपवाला है।

और कैसा है? – जिसकी अर्चि अर्थात् ज्ञानरूप दीप्ति अचल है।

भावार्थ – यहाँ चित्पिण्ड इत्यादि विशेषण से तो **अनन्तदर्शन,** शुद्ध प्रकाश आदि विशेषण से **अनन्तज्ञान,** आनन्द सुस्थित इत्यादि विशेषण से **अनन्तसुख,** एवं अचलार्चि विशेषण से **अनन्तवीर्य** -इन चारों का प्रगट होना बताया है। इस प्रकार पूर्वोक्त भूमि (ज्ञानमात्र निजभावमयी अकम्प भूमिका) के आश्रय से ऐसा आत्मा उदित होता है।

अब कहते हैं कि ऐसा ही [परिपूर्ण] आत्मस्वभाव मुझे प्रगट हो —

॥ वसन्ततिलका ॥

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे,
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः॥ ७॥

॥ अर्थ ॥ मो विषै स्याद्वाद करि दीपित कहिये प्रकाशरूप भया है लहलाट करता तेजपुंज जामैं, वहुरि शुद्धस्वभाव की है महिमा जामैं, अैसा ज्ञानप्रकाश उदय होतैं वंधमोक्ष कै मार्ग पटकनेंवाले जे अन्यभाव, तिनि करि कहा साध्य है। मेरै तौ केवल अनंतचतुष्टयरूप यह अपनां स्वभाव सो निरंतर उदयरूप भया स्फुरायमान होऊ।

॥ भावार्थ ॥ स्याद्वाद करि यथार्थ आत्मज्ञान भये पीछैं, याका फल पूर्ण आत्मा का प्रगट होनां है सो मोक्ष का इच्छुक पुरुष यह ही प्रार्थना करै है जो मेरा पूर्णस्वभाव आत्मा उदय होऊ, अन्यभाव वंधमोक्ष का मार्ग की कथारूप हैं, तिनि करि कहा प्रयोजन है॥ छ॥

अव कहै है जो नयनि करि आत्मा साधिये है परंतु नय ही परि दृष्टि रहै तौ नयनि कै परस्पर विरोध भी है, तातैं मैं नयनि कूं अविरोध करि आत्मा कूं अनुभऊं हौं॥

॥ वसन्ततिलका ॥

महिमा उदित शुद्धस्वभाव की नित,
स्याद्वाद-दीपित लसत् सद्ज्ञान में जब।
तब बन्ध-मोक्षमग में आपतित भावों,
से क्या प्रयोजन है तुम ही बताओ॥ २६९॥

अर्थ – स्याद्वाद से दीपित अर्थात् जिसमें लहलहाट करता हुआ प्रकाशरूप तेजपुञ्ज प्रगट हुआ है – ऐसे शुद्धस्वभाव की महिमावाले ज्ञानप्रकाश का उदय होने पर, बन्ध-मोक्ष के मार्ग में गिरनेवाले (आ जानेवाले) अन्य भावों से मुझे क्या साध्य है? [हे प्रभु!] मुझमें तो केवल अनन्तचतुष्टयरूप यह अपना स्वभाव, निरन्तर उदित होकर स्फुरायमान हो!

भावार्थ – स्याद्वाद के द्वारा यथार्थ आत्मज्ञान हो जाने के बाद उसका फल पूर्ण आत्मा का उदय होना है; अतः मोक्ष के इच्छुक पुरुष, यही प्रार्थना करते हैं कि मुझमें पूर्ण स्वभाववाला आत्मा उदित हो, अन्यभाव तो बन्ध-मोक्षमार्ग की कथारूप हैं, उनसे मेरा क्या प्रयोजन है?

अब कहते हैं कि नयों के द्वारा आत्मा साधा जाता है परन्तु नयों पर ही दृष्टि रहे तो नयों में परस्पर विरोध भी है, अतः मैं नयों के विरोध को दूर करके अविरोधपूर्वक अपनी आत्मा का अनुभव करता हूँ —

॥ वसन्ततिलका ॥

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा,
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि॥ ८॥

॥ अर्थ॥ यह आत्मा है सो चित्र कहिये अनेक प्रकार जे अपनीं शक्ति, तिनिके समुदायमयी है सो नयनि की दृष्टि करि भेदरूप किया हूवा तत्काल खंडखंडरूप होय नाश कूं प्राप्त होय है, तातैं मैं मेरा आत्मा कूं अैसैं अनुभऊं हौं जो मैं चैतन्यमात्र महः[१] वस्तु हौं।

सो कैसा हूँ। नाही निराकरण कीये है खंड जामैं, तौऊ खंडभेदरहित अखंड हौं, एक हौं। वहुरि एकांत शांतरूप हौं, जामैं कर्म का उदय का लेश नाही, अैसा शांतभावमयी हौं अर अचल हौं, कर्म उदय का चलाया चलूं नाही हौं॥ छ॥

॥ भावार्थ॥ आत्मा मैं अनेक शक्ति हैं अर एक एक शक्ति का ग्राहक एक एक नय है सो नयनि की एकांत दृष्टि करि ही देषिये तौ आत्मा का खंड खंड होय नाश होय जाय, तातैं स्याद्वादी, नयनि का विरोध मेटि चैतन्यमात्र वस्तु, अनेक शक्ति समूहरूप, सामान्य विशेष स्वरूप सर्व शक्तिमयी

॥ वसन्ततिलका ॥

निज शक्तियों का समुदाय आतम,
विनष्ट होता नयदृष्टियों से।
खण्ड-खण्ड होकर खण्डित नहीं मैं,
एकान्त शान्त चिन्मात्र अखण्ड हूँ मैं॥ २७०॥

अर्थ – यह आत्मा अपनी चित्र अर्थात् अनेक प्रकार की शक्तियों के समुदायमयी है, वह नयों की दृष्टि द्वारा भेदरूप करने पर तत्काल खण्ड-खण्डरूप होकर नाश को प्राप्त होता है; अतः मैं अपनी आत्मा का ऐसे अनुभव करता हूँ कि मैं चैतन्यमात्र महः अर्थात् प्रकाशरूप वस्तु हूँ।

और कैसा हूँ? – यद्यपि जिसमें खण्डों का निराकरण नहीं किया गया है तथापि मैं खण्ड या भेद से रहित अखण्ड हूँ, एक हूँ और एकान्त शान्तरूप हूँ, जिसमें कर्म के उदय का लेश नहीं है – ऐसा मैं शान्तभावमयी हूँ, अचल हूँ अर्थात् कर्म के उदय से चलायमान करने पर भी चलित नहीं होता हूँ।

भावार्थ – आत्मा में अनेक शक्तियाँ हैं और एक-एक शक्ति का ग्राहक एक-एक नय है, अतः नयों की एकान्त दृष्टि से देखने पर तो आत्मा खण्ड-खण्ड होकर नाश को प्राप्त हो जाता है; इसलिए स्याद्वादी, नयों का विरोध मिटाकर, चैतन्यमात्र वस्तु को अनेक शक्तियों का समूह, सामान्य-विशेषस्वरूप,

---

१. *चैतन्यमात्रं* – 'अ' प्रति पाठ

एक ज्ञानमात्र अनुभव करै है, अैसा वस्तु का स्वरूप है, यामैं[१] विरोध नाही। छ॥

अव अखंड आत्मा का अैसैं अनुभव करै सो कहै है॥

''न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि,
न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि;
सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रो भावोऽस्मि।''[२]

॥ अर्थ॥ ज्ञानी शुद्धनय का आलंवन लेकरि अैसैं अनुभवै जो मेरे शुद्धात्मस्वरूप कूं मैं द्रव्य करि नाही खंडूं हौ, भेद नाही देषूं हौं तथा क्षेत्र करि नाही खंडूं हौ तथा काल करि नाही खंडूं हौं तथा भाव करि नाही खंडूं हौं। भलै प्रकार विशुद्ध निर्मल एक ज्ञानमयी भाव हौं।

॥ भावार्थ॥ शुद्धनय करि देषिये, तव द्रव्य क्षेत्र काल भाव करि शुद्ध चैतन्यमात्र भाव विषै किछू भी भेद नाही दीषै है, तातैं ज्ञानी अभेद ज्ञानस्वरूप अनुभव मैं भेद नाही करै है॥ छ॥

अव कहै है जो ज्ञान तौ मैं हौं, ज्ञेय ज्ञेय हैं॥

॥ शालिनी॥

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि, ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्, ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः॥ ९॥

सर्व शक्तिमयी, एक ज्ञानमात्र अनुभव करता है। ऐसा वस्तु का स्वरूप है, इसमें विरोध नहीं है।

अब, [ज्ञानी] अखण्ड आत्मा का ऐसे अनुभव करता है, वह कहते हैं -

॥ हरिगीतिका॥

द्रव्य से खण्डित नहीं हूँ, क्षेत्र से खण्डित नहीं।
अर काल से खण्डित नहीं मैं, भाव से खण्डित नहीं॥
द्रव्य-क्षेत्र अरु काल-भाव से, पूर्ण अभेद अखण्ड हूँ।
मैं ज्ञानमात्र विशुद्ध हूँ, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ॥[३]

अर्थ – ज्ञानी, शुद्धनय का अवलम्बन लेकर ऐसा अनुभव करते हैं कि मैं अपने शुद्धात्मस्वरूप को द्रव्य से खण्डित नहीं करता हूँ अर्थात् उसमें भेद नहीं देखता हूँ, क्षेत्र से खण्डित नहीं करता हूँ, काल से खण्डित नहीं करता हूँ और भाव से खण्डित नहीं करता हूँ; मैं तो भली प्रकार विशुद्ध निर्मल एक ज्ञानमयी भाव हूँ।

भावार्थ – शुद्धनय से देखने पर, शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कुछ भी भेद नहीं दीखते हैं; अतः ज्ञानी, अभेद ज्ञानस्वरूप अनुभव में भेद नहीं करते हैं।

---

१. *तामैं* - 'ब' प्रति में पाठ

२. व ३. यह गद्यांश, मूल 'अ' एवं हस्तलिखित 'ब' प्रति में नहीं है, परन्तु महत्त्वपूर्ण अंश होने से, पद्य जैसा प्रतीत होने से और वचनिकाकार ने उसका अर्थ-भावार्थ भी लिखा है; अतः यहाँ उसका मूल संस्कृत पाठ एवं उसका हिन्दी पद्यानुवाद दिया जा रहा है।

॥ अर्थ ॥ जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हौं सो ज्ञेय का ज्ञानमात्र ही नाही जाननां।[१]

तौ यह ज्ञानमात्र भाव कैसा जाननां, ज्ञेयनि के आकार जे ज्ञान के कल्लोल तिनिकूं विलगता[२] अैसा ज्ञान, सो ही ज्ञान सो ही ज्ञेय सो ही ज्ञाता, अैसैं ज्ञान[३] ज्ञेय ज्ञाता, इनि तीन भावनि सहित वस्तुमात्र जाननां।

॥ भावार्थ ॥ अनुभव करतैं ज्ञानमात्र अनुभवै, तव वाह्य ज्ञेय तौ न्यारे ही हैं, ज्ञान मैं पैठे नाही, वहुरि ज्ञेयनि के आकार की झलक ज्ञान मैं है सो ज्ञान भी ज्ञेयाकाररूप दीषै है, ए ज्ञान के कल्लोल हैं सो अैसा ज्ञान का स्वरूप ज्ञानरूप भी है अर आप आपकै जाननें योग्य है, तातैं ज्ञेयरूप भी है अर आप ही जाननेंवाला है, यातैं ज्ञाता भी है। अैसैं तीनूं भावस्वरूप ज्ञान एक है, याही तैं सामान्यविशेष स्वरूप वस्तु कहिये, तिसमात्र ही ज्ञानमात्र कहिये है सो अनुभव करनेंवाला अैसैं ही अनुभव करै जो अैसा ज्ञानभाव यह मैं हौं॥ छ॥

अब कहते हैं कि ज्ञान तो मैं हूँ और ज्ञेय, ज्ञेय हैं —

॥ रोला ॥

परज्ञेयों के ज्ञानमात्र मैं नहीं जिनेश्वर,
मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ निश्चित जानो।
ज्ञेयों के आकार ज्ञान की कल्लोलों से,
परिणत ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयमय वस्तुमात्र हूँ॥ २७१॥

अर्थ – यह ज्ञानमात्र भाव ही मैं हूँ, उसे ज्ञेय का ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिए।

तो फिर इस ज्ञानमात्र भाव को कैसे जानना चाहिए? – जो ज्ञेयों के आकाररूप ज्ञान की कल्लोलों में विलगता अर्थात् परिणमित या नाचता-उछलता हुआ ज्ञान है, वही ज्ञान है, वही ज्ञेय है और वही ज्ञाता है; इस प्रकार [मेरा स्वरूप] ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता, इन तीन भावों से सहित वस्तुमात्र जानना चाहिए।

भावार्थ – अनुभव करते समय जब ज्ञानमात्र का अनुभव होता है, तब बाह्य ज्ञेय तो भिन्न ही हैं, ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हैं लेकिन ज्ञेयों के आकारों की झलक ज्ञान में हैं; अतः ज्ञान भी ज्ञेयाकाररूप दिखता है परन्तु ये ज्ञान की कल्लोलें हैं – ऐसे ज्ञान का स्वरूप ज्ञानरूप भी है; स्वयं अपने द्वारा जानने योग्य है, अतः ज्ञेयरूप भी है तथा स्वयं ही जाननेवाला है, इसलिए ज्ञाता भी है। इस प्रकार तीनों भावस्वरूप ज्ञान एक ही है, इसी कारण वस्तु को सामान्य-विशेषस्वरूप कहा जाता है, इतने मात्र ही उसे ज्ञानमात्र कहा जाता है; अतः अनुभव करनेवाला ऐसा ही अनुभव करता है कि 'यह

---

१. *जानां* - 'अ' प्रति में पाठ

२. *विलगता* - इस शब्द का अर्थ यद्यपि अलग होना या पृथक् होना है, तथापि वचनिकाकार का 'विलगता' से भाव, विशेषरूप से परिणमित होना है क्योंकि संस्कृत में 'वल्गन्' पाठ है। 'वल्गन्' का अर्थ हिलना-डुलना, उछलना, नाचना, प्रसन्न होना, इधर-उधर घुमाना आदि है।

३. 'अ' प्रति पाठ

अव कहै है, अनुभव की दशा मैं अनेकरूप दीषै तौऊ यथार्थ ज्ञाता, निर्मलज्ञान कूं भूलै नाही है॥

॥ पृथ्वी ॥

क्वचिल्लसति मेचकं, क्वचिन्मेचकामेचकं,
क्वचित्पुनरमेचकं, सहजमेव तत्त्वं मम।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः,
परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत्॥ १०॥

॥ अर्थ॥ अनुभवन करनेंवाला कहे है जो मेरा आत्मतत्त्व है सो कहूं तो मेचक लसै है, अनेकाकार दीषै है॥ वहुरि कहूं अमेचक कहिये अनेकाकाररहित शुद्ध एकाकार दीषै है॥ वहुरि कहूं मेचकामेचक कहिये दोऊरूप दीषै है। तौऊ जे निर्मल वुद्धी हैं, तिनिका मन कूं भ्रमरूप नाही करै है॥

जातैं कैसा है। परस्पर भलै प्रकार मिली जे प्रगट अनेक शक्ति, तिनिका समूहस्वरूप स्फुरायमान होता है॥

॥ भावार्थ॥ आत्मतत्त्व है सो अनेक शक्ति कूं लीयें है॥ तातैं कोई अवस्था मैं तौ अनेक आकार,

---

ज्ञानमात्रभाव ही मैं हूँ।'

अब कहते हैं कि अनुभव की दशा में अनेकरूप दिखता है, फिर भी यथार्थ ज्ञाता निर्मलज्ञान को भूलता नहीं है —

॥ रोला ॥

अरे ! अमेचक कभी, कभी यह मेचक दिखता,
कभी मेचकामेचक यह दिखाई देता है।
अनन्त शक्तियों का समूह यह आतम फिर भी,
दृष्टिवन्त को भ्रमित नहीं होने देता है॥ २७२॥

अर्थ – अनुभव करनेवाला कहता है कि मेरा आत्मतत्त्व कभी तो मेचकरूप शोभित होता है अर्थात् अनेकाकार दिखता है, कभी अमेचक अर्थात् अनेकाकाररहित शुद्ध एकाकार दिखता है और कभी मेचकामेचक अर्थात् दोनोंरूप दिखता है; फिर भी जो निर्मल बुद्धि हैं, उनके मन को वह भ्रमित नहीं करता है।

अतः कैसा है? – परस्पर दृढ़ता से संयुक्त प्रगट अनेक शक्तियों के समूहस्वरूप स्फुरायमान होता है।

भावार्थ – आत्मतत्त्व, अनेक शक्तियों को धारण किए हुए है; अतः किसी अवस्था में तो

कर्म उदय के निमित्त करि अनुभव मैं आवैं हैं, वहुरि कोई अवस्था मैं शुद्ध एकाकार अनुभव मैं आवै है, वहुरि कोई अवस्था मैं शुद्धाशुद्धरूप अनुभव मैं आवै है, तौऊ यथार्थ ज्ञानी स्याद्वाद के वल करि भ्रमरूप न होय है, जैसा है तैसा मानैं है, ज्ञानमात्र सूं च्युत न होय है॥ छ॥

अव कहै है जो अनेकरूप कूं धारनां[१], यह आत्मा का अद्भुत आश्चर्यकारी विभव है॥

॥ पृथ्वी॥

इतो गतमनेकतां, दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभङ्गुरं, ध्रुवमितः सदैवोदयात्।
इतः परमविस्तृतं, धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम्॥ ११॥

॥ अर्थ॥ अहो वड़ा आश्चर्यकारी सो यह आत्मा स्वाभाविक अद्भुत विभव है जो इतः कहिये एक तरफ देषिये तौ अनेकता कूं धारता है, यह पर्यायदृष्टि है॥ वहुरि एक तरफ देषिये तौ सदा ही एकता कूं धारता है, यह द्रव्यदृष्टि है॥ वहुरि एक तरफ देषिये तौ क्षणभंगुर है, यह भी क्रमभावी पर्यायदृष्टि है॥ वहुरि एक तरफ देषिये तौ ध्रुव दीषै है, यह सहभावी गुणदृष्टि है, जातैं सदा उदयरूप दीषै है॥ वहुरि एक तरफ देषिये तौ परम विस्तारस्वरूप दीषै है, यह ज्ञान अपेक्षा सर्वगतदृष्टि है॥ वहुरि

कर्मोदय के निमित्त से अनेकाकार अनुभव में आता है, किसी अवस्था में शुद्ध एकाकार अनुभव में आता है और किसी अवस्था में शुद्धाशुद्धरूप [मिश्रित] अनुभव में आता है; फिर भी यथार्थ ज्ञानी, स्याद्वाद के बल से भ्रमित नहीं होते हैं; जैसा है वैसा मानते हैं अर्थात् ज्ञानमात्र से च्युत नहीं होते हैं।

अब कहते हैं कि अनेक रूपता को धारण करना, यह आत्मा का अद्भुत आश्चर्यकारी वैभव है —

॥ रोला॥

एक ओर से एक स्वयं में सीमित अरु ध्रुव,
अन्य ओर से ऽनेक क्षणिक विस्तारमयी है।
अहो! आतमा का अद्भुत यह वैभव देखो,
जिसे देख कर चकित जगतजन ज्ञानी होते॥ २७३॥

अर्थ – अहो! यह आत्मा का स्वाभाविक अद्भुत वैभव बड़ा आश्चर्यकारी है कि **इतः** अर्थात् एक तरफ से देखें तो अनेकता को धारण करता है, यह पर्यायदृष्टि है और एक तरफ से देखें तो सदा एकता को धारण करता है, यह द्रव्यदृष्टि है। एक तरफ से देखें तो क्षणभंगुर है, यह भी क्रमभावी पर्यायदृष्टि है और एक तरफ से देखें तो ध्रुव दिखता है, यह सहभावी गुणदृष्टि है क्योंकि सदा

---

१. *धारता* - 'ब' प्रति पाठ

एक तरफ देषिये तौ अपनें प्रदेशनि ही करि धारिये है, यह प्रदेशनि की अपेक्षा दृष्टि है॥ अैसा आश्चर्यरूप विभव कूं आत्मा धारै है॥

॥ भावार्थ॥ यह द्रव्यपर्यायात्मक अनंत धर्मा, वस्तु का स्वभाव है सो जे पूर्वैं अज्ञानी हैं, तिनिके ज्ञान मैं आश्चर्य उपजावै है जो अंसभवती वार्त्ता है। वहुरि ज्ञानीनि कै वस्तुस्वभाव मैं आश्चर्य नाही है, तौऊ अद्भुत परम आनंद अैसा होय है, अैसा कवहू पूर्वैं न भया, यह आश्चर्य भी उपजै है। छ॥

फेरि इस ही अर्थरूप काव्य है।

॥ पृथ्वी॥

कषायकलिरेकतः, स्खलति शान्तिरस्त्येकतो,
भवोपहतिरेकतः, स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
जगत्त्रितयमेकतः, स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः,
स्वभावमहिमात्मनो, विजयतेऽद्भुतादद्भुतः॥ १२॥

॥ अर्थ॥ आत्मा का स्वभाव का महिमा हैं सो अद्भुत तैं अद्भुत विजयरूप प्रवर्तै है, काहू करि वाध्या न जाय है।

कैसा है॥ एक तरफ देषिये तौ कषायनि का कलेश दीषै है॥ वहुरि एक तरफ देषिये तौ कषायनि

उदयरूप दिखता है। एक तरफ से देखें तो परम विस्तारस्वरूप दिखता है, यह ज्ञान की अपेक्षा सर्वगतदृष्टि है और एक तरफ से देखें तो अपने प्रदेशों को ही धारण करता है, यह प्रदेशों की अपेक्षा [असर्वगत] दृष्टि है। इस प्रकार ऐसे आश्चर्यरूप वैभव को आत्मा धारण करता है।

भावार्थ – यह द्रव्य-पर्यायात्मक अनन्तधर्मात्मक वस्तु का स्वभाव है लेकिन जो पहले से अज्ञानी हैं, उनके ज्ञान में तो आश्चर्य उत्पन्न होता है कि यह असम्भव बात है परन्तु ज्ञानी को वस्तुस्वभाव में आश्चर्य नहीं होता है बल्कि ऐसा अद्भुत आनन्द होता है, जैसा पहले कभी नहीं हुआ; यह आश्चर्य भी उपजता है।

पुनः, इसी अर्थ का काव्य कहते हैं —

॥ रोला॥

एक ओर से शान्त मुक्त चिन्मात्र दीखता,
अन्य ओर से भव-भव पीड़ित राग-द्वेषमय।
तीन लोकमय भासित होता विविध नयों से,
अहो! आतमा का अद्भुत यह वैभव देखो॥ २७४॥

अर्थ – आत्मा के स्वभाव की महिमा, अद्भुत से भी अद्भुत विजयरूप प्रवर्तती है, किसी के द्वारा बाधित नहीं की जा सकती है।

का उपशमरूप शांतभाव है॥ वहुरि एक तरफ देषिये तौ संसार संवंधी पीडा दीषै है॥ वहुरि एक तरफ देषिये तौ संसार का अभावरूप मुक्ति भी स्पर्शै है॥ वहुरि एक तरफ देषिये तौ आत्मा मैं तीनूं लोक समाहि रहे हैं॥ वहुरि एक तरफ देषिये तौ केवल एक चैतन्यमात्र ही सोभै है॥ अैसैं अद्भुत तैं अद्भुत महिमा है॥

॥ भावार्थ॥ इहां भी पहले काव्य के भावार्थरूप ही जाननां। यह अन्यवादी सुणि वडा आश्चर्य करै, तिनिके चित्त मैं विरुद्ध भासै सो समाहि सकै नाही अर तिनिकै कदाचित् श्रद्धा आवै तौ प्रथम अवस्था मैं वडा अद्भुत दीषै जो हमनें अनादि काल यों ही षोया, यह जिनवचन वडे उपकारी हैं, वस्तु का स्वरूप यथार्थ जनावैं हैं, अैसैं आश्चर्य करि श्रद्धान करै है॥ छ॥

आगैं टीकाकार इस सर्व विशुद्धज्ञान का अधिकार पूर्ण करै है, ताकै अंत मंगल कै अर्थि इस चित्चमत्कार ही कूं सर्वोत्कृष्ट कहै है॥

॥ मालिनी॥

जयति सहजतेजः पुञ्जमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोप्येक एव स्वरूपः।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भः
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः॥ १३॥

कैसा है वह? – एक तरफ से देखें तो कषायों का क्लेश दीखता है और एक तरफ से देखें तो कषायों के उपशमरूप शान्तभाव है; एक तरफ से देखें तो संसार-सम्बन्धी पीड़ा दीखती है और एक तरफ से देखें तो संसार के अभावरूप मुक्ति भी स्पर्श करती है; एक तरफ से देखें तो आत्मा में तीन लोक समाहित हो रहे हैं और एक तरफ से देखें तो केवल एक चैतन्यमात्र ही शोभित हो रहा है। इस प्रकार [आत्मा की] अद्भुत से अद्भुत महिमा है।

भावार्थ – यहाँ भी पूर्वोक्त छन्द के भावार्थ के अनुसार ही जानना चहिए। अन्यवादी ऐसा स्वरूप सुन कर बड़ा आश्चर्य करते हैं क्योंकि उनके चित्त में विरोध भासित होता है; इसलिए चित्त में समा नहीं सकता है। यदि उनको कदाचित् श्रद्धा हो जाती है तो प्रारम्भ में उन्हें बड़ा अद्भुत दीखता है कि 'हमने अनादि से व्यर्थ ही काल खोया! ये जिनवचन तो बड़े उपकारी हैं, वस्तु का यथार्थ स्वरूप बताते हैं'; इस प्रकार वे आश्चर्य से युक्त श्रद्धान प्रगट करते हैं।

अब, टीकाकार इस सर्व विशुद्धज्ञान अधिकार को पूर्ण करते हुए, उसके अन्त में मङ्गल के लिए इस चित्चमत्कार ही को सर्वोत्कृष्ट कहते हैं —

॥ सोरठा॥

झलकें तीनों लोक, सहज तेज के पुञ्ज में।
यद्यपि एकस्वरूप, तद्यपि भेद दिखाई दें॥

॥ अर्थ ॥ यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर चैतन्य चमत्कार है सो जयवंत प्रवर्तै है, काहू करि वाध्या न जाय, अैसैं सर्वोत्कृष्ट होय प्रवर्त्तै है॥

कैसा है। अपनां स्वभाव स्वरूप जो तेज, प्रकाश का पुंज, ता विषै मग्न होते जे तीन लोक के पदार्थ, तिनि करि होते दीषते हैं[१] अनेक विकल्प भेद जामैं, अैसा है, तौऊ एक ही स्वरूप ही है॥ ॥ भावार्थ॥[२] केवलज्ञान मैं सर्व पदार्थ झलकैं हैं सो अनेक ज्ञेयाकाररूप दीषैं हैं, तौऊ चैतन्यरूप ज्ञानाकार की दृष्टि मैं एक ही स्वरूप हैं॥

वहुरि कैसा है। अपनां निजरस करि पूर्ण अैसा नाही छिद्या है तत्त्वस्वरूप का पावनां जाकै। ॥ भावार्थ॥[३] प्रतिपक्षी कर्म का अभाव भया, तातैं नाही है पाया स्वभाव का अभाव जाकै, अैसा है॥

वहुरि कैसा है॥ प्रसभ कहिये प्रगट वलात्कारैं नियमरूप है दीप्ति जाकी॥ भावार्थ॥[४] अपनां अनंतवीर्य तैं निःकंप तिष्ठै है॥ अैसा चित्चमत्कार जयवंत है। इहां जयवंत कहनें मैं सर्वोत्कर्ष करि वर्त्तनां कह्या सो यह ही मंगल है॥ छ॥

आगैं, टीकाकार अपनां नाम कूं प्रगट करनेंपूर्वक आत्मा ही कूं आशीर्वाद करै है।

सहज तत्त्व-उपलब्धि, निजरस के विस्तार से।
नियत ज्योति चैतन्य, चमत्कार जयवन्त है॥ २७५॥

अर्थ – यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर चैतन्य-चमत्कार जयवन्त वर्तता है, किसी से बाधित नहीं होता – ऐसा सर्वोत्कृष्ट प्रवर्तता है।

कैसा है वह? – अपने स्वभावरूप तेज अर्थात् प्रकाश के पुञ्ज में मग्न होनेवाले तीन लोक के पदार्थों के कारण अनेक विकल्प या भेद, जिसमें होते हुए दीखते हैं, फिर भी वह एकस्वरूप ही है। **भावार्थ** यह है कि केवलज्ञान में सर्व पदार्थ झलकते हैं, अत: अनेक ज्ञेयाकाररूप दीखता है, फिर भी वह चैतन्यस्वरूप ज्ञानाकार की दृष्टि में एकस्वरूप ही है।

और कैसा है? – जो अपने निजरस से पूर्ण है, जिसमें तत्त्वस्वरूप ही प्राप्ति खण्डित नहीं होती है। **भावार्थ** यह है कि प्रतिपक्षी कर्म का अभाव होने से जिसमें स्वरूप का अभाव नहीं पाया जाता है – ऐसा है।

और कैसा है? – प्रसभ अर्थात् प्रगट बलात्कारपने (शक्तिपूर्वक) जिसकी दीप्ति नियमरूप है। **भावार्थ** यह है कि अपने अनन्तवीर्य के कारण जो निष्कम्प स्थित रहता है – ऐसा चित्चमत्कार जयवन्त है। यहाँ जयवन्त कहकर सर्वोत्कृष्टरूप से उसकी विद्यमानता कही है, यही मङ्गल है।

अब, टीकाकार अपने नाम को प्रगट करते हुए आत्मा ही को आशीर्वाद देते हैं —

---

१. *जे* - 'अ' प्रति में पाठ

२-४. इस श्लोक के अर्थ में अनेक बार *॥ भावार्थ॥* लिखा गया है, लेकिन वह पूरे श्लोक का भावार्थ नहीं होकर, उसके छोटे-छोटे अंशों का भावार्थ है।

॥ मालिनी ॥

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम्।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्ता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम्॥ १४॥[१]

॥ अर्थ ॥ यह अमृतचन्द्र ज्योति कहिये जामैं मरण नाही तथा जा करि अन्य कै मरण नाही सो अमृत तथा अत्यंत स्वादुरूप मिष्ट होय, ताकूं लोकरूढि करि अमृत कहै है। अैसा अमृतमयी जो

॥ दोहा ॥

मोहरहित निर्मल सदा, अप्रतिपक्षी एक।
अचल चेतनारूप में, मग्न रहे स्वयमेव॥
परिपूरण आनन्दमय, अरु अद्भुत उद्योत।
सदा उदित चहुँ ओर से, अमृतचन्द्र-ज्योति॥ २७६॥

अर्थ – यह अमृतचन्द्र-ज्योति अर्थात् जिसमें मरण नहीं है और जिसके द्वारा अन्य का मरण नहीं होता है, अतः अमृत है। लोक में भी जो अत्यन्त स्वादिष्ट और मिष्ट होता है, उसे लोकरूढ़ि

---

१. इस श्लोक के बाद अगास एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन में संस्कृत आत्मख्याति टीका में निम्न अंश प्राप्त होता है, जो अन्य प्रकाशनों में प्राप्त नहीं होता; भाषा वचनिका में भी इस अंश की वचनिका प्राप्त नहीं होती, अतः पण्डित जयचन्द्रजी छाबड़ा को भी यह अंश प्राप्त नहीं था, यह सिद्ध होता है। इसमें '**सप्तभङ्गी**' का प्रकरण है। यहाँ उपयोगी जानकर वह अंश यहाँ टिप्पणी में दिया जा रहा है –

''मुक्तामुक्तैकरूपो यः, कर्मभिः संविदादितः॥ अक्षयं परमात्मानं, ज्ञानमूर्तिं नमाम्यहम् ॥ १॥''

अथ द्रव्यस्यादेशवशेनोक्तां सप्तभङ्गीमवतारयामः - स्यादस्ति द्रव्यम्॥ १॥ स्यान्नास्ति द्रव्यम्॥ २॥ स्यादस्ति नास्ति च द्रव्यम्॥ ३॥ स्यादवक्तव्यं द्रव्यम्॥ ४॥ स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्॥ ५॥ स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्॥ ६॥ स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्॥ ७॥

अत्र सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तद्योतकः, कथञ्चिदर्थः, स्याच्छब्दो निपातः। तत्र

- *स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति द्रव्यम्।*
- *परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं नास्ति द्रव्यम्।*
- *स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति च नास्ति च द्रव्यम्।*
- *स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपदादिष्टमवक्तव्यं द्रव्यम्।*
- *स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः, युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टमस्ति चावक्तव्यं द्रव्यम्।*
- *परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः, युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टं नास्ति चावक्तव्यं द्रव्यम्।*
- *स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च, युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टमस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यमिति।*

इति सप्तभङ्गी समाप्ता॥ इति स्याद्वादोऽधिकारः॥

अर्थ – जो कर्मों से मुक्त है और ज्ञानादि गुणों से अमुक्त है, उस अविनाशी ज्ञानमूर्ति परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ॥ १॥

अब, द्रव्य को आधार बनाकर सप्तभङ्गी का अवतार कहते हैं, प्रगट करते हैं - १. कथञ्चित् द्रव्य, 'है'। २. कथञ्चित् 'द्रव्य, नहीं है'। ३. कथञ्चित् द्रव्य, 'है और नहीं है'। ४. कथञ्चित् द्रव्य, 'अवक्तव्य' है। ५. कथञ्चित् द्रव्य, 'है और अवक्तव्य है'। ६. कथञ्चित् द्रव्य, 'नहीं है और अवक्तव्य' है। ७. कथञ्चित् द्रव्य, 'है, नहीं है और अवक्तव्य' है।

यहाँ 'स्यात्' शब्द का अर्थ कथञ्चित् है, जो सर्वथा एकान्त का निषेध और अनेकान्त का प्रकाश करता है। वहाँ स्पष्ट करते हैं –

चंद्रमां सारिषा ज्योतिप्रकाशस्वरूप ज्ञानप्रकाशरूप आत्मा सो उदय कूं प्राप्त भया सो यह समंतात् कहिये सर्व तरफ, सर्व क्षेत्रकाल मैं ज्वलतु कहिये दैदीप्यमान प्रकाशरूप रहौ॥

कैसा है॥ अविचलित कहिये निश्चल जो चित् कहिये चेतनां सो है स्वरूप जाका, अैसा जो अपनां आत्मा, ता विषै आप ही करि अपनें आत्मा कूं निरंतर मग्न हूवा धारता संता है॥ पाया स्वभाव कूं कवहू नाही छोडता है॥

वहुरि कैसा है॥ ध्वस्त कहिये नाश कूं प्राप्त भया है मोह जाका॥ अज्ञान अंधकार कूं दूरि कीया है॥ वहुरि निःसपत्न कहिये प्रतिपक्षी कर्म करि रहित अैसा है स्वभाव जाका॥

वहुरि कैसा है॥ निर्मल है अर पूर्ण है॥

॥ भावार्थ॥ इहां आत्मा कूं अमृतचंद्रज्योति कह्या सो यह लुप्तोपमा अलंकार करि कह्या जाननां, जातैं अमृतचंद्रवत् ज्योतिः अैसैं समास विषै वत् शब्द का लोप होय है, तव अमृतचंद्रज्योति कहिये तथा वत् शब्द न करिये, तव अमृतचंद्र जो ज्योति अैसा कहिये, तव भेदरूपक अलंकार है तथा

से अमृत कहते हैं। ऐसा अमृतमयी चन्द्रमा के समान ज्योति-प्रकाशस्वरूप अर्थात् ज्ञान-प्रकाशस्वरूप आत्मा उदित होता है। यह [आत्मा] समन्तात् अर्थात् सब तरफ से, सब क्षेत्र-काल में ज्वलतु अर्थात् दैदीप्यमान प्रकाशरूप रहो।

कैसा है वह? – अविचलित अर्थात् निश्चल और चित् अर्थात् चेतना ही जिसका स्वरूप है – ऐसे अपने आत्मा में, अपने ही द्वारा, अपने आत्मा को निरन्तर मग्न होकर धारण करता है और प्राप्त हुए स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता है।

और कैसा है? – जिसका मोह, ध्वस्त अर्थात् नाश को प्राप्त हुआ है, जिसने अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर किया है और जिसका स्वभाव, निःसपत्न अर्थात् प्रतिपक्षी कर्म से रहित है।

और कैसा है? – निर्मल एवं पूर्ण है।

भावार्थ – यहाँ आत्मा को 'अमृतचन्द्रज्योति' कहा है, यह लुप्तोपमा अलङ्कार से कहा है क्योंकि 'अमृतचन्द्रवत् ज्योतिः' – इसके समास में 'वत्' शब्द का लोप हो गया है; इसलिए 'अमृतचन्द्र ज्योति' कहा जाता है। यदि 'वत्' शब्द का प्रयोग नहीं करें तो 'अमृतचन्द्र की ज्योति'

---

१. अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा 'द्रव्य, है'।

२. अन्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा 'द्रव्य, नहीं है'।

३. अपने और अन्य के द्रव्य-क्षेत्र- काल-भाव की अपेक्षा 'द्रव्य, है भी और नहीं भी'।

४. अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और अन्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के युगपद् कहे जाने की अपेक्षा 'नहीं कहा जा सकता' अर्थात् 'द्रव्य, अवक्तव्य है'।

५. अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा युगपत् अपने और अन्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों को कहने की अपेक्षा 'द्रव्य, है और अवक्तव्य है'।

६. अन्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और युगपत् अपने तथा अन्य के द्रव्य- क्षेत्र-काल-भावों की अपेक्षा 'द्रव्य, नहीं है और अवक्तव्य है'।

७. अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, अन्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तथा युगपत् अपने और अन्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों को कहने की अपेक्षा 'द्रव्य, है, नहीं है और अवक्तव्य है'।

इस प्रकार सप्तभङ्गी के प्रकरण के साथ '**स्याद्वाद अधिकार**' सम्पूर्ण होता है।

अमृतचंद्रज्योति अैसा ही आत्मा का नाम कहिये, तव अभेदरूपक अलंकार हो है॥

अर याके विशेषण हैं, तिनि करि चन्द्रमा तैं व्यतिरेक भी है॥ जातैं ध्वस्तमोह विशेषण तौ अज्ञान अंधकार दूरि होनां जणावै है॥ अर निर्मल पूर्ण विशेषण लांछनरहितपणां पूर्णपणां जणावै है॥ अर निःसपत्न स्वभाव विशेषण राहुविंव तैं तथा वादला आदि करि आछादित न होनां जणावै है॥ समंतात् ज्वलन है सो सर्वक्षेत्र सर्वकाल मैं प्रतापरूप प्रकाश करनां जनावै है, चंद्रमा अैसा नाही॥ वहुरि अमृतचंद्र अैसा टीकाकार अपनां नाम भी जनाया है॥ वहुरि याका समास पलटि करि अर्थ कीजिये, तव अनेक अर्थ होय हैं सो यथासंभव जाननें॥

अैसैं समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति नामां टीका विषै सर्वविशुद्धज्ञान का प्रवेश नामा नवमां अधिकार पूर्ण भया॥ छ॥ ९॥[१]

इहां ताई गाथा तौ ४१५ भई अर काव्य २७५ भई॥ छ॥[२]

॥ सवइया इकतीसा॥

सरवविशुद्धज्ञानरूप सदा चिदानंद,
करता न भोगता न परद्रव्यभाव को।
मूरत अमूरत जे आन द्रव्य लोक मांहि,
ते भी ज्ञानरूप नाहि, न्यारे, न अभाव को॥

– ऐसा कहने पर भेदरूपक अलङ्कार होता है और यदि 'अमृतचन्द्रज्योति' – ऐसा ही आत्मा का नाम कहें अभेदरूपक अलङ्कार होता है।

इसके अन्य विशेषणों का चन्द्रमा से व्यतिरेक (भिन्नत्व) भी है क्योंकि 'ध्वस्तमोह' विशेषण तो अज्ञान-अन्धकार का दूर होना, प्रदर्शित करता है; 'निर्मल पूर्ण' विशेषण लाञ्छनरहितता और पूर्णता को प्रदर्शित करता है। 'निःसपत्न-स्वभाव' विशेषण राहु-बिम्ब और बादलों आदि से आच्छादित नहीं होना, प्रदर्शित करता है। 'समन्तात् ज्वलतु' विशेषण सर्वक्षेत्र-सर्वकाल में प्रतापरूप प्रकाश करना, प्रदर्शित करता है किन्तु चन्द्रमा ऐसा नहीं है। यहाँ 'अमृतचन्द्र' इस विशेषण से टीकाकार ने अपना नाम भी बताया है। यदि इसके समास को बदल-बदलकर अर्थ करें तो इसके [और भी] अनेक अर्थ हो सकते हैं, उन्हें भी यथासम्भव जान लेना चाहिए।

इस प्रकार समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति नामक टीका की वचनिका में **सर्वविशुद्धज्ञान** का प्रवेश नामक नौवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

यहाँ तक कुल गाथाएँ ४१५ और काव्य २७६ हैं।[३]

---

१. वचनिकाकार ने सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के श्लोक ५३ के पूर्व भी यह लिखा है कि यह सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की पूर्णता का कलशरूप श्लोक है, जबकि यहाँ भी वे लिख रहे हैं कि यहाँ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार पूर्ण हुआ; अतः वचनिकाकार के अनुसार इस 'स्याद्वाद अधिकार' को सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार का अथवा सम्पूर्ण ग्रन्थ का परिशिष्ट भी मान सकते हैं।

२-३. यहाँ 'अ' प्रति में समयसार की कुल गाथाओं की संख्या ४१४ बताई है, जबकि इस प्रति में सर्व विशुद्धज्ञान अधिकार में गाथा संख्या १३ दो बार लिखी है; अतः कुल गाथाओं की संख्या ४१५ ही है। इसी प्रकार आत्मख्याति टीका की भाषा वचनिका में कलश क्रमाङ्क २११ का क्रमाङ्क लिखना छूट गया है; अतः यहाँ तक कलश संख्या २७६ हो गई है, वही अनुवाद में लिखा है तथा आगे आनेवाले दो कलशों को जोड़कर कुल कलश संख्या २७८ है।

यहै जानि ज्ञानी जीव आप कूं भजै सदीव,
ज्ञानरूप सुखत्रूप आन न लगाव को।
कर्म कर्मफलरूप चेतना कूं दूरि टारि,
ज्ञानचेतनां अभ्यास करै शुद्धभाव को॥ १॥

अव संस्कृत टीका पूर्ण करि अमृतचंद्र आचार्य कहै है जो आत्मा मैं परसंयोग तैं अनेक भाव होय हैं, तिनिका[१] वर्णन ग्रंथनि में होय है सो सर्व ही वर्णन इस विज्ञानघन मैं मग्न भये किछू भी नाही दीषै है॥

॥ शार्दूलविक्रीडित॥

यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं,
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो, जातं क्रियाकारकैः।

॥ सवैइया इकतीसा॥

सर्व विशुद्धज्ञानरूप सदा ही चिदानन्द,
करता न भोगता न परद्रव्यभाव को।
मूरत अमूरत जे अन्य द्रव्य लोक मांहि,
वे भी ज्ञानरूप नाहिं, न्यारे, न अभाव को॥
यही जान ज्ञानी जीव आप कूं भजै सदीव,
ज्ञानरूप सुखस्वरूप अन्य न लगाव को।
कर्म-कर्मफलरूप चेतना को दूर टारि,
ज्ञानचेतना अभ्यास करै शुद्धभाव को॥ १॥

[अर्थ – चिदानन्द (आत्मा) सदा सर्वविशुद्धज्ञानरूप है, परद्रव्य या उसके भावों का कर्ता-भोक्ता नहीं है; लोक में जितने भी मूर्त अथवा अमूर्त परद्रव्य हैं, वे भी ज्ञानरूप नहीं हैं, भिन्न हैं परन्तु उनका सर्वथा अभाव नहीं है – ऐसा जानकर ज्ञानी जीव, सदा अपने को ज्ञानरूप और सुखस्वरूप अनुभव करता है, अन्य द्रव्यों के साथ लगाव नहीं करता; कर्मचेतना एवं कर्मफलचेतना को दूर हटाकर ज्ञानचेतना का अभ्यास करके शुद्धभाव प्रगट करता है।]

अब, संस्कृत टीका पूरी करके अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं कि आत्मा में परसंयोग से अनेक भाव होते हैं, उनका वर्णन [अन्य] ग्रन्थों में पाया जाता है, वह सभी वर्णन, इस विज्ञानघन (आत्मा) में मग्न हो जाने पर कुछ भी दिखाई नहीं देता है —

---

१. *ताका* - 'अ' प्रति पाठ

भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरखिलं, खिन्ना क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किञ्चिन्न किञ्चित् किल॥ १॥

॥ अर्थ॥ यस्मात् कहिये जिस परसंयोगरूप वंधपर्यायजनित अज्ञान तैं प्रथम तौ अपनां अर पर का द्वैतरूप एकभाव भया। वहुरि जिस द्वैतपणां तैं अपनें स्वरूप विषै अंतर भया, वंधपर्याय ही कूं आपा जान्यां॥ वहुरि तिस अंतर पडनें तैं रागद्वेष का परिग्रहण भया, तिसके होतैं क्रिया अर कर्त्ता कर्म आदि कारकनि करि भेद पड्या॥ वहुरि तिस क्रिया कारक के भेद करि आत्मा की अनुभूति है सो क्रिया का समस्त फल कूं भोगती संती खेदखिन्न भई॥ सो अैसा अज्ञान है सो अव ज्ञान भया, तव तिस विज्ञानघन के समूह विषै मग्न होय गया सो अव याकूं देषिये तौ किछू भी नाही है, यह प्रगट अनुभव मैं आवै है॥

॥ भावार्थ॥ अज्ञान है सो परसंयोग तैं ज्ञान ही अज्ञानरूप परिणया था, कछू दूजा तौ वस्तु था नाही सो अव ज्ञानरूप परिणम्यां, तव किछू भी न रह्या, तव इस अज्ञान के निमित्त तैं रागद्वेष कर्ताकर्म सुखदुःख आदि भाव होय थे, ते भी विलाय गये, एक ज्ञान ही ज्ञान रहि गया, तीन कालवर्ती अपनां पर का सर्वभावनि कूं आत्मा, ज्ञातादृष्टा हूवा देषवो करौ॥ छ॥

॥ हरिगीतिका॥

गतकाल में अज्ञान से, एकत्व पर से जब हुआ।
फलरूप में रस-राग अरु, कर्तृत्व पर में तब हुआ॥
उस क्रियाफल को भोगती, अनुभूति मैली हो गई।
किन्तु अब सद्ज्ञान से सब, मलिनता लय हो गई॥ २७७॥

अर्थ – यस्मात् अर्थात् जिस परसंयोगरूप बन्धपर्यायजनित अज्ञान से पहले तो स्व और पर के द्वैतरूप (मिश्रितरूप) एकभाव हुआ एवं उस द्वैतपने (मिश्रपने) के कारण अपने स्वरूप से अन्तर (दूर) हुआ, बन्धपर्याय ही को अपना स्वरूप जाना और इस अन्तर (दूरी) के कारण राग-द्वेष का परिग्रहण हुआ; उसके होने से क्रिया और कर्ता, कर्म आदि कारकों में भेद पड़ा। इस प्रकार इस क्रिया और कारकों के भेद से क्रिया के समस्त फल को भोगती हुई आत्मा की अनुभूति खेदखिन्न हुई – ऐसा अज्ञान, जब ज्ञानरूप परिणमित होता है, तब उस विज्ञानघन के समूह में मग्न हो जाता है; इसलिए अब यदि उसे देखें तो यहाँ कुछ भी [खेदखिन्नपना] नहीं है, यह आत्मा प्रगट अनुभव में आ रहा है।

भावार्थ – पर के संयोग के कारण ज्ञान ही अज्ञानरूप परिणमित हुआ था, कोई अन्य वस्तु नहीं थी। अब, जब वह [अज्ञान,] ज्ञानरूप परिणमित हुआ, तब कुछ भी [खेदखिन्नपना] नहीं रहा। इस अज्ञान के निमित्त से राग-द्वेष, कर्ता-कर्म, सुख-दुःख आदि भाव होते थे, वे भी विलीन हो गए;

आगैं अमृतचंद्र आचार्य इस ग्रंथ करनें का अभिमानरूप कषाय कूं दूरि करता संता यथार्थ कहै है॥

॥ उपजाति[१] ॥

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति, कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः॥ २॥

॥ अर्थ॥ यह समय कहिये आत्मवस्तु तथा समय कहिये समयप्राभृत नाम शास्त्र, ताकी व्याख्या कहिये व्याख्यान तथा यह आत्मख्याति नामा टीका सो शब्दनि करि करी है।

कैसे हैं शब्द॥ अपनीं शक्ति ही करि संसूचित कहिये भलै प्रकार कह्या है वस्तु का तत्त्व कहिये यथार्थ स्वरूप जिनिनैं॥ बहुरि मैं अमृतचंद्र आचार्य हौं सो मेरा कछू यामैं कर्तव्य नाही है॥

कैसा हौं मैं। स्वरूप कहिये निज आत्मरूप अमूर्त्तीक ज्ञानमात्र, तिस विषै गुप्त हौं प्रवेश करि रह्या हौं॥

॥ भावार्थ॥ शब्द है सो तौ पुद्गल है सो पुरुष के निमित्त तैं वर्ण पद वाक्यरूप परिणमैं हैं सो इनिमैं वस्तु का स्वरूप के कहनें की शक्ति स्वयमेव है॥ जातैं शब्द कै अर अर्थ कै वाच्यवाचकसंबंध

एक ज्ञान ही ज्ञान रह गया और तब तीन कालवर्ती स्व-पर के सर्व भावों को आत्मा, ज्ञाता-दृष्टा होकर देखता रहता है।

अब, अमृतचन्द्र आचार्य, इस ग्रन्थ की टीका करने के अभिमानरूप कषाय को दूर करते हुए यथार्थ कहते हैं —

॥ हरिगीतिका ॥

ज्यों शब्द अपनी शक्ति से ही, तत्त्व प्रतिपादन करें।
त्यों समय की यह व्याख्या भी, उन्हीं शब्दों ने करी॥
निजरूप में ही गुप्त अमृतचन्द्र श्री आचार्य का।
इस आत्मख्याति में अरे!, कुछ भी नहीं कर्तृत्व है॥ २७८॥

अर्थ — यह समय अर्थात् आत्मवस्तु अथवा समय अर्थात् समयप्राभृत नामक शास्त्र की व्याख्या अर्थात् उसका व्याख्यान और यह आत्मख्याति नामक टीका शब्दों से रचित है।

कैसे हैं शब्द? — अपनी शक्ति ही से संसूचित अर्थात् भले प्रकार से जिन्होंने वस्तु का तत्त्व अर्थात् यथार्थस्वरूप कहा है, इसमें मुझे अमृतचन्द्र आचार्य का कुछ भी कर्तव्य नहीं है।

कैसा हूँ मैं? — स्वरूप अर्थात् अमूर्तिक ज्ञानमात्र निजात्मस्वरूप में गुप्त होकर प्रवेश कर रहा हूँ।

भावार्थ — शब्द तो पुद्गल हैं, वे पुरुष के निमित्त से वर्ण-पद-वाक्यरूप[२] परिणमते हैं; इनमें

---

१. 'अ' 'ब' प्रतियों में इस छन्द का नाम 'वसन्ततिलका' लिखा है, परन्तु यह 'उपजाति' छन्द है; अतः सोनगढ़ प्रकाशन एवं संस्कृत छन्दशास्त्र के अनुसार 'उपजाति' लिखा है।

है॥ सो द्रव्यश्रुत की रचना शव्द ही कै करनां संभवै है॥ अर आत्मा है सो अमूर्त्तीक है अर ज्ञानस्वरूप है, तातैं मूर्तीक पुद्गल की रचनां कैसैं करै॥ तातैं आचार्य नैं अैसा कह्या है सो यह समयप्राभृत की टीका शव्दनि करि करी है[१], मैं मेरा स्वरूप मैं लीन हौं, मेरा कर्तव्य यामैं नाही है॥ अैसैं कहनें मैं उद्धतपणां का परिहार भी आवै है॥

अर निमित्तनैमित्तिक व्यवहार करि अैसा कहिये ही है जो विवक्षित[२] कार्य फलाणैं पुरुष नैं कीया, इस न्याय करि अमृतचंद्र आचार्यकृत यह टीका है ही, इस ही न्याय करि पढनें सुननेंवालेनि कूं तिनिका उपकार भी माननां युक्त है, जातैं याके पढनें सुननें करि परमार्थ आत्मा का स्वरूप जान्यां जाय है। तिसका श्रद्धान आचरण भयें मिथ्याज्ञान श्रद्धान आचरन दूरि होय है, परंपरा मोक्ष की प्राप्ति होय है। याका निरंतर अभ्यास करनां योग्य है॥ छ॥

अैसैं आत्मख्याति नामा समयसार ग्रंथ की टीका समाप्त भई।

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

वस्तु का स्वरूप कहने की शक्ति स्वयमेव है क्योंकि शब्द और अर्थ में वाचक-वाच्य सम्बन्ध है। द्रव्यश्रुत की रचना शब्दों ही के द्वारा की जा सकती है और आत्मा तो अमूर्तिक और ज्ञानस्वरूप है; वह मूर्तीक पुद्गल की रचना कैसे कर सकती है? इसलिए आचार्य ने ऐसा कहा है कि यह समयप्राभृत की टीका शब्दों के द्वारा की गई है; मैं तो मेरे स्वरूप में लीन हूँ, इसमें मेरा कर्तव्य नहीं है – ऐसा कहने में उद्धतपने का परिहार भी हो जाता है।

निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार से ऐसा कहा ही जाता है कि 'विवक्षित कार्य उस व्यक्ति ने किया' – इस न्याय से यह टीका श्री अमृतचन्द्र आचार्यकृत है ही। इसी न्याय से पढ़ने-सुननेवालों को उनका उपकार मानना भी योग्य है क्योंकि इसके पढ़ने-सुनने से परमार्थभूत आत्मा के स्वरूप का ज्ञान है; उसी का श्रद्धान एवं आचरण होने पर मिथ्याज्ञान-श्रद्धान-आचरण दूर होता है और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है; अत: इसका निरन्तर अभ्यास करना योग्य है।

इस प्रकार समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति नामक टीका सम्पूर्ण होती है।

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

---

१. अक्षरों को वर्ण कहते हैं, वर्णों के समूह से शब्द या पद, पदों के समूह से वाक्य, वाक्यों के समूह से अनुच्छेद (Paragraph), अनुच्छेदों के समूह से अध्याय या अधिकार, और अध्यायों के समूह से ग्रन्थ बनते हैं।

२. *विविक्षित* - 'अ' प्रति पाठ

अन्तिम प्रशस्ति

॥ सवइया इकतीसा ॥

कुंदकुंद मुनि कियो गाथावंध प्राकृत है,
प्राभृतसमय शुद्ध आतम दिषावनूं।
सुधाचंद्रसूरि करी संसकृत टीका वर,
आत्मख्याति नाम यथातथ्य मनभावनूं॥
देश की वचनिका मैं लिषी जयचंद्र यहै,
संक्षेप अरथ अल्पवुद्धि हू कूं पावनूं।
पढो सुनूं मन लाय शुद्ध आत्मा लषाय,
ज्ञानरूप गहो निजानंद दरसावनूं॥ १॥ छ॥

॥ दोहा॥

समयसार अविकार का, वर्णन कर्ण सुनंत।
द्रव्य भाव नोकर्म तजि, आतमतत्त्व लषंत॥ २॥

अैसैं इस समयप्राभृत नाम ग्रंथ की आत्मख्याति नामा संस्कृत टीका की देशभाषामय वचनिका लिषी है सो यह ताका संक्षेप भावार्थरूप-सा अर्थ लिष्या है। संस्कृत टीका मैं न्याय तैं सिद्ध भये प्रयोग

॥ सवैया इकतीसा॥

कुन्दकुन्द मुनि कियो, गाथाबन्ध प्राकृत है;
प्राभृतसमय शुद्ध, आतम दिखावनूं।
सुधाचन्द्रसूरि करी, संस्कृत टीका वर;
आत्मख्याति नाम, यथातथ्य मनभावनूं॥
देश की वचनिका मैं, लिखी जयचन्द्र यहै;
संक्षेप अरथ अल्पबुद्धि को पावनूं।
पढो सुनो मन लाय, शुद्ध आत्मा लखाय;
ज्ञानरूप गहो, निजानन्द दरसावनूं॥ १॥ छ॥

॥ दोहा॥

समयसार अविकार का, वर्णन कर्ण सुनंत।
द्रव्य-भाव-नोकर्म तजि, आतमतत्त्व लखन्त॥ २॥

[अर्थ – आचार्य कुन्दकुन्दमुनि ने प्राकृत भाषा में शुद्ध आत्मा को दिखानेवाला समयप्राभृत नामक ग्रन्थ बनाया है। उस पर आचार्य अमृतचन्द्र ने यथार्थ अर्थ बतानेवाली आत्मख्याति नामक मनभावनी उत्कृष्ट

हैं, तिनिका विस्तार करिये, तव अनुमान प्रमाण के प्रयोग, प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय निगमनरूप हैं, तिनिका स्पष्ट करि व्याख्यान लिषिये तौ ग्रंथ वहुत वधै तथा आयु वुद्धि वल थिरता की अल्पता तैं जेता वण्यां, तेता संक्षेप करि प्रयोजनमात्र लिख्या है। ताकूं वाचि करि भव्यजीव यथार्थ समझियो अर किछू अर्थ मैं हीनाधिक होय तौ वुद्धिमान, मूलग्रंथ तैं जैसैं होय, तैसैं समझियो।

कालदोष तैं इनि ग्रंथनि की गुरुसंप्रदाय का व्युछेद होय गया है, तातैं जेता वणैं जेता अभ्यास होय है। जैनमत स्याद्वादरूप है सो जे जिनमत की आज्ञा मानैं हैं, तिनिकै विपरीत श्रद्धान न होय है। कहूं अर्थ का अन्यथा समझनां भी होय तौ विशेष वुद्धिवान का निमित्त मिलें यथार्थ होय है। जिनमत के श्रद्धानी हठग्राही नाही होय हैं, अैसैं जाननां॥ छ॥

अव, अंत मंगल कै अर्थ परमेष्ठी कूं नमस्कार करि ग्रंथ समाप्त करिये है।

॥ छप्पय ॥

मंगल श्री अरहंत, घातिया कर्म निवारे।
मंगल सिद्ध महंत, कर्म आठूं परजारे॥
आचारिज उज्झाय, मुनी मंगलमय सारे।
दीक्षा शिक्षा देय, भव्यजीवनि कूं तारे॥

संस्कृत टीका की रचना की है। इसका सामान्य अर्थ अल्पबुद्धिधारकों को भी प्राप्त हो, उनकी समझ में आए – इस उद्देश्य से मुझ जयचन्द छाबड़ा ने इसकी देशभाषामय वचनिका लिखी है; अतः इसको पढ़ो, सुनो और इसमें अपना मन लगाओ; इससे शुद्ध आत्मा के दर्शन करके, आत्मिक आनन्द का अनुभव करके सम्यग्ज्ञान को ग्रहण करो।

जो निर्मल समयसार का वर्णन अपने कानों से सुनते हैं; वे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म को छोड़ कर, निर्मल आत्मतत्त्व को देखते हैं अर्थात् उसका साक्षात् अनुभव करते हैं।]

इस प्रकार 'समयप्राभृत' नामक ग्रन्थ की 'आत्मख्याति' नामक संस्कृत टीका की देशभाषामय वचनिका लिखी है। यहाँ उसका संक्षेप भावार्थरूप-सा ही अर्थ लिखा है। संस्कृत टीका में न्याय से सिद्ध हुए प्रयोग हैं, उनका विस्तार करने पर अनुमान-प्रमाण के प्रयोग – प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन का स्पष्ट करके व्याख्यान लिखने पर ग्रन्थ बहुत विस्तृत हो जाता; इसलिए आयु, बुद्धि, बल, और स्थिरता की अल्पता से जितना बन सका; उतना संक्षेप से प्रयोजनमात्र [व्याख्यान] लिखा है, उसे पढ़ कर भव्यजीव यथार्थस्वरूप समझना और यदि कुछ अर्थ में हीनाधिकता हो तो बुद्धिमान पुरुष, मूल ग्रन्थ में देख कर जैसा यथार्थ हो, वैसा समझना।

काल-दोष से इन ग्रन्थों की गुरु-परम्परा का तो व्युच्छेद हो गया है; अतः जितना सम्भव होता है, उतना अभ्यास होता है। जैनमत स्याद्वादरूप है; अतः जो जिनमत की आज्ञा को मानते हैं, उनका विपरीत श्रद्धान नहीं होता। यदि अर्थ में कुछ अन्यथा समझना भी हो जाए तो विशेष बुद्धिमानों का निमित्त मिलने पर यथार्थ होता है। जिनमत के श्रद्धानी हठग्राही (हठाग्रही) नहीं होते हैं – ऐसा जानना चाहिए।

अठवीस मूलगुण धार जे, सर्वसाधु अणगार हैं।
मैं नमूं पंच गुरु चरण कूं, मंगल हेतु करार हैं॥ १॥

॥ सवइया इकतीसा॥

जयपुरनगर[१] मांहि तेरापंथ शैली वडी,
वडे-वडे गुनी जहां पढै ग्रंथसार हैं।
जयचंद्र नाम मैं हूं तिनिमैं अभ्यास कछू,
कीयो वुद्धिसारूं धर्मराग तैं विचार है॥
समैसार ग्रंथ ताकी देश के वचनरूप,
भाषा करी पढो सुनूं करो निरधार है।
आपापर भेद जानि हेय त्यागि उपादेय,
गहो शुद्ध आतम कूं यहै वात सार है॥ २॥

अब, अन्त-मङ्गल के लिए [पञ्च] परमेष्ठी को नमस्कार करके ग्रन्थ को सम्पूर्ण करते हैं —

॥ छप्पय॥

मङ्गल श्री अरहन्त, घातिया कर्म निवारे।
मङ्गल सिद्ध महन्त, कर्म आठों परजारे॥
आचारज उवझाय, मुनी मङ्गलमय सारे।
दीक्षा शिक्षा देय, भव्यजीवों को तारे॥
अठबीस मूलगुण धार जे, सर्वसाधु अणगार हैं।
मैं नमूँ पञ्च-गुरु-चरण को, मङ्गल हेतु करार हैं॥ १॥

॥ सवैया इकतीसा॥

जयपुरनगर[१] मांहि, तेरापंथ शैली वडी;
वडे-वडे गुनी जहां, पढै ग्रंथसार हैं।
जयचंद्र नाम मैं हूं, तिनिमैं अभ्यास कछू;
कीयो वुद्धिसारूं धर्मराग तैं विचार है॥
समैसार ग्रंथ ताकी, देश के वचनरूप;
भाषा करी पढो, सुनूं करो निरधार है।
आपापर भेद जानि, हेय त्यागि उपादेय-
गहो शुद्ध आतम कूं यहै वात सार है॥ २॥

---

१. *जैपुरनगर* - 'ब' प्रति पाठ

॥ दोहा ॥

संवत्सर विक्रम तणूं, अष्टादश शत और।
चौसठि कातीक वदि दशैं, पूरण ग्रंथ सुठौर॥ ३ ॥

इति श्रीमत् कुंदकुंद आचार्यकृत समयप्राभृत नाम प्राकृत गाथावंध ग्रंथ की अमृतचंद्र आचार्यकृत आत्मख्याति नाम संस्कृत टीका कै अनुसार यह संक्षेप भावार्थमात्र देशभाषामय वचनिका संपूर्णम्॥

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

॥ दोहा ॥

संवत्सर विक्रम तणूं, अष्टादश शत और।
चौसठि कातीक वदि दशैं, पूरण ग्रंथ सुठौर॥ ३ ॥

[**अर्थ** – श्री अरहन्तदेव ने चार घातियाकर्मों को दूर किया है; अतः वे मङ्गल हैं। सिद्ध भगवन्तों ने आठों कर्मों को भली प्रकार जला दिया है; अतः वे भी मङ्गल हैं एवं आचार्य परमेष्ठी मुनियों ने दीक्षा-शिक्षा और उपाध्याय परमेष्ठी मुनियों ने शिक्षा देकर भव्यजीवों को [भवसागर से] पार किया है; अतः वे भी मङ्गलमय हैं तथा सर्व साधु अनगार अर्थात् गृहत्यागी नग्न दिगम्बर मुनि अट्ठाईस मूलगुणों को धारण करनेवाले हैं। मैं उक्त पाँचों गुरुओं (परमेष्ठियों) के चरणों को नमस्कार करता हूँ, जो मङ्गल प्राप्त करने में करार अर्थात् नियमरूप कारण हैं, अन्य नहीं।

जयपुरनगर में विशाल तेरापन्थ की शैली है, जहाँ बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुष [समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि] सारभूत ग्रन्थों का स्वाध्याय करते हैं। मेरा नाम जयचन्द्र है। मैंने भी अपनी बुद्धि के अनुसार, धर्म-राग के विचार से, उनके साथ कुछ अभ्यास किया है और समयसार ग्रन्थ की देशभाषामय वचनिका लिखी है; जिसे सब पढ़ें, सुनें और निर्धारण करें तथा स्व-पर के भेद को जान कर, हेय को त्याग कर, उपादेयभूत शुद्ध आत्मा को ग्रहण करें – यही वचन सारभूत है।

विक्रम संवत् अठारह सौ चौंसठ (१८६४) की कार्तिक वदी दशमी के दिन, ग्रन्थ की वचनिका शुभ स्थान-जयपुर में सम्पूर्ण हुई।]

इस प्रकार श्रीमद् कुन्दकुन्द आचार्यकृत 'समयप्राभृत' नामक प्राकृत गाथाबन्ध ग्रन्थ की श्री अमृतचन्द्र आचार्यकृत आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका के अनुसार यह [पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ाकृत] यह संक्षिप्त भावार्थमात्र देशभाषामय वचनिका [का हिन्दी अनुवाद] सम्पूर्ण होता है।

॥ श्री॥ ॥ श्री॥ ॥ श्री॥

---

१. *॥ संवत् १८६६ ॥* – 'ब' प्रति पाठ, इस शुद्ध प्रतिलिपि 'ब' का लेखनकार्य मूल प्रति से मात्र दो वर्ष बाद सम्पन्न हुआ है। सम्भवतया इस प्रति को पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने अथवा उनके सुयोग्य सुपुत्र पण्डित नन्दलालजी ने देखा हो, सम्पादन कार्य करते हुए इस हस्तलिखित प्रति के भी पाठभेदों का उपयोग किया गया है। – सम्पादक

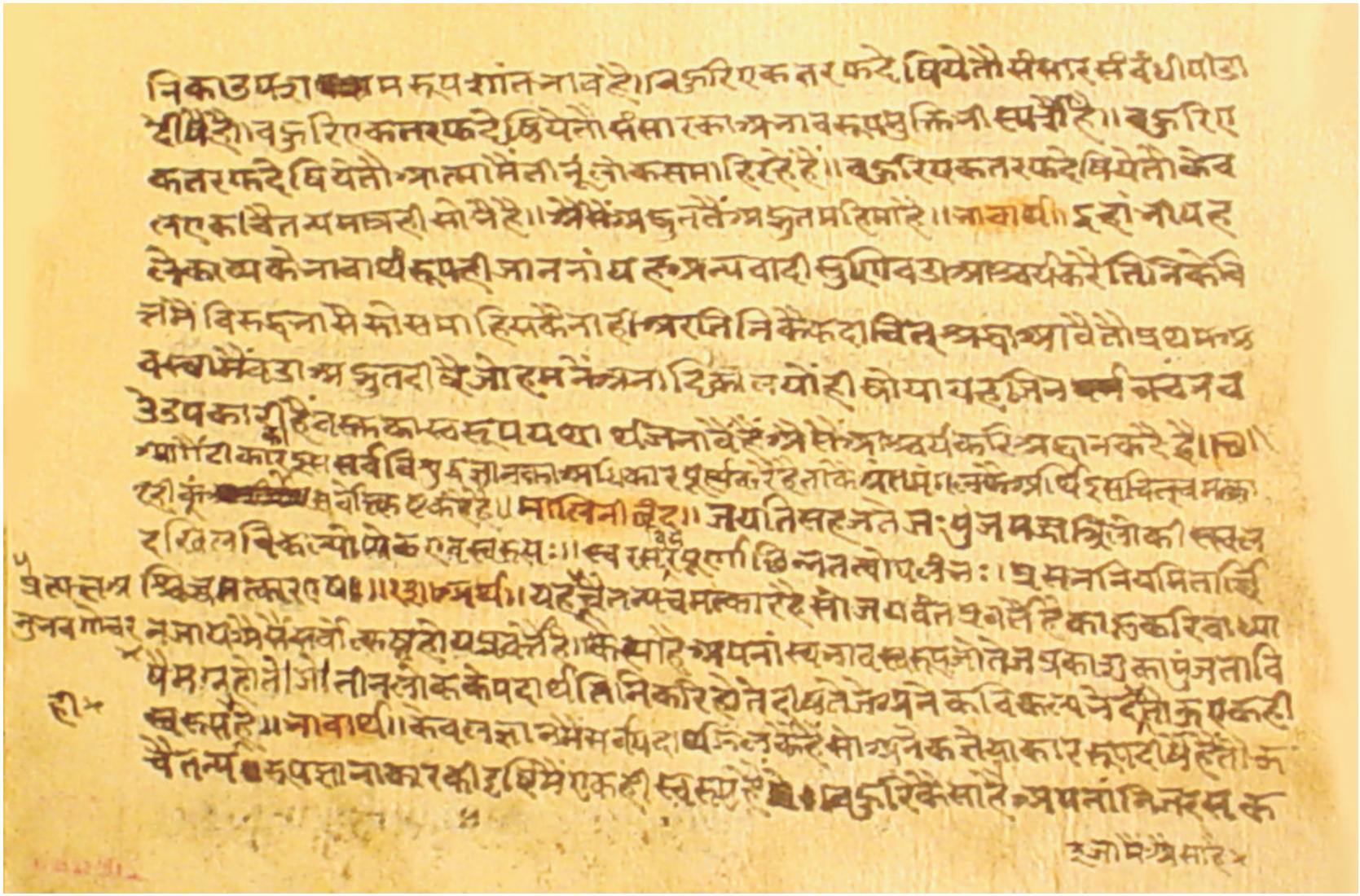

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र २७७ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर ऊपर से चौथी पंक्ति में परिशिष्ट के कलश १३ (२७५) में आत्मा की अद्‌भुत महिमा बताते हुए लिखा है – **'वहुरि एक तरफ देषिये तौ संसार संवंधी पीडा दीषै है ॥ वहुरि एक तरफ देषिये तौ संसार का अभावरूप मुक्ति भी स्पर्शै है ॥'**

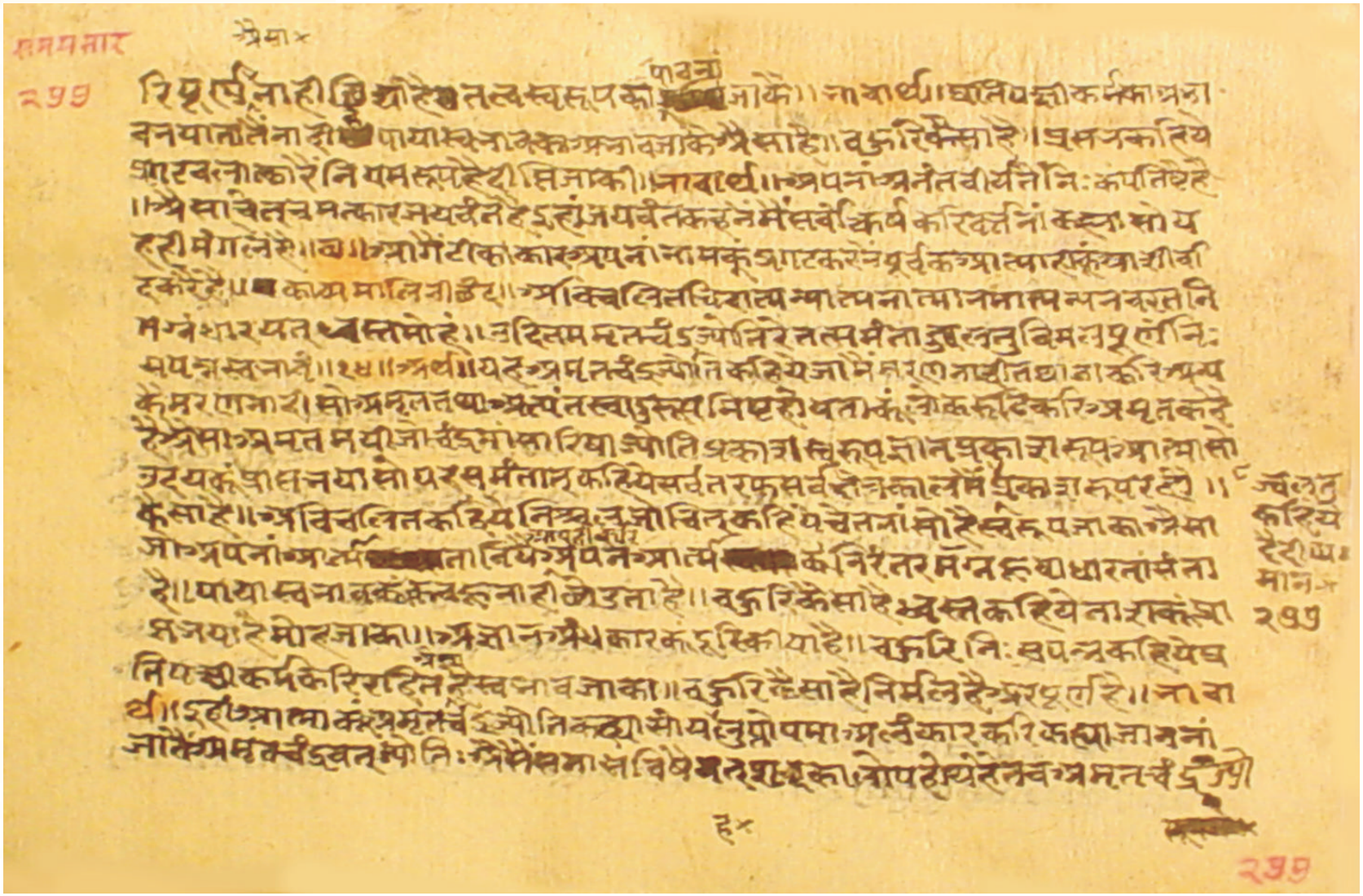

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क २७७ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर परिशिष्ट के अन्तर्गत ऊपर से दसवीं पंक्ति में कलश १४ (२७६) के अर्थ में 'अमृतचन्द्र' का अर्थ 'आत्मा' बताते हुए लिखा है – **'ऐसा अमृतमयी जो चंद्रमा सारिषा ज्योतिप्रकाशस्वरूप ज्ञानप्रकाशरूप आत्मा सो उदय कूं प्राप्त भया।'**

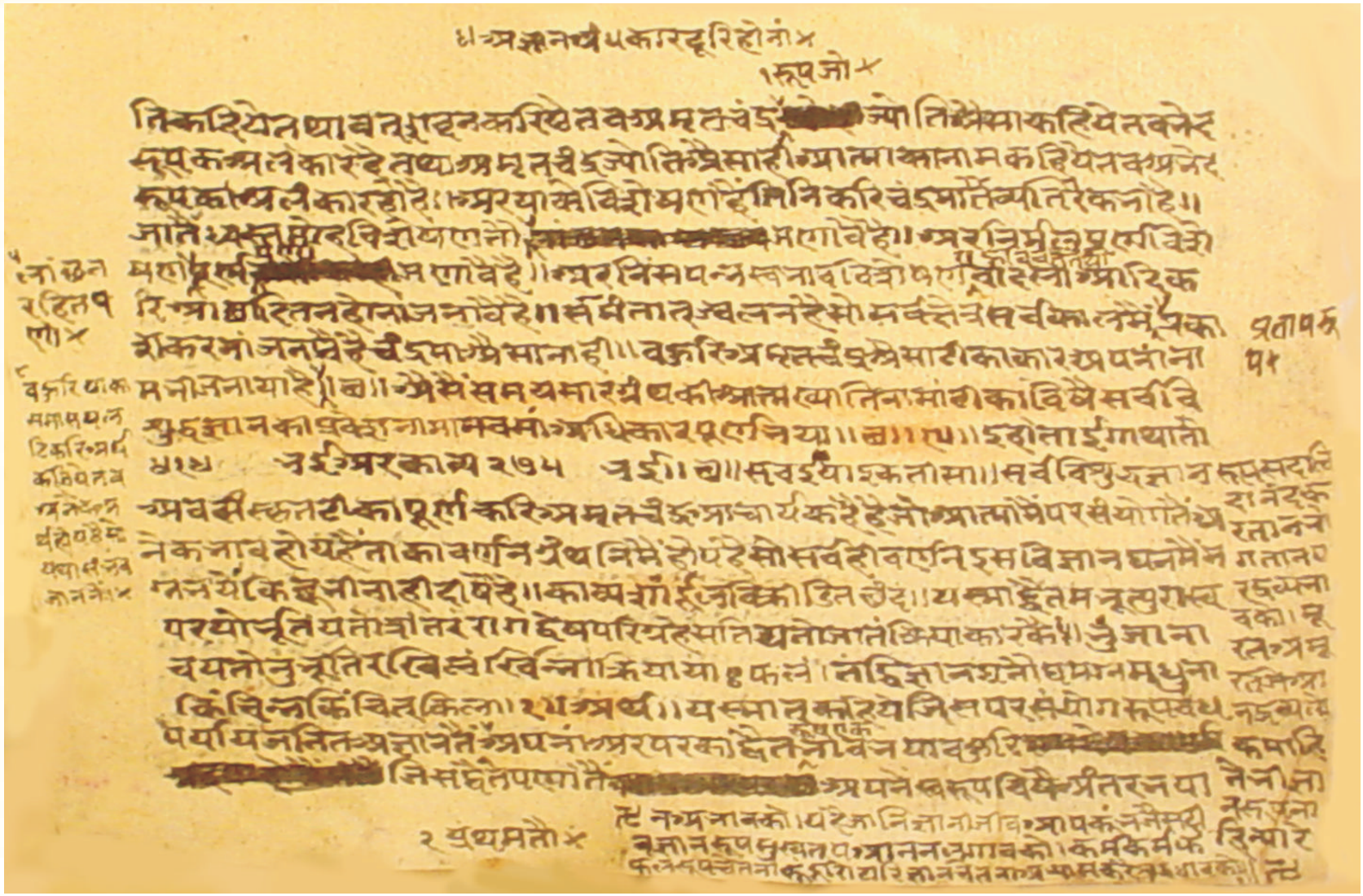

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क २७८ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर आत्मख्याति टीका के अन्त में उपसंहार का प्रकरण है। यहाँ ऊपर से आठवीं पंक्ति में लिखा है – **'ऐसैं समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति नामां टीका विषै सर्वविशुद्धज्ञान का प्रवेश नामां नवमां अधिकार पूर्ण भया ॥ छ ॥'**

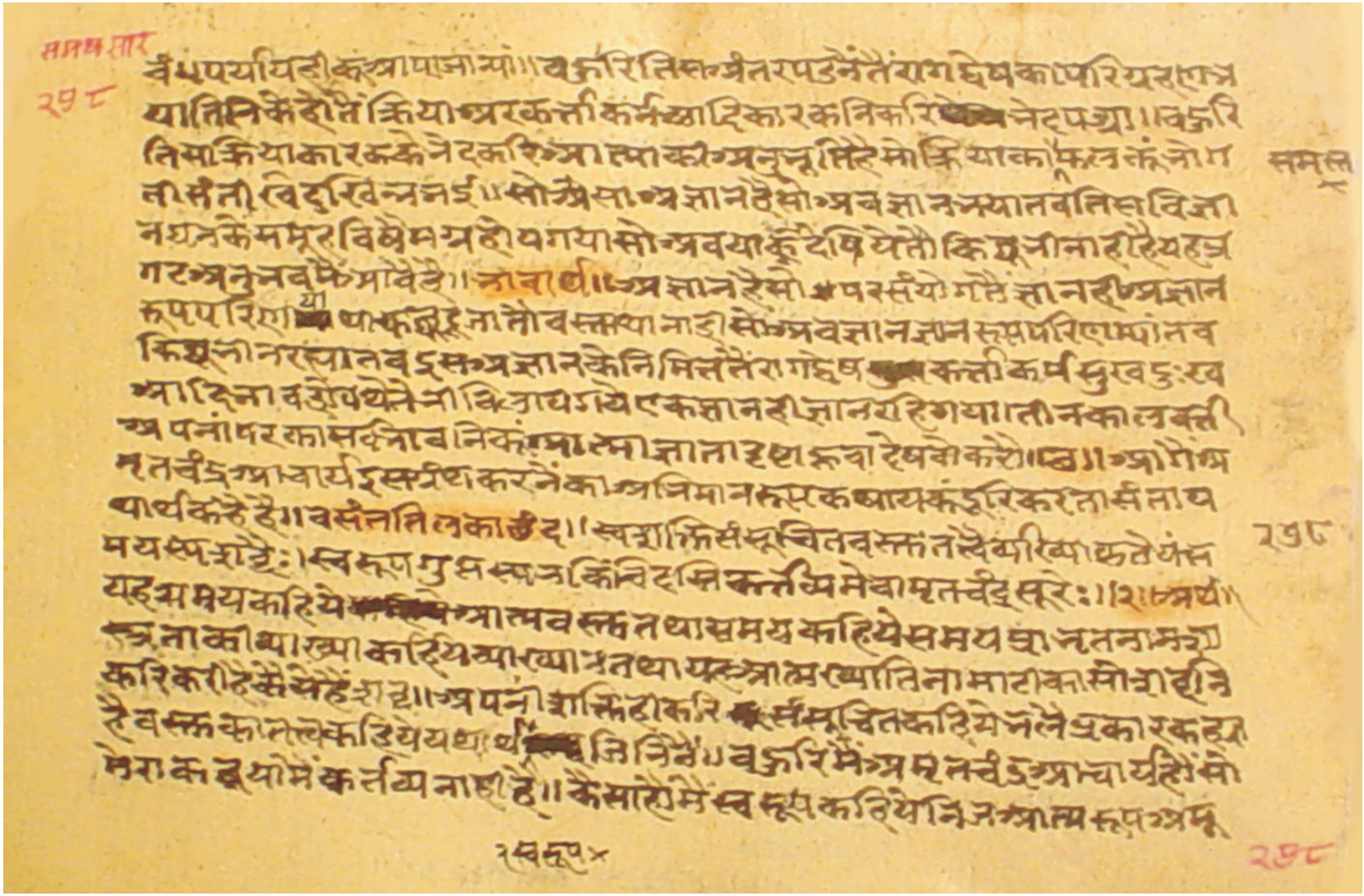

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क २७८ का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर नीचे से चौथी पंक्ति में आत्मख्याति टीका के अन्तिम कलश के अर्थ में आचार्य अमृतचन्द्र की निर्मानता का परिचय देते हुए लिखा है – '**यह आत्मख्याति नामा टीका सो शब्दनि करि करी**

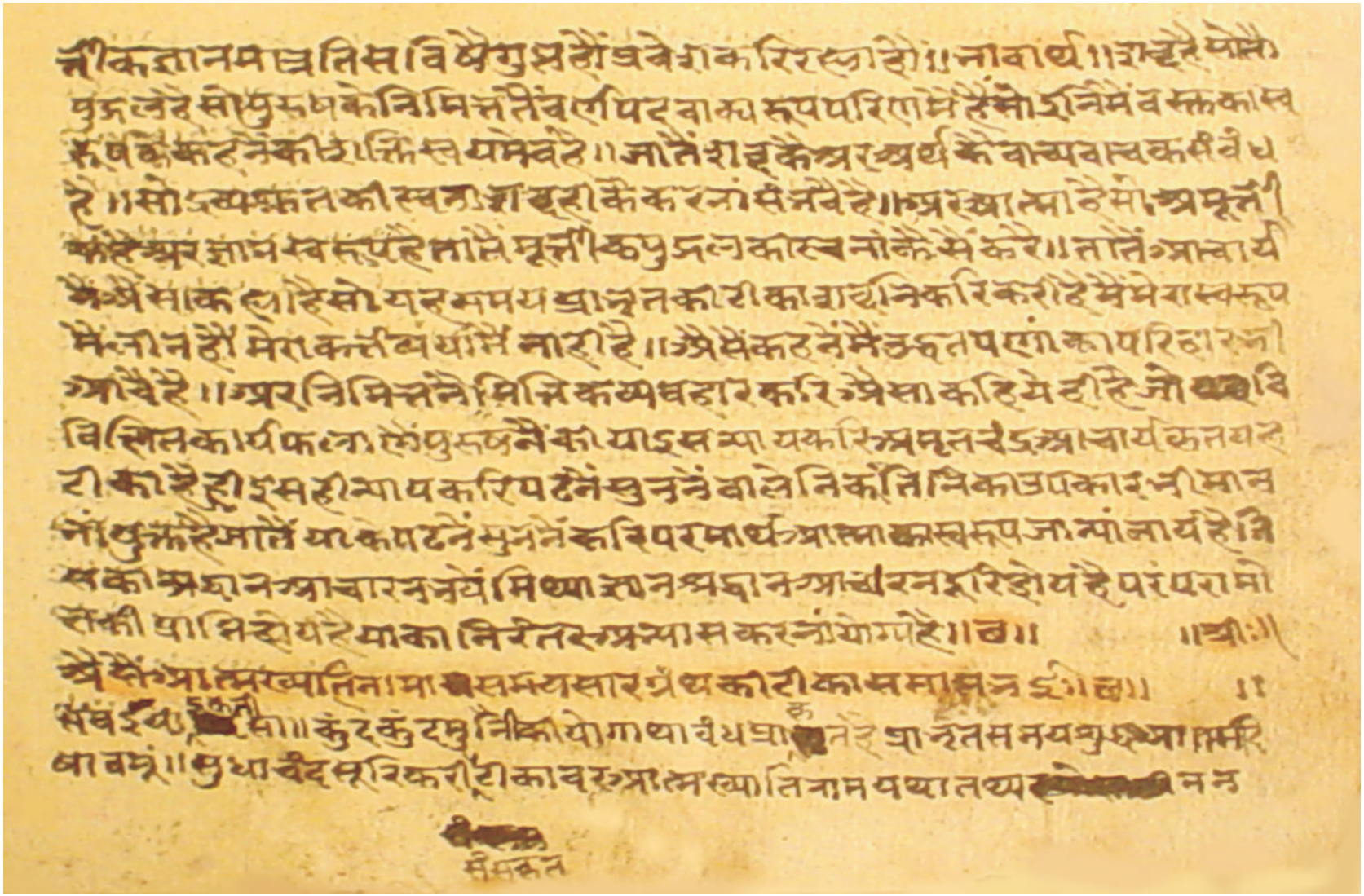

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र २७९ का अगला भाग है। इस पृष्ठ पर ऊपर से पाँचवीं पंक्ति में वचनिकाकार, भावार्थ में लिखते हैं – **'आचार्य नैं ऐसा कह्या है सो यह समयप्राभृत की टीका शब्दनि करि करी है, मैं मेरा स्वरूप में लीन हौं, मेरा कर्तव्य यामैं नाही है॥ ऐसैं कहनें मैं उद्धतपणां का परिहार भी आवै है॥'**

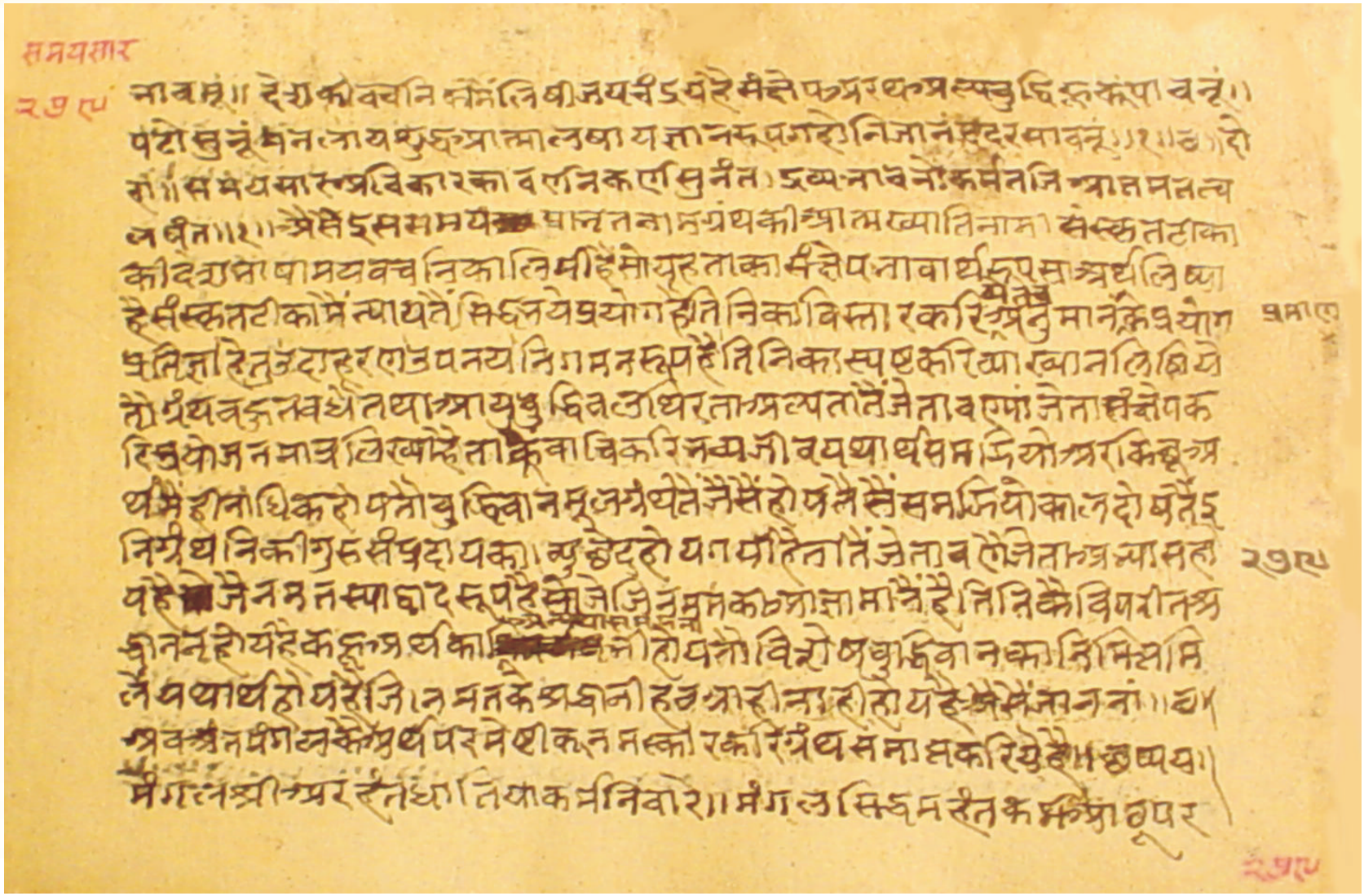

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र २७९ का पिछला भाग है। इसमें प्रथम पंक्ति से ही टीकाकार ने अन्तिम प्रशस्ति लिखी है –**'देश की वचनिका मैं लिषी जयचन्द्र यहै, संक्षेप अरथ अल्पवुद्धि हू कूं पावनूं। पढो सुनूं मन लाय शुद्ध आत्मा लषाय, ज्ञानरूप गहो निजानंद दरसावनूं॥ १ ॥'**

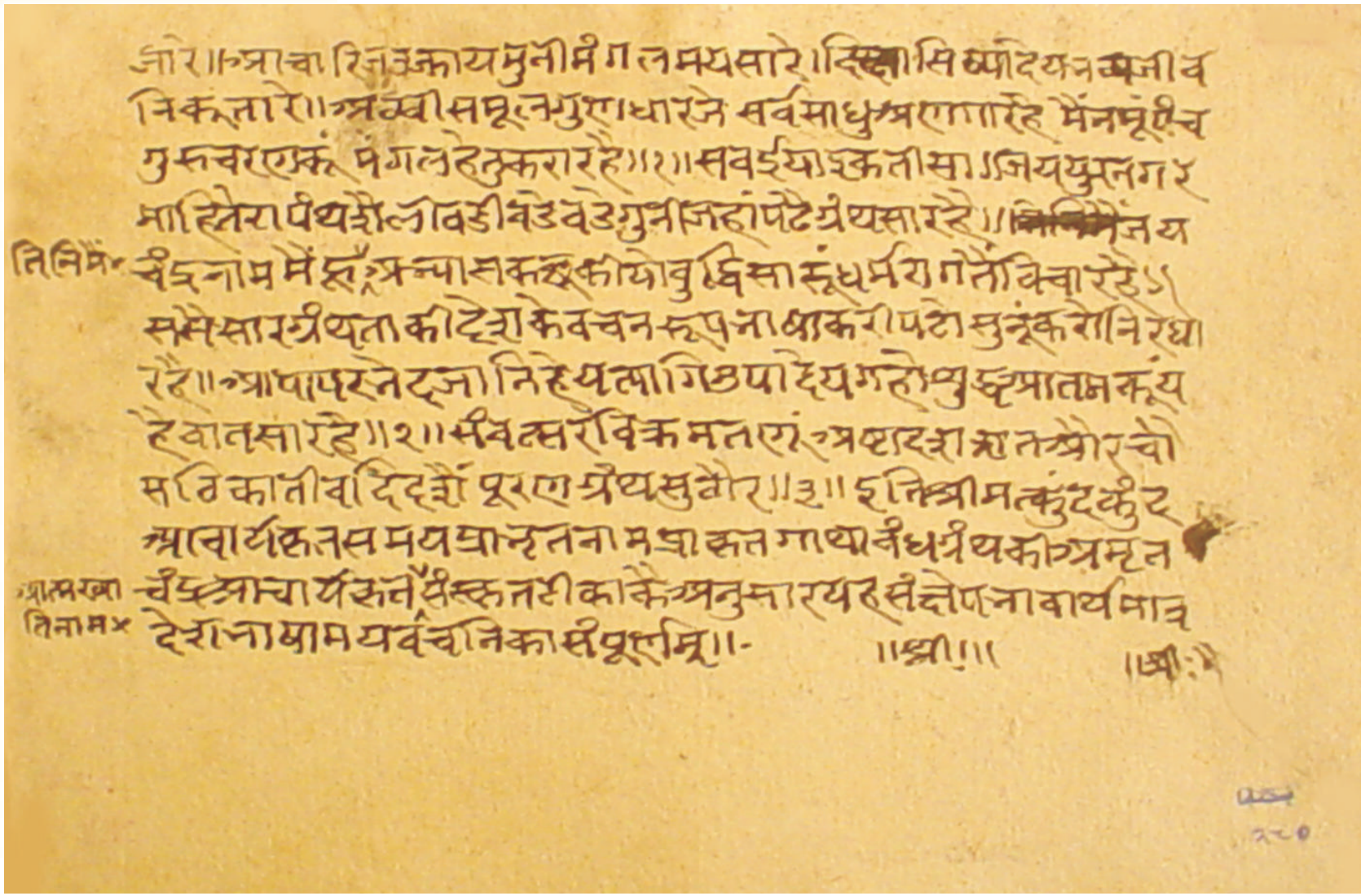

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क २८० का अगला भाग है। यहाँ ग्रन्थ का समापन होता है। इस पृष्ठ पर नीचे से दूसरी पंक्ति में पण्डित जयचन्दजी ने अपनी समयसार वचनिका को '**संक्षेप भावार्थमात्र**' लिख कर अपनी सरलता बताई है – '**यह संक्षेप भावार्थ**

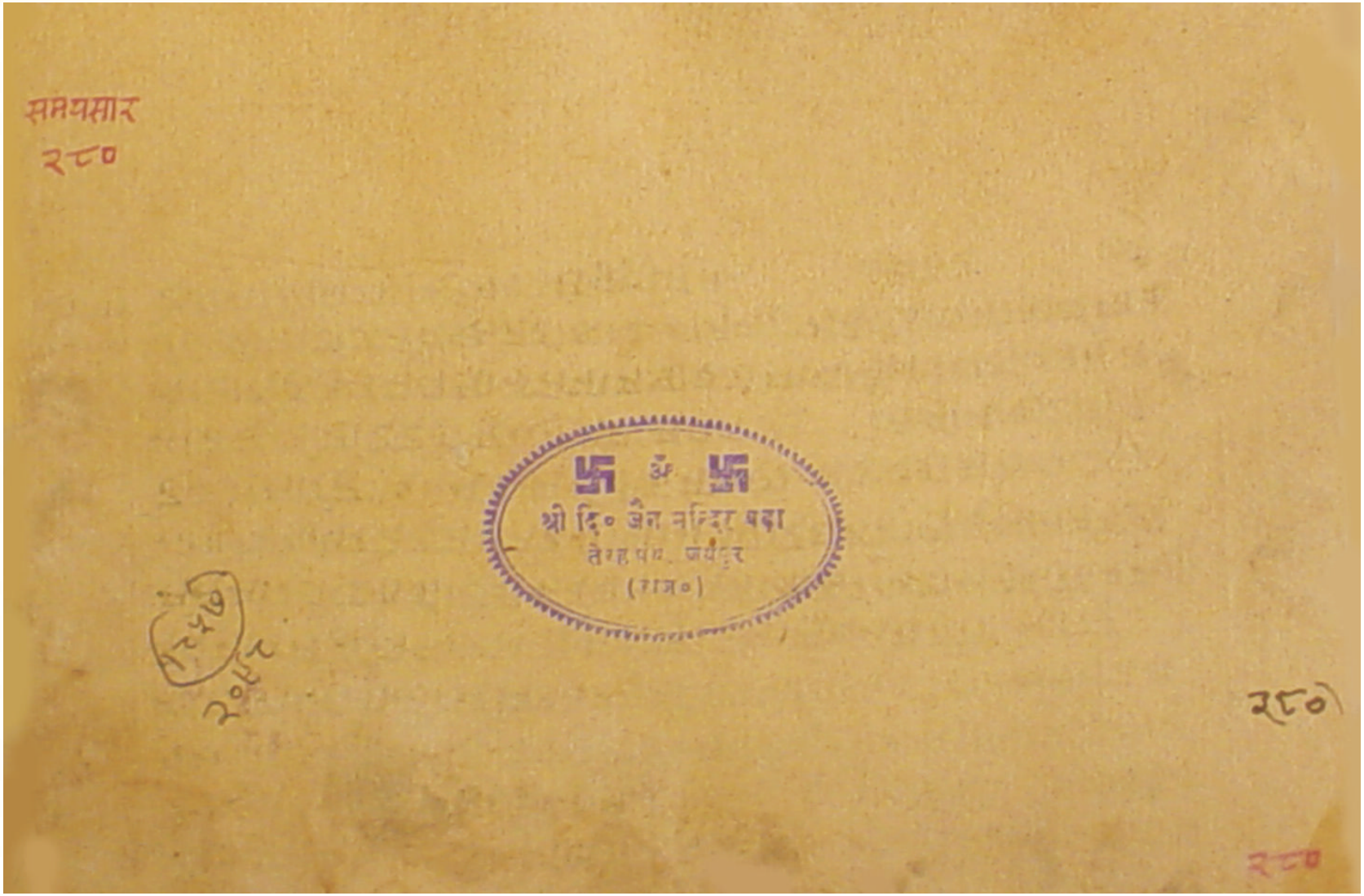

पृष्ठ-परिचय : यह पत्र क्रमाङ्क २८० का पिछला भाग है। इस पृष्ठ पर पण्डित श्री जयचन्द्रजी छाबड़ा द्वारा स्वहस्तलिखित प्रति के अन्तिम पन्ने का क्रमाङ्क २८०, तीन बार दिया है। साथ ही 'श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, बड़ा, तेरहपंथ, जयपुर (राज.)' की सील

आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा प्राकृतभाषा में प्रणीत परमागम ग्रन्थ

'समयसार' की मूल गाथाओं[1] की वर्णानुक्रम सूची

	गाथा	पृष्ठ
(अ)		
अज्झवसाणणिमित्तं	२६७	६६४
अज्झवसिदेण बंधो	२६२	६४७
अट्ठवियप्पे कम्मे	१८२	४८३
अट्ठविहं पि य कम्मं	४५	१९६
अण्णदविएण अण्ण-	३७२	८४७
अण्णाणमओ भावो	१२७	३४४
अण्णाणमया भावा-	१२९	३४७
अण्णाणमया भावा	१३१	३४९
अण्णाणमोहिदमदी	२३	१४०
अण्णाणस्स स उदओ	१३२	३५१
अण्णाणी कम्मफलं	३१६	७६४
अण्णाणी पुण रत्तो	२१९	५७०
अण्णो करेदि अण्णो	३४८	८०५
अत्ता जस्सामुत्तो	४०५	९४७
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१०	५५४
अपरिग्गहो अणिच्छो	२११	५५५
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१२	५५६
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१३	५५८
अपरिणमंतम्हि सयं	१२२	३३९
अप्पडिक्कमणं दुविहं	२८३	६७९
अप्पडिक्कमणं दुविहं	२८४	६७९
अप्पडिकमणमप्पडि-	३०७	७३०
अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण	१८७	४९३
अप्पाणमयाणंता	३९	१८७
अप्पाणमयाणंतो	२०२	५३२
अप्पा णिच्चोऽसंखेज्ज-	३४२	७९०
अप्पाणं झायंतो	१८९	४९४
अरसमरूवमगंधं	४९	२०१
अवरे अज्झवसाणेसु	४०	१८७
असुहं सुहं व दव्वं	३८१	८५३
असुहं सुहं व रूवं	३७६	८५२
असुहो सुहो व गंधो	३७७	८५३
असुहो सुहो व गुणो	३८०	८५३
असुहो सुहो व फासो	३७९	८५३
असुहो सुहो व रसो	३७८	८५३
असुहो सुहो व सद्दो	३७५	८५२
अह जाणगो दु भावो	३४४	७९१
अह जीवो पयडी तह	३३०	७८२
अह ण पयडी ण जीवो	३३१	७८३
अह दे अण्णो कोहो	११५	३३२
अहमेक्को खलु सुद्धो	३८	१७१
अहमेक्को खलु सुद्धो	७३	२६०
अहमेदं एदमहं	२०	१३६
अहवा एसो जीवो	३२९	७८२
अहवा मण्णसि मज्झं	३४१	७९०
अह सयमप्पा परिणमदि	१२४	३३९
अह संसारत्थाणं	६३	२२५
अह सयमेव हि	११९	३३५
(आ)		
आउक्खयेण मरणं	२४८	६३३
आउक्खयेण मरणं	२४९	६३३
आऊदयेण जीवदि	२५१	६३६
आऊदयेण जीवदि	२५२	६३६
आदम्हि दव्वभावे	२०३	५३६
आदा खु मज्झ णाणं	२७७	६६९
आधाकम्मं उद्देसियं	२८७	६८३
आधाकम्मादीया	२८६	६८३
आभिणिसुदोधि	२०४	५४०
आयारादी णाणं	२७६	६६९
आयासं पि ण णाणं	४०१	९३५
आसि मम पुव्वमेदं	२१	१३६
(इ)		
इणमण्णं जीवादो	२८	१४८
इय कम्मबंधणाणं	२९०	६९९
(उ)		
उदओ असंजमस्स दु	१३३	३५१
उदयविवागो विविहो	१९८	५२५
उप्पण्णोदयभोगो	२१५	५६१
उप्पादेदि करेदि य	१०७	३२६
उम्मग्गं गच्छंतं	२३४	५९८
उवओगस्स अणादी	८९	२९४
उवओगे उवओगो	१८१	४८३
उवघादं कुव्वंतस्स	२३९	६१९
उवघादं कुव्वंतस्स	२४४	२६६
उवभोगमिंदियेहिं	१९३	५१५
(ए)		
एदेण कारणेण दु	१७६	४५८
एक्कं च दोण्णि	६५	२२७
एकस्स दु परिणामो	१४०	३५७
एकस्स दु परिणामो	१३८	३५५
एदम्हि रदो णिच्चं	२०६	५४६
एदाणि णत्थि जेसिं	२७०	६५९
एदाहि य णिव्वत्ता	६६	२२७
एदे अचेदणा खलु	१११	३२९
एदे सव्वे भावा	४४	१९२
एदेण कारणेण दु	८२	२७८
एदेण कारणेण दु	१७६	४५७
एदेण दु सो कत्ता	९७	३०८
एदेसु य उवओगो	९०	२९६
एदेसु हेदुभूदेसु	१३५	३५२
एदेहिं स संबंधो	५७	२१७
एदं तु अविवरीदं	१८३	४८३
एमादिए दु विविहे	२१४	५५९
एमेव कम्मपयडी	१४९	४०२
एमेव जीवपुरिसो	२२५	५७९
एमेव मिच्छदिट्ठी	३२६	७७८
एमेव य ववहारो	४८	२००
एमेव सम्मदिट्ठी	२२७	५७९
एयं तु जाणिऊणं	३८२	८५४
एयत्तणिच्छयगदो	३	७२
एयं तु असब्भूदं	२२	१३६
एवमलिये अदत्ते	२६३	६४८
एवमिह जो दु जीवो	११४	३३२
एवम्हि सावराहो	३०३	७२४
एवं जाणदि णाणी	१८५	४८९
एवं ण को वि मोक्खो	३२३	७७५
एवं णाणी सुद्धो	२७९	६७३
एवं तु णिच्छयणयस्स	३६०	८२१
एवं पराणि दव्वाणि	९६	३०५
एवं पोग्गलदव्वं	६४	२२५
एवं बंधो उ दोह्ण पि	३१३	७६०
एवं मिच्छादिट्ठी	२४१	६२०
एवं ववहारणओ	२७२	६६४

१. यहाँ गाथाओं के क्रमाङ्क, ग्रन्थ के नीचे अनुवाद के साथ दी गई गाथाओं के क्रमाङ्क से मिलाएँ।

	गाथा	पृष्ठ
एवं ववहारस्स दु	३५३	८१३
एवं ववहारस्स दु	३६५	८२२
एवं विहा बहुविहा	४३	१८८
एवं संखुवएसं	३४०	७९०
एवं सम्मद्दिट्ठी	२००	५२७
एवं सम्माद्दिट्ठी	२४६	६२६
एवं हि जीवराया	१८	१२८
एसा दु जा मई दे	२५९	६४४
(क)		
कणयमया भावादो	१३०	३४८
कम्मइयवग्गणासु य	११७	३३५
कम्मं जं पुव्वकयं	३८३	८६२
कम्मं जं सुहमसुहं	३८४	८६२
कम्मं णाणं ण हवदि	३९७	९३४
कम्मं पडुच्च कत्ता	३११	७५६
कम्मं बद्धमबद्धं	१४२	३५९
कम्ममसुहं कुसीलं	१४५	३९६
कम्मस्साभावेण य	१९२	४९७
कम्मस्स य परिणामं	७५	२६७
कम्मस्सुदयं जीवं	४१	१८७
कम्मे णोकम्मम्हि य	१९	१३३
कम्मेहि दु अण्णाणी	३३२	७८८
कम्मेहि भमाडिज्जदि	३३४	७८९
कम्मेहि सुहाविज्जइ	३३३	७८८
कम्मोदएण जीवा	२५४	६३८
कम्मोदएण जीवा	२५५	६३८
कम्मोदएण जीवा	२५६	६३९
कह सो घिप्पदि अप्पा	२९६	७११
कालो णाणं ण हवदि	४००	९३५
केहिंचि दु पज्जएहिं	३४५	८०४
केहिंचि दु पज्जएहिं	३४६	८०५
को णाम भणिज्ज	२०७	५४९
को णाम भणिज्ज	३००	७२१
कोहादिसु वट्टंतस्स	७०	२५१
कोहुवजुत्तो कोहो	१२५	३३९
(ग)		
गंधरसफासरूवा	६०	२१९
गंधो णाणं ण हवदि	३९४	९३३
गुणसण्णिदा दु एदे	११२	३२९
(च)		
चउविह अणेयभेयं	१७०	४५१
चारित्तपडिणिबद्धं	१६३	४२३
चेदा दु पयडियट्ठं	३१२	७६०
(छ)		
छिंददि भिंददि य तहा	२३८	६१९
छिंददि भिंददि य तहा	२४३	६२५
छिज्जदु वा भिज्जदु वा	२०९	५५२
(ज)		
जइ ण वि कुणदि	२८९	६९९
जइ जीवेण सह च्चिय	१३७	३५५
जइया इमेण जीवेण	७१	२५४
जइया स एव संखो	२२२	५७३
जं कुणदि भावमादा	९१	२९७
जं कुणदि भावमादा	१२६	३४७
जं भावं सुहमसुहं	१०२	३२०
जं सुहमसहमुदिण्णं	३८५	८६२
जदा विमुंचए चेदा	३१५	७६२
जदि जीवो ण सरीरं	२६	१४५
जदि पोग्गलकम्ममिणं	८५	२८४
जदि सो परदव्वाणि य	९९	३१५
जदि सो पोग्गलदव्वी-	२५	१४०
जम्हा कम्मं कुव्वदि	३३५	७८९
जम्हा घादेदि परं	३३८	७९०
जम्हा जाणदि णिच्चं	४०३	९३५
जम्हा दु अत्तभावं	८६	२८५
जम्हा दु जहण्णादो	१७१	४५२
जह कणयमग्गितवियं	१८४	४८९
जह को वि णरो जपदि	३२५	७७८
जह चेट्ठं कुव्वंतो	३५५	८१३
जह जीवस्स अणण्णुव-	११३	३३२
जह ण वि सक्कमणज्जो	८	८४
जह णाम को वि पुरिसो	१७	१२८
जह णाम को वि पुरिसो	३५	१६२
जह णाम को वि पुरिसो	१४८	४०२
जह णाम को वि पुरिसो	२३७	६१९
जह णाम को वि पुरिसो	२८८	६९९
जह परदव्वं सेवदि	३६१	८२१
जह परदव्वं सेवदि	३६२	८२१
जह परदव्वं सेवदि	३६३	८२२
जह परदव्वं सेवदि	३६४	८२२
जह पुण सो च्चिय	२२६	५७९
जह पुण सो चेव णरो	२४२	६२५
जह पुरिसेणाहारो	१७९	४६६
जह फलिहमणी सुद्धो	२७८	६७३
जह बंधे चिंतंतो	२९१	७०१
जह बंधे छेत्तूण य	२९२	७०३
जह मज्जं पिबमाणो	१९६	५२०
जह राया ववहारा	१०८	३२७
जह विसमुवभुंजंतो	१९५	५१९
जह सिप्पिओ दु कम्म-	३५२	८१३
जह सिप्पिओ दु कम्मं	३४९	८१२
जह सिप्पिओ दु	३५१	८१२
जह सिप्पिओ दु	३५०	८१२
जह सिप्पिओ दु चेट्ठं	३५४	८१३
जह सेडिया दु	३५६	८२०
जह सेडिया दु	३५७	८२०
जह सेडिया दु	३५८	८२१
जह सेडिया दु	३५९	८२१
जा एस पयडीयट्ठं	३१४	७६१
जावं अप्पडिकमणं	२८५	६८०
जाव ण वेदि विसेसं-	६९	२५१
जिदमोहस्स दु जइया	३३	१५७
जीवणिबद्धा एदे	७४	२६२
जीवपरिणामहेदुं	८०	२७८
जीवम्हि हेदुभूदे	१०५	३२४
जीवस्स जीवरूवं	३४३	७९१
जीवस्स जे गुणा केइ	३७०	८४२
जीवस्स णत्थि केई	५३	२०८
जीवस्स णत्थि रागो	५१	२०७
जीवस्स णत्थि वग्गो	५२	२०७
जीवस्स णत्थि वण्णो	५०	२०७
जीवस्स दु कम्मेण य	१३९	३५७
जीवस्साजीवस्स दु	३०९	७५६
जीवादीसद्दहणं	१५५	४१४
जीवे कम्मं बद्धं	१४१	३५८
जीव ण सयं बद्धं	११६	३३५
जीवो कम्मं उहयं	४२	१८७
जीवो चरित्तदंसण-	२	६८
जीवो चेव हि एदे	६२	२२३
जीवो ण करेदि घडं	१००	३१६
जीवो परिणामयदे	११८	३३५
जीवो बंधो य तहा	२९४	७०५
जीवो बंधो य तहा	२९५	७१०
जे पोग्गलदव्वाणं	१०१	३१८
जो अप्पणा दु मण्णदि	२५३	६३७
जो इंदिये जिणित्ता	३१	१५२
जो कुणदि वच्छलत्तं	२३५	५९९
जो चत्तारि वि पाए	२२९	५९२
जो चेव कुणदि	३४७	८०५
जो जम्हि गुणे दव्वे	१०३	३२१
जो ण करेदि दुगुंछं	२३१	५९५

	गाथा	पृष्ठ
जो ण कुणदि अवराहे	३०२	७२४
जो ण मरदि ण य	२५८	६४२
जो दु ण करेदि कंखं	२३०	५९३
जोधेहिं कदे जुद्धे	१०६	३२५
जो पस्सदि अप्पाणं	१४	११०
जो पस्सदि अप्पाणं	१५	११९
जो पुण णिरावराधो	३०५	७२६
जो मण्णदि जीवेमि य	२५०	६३५
जो मण्णदि हिंसामि य	२४७	६३२
जो मरदि जो य दुहिदो	२५७	६४२
जो मोहं तु जिणित्ता	३२	१५५
जो वेददि वेदिज्जदि	२१६	५६३
जो समयपाहुडमिणं	४१५	९६५
जो सव्वसंगमुक्को	१८८	४९४
जो सिद्धभत्तिजुत्तो	२३३	९५७
जो सुदणाणं सव्वं	१०	८७
जो सो दु णेहभावो	२४०	६१९
जो सो अणेहभावो	२४५	६२६
जो हवदि असम्मूढ़ो	२३२	५९६
जो हि सुदेणहिगच्छदि	९	८७
(ण)		
ण कुदोचि वि उप्पण्णो	३१०	७५६
णज्झवसाणं णाणं	४०२	९३५
णत्थि दु आसवबंधो	१६६	४४५
णत्थि मम को वि मोहो	३६	१६५
णत्थि मम धम्म आदी	३७	१६८
ण दु होदि मोक्खमग्गो	४०९	९५०
ण मुयदि पयडिमभव्वो	३१७	७६६
णयरम्मि वण्णिदे जह	३०	१५०
ण य रायदोसमोहं	२८०	६७६
ण रसो दु हवदि णाणं	३९५	९३४
ण वि एस मोक्खमग्गो	४१०	९५२
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे	८१	२७८
ण वि कुव्वदि ण वि	३१९	७७०
ण वि परिणमदि ण	७६	२७०
ण वि परिणमदि ण	७७	२७२
ण वि परिणमदि ण	७८	२७३
ण वि परिणमदि ण	७९	२७५
ण वि सक्कदि घेत्तुं जं	४०६	९४७
ण वि होदि अप्पमत्तो	६	७९
ण सयं बद्धो कम्मे	१२१	३३९
णाणं सम्मादिट्ठीं	४०४	९३५
णाणगुणेण विहीणा	२०५	२०५
णाणमधम्मो ण हवदि	३९९	३९९
णाणमया भावाओ	१२८	३४७
णाणस्स दंसणस्स य	३६९	८४२
णाणस्स पडिणिबद्धं	१६२	४२३
णाणावरणादीयस्स	१६५	४४३
णाणी रागप्पजहो	२१८	५६९
णादूणं आसवाण	७२	२५५
णिंदिदसंथुदवयणाणि	३७३	८५२
णिच्चं पच्चक्खाणं	३८६	८६३
णिच्छयणयस्स	८३	२८०
णियमा कम्मपरिणदं	१२०	३३५
णिव्वेदसमावण्णो	३१८	७६८
णेव य जीवट्ठाणा	५५	२०८
णो ठिदिबंधट्ठाणा	५४	२०८
(त)		
तं एयत्तविहत्तं	५	७६
तं खलु जीवणिबद्धं	१३६	३५२
तं णिच्छये ण जुज्जदि	२९	१४९
तं जाण जोगउदयं	१३४	३५२
तत्थ भवे जीवाणं	६१	२२२
तह जीवे कम्माणं	५९	२१८
तह णाणिस्स दु पुव्वं	१८०	४६७
तह णाणिस्स वि	२२१	५७३
तह णाणी वि हु जइया	२२३	५७३
तह वि य सच्चे दत्ते	२६४	६४८
तम्हा दु जो विसुद्धो	४०७	९४७
तम्हा जहित्तु लिंगे	४११	९५३
तम्हा ण को वि जीवो	३३७	७८९
तम्हा ण को वि जीवो	३३९	७९०
तम्हा ण मे त्ति णच्चा	३२७	७७८
तम्हा दु कुसीलेहि य	१४७	४०१
तिविहो एसुवओगो	९४	३०२
तिविहो एसुवओगो	९५	३०४
तेसिं पुणो वि य इमो	११०	३२९
तेसिं हेदू भणिदा	१९०	४९७
(थ)		
थेयादि अवराहे	३०१	७२३
(द)		
दंसणणाणचरित्तं किंचि	३६६	८४१
दंसणणाणचिरत्तं किंचि	३६७	८४१
दंसणणाणचरित्तं किंचि	३६८	८४१
दंसणणाणचरित्तं	१७२	४५३
दंसणणाणचरित्ताणि	१६	१२४
दव्वगुणस्स य आदा	१०४	३२२
दवियं जं उप्पज्जइ	३०८	७५५
दव्वे उवभुंजंते	१९४	५१६
दिट्ठी जहेव णाणं	३२०	७७१
दुक्खिदसुहिदे जीवे	२६६	६५३
दुक्खिदसुहिदे सत्ते	२६०	६४५
दोण्ह वि णयाण भणिदं	१४३	३७१
(ध)		
धम्माधम्मं च तहा	२६९	६५६
धम्मो णाणं ण हवदि	३९८	९३४
(प)		
पंथे मुस्संतं पस्सिदूण	५८	२१८
पक्के फलम्हि पडिए	१६८	४४८
पज्जत्तापज्जत्ता जे	६७	२३०
पडिकमणं पडिसरणं	३०६	७३०
पण्णाए घित्तव्वो	२९७	७१२
पण्णाए घित्तव्वो	२९८	७१५
पण्णाए घित्तव्वो	२९९	७१५
परमट्ठबाहिरा जे	१५४	४१२
परमट्ठम्हि दु अठिदो	१५२	४०९
परमट्ठो खलु समओ	१५१	४०७
परमप्पाणं कुव्वं	९२	२९९
परमप्पाणमकुव्वं	९३	३०१
परमाणुमित्तयं पि हु	२०१	५३२
पासंडीलिंगाणि य	४०८	९५०
पासंडीलिंगेसु व	४१३	९५९
पुढवीपिंडसमाणा	१६९	४५०
पुरिसित्थियाहिलासी	३३६	७८९
पुरिसो जह को वि	२२४	५७८
पोग्गलकम्मं कोहो	१२३	३३९
पोग्गलकम्मं मिच्छं	८८	२९३
पोग्गलकम्मं रागो	१९९	५२६
पोग्गलदव्वं सद्दत्त-	३७४	८५२
(फ)		
फासो ण हवदि णाणं	३९६	९३४
(ब)		
बंधाणं च सहावं	२९३	७०४
बंधुवभोगणिमित्ते	२१७	५६७
बुद्धी ववसाओ वि य	२७१	६६१
(भ)		
भावो रागादिजुदो	१६७	४४६
भुंजंतस्स वि विविहे	२२०	५७३
भूदत्थेणाभिगदा	१३	१०१
(म)		
मज्झं परिग्गहो जइ	२०८	५५१
मारिमि जीवावेमि य	२६१	६४५
मिच्छत्तं अविरमणं	१६४	४३

	गाथा	पृष्ठ
मिच्छत्तं जदि पयडी	३२८	७८२
मिच्छत्तं पुण दुविहं	८७	२९१
मोक्खं असद्दहंतो	२७४	६६६
मोक्खपहे अप्पाणं	४१२	९५५
मोत्तूण णिच्छयट्ठं	१५६	४१५
मोहणकम्मस्सुदया	६८	२३२
(र)		
रत्तो बंधदि कम्मं	१५०	४०४
रागी दोसो मोहो जीव-	३७१	८४२
रागो दोसो मोहो य	१७७	४६२
रागम्हि य दोसम्हि य	२८१	६७७
रागम्हि य दोसम्हि य	२८२	६७८
राया हु णिग्गदो त्ति य	४७	२००
रूवं णाणं ण हवदि	३९२	९३३
(ल)		
लोगसमणाणमेयं	३२२	७७५
लोगस्स कुणदि विण्हू	३२१	७७४
(व)		
वंदित्तु सव्वसिद्धे	१	६४
वण्णो णाणं ण हवदि	३९३	९३३
वत्थस्स सेदभावो	१५७	४१८
वत्थस्स सेदभावो	१५८	४१८
वत्थस्स सेदभावो	१५९	४१९
वत्थुं पडुच्च जं पुण	२६५	६५०
वदणियमाणि धरंता	१५३	४१०
वदसमिदीगुत्तीओ	२७३	६६५
ववहारणओ भासदि	२७	१४६
ववहारभासिदेण	३२४	७७७
ववहारस्स दरीसण	४६	१९८
ववहारस्स दु आदा	८४	२८८
ववहारिओ पुण णओ	४१४	९६१
ववहारेण दु आदा	९८	३१४
ववहारेण दु एदे	५६	२१६
ववहारेणुवदिस्सदि	७	८२
ववहारोऽभूदत्थो	११	८९
विज्जारहमारूढ़ो	२३६	६०१
वेदंतो कम्मफलं	३८७	८६६
वेदंतो कम्मफलं	३८८	८६६
वेदंतो कम्मफलं	३८९	८६७
(स)		
संता दु णिरुवभोज्जा	१७५	४५७
संसिद्धिराधसिद्धं	३०४	७२६
सत्थं णाणं ण हवदि	३९०	९३३
सद्दहदि य पत्तेदि य	२७५	६६७
सद्दो णाणं ण हवदि	३९१	९३३
सम्मत्तपडिणिबद्धं	१६१	४२२
सम्मादिट्ठी जीवा	२२८	५८३
सम्मद्दंसणणाणं	१४४	३७४
सव्वण्हुणाणदिट्ठो	२४	१४०
सव्वे करेदि जीवो	२६८	६५६
सव्वे पुव्वणिबद्धा	१७३	४५७
सव्वे भावे जम्हा	३४	१६१
सामण्णपच्चया खलु	१०९	३२९
सुदपरिचिदाणुभूदा	४	७४
सुद्धं तु वियाणंतो	१८६	४९१
सुद्धो सुद्धादेसो	१२	९२
सेवंतो वि ण सेवदि	१९७	५२२
सोवण्णियं पि णियलं	१४६	४००
सो सव्वणाणदरिसी	१६०	४२१
(ह)		
हेदुअभावे णियमा	१९१	४९७
हेदू चदुव्वियप्पो	१७८	४६२
होदूण णिरुवभोज्जा	१७४	४५७

आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव द्वारा संस्कृतभाषा में विरचित 'आत्मख्याति' टीका में समागत **कलशों या छन्दों[1] की वर्णानुक्रम सूची**

	कलश	पृष्ठ
(अ)		
अकर्ता जीवोऽयं	१९५	७५८
अखण्डितमनाकुलं	१४	१२२
अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव	१४४	५४८
अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति	१४१	५४२
अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यव-	५७	३०९
अज्ञानमयभावानामज्ञानी	६८	३५१
अज्ञानमेतदधिगम्य	१६९	६४१
अज्ञानान्मृगतृष्णिकां	५८	३११
अज्ञानं ज्ञानमप्येवं	६१	३१३
अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव-	१९७	७६५
अतो हताः प्रमादिनो	१८८	७३३
अतः शुद्धनयायत्तं	७	१०१
अत्यन्तं भावयित्वा	२३३	९३१
अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं	२४७	९७७

	गाथा	पृष्ठ
अथ महामदनिर्भरमन्थरं	११३	४४१
अद्वैताऽपि हि चेतना	१८३	७१९
अध्यास्य शुद्धनय-	१२०	४६४
अध्यास्याऽत्मनि	२५८	९९६
अनन्तधर्मणस्तत्त्वं	२	६०
अनवरतमनन्तै-	१८७	७२८
अनाद्यनन्तमचलं	४१	२३४
अनेनाऽध्यवसायेन	१७१	६५५
अन्येभ्यो व्यतिरिक्त-	२३५	९४४
अयि कथमपि मृत्वा	२३	१४४
अर्थालम्बनकाल एव	२५७	९९४
अलमलमतिजल्पै-	२४४	९६३
अवतरति न यावद्-	२९	१६४
अविचलितचिदात्म-	२७६	१०३०
अस्मिन्ननादिनि	४४	२३७

	गाथा	पृष्ठ
(आ)		
आक्रामन्नविकल्पभाव-	९३	३७६
आत्मनश्चिन्तयैवालं	१९	१२७
आत्मभावान्करोत्यात्मा	५६	२९१
आत्मस्वभावं परभाव-	१०	१०९
आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं	६२	३१४
आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभि-	२०८	८०८
आत्मानुभूतिरिति	१३	११८
आसंसारत एव धावति	५५	२९०
आसंसारविरोधिसंवर-	१२५	४८१
आसंसारात्प्रतिपदममी	१३८	५३४
(इ)		
इति परिचिततत्त्वै-	२८	१५९
इति वस्तुस्वभावं स्वं	१७६	६७५
इति वस्तुस्वभावं स्वं	१७७	६७७

१. यहाँ कलशों के क्रमाङ्क, ग्रन्थ के नीचे अनुवाद के साथ कलशों के हिन्दी पद्यानुवाद में दिए गये क्रमाङ्क से मिलाएँ।

	कलश	पृष्ठ
इति सति सह सर्वै-	३१	१७०
इतीदमात्मनस्तत्वं	२४६	९६७
इत: पदार्थप्रथनावगुण्ठना-	२३४	९३२
इतो गतमनेकतां	२७३१०२६	
इत्थं ज्ञानक्रकचकलना	४५	२३७
इत्थं परिग्रहमपास्य	१४५	५५३
इत्यज्ञानविमूढानां	२६२	९९९
इत्याद्यनेकनिजशक्ति	२६४१०१३	
इत्याऽलोच्य विवेच्य	१७८	६८५
इत्येवं विरचय्य सम्प्रति	४८	२६५
इदमेकं जगच्चक्षु-	२४५	९६४
इदमेवात्र तात्पर्यं	१२२	४६८
इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्	९१	३७०
(उ)		
उदयति न नयश्री-	९	१०८
उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्	२३६	९४६
उभयनयविरोध-	४	९५
(ए)		
एकज्ञायकभावनिर्भर-	१४०	५३८
एकत्वं व्यवहारतो न	२७	१५८
एकत्वे नियतस्य	६	९८
एकमेव हि तत्स्वाद्यं	१३९	५३७
एकश्चितश्चिन्मय एव	१८४	७२०
एकस्य कर्ता	७४	३६४
एकस्य कार्यं	७९	३६५
एकस्य चेत्यो	८६	३६६
एकस्य चैको	८१	३६५
एकस्य जीवो	७६	३६४
एकस्य दुष्टो	७३	३६४
एकस्य दृश्यो	८७	३६६
एकस्य नाना	८५	३६६
एकस्य नित्यो	८३	३६५
एकस्य बद्धो	७०	३६२
एकस्य भातो	८९	३६६
एकस्य भावो	८०	३६५
एकस्य भोक्ता	७५	३६४
एकस्य मूढो	७१	३६३
एकस्य रक्तो	७२	३६३
एकस्य वस्तुन इहान्य-	२०१	७८०
एकस्य वाच्यो	८४	३६५
एकस्य वेद्यो	८८	३६६
एकस्य सान्तो	८२	३६५
एकस्य सूक्ष्मो	७७	३६४
एकस्य हेतु-	७८	३६४

	गाथा	पृष्ठ
एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं	१६०	५९०
एक: परिणमति सदा	५२	२८८
एक: कर्ता चिदहमिह	४६	२५०
एको दुरात्यजति	१०१	३९५
एको मोक्षपथो य एष	२४०	९५६
एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य	२३८	९४९
एवं तत्त्वव्यवस्थित्या	२६३१०००	
एष ज्ञानघनो नित्य-	१५	१२३
एषैकैव हि वेदना	१५६	५८५
(क)		
कथमपि समुपात्त-	२०	१३१
कथमपि हि लभन्ते	२१	१३५
कर्ता कर्ता भवति	९९	३८२
कर्ता कर्मणि नास्ति	९८	३८०
कर्तारं स्वफलेन	१५२	५७७
कर्तुर्वेदयितुश्च युक्ति-	२०९	८१०
कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य	१९४	७५५
कर्म सर्वमपि सर्वविदो	१०३	४०५
कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ	२०४	७८७
कषायकलिरेकत:	२७४१०२४	
कान्त्यैव स्नपयन्ति ये	२४	१४५
कार्यत्वादकृतं न कर्म	२०३	७८६
कृतकारिताऽनुमननै	२२५	८६९
क्लिश्यन्तां स्वयमेव	१४२	५४३
क्वचिल्लसति मेचकं	२७२१०२४	
(क्ष)		
क्षणिकमिदमिहैक:	२०६	८०२
(घ)		
घृतकुम्भाभिधानेऽपि	४०	२३१
(च)		
चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्व	३६	२०६
चित्पिण्डचण्डिमविलासि-	२६८१०१९	
चित्रात्मशक्तिसमुदाय-	२७०१०२२	
चिरमिति नवतत्त्व-	८	१०४
चित्स्वभावभरभावितभावा-	९२	३७३
चैद्रूप्यं जडरूपतां च	१२६	४८७
(ज)		
जयति सहजतेज:	२७५१०२०	
जानाति य: स न	१६७	६३१
जीव: करोति यदि	६३	३२८
जीवाजीवविवेक-	३३	१८५
जीवादजीवमिति	४३	२३६
(ज्ञ)		
ज्ञप्ति: करोतौ न हि	९७	३७९

	गाथा	पृष्ठ
ज्ञानमय एव भाव:	६६	३४६
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि	१४९	५६९
ज्ञानस्य सञ्चेतनयैव	२२४	८६५
ज्ञानादेव ज्वलनपयसो-	६०	३१२
ज्ञानाद्विवेचकतया तु	५९	३१२
ज्ञानिन् कर्म न जातु	१५१	५७६
ज्ञानिनो न हि परिग्रह-	१४८	५६८
ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ता:	६७	३४८
ज्ञानी करोति न	१९८	७६९
ज्ञानी जानन्नपीमां	५०	२७६
ज्ञेयाकारकलङ्कमेचक-	२५१	९८७
(ट)		
टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोध-	२६१	९९८
टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचित	१६१	५९१
(त)		
तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं	१३४	५१८
तथापि न निरर्गलं	१६६	६३०
तदथ कर्म शुभाशुभ-	१००	३९४
त्यक्तं येन फलं स	१५३	५८१
त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि	१९१	७३७
त्यजतु जगदिदानीं	२२	१३९
(द)		
दर्शनज्ञानचरित्रत्रयात्मा	२९३	९५४
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वा-	१६	१२५
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभि:	१७	१२६
दूरं भूरिविकल्पजाल-	९४	३७७
द्रव्यलिङ्गममकारमीलितै-	२४३	९६१
द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकच-	१८०	६९८
(ध)		
धीरोदारमहिम्न्यनादि-	१२३	४६८
(न)		
न कर्मबहुलं जगन्न	१६४	६२४
न जातु रागादि-	१७५	६७४
ननु परिणाम एव	२११	८१७
नम: समयसाराय	१	५७
न हि विदधति बद्ध-	११	११६
नाऽश्नुते विषयसेवने-	१३५	५२१
नास्ति सर्वोऽपि	२००	७७७
निजमहिमरतानां	१२८	४९६
नित्यमविकारसुस्थित	२६	१५१
निर्वर्त्यते येन यदत्र	३८	२२९
नि:शेषकर्मफल-	२३१	१२८
निषिद्धे सर्वस्मिन्	१०४	४०५
नीत्वा सम्यक् प्रलय-	१९३	७५३

	कलश	पृष्ठ
नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ	५४	२८९
नैकान्तसङ्गतदशा	२६५	१०१४
नोभौ परिणमत: खलु	५३	२८८
(प)		
पदमिदं ननु कर्म-	१४३	५४०
परद्रव्यग्रहं कुर्वन्	१८६	७२३
परपरिणतिहेतो-	३	६२
परपरिणतिमुज्झत्	४७	२५९
परमार्थेन तु व्यक्त-	१८	१२६
पूर्णैकाऽच्युतशुद्धबोध-	२२२	८५९
पूर्वम्बिद्धनिजकर्म-	१४६	५६०
पूर्वालम्बेतबोध्यनाशसमये	२५६	९९३
प्रच्युत्य शुद्धनयत:	१२१	४६५
प्रज्ञाछेत्री शितेयं	१८१	७०८
प्रत्यक्षाऽलिखितस्फुट-	२५२	९८८
प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म	२२८	९०६
प्रमादकलित: कथं भवति	१९०	७३६
प्राकारकवलिताम्बर-	२५	१५१
प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं	१५९	५८९
प्रादुर्भावविराममुद्रित-	२६०	९९७
(ब)		
बन्धच्छेदात्कलयदतुलं	१९२	७३८
बहिर्लुठति यद्यपि	२१२	८१८
बाह्यार्थग्रहणस्वभाव-	२५०	९८६
बाह्यार्थै:परिपीतमुज्झित-	२४८	९८४
(भ)		
भावयेद्भेदविज्ञान-	१३०	५००
भावास्रवाभावमयं	११५	४५१
भावो रागद्वेषमोहैर्विना	११४	४४९
भित्त्वा सर्वमपि	१८२	७१४
भिन्नक्षेत्रनिषण्ण-	२५४	९९०
भूतं भान्तमभूतमेव	१२	११७
भेदज्ञानोच्छलन-	१३२	५०२
भेदविज्ञानत: सिद्धा:	१३१	५०१
भेदोन्मादं भ्रमरसभरा-	११२	४२९
भोक्तृत्वं न स्वभावो-	१६९	७६३
(म)		
मग्ना: कर्मनयावलम्बन-	१११	४२७
मज्जन्तु निर्भरममी	३२	१७३
माऽकर्तारममी स्पृशन्तु	२०५	८०१
मिथ्यादृष्टे: स एवास्य	१७०	६४४
मोक्षहेतुतिरोधानाद्-	१०८	४१८
मोहविलासविजृम्भित-	२२७	८९४

	गाथा	पृष्ठ
मोहाद्यदहमकार्षं	२२६	८८३
(य)		
य एव मुक्त्वा नयपक्ष-	६९	३६१
यत्तु वस्तु कुरुते	२१४	८२०
यत्सन्नाशमुपैति तन्न	१५७	५८६
यदि कथमपि धारा-	१२७	४९२
यदिह भवति रागद्वेष-	२२०	८५०
यदेतद् ज्ञानात्मा	१०५	४११
यत्र प्रतिक्रमणमेव	१८९	७३४
यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा	२७७	१०३४
य: करोति स करोति	९६	३७८
य: परिणमति स कर्ता	५१	२८७
य: पूर्वभावकृतकर्म-	२३२	९३०
यादृक् तादृगिहास्ति	१५०	५७१
यावत्पाकमुपैति	११०	४२६
ये तु कर्तारमात्मानं	१९९	७७४
ये तु स्वभावनियमं	२०२	७८१
ये त्वेनं परिहृत्य	२४१	९५७
ये ज्ञानमात्रनिजभाव-	२६६	१०१७
योऽयं भावो ज्ञानमात्रो	२७११	०२४
(र)		
राजजन्मनि निमित्ततां	२२१	८५१
रागद्वेषद्वयमुदयते	२१७	८४०
रागद्वेषविभावमुक्त-	२२३	८६०
रागद्वेषविमोहानां	११९	४६१
रागद्वेषाविह हि भवति	२१८	८४६
रागद्वेषोत्पादकं	२१९	८४७
रागादयो बन्धनिदान-	१७४	६७२
रागादीनामुदयमदयं	१७९	६८६
रागादीनां झगिति	१२४	४७०
रागाद्यास्रवरोधतो	१३३	५१४
रागोद्गारमहारसेन	१६३	६१७
रुन्धन् बन्धं नवमिति	१६२	६०५
(ल)		
लोक: कर्म ततोऽस्तु	१६५	६२८
लोक: शाश्वत एक एष	१५५	५८४
(व)		
वर्णादिसामग्र्यमिदं	३९	२२९
वर्णाद्या वा रागमोहादयो	३७	२१५
वर्णाद्यै: सहितस्तथा	४२	२३५
वस्तु चैकमिह नाऽन्य-	२१३	८१९
विकल्पक: परं कर्ता	९५	३७८
विगलन्तु कर्मविषतरु-	२३०	९०८

	गाथा	पृष्ठ
विजहति न हि सत्तां	११८	४६०
विरम किमपरेणाऽकार्य	३४	१९५
विश्रान्त: परभावभाव-	२५८	९९५
विश्वाद्विभक्तोऽपि हि	१७२	६५८
विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य	२४८	९८५
वृत्तं कर्मस्वभावेन	१०७	४१७
वृत्तं ज्ञानस्वभावेन	१०६	४१७
वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं	२०७	८०४
वेद्यवेदकविभाव-	१४७	५६६
व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं	२३७	९४६
व्यवहरणनय: स्याद्यद्यपि	५	९८
व्यवहारविमूढदृष्टय:	२४२	९६०
व्याप्यव्यापकता तदात्मनि	४९	२६८
व्यावहारिकदृशैव केवलं	२१०	८११
(श)		
शुद्धद्रव्यनिरूपणाऽर्पित	२१५	८३८
शुद्धद्रव्यस्वरस-	२१६	८३९
(स)		
सकलमपि विहायाह्राय	३५	२०५
समस्तमित्येवमपास्य	२२९	९०८
सन्न्यस्यन्निजबुद्धिपूर्व-	११६	४५५
सन्न्यस्तव्यमिदं समस्त-	१०९	४२५
सम्पद्यते संवर एष	१२९	५००
सम्यग्दृष्टय एव साहस-	१५४	५८२
सम्यग्दृष्टि: स्वयमयमहं	१३७	५२८
सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं	१३६	५२४
सर्वत स्वरसनिर्भरभावं	३०	१६७
सर्वत्राऽध्यवसानमेव-	१७३	६६३
सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य	२५३	९८९
सर्वस्यामेव जीवन्त्यां	११७	४५६
सर्वं सदैव नियतं	१६८	६४०
सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्त	१८५	७२२
स्थितेति जीवस्य	६५	३४२
स्थितेत्यविघ्ना खलु	६४	३३८
स्याद्वादकौशलसुनिश्चल-	२६७	१०१८
स्याद्वाददीपितलसन्-	२६९	१०२१
स्वशक्तिसंसूचितवस्तु-	२७८	१०३५
स्वक्षेत्रस्थितये	२५५	९९१
स्वेच्छासमुच्छलदनल्प-	९०	३६९
स्वं रूपं किल वस्तुनो-	१५८	५८७
(ह)		
हेतुस्वभावाऽनुभवाऽश्रयाणां	१०२	४००

समयसार की महिमा

मोख चलिवे कौ सौंन करम कौ करे बौन,
जाके रस-भौन बुध लौन ज्यौं घुलत है।
गुनकौ गरंथ निरगुनकौ सुगम पंथ,
जाकौ जस कहत सुरेश अकुलत है॥
याही के जु पच्छी ते उड़त ज्ञानगगन में,
याही के विपच्छी जगजाल में रुलत है।
हाटकसौ विमल विराटकसौ विसतार,
नाटक सुनत हीये फाटक खुलत है॥

- पण्डित बनारसीदासजी

अर्थ : श्री समयसारमोक्ष पर चढ़ने के लिए सीढ़ी है (अथवा मोक्ष की ओर चलने के लिए शुभ शकुन है), कर्म का वह वमन करता है और जिस प्रकार जल में नमक पिघल जाता है, उसी प्रकार समयसार के रस में बुधपुरुष लीन हो जाते हैं, वह गुण की गाँठ है (अर्थात् सम्यग्दर्शनादि गुणों का समूह है), मुक्ति का सुगम पंथ है और उसके (अपार) यश का वर्णन करने में इन्द्र भी आकुलित हो जाता है। समयसाररूप पंखवाले (अथवा समयसार के पक्षवाले) जीव ज्ञानगगन में उड़ते हैं और समयसाररूप पंख रहित (अथवा समयसार से विपक्ष) जीव जगजाल में रुलते हैं। समयसार नाटक (अर्थात् समयसार-परमागम कि जिसको श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने नाटक की उपमा दी है वह) शुद्ध सुवर्ण समान निर्मल है, विराट (ब्रह्माण्ड) समान उसका विस्तार है और उसका श्रवण करने पर हृदय के कपाट खुल जाते हैं।

अनुवादक की ओर से

मूल हस्तलिखित प्रति के अनुसार इस ग्रन्थ के नवमें अधिकार (सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार) में कुल गाथाएँ १०७ और कलश ८३ कहे गये हैं और इस ग्रन्थ में कुल गाथाएँ ४१४ व कलश २७७ कहे गये हैं। इसी प्रकार सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार पूर्ण कर पृष्ठ २७७ पर कहा गया है। ''इहां तांई गाथा ४१४ भई अर काव्य २७५ भई'' परन्तु मूल हस्तलिखित प्रति के पृष्ठ १९६ पर गाथा - **दिट्ठी जहेह णाणं ..... णिज्जर चेव॥ १३॥**

और पृष्ठ ११७ पर गाथा - **लोयस्स कुणइ विएहु ..... छव्विहे काए॥ १३॥**

दोनों को एक ही गाथा क्रमाङ्क १३ दे दिया गया है।

और इसी प्रकार मूल हस्तलिखित प्रति में - **ननु परिणाम एव किलकर्म .....**

इस श्लोक का कोई क्रमाङ्क नहीं दिया गया है। जबकि इसे श्रीयुत जगन्मोहनलालजी सिद्धान्त शास्त्री कृत 'अध्यात्म अमृत कलश' टीका में एवं अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली द्वारा प्रकाशित समयसार, तथा अन्यत्र प्रकाशित प्रकाशनों में इसे कलश ही माना गया है; अत: हमने भी इसे कलशरूप में ही स्वीकार किया है।

इस प्रकार इस समयसार ग्रन्थ में कुल ४१५ गाथाएँ और २७८ कलश हैं।

इस प्रकार श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसार (समयप्राभृत) नामक प्राकृत गाथाबन्ध ग्रन्थ की श्रीमद् आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका की श्रीयुत जयचन्दजी छाबड़ा कृत देशभाषामय वचनिका का अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार यह आधुनिक हिन्दी रूपान्तरण गुजरात प्रान्त के सूरतनगर के प्रवास के काल में भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी (अनन्त चतुर्दशी, विक्रम सम्वत् २०५८, वीर निर्वाण सम्वत् २५२७, तदनुसार शनिवार, दिनाङ्क ०१ सितम्बर २००१) को पूर्ण हुआ है। मैंने भी श्रीयुत जयचन्दजी छाबड़ा के काल से निरन्तर अब तक चली आ रही उसी तेरापन्थ शैली में श्रीयुत बालब्रह्मचारी 'यथा नाम तथा गुण', चारों अनुयोगों के विद्वान पण्डित सन्तोषकुमारजी झांझरी के सान्निध्य में कुछ अल्प-सा शास्त्राभ्यास किया है। अपनी बुद्धि के अनुसार यह रूपान्तरण, श्रीयुत जयचन्दजी साहब के भाषा-प्रवाह व भावों को जैसे का तैसा ही रखने का प्रयास करते हुए किया है, जिसमें कहीं कुछ हीनाधिकता या अशुद्धि रह गयी हो तो बुद्धिमान जन सुधार कर समझ लें एवं मुझे क्षमा करें।

- धनकुमार जैन, जयपुरवाले, सूरत